लौकिक संस्कृत साहित्यम्

एम.ए. संस्कृत (पूर्वार्द्ध)
M.A. Sanskrit (Previous)

प्रश्न पत्र-4
Paper-4

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

लौकिक संस्कृत साहित्यम्

एम. ए. संस्कृत (पूर्वार्द्ध)
M.A. Sanskrit (Previous)

प्रश्न पत्र –4
Paper – 4

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक–124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK - 124 001

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
अध्याय 1	महाकवि कालिदास रचित 'मेघदूतम्'	5-119
अध्याय 2	महाकवि बाणभट्ट रचित 'हर्षचरितम्'	120-158
अध्याय 3	महाकवि शूद्रक रचित 'मृच्छकटिकम्'	159-538
अध्याय 4	कविराज विश्वनाथ रचित 'साहित्यदर्पण'	539-620

लौकिक संस्कृत साहित्यम्

एम. ए. पूर्वार्द्ध

Paper : 4

Full Marks: 100
Time: 3 Hrs.

Guidelines :

Unit I.	Explanations of two verses out of four carrying 10 marks each.	10x2 = 20
Unit II.	Explanations of two passages out of four carrying 10 marks each.	10x2 = 20
Unit III.	Explanations of two verses out of four carrying 10 marks each.	10x2 = 20
Unit IV.	One critical question out of two based on text carrying 20 marks should be asked.	10x2 = 20
Unit V	Four Alankaras out of eight with definitions & examples only	5x4 = 20

Note : *One question with 20 marks is required to answered in Sanskrit.*

Unit I. मेघदूतम् — 20
Meghduta of Kalidasa

Unit II. हर्षचरित प्रथम उच्छास — 20
Harsachrita of Bana Bhatta, Ucchvasa-I

Unit III. मृच्छकटिकम् — 20

Unit IV. साहित्यदर्पण, परिच्छेद I, II, III (29 कारिका तक) — 20
Sahitydarpana of Visvanatha, Pariccheda I, II, III (up to Karika 29)

महाकवि कालिदास रचित 'मेघदूतम्'

भूमिका

१. कालिदास का जीवन-वृत्त

संस्कृत के कवियों के सम्बन्ध में बहुधा जैसा प्राप्त होते है, मेघदूत आदि काव्यों के रचयिता महाकवि कालिदास के जीवन वृत्त के विषय में भी कोई निश्चित और प्रमाणित सामग्री उपलब्ध नहीं है। यह आश्चर्य ही की बात है कि हमें संस्कृत साहित्याकाश के सर्वोज्जवल नक्षत्र कालिदास जैसे कवि के विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं है। उनके जीवन, समय तथा अन्य व्यक्तिगत परिस्थितियों के सम्बन्ध में हमें केवल किंवदन्तियों तथा प्रत्यक्ष साक्षियों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। इसका मुख्य कारण यह है कि कालिदास ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने जीवन से सम्बद्ध किसी भी बात का उल्लेख नहीं किया है।

कालिदास के विषय में प्रचलित अनेक किंवदनितयां-

कालिदास के विषय में निश्चित सामग्री के आभाव के कारण अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हो गई हैं। एक किवदन्ती के अनुसार वह बचपन में मूर्ख चरवाह था। एक विद्धान् पण्डित ने उसका विवाह रूप तथा विद्या से गर्वित किसी राजकुमारी से करा दिया था। जो द्वारा अपमानित होकर उसने माता काली की उपासना की और उसके वरदान से उसकी सरस्वती प्रसन्न हो गई । घर लौटने पर उन्हें पत्नी से कहा- **"अनावृतकपाटं द्वारं देहि।"** इस पर पत्नी ने पूछा-**अस्ति कश्चिद् वागिविशेषः?** तब कालिदास ने वाग्देवी के प्रसाद को प्रकट करने के लिए पत्नी द्वारा कहे गये वाक्य के तीन शब्दों, 'अस्ति' 'कश्चित्' और 'वाग्' को लेकर क्रमशः कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश नामक तीन काव्यों की रचना की।

एक अन्य कथा के अनुसार कालिदास का सम्बन्ध लटा के राजा कुमारदास (लगभग ५०० ई०) से बताया गया है। कहा जाता है कि कभी लटा के कवि राजा कुमारदास ने किसी वैश्या के भवन की दिवार पर कोई अपूर्ण श्लोक लिख दिया और उस पद्य का पूर्ण करने वाले को स्वर्ण दान देने की घोषणा की। वैश्या के भवन में स्थित कालिदास ने वह श्लोक पूर्ण कर दिया लेकिन धन की लाभी वैश्या ने धोखे से कालिदसा की हत्या कर दी और स्वयं को उस श्लोक का पूर्ण करने वाला घोषित किया। लेकिन राजा ने उस वञ्जना का पता लगा लिया, क्योंकि वह कालिदास की काव्य-कला से सुपरिचित था।

एक दूसरी किंवदन्ती के अनुसार कालिदसा को अनेक उपाख्यानों के नायक राजा विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक कहा जाता है। इस किंवदन्ती का आधार सम्भवतः ज्यातिर्विदाभरण का निम्न श्लोक है-

धन्वन्तरिक्षणकामरसिंहशङ्कुवतालभट्टघटकर्पकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

लेकिन यह ध्यान रहे कि इस श्लोक में जिन अनेक पुरुषों का कथन किया गया है उन सबका समय एक नहीं है, इसलिये इस श्लोक में निहित परम्परा को सब अंशों में सतय नही माना जा सकता है।

भोजप्रबन्ध के लेखक बल्लालसेनसूरि ने कालिदसा को परमार-वंशी धाराधीश भोज का आश्रित कवि कहा है। भोज का समय ई० की ११वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। लेकिन भोजप्रबन्ध में निहित परम्परा पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता है, क्योंकि बल्लालसेन ने संस्कृत के प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों के भोज की राजसभा में उपस्थित दिखलाया है। सम्भवतः उन्होंने 'नवसाहसाटचरित' के लेखक पद्यगुप्त को, जिसे 'परिमल' या 'परिमल कालिदास' भी कहा जाता था, किसी भ्रान्ति के कारण कालिदास समझ लिया है।

जाति तथा निवास स्थान-

कालिदास के विषय में किसी निश्चित जानकारी के आभाव में उसकी जाति तथा निवास-स्थान के विषय में भी निश्चित रूप से

कुछ नहीं कहा जा सकता। श्रौत-धर्म के प्रतिनिष्ठा होने के कारण उसे ब्राह्मण माना जा सकता है। कालिदास के स्थान के विषय में पर्याप्त विवाद है। काश्मीा के विद्वान् उसे काश्मीरी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और बंगाल के विद्वान् बंगाली। परम्परा के अनुसार कालिदास को उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य का आश्रित माना जाने के कारण कुछ विद्वान् उन्हें उज्जैन का निवासी बतलाते है। कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी और उसके समीप में स्थित महाकाली के मन्दिर का उल्लेख बड़ी आस्था एवं श्रद्धा से किया है। यक्ष मेघ को अलकापुरी का मार्ग बतलाते हुए कहता है कि यद्यपि उज्जयिनी तुम्हारे मार्ग में नहीं पड़ेगी तो भी वहां अवश्य जाना; उज्जयिनी को न देखना मानो जीवन के प्रसाद से वंचित होना है। उज्जयिनी के प्रति इस आग्रह तथा आदर से यही प्रतीत होता है। कि कालीदास का जीवन-काल मुख्य रूप से उज्जयिनी में ही व्यतीत हुआ था।

काालिदास के समय के सम्बन्ध में प्रचलित तीन मत-

जैसा कि पहले कहा गया है, कालिदास के समय के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर पाये जाते हैं। उन सबका विवचेन न करके यहां केवल तीन मतों के विषय, में जो किसी समय विद्वानों में मान्य भी रहे हैं, दिये जाने वाले साक्ष्य तथा युक्तियों की ओर संकेत करना ही पर्याप्त होगा।

यह उल्लेखनीय है कि कालिदास के सम्बन्ध में प्रचलित यह तीनों मत इस धारणा पर बनाये गये हैं कि कालिदास किसी प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य का आश्रित कवि था, जिसने म्लेच्छों का संहार करके ब्राह्मण-धर्म तथा संस्कृति का उद्धार किया था। इन तीनों में तिथि-विषयक भेद का कारण केवल विक्रमादित्य के व्यक्तित्व की पहचान में अन्तर है। ये तीन मत इस प्रकार हैं:-

(१) प्रो॰ मैक्समूलर का मत-कालिदास ईसा की छठी शताब्दी में हुए।

(२) भारतीय परम्परा-ईसा से ५७ वर्ष पूर्व जब विक्रम संवत् का आरम्भ हुआ, उसी समय कालिदास हुए।

(३) पाश्चात्य विद्वानों का मत-गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य में ४०० ई॰ के आसपास कालिदास हुए।

(१) प्रो॰ मैक्समूलर द्वारा स्थापित छठी शताब्दी का मत-

प्रो॰ मैक्समूलर ने बताया था कि विदेशियों के आक्रमण के फलस्वरूप ईसा की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में संस्कृत की साहित्यक प्रगति सर्वथा अवरूद्ध हो गई थी, फिर शताब्दी में जाकर संस्कृत का पुनरूज्जीवन हुआ। उसी पुनरूज्जीवन काल में कालिदास उत्पन्न हुये। मैक्समूलर का यह मत फर्ग्युसन के विक्रमादित्य सम्बन्धी मत पर आश्रित था। फर्ग्युसन ने यह प्रकट किया था कि ५४४ ई॰ में विक्रमादित्य नामक सम्राट् ने शकों को परास्त किया और उस विजय के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य ने विक्रम-संवत् आरम्भ किया, परन्तु उस संवत् को महत्त्व देने के लिये उसे ६०० वर्ष पूर्व की तिथि से अर्थात् ईसा से पूर्व ५६-४७ वर्ष से आरंभ किया। इसी विक्रमादित्य की सभा के ९ रत्नों में से एक कालिदास भी थें। इस प्रकार मैक्समूलर के अनुसार कालिदास का समय ५४४ ई॰ के आसपास छठी शताब्दी में था।

परन्तु इस समय यह मत बिल्कुल अप्रमाणित सिद्ध हो चुका है, क्योंकि फ्लीट की भारतीय शिलालेखों की खोज ने फर्ग्युसन के विक्रम संवत् सम्बन्धी मत को सर्वथा खण्डित कर दिया है, क्योंकि यह प्रमाणित कर दिया है, कि ५४४ ई॰ से कम से कम १०० वर्ष पूर्व भी विक्रम-संवत् मालव संवत् के नाम से प्रचालित था। इस प्रकार मैक्समूलर के मत का आधार ही समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस बात की बहुत कम सम्भावना है हि शक लोग छठी शताब्दी ईस्वी के मध्य में पश्चिमी भारत से निकाले गये हों, क्योंकि वह प्रदेश १०० वर्ष पूर्व ही गुप्त सम्राटों द्वारा जीता जा चुका था। साथ ही यह ऐतिहासिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि यद्यपि दूसरे विदेशी अर्थात् हूण (न कि शक) छठी शताब्दी के प्रथम भाग में भारत से निकाले गये थे, परन्तु उन्हें विक्रमादित्य ने नहीं, प्रत्युत एक अन्य राजा यशोमन् विष्णुवर्धन ने निकला था। इस प्रकार छठी शताब्दी में ऐतिहासिक दृष्टि से किसी विक्रमादित्य नाम के राजा का चिह्न भी नहीं मिला।

मैक्समूलर के छठी शती में संस्कृत के पुनरूज्जीवन के सिद्धान्त की कल्पना का एक कारण यह भी था कि उस समय तक छठी शती से पूर्व के जितने भी शिलालेख उपलब्ध हुए थे, वे सब प्राकृत भाषाओं में थे। परन्तु अब इसी की प्रथम पांच शताब्दियों के शिलालेखों से यह प्रमाणित हो गया है कि उस सारे समय में संस्कृत काव्य शैली का बराबर प्रचलन रहा था और यह भी स्पष्ट हो चुका है कि बौद्ध कवि अश्वघोष ने ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में बुद्धचरित-और सौन्दरनन्द जैसे संस्कृत के महाकाव्य लिखे थे। इस प्रकार छठी शताब्दी में कालिदास की तिथि मानने का मत सर्वथा खण्डित हो चुका है।

(२) भारतीय परम्परा : ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी-

भारतीय परम्परा कालिदास को ईसा से ५७ वर्ष पूर्व मानने के पक्ष में है। यह मत भारत से बाहर कहीं भी मान्य नहीं है, इसलिये

इसे भारतीय मत कहा जा सकता है, यद्यपि अनेक भारतीय विद्वान् भी इस मत को नहीं मानते है। विक्रम सम्वत् २००० वर्ष पूर्व होने पर भारत में विक्रम द्विसहस्राब्दी मनाई गई थी। उसी समय से इस मत का अधिक जोर से प्रतिपादन किया जाने लगा है। यह स्पष्ट है कि इस मत के पीछे वैज्ञानिक दृष्टि की अपेक्षा भावुकता-केलव एक परम्परा की रक्षा और कालिदास को अधिक प्राचीन सिद्ध करने की भावना-अधिक है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य नामक कोई राजा मानने का मुख्य आधार केवल विक्रम संवत् का प्रचलन (परम्परा के अनुसार जिसके प्रवर्तन को अब २०२७ वर्ष हो गये हैं) और क्षेमन्द्र के कथासरित्सागर में आई महेन्द्रादित्य और उसके पुत्र विक्रमादित्य की कथा है। यह स्मरण रहे है कि कथासरित्सागर ईसा की १३वीं शताब्दी का ग्रन्थ है, जिसका आधार ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में गुणढ्य की बृहत कथा से कथासरित्सागर में परिवर्धन एवं संशोधन हुए हैं।

कालिदास को विक्रमादित्य के साथ जोड़ने का भी मुख्य कारण ज्योतिर्विदाभरण के ऊपर उद्धृत श्लोक में संनिहित परम्परा ही है। इस परम्परा से मिले संकेत के आधार पर कुछ भारतीय विद्वानों ने कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में 'महेन्द्र' और 'विक्रम' शब्दों के एकाधिक प्रयोग में कालिदास द्वारा कथासरित्सागर की कथा को राजा महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य की ओर किया गया निर्देश माना है और इस महेन्द्रादित्य तथा विक्रमादित्य के शैवमतावलम्बी होने को भी इस बात की पुष्टि के लिये युक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रो० राय ने प्रयाग के समीप भीटा स्थान में पाई एक प्राचीन मुद्रा को, जिस पर अङ्कित चित्र कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम दृश्य से बिल्कुल मिलता-जुलता है, कालिदास के बाद की मानकर तथा यह मानकर कि यह मुद्रा गुप्त काल (१८२ ई० पू० ७२ ई० पू०) की है, कालिदास के समय को ई० पू० प्रथम शताब्दी में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। मेघदूत के ३१वें पद्य में अवन्तिदेश में वृद्धों द्वारा उदयन के कथा-प्रसङ्ग के निर्देश को भी कालिदास के उदयान का समीपवर्ती होने में युक्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। कुछ विद्वानों ने रघुवंश महाकाव्य में सूर्य-वंश वर्णन की प्रेरणा का स्रोत इस तथ्य में देखा है कि कथासरित्सागर के नायक परमारवंशी राजा महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य सूर्यवंशी थे। वे विद्वान् कालिदास के ग्रन्थों में विशेषकर अभिनाशाकुन्तल में प्राचीन स्मृतियों के दण्ड-विधान की छाया में भी कालिदास को ई० पू० प्रथम शती का कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इस मत का एक बड़ा दोष यह है कि प्रथम शताब्दी में किसी विक्रमादित्य नाम के राजा होने का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है क्षेमन्द्र के कथासत्सिागर के आधार पर, जिसकी रचना के उद्देश्य का निश्चय नहीं किया जा सकता है और जिसमें प्राय: अन्धविश्वासपूर्ण चमत्कारी घटनाओं का संग्रह पाया जाता है, किसी कथा के नायक को ऐतिहासिक मानना निरापद् नहीं है। फिर धुधंले एवं सन्दिग्ध संकेतों के आधार पर उसके साथ कालिदास का सम्बन्ध जोड़ लेना तो निश्चय रूप से आपत्ति पूर्ण है। प्रो० राय ने भीटा की जिस मुद्रा को अभिज्ञानशाकुन्तल के दृश्य पर आधारित माना है उसे पुरातत्त्व-विभाग के अधिकारियों ने वैसा स्वीकार नहीं किया है मेघदूत में उदयन का निर्देश अथवा रघुंवश में सूर्यवंश के राजाओं का वर्णन कालिदास का समय निश्चित करन अथवा कालिदास का परमारवंशी राजा विक्रमादित्य से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक नहीं हो सकता है, क्योंकि विक्रमादित्य के समान राजा उदयन भी लम्बे समय तक भारत में प्रचालित लोक-कथाओं का नायक रहा है, आज भी उदयन के विषय में साहित्य की रचना हो रही है कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक में चन्द्रवंशी पुरूरवस् को भी अपना चरित्र-नायक बनाया है।

इस मत का एक दूसरा दोष यह भी कहा जाता है कि यदि कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी मान लिया जाय तो अश्वघोष, जो निश्चित रूप से कुषाणवंशी राजा कनिष्क का समकालीन था और जिसका समय ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी निश्चित किया गया है, कालिदास का परवर्ती हो जायेगा परन्तु अश्वघोष भाषा और शैली के विकास की दृष्टि से कालिदास का पूर्ववर्ती प्रतीत होता है।

(३) कालिदास भारत के स्वर्णयुग गुप्तकाल का कवि-

कालिदास के विषय प्रचलित तीसरा मत यह है कि कालिदास भारतवर्ष के इतिहास में युग का कवि था जो कला और संस्कृति की दृष्टि से गुप्त सम्राटों में से चन्द्रगुप्त द्वितीय (लगभग ३५७ ई० ४१३ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५ ई०-४७० ई०) ने विक्रमादित्य की धारणा की थी। इसलिये वह विक्रमादित्य, परम्परा के उपाधी धारण की थी। इसलिये वह विक्रमादित्य, परम्परा के अनुसार कालिदास जिसकी सभा के नौ रत्नों में से एक था, सम्भवत: चन्द्रगुप्त द्वितीय था। विन्सेण्ट स्मिथ ने यह मत प्रकट किया है कि कालिदास सम्भवत: चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त तीनों सम्राटों की सभा में रहा होगा।

पाश्चात् विद्वान् प्राय: कालिदास को गुप्त-कालीन कवि मानते हैं और भारतवर्ष से बाहर यही मत सबसे अधिक प्रमाणिक माना जाता है, इस मत के अनुसार कालिदास का समय ईसा की चौथी और पांचवी शताब्दी के सन्धि काल में ४०० ई० के लगभग माना जाता है। इस मत की पुष्टि में जो कारण दिये जाते हैं, वह निम्न प्रकार हैं-

१. मध्यभारत के मन्दसौर नामक स्थान में ४७३ ई० का एक शिलालेख पाया गया है, जिसमें वत्सभट्टि नामक एक कवि की रचना अङ्कित है। इस रचना में कई जगह कालिदास के ऋतुसंहार और मेघदूत की झलक इतनी स्पष्ट है कि यह मानना पड़ता है कि वत्सभट्टि (एक अप्रसिद्ध और छवि कवि) ने महान् कवि कालिदास के काव्यों से यह पदावली ली है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कालिदास का समय ४७३ ई० से पूर्व होना चाहिये और यह समय अश्वघोष की तिथि द्वितीय शताब्दी के बाद का होना चाहिये।

२. कालिदास की सारी रचनायें यह स्पष्ट कर रही है कि कालिदास का समय, वैभव और समृद्धि का समय है, जबकि सर्वतोमुखी उत्कर्ष की भावना ओत-प्रोत हो रही थी। द्वितीय शती और ४७३ ई० के समय हो सकता है तो वह चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१३ ई०) का राज्यकाल हीं हो सकता है, जिस समय भारत का उत्कर्ष चरत सीमा पहुंचा हुआ था।

३. भास कवि का स्वत: कालिदास ने उल्लेख किया है। इस प्रकार भास कालिदास का पूर्ववर्ती था और भाषा की तुलना में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह अश्वघोष का उत्तरकालीन है। कालिदास की तिथि ४०० ई० के लगभग मानने से भास का समय भी तृतीय शती या चतुर्थ शती का प्रारम्भिक भाग हो जाता है। इस प्रकार इन तीनों महाकवियों की तिथि का सामञ्जस्य बन जाता है।

४. कालिदास ने रघुंवश में जो अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन किया है, वह समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध का संस्मरण मात्र प्रतीत होता है।

५. यह भी कल्पना की गई कि 'कुमारसम्भवम्' की रचना भी सम्भवत: कुमारगुप्त के जन्म के उपलक्ष्य में ही की गई थी।

इसके अतिरिक्त कालिदास द्वारा 'गुप्' धातु का प्रयोग, कुमारसम्भव काव्य के नाम में 'कुमार' शब्द रघुवंश में हूणों के उल्लेख, रघु-दिग्विजय और समुद्रगुप्त-दिग्विजय में साम्य आदि को भी इस मत की पुष्टि में प्रमाण के रूप में दिया जाता है।

इस मत की पुष्टि में दी जाने वाली युक्तियों में भी प्राय: वैसे ही दोष हैं, जो दोष पहले ई०पू० प्रथम शती के मत में दिखलाये गये हैं, क्योंकि यह मत भी अनावश्यक रूप में परम्परा का आश्रय लेकर कालिदास को विक्रमादित्य का आश्रित कवि मानता है तथा इस मत की पुष्टि दी जानेवाली युक्तियां भी संदिग्ध एवं अस्पष्ट संकेतों पर आधरित हैं और उन यूक्तिाओं को अन्यथा भी प्रयुक्त किया जाता है और कुछ युक्तिाओं का अन्यथा प्रयोग किया भी गया है। फिर भी अधिकांश आलोचक कालिदास को गुप्त-काल का कवि मानकर उसका समय ४०० ई० लगभग मानते हैं, केवल भारतीय आलोचकों का एक वर्ग कालिदास को ई० पू० प्रथम शती का मानता है।

कालिदास सम्बन्धी वर्तमान ज्ञान की दशा में हमें इतने मात्र से सन्तोष कर लेना चाहिये कि कालिदास का कार्य काल ई० पू० प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी के अवधि में कहीं पर था।

३. कालिदास की रचनाएं-

कालिदास के नाम के साथ ४१ रचनाएं जुड़ी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जहां भी किसी महत्वपूर्ण रचना के रचयिता के विषय में सन्देह हुआ उसके साथ कालिदास का नाम जोड़ दिया गया। इस प्रकार अप्रमाणिक रचनाओं को छोड़कर कालिदास की सात रचनाएं मानी जाती हैं, जिनमें तीन नाटक, दो महाकाव्य और दो गतिकाव्य हैं:-

नाटक:- (१) मालविकाग्निमित्र
(२) विक्रमोर्वशीय।
(३) अभिज्ञानयशाकुन्तल।

महाकाव्य:- (४) कुमारसंभव।
(५) रघुवंश।

गतिकाव्य:- (६) ऋतुसंहार।
(७) मेघदूत।

काल-क्रम की दृष्टि से ऋतुसंहार कालिदास की प्रथम रचना है। इसके बाद मालविकाग्निमित्र और विक्रमार्वशीय आते हैं। सबसे बाद में कुमारसम्भव। उसके बाद मेघदूत और रघुवंश हैं और सबसे बाद में अभिज्ञानशाकुन्तल प्रतीत होती है। इन सारी रचनाओं में कभी-कभी ऋतुसंहार के विषय में संदेह किया जाता है कि वह कालिदास की रचना है अथवा नहीं? इसका प्रथम कारण तो यह है कि ऋतुसंहार दूसरी बात यह है कि मल्लिनाथ ने (जिसने कालिदास के सभी महाकाव्यों पर टीका लिखी है) ऋतुसंहार पर टीका नहीं लिखी। इसके अतिरिक्त, अलङ्कार के ग्रथों में जहां कालिदास के सभी ग्रन्थों से उदाहरण लिये गये हैं, ऋतुसंहार से कोई उदाहरण नहीं लिया गया। परन्तु इस सब युक्तियों के होते हुए भी ऋतुसंहार को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर वह कालिदास की ही रचना प्रतीत होती है। निस्संदेह वह कालिदास की प्रथम और अपरिक्व रचना है, इसलिये वह अन्य रचनाओं के समान उच्चकोटि की नहीं है। इसके सिवाय यह बात भी ऋतुसंहार से ही लिया गया है। यह बात भी ऋतुसंहार के कालिदास की प्रमाणित रचना की ओर संकेत करती है।

४. कालिदास की काव्यकला

कालिदास संस्कृत-साहित्यकाल के सर्वोज्जवल नक्षत्र हैं। सच कहा जाय तो कालिदास में संस्कृत के काव्यों के स्पृहणीय स्वरूप का चरम विकास हुआ है। कालिदास के काव्यों में कला के बाह्य पक्ष की साज-संवार तो दृष्टिगोचर होती है परन्तु उसमें आन्तरिक पक्ष-सरसता और मर्मिकता-का ह्रास होता चला गया है।

कालिदास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह वातावरण की सृष्टि करके थोड़े से शब्दों मे बहुत कुछ प्रकट कर देता है वह स्वयं थोड़ा कहकर शेष की अनुभूति के लिये अपने पाठकों को अकेला छोड़ देता है। उसने शब्दों में के चुनाव पर ध्यान दिया है भाषा को संवारा है, परन्तु परवर्ती कवियों की भांति उसे अलङ्करों के भार से भारी-भरकम नहीं होने दिया है उसके काव्यों एवं नाटकों में स्थल-स्थल पर अर्थान्तरन्यास के रूप में जीवन के सरस रूप में उपस्थित किया गया है, जो 'कान्तसंमिततयोपदेशयुजे' के अनुसार पाठक के अन्त:करण पर स्थायी संस्कार छोड़ देते हैं। कालिदास प्रेम और सौंदर्य का कवि है। प्रकृति का चित्रण प्रेम और सौंदर्य का कवि है। प्रकृति को उसने प्रेम और सौंदर्य के साहचर्य में ही देखा है, अत: उसने प्रकृति में भी मानवीय चेतना का संचार किये है। नीचे कालिदास की काव्य-कला के इन पक्षों का कुछ विस्तार से पर्यालोचन किया जायेगा।

कालिदास की कला में व्यञ्जना शक्ति-

भारतीय साहित्य-शास्त्र (Peotics) के मर्मज्ञों ने काव्य और नाटक का विवेचन करते हुए प्रत्येक कला में रहने वाली दो अलग-अलग शक्ति का विवेचन किया था, जिसे उन्होंने 'व्यञ्जना' या 'ध्वनि' नाम दिया। प्रत्येक शब्द या वाक्य में एक सामान्य अर्थ को प्रकट करने वाली अभिधा शक्ति या वाचक शक्ति रहती है, जिससे, उस वाक्य का साक्षात् अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ प्रकट होता है। उदाहरणार्थ 'यह सूर्य के अस्त होने का समय है'-इस वाक्य का वाचक शक्ति से प्रकट होने वाला साक्षात् अर्थ है, 'यह सूर्य के अस्त होने का समय है' जो कि इस वाक्य को सुनते ही प्रत्येक व्यक्ति की समझ में आ जाता हैं, जैसे कि 'अब पूजा का समय है', 'अब दैनिक व्यवहार समाप्त करने का समय है' इत्यादि। इन अधिक अर्थों को प्रकट करने वाली शक्ति को व्यञ्जना शक्ति का बाहुल्य है। जिस भाव को अन्य कवि एक वाक्य में कहते हैं, कालिदास उसी भाव को एक छोटे से वाक्य में प्रकट कर देता है। उदाहरणार्थ, जिस समय दुष्यन्त बहुत समय तक शकुन्तला के विरह में पीड़ित रहने के बाद (तृतीय अङ्क में) तपस्वियों की रक्षा के लिये दुबारा आश्रम में आता है और नदी के किनारे एक कुञ्ज में शकुन्तला को अपनी दोनों सखियों के साथ बैठा देखता है, उस समय दुष्यन्त के मुख से अकस्मात् एक वाक्य निकलता है:- **अये लब्धं नेत्र नेत्रनिर्माणम्** (पृ० ८०) 'अहा, मैंने नेत्र-तृप्ति पा ली'। कालिदास के उपर्युक्त छोटे से वाक्य में कितना अर्थ भरा है, जो कई श्लोकों में भी नहीं आ सकता।

कालिदास की व्यजना शक्ति का सबसे सुन्दर उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला के आश्रम से विदा होने का है। जब शकुन्तला की विदाई का समय आता है, तब कण्व ऋषि आश्रम के वृक्षों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं

पात्तुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।। अभिज्ञान० ४/१

'हे वृक्षों, यह शकुन्ता जो तुम्हारे प्यासे होने पर जल नहीं पीती है, जो आभूषण-प्रिय होने पर भी तुम्हारे स्नेह से तुम्हारे पत्र-पुष्पों को नहीं तोड़ती है, जो तुम्हारे प्रथम बार फूलने पर उत्सव मनाया करती है, वही आज अपने पति के घर जा रही है, उसको तुम सब जाने की अनुमति दो।

इस प्रकार पृष्ठभूमि तैयार करने के बाद कालिदास दो-चार छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा ही करूण रस को पराकाष्ठा पर पहुंचा देता है। आश्रम से विदा लेते हुये शकुन्तला अनेक करूण भावनाओं से भरी हुई है। परन्तु आश्रम के जन्तुओं, पक्षियों और यहां तक कि पौधों की दशा भी कम शोचनीय नहीं है। हरिणियों ने घास के ग्रास मुंह से गिरा दिये, मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया और पौधे मुरझाये पत्तों को गिराने के रूप में आंसू बहा रहे है:-

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्श्रुणीव लताः।। अभि० ४/२

शकुन्तला चमेली के लता-कुञ्ज के पास से निकलती है, जिसे वह प्रतिदिन पानी देती थी और जिसका नाम उसने वनज्योत्स्ना रखा था। उसके देखते ही भरे हुए हृदय से अपनी दोनों सखियों से कहती है कि यह मेरी धरोहर तुम्हारे हाथ में है। इस पर उसकी सखियां आंसू भरकर कहती हैं-**'अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः?'** (और हम किसके हाथों में धरोहर बना रही हो)- करूणा का समुद्र उमड़ उठता है।

कालिदास का प्रकृति वर्णन-

कालिदास प्रकृति के चित्रण में सिद्धहस्त थे। उनके सजीव एवं विशद प्रकृति वर्णन हमारे कल्पना-चक्षु के सम्मुख एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देते हैं। ब्राह्य दृश्य के संश्लिष्ट एवं रूपयोजनात्मक चित्रण से उनके प्रकृष्ट प्रकृति प्रेम का परिचय मिलता है। उनके प्रकृति वर्णन में निरीक्षण की नवीनता, सहृदयता की सरसता तथा कल्पना की कमनीयता पाई जाती है।

प्रकृति के कोमल और समुज्ज्वल स्वरूप का वर्णन-

कालिदास ने प्रधानतया प्रकृति के केवल, भव्य, मनोरम और सौंदर्य-समुज्ज्वल पक्ष का ही वर्णन किया है। प्रकृति के मधुर तथा कोमल पहलू का एक स्निग्ध चित्रण देखिये-

क्वचित्प्रभालेपिभरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरूत्खचितान्तरेव।।
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरूदत्तपत्रा भक्तिर्मुवश्चन्दनकल्पितेव।।
क्वचिंत्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा।।
क्वाच्चि कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गराया तनुरीश्वरश्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः।। रघुवंशा, १३/५४-४?५७

'हे निर्दोष अङ्गों वाली (सीता); गङ्गा और यमुना के सङ्गम को देखो; यमुना की तरङ्गों से मिलता हुआ गङ्गा का प्रवाह कितना सुन्दर प्रतीत होता है। कही तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मोतियों की लड़ी में चमकीले नीलम पिरो दिये गये हों, कहीं ऐसा भान होता है कि श्वेत कमलों की माला में नीलकमल बीच-बीच में गूंथे हों। कहीं नील हंसों की, श्रेणी में आ मिलने वाली मानव-प्रेमी धवल हंसों की पंक्ति के समान, कहीं माला गुरू की पथ-रेखाओं से सुशोभित भूतल की चन्दन चर्चित चित्रकारी की भांति, कहीं शरत्-कालीन शुभ मेघ-खण्डों के अन्तराल से दीख पड़ने वाले नील नभ प्रदेश के समान और कहीं कहीं काले सर्पों से अलंकृत तथा भस्माङ्ग-राग से मण्डित भगवान् शङ्कर के शरीर के समान गङ्गा यमुना के यह मनोहर दृश्य शोभित हो रहा है। क्या ही अलंकृत, विशद एवं रमणीय वर्णन है।

प्रकृति प्रेमिका के रूप में-

कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रकृति और प्रेम का मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने प्रकृति को मुख्यतः प्रेमिका के रूप में

देखा है। 'मेघदूत' का यक्ष अपनी प्रियमता के अङ्गों की समता प्रियङ्गु लता में पाता है, चकित हरिणी की दृष्टि में [illegible] का अनुभव करता है, चन्द्रमा में उसके मुख की शोभा निरखता है, मयुर-पुच्छों में उसके अलकों का अनुमान करता है तथा नद के लोल लहरियों में उसकी भौंहों की छवि निहारता है। पवन के तरङ्गों से थिरकती लताओं के रूप में नर्तकियों का कैसा सुन्दर सजीव चित्र उपस्थित किया है-

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीयः कुसुमकोमलदन्तरूचो बभ्रुः।
उपवनान्तलताः पवनाहत्त किसलयैः मलयैरिव पाणिभिः॥ रघु० ९/३५

उपवन में लतायें नाच रही हैं। भ्रमरों की श्रुति-मधुर गुंजार ही उनका मादक संगीत है। कोमल-कुसुम कलियां उनके चमकते दांत हैं वायु के झकोरों से हिलते हुये किसलय उनके सुकुमार पाणिपल्लव है। जिनसे वे मानो बीच-बीच में ताल दे रही है। चन्द्रमा उनकी प्रियतमा रजनी का चुम्बन कर रहा है।

अङ्गुलीभिरीव केशसंचय संनिगृह्य च तिमिरमरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचंन चुम्बतीवरजनीमुखं शशी॥ कुमार० ८/३६

चन्द्रमा अपनी किरण रूपी सुकुमार अंगुलियों से रजनी के अन्धकार रूपी बिखरे केशपाश को धीरे से समेट कर उसके [illegible] कमलरूपी नेत्रों वाले मुख-मण्डहल का चुम्बन कर रहा है।

प्रकृति में मानवीय सौंदर्य का आदर्श-

मानवीय सौदर्न्य का मापदण्ड प्रकृति सौंदर्य ही हैं। पार्वती की हृदयहारिणी आंखों की तुलना मृगी के नेत्रों से हो हो सकती है तथा उसके सौंदर्य की समता पल्लवित लता से ही-

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तानाभ्यां वासो वसाना तरूणार्करागम्।
पर्यापतपुष्पस्कबकावनभ्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव॥ कुमार० ३/५४

अरूणोदयकालीन बालसूर्य के समान रक्तवर्ण के वस्त्रों को धारण किये हुई तथा उराजों के भार से झुकी हुई पार्वती [illegible] के लिये जा रही है। जान पड़ता है कि फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लाल-लाल नये पल्लवों को धारण करने वाली कोई लता चली आ रही है।

प्रकृति में मानवीय चेतना-

कालिदास ने प्रकृति को मूक, चेतना-हीन अथवा निष्प्राण नहीं माना है। मानव प्राणियों की भांति उसमें भी सुख दुःख [illegible] भाव दीख पड़ता है। मेघदूत में जब यक्ष स्वप्न में अपनी पत्नी के दर्शनकर प्रसन्नता से आलिंगन करने के लिये अपनी [illegible] है, तब वन-देवताओं की आंखों से मोती के समान स्थूल अश्रु-बिन्दु वृक्षों की पत्तियों पर गिर पड़ते हैं।

पति-ग्रह को जाती हुई शकुन्तला के वियोग में हिरणियां दर्भकवल उगल देती है, मयूर नाचना छोड़ देते हैं और लता [illegible] रूप में आंसू बरसाने लगती हैं। विरह-ग्रस्त प्रेमी को प्रकृति अवर्णनीय सान्त्वना एवं संतोष प्रदान करती है। बसन्त [illegible] शीतल स्पर्श से अग्निमित्र को सान्त्वना दे रहा है-

आमत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोश मनसिजरूजः सह्यतां पृच्छतेव।
अङ्गेचतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारूतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन॥ मालवि० ३/४

आम्रमञ्जरी से सुवासित यह मलियानिल मेरे अङ्गों को स्पर्श कर रहा है, मानो स्वयं बसन्त अपने कोमल और प्रेमस्निग्ध हाथ से स्पर्श कर रहा हो-सखे, आपका वदन-ताप सह्य तो है?

कालिदास के प्रकृति-चित्रण में आध्यात्मिक सौंदर्य का विकास-

कालिदास ने किस प्रकार क्रमशः प्रकृति के मार्मिक प्रभाव को हृदयंगम किया था, समझने के लिये उनके ग्रन्थों का [illegible] अध्ययन करना आवश्यक है। ऋतुसंहार का तरूण कवि प्रकृति का प्रेमी है, पर वह कामिनियों का अपेक्षाकृत [illegible] ऋतुसंहार के कामिनी के सौंदर्य, शृङ्गार, विभ्रम-विलास और प्रेम का ही वर्णन प्रधान रूप में पाया जाता है। भिन्न भिन्न [illegible]

में कामिनियों के मन में उत्पन्न होने वाले विकारों का ही उसमें अधिक वर्णन है। 'कुमारसम्भव' में प्राकृतिक विभूति और दैवी विभूति मे साम्य स्थापित किया गया है। प्राकृतिक सौंदर्य के केन्द्र हिमालय की पवित्रता की पूर्ति उमा और महेश्वर की तपश्चर्या से होती है। 'मेघदूत' में कवि ने मनुष्य और प्रकृति के बीच तदात्म्य स्थापित करने का अद्‌भूत प्रयास किया है। पूर्व मेघ में विरही यक्ष सृष्टि-सौन्दर्य का दर्शन कर अपने दु:खी हृदय को आश्वासन देता है। उत्तरमेघ में वह प्रकृति के संयोग में अपनी प्रियतमा के अतीत एवं भावी मिलन-सुख स्वप्न देखता है। रघुवंश में कवि कुछ और ऊँचे स्तर पर पहुंच गया है। उसमें प्रकृति-जीवन का मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। उसमें कवि ने दिखाया है कि प्रकृति-जीवन से वियुक्त मानव-जीवन की समाप्ति, आध्यात्मिक ह्रास, राजनीतिक अवनति में जाकर होती है। किन्तु कवि की सर्वोच्च प्रतिभा का निदर्शन, प्रकृति के संदेश का मार्मिक उद्‌घाटन 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में जाकर हुआ है। आद्योपान्त मानवीय भावों का चित्रण करते हुए भी 'अभिज्ञानशाकुन्तल' सर्वत्र मनुष्य का प्रकृति के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रथम अङ्क में ही नगर के वासनामय विलास और तपोवन के अकृत्रिम वैभव के तारतम्य पर प्रकाश डाला गया है। (१/१५)। ऐन्द्रियिक वासना की तात्कालिक लहर शान्त होते ही हम प्राकृतिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य के उच्चस्तर स्थान पर पहुंच जाते हैं। मृत्युलोक और स्वर्गलोक के मध्य-स्थानीय हेमकूट पर्वत पर महर्षि मारीच के तपोवन में न केवल प्रेमियों का पुर्नमिलन होता है, अपितु अन्त: और ब्राह्य प्रकृति के चिरन्तन संयोग की पुन: प्रतिष्ठा भी होती है।

प्रकृति में शील और सदाचार का दर्शन-

कालिदास की प्रकृति केवल मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत ही नहीं है, अपितु वह हमें सत्य, सदाचार और शील का उदात्त पाठ भी पढ़ा रही है। अभिज्ञानशान्कुन्तल के पञ्चम अङ्क में यह दिखाया गया है। यह राजा धर्मासन से उठा ही था कि कण्व के शिष्य पहुंच गये। राजा को उसके आगमन की सूचना देने में कञ्चुकी को संकोच होता है, परन्तु राजधर्म की अपरिहार्यता का ध्यान आ जाता है-

भानु सकृद्‌युक्ततुरङ्ग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥ अभि॰ ५/४

'सूर्य एक बार ही घोड़े जोड़ता है, वायु दिन-रात बहता है, शेषनाग सदा ही भूमि के भार को धारण किये रहता है, छठा भाग लेने वाल (राजा)का भी यह धर्म है।' इसी प्रकार आगे राजा की प्रशांसा में एक भाट कहता है-

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविध।
अनुभवति हि मूध्नो पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परिपातं छायया संश्रितानाम्॥ अभिज्ञान॰ ५/७

इसी प्रकार आगे राजा की प्रशंसा में एक भाट कहता है-

'अपने सुख की चाह न करके तुम प्रजा के लिये कष्ट उठा रहे हो, अथवा तुम्हारा तो यह दैनिक व्यवहार है, वृक्ष धूप को अपने सिर पर लेता है, परन्तु अपनी छाया से अश्रितों के संताप को शान्त करता है।'

कालिदास के काव्यों में प्रेम और सौन्दर्य-

संसार के सभी साहित्यों के प्रेम और सौन्दर्य कवियों का प्रिय विषय रहा है। कालिदास ने इन दो विषयों के वर्णन में अपने जिस असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है, वह उन्हें शृङ्गार रस के कवियों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करती है।

प्रेम जो कि भिन्न रूपों में और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में प्रकट होता है, मानव हृदय का लौकिक अध्यात्म तत्त्व है। स्त्री-पुरूष की ऐन्द्रियिक वासनापात्र को प्रेम समझना भारी भूल है। यद्यपि यह ठीक है कि प्रेम वही है कि प्रेम का स्वरूप स्त्री-पुरूष के प्रेम में झलकता है, परन्तु स्त्री-पुरूष का भी वास्ताविक प्रेम वही है जो ऐन्द्रियिक वासना से ऊपर उठकर एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण में है और वह सचमुच अलौकिक और आध्यात्मिक है। कालिदास की सारी कला इस महान् तथ्य को प्रकट करती है कि किस प्रकार ऐन्द्रियिक वासना क्रमश: विकास को प्राप्त होती हुई पारस्पारिक समर्पण के रूप में अलौकिक दिव्य रूप धारणा कर लेती है।

कालिदास के काव्यों प्रेम का क्रमिक विकास-

कालिदास की रचनाओं में प्रेम क्रमश: ऐन्द्रियिक वासना से ऊपर उठता हुआ दिव्य आध्यात्मिक स्वरूप धारण कर लेता है। कालिदास

की प्रारम्भिक रचना ऋतुसंहार में प्रेम को ऐन्द्रियिक वासना के रूप में चित्रित किया गया है। इस काव्य में [illegible] ऋतुओं के [illegible] यह दिखाया गया है कि प्रेमियों के मन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है? इस काव्य में उसका प्रेम का स्वरूप काम [illegible] नहीं उठ सका है।

ऋतुसंहार के बाद उसकी दूसरी रचना मालविकाग्निमित्र में भी प्रेम शारीरिक सौन्दर्य से उद्भूत आकर्षण के रूप में है [illegible] की अगली अवस्था आती है, जिसमें दो प्रमियों के हृदय में एक दूसरे के लिए उत्कण्ठा एवम् आतुरता है। विक्रमोर्वशीय [illegible] ने इस तथ्य को प्रकट किया कि प्रेमियों की उत्कण्ठा का सन्ताप जब उस पराकाष्ठा को पहुंचा जाता है, जिसमें उनके [illegible] जायें, तभी उनके हृदयों का मिलन होता है। (तप्तेन तप्तमयता घटनाय योग्यम्। विक्रमो॰ अङ्क २)। कुमारसम्भव में [illegible] स्पष्ट रूप से शारीरिक सौंदर्य से जनित ऐन्द्रियिक कामुकता पर शील और सदाचार की विजय दिखलाई है। अनिन्द्य सुन्दरी [illegible] पुत्री पार्वती अपने यौवन के आकर्षण से महादेव का वश में करना चाहती है। कुछ क्षण के लिये महादेव के हृदय में [illegible] परन्तु ही वह अपने को संभाल लेते हैं और अपने तृतीय अग्निमय नेत्र से कामदेव को भस्म कर डालते हैं। परन्तु [illegible] वह महादेव पार्वती की कठोर तपस्या के कठोर तपस्या के वशीभूत होकर उसके क्रीम-दास हो जाते हैं। (अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ। कुमार॰ ५/५)।

अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास ने प्रेम के चित्रण में और भी उच्चंतर भाव को प्रकट किया है। दुष्यन्त और शकुन्तला का [illegible] दर्शन से उत्पन्न प्रेम ब्राह्य सौन्दर्य पर आश्रित था, अतः वह अन्ततः अस्थिर एवं कष्टदायक सिद्ध हुआ [illegible] दुर्वासा [illegible] के कल्पना से कालिदास ने इसी तथ्य का उद्घाटन किया है कि किस प्रकार ब्राह्य सौन्दर्य पर आधारित दुष्यन्त का प्रेम तात्कालिक [illegible] में समाप्त हो गया है। परन्तु बाद में दुष्यन्त को जब मारीच के आश्रम में शकुन्तला मिलती है तो वह पहले के समान [illegible] राशि नहीं है; चिरविरह तथा संताप की पीड़ा ने उसे क्षीण कर दिया है; उसके वस्त्र मलिन है तो और [illegible] निरन्तर व्रत की साधना ने उसे बिल्कुल जर-जर कर दिया है; लेकिन दुष्यन्त के हृदय में उसके लिय प्रेम की [illegible] है-

बाष्पेण प्रतिषिद्धऽपि जयशब्दे जितं मया।

यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम्॥ अभि॰ ७/२४

पहले उनका मिलन ऐन्द्रियिक वासना पर आधारित था, अतः पार्थिव था, परन्तु इस अवस्था में उनका मिलन [illegible] आध्यात्मिक, शाश्वत, स्वर्गिक मिलन है, जो पारस्परिक निष्ठा एवं समर्पण तथा कर्तव्य की भावना पर आधारित है

कालिदास के काव्यों में सौन्दर्य का निरूपण-

प्रेम की अनुभूति के सदृश सौन्दर्य की अनुभूति भी एक अलौकिक आध्यात्मिक तत्त्व है। प्रेम और सौन्दय का परस्पर [illegible] सम्बन्ध है। सुन्दर वस्तु को देखकर कोई सहृदय बिना आकृष्ट हुए रह ही नहीं सकता। सारा विश्व सौन्दर्य से ओत [illegible] सौन्दर्य का अनुभव जीवन का सर्वश्रेष्ठ दिव्य अनुभव है। कालिदास के काव्यों में हमें सौन्दर्य के अनेक रूपों का [illegible] कालिदास ने विश्व की विविध वस्तुओं में सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। नदियों की तरङ्गों ने, लताओं के नर्तन ने, हिरन [illegible] ने, पक्षियों के कलरव ने, वृक्षों के लुभावने दृश्यों ने कवि को अपनी ओर आकृष्ट किया है। कवि न शब्द के स्वाभाविक [illegible] जाल में उनके सौन्दर्य को बांध कर एक सर्वथा अलौकिक सौन्दर्य की पुष्टि की है। कवि ने स्त्री-पुरूष के शारीरिक सौन्दर्य [illegible] अनेक रूपों में वर्णन किया है। रमणी के रूप वर्णन में कालिदास अद्वितीय है। पार्वती के स्मित का वर्णन करते हुए [illegible] है-

पुष्पालोप्रहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकूर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्ययस्तरूचः स्मितस्य॥ कुमार [illegible]

कालिदास किस प्रकार शब्द-चित्र द्वारा पार्वती के अङ्ग सौष्ठव का अपने पाठकों को अनुभव करा देता है दर्शनीय

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभि प्रथमोदबिन्दवः॥ कुमा [illegible]

'वर्षा की पहली बूंदें क्षण भर पलकों में अटकी, अधरों पर पड़ीं, स्तनों की उठान पर गिर कर चूर चूर हुई; त्रिवली [illegible] और बड़ी देर में नाभि पर पहुंची।

कालिदास ने स्त्री-सौन्दर्य के वर्णन में अपने उपमान प्रायः प्रकृति से लिये हैं। सखी के सुझाने पर कि शकुन्तला [illegible]

से आम का वृक्ष लता-सनाथ सा लगता हैं, कवि ने दुष्यन्त के मुख से शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन इन शब्दों में कराया है-

अधर किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहु।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्॥ अभि० १/१८

जिस प्रकार कालिदास ने नारी के कोमल शरीर के सौन्दर्य का वर्णन किया है, उसी प्रकार उसने पुरूष से पुष्ट, कठोर, दृढ़, एवं ऊर्जस्वल शरीर के सौन्दर्य का वर्णन किया है-

अनवरतधनुर्ज्योस्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणसहिष्णुस्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्य
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥ अभि० २/४

कालिदास का सौंदर्य-आदर्श-

प्रेम की अनुभूति के समान कालिदास की सौन्दर्य की अनुभूति भी क्रमशः बाह्य सौन्दर्य से ऊपर उठती हुई, अन्तः-सौन्दर्य की ओर प्रवृत्त होती हुई दीख पड़ती है। कालिदास का बाह्य अर्थात् शारीरिक सौन्दर्य का आदर्श है कि वह प्रत्येक अवस्था में रमणीय हो (अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषताणाम्। अभि० पृ० १९८)। तापस वेष में मनोरम प्रतीत होती हुई पार्वती और वल्कलधारिणी शकुन्तला के सौन्दर्य को सहारते हुए कवि ने इसी आदर्श की स्थापना की है-

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरूहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कज सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते। कुमार० ५/३

'जैसे प्रसाधन किये केशों से उसका मुख सुन्दर लगता था, वैसे ही जटाओं से भी शोभित हुआ। कमल केवल भौंरों से नहीं, अपितु सिवार से लिपटा होने पर भी लगता है।'

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनपि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोलैक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। (अभि० १/१७)

'सिवार से लिपटा हुआ भी कमल रमणीय होता है, चन्द्रमा का काला कलङ्क भी उसकी शोभा को बढ़ाता है, यह तन्वी वल्कल से भी और अधिक सुन्दर लग रही है। प्रिय आकृतियों के लिये क्या वस्तु आभूषण नहीं हो जाती है?'

कालिदास के अनुसार रूप-सौंदर्य गुणों से हीन नहीं होता। शकुन्तला और दुष्यन्त को विदा दे दिया जाने पर शकुन्तला की सखी अनुसूया यह चिन्ता करने लगती है कि न जाने नगर में पहुंच कर राजा को आश्रम की बात याद भी रहेगी अथवा नहीं। इस पर दूसरी सखी प्रियंवदा कहती है-'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनी भवन्ति।' (अभि० पृ० १०६)। कालिदास को यह निश्चय है कि सौन्दर्य का आकर्षण कभी ऐन्द्रियिक कामुकता और पापवासना की ओर नहीं ले जाता है।

यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामुप्यपदेशतां गतः॥ कुमार० ४/२६

कुमारसंभव में काम-दाह के प्रसङ्ग में कालिदास ने स्पष्ट रूप से बाह्य सौदर्य की अपेक्षा शील-सदाचार के श्रेष्ठ घोषित किया है-'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारूता'। वस्तुतः सौन्दर्य का फल ही यह है कि प्रिय का प्रेम प्राप्त किया जा सके।

कोमल भावनाओं का कवि-

कोमल एवं सुकुमार भावों की व्यञ्जना में कालिदास अद्वितीय है। इसीलिये 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता जयदेव कवि ने कालिदास को "कविताकामिनी का विलास" कहा है। शृङ्गार रस के सम्भोग एवं विप्रलम्भ दोनों पक्षों का जैसा सूक्ष्म एवं मार्मिक उद्घाटन कालिदास ने किया है वैसा संसार के किसी और कवि ने किया हो, इसमें सन्देह है। उनका करूण रस भी कम मार्मिक नहीं है।

कुमारसम्भव का 'रति-विलाप' तथा रघुवंश का 'अज-विलाप' उनके करूण रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पति के भस्मीभूत शरीर को देखकर रति विलाप कर रही है:

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्।। कु० ४/३०

'हे वसन्तु, तुम्हारे वे प्रिय सखा (कामदेव) हवा के झोंके से बुझे दीपक की भाँति कभी न लौटने के लिये चले गये हैं। अब मैं उस बुझे दीपक की काली बत्ती के समान असह्य शोकान्धकार से आवृत्त बची हुई हूं।' पत्नी के वियोग पर अज की क्या दशा हो गई है:

विललाप स बाष्पगदगदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव शरीरिषु।। रघु० ८/३३

'अज अपना सहज धैर्य छोड़कर सिसकियों से अवरूद्ध हुई वाणी से फुट-फुट कर विलाप करने लगे। अधिक ताप से लोहा भी पिघल जाता है, फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या?

इसके विपरीत नव-वधू के प्रेम का क्या ही मनोरम चित्र कवि ने खींचा है:

आत्मानलोक्य च शोभमानादर्शबिम्बे स्मितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः।।

'जब पार्वती ने हर्ष के कारण विकसित नेत्रों से दर्पण में अपना रमणीय रूप देखा तब वह शीघ्रता से शिव के समीप पहुंचने के लिये आतुर हो गयी क्योंकि स्त्रियों के लावण्य की सफलता प्रियतम की स्नेहसिक्त दृष्टि में ही निहित है।'

करूण एवं शृंङ्गार इन दोंनों रसों की व्यञ्जना में कवि के पद्यों का नादसौन्दर्य और सुकुमार वर्ण-विन्यास विशेष सहायक हुआ है।

कालिदास वैदर्भी-रीति के कवि-

कालिदास की लोकप्रियता का प्रधान कारण है उनकी प्रसादपूर्ण लालित्य युक्त और परिष्कृत शैली। उन्होंने अपने सभी ग्रन्थ वैदर्भी रीति में लिखे हैं-वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।' दण्डी ने वैदर्भी रीति का उद्भावना सर्वप्रथम कालिदास द्वारा ही मानी है। वैदर्भी रीति का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार किया है-

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।। साहित्यदर्पण १/२-३

ललित पद विन्यास के माधुर्य से तथा क्लिष्टता और कृत्रिमता के सर्वथा परिहार से कालिदास की रचनायें स्वाभाविक और अत्यन्त सुन्दर हैं, सर्वत्र सरल, सुबोध एवं प्रसादयुक्त है।

अलङ्कारों का प्रयोग-

अलङ्कारों के प्रयोग में कवि ने अपनी सूक्ष्म मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उनकी कविता अत्यधिक और अनावश्यक अलङ्कारों के भार से आक्रान्त कामिनी की भाँति मन्द-मन्थर गति से चलने वाली नहीं है, अपितु 'स्फुट चन्द्रतारका विभावरी' की भाँति स्वाभाविक सौन्दर्य से सहृदयों के चित्त को आकृष्ट करने वाली है। उनके अनुप्रास उनकी काव्यधारा में सर्वत्र अनायास ही आ गये हैं जैसे 'प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि, मायूरी मदयति सार्जना मनांसि' 'निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु आदि।

यमक से रस भंग होने की आशंका रहती है। इसलिये कवि ने उसका बहुत ही कम उपयोग किया है, जैसे 'वधाय हन्तुं हरिणेषुमक्षयं शरण्यः 'मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्' श्लेष के अधिक प्रयोग से काव्य में क्लिष्टता या कृत्रिमता आ जाती है, अतः कवि ने इसका भी कम ही प्रयोग किया है। उन्होंने शब्दलङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों पर विशेष ध्यान दिया है। स्वाभावोक्ति में वे सिद्धहस्त हैं। इनके शाब्दिक चित्र सजीव एवं स्वाभाविक हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरास आदि अलङ्कारों के प्रयोग में उनकी बहुज्ञता एवं व्यापकता दृष्टि का परिचय मिलता है।

कालिदास की उपमाओं की विलक्षणता तो विश्वविख्यात है- "उपमा कालिदासस्य"। वास्तव में उनकी उपमायें अत्यन्त अनुरूपता, सरसता तथा अपूर्वता की दृष्टि से वे बेजोड़ हैं। नन्दिनी गाय राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच में वैसे ही है जैसे दिन और रात के मध्य में स्थित रक्तवर्णा संध्या- "दिनक्षपामध्यगतेव संध्या"। पौर स्त्रियां राजकुमार अतिथि को अपने

द्वारा उसी प्रकार अनुसरण कर रही थीं, जिस प्रकार चमकते हुये तारों वाली शरद ऋतु की रात्रियां ध्रुव-नक्षत्र का अनुमापन करती हैं-'शरत्प्रसन्नैर्ज्योभिर्विभार्य इव ध्रुवम्'। रमणीय होने के साथ ही कालिदास की उपमायें यथार्थ हैं- स्वयंवर के समय इन्दुमती जिस राजा को छोड़ती जाती है, उसके चेहरे पर निराशा की ऐसी कालिमा छा जाती है जैसे राजमार्ग के उन महलों पर जिन्हें रात्रि के समय आगे बढ़ने वाली दीपशिखा पीछे छोड़ती चली जाती है। उपमाओं की विविधता भी दर्शनीय है। मदनदाह के उपरान्त शोक से व्याकुल रति को, पानी सूख जाने पर तालाब में अकेली छटपटाती हुई मछली से मूर्त उपमा दी गई है।

कालिदास के काव्यों में शास्त्रीय उपमायें भी कई स्थलों पर मिलती है। ब्रह्म-सरोवर से निकलने वाली सरयू नदी सांख्य-शास्त्र में अव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि तत्त्व के समान है।

नन्दिनी के मार्ग पर सुदक्षिणा ऐसे चल रही थी जैसे स्मृति श्रुति के अर्थ का अनुसरण करती है। अमूर्त कल्पनाओं से भी कवि ने उपमायें ली है- माता की गोद को शोभित करने वाले भरत की उपमा लक्ष्मी की शोभा को बढ़ाने वाले विनय से दी गई है। व्यवहार और अनुभव से सूझी हुई उपमायें भी मिलती हैं-कण्व अपनी पुत्री शकुन्तला को पति के घर भेजकर ऐसे निश्चित हो जाता है जैसे कोई धरोहर को लौटा कर हो जाता है (जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा)। सभी उपमायें स्वाभाविक और अपने प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है-पेटू विदूषक चन्द्रमा को खांड का लड्डू समझता है।

सुन्दर उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण 'मेघदूत' में भरे पड़े हैं। पके पीले आमों के वृक्षों से आच्छादित आम्रकूट पर्वत की चोटी पर जब मेघ छा जाते हैं, तब वह पर्वत ऐसा दिखाई पड़ता है मानो 'मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेष विस्तारपाण्डुः' हो। इसी प्रकार कैलाश पर्वत की शुभ्र धवल हिमाच्छादित चोटियां ऐसे शोभित हो रही है, मानो भगवान् शङ्कर के प्रतिदिन अट्टहास की राशियां इकट्ठी हों।

दृष्टात भी कवि का प्रिय अलंङ्कार है। 'सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरित? क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते'-दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम को लक्ष्य में रखते हुये ये दृष्टान्त बड़े ही अनुरूप है। अर्थान्तयास में कवि का व्यावहारिक ज्ञान बड़े ही सरल रूप में प्रकट हुआ है-'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते-, प्रियेरूषु सौभाग्यफला हि चारूता', 'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्' इत्यादि स्थलों पर कवि ने जीवन के तथ्यों को बड़े ही मार्मिक तथा सरल रूप में उद्घाटिता किया है।

अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति के कारण कालिदास अपने शब्दचित्रों को बड़ी खूबी से खींच सके हैं। वे मानव-हृदय की कोमल भावनाओं, उसकी उत्सुकता विह्वलता के, उसके विविध भाववेशों के सच्चे पारखी थी। वे अन्तर्जगत् के साथ-साथ ब्राह्य जगत् के भी सूक्ष्म मर्मज्ञ थे। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का, उसके अनुपम दृश्यों का सच्चा चित्र उनके काव्य में सर्वत्र मिलेगा।

कालिदास की कृतियों में कहीं-कहीं अश्लीलता, च्युत-संस्कृति, औचित्यभङ्ग एवं रसदोष की त्रुटियां पाई जा सकती हैं, पर 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणोविष्वबाङ्कः' के अनुसार वे सर्वथा नगण्य एवम् उपेक्षणीय हैं। प्रसाद की प्रचुरता, माधुर्य का समुचित संनिवेश, भावों का सौष्ठव, अलङ्कारों की अपूर्वता एवं रमणीयता तथा भाषा का लालित्य, इन सब गुणों ने कालिदास की कविता को विश्ववन्द्य बना दिया है।

मेघदूत

१. मेघदूत की कथावस्तु

मेघदूत की कथावस्तु कवि-कल्पित है। कथावस्तु केवल नाम मात्र के लिये है। कवि ने विरही यक्ष के मुख से अलकापुरी के मार्ग तथा अलका के वर्णन द्वारा प्रकृति-चित्रण का सुन्दर और सरस अवसर खोज लिया है। पूर्वमेघ में मार्ग का वर्णन है और उत्तरमेघ में अलका का समृद्धि तथा यक्षिणी के सौन्दर्य तथा विरह दशा का। अन्तिम कुछ पद्यों में यक्ष का सन्देश बतलाया है। नीचे पूर्वमेघ तथा उत्तरमेघ का वर्ण्य-विषय विस्तार से दिया जा रहा है।

पूर्वमेघ- अपने किसी कर्त्तव्य में प्रसाद के कारण स्वामी के वर्षावधिक शाप से अभिशप्त कोई यक्ष अपनी महिमा को खोकर रामगिरि के आश्रमों में निर्वासन के दिन व्यतीत कर रहा था। लगभग आठ मास का समय बीत चुका था। प्रिया के वियोग के सन्ताप ने उसे कृशकाय कर दिया था और उसका समय बड़ी कठिनाई से बीत रहा था कि ऋतु-क्रम के आषाढ़ के प्रथम दिन उसने सामने पर्वत के शिखर का आलिङ्गन किये मेघ को देखा।

वियोगियों को उत्तप्त कर देने वाले मेघ को सामने देखकर उसका हृदय प्राण-प्रिया की रक्षा के निमित्त विह्वल हो उठा और अचेतन मेघ के द्वारा ही अपना प्रेम-सिक्त सन्देश भेजकर प्रिया को आश्वस्त करना चाहा। कामी को भला चेतन-अचेतन का विवेक कहां?

सन्देशवाहक की कुलीनता, महत्ता, दया-प्रवणता तथा गन्तव्य स्थान की रमणीयता एवं पवित्रता आदि के उल्लेख और शुभ शकुन की उपस्थिति के संकेत द्वारा उसे तुरन्त प्रस्थान कर देने के लिये अभिमुख करके यक्ष ने मेघ को अलकापुरी का मार्ग बतलाना प्रारम्भ किया-

'तुम्हें रामगिरि से विदा लेकर उत्तर दिशा की ओर जाना है, मार्ग में वर्षा ऋतु में मानस के लिये उत्सुक राजहंस कैलास तक तुम्हारे सह-यात्री होंगे और मार्ग में जनपद की भोली बधुएं तुम्हें प्यासी नेत्रों से देखेगी, क्योंकि कृषि सामयिक वर्षा पर ही आश्रित है। आम्रकूट पर्वत तुम्हें अपने सिर पर धारणा करेगा; जिससे पर्वत की शोभा अद्भुत हो जायेगी। वह भू-कामिनी के उन्नत स्तन के समान प्रतीत होगा।

'इसके बाद कुछ मार्ग पार करने पर तुम विन्ध्याचल के चरणों में बल खाती रेवा (नर्मदा) को देखोगे और तुम उसके स्वादु जल के पान करके पूर्ण हो जाओगे जिससे वायु तुम्हें उड़ा न सकेगा। वहां विचरण करने वाले सिद्ध गर्जन से डरी प्रियाओं का आलिङ्गन प्राप्त करके तुम्हें आदर से देखेंगे। मार्ग में अनेक पर्वत पड़ेंगे, जो कुटज-पुष्पों से सुगन्धित होंगे और तुम्हें लुभा कर विलम्ब करा देंगे; परन्तु तुम्हें किसी प्रकार जल्दी से बढ़ते ही जाना चाहिये। आगे दशार्ण देश आ जायेगा और तब वहां से हंस भी तुम्हारे साथ चल पड़ेंगे। दशार्णों की राजधानी विदिशा में तुम्हें किसी प्रकार जल्दी से बढ़ते ही जाना चाहिये। आगे दशार्ण देश आ जायेगा और तब वहां से हंस भी तुम्हारे साथ चल पड़ेंगे। दशार्णों की राजधानी विदिशा में तुम्हें कामुक की साध पूरा करने का अवसर मिलगा, क्योंकि तुम वेत्रवती के स्वादु जल-मुख का पान करोगे। वहां तुम्हें 'नीचैः' नामक गिरि पर विश्राम करना होगा, जो तुम्हारे सम्पर्क के कारण विकसित कदम्ब-पुष्पों से पुलकित हो उठेगा।

वहां विश्राम करके वेत्रवती के तीर पर स्थित उद्यानों, यूथिका स्तबकों जलसक्ति करते हुये और मालिनों को छाया द्वारा उपकृत करते हुए तुम आगे जाओगे। उत्तर की ओर प्रस्थान करने वाले का मार्ग यद्यपि कुछ टेढ़ा हो जायेगा, परन्तु फिर भी तुम्हें उज्जयिनी के दर्शन के लोभ का संवरणन करना चाहिये, क्योंकि यदि तुमने वहां की पौराङ्गनाओं की चितवनों का आनन्द न लिया तो तुम्हारे नेत्र व्यर्थ ही होगे। उज्जयिनी की ओर जाते हुए रास्ते में तुम्हें विलासिनी निर्विन्ध्या का रस अवश्य लेना चाहिये और कुछ ऐसा काम करना चाहिये जिससे तुम्हारे विरह से उत्पन्न उसकी कृशता नष्ट हो जाये।

अवन्ति देश में पहुंच कर तुम्हें पूर्वोक्त उज्जयिनी के परिसर में पहुंच जाना चाहिये, जो अपनी समद्धि के कारण भूतल पर स्वर्ग का ही खण्ड प्रतीत होती है। वहां शिप्रा का शीतल मन्द सुगन्धित पवन प्रमदाओं की ग्लानि को दूर कर देता है। वहां हाटों में फैली सम्पदा को देखकर प्रतीत होता है कि बस समुद्रों में तो जलमात्र शेष रह गया है। वहां के नगर-वासी जन बाहर से आये मित्रों को उदयन-चरित से सम्बद्ध स्थलों को दिखलाकर उनका मनोरंजन करते हैं। तुम्हें भी इसकी अट्टालिकाओं में रात्रि भर रुककर गम्भीरा की थकान दूर कर लेनी चाहिये और यदि वहां सान्ध्य उपासनाकाल से पूर्व पहुंच जाओ तो सूर्यास्त की प्रतीक्षा करनी चाहिये क्योंकि शूलधारी की सुख भी तुम्हें प्राप्त होगा। साथ ही, ताण्डव नृत्य के आरम्भ में शिव की भुजाओं पर छाकर उनका गज-चर्म की इच्छा का निवारण करके तुम्हें पार्वती के प्राप्त अपनी भक्ति दर्शाने का भी अवसर मिलेगा।'

वहां अन्ध-गहन रात्रि में रमणवसति की ओर प्रस्थान करने वाली अभिसारिकाओं को बिजली चमका कर रास्ता तो दिखलाना किन्तु गर्जनतर्जन न करना। उस रात को उज्जयिनी में बिता कर अलग दिन सूर्य के निकलने पर तुम्हें शेष मार्ग तय करना चाहिये, क्योंकि मित्रों का कृत्य स्वीकार कर लेने वाले कभी अपने प्रयत्न में शिथिलता नहीं करते हैं। तुम्हें शीघ्र ही सूर्य का रास्ता छोड़ देना चाहिये क्योंकि वह प्रेमियों द्वारा खण्डिताओं को आश्वासन देने का समय होगा और फिर सूर्य को भी तो प्रेयसी कमलिनी के हिम कण अश्रु पोंछने होंगे।

मार्ग में गम्भीरा नदी पड़ेगी, जिसके स्वच्छ जल में तुम्हारा प्रतिबिम्ब संक्रान्त हो जायेगा। अपनी अरसिकता से गम्भीरा के चचल कटाक्षों को निष्फल न करना; उसके जल का अवश्य ही पान करना। जब तुम देवगिरि के पास पहुंचने को होगे तो वन पाली को पकाने वाला शीतल वायु तुम्हारे नीचे से बहेगा। वहां देवागिरि में वास करने वाले स्कन्द पर पुष्पों की वर्षा करके इच्छानुसार रूप धारण तुम्हें अपना जीवन सफल कर लेना चाहिये। तुम्हें स्कन्द के वाहन मयुर को भी अपने गर्जन से हर्षित करना चाहिये। भगवान् स्कन्द की आराधना करने के उपरान्त तुम्हें आगे बढ़कर चर्मण्वती नदी पर ठहरना चाहिये। चर्मण्वती का जल पान करने के लिये झुके हुये तुम्हारी ऐसी अद्भूत छटा होगी कि गगनचारी भी तुम्हें सचमुच एकटक दृष्टि से देखेगे।

'चर्मण्वती को पार करके तुम दशपुर जनपद में पहुंच जाओगे और उससे आगे ब्रह्मावर्त जनपद आ जायेगा, जिसमें प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र तीर्थ है। वहां सरस्वती के पवित्र जल का, जिसके लिये बलराम ने अपनी प्रिय मदिरा का त्याग कर दिया था, पार करके तुम भी पवित्र हृदय

होकर केवल वर्ण से ही काले रह जाओगे। वहां से चलकर तुम्हें कनखल के समीप हिमालय से उतरती हुई गङ्गा मिलेगी। उसका जल लेने के लिये जब तुम तिरछे होकर झुकोगे तो उसके जल में तुम्हारी काली परछाई पड़ने से उसका बिना प्रयाग ही यमुना से संगम हो जायेगा। तदुपरान्त गङ्गा के पिता हिमालय पर पहुंच कर उसके हिमाच्छति धवल शिखिर के ऊपर स्थित तुम्हारी शोभा शिव के धवल वाहन द्वारा ऊपर उछाले हुए पङ्क के तुल्य हो जायेगी। वहां यदि वायु चलने पर सरल वृक्षों के तनों में आग लग जाये तो वृष्टि द्वारा उसे शान्त कर देना, क्योंकि उत्तम लोगों की सम्पत्ति पीड़ितों के कष्ट निवारण के लिये ही होती है। शरभों का रास्ता बचाकर अपमानित नहीं होते हैं?

'हिमालय में एक शिला में प्रकट चन्द्रमौलि शिव के चरण न्यास की भक्तिपूर्वक परिक्रमा करना। उसके दर्शन से श्रद्धालु जन शरीर पूरा होने पर शाश्वत गण-पद प्राप्त कर लेते हैं। वहां कीचक जाति के वेणु बजाने और किन्नरियों के मधुर आलाप करने पर यदि तुम मुरज सदृश नाद की गूंज कर दो तो पशुपति का संगीत पूर्ण हो जायेगा।

हिमालय की अनेक विशेषताओं को देखते हुए तुम हंसों के आने-जाने के मार्ग क्रोञ्च-रन्ध्र पर पहुंचकर उसमें तिरछे होकर प्रवेश करके उत्तर दिशा की ओर जाना। तब तुम कैलास पर्वत पर पहुंच जाओगे, जहां देवाधिदेव शम्भु निवास करते हैं। वहां यदि पदैल भ्रमण करती हुई पार्वती मणितट पर चढ़ना चाहे तो अपने जल को जमाकर सोपान के आकार का बना लेना। वहां गर्मी से संतप्त सुरयुवतियां यदि तुम्हारा पिण्ड न छोड़ें तो उन्हें श्रवण-कटु गर्जनों से डरा देना। कैलास पर्वत में मानस का जल पीकर, ऐरावत के मुख पर आवरण बनाकर तथा कल्पद्रुम के किसलयों को हिलाकर नाना प्रकार की सुभाग चेष्टाओं द्वारा उस नगेन्द्र का उपभोग करना। तुम उसकी गोद में स्थित ऊँचे-ऊँचे महलों वाली अलकापुरी को अवश्य ही पहचान लोगे।'

उत्तरमेघ- 'अलका में गगनचुम्बी महल हैं जो सुन्दर ललनाओं, विविध वर्णों से बने चित्रों, संगीत में प्रहत मुरजों और माणि-जटित कुट्टिओं आदि गुणों से तुम्हारी बराबरी कर सकते हैं। वहां हमेशा नवयुवतियों के हाथ में लीला-कमल, केशों में बाल-कुन्द, मुख पर लोध्र पुष्प का पराग, जूड़े में कुरबक, कानों में शरीष और सीमन्त में कम्बन्द का फूल रहता है। वहां वृक्षों पर हमेशा फूल खिले रहते है, जिन पर भौंरे गुंजार करते रहते हैं, हमेशा चमकते हुए पंखों वाले मोर कूजते रहते है; कमलिनियों पर हमेशा कमल खिले रहते हैं, जिनके चारों ओर हंस की पङ्क्तियां घिरी रहती हैं और हमेशा प्रकाश के कारण गोधूलियां सुहावनी होती है। वहां आंखों में आंसू हर्ष के कारण उत्पन्न होते हैं; केवल काम-संताप ही लोगों को सताता है, केवल प्रणय-कलह में ही प्रेमियों का वियोग होता हैं और देवों को केवल यौवनावस्था ही रहती है। वहां यक्ष अट्टालिकाओं की माणि-जटित छतों पर जाकर उत्तम स्त्रियों के साथ मिलकर संगीत-ध्वनि के साथ कल्पद्रुम से उत्पन्न रतिफल नामक मदिरा का सेवन करते हैं। वहां कन्यायें गङ्गा के रेतीले तट पर मणियां छिपा-छिपा कर खेलती हैं। वहां रत्नों के द्वीप हैं; दीवारें चित्रों से सज्जित हैं और चन्द्रिका के सम्पर्क से जल-स्रावी चन्द्रकान्त मणियां स्त्रियों की सुरत-ग्लानि को हर लेती है। उसके बाह्य भाग में वैभ्राज नाम का उद्यान है, जिसमें कामीजन अप्सराओं के साथ संगीत-सुख का उपभोग करते हैं। उस नगरी में अकेला कल्प वृक्ष ही स्त्रियों की समग्र प्रसाधन-सामग्री को उत्पन्न कर देता है। वहां सूर्य के घोड़ों की बराबरी करने वाले घोड़े है, शैल के समान भीमकाय मदवर्षी हाथी हैं और वहां के योद्धा ऐसे हैं कि जिन्हें तलवार के घाव के निशान के सामने आभूषण भी अच्छे नहीं लगते।

'उस अलकापुरी मे कुबेर के घर से उत्तर की ओर समीप में स्थित मेरा घर है, जो इन्द्रधनुष के समान सुन्दर तोरण से दूर से ही दीख पड़ता है और जिसके पास में छोटा सा मन्दर वृक्ष है जिसे मेरी प्रिय ने पुत्र के समान पाला है, जो हाथ की पहुंच में आ सकने वाले पुष्पों के गुच्छों से झुका रहता है। इसमें मरकत-माणियों से बनाई गई सोपान पङ्क्ति से शोभित और सूवर्ण कमलों से आच्छन्न एक बावड़ी है जिसमें कुरबक की बाड़ से घिरा माधवीमण्डप के समीप में रक्तशोक और मौलसिरी का पेड़ है। उन दोनों के बीच में संगमरमर के फलक वाली सोने की छतरी है जिस पर सन्ध्या के समय तुम्हारा मित्र मोर बैठा करता है, जिसे मेरी प्रिया बजती हुई चूड़ियों से सुभग ताल दे-देकर नचाया करती है। द्वार के बाजुओं पर चित्र में बनाये शङ्ख और पद्म (निधि) को देखकर और पूर्वोक्त चिन्हों को याद करके को याद करके तुम मेरे घर को पहचान लेना। मेरी अनुपस्थिति में अब मेरा घर अवश्य ही शोभाहीन हो गया होगा; सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल की शोभा नहीं रहती।

'शीघ्र नीचे उतरने के लिये हाथी के बच्चे का आकार धारण करके पूर्वोक्त क्रीड़ा-पर्वत के शिखर पर बैठकर तुम धीरे से अपने विद्युन्नेत्र को भवन के अन्दर डालना। उस भवन में ब्रह्मा की प्रथम स्त्री-रचना के समान, स्तन-भार से झुकी जो स्त्री हो जिसका

शरीर पतला, दांत नुकीले, अधर पके बिम्ब से, कमर पतली, नेत्र चकित हरिणी के से और नाभि गहरी हो और नितम्ब भार के कारण जिसकी गति मन्द हो, उस अल्प-भाषिणी को मेरा द्वितीय प्राण समझ लेना। मुझ सहचर के विहर में उसके दिन कठिनाई से कट रहे होंगे और वह बर्फ से कुम्हलाई हुई कमलिनी-सी हो गयी होगी। निरन्तर रोने उसके नेत्र सूज गये होंगे, गर्म आंसुओं से उसके होंठों की कान्ति नष्ट कर दी होगी और हाथों पर रक्खा हुआ उसका मुख बिखरे बालों के कारण पूरी तरह दीख भी न पड़ता होगा। वह पूजा में लगी होगी अथवा मेरा चित्र बना रही होगी अथवा पिंजरे में बैठी मैना से पूछ रही होगी-"ऐ रसिके, तुझ स्वामी की याद आती है या नहीं तू तो उसकी प्यारी थी।" अथवा गोद में वीणा डाल कर मेरे नाम वाले गीत को गाने के लिये उद्यत हुई वह आंसुओं से गीले तारों को ठीक करके स्वरचित मूर्च्छना को भी भूलती हुई तुम्हें दृष्टिगोचर होगी। वह मेरे शाप की अवधि के अवधि गिने मासों को देहली पर रक्खे हुए पुष्पों से गिन रही होगी अथवा मन ही मन मेरे मिलन का आस्वादन कर रही होगी। प्रिय के प्रियवियोग में मनोविनोद के यही उपाय हुआ करते हैं।

'तुम्हारी सखी दिन में तो काम में लगी रहती होगी, इसलिये मेरा विरह उसे अधिक न सताता होगा; परन्तु रात्रि में विरह के आने में उसकी वेदना अधिक हो जाती होगी, अत: तुम उसे मेरा सन्देश अर्धरात्रि में देना जब कि वह व्याकुलता के कारण पृथ्वी पर उन्निद्र पड़ी होगी। जो रात्रियां उसने मेरे साथ क्रीड़ा-रत रह कर क्षण के समान व्यतीत की थीं, उन्हें अब बिस्तर पर करवटें बदलते हुये वह गर्म आंसुओं के साथ बिताती होगी। अब उसे चांद की चांदनी भी न भाती होगी और किसी तरह स्वप्न में ही मुझसे मिलन के बिना बांधी थी और जिसे शापवसान में मैं ही खोलूंगा, मुख पर से हटा रही होगी; वह दुखिया अपने कृश अङ्गों को बड़ी कठिनाई से सम्हाले होगी; उसे देखकर तुम्हारी आंखों में भी बरबस आंसू उमड़ बआयेगें।

'हे भाई, मैंने तुम्हारी सखी का अपने प्रति प्रेम जानता हूं इसी से उसकी ऐसी दशा की सम्भावना कर रहा हूं। मैंने स्वयं को बन्धु मानकर वह डींग नहीं मार रहा। जो मैं कह रहा हूं, उसे तुम शीघ्र ही प्रत्यक्ष देख लोगे। तुम मित्र के पहुंचने पर उसकी बांयी सूनी आंखों की ऊपर की पलकें और आभूषण रहित बाईं जांघ फड़क उठेगी।

'हे जलद, उस समय यदि किसी तरह उसे नींद आ गई हो तो कुछ समय चुपचाप रहकर प्रतीक्षा कर लेना, जिससे कि स्वप्न में किसी प्रकार प्राप्त हुए मुझ प्रिय के साथ उसका आलिङ्गन तुरन्त शिथिल न हो जाये। तुम बिजली को अपने अन्दर छिपाकर और धीर रहकर जल-कणों से शीतल पवन से उसे जगाकर अपलक दृष्टि से तुम्हें देखती हुई से इस प्रकार कहना प्रारम्भ करना "हे सौभाग्यवती, मुझे अपने पति का मित्र मेघ जानो, मैं उसका संदेश लेकर तुम्हारे समीप आया हूं।" यह कहने पर वह तुम्हारे वचन को वैसे ही आदर के साथ सुनेगी जैसे सीता ने हनुमान के वचन सुने थे।

'हे आयुष्मान्, मेरे कहने से और अपने जीवन को परोपकार द्वारा चरितार्थ करने के लिये उससे इस प्रकार कहना-

'हे अबले, रामगिरि के आश्रमों में रहने वाले, तुससे बिछड़ा हुआ तुम्हारा साथी जीवित है और तुम्हारा कुशल पूछता है। वह कृश-क्षीण, तप्त अङ्गों से तुम्हारे कृतशत एवं संतप्त अङ्गों का संकल्प द्वारा गाढ़ आलिङ्गन करता है। जो सखियों के सामने स्पष्ट कहने में शर्म बात को मेरे मुख से स्पर्श के लोभ से कान में कहने के लिये उत्सुक रहता था, अब दूरवर्ती उसने मेरे द्वारा यह कहा है

"मैं प्रिसङ्ग लताओं में तुम्हारे शरीर को, हरिणी, के नेत्रों में तुम्हारे दृष्टिपात को, चन्द्रमा में तुम्हारे मुख की कान्ति को मोरों के पंखों में तुम्हारे केश-भार को और नदियों की हल्की सी तरङ्गों में तुम्हारे भ्रूभङ्ग को निहारता रहता हूं; लेकिन मुझ तुम्हारी समानता रखने वाली एक वस्तु में भी नहीं मिलती। मैं शिला पर गेरू से तुम्हारसा प्रणय-कलह में कुपित हुई का चित्र बनाकर जैसे ही तुम्हें प्रसन्न करने के लिये चरणों में पड़ना चाहता हूं कि आसुंओं के उमड़ने से मेरी दृष्टि रूक जाती है और क्रूर भाग्य चित्र में भी हमारा मिलन सहन नहीं करता है। स्वप्न में मिल जाने पर जब मैं तुम्हारा आलिङ्गन करने के लिये भुजायें फैलता हूं तो वन-देवताओं के मिलन भी मोटे-मोटे आंसू गिरने लगते हैं। मैं उत्तर से आने वाले पवनों का इस आशा से अलिङ्गन करता रहता हूं कि सम्भवत: उन्होंने पहले तुम्हारे शरीर का स्पर्श किया होगा। मैं तुम्हारे वियोग की व्यथा से इतना पीड़ित हूं कि यही चिन्ता रहती है कि रात्रि कैसे बीते और दिन का ताप किस तरह कम हो; लेकिन फिर भी मैं अपने को संभाले हुए हूं। इसलिये, हे कल्याणि तू भी अधीर न हो; हमेशा सुख या दु:ख किसको होता है? मेरा शाप विष्णु के शेषशय्या से उठने पर समाप्त हो जायेगा, इसलिये तू चार महीने भी आंखें मींचकर बिता ले। इसके बाद शरद् की चांदनी रात में हम दोनों अपनी उन अभिलाषाओं को पूर्ण करेंगें जो विरह में चित्त में चढ़ी हुई हैं।"

उसने और आगे कहा है-"पहले कभी एक बार तुम बिस्तर में मेरे गले से लगी सो रही थीं कि किसी कारण जोर से रोती हुई जाग

गईं। तब मैंने तुमसे अनेक बार रोने का कारण पूछा तो तुमने मन ही मन मुस्कुराते हुए कहा था-'अरे धूर्त, मैंने स्वप्न में तुझे किसी स्त्री के साथ रमण करते देखा है।' हे असितनयने, यह पहचान बतलाने से मुझे सकुशल जानकर लोकापवाद के कारण मेरे प्रति शङ्कालु न बन। जो यह कहते हैं कि वियोग में स्नेह समाप्त हो जाता है, वह झूठ ही है; वह तो भोग के अभाव के इष्ट वस्तु के प्रति अभिलाषा को बढ़ाकर प्रेम-राशि हो जाता है।

प्रथम विरह में अत्यन्त संतप्त अपनी सखी को इस प्रकार सान्त्वना देकर शीघ्र ही कैलास से लौटकर अभिज्ञान सहित भेजे गये उसके कुशल वचन से मेरे भी प्राणों को अवलम्बन देना। हे सौम्य, तुमने मुझ मित्र का यह कार्य करना स्वीकार कर लिया है न? मैं समझता हूं कि तुम्हारी चुप्पी अस्वीकृति के कारण नहीं है। तुम मांगने पर चातकों को चुप रहकर भी जल देते हो। प्रार्थियों का अभिलषित कार्य कर देना ही सज्जनों का उत्तर हुआ करता है। हे जलद्, प्रेम के कारण अथवा मुझे दु:खी समझकर कृपा भाव के कारण मेरा यह प्रिय करके तुम अभीष्ट देशों में जाना। मेरी शुभ-कामना है कि तुम्हारा अपनी प्रिया विद्युत से कभी क्षण भर के लिये भी वियोग न हो।

२. मेघदूत का स्रोत

मेघदूत और ऋतुसंहार को छोड़कर कालिदास की अन्य रचनायें-महाकाव्य और नाटक दोनों ही-पौराणिक अथवा ऐतिहासिक आख्यानों पर आधारित हैं। लेकिन मेघदूत और ऋतुसंहार के विषय, जो प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार खण्डकाव्य की कोटि में आते हैं, कवि की अपनी कल्पना से प्रसूत हैं। मेघदूत में कथा तो नाममात्र के लिये है, कवि का मुख्य उद्देश्य अपने परिचित स्थानों का काव्यमय वर्णन तथा प्रथम वियोग में सहृदय युवक-प्रेमियों के भावों का चित्रण करना ही प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों ये यह विचार प्रकट किया है कि कवि ने इस काव्य में यक्ष की विरह वेदना के ब्याज से अपने जीवन की ही घटना का चित्रण किया है। आपातत: यह विचार बड़ा ही आकर्षक प्रतीत होता है, परन्तु इस विचार की पुष्टि में कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। प्रतिभाशाली कवियों की रचनाओं में वैयक्तिक अनुभूतियों का नहीं, वरन् विश्व-अनुभूतियों का मार्मिक उद्घाटन हुआ करता है।

कुछ विद्वानों ने मेघदूत का मूल स्रोत वाल्मीकीय-रामायण के अन्तर्गत सीता के प्रति हनुमान द्वारा भेजे गये राम के संदेश में देखने का प्रयास किया है। रामायण और मेघदूत के कुछ अंशों में भाव और पदावली की समानता के आधार पर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि कालिदास ने मेघदूत की रचना रामायण के अनुकरण पर की है। प्राचीन टीकाकारों में से दक्षिणावर्त और मल्लिनाथ ने भी परम्परा के अनुसार मेघदूत की रचना के समय कालिदास के मन रामकथा का विचार अवश्य रहा होगा। कालिदास के रघुवंश में अपने पूर्ववर्ती विद्वानों का ऋण स्वीकार भी किया है। कालिदास ने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य तथा अन्य पुराणशास्त्र आदि ग्रन्थों का अच्छा अभ्यास किया था, यह उनके काव्यों के पर्यालोचन से बिल्कुल स्पष्ट है। इसलिए कालिदास पर वाल्मीकिय रामायण के प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। फिर भी यह बात असंदिग्ध रूप से कही जा सकती है कि मेघदूत को वाल्मीकिय रामायण के किसी अंश विशेष का अनुसरण नहीं कहा जा सकता। कालिदास ने मेघ के मार्ग का वर्णन करते हुए प्रकृति का जो चित्रण किया है, उसके काव्यमय सूक्ष्म विवरण कवि की अपनी प्रतिभा की स्वतंत्र सृष्टि है।

चीन के एक कवि ह्यू-कान् (Heiu Kan) ने जिसका समय २०० ई० के आसपास है, मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना की थी, लेकिन कालिदास पर उसका कोई प्रभाव हुआ हो, इस बात की बिल्कुल भी सम्भावना नहीं है।

संस्कृत साहित्य में दूत-काव्यों के सबसे प्राचीन उपलब्ध तथा ज्ञात दूतकाव्य मेघदूत ही है। अन्य दूत काव्य प्राय: मेघदूत के अनुकरण पर ही लिखे गये हैं, कालिदास को संस्कृत-साहित्य में दूत काव्यों की परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय प्राप्त है।

३. मेघदूत खण्डकाव्य (गीतिकाव्य)

काव्य और उसके भेद-

संस्कृत के साहित्य शास्त्रियों ने रमात्मक वाक्य को काव्य माना है, भले ही वह गद्य में हो या पद्य में या दोनों में। प्रयोग की दृष्टि से काव्यों का दो वर्गों में विभाजन किया है-१. श्रव्य, २. दृश्य। शैली कर दृष्टि से श्रव्य काव्य के फिर तीन भेद किये गये हैं-पद्य,

गद्य तथा चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित)। पद्य-काव्य के दो विभाग किये जा सकते हैं-१. महाकाव्य और २. खण्डकाव्य। खण्डकाव्य रचना की दृष्टि से दो तरह का होता है-१. प्रबन्धात्मक और, २. मुक्तक। खण्डकाव्य के विषय की दृष्टि से अन्य तीन भेद किये जा सकते हैं- १. स्त्रोतसम्बन्धी, २. नीतिसम्बन्धी और ३. शृङ्गार सम्बन्धी। स्तोत्रसम्बन्धी, नीतिसम्बन्धी और शृङ्गारिक सम्बन्धी खण्डकाव्यों में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूप संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है, परन्तु स्तोत्र और नीति प्राय: मुक्तक रूप में हैं। शृङ्गारिक खण्डकाव्यों में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों का समान रूप से प्रयोग किया गया है। कालिदास का मेघदूत और बिल्हण कवि की चौपञ्चाशिका प्रबन्धात्मक शृङ्गारिक खण्डकाव्य के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। मुक्तक शृङ्गारिक खण्ड के प्रसिद्ध उदाहरण के रूप में कालिदास के ऋतुसंहार और भर्तृहरि के शृङ्गारशतक का उल्लेख किया जा सकता है।

तालिका के रूप में संस्कृत काव्यों के भेदों का इस प्रकार दर्शन किया जा सकता है-

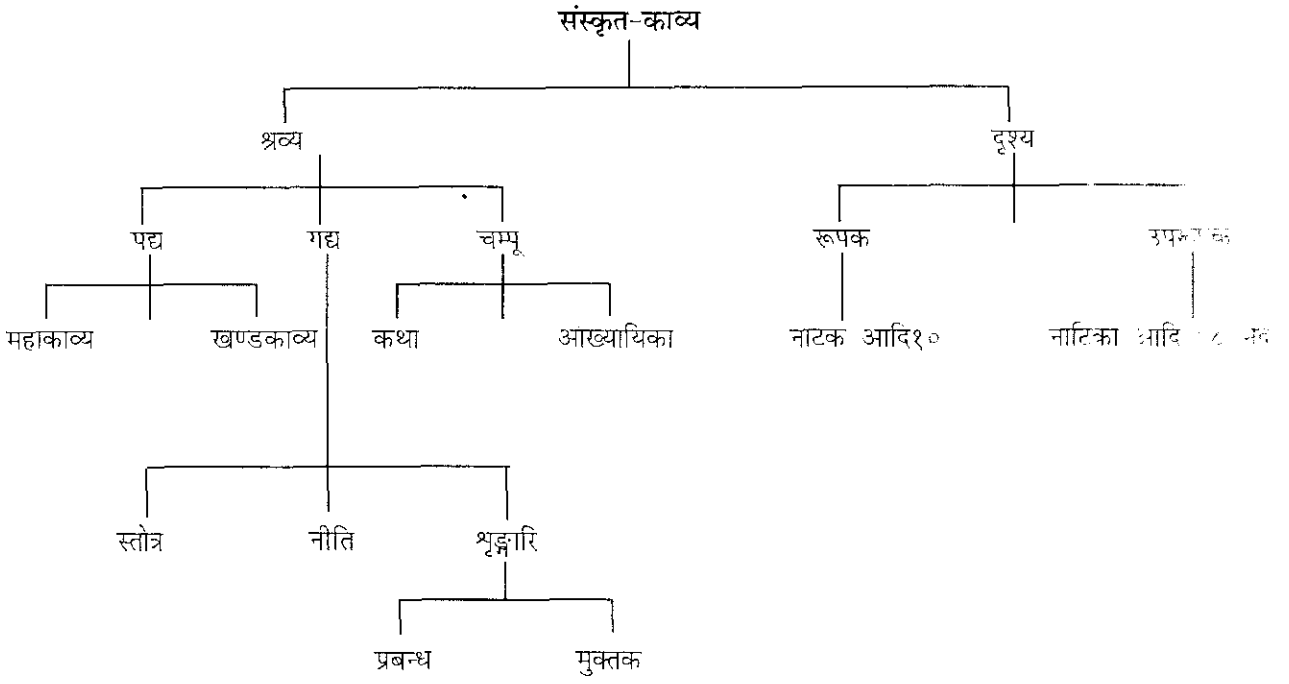

खण्डकाव्य का लक्षण-

खण्डकाव्य महाकाव्य के समान पद्यबद्ध होता है और उसमें महाकाव्य के लक्षणों की केवल समग्रता नहीं होती। साहित्यदर्पणकार के अनुसार खण्डकाव्य महाकाव्य के किसी एक भाग का अनुसरण करने वाला होता है। इसलिये खण्डकाव्य में महाकाव्यों के समान विषय की विविधता नहीं होती है। खण्डकाव्य आकार में भी महाकाव्य की अपेक्षा बहुत ही छोटा होता है। खण्डकाव्य में कोई धार्मिक अथवा नैतिक अथवा शृङ्गारिक एक ही विषय का वर्णन होता है। खण्डकाव्यों में लालित्य एवं माधुर्य का विशेष ध्यान रखा जाता है। भाव का उद्रेक, तन्मयता तथा भावभिव्यक्ति की सक्षमता एवं नूतनता खण्डकाव्या का प्राण है।

खण्डकाव्य और गतिकाव्य (Lyrics)

प्राचीन परम्परा-प्राप्त वर्गीकरण के अनुसार जिस पद्यबद्ध काव्य को खण्डकाव्य कहा जाता है, उसे आजकल पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण गीतिकाव्य (Lyrics) भी कहा जाता है। मैक्डानल तथा कीथ आदि पाश्चात्य भारतीय विद्यावेत्ताओं ने संस्कृत काव्य के वर्गीकरण में मेघदूत आदि खण्डकाव्यों को गतिकाव्य (Lyrics) की कोटि में रक्खा है। पाश्चात्य साहित्य में गीति या Lyric ऐसी छोटी कविता को कहा जाता है जो भाव के उद्रेक, अभिव्यक्ति की नूतनता, पद्य की गेयता और भाषा की प्राञ्जलता आदि गुण के कारण पाठक के हृदय में तन्मयता की अवस्था उत्पन्न कर देती है। ऐसी कविता की स्वत: पूर्णता और परम्परा का परित्याग इस उल्लेखनीय विशेषतायें होती है। यदि गीतिकाव्य के पाश्चात्य मानक की कसौटी पर संस्कृत के खण्डाकाव्यों को कसा जाय तो इस में से केवल कुछ ही काव्य इस कोटि में पायेंगे। गीतिकाव्य के निकटतम काव्य संस्कृत के मुक्तक काव्य है, जिनके पद्य पूर्वापर प्रबन्ध की अपेक्षा न करके स्वत: पूर्ण होने के कारण रसास्वादन कराने में समर्थ हैं। जैसे-भर्तृहरि का शृङ्गारशतक अथवा पण्डितराज जगन्नाथ

भामिनीविलास आदि। इन काव्यों का भी पाश्चात्य गीतिकाव्यों से एक बड़ा भेद यह है कि इनके छन्द और वर्णन परम्परा का परित्याग नहीं कर सके हैं।

मेघदूत १२१ पद्यों का छोटा सा काव्य है, जिसमें विरही यक्ष की वियुक्त प्रिया विराहतुरता का मार्मिक चित्रण किया गया है, इसलिये आकार और प्रकार की दृष्टि से मेघदूत काव्यों के प्राचीन परम्परा-प्राप्त वर्गीकरण के अनुसार खण्डकाव्य की कोटि में आता है। विश्वनाथ ने इसका खण्डकाव्य के उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है। परन्तु जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, पाश्चात्य साहित्य तथा विद्वानों के प्रभाव के कारण अब ऐसे काव्यों को गीतिकाव्य भी कहा जाने लगा है। कल्पना की रमणीयता एवं कोमलता, भाषा तथा शैली की प्राञ्जलता और भावोद्रेक की उत्कटता आदि गुणों के कारण मेघदूत को तो और भी अधिक औचित्य के साथ गीतिकाव्यों की कोटि में रक्खा जा सकता है। विप्रलम्भ शृङ्गार की कारूणिक भाव-भूमि के अनुरूप मन्दाक्रान्ता छन्द के प्रयोग ने मेघदूत को गीतिकाव्य कहलाने के योग्य बना दिया है।

मेघदूत में रस

रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहते हैं, इसलिये प्रत्येक काव्य का मुख्य उद्देश्य पाठक को किसी रस विशेष का आस्वादन करा देना होता है। मेघदूत में स्वामी के शाप के प्रभाव से नष्ट गौरव और देवलोक से निर्वासित होकर रामगिरि पर वास करने वाले किसी प्रिया-वियुक्त यक्ष की विरह दशा का चित्रण किया गया है। काव्य के प्रारम्भ में ही प्रिया वियोग के कारण कृशाङ्ग यक्ष का चित्र उपस्थित किया गया है, जो सामने मेघ को देखकर और अधिक उत्कण्ठित हो जाता है। इसलिये वह वर्षा ऋतु में, जो विरहियों के लिये अत्यधिक उत्कण्ठाकारिणी होता है। कामातुर यक्ष यह भी विचार नहीं कर पाता कि वह संदेश ले जाने की याचना समर्थ से कर रहा है अथवा असमर्थ से।

पूर्वमेघ में यक्ष रामगिरि से अलकापुरी का मार्ग बतलाया है। इस मार्ग वर्णन में प्रकृति के अनेक सुन्दर रूपों का चित्रण किया गया है। मार्ग वर्णन का उद्देश्य प्रकृति के लुभावने चित्रों के आकर्षण द्वारा मेघ को अलका के लिये प्रस्थान कर देने के लिये सन्नद्ध करना, प्रतीत होता है। उत्तरमेघ में दिये संदेश को दृष्टि में रखते हुए पूर्वमेघ की इसी में सार्थकता है, अन्यथा पूर्वमेघ अनपेक्षित विस्तृत भूमिका होती। पूर्वमेघ में प्रकृति चित्रण विरही और प्रेमी यक्ष की मनोदशा के सर्वथा अनुरूप हुआ। यक्ष का संदेश-वाहक मेघ निरा धूम, ज्योति और सलिल का संघातमात्र नहीं वरन् कामरूपधारी इन्द्र का प्रधान पुरूष है, सहृदय है और रसिक नायक है। वह सरिता-नायिकाओं का रसपान करता है। पुष्पलावी स्त्रियों के मुख पर छाया करके उनका सन्ताप दूर करता है। उसे उज्जयिनी की पौराङ्गनाओं के चञ्चल कटाक्षों से पूर्ण नेत्रों के तथा रमण करने का सुझाव दिया जाता है और कूजन करती हुई विहग-श्रेणी रूपी मेखला धारण करने वाली तथा आवर्तरूपी नाभि दिखलाने वाली विलासमयी निर्विंध्या नायिका के प्रणय-निवेदन को सफल बनाने का संदेश दिया जाता है। निर्विन्ध्या उसके विरह में क्षीण हो गई है और जीर्ण पर्णों के कारण उसकी कान्ति पीली पड़ गई है, इसलिये मेघ को ही वह उपाय करना है, जिससे निर्विन्ध्या की क्षीणता दूर हो जाय।

मेघ अपनी प्रेयसी गम्भीरा के निर्मल चित्त सदृश जल में अवश्य ही प्रवेश पा जायेगा, इसलिये उसे अपनी स्थिरता के कारण गम्भीरा के चञ्चल कटाक्षों को व्यर्थ न करना चाहिये-

तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तन प्रेक्षितानि॥ पू॰ मे॰ ४३

अर्धनग्न गम्भीरा का रसास्वादन किये बिना उसे छोड़कर चल देना मेघ के लिये असम्भव ही हो जायेगा। इस स्थल पर नदी और मेघ में नायक और नायिका के व्यवहार का सूक्ष्म विस्तारों तक जाकर समारोप किया गया है। पूर्वमेघ श्लोक संख्या ६६ में कैलास के अङ्क में स्थित अलकापुरी को नायक की गोद में स्थित सजी हुई नायिका के समान कहा गया है। पूर्वमेघ में ऐसे अनेक स्थल है जिनमें सिद्धाङ्गनाओं, पौराङ्गनाओं तथा युवतियों की विलासमयी चेष्टाओं का उल्लेख किया गया है।

उत्तरमेघ में यक्षेश्वर की नगरी अलका के वर्णन में भी शृङ्गार-रस के उपादानों का अवलम्बन किया गया है और यक्ष की आत्म-दशा निवेदन में तथा यक्ष-पत्नी की विरहावस्था में सम्भावित दशा के चित्रण में विप्रलम्भ-शृङ्गार की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। यक्ष की प्रिया को दिये गये संदेश में तथा यक्ष पत्नी की विरह दशा वर्णन में विप्रलम्भ करूण की भाव भूमि में पहुंच गया है।

मेघदूत में विप्रलम्भ और करूण के अतिरिक्त हास्य और शान्त रस की भी जगह अभिव्यक्ति हुई है।

५. मेघदूत में कालिदास की काव्य-कला

भाषा और शैली-

वैसे तो कालिदास की कला उसकी प्रत्येक कृति में स्पृहणीय एवं मनोहारी रूप में प्रकट हुई है, लेकिन मेघदूत में तो वह अपने विकास की चरम सीमा को छू रही है। इस काव्य में उसकी कल्पना जैसी सुकुमार एवं रमणीय है, उसी के अनुरूप उसकी भाषा और शैली भी अत्यन्त मनोहर है।

इसकी भाषा प्राञ्जल, परिष्कृत एवं प्रवाहपूर्ण है। शब्दों के चुनाव में कवि ने विशेष कौशल प्रकट किया है। उसने कहीं माधुर्य व्यञ्जक मधुर पदावली का प्रयोग किया है तो कहीं सुकुमारताकी व्यञ्जक कोमलकान्त पदावली का। कहीं पर शब्दों का नादात्मक ध्वनि से ही वर्णित विषय का चित्र उपस्थित किया गया है।

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां।
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्॥ पू० मे० ५४

कहीं सुभग शब्द मैत्री द्वारा छन्द में अद्भूत रमणीयता का संचार कर दिया गया है-

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां।
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः॥ पू० मे० ३२

मेघदूत कालिदास की शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। मेघदूत के पद्यों की रमणीयता, स्वर सौष्ठव और संगीत लहरी परम दर्शनीय है। भाव के अनुरूप मन्दाक्रान्ता छन्द के सरस प्रयोग ने काव्य को विप्रलम्भ शृङ्गार की समर्थ अभिव्यक्ति द्वारा और अधिक चारु एवं प्रभालवाली बना दिया जाता है। कालिदास के मन्दाक्रान्ता छन्द की प्रशंसा में क्षेमेन्द्र ने कहा है-

सुवसा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजसुरगाङ्गना॥

नपे तुले शब्दों में भाव की विशद व्यञ्जना कर देना मेघदूत का विशेष गुण है। मेघदूत में जगह-जगह भावों और दृश्यों के सुन्दर शब्द-चित्र अङ्कित किये गये हैं। मेघदूत में रूप विधान (imagery) अत्यन्त प्रभावकारी एवं रमणीक बन पड़ा है। कैलास के पास में स्थित अलका का कैसा बिम्बग्राही चित्र दिया गया है-

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्टवा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना,
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥ पू० मे० ६७

विराहिरणी यक्षपत्नी का भी कैसा स्वाभाविक और विशद चित्र दिया गया है-

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातकामा।
तन्त्रीमार्द्रा नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयोभूयः स्वयमपि कृपां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥ उ० मे० २६

निम्न उद्धृत श्लोक में कवि ने मेघ और अलका नगरी के प्रसादों की पारस्परिक तुलना में कैसी समास शैली का प्रयोग किया

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः ऐन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीराघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रं लिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषः॥ उ० मे० १

'हे मेघ, अलकापुरी में प्रासाद अपनी अनेक विशेषताओं से तुम्हारी सभी प्रकार बराबरी कर सकते हैं। यदि तुम्हारे साथ बिजली है तो उन भवनों में विद्युत के समान गौरवर्ण सुन्दर अङ्गनायें हैं; यदि तुम इन्द्र-धनुष से युक्त हो तो वे भवन भी रंग बिरंगे चित्रों से

सुसज्जित हैं; यदि तुम्हारा मृदु गम्भीर घोष है तो वहां भी संगीत में मृदङ्ग बजाये जाते है; यदि तुम्हारे अन्दर जल है तो वहां भी फर्श में जड़ी हुई मणियों की जल के जैसी छवि है और यदि तुम ऊँचे हो तो उन भवनों के भी शिखर आकाश को छूते हैं।'

अलङ्कार का प्रयोग-

मेघदूत में अलङ्कारों का यथास्थान समुचित प्रयोग हुआ है, जिससे काव्य का स्वाभाविक सौन्दर्य निखर आया है। उपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों का कवि ने बहुत ही सुन्दर एवं उपयुक्त प्रयोग किया है। कालिदास की उपमाओं का तो कहना ही क्या! प्राकृतिक दृश्यों का मानवीय सौन्दर्य से सुरूचिपूर्ण सादृश्य स्थापित किया गया है। वर्षा-ऋतु में महलों के शिखर पर जल-कणों की धारा बरसाने वाले मेघ अलका-कामिनी के मुक्ता जाल ग्रथित केशकलाप की भांति हैं।

या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना।
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥ पू॰ मे॰ ६७

कालिदास ने मानवीय सौन्दर्य की तुलना प्रकृति-सौन्दर्य से भी की है। चिन्ता से कृशकाय, विरह-शय्या पर व्याकुलता से एक करवट पड़ी हुई यक्ष पत्नी कृष्णपक्ष में पूर्वी क्षितिज पर क्षीण चन्द्र-कला की भांति प्रतीत है-

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वा।
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः॥ उ॰ मे॰ २९

बेचारी विरहणी यक्षपत्नी पूर्व अभ्यास से गवाक्ष में से होकर प्रविष्ट हुई चन्द्रमा की किरणों को देखती है; परन्तु अब उसे वे पहले के समान सुख नहीं देती हैं, इसलिये वह तुरन्त उन पर से अपनी दृष्टि हटा लेती है; वह जागती हुई भी आंसुओं से भारी पलकों से अपनी आंखें बन्द कर लेती है। इस तरह वह मेघाच्छन्न दिन में स्थल कमलिनि की भांति न जागती ही है। और न सोती ही है।

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरूभि पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्॥ उ॰ मे॰ ३०

मेघदूत में जगह-जगह अभिनव उत्प्रेक्षाओं का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। प्रान्त भागों में पके हुए फल वाले आमों के वृक्षों से आच्छन्न आम्रकूट के शिखर पर जब काला मेघ स्थित होता तो आम्रकूट पर्वत मानो भू-कामिनी का मध्यभाग में श्याम और शेष भाग में पीला स्तन हो जायेगा-

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीवसर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥ पू॰ मे॰ १८

कैलास पर्वत की शुभ्र हिमाच्छादित चोटियां ऐसी शोभित हो रही हैं मानो शिव के अट्टहास की राशियां एकत्र हो गई है-

शृङ्गोच्छायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थित खं।
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याबट्टहासः॥ पू॰ मे॰ ६१

यक्ष कल्पना करता है मेघ के समीप पहुंचने पर मृगनयनी यक्षपत्नी के नेत्र का ऊपरी भाग ऐसे फड़क उठेका जैसे किसी मछली के उछलने के कारण कमल चञ्चल हो उठता है-

त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या।
मीनक्षोभाच्चलकुलयज्ञश्रीतुलामेष्यतीति॥ उ॰ मे॰ ३१

एक अन्य स्थल पर हिमालय के धवल शिखर पर छाये हुए श्याम मेघ की शिवजी के धवल वृषभ द्वारा सींग से उछाले हुए पङ्क से समानता की गई है-

वक्ष्यास्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः।
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्॥ पू॰ मे॰ ५५

कालिदास ने काव्य के समान मेघदूत में भी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं द्वारा अपने शब्दचित्रों को विशद बनाने के लिये पौराणिक कथाओं तथा देवोपाख्यानों का भी यत्र-तत्र सुन्दर उपयोग किया है। एक स्थल में कहा गया है कि जब मेघ कैलाश पर जाने के लिये तिरछा होकर क्रौञ्चरन्ध्र में प्रवेश करेगा तो इसकी शोभा बलि दमन के लिये वामन-विष्णु के चरण के समान होगी

प्रालेयाद्रेरूपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः।। पू० मे० ६०

कालिदास ने मेघदूत में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का प्रयोग करते हुए शाश्वत सत्यों तथा जीवन की अनुभूतियों का भी बड़े मार्मिक रूप से उद्घाटन किया है। प्रिया के प्राणों की रक्षा के लिये आतुर हुआ यक्ष सन्निपातमात्र मेघ से ही याचना कर बैठता है भला कृपण में जड़ और चेतन का विवेक कहां रहता है-

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। पू० मे० ५

यह जीवन परीक्षित सत्य है कि क्षुद्र व्यक्ति से कामना कर पूर्ण हो जाने पर भी उतनी शक्ति प्राप्त नहीं होती जितनी कि बड़े और उदार व्यक्ति से की गई अपूर्ण कामना से, क्योंकि क्षुद्र से अभिलाषा की प्राप्ति 'बन्दर के चने' हो जाती है। कवि ने यही सत्य का उद्घाटन करते हुए यक्ष के मुख से कहलाया है-

याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा। पू० मे० ६

भावी मिलन और सुख की आशा कष्ट एवं संकटों के समय में भी प्रणयी हृदय को थामे रखती है, इस सत्य को अभिव्यक्ति कवि ने मार्मिक शैली में की है-

आशाबन्धः कुसुमसदृश प्रायशो ह्यङ्गनानां।
सद्यः पति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रूणद्धि।। पू० मे० ९

यक्ष मेघ को शिक्षा देता है कि जब वह विन्ध्याचल के चरणों में बल खाती हुई नर्मदा पर पहुंचे और बरस कर हल्का हो जाने के उसके जामुनों से कसैले जल को पीकर भारी भरकर अवश्य हो जाये। ऐसा करने से हवा उसे उड़ा न सकेगी, क्योंकि जो खाली होता है वह हल्का हो जाता है और जो भरा हुआ होता है उसे गौरव प्राप्त होता है-

अन्तःसारं धनु! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां।
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।। पू० मे० २०

कालिदास के कई अर्थान्तरन्यास तो ऐसे स्फूर्तिदायक सुभाषित हो गये हैं, जो लड़खड़ाते और पथभ्रष्ट होते हुए मानव के लिये पथ पर बढ़ते चले के लिये महान् संबल सिद्ध हो जाते हैं। यक्ष मेघ से कहता है कि उज्जयिनी में एक रात बिताकर उसे शिप्रा पार करना चाहिये, क्योंकि जो मित्रों का कोई काम करना स्वीकार कर लेते हैं, वे कभी अपने प्रयास में शिथिलता नहीं करते हैं

दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृवामभ्युपेतार्थकृत्याः।। पू० मे० ४१

सांसरिक द्वन्द्वों का क्रम पहिये की भांति घूमता ही रहता है। विवश और असहाय यक्ष संसार की इस परिवर्तनशीलता की ओर संकेत करके ही अपनी प्रिया को सान्त्वना दे सकता था-

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।। उ० मे० ४१

प्रकृति-चित्रण-

मेघदूत में कालिदास ने बाह्य-प्रकृति और अन्तः प्रकृति दोनों का ही बड़े मार्मिक चित्रण किया है। बाह्य-प्रकृति के प्रति कवि अनन्य अनुरागी जान पड़ता है। उसने प्राकृतिक दृश्यों का ऐसा क्रमिक और संश्लिष्ट चित्रण किया है कि हमारे मार्मिक नेत्रों के सामने उनका स्पष्ट चित्र उपस्थित हो जाता है। पूर्वमेघ बाह्य प्रकृति का ही मनोहर रूप योजनात्मक चित्रण है। वर्षा-ऋतु आगमन होने वाली प्राणियों की विविध उत्कण्ठाओं का जैसा चित्रण मेघदूत में किया गया है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। मेघ के आगमन से विरही यक्ष उत्कण्ठित होकर प्रिया के प्राण धारणा के लिये संदेश भेजने के लिये आतुर हो उठता है। पर्वत उसके आगमन से पुष्पित कदम्बों के रूप में पुलकित हो उठता है। भोली ग्राम-वधू उसे उत्सुकता से देखती है और चतुर पौर-वधू उसे अपने प्रेम-चञ्चल

कटाक्षों का विषय बनाती हैं। वर्षा ऋतु में मानस के लिये उत्सुक हंस उसके सहयात्री बन जाते हैं और गर्भाधान के लिये उत्सुक बलाका उसका सेवन करती है। कहने का अभिप्राय यह है कि मेघोदय पर होने वाला कोई ऐसा प्राकृतिक परिवर्तन नहीं है जिसकी ओर कवि का ध्यान न गया हो। मेघदूत में प्रकृति वर्णन में ऐसे कई स्थल हैं जिन पर उत्कृष्ट कोटि के चित्र बनाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये, मानस की ओर जाने वाले हंस का कैसा विशद चित्र दिया गया है-

आ कैलासाद्बिसकिसलयन्छेदपाथेयन्तः
संपत्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥ पू॰ मे॰ ११

मेघदूत में कालिदास ने प्रकृति का जड़ और तटस्थ के रूप में चित्रण नहीं किया है, अपितु उसमें मानवीय चेतना एवं क्रिया-कलाप का समारोप किया है। कालिदास के अनुसार पर्वत अपने सखा मेघ से मिलकर हर्ष से गर्म आंसू बहाता है।

काले काले भवति भवयो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम्॥ पू॰ मे॰ १२

नदियां मानिनी प्रेमिका की भांति इठलाकर अपनी तरङ्गरूपरी भौंहे तान लेती है। प्रभात काल में सूर्य अपनी प्रियतमा नलिनी के ओसरूपी आंसू अपने करों से पोंछता है और पुराने पत्तों से पीली हुई क्षीण निर्विन्ध्या अपनी विरह-दशा से मेघ के सौभाग्य को प्रकट करती है।

मेघदूत में प्रकृति में सहानुभूति की भावना का भी मनोरम आरोप किया गया है। यक्ष की करूण दशा को देखकर प्रकृति भी उसके प्रति समवेदना प्रकट करती है। जब यक्ष स्वप्न में अपनी प्रियतमा के आलिङ्गन के लिये शून्य आकाश में भुजायें फैलाता है तो वनस्थली-देवताओं के नेत्रों से मोटे-मोटे आंसू ढलक पड़ते हैं-

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवताना
मुक्तास्थूलास्तरूकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥ उ॰ मे॰ ४६

मेघदूत में प्रेम का चित्रण-

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मेघदूत शृङ्गार-रस का काव्य है। उसमें जिस प्रेम या रति भाव का चित्रण हुआ है, ऐन्द्रियिक वासना है। लेकिन फिर भी मेघदूत काशृङ्गार केवल एक स्थान को छोड़कर शिष्टता की सीमा को नहीं लांघता पूर्वमेघ में रति-भाव के जितने संकेत हुए हैं, उसमें से कोई भौतिक या ऐन्द्रियिक वासना के ऊपर नहीं उठ सकते है, परन्तु उत्तरमेघ में हमें ऐन्द्रियिक वासना के साथ-साथ आध्यामिक प्रेम के भी संकेत मिलते हैं। अलकापुरी के वर्णन में जहां यक्षों के उत्तम स्त्रियों के साथ मधुपान अथवा देवाङ्गनाओं के प्रसाधन तथा उपभोग में ऐन्द्रियिक वासना की अभिव्यक्ति हुई है, वहां यक्ष और यक्ष पत्नी की पारस्पारिक निष्ठा में उस प्रेम की भी अभिव्यक्ति हुई है, जो पार्थिव धरातल से ऊपर उठकर दिव्यता को प्राप्त हो गया है। सचमुच विरह का अनल दो प्रणयी हृदयों को तपाकर उनके प्रेम के वासना-मल को जलाकर उसे आध्यात्मिक प्रेम का दिव्य कुन्दन बना देता है।

यक्ष को विश्वास है कि उसकी प्रिया उसके विरह की व्यथा में क्षीण हो गई होगी, वह उसी रात्रि में नींद भी न आती होगी और विरह-शय्या पर एक करवट पड़ी रहती होगी। यक्ष अपने संदेश में स्वयं भी उसे विश्वास दिलाता है कि वह प्रकृति में उसी के सादृश्य की खोज करता रहता है और उसका चित्र बनाकर उसके मिलन की कामना करता रहता है। वह उत्तर से आने वाली पवन का गाढ़ आलिङ्गन करता है कि सम्भवतः पवन उसकी प्रिया के अङ्गों का स्पर्श करके आया हो।

यक्ष अपनी प्रिया को सच्चाई का विश्वास दिलाने के लिये कहता है कि लोग यह बात झूठ ही कहते हैं कि प्रेम वियोग में नष्ट हो जाता है। सच तो यह है कि वह वियोग में बढ़कर राशि हो जाता है।

कालिदास ने यक्ष और उसकी प्रिया के प्रणय की एकनिष्ठता से सचमुच मानव के लिये आदर्श प्रेम का प्रतीक स्थापित किया है। कालिदास के अन्य काव्यों की भांति मेघदूत से भी हमें यह अमर संदेश मिलता है कि शारीरिक सौन्दर्य एवं भौतिक वासना पर आधारित प्रेम नश्वर एवं क्षणिक होता है। वह कभी भी सुखकारी और शान्तिप्रद नहीं होता। परस्पर समर्पण, त्याग एवं कर्त्तव्य की भावना ही प्रेम को अनश्वर दिव्य बनाती है।

मेघ का मार्ग

मेघदूत के पूर्व भाग में कालिदास ने रामगिरि से अलकापुरी तक के मार्ग में पड़ने वाले प्रसिद्ध स्थानों, नादियों पर्वतों तथा तीर्थस्थानों का ऐसा लुभावना चित्रण किया है, जिसे सुनकर यक्ष का संदेश ले जाने वाला मेघ ही नहीं, वरन् पाठक भी बस तुरन्त प्रस्थान कर देने को उद्यत हो जाय।

अनेक विद्वानें ने कालिदास के भौगोलिक ज्ञान की प्रंशासा की है और उन्होंने कालिदास को इस बात का श्रय दिया है कि मेघदूत में कालिदास ने मेघ का जो मार्ग बतलाया है, वही सचमुच मानसूनी हवाओं (Tradewinos) का मार्ग होता है। परन्तु यहां इस विषय की जांच करना हमारे लिये कठिन है.....काव्य की समीक्षा की दृष्टि से भी इसका कोई महत्त्व नहीं है।

यक्ष रामगिरि के आश्रमों में वास कर रहा था और वहीं से अपने मेघ से उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करने की याचना की। रामगिरि नागपुर से उत्तर में कुछ दूरी पर स्थित कोई पहाड़ी थी, जिसे रामटेक कहा जाता है। रामगिरि से उत्तर की ओर चलते हुए मध्यम पहला प्रदेश 'माल' नाम का पठार पड़ता है। उससे पश्चिम-उत्तर की ओर चलते हुए अगला स्थान आम्रकूट नाम का पर्वत आता है,उससे आगे विन्ध्याचल पर्वत की तलहटी (बाद) में नर्मदा (रेवा) नदी बल खाती हुई मिलती है। उसके बाद छोटे मोटे अनेक पर्वतों को पार करके दशार्ण (आधुनिक) छत्तीसगढ़ नाम का जनपद आ जाता है, उसकी विदिशा (आधुनिक भीलसा या बेसनगर) राजधानी बड़ी प्रसिद्ध थी और जो वेत्रवती (बेतवा) के किनारे स्थित थी।

विदिशा के समीप 'नीचैः' नामक गिरि को पार करके मेघ को और पश्चिम की ओर मुड़कर 'अवनति' (मालवा का पश्चिम भाग जनपद की राजधानी उज्जयिनी) जाने के लिये कहा गया है, यद्यपि वैसा करने से उसका रास्ता टेढ़ा हो जायेगा। विदिशा से उज्जयिनी (विशाला, आधुनिक उज्जैन) पहुंचने में रास्ते में निर्विन्ध्या और शिप्रा नदियां है। वहां महाकाल का मन्दिर भी द्रष्टव्य स्थान था जो गन्धवती नदी के किनारे स्थित था।

उज्जयिनी से आगे बढ़कर गम्भीरा (शिप्रा की कोई सहायक नदी) पड़ती है और देवगिरि (आधुनिक देवगढ़) आ जाता है। देवगिरि में स्कन्द का प्रसिद्ध पुण्यधाम था। इसके पश्चात् काफी रास्ता पार करने के बाद चर्मण्वती (आधुनिक चम्बल) नदी आती है। चम्बल नदी को पार करके दशपुर (आधुनिक मन्सौर या दसोर) नगर आ जाता हैं। इसके बाद ब्रह्मावर्त जनपद आ जाता है जिसमें कुरूक्षेत्र का प्रसिद्ध प्रदेश है, जहां महाभारत में प्रसिद्ध कौरव पाण्डवों का युद्ध हुआ था जिसमें परम-पावनी सरस्वती नदी बहती थी।

कुरूक्षेत्र के मैदान को पार करके कनखल नामक स्थान आ जाता है, जहां गङ्गा नदी हिमालय से उतर कर मैदान (समतल भाग) में आ जाती है। उसके आगे गङ्गा का उद्गम स्थान हिमालय पर्वत आ जाता है। हिमालय में एक शिला में प्रकट शम्भु के चरणचिह्न हैं, भक्त लोग श्रद्धा के साथ जिसकी परिक्रमा किया करते हैं। हिमालय के तट के समीप अन्य दर्शनीय स्थानों को देखते हुए आगे बढ़ने पर क्रौञ्चरन्ध्र आ जाता है और उसमें से होकर उत्तर की ओर बढ़ने पर कैलास पर्वत आ जाता है, जिसकी गोद में अलकापुरी विद्यमान है।

कालिदास ने इस प्रकार मेघ मार्ग वर्णन के ब्याज से मध्यभारत से लेकर हिमालय की हिमाच्छादित धवल शिखरों तक मार्ग में पड़ने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य और ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्त्व के सभी मुख्य स्थानों का कवित्वमस वर्णन दे दिया है।

खण्डकाव्यों या गीतिकाव्यों में मेघदूत का स्थान

संस्कृत-साहित्य में मेघदूत न केवल सर्वप्रथम खण्ड-काव्य है अपितु कविता की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ खण्ड काव्य है। संस्कृत साहित्य में खण्डकाव्यों तथा दूतकाव्यों की परम्परा मेघदूत के पश्चात् ही प्रारम्भ हुई है। इतना ही नहीं बल्कि उत्तरवर्ती दूत काव्य प्राय: मेघदूत के अनुसरण पर ही लिखे गये हैं और 'पार्श्वाभ्युदय तथा नेमिदूत' में तो मेघदूत के चरणों को 'समस्या पूर्ति' के रूप में अपना लिया गया है।

मेघदूत का परम्परा से प्राप्त पाठ

मेघदूत की लोकप्रियता के कारण मेघदूत के पाठ में बड़ी विभिन्नता पाई जाती है और अब विद्वानों के लिये यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य हो गया है कि कालिदास के मूल मेघदूत में कितने श्लोक थे और कितने श्लोक तथा कौन-कौन से श्लोक बाद में उत्साही लोगों ने जोड़ दिये।

इस समय मेघदूत की अनेक शाखायें मिलती हैं। उनमें श्लोकों की संख्या, उनके क्रम तथा पाठों में बहुत अधिक भेद है। इसलिये प्रबुद्ध पाठक में यह जिज्ञासा स्वाभविक है कि कालिदास के मूल मेघदूत का स्वरूप क्या रहा होगा।

मेघदूत की पाण्डुलिपियां संसार के सभी प्रसिद्ध पुस्तकालयों में- भारतवर्ष के सब भागों में, अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों में और नेपाल में-मिलती हैं। कुछ मूलपाठ है, कुछ लिपियों में संस्कृत की प्राचीन टीकायें भी है। डा० एस० के० डे० का विचार है कि मेघदूत का स्वरूप निश्चित करने में केवल मूल-पाठ वाली पाण्डुलिपियों का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि संस्कृत-टीकाओं समेत पाण्डुलिपियों का महत्त्व है।

मेघदूत का उपलब्ध प्राचीनतम् रूप हमें जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय में मिलता है जो आठवी शताब्दी की रचना है और जिसके प्रत्येक श्लोक के चौथे चरण में मेघदूत की एक-एक पंक्ति उद्धृत की गई है। पार्श्वाभ्युदय के अनुसार मेघदूत में १२० श्लोक हैं और इनमें नौ प्रक्षिप्त माने जाने वाले श्लोक भी सम्मिलित हैं, जिनमें से पांच को मल्लिनाथ ने भी प्रक्षिप्त माना है। जिनसेन ने सम्भवत: मेघदूत का अपने सम्प्रदाय में प्रचलित पाठ अपना लिया था, जिसमें उसे समय में भी प्रक्षिप्त श्लोक सम्मिलित हो चुके थे।

काश्मीरी टीकाकार वल्लभदेव के अनुसार, जो मेघदूत के टीकाकारों में सबसे प्राचीन माना जाता है, मूल मेघदूत में १११श्लोक थे। यद्यपि वल्लभदेव की टीका में ११२ श्लोक दिये गये हैं, परन्तु वल्लभदेव ने 'अध्वक्लान्त प्रतिमुखगतं सानुमांश्चित्रकूट:' इत्यादि पद्य को प्रक्षिप्त माना है। स्थिरदेव की टीका में भी १११ ही श्लोक पाये जाते हैं। दक्षिणावर्त, पूर्ण सरस्वती और परमेश्वर की टीकाओं में केवल ११० श्लोक हैं, इन तीनों टीकाकारों ने 'गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पै:' (उ० मे० ११) श्लोक छोड़ दिया है।

मेघदूत के श्लोकों की सबसे अधिक संख्या जैन लेखकों और टीकाकारों ने दी है। विजयसूरी और मेघराज ने श्लोकों की संख्या १२७ दी है। जनार्दन, लक्ष्मीनिवास, सुमतिविजय, महिमसिंह गणि और 'मेघलता' में से प्रत्येक ने १२६; 'नेमिदूत', 'शीलदूत', 'सारोद्धारिणी', दिवाकर उपाध्यय और कनककीर्ति गण में से प्रत्येक ने १२५; सरस्वती-तीथ और क्षभहंस-गणि में से प्रत्येक ने १२३, चारित्रवर्धन ने १२२ और जिनसेन ने १२० श्लोक संख्या दी है।

सिंहली अनुवाद में ११८ और तिब्बती अनुवाद में ११७ श्लोक पाये जाते हैं। मल्लिनाथ ने अपनी प्रसिद्ध टीका संजीवनी में १२१ श्लोक दिये हैं, लेकिन उसमें से यदि प्रक्षिप्त स्वीकार किये गये श्लोकों को हटा दिया जाये तो ११५ श्लोक रह जाते हैं।

पूर्वी टीकाकारों में से मकरन्द मिश्र ने श्लोकों की संख्या ११८ दी है; रामनाथ तर्कालङ्कार ने १११; शाश्वत, सनातन गोस्वामी कल्याणमल्ल, कविरत्न चक्रवर्ती और हरगोविन्द वाचस्पति में से प्रत्येक ११५; ने भागीरथ मिश्र और भरतमलिम में से प्रत्येक ने ११४ श्लोक संख्या दी है।

मेघदूत के प्रारम्भिक आलोचनात्मक संस्करणों में से विल्सन ने ११६, गिल्डमाइस्टर ने ११३, स्टेन्त्सलर ने ११२ श्लोक दिये है। मैक्डानल के प्रारम्भिक आलोचनात्मक संस्करणों में से विल्सन ने १११ श्लोक दिये हैं।

डा० एस० के० डे के विचार है कि कालिदास के मूल मेघदूत में सम्भवत: ११० या १११ श्लोक थे और जो श्लोक वल्लभदेव की टीका में नहीं, उसे कालिदास की मौलिक रचना नहीं माना जा सकता। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने पू० मे० ६५ और० मे० ११ के भी मौलिक होने में संदेश प्रकट किया है। जे० हेर्टल ने केवल १०८ श्लोकों को मौलिक माना है, और पू० मे० श्लोक संख्या ७ और ८ की मौलिकता पर भी संदेह किया है।

महाकविकालिदासप्रणीतम्

मेघदूतम्

पूर्वमेघः

काश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥१॥

अन्वयः-स्वाधिकारात्प्रमत्तः कान्ताविरहगुरुणा वर्षभोग्येण भर्तुः शापेन अस्तङ्गमितमहिमा कश्चित् यक्षः जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु रामगिर्याश्रमेषु वसतिं चक्रे।

अनुवाद-अपने कर्त्तव्य में प्रमाद करने वाला, प्रिया के वियोग के कारण कठोर (प्रतीत होने वाला), वर्ष भर भोगे जाने योग्य, स्वामी के शाप से नष्ट हुये गौरव वाला, कोई यक्ष (कुबेर का सेवक) जनक की पुत्री (सीता) के स्नान से पवित्र जलों वाले तथा घने छायादार वृक्षों वाले रामगिरि के आश्रमों में रहता था।

टिप्पणी-मेघदूतम्-इस काव्य का नाम 'मेघदूतम्' है। काव्य के लिये प्रयुक्त 'मेघदूत' शब्द की व्युत्पत्ति दो तरह की जाती है। (१) मेघः एव दूतः 'मेघदूतः' मेघदूतमधिकृत्यः कृतं: काव्यं मेघदूतम्, अर्थात् मेघरूपी दूत के विषय में बनाया गया काव्य भी मेघदूत कहलाता है। (२) मेघः दूतः यस्मिन् काव्ये यत् (बहुव्रीहिः) अर्थात् जिस काव्य में मेघ ही दूत है। इस काव्य का मल्लिनाथ ने अपनी टीका में 'मेघसंदेशः' भी कहा है। किसी काव्य का प्रारम्भ आशीर्वचन, नमस्कार अथवा कथावस्तु के निर्देश से किया जाता है। यहां कवि ने सीधे कथा को प्रस्तुत करके काव्य का प्रारम्भ किया है।

कश्चिद्-कोई, जिसका नाम नहीं लिया गया है' मेघदूत में काव्य के नायक यक्ष का कहीं नहीं आया है। कवि द्वारा नायक का नाम न दिये जाने के कारण विषय में अनेक अटकलें लगाई हैं। श्री काले आदि आधुनिक टीकाकारों का विचार है कि काल्पनिक कथा वाले काव्य में नाम बतलाने की आवश्यकता नहीं थी। प्राचीन टीकाकारों ने नायक का नाम न लेने का कारण वह सामाजिक प्रथा बतलाई है, जिसके अनुसार स्वामी की आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाले, विश्वासघाती अथवा अभिशप्त आदि का नाम लेना वर्जित था।

कान्ताविरहगुरुणा-कान्तायाः प्रियाया विरहो वियोग इति कान्ताविरहस्तेन हेतुना तुरुर्दुः सहस्तेन (शापेन) प्रिया के विरह के कारण दुःसह (शाप) से। यहां पत्नी या 'भार्या' आदि शब्द का प्रयोग न करके 'कान्ता' शब्द का प्रयोग यक्ष की उसके प्रति आसक्ति प्रकट करने के लिए कहा गया है। पत्नी के प्रति आसक्ति उसके विरह को असह्य बनाने वाली थी, इस कारण स्वामी का शाप यक्ष के लिये अत्यधिक कठोर था। यहां 'कान्ता' पद साभिप्राय है, इसलिए परिकरालङ्कार हुआ है।

स्वाधिकारात्प्रमत्तः-अपने अधिकार (कर्तव्य) से प्रमाद करने वाला। अधिक्रियतेऽस्मिन् इत्यधिकारो नियोग्यः, अधि + कृ + घञ्। स्वोऽधिकारः स्वाधिकारः (कर्मधारयसमासः) तस्मात्प्रमत्तः कृतप्रमादः; प्रमत=प्र+√मद्+क्त। 'स्वाधिकारात्' में प्रमाद के साथ योग के कारण पंचमी विभक्ति है। किन्हीं संस्करणों में 'स्वाधिकारप्रमत्तः' पाठ भी पाया जाता है। उस दशा में पंचमी-तत्पुरुष समास हो जायेगा; अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा।

यहां कवि ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि यक्ष को स्वामी ने उसके किस कर्त्तव्य में प्रमाद के कारण शाप दिया था। टीकाकारों ने इस विषय में अनेक कल्पनायें दौड़ाई हैं। कुछ टीकाकारों के अनुसार यक्ष ने अपने स्वामी को पूजा के लिये ताजे पुष्प लाने में प्रमाद किया था और कुछ टिकाकारों के अनुसार वह कुबेर के उद्यान कर रक्षा न कर सका था।

अस्तङ्गमितमहिमा-अस्तं गमितः प्रापितो महिमा गौरवं यस्य सः (बहुव्रीहिमासः); अस्त को पहुंचा दिया था गारव जिसका अर्थात् शाप से जिस महिमा नष्ट हो गई थी। यहां 'अन्तस्' सकारान्त अव्यय पद है, द्वितीया विभक्ति से जुड़ा 'अस्त' पद नहीं समझना।

समास होने पर भी 'अस्तम्' ही रहेगा। गमित-√ग +णिच्+क्त। महिमा-महतो भाव:, महत्+इमनिच् (भाववाचक संज्ञा); यहां महिमा का अभिप्राय गौरव (अलकापुरी में निवास) अथ । आकाश-चारी गति आदि दिव्य शक्ति है।

वर्षयोग्येण-वर्ष संवत्सरं यावत् भोग्येन; वर्ष भर क भोगे जाने वाले (शाप) से। यहां 'वषम्' में व्याप्ति (अत्यन्त संयोग) के अर्थ में कालवाचक शब्द में द्वितीया विभक्ति है, और 'अत्यन्तसंयोग च' सूत्र के अनुसार द्वितीयान्त पद का 'भोग्येन' के साथ समास हो गया है। समास युक्त पद के पूर्वांश 'वर्ष' में रेफ होने के कारण उत्तरपद के 'न्' को 'ण्' हो गया है-यदि उत्तरवर्ती पद में कवर्ग के अक्षर होते हैं तो पूर्वपद में 'रेफ' या 'ष' होने पर णत्व हो जाता है, 'कुमति च'।

शापेन-शाम से, शाम के कारण; शप्यत इति शाप:, √शप्+घञ् (भाववाचक संज्ञा)। यहां हेतु में तृतीया विभक्ति है।

यक्ष:-देवताओं की एक योनि, जो कुबेर के सेवक कहे जाते है। 'यक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। साधारणतया से √यक्ष् धातु से बना हुआ समझा जाता है, 'यक्ष्यते पूज्यते इति:' यक्ष। कोई इसक 'यज्' धातु से भी निष्पन्न मानते हैं। कुछ टीकाकारों ने 'इ: कामोऽक्ष्णोर्यस्य स यक्ष:' अथवा 'इ: काम: तस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्य स यक्ष:' यह व्युत्पति की है। किन्हीं ने 'जक्षन्ति खादन्ति शिशूनिति जक्षा:' एव यक्षा: यह व्युत्पत्ति भी की है।

चक्रे-की; √कृ+लिट् (आत्मनेपद)।

जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु-(राजा) जनक की पुत्री (सीता) के स्नान करने से पवित्र है जल जहां पर; जनकस्य नाम राज्ञस्तनयाया: पुत्र्या: सीताया: स्नानै: पुण्यानि पवित्रयण्युदकानि जलानि यत्र तेषु। भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मण और सीता के साथ कुछ समय तक रामगिरि पर जा कर रहे थे, इसलिये वहां के जलों को जगत्पावनी सीता के स्नान से पुण्य कहा गया है।

स्निग्धच्छयातरुषु-घने छायादार वृक्ष हैं जहां पर (ऐसे आश्रमों में); छायाप्रधानास्तरवश्छायातरव:, स्निग्धा: सान्द्राश्छायातरवो यत्र तेषु (बहुव्रीहि:)। 'छायातरव:' से मध्यमपदलोपी समास है। मल्लिनाथ ने 'छायातरु' का अर्थ 'नेमरु' किया है। लेकिन यहां सामान्य 'छायादार वृक्ष' अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

रामगिर्याश्रमेषु-रामगिरि के तपोवनों में, रामगिरेराश्रमेषु तपोनेषु (तत्पुरुष:)। 'रामगिरि' के विषय में टीकाकारों में मतभेद पाया जाता है। मल्लिनाथ और बल्लभ 'रामगिरि' को चित्रकूट माना है। प्रो॰ विल्सन का विचार है कि 'रामगिरि' से 'रामटेक' (ध्पसस वर्ति त्तिं) का अभिप्राय है, जो नागपुर से कुछ दूरी पर उत्तर में स्थित है और जहां राम के चरित से सम्बद्ध घटनाओं के आधार पर अनेक तीर्थ बन गये हैं। नवीन खोजों के आधार पर 'रामगिरि' को मध्यभारत में स्थित 'रामगढ़' माना जाता है, जो नर्मदा के उद्गम आम्रकूट या अमरकटक के समीप है। 'आश्रमेषु' में बहुवचन से प्रकट होता है कि वह से व्याकुल यक्ष एक स्थान पर नहीं ठहर पाता था।

सारे काव्य में मन्द्राक्रान्त छन्द है, जिसका लक्षण इस प्रकार किया गया है-'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्मभौ नतौ ताद् गुरु चेत्। इसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण, और दो गुरु के क्रम से 17 अक्षर होते हैं तथा चौथे, दसवे तथा 17वें अक्षर पर विराम (यति) होता है। प्रस्तार (scanning) निम्न प्रकार से होगा-

कश्चित्का - न्ताविर - ह गु रु - णास्वाधि - कारात्प्र - म त्त:

ऽ ऽ ऽ	ऽ । ।	। । ।	ऽ ऽ ।	ऽ ऽ ।	ऽ ऽ
म	भ	न	त	त	ग ग

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्त: स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठ:।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥२॥

अन्वय:-अबलाविप्रयुक्त: कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठ: स कामी तस्मिन् अद्रौ कतिचित् मासान् नीत्वा आषाढस्य प्रथमदिवसे आश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श।

अनुवाद-स्त्री से विरहित, स्वर्ण के कड़े के गिर जाने से सूने प्रकोष्ठ वाले, उस काम पीड़ित (यक्ष) ने उस पर्वत पर कुछ महीने बिताकर आषाढ़ मांस के प्रथम दिन (पर्वत) के शिखर का आलिङ्ग करने वाला (और) टीले पर टक्कर मारने के खेल में झुककर दांत के प्रहार करते हुए हाथी के समान सुन्दर मेघ देखा।

टिप्पणी-अबलाविप्रयुक्त-स्त्री से वियुक्त हुआ; अबलाया विप्रयुक्त:। विप्रयुक्त=वि+प्र+√युज्+क्त।

कतिचिद् मासान् नीत्या–कुछ महीने बिताकर। यहां 'कुछ' का अभिप्राय लगभग आठ मास है, क्योंकि उत्तरमेघ श्लोक ४० में प्र की समाप्ति की अवधि आठ मास कही गई है।

कनकबलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः–सुवर्ण के कड़े के गिर जाने से सूना है प्रकोष्ठ (कोहनी के नीचे का भाग) जिसका कनकब वलयस्तस्य भ्रंशेन रिक्तः प्रकोष्ठो यस्य सः (बहुव्रीहिः)।

आषाढस्य–आषाढ़ मास के। ज्येष्ठ मास से अगले मास को आषाढ कहते हैं। इसे आषाढ कहे जाने का कारण यह है कि इस पूर्णमासी आषाढ़ा नक्षत्र से युक्त होती है।

प्रथमदिवसे–पहले दिन; प्रथमे दिवसे (कर्मधारयसमासः)। किन्हीं संसकारणों में 'प्रथमदिवसे' पाठ पाया जाता है। जि अर्थ होगा–(आषाढ के) अन्तिम दिन मल्लिनाथ ने 'प्रथमदिवसे' पाठ ही उत्तम माना है।

आश्लिष्टसानुम्–आलिङ्गन किया है। शिखर का जिसने; आश्लिष्टः सानुः येन यम् (बहुव्रीहिः)। आश्लिष्ट=आ+√श्लिष्+क्त।

वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्–वप्रक्रीडा (नदी तट आदि को उखाड़ने के खेल) में परिणत (झुककर दांत आदि के प्रहार करते हुए) हाथी के समान दर्शनीय (मेघ) को; वप्रक्रीडायां परिणतो यो गजः स इव प्रेक्षणीयस्तम् (मेघम्)। यह प्रायः देखा जाता है कि मस्त हुए सांड, भैंसे या बैल आदि टीले या किनारे आदि की मिट्टी को सींगों या खुरों से उखाड़ा करते हैं, इसे बोलचाल की भाषा में 'खौरू करना' कहते हैं। संस्कृत में इसे 'वप्रक्रीडा' या 'उत्खातकेलि' कहा गया है। सामान्यतया' 'परिणत' का अर्थ 'झुका हुआ' होता है, परन्तु यहां विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है–'टेढ़ा होकर दांत से प्रहार करने वाला' प्रेक्षणीय–प्र+√ईक्ष्+अनीयरः देखने योग्य सुन्द

ददर्श–देखा; √दृश्+लिट् अन्यपुरुष एकवचन।।२।।

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।।३।।

अन्वयः–कौतुकाधानहेतोः तस्य पुरः कथमपि स्थित्वा अन्तर्बाष्पः राजराजस्य अनुचरः चिरम् दध्यौ। मेघालोके सुखिनः अपि चेतः अन्यथावृत्ति भवति कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने दूरसंस्थे पुनः किम्?

अनुवाद–उत्कण्ठा की उत्पत्ति के कारणभूत उस (मेघ) के सामने किसी प्रकार खड़ा होकर अन्दर (स्थित) आंसुओं वाला, कुबेर (वह) सेवक देर तक सोचता रहा। मेघ का दर्शन होने पर सुखी (व्यक्ति) का भी चित्त विकृत स्थिति वाला (व्याकुल हो जाता है, कण्ठ का आलिङ्गन करने के अभिलाषी जन से दूर स्थित होने पर फिर (भला) क्या कहना)?

टिप्पणी–कथमपि-किसी प्रकार, जैसे तैसे। काव्यों में वर्षा ऋतु का कामोद्दीपक के रूप में वर्णन किया जाता है, इसलिये यहां यक्ष का मेघ के सामने खड़ा होना प्रयत्न-साध्य कहा गया है।

कौतुकाधानहेतो–उत्कण्ठा उत्पन्न करने (मेघ); कौतुकमुत्कण्ठा तस्याधानमुत्पादनं तस्य हेतुः कारणं तस्य (मेघस्य) (तत्पुरुषसमासः)। किन्ही संस्करणों में 'केतकाधानहेतोः' पाठ पाया जाता है। 'केतकाधानहेतोः' का अर्थ है–'केतकी के पुष्प उत्पन्न करने वाला' यह पाठ पहले पाठ की अपेक्षा कम उपयुक्त है।

अन्तर्बाष्पः–अन्दर स्थित हैं आंसू जिसके; अन्तः स्तम्भिता बाष्पा यस्य (बहुव्रीहि)। यक्ष ने कष्ट के समय में भी आंसू अन्दर ही रोक लिये थे। इससे उसकी धीरता प्रकट होती है।

राजराजस्य–राज्ञां राजा राजराजः कुबेरस्तस्य। यक्षों को 'राजा' भी कहा जाता है (देखिए संस्कृत टीका)। इसलिये 'राजराज' का अर्थ यक्षों का अधिप कुबेर हुआ।

दध्यौ–√ध्यै, लिट् अन्यपुरुष एकवचन; सोचता रहा।

मेघालोके–मेघस्याऽऽलोको दर्शनं तस्मिन् सति, मेघ के दीखने पर। आलोक्यत इत्यालोकः, आ+लोक्+√घञ्। मेघ दर्शन को अवलम्बन के लिये उद्दीपक कहा गया है।

सुखिनः–सुखमस्य विद्यत इति सुखी तस्य; प्रियजन तथा अन्य साधनों से युक्त (पुरुष) का।

अन्यथावृत्ति–अन्यथाभूताऽस्वस्था वृत्तिः स्थितिवर्तनं व्यापारो वा यस्य तत् (चेतः), विकृत स्थिति वाला, विकृत, विचलित व्याकुल बहुव्रीहि समास।

कण्ठाश्लेषप्रणयिनि–प्रणयोऽस्यास्तीति प्रणयी (इनि। प्रत्यय:) कण्ठास्याऽऽश्लेष: कण्ठाश्लेषस्तस्मिन् प्रणयी साभिलाषस्तस्मिन् (जनै:); कण्ठ का आलिंगन करने की इच्छा वाले। पाठान्तर-तस्याश्लेषप्रणयिनि। इस पाठ में 'तस्य' का संकेत यक्ष की ओर है, और अर्थ इस प्रकार होगा–'उस यक्ष का आलिङ्गन करने की इच्छा वाले जन (यक्ष-पत्नी) के दूर स्थित होने फिर क्या (कहना)'?

दूरसंस्थे–दूरे संस्था स्थितिर्यस्य तस्मिन् (जने); दूर (देश में) स्थिति वाला होने पर, अर्थात् दूर होने पर, (बहुव्रीहि):। संस्था=सम्+√स्था+अङ् (भावे)।।3।।

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रै कुटजकुसुमै: कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीत: प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार।।४।।

अन्वय:–नभसि प्रत्यासन्ने दयिताजीवितालम्बनार्थी जीमूतेन स्वकुशलमयीं प्रवृत्ति हारयिष्यन् स: प्रीत: कुटजकुसुमै: कल्पितार्घाय तस्मै प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार।

अनुवाद–श्रावण मास के समीप अपने पर प्रिया के प्राणों को सहारा देने की इच्छा वाले (अत:) मेघ द्वारा अपने कुशल-मङ्गल का समाचार भेजने वाले उस (यक्ष) ने प्रसन्न होकर ताजे कुटज (चमेली के पुष्पों) से अर्घ्य दिये गये उस (मेघ) के लिये प्रेम-भरी बोली में 'स्वागत' कहा।

टिप्पणी–नभसि प्रत्यासन्ने-श्रावण (नभस्) मास के समीप आने पर। यहां मल्लिनाथ तथा अन्य टीकाकारों ने 'प्रत्यासन्ने' को 'नभसि' का 'विधेय विशेषण' रखा है और 'नभसि' में भावलक्षण सप्तमी समझी है; परन्तु यहद 'प्रत्यासन्ने नभसि' अन्वय करके 'प्रत्यासन्ने' को 'नभसि' का 'उद्देश्य विशेषण' माना जाय तो अधिक अच्छा रहे। तब श्लोक की प्रथम पंक्ति का अर्थ होगा-'समीप में स्थित (अन्तरवर्ती) श्रावण मास में प्रिया के प्राणों को सहारा देने की इच्छा वाला (यक्ष)'। ऐसा करने से श्लोक सं० २ में आये 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' और इस श्लोक में आये 'प्रत्यासन्ने नभसि' पदों में विरोध नहीं रहेगा और तरह-तरह से किये गये परिहारों की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। प्रत्यासन्न=प्रति+आ+√सद्+क्त। नभस् (सं० पुं०)=श्रावण मास।

दयिताजीविताजम्बनार्थम्–दयिता प्रिया तस्या जीवितं प्राणंस्तस्याऽऽलम्बनमर्थयतेऽभिलषतीति; √अर्थ+णिनि; प्रिया के प्राणों का आवलम्बन चाहने वाला। पाठान्तर-दयिताजीविताजम्बनार्थम्-प्रिया के प्राणों के आलम्बन के लिये; लम्बनार्थम्-प्रिया के प्राणों का आलम्बन है प्रयोजन जिसका (ऐसी प्रवृत्ति)।

स्वकुशलमयीम्–(प्रवृत्तिम्)–स्वस्याऽऽत्मना कुशलं मङ्गलं तस्य प्राचुर्यमस्यामिति स्वकुशलमयी ताम् अपने कुशल से भरी (प्रवृति=वृत्तान्त, समाचार), प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय।

हारयिष्यन्–√हृ+णिच्+शतृ (भविष्य अर्थ में); भेजने वाला, भेजने को उद्यत, भेजने की इच्छा वाला।

कल्पितार्घाय–कल्पितोऽनुष्ठितोऽर्घ: पूजाविधिर्यस्मै तस्मै; की गई थी पूजा-विधि जिसकी। बहुव्रीहिसमास।

प्रीतिप्रमुखवचनम्–(कि० वि०)–प्रीतिप्रमुखानि प्रेमप्रधानानि वचनानि यस्मिन् तथा स्यात्तथा; प्रेम की प्रमुखता वाले है वचन जिसमें हर प्रकार अर्थात् प्रेमपूर्वक। सारोद्धारिणी टीका में 'प्रीतिप्रमुखवचनम्' को 'स्वागतम्' का विशेषण माना गया है।

व्याजहार–वि+आ+√हृ+लिट् अन्य पु० एकवचन; कहा।।४।।

धूमज्योति: सलिलमरुतां सन्निपात: क्व मेघ:
संदेशार्था: क्व पटुकरणै: प्राणिभि: प्रापणीया:।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।।५।।

अन्वय:–धूमज्योति: सलिलमरुतां सन्निपात: मेघ: क्व? पटुकरणै: प्राणिभि: प्रापणीया: संदेशार्था: क्व? इलि औत्युक्यात् अपरिगणयन् गुह्यक: तं ययाचे, हि कामार्ता: चेतनाचेतनेषु प्रकृतिकृपणा: (भवन्ति)।

अनुवाद–'धुएं, प्रकाश, जल और वायु का सम्मिश्रण मेघ कहां और समर्थ इन्द्रियों वाले प्राणियों द्वारा ले जाए जाने योग्य संदेश रूपी वस्तुएं कहां? इसका उत्कण्ठा के कारण विचार न करते हुए यक्ष ने उस (मेघ) से प्रार्थना की, क्योंकि काम-पीड़ित (प्राणी) चेतन और जड़ के विषय में स्वभाव से ही असमर्थ (होते हैं)।

टिप्पणी–धूमज्योतिः सलिलमरुताम्–धूमश्च ज्योतिश्च सलिलं च मरुच्चेति धूमज्योतिः सलिलमरुतः (द्वन्द्वमासः) तेषाम् धुआं, प्रकाश, जल और वायु का।

सन्निपातः–सन्निपत्य इति सन्निपातः, सम+नि+√पत्+घञ् (भावे); मिलकर एक स्थान में पड़ना, संघात, समूहः सम्मिश्रण

संदेशार्थाः–संदिश्यन्ते वाचा कथ्यन्त इति सदेशा वाचिका तं एवार्था वस्तूनि; संदेश रूपी चीजे।

पटुकरणैः–पटूनि समर्थानि करणानीन्द्रियाणि येषां तैः (प्राणिभिः); समर्थ इन्द्रियों वाले (प्राणियों) द्वारा। बहुव्रीहिसमास।

प्रापणीया–प्र+√आप्+णिच्+अनीयर्; ले जाने योग्य, पहुंचाने योग्य।

क्व क्व–दो 'क्व' दो वाक्यों अथवा पदों के अर्थों की असङ्गति को प्रकट करते हैं, इसलिये वहां विषमालङ्कार है।

औत्सुक्यात्–उत्सुकस्य भाव औत्सुक्यं तस्मात् (हेतु में पञ्चमी), उत्सुक+ष्यञ्। (संदेश भेजने की) उत्कट अभिलाषा वाला होने का कारण।

गुह्यकः–यक्ष। 'गुह्यकः' शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है–

गुह्य+√कै (शब्दे)+कः; गुह्य कं सुख यस्य सः, गूहति रक्षति निधिम्, √गूह+ण्वुल; गुहायां भवो गुह्यः स एव गुह्यकः।

ययाचे–√याच्+लिट् अन्यपु० एकव० (आत्मनेपद); प्रार्थना की।

कामार्ताः–कामेनाऽऽर्ताः पीड़िताः, काम+आ+ऋ+क्त; 'कर्तुकरणे कृता बहुलम्' सूत्र के अनुसार 'कामेन' का 'आर्ताः' कृदन्त पद के साथ तत्पुरुष समास।

प्रकृतिकृपणाः–प्रकृत्या स्वभावेन कृपणा दीना असमर्था इत्यर्थः, स्वभाव से (विवेक में) असमर्थ। प्रणयकृपणाः पाठ में अर्थ होगा-याञ्चायां कृपणा विवेकहीनाः; प्रार्थना करने में विवेकहीन होते हैं।

चेतनाचेतनेषु–चेतना जङ्गमा अचेतनाः स्थावराश्चेति चेतनाचेतनास्तेषु (विषयसप्तमी), जड़ और चेतन के विषय में।

इस श्लोक में चतुर्थ चरीण में सामान्य कथन से तृतीय चरणगत विशेष कथन का समर्थन किया गया है, इसलिये यहां अर्थान्तरन्यास अलङ्कार भी है।।5।।

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणं नाधमे लब्धकामा।।6।।

अन्वयः–त्वां भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां वंशे जातं कामरूपं मघोनः प्रकृतिपुरुष जानामि, तेन विधिवशाद् दूरबन्धुः सन् त्वयि अर्थित्वंगतः, अधिगुणे मोघा याञ्चा वरम, अधमे लब्धकामा न।

अनुवाद–(मैं) तुम्हें संसार में प्रसिद्ध पुष्कर और आवर्तक (नाम के मेघों) के कुल में उत्पन्न, इच्छानुसार रूपधारण (और इन्द्र के प्रधान पुरुष जानता हूं, इसलिये भाग्यवश दूर (देश में स्थित) स्वजन वाला मैं तुम्हारे प्रति याचक भाव को प्राप्त हुआ हूं। उत्तम गुण वाले (व्यक्ति) से (की गई) विफल (भी) याचना अच्छी (है); (लेकिन) निकृष्ट (व्यक्ति) से (की गई) सफल प्रार्थना अच्छी नहीं।

टिप्पणी–भुवनविदिते-भुवनेषु विदिते ज्ञाते; लोकों में प्रसिद्ध। यहां 'क्त' प्रत्यय भूतकाल के अर्थ में है, वर्तमानकाल अथवा पूजा के अर्थ में नहीं, क्योंकि वर्तमानकाल अथवा पूजा के अर्थ में 'क्त' प्रत्यय होने पर समास नहीं होता है।

पुस्करावर्तकानाम्–पुराणों में पुष्कर और आवर्तक को प्रलयकाल में वृष्टि करने वाले मेघ कहा गया है। कोई 'पुष्करावर्तक' को एक पद मानते है। किन्हीं संस्करणों में 'पुष्कलावर्तकानाम्' पाठ भी पाया जाता है। पुराणों के अनुसार प्रलयकाल के मेघों का 'पुष्करावर्तक' नाम पड़ने का कारण यह है कि वे अधिक जलों से भरे होते हैं 'पुष्करावर्तका;' शब्दिक अर्थ है–पुष्कर (=जल) को धारण करने

प्रकृतिपुरुषम्–प्रकृतिश्चासौ पुरुषश्च तम्, अमात्यादिप्रकृतिवर्गस्थं पुरुषम्; प्रधान पुरुष।

कामरूपम्–कामेन रूपं यस्य तम् (बहुव्रीहि) इच्छानुसार आकृति वाला

मघोनः–मघवन् षष्ठी एकवचन; इन्द्र का।

अर्थित्वम्=अर्थयत इत्यर्थी याचकस्तस्य भावोऽर्थित्वम्, √अर्थ+णिनि+त्व, याचक-भाव।

याञ्चा–√याच्+नङ्+आ; याचना मांगना।

अधिगुणे–गुणमधिगतः (प्रादिसमासः) अथवा अधिका गुणा यस्य सोऽधिगुणः (बहुव्रीहिः); गुणवान्।

लब्धकामा–बब्धः कामोऽभिलाषो यस्याः सा (बहुव्रीहिः) सफल, पूर्ण॥६॥

संतप्तानां त्वमवि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देश में हर धनपतिक्रोधविलेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलकानामं यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानसितिहाशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या॥७॥

अन्वयः–पयोद, त्वं संतप्तानां शरणम्, तत् धनपतिक्रोधविश्लेसितस्य मे संदेशं प्रियायाः हर। ते बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या अलकानाम यक्षेश्वराणां वसतिः गन्तव्या।

अनुवाद–हे जलद, तुम पीड़ितों के रक्षक हो, इसलिये कुबेर के क्रोध के कारण नियुक्त हुए मेरे संदेश को प्रिया के पास ले जाओ। तुम्हें कुबेर की नगरी अलका जाना होगा, जिसमें हेवलियां बाहरी बाग में स्थित शिव के सिर पर स्थित (चन्द्रमा की) चांदनी से धुली हैं।

टिप्पणी–संतप्तानाम्-सम्+√तप्+क्त; (१) धूप से तपे हुए; (२) वियोग से पीड़ित।

शरणम्–न० संज्ञा; (१) रक्षा भोजन (२) रक्षक।

धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य–धनपतेः कुबेरस्य क्रोधेन विश्लेषितस्य प्रियायाः, वियोजितस्य, विश्लेषित=वि+√श्लिष्+णिच्+क्त; कुबेर के क्रोध द्वारा (प्रिया से) अलग किये गये का। धनपतेः क्रोधविश्लेषितस्य' पाठ में भी वही अर्थ होगा।

गन्तव्या ते–यहां 'ते' में कर्त्ता कारक के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। देखिये-'कृत्यानां कर्तरि वा' (अष्टाध्या० २/३/७१)।

अलका–'अलका' शब्द को अल (भूषणे) धातु के क्वन् प्रत्यय जुड़कर बना हुआ कहा गया है। यह कैलाश पर स्थित कुबेर की राजधानी मानी जाती है और इसके वसुधारा, वसुस्थली और प्रभा अन्य नाम है।

यक्षेश्वराणाम्–यक्षाणामीश्वरः कुबेर (आदरार्थे बहुवचनम्); यक्षों का स्वामी (कुबेर), अथवा यक्षाश्च ते ईश्वराश्च यक्षेश्वरास्तेषाम्, अधिपति यक्षों की, देव यक्षों की।

बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या-बहिर्भवं बाह्यां तच्चोद्यानं तस्मिन् स्थितस्य हरस्य शिरसि या चन्द्रिका ज्योत्स्ना तथा धौतानि क्षालितानि (प्रकाशितानीत्यर्थः) हर्म्याणि धनिकगृहाणि यस्यां सा; बाह्य उद्यान में स्थित शिव के सिर पर स्थित चन्द्रिका से धुले हैं हर्म्य (हवेली, अट्टालिकायें) जिस (नगरी) में। पुराणों के अनुसार अलका के बाहर एक उद्यान था। जिसे चित्ररथ ने बनाया था और जिसमें स्थित शिव के सिर पर स्थित चन्द्रमा के प्रकाश से यहां के महल हमेशा प्रकाशित रहते थे॥७॥

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसत्यः।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः॥८॥

अन्वयः–प्रत्ययाद् आश्वसतयः पथिकवनिताः पवनपदवीम् आरूढं त्वाम् उद्गृहीतालकान्ताः (सत्यः) प्रेक्षिष्यन्ते। त्वयि सन्नद्धे (सति) विरहविधुरां जायां कः उपेक्षेत, अन्यः अयि यः जनः अहमिव पराधीनवृत्तिः न स्यात्।

अनुवाद–(प्रिय-मिलन के) विश्वास के आश्वस्त होती हुई पथिकों की पत्नियां वायु के मार्ग (आकाश) में चढ़े हुए तुमको केशों के अग्रभागों को ऊपर को पकड़े हुई देखेंगी। तुम्हारे उमड़ने पर वियोग से व्याकुल पत्नी की कौन उपेक्षा करेगा, अन्य भी जो जन मेरे समान दूसरे के अधीन व्यवहार वाला न होगा।

टिप्पणी–आरूढम्-आ+√रुह्+क्त; चढ़ा हुआ; स्थित।

पवनपदवीम्-पवनस्य पद्वी मार्ग ताम्:; वायु का मार्ग अर्थात् आकाश। आ+√रुह्' के आधार में द्वितीया विभक्ति आती है, इसलिये 'पवनपदवीम्' में द्वितीया विभक्ति है। 'पवनपदवीमारूढम्' (त्वाम्) का अर्थ है–आकाश में स्थित (तुमको)।

उद्गृहीतालकान्ताः–उद्‌र्ध्व गृहीता अलकानामन्ता अग्रभागा याभिस्ताः (बहुव्रीहिः) ऊपर को पकड़े हुए हैं केशों के अग्रभाग जिन्हों ने प्रिय के प्रवास में गये होने पर स्त्रियां प्रसाधन नहीं करती थीं, इसलिये शिथिल होकर मुख और आंखों पर आये कशों को मुख से हटाकर देखना स्वाभाविक वर्णन है।

पथिकवनिताः–पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः (पथिन्+ष्कन) तेषां वनिताः स्त्रियः, परदेश गये हुए लोगों की पत्नियां।

सन्नद्धे–सम्+√नह्–+(भावलक्षण सप्तमी); तैयार होने पर; उमड़ आने पर।

विरहविधुराम्–विरहेण विधुरा व्याकुल ताम; (प्रिय के) वियोग से विकल। विरह्यत इति विरहः, वि+√रह् (छोड़ना)+अच्। 'विधुर' शब्द को प्रायः 'विगता धूः कार्यभारो यस्याः सा विधुरा' बहुव्रीहि समास करके वि+धुर् से बना हुआ समझा जाता है सम्भवतः यह शब्द √व्यध् (ताड़ने) से निकला हो; मिलाइये व्यध् < विधु।

जायाम्–पत्नीको। पुत्रों को जन्म देने के कारण पत्नी को 'जाया' कहा जाता है–जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुत्र

पराधीनवृत्तिः–परस्मिन्नधि परधीना वृत्तिर्व्यापारो यस्य सः (बहुव्रीहिः), जिसकी चेष्टा-प्रवृत्ति दूसरे के वश में है।।८।

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी
मव्यापन्नामविहितगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।।९।।

अन्वयः–अविहतगतिः दिवसगणनातत्पराम् एक पत्नीं तां भ्रातृजायाम् च अव्यापन्नाम् अवश्यं द्रक्ष्यसि; हि आशाबन्धः अङ्गना कुसुमसदृशं विप्रयोगे सद्यःपाति प्रणयि हृदयं प्रायशं रुणद्धि।

अनुवाद–और बे-रोक टोक गति वाले (तुम) (अवधि के) दिन गिनने में लगी हुई, पतिव्रता (अपनी) उस भाभीका जीवित अवश्य देखोगे, क्योंकि आशा का वृन्त स्त्रियों के, फूल के समान (कोमल) वियोग में शीघ्र ध्वंसनशील प्रेमी हृदय को प्रायः रोके रखता है

टिप्पणी–श्लोक संख्या १ से १२ तक के क्रम में बड़ी गड़बड़ पायी जाती है। कुछ संस्करणों में इस श्लोक को अगले श्लोक के बाद रक्खा गया है।

तां च–**'च'** अव्यय इस श्लोक का पहले दो श्लोकों से सम्बन्ध जोड़ता है। मल्लिनार्थ ने यहां 'च' का अर्थ 'एव' किया है और इसका अन्वय 'द्रक्ष्यसि' क्रिया के साथ किया है।

दिवसगणनातत्पराम्–दिवसानां शापान्तावधिदिनानां गणनायां तत्परा-तत्परं यस्याः सा-ताम्: (शाप की समाप्ति की अवधि के दिन गिनने में लगी हुई (भ्रातृजाया) को।

एकपत्नीम्–एकः पतिर्यस्याः सा तं पतिव्रतामित्यर्थः; पतिव्रता को।

अव्यापन्नाम्–नञ्+वि+आ+√पद्+क्त; न मरी हुई अर्थात् जीवित को। यहां 'एकपत्नीम्' और 'अव्यापन्नाम्' पदों द्वारा यक्षा के निष्फलता की आशङ्का का निवारण किया गया है।

अविहतगतिः–न विहता रुद्धा गतिर्यस्य सः, नहीं रुकी है गति जिसकी। मेघ कोयह आशङ्का हो सकती थी कि वह दूसरे के स्त्री का दर्शन कैसे करेगा, इसलिये यक्ष ने अपने पत्नी को उसकी 'भ्रातृजाया' बतलाकर उसके साथ आत्मीयता प्रकट की है जिससे मेघ को यक्ष के घर में प्रवेश करने में कोई संकोच न हो।

भ्रातुर्जाया पत्नी ताम्: भाई की पत्नी को।

कुसुमसदृशम्–कुसुम के जैसे (हृदय) को। 'कुसुमदृशप्राणम्' इस पाठ में अर्थ होगा-पुष्प के समान शक्ति (-प्राण) वाले हृदय को।

अङ्गनानाम्–प्रशस्तानि अङ्गानि आसाम्; सुन्दर अङ्गों वाली स्त्रियों का, युवतियों का। 'अङ्ग' शब्द से तद्धित 'न' प्रत्यय करके।

सद्यःपाति–सद्यः पतितुं शीलमस्य, सद्यः+√पत्+णिनि; तुरन्त नष्ट हो जाने वाले (हृदय) को। :सद्यपातप्रणयि' इस पाठ में अर्थ होगा-'वियोग में शीघ्र ही नष्ट हो जाने के अभिलाषी हृदय को'।।

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥१०॥

??? यथा च अनुकूलः पवनः त्वां मन्दं मन्दं नुदति, अयं च ते सगन्धः चातकः वामः (सन्) मधुरं नदति, नूनं गर्भाधानक्षणपरिचयात् आबद्धमालाः बलाकाः नयनसुभगं भवन्तं खे सेविष्यन्ते।

अनुवाद–और जैसे कि अनुकूल पवन तुम्हें धीरे-धीरे ले जा रहा है और यह तुम्हारा सम्बन्धी चातक बांई और स्थित होकर मधुर शब्द कर रहा है, (उससे) निश्चित (ही) गर्भ-धारण रूपी उत्सव के अभ्यास के कारण पंक्तियां बनाये मादा बगुले दृष्टि को आनन्द देने वाले आपका आकाश में सेवन करेंगे।

टिपण्णी–यथा-जैसे कि, क्योंकि। 'यथा' अव्यय पहले दो वाक्यों 'मन्द-मन्दं नुदति पवनः' और 'वामश्चाय नदति मधुरं चातकः' का तीसरे वाक्य 'सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे सम्बन्ध जोड़ता है। पहले वाक्य तीसरे वाक्य के कारण के रूप में रक्खे गये हैं। मन्द अनुकूल पवन और वाम पार्श्व में स्थित चातक के मधुर नाद को शुभ शकुन माना जाता है। इन शुभ शकुनों से निश्चित हो जाता है कि मार्ग में बगुलों द्वारा मेघ की सेवा की जायेगी और इस प्रकार उसकी यात्रा सुखद होगी। मल्लिनाथ ने 'यथा' का अर्थ 'सदृश' भाविफलानुरूपम्' किया है और तीनों वाक्यों में शुभ निमित्तों का कथन माना है।

मन्दं मन्दम्–अत्यधिक मन्द; बीप्सा (अधिक) अर्थ में शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है।

वामः–बाईं ओर स्थित। कुछ टीकाकारों के 'वाम' का अर्थ 'सुन्दर' किया है।

चातकः–एक पक्षी का नाम, जिसके लिये यह प्रद्धि है कि वह स्वाति नक्षत्र की वर्षा का ही पानी पीता है और पृथ्वी पर पड़े हुये जल को नहीं पीता है।

सगन्धः–सम्बन्धी। मेघ और चातक का सम्बन्ध काव्यों में प्रसिद्ध है। मल्लिनाथ ने 'सगन्धः' का अर्थ 'गर्वित' किया है। 'सगन्धः' के स्थान पर 'सगर्वः' या 'सहर्षः' पाठ पाया जाता है। किन्हीं संस्करणों में 'चातकस्तोयगृध्नुः' पाठ भी पाया जाता है। 'तयोगृध्नुः' का अर्थ है–'जल का लालची'। लेकिन यह पाठ बहुत उपयुक्त नहीं है।

गर्भाधानक्षणपरिचयात्–गर्भस्याऽऽधानमेव क्षण उत्सवस्तस्मिन्परिचयात्; गर्भ धारण के उत्सव (आनन्द के अभ्यास) के कारण। '॰ परिचायात्' में हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति है। गर्भाधानक्षणपरिचय' मादा बगुलों के पक्तिबद्ध होने का हेतु है। ऐसी प्रसिद्धि है कि वर्षा ऋतु में अमावस्या में पंक्तिबद्ध हुए मादा बगुले मेघ के संयोग से गर्भ-धारण किया करते है। (दे॰ संस्कृत टीका)। कुछ लोगों ने 'क्षण का अर्थ' 'समय' किया है–गर्भाधानस्य क्षणे (क्षण वा) परिचयस्तस्मात् अर्थात् गर्भाधान के समय में (अथवा क्षण भर के) परिचय के कारण 'गर्भाधानक्षणपरिचयम्' पाठ में यह पद 'त्वाम्' का विशेषण होगा और इसका अर्थ होगा-गर्भधाने क्षमः समर्थः परिचय सङ्गमो यस्य तम्, अर्थात् गर्भ उत्पन्न करने मे समर्थ है सङ्ग जिसका ऐसे (तुझ मेघ को)।

नयनसुभगम्–नयनोः सुभगं मनोहरम्; नेत्रों को प्रिय। 'नयनसुभगाः' पाठ में यह 'बलाकाः' का विशेषण होगा।

बलाकाः-बलाका शब्द का प्रायः स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ 'मादा बगुला' है। मल्लिनाथ्ज्ञ ने श्लोक सं॰ २२ की टीका में 'बालकः' का अर्थ 'बकपंक्तिः' किया है॥१०॥

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभग गर्जितं मानसोत्काः।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्यस्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥११॥

अन्वयः–यत् च महीम् उच्छिलीन्ध्राम् अवन्ध्यां कर्तुं प्रभवति ते तत् श्रमणसुभंग गर्जित श्रुत्वा मानसोत्काः बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः राजहंसाः आ कैलासात् नभसि भवतः सहाया संपत्यस्यन्ते।

अनुवाद–और, जो पृथ्वी को उगे हुए कुकुरमुत्तों वाली (अतः) उपजाऊ बना सकता है, तुम्हारे उस कर्ण-प्रिय गर्जन को सुनकर मानस (नाम के सरोवर) के लिये उत्सुक, कमल-नाल के अङ्कुरों के खण्ड रूपी सम्बल (=मार्ग का भोजन) वाले, राजहंस कैलास (पर्वत) तक आकाश में आपके साथी होंगे।

टिप्पणी-उच्छिलीन्ध्राम्–उद्गताः शिलीन्ध्रा यस्यां ताम्; उगे हुये हैं शिलीन्ध्र (कुकुरमुत्ते) जिसमें ऐसी (मही) बहुव्रीहिसमास।

अवन्ध्याम्–न वन्ध्याऽवन्ध्या ताम्; जो बंजर न हो अर्थात् उपजाऊ, सस्य से पूर्ण। कुकुमुत्तों की अच्छी फसल का सूचक मान जाता है। 'उच्छिलीन्ध्रातपत्राम्' पाठ में अर्थ होगा–उगे हुये हैं कुकुरमुत्ते रूपी छत्र जिसमें ऐसी (मही)।

मानसोत्का–मनसे उत्का उत्कण्ठिताः, मानस के लिये उत्कण्ठित। 'मानस', जिसे आलकल 'मानसरोवर' कहा जाता है पौराणिक आख्यानों के अनुसार कैलास पर्वत पर स्थित सर है, जिसे ब्रह्मा ने अपने मन से बनाया था। इसलिये इसे 'मानस' भी कहा जाता है। उत्क=उद्गतं मनोऽस्य; 'उन्मनस्' के अर्थ में 'उत्' उपसर्ग 'क' प्रत्यय जुड़कर बना हुआ। कविख्याति है कि वर्षा ऋतु में हंस मैदानों से मानसरोवर जाया करते है।

बिसकिसलयच्छेपाथेयवन्तः–बिसानां मृणालानां किसलयान्यङ्कुरा अग्रभागा इत्यर्थः, तेषां छेदाः खण्डा एव पाथेयं पथि भवं तदेषामस्तीति बिसकिसलयच्छेपाथेयवन्तः, मृणाल के अग्रंभागों के खण्ड ही हैं मार्ग का भोजन जिनका।

पाथेयम्=पथि साधु, पथिन्+ढक् (एय), रास्ते का भोजन। संस्कृत-काव्यों में हंसों का कमल-नाल खाना लोकप्रिय वर्णन विषय है संस्कृत-कव्यों हंस के विषय में मानस और मृणाल के सम्बद्ध अनेक अन्योक्तियां पाई जाती है।

राजहंसाः–कव्यों में प्रसिद्ध एक श्वेत पक्षी, जिसकी चोंच और पैरलाल होते हैं जो अपने नीर-क्षीर विवेक के लिये प्रसिद्ध है

आ कैलासात्–कैलासपर्यन्त। 'आ' अव्यय मर्यादा अर्थ में है इसके योग के कारण 'कैलासात्' में पञ्चमी विभक्ति है।

संपत्स्यन्ते-होंगे, बनेगे। सम्+√पद्+लृट् अन्य पुरुष एकव०।।११।।

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहिव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्।।१२।।

अन्वयः–पुंसां वन्द्यैः रघुपतिपदैः मेखलासु अङ्कितं प्रियसखम् अमुं तुङ्गं शैलम् आलिङ्ग्य आपृच्छस्व, काले काले भवतः यस्य संयोगम् एत्य चिरविरहजम् उष्णं बाष्प मुञ्चतः यस्य स्नेहव्यक्ति भवतिः।

अनुवाद–लोगों द्वारा आराधनीय रघुपति (राम) के चरण चिह्नों से ढलानों पर अङ्कित, प्रिय मित्र, इस ऊँचे पर्वत का आलिङ्गन करके (इससे) विदा लो, समय-समय पर आपका सम्पर्क पाकर, मानो, लम्बे वियोग से उत्पन्न गर्म बाष्प (भाप) छोड़ते हुए जिसके स्नेह का आविर्भाव होता है।

टिप्पणी-आपृच्छस्य-आ+√प्रच्छ् आत्मनेपद में होती है और इसका अर्थ 'विदा मांगना' या विदा लेना होता है।

प्रियसखम्–प्रियश्चासौ सखा चेति प्रियसखस्तम्: प्रिय मित्र को। समास के अन्त 'सखि शब्द का रूप टच् (अ) प्रत्यय जोड़ने से हो जाता है।

पुंसां वन्द्यैः–मेखलासु अङ्कितम्–रघूणां पतिः पघुपतिस्तस्य पदैः पादन्यासैः, रघुवंशियों के स्वामी (राम) के चरण चिह्न से ढलानों पर चिह्नित। वनवास (ढलानों) पर राम के चरण-चिह्न बन गये थे। कवि ने राम के चरण-चिह्नों के उल्लेख से पर्वत की महानता का संकेत दिया है, क्योंकि महान् पुरुष के सम्पर्क से कोई भी वस्तु पवित्र और पूजा पात्र हो जाती है

काले-काले–समय-समय पर अर्थात् वर्षा काल में।

भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य.....स्नेहव्यक्तिः–भवतः संयोगमेत्य यस्य स्नेहव्यक्तिः भवति; आपका सम्पर्क पाकर जिस (पर्वत) के स्नेह का प्रकाशन होता है। 'यहां भवतः' का अन्वय 'संयोगम्' के साथ है और 'यस्य' का अन्वय 'स्नेहव्यक्तिः' के साथ किया है। टीकाकार ने 'भवतः' का अन्वय 'स्नेहव्यक्तिः' के साथ 'यस्य' का अन्वय 'समीपस्य संयोगम्' के साथ किया है और वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया है–जिस (पर्वत) के सम्पर्क को पाकर लम्बे वियोग से उत्पन्न गर्म आंसू बहाते हुए आप मेघ के रूप में प्रकट होता है।' लेकिन इस प्रकार अन्वय करना उचित नहीं हैं, क्योंकि मेघ का वर्षा के रूप में आंसू बहाना सम्भव नहीं है। धूप से तपे पर्वत का वर्षा में भाप छोड़ना ठीक ही है।

स्नेहव्यक्तिः–स्नेहस्य प्रेम्णो व्यक्तिः प्रकाशनम; प्रेम का प्रकाशन।

चिरविरहजम्–चिरं यो विरहस्तस्माज्जातम्; लम्बे वियोग से उत्पन्न (बाष्प) को। मित्रों के चिरकाल पश्चात् मिलन पर हर्ष के आंसू आ जाते हैं। यहां वर्षा होने पर उठती हुई भाप को पर्वत के आंसू कहा गया है।

बाष्पम्–(१) भाप को, (२) आंसू को। जाति के अर्थ एकवचन।।१२।।

मार्ग तावच्छृणु कथयस्त्वत्प्रयाणानुरूप
संदेश मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्न शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्त्रोतसां चोपभुज्य।।१३।।

अन्वयः–हे जलद्, तावत् कथयतः (मत्तः) त्वत्प्रयाणानुरूपं मार्ग शृणु, यत्र खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य क्षीणः क्षीणः च स्त्रोतसां परिलघु पयः उपभुज्य गन्तासि; तदनु में श्रोत्रपेयम् संदेशं श्रोष्यसि।

अनुवाद–हे मेघ, अब पहले (मुझे) कहने वाले से अपनी यात्रा के योग्य मार्ग को सुन, जिस (मार्ग) में बार-बार थका हुआ (तू) पर्वतों पर पैर रखकर और बार-बार क्षीण हुआ (तू) नदियों के बहुत हल्के जल का उपभोग करके जायेगा। तत्पश्चात् तू कानों द्वारा पीने योग्य मेरे संदेश को सुनना।

टिप्पणी–तावत्–अब, पहले; तनिक। 'तावत्' के स्थान पर 'मत्तः' पाठ भी वही अर्थ होगा।

अनुरूपम्–रूपस्य सदृशो योग्योऽनुरूपस्तम्; अनुकूल, उचित। 'अनुकूलम्' पाठ में भी वहीं अर्थ होगा।

श्रोत्रपेयम्-श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम् (√श्रु+ष्ट्रन्), तेन पेयं पातुं योग्यम् (√पा+यत्); श्रोत्र के पीने योग्य; कानों को सुखकारी। कहीं संस्करणों में 'श्रोत्रपेयम्' के स्थान पर 'श्राव्यबन्धम्' पाठ पाया जाता है। 'श्राव्यबन्धम्' का अर्थ होगा-सुनने योग्य है बन्ध (पद-रचना) जिसकी'।

परिलघु हल्का। पत्थरों पर टकराने के कारण नदियों के जल को हल्का तथा स्वास्थ्यकारी माना जाता हैं

उपभुज्य-उप+√भुज् (सेवन करना)+ल्यप्; सेवन करके। 'उपयुज्य' पाठ में भी वहीं अर्थ होगा।।१३।।

अद्रेः श्रृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकित मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्।।१४।।

अन्वयः–पवनः अद्रेः शृङ्गं हरति किंस्वित् इति उन्मुखीभिः सिद्धाङ्गनाभिः चकितचकितै दृष्टौत्साहः पथिः दिङ्नागानां स्थूलहस्तावलेपान् परिहरन् अस्मात् सरसनिचुलात स्थानात् उदङ्मुखः खम् उत्पत।

अनुवाद–'वायु पर्वत के शिखर को लिये जा रहा है क्या' इस आशङ्का से ऊपर की ओर मुख वाली, भोली सिद्ध-युवतियों द्वारा अत्यधिक चकित होकर देखे गये उत्साह वाला, मार्ग में दिग्गजो के मोटे सूंडों के आक्रमणों को बचाता हुआ तू इस हरे बांसों वाले स्थान से उत्तर की ओर मुख वाला हो कर आकाश में उड़ जा।

टिप्पणी–अद्रे शृङ्गम्-इससे मेघ के आकार की विशालता प्रकट होती है।

उन्मुखीभिः–उद्गतं मुखं यासां ताभिः, उत्+मुखः+ङीप् (ई); ऊपर उठा है मुख जिनकी ऐसी (सिद्धाङ्गनाओं द्वारा)।

दृष्टोत्साहः–दृष्ट उत्साह उद्योगों यस्य सः (बहुव्रीहिः); देखा गया है (संदेश ले जाने का) उद्योग जिसके ऐसा (मेघ)। पाठान्तर–दृष्टोच्छ्रायः, 'देखी गई है ऊँचाई जिसकी।'

चकितचकितम्–चकितं चकित यथेति चकितचकितम् (क्रि०वि०) चकित सा होकर। भोली सिद्धाङ्गनाओं को रामगिरि से बिदा होते हुए मेघ के बड़े आकार को देखकर यह आशङ्का हो गई है कि पवन पर्वत के शिखर को लिये जा रहा है। इससे उन्हें आश्चर्य हो रहा है।

मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः–सिद्धानां 'देवयोनिविशेषाणामङ्गनाः सिद्धाङ्गनाः, मुग्धाश्च ताः सिद्धाङ्गनाश्चेति (कर्मधारससमासः); सिद्ध नाम के देवों की भोली-भाली द्वारा। सिद्ध, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि देवों की अनेक जातियां मानी जाती हैं।

सरसनिचुलात्–सरसा आर्द्रा निचुलाः सलिवेतसा यत्र तस्मात् (स्थानात्) सरस (ताजे, हरे) हैं निचुला (बांस) जहां पर ऐसे (स्थान) से।

उद्ङ्मुखः- उदग् उत्तरदिग्वर्ति मुखं यस्य सः (बहुव्रीहिसमासः); उत्तर दिशा की ओर है मुख जिसका ऐसा (मेघ)।

दिङ्नागाम्–दिशां नागा दिङ्नागा दिग्वर्तिनों गजास्तेषाम्; दिग्गजों के। पुराणों के अनुसार आठों दिशाओं में से प्रत्यक में उनका अधिपति एक हाथी रहता है। इनके नाम ये हैं–

'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः।

स्थूलहस्तावलेपान्–स्थूला हस्ताः शुण्डा इति स्थूलहस्तास्तेषामवलेपान् क्षेपणानि; मोटे सूंडों के आक्रमणों को।

मल्लिनाथ और दक्षिणावर्त ने इस श्लोक में कालिदास द्वारा अपने समकालीन साथी 'निचुल' और प्रतिपक्षी 'दिङ्नागाचार्य' का संकेत किया गया माना है। प्रायः आधुनिक टिप्पणीकारों ने भी वैसा किया जाना संभव स्वीकार किया है। परन्तु कालिदास का यहां 'निचुल' और 'दिङ्नाग' का उल्लेख अभिप्रेत हो, यह सम्भव नहीं है। प्राचीन वल्लभ ने भी वैसा उल्लेख होने का कोई संकेत नहीं किया है–

मल्लिनाथ के अनुसार यहां कालिदास ने अपनी कविता का अथवा स्वयं अपनी श्रेष्ठता का संकेत किया है और संकेत इस प्रकार है

(सरसनिचुलात्) सहृदय निचुल नाम का मित्र जहां रहता है, ऐसे (अस्मात् स्थानात्) इस स्थान से (उदङ्मुखः) उत्तर मस्तक किए (पथि) सरस्वती के मार्ग में (दिङ्नागानाम्) दिङ्नागानाम्) दिङ्नाग नामक आचार्य के (हस्तावलेपान्) हाथ रखकर लिखने रूप दोषों को (परिहरन्) बचाता हुआ और (किंस्वित्) क्या (पवनः) कालिदास की कीर्ति (अद्रेः) पर्वत सदृश दिङ्नागाचार्य के (पृङ्गम) प्राधान्य को (हरति) छीन रही है, (इति) इस कारण (मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः) निपुण महाकवियों तथा सिद्धियां द्वारा (चकितचकितम्) अत्यधिक चकित होकर (दृष्टोत्साहः) देखे गये उत्साह वाला तू (खम् उत्पत) आकाश में उड़े अर्थात् उत्कृष्ट बन।।१४।।

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।।१५।।

अन्वयः–रत्नच्छायाव्यतिकरइव प्रेक्ष्यम् एतत् आखण्डलस्य धनुः खण्डं पुरस्तात् वल्मीकाग्रात् प्रभवति, येन ते श्यामं वपुः अतितरां कान्तिम् आपत्स्यते बर्हेण गोपवेषस्य विष्णोः श्यामं वपुरिव अतितरां कान्तिम् आपत्स्यते।

अनुवाद–मणियों की कान्तियों के मेल के समान दर्शनीय यह इन्द्र के धनुष का खण्ड सामने बाम्बी के शिखर के प्रकट हो रहा है जिसने तेरा श्यामल शरीर चमकती हुई कान्ति वाले मोर के पंख से ग्वाले के वेश वाले (विष्णु) (कृष्ण) के श्यामल शरीर की भांति अत्यधिक शोभा को प्राप्त करेगा।

टिप्पणी–रत्नच्छायाव्यतिकर इव-रत्नानां पद्मरागादिमणीनां छायाः कान्तयस्तासां व्यतिकर इव मिश्रणमिव; (अनेक प्रकार की मणियों की कान्ति के मेल के समान। इन्द्र धनुष के सात रंगों के मेल को अनेक रंगों की मणियों की कान्ति के मेल के समान कहा गया है। कुछ संस्करणों में 'रत्नच्छायव्यतिकरः' पाठ रक्खा गया है, क्योंकि 'छाया बाहुल्ये' सूत्र के अनुसार 'इक्षूणां छाया' इक्षुच्छायम् के समान तत्पुरुष-समास में 'छाया' को 'छायम्' (नपुं० लि०) हो जाता है। परन्तु 'रत्नच्छायाव्यतिकरः' पाठ भी शुद्ध है, क्योंकि 'क्षिपाक सेनासुराछायाशालानिशानाम्' सूत्र के अनुसार सेना, सुरा, छाया, शाला और दिशा को नपुंसक विकल्प से होता है।

प्रेक्ष्यम्-प्रेक्षितुं योग्यम्, प्र+√ईक्ष्+ण्यत्; देखने योग्य, सुन्दर।

वल्मीकिग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य=लोक-कथा के अनुसार इन्द्रधनुष सांप की बाम्बी में से निकलता है, जो सर्प की मणियों की चमक है। वराहमिहिर ने इन्द्रधनुष की उत्पत्ति के विषय में कहा है–सूर्यस्य विविधवर्णाः पवनेन विघट्टिताः करगः परिवेषगतिं धनुः संस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः।।

केचिनन्तकुलोरगनिः श्वासोदभूतमाहुराचार्याः। अर्थात् जो सूर्य की अनेक वर्णों की किरणें वायु से बिखरी हुई होकर मेघ युक्त आकाश में धनुष के आकार की दिखलाई देती हैं, उन्हें इन्द्रधनुष कहते हैं। कुछ आचार्य (इसे) शेषनाग के कुल के सर्पों के निःश्वास से उत्पन्न बतलाते हैं।

धनुःखण्डम्-धनुषः खण्डम्; धनुष का टुकड़ा। वल्लभ ने पाणिनीय व्याकरण का अनुकरण करके 'धनुष्खण्डम्' पाठ रखा है। परन्तु चन्द्रभोगी के व्याकरण के अनुसार 'धनुःखण्डम्' पाठ भी शुद्ध है। मल्लिनाथ ने यही पाठ रखा है।

आखण्डलस्य-आखण्डलः, आ+√खण्ड्+कलच्; टुकड़े करने वाला; इन्द्र। पौराणिक कथा के अनुसार इंद्र ने अपने वज्र से पर्वत के

पंख काटे थे, इसलिये उसे 'आखण्डल' कहा जाता है।

गोपवेषस्य विष्णोः–गाः पातीति गोपस्तस्य वेष इस वेषो यस्य स गोपवेषस्तस्य विष्णोः; ग्वाले के वेष वाले विष्णु के। पुराणों के अनुसार विष्णु ने दसवां अवतार कृष्ण के रूप में लिया था, जिसने बाल्य-काल ग्वाले के रूप में ही बिताया था। बाल-गोपाल कृष्ण का नन्द और यशोदा के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है। हरिवंश-पुराण और भागवत-पुराण में कृष्ण की बाल-लीलाओं का विस्तृत विर्णन किया गया है। बाल-कृष्ण सिर पर मोर पंख का मुकुट धारण करता था। इस बात का संस्कृत और हिन्दी साहित्य में अनेकशः उल्लेख किया गया है।

इन्द्र-धनुष का दर्शन शुभ शकुन माना जाता है। इसलिये यच मेघ को शुभ शकुन के समय प्रस्थान देने के लिये प्रेरित करता है।।१५।।

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रू विलासनभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण।।१६।।

अन्वयः–कृषिफलं त्वयि आयत्तम् इति प्रीतिस्निग्धैः भ्रूविलासानभिज्ञैः जनपदवधूलोचनैः पीयमानः मालं सद्यः सीरोत्कषणसुरभि (यथा स्यात्तथा) क्षेत्रं आरुह्य किञ्चित् पश्चात् व्रज, भूयः लघुगतिः उत्तरेण एव (व्रज)।

अनुवाद–खेती का फल तेरे अधीन (है), इसलिये हर्ष से चमकने वाली भौंहों के मटकाने से अपरिचित, गांव की स्त्रियों की आंखो से पीया जाता हुआ (तू) माल नाम के देश पर, (जैसे कि वह वर्षा के बाद) तुरन्त हल से जोतने के कारण सुगन्धित (हो जाये), चढ़कर कुछ पश्चिम की ओर जा (और) फिर तीव्र गति वाला (होकर) उत्तर की ओर ही जा।

टिप्पणी–आयत्तम्–आ+√यत्+क्त; अधीन, वश में।

कृषिफलम्-कृषेः फलम् (षष्ठी तत्पुरुष); खेती का फल, फसल।

भ्रूविलासानभिज्ञैः–भ्रूर्वोर्विलासा भ्रूविलासास्तेषामनभिज्ञैरपरिचितैः (०लोचनैः); भौंहों का नचाना (शृङ्गारिका चेष्टा) न जानने वाले (नेत्रों) से; अभिज्ञ=अभि+√ज्ञा+क (जानने वाला)। 'भ्रू विकारानभिज्ञैः' पाठ में भी वही अर्थ होगा।

प्रीतिस्निग्धैः–प्रीत्या हर्षेण प्रेम्णा वा स्निग्धैरार्द्रैः (तत्पुरुष समास); हर्ष अथवा प्रेम के कारण सौमय, अर्थात् हर्ष अथवा प्रेम के कारण चमकने वाले (नेत्रों) से।

जनपदवदधूलोचनैः–जनपदस्य वधूनां स्त्रीणां लोचनैः; ग्रामीण क्षेत्र की स्त्रियों के नेत्रों से। 'जनपद' शब्द का अर्थ ग्रामीण क्षेत्र (Country Side) है। यह समझा जाता है कि ग्रामीण स्त्रियां नगरवासी स्त्रियों की अपेक्षा भोली-भाली होती हैं और उनमें शृङ्गारिक चेष्टाओं का अभाव होता है।

पीयमान–√पा+शानच् (कर्मवाच्य); पीया जाता हुआ अर्थात् चाह से देखा जाता हुआ।

सद्यः सीरोत्कषणसुरभि–सद्यः सीरेण हलेनोत्कषात्सुरभि सुगन्धि यथा स्यात्तथा ('आरुह्य' का क्रियाविशेषण); तुरन्त हल से जोतने के कारण सुगन्धित जैसे हो जाये उस प्रकार (चढ़कर)। अभिप्राय यह है कि मेघ के वर्षा करने के पश्चात् भूमि को हल से जोने पर सुगन्ध उठेगी। यह एक सामान्य अनुभव है कि सूखी भूमि पर पानी पड़ने पर सुगन्ध उठा करती है। कुछ टीकाकारों ने सद्यः सीरोत्क० पद को 'मालम्' का विशेषण माना है। तब अर्थ होगा–'तुरन्त हल से जोतने के कारण सुगन्धित माल क्षेत्र पर चढ़कर'। पार्श्वाभ्युदय में 'सद्यः सीरोत्कृष्णसुरभिक्षेत्रम्' पाठ पाया जाता है। इस पक्ष में अर्थ होगा–'तुरन्त हल से जोतने के कारण सुगन्धित खेतों वाले माल पर चढ़कर'।

मालं क्षेत्रम्-माल नाम का देश (भूखण्ड), जो प्रो० विल्सन के अनुसार छत्तीसगढ़ में रतनपुर के समीप आधुनिक माल्दा हो सकता है। मल्लिनाथ ने 'मालं मालाख्यं श्रेत्रं शलप्रायमुन्नतस्थलम्' अर्थात् 'माल नाम का पहाड़ी ऊँचा स्थल (पठार)' अर्थ किया है।

किञ्चित्पश्चात्–कुछ पश्चिम की ओर। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ 'कुछ देर बाद' किया है। तब पिछली दो पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार हेगा–

'माल देश पर चढ़कर कुछ देर बाद (वर्षा करने के कारण) तीव्र गति वाला होकर और उत्तर दिशा की ओर जा।' यह अर्थ भी सम्भव एवं उपयुक्त है। इस अर्थ में भूयः का अर्थ 'अधिक' होगा और 'भूयः' पद निरर्थक नहीं होगा, जैसा कि कुछ विद्वानों को अधिक करना।'।।१६।।

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥१७॥

अन्वयः–आम्रकूटः सानुमान् आसारप्रशमितवनोपप्लवम् अध्वश्रमपरिगतं त्वां साधु मूर्ध्ना वक्ष्यति। क्षुद्रः अपि मित्रे संश्रयाय प्राप्ते प्रथमसुकृतापेक्षया विमुखः न भवति। यः तथा उच्चैः (सः) पुनः किम्?

अनुवाद–आम्रकूट पर्वत मूसलाधार वर्षा से वन के उत्पात को शान्त कर देने वाले (और) मार्ग की थकान से व्याप्त हुए तुझको भली-भांति सिर पर धारण करेगा। अधम (पुरुष) भी मित्र के आश्रय के लिये आने पर पहले उपकारों का ध्यान करके मुख नहीं मोड़ता; जो (पर्वत) उतना ऊँचा है, (वह) फिर कैसे (मुख मोड़ेगा)॥

टिप्पणी–आसारप्रशमितवनोपप्लवम्–आसारेण धारापातवृष्ट्या प्रशमितो वनस्योपप्लवो दावाग्निरूप उत्पातो येन तम् (बहुव्रीहिसमास:); मूसलाधार वर्षा से शान्त कर दिया है वन का अग्निरूपी उत्पात जिसने ऐसे (तुझ मेघ) को। '०दवोपप्लवम्' इस पाठ में समास इस प्रकार होगा–आसारेण प्रशमितो दवो वनाग्निः सः एवोपप्लवो येन तम् अर्थात् धारापात दृष्टि से शान्त कर दिया है वन की वह्निरूपी उत्पात जिसने। मल्लिनाथ ने 'वनोपप्लवः का अर्थ ही 'दावाग्नि' अर्थात् 'वन की आग' किया है। इसलिये दोनों पाठों का भाव एक ही है।

उपप्लवः–उप+√प्लु+अप् (पुल्लिंग भाववाचक संज्ञा)।

वक्ष्यति–√वह+लृट् प्रथमपुरुष एकवचनः, धारण करेगा।

अध्वश्रमपरिगतम्–अध्वनो मार्गस्य श्रमेण खेदेन परिगतं व्याप्तम् (तत्पुरुषसमास); मार्ग की (अर्थात् मार्ग चलने की) थकान से व्याप्त हुए को।

सानुमान्–सानवः सानूनि वाऽस्य सन्तीति सानुमान्पर्वतः; चोटियां वाला पर्वत। सानु+मतुप्।

आम्रकूटः–आम्राः कूटेषु शिखरेषु यस्य सः, अथवाऽऽम्राणां कूटो राशिर्यत्र (बहुव्रीहिसमासः) आम्रकूट नाम का पर्वत। प्रो० विल्सन के अनुसार आम्रकूट आधुनिक अमरकण्टक है जो विन्ध्य का पूर्वी भाग है और जहां से नर्मदा आदि नदियां निकलती हैं।

प्रथमसुकृतापेक्षया–प्रथमनि पूर्वकृतानि यानि सुकृतान्युपकारास्तेषामपेक्षया पर्यालोचनया (तत्पुरुषः) पहले उपकारों के विचार से।

उच्चैः–विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय; (१) ऊँचा, (२) उदारहृदय।

इस श्लोक में विशेष का सामान्य से समर्थन किये जाने के कारण अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है॥१७॥

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥१८॥

अन्वयः–परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैः छन्नोपान्तः अचलः स्निग्धवेणीसवर्णे त्वयि शिखरम् आरूढे (सति); मध्ये श्यामः शेषविस्तारपाण्डुः भुवः स्तनः इव नूनम् अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम् अवस्थां यास्यति।

अनुवाद–पके हुए फूलों से चमकने वाले वन के आमों से ढके हुए भागों वाला (आम्रकूट) पर्वत, चिकनी चोटी के समान रंग वाले तेरे चोटी पर चढ़ जाने पर, (जो पर्वत), मानो, बीच में काला (और) शेष विस्तृत भाग में पीला-सा पृथिवी (रूपी स्त्री) का स्तन (हो), अवश्य ही देवों के जोड़ों द्वारा देखी जाने वाले योग्य दशा को प्राप्त कर लेगा।

टिप्पणी–छन्नोपान्तः–छन्ना आवृता उपान्ताः पार्श्वभागा यस्य सः (बहुव्रीहि), ढके हुए हैं पार्श्वभाग जिसके (ऐसा अचल)। छन्न=√छद्+क्त।

परिणतफलद्योतिभिः–परिणतानि फलानि परिणतफलानि (कर्मधारयसमास) तैर्द्योतन्ते शोभन्ते इति परिणतफलद्योतिनस्तैः (उपपदसमास)। पके हुए फलों से चमकने वाले (वन के आमों से) परिणत=परि+√नम्+क्त; द्योतिन्=√द्युत्+णिनि (इन)।

काननाम्रैः–कानने वने भवा आम्रा आम्रवृक्षाः काननाम्रास्तैः (मध्यमपदलोपी समासः); जंगल में होने वाले आम के पेड़ों से।

आरुढे-आ+√रुह्+क्त। भावलक्षण अर्थ में सप्तमी विभक्ति।

स्निग्धवेणीसवर्ण-समानो वर्णो यस्य सः सवर्णः सदृशः (बहुव्रीहिः)। स्निग्धा मसृणा, तैलेन चिक्कणेत्यर्थः, वेणा केशबन्ध इति स्निग्धवेणी (कर्मधारय) स्निग्धवेण्या सवर्णः स्निग्धवेणीसवर्णः (तत्पुरुषः) तस्मिन्ः चिकनी केशों की चोटी के समान वर्ण वाले (तेरे)। दक्षिणावर्त ने सर्पवेणीसवर्णे पाठ माना है और-सर्पस्य वेष्टनम् वर्णतः संस्थानतश्च सर्पवेणासमान इत्यर्थः-अर्थ किया है।

नूनम्-(अन्वय); अवश्य ही, निस्सन्देह।

अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम्-अमराणां देवानां मिथुनानि युगलानि तैः प्रेक्षणीयां दर्शनीयाम् (तत्पुरुषः); देवों के युगलों द्वारा देखने योग्य दशा (अर्थात् शोभा) को। जब पके हुए जंगली आमों से पीले हुए पर्वत के शिखर पर काला बादल स्थित होगा तो वह पर्वत देवों के युगलों को पृथिवी-नायिका का स्तन प्रतीत होगा। मल्लिनाथ के अनुसार यहां 'मिथुन' पद साभिप्राय है, क्योंकि कामकेलिरत अमर-मिथुन ही पर्वत में स्तन की उतप्रेक्षा कर सकता है।

शेषविस्तारपाण्डुः-शेषे मध्यादन्यत्र विस्तारे विस्तृतभागे (आभोगे वा) पाण्डुः (तत्पुरुष्ठसमासः); (मध्य से) बाकी बचे भाग में पीला।।१८।।

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधू भुक्तकुञ्जे मुहूर्त
तोयोत्सर्गद्रततर गतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥१९॥

अन्वयः-वनचरवधुभुक्तकुञ्जे तस्मिन् मुहूर्त स्थित्वा तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः तत्परं वर्त्म तीर्णः उपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णा रेवां गजस्य अङ्गे भक्तिच्छेदैः विरचितां भूतिम् इव द्रक्ष्यसि।

अनुवाद-वनवासियों की स्त्रियों द्वारा भोगे गये कुञ्जों वाले उस (आम्रकूट पर्वत) पर थोड़ी देर ठहर कर जल बरसा देने के कारण अधिक तेज गति वाला होकर (और उससे आगे के मार्ग को पार करके (तुम) चट्टानों के कारण ऊबड़-खाबड़, विन्ध्य पर्वत की तलहटी में खण्ड-खण्ड हुई नर्मदा नदी को हाथी के शरीर पर बेल बूटों के नमूनों से की गई सजावट के समान देखोगे।

टिप्पणी-वनचरवधूभुक्तकुञ्जे-वने चरन्तीति वनचराः; (बन+चर्+ट) तेषां वधूभिर्भुक्ताः सेविता कुञ्जा लतागुल्मा यत्र (आम्रकूटे); वन में घूमने वालों की स्त्रियों द्वारा सेवन किये गये हैं कुञ्ज यहां पर। 'वने चरति' इस अर्थ में 'वचरनः' और 'वनेचरः' दो शब्द होते हैं। भुक्त=भुज्+क्त।

मूहूर्तम-(अत्यन्तसंयोग के अर्थ में द्वितीया), दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट का समय या थोड़ी देर।

तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः-तोयस्योत्सर्गस्तोयोत्सर्गः (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्मात्कारणाद् द्रुततरा तीव्रतरा गतिर्यस्य सः (बहुव्रीहिः) जल छोड़ने (अर्थात् बरसने) के कारण और अधिक है गति जिसकी (ऐसा मेघ)। उत्सर्ग-उत्+√सृज्+घञ् (भाववाचक संज्ञा)।

तत्परम्-तस्मात्परं तत्परम् (तत्पुरुषः); उससे आगे का (वर्त्म का विशेषण)।

तीर्ण-√तॄ+क्त (कर्ता के अर्थ में); पार कर चुका हुआ, लांघ चुका हुआ (मेघ)।

रेवाम्-नर्मदा नाम की नदी को। रेवा नर्मदा का ही दूसरा नाम है, जो विन्ध्य पर्वत से निकलती है और गङ्गा के समान ही पवित्र मानी जाती है।

'गङ्गास्नानेन यत्पुण्यं तद् रेवादर्शनेन च।'

द्रक्ष्यसि-√दृश्+लट् मध्यम पुरुष एकवचन; देखेगा।

उपलविषमे-उपलैः पाषाणैर्विषमे नतीन्नते (विन्ध्यपादे); पत्थरों के कारण ऊँचे-नीचे, ऊबड़-खाबड़।

विन्ध्यपादे-विन्ध्यस्यं नाम पर्वतस्य पादे प्रत्यन्तपर्वते (तत्पुरुषः), विन्ध्य नाम के पर्वत के निचले भाग में अर्थात् तलहटी में। विन्ध्य सात कुल-पर्वतों में से एक है। ये सात कुल-पर्वत माने जाते हैं-

'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥'

विशीर्णाम्-वि+√शृ+क्त (रेवाम् का विशेषण), खण्ड-खण्ड हुई, (अनेक धाराओं में) विभक्ति हुई।

भक्तिच्छेदैः—भक्तयः पत्ररचनास्तासां छेदैः (तत्पुरुषः); बेल बूटों के नमूनों से।

भूतिम् इव—सजावट के समान। हाथी के माथे पर रंगी-बिरंगी रेखाओं द्वारा की गई चित्रकारी को भूति कहते हैं। 'भूति' के अर्थ भस्म (राख) या भस्म मलना भी होता है। वहां विन्ध्य की तलहटी में नाना धाराओं में फैली हुई नर्मदा को हाथी के शरीर पर की गई रंग-बिरंगी रेखाओं से बनी सजावट के समान बतलाया गया है।।१९।।

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।।२०।।

अन्वयः—वान्तवृष्टिः (त्वम्) तिक्तैः वनगजमदैः वासितं जम्बूकुञ्जप्रति हतरयं तस्या तोयम् आदाय गच्छेः। घन। अनिलः अन्तःसारं त्वां तुलयितुं न शक्ष्यति। हि रिक्तः लघुः भवति, पूर्णता गौरवाय (भवति)।

अनुवाद—वर्षा कर चुका हुआ (तू) कटु गन्ध वाले, वन के हाथियों के मद से सुगन्धित (और) जामुन के वृक्षों के कुञ्जों से रुके हुए वेग वाले उस (नर्मदा) के जल को लेकर जाना है। हे मेघ, वायु अन्दर (जल रूप) बल वाले तुझे उठा न सकेगा क्योंकि खाली होते हुए (तो) सब ही हल्के होते हैं, भरा हुआ होना भारीपन का कारण होता है।

टिप्पणी—तिक्तैः—('मदैः' का विशेषण), तीव्र गन्ध वाले:

वनगजमदैः—वनस्य गजा वनगजास्तेषां वदैदनिजलैः (तत्पुरुषः); वन के हाथियों के मदों से। कहा जाता है कि मस्त हाथियों के कनपटी से पानी निकला करता है। उसे ही 'मद' या 'दान' कहते है। नर्मदा नदी के जल को उसमें क्रीड़ा करने वाले हाथियों के मद से सुगन्धित कहा गया है।

वान्तवृष्टिः—वान्ता उद्गीर्णा वृष्टयो येन सः; उंडेली है वर्षा जिसने, अर्थात् बरसा हुआ है। यहां गौणवृत्ति से 'वान्त' शब्द का अर्थ 'उंडेलना' है; 'उगलना' या उल्टी करना नहीं, इसलिये यहां ग्राम्यता दोष नहीं है।

जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयम्—जम्बूनां जम्बूवृक्षाणां कुञ्जाः (तत्पुरुषः) तै प्रतिहतौ निरुद्धो रया वेगो यस्य तत् (बहुव्रीहिः)। जामुन के कुञ्जों से रुक गया है वेग जिसका (ऐसा जल)। प्रतिहत=प्र+√हन्+क्त।

अन्तःसारम्—अन्तर्मध्ये सारो बलं यस्य तम् (बहुव्रीहिः); अन्दर है बल या ठोसपन जिसके। यहां जल को ही मेघ का सार कहा गया है।

तुलयितुम्—तुला+णिच्+तुमुन् (नामधातु); तोलना, उठाना; अपमानित करना।

शक्ष्यति—√शच्+लृट; सकेगा।

इस श्लोक में मल्लिनाथ तथा दक्षिणावर्त आदि टीकाकारों ने कवि द्वारा वैद्यक-शास्त्र के एक मन्तव्य की ओर भी संकेत किया गया माना है—वातप्रकोप से बचने के लिये उल्टी कराने के बाद तिक्त और कषाय पथ्य का सेवन कराया जाता है। परन्तु यह संकेत प्रस्तुत अर्थ में उपयोगी नहीं है।।२०।।

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्द्धरूढै
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वाऽरण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः।
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्।।२१।।

अन्वयः—अर्धरूढैः केसरैः हरितकपिशं नीपं दृष्ट्वा, अनुकच्छम् आविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीः च जग्ध्वा, अरण्येषु चोर्व्याः अधिकं सुरभिं गन्धं च आघ्राय सारङ्गाः जललवमुचः ते मार्गं सूचयिश्यन्ति।

अनुवाद—आधा उगे हुए केसरों से हरे और श्याम कदम्ब के फूल को देखकर, दलबलों में पहली बार प्रकट हुई केलियों वाले केलियों को खाकर और जंगलों में पृथिवी की अत्यन्त सुगन्धि वाली गन्ध को सूंघकर हरिण जलकणों को बरसाने वाले तुम्हारे मार्ग को सूचित करेंगे।

टिप्पणी—अर्धरूढैः—अर्धं यथा स्यात्तथा रूढैर्निःसृतैः (केसरैः); आधे निकले हुए (केसरों अर्थात् पुष्प-तन्तुओं से

हरितकपिशम्–हरितश्चासो कपिशश्चेति हरितकपिशस्तम् (कर्मधारयः); हरे और लाल-काले (कदम्ब) को। काला और लाल रंग मिलाकर कपिश या श्याव कहलाता है।

आविर्भूतप्रथमुकुलाः–आविर्भूताः प्रकटिताः प्रथमाः प्रथमोत्पन्ना मुकुलाः कुड्मला यासां ताः (बहुव्रीहिः); प्रकट हो गई हैं पहली-पहली कलियां जिनकी ऐसी (कन्दली) को।

अनुकच्छम्–कच्छेषु इति अनुकच्छम्, कच्छानां समीपे इति वाऽनुकच्छम्; दल वाले स्थानों में, अथवा दल-दल स्थान के समीप। यहां सप्तमी विभक्ति के अर्थ में अथवा सामीप्य अर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ है। मल्लिनाथ ने विभक्ति के अर्थ में अव्ययीभाव समास माना है, लेकिन यह सामीप्य अर्थ में भी सम्भव है। कच्छः–नदी आदि के समीप का उथले जल से भरा हुआ स्थान।

जग्ध्वा–√अद्+क्त्वा; खाकर। पाठान्तर–दग्धारण्येषुः (वन की आग से जले हुए जंगलों में)। इस पाठ में 'नीपम्' और 'कन्दलीः' दोनों दृष्ट्वा' क्रिया के कर्म होंगे।

अधिकसुरभिम्–अधिकं यथा स्यात्तथा सुरभिः सुगन्धितः (घ्राणातर्पणः) तम्; अत्यधिक सुगन्धित (गन्ध का विशेषण)।

सारङ्गाः–साराणि अङ्गानि येषां ते (बहुव्रीहिमः); हरिण। कात्यायन के अनुसार शकन्धु आदि शब्द समूह में होने से पशु और पक्षी के अर्थ में सार+अङ्ग=सारङ्ग, पररूप सन्धि होने पर होता है। अन्य अर्थों में सार+अङ्ग=साराङ्ग होता है। इस श्लोक में मल्लिनाथ ने सारङ्ग शब्द का हाथी या हरिण या भृङ्ग अर्थ माना है। सारोद्धारिणी टीका में हाथी, हरिण और भ्रमर के अतिरिक्त चातक अर्थ भी स्वीकार किया है। इस सब का कारण यह है कि कोषकारों ने 'सारङ्ग' शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं। सस्कृत-काव्यों के प्रसिद्ध टीकाकारों श्री काले ने कहा है कि यहां कवि को 'सारङ्ग' शब्द से तीन अर्थों का संकेत अभिप्रेत है और श्लोक का भाव यह है–भ्रमर अधखिले कदम्ब के पुष्प को देखकर, हरिण कच्छों में मुकुलित कन्दलियों को खाकर और हाथी पृथ्वी की गन्ध को सूंघकर तेरे मार्ग को सूचित करेंगे।

परन्तु सरस्वर्तीतीर्थ और दक्षिणावर्त ने यहां 'सारङ्ग'–शब्द का अर्थ केवल हरिण स्वीकार किया है। सम्भवतः सरस्वतीतीर्थ कवि के अभिप्राय के अधिक निकट है।

कदम्ब और कन्दली वर्षा ऋतु में लिखते हैं और तपी हुई भूमि पर पानी के पड़ने से तीव्र गन्ध उठा करती है, इसलिये हरिणों द्वारा विकसित कदम्बों को देखने तथा कन्दलियों को खाने और पृथ्वी की गन्ध को सूंघे जाने से यह प्रकट हो जायगा कि मेघ किस दिशा में बरसा है।।२१।।

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान् वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यनित सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि।।२२।।

अन्वयः–अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरान् चातकान् वीक्षमाणाः श्रेणीभूताः बलाकाः परिगणनया निर्दिशन्तः सिद्धा स्तनितसमये सोत्कम्पानि प्रियसहचरी संभ्रमालिङ्गितानि आसाद्य त्वां मानयिष्यन्ति।

अनुवाद–जल-कणों को लेने में चतुर चातकों को देखते हुए, सोपान बनी हुई बगुलों की पङ्क्तियों को गिनकर दिखाते हुए सिद्ध लोग (तुम्हारे) गर्जन के समय कंप-कंपी सहित, प्रिय, पत्नियों के घबराहट से (किये गये) आलिङ्गनों को पाकर तुम्हें (बहुत) मानेंगे।

टिप्पणी–इस श्लोक को मल्लिनाथ ने प्रक्षिप्त माना है; परन्तु फिर भी इस पर टीका की है। पार्श्वाभ्युदय में भी इसे स्थान नहीं दिया गया है।

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरान्–('चातकान्' का विशेषण) अम्भसां जलानां बिन्दूनां कणानां ग्रहणे स्वीकरणे चतुरान् निपुणान् (तत्पुरुषः), (वर्षा के) जल की बूंदों को पकड़ने में निपुण (चातकों) को। कवि-सम्प्रदाय में यह प्रसिद्ध है, कि चातक मेघ (विशेषतः स्वाति नक्षत्र के मेघ) की बूंदों को भूमि पर पड़ने से पहले ही अपनी चोंच में लेता है। वह प्यासा मर जाता है; परन्तु भूमि पर पड़े जल को नहीं पीता है। संस्कृत में कवियों ने चातक पर इस प्रकार की बहुत सी अन्योक्तियां कही हैं। पाठान्तर-अम्भोबिन्दुग्रहणभसान्-जल की बूंदों को लेने में उत्साह वाले (चातकों) को।

श्रेणीभूताः–अश्रैणयः श्रेणयो भूता इति श्रेणीभूताः (श्रेणि+च्वि+√भू+क्त), सोपान बनी हुई अर्थात् सोपान (सीढ़ी) के आकार में

उड़ती हुई। बगुले मेघोदये होने पर टेढ़ी-मेढ़ी, पङ्क्तियां बनाकर आकाश में उड़ा करते हैं, इसलिये बक-पङ्क्तियों को 'श्रेणी' ना कहा गया है।

स्तनितसमये-स्तनितस्य गर्जितस्य समये काले (तत्पुरुषः), गर्जन के समय। मेघ के गर्जन करने कर सोत्कण्ठ सिद्धाङ्गनाय यत्न करके सिद्धों का स्वयं आलिङ्गन करेगी, इसलिये सिद्ध नामक देव मेघ का मान करेंगे।

सोत्कम्पानि-उत्कम्पेन सहितानि सोत्कम्पानि (आलिङ्गितानि का विशेषण), कंप-कंप के साथ। पाठान्तर सोत्कण्ठानि। उत्कण्ठया सहितानि, उत्सुकता के साथ किये गये।

प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि-प्रियाणां सहचरीणां स्त्रीणां संभ्रमेण सवेगेन (कृतानि) आलिङ्गितानि, आलिङ्गितानि (आसाद्य का क्रम), प्रिय पत्नियों के (भय के कारण) व्यग्रता से किये गये आलिङ्गनों को (पाकर)। पाठान्तर-प्रियसहचरीविभ्रमालिङ्गितानि 'प्रियसहचरीणां विभ्रमेण विलासेन (कृतानि आलिङ्गितानि.....बिलासपूर्वक किये गये आलिङ्गन।।२२।।

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत्।।२३।।

अन्वयः-सखे, मत्प्रियार्थं द्रुतम् यियासोः अपिते ककुभसुरभौ पर्वते-पर्वते कालक्षेपम् उत्पश्यामि, सजलनयनैः शुक्लापाङ्गैः केकाः स्वागतीकृत्य प्रत्युद्यातः भवान् कथमपि आशु गन्तुं व्यवस्येत्।

अनुवाद-हे मित्र। मेरे प्रिय के लिये शीघ्र जाने की इच्छा करते हुए भी तुम्हें अर्जुन नाम वृक्षों से सुगन्धित पर्वत पर्वत पर देर हो जाने की संभावना कर रहा हूं, (लेकिन हर्ष के कारण) अश्रु-युक्त नेत्रों वाले मयूरों द्वारा (अपनी) बोली को 'स्वागत' (वचन) बनाकर अगवानी किये गये आप जैसे-तैसे शीघ्र चलने का प्रयत्न करें।

टिप्पणी-उत्पश्यामि-उत्+√दृश् लट् उत्तमपुरुष एकवचन, कल्पना करता हूं, अनुवान करता हूं, संभावना करता हूं आदि अर्थ हैं। मत्प्रियार्थम्-मम प्रियमिति मत्प्रियं तदर्थम् (तत्पुरुषः), मेरे प्रिय के लिये। किन्हीं टीकाकारों ने मत्प्रियार्थम् की व्याख्या 'मम प्रिया तदर्थम्' अर्थात् मेरी प्रिया के समीप की है।

यियासोः-यातुमिच्छतीति यियासुस्तस्य, √या+सन्+उ, जाने की इच्छा वाले (तुम्हें)।

ककुभसुरभौ-ककुभैः सरसौ (तत्पुरुषः); कुटज (अर्जुन) वृक्ष के पुष्पों से सुगन्धित ('पर्वते पर्वते' का विशेषण)।

शुलापाङ्गैः-शुक्लौ धवलौ अपाङ्गौ नेत्रपान्तौ येषां तैः (बहुव्रीहिः); श्वेत नेत्र-प्रान्त वाले, मयूरों द्वारा। मोरों का आंखों के कोने सफेद होते हैं, इसलिये मोरों का एक नाम 'शुक्लापाङ्ग' भी है।

सजलनयनैः-सजलानि नयनानि येषां तैः (बहुव्रीहि) आंसुओं के) जल से युक्त नेत्रों वाले। पाठान्तर सनयनजलैः; नयनसलिलाहतैः आश्रुभिः।

केकाः स्वागतीकृत्यः-अस्वागतं स्वागतं संपद्यमानं कृत्वेति स्वागतीकृत्य स्वागतः+च्वि+√कृ+ल्यप्, केकाः मयूरवाणी स्वागतीकृत्य मयूर-वाणी को स्वागत के वचन बनाकर। भाव यह है कि मेघोदय होने पर हर्ष के कारण मोर बोलेंगे और उनकी बोली ही उस समय स्वागत में उनके स्वागत-वचन होंगे।

प्रत्युद्यातः-प्रति+उद्+√या+क्त (कर्मवाच्य), उठकर या आगे बढ़कर सत्कार किया।

व्यवस्येत्-वि+अव+√सो+विधिलिङ् अन्यपुरुष, प्रयत्न करें। यहां विधिलिङ् प्रार्थना के अर्थ में है, इसलिये 'व्यवस्येत्' का अर्थ हुआ-मैं प्रार्थना करता हूं कि आप.....प्रयत्न करें।।२३।।

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः।।२४।।

अन्वयः-त्वयि आसन्ने दशार्णाः सूचिभिन्नैः केतकैः पाण्डुच्छोयापवनवृतयः गृहबलिभुजां नीडारम्भैः आकुलग्रामचैत्याः; परिणतफलश्यामजम्बुवनान्ताः; कतिपयदिनस्थायिहंसाः (च) संपत्स्यन्ते।

अनुवाद–तेरे समीपवर्ती होने पर दशार्ण नाम का जनपद अग्रभाग में खिले हुए केतकी के पुष्पों के पीली सी क्रान्ति वाली उपवनों की बाड़ों वाला, घर की बलि खाने वाले (कौवे आदि पक्षियों) के घोंसला बनाने के कर्मों से भरे हुए गांव के मन्दिरों वाला, पके हुए फलों से काले हुए जामुन के वनों के भाग वाला और कुछ दिन ठहरने हुए हंसों वाला हो जायेगा।

टिप्पणी–पाण्डुच्छायोपवनवृतय:–पाण्डु छाया कान्तिर्यासां ता: (बहुव्रीहि:) तथोक्ता उपवनानां वृतयो येषु ते (बहुव्रीहि:), पीली-सी कान्ति है जिनकी ऐसी है, बागों की बाड़ें जिनमें ऐसे (दशार्ण)।

सूचिभिन्नै केतकै:–(कली के) अग्रभाग में खिले हुए केतकी के पुष्पों से। केतकी पर वर्षाऋतु में फूल आते हैं, इसलिये उसके फूलों से बगीचों की बाड़ें पीले रंग की हो जायेंगी।

नीडारम्भै:–नीडानामारम्भै: कर्मभि (तत्पुरुष:); घोंसलों के बनाने के उद्योग से।

गृहबलिभुजाम्–गृहेषु बलिमुपहारं भुञ्जत इति गृहबलिभुज: काकादिपक्षिणस्तेषाम् घरों में बलि को खाने वाले (कौवे आदि पक्षियों) के। गृहबलि+√भुज्+क्विप्।

आकुलग्रामचैत्या:–आकुलानि ग्रामेषु चैत्यानि येषु ते (बहुव्रीहि:); भरे हुए हैं गांवों में चैत्य (मन्दिर) जिनमें। चैत्य शब्द के अर्थ के विषय में टीकाकारों में मतभेद है। मल्लिनाथ ने 'चैत्य' का अर्थ रथ्यावृक्ष अर्थात् 'गली का वृक्ष' किया है। वल्लभदेव ने इसका अर्थ 'बुद्धालय' किया है। कुछ अन्य टीकाकारों इसका अर्थ 'पवित्र वृक्ष', 'चौराहे केवृक्ष', 'पवित्र मन्दिर' आदि करते है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द 'चिति' या 'चित्या'–श्मशान–से सम्बद्ध है।

त्वयि आसन्ने–तेरे निकट होने पर, आ+√सद्+क्त, भावलक्षण अर्थ में सप्तमी विभक्ति।

परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ता–परिणतानि फलानि परिणतफलानि (कर्मधारय:); तै: जम्बूवनानामन्ता: सीमा: प्रदेशा वा येषु ते (बहुव्रीहि:); पके हुए फलों से श्याम हैं जामुन के वनों के प्रदेश जिसमें। मल्लिनाथ ने परिणतफल० समास को भिन्न प्रकार से तोड़ा है और 'अन्त' का अर्थ 'सुन्दर' किया है–परिणतै: फलै: श्यामानि जम्बूवनानि तैरन्ता–रम्या:–अर्थात् पके फलों से काले हुए जामुन के वनों से सुन्दर (दशार्ण)। परन्तु मल्लिनाथ द्वारा किया गया अर्थ स्वाभाविक नहीं है।

संपत्स्यन्ते–सम्+√पद्+लृट् अन्यपुरुष बहुवचन, हो जायेंगे।

कतिपयदिनस्थायिहंसा–कतिपयेषु दिनेषु स्थायिनो हंसा येषु ते; कुछ दिन ठहरे हंस जिनमें। यह प्रसिद्ध है कि वर्षाऋतु में हंस मानस नाम के सरोवर में चले जाते हैं। कवि ने भी पू० में ११ श्लोक में कहा है कि कैलास तक हंस तुम्हारे साथ रहेंगे। इसलिये जब मेघ दशार्ण में पहुंचेगा तो वहां से हंस भी चल पड़ेंगे, अत: दशार्ण में हंस कुछ ही दिन ठहरेंगे।

दशार्ण-दशार्ण नाम का जनपद। संस्कृत में जनपद (देश) वाचक पदों का बहुवचन पुंल्लिङ्ग में प्रयोग होता है। दशार्ण सम्भवत: मालवा का पूर्वी भाग आधुनिक छत्तीसगढ़ का प्रदेश था। 'दशार्ण' शब्द को 'दशन्+ऋण' से बना हुआ समझा जाता है, इसलिए 'दशार्ण' शब्द का शब्दिक अर्थ 'दस दुर्गों या नदियों वाला' है।।२४।।

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्य: फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
सभ्रूभङ्गमुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि।।२५।।

अन्वय:–दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां तेषां राजधानीं गत्वा सद्य: कामुकत्वस्य अविकलं फलं लब्धा, यस्मात् वेत्रवत्या: स्वादु चलोर्मि पय: सभ्रूभङ्गमुखमिव तीरोपानतस्तनितसुभगं पास्यसि।

अनुवाद–दिशाओं में प्रसिद्ध विदिशा नाम वाली उसकी (दशार्णों की) राजधानी में पहुंचकर तुरनत कामुक होने का सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि (तुम) वेत्रवती (नाम की नदी) के स्वादु (और) चञ्चल तरङ्गों वाले जल का, मानो भ्रू-भङ्ग युक्त मुख का, तीन प्रान्त में गर्जन से सुन्दर लगते हुए पान करोगे।

टिप्पणी–प्रथितविदिशालक्षणाम्–लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं नामधेयम्, √लक्ष्+ल्युट्, प्रथितं विदिशा लक्षणं यस्यास्ताम् (बहुव्रीहि:); (दिशाओं में) प्रसिद्ध है विदिशा यह नाम जिसका। विदिशा दशार्ण जनपद की राजधानी थी; कादम्बरी में विदिशा को मालव जनपद की राजधानी कहा गया है। प्रो० विल्सन ने विदिशा को आधुनिक भीलसा बताया है, जो वेत्रवती (बेतवा) नदी के तट पर मलवा में स्थित है।

लब्धा–√लभ्+लट् (कर्मवाच्य); प्राप्त किया जायेगा। पाठान्तर-लब्ध्या-√लभ्+क्त्वा; पाकर।

तीरोपानतस्तनितसुभगम्-तीरो पान्ते यत्स्तनितं गर्जितं तेन सुभगं सुन्दरं यथा स्यात्तथा (पास्यसि); किनारे पर गर्जन से सुन्दर जैसे (उस प्रकार); 'पास्यसि' क्रिया का विशेषण। यहां मेघ के गर्जन में चुम्बन क्रिया में होने वाली ध्वनि का आरोप किया गया है।

सभ्रूभङ्ग मुखमिव=भ्रभङ्गभ्रुकुटिनः सहितं सभ्रूभङ्ग मुखमिव; मानो, टेढ़ी भौं से युक्त मुख का। मेघ और नदी में प्रायः नायिका के व्यवहारों का आरोप किया जाता है। इसलिये वेत्रवती के चञ्चल तरङ्गों वाले जल में नायिका के भ्रूभङ्ग-युक्त मुखकी उत्प्रेक्षा की गई है।

वेत्रवत्याः–वेत्रवती नाम की नदी की। वेत्रवती बेतवा नदी का प्राचीन नाम है। यह विन्ध्य के उत्तर से निकलती है और मालवा प्रदेश में लगभग ३४० मील तक बहकर कालपी के समीप जमुना नदी में मिल जाती है।

चलोर्मि–चला ऊर्मयस्तरङ्गा यस्य तत्, चञ्चल है तरंगे जिसकी ऐसा (जल)। पाठान्तर-चलोर्म्याः। तब वह 'वेत्रवत्याः' का विशेषण होगा-चञ्चल तरङ्गों वाली (वेत्रवती) के। 'स भ्रू भङ्गम' के सामञ्जस्य में होने के कारण, चलोर्मि' पाठ ही अधिक अच्छा लगता है।

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभियौवनानि॥२६॥

अन्वयः–तत्र विश्रामहेतोः प्रौढपुष्पैः कदम्बैः वत्संपर्कात् पुलकितम् इव नीचैराख्यं गिरिम् अधिवसेः। यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः शिलावेश्मभिः नागराणाम् उद्दामानि यौवनानि प्रथयति।

अनुवाद–(तुम) वहां विश्राम के लिये विकसित पुष्पों वाले कदम्बों से (युक्त), मानो, तुम्हारे संसर्ग के कारण रोम हर्ष हुए, नीच नाम के पर्वत पर ठहरना, जो (पर्वत) वेश्याओं की प्रेम-क्रीडाओं की गन्ध को उगलने वाले शिलागृहों से नगर-निवासियों के उद्दाम यौवनों को प्रकट करता है।

टिप्पणी–नीचैराख्यम्-'इति आख्या नाम यस्य तम् (बहुव्रीहिः); 'सोचैः' यह है नाम जिसका उस (पर्वत) पर।

गिरिम् अधिवसेः–गिरि पर ठहरना, अधिवसेः–अधि+√वस्+विधिलिङ् मध्यपुरुष एकवचन। अधि+वस् के आधार में द्वितीया विभक्ति होती है, इसलिये गिरिम् में द्वितीया है।

त्वत्संपर्कात्-तब सम्पर्क इति त्वत्सम्पर्कस्तस्मात् (तत्पुरुषः), तेरे संसर्ग के कारण। हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति। संपर्क-सम्+पृच्+घञ्।

पुलकितमिव–पुलका रोमहर्षा अस्य संजाता इति। पुलकितस्तमिव, मानो रोमाञ्च हुआ। पुलक-इतच्। मेघ के आने पर कदम्ब की कलियां खिल जाती है, इसलिये कवि ने कल्पना की है मानो, मेघ के हर्ष से विकसित कदम्ब के रूप में पर्वत को रोमाञ्च हो जायेगा।

प्रौढ़पुष्पैः–प्रौढानि पूर्णतया विकसितानि पुष्पाणि येषां तैः (कर्मधारयः) पण्यस्त्रियों वेश्याः, तासां रतिषु प्रमक्रीडासु यः परिमलः गन्धस्तमुद्गिरन्तीति पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारीणि तैः (शिलावेश्मभिः), वेश्याओ की प्रेम-क्रीड़ाओं में (प्रयुक्त) गन्धों को उगलने वाले (शिलागृहों) से। उद्गारिन्-उद्+√णिनि॥२६॥

विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजानां निषिञ्चन्
उद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥२७॥

अन्वयः–विश्रान्तः सन् वननदीतीरजानाम् उद्यानानां यूथिकाजालकानि नवजलकणैः निषिञ्चन् गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्त कर्णोत्पलानां पुष्पवालीमुखानां छायादानात् क्षणपरिचितः व्रज।

अनुवाद–(वहां) आराम करके बननदी के किनारे उगे हुये बाणों की जूही की कलियों को नये जल का बूंदों से सींचते हुए (और) पुष्प बीनने वाली स्त्रियों (मालिनों) के मुखों को, जिनके कानों के कमल गालों के पसीने पोंछने में मसलने से मुरझा गये है, छाया देने के कारण (उनसे) क्षण भर परिचित होते हुए (आगे) जाना।

टिप्पणी–वननदीतीरजानाम्-वननद्यास्तीरयोर्जातानाम् वननदी नाम की नदी के किनारे पर उगे हुये। तीरज-तीर-√जन्+ड। वननदी किसी

नदी का नाम प्रतीत होता है। मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'जंगल की नदी' किया है। प्रो॰ विल्सन ने 'नगनदी' पाठ मानकर इससे 'पार्वती' नदी का संकेत माना है, जो विन्ध्यपर्वत से निकलती है और शिप्रा नदी में मिल जाती है। ०तीरजानि पाठ में यह ०जानकानि का विशेषण होगा।

नवजलकणैः–नवानि जलानि नवजलानि (कर्मधारयः) तेषां कणैः विन्दुभिः, नये जलों की बूंदों से।

यूथिकाजालकानि–यूथिकानां मागधीलतानां जालकानि कोरकाणि (तत्पुरुषः); जूहि लताओं की कलियों को।

निषिञ्चन्–नि+√सिञ्च्+शत्; सींचता हुआ, गीला करता हुआ। मल्लिनाथ ने कहा है कि यहां √ सिञ्च् का अर्थ 'गीला करना' है, इसलिये द्रव-द्रव्य 'जल कणैः' में कारण के अर्थ में तृतीया विभक्ति है; जहां 'सिञ्च्' का अर्थ 'बरसाना' होता है। जहां द्रव-द्रव्य कम होता है-जैसे, 'रेतः सिक्त्वा कुमारीषु' में 'रेतः' कर्म है, इसलिये इसमें द्वितीया विभक्ति हैं

गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लातकर्णोत्पलानाम्–गण्डयोः कपोलयोः स्वेदो घर्मोदकं तस्याअपनयने दूरीकरणे या रूजा पीड़ा तथा क्लान्तानि म्लानानि कर्णयोः (स्यूत्राति, उत्पलानि कमलानि येषां तेषाम्) (बहुव्रीहिः); कपोलों का पसीना पोंछने से मसलने से मुरझा गये हैं कानों में लगे हुये कमल जिनके ऐसे (मुखों के)। रुजा=रज्+अङ् (स्त्रीलिङ्ग)।

छायादानात्–छायाया अनातपस्य दानात्; छाया देने के कारण अर्थात् धूप रोक देने के कारण। मल्लिनाथ ने 'छाया' से कान्त की भी ध्वनि बतलायी है–कामुक को देखकर कामुकी का मुख खिल जाता है।

क्षणपरिचितः–क्षणं परिचितः, क्षणभर के लिये परिचय (जान-पहचान या मेल-जोल) करके।

पुष्पलावीमुखानाम्–पुष्पाणि लनन्ति इति पुष्पलाव्यः पुष्प +√लूञ्+अण्+ङीप् (स्त्रीलिङ्ग), तासां मुखानाम् (तत्पुरुषः), बीनने वाली स्त्रियों के मुखों को (छाया करने से)। 'पुष्पलावी' का शब्दार्थ 'फूल चुनने वाली स्त्री' है, परन्तु यहां माली आदि जाति की स्त्री से भी अभिप्राय हो सकता है।।२७।।

वक्रः पन्था यदपिः भवतः प्रस्थितयोत्तराशां
सौधौत्सङ्गप्रणविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितौऽसि॥२१॥

अन्वयः–यदपि उत्तराशां प्रस्थितस्य भवतः पन्थाः वक्रः' (तदपि) उज्जयिन्याः सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखः मा स्म भूः। तत्र पौराङ्गनानां विद्युद्दाम स्फुररितचकितैः लोलापाङ्गैः लोचने न रमसे यदि, वञ्चितः असि।

अनुवाद–यद्यपि उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करने वाले आपका टेड़ा (पड़ेगा), (फिर भी) उज्जयिनी (नगरी के) महलों की अटारियों के साथ से पराङ्मुख मत होना, वहां (उज्जयिनी में) नगर की सुन्दरियों के बिजली की रेखा की चमक से चकित हुए, चञ्चल चितवन वाले (तुमने) यदि खेल न किया तो तुम (निश्चित ही) ठगे गये।

टिप्पणी–प्रस्थितस्योत्तराशाम्-उत्तराऽऽशादिग् उत्तराशां ता प्रस्थितस्य (भवतः) उत्तर दिशा की ओर जाते हुए (आपका)। उज्जयिनी नगरी निर्विन्ध्या नदी से पूर्व में स्थित थी और अलकापुरी का मार्ग निर्विन्ध्या के पश्चिम में था, इसलिये मेघ के रास्ते को टेढ़ा कहा हैं

सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखः–सुधया लिप्तानि सौधानि, (सुधा+अण्) तेषा मुत्सङ्गेषूपरिभागेषु (वलभीषु) यः प्रणयः परिचय सहवास इति यावत्, तस्य विमुखः (तत्पुरुषः); महलों के ऊपर के भागों (अटारी या छज्जे) के परिचय (=साथ) से विमुख।

मा स्म भूः–√ भू+लङ् मध्यमपुरुष एकवचन; मत होना। मा स्म (अव्वयों) के योग में धातु का लङ् या लङ् लकार में प्रयोग होता है। यहां लोट् लकार के अर्थ में लुङ् का प्रयोग हुआ है।

उज्जयिन्याः–उज्जयिनी के। उज्जयिनी आधुनिक उज्जैन के समीप में सिप्रा नदी के तट पर स्थित थी। संस्कृत साहित्य में इसे अवन्ति देश की राजधानी कहा गया है और इसे कथाओं में प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य की राजधानी कहा गया है। नासिक की गुफाओं के एक शिलालेख में भी इसका नाम आया है। विशाला, अवन्तिका, अवन्ती और पुष्पकरण्डिनी इसके अन्य नाम है। यह सात तीर्थस्थानों में गिनी जाती है–

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।।

विद्युद्दामस्फुरितचकितैः–(लोचनैः)–विद्युदेव दाम रेखा तस्याः स्फुरितानि स्फुरितान स्फुरणनि तेभ्यश्चकितैः;; बिजली की रेखा के चमकने से भौंचक्की हुई (आंखों से)। ०स्फुरण० पाठ में भी वहीं अर्थ होगा।

पौराङ्गनानाम्–पुरे भावाः पौरा नागरिकाः (पुर+अण्), तेषामङ्गनानाम्; नगर-निवासियों की सुन्दर नारियों के।

??? √वञ्च्+क्त; ठगा गया, छोड़ गया, निष्फल। यक्ष का अभिप्राय कि यदि मेघ उज्जयिनी की सुन्दरियों द्वारा चञ्चल नहीं न देखा जायेगा, जो उसका जीवन निष्फल ही रहेगा, क्योंकि वह दर्शनीय वस्तु उज्जयिनी नगरी को नहीं देखेगा।।२८।।

वीचिक्षोभस्मतनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः संनिपत्य,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु॥२९॥

अन्वयः–वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः स्खलितं सुभगं संसर्पन्त्याः दर्शितावर्तनाभेः निर्विन्ध्यायाः पथि संनिपत्य रसाभ्यन्तरः भव। हि स्त्रीणां प्रियेषु विभ्रमः आद्यं प्रणयवचनम्।

अनुवाद–तरङ्गों के चलने से शब्द करते हुये, पक्षियों की पंक्ति रूपी करधनी की लड़ी वाली, लड़खड़ाने के कारण सुन्दर ढंग से बहती हुई, भंवर-रूपी नाभि को दिखलाती हुई, निर्विन्ध्या (नदी) के मार्ग के पहुंच कर जल से पूर्ण मध्य भाग वाले हो जाना क्योंकि स्त्रियों का प्रिय के प्रति हाव-भाव (ही) प्रथम प्रार्थना वचन (होता है)।

टिप्पणी–यहां मेघ और निर्विन्ध्या में नायक-नायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है। जैसे नायिका मेखला के क्वणन, मदमाती चाल और नाभि-प्रदर्शन द्वारा नायक के प्रति अपने प्रणय का प्रकाशन करती है, उसी प्रकार निर्विन्ध्या भी लहरों के लगने से कूजन करते हुये हंस आदि पक्षियों की पंक्ति से, पत्थरों पर लड़खड़ाकर टेढ़े-मार्ग से बहते हुए प्रवाह से और भंवरों के प्रदर्शन से मेघ रूपी नायक के प्रति अपना निवेदन कर रही है, इसलिये मेघ को उसके मार्ग में पहुंचकर रस (जल,शृङ्गार) से पूर्ण अभ्यन्तर (मध्यभाग हृदय) वाला होना चाहिये।

वीचिक्षोभस्तनितः–वीचीनां तरङ्गाणां क्षोभेण चलनेन स्तनितानां कूजितानां पक्षिणां श्रेणि पङ्क्तिरेव काञ्च्या मेखलायाः गुणः यस्यासतस्याः (बहुव्रीहिः); लहरों के चलने से कूजन करनते हुए पक्षियों की पङ्क्ति ही है तगड़ी जिसकी ऐसी निर्विन्ध्या। ०क्वणित० पाठ में भी वही अर्थ होगा।

स्खलितसुभगम्–स्खलितेन सुभगं यथा स्यात्तथा ('ससर्पन्त्याः' का क्रियाविशेषण; लड़खड़ाने से सुन्दर जैसे हो इस प्रकार यहां पर्वत के पथरीले प्रदेश में टेढ़े-मेढ़े मार्ग में बहते प्रवाह में नायिका की मदमाती चाल का आरोप किया गया है।

दर्शितावर्तनाभेः–आवर्त एव नाभिः आवर्तनाभिः (तत्पुरुषः); दर्शिताऽऽवर्तनाभिर्यया तस्याः (बहुव्रीहिः); दिखलाई है आवर्त रूपी भंवर रूपी नाभि जिसने।

निर्विन्ध्यायाः–विन्ध्यान्निर्गता निर्विन्ध्या (क्रान्तादिसमासः) विन्ध्यपर्वत से निकली हुई एक नदी का नाम। 'निर्विन्ध्यायाः' का अन्वय समीपस्थ पद 'पथि' के साथ करना चाहिये–'निर्विन्ध्यायाः' के मार्ग में'.....जैसा कि चरित्रवर्धिनी टीका में किया गया है परन्तु मल्लिनाथ तथा उसके आधार पर आधुनिक टीकाकारों ने 'निर्विन्ध्यायाः' का अन्वय 'संनिपत्य' के साथ किया है और 'पथि' को अलग रखकर इसका अर्थ 'उज्जयिनी के मार्ग में' किया है।

रसाभ्यन्तर–रसोऽभ्यन्तरे मध्ये यस्य सः (बंहुव्रीहिः); जल मध्य में जिसके ऐसे (वनों), अर्थात् निर्विन्ध्या नदी के पास पहुंचकर उसका जल ग्रहण करो। यहां 'रसाभ्यन्तर भव' का यह व्यङ्ग्य अर्थ भी है–'हृदय में रतिभाव धारण करो।' 'रसाभ्यन्तरम्' पाठ में यह पद 'भव' का क्रिया-विशेषण होगा–'रसः अभ्यन्तरे तथा स्यात् तथा भव' अर्थात् जिस प्रकार अन्तर जल हो जाय ऐसे बनो।

आद्यम्–आदौ भवम् आद्यम्, आदि+यत्; प्रारम्भ में होने वाला, पहला।

प्रणयवचनम्–प्रणयस्य प्रार्थनाया वचनम् (तत्पुरुष); प्रार्थना का वचन, रति-सुख की अभिलाषा का व्यञ्जक वाक्य। स्त्रियां पहले हाव-भाव द्वारा ही अपने राग को प्रकट करती है। 'प्रणयि वचनम्' पाठ में अर्थ होगा–'प्रेमपूर्ण वचन'।।२९।।

वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिः जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
काश्यं येन त्वजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥३०॥

अन्वयः–सुभग, वेणीभूतप्रतनुसलिला तटरुहतरुभ्रंशिभिः जीर्णपर्णैः पाण्डुच्छाया, अतीतस्य ते सौभाग्यं विरहावस्था व्यञ्जयन्ती असौ सिन्धुः येन विधिना कार्श्यं त्यजति, स त्वया एव उपपाद्य।

अनुवाद–हे सौभाग्यशाली, वेणी के समान बने हुए क्षीण जल वाली, किनारे पर उगे हुए वृक्षों से गिरने वाले पुराने पत्तों से पीली क्रान्ति वाली, चिरकाल से गये हुए तेरे सौभाग्य को (अपनी) विरह की दशा से प्रकट करने वाली यह (निर्विन्ध्या) नदी जिस उपास से क्षीणता को छोड़ सके, वह (उपाय) तुम्हें ही करना है।

टिप्पणी–वेणीभूप्रतनुसलिला-अवेणी वेणी भूतमिति वेणीभूतं, (वेणी+च्वि+√भू+क्त), प्रतनु क्षीणं सलिलं यस्या सा (बहुव्रीहिः); केशों की चोटी का स्थानीभूत है क्षीण जल जिसका। यहां नदी में विरहिणी नायिका का आरोप किया गया है, इसलिये उसकी पतली जलधारा को वेणी कहा गया है। विरहिणी स्त्रियां प्राचीन समय में केशों की केवल एक वेणी बनाती थीं।

अतीतस्य–अति+√इ+क्त; छोड़कर गया हुआ, दूर (परदेश) गया हुआ।

सिन्धु–नदी। कुछ टीकाकारों ने सिन्धु किसी छोटी नदी का नाम माना है लेकिन मल्लिनाथ तथा दक्षिणावर्त ने इससे अरुचि प्रकट की है।

पाण्डुच्छाया–पाण्डु पीतवर्णा छाया कान्तिर्यस्याः सा (बहुव्रीहिः); पीली हो गयी है कान्ति जिसकी।

तटरुहतरुभ्रंशिभिः–तटयौः रुहन्तीति तटरुहाः (तट+√रुह्+क), ते च तरवो वृक्षाः (कर्मधारयः), तेभ्यो भ्रंश्यन्तीति भ्रंशिनः। √भ्रंश्+णिनि, तः; किनारों पर उगे हुए वृक्षों से गिरने वाले (पत्तों) से।

जीर्णपर्णैः–जीर्णानि च तानि पर्णानि तैः (कर्मधारयः); पुराने पत्तों से।

जीर्ण=√जृ+क्त। पाठान्तर-शीर्ण०, √शृ+क्त। अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा।

सौभाग्यं ते.....व्यञ्जयन्ती–हे सुभग, विरह दशा से तेरे सौभाग्य को प्रकट करती हुई। यदि पति के परदेश जाने पर पत्नी उसका वियोग अनुभव करे और पतिव्रता धर्म का पालन करे तो वह परदेश गये हुए का सौभाग्य ही है। यहां ग्रीष्म के कारण नदी की क्षीण-धारा में एक वेणी का और पुराने पड़कर गिरे हुये पत्तों से पीली हुई धारा में वियोगजन्य विवर्णता का आरोप किया गया है। सुभागस्य भाव सौभाग्यम्=सुभग+ष्यञ्।

व्यञ्जयन्ती=वि+√अञ्ज्+णिच्+शतृ स्त्रीलिङ्ग।

कुछ संस्करणों में 'असावतीतस्य' की जगह 'त्वतीतस्य' और 'तामतीतस्य' पाठ पाये जाते हैं। इनमें से पहले पाठ में वही अर्थ होगा जो स्वीकृत पाठ में है। दूसरे पाठ तामतीतस्य-में अर्थ का बहुत भेद हो जायेगा। श्री काले तथा नन्दरगीकर आदि के संस्करणों में वह दूसरा पाठ ही स्वीकार किया है। इस पाठ में 'ताम्' का संकेत निर्विन्ध्या नदी में है और 'सिन्धुः' से मालवा प्रदेश की किसी छोटी नदी का संकेत है। श्री काले के अनुसार यह चम्बल की सहायक नदी कालीसिन्धु हो सकती है। इस पाठ में अर्थ इस प्रकार होगा-.....'सिन्धु नाम की नदी उस (निर्विन्ध्या) को पार करके गये हुये तेरे सौभाग्य को अपनर विरह-दशा से प्रकट करती हुई जिस उपाय से कृशता छोड़े, वह तुम्हें ही करनी चाहिये।।३०।।

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामुपसर पुरीं श्रीविंशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम्
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।।३१।।

अन्वयः–उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् अवन्तीन् प्राप्य पूर्वोद्दिष्टां श्रीविशालां विशालाम् पुरीम् उपसर, (या) सुचरितफले स्वल्पीभूते गां गतानाम् स्वर्गिणा शेषैः पुण्यैः हृतम् दिवः एकम् कान्तिमत् खण्डम् इव (अस्ति)।

अनुवाद–अवन्ति नाम के जनपद में पहुंचकर, जहां गांवों के बूढ़े लोग उदयन की कथाओं के जानकार हैं, पहले बतलाई गई, सम्पत्ति से विशाल, विशाला (उज्जयिनी) नाम की नगरी के पास जाना, (जो नगरी) मानो, पुण्य कर्मों के फल के कम हो जाने पर पृथ्वी पर आये हुए देवों के बचे खुचे पुण्यों द्वारा लाया हुआ स्वर्ग का एक उज्जवल टुकड़ा है।

टिप्पणी–अवन्तीन्-अवन्ति नाम का जनपद। जनपद वाचक शब्दों का बहुवचन में प्रयोग होता है। (देखिए, पृ० ५३ पर 'दशार्णः' की टिप्पणी)। किन्हीं संस्करणों में 'अवन्तीम्' पाठ भी पाया जाता है।' 'अवन्ती' जनपद का वाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा।

उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्–उदयनस्य कथानां कोविदा विज्ञा ग्रामेषु वृद्धा येषु तान् (अवन्तीन्), उदयन की कथाओं के विज्ञ ग्रामों में वृद्ध जिनमें ऐसे (अवन्ती जनपद) की। उदयन–यह चन्द्रवंशी राजा सहस्रानीक का पुत्र और वत्स देश का राजा था। इसकी राजधानी कौशाम्बी (इलाहाबाद से लगभग ३० मील दूर जमुना के किनारे स्थित आधुनिक कौसम) थी। प्राचीन काल में उदयन के समबन्ध में अनेक कथायें प्रचलित थीं, जो अब भी कथासरित्सागर तथा वृहत्कथामञ्जरी में सुरक्षित हैं। भास के स्वप्नवासदत्ता नाटक की कथावस्तु उदयन के चरित से सम्बद्ध है। एक कथा के अनुसार अवन्ति देश के राजा प्रद्योत ने उदयन को बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया था, जहां उसका प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से प्रेम हो गया था और अवसर मिलने पर वह वासवदत्ता का उज्जयिनी से अपहरण कर लाया था। उदयन का बौद्धसाहित्य में भी उल्लेख मिलता है।

?????? √दिश्+क्त।

श्रीविशालाम्–श्रिया सम्पत्या शोभया वा विशालां महतीम्, सम्पति अथवा शोभा से महान्, सम्पत्ति अथवा शोभा सम्पन्न।

विशालाम्–उज्जयिनी को। उज्जयिनी का एक विशाला भी है। कुछ टीकाकारों ने 'विशालम्' को नाम न मानकर विशेषण माना है। अनके अनुसार दूसरी पङ्क्ति का अन्वय इस प्रकार होगा–श्रीविशालां विशालां पूर्वोद्दिष्टां पुरीमुपसर, अर्थात् सम्पत्ति-सम्पन्न महान् पूर्वोक्त नगरी (उज्जयिनी) जाओ। मनुसर पाठ में भी वही अर्थ होगा। मल्लिनाथ ने 'मनुसर' पाठ माना है

स्वल्पीभूते सुचरितफले–अस्वल्पं स्वल्पं सम्पद्यमानमिति स्वल्पीभूतं तस्मिन्, सुचरितानां पुण्यानां फले स्वर्गादि स्वल्पीभूते सति : पुण्यकर्मों द्वारा अर्जित (स्वर्ग आदि) फल के क्षीण हो जाने पर। यहां भावलक्षण के अर्थ में सप्तमी विभक्ति।

स्वर्गिणां गां गतानां शेषै.....खण्डमेकम्–पृथिवी पर आये हुये स्वर्ग वालों के बचे हुये पुण्यों से लाया हुआ, स्वर्ग का एक बचा-खुचा टुकड़ा हो। हिन्दू-शास्त्र के अनुसार पुण्यकर्मा लोग अपने पुण्यों के प्रभाव से स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं, और स्वर्ग का उपभोग करके कर्मों के प्रभाव से फिर पृथ्वी पर आ जाया करते हैं। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' भगवद्गीता

यहां कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि उज्जयिनी मानो स्वर्ग का ही एक भाग है, जिसे स्वर्ग से लौटने वाले पुण्यशालो जन उपभोग से बचे पुण्यों के प्रभाव से अपने साथ पृथ्वी पर ले आये हैं।३१।

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानाम्
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥३२॥

अन्वयः–यत्र प्रत्युषेषु सारसानाम् पटु मदकलं कूजितं दीर्घीकुर्वन् स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः अङ्गानुकूलः शिप्रावातः प्रार्थनाचाटुकारः प्रियतमः इव स्त्रीणां सुरतग्लानिं हरति।

अनुवादः–जहां प्रभातकाल में सरसों के तीव्र (और) मद से अव्यक्त मधुर कूजन को अधिक बढ़ाता हुआ, खिले हुए कमलों की सुगन्ध के सम्पर्क से सुगन्धित, अङ्गों को सुखकारी, शिप्रा नदी का पवन रति-याचना में मीठे वचन बोलने वाले प्रियतम के समान स्त्रियों की रति-क्रीड़ा की थकान को दूर कर देता है।

टिप्पणी–दीर्घीकुर्वन–अदीर्घं संपद्यमानं कुर्वन्निति दीर्घीकुर्वन; दीर्घ+च्वि+√कृ+शतृ; बढ़ाता हुआ ('शिप्रावातः' का विशेषण) स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः–स्फुटितानि कमलानि स्फुटितकमलानि (कर्मधारयः): तेषामामोदेन सह या मैत्री या कषायः (तत्पुरुषः); खिले हुये कमलों के गन्ध के संसर्ग के कारण सुगन्धित (वात)। मैत्री–मित्रस्य भावः; मित्र+अण्; संसर्ग।

अङ्गानुकूलः–अङ्गानामनुकूलः (षष्ठी तत्पुरुषः); अङ्गों को सुखकारी। ० वातः' का विशेषण।

शिप्रावातः–चाटु करोतीति चाटुकारः (चाटु+√कृ+अण्), प्रार्थनासु चाटुकारः प्रार्थनाचाटुकारः (तत्पुरुष); सुरत की याचना में मीठे वचन बोलने वाला। 'प्रियतमः' का विशेषण । चाटुः=नर्म-वचन, मीठे वचन, खुशामद।

यहां शिप्रावात की प्रियतम से समता की गई है, इसलिये उपमालङ्कार है।।३२।।

हारांस्तारांस्तरलगुटिकान् कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान् मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान् विद्रमाणां च भङ्गान्
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥३३॥

अन्वयः–यस्यां कोटिशः विपणिरचितान् तरलगुटिकान् तारान् हारान् शङ्खशुक्तीः; शष्पश्यामान् उन्मयूखप्ररोहान् मरकतमणीन्, विद्रुमाणां भङ्गान् च दृष्ट्वा सलिलनिधयः तोयमात्रावशेषाः संलक्ष्यन्ते।

अनुवादः–जिस (उज्यियिनी) में करोड़ों की संख्या में बाजारों में फैलाये गये, बहुमूल्य मध्य-मणि वाले सच्चे हारों को, शङ्ख और सीपियों को, तृण के समान हरे और ऊपर की ओर उठती हुई किरणों के अङ्कुरों वाले पन्नों को और मूंगों के टुकड़ों को देखकर, समुद्र केवल जल-मात्र बचे हुए दीखते है।

टिप्पणी–तारान् हारान्-शुद्ध या उज्जवल हारो को, सच्चे मोतियों के हारों को।

तरलगुटिकान्–तरलो मध्यमणिः, तरलभूता गुटिका महारत्नं येषां तान् (बहुव्रीहिः); मध्यमणि बना है महारत्न (बहुमूल्य रत्न) जिनका अर्थात् जिन हारों में मध्यमणि के स्थान में बहुमूल्य रत्न है।

कोटिशः–शङ्खाश्च शुक्तयश्च शङ्खशुक्तयः (द्वन्द्व समासः); ताः; शङ्खों और शुक्तियों को। यहां अन्त में आने वाला शब्द 'शुक्ति' स्त्रीलिङ्ग है, इसलिये 'शङ्खशुक्ति' भी स्त्रीलिङ्ग होगा। द्वन्द्वमास का लिङ्ग बाद में आने वाले शब्द के अनुसार हुआ करता है। द्वितीया बहुवचन का रूप है।

शष्पश्यामान्-शष्पमिव श्यामान् (तत्पुरुषः); हरे तृणके समान श्यामवर्ण के अर्थात् हरे।

उन्मयूखप्ररोहान्–उद्गता मयूखा उन्मयूखाः (प्रादिसमासः) से प्ररोहा अङ्कुरा येषां तान् (बहुवीहिः); उठती किरणें ही हैं अङ्कुर जिनके ऐसे (पत्रों) को। चमकती हुई हरितमणि (पन्ने) में से फूटती हुई किरणों को उसका अङ्कुर कहा गया है।

सलिलनिधयः–सलिलानां निधयः (तत्पुरुषः); जलों के कोष, समुद्र। निधिः–+√धा+कि, जिसमें रखा जाय, कोष।

तोयमात्रावशेषाः–केवलं तोयं तोयमात्रम् तद् अवशेषों येषां तेषां ते (बहुव्रीहिः) केवल जल है शेष जिनका। समुद्रों को रत्नाकर (रत्नों का कोष) कहा जाता है, परन्तु समुद्रों के सब रत्न तो उज्जयिनी के बाजारों में आ गये, इसलिये यह अनुमान किया जा सकता है कि अब सलिल-निधि में केवल जल ही शेष बचा होगा।

यहां उज्जयिनी के अतुल वैभव का वर्णन किया गया है, इसलिये उदात्त अलङ्कार है।।३३।।

प्रद्योतस्यं प्रियदुहितरं वत्सराजोऽपि जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः।।३४।।

अन्वयः–अत्र वत्सराजः प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं जह्रे, अत्र यस्य एव राज्ञः हैमं तालद्रुमवनम्, अभूत्, अत्र किल नलगिरिः दर्पात् स्तम्भम् उत्पाट्य उद्भ्रान्तः, इति यत्र अभिज्ञः आगन्तून्-बन्धून् रमयति।

अनुवाद-'यहां वत्स देश के राजा (उदयन) ने प्रद्योत की प्रिय पुत्री (वासवदत्ता) का अपहरण किया था, यहं उस ही राजा का सोने का ताल के वृक्षों का वन था, (और) सुना जाता है, यहां नलगिरि (नाम के हाथी) ने मद के कारण खम्भा उखाड़कर उद्धत होकर भ्रमण किया था, इस प्रकार जहां (उज्जयिनी में) (कथाओं के) जानकार लोग (दूर देशों से) आये हुए सम्बन्धियों का मनोविनोद करते हैं।

टिप्पणी–प्रद्योतस्य-प्रद्योत की। अवन्ति देश के राजा का नाम। इसका अन्य नाम चण्डमहासेन भी कहा जाता है। कथासरित्सागर के अनुसार प्रद्योत मगध देश के राजा का नाम था, जो पद्मावती का पिता था। प्रद्योत (पज्जुत) का बौद्ध-साहित्य में भी उल्लेख किया गया है।

प्रियदुहितराम्-प्रिया दुहिता प्रियदुहिता (कर्मधारयः) ताम्, प्रिय पुत्री को। यहां 'प्रियदुहितरम्' से वासवदत्ता की ओर संकेत है।

वत्सराज–वत्सानां राजा वत्सराजः (तत्पुरुष), वत्स देश का राजा, उदयन। (पू० मे० श्लोक ३१ की टिप्पणी देखिये)।

जह्रे-√हृ+लिट् अन्यपुरुष एकवचन, आत्मनेद, हरण किया, भगाया।

हैमम्-हेम्नो विकारो हैमम्, हेमन्+अण्, स्वर्णमय अर्थात् सुनहरी वर्ण का।

तालद्रुमवनम्–तालद्रुमाणां वन तालद्रुमवनम् (षष्ठीतत्पुरुषः), ताल वृक्षों का वन।

नलगिरिः–नलगिरि नाम का हाथी-कथा के अनुसार यह हाथी राजा प्रद्योत को इन्द्र ने दिया था। कथासरित्सागर में इस 'नलगिरि' कहा गया है।

आगन्तून्–आगच्छन्तीति आगन्तवः, तान्, आ+√गम्+तुन् (औणादिक प्रत्ययः), नवागन्तुक, अजनबी।

अभिज्ञः–अभिजानातीत्यभिज्ञः कोविदः, अभि+√ज्ञा+क, जानकार, परिचित।।३४।।

जलोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथाः
लक्ष्मीं पश्यन् ललितवनितापादरागाङ्कितेषु।।३५।।

अन्वयः–जालोद्गीर्णैः केशसंस्कारधूपैः उपचितवपुः, बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिः दत्तनृत्योपहारः, कुसुमसुरभिषु ललितवनितापादरागाङ्कितेषु अस्याहर्म्येषु लक्ष्मीं, पश्यन् अध्वखेदं नयेथाः।

अनुवाद–जालियों में से निकलते हुए, केशों के प्रसाधन में प्रयुक्त सुगन्धित द्रव्यों (के धूम) से पुष्ट शरीर वाले (और) मित्र के स्नेह के कारण भवनों के मयूरों द्वारा नृत्य का उपहार दिये गये (तुम) पुष्पों से सुगन्धित (और) सुन्दर नारियों के चरणों के लाक्षारस से चिह्नित, इस (उज्जयिनी) के महलों में शोभा को देखते हुए मार्ग की थकान को दूर करना।

टिप्पणी–जालोद्गीर्णैः–जालेभ्यो गवाक्षेभ्य उद्गीर्णैः (तत्पुरुषः), जालीदार खिड़कियों से निकलते हुए, धूपैः का विशेषण। उद्गीर्ण-उद्+√गृ+क्त

उपचितवपुः–उपचितं पुष्टं वपुः शरीरं यस्य सः (बहुव्रीहिः); पुष्ट है शरीर जिसका ऐसा (मेघ)। मेघ को 'धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः' कहा गया है, इसलिये केशों को वासित करने के लिये प्रयुक्त सुगन्धित द्रव्यों के धुएं से मेघ का शरीर पुष्ट हो जायगा। उपचित=उप+√चि (राशि करना, इकट्ठा करना)+क्त।

केशसंस्कारधूपैः–केशानां संस्कारः तस्य धूपैः सुगन्धितद्रव्यैः (तत्पुरुषः) केशों केशों के सजाने के लिये प्रयुक्त सुगन्धित द्रव्य से धूपैः–पाठ में अर्थ होगा–केशों के संस्कार के धुयें से। भाव वहीं है। प्राचीन काल में स्त्रियां केशों को सुचाने तथा सुगन्धित करने के लिये धूप का प्रयोग करती थीं। कालिदास के अन्य काव्यों में भी इसका उल्लेख हुआ है।

बन्धुप्रीत्या–बन्धौ प्रीत्या, बन्धुरिति या (तत्पुरुष), मित्र के प्रति स्नेह के कारण, अथवा 'मित्र (आया है)' इस हर्ष के कारण। मल्लिनाथ ने दोनों प्रकार से विग्रह किया है।

भवनशिखिभिः–भवनेषु ये शिखिनो मयूरास्तैः (तत्पुरुष); भवनों में (रहने वाले) मयूरों से अर्थात् पालतू मयूरों से। मेघ को देखकर मोर हर्ष के नाच उठते हैं, इसलिये कहा गया है कि मयूर उसे नृत्य का उपहार देंगे।

दत्तनृत्योपहार–दत्तो नृत्यमेवोपहारो यस्मै सः (बहुव्रीहिः) दिया गया है नृत्यरूपी उपहार जिसको। कुछ संस्करणों में 'नृत्य' के स्थान पर 'नृत्त' पाठ है, 'नृत्त' पाठ इस दृष्टि से उत्तम है कि मयूरों में केवल पाद-प्रक्षेप ही स्वाभाविक है, भावाभिनय नहीं। परन्तु पालतू मयूरों में भावाभिनय भी संभव है, इसलिये 'नृत्य' पाठ भी अनुचित नहीं है।

ललितवनितापादरागाङ्कितेषु–ललिताः सुन्दर्यो या वनिता रमण्यस्तासां पादेषु यो रागो लाक्षारसस्तेनाऽङ्कितेषु (तत्पुरुषः)। सुन्दर रमणियों के चरणों में लगे रंग (महावर, मेंहदी) के चिह्न वाले (महलों में)।

अध्वखेदं नयेथाः–अध्वनः खेदः, (तत्पुरुषः); तं नयेथा अपनय; मार्ग की थकान को दूर करना। नयेथाः–√नी+विधिलिङ् मध्यमपुरुष एकवचन आत्मनेपद। पाठान्तर-अध्वखिन्नात्मा, 'अध्वनां खिन्नोऽन्तरात्मा यस्य सः (बहुव्रीहिः), मार्ग (चलने) से दुःखी है हृदय जिसका ऐसा (मेघ)। इस पाठ में श्लोक का अन्वय अगले श्लोक के साथ होगा।

लक्ष्मीं पश्यत्–शोभा को देखते हुए। पाठान्तर–मुक्त्वा (त्यक्त्वा, नीत्वा) खेदम्, थकान को मिटाकर, नीत्वा रात्रिम् रात बिताकर।।३५।।

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः।।३६।।

अन्वयः–भर्तुः कण्ठच्छविः इति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः त्रिभुवनगुरोः चण्डीश्वरस्य पुण्यं धाम, यायाः (यत्र) कुवलयरजोगन्धिभिः गन्धवत्याः तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः गन्धवत्याः मरुद्भिः धूतोद्यानम् (अस्ति)।

अनुवाद–(यह हमारे) स्वामी के कण्ठ की कान्ति के समान कान्ति वाला है, इस कारण (शिव के) सेवकों द्वारा आदरपूर्वक देखा जाता हुआ (तू) तीनों लोकों के स्वामी चण्डीश्वर (शिव के) पवित्र स्थान (महाकाल मन्दिर) में जाना, (जो स्थान) कमलों के पराग से सुगन्धित (तथा) जल-क्रीड़ा में लगी हुई युवतियों की स्नान-सामग्री से तीव्र गन्ध वाले गन्धवती के वायुओं से हिलाए गये बगीचों वाला है।

टिप्पणी–कण्ठच्छवि-कण्ठस्य छविरिव छविः कान्तिर्यस्य सः (बहुव्रीहिः); (स्वामी शिव के) गले के समान वर्ण माला। पौराणिक कथा के अनुसार हालाहल-पान से शिव का गला नीला था। इसलिये शिव के 'नीलकण्ठ', 'कालेकण्ठ' आदि नाम भी है। लोगों को अपने इष्ट के सदृश वस्तुओं के प्रति भी आदर होता है, इसलिये शिव के सेवक नीले मेघ को आदर के साथ देखेंगे।

वीक्ष्यमाणः–शिव का पवित्र स्थान, महाकाल नाम का मन्दिर। उज्जयिनी के समीप :महाकाल' नाम का महादेव जी का प्रसिद्ध मन्दिर है। कादम्बरी में बाण ने भी इसका उल्लेख किया है। 'चण्डी' पार्वती के अनेक नामों से एक है, इसलिये शिव को 'चण्डीश्वर' भी कहा जाता है। कुछ संस्करणों में 'चण्डेश्वरस्य' पाठ है, को चण्डेश्वर-चण्डश्य असौ ईश्वरश्च चण्डेश्वरः, अथवा चाण्डस्य नाम सेवकस्य ईश्वरः-भी कहा जाता है। धाम (धामन्)-नपुंसक संज्ञा, स्थान।

धूतोद्यानम्-धूतानि उद्यानानि यस्य तत (बहुव्रीहिः); हिलाये गये हैं बगीचे जिसके ऐसा (धाम), धुत=√धु+क्त, इसका दूसरा रूप 'धून' भी होता है। चण्डीश्वर का धाम केवल पवित्र ही नहीं है, अपितु उपभोग्य भी है, श्लोक की अन्तिम दो पङ्क्तियों में यही प्रकट किया गया है।

कुवलयरजोगान्धिभिः–कुवलयानां कमलानां रजः परागः कुवलयरजः (तत्पुरुषः) यस्य गन्धः कुवलयरजोगन्धः (तत्यपुरुषः) स एषामस्तीति कुवलयरजोगन्धिनः तैः (मरुद्भिः); कमलों की धूलि के गन्ध वाले। यहां ०गन्ध से 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है, बहुव्रीहि समास नहीं, जैसा कि कुछ टीकाकारों ने लिखा है। बहुव्रीहि समास में 'गन्ध' को 'गन्धि' उत्, पूति, सु और सुरभि पूर्वपद होने पर अथवा अल्प अर्थ में, अथवा उपमान पूर्वपद होने पर होता है। (देखिये, अष्टा० ५, ४.१३५-३७)।

गन्धवत्याः मरुद्भि-गन्धवती नाम की नदी की वायुओं से। गन्धवती उज्जयिनी के सपीम रहने वाली एक छोटी सी नदी है।

तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः–तोयक्रीडासु निरताः तोयक्रीडानिरताः (तत्पुरुषः) ताश्च युवतयः इति तोयक्रीडानिरयतयुवतयः (कर्मधारयः) तासां स्नानेन स्नानोपयुक्तेन गन्धद्रव्येण तिक्तैः सुगन्धितैः (तत्पुरुषः); जल क्रीडा में आसक्त युवतियों के (चन्दन आदि) सुगन्धित द्रव्यों से सुगन्धित हुए। 'मरुद्भिः' का विशेषण यहा मल्लिनाथ आदि टीकाकारों से 'स्नान' का अर्थ-स्नीयतेऽनेनेति स्नानम्, अर्थात् जिससे स्नान किया जाय, इस व्युत्पत्ति के आधार पर के 'कारण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय मान कर-स्नान की सामग्री, चन्दन चूर्ण आदि सुगन्धित द्रव्य किया है।।३६।।

अप्यन्यस्मिञ्जलधर! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्।।३७।।

अन्वयः–जलधर, अन्यस्मिन् काले महाकालम् आसाद्य अपि ते स्थातव्यं यावत् भानुः नयनविषयम् अत्येति। शूलिनः श्लाघनीयां सन्ध्याबलिपटहतां कुर्वन् आमन्द्राणां गर्जितानाम् अविकलं फलं लप्स्यसे।

अनुवाद–हे मेघ, अन्य समय में महाकाल पर पहुंच कर भी तुम्हें (तब तक) ठहर जाना चाहिये जब तक कि सूर्य दृष्टि से ओझल हो, शूलधारी शिव की सन्ध्या की पूजा में नगाड़े का प्रशंसनीय काम करते हुए (अपने) गम्भीर गर्जनों का पूर्ण फल प्राप्त कर लेगें।

टिप्पणी–महाकालम्-महाकाल नाम मन्दिर पर पहुंच कर। उज्जयिनी के समीप स्थित एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान। इस मन्दिर में स्थापित पूर्ति को भी 'कहाकाल' कहा जाता है। और १२ ज्योतिर्लिङ्गों में से एक है।

स्थातव्यं ते-तुम्हें ठहरना चाहिये। 'ते' युष्मत् का षष्ठी एकवचन कर्त्ता कारक के अर्थ विकल्प से षष्ठी विभक्ति।

नयनविषयं यावदत्येति भानुः–जब तक सूर्य दृष्टिपथ को पार करे अर्थात् दृष्टि से ओझल हो। नयनविषयम्-नयनयो विषयः तम् (तत्पुरुष); आंखों की पहुंच। पाठान्तर-अभ्येति इस पाठ में अर्थ होगा-'जब तक सूर्य दृष्टि पथ में आये।' परन्तु यह पाठ उचित नहीं हैं, क्योंकि आगे श्लोक संख्या ४० में कहा गया है कि मेघ उज्जयिनी में रात्रि में अभिसरण करने वाली स्त्रियों को बिजली चमका कर मार्ग दिखलावे। इससे प्रकट है कि मेघ उज्जयिनी के समीप स्थित महाकाल पर सायंकालीन पूजा से पूर्व ही पहुंच सकता था।

सन्ध्याबलिपटहताम्-संध्याया बलिः सन्ध्याबलिः (तत्पुरुष); तत्सम्बन्धी पटहः सन्ध्याबलिपटहस्तस्य कर्म सन्ध्याबलिपटहताम् सांझ ???????? √घ्यै+अङ्, सांझ।

फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्-तू गर्जन का पूरा फल पा लेगा। शिव की पूजा के समय मेघ का गर्जन नगाड़े की ध्वनि के समान प्रतीत होगा। इसलिये ईश्वर के काम आ आने के कारण गम्भीर। अविकलम्-विगताः कलाः यस्मात्तद् विकलं न विकलमविकलम्ः अखण्ड, पूर्ण। लप्स्यसे-√लभ्+लृट् मध्यपुरुष एकवचन, तू पायेगा।।३७।।

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्।।३८।।

अन्वयः–तत्र पादन्यासैः क्वणितरशनाः लीलावधूतैः रत्नच्छायाखचितवलिभिः चामरैः क्लान्तहताःवेश्याः त्वत्तः नखपदसुखान् वर्षाग्रबिन्दून् प्राप्य त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् आमोक्ष्यन्ते।

अनुवाद–यहां सन्ध्या काल में पैरों के रखने से बजी हुई करधनियों वाली, विलासपूर्वक डुलाये जाते हुए और मणियों की कान्ति से व्याप्त हत्थों वाले चंवरों से थके हुए हाथों वाली वेश्यायें तुमसे नख-चिह्नों को सुख देने वाली वर्षा की पहली बूंदों को पाकर तुम पर भौंरों की पङ्क्ति के समान लम्बे कटाक्ष छोड़ेंगी।

टिप्पणी–पादन्यासैः–पादानां चरणानां न्यासैः प्रक्षेपैः (षष्ठीतत्पुरुषः) चरणों के गतिपूर्वक रखने से। पाठान्तर-पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र में अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा।

क्वणितरशना-क्वणिताः रशना मेखला यासां ताः (बहुव्रीहिः); बज रही है तगड़ियां जिनकी ('वेश्या' का विशेषण) क्वणित √क्वण् क्त (कर्त्ता के अर्थ में)।

लीलावधूतैः–लीलया विलासेनाऽवधूतैः चालितैः (तृतीयातत्पुरुषः), विलास के साथ डुलाये गये (चंवरों से)। अवधूत-अव+√धू+क्त।

रत्नच्छायाखचितवलिभिः–रत्नानां छाया कान्तयो रत्नच्छायाः (षष्ठीतत्पुरुषः), ताभिः खचिता व्याप्ता बलयो दण्डा येषां तैः बहुव्रीहिः (हाथ के) रत्नों के कान्ति से व्याप्त हैं मूठें जिनकी ऐसे (चंवरों से)। खचित-√खच्+क्त।

पाठान्तर-'खचित' के स्थान पर 'रचित'। इस पाठ में अर्थ इस प्रकार होगा-रत्नों की कान्तियों से बन गई हैं। वलियां (दण्ड) जिनमें ऐसे (चंवरों से)।

क्लान्तहस्ताः–क्लान्ता हस्ता यासां ताः (बहुव्रीहिः); थक गये हैं हाथ जिनके ऐसी (वेश्यायें)।

वेश्या-वेशे भवा वेश्याः, वेश+यत्; वेश में रहने वाली स्त्रियां। देवदासी के रूप में वेश्यायें मन्दिरों में देवमूर्ति के सामने नाचती थीं तथा मन्दिरों की सेवा में रहती थीं।

नखपदसुखान्–सुखयतीति सुखः सुखकरः, नखानां पदानि नखपदानि (तत्पुरुषः); तेषु सुखान् (तत्पुरुषः), नखों के चिह्नों अर्थात् नाखूनों से हुए घावों में सुख देने वाली (बूंदों) को। कुछ टीकाकों ने इसका अर्थ 'नखपदवत् सुखान्' अर्थात् 'नख क्षत के समान सुखकारी' किया है।

वर्षाग्रबिन्दुन्-वर्षाया अग्रविन्दवो वर्षाग्रविन्दवः (तत्पुरुषः) तान्, वर्षा की पहली बूंदों को। 'प्राप्य' का कर्म। 'बिन्दु' पुल्लिङ्ग शब्द है।

मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्-मधुकराणां श्रेणिः मधुकरश्रेणिः (षष्ठीतत्पुरुषः) तद्वत् दीर्घान् (उपमितसमासः), भ्रमरों की पङ्क्ति के समान लम्बे कटाक्षों को। कटाक्ष (तिरछी चितवन) की प्रायः भ्रमर पङ्क्ति से उपमा दी जाती है।

आमोक्ष्यन्ते-आ+√मुच्+लृट् अन्यपुरुष बहुवचन आत्मनेपद, छोड़ेंगी।

अभिप्राय यह है कि वेश्यायें सुखदायी बूंदें पड़ने पर मेघ को तिरछी चितवन से देखेंगी।।३८।।

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सांध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या।।३९।।

अन्वयः–पश्चात् उच्चैः भुजतरुवनं मण्डलेन अभिलीन नः प्रतिजवजपापुष्परक्तं सान्ध्यं तेजः दधानः भवान्या शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिः (त्वम्) नृत्तारम्भे पशपतेः आर्द्रनागाजिनेच्छां हर।

अनुवाद–बाद में, ऊँचे भुजाओं रूपी वृक्षों के वन को मण्डलाकार रूप में व्याप्त करके ताजे जपा के पुष्प के समान लाल, सन्ध्याकालीन कान्ति को धारण करता हुआ (और) पार्वती द्वारा भय शान्त हुए (अतः) स्थिर नयनों के साथ देखी जाती हुई भक्ति वाला (तू) (ताण्डव) नृत्य के आरम्भ में शिव की गीले हस्ति-चर्म की इच्छा को दूर करना।

टिप्पणी–उच्चैः–(अव्यय), उन्नत, ऊँचा, 'भुजतरुवनम्' का विशेषण।

भुजतरुवनम्-भुजा एव तरवः (कर्मधारयः) तेषां वनम्, भुजा रूपी वृक्षों के वन को। नटराज शिव की बहुत सी भुजायें कल्पित की गई हैं, इसलिये कवि ने शिव की भुजाओं में तरु-वन का आरोप किया है।

मण्डलेन अभिलीनः–वर्तुलाकार के व्याप्त हुआ। यहां टीकाकारों ने 'मण्डल' का अर्थ 'मण्डलाकार' किया है, परन्तु 'मण्डल' का अर्थ आभोग या विस्तार भी हो सकता है। अभिलीन-अभि+ली+क्त (कर्ता के अर्थ में) व्याप्त, छाया हुआ। जिस पर छाया जाय, उसके वाचक शब्द में द्वितीया विभक्ति लगती है।

सांध्यम्-सध्यायां भवं सान्ध्यम्, सन्ध्या+अण्; सन्ध्या समय का, सायंकालीन। हिन्दू-धर्म के अनुसार प्रातः मध्याह्न और सायं तीन संध्याये होती है। परन्तु यहां सन्ध्या का अभिप्राय सायंकाल है। 'सन्ध्या' शब्द को सम्+√ध्यै (चिन्तन करना, ध्यान लगाना) से बना हुआ समझा जाता है।

प्रतिनवजपापुष्परक्तम्-प्रतिनवानि जपापुष्पाणि प्रतिनवजपापुष्पाणि (कर्मधारयः), तद्वद् रक्तं लोहितम् (उपमितसमासः); ताजे जपा-कुसुमों के समान लाल। प्रातः और सायंकाल में सूर्य के प्रकाश से मेघ लाल हो जाते हैं, इसलिए उनकी कान्ति को जपा-पुष्प के समान कहा गया है। जपा जिसे अड़हुल भी कहते हैं, एक लाल पुष्प होता है।

नृत्तारम्भे-नृत्तस्याऽऽरम्भे (तत्पुरुष); नृत्त के आरम्भ में। शिव का सृष्टि-संहार के समय किया जाने वाला नृत्य पुराणों और काव्यों में प्रसिद्ध है; इसे पार्वती के लास्य (कोमल नृत्य) के विरोध में ताण्डव कहा जाता है। शास्त्रकारों ने 'नृत्त' में भेद किया है। ताल और लय से अन्वित हस्त-पाद के सञ्चालन को 'नृत्त' कहा जाता है और भाव की व्यञ्जना करने वाले अङ्ग-संचालन को 'नृत्य'। देखिये, दशरूपक-'अन्यद् भावाश्रयं नृत्य नृत्तं तालल्याश्रमयम्।' यहां 'आरम्भ' का अर्थ कर्म या उद्योग भी हो सकता है। तब 'नृयारम्भे' का अर्थ होगा-'नाच के कर्म में' अर्थात् 'नाच में'।

पशुपतिः–पशूनां पतिः पशुपतिः (तत्पुरुषः); शिव का एक नाम। रुद्र के रूप में शिव को पशुओं का स्वामी कहा जाता है।

आर्द्रनागाजिनेच्छां हर-आर्द्ररुधिरसक्तं यद् गजस्याऽजिनं चर्म तस्येच्छतां हराऽपनय, रुधिर से) भीगी हाथी की खाल की इच्छा को दूर कर। पुराणों की कथा के अनुसार शिव ने गजासुर (हाथी का रूप धारणा किये असुर) का यह वर्णन किया जाता है कि शिव ताण्डव-नृत्य में हाथी की खाल ओढ़ते हैं, जो नृत्य में उसके ऊपर छाया रहती है-मिलाइये, 'क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन सम्भुना।' शिशुपालवध, १/४।

सन्ध्या-काल में लाल हुआ मेघ महाकाल पर छाया होगा तो वह हाथी के चर्म के समान प्रतीत होगा और शिव की रुधिर में भीगी हाथी की खाल धारण करने की इच्छा मेघ से ही पूरी हो जायेगी।

शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम्-(क्रिया विशेषण), शान्त उद्वेगों भयं ययोस्ते (बहुव्रीहिः); शान्तोद्वगों स्तिमिते च नयने यस्मिन् कर्मणि तत्तथा (बहुव्रीहिः) शान्त है भय जिसका ऐसे स्थिर हैं नयन जिसमें इस प्रकार (देखी गई भक्ति वाला)। शिव को गज-चर्म धारण करते देखकर पार्वती भयभीत हो जाती है; परन्तु जब शिव लाल मेघ को ही गज-चर्म समझ लेंगे तो इससे पार्वती का भय शान्त हो जायेगा और वह स्थिर दृष्टि से मेघ की भक्ति को देखेगी।

दृष्टिभक्तिः-दृष्टा भक्तिर्यस्य सः (बहुव्रीहिः), (भवानी द्वारा) देखी गई है भक्ति जिसकी ऐसा (मेघ)। दृष्ट=√दृश्+क्त। भक्ति=√भज्+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग)।

भवान्या-भवस्य पत्नी भवानी तया; भव (शिव) की पत्नी द्वारा। शिव का एक नाम भव भी है, इसलिये पार्वती को भवानी कहा जाता है। भवानी=भव+आनुक्+ङीप्।

यक्ष मेघ से कहता है यदि वह शिव के ताण्डव के प्रारम्भ में लाल-वर्ण होकर शिव की भुजाओं पर फैल जायेगा तो उसकी शिव और पार्वती दोनों के प्रति भक्ति प्रकट हो जायेगी।।३९।।

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषिता तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा च भूर्विक्लवास्ताः॥४०॥

अन्वयः–तत्र नक्तं रमणवसतिं गच्छन्तीनां योषितां सूचिभेद्यैः तमोभिः रुद्धालोके नरपतिपथे कनकनिकषस्निग्धया सौदामन्या उर्वीं दर्शय तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः च मा भूः, ताः विक्लवाः।

अनुवाद–वहां (विशाला में) रात्रि में प्रेमियों के घर जाती हुई स्त्रियों को घने अन्धकार द्वारा रोक लिये गये दृष्टि प्रसार वाले राजमार्ग में कसौटी पर खींची गई स्वर्ण की रेखा के समान उज्जवल विद्युत से भूमि (अर्थात् मार्ग भूमि) दिखलाना और जल वर्षा तथा गर्जन द्वारा वाचाल न होना, (क्योंकि) वे (स्त्रियां) भीरु (होती है)।

टिप्पणी–गच्छन्तीनाम् योषिताम्–जाती हुई स्त्रियों को (मार्ग दिखाओं)। यहां कारक की अविवक्षा में षष्ठी विभक्ति है। योषित् सामान्यता स्त्री या युवति स्त्री को कहते हैं, यहां इससे अभिसारिक का अभिप्राय है। अमरकोश में अभिसारिका की यह परिभाषा की गई है–कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साऽभिसारिका।' गच्छन्ती=√गम्+शतृ+ङीप् (स्त्रीलिङ्ग)।

रमणवसतिम्–रमणानाम् उपपतीनां वसतिः भवनं रमणवसतिः (षष्ठीतत्पुरुषः) ताम्; प्रिय के निवास को (जाती हुई)। 'गच्छन्तीनाम्' का कर्म। रमण=√रम्+ल्युट् (अन)। वसतिः=(स्त्रीलिङ्ग)=√वस्+अति।

रुद्धालोके नरपतिपथे–रुद्धो निरुद्ध आलोको दृष्टिप्रसारदर्शनमिति यावत्, यस्मिन् तस्मिन् (बहुव्रीहिः), नराणां पतिः नरपतिः(तृ त०) तस्य पथि मार्गे (ष० त०); जिनमें दृष्टि की शक्ति अर्थात् दीख पड़ना रोक दिया गया है, ऐसे राजमार्ग में सप्तमी रुद्ध=√रुध्+क्त। आलोक–आलोक्यत इत्यालोकः आ+√लोक+घञ् (भावे); देखना, दर्शन। नरपतिपथ–समास के अन्त में 'पथिन्' का 'पथ' हो जाता है।

सूचिभेद्यैः–भेत्तु शक्य भेद्यम्, √भिद्+ण्यत् सूच्या भेद्यानि सूचिभेद्यानि (तृतीयातत्पुरुषः), तैः ('तमोभिः' का विशेषण) सूई से भेदे जा सकने वाले अर्थात् घने। कवि ख्याति के अनुसार घन अन्धकार की सूचिभेद्यता वर्णित की जाती है।

सौदामन्या–सौदामनी तृतीया एकवचन; बिजली से। 'सौदामनी' शब्द को 'सुदामन्+अण्' से निष्पन्न माना जाता है। बिजली को सौदामनी नाम पड़ने के कारण कदाचित् यह है कि वह सुदामन् (मेघ) में उत्पन्न होती है। मल्लिनाथ ने इसकी व्युत्पत्ति–'सुदाम्नाऽद्रिणैकदिक्सौदामनी' अर्थात् सुदामन् नाम के पर्वत की ओर होने वाली, सौदामनी–की है। वैदिक भाषा में 'मेघ' को 'अद्रि' और 'पर्वत' कहा जाता था।

कनकनिकषस्निग्धया–निकष्यत इति निकष उपलगतरेखा, कनकस्य निकषः कनकनिकषः (षष्ठीतत्पुरुषः), तद्वत् स्निग्धया स्निग्धवर्णया उज्जवला वा; स्वर्ण की (कसौटी पर खींची गई) रेखा के समान चमकीली। मल्लिनाथ ने यहां बहुव्रीहि समास माना है–कनकनिकषस्येव स्निग्धं तेजो यस्यास्तया अर्थात् स्वर्ण की रेखा के समान है तेज जिसका। उसने 'स्निग्ध' का अर्थ तेज या कान्ति किया है। पाठान्तर–०च्छायया। इस पाठ में 'छाया' का अर्थ कान्ति होगा–स्वर्ण की रेखा के समान है कान्ति जिसकी।

तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः–तोयोत्सर्गेण स्तनितेन गर्जितेन च मुखरः शब्दायमानः (तृतीयातत्पुरुष), जल की वर्षा और गर्जन के कारण शब्द करता हुआ।

मा च भूः–'मा अव्यय के योग में लुङ् लकार। पाठान्तर–मा च भूः। अर्थ वही होगा। 'मा च भूः' पाठ अधिक उपयुक्त है क्योंकि मल्लिनाथ ने 'मा स्म भूः' पाठ स्वीकार किया है।॥४०॥

तां कस्याञ्चिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥४१॥

अन्वयः–चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः भवान् सुप्तपारावतायां कस्याञ्चिद् भवनवलभौ रात्रिं नीत्वा सूर्ये दृष्टे भवान् पुनः अपि अध्वशेषं वाहयेत् सुहृदाम् अभ्युतेपार्थकृत्याः न मन्दायन्ते खलु।

अनुवाद–देर तक चमकते रहने के कारण थकी हुई विद्युत रूपी स्त्री वाले आप, सोये हुए कबूतरों वाली किसी मकान की अटारी पर

वह रात बिता कर सूर्य के दीखने पर फिर शेष मार्ग को तय करें, क्योंकि मित्र का काम करना स्वीकार कर लेने वाले (लोग) कमी नहीं करते हैं:

टिप्पणी–भवनलभौ–भवनस्य वलर्भिर्भवनवलभिः (तत्पुरुषः) तस्याम्, घर की अटारी परं 'बलभि' या 'वलभी' का अर्थ अटारी, छज्जा या छत होता है।

सुप्तपारावतायाम्–सुप्ताः पारावताः कपोता यस्यां तस्याम् (बहुव्रीहिः), सोये हुये हैं कबूतर जिसमें।

चिरविलसनात्–चिरं विलसनं चिरविलसनं तस्मात् देर तक चमकने के कारण। यहां 'विलसन' से विकास (काम-केलि) अर्थ भी अभिप्रेत हैं, क्योंकि विद्युत में कलत्र का आरोप किया गया है।

खिन्नविद्युत्कलत्रं–खिन्नं विद्युदेव कलत्रं यस्य सः (बहुव्रीहिः), थक गई है बिजली रूपी पत्नी जिसकी। 'कलत्र' शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

वाहयेत्–√वह, (ले जाना)+णिच्+विधिलिङ्ग अन्यपुरुष एकवचन, तय करें, पार करें, पूरा करें।

अध्वशेषम्–अध्वनो मार्गस्य शेषम् (तत्पुरुषमः), बचे हुये रास्ते को।

मन्दायन्ते–मन्द इवाचरन्ति इति मन्दायन्ते, मन्द+क्यप् (य)+लट् अन्यपुरुष बहुवचन आत्मनेपद, ढीले पड़ते हैं। 'मन्दाम्' 'मन्द' में बनी हुई नामधातु है।

सुहृदाम्–सुहृद्, षष्ठी बहुवचन, मित्रों का। सुहृद् में बहुव्रीहि समास है। शोभनं हृदयं यस्य स सुहृत्। 'मित्र' या 'शत्रु' के अर्थ में 'सु' और 'दुर्' के बाद 'हृदय' हृद' में बदल जाता है।

अभ्युपेतार्थकृत्याः–अभ्युपेता स्वीकृताऽर्थस्य प्रयोजनस्य कृत्या क्रिया यैस्ते (बहुव्रीहिः), स्वीकार कर लिया है काम करना जिन्होंने, अर्थात् जिन्होंने मित्रों का प्रयोजन सिद्ध करना स्वीकार कर लिया है। अभ्युपेत–अभि+उप+√इ+क्त, स्वीकृत, अङ्गीकृत, अङ्गीकृत। कृत्या–कृ+क्यप्+टाप् (स्त्रीलिङ्ग), क्रिया, करना।।41।।

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषिता खण्डितानां
शान्ति नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्त्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः।
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः।।४२।।

अन्वयः–तस्मिन् काले प्रणयिभिः खण्डितानां योषितां नयनसलिलम् शान्ति नेयम् अतः भानोः वर्त्म आशु त्यज। सः अपि नलिन्याः कमलवदनाद् प्रालेयास्त्रं हर्तुं प्रत्यावृत्तः कररुधि त्वयि अनल्यपाभ्यसूयः स्यात्।

अनुवाद–उस समय प्रमियों को खण्डिता नायिकाओं के आंसू शान्त करने होते हैं, इसलिये (तू) सूर्य का रास्ता जल्दी छोड़ देना। वह भी कमलिनी के कमल रूपी मुख के ओस रूपी आंसू पोंछने के लिये लौटकर आया हुआ किरण को रोकने वाले तुझ पर अत्याधिक क्रुद्ध होगा।

टिप्पणी–योषितां खण्डितानाम्–खण्डिता नायिकाओं के। साहित्य शास्त्र में खण्डिता उस नायिका को कहा गया है जिसका पति किसी अन्य स्त्री में आसक्त हो और रात्रि किसी अन्य के घर बितायी हो और प्रातःकाल संभोग चिह्नों से युक्त होकर उसके पास आया हो। दशरूपक में खण्डिता की परिभाषा इस प्रकार की गई है–'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता।'

शान्ति नेयं नयनसलिलम्–नयनसौः सलिलं नयनसलिलम् (षष्ठी तत्पुरुषः); आंखों का जल, आंसू। शान्तिः–(स्त्रीलिङ्ग); √शम्+क्तिन्। नेय–√नी। यत् (कर्म के अर्थ में); जिसे ले जाया जाय; ले जाना चाहिये। 'नी' धातु द्विकर्मक होती है। यहां 'नी' के दो कर्म हैं–(१) शान्तिम्, (२) नयनसलिलम्। मुख्य कर्म 'नयनसलिलम्' में प्रथमा विभक्ति है ओर क्रिया 'नेयम्' के लिङ्ग और वचन मुख्य कर्म के अनुसार हैं; गौण-कर्म 'शान्तिम्' में द्वितीया विभक्ति है।

प्रालेयास्त्रम्–प्रालेयमेवाऽस्त्रम् (कर्मधारय); ओस रूपी आंसू।

कमलवदनात्–कमलमेव वदनं मुखं तस्मात् (कर्मधारयः); कमल रूपी मुख से। यहां कमल रूपी पुष्प को कमलिनी का मुख कहा गया है और पुष्प पर पड़ी ओस को उसके आंसू। पाठान्तर-कमलनयनात्, कमल रूपी नेत्रों से। काव्यों में कमल को कमलिनी का नेत्र भी कहा गया है। मिलाइये, 'पद्मिनी किमु करोति वराकी मीलिताम्बुरुहनेत्रपुटाऽभूत।'

नलिन्या:–नलिनी के। नलिनी, पद्मिनी या कमलिनी उस लता को कहते हैं जिस पर कमल पुष्प उगते हैं। कभी कभी [illegible] या तालाब को भी नलिनी आदि कहा जाता है जिसमें कमल के पुष्प होते हैं। काव्य में सूर्य को नलिनी का वल्लभ कहा जाता

प्रत्यावृत्त-प्रति+आ+√वृत्त+क्त; वापिस आया हुआ।

कररुधि-करं रुणद्धि इति कररुत्, (कर+√रुध+(क्विप्) पस्मिन् कररुधि; हाथ को रोकने वाले पर। यहां 'कर' के दो अर्थ [illegible] किरण, (२) हाथ। यक्ष का अभिप्राय यह है कि यदि मेघ सूर्य की प्रिया कमलिनी के कमलरूपी मुख से ओस रूपी [illegible] के लिये बढ़े हुए उसके किरण रूपी हाथ को रोकेगा तो सूर्य उस पर अत्यधिक कुपित हो जायेगा, इसलिये मेघ को सवेरे [illegible] ही उज्जयिनी से चल देना चाहिये।

अनल्पाभ्यसूय:–नाल्पाऽनल्पाऽभ्यसूया कोपो यस्य स: (बहुव्रीहि:), (तुझ पर) अत्यधिक है कोप जिसका (तुम पर [illegible] अत्यधिक कुपित।।४२।।

गम्भीराया: पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्या: कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि।।४३।।

अन्वय:–गम्भीराया: सरित: प्रसन्ने चेतसि इव पयसि प्रकृतिसुभग: ते छायात्मा अपि प्रवेश लप्स्यते, तस्मात् त्वम् अस्या, कुमुदविश [illegible] चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि धैर्यात् मोघीकर्तुं न अर्हसि।

अनुवाद–गम्भीरा नदी के प्रसन्न हृदय के समान (निर्मल) जल में स्वभाव से सुन्दर तुम्हारा छाया शरीर भी प्रवेश पा लेगा [illegible] तुम्हें इस (गम्भीरा नदी) की कुमुद जैसी धवल, चञ्चल मछलियों की उछाल रूपी चितवनों को (अपनी) धारता के कारण निष्फल नहीं करना चाहिये।

टिप्पणी–गम्भीरया:–गम्भीरा नाम की नदी के। यह भी मालवा की कोई छोटी सी नदी है। यहां 'गम्भीरा' पद से गम्भीर प्रकृति की नायिका की भी व्यञ्जना है।

चेतसि इव प्रसन्ने पयसि–चित्त के समान निर्मल जल में। जैसे नायिका के अनुराग से आह्लादित चित में प्रिय की प्रतिमूर्ति प्रवेश पा लेती है, इसी प्रकार गम्भीरा नदी के स्वच्छ एवं निर्मल जल में मेघ का प्रतिबिम्ब संक्रान्त हो जायेगा। प्रसन्न-प्र+√सद्+क्त (१) निर्मल, (२) आह्लादित।

छायात्मा–छाया चासावात्मा च छायात्मा, (कर्मधारय:), (तेरा) प्रतिबिम्ब रूप। अभिप्राय यह है कि मेघ की परछाईं गम्भीरा नदी के स्वच्छ जल में स्पष्ट दिखलायी देगी।

प्रकृतिसुभग:–प्रकृत्या सुभग: सुन्दर: इति प्रकृतिसुभग: (तृतीयातत्पुरुष:), स्वभाव से ही सुन्दर।

लप्स्यते प्रवेशम्–प्रवेश पा लेगा। लप्स्यते-√लभ्+लृट् अन्पुरुष एकवचन आत्मनेपद। प्रवेश-प्र+√विश्+घञ् (भाववाचक संज्ञा)

कुमुदविदवानि–कुमुदानि कैरवाणि तद्वद् विशदानि (उपमितसमास:) कुमुद के समान धवल। प्रेक्षितानि का विशेषण।

धैर्यात्–धीयस्य भावा धैर्यम्, धीर+ष्यञ् (तद्धितप्रत्यय:), तस्मात्, धीरता के कारण। यहां हेतु के कार्य में पञ्चमी विभक्ति है। यहां 'धैर्य' का अर्थ कठोरता या अरसिकता है। मल्लिनाथ ने अर्थ किया है-'ढीठपन'।

मोघीकर्तुम्–अयोघं मोघं कर्तुमिति मोघीकर्तुम्, मोघ+च्वि+√कृ+तुमुन्, अर्थ करना,। अभिप्राय यह है कि मेघ को गम्भीरा का जल अवश्य पीना चाहिये।

चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि-शफराणां मीनामुद्वर्तनानि अशफरोद्वर्तनानि (षष्ठीतत्पुरुष:), चटुलानि चञ्चलानि शफरोद्वर्तनानि चटुलशफरोद्वर्तनानि (कर्मधारय:), तान्येव प्रेक्षितान्यवलोकनानि (कर्मधारय:) तानि, अथवा चटुला: शफराश्चटुलशफरा: (कर्मधारय:) तेषामुद्वर्तनानि (षष्ठीतत्पुरुष:) तान्येव प्रेक्षितानि (कर्मधारय:)। अनुवाद में पिछली प्रकार से ही विग्रह लिया गया है, परन्तु मल्लिनाथ ने दूसरे प्रकार से विग्रह किया है। समस्त पद का अर्थ इस प्रकार होगा–'शफल नाम की मछलियों की चञ्चल रूपी चितवनों को' पद 'चञ्चल शफर मछलियों की उछाल-रूपी चितवनों को। 'मोघीकर्तम्' का कर्म।

यहां मेघ और गम्भीरा में नायक-नायिका के व्यवहार का आरोप किया गया है।।४३।।

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे! लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहतुं समर्थः॥४४॥

अन्वयः–सखे, प्राप्तवानीरशाखं किञ्चित्करधृतम् इव, मुक्तरोधोनितम्बं नीलं तस्याः सलिलवसनं हृत्वा लम्बामानस्य ते प्रस्थानं कथमपि भावि। ज्ञातास्वादः कः विवृतजघनां विहातुं समर्थः।

अनुवाद–हे मित्र, बेंत की शाखा तक पहुंचे हुए, (अतः) मानो, कु हाथ में पकड़े हुए, तट-रूपी नितम्ब को छोटे हुए, नीले, उस (गम्भीरा) के जल रूपी वस्त्र का हरण करके झुके हुए तेरा प्रसीान कठिनाई से ही होगा। स्वाद जान लेने वाला कौन (पुरुष) उघड़ी जांघ वाली (कामिनी) को छोड़ सकता है।

टिप्पणी–ग्रीष्म ऋतु में नदी का प्रवाह क्षीण हो जाता है और किनारे छोड़ देता है, लेकिन फिर भी झुकी हुई बेंत की शाखायें उसे छुए रहती हैं। इस पर कवि ने कल्पना की है कि मेघ ने अपनर प्रेयसी नदी के वस्त्र को छीन लिया है, इसलिये यह उसके नितम्ब से हट गया है, उसका केवल कुछ ही भाग नदी के हाथों में रह गया है। यहां जल में नील वस्त्र का, वानीर-शाखा में हाथ का और नदी-तट में नितम्ब का आरोप किया गया है।

कञ्चित्करधृतमिव-किञ्चिदीषत् करेण धृतविम गृहीतमिव, मानो हाथ में थोड़ा-सा पकड़ा हुआ। यहां बेंत की शाखा से छुए जाते हुए (जल) में हाथ से पकड़े जाने की उत्प्रेक्षा की गई है।

प्राप्तवानीरशाखम्-प्राप्ता वानीरस्य वेतसविशेषस्य शाखा येन तत् (बहुव्रीहिः); पा ली है बेंत की टहनी जिसने, अर्थात् बेंत को छूते हुए (जल) को।

सलिलवसनं हृत्वा-सलिलमेव वसनम् (कर्मधारयः); जल रूपी वस्त्र का हरण करके। हृत्वा के स्थान पर नीत्वा' पाठ भी मिलता है; परन्तु अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा।

मुक्तरोधोनितम्बम्-मुक्तो रोधस्तटमेव नितम्बो येन तत् (बहुव्रीहिः); छोड़ दिया है। तट-रूपी नितम्ब (=कट भाग) जिसने। 'सलिलवसनम्' का विशेषण। मुक्त-√मुच्+क्त।

लम्बमानस्य-√लम्ब् (लटकाना, झुकना)+शानच्; झुके हुए का। मेघ जल ग्रहण करने के कारण भारी हो जायेगा, इसलिये उसे पाना कठिन हो जायेगा।

ज्ञातांस्वादः-ज्ञातोऽनुभूत आस्वादो रसो येन सः (बहुव्रीहिः); अनुभव कर लिया है रस जिसने।

विवृतजघनाम्-विवृतं जघनं यस्यास्ताम् (बहुव्रीहिः), खुला हुआ है कटि भाग जिसका। यहां जल द्वारा छोड़े गये नदी तट में खुले हुए कटि-भाग का आरोप किया गया है। पाठान्तर-पुलिनजघनाम्-पुलिनं सैकततटमेव जघनं यस्यास्ताम्, बालू का तट ही है कटि-भाग जिसका। यह पाठ पहले पाठ की अपेक्षा सुन्दर है, परन्तु प्रकरणोपयोगी नहीं। विपुलजघनाम्-विपुलं विशालं जघनं यस्याताम्। विवृत-√वृ (ढकना)+क्त, खुला, उघड़ा।

विहातुम्-वि+√हा (छोड़ना)+तुमुन्, छोड़ने को, छोड़ने के लिये॥४४॥

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्॥४५॥

अन्वयः–त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः दन्तिभिः स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं पीयमानः काननोदुम्बराणां परिणमयिता शीतः वायुः देवपूर्वं गिरिम् उपजिगमिषोः ते नीचैः वास्यति।

अनुवाद–तेरे बरसने से फूली हुई पृथ्वी की गन्ध के संसर्ग से सुन्दर हाथियों द्वारा नाक के छिद्रों में शब्द के साथ सुन्दर रूप में पीया जाता हुआ, वन के गूलरों को पकाने वाला, शीतल वायु देवगिरि के समीप जाने के इच्छुक तेरे नीचे बहेगा

टिप्पणी–त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपकैरम्यः–निष्यन्द्यत इति निष्यन्दः निः√स्यन्द्+घञ् (भावे), तव निष्यन्द इति त्वन्निष्यन्दः (षष्ठीतत्पुरुषः), तेनोच्छ्वसिता वसुधा (कर्मधारयः), तस्या गन्धस्य सम्पर्कः (षष्ठीतत्पुरुषः), तेन रम्यः (तृतीयतत्पुरुषः), तेरे बरसने

में उसांस लेती हुई (अर्थात फूली हुई) पृथ्वी की गन्ध के संसर्ग से सुन्दर मल्लिनाथ ने 'रम्य' का अर्थ सुरभि अर्थात् सुगन्धित किया है। उच्छ्वसित-उत्+√श्वस् (सांस) लेना+क्त, ऊपर को सांस लेते हुआ, फुला हुआ।

स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम्-('पीयमानः का क्रियाविशेषण), स्रोतोसोनासिकाया रन्ध्राणि छिद्राणि स्रोतोरन्ध्राणि (षष्ठीतत्पुरुषः) ष्वनितं शब्दस्तेन सुभगं यथा स्यात्था (पीयमानः), नासिका (सूंड) के छिद्रों में ध्वनि के कारण सुन्दर जैसे लगे इस प्रकार पीया जाता हुआ)। 'स्रोतम्' का अर्थ 'इन्द्रिय' भी होता है परन्तु यहां विशेष इन्द्रिय नासिका से अभिप्राय है। हाथी वर्षा से उठने वाली पृथ्वी की भीना गन्ध के लोभ से वायु को अपने अन्दर ले रहे होंगे।

उपजिगमिषोः-समीप जाने की इच्छा करने वाले का। उप+√गम्+सन्+उ, षष्ठी एकवचन पुंल्लिङ्ग।

देवपूर्णं गिरिम्-देवगिरि को। संस्कृत-काव्यों में नाम को इस प्रकार कहने का विलक्षण ढङ्ग है। देखिये, मुनिरित मुहुः केवल गीतमृद्धः' अभिज्ञानशा० २/१४, 'हिरण्यपूर्वं कशिपुद्रु प्रच्क्ष्यते' १/४२। प्रो० विल्सन का विचार है कि यह देवगिरि आधुनिक देवगढ़ है जो बेतवा नदी से दक्षिण में मालवा के केन्द्र में स्थित है। डा० फ्लीट के अनुसार यह देवगढ़ गांव है जो झांसी से दक्षिण पश्चिम दिशा में लगभग 60 मील की दूरी पर स्थित है।

परिणमयिता-परि+नम्+णिच्+तृच्: पकाने वाला

काननोदुम्बराणाम्-काननेषूदुम्बराः काननोदुम्बराः (तत्पुरुषः) तेषाम्: जंगलों के उदुम्बरों (=गूलरों) का ॥४५॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनां
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः॥४६॥

अन्वयः-पुष्पमेघीकृतात्मा भवान् व्योमगङ्गजलार्द्रैः पुष्पासारैः तत्र नियतवसतिं स्कन्दं स्नपयतु, तत् हि वासवीनां चमूनां रक्षाहेतोः नवशशिभृता हुतवहमुखे संभृतम् अत्यादित्यं तेजः।

अनुवाद-अपने आपको पुष्पों का मेघ बनाये आप आकाशगङ्गा के जलों से गीली पुष्पों की धारा-वृष्टियों से वहां देवगिरि में नित्य रहने वाले स्कन्द को स्नान करायें: क्योंकि वह इन्द्र की सेनाओं की रक्षा के लिये नवीन चन्द्रमा को धारण करने वाले शिव के अग्नि के मुख में स्थापित किया हुआ, सूर्य का भी अतिक्रमण करने वाला, तेज है।

टिप्पणी-तत्र नियतवसतिम्-तत्र देवगिरि नियता निश्चिता वसतिर्वासो यस्य तम् (बहुव्रीहिः), वहां निश्चित है निवास जिसका अर्थात् जो हमेशा देवगिरि में रहता है। देवगिरि में कार्त्तिकेय का मन्दिर है।

पुष्पमेघीकृतात्मा-अपुष्पमेघः पुष्पमेघः कृत इति पुष्पमेघीकृतः पुष्पमेघःच्वि+√कृ+क्त, पुष्पमेघीकृत आत्मा येन सः (बहुव्रीहिः); पुष्पों को मेघ बना लिया आत्मा (=स्वयं को)। जिसने। पहले श्लोक संख्या ६ में मेघ को 'कामरूप' (इच्छानुसार रूप धारण करने वाला) कहा गया है, इसलिये वह स्वयं को पुष्पों की वर्षा करने वाले मेघ के रूप में भी परिणत कर सकता था।

पुष्पासारैः-पुष्पाणामासारैधरिवृष्टिभिः (षष्ठीतत्पुरुषः); पुष्पों की धाराओं की वर्षाओं से। आसारैः-(पुल्लिङ्ग), धारा-वृष्टि।

स्नपयतु-√स्ना+णिच्+लोट् अन्यपुरुष एकवचन; स्नान कराये।

व्योमगङ्गाजलार्द्रैः-व्याप्ति गङ्गा व्योमगङ्गा, तस्याः जलेनाऽऽर्द्रैः (तत्पुरुषः) आकाश में स्थित गङ्गा के जल से भीगे हुये (व्यापकः का विशेषण)। आकाश की गङ्गा भूतल और पाताल लोकों में स्थित मानी जाती है, इसलिए गङ्गा को 'त्रिपथगा' भी कहते हैं।

नवशिभृता-शशोऽस्यास्तीति शशी चन्द्रः, नवः शशी नवशशी (कर्मधारयः), तं बिभर्तीति नवशशिभृत् तेन, नभर्शाशन्+सि+टा तृतीया एकवचन; बाल चन्द्र को धारण करने वाले (शिव द्वारा)। पारौणिक आख्यान के अनुसार शिव हलाहल विष के प्रभाव को शान्त रखने के लिये माथे पर चन्द्रमा को धारण किये रहते हैं। इसलिये शिव के 'चन्द्रमौलि' आदि नाम है।

वासवीनां चमूनाम्-वासवस्येमा वासव्यस्तासां चमूनाम्:; इन्द्र सम्बन्धी सेनाओं की। वासवी-वासव+अण्-ङीप् (स्त्रीलिङ्ग इन्द्र की)

अत्यादित्यम्-आदित्यमक्रान्मत्यादित्यम् (क्रान्तादिसमास); सूर्य को अतिक्रमण किया हुआ, सूर्य से बढ़कर। 'तेजः' का विशेषण

हूतवहमुखे संभृतम्-अग्नि के मुख में रक्खा गया। 'तेजः' का विशेषण। संभृत-सम्+√भृ+क्त। हुतवह वहतीति वह हुतम्=वह हुतवहः, आहुति दिये हुये को ले जाने वाला। ऐसा विश्वास किया जाता है कि किसी देवता के उद्देश्य से जो आहुति अग्नि में डाली जाती है, उसे अग्नि उस ही देवता के पास पहुंचा देता है। इसलिये अग्नि को 'देवों का मुख' या 'देवों का दूत' कहा जाता है।

अग्नि से कुमार जन्म की कथा 'कुमारसम्भव' के सर्ग १ और १० में दी गई है। तारकासुर ने, तप के प्रभाव से यह वर प्राप्त करके कि उसे केवल सात वर्ष का बालक ही मार सकता है, देवों का उत्पीड़न प्रारम्भ कर दिया। इस पर देवों ने शिव और पार्वती का विवाह कराया और शिव पार्वती के पुत्र ने, जिसे कुमार, स्कन्द, कार्तिकेय, गुह, षडानन, शरजन्मा आदि नामों से भी पुकारा जाता है, देवों की सेना का सेनापति बनकर तारकासुर का वध किया। कुमार को अग्नि का पुत्र भी कहा जाता है, इसलिये उसके 'अग्निभू' और 'पावक' आदि नाम हैं। जब शिव-पार्वती के पुत्र होने में विलम्ब हुआ तो देवों ने अग्नि को कपोत का रूप धारण करके भेजा। अग्नि ने अपने मुख में शिव के 'स्कन्न' वीर्य को धारण किया; परन्तु उसे सहन न कर सका, अतः उसने उस तेज को गङ्गा में डाल दिया। गङ्गा भी सहन न कर सकी। और उसने उसे सरकण्डो (शरों) में डाल दिया। वहां कुमार का जन्म हुआ। जन्म होने के बाद छः कृत्तिकाओं ने उसका पालन किया। इसलिये कुमार को कार्तिकेय या षाण्मातुर कहा जाता है।।४६।।

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्राप्ति कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः।।४७।।

अन्वयः–यस्य ज्योतिर्लेखावलयि गलितं बर्हं भवानी पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति, हरशशिरुचा पावकेस्तं धौतापाङ्गं तं मयूरं पश्चात् अद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैः नर्तयेथाः।

अनुवाद–जिस (मयूर) के कान्ति की रेखाओं के मण्डल वाले, गिरे हुए पंख को पार्वती पुत्र के स्नेह से कमल की पंखुड़ी को प्राप्त कराते हुए कान में लगाती है, शिव के चन्द्रमा की कान्ति से धुले हुए नेत्र-प्रान्तों वाले उस मयूर को बार में पर्वत में प्रवेश से बढ़े हुए गर्जनों से नचाना।

टिप्पणी–ज्योतिर्लेखावलयि-ज्योतिषो लेखा ज्योतिर्लेखाः (षष्ठीतत्पुरुषः), तासां वयं ज्योतिर्लेखावलयम् (षष्ठीतत्पुरुषः) तदस्मिन्नस्तीति ज्योतिर्लेखावलयि, ०वलय+इनि (तद्धितप्रत्ययः), कान्ति की रेखाओं के वलय वाले। मयेर के पंख के छोर पर चंदोया (चन्द्रक) होता है, जिसमें अनेक रंगों की रेखाओं के दायरे बने रहते हैं, उन्हीं को यहां 'वलय' कहा गया है।

कुवलयदलप्रापि-मल्लिनाथ ने इसका दो तरह से अर्थ किया है–(१) 'करोति' का क्रिया विशेषण, कुवलयस्य दलं कुवलयदलं तत्प्रापि यथा स्यात्तथा, पंख को इस प्राकर कान में लगाती है जिस प्रकार वह (कान में लगे) कमलदल से मिल जाय, अर्थात् कमल-दल के साथ कान में लगाती है। (२) 'कर्णे' का विशेषण, कुवलयदल प्राप्नोतीति कुसलयदलप्राप्, ०दल+प्र+√आप्+क्विप्, तस्मिन्, कुवलय दल को प्राप्त करने वाले (कान में)। पाठान्तर-कुवलयदलक्षेपि-कमल दल को तिरस्कृत करने वाला, ०यर्धि, कमल-दल से होड़ करने वाला। कुवलयपदप्रापि-कुवलय-दल स्थान पा लेने वाला। इन पाठों में यह 'बर्हम्' का विशेषण होगा।

धौतापाङ्गम्–धौतौ अपाङ्गौ तस्य तम् (बहुव्रीहिः), शिव के चन्द्रमा की कान्ति द्वारा धुले हैं, नेत्र प्रान्त जिसके। पुत्र-प्रेम के कारण शिव स्कन्द के मयूर की ओर देखेंगे, इससे मयूर की आंखों के कोने और भी धवल हो जायेंगे। मयूर के नेत्र-प्रान्त स्वभाव से भी धवल होते हैं, इसलिये मयूर को 'शुक्लापाङ्ग' कहा जाता है।

पावकेः–पावकस्याऽपत्यं पुमान् पावकिः, (पावक+घञ्, स्कन्दस्तस्य, का। पौराणिक कथा के अनुसार स्कन्द का अग्नि से जन्म हुआ था; इसलिये उसे 'पावक' और 'अग्निभू' भी कहा जाता है। स्कन्द का वाहन मयूर माना जाता है। पाठान्तर-आप्याययेः-आ+√प्याय् विधिलिङ् मध्यमपुरुष एकवचन (जल-बिन्दुओं से) तृप्त करना।

अद्रिग्रहण गुरुभिः–'गर्जितैः' का विशेषण। अद्रेर्ग्रहणम् (षष्ठीतत्पुरुषः) तेन गुरुभिरधिकैः, पर्वत में संक्रमण के कारण (प्रतिध्वनि से) बढ़े हुए।

नर्तयेथाः–√नृत् (नाचना)+णिच्+विधिलिङ् आत्मनेपद मध्यमपुरुष एकवचन, नचाना।।४७।।

आराध्यैनं शरवणभरवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
व्यालम्बेथा सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्।।४८।।

अन्वयः–एनं शरवणं देवम् आराध्य वीणिभिः सिद्धद्वन्द्वैः जलकणभयात् मुक्तमार्गः उल्लङ्घिताध्वा सुरभितनयालम्भजां भुवि स्रोतोमूर्त्या परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिं मानयिष्यन् व्यालम्बेथाः।

अनुवाद–इस सरकाण्डों में उत्पन्न (स्कन्द) देव की आराधना करके, वीणाधारी सिद्धों के युगलों द्वारा पार की बूंद से डर से छोड़े गये मार्ग वाले (तुम) (कुछ) रास्ता पार करके सुरभि की पुत्रियों (गायों) की बलि से उत्पन्न पृथ्वी पर नदी के रूप में परिवर्तित हुई, रन्तिदेव की कीर्ति का आदर करते हुए झुक जाए।

टिप्पणी–एनम्–'एतद्' या 'इदम्' का पुंल्लिग द्वितीया एकवचन; इसको, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका हो, इसका फिर उल्लेख करने में 'इदम्' और 'एतद्' के स्थान में 'एनत्' का प्रयोग किया जाता है।

शरवणभवम्–शराणां वनं शरवणं तत्र भवो जन्म यस्य तम् (बहुव्रीहिः) सरकण्डों के वन में जिसका जन्म हुआ हो (स्कन्द, पृ० ४७ की टिप्पणी देखिये)।

उल्लङ्घिताध्वा–उल्लङ्घितोऽतिक्रान्तोऽध्वा मार्गो येन सः (बहुव्रीहिः); पार कर लिया है मार्ग जिसने, अर्थात् कुछ दूर चलकर।

सिद्धद्वन्दैः–सिद्धानां देवयोनिविशेषाणां द्वन्द्वानि युगलानि तैः; सिद्ध नामक देवों के जोड़ों द्वारा।

वीणिभिः–वीणा एषां सन्तीति वीणीनि तैः; वीणा वाले, वीणाधारी। वीणा+इनि=वीणिन्।

मुक्तमार्ग–मुक्तों मार्गो यस्य सः (बहुव्रीहिः); छोड़ दिया गया है रास्ता जिसका। मुक्त=√मुच्+क्त। भगवान् स्कन्द की पूजा के लिये आये हुए वीणाधारी सिद्धों के युगल वीणा के तार टूट जाने के डर से मेघ का मार्ग छोड़ देंगे। पाठान्तर दत्तमार्गः दत्तः मार्गः येन है रास्ता जिसको। भाव वही है।

व्यालम्बेथाः–वि+आ+√लम्ब् (लटकाना, झुकना)+विधिलिङ् मध्यमपुरुष एकवचन आत्मनेद, झुक जाना।

सुरभितनयालम्भजाम्–सुरभेस्तनयाः सुरभितनया गावस्तासाम् आलम्भादुपहाराज्जायत इति सुरभितनयालम्भजा ताम्, सुरभि की पुत्रियों के उपहार से उत्पन्न (कीर्ति) को। सुरभि स्वर्ग की गौर कामधेनु का नाम है, इसलिये 'सुरभितनया' का अभिप्राय गौ है। पौराणिक कथा के अनुसार रन्तिदेव ने गवालम्भ नामक यज्ञ में इतनी गोओं की बलि दी थी कि उनके रुधिर की नदी बहने लगा और वही 'चर्मण्वती' नदी बन गई। चर्मण्वती आधुनिक चम्बल नदी है।

मानयिष्यन्–√मन्+णिच्+शतृ (भविष्य अर्थ में), मान करते हुए, आदर करते हुए।

स्रोतोमूर्ल्या भुवि परिणताम्–पृथ्वी पर नदी के रूप में परिवर्तित हुई। कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि चर्मण्वती नदी, मानो, रन्तिदेव की कीर्ति है जो नदी के रूप में परिणत हो गई है। स्रोतोमूर्ल्या–स्रोतसो नद्या मूर्तिराकार इति स्रोतोमूर्तिः (षष्ठीतत्पुरुषः), तया; नदी के आकार में। परिणत–परि+√नम्+क्त, परिवर्तित।

रन्तिदेवस्य–रन्तिदेव नामक राजा की। रन्तिदेव संस्कृति का छोटा पुत्र और दशपुर का राजा था। महाभारत के अनुसार यह अत्यधिक उदार, धनी एवं यज्ञशील राजा था। उसने गवालम्भ यज्ञ में सहस्रों गायों की बलि दी थी।।४८।।

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टि–
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्।।४९।।

अन्वयः–गगनगतयः शार्ङ्गिणः वर्णचौरे त्वयि जलम् आदातुम् अवनते पृथुम् अपि दूरभावत् तनुं तस्याः सिन्धोः प्रवाहम् एकं स्थूलमध्येन्द्रनीलं भुवः मुक्तागुणम् इव नूनं दृष्टीः आवर्ज्य प्रेक्षिष्यन्ते।

अनुवाद–आकाश-चारी (देव) कृष्ण की कान्ति के चोर तेरे (चर्मण्वती का) जल लेने के लिये झुक जाने पर विशाल होते हुए भी दूर होने के कारण क्षीण उस नदी के प्रवाह को, मानो, एक (लड़ी वाले), मध्य में मोटी इन्द्रनील मणि वाले, पृथ्वी के मोतियों के हार को, सचमुच दृष्टि जमाकर देखेंगे।

टिप्पणी–शार्ङ्गिणो वर्णचौरे–शार्ङ्ग धनुरस्यास्तीति शार्ङ्गी तस्य, वर्णस्य कान्त्याश्चौरे (षष्ठी तत्पुरुषः), शार्ङ्गधारी (कृष्ण) के रंग को चुराने वाले, अर्थात् कृष्ण के समान (काले) रंग वाले। शार्ङ्गिन्=शार्ङ्ग+इनि। कृष्ण के धनुष का नाम शार्ङ्ग है। 'शार्ङ्ग' 'शृङ्ग' से से निष्पन्न है।

गगनगतयः–गगने गतिर्गमन येषां ते (बहुव्रीहिः) आकाश में जिनकी गति है, जो आकाश में चल सकते हैं, आकाशचारी (सिद्ध, गन्धर्व आदि) देव। ऐसा विश्वास किया जाता है कि देव आकाश में रहते हैं।

ननम–(अव्यय), सचमुच, निस्संदेह।

आवर्ज्य दृष्टो–आंखे गड़ाकर, दृष्टि एक जगह जमाकर। आवर्ज्य=आ+√वृज+णिच्+ल्यप्। दृष्टी:–दृष्टि द्वितीया बहुवचन √दृश्+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग)।

एकं मुक्तागुणमिव भुव स्थूलमध्येन्द्रनीम्–मानो, पृथ्वी के एक लड़ी वाले मोतियों से हार को, जिसमें मध्यमणि मोटी इन्द्रनील मणि हो। स्थूल।

मध्येन्द्रनीलम्-स्थूलो मध्यो मध्यवर्ती इन्द्रनीलो यस्य तम् (बहुव्रीहि:), मोटा है, मध्यवर्ती इन्द्रनील जिसमें। यहां कतव ने उत्प्रेक्षा की है कि जब आकाशचारी काले मेघ में छाये हुए चर्मण्यवती के धवल प्रवाह को देखेंगे तो वह उन्हें पृथ्वी का मोतियों का हार प्रतीत होगा, जिसमें बीच में इन्द्रनीज मणि पिरोया हुआ हो।

यहां नदी के प्रवाह में पृथ्वी का मुक्ताहार होने की संभावना की गई है, इसलिये उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।।४९।।

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्।।५०।।

अन्वय:–ताम् उत्तीर्य आत्मबिम्बं परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां पक्ष्मोत्क्षेपात् उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणां कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषां दशपुरवधूनेत्र कौतूहलानां आत्मबिम्बं पात्रीकुर्वन् व्रज।

अनुवाद–उस (चर्मचण्वती) को पार करके अपने स्वरूप को दशपुर की स्त्रियों के नेत्रों के कौतूहल का पात्र बनाते हुये जाना जिन (नेत्र-कौतूहलों) में भौं-रूपी लताओं का विलास परिचित है, जिनमें पलकों को ऊपर की ओर उठाने के कारण काली-चितली कान्तियां ऊपर फैल रहीं है और जो कुन्द-पुष्प के हिलने-डुलने का अनुसरण करने वाले भौंरों की शोभा को चुराने वाले हैं।

टिप्पणी–परिचितभ्रूलविभ्रमाणम्–भ्रूव एव लता भ्रूलतास्तासां विभ्रमा विलास:, परिचिता भ्रूलताविभ्रमा येषु तेषाम् (बहुव्रीहि:), परिचित है भौ-रूपी लताओं का विकास जिसमें, अर्थात् लताओं जैसी भौंओं के संचालन से युक्त। ०नेत्रकौतूहलानाम् का विशेषण।

उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्-उपर्युर्ध्व विलसन्त्य: स्फुरन्त्य: कृष्णाश्च ता: शाराश्च कृष्णशारा: (कर्मधारय:), प्रभा: येषां तेषाम् (बहुव्रीहि), ऊपर चमक रही हैं काली और चितली कान्तियां जिनकी ऐसे (नेत्र-कौतुहल)। 'शार' का अर्थ चितला-काला, धवल और लाल-होता है, इसलिये शार में कृष्ण का अन्तर्भाव हो जाता है। यहां काले रंग की प्रधानता प्रकट के लिये ही 'कृष्ण' पद रखा गया है।

कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम्-कुन्दानां क्षेपा: (तत्पुरुष:), तानुगच्छन्तीति कुन्दक्षेपानुगास्ते च मधुकरा: (कर्मधारय:), तेषां श्रियं मुष्णन्तीति कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषस्तेषाम्, कुन्दपुष्पों के हिलने के साथ-साथ चलते हुये भौरों की शोभा को चुराने वाले (नेत्र-कौतुहल)। कुन्द का पुष्प धवल होता है। इसलिये कौतुहल में चञ्चल नेत्र का गोलक, जो चारों ओर धवल और बीच में काला होता है, ऐसा प्रतीत होता है जैसा हवा में हिलते-डूबते हुये कुन्द-पुष्प के साथ-साथ चलता हुआ भौंरो। अनुग-अनु+√गम्+ड (अ), साथ चलने वाला, अनुसरण करने वाला। श्रीमुष-री+√मुष्+क्विन्, शोभा चुराने वाला, समान शोभा वाला।

आत्मविश्वास-आत्मन्: स्वस्य बिम्बं मूर्तिम् (षष्ठीतत्पुरुष), अपने शरीर शतृ पात्र बनाते हुये, विषय बनाते हुये।

दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्-दशपुरस्य वध्व: स्त्रियों दशपुरवध्व: दशपुरवध्व: (षष्ठीतत्पुरुष:), तासां नेत्राणि दशपुरवधूनेत्राणि तेषां कौतुहलानाम् (षष्ठीतत्पुरुष:) दशपुर की स्त्रियों के नयनों के कौतूहलों का। अभिप्राय यह है कि जब मेघ चर्मण्वती नदी को पार करके दशपुर नगर के ऊपर से जायेगा तो वहां की नवयुवतियों मेघ को चंचल नेत्रों से अभिलाषा के साथ देखेंगी। दशपुर रन्तिदेव की राजधानी थी। दशपुर की स्थिति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। सम्भवत: यह पश्चिमी मालवा में स्थित आधुनिक मन्दसौर या दसोर है।।५०।।

ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमान:
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथा:।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि।।५१।।

अन्वयः–अथ ब्रह्मावर्तं जनपदं छायया गाहमानः क्षत्रप्रधनपिशुनं तत् कौरवं क्षेत्रं भजेथाः। तत्र गाण्डीवधन्वा शितशरशतै राजन्या मुखानि, त्वम् धारापातैः कमलानि इव अभ्यवर्षत्।

अनुवाद–तदनन्तर ब्रह्मावर्त नामक जनपद का (अपनी) छाया से अवगाहन करते हुए (तुम) क्षत्रियों के युद्ध का सूचक कुरुक्षेत्र का सेवन करना, जहां गाण्डीव-धनुर्धारी (अर्जुन) ने तीक्ष्ण बाणों से क्षत्रियों के मुखों पर, धारावृष्टि से कमलों पर तुम्हारे समान वर्षा की थी।

टिप्पणी–ब्रह्मावर्तम्–प्राचीनकाल में ब्रह्मावर्त उत्तरीय भारत का प्रसिद्ध भू-भाग था। मनुस्मृति के अनुसार यह सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच स्थित था। ('सरस्वतीदृषद्वन्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।।' मनु० २, १७) और कुरुक्षेत्र इसके समीप में स्थित था। परन्तु कालिदास ने कुरुक्षेत्र को ब्रह्मावर्त में सम्मिलित माना है।

जनपदम्–जननां पदं जनपदम्, जन (कबीले) का निवासस्थान, देश। प्राचीन काल में एक कबीला (जन) जिस भू-भाग में रहता था उसे जनपद कहते थे। इसलिये 'जनपद' का अर्थ देश या राष्ट्र है। नगर के विरोध में ग्रामीण क्षेत्र को भी जनपद कहा जाता है (देखिये, पू० मे० १६, पृ० ३६)।

छायया गाहमानः–परछाई से अवगाहन करते हुए। यहां टीकाकारों ने लिखा है–ब्रह्मावर्त पूज्य देश है, मेघ को उसका साक्षात् अवगाहन नहीं करना चाहिये, इसलिये कवि ने छाया द्वारा अवगाहन करने का उपदेश दिया है। वस्तुतः मेघ किसी प्रदेश की भूमि का अपनी छाया से ही स्पर्श कर सकता है।

क्षत्रप्रधनपिशुनम्–क्षणानां प्रधनं क्षत्रप्रधनं तस्य पिशुनं सूचकम्, क्षत्रियों के युद्ध का सूचक। कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध में मरे गये पुरुषों के रुधिर से वहां की भूमि अब भी लाल है, इसलिये उसे युद्ध के चिह्नों से युक्त कहा गया है।

कौरवं क्षेत्रम्–कुरूणमिदं कौरवं क्षेत्रम्, कुरुओं के प्रदेश को, कुरुक्षेत्र को। 'भजेथाः' का कर्म। कौरव-कुरु+ष्ण (अ)। कुरुक्षेत्र थानेसर से दक्षिण पूर्व में स्थित प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यहा सूर्यकुण्ड या ब्रह्मसर नाम का तालाब है, जिस पर सूर्यग्रहण के अवसर पर धार्मिक मेला लगता है। कहा जाता है कि महाभारत का युद्ध इसी क्षेत्र में हुआ था। कुरुक्षेत्र को शतपथ-ब्राह्मण में भी धर्मक्षेत्र कहा गया है।

भजेथाः-√भज् (सेवन करना)+विधिलिङ्, मध्यमपुरुष, एकवचन, आत्मनेपद।

राजन्यानाम्–राज्ञामपत्यानि पुंमासो राजन्यास्तेषाम्, राजन्+यत्; राजाओं के पुत्र, क्षत्रिय।

शितशरशतैः–शिताः शरा इति शितशराः (कर्मधारयः), शितशराणां शतानि तैः (षष्ठीतत्पुरुषः); सैकड़ों तीक्ष्ण बाणों से। शित (शो+क्त) का इसका दूसरा रूप 'शात' भी होता है।

गाण्डीवधन्वा–गाण्डीवं धनुर्यस्य सः (बहुव्रीहिः); गाण्डीव है धनुष जिसका, अर्जुन। बहुव्रीहिसमास में 'धनुष' को 'धन्वन्' हो जाता है। गाण्डीव अर्जुन के धनुष का नाम था। अर्जुन को यह धनुष खाण्डव-दाह के समय अग्नि देव से प्रापत हुआ था। गाण्डीव की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है–गाण्डीव अस्यास्तीति गाण्डीवम् (गाण्डी+व), अर्थात् जिसमें गांठ हो (संस्कृत-टीका द्रष्टव्य)।

धारापातैस्त्वमिव कमलानि–जैसे तुम कमलों पर धारा-वृष्टि से (बरसते हो)।।५१।।

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा तासामधिगममपां सौम्य सारस्वतीना
मन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः।।५२।।

अन्वयः–बन्धुप्रीत्या समरविमुखः लाङ्गली अभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां हालां हित्वा याः सिषेवे, तासां सारस्वतीनाम् अपाम् अधिगमं कृत्वा, हे सौम्य, त्वमपि अन्तः शुद्धः भविता, वर्णमात्रेण कृष्णः (भविता)।

अनुवाद–बन्धुओं के स्नेह के कारण युद्ध से पराङ्मुख हलधर (बलराम) ने अभीष्ट स्वाद वाली (और) रेवती के नेत्रों के चिह्न (=प्रतिबिम्ब) वाली सुरा को छोड़कर जिनका सेवन किया था, सरस्वती नदी के उन जलों को पीकर है, सौम्य तुम भी हृदय से शुद्ध हो जाओगे, केवल वर्ण से ही श्याम (रहोगे)।

टिप्पणी–हित्वा-√हा (छोड़ना)+क्त्वा, छोड़कर।

अभिमतरसाम्–अभिमत इष्टो रसः स्वादो यस्यास्ताम् (बहुव्रीहिः), मनपसन्द स्वाद वाली। 'हालाम्' का विशेषण।

रेवतीलोचनाङ्काम्–रेवत्या लोचने एव अङ्को यस्यास्याम् (बहुव्रीहिः), रेवती के नेत्र है चिह्न जिसके, जिसमें रेवती के नेत्रों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। रेवती बलराम की पत्नी का नाम है बलराम का काव्यों में मद्यप के रूप में चित्रण किया गया है। पान-गोष्ठी में रेवती उसकी सहचरी होती थी, इसलिये जब रेवती बलराम को मद्य प्रस्तुत करती थी तो उसके नेत्रों का प्रतिबिम्ब मद्य में पड़ता था, इस कारण बलराम को वह और भी अधिक ग्राह्य हो जाती थी। यहां इस विशेषण से यह प्रकट किया गया है कि बलराम को मन-पसन्द और प्रिया द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली शराब को छोड़ना यद्यपि कठिन था, परन्तु सरस्वती के जल के सामने उसने वह भी छोड़ दी।

बन्धुप्रीत्या–बन्धूनां प्रीत्या स्नेहेन (षष्ठीतत्पुरुषः); सम्बन्धियों (कौरवों और पाण्डवों के) स्नेह के कारण। महाभारत के अनुसार बलराम युद्ध में तटस्थ रहे थे और युद्ध के समय तीर्थाटन के लिये चले गये थे। बन्धुप्रीति बलराम के युद्ध से विमुख रहने का हेतु है, इसलिये 'बन्धुप्रीत्या' में तृतीया विभक्ति है।

समरविमुख–समराद् युद्धाद् विमुखः (पञ्चमीतत्पुरुषः); महाभारत युद्ध से पराङ्मुख।

लाङ्गली–लाङ्गलम् अस्यास्तीति लाङ्गली (लाङ्गल (=हल) जिसका हो, बलराम। हल बलराम का विशेष्ण आयुध है, इसलिये उसके 'हेली', 'हलधर' आदि नाम है।

सिषेवे–√सेव्+लिट् अन्यपुरुष एकवचन आत्मनेपदः सेवन किया है। कहा जाता है कि बलराम ने सूत-धव के प्रायश्चित में तीर्थाटन करते हुये सरस्वती के जल का पान किया था।

अपां सारस्वतीनाम्–सरस्वत्वय, इमाः सारस्वत्य आपः, तासां सारस्वतीनाम् अपाम्, सरस्वती नदी के जलों का। 'अप्' शब्द हमेशा स्त्रीलिङ्ग बहुवचन में प्रयुक्त होता है। सारस्वती-सरस्वती+अण्+ङीप् (स्त्रीलिङ्ग)। 'अपाम्' का विशेषण। सरस्वती एक प्राचीन प्रसिद्ध नदी थी जो अब राजस्थान के मरुसलि में लुप्त होकर बहती थी। यह कुरुक्षेत्र में से होकर बहती थी। वैदिक संस्कृति का विकास मुख्यतः इसी नदी के तट पर हुआ था।

सौम्य–हे सुन्दर सोम+ट्ण् (य)। इस शब्द को 'सौम्य' भी लिखा जाता है और इसकी व्युत्पत्ति-सोम इव सोम्यः; अर्थात् जो सोम के समान हो-की जाती है।

त्वमपि-तू (मेघ) भी। अर्थात् जैसे सरस्वती के जल-पान से बलराम पवित्र हो गया था, वैसे ही तू भी हृदय से पवित्र हो जायेगा। 'अपि' के स्थान पर 'असि' पाठ भी मिलता है। तब 'असि' का सम्बन्ध 'भविता' से होगा। असि-√ (होना)+लट् मध्यमपुरुष एकवचन; भविष्यत् के अर्थ में लट् लकार।

भविता-√भू+तृच; होने वाला। कुछ विद्वानों ने 'असि भविता' को अनियमित प्रयोग मानकर लुट् लकार का रूप बतलाया है।।५२।।

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णा
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभृकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता।।५३।।

अन्वयः–तस्मात् अनुकनखलं शैलराजावतीर्णां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्ति जह्नोः कन्याम् गच्छेः, गौरीवक्त्रभृकूटिरचनां फेनैः विहस्य इव इन्दुलग्नोर्मिहस्ता या शम्भोः केशवग्रहणम् अकरोत्।

अनुवाद–वहां (कुरुक्षेत्र) से कनखल के समीप पर्वतराज (हिमालय) से उतरी हुई, सागर के पुत्रों के लिये स्वर्ग की सीढ़ी (बनी हुई), जह्नु की पुत्री (गङ्गा) पर जाना, पार्वती के मुख पर भ्रूभङ्ग का मानो झागों से उपहास करके चन्द्रमा में लगे हुए तरङ्ग रूपी हाथी वाली जिस (गङ्गा) ने शिव के केशों को पकड़ा था।

टिप्पणी–अनुकनखलम्–कनखलस्य समीपेऽनुकनखम् (सामीप्य के अर्थ में अव्ययीभावसमासः); कनखल के समीप। कनखल एक पुराना तीर्थस्थान है, जो सहारनपुर जिले में हरिद्वार के समीप स्थित है। स्कन्दपुराण में 'कनखल' की अजीब व्युत्पत्ति दी गई है–'खलः को नात्र मुक्ति वै भजते तत्र मज्जनात्। अतः कनखलं तीर्थं नाम्ना चक्रुर्मुनीश्वराः। मल्लिनाथ और दक्षिणावर्त ने कनखल, पर्वत का नाम माना है।

शैलराजावतीर्णाम्–शैलानां राजा शैलराज (षष्ठीतत्पुरुषः); तस्मादवतीर्णाम् (पञ्चमी तत्पुरुषः); पर्वतों के राजा (हिमालय) से उतरी हुई। अवतीर्ण=अव+√तृ+क्त।

जह्नोः कन्याम्-तह्नु नामक ऋषि की पुत्री (गङ्गा को)। कथा के अनुसार भगीरथ के प्रयत्न से पृथ्वी पर लाई गई गङ्गा ने अपने उत्ताल तरंगों से जह्नु ऋषि के आश्रम को डुबा दिया था। इस पर क्रुद्ध होकर ऋषि ने उसे पी लिया। भागीरथ के प्राथना और अनुनय-विनय करने पर ऋषि ने गंगा को अपने कान के मार्ग से निकाल दिया। इसलिये गङ्गा को जह्नु की पुत्री (जाह्नवी) कहा जाता है। मल्लिनाथ ने जह्नु राजा का नाम माना है।

सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तम्-सगरो नामेक्ष्वाकुवंशीयो राजा तस्य तनयानां स्वर्गस्व सोपानपङ्क्तम् (षष्ठीतत्पुरुषः); सगर के पुत्रों के लिये स्वर्ग अश्वमेघ यज्ञ करना प्रारम्भ किया। भयभीत इन्द्र अदृश्य होकर अश्वमेघ के अश्व को चुरा ले गया और उसे पाताल में जाकर कपिल ऋषि के आश्रम में बांध दिया। सागर के साठ हजार पुत्र घोड़े को खोजते हुए पाताल पहुंचे और उन्होंने वहां कपिल के आश्रम में घोड़ा देखा। सागर के पुत्रों ने ऋषि का अपमान किया तो ऋषि ने अपने तेज से भस्म कर डाला। अब उनका उद्धार केवल गङ्गा के जल से ही हो सकता था। सगर की चौथी पीढ़ी में भगीरथ ने घोर तपस्या की और वह गङ्गा को स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आया और उसने गङ्गा-जल के स्पर्श द्वारा अपने पूर्वजों का उद्धार किया। गङ्गा-जल के स्पर्शमात्र से सगर के साठ हजार पुत्र सीधे स्वर्ग को चले गये। इसलिये गङ्गा को सगर के पुत्रों के लिए स्वर्ग की सीढ़ी कहा गया है।

गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां विहस्येव फेनैः-गौर्याः पार्वत्या वक्त्रे मुखे या भ्रुकुट्या भ्रूभङ्गस्य रचनाकरणं ताम् (तत्पुरुषः), पार्वती के मुख में टेढ़ी हुई भौं का, मानो झागों से उपहास करके (अर्थात् झाग रूपी हंसी से पार्वती की ईर्ष्या से चढ़ी हुई तेवरी की उपेक्षा करके)। काव्यों में हास का धवल वर्ण वर्णित किया जाता है, इसलिये गङ्गा में उत्पन्न धवल झागों में हास की उत्प्रेक्षा की गई है। काव्यों में गङ्गा पार्वती के रूप में वर्णित की जाती है, इसलिये शिव की ओर बढ़ती हुई गङ्गा को देखकर पार्वती का ईर्ष्या से भर जाना स्वाभाविक था, परन्तु गङ्गा ने प्रौढ़ नायिका के समान पार्वती की ईर्ष्या की उपेक्षा करके शिव का केश-ग्रहण कर लिया। शिवपुराण की कथा के अनुसार ब्रह्मा ने भगीरथ से कहा था कि वह शिव को अपने सिर पर स्वर्ग से गिरती हुई गङ्गा को धारण करने के लिये प्रसन्न कर ले। भागीरथ की कठोर तपस्या से प्रसनन होकर शिव ने गङ्गा को सिर पर धारण कर लिया और गङ्गा वर्षों तक वहां बन्दी रहीं। तब भगीरथी ने फिर तपस्या की और शिव को प्रसन्न करके गङ्गा को पृथ्वी पर ले आया।

इन्दुलग्नोर्मिहस्ता-इन्दौ लग्ना ऊर्मयस्तरङ्गा एव हस्तौ यस्याः सा (बहुव्रीहिः), चन्द्रमा पर लगे हुए हैं तरङ्ग रूपी हाथ जिसके ऐसी। तरङ्ग में हाथों का आरोप किया गया है-गङ्ग की तरंगें ही उसके हाथ थे, जिसने उसने शिव का केश ग्रहण किया।५३।

तस्याः पातुं सुरुगज इव व्याम्नि पश्चार्धलम्बी,
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छायया ऽसौ,
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा॥५४॥

अन्वयः-सुरगज इव योम्नि पश्चार्धलम्बी त्वं चेत् तस्याः अच्छस्फटिकविशदम् अम्भः तिर्यक् पातुं तर्कयेः असौ सपदं स्रोतसि संसर्पन्त्या भवतः छायया अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा इव अभिरामा स्यात्।

अनुवाद-देवों के हाथ के समान आकाश में पिछले आधे भाग (के सहारे) से लटके हुए तु यदि उस (गङ्गा) के स्फटिक मणि के समान निर्मल जल को टेढ़ा होकर पीनो का विचार करोगे (तो) वह (गङ्गा) परन्तु धारा में साथ-साथ चलती हुई आपकी परछाई से, बिना (सङ्गम-) स्थान भी यमुना के साथ सङ्गम को प्राप्त हुई सी सुन्दर हो जायेगी।

टिप्पणी-सुरगजः-देवताओं का हाथी। यहां 'सुरगज का अभिप्राय दिग्गज है, इन्द्र का हाथी ऐरावत नहीं।

पश्चार्धलम्बी-पश्चादर्ध तेन लम्बत इति पश्चार्धलम्बी, पिछले आधे (भाग) से लटका हुआ, अर्थात् पिछले भाग से आकाश का सहारा लेकर झुका हुआ। 'पश्चार्ध' की पृषोदरादिगण में मानकर पश्चात्+अर्ध से बना हुआ समझा जाता है। लम्बी लम्बृ गतौ से। पाठान्तर-पूर्वार्धलम्बी। इस पाठ में अर्थ होगा-'अगले आधे भाग से आगे को झुका हुआ।'

अच्छस्फटिकविशदम्-अच्छः स्फटिकोच्छफटिकः (कर्मधारयः) तद्वत् विशदं निर्मलम्; पारदर्शक श्वेत मणि (बिल्लौर) के समान स्वच्छ। गङ्ग का जल काव्यों में धवल वर्णित किया जाता है, इसलिये अच्छस्फटिक के समान कहा गया है

अस्थानोपगतयमुनासङ्गमा-अस्थाने प्रयागाद् भिन्नस्थाने उपगतः प्राप्त यमुनायाः सङ्गमो यया सा (बहुव्रीहिः); असली (सङ्गमस्थान प्रयाग से) भिन्न स्थान पर प्राप्त कर लिया है यमुना का मेल जिसने। गङ्गा में यमुना प्रयाग में मिलती है, परन्तु धारा में बहती हुई काले जल की परछाई के संयोग के कारण गङ्गा कनखल में ही ऐसी प्रतीत होने लगेगी जैसे उसका यमुना से सङ्गम हो गया हो। यमुना का जल को श्याम कहा जाता है, इसलिये काले मेघ का प्रतिबिम्ब यमुना की धारा-सी प्रतीत होगा। यहां 'अस्थान' का अर्थ स्थान से भिन्न'

या 'भिन्न स्थान' है। पाठान्तर-०यमुनासङ्गमेनाभिरामा। इस पाइ में अर्थ होगा-'भिन्न स्थान पर हुए यमुना के सङ्गम के कारण सुन्दर।'

इव-यहां पहला 'इव' उपमा को और दूसरा 'इव' उत्प्रेक्षा या उपमा को प्रकट कर रहा है।।५४।।

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्।।५५।।

अन्वयः-आसीनानां मृगाणां नाभिगन्धैः सुरिभितशिलम् तस्या एव प्रभवम् तुषारैः गौरम् अचलं प्राप्य अध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः शुभ्रविनयन् वृषोत्खातपङ्कोपमेयां शोभां वक्ष्यसि।

अनुवाद-(वहां) बैठे हुए हरिणों की कस्तूरी की गन्ध से सुवासित शिलाओं वाले, उस (गङ्गा) के उत्पत्ति स्थान, बर्फ से धवल पर्वत पर पहुंच कर मार्ग की थकान को दूर करने वाले उसके शिखर पर स्थित (तुम) त्रिनेत्र शिव के धवल वृषभ (नन्दी) द्वारा उछाली गयी कीचड़ से तुलना की जाने योग्य शोभा को धारण करोगे।

टेप्पणी-सुरभितशिलम्-सुरभिताः सुगन्धिताः शिला यस्य तम (बहुव्रीहि); सुगन्ध युक्त हैं चट्टाने जिसकी। 'अचलम्' का विशेषण। नाभिगन्धैः-कस्तूरी की गन्धी से। 'नाभिगन्ध' या 'नाभि' कस्तूरी को कहते हैं। कस्तूरी मृग की नाभि से उत्पन्न कही जाती है, इसलिये कस्तूरी को 'मृगनाभि' भी कहते हैं।

वक्ष्यसि-√वह्, =लृट् मध्यमपुरुष एकवचनः (तू) धारण करेगा।

अध्वश्रमविनयने-विनीयतेऽनेनेति विनयम्, (वि+√नी+ल्यूट्), अध्वनः श्रमोऽध्वश्रमस्तस्य विनयने (षष्ठतत्पुरुषः); मार्ग की थकान को दूर करने वाले। यदि 'विनयन' को भाववाचक संज्ञा माना जाये तो इसमें सप्तमी विभक्ति नियमित अर्थ में माननी होगी और तब इसका अर्थ होगा-मार्ग की थकान को दूरकरने के लिये शिखर पर स्थित तू.....।

निषण्णः-नि+√सद्+क्त, पुंल्लिङ्ग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन; बैठा हुआ।

शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्-शुभ्रो यस्त्रिनयनस्य वृषस्तेनोत्खातो यः पङ्कस्तेनोपमेयाम्; तीन आंखों वाले (शिव) के श्वेत वृषभ से उछाली गई कीचड़ के साथ तुलना की जाने योग्य। 'शोभाम्' का विशेषण। शिवजी के तीन नेत्र माने जाते हैं, इसलिये उसे 'त्र्यम्बक', 'विषमलोचन' आदि भी कहते हैं। उनका वाहन नन्दी धवल बैल है। बैल खिलवाड़ में टीले आदि की मिट्टी उखाड़ा करते हैं। इसलिये यह कहा जाता है कि हिम धवल हिमालय के शिखर के ऊपर स्थित काला मेघ शिव के बैल के द्वारा अपने ऊपर उछाली हुई काली कीचड़ की शोभा को धारण करेगा।

महाभारत के अनुशासनपर्व में शिव के तीसरे नेत्र की कथा इस प्रकार दी गई है-एक बार पार्वती ने खेल में शिव के दोनों नेत्रों को अपने हाथी से बन्द कर लिया। इस प्रकार जगत् में अन्धकार छा गया। तब संसार का दुःख मिटाने के लिये शिव की तीसरी आंख खुली। इससे आग की लपटें निकलने लगीं और उनके सम्मुख स्थित हिमालय जलने लगा।' कामदेव भी शिव के तीसरे नेत्र की अग्नि से ही भस्म हुआ था।।५५।।

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्।।५६।।

अन्वयः-वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा उल्काक्षपितचमरीबालभारः दवाग्निः तं बाधेत चेत् नं वारिधारासहस्रैः अलं शमयितुम् अर्हसि। उत्तमानां सम्पदः आपन्नार्तिप्रशमनफलाः हि।

अनुवाद-वायु के चलने पर देवदारु वृक्षों के तनों की रगड़ से उत्पन्न (और) ज्वालाओं से चमरी हिरन के बालों के समूह को नष्ट कर देने वाली वन की आग यदि उस (हिमालय) को पीड़ित करे (तो) तुम्हें इस (आग) को जल की सहस्रों धाराओं से पूरी तरह शान्त करना चाहिये। श्रेष्ठ (लोगों) की सम्पत्तियों का फल पीड़ितों के दुःख का निवारण ही है।

टिप्पणी-सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा-सरलानां स्कन्धाः सरलस्कन्धाः (तत्पु+षः) तेषां संघटट्नं संघर्षणम् (तत्पुरुषम्), तेन जन्म मस्य

सः (बहुव्रीहिः); सरल नामक वृक्षों के तनों की परस्पर रगड़ से है जन्म (उत्पत्ति) जिसकी। 'दवाग्निः' का विशेषण। सरल जंगली पेड़ है। मल्लिनाथ ने 'सरल' का अर्थ देवदारु किया है।

उल्काक्षपितचमरीबालभारः–उल्काभिः क्षतितश्चमरीणां बालभारः केशसमूहो येन सः (बहुव्रीहिः); उल्काओं से नष्ट किया है चमरी नामक हिरनों के बालों के समूह को जिसने ऐसी (दवाग्नि)। मल्लिनाथ ने 'उल्का' का अर्थ स्फुलिङ्ग (चिनगारी) किया है; जबकि भरतमल्लिक ने इसका अर्थ ज्वाला (लपट) किया है। क्षपित–√क्षै+णिच्+क्त।

दवाग्निः–दवश्चासावग्निश्चेति दवाग्निर्ववनवह्निः, वन की आग। 'दव' या 'दाव' वन की आग को कहते हैं, इसलिये 'दवाग्नि' में 'अग्नि' का ऐसा ही प्रयोग है जैसा कि 'आम्रवृक्षं'।

अलम्–(अव्यय), पूर्ण रूप से, अच्छी तरह।

आपन्नार्तिप्रशमनफलाः–आपन्नानां पीडितानामार्तिः पीडा तस्यः प्रशमनं निवारणमिति आपन्नार्तिप्रशमनम् (तत्पुरुषः) तत् फलं यासां ताः (बहुव्रीहिः); दुखियों के दुःख दूर करना ही जिनका प्रयोजन है 'सम्पदः' का विशेषण। आपन्न+ष्ठा+क्त आर्ति+√ऋ+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग)। प्रशमन–प्र+√शम्+ल्युट् (नपुंसकलिङ्ग)।

सम्पदः–सम्√पद्+क्विप् (स्त्रीलिङ्ग) प्रथमा विभक्ति बहुवचन।।५६।।

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तानकुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः।।५७।।

अन्वयः–तस्मिन् संरम्भोत्पतनरभसाः ये शरभाः मुक्ताध्वानं भवन्तं सपदि स्वाङ्गभङ्गाय लङ्घयेयुः तान् तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान् कुर्वीथाः। निष्फलारम्भयत्नाः के वा परिभवपदं न स्युः।

अनुवाद–उस (हिमालय पर्वत) में क्रोध के कारण उड़ने मे वेग वाले जो शरभ रास्ता छोड़ देने वाले आपको तुरन्त अपने अङ्गों को नष्ट करने के लिये लांघें, उन्हें भयङ्कर ओलों की वृष्टि गिराकर तितर-बितर कर देना अथवा, व्यर्थ काम करने वाले कौन तिरस्कार के विषय नहीं होते हैं?

टिप्पणी–संरम्भोत्पतनरभसाः–सरम्भेण कोपेनात्पतने रभसो वेगों येषां ते (बहुव्रीहिः) क्रोध के कारण उड़ने में बड़े वेग से वेगपूर्वक उड़ने वाले। 'शरभाः' का विशेषण।

स्वाङ्गभङ्गाय–स्वानि अङ्गानि स्वाङ्गानि (कर्मधारय) तेषां भङ्गो नाशः स्वाङ्भङ्गः (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्मै, अपने अङ्गों के नाश के लिये। यहां फल के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति है। इसलिये स्वाङ्भङ्गाय लङ्घयेयुः' का अभिप्राय है कि यदि शरभ मेघ का उल्लङ्घन का प्रयत्न करेंगे तो इसका एकमात्र फल उनके अङ्गों का नाश ही होगा।

मुक्ताध्वानम्–मुक्तरस्त्यक्तः (शरभाणाम्) अध्वा येन तम् (बहुव्रीहिः), छोड़ दिया है (शरभों का) मार्ग निकट आने पर जिसने, यह विशेषण। इस पद का एक अन्य अर्थ भी हो सकता है–मुक्त आध्वानो गर्जनरूपः शब्दों येत् तम् अर्थात् गर्जन करते हुए। मेघ के यह अर्थ इसलिये सम्भव है, क्योंकि शरभ को सिंहघाती कहा जाता है। अतः मेघ गर्जन को सिंह की दहाड़ समझकर आक्रमण के कारण शरभ का मेघ पर आक्रमण करना स्वाभाविक है। इस श्लोक के पूर्वार्ध का जो पाठान्तर पाया जाता है उसका यह पाठ है–'गर्जन करते हुए तुमको न सह सकते हुए जो शरभ गर्व की अधिकता के कारण लांघे न जा सकने वाले तुमको अपने अङ्गों के नाश के लिये लांघेंगे.....।'

शरभा–शरभ का अर्थ स्पष्ट नहीं है। पुराने टीकाकार शरभ को हरिण या आठ टांगों वाला कोई जानवर मानते हैं। कुछ ने 'शरभ' को 'शलभ' का रूपान्तर मानकर टिड्ढा (grasshoppoer) अर्थ किया है। सम्भवतः यह हिमालय की गुफाओं में रहने वाला एक काल्पनिक भयंकर जानवर माना गया है। अमरकोष में इसे एक मृग-भेद (पशु-जाति) कहा गया है। 'शरभः कुलिशः पृषः सुमरो गवयः शशः। इत्यादयो मृगेन्द्राद्या गवाद्या पशुजायतः। 'विश्वकोष में 'शरभ' को शलभ, अष्टापद और मृग-भेद के रूप में कहा गया है (संस्कृत टीका देखिये)।

तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्–तुमुलो करकासतुमुलकरकाः (कर्मधारय) तासां वृष्टिस्तस्या पातः (षष्ठातत्पुरुषः) तेनावकीर्णान् छितराये हुए। भयंकर ओलों के वर्षा-पात से छितराये हुए। 'तान्' का विधेय-विशेषण।

परिभवफला-परिभवस्य पदं परिभवपदम्, अपमान् के पात्र। पाठान्तर–

परिभवफला-परिभवः फलं येषां ते, तिरस्कार है फल जिनका, अर्थात् जिन्हें फलरूप में तिरस्कार या अपमान मिलता है।

के वो-अथवा कौन? यह चरण पहले चरण की पुष्टि के लिये रक्खा गया है, इसलिये यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार है, 'के वा' के स्थान पर 'केषाम्' पाठ भी पाया जाता है। तब 'केषाम्' का सम्बन्ध, 'निष्फलारम्भयत्नाः' के साथ होगा और इसमें समास मानना होगा। अर्थ इस प्रकार होगा-जिनके निष्फल कर्मों के यत्न तिरस्कार रूपी फल वाले नहीं होते हैं।

निष्फलारम्भयत्नाः–फलान्निर्गता निश्फलाश्च ते आरम्भाश्चेति निष्फला रम्भा (कर्मधारयः) तेषु यत्ना येषां ते (बहुव्रीहिः), निष्प्रयोजन कर्मों में है, यत्न जिनका, अर्थात् व्यर्थ करने वाले।।५७।।

तत्र व्यक्तं दृषति चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः।।५८।।

अन्वयः–तत्र दृषदि व्यक्तं सिद्धै शश्वत् उपचितबलिम् अर्धेन्दुमौलेः चरणन्यासं भक्तिनम्रः (सन्) परीयाः यस्मिन् दृष्टे उद्धूतपापाः श्रद्दधानाः करणविगमात् ऊर्ध्वं स्थिरगणपदप्राप्तये। कलिपष्यन्ते।

अनुवाद–वहां (हिमालय में) शिला में प्रकट हुए, सिद्ध नामक देवों द्वारा हमेशा उपहार भेंट किये गये, सिर का अर्ध चन्द्र वाले (शिव) के पद-चिन्हों की भक्ति से झुककर प्रविक्षणा करना, जिस (पद-चिन्ह) को देख लेने पर नष्ट हुए पाप वाले श्रद्धालु (जन) शरीर की समाप्ति के पश्चात् स्थायी सेवक-पद को प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं।

टिप्पणी–व्यक्तम्-वि+√अञ्ज+क्त, प्रकट, स्पष्ट।

चरणन्यासम्-न्यस्तत इति न्यास; नि+√अस+घञ् (भावे), चरणयोर्न्यासः प्रक्षेप इति चरणन्यासः (षष्ठीतत्पुरुषः); चरणों को रखना; पादचिह्न पैरों की छाप। पूर्वी देशों में यह विश्वास पाया जाता है कि पर्वत आदि स्थानों पर देवों तथा सन्तों के पैरों के निशान होते हैं। शम्भुरहस्य में शिव के पैरों के चिह्नों को 'श्रीचरणन्यास' कहा गया है (संस्कृत टीका रखिये)।

अर्धेन्दुमौलेः–अर्धश्चासो इन्दुश्चेति अर्धेन्दुः (कर्मधारयः), स मौलौ शिरसि यस्य तस्य (बहुव्रीहिः); आधा चन्द्रमा है सिर पर जिसके, अर्थात् शिव का।

सिद्धैः–सिद्ध नामक देवों द्वारा। मल्लिनाथ ने इसका अर्थ योगी किया है। भरतमल्लिक ने 'सिद्धिप्राप्त' अर्थ किया है। परन्तु यहां यह शब्द देवों के लिये प्रयुक्त हो सकता है, क्योंकि हिन्दू-विश्वासों के अनुसार छोटे देव बड़े देवों की पूजा किया करते हैं और हिमालय देवों का आवास स्थान है।

उपचितबलिम्-उपचितः कृतो बलिर्यस्य तम् (बहुव्रीहिः); की गई है पूजा जिसकी। यहां 'बलि' का अर्थ पूजा या पूजा में दिये उपहार हैं। 'उपचित' के स्थान पर 'उपहिम' या 'अपहृत' पाठ मिलता है। 'उपहित' का अर्थ है–'रखा गया', उप+√धा+क्त। 'उपहृत' का अर्थ है–'प्रस्तुत किया गया, लाया गया, दिया गया, उप+√हृ+क्त। इन दोनों पाठों में भी भाव वही है।

भक्तिनम्रः–भक्त्या नम्रः (तत्पुरुश), भक्ति से झुका हुआ, भक्ति-√ भज्+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग); सेवा-भाव, अनुराग। नम्र-√नम्+र् मत विनीत, झुका हुआ।

परीयाः–परि+√इ+विधिलिङ् मध्यमपुरुष एकवचन, परस्मैपद; चारों ओर जाना, प्रदशिक्षा करना। हिन्दुओं में यह प्रथा है कि देव आदि पूज्यों का दाईं ओर करके घड़ी की सुई की दिशा में उनके चारों ओर घूमा जाता है। इसे परिक्रमा या प्रदक्षिणा कहते हैं। इसलिये हिन्दू-मन्दिरों में मूर्ति-कक्ष के चारों ओर वीथिका होती है।

करणविगमात्-करणस्य शरीरस्य विगमः समाप्तिरिति करणविगमः (तत्पुरुषः) तस्यात्, शरीर पुरा होने के (बाद), देह-त्याग के (पश्चात्)। ऊर्ध्वम् के योग में पञ्चमी विभक्ति।

उद्धूतपापाः–उद्धूतानि पापानि येषां ते (बहुव्रीहिः), नष्ट हुए पाप वाले उद्धूत-उत्+√ धू (हिलना, कांपना)+क्त।

कल्पिष्यन्ते-√ क्लृप, अन्यपुरुष बहुवचन आत्मनेपद, समर्थ होंगे, समर्थ हो जाते हैं। इसके स्थान पर 'संकल्पन्ते' और 'कल्पन्तेऽस्य' पाठ मिलते हैं। बाद का पाठ अधिक उपयुक्त है।

स्थिरगणपदप्राप्तये-गणानां पदं गणपदम्, स्थिरं गणपदं स्थिरगणपदम् (कर्मधारय:) तस्य प्राप्तये (षष्ठीतत्पुरुष: शिव के स्थायी पद को पाने के लिए 'क्लृप' के योग में चतुर्थी विभक्ति।

श्रद्दधाना:-श्रत्+√धा+शानच् श्रद्धा रखने वाले, विश्वास करने वाले भक्त।।५८।।

शब्दायनते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संरक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनि स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः।।५९।।

अन्वय:-अनिलै: पूर्यमणा: कीचका: मधुरं संरक्ताभि: किन्नरीभि: त्रिपुरविजय: गीयते, कन्दरेषु ते निर्ह्राद: मुरजे ध्वनि: इव स्यात् चेत् तत्र पशुपते: संगीतार्थ: ननु समग्रो भावी।

अनुवाद-वायु से भरे जाते हुए बांस मीठा-मीठा शब्द करते हैं, प्रेम से भरी किन्नर स्त्रियां त्रिपुर विजय का गान करती हैं यदि गुफाओं में तुम्हारा गर्जन नगाड़े के शब्द के समान हो जाये (तो) वहां शिव के संगीत की समग्री निश्चय ही पूर्ण हो जायेगी।

टिप्पणी-शब्दायन्ते कीचका:-कीचक बांस शब्द करते हैं। कीचक एक तरह के बांस होते हैं, जिनके छिद्रों में हवा भरने से सुरीली आवाज निकलती रहती है। कालिदास ने रघुवंश २।१० तथा कुमारसम्भव १।८ में भी कीचकों की ध्वनि का उल्लेख किया है। शब्दायन्ते-शब्द+क्यङ् (नामधातु) लट् लकार अन्यपुरुष बहुवचन आत्मनेपद, शब्द करते हैं।

पूर्यमाण:√ पृ+शानच् (कर्मवाच्य), भरे जाते हुए। 'कीचका:' का विशेषण।

संरक्ताभि:-'किन्नरीभि:' का विशेषण, सम्+√ रञ्ज्+क्त:, प्रेम से भरी हुई, अनुरक्त। मल्लिनाथ ने इस अर्थ 'मधुर कण्ठ वाली' (संरक्तकण्ठीभि:) किया है। मल्लिनाथ के अनुसार मूल पाठ 'संरक्ताभि:' है। उसने 'संसक्ताभि:' का अर्थ 'मिला हुआ' या 'वाद्य-यन्त्रों से युक्त' किया है।

त्रिपुरविजय:-त्रयाणां पुराणां समहास्त्रिपुरम् (द्विगुतत्पुरुष:) तस्य विजयस्त्रिपुरविजय: (षष्ठीतत्पुरुष:) तीन पुरों को विजय पौराणिक कथा के अनुसार 'मय' नामक असुर ने आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर सोने, चांदी और लोहे के तीन नगर बनाये थे जिनमें क्रमश: विद्युन्माली, रक्ताक्ष और हिरण्याक्ष नाम के राक्षसाधिपति रहते थे। शिव ने इन तीन नगरों को ध्वंस किया था। इसीलिये शिव को त्रिपुरारि भी कहा जाता है।

गीयते-√गै+लट् अन्यपुरुष एकवचन (कर्मवाच्य); गाया जाता है।

किन्नरीभि:-किन्नर स्त्रियों द्वारा। किन्नर देवों की एक विशेष जाति है। यह विश्वास किया जाता है कि किन्नर पर्वतीय क्षेत्र में रहते हैं और इनका मुख घोड़े के आकार का तथा शेष भाग मनुष्य के आकार का होता है। यह देवों के गायक माने जाते हैं। इन्हें किंपुरुष भी कहा जाता है। इन्हें किन्नर या किंपुररुष इसलिये कहा जाता है क्योंकि मुख भाग घोड़े के आकार का होने के कारण यह कुत्सित पुरुष होते हैं-कुत्सिता: पुरुषता नरा इति वा किंपुरुषा: किन्नरा वा संभवत: किन्नर पहाड़ी जाति के लोग थे जो अब भी हिमाचल प्रदेश के किन्नोर जिले में रहते हैं।

निर्ह्राद:-गम्भीर शब्द, गर्जन, पाठान्तर-निर्ह्रादी, इस पाठ में 'निर्ह्रादी ध्वनि:' का विशेषण होगा और तीसरी पंक्ति का अन्वय इस प्रकार होगा-भुरजे इव कन्दरेषु ते निर्ह्रादी ध्वनि: स्यात् चेत्, अर्थात् 'यदि नगाड़े के समान कन्दराओं में तेरी गूंज वाली ध्वनि हो जाये।' 'मुरज इव' में 'मुरज' प्रथमान्त पद भी माना जा सकता है। इस पक्ष में 'मुरज:' का अर्थ लक्षण से 'मुरज ध्वनि' करना होगा तब इस पंक्ति का अर्थ होगा-यदि गुफाओं में गूंजता हुआ तुम्हारा गर्जन नगाड़े की ध्वनि के समान हो जाये।

संगतार्थ-संगीतस्याऽर्थ: (तत्पुरुष:); संगीत की सामग्री, संगीत के उपकरण। नृत्य, गीत और वाद्य तीनों का मेल को संगीत कहा जाता है। शब्द करते हुए कीचकों का हिलना नृत्य: किन्नरियों का गान गीत और मेघ का गर्जन वाद्य होगा. इसलिये शिव को संगीत के सभी उपकरण अनायास उपलब्ध हो जायेंगे।

तत्र भावी समग्र:-वहां (चरणन्यास के समीप) (संगीत की सामग्री) पूर्ण हो जायेगी। 'समग्र:' के स्थान पर 'समस्त' का पाठ पाया जाता है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। भावी-√भू+णिनि (भविष्य अर्थ में); हो जायेगा होगा।।५६।।

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः॥६०॥

अन्वयः–प्रालेयाद्रेः उपतटं तान् तान् विशेषन् अतिक्रम्य, यत् हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म क्रौञ्चरन्ध्रम् (अस्ति), तेन बलिनियमनाभ्युद्यतस्य विष्णोः श्यामः पादः इव तिर्यगायामशोभी (त्वम्) उदीचीं दिशम् अनुसरेः।

अनुवाद–हिमालय पर्वत के तट के समीप उन द्रष्टव्य वस्तुओं को पार करके जो हलों का मार्ग (तथा) भृगु-कुल के स्वामी (परशुराम की कीर्ति का) पथ क्रौञ्च पर्वत का छिद्र है उसमें बलि नामक असुर के दमन के लिए सन्नद्ध विष्णु के काले चरण के समान, तिरछे आकार से शोभित हुये (तुम) उत्तर दिशा को जाता।

टिप्पणी–प्रायोयाद्रेः–प्रालेयं हिमं तस्याद्रिः पर्वतः प्रालेयाद्रिः (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्य प्रालेयाद्रेर्हिमाद्रेः हिमालय पर्वत का।

उपतटम्-तटस्य समीपे उपतटम् (अव्ययीभावः); तट के समीप।

हंसद्वारम्-हंसानां द्वारं हंसद्वारम् (षष्ठीतत्पुरुषः); हंसों का द्वार। ऐसी प्रसिद्धि है कि वर्षा ऋतु में हंस मानसरोवर जाने के लिये क्रौञ्चरन्ध्र में से होकर जाया करते हैं, इसलिये क्रौञ्च-रन्ध्र को हंसद्वार कहा गया है।

भृगुपतियशवर्त्म-भृगूणां पतिर्भृगुपतिः, तस्य यशसः कीर्तेर्वर्त्म मार्ग इति भृगुपतिशोवर्त्म (षष्ठीतत्पुरुषः); परशुराम के यश का मार्ग। परशुराम भृगु (जमदग्नि) के कुल में प्रमुख पुरुष माना जाता है, इसलिये उसे भृगुपति या भृगूद्वह कहा जाता है। ऐसी कथा है कि शिव से धनुर्वेद सीखकर लौटते हुये परशुराम ने क्रौञ्च पर्वत को बाण से बींधकर रास्ता बनाया था। यह भी कहा जाता है कि परशुराम ने क्रौञ्च पर्वत में भेदन स्कन्द को वैसा करते देखकर ईर्ष्या वश किया था। क्रैञ्च पर्वत में बाण से हुये छिद्र को क्रौञ्चरन्ध्र कहा जाता है। परशुराम के इस पराक्रम् से उसकी जगत् में ख्याति हो गई। इसलिये क्रैञ्च रन्ध्र को उसका यशोवर्त्म कहा जाता है।

क्रौञ्चरन्ध्रम्-क्रोञ्चस्य नाम पर्वतस्य रन्ध्रं छिद्रमिति क्रौञ्च-रन्ध्रम्, (षष्ठीतत्पुरुषः); क्रौञ्च पर्वत का छिद्र। क्रौन्चरन्ध्र की भौगोलिक स्थिति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह सम्भवतः केवल पौराणिक तथ्य है। महाभारत में क्रौञ्च को मैनाक या हिमवान् पर्वत का पुत्र कहा गया है।

तिर्यगायामशोभी-तिर्यग् आयामो दैर्ध्यम् आकारो वेति तिर्यगायामः (कर्मधारयः) तेन शोभते इति तिर्यगायामशोभी, तिर्यगायाम+√शुभ्+णिनि. तिरछी हुई (आकार की) लम्बाई से शोभा देने वाला। मेघ का आकार बड़ा है और क्रौञ्च-रन्ध्र छोटा है, इसलिये मेघ को उसमें से लम्बा और तिरछा होकर जाना पड़ेगा। लम्बा और तिरछा हुआ काला मेघ विष्णु के फैले हुए पैर के समान प्रतीत होगा।

बलिनियममानभयुद्यतस्य विष्णोः–नियम्यते दम्यत इति नियमनम्, नि+√यम्+ल्युट्, वलेनियममनं बलिनियमनत् (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्मिन् तस्मै वाऽभ्युद्यतो बलिनियमनाभ्युद्यतः (तत्पुरुषः) तस्य विष्णोः; बलि के दमन के लिये तैयार विष्णु के। अभ्युद्यत-अभि+उद्+√यम्+क्त; तैयार, सन्नद्ध।

बलि असुरों का राजा था। यह विरोचन का पुत्र और प्रह्लाद का पौत्र था। देवों की प्रार्थना पर विष्णु ने कश्यप और अदिति के पुत्र के रूप में वामन-अवतार धारण किया और ब्राह्मण के वेष में बलि से तीन चरण स्थान मांगा। दानशील बलि ने विष्णु की मांग स्वीकार कर ली। तब विष्णु ने अपने पहले चरण से सारी पृथ्वी नाप ली और दूसरे चरण से सारा द्युलोक। तीसरे चरण के लिये कोई स्थान न रहा। इस पर विष्णु ने अपना तीसरा चरण बलि के सिर पर रक्खा और उसे पाताल पहुंचा दिया। यहा इसी कथा की ओर संकेत किया गया है॥६०॥

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यबकास्याट्टहासः॥६१॥

अन्वयः–ऊर्ध्वं च गत्वा दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः त्रिदशवनितादर्पणस्य कैलासस्य अतिथिः स्याः; कुमुदविशदैः शृङ्गोच्छ्रायैः खं वितत्य स्थितः यः प्रतिदिनं राशीभूतं त्र्यम्बकस्य अट्टहासः इव।

अनुवाद–और आगे जाकर (तुम) दस मुख वाले (रावण) की भुजाओं द्वारा शिखरों के जोड़ ढीले किये गये, देवों की स्त्रियों के

दर्पण, कैलास के अतिथि होना, कुमुदों के समान श्वेत शिखरों की ऊँचाइयों से आकाश को व्याप्त करके खड़ा हुआ जो कैलास मानो, प्रतिदिन इकट्ठा हुआ शिव का विकट हास (है)।

टिप्पणी–दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः–दश मुखानि यस्य स दशमुखो रावणः (बहुव्रीहिः) तस्य भुजाः (षष्ठीतत्पुरुषः) तैः उच्छ्वासिताः प्रस्थानां सानूनां सन्धयो यस्य तस्य (बहुव्रीहिः); रावण की भुजाओं द्वारा ढीले कर दिये गये शिखरों के जोड़ जिसके। 'प्रस्थ' का अर्थ प्रायः शिखर या चोटी कर दिया जाता है; परन्तु वस्तुतः प्रस्थ या सानु पर्वत के किसी समतल भू-भाग को कहते हैं। उच्छ्वासित-तत्+श्वस्+णिच्+क्तः उखाड़ा हुआ, ढीला किया गया, अलग किया गया। रामायण (उत्तरकाण्ड सर्ग १६) में आई कथा के अनुसार रावण के कैलास पर्वत को लङ्का ले जाने के विचार से जड़ से उखाड़ लिया था, जिससे उसकी चोटियां हिल गई थीं।

त्रिदशवनितादर्पणस्य-त्रिदशानां देवानां वनितास्त्रिदशवनिताः (षष्ठतत्पुरुषः) तासां दर्पणस्य (षष्ठीतत्पुरुषः); देवताओं की स्त्रियों का दर्पण बने (कैलास) के। यहां कैलास को देवाङ्गनाओं का दर्पण कहा गया है। 'त्रिदश' की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है। त्रिभिर्दशा येषां ते त्रिदशाः, अर्थात् जिनकी शैशव, कौमार्य और यौवन केवल तीन अवस्थायें होती है, तृतीया दशा येषां ते, अर्थात् जिनकी केवल तीसरी (यौवन) अवस्था होती है, त्रिःदश परिमाण मेषास्तीति त्रिदशाः, अर्थात् जिनकी संख्या ३० है। पाठान्तर ०दर्शनस्य-देवाङ्गनाओं की दृष्टि का।

शृङ्गच्छायैः-शृङ्गाणां शिखराणामुच्छ्राया औननत्यानीति शृङ्गोच्छ्रायास्तैः (षष्ठीतत्पुरुषः) शिखरों की ऊंचाईयों से अर्थात् ऊँच शिखरों से। पाठान्तर-कुसुमविशदैः।

वितत्य-वि+√तन् (फैलना)+ ल्यप्, फैलकर, घेरकर, व्याप्त करके।

राशीभूतः-न राशिः राशिः भूतः, राशि+णिच्+√भू=क्त, राशि हुआ, इकट्ठा हुआ।

प्रतिदिनम्-दिने दिने प्रतिदिनम् (वीप्सा के अर्थ में अव्ययीभाव समास), हर दिन। पाठान्तर-प्रतिदिनम्-दिशि दिशि। प्रत्येक दिशा में चारों ओर। प्रतिनिशम्-प्रत्येक रात्रि में। 'प्रतिदिशम्' पाठ अधिक अच्छा है।

त्र्यम्बकस्य-त्रीणि अम्बकानि यस्य सः (बहुव्रीहिः), तीन हैं नेत्र जिसके शि। (श्लोक ५५ की टिप्पणी देखिय) त्र्यम्बक में 'अम्बक' शब्द के अन्य भी अनेक अर्थ किये गये हैं। (श्री काले का संस्करण देखिये।)

अट्टहसः-अट्टो हासोऽट्टाहासः (कर्मधारण) जोर की हंसी, विकट हास, ठहाका मारकर हंसना। संस्कृत-काव्यों में शिव के अट्टहास का बहुधा उल्लेख किया गया है। हास का धवल वर्णन किया जाता है, इसलिये हिम-धवल कैलास में अट्टहास की उत्प्रेक्षा करना सर्वथा उपयुक्त है।।६१।।

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरदशशनच्छेदगौरस्य तस्य
शोभामद्रेः सिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्रीं
संसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव।।६२।।

अन्वयः–स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे त्वयि तटगते (सति) सद्यःकृतद्विरददशन्छेदगौरस्य तस्य अद्रेः मेचके वाससि संसन्यस्त सति हलभृत इव सिमित नयनप्रेक्षणीयां भवित्रीं शोभाम् उत्पश्यामि।

अनुवाद–चिकने पिसे हुए काजल की कान्ति वाले तेरे तट पर पहुंचने पर तुरन्त काटे हुए हाथी दांत के टुकड़े के समान धवल इस पर्वत को नीले वस्त्र के कन्धे पर रक्खा हुआ होने पर हल-धर (बलराम) की जैसी, निश्चल नेत्रों से देखी जाने योग्य होने वाली शोभा की कल्पना करता हूं।

टिप्पणी–त्वयि तटगते-तटंगत इति तटगतः (तत्पुरुषः) तस्मिन्, तेरे (पर्वत के) किनारे पर पहुंच जाने पर। भावलक्षण अधि में सप्तमी विभक्ति।

स्निग्धभिनाञ्जनाभे–स्निग्धं मसृणं भिन्नं मर्दितं च तदञ्जंल तत् स्निग्धभिन्नाञ्जाम् (कर्मधारयः) तस्याऽऽभा कान्तिरिवाऽ भावस्य तस्मिन् (बहुव्रीहिः); चिकने और पीसे हुए काजल की कान्ति के समान के समान वाले, अर्थात् काजल के समान काले। त्वयि का विशेषण। भिन्न-√भिद्+क्त; चूरा किया हुआ, पीसा हुआ, रगड़ा हुआ।

सद्यः कृत्ताद्विरददशनच्छेदगौरस्य–सद्यस्तत्कालं कृतः सद्यःकृतः (सुप्सुपासमासः) द्विरदस्य हस्तिनो दशनो दन्तः (तत्पुरुषः), सद्यःकृतश्चासौ द्विरददशनश्येति सद्यःकृत्तद्विरददशनः (कर्मधारयः) तस्य छेदवद् गौरः (उपमितसमासः) तस्य, तुरन्त काटे हुए हाथी के टुकड़े के समान धवल। 'अद्रे' का विशेषण। 'दशन' के स्थान पर 'रदन' पाठ भी पाया जाता है; अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

शोभामद्रेः–पर्वत की शोभा। 'उत्पश्यामि का कर्म'। 'शोभाम्' की जगह 'लीलाम्' पाठ में भी वही अर्थ होगा।

स्तिमितनयनप्रेक्षणीयाम्-स्तिमिते निश्चले नयने इति स्तिमितनयने (कर्मधारयः) ताभ्यां प्रेक्षणीयां दर्शनीयाम् (तत्पुरुषः); निश्चल आंखों से देखने योग्य। 'शोभाम्' का विशेषण। प्रेक्षणीय-प्र+√ईक्ष्। अनीयर; देखने योग्य। स्तिमित-√स्तिम् (स्थिर होना)+क्त; स्थि हुआ, से देखने योग्य। 'शोभाम्' का विशेषण। प्रेक्षणीय-प्र+√ईक्ष्। अनीयर; देखने योग्य। स्तिमित-√स्तिम् (स्थिर होना)+क्त; स्थिर हुआ, निश्चल हुआ।

भवित्रीम्-भू+तृच+ङीप् (स्त्रीलिङ्ग) द्वितीय विभक्ति एकवचन, (होने वाली शोभा) को वहां तच् प्रत्यय भविष्य अर्थ में हुआ है। अंसन्यस्ते-अंसे स्कन्धे न्यस्तम् इति अंसन्यस्तम् (तत्पुरुषः) तस्मिन्, कन्धे पर रखा हुआ। न्यस्त--+√अस् (फेंकना)+क्त; रक्खा हुआ। 'वाससि' का विशेषण। भावलक्षण अर्थ में सप्तमी।

हलभृतः-हलं बिभर्ति इति हलभृत् तस्य, हल+√भृ+क्विप्, हल को धारण करने वाले की, बलराम की। (पू० में श्लोक ५२ में श्लोक ५२ पृ० १, २ पर (लाङ्गली पर टिप्पणी देखिये)। बलराम स्वयं गोरे थे और नीले वस्त्र पहनते थे। इसलिये गौर पर्वत-शिखर पर स्थित काले मेघ की शोभा कन्धे पर नीला वस्त्र रखे हुए बलराम की शोभा जैसी ही जायेगी।

मेचके-काला या नीला। 'वाससि' का विशेषण। संस्कृत काव्यों में काले, नीले ओर हरे में अन्तर नहीं किया जाता है। इसलिये बलराम के वस्त्रों का 'नीले' या 'मेचक' वर्ण कहा जाता है।।६२।।

हित्वा तस्मिन् भुजगवलयं शभुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत् पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सौपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाऽग्रयायी।।६३।।

अन्वयः–तस्मिन् क्रीडाशैले च भुजगवलयं हित्वा शम्भुना दत्तहस्ता गौरी पादचारेण विचरेत् यदि, अग्रयायी स्तम्भितान्तर्जलौघः भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः मणितटारोहणाय सोपानत्वां कुरु।

अनुवाद–और यदि उस क्रीड़ापर्वत (कैलास) में सर्प-रूपी कड़े को त्याग कर शम्भु द्वारा हाथ दी गई पार्वती पैदल विचरण कर रही हो, (तो) आगे जागर और (अपने) अन्दर जल के प्रवाह को ठोस बनाये हुए होकर पैड़ियों के आकार में बनाये हुए शरीर वाले (तुम) मणियों के तट पर चढ़ने के लिये सीढ़ी का काम करना।

टिप्पणी–हित्वा भुजगवलयम्-भुजगः सर्प इव वलयः कटकः (कर्मधारयसमासः), तं हित्वा त्यक्त्वा: सर्प-रूपी कड़े को छोड़कर। आख्यान के अनुसार शिवजी सांप लपेटे रहते है। पार्वती सांपसे डर न जाये, इसलिये शिव सांप को छोड़कर ही पार्वती को हाथ का सहारा देंगे।

तस्मिन्-दत्तो हस्तो यस्यै सा (बहुव्रीहिः); (शम्भु द्वारा) दिया गया है हाथ जिसके, अर्थात् शिव द्वारा हाथ का सहारा दी गई। 'गौरी' का विशेषण।

क्रीडाशैले-क्रीडानां शैलः क्रीडाशैलः (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्मिन्: क्रीडाओं का पर्वत। यहां क्रीडाशैल का अभिप्राय कैलास पर्वत है। शम्भुरहस्य के अनुसार कैलास, मेरु (कनकाद्रि), मन्दर और गन्धमादन पर्वतों को शिव की केलियों के लिये बनाया गया था। (उद्धरण के लिये संस्कृत टीका देखिये)।

विचरेत्-वि+√चर्+विधिलिङ् अन्यपुरुष एकवचन; घूमे। 'विहरेत्' पाठ में भी वही अर्थ होगा। वि+√हृ+विधिलिङ्; विहार करे, घूमे।

भङ्गीभक्त्वा-भङ्गीनां पर्वणां भक्त्वा रचनयाऽऽकारेण वा भाङ्गीभक्त्या (तत्पुरुषः); पैड़ियों की रचना से पैड़ियों की रचना से पैड़ियों के आकार में। पाठान्तर-भङ्गी-भक्त्या। इस पाठ में 'भङ्गी' मेघ का विशेषण होगा और 'भक्त्या' का अन्वय 'वरचितवपुः' के साथ होगा; अर्थ होगा-भङ्गयुक्त अर्थात् ऊँचा-नीचा, टेढ़ा, उत्थान पतन वाला। 'भाक्त्वा' का अर्थ होगा-आदरपूर्वक अथावा खण्ड-खण्ड करके, अलग-अलग।

विरचितवपुः-विरचितं वपुः शरीर येन सः (बहुव्रीहि); बनाया है शरीर जिसने अथवा विशेष प्रकार बना लिया है शरीर जिसने। स्तम्भितान्तर्जलौघः-स्तम्भितौ घनतां प्रापितोऽन्तर्मध्ये जलस्यौधः समूहो येन सः (बहुव्रीहिः); अन्दर ठोस बना लिया है जल का समूह जिसने। स्तम्भित-√स्तम्भ (रोकना, थामना)+क्त; रोका हुआ, ठोस बनाया हुआ। 'स्तम्भित' का अर्थ 'स्तम्भ के समान किया हुआ' भी हो सकता है। मल्लिनाथ ने इस समास को तनिक भिन्न प्रकार से लिया है। उनके अनुसार इसका अर्थ इस तरह होगा-'ठोस हो गया है अन्दर के जल का प्रवाह जिसका।'

सोपानत्वम्-सोपानस्य कर्म सोपानत्वम्; सीढ़ी का काम। पाठान्तर-सोपानं त्वम्। इस पाठ में 'त्वम्' मेघ के लिये आया हुआ समझना चाहिये और 'सोपानम्' का 'कुरु' के साथ अन्वय होगा। वाक्य का अर्थ होगा-'तुम सीढ़ी बनाना'।

कुरु-√कृ+लोट् मध्यमपुरुष एकवचन परस्मैपद; करो। पाठान्तर-व्रज; जाओ, प्राप्त करो। इस पाठ में भी 'सोपानत्व व्रज' का भाव वही है-'सोपान भाव को प्राप्त करो।'

मणितटारोहणाय-मणीनां तटं मणितटं तस्याऽऽरोहणाय (तत्पुरुषः); मणियों के तट पर चढ़ने के लिये 'मणितट' पद से सम्भवतः कैलास पर्वत का कोई उन्नत प्रदेश अभिप्रेत है। इसलिये अभिप्राय यह है कि जब शिव का हाथ पकड़े पार्वती पैदल घूम रही हों तब मेघ उनके मणितट पर आरोहण के लिये स्वयं को सोपान के आकार का बना लेवे। 'मणितटारोहणेषु' पाठ में भी वही अर्थ होगा। 'सुखषारोहणाय'-पाठ में अर्थ होगा-'सुखदायी स्थनों पर चढ़ने के लिये।' 'पदसुखस्पर्शमारोहणेषु पाठ में 'पदसुखस्पर्शम्' क्रिया-विशेषण होगा और अन्ति पङ्क्ति का अर्थ इस प्रकार होगा-आरोहणेषु पदसुखस्पर्श यथा स्यात्तथा सोपानत्वं कुरु (व्रज(: 'चढ़ाइयों में पैरों का सुखदायी स्पर्श जिस प्रकार हो, उस प्रकार सोपान भाव की प्राप्त हो।'

अग्रयायी-अग्रे याति तच्छीलः, अग्र+√या (जाना)+णिनि, आगे चलने वाला। 'अग्रचारी' पाठ में भी अर्थ वही होगा।।६३ ।

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे धर्मलब्ध्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः।।६४।।

अन्वयः-तत्र अवश्यं सुरयुवतयः वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं त्वां यन्त्रधारागृहत्वं नेष्यन्ति। सखे, यदि घर्मलब्ध्यस्य तव तास्यः मोक्षः न स्यात्, क्रीडालोलाः ताः श्रवणपरुषैः गर्जितैः भाययेः।

अनुवाद-वहां (कैलास में) निश्चय ही देवताओं की स्त्रियां (उनके) कड़ों (के किनारों) की टक्कर से पानी बरसाते हुये तुम्हारा फव्वारा बना देगी। हे मित्र, यदि गर्मी में प्राप्त हुये तुम्हारा उनसे छुटकारा न हो (तो) क्रीड़ा मे चञ्चल उन (देवाङ्गनाओं) को (अपने) कर्ण-कटु गर्जनों से डरा देना।

टिप्पणी-वलयकुलिशौद्घट्टनोद्गीर्णतोयम्-वलयानां कुलिशानि कोटय इति ववलकुलिशानि तेषामुद्घट्टनानि प्रहारा (तत्पुरुषः) तैरुद्गीर्णम् उद्गृष्ट तोयं येन तम् (बहुव्रीहिः); कड़ों के किनारों की मार से छोड़ा है जल जिसने ऐसे (तुम मेघ) को 'कुलिश' का अर्थ वज्र होता है परन्तु यहां लक्षणासे 'कुलिश' का अर्थ किनारा है (देखिये मल्लिनाथ-संस्कृत टीका)। कुछ टीकाकारों ने 'कुलिश' का अर्थ वज्र (=हीरा) किया है। उनके अनुसार 'वलयकुलिश' का अभिप्राय देवाङ्गनाओं के वलय में जड़े हुए हीरक-मणियां है। उद्गीर्ण का अर्थ उद्गृष्ट-तः उगला, छोड़ा बरसाया। पाठान्तरप्र√जनितसलिलोद्गारमन्तःप्रवेशम्। इस पाठ में 'जनितसलिलोद्गारम्' और अन्तः प्रवेशम् का अन्वय 'त्वाम्' के साथ होगा। यह पाठ सन्तोषजनक नहीं है।

यन्त्रधारागृहत्वम्-फव्वारे या फवरे से युक्त गृह की अवस्था को मल्लिनाथ ने 'यन्त्रधारागृहत्वम्' का विग्रह इस प्रकार किया है यन्त्रोत्क्षिप्ता धारा यन्त्रधारास्तासां गृहत्वम्। लेकिन इससे मध्ययमपदलोपी समास हो सकता है-यन्त्रैः क्षिप्ता धारा यन्त्रधारास्तासां गृहत्वम्, अभिप्राय यह है कि सुर-युवतियों के कङ्कनों की रगड़ से मेघ में से जल की धारायें छूटने लगेंगीतो मेघ फव्वारा बन जायगा।

धर्मलब्धस्य-धर्म ग्रीष्मतौ लब्धस्य प्राप्तस्य (तत्पुरुषः); गरमी की ऋतु में प्राप्त हुए का। 'तव' का विशेषण। पाठान्तर धामलब्ध स्य-सुख के लिये प्राप्त हुए का।

क्रीडालोलाः-क्रीडासु केलिषु लोलाश्चञ्चलाः (तत्पुरुषः); खेलों में चञ्चल हुई, प्रमत्त हुई।

भाषयेः-√भी+णिच्+विधिलिङ् मध्यपुरुष एकवचन परस्मैपद; डरा देना। टीकाकारों ने 'भाययेः' के स्थान पर 'भीषयेः' और 'भाप्यः' पाठान्तर भी माने हैं। परन्तु यह पाठान्तर व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं, इसलिये त्याज्य है।।६४।।

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम्।।६५।।

अन्वयः-जलद, हेमाम्भोदप्रसवि मानसस्य सलिलम् आददानः; ऐरावतस्य क्षणमुखपटप्रीति कुर्वम्, कल्पद्रु मकिसलयानि अंशुकानि इव वातैः धुन्वन् नानाचेष्टैः ललितैः तं नगेन्द्रं कामं निर्विशेः।

अनुवाद–हे मेघ, स्वर्ण-कमलों को उत्पन्न करने वाले मानसरोवर के जल को लेते हुए, ऐरावत को क्षणभर के लिये मुंह पर वस्त्र का आनन्द देते हुए (और) कल्प वृक्ष के नूतन पल्लवों को, मनो, सूक्ष्म वस्त्रों को हवाओं से हिलाते हुए (तुम) अनेक प्राकर की क्रियाओं वाले विलासों से उस पर्वत-राज का यथेच्छ उपभोग करना।

टिप्पणी–हेमाम्भोजप्रसवि-प्रसूते इति प्रसवि, प्र+√सू+इनि, हेम्नः सुवर्णस्याऽम्भोजानि कमलानीति हेमाम्भोजानि तेषां प्रसवि हेमाम्भोज प्रसवि (तत्पुरुषः), स्वर्ण के कमलों को उत्पन्न करने वाला। 'सलिलम्' का विशेषण है। यह विश्वास किया जाता है कि गङ्ग आदि के दिव्य जलों में सुवर्णकमल उगते हैं। परन्तु सम्भवतः उन्हें स्वर्णकमल कहने का कारण यह है कि उषा-काल में सूर्य की किरणों से उनकी सुनहरी छटा हो जाती है।

आददानः-आ+√दा+शानच्; लेता हुआ।

कामत्-'निर्विशे' का क्रिया-विशेषण, येथेच्छ, इच्छ के अनुसार। कुछ टीकाकारों ने 'कामम्' को कुर्वन्' का क्रिया-विशेषण माना है, तब दूसर पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा-'ऐरावत को क्षण भर के लिये मुखपट का खूब आनन्द लेते हुए' पाठान्तर-कामात्; इच्छापूर्वक, इच्छा के कारण।

धुन्वन्-√धु+शतृ पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन हिलाता हुआ, कंपाता हुआ।

कल्पद्रुमकिसलयानि-कल्पद्रमस्य किसलयानि (षष्ठीतत्पुरुषः), कल्पवृक्ष के नूतन पल्लवों को। कल्प-वृक्ष पांच देव-वृक्षों में से एक है। यह विश्वास किया जाता है कि यह वृक्ष मनोभिलषित फल दे देता है।

नानाचेष्टैः-नानाऽनेकविधाश्चेष्टाः क्रिया येषु तैः (बहुव्रीहिः); अनेक प्रकार की चेष्टा वाले। 'ललितैः' का विशेषण।

निर्विशेः-निर्+√विश्+विधिलिङ्ग मध्यमपुरुष एकवचन, उपभोग करना 'निर' उपसर्गपूर्वक 'विश्' धातु का अर्थ 'उपभोग करना' अथवा 'पालन करना' होता है।

श्लोक के उत्तरार्ध में बहुत अधिक पाठ-भेद पाया जाता है। धुन्वन् वातैः सजलपृषतैः आदि पाठ में उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार होगा-'जल की बूंदों से युक्त वायुओं द्वारा कल्पवृक्ष के पत्तों को हिलाते (तुम) कान्ति से व्याप्त सफटिकमणियों से उज्जवल उस पर्वत का उपभोग करना।।65।।

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गदुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥६६॥

अन्वयः-कामचारिन्, प्रणयिनः इव तस्य उत्सङ्गे स्रस्तगङ्गदुकूलाम् अलकां दृष्ट्वा त्वं पुनः न ज्ञास्यसे (इति) न, उच्चैर्विमाना या वः काले सलिलोद्गारम् अभ्रवृन्दं कामिनी मुक्ताजालग्रथितम् अलकम् इव वहति।

अनुवाद-हे इच्छानुसार विचरण करने वाले (मेघ), प्रेमी के समान उस (कैलास) की गोद खिसके हुए गङ्ग-रूपी धवल वस्त्र वाली अलका (पुरी) को देखकर तुन न जान सकोगे, (यह बात) नहीं (है), ऊँचे-ऊँचे सात मंजिले भवनों वाली जा (अलका) तुम (मेघों) की ऋतु में जल बरसाने वाले मेघ्न-समूह को, स्त्री मोतियों के गुच्छों से गूंथे हुए केशों को जैसे, धारण करती है।

टिप्पणी-यहां कैलास का प्रेमी, अलका को कामिनी' गंङ्ग को दुकूल तथा अभ्रवृन्द को अलक के समान कहा गया है।

स्रस्तगङ्गदुकूलाम्-गङ्गैव दुकूलमिति गङ्गादुकूलम्, अथवा गङ्गा दुकूलहमिवेति गङ्गादुकूलम्, स्रस्तं गङ्गादुकूलं यस्यास्ताम् (बहुव्रीहिः); खिसक गया है। गङ्गा रूपी धवल वस्त्र जिसका उस अलकाको। स्रस्त-√स्रं स्+क्त। गङ्गाका जल धवल माना जाता है, इसलिये गङ्गा का धवल वस्चा का आरोप किया गया है। 'दुकूल' का अर्थ धवल वस्त्र भी होता है।

पुनः-यहां 'पुनः' अव्यय 'तु' अव्यय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसलिये 'पुनः' का अर्थ 'तो' है। कहने का अभिप्राय यह है कि मेघ तो अलका को अवश्य ही पहचान लेगा, चाहे अन्य कोई न पहचान सके।

वः काले-तुम्हारी ऋतु में अर्थात् वर्षा ऋतु में।

सलिलोद्गारम्-सलिलमुद्गिरतीति सलिलोद्गारम्, सलिलःउद्+√गुण+अण्प्; जल को बरसाने वाला। 'अभ्रवृन्दम्' का विशेषण।

उच्चैर्विमाना-उच्चैरुन्नतानि विमानानि सप्तभूमिकानि भवनानि यस्यां सा (बहुव्रीहिः); ऊँचे हैं सात मंजिलों वाले पर जिसमें। 'विमान' का अर्थ सात मलिलों वाला घर भी होता है। कामिनी के पक्ष में इसका अर्थ होगा-विगतो मानः प्रणयकोपो यस्याः सा विमाना,

उच्चैरत्यधिकं विमाना इति उच्चैर्विमाना, अर्थात प्रणय-कोप से अत्यन्त शून्य। पाठान्तर-विमानैः, सात मंजिल वाले भवन का नाम विमान है। इस पाठ में 'विमानैः' से करण कारक के अर्थ में तृतीया होगी।

मुक्ताजालग्रथितम्-मुक्तानां, मौक्तिकानां जालैर्ग्रथितम्:; मोतियों की लड़ियों से गूंथा हुआ। 'अलकम्' का विशेषण।

अभ्रवृन्दम्-अभ्राणां मेघानां वृन्दं समूहम् (षष्ठीतत्पुरुषः); बादलों के समह को। अलका के ऊपर जल की धवल भाप छा रही है। काले मेघ ऐसे प्रतीत होंगे जैसे कामिनी के काले केश जिनमें मोतियों की लड़ियां लटक रही हों।।६६।।

इति महाकविकालिदासविरचितं मल्लिनाथसूरीकृतसञ्जीवनीटीकायुते टिप्पणीदिभिः
संवलिते मेघदूतकाव्ये पूर्वमेघः।

महाकविकालिदासप्रणीतम्

मेघदूते

उत्तरमेघः

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोय मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं तत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥1॥

अन्वयः– यत्र ललितवनिताः सचित्राः संगीताय प्रहमुरजाः मणिमयभुवः अभ्रंलिहाग्राः प्रसादाः विद्युत्वतं सेन्द्रचापं स्निग्धगम्भीरघोषम् अन्तस्तोयं तुङ्गं त्वां तैः तैः विशेषैः तुलयितुम् अलम् (सन्ति)।

अनुवाद– जिस (अलकापुरी) में सुन्दर स्त्रियों वाले, चित्रों से युक्त संगीत के लिये मृदङ्ग बजाये गये, मणि- जटित फर्शों वाले, और मेघचुम्बी शिखरों वाले महल, बिजली धारण करने वाले, इन्द्र-धनुष से मुक्त, मधुर एवं गम्भीर गर्जन वाले, (अपने) अन्दर जल (धारण करने) वाले (एवम्) ऊँचे तुमसे उन उन गुणों के कारण बराबरी करने में असमर्थ (हैं)।

टिप्पणी– यहां प्रथमा बहुवचनान्त पद प्रासाद के तथा द्वितीया एक वचनान्त पद मेघ के लिये आये हैं और प्रासाद एवं मेघ में उपमानोपमेयभाव स्थापित किया गया है।

विद्युत्वन्तम्– विद्युतः सन्ति अस्य तम् विद्युत् +मतुप् (वत्) द्वितीया एकवचन पुंल्लिङ्ग बिजलियां जिसमें हैं, बिजली से युक्त। त्वाम् का विशेषण।

विद्युत–विद्योतत इति विद्युत वि+√द्युत्+ क्विप् (स्त्रीलिङ्ग), चमकने वाली, बिजली।

ललितवनिताः– ललिता वनिता येषु ते (बहुव्रीहिः), सुन्दर स्त्रियां जिनमें हैं वे (महल) प्रासादाः का विशेषण। यहां महलों में रहने वाली सुन्दर कान्ति वाली स्त्रियों की विद्युत से समानता प्रकट हो गई है।

सेन्द्रचापम्– इन्द्रचापेन सह वर्तत इति सेन्द्रचापः, तम् (बहुव्रीहितसमासः), इन्द्र- धनुष से युक्त को। त्वाम् का विशेषण। (पू॰ मे॰ श्लोक १५ पृ॰ ३४ पर इन्द्रधनुष वह सत-रंगी इन्द्रधनुष से युक्त मेघ की बराबरी करसकते हैं।

संगीताय प्रहतमुरजाः– प्रहतास्ताडिता मुरजा मृदङ्गा येषु ते (बहुव्रीहिः), संगीत के लिये बजाये गये हैं मृदङ्ग (तबले) जिनमें वह संगीत–पू॰ मे॰ श्लोक ५९ पृ॰ १३१ पर टिप्पणी देखिये) । पाठान्तर–संगीतार्थप्रहतमुरजाः। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

स्निग्धगम्भीरघोषम्– स्निग्धो मधुरो गम्भीरश्च घोषो यस्य तम् (बहुव्रीहिः), मधुर और गम्भीर है घोष जिसका। पाठान्तर– स्निग्धमर्जन्यघोषम्, स्निग्धः पर्जन्यघोषो गर्जनं यस्य तम्, मधुर है गर्जन जिसका। यहां त्वाम् से मेघ का निर्देश कर दिया गया है, इसलिये घोष से ही मेघ गर्जन अर्थ की प्रतीति हो जायेगी। अतः गम्भीर के स्थान पर पर्जन्य पाठ अच्छा नहीं है।

अन्तस्तोयम्– अन्तर्मध्ये तोयं जलं यस्य तम् (बहुव्रीहिः), जिनके अन्दर पानी है। त्वाम् का विशेषण।

मणिमयभुवः–मणिमय्यो मणिजटिता भुवः कुट्टिमा तेषां ते (बहुव्रीहिः), मणियों से जुड़ी हैं भूमियों (फर्श) जिनके वे (महल)। महलों की मणियों की कान्ति से चमकते हुए फर्श पानी भरे से प्रतीत होंगे। मणिमय–मणि+मयट् (विकार अर्थ में)। मणियों का बना।

अभ्रं लिहाग्राः अभ्रं मेघं यानि तान्यभ्रंलिहानि, तथाविधान्यग्राणि शिखराणि येषां ते (बहुव्रीहिः), बादल को छूने वाले हैं शिखर (बुर्ज) जिनके। 'प्रासादाः' का विशेषण। अभ्रंलिह– अभ्र+लिह् (चाटना)+ खश् मेघ को छूने वाला ॥१॥

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमान्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम॥२॥

अन्वयः–यत्र वधूनां हस्ते लीलाकमलम्, अलके बालकुन्दानुविद्धम् आनने लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतां श्रीः चूडापाशे नवकुरबकम् कर्णे चारु शिरीषम्, सीमन्ते च त्वदुपगमजं नीपम् (अस्ति)।

अनुवाद–जिस (अलकापुरी) में स्त्रियों के हाथ में क्रीड़ा के लिये कमल केशों में ताजे कुन्द-पुष्पों की गूंथन, मुख पर लोध्र के पुष्पों के पराग से धवल की गई शोभा, केशपाश (–जूड़े) में ताजे कुरबक के फूल, कान में सुन्दर पुष्प और मांग में त्वत्सार आने पर उगने वाला कदम्ब का फूल रहता है।

टिप्पणी–यहां अलकापुरी का वधुओं द्वारा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में खिलने वाले पुष्पों के एक साथ उपभोग के वर्णन द्वारा यह संकेत किया गया है कि उस नगरी में सर्वथा सब ऋतुयें रहती थीं।

लीलाकमलम्–लीलार्थं कमलमिति 'लीलाकमलम्' ('तत्पुरूषः) क्रीड़ा के लिये धारण किया गया कमल। कालिदास ने 'लीलाकमल' का रघवंश (६/१३) और कुमारसंभव (६/४९८) में भी उल्लेख किया है। कमल को शरद ऋतु का पुष्प माना जाता है।

बालकुन्दानुविद्धम्–बालानि कुन्दनि (कर्मधारयः) तैरनुविद्धं' गुम्फान (तत्पुरुषः); नये कुन्द के फूलों की गूंथन। यहां अनुविद्धम् भाववाचक संज्ञा है– अनु+व्यध्+क्त। इसलिये, अनुविद्धम्=अनुवेधः। पाठान्तर–बालकुन्दानुवेधः। अर्थ वही रहेगा। बाल कुन्द हमन्त का प्रतीक है।

लोध्रप्रसवरजसा–लोध्रस्य प्रसवाः पुष्पाणि लोध्रप्रसवास्तेषां रजसां परागेण (षष्ठीतत्पुरुषः); लोध्र वृक्ष के पुष्पों की धूलि से। लोध्र पुष्प शिशिर में खिलते हैं। प्राचीनकाल में लोध्र पुष्प के चूर्ण या पराग को सम्भवतः मुख पर लगाने के काम में लाया जाता था।

आनने.....श्रीः–मुख पर धवलता को प्राप्त हुई शोभा है। पाठान्तर- आननश्रीः,अननस्य मुखस्य श्रीरित्याननश्रीः (षष्ठीतत्पुरुषः); मुख की शोभा।

'चूडापाशे–केशपाश में , जूड़े में। यहां 'पाश' का अर्थ समूह है, इसलिये 'चूडापाश का अर्थ है–केशों का समूह, जूड़ा।

नवकुरबकम्–नवं कुरबकं नवकुरबकम् (कर्मधारयः); ताजा कुरबक का पुष्प। कवि ख्याति के अनुसार कुरबक वृक्ष वनिता के आलिङ्गन पाकर खिलता है। यह बसन्त ऋतु का पुष्प है।

शिरीषम्–सिरस का फूल। शिरीष अत्यधिक कोमल पुष्प है, जो गर्मी में मिलता है। काव्यों में प्रायः इसका कान में लगाने का वर्णन किया जाता है–'अवतसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।' अभिज्ञानशाकुन्तल ॥१४॥

सीमान्ते–मांग में। सीमान्त (=सीमन्+अन्त) केश-वेश अर्थ में पररूपसन्धि होकर बना हुआ शब्द माना जाता है। अन्य अर्थ में 'सीमान्त' शब्द होता है।

त्वदुपगमजम्–तव मेघस्योपगमः त्वदुपगमस्तस्माज्जात त्वदुपगमजम्; तेरे (=बादल के) समीप आने से उत्पन्न 'नीपम्' का विशेषण नीप या कदम्ब वर्षा ऋतु में खिलता है॥२॥

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥३॥

अन्वयः–यत्र पादपाः नित्यपुष्पाः उन्मत्तभ्रमरमुखराः, नलिन्यः नित्यपद्माः हंसश्रेणीरचितरशनाः' भवनशिखिनः नित्यभास्वत्कलापाः केकोत्कण्ठाः, प्रदोषाः नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः।

अनुवाद–जिस (अलका) के वृक्ष हमेशा पुष्पों से युक्त, (अतः) मद से मस्त हुए भ्रमरों से गुञ्जायमान (हैं), कमलोंवाली सदा कमलों से युक्त, हंसों की पङ्क्तियों से बनी हुई तगड़ी वाली (है), घरों के मोर सदा चमकते हुए पंखों वाले, (अतः) बोलने के साथ ऊपर उठी हुई गर्दन वाले (हैं) और रात्रि के प्रारम्भ में सदा चन्द्रिका से युक्त, (अतः) नष्ट हुए अन्धकार के प्रसार वाले और सुन्दर हैं।

टिप्पणी–इसे तथा अगले श्लोक को मल्लिनाथ ने प्रशिप्त माना है, परन्तु फिर भी उसने इन पर टीका लिखी है। यहां श्लोक के क्रम में विभिन्न संस्करणों में अन्तर पाया जाता है। प्रस्तुत संस्करण में मल्लिनाथ के क्रम को अपनाया गया है।

इस श्लोक में भी अलकापुरी का उदात्त किया गया है। वहां वृक्षों पर सदा पुष्प रहते हैं, कमल-लताओं पर हमेशा कमल-पुष्प लगे रहते हैं, मयूरों के पंख सदा निकले रहते हैं और चन्द्रमा हमेशा चमकता रहता है।

उन्मत्तभ्रमरमुखराः–उन्मतैर्भ्रमरैरुन्मत्तभ्रमरैर्मुखराः शब्दायमानाः (तत्पुरुषः), मत्त भौंरों के द्वारा गूंजते हुए। अभिप्राय यह है कि अलका में वृक्षों पर सदा पुष्प रहते हैं, अतः उन पर भौंरे मण्डराते हैं।

नित्यपुष्पाः– नित्य सर्वदा पुष्पाणि येषु ते (बहुव्रीहिः), हमेशा हैं फूल जिन पर। 'पादपाः' का विशेषण।

हंसश्रेणीरचितरशना–हंसनां श्रेण्यो हंसश्रेण्यः (षष्ठीतत्पुरुषः), ताभि, रचितरशना मेखला यासां ताः (बहुव्रीहिः), हंसों की पंक्तियों से बनी है। मेखला (=तगड़ी) जिनकी, अर्थात् जो चारों ओर हंसों से घिरी हुई हैं। 'नलिन्य' का विशेषण। हंस कमल-नाल खाते हैं, अलका में कमलिनियों पर सदा कमल लगे रहते हैं, इसलिये वहां कमलिनियां हमेशा हंसों से घिरी रहती हैं।

नित्यपद्माः– नित्यं पद्मानि यासु ताः (बहुव्रीहिः) हमेशा हैं कमल के फूल जिन पर। 'नलिन्यः' का विशेषण।

केकोत्कण्ठा–उद्गतः कण्ठो ग्रीवा येसां ते उत्कण्ठा उद्ग्रीवाः (बहुव्रीहिः), केकाभिर्मयूरवाणिभिरुक्तकण्ठा, केकोत्कण्ठा, (तत्पुरुषः) बोलने के साथ ऊपर गर्दन किये हुए। मोरों का यह स्वभाव है कि वह बोलते समय गर्दन ऊपर को उठा लेते हैं।

भवनशिखिनः–शिखा चूडैषामस्तीति शिखिनो मयूराः, भवनानां भवनेषु वा शिखिनो भवनशिखिनः (तत्पुरुषः),घरों में रहने वाले (पालतू) मोर।

शिखिन्–शिख+इनि, कलंगी जिसके हो।

नित्यभास्वत्कलापाः–नित्यं सदा भास्वन्त कलापा बर्हाणि येषां ते (बहुव्रीहिः), हमेशा चमकते हुये हैं पेंच जिनके। सामान्यतः मोरों के पेंच वर्षाऋतु में आते हैं, परन्तु अलकापुरी में उनके पेंच हमेशा रहते हैं।

नित्यज्योत्स्नाः–नित्यं सदा ज्योत्स्ना चन्द्रिका येषु ते (बहुव्रीहिः), हमेशा है चांदनी जिनमें। 'प्रदोषाः' का विशेषण। अन्य स्थानों में सदा चांदनी नहीं रहती, परन्तु दिव्य नगरी अलका में सदा चांदनी रहती है। (देखिये, पू० मे० श्लोक ७ पृ० १८)।

प्रतिहततमोवृत्तिरम्या–प्रतिहता तमसां वृत्तिर्व्याप्तिर्येषु (बहुव्रीहिः), ते च रम्याः (कर्मधारयः), नष्ट हो गया अन्धकार का फैलाव जिनमें, (अतः) सुन्दर। 'प्रदोषाः' का विशेषण। पाठान्तर–नित्यज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः। नित्योज्योत्स्नया प्रतिहता तमसां वृत्तिर्येषु ते च रम्याः, हमेशा रहने वाली चांदनी से नष्ट हो गई है तमोवृत्ति जिनमें तथा सुन्दर ।।३।।

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमाशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति
र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ।।४।।

अन्वयः–यत्र वित्तेशानां नयनसलिलम् आनन्दोत्थम्, अन्यैः निमित्तैः न; इष्टसंयोगसाध्यात् कुसुमशरजात् (तापात्) अन्यः न; प्रणयकलहात् अन्यस्मात् (कारणात्) विप्रयोगोपपत्तिः अपि न; यौवनात् अन्यत् वयः च न खलु अस्ति।

अनुवाद–जिस (अलका) में यक्षों के आंसू (हर्ष से ही) उत्पन्न (होते हैं), अन्य कारणों से नहीं; प्रिय जन के मेल से दूर होने वाले,कामदेव से उत्पन्न (ताप) से अतिरिक्त (कोई) सन्ताप नहीं है, प्रणय कलह के अतिरिक्त अन्य (कारण) से वियोग की प्राप्ति भी नहीं है और जवानी के अतिरिक्त कोई दूसरी अवस्था भी नहीं है।

टिप्पणी–आनन्दोत्थम्–आन्दादुत्तिष्ठतीत्यानन्दोत्थम्, आनन्द+उत्+√स्था+क का अलका में यक्षों की आंखों में हर्ष के कारण ही आंसू आते हैं, शोक के कारण नहीं।

कुसुमशरजात्–कुसुमान्येवशरा यस्य स कुसुमशरः कामदेवः (बहुव्रीहिः) तस्माज्जायत इति कुसुमशरजः; तस्मात् पुष्पों के बाण वाले (कामदेव) से उत्पन्न (ताप) से। 'अन्यः' के योग में पञ्चमी विभक्ति। आख्यान के अनुसार कामदेव के पांच पुष्प-बाण माने जाते हैं।

इष्टसंयोगसाध्यात्–इष्टेन प्रियजनेन संयोगस्तेन साध्यात् प्रतीकार्यात् (तत्पुरुषः); प्रियजन के मिलने से प्रतीकार किये जा सकने वाले। कामपीड़ा प्रिय-जन के मिलने से दूर हो जाती है।

प्रणय-कलहात्–मान से। प्रेमी पति के किसी अपराध के कारण पत्नी के रुठ जाने को प्रणय-कलह कहा जाता है। यक्षों का केवल

मान के कारण ही पत्नियों से क्षणिक वियोग होता था, प्रवास या वैधव्य आदि के कारण नहीं। 'अन्यस्मात्' के स्थान पर '० यत्र' पाठ में अर्थ होगा–'प्रणय-कलह' से भिन्न स्थिति में।'

विप्रयोगोपपत्तिः–विप्रयोगस्य विरहस्योपपत्तिः प्राप्तिः (षष्ठीतत्पुरुषः); वियोग की प्राप्ति। विप्रयोगः–वि+प्र √युज्+घञ् भाववाचक संज्ञा; वियोग, बिछोह। उपपत्तिः–उप+√पद्+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग); होना, प्राप्ति।

वित्तेशानाम्–यक्षों की 'वित्तेश' का शब्दार्थ 'धन का स्वामी' है 'वित्तेश' कुबेर और कुबेर के सेवक यक्ष दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। यक्ष कुबेर के कोष की रक्षा करते हैं, इसलिये उन्हें वित्तेश कहा जाता है।

यौवनात्–यूनो भावो यौवनं तस्मात्; युवावास्था से (भिन्न)। 'अन्यत्' के योग में पञ्मी विभक्ति। यक्ष देव योनि के होते हैं इसलिये उनमें बुढ़ापा नहीं होता। 'अन्यद् वयः' का अभिप्राय वृद्धावस्था है।।४।।

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु।।५।।

अन्वयः–यास्यां यक्षाः उत्तमस्त्रीसहायाः (सन्तः) सितमणिमयानि ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि हर्म्यस्थलानि एत्य त्वद्गम्भीरध्वनिषु पुष्करेषु शनकैः आहतेषु कल्पवृक्षप्रसूतं रतिफलं मधु आसेवन्ते।

अनुवाद–जिस (अलका) में यक्ष उत्तम स्त्रियों के साथ मिलाकर स्फटिक मणियों से जटित, (अतः) तारों के प्रतिबिम्ब रूपी कुसुमों से सज्जित, महलों की छतों पर जाकर तुम्हारी गम्भीर ध्वनि के समान ध्वनि वाले तबलों के धीरे से बजाये जाने पर कल्प-वृक्ष से उत्पन्न रति फल नाम की मदिरा का सेवन करते हैं।

टिप्पणी–सितमणिमयानि–सिता मणयः सितमणयः स्फटिकाः (कर्मधारयः), तेषां विकाराः सितमणिमयानि धवल मणियों के बने अर्थात् जिनमें बिम्बग्राही स्फटिक मणियां जड़ी हुई हैं। 'हर्म्यस्थलानि' का विशेषण। मल्लिनाथ ने 'सितमणि' का अर्थ स्फटिक अथवा चन्द्रकान्त किया है।

ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि–ज्योतिषां तारकाणां छाया प्रतिबिम्बान्येव कुसुमानि तैः रचितानि सज्जितानि, तारों के प्रतिबिम्बरूपी फूलों से सजे हुये। मल्लिनाथ ने 'रचित' का अर्थ 'परिष्कृत' (अर्थात् सजे हुए) किया है, परन्तु 'रचित' को भाववाचक संज्ञा मानकर सकता अर्थ 'रचना' (सजावट)भी हो सकता है। पाठान्तर–०कुसुमरचनानि, ज्योतिश्छाया एव कुसुमरचना येषु तानि (बहुव्रीहिः) तारों के प्रतिबिम्ब जिनमें पुष्पों द्वारा की गई सजावट है। स्फटिक-मणियों की बनी महलों की छतों पर तारों की परछाइयां पड़ने से पुष्पों की अकृत्रिम शोभा हो जाती है।

उत्तमशस्त्रीसहायाः– उत्तमाः श्रेष्ठा स्त्रियः सहाया येषां ते (बहुव्रीहिः); श्रेष्ठ (सुन्दर) स्त्रियां हैं साथी जिनकी ऐसे यक्ष।

रतिफलम्–रतिः रतिसुखं फलं यस्य तत् (बहुव्रीहिः), संभोग-सुख है, फल जिसका, रति-फल नाम की मदिरा। मल्लिनाथ ने रतिफल एक प्रकार की मदिरा का नाम माना है और मदिरार्णव नाम के ग्रन्थ से उसका लक्षण उद्धृत किया है। (परिशिष्ट टीका देखिये)। पाठान्तर–रतिरसम्, रतौ रसो यस्मात्तत् (बहुव्रीहिः), रति में जिससे रस हो। मूल में दिया गया पाठ ही अधिक उपयुक्त है।

कल्पवृक्षप्रसूतम्–कल्पवृक्षात् प्रसूतम् (तत्पुरुषः) कल्पवृक्ष से उत्पन्न हो सकती है। प्रसूत–प्र+??? सू (उत्पन्न होना, जन्म करना)+क्त। पाठान्तर–कल्पवृक्षप्रतिम्, कल्पवृक्षस्य प्रसूतिः प्रसवस्ताम् (षष्ठीतत्पुरुषः), कल्पवृक्ष की उत्पत्ति को प्रसूति कहते हैं। प्रसूतिः–प्र+√सू+क्तिन्। इस पाठ में ०प्रसूतिम् मधु का नियतस्त्रीलिङ्ग विशेषण होगा।

त्वद्गम्भीरध्वनिषु–तव गम्भीरध्वनिरिव ध्वनिर्येषां तेषु (बहुव्रीहिः); तेरी गम्भीर ध्वनि के समान है ध्वनि जिनकी पुष्करों का विशेषण।

शनकैः–अव्यय, धीरे से, धीमे-धीमे। 'आहतेषु' का क्रियाविशेषण। 'शनकैः' 'शनैः' अव्यय में अकच्प्रत्यय जुड़कर बना है। 'शनैः' का अर्थ है वही अर्थ 'शनकैः' का है। पान-गोष्ठी में कोमल भाव के सामञ्जस्य में तबला आदि वाद्य धीमे-धीमे बजाये जाते हैं। पाठान्तर–मधुरम्–मीठा-मीठा, धीमे-धीमे। भाव वही है।

आहतेषु–आ+√हन् (पीटना, मारना)+क्त, सप्तमी बहुवचन; बजाये जाने पर। भावलक्षण अर्थ में सप्तमी।।५।।

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥६॥

अन्वयः–यत्र मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः मरुद्भिः सेव्यमानाः, अनुतटरुहां मन्दाराणां छायया वारितोष्णाः, अमरप्रार्थिता कन्या कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैःअन्वेष्टव्यैः मणिभिः संक्रीडन्ते।

अनुवाद–जिस (अलका) में गंगा नदी के जलों के शीतल पवनों द्वारा सेवा की जाती है, तट पर उगे हुए मन्दार वृक्षों की छाया से रोकी गई धूप वाली, देवों द्वारा चाही हुई, कन्यायें सुवर्ण की बालू में मुट्ठी में रखकर छिपाई गई खोजी जाने वाली मणियों से खेलती हैं।

टिप्पणी–मन्दाकिन्याः– 'मन्दाकिनी' गंगा के अनेक नामें मे से एक है। स्वर्ग में स्थित गंगा को मन्दाकिनी कहा गया है। पौराणिक आख्यानों में हिमालय को देवों का वासस्थान माना गया है, इसलिये कैलास में स्थित अलका की समीपवर्तिनी गंगा को मन्दाकिनी कहा है। आजकल भी केदारनाथ में से होकर बहने वाली गंगा की धारा को मन्दाकिनी कहा जाता है।

सलिलशिशिरः–सलिलेन जलेन शिशिरैः शीतलैः (तत्पुरुषः); जल से शीतल। 'मरुद्भिः' का विशेषण। पाठान्तर–पयसि शिशरैः।

सेव्यमानाः–√सेव+शानच् (कर्मवाच्य)+टाप् स्त्रीलिंग प्रथमा बहुवचन, सेवा की जाती हुई। 'कन्या' का विशेषण।

मन्दाराणम्–मन्दार नामक वृक्षों की। मन्दार पांच देव-वृक्षों में से अन्यम् हैं। ये पांच देवतरु मन्दार, पारिजात, कल्प, सन्तान और हरिचन्दान हैं। देखिये अमरकोष–'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दम्॥'

अनुतटरुहाम्–तटे इति अनुतटम् (विभक्ति के अर्थ में अव्ययीभावमास) तत्र रोहन्तीति अनुतटरुहः (अनुतट+रुह+क्विप्), तेषाम्, तट पर उगने वाले (मन्दिरों के। 'मन्दाराणाम्' का विशेषण)।

वारितोष्णाः–वारितः उष्णः यासां ताः (बहुव्रीहिः) रोक दी गई है धूप जिनकी ऐसी (कन्यायें)।

अन्वेष्टव्यैः–अनु+√एष्+तव्य पुल्लिंग तृतीया बहुवचन, खोजी जाने वाली (मणियों) से। 'मणिभिः' का विशेषण। यह स्मरणीय है कि संस्कृत में 'मणि' पुल्लिंग होता है, जबकि हिन्दी में स्त्रीलिंग।

कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः–कनकस्य सिकताः कनकसिकतास्तासु मुष्टौ निक्षेपो मुष्टितिक्षेपस्तेन गूढैः (तत्पुरुषः), सुवर्णमयी बालू की मुट्ठी में रखकर छिपाई गई। 'मणिभिः' का विशेषण। यहां यक्ष-कन्याओं के एक देशी खेल का संकेत दिया गया है। इसमें एक बालक हाथ में छिपाकर किसी मणि आदि वस्तु को रेत में छिपाता है और दूसरे बालक इकट्ठे किये रेत में से उसे खोजते हैं। शब्दार्णव के अनुसार इस खेल को 'गुप्तमणि' या 'गूढमणि' आदि नामों से पुराका जाता है। (संस्कृत-टीका देखिये)। निपेक्ष–नि+√क्षिप्+घञ्। गूढ–√गूह्+क्त।

संक्रीडन्ते–समू+√कीड्+लट् लकार अन्यपुरुष बहुवचन आत्मनेपद, मिलकर खेलती हैं। 'सम्', 'अनु' और 'परि' उपसर्ग पहले होने पर क्रीड् धातु का आत्मनेपद में प्रयोग होता है (क्रीडोऽनुसंपरिभयश्च)।

अमरप्रार्थिताः–अमरैर्देवैः प्रार्थिता वोढुमभिलषिताः (तत्पुरुषः), देवों द्वारा (विवाह में) चाही गई। 'कन्याः' का विशेषण। प्रार्थित–प्र+√अर्थ +क्त; चाहा गया, मांगा गया।

कन्याः–कुमारियां, अविवाहित (या विवाहित) युवती स्त्रियां। 'कन्या' शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है–१. कमनीया भवति, २. क्वेयं नेतव्या, ३. कमनेन नीयते। सम्भवतः 'कन्या' 'कन' से सम्बद्ध है, जो 'कनिष्ठिका कनीयस्' आदि शब्दों में दीखता है॥६॥

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥७॥

अन्वयः–यत्र अनिभृतकरेषु प्रियेषु नीवीबन्धोच्छ्सितशिथिलं क्षौमं आक्षिपत्सु ह्रीमूढानां बिम्बाधराणां चूर्णमुष्टिः अर्चिस्तुङ्गान् रत्नप्रदीपान् अभिमुखं प्राप्य अपि विफलप्रेरणाभवति।

अनुवाद–जिस (अलका) में चञ्चल हाथों वाले प्रेमियों के अधोवसन की गांठ के खुल जाने से ढील हुय रशमी वस्त्र के कारण हटा देने पर लज्जा से हक्की-बक्की हुई, बिम्ब-फल जैसे ओठों वाली (स्त्रियों) की चूर्ण की मुट्ठी किरणों से ऊंचे रत्न के दीपकों के सामने पहुंच कर भी निष्फल फेंकी हुई हो जाती है।

टिप्पणी–नीवीबन्धोच्छ्सितशिथिलम्–नीवी जघनवसनग्रान्थिः सैव बन्ध इति नीवीबन्धः (कर्मधारयः) तस्योच्छ्वासतन वृतन शिथिलं (तत्पुरुषः),अधावसन की गांठ खुल जाने के कारण ढीला। 'नीवी' का अर्थ 'स्त्रियों के नीचे के वस्त्र की 'गांठ' होता है परन्तु यहां साथ में 'बन्ध' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसलिये 'नीवी' का अर्थ अधोवसन समझना चाहिये।' उच्छ्वासित उत् + श्वत्+क्तः खुलना, टूटना। यहां 'क्त' प्रत्यय भाव के अर्थ में हुआ है, इसलिये उच्छ्वसित=उच्छ्वसन।

बिम्बाधराणाम्–बिम्बमिवाधरो तासाम् (बहुव्रीहिः),बिम्ब फल के समान (लाल) ओंठ वाली (स्त्रियों) की। पाठान्तर - यक्षाङ्गनानाम् यक्ष की सुन्दरियों की।

क्षौमम्–क्षुमाया विकारः क्षौमम्, क्षुमा+अण, क्षुमा (अलसी) का बिना, रेशमी या महीन वस्त्र। 'आक्षिपत्सु' का कर्म। पाठान्तर 'कौशेयः वस्त्र।

अनिभृतकरेषु–अनिभृतो चक्रचलौ करो येषां तेषु (बहुव्रीहिः), चपल है। हाथ जिनके। 'प्रियेषु' विशेषण।

आक्षिपत्सु–आ+√क्षिप्+शतृ पुंल्लिङ्ग सप्तमी बहुवचन; हटाते हुये होने पर, खींचते हुए होने पर। 'प्रियषु' का विधेयात्मक विशेषण भावलक्षण के अर्थ में सप्तमी।

अर्चिस्तुङ्गान्–अर्चिर्भिः किरणैस्तुङ्गान् (तत्पुरुषः), किरणों के कारण ऊँचे, अर्थात् ऊपर उठती हुई कान्तियों वाले 'रत्नप्रदीपान् का विशेषण।

रत्नप्रदीपान्–रत्नान्येव प्रदीपा रत्नप्रदीपाः (कर्मधारयः) तान्; रत्नरूपी दीपकों को 'प्राप्य का कर्म'।

ह्रीमूढानाम्–ह्रिया लज्जया मूढानाम् (तृतीयातत्पुरुषः); लज्जा से मूढ हुई (स्त्रियों) की। मूढ??? मुह्+क्त; हक्का बक्का, विमोहित बेसुध। विफलप्रेरणा–विफल निष्फला प्रेरणा क्षेपणं यस्याः सा: (बहुव्रीहिः); बेकार फेंकना जिसका। चूर्णमुष्टिः का विशेषण। भाव मात्र यह है कि प्रियतमों द्वारा राग के कारण वस्त्र हीन की जाती हुई सुन्दरियां लज्जा के मारे दीपक बुझाने के लिये उस पर मुट्ठी भर चूर्ण फेंकती हैं, जिससे अन्धेरा हो जाने पर उनकी नग्नता छिप जाये। परन्तु वहां अलकापुरी में दीपक रत्नों के हैं, जिनकी चमक चूर्ण से नही दब सकती, इसलिये स्त्रियों का चूर्ण फेंकना व्यर्थ हो जाता है।

चूर्णमुष्टिः–चूर्णस्य मुष्टिश्चूर्णमुष्टिः (षष्ठीतत्पुरुषः) चूर्ण (Powder) की मुट्ठी। यहां 'चूर्ण' का अभिप्राय बारीक पिसा हुआ कुंकुम आदि सुगन्धित द्रव्य है।

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानग्रभूमी
रालेख्यानां स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥८॥

अन्वयः–नेत्रा सततगतिना यद्विमानाग्रभूमीः नीताः आलेख्यानां सलिलकणिकादोषम् उत्पाद्य सद्यः शङ्कास्पृष्टाः इव धूमादगारानुकृतिनिपुणा त्वादृशाः जलमुचः जर्जराः जलमार्गैः निष्पतन्ति।

अनुवाद–प्रेरक वायु द्वारा जिस (अलका) के सात मंजिलों वाले भवनों के ऊपर के भागों में ले जाये गये, चित्रों में जल की नन्हीं बूंदों से दोष उत्पन्न करके, तत्काल भय से छूये हुये मानो, धुयें के निकलने का अनुकरण करने में चतुर, तुम जैसे जल वाले मेघ (बादल) छिन्न-भिन्न होकर जालीदार झरोखों में से निकल जाते हैं।

टिप्पणी–नेत्रा–√नी+तृच् तृतीया विभक्ति एकवचन, ले जाने वाले द्वारा, प्रेरक द्वारा। 'सततगतिना' का विशेषण।

यद्विमानग्रभूमिः–यस्या अलकायाः विमानानां सप्तभूमिकभवनानामग्रभूमय उपरिभागाः, ताः (तत्पुरुषः), जिस (अलकापुरी) के सात तल्ले मकानों के ऊपर के भाग पर (ले जाये गये)। द्वितीया विभक्ति बहुवचन, 'नीताः' का कर्म। 'नी' धातू के दो कर्म होते हैं यहां 'नीताः' में कर्म 'जलमुचः' और 'अग्रभूमिः' में द्वितीया विभक्ति है। अग्रभूमि–अग्रा भूरग्रभूमि (कर्मधारयः), ऊपर के भाग तल्ले लज्जा, अटारी। यहां 'अग्रभूमि का अभिप्राय अटारी या सबसे ऊपर की मंजिल है।

सलिलकणिकादोषः, तम् (तत्पुरुषः), जल की नन्हीं बूंदों द्वारा की गई खराबी। जल कणों से चित्र का आधार और रंग फूल जाते हैं, यही मेंघों द्वारा किया गया दोष है। पाठान्तर स्वजलकणिकादोषम् अपने जल की बूंदों के दोष को।

शङ्कास्पृष्टा इव–शङ्कया भयेन स्पृष्टा आक्रान्ताः (तृतीयातत्पुरुषः) भय से हुए-से, भयाक्रान्त से। मेंघों ने जल की बूंदों से चित्र बिगाड़ दिये हैं, इस अपराध के कारण वे भयभीत हैं, इसलिये धुयें का आकार बनाकर खिड़कियों से निकल भागते हैं। यहां 'इव' उत्प्रेक्षा के अर्थ में है, क्योंकि चेतन के धर्म का अचेतन मेघों में समारोप किया गया है। स्पृष्ट–√स्पृश्+क्त।

जलमुचः–जलं मुञ्चन्तीति जलमुचो मेघाः, जल+√मुञ्च्+क्विप् (जलमुच), जल छोड़ने वाले, मेघ। प्रथमा विभक्ति बहुवचन। यहां मेघ के लिये 'जलमुचः' का प्रयोग साभिप्राय है, क्योंकि जल बरसाने वाला मेघ ही चित्रों को बिगाड़ सकता है।

त्वादृशा–त्वमिव दृश्यन्ते इति त्वादृशाः, युष्मद्+√दृश्+कञ्, तेरे समान दीखने वाले, तुम जैसे। क्विन् प्रत्यय लगाकर 'त्वादृश्' शब्द भी होता है।

जालमार्गैः–गवाक्षों के मार्ग से, जालीदार झरोखों के रास्ते से। पाठान्तर-यन्त्रजालैः–,यन्त्रों (पुतली आदि) से युक्त झरोखों से। यत्रा यजालैः पाठ बहुत उपयुक्त नहीं है। मार्ग–√मृग् (खोजना)+ घञ्।

धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः–धूमस्योद्गारो, धूमोद्गारः तस्याऽनुकृतौ निपुणाः (तत्पुरुषः), धुयें के निकलने की नकल करने में चतुर, अर्थात् अयें के समान निकलने वाले। 'जलमुचः' का विशेषण। उद्गारः–उत्+√गृ+घञ्, निकलना, फूठना। अनुकृति=अनु+√कृ+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग), नकल, अनुकरण। पाठान्तर–०निपुणम्। इस पाठ में 'धूमोद्गारानुकृतिनिपुणम्' क्रियाविशेषण होगा–धुयें के निकलने की नकल में निपुणता के साथ निकल जाते हैं।

जर्जराः–छिन्न-भिन्न हुए, बिखरे हुए, अलग-अलग हुए।

इस श्लोक में मल्लिनाथ ने यह ध्वनि बतलाई है–जिस प्रकार दूत द्वारा अन्तःपुर में प्रविष्ट कराये हुए जार स्त्रियों में व्यभिचार दोष उत्पन्न करके डर के मारे वेश बदलकर खिड़की आदि से भाग जाते हैं, उसी प्रकार हवा द्वारा ऊंचे महलों की अटारियों में पहुंचायें गये मेघ वहां बने चित्रों को बूंदों से बिगाड़ कर अपराधा के भय से धुयें का रूप बनाकर जालीदार खिड़कियों के रास्तें से बिखराकर निकल जाते हैं। वहां वायु आलेख्य और मेघ में क्रमशः दूत, नायिका और जार के व्यवहार का समारोप किया गया है।।८।।

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः।।९।।

अन्वयः–यत्र निशीथे त्वत्संरोधापगमविशदैः चन्द्रपादैः स्फुटजललवस्यन्दिनः तन्तुजालावलम्बाः चन्द्रकान्ताः प्रियतमभुजालिङ्गनोवासितानाम् स्त्रीणां सुरतजनिताम् अङ्गग्लानि व्यालुम्पन्ति।

अनुवाद–जिस (अलकापुरी) में अर्ध-रात्रि में तेरे उपरोध के हट जाने से उज्जवल चन्द्रमा की किरणों (के सम्पर्क) के कारण मोटी-मोटी जल की बूंदों को बहाने वाली झालरों से लटकती हुई चन्द्रकान्त मणियां प्रियतमों की भुजाओं से शिथिल हुए आलिङ्गनों वाली स्त्रियों की काम-क्रीड़ा से उत्पन्न शरीर की थकान को दूर करती हैं।

टिप्पणी–प्रियतमभुजोच्छ्वासितालिङ्गितानाम्–प्रियतमानां भुजैरुच्छ्वासितान्यालिङ्गितान्यालिङ्गानानि यासां तासाम् (बहुव्रीहिः), प्रियतमों की भुजाओं से ढीले पड़े हैं आलिङ्गन जिनके, अर्थात् प्रियतमों की भुजाओं से आलिङ्गन ढीला कर दिया है। 'स्त्रीणाम्' का विशेषण। उच्छ्वासित–उत्+√ श्वसत्+णिच्+क्त, शिथिल हुआ, ढीला, पड़ा। आलिङ्गतम्–आ+√ लिङ्ग+क्त, (भाववाचक संज्ञा), आलिङ्गन। पाठान्तर–प्रियतमभुजालिङ्गच्छ्वासितानाम्, प्रियतमानां भुजैर्यान्यालिङ्गनानि तैरुच्छ्वासितानाम्, प्रियतमों की भुजाओं द्वारा किये आलिङ्गनों से शिथिल हुई।

अङ्गग्लानिम्–अङ्गानां ग्लानिरङ्गग्लानिस्ताम् (षष्ठातत्पुरुषः), अङ्गों की थकावट को। ग्लानिः–√ग्लै। (दुःखी होना, क्षीण होना, थकना)+ क्तिन् स्त्रीलिङ्ग भाववाचक संज्ञा, थकान, खिन्नता, भारीपन।

सुरतजनिताम्–सुरतेन संभोगेन जनितां कृताम् (तृतीयातत्पुरुषः), संभोग से उत्पन्न। अङ्गग्लानिम् का विशेषण। जनित–√जन्+णिच्+क्त, उत्पन्न की गई, पैदा की गई।

तन्तुजालावलम्बाः–तन्तूनां जालानि तन्तुजालानि (षष्ठीतत्पुरुषः), तैरवलम्बन्त इति तन्तुजालावलम्बाः, तन्तुजालो (=झालरों) से लटकने

वाली (मणियां)। अवलम्ब–अव+√ लम्ब् (लटकाना)+अच् (कर्ता के अर्थ में) लटकने वाला। भाववाचक संज्ञा के अर्थ में 'अवलम्ब' शब्द घञ् प्रत्यय लगाकर बनता है, तब इसका अर्थ लटकना या सहारा होता है। पाठान्तर–यन्त्रजालावलम्बा (यन्त्र (जाली आदि) से युक्त गवाक्षों से लटकने वाली।

त्वत्संरोधापगमविशैः–संरुध्यत इति संरोधः (सम्+√रुध्+घञ्), तव संरोधत्वत्संरोधस्तस्याऽपगमात्प्रणाशद् विशदः स्वच्छैः तत्पुरु तुम्हारे (मेघ के) आवरण से हट जाने से निर्मल। 'चन्द्रपादैः का विशेषण।

चन्द्रपादैः–चन्द्रस्य पादैः किरणैः (षष्ठीतत्पुरुषः), चन्द्रमा की किरणों से। पाठान्तर–इन्दुपादैः पाठ में भी अर्थ वहा गा 'चन्द्रपादैर्निशीथे' के स्थान पर 'प्रेरिताश्चन्द्रपादैः' और 'चोदिताश्चन्द्रपादैः' पाठ भी पाये जाते हैं। तब 'प्रेरिताः', 'चोदिताः' या 'द्योतिताः' 'चन्द्रकान्ताः' का विशेषण होगा।

व्यालुम्पन्ति–वि+आ+√लुम्प् लट् लकार अन्यपुरुष बहुवचन परस्मैपद, नष्ट करती हैं, दूर करती हैं, खा जाती हैं। शालिवापच थकान दूर हो जाती है।

स्फुटजललवस्यन्दिनः–स्फुटा स्फुटजललवास्तान् स्यन्दन्त इति स्फुटजललवस्यन्दिनः (उपपदतत्पुरुषः), मोटे जलकरण का वहान वाली। 'चन्द्रकान्ताः' का विशेषण। काव्यों में ऐसा वर्णन किया जाता है कि चन्द्रमा की किरणों का सम्पर्क पाकर चन्द्रकान्त मणि द्रवित होकर पानी बहाने लगती है।।९।।

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै
रुदगायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्याः सहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति॥१०॥

अन्वयः–अत्र अक्षय्यान्तर्भवननिधयः विबुधवनितावारमुख्यासहायाः बद्धाः लापाः कामिनः प्रत्यहं रक्तकण्ठैः धनपतियशः उदगा द्भ किन्नरैः सार्ध वैभ्राजाख्यं बहिरुपवनं निर्विशन्ति।

अनुवाद–जिस (अलकापुरी) में घरों के अन्दर अक्षय कोष वाले, अप्सरा वेश्याओं को साथ लिये बातचीत करते हुए कामुक गण प्रतिदिन मधुर कण्ठ वाले (और) कुबरे के यश का उच्च स्वर से गान करने वाले किंपुरुषों के साथ वैभ्राज नाम वाले बाह्य उद्यान का उपभोग करते हैं।

टिप्पणी–अक्षय्यान्तर्भवननिधयः–क्षेतुं शक्याः क्षय्या, न क्षय्या अक्षय्या भवनानामन्तर्मध्येऽन्तर्भवनं निधयः कोषा येषां त (बहुव्रीह क्षीण होने वाले हैं भवनों के अन्दर कोष जिनके। 'कामिनः' का विशेषण। अक्षय्य–नञ्+√क्षि+यत्। शक्यार्थ में 'क्षि' धा से यत्प्रत्यय लगने पर क्रमशः 'क्षय्य' और 'जय्य' रूप बनते हैं, दूसरे रूप 'क्षेय' और 'जेय' बनते हैं। निधिः नि+√धा कि (पुल्लिङ्ग) कोष। अन्तर्भवनम्–भवनानामन्तरित अन्तर्भवनम् (अव्ययीभवसमासः); भवनों के अन्दर।

प्रत्यहम्–अहनि अहनि इति प्रत्यहम्, प्रतिदिनम् (अव्ययीभावसमासः); दिन-दिन, प्रतिदिन।

रक्तकण्ठैः–रक्तो मधुरः कण्ठः स्वरो येषां तैः (बहुव्रीहिः); मधुर हैं कण्ठ जिनके। 'किन्नरैः' का विशेषण। रक्त–√रञ्ज्+क्त गया हुआ, रंगीन, मीठा

उद्गायद्भिः–उत्+√गै+शतृ पुंल्लिङ्ग तृतीया विभक्ति बहुवचन, ऊंचे स्वर में गाते हुए। 'किन्नरैः' का विशेषण।

धनपतियशः–धनानां पतिः धनपतिः कुबेरस्तस्य यशः कीर्तिम् (षष्ठीतत्पुरुषः), धन के स्वामी (कुबेर) के यश का 'उद्गायद्भ कर्म। वैभ्राजाख्यम्–वैभ्राजमिति आख्या नाम यस्य तत् (बहुव्रीहिः), वैभ्राज है नाम जिसका वह (उद्यान)। यह कुबेर का चित्ररथ द्वारा बनाया गया उद्यान है। विभ्राज नाम का गण इसकी रक्षा करता है, इसलिये इसे 'वैभ्राज' भी कहा जाता है। देखिये संस्कृत टीका यह वही उद्यान है जिसे पू॰ मे॰ श्लोक ७ में 'बाह्योद्यान' कहा है। वैभ्राज–विभ्राज+अण, विभ्राज सम्बन्धी।

विबुधवनितावारमुख्यासहायाः–विबुधानां देवानां वनिताः स्त्रियो विबुधवनिता एव वारमुख्याः सत्कृमा वश्यः ताः सहाया य (बहुव्रीहिः), देवों की स्त्री (अप्सरा) सत्कृत वेश्यायें हैं साथी जिसके। 'कामिनः' का विशेषण। यहां 'वनिता' शब्द का अर्थ पत्नी न होकर सामान्य स्त्री या चाही गई स्त्री है, इसलिये 'विबुवनिता' का अर्थ पत्नी न होकर सामान्य स्त्री या चाही गई स्त्री हैं, इसलिये 'विबुधवनिता' का अर्थ 'देवों द्वारा चाही गई' या 'अप्सरा' है। 'वारमुख्या' का अर्थ जन पूजित वेश्या होता (देखिये, संस्कृतटीका में उद्धृत अमरकोष)। वारे वेश्यावृन्दे मुख्या वारमुख्या।

बद्धालापः–बद्ध आलापो यैस्ते (बहुव्रीहिः), बातचीत करते हुए, बातों में मग्न।

बहिरुपवनम्–बहिर्बाह्यभागे उपवनमिति बहिरुपवनम् (तत्पुरुषः), बाहर भाग में स्थित उपवन। पू० मे० श्लोक ७ पृ० १८ पर 'बाह्योद्यान०' पर टिप्पणी देखिये। 'निर्विशन्ति' का कर्म)।

कामिनः–काम एषायस्तीति कामिनः, काम+इनि (मतुबर्थीय), प्रबल वासना-विकार वाले; कामुक।

निर्विशन्ति–निर्+√विश्+लट् अन्यपुरुष बहुवचन, उपभोग करते हैं, आनन्द लेते हैं। (पू० मे० श्लोक ६५ पृ० १४४ पर 'निर्विशेः' पर टिप्पणी देखिये)।।१०।।

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्।।११।।

अन्वयः–यत्र कामिनीनां नैशः मार्गः सवितुः उदये (सति) गत्युत्कम्पात् अलकपतितैः मन्दारपुष्पैः कर्णविभ्रंशिभिः पत्रच्छेदैः कनककमलैः च स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः मुक्ताजालैः हारैः च सूच्यते।

अनुवाद–जिस (अलकापुरी) में काम-पीड़ित (अभिसारिका) स्त्रियों का रात्रि का मार्ग सूर्य के निकलने पर चलने में हिलने के कारण बालों से गिरे हुये मन्दार के फूलों से, कान से गिरे हुये पत्तों के खण्डों और सुवर्ण कमलों से (तथा) स्तन प्रदेश पर टूटे हुए धागों वाले मोती और पुष्पों के हारों से सूचित हो जाता है।

टिप्पणी–गम्युत्कम्पात्–गत्या गमनेनोत्कम्पश्चलनं तस्मात् कारणात् (तृतीयातत्पुरुषः), चलने में हिलने के कारण। हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति। शीघ्रतावश चलने के कारण हिलने से सिर पर लगाये हुये मन्दार-पुष्प आदि गिर जाते हैं, इसलिये यह पता लग जाता है कामिनियां रात्रि में किस मार्ग से आई गई हैं। पाठान्तर–गत्योत्कम्पात्। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

अलकपतितैः–अलकेभ्यः कुन्तलेभ्यः पतितः (पञ्चमी तत्पुरुषः), बालों से गिरे हुए। 'मन्दारपुरुषैः' का विशेषण।

मन्दारपुरुषैः–मन्दराणां देवतरूणां पुष्पैः (षष्ठी तत्पुरुषः), मन्दार नामक देव-वृक्ष के पुष्पों से। मन्दार पांच देव-वृक्षों में से एक है। (उ० मे० श्लोक ६ पृ० १६० पर टिप्पणी देखिय)।

पत्रच्छेदैः–पत्राणां छेदैः खण्डैः (षष्ठीतत्पुरुष), पत्तों के टुकड़ों से। प्राचीन काल में स्त्रियां सजावट के लिये कान में पत्ते भी लगाती थीं। मिलाईये, 'कर्णपल्लव', 'कुवलयदलप्राप्ति' आदि। इसे 'कनककमलैः' का विशेषण भी माना जा सकता है–पत्राणां–छेदाः येषां,तैः, पत्तों के टुकड़े जिनमें लगे हैं। पाठान्तर–पत्रच्छेद्यः। इस पाठ में यह पद 'कनककमलैः' का विशेषण होगा–पत्रों द्वारा बींधे जाने योग्य अर्थात् बीच-बीच में पत्ते लगे हुये सुवर्ण कमलों से। क्लृप्तच्छेदैः या क्लृप्तच्छेद्यैः–पाइ भेद में यह '०कमलैः' का विशेषण होगा–क्लृप्ता कृताच्छेदा येषां तैः, अथवा क्लृप्तं विरचितं छेद्यं छेदार्ह यत्र येषां तैः, कर दिया गया है। विभाग जिनका, अथवा कर दिया गया है टूटने योग्य पत्र जिनका। गत्युकम्प कनककमल के छेदन और भ्रंश का हेतु है।

कनककमलैः–कनकस्य कमलैः (षष्ठीतस्यः), सोने के कमलों से या सुनहरी कमलों से। अलकापुरी के सरों में सुवर्ण-कमल होते हैं। (देखियेख पृ० मे० श्लोक ६५ पृ० १४३-४४ पर 'हेमाम्भोजप्रसवि' पर टिप्पणी)।

कर्णविभं शिभिः–कर्णेभ्यो विभ्रंश्यन्तीति कर्णविभ्रंशीनि तैः (उपपदतत्पुरुषः), कानों से गिरने वाले। विभ्रं शिन्–वि+???भ्रंश+णिनि।

मल्लिनाथ ने 'कर्णविभ्रंशिभिः' का अन्वय केवल 'कनककमलैः' के साथ किया है, और 'पत्रच्छेदैः' का अन्वय अध्याहृत पद 'पतितैः के साथ किया है; परन्तु 'कर्णविभ्रंशिभिः' का अन्वय 'पत्रच्छेदैः और 'कनककमलैः' दोनों के साथ करना उत्तम होगा।

मुक्ताजालैः–मुक्तानां मौक्तिकानां जालैरिति मुक्ताजालैमौक्तिकसरैः;; मोतियों की लड़ियों से, मोतियों के हारों से। मल्लिनाथ ने 'मुक्ताजाल' को सिर पर धारण किया जाने वाला आभूषण समझा है। परन्तु यह सम्भवतः छाती पर लटकने वाला गले में पहनने का आभूषण है।

स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः–स्तनयोः परिसरे प्रदेशे छिन्नानि सूत्राणि येषां तैः (बहुव्रीहिः) स्तन-भाग पर (टकराने से) टूट गये हैं धागे जिनके। मल्लिनाथ ने इसे 'हारैः' का विशेषण माना है, परन्तु इसे 'मुक्ताजालैः' का भी विशेषण रखना ठीक होगा।

हारैः–पुष्प मालाओं से। 'हार' गले का आभूषण है जो मोती या सोने चांदी आदि धातुओं या फूलों का हो सकता है।

नैशः–निशाया अयमिति नैशः, निशा+अण, रात्रि का। 'मार्गः' का विशेषण।

कामिनीनाम्–अतिशयेन काम आसामिति कामिन्यस्तासाम् काम+इति+ङीप् (स्त्रीलिंग), काम -पीड़ित, अर्थात् अभिसारिकाओं के अभिसारिका की परिभाषा साहित्यदर्पण में इस प्रकार दी गई है 'अभिसारयते कान्त या मन्मथवशंगता' स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताऽभिसारिका'।।११।।

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्यां
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः।।१२।।

अन्वयः–यस्याम् (अलकायाम्) चित्रं वासः, नयनयोः विभ्रमादेशदक्षं मधु, किसलयैः सह पुष्पोद्भेदम् भूषणानां विकल्पम् चरणकमलन्यासयोग्यं लाक्षारागं च सकलम् अबलामण्डनम् एकः कल्पवृक्षः सूते।

अनुवाद–जिस (अलकापुरी) में नाना-वर्ण के वस्त्र, नेत्रों को विलास सिखाने में समर्थ मद्य, नूतन-पल्लवों के साथ पुष्पों के विकास, आभूषणों के अनेक प्रकार तथा चरण-रूपी कमल में लगाने योग्य महावर–स्त्रियों की सम्पूर्ण प्रसाधन सामग्री को अकेला कल्पवृक्ष (ही) उत्पन्न कर देता है।

टिप्पणी–मल्लिनाथ ने संस्कृत-टीका में सरकार का उद्धरण देते हुए चार प्रकार के प्रसाधन बतलाये हैं (१) कशधार्य (२) देहधार्य, (३) परिधेय और (४) विलेपन। अलकापुरी में यह चारों प्रकार के प्रसाधान कल्पवृक्ष से ही प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार इस श्लोक में अलका की अद्भूत सम्पति का वर्णन किया गया है।

विभ्रमादेशदक्षम्–विभ्रमाणां विलासानामादेश उपदेशे दक्षं समर्थम् (तत्पुरुषः), (नेत्रों को) विलास सिखाने में समर्थ 'मधु' का विशेषण।

पुष्पोद्भेदम्–पुष्पाणामुद्भेदो विकासस्म् (तत्पुरुषः), पुष्पों का खिलना। उद्भेदः–उत्+√भिद्+घञ्, फूटना, खिलना विकास

भूषणानां विकल्पम्–आभूषणों की विविधता विविध प्रकार के आभूषण।

मल्लिनाथ ने 'विकल्पम्' के स्थान पर 'विकल्पान्' बहुवचन पाठ दिया है।

विकल्पः–विविधं कल्प्यते इति विकल्पः, वि+√क्लृप्+घञ्:, अनेक प्रकार से बनाना, प्रकार (design) नमूना किस्म

लाक्षारागम्–लाक्षेव राग इति लाक्षारागः (कर्मधारय) तम् लाक्षारस को। प्राचीन काल में लाक्षा (=लाख) के रस को हाथ पैर आदि में लगाने के काम में लाया जाता था।

चरणकमलन्यासयोग्यम्–चरणौ कमले इवेति चरणकाले (उपमितसमासः); तत्र न्यासस्य योग्यम् (तत्पुरुषः) कमल जैसे चरणों में लगाने योग्य। 'लाक्षारागम्' का विशेषण। न्यासः नि+√अस् (फेंकना)+घञ्: रखना लगाना।

यस्याम्–जिस (अलका) में। पार्श्वाभ्युदय में 'यस्याम्' के स्थान पर 'यस्मिन्' पाठ है और इस श्लोक को 'लक्षय्यान्तर्वनान्तं' इत्यादि श्लोक १० के बाद रखा गया है। वहां 'यस्मिन्' का वैभ्राज उद्यान है।

अबलामण्डनम्–मण्ड्यतेऽनेनेति मण्डनम्√मण्ड्+ल्युट् (करणों),अबलानां मण्डनमबलामण्डनम् (षष्ठीतत्पुरुषः), स्त्रियां के लिए सामग्री।

इस श्लोक को दक्षिणावर्त तथा भरतमल्लिक आदि कई टीकाकारों ने प्रक्षिप्त समझ कर छोड़ दिया है, परन्तु यह पार्श्वाभ्युदय में पाया जाता है।।१२।।

पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रस्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात्।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः।।१३।।

अन्वयः–यत्र वाहाः पत्रश्यामाः दिनकरहयस्पर्धिनः, करिणः शैलोदग्राः प्रभेदात् त्वम् इव वृष्टिमन्तः (च), योधाग्रण्यः संयुगे प्रतिदशमुखं तस्थिवांसः चन्द्रहासव्रणाङ्कैः प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः।

अनुवाद–जिस (अलका) में घोड़े पत्तों के समान हरे (इसलिये) सूर्य के घोड़ों की बराबरी करने वाले हैं), हाथी पर्वत के समान ऊंचे

ऊँचे (और) मद बहने के कारण तेरे समान वर्षा करने वाले (हैं), श्रेष्ठ भट युद्ध में रावण के सामने ठंहर चुके हुए (इसलिये) (रावण की) चन्द्रहास नामक तलवार के घावों के चिह्नों के कारण आभूषणों की इच्छा त्यागे हुये (हैं)।

टिप्पणी–पत्रश्यामाः–पत्राणीव श्यामा इति पत्रश्यामाः (उपमितसमासः) पत्तों के समान हरे। 'वाहाः' का विशेषण। संस्कृत–काव्यों में काले, नीले और हरे में अन्तर नहीं किया जाता है। पाठान्तर–शष्पश्यामाः, सस्यश्यामाः। सूर्य के घोड़ो का वर्ण भी हरा माना जाता है। इसलिये अलकपुरी के घोड़े वेग तथा वर्ण में सूर्य के घोड़ो की बराबरी करने वाले हैं।

दिनकरहयस्पर्धिनः–दिनं करोतीति दिनकरः सूर्यः, तस्य हया अश्वा दिनकरहयास्तान् स्पर्धन्त इति दिनकरहयस्पर्धिनः, सूर्य के घोड़ों की स्पर्धा करने वाले। दिनकरः–दिन+√कृ+ट (अ), सूर्य। स्पर्धिन–√स्पृध्+णिनि।

शैलोदग्राः–शैलः पर्वत इव उदग्रा उन्नता इति शैलोदग्राः (उपमितिसमासः), पर्वत के समान ऊँचे।

वृष्टिमन्त–वृष्टिर्वमर्षणमेषामस्तीति वृष्टिमन्तो वर्षणशीलाः, वृष्टि+मतुप्, (मद+जल का) वर्षा करने वाले। वृष्टिः=वृष्–(बरसना)+क्तिन् (स्त्रीलिंग), वर्षा।

प्रभेवात्–प्रभिद्यत इति प्रभेदस्तस्मात् (प्र+भिद्+घण्), (मद् के) फूटने से। जैसे मेघ जल की वर्षा करते हैं, वैसे ही अलकापुरी में हाथी मदस्राव के कारण मद की वर्षा करते हैं। इससे प्रकट होता है कि अलका के हाथी गन्ध-गज थे।

योधाग्रण्य–अग्रं नयतीत्यग्रणीर्मुख्यः, योधानामग्रणीर्योधाग्रणीः (षष्ठीतत्पुरुषः), ते च बहव इति योधाग्रण्यः सेनामुख्याः, सैनिकों के मुखिया, श्रेष्ठ योद्धा। योधः–√युध्+अच्, योद्ध सैनिक। अग्रणीः–अग्र+√नी+क्विप्, (सेना के) अग्रभाग का नेतृत्व करने वाला।

प्रतिदशमुखम्–दश मुखानि यस्य स दशमुखो रावणः (बहुव्रीहिः), दशमुखं प्रति इति प्रतिदशमुखम् (अव्ययीभावसमासः),दस मुख वाले (रावण) के सामने। पाठान्तर–प्रतिदशमुखम् दिशि इतिप्रतिदिशम्; प्रतिदिशं मुखं यस्य तम, हर दिशा में जिसका मुख है, दिशायें दस मानी जाती हैं और रावण के भी आख्यान के अनुसार दस मुख थे, इसलिये प्रत्येक दिशा में उसका मुख हो जायेगा।

तस्थिवांसः–√स्था+क्वसु (वस्) पुंल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन, ठहर चुके हुए, सामना कर चुके हुये। 'योधाग्रण्यः' का विशेषण।

प्रत्यादिष्टा त्यक्ताऽऽभरणानां रुचिरभिलाषा यैस्ते (बहुव्रीहिः), छोड़ दी है आभूषणों की अभिलाषा जिन्होंने। प्रत्यादिष्ट–प्रति+आ+√दिश्+क्त, छोड़ा, उपेक्षित, तिरस्कृत। वीर-योद्धाओं का आभूषण बलवान नहीं। अलका के योद्धा रावण की तलवार के प्रहार सह चुके हैं, इसलिये उनकी आभूषणों की अभिलाषा समाप्त हो गई है। आख्यान के अनुसार कुबेर वैश्रवण रावण का भाई था और रावण ने कुबेर पर आक्रमण करके उसका पुष्पक विमान तथा कोष छीन लिया था।

चन्द्रहासव्रणाङ्कैः–चन्द्रहासस्य व्रणानि चनद्रहासव्रणानि (तत्पुरुषः) तान्योवाऽङ्काश्चिह्नानि तैः (कर्मधारयः), अथवा तेषामङ्कैः किणैः (षष्ठीतत्पुरुषः), चन्द्रहास नाम की (रावण की) तलवार के घाव रूपी चिह्नों के कारण, अथवा घावों के निशानों के कारण। 'चन्द्रहास' रावण की तलवार का नाम था। चन्द्रहास का अर्थ तलवार भी होता है।

मल्लिनाथ ने इस श्लोक को पूर्वमेघ उज्जयिनी-वर्णन में रक्खा है, लेकिन पार्श्वाभ्युदय तथा अनेक संस्करणों में इसे इसी स्थल पर रक्खा गया है।।१३।।

मत्वां देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
सभ्रूभङ्गःप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै
स्तस्यारम्भश्चतुरवनितावि्भ्रमैरेव सिद्धः।।१४।।

अन्वयः–यत्र मन्मथः धनपतिसखं देवं साक्षात् वसन्तं मत्वा भयात् षट्पदज्यं चापं प्रायः न वहति, तस्य आरम्भः सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येषु अमोघैः चतुरवनितावि्भ्रमैः एव सिद्धः।

अनुवाद–जिस (अलका) में कामदेव कुबेर के मित्र महादेव को प्रत्यक्ष रूप से रहता हुआ जानकर भय के कारण भौंरों रूपी डोरी वाले धनुष को बहुधा धारण नहीं करता, (क्योंकि) उसका काम टेढ़ी भौं करके चलाये गये नेत्रों वाले, कामुक-जन रूपी निशानों पर अचूक चतुर स्त्रियों के हाव भावों से ही बन जाता है।

टिप्पणी–मत्वा देवं..... साक्षद्वसन्तम्--अलकापुरी के बाह्योद्यान में शिव साक्षात् रूप से रहते हैं। (देखिये, पू॰ मे॰ श्लोक ७ पृ॰ १६)।

धनपतिसखम्–धनपतेः सखायमिति धनपतिसखम् (षष्ठीतत्पुरुषः), धनपति (कुबेर) के मित्र के (देव) को। 'देवम्' का विशेषण। तत्पुरुष समास के अन्त में 'सखि को 'सख' हो जाता है।

षटपदज्यम्–षट् पदानि येषां ते षट्पद भ्रमरा एव ज्या गुणो यस्य तम् (बहुव्रीहि:), भौरें ही हैं डोरी जिसकी। काव्यों में कामदेव के धनुष की डोरी को भौरों की बनी हुई कहा जाता है। शिव कामदेव को अपने तीसरे नेत्र की अग्नि से भस्म कर चुके हैं इसलिये उनसे कामदेव शिव के सामने अपना धनुष नहीं उठता है। परन्तु कामी जनों को अपने वश में करने का कामदेव का काम वनिताओं के विलासों से बन जाता है, इसलिये कामदेव को जोखिम उठाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

सभ्रूभङ्गप्रहितनयनै:–भ्रुवोर्भङ्गो भ्रूभङ्गस्तेन सहितं स्यात्तथा प्रहिते चालिते नयने येषु तै: (बहुव्रीहि:), टेढ़ी भौं के साथ फेंके गये हैं जिनमें ऐसे (विलासों) से 'विभ्रमै:' का विशेषण।

कामिलक्ष्येषु–कामिन एव लक्ष्याणि तेषु (कर्मधारय:', कामुक रूपी लक्ष्यों पर। पाठान्तर–कामिलक्षेषु। अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

चतुरवनितावि‌भ्रमै:–चतुराश्च ता वनिताश्चेति चतुरवनिता: (कर्मधारय:) तासां विभ्रमा विलासास्तै: (तत्पुरुष:), विदग्ध स्त्रियों के विलासों से।

विभ्रम:–वि√+भ्रम+घञ्, विलासयुक्त चेष्टायें, हाव-भाव, शृङ्गारिक चेष्टायें। पाठान्तर–चटुलवनितावि‌भ्रमै:। इस पाठ में चटुल का अर्थ है–चञ्चल, सुन्दर।।१४।।

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूरात्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
तस्योपान्ते कृतकतनय: कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकमितो बालमन्दारवृक्ष:।।१५।।

अन्वय:–तत्र धनपतिगृहान् उत्तरेण अस्मदीयम् आगारं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरेणेन दूरात् लक्ष्यम्, अस्य उपान्ते मे कान्तया वर्धितो न कृतकतनय: हस्तप्राप्यस्तबकनमित: बालमन्दारवृक्ष: (अस्ति)।

अनुवाद–वहां (अलका में) धन का स्वामी (कुबेर) के महल से उत्तर की ओर पास ही हमारा घर इन्द्र धनुष के समान सुन्दर मेहराबदार दरवाजे से दूर से (ही) पहचाना जा सकता है, जिसके पास में मेरी प्रियतमा द्वारा पाला हुआ, गोद लिया हुआ हाथ की पहुंच में आ सकने वाले फूलों के गुच्छों द्वारा झुकाया गया छोटा सा मन्दार पेड़ है।

टिप्पणी–इस तथा आगे के चार श्लोकों में यक्ष अपने घर की पहचान बतलाता है।

धनपतिगृहानुत्तरेण–धनपतेगृहा धनपतिगृहास्तानुत्तेण, धन के स्वामी (कुबेर) के घर से उत्तर की ओर पास ही। 'गृह' शब्द की प्रकृति बहु में बहुवचन से ही प्रयोग होता है। 'उत्तरेण' एनप-प्रत्ययान्त शब्द है इसलिये इसके योग में 'गृहान्' में द्वितीया विभक्ति है। दक्षिण आदि शब्दों में सामीप्य अर्थ में 'एनप्' प्रत्यय जोड़ जाता है। पाठान्तर–गृहादुत्तरेण। मल्लिनाथ ने इस पाठ-भेद का निर्देश किया है और इस पाठ में 'उत्तरेण' को तृतीयान्त पद मानका 'तोरणेन' के विशेषण के रूप में योजना की है। तब अर्थ होगा कुबेर के भवन से उत्तर के तोरण से। श्री कर्माकर आदि सम्पादकों ने 'गृहादुत्तरेण' पाठ में भी 'उत्तरेण' को, एनप्प्रत्यान्त शब्द मानकर इसे कवि-व्यवहार का उदाहरण मानना अधिक उचित समझा है।

अस्मदीयम्–अस्माद्+छ (ईय), हमारा। यहां 'अस्मदीय' के प्रयोग के यक्ष की कुलीनता प्रकट होती हैं। यक्ष का घर पैतृक सम्पत्ति की परम्परा से प्राप्त था।

सुरपतिधनुश्चारुणा–सुराणां पति: सुरपतिस्तस्य धनुरिव-चारुस्तेन (उपमितसमास:), इन्द्र-धनुष के समान सुन्दर। 'तोरणेन' का विशेषण। इस समास को अन्य तरह भी खोला जा सकता है–सुरपतेर्धनुषा चारुणा, अर्थात् इन्द्रधनुष से सुन्दर। तब भाव यह है कि गोपुर के तोरण पर इन्द्रधनुष का रंग बिरंगा चित्र बनाया गया था अथवा तोरण पर रंग विरंगी मणियां और वर्ण इस क्रम में योजित किये गये थे कि उनसे इन्द्रधनुष की झलक हो जाती थी। पाठान्तर–त्वदमरधनुश्चारुणा, त्वत्सम्बन्धि, अमरधनुस्त्वदमरधनुस्तद्वत् चारुणा तेरे इन्द्रधनुष के समान सुन्दर।

यस्योपान्ते–जिसे (घर) के समीप में पाठान्तर–यस्योद्याने, जिस (घर) के बाग में। यह पाठ अधिक उचित है, परन्तु मल्लिनाथ ने 'उपान्ते' पाठ ही रक्खा है।

कृतकतनय:–कृत एव कृतक:, कृतकश्चासौ कृतकतनय: (कर्मधारय:),गोद लिया पुत्र, दत्तक पुत्र, धर्मपुत्र यहां 'कृतकतनय:' का अभिप्राय 'पुत्र के समान माना गया' है। धर्मशास्त्रों में माने गये १२ प्रकार के पुत्रों में 'दत्तक' का तीसरा या चौथा स्थान है।

हस्तप्राप्यस्तबकनमित–हस्तेन प्राप्या हस्तप्राप्यास्ते च स्तबका इति हस्तप्राप्यस्तबका: (कर्मधारय:) तैर्नमित: (तृतीयातत्पुरुष:) : पाठ में

पहुचे जा सकने वाले फूलों के गुच्छों से झुकाया गया। प्राप्य–प्र+√आप्+ण्यत् जिस पाया जा सके, जिस तक पहुंचा जा सके। नमित–√नम्+णिच्+क्त, झुकाया गया। 'बालमन्दारवृक्षः' के इस विशेषण से यह प्रकट किया गया कि वह वृक्ष यक्ष को तथा उसकी पत्नी को इतना प्रिय था कि वे उसके नीचे लगे फूल भी नहीं लतोड़ते थे, इसलिये वह फूलों में झुका रहता था। पाठान्तर–॰विनतः हाथ की पहुंच में आ सकने वाले फूलों के गुच्छों से झुका हुआ। वि+√नम्+क्त।

बालमन्दारवृक्षः–बालश्चासौ मन्दारवृक्षश्चेति बालमन्दारवृक्षः (कर्मधारयः) छोटा मन्दार का पेड़। मल्लिनाथ ने इस श्लोक की टीका में 'बालमन्दारवृक्षः' का अर्थ 'कल्पवृक्षः' किया है जो उसकी मूल प्रतीत होती है।।१५।।

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्नां विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्यः हंसाः।।१६।।

अन्वयः–अस्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा स्निग्धवैदूर्यनालैः हैमैः विकचकमलैः छन्ना वापी च (अस्ति), यस्याः तोये कृतवसतयः व्यपगतशुचः हंसा त्वां प्रेक्ष्य सन्निकृष्टं मानसं न आध्यास्यन्ति।

अनुवाद–और इस (मेरे घर) में पन्ने की सिल्लियों से बनी हुई सीढ़ियों वाली, चिकने लहसुनिये रत्न के समान नाल वाले, सुवर्ण-मय, खिले हुये कमलों से ढकी हुई बावड़ी है, जिसके जल में वास करने वाले, (अतः) दुःख नष्ट हुए हंस तुम्हें देखकर भी समीपवर्ती मानसरोवर के लिये उत्सुक नहीं होते हैं।

टिप्पणी–वापी-बावड़ी, चौड़ा कुआं, जिसमें उतरने के लिये सीढ़ियां बनी हों। काव्यों से राजभवनों एवं धनिकों के गृहों में वापी या दीर्घिका का प्रायः उल्लेख रहता है। दिल्ली में फीरोजशाह कोटला तथा महरौली में कई प्रसिद्ध बावड़ियां है।

मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा–मरकतशिलाभिर्हरिन्मणिशिलाभिर्बद्धों विरचितः सोपानमार्गः सोपानपङ्क्तिर्यस्याः सा (बहुव्रीहिः),पन्ने (हरे रंग के कीमती पत्थर) की शिलाओं से बनी हुई सीढ़ियों के कतार (परम्परा)जिसकी। 'वापी' का विशेषण।

हैमैः–हेम्नः स्वर्णस्येमानीति हैमानि तैः, हेमन्+अण्, सोंने के स्वर्णमय, 'विकचकमलैः' का विशेषण।

छन्ना–√छद्+क्त+टाप् (स्त्रीलिङ्ग), ढकी हुई, आच्छादित। 'वापी' का विशेषण। पाठान्तर–स्फीता√स्फाय् (बढ़ना)+क्त, बढ़ी हुई, भरी हुई।

स्निग्धवैदूर्यनालैः–स्निग्धं चिक्कणं वैदूर्यवन्नालं येषां तैः (बहुव्रीहिः), चिकना है वैदूर्य (लहसुनिया रत्न) के समान नाल जिनका। '॰कमलैः' का विशेषण। मल्लिनाथ ने इस समास को भिन्न प्रकार से खोला है–स्निग्धानि, वैदूर्याणि (वैदूर्यमणिविकारा) नालानि येषां तैः चिकने हैं वैदूर्य-मणि के बने हुए नाल जिनके। इसके अनुसार समझ में यह आता है कि उस बावड़ी के कमलों के नाल-वैदूर्य-मणि के बने थे, अर्थात् वह कमल कृत्रिम थे। वैदूर्य या वैदूर्य लहसुनिया रंग की मणि को कहते हैं। यह माना जाता है कि विदूर या विडूर नामक पर्वत में होती है, इसलिये इसे (विदूर+ञ्य) कहते हैं। पाठान्तर–दीर्घवैदूर्यनालैः, दीर्घाणि वैदूर्यनालानि येषां तैः, लम्बे हैं वैदूर्य जैसे नाल जिनके।

कृतवसतयः–कृता वसतिर्वासो यैस्ते (बहुव्रीहिः), किया है वास जिन्होंने, वास करने वाले।

संनिकृष्टं मानसम्–समीपस्थ मानसरोवर का। 'आध्यास्यन्ति' का कर्म।

न आध्यास्यन्ति–आ+√ध्यै+लृट् अन्यपुरुष बहुवचन, उत्कण्ठापूर्वक स्मरणन करेंगे। पाठान्तर–न आध्यायगित, उत्कण्ठापूर्वक स्मरण नहीं करते हैं। न ध्यायन्ति, ध्यान नहीं करते हैं।

व्यपतशुचः–व्यपगता शुक् येषां ते (बहुव्रीहिः) नष्ट हो गया है दुःख जिनका। 'हंसाः' का विशेषण। यह विश्वास किया जाता है कि वर्षा ऋतु में अन्य झील-तड़ागों का पानी मलिन हो जाता है, जिससे हंसों में रोग फैल जाता है, इसलिए वर्षा ऋतु में हंस मानसरोवर में चले जाते हैं। परन्तु यक्ष के घर की वापी में वर्षा ऋतु में भी स्वच्छ जल रहता है इसलिये उसमें रहने वाले हंस मेघ को देखकर भी मानसरोवर में जाने का विचार नहीं करते, यद्यपि मानसरोवर वहां के पास ही है। (पू॰ मे॰ श्लोक ११ देखिये)।।१६।।

तस्यास्तीरे रचितशिखिरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः
मद्गेहिन्याः प्रिय दति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि।।१७।।

अन्वय:–तस्या: तीरे पेशलै: इन्द्रनीलै: रचितशिर: कनककदलीवेष्टन प्रेक्षणीय: क्रीडाशैल: (अस्ति)। सखे, उपान्तस्फुरितविद्युतं त्वा प्रेक्ष्य–मद्गोहिन्या: प्रिय: इति–कातरेण चेतसा तम् एव स्मरामि।

अनुवाद–उस (बावड़ी) के किनारे पर सुन्दर नीलम मणियों से बनी हुई चोटी वाला (और) सुनहरी केलियों का बाड़ के कारण सुन्दर दीखने वाला क्रीड़ा पर्वत है। हे मित्र, किनारों पर चमकती हुई बिजली वाले तुमकों देखकर–मेरी घर वाली का प्रिय है इस कारण=व्याकुल चित्त से उसे ही याद कर रहा हूं।

टिप्पणी–तस्या: तीरे–उस (बावड़ी) के किनारे। पाठान्तर–यस्यास्तीरे, जिस (बावड़ी) के किनारे।

रचितशिखर:–रचितं शिखरं यस्य स: (बहुव्रीहि:) बनाई गई चोटी जिसकी। 'क्रीडाशैल:' का विशेषण। पाठान्तर विहितशिखर: इस में कोई अन्तर नहीं है। निचितशिखर:, निचितं व्याप्तं शिखरं व्याप्त शिखरं यस्य स:, ढका हुआ है शिखर जिसका।

कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीय:–कनककदलीनां वेष्टनं कनककदलीवेष्टम् (षष्ठीतत्पुरुष:), तेन प्रेक्षणीयो दर्शनाय तृतीयातत्पुरुष: सुनहरी कलियों के घेरे के कारण देखने योग्य। 'क्रीडाशैल:' का विशेषण। पाठान्तर–कनककदलीवेष्टन: कनककदलीनां वेष्टनं यस्य स: (बहुव्रीहि:), सनहरी केलियों की बाड़ वाला।

मद्गोहिन्या:–मम गोहिनी मद्गेहिनी (षष्ठीतत्पुरुष:) तस्या:, मेरी घर वाली का। 'गेहिना' 'गृहिणी' का प्राकृत रूप है, जिस संस्कृत में अपना लिया गया है। गेहिनी का अर्थ 'घर की स्वामिनी है।

कातरेण–व्याकुल, घबराया हुआ। 'चेतसा' का विशेषण। यक्ष के चित्त की व्याकुलता का कारण यह था कि क्रीड़ाशैल यक्ष को भी प्रिय था, इसलिय वह यक्ष को भी प्रिय था कि क्रीड़शैल का शिखर इन्द्रनील मणियों से नीला था और उसके चारों ओर सुनहरी वर्ण की केलियों की बाड़ थी, इसलिये वह बिजली से व्यापत कांले मेघ के समान था। इसलिये सदृश वस्तु मेघ को देखकर यक्ष को क्रीडाशैल का स्मरण हो आना बिल्कुल स्वाभाविक था।

सदृश वस्तु मेघ को देखकर क्रीड़ाशैल की स्मृति का कथन किये जाने के कारण यहां 'स्मरण' अलङ्कार है।।१७।

रक्ताशोकश्चलकिसलय: केसरश्चात्र कान्त:
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एक: सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्या:।।१८।।

अन्वय:–अत्र कुरबकवृते: माधवीमण्डस्य प्रत्यासन्नौ चलकिसलय: रक्ताशोक: कान्त: केसर: च। मया सह एक: (दोहदव्याजेन) तव सख्या: वामपादाभिलाषी, अन्य दोहदच्छद्मना अस्या: वदनमदिरां काङ्क्षतौ

अनुवाद–यहां (क्रीड़ा शैल पर) कुरबक की बाड़ वाले माधवीलता के कुञ्ज के बिल्कुल पास में स्थित हिलात [illegible] वाला अशोक और सुन्दर मौलसिरी के पेड़ हैं। मेरे साथ-साथ (उनमें से)एक (अशोक) (दोहज के ब्याज से) तेरी सखी के बायें पैर (के प्रहार) का अभिलाषी है, और दूसरा दोहर के ब्याज से इसके मुख की मदिरा की अभिलाषा करता है

टिप्पणी–रक्ताशोक:–लाल (फूलों वाला) अशोक का पेड़। अशोक दो प्रकार का होता है–(१) श्वेत पुष्पों वाला और [illegible] पुष्पों वाला। (संस्कृत टीका देखिये)। कवि सम्प्रदाय में परम्परागत वर्णन के अनुसार अशोक वृक्ष युवतियों के बायें पैर से [illegible] पर खिलता है, जैसा कि श्लोक के तीसरे चरण में वर्णन किया गया है। चलकिसलय:–चलानि किसलयानियस्य स: (बहुव्रीहि:) चञ्चल पत्तों वाला। 'रक्ताशोक:' का विशेषण।

केसर–बकुल या मौलसिरी के वृक्ष। कवि-परम्परागत वर्णन के अनुसार यह युवतियों द्वारा शराब के कुल्ले किय जाने पर [illegible]

प्रत्यासन्नौ–प्रति+आ+√सद्+क्त, पुंल्लिङ्ग प्रथमा द्विवचन, समीप में स्थित।

कुरबकवृते–कुरबकानां एव दूतिर्वेष्टनं यस्य तस्य (बहुव्रीहि:), कुरबक (कटसरैया) की है बाड़ जिसकी। माधवीमण्डस्य का विशेषण।

मावधीमण्डपस्य–मधौ भवा माधव्य: (मधु+अण्+ङीप्) तासां मण्डपस्तस्य (षष्ठीतत्पुरुष:),वासन्ती लता के कुञ्ज का [illegible] लता को वासन्ती और अतिमुक्ता भी कहा जाता है। यह लता वसन्त-ऋतु में खिलती है इसलिय इसके वासन्ती और माधवी नाम [illegible] हैं। संस्कृत-काव्यों का यह बहुत ही लोक प्रिय विषय है। इसे बोल-चाल की भाषा में 'मोगरा' कहत हैं।

मया सह–मेरे (यक्ष के) साथ। अभिप्राय यह है कि जैसे अशोक और बकुल दोहद के रूप में यक्षिणी के पाद–प्रहार और मुख-मदिरा के अभिलाषी हैं, उसी प्रकार यक्ष भी संवाहन के लिये उसके चरणों की ओर पीने के लिये उसके मुख से स्पर्श किये गये मद्य की अभिलाषा करता है।

वामपादाभिलाषी:–वाम: पादो वामपाद: (कर्मधारय:), तमभिलषतीति वामपादाभिलाषो (उपपदमास:), बायें पैर की इच्छा करने वाला। अभिलाषिन्–अभि+√लष्+णिनि अथवा अभिलाषोऽस्यास्तीति अभिलाषी, अभिलाष+इनि (मत्वर्थीय),अभिलाषा करने वाला, इच्छुक।

वदनमदिराम्–वदनस्य (सम्बन्धिनी) मदिरा वदनमदिरा, अथवा वदनेन स्पृष्टा मदिरा वनदमदिरा ताम् (तत्पुरुष:) मुख की शराब, अर्थात् मुंह में भरकर बाहर निकाली हुई मुंह में भरकर कुल्ले की गई। बकुल युवतियों द्वारा शराब के कुल्ले किये जाने पर खिलता है–ऐसी प्रसिद्धि है।

दोहदचछद्मना–दोहदं वृक्षदीनो प्रसवकारणं संस्कारद्रवयं यस्य छद्मना व्याजेन (षष्ठीतत्पुरुष:), दोहज के ब्याज से, दोहज के रूप में। 'दोहद' का अर्थ गर्भिणी स्त्री की अभिलाषा या उसका वाञ्छित पदार्थ होता है। गौणवृत्ति से उन वस्तुओं को भी दोहद कहा जाता है, जिनसे वृक्ष आदि पर फूल आदि आते हैं। 'दोहद' शब्द का मूल असंदिग्ध नहीं है। कुछ विद्वान् इसे 'दोहद' या दौहद (द्वि+हृदय) का प्राकृत रूप समझते हैं, जो संस्कृत काव्यों में भी अपना लिया गया है। कुछ विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति-दोहम् आकर्षददाति दोहद: अर्थात प्रबल अभिलाषा या गर्भवती स्त्री की अभिलाषा की है। इस श्लोक में 'दोहद' का अभिप्राय वह द्रव्य या क्रिया है जिससे वृक्ष-लताओं पर पुष्प-फलों की अकाल समृद्धि होती है।।१८।।

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि
र्मूले बद्ध मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः।।१९।।

अन्वय:–तन्मध्ये च मूले अनतिप्रौढवंशप्रकाशै: मणिभि: स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि: (अस्ति), मे कान्तया शिञ्जावलयसुभगै: तालै: नर्तित व: सुहृत् नीलकण्ठ दिवसविगमे याम् अध्यास्ते।

अनुवाद–और उन (वृक्षों) के बीच में जड़ में नये बांस के समान क्रान्ति वाली (मरकत) मणियों से चबूतरी बनाई गई, बिल्लौर मणि के फट्टे वाली, सोने की (पक्षियों की) छतरी है, मेरी प्रिय द्वारा झन-झन बजते हुए कंगनों से मनोहर तालियों से नचाया गया तुम्हारा मित्र मयूर दिन के बीतने पर जिस पर बैठा करता है।

टिप्पणी–तन्मध्ये–तयोर्मध्ये तन्मध्ये (षष्ठीतत्पुरुष:), उन (वृक्षों) के बीच में। दक्षिणावर्त और विद्युल्लताकार ने 'तत्' से गृह का संकेत माना है, परन्तु यह बहुत उपयुक्त है।

स्फटिकफलका–स्फटिकं स्फटिकमयं फलकं पीठं यस्या: सा (बहुव्रीहि:), बिल्लौर मणि (का) है फलक (=तखता, फट्टा) जिसका। वासयष्टि; का विशेषण।

काञ्चनी–काञ्चनस्य विकार: काञ्चनी, (काञ्चन+अण+ङीप) (स्त्रीलिङ्ग), सोने से बनी हुई। 'वासयष्टि:' का विशेषण।

वासयष्टि:–वासार्थं यष्टिर्वासयष्टि: (तत्पुरुष:); निवास-दण्ड, पक्षियों के बैठने की छतरी।

मूले मणिभि: बद्धा-जड़ में (मरकत) मणियों से बनी हुई चबूतरी (वेदिका) वाली। किसी स्तम्भ आदि को मजबूती से गाड़ने के लिए उसके स्तम्भ के चारों ओर जड़ में मरकत-मणियों की चबूतरी बनाई गई थी, 'मणिभि बद्धा' का यह अभिप्राय: भी हो सकता है कि छतरी के स्तम्भ के नीचे के भाग में मरकत-मणियां जड़ी हुई थीं। परन्तु प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। बद्धा–√बन्ध्+क्त+टाप् स्त्रीलिङ्ग। पाठान्तर–नद्धा, √नह+क्त+टाप्; जुड़ी हुई।

अनतिप्रोढवंशप्रकाशै:–नाऽतिप्रौढा (अनतिप्रौढा (नञ्समास:) ते च वंशा इत्यनतिप्रौढशास्तेषां प्रकाश: कान्तिरिव प्रकाशो येषां तै: (बहुव्रीहि:), अधिक बड़े न हुये बांसो की कान्ति के समान कान्ति वाली, अर्थात् नये हरे बांसों के समान वर्ण वाली (मरकत मणियों से) 'मणिभि:' का विशेषण। मरकत मणि हरी होती है, इसलिये उन्हें हरे बांस के समान कान्ति वाली कहा गया है। प्रौढ–प+√वह+क्त।

शिञ्जावलसुभगै:–शिञ्जावन्ति वलयानि शिञ्जावलयनि अथवा शिञ्जा प्रधानानि वलयानि शिञ्जावलयानि (मध्यमपदलोपी स्त्री०) तै, सुभगा मनोहरा: (तृतीयातत्पुरुष:) तै:, बजने वाले कंगनों के कारण सुन्दर। 'तालै:' का विशेषण। 'शिञ्जा' के स्थान पर 'शिञ्जित' पाठ मिलता है। इस पाठ में इसे 'शिञ्ज्' अदादिगणीय धातु से अथवा 'शिञ्ज' (आभूषण की ध्वनि) शब्द से बनी नामधातु से शतृप्रत्ययान्त शब्द समझना चाहिये। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। शिञ्जा–√ शिञ्ज्+अङ्+टाप् (स्त्रीलिङ्ग), झनझनाहट की आवाज, अव्यक्त ध्वनि।

याम् अध्यास्ते–जिस (छतरी) पर बैठता है। 'अधि' उपसर्गपूर्वक शी (सोना), स्था (ठहरना) और आस् (बैठना) धातुओं के साथ इनके आधार में द्वितीया विभक्ति हुआ करती है, इसलिये 'याम्' में द्वितीया विभक्ति है।।१९।।

एभि: साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छाय भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खुल कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्।।२०।।

अन्वय:–साधो, हृदयनिहितै: एभि: लक्षणै: लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ दृष्ट्वा च अधुना मद्वियोगेन नूनं क्षामच्छाय भवनं लक्षयेथा: सूर्यापाये कमलं स्वाम् अभिख्यां न पुष्यति खलु।

अनुवाद–हे निपुण (मेघ) (तुम) हृदय में रक्खे गये इन लक्षणों के (और) द्वार के पार्श्वों (बाजुओं) पर बनाये गये आकार वाले शङ्ख और पद्म (निधि) को देखकर अब मेरे विरह से अवश्य ही क्षीण-शोभा वाले (मेरे) भवन को पहचान लेना। सचमुच सूर्य के चले जाने पर कमल अपनी शोभा को पुष्ट नहीं करता है।

टिप्पणी–एभि: लक्षणै:–इन लक्षणों या पहचान की वस्तुओं से। यह लक्षण उत्तरमेघ श्लोक १५–२९ में बतलाये गये हैं।

हृदयनिहितै:–हृदये निहितानि हृदयनिहितानि तै: (तत्पुरुष:), हृदय में रक्खे गये अर्थात् याद रक्खे गये। निहित–नि+√धा+क्त।

लक्षयेथा:–√लक्ष्+विधिलिङ् मध्यम् पुरुष एकवचन आत्मनेपद, पहचान लेना। यदि संभावना के अर्थ में विधिलिङ् माना जाय तो अर्थ होगा–तुम पहचान लोगे। पाठान्तर–लक्षणीयम्, √लक्ष्+अनीयर्, पहचान लेंगें, पहचान लिया जायेगा।

द्वारोपान्ते–द्वारस्योपान्ते पार्श्वे द्वारोपान्ते (षष्ठीतत्पुरुष:), दरवाजे की बगलों में, अर्थात् दरवाजें के दोनों ओर। यहां 'उपान्ते' शब्द यद्यपि एकवचन है, परन्तु वह अभीष्ट नहीं है, इसलिये इसे द्विवचन के अर्थ में ही प्रयुक्त समझना चाहिये।

लिखितवपुषौ–लिखित चित्रितं वपुराकारो ययोस्तौ (बहुव्रीहि:),रंग आदि से बनाया गया आकार जिनका। 'शङ्खपद्मौ' का विशेषण यक्ष के घर के द्वार की दोनों ओर शङ्ख और पद्म के पुरुषकार चित्र बने हुए थे। आजकल भी लोग सजावट तथा मङ्गल के लिये द्वार के भावों के पार्श्वों पर गेरू आदि से शुभ वस्तुओं के चित्र बनाते हैं।

शङ्खपद्मौ:–शङ्खश्च पद्माश्चेति शङ्खपद्मौ (द्वन्द्वसमास:), शङ्ख और पद्म नामक निधि यहां मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने शङ्ख और पद्म की अभिप्राय कुबेर के निधियों के नाम माने हैं। नव–निधियों में से दो हैं। ९ निधियों के नाम यह हैं– 'महापद्मश्च पद्मश्च मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव।।' परन्तु यहां 'खङ्ग' और पद्म शब्द का प्रयोग प्राय: नपुंसकलिङ्ग में होता है लेकिन कोशकारों ने इसे पुंल्लिङ्ग भी माना है।

क्षामच्छायम्–क्षमा मन्दा छाया कान्तिर्यस्त तत् (बहुव्रीहि:), क्षीण हुई कान्ति या शोभा वाला। क्षाम–क्ष+क्त। 'क्षै' धातु से 'क्त' और 'क्तवतु' के 'त' को 'म' हो जाता है। पाठान्तर–मन्दच्छायम्। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

सूर्यपाये–सूर्यस्याऽपाय: सूर्यापायस्तस्मिन् (षष्ठीतत्पुरुष:), सूर्य के दूर चले जाने पर, सूर्य छिप जाने पर। भावलक्षण की आवश्यकता से सप्तमी। अपाय:–अप+√इ (जाना)=घञ्, दूर जाना, नष्ट होना।

अभिख्याम्–शोभा को। अभिख्यायते इति अभिख्या, कथन, जिसका कथन किया जाये, गौरव, शाभा। अथवा, अभिख्यायते अनया इति अभिख्या, नाम पुकारा जाय, नाम। अभि+√ख्या+अङ्+टाप् स्त्रीलिङ्ग। 'अभिख्या का अर्थ नाम और शोभा दोनों होता है (देखिये संस्कृत गद्य में उद्धृत अमरकोश,) परन्तु यहां शोभा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।।२०।।

गत्वा सद्य:कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतो:
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्ण:।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्यपाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्।।२१।।

अन्वयः–शीघ्रसंपातहेतोः कलभतनुतां गत्वा प्रथमकथिते रम्यसानौ क्रीडाशैले निषण्णः (त्वम्) अल्पाल्पभासं खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् अन्तर्भवनपतिता कर्तुम् अर्हसि।

अनुवाद–शीघ्र नीचे उतरने के लिये जल्दी से हाथी के बच्चे के आकार की अवस्था को पाकर पहले कहे गये सुन्दर शिखर वाले क्रीडा शैल पर बैठे हुये (तुम) मन्द-मन्द प्रकाश वाली (अतः) जुगनुओं की पङ्क्ति की टिमटिमाहट के तुल्य, बिजलीकी चमक रूपी दृष्टि को भवन के अन्दर पड़ी हुई कर सकते हो।

टिप्पणी–कलभतनुताम्–कलभस्य करिपोतस्य तनुः शरीरमिव तनुर्यस्य स कलभतनुः (बहुव्रीहिः) तस्य भावः कलभतनुता ताम्, हाथी के बच्चे के समान शरीर जिसका हो उसकी अवस्था को। 'गत्वा' का कर्म। अर्थात् हाथी के बच्चे के जैसा छोटा शरीर बनाकर। 'तनु' का अर्थ भी होता है इसलिये 'कलभतकुताम्' का अर्थ 'कलभस्य तनुताम' अर्थात् 'हाथी के बच्चे की छोटाई को' को भी हो सकता है।

शीघ्रसंपातहेतो–शीघ्रं संपातः शीघ्रसंपात स एव हेतुरिति शीघ्रसंपात हेतुः (कर्मधारयः), तस्य, शीघ्रता से नीचे उतरने के निमित्त। मल्लिनाथ ने 'संपात) का अर्थ प्रवेश किया है, जो बहुत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। पाठान्तर+तत्परित्रणहेतोः, उस (यक्षिणी) की रक्षा के निमित्त। यहां 'हेतोः' में षष्ठी विभक्ति है, पञ्चमी नहीं, क्योंकि हेतु शब्द का प्रयोग होने पर षष्ठी विभक्ति हुआ करती है–षष्ठी हेतुप्रयोगे, अष्टा०, २, ३, २६।

रम्यसानौ–रम्याणि सानूनि यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहिः), सुन्दर हैं शिखर जिसके, सुन्दर चोटी वाला। 'क्रीडाशैले' का विशेषण। पाठान्तर–रत्नसानौ रत्नानां, सानु यस्य तस्मिन्, मणियों के शिखर वाला। पहले उ० मे० श्लोक १७ में यक्ष के घर की बावड़ी के तट पर स्थित क्रीड़ा पर्वत के शिखर को इन्द्रनील मणियों का बना हुआ कहा गया है।

अन्तर्भवनपतिताम्–भवनस्यान्तर्मध्येऽन्तर्भवनम् (अव्ययीभावः) तत्र पतिताम् (तत्पुरुषः) भवन के अन्दर पड़ी हुई। 'दृष्टिम्' का विधेयात्मक विशेषण।

अल्पाल्पभासम्–अल्पाल्पाऽल्पप्रकारा भाः प्रकाशो यस्याताम् (बहुव्रीहिः) मन्द-मन्द प्रकाश वाली। 'दृष्टिम्' का विशेषण। मल्लिनाथ ने अपनी टीका में लिखा है कि 'अल्पाल्प' में 'अल्प' शब्द का दो बार प्रयोग प्रकार अर्थ में हुआ है।

खद्योतालीविलसितनिभाम्–खद्योतानामाली पङ्क्तस्तस्या विलसितेन स्फुरितेन निभां तुल्याम् (तत्पुरुषः), जुगनुओं की पङ्क्ति की चमक के समान, अर्थात जुगनुओं की भांति टिमटिमाती हुई। '०दृष्टिम्' का विशेषण। पाठान्तर–०विलसन०। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

विद्युदुन्मेषदृष्टिम्–विद्युतामुन्मेषः स्फुरणं विद्युदुन्मेषः। (षष्ठीतत्पुरुषः) स एव दृष्टिः (कर्मधारयः) ताम् बिजली की चमक रूपी दृष्टि को। बिजली का प्रकाश ही मेघ की दृष्टि है। 'कर्तुम्' का कर्म।।२१।।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।।२२।।

अन्वयः–तत्र (त्वं) तन्वी, श्यामा, शिखरिदशना, पक्वबिम्बाधरोष्ठी, मध्ये क्षामा, चकितहरिणीप्रेक्षणाः, निम्ननाभिः, श्रोणीभारात् अलसगमना, स्तनाभ्यां स्तोकनम्रा, युवतिविषये सृष्टिः आद्या सृष्टिः इव या स्यात् (तां मे द्वितीयं जीवितं जानीथाः)।

अनुवाद–वहां (भवन के अन्दर) पतली, नव यौवन वाली, नुकीले दांतों वाली, पके हुए बिम्ब फल के जैसे निचले ओठ वाली, कटि में क्षीण, भयभीत हिरणी के समान नेत्र वाली, नितम्बों के भार के कारण मन्द गति वाली स्तनों के कारण झुकी हुई, इस स्त्रियों के क्षेत्र में ब्रह्मा की नयी सृष्टि जो (स्त्री) हो (उसे मेरा दूसरा प्राण समझना)।

टिप्पणी–इस तथा अगले श्लोक में वह अपनी पत्नी को पहचान बतलाता है। इन दोनों श्लोकों का अन्वय एक साथ होगा। पहले श्लोक में दक्षिणी की पूर्वावस्था का वर्णन है और दूसरे में वियोग के बाद की अवस्था का।

तन्वी–तनु+ङीष् स्त्रीलिङ्ग पतली छरहरे बदन की। संस्कृत-काव्यों में तनुता को स्त्री का सौन्दर्य माना गया है।

श्यामा–नव-यौवन वाली। 'श्यामा' शब्द के कोशकारों ने अनेक अर्थ किये हैं–(१) नवयौवना, (२) अप्रसूता–जिसने बच्चे को जन्म न दिया हो,, (३) सांवली, (४) मधुर बोलने वाली।

शिखरिदशना–शिखराणि एषां सन्ति इति शिखरिण: (शिखर+इनि), तादृशा दशना यस्या: सा (बहुव्रीहि:), शिखर वाले दांतों वाली सामुद्रिकशास्त्र में शिखरी दांतों को सौभाग्य एवं सौन्दर्य का चिह्न माना गया है। (उद्धरण संस्कृत टीका में देखिये। पाठान्तर शिखरदना इस पाठ में इसका कई प्रकार से अर्थ किया गया है–१. शिखरवत् दशाना यस्या: सा, पके अनार के बीज के आकार की मोती के समान दांतों वाली, २. शिखरं कुन्दकड्मलाग्रं तद्वद् दशना यस्या: सा, कुन्द–पुष्प की पंखड़ी के किनारे के समान दांतों वाली। शिखरमस्याऽस्तीति शिखर: (शिखर+अश), शिखरा दशना यस्या:, सा:, नुकीले दांतों वाली। कुछ संस्करणों में अशिखरदशना पाठ भी है। इसका अर्थ होगा–अशिखरा अविषमा दशना यस्या: सा, समान (एक–से) है दांत जिसके। एक से दांत भी शुभ चिह्न माना गया है।

पक्कबिम्बाधरोष्ठी–पक्वं बिम्बं पक्वबिम्बं (कर्मधारय:), तद्वत् अधरोष्ठो यस्या: सा (बहुव्रीहि:), पके हुए बिम्बफल के समान लाल के होठ वाली। अधरोष्ठ:– अधरश्चासौ ओष्ठचेतिअधरोष्ठ: (कर्मधारय:)। अधर+ओष्ठ=अधरोष्ठ या अधरौष्ठ। इसलिये अधरौष्ठ पाठान्तर भी है। मल्लिनाथ ने पक्वबिम्बाधरोष्ठी में वामन के कथन के आधार पर मध्यपदलोपी समास माना है (संस्कृत-टीका देखिये)।

???????? √क्षै+क्त। (उ० मे० श्लोक २० पृ० १९३ पर 'क्षामच्छायम्' पर टिप्पणी देखिये)। मध्येक्षामा को अलुक्समास भी माना जा सकता है, पाठान्तर-क्षीणा।

चकितहरिणीप्रेक्षणा–चकिताया भीताया हरिण्या: प्रेक्षणे नयने इव प्रेक्षणे यस्या: सा (बहुव्रीहि:), भयभीत हरिणी की आंखों के समान आंखों वाली। चमित हरिणी के समान नेत्रों को पद्मानी स्त्री का लक्षण माना गया है। (संस्कृत-टीका देखिये)।

निम्नाभि:–निम्ना नाभिर्यस्या: सा (बहुव्रीहि:), गम्भीर नाभि वाली।

स्त्रियों में गहरी नाभि को सौन्दर्य तथा सौभाग्य का लक्षण माना गया है।

श्रोणीभारात्–श्रोण्या: कटिपृष्ठभागस्य भारात् गुरुत्वात् (षष्ठीतत्पुरुष:) कटि के पिछले भाग के भारी होने के कारण। तसिल् पञ्चमी विभक्ति।

स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्–स्तोकमल्पं नम्रा स्तोकनम्रा (सुस्सुपासमास:), स्तनों (के भार) से झुकी हुई। संस्कृत-काव्यों में स्त्री सौन्दर्य के वर्णन में इस बात का बहुधा उल्लेख किया गया है।

स्यात्–√अस्+विधिलिङ् अन्यपुरुष एकवचन, हो। पाठान्तर–आस्ते √आस्+लट् अन्यपुरुष एकवचन आत्मनेपद, बैठी है।

युवतिविषये–युवतय एवं विश्वायस्तस्मिन् (कर्मधारय:), युवा स्त्रियों के क्षेत्र में, स्त्री लोक में, स्त्रियों में। पाठान्तर युवतीनां या युवतिर्विषयो यस्या: सा (बहुव्रीहि:),यूवती है विषय जिसका अर्थात् युवा स्त्री सम्बन्धिनी। 'सृष्टि' का विशेषण।

सृष्टि:–√सृज् (बनाना)+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग) रचना, कृति।

आद्या इव–आदौ भवाऽऽद्या (आदि+यत्+टाप् स्त्रीलिङ्ग) सर्वप्रथममेव; मानो सबसे पहली। कोई भी शिल्पी प्रथम रचना में अधिक अधिक ध्यान देता है, इसलिये उसकी प्रथम रचना सर्वोत्कृष्ट होती है। इसलिये यक्षिणी में ब्रह्मा की सर्वप्रथम युवति रचना की उत्प्रेक्षा करके यह प्रकट किया गया है कि वह सर्वश्रेष्ठ स्त्री थी। पाठान्तर–'इव' के स्थान पर 'एव'।

धातु:–√धा+तृच्, षष्ठी एकवचन, धाता (ब्रह्मा) की।।२२।।

तां जानीथा: परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढौत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम्।।२३।।

अन्वय:–मयि सहचरे दूरीभूते चक्रवाकीम् इव एकां परिमितकथां तां मे द्वितीय जीवितं जानीथा:। गुरुषु एषु दिवसेषु गच्छत्सु गाढौत्कण्ठां बालां शिशिरमथितां पद्मिनीं वा अन्यरूपां जातां मन्ये।

अनुवाद–मुझ साथी के दूर स्थित होने पर चकवी के समान अकेली, (अत:) अल्प-भाषिणी उस (स्त्री) को मेरा दूसरा जीवन ही समझना। (अथवा) (विरह से) लम्बे इन दिनों के बीतते हुये होने पर प्रबल विरह-वेदना वाली (उस) युवती को शीत से मथी हुई कमलिनी के समान अन्य रूप वाली हुई समझता हूं।

टिप्पणी–जानीथा:–√ज्ञा (जानना)+विधिलिङ् मध्यपुरुष एकवचन आत्मनेपद: (तू) जान लेना, समझना। पाठान्तर जानीष्व, √ज्ञा धातु का विधिलिङ् मध्यमपुरुष एकवचन परस्मैपद का रूप। 'ज्ञा' धातु उभयपदी है।

परिमितकथाम्–परिमिताऽल्पा कथा वाग् यस्यास्ताम् (बहुव्रीहि:); नपेतुले हैं वचन जिसके, अर्थात् बहुत न बोलने वाली। अल्पभाषी होना स्त्रियों का विशिष्ट गुण माना गया है। प्रोषितभर्तृ का स्त्रियों के लिये हास्य आदि निषिद्ध था– हास्यं परगृहे यानं त्येत्प्रोषितभर्तृका।' याज्ञवल्क्यस्मृति:।

जीवितं में द्वितीयां–मेरा दूसरा प्राण, अर्थात् प्राणों के समान प्रिय, प्राणप्रिया। संस्कृत काव्यों में प्राय: नायक नायिका को अपने प्राण बतलाता हुआ चित्रित किया जाता है। देखिये, 'त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयम्' उत्तररामचरित ३, १६; 'नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति' मालविकाग्निमित्र ३,७।

सहचरे–सह चरतीति सहचरस्तस्मिन् सह+√चर+ट (अ), साथी। 'सहचरे' की पुनरावृत्ति करके इसका अर्थ साथी (चकवा)भी समझना चाहिये।

चक्रवाकीम् इव–चकवी के समान। भारतीय साहित्य में चकवा और चकवा दाम्पत्य प्रेम की स्थिरता के निदर्शन समझे जाते हैं। इसलिये यक्ष ने कहा है कि जैसे साथ चकवे के रात्रि मे दूर हो जाने पर चकवी अकेली रह जाती है इसी प्रकार उसकी यक्षिणी भी अकेली होगी।

गाढोत्कण्ठाम्–गाढा प्रबलोत्कण्ठा विरहवेदना यस्यास्ताम् (बहुव्रीहि:); प्रबल है विरह-वेदना जिसकी। 'बालाम्' का विशेषण। प्रेमी के न मिलने पर होने वाली वेदना को 'उत्कण्ठा' कहा जाता है। (संस्कृत-टीका देखिये)। पाठान्तर=गोढात्कण्ठागुरुषु-गाढया उत्कण्ठा गुरुषु, प्रबल उत्कण्ठा के कारण लम्बे प्रतीत होने वाला। 'दिनेषु' का विशेषण। विरह में दिन काटना कठिन हो जाता है, इसलिये दिन लम्बा प्रतीत होने लगता है।

बालाम्–लगभग १६, १७ वर्ष की स्त्री को 'बाला और उससे ऊपर ३० वर्ष की अवस्था तक की स्त्री को 'तरुणी' कहा जाता है। कुछ संस्करणों में बालाम्' तथा उसके विशेषण प्रथम विभक्ति में पाये जाते हैं, तब 'इति' पद का अध्याहार करके अन्तिम दो पङ्क्तियां इस प्रकार लगानी होंगी–एषु गुरुषु दिवसेषु गच्छत्सु गाढोत्कण्ठा बाला शिशिरमथिता पद्मिनी इव अन्यरूपा जाता इति मन्ये, विरहे से लम्बे दिनों के बीतते हुये होने पर प्रबल विरह-वेदना वाली (वह) बाला शीत से मारी गई कमलिनी के समान अन्य रूप वाली हो गई होगी, ऐसा मैं समझता हूं।

शिशिरमथिताम्–शिशिरेण शीतेन मथितां हताम् (तृतीयातत्पुरुष:) शीत में मारी गई। 'पद्मिनीम् का विशेषण। 'शिशिर' का अर्थ शीत-ऋतु (शिशिरकाल)किया है, परन्तु 'शिशिर' का अर्थ शीत और तुहिन भी होता है। पाठान्तर-तुहिन०। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। मथित–√मन्थ्+क्त, मथा हुआ, कुचला हुआ, नष्ट हुआ, मारा हुआ।

वा–यहां 'वा' अव्यय 'इव' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अन्यरूपाम्-अन्यद् रूपं यस्या: सा ताम् (बहुव्रीहि:), दूसरा है रूप जिस का, जिसका रूप पहले से भिन्न प्रकार का हो गया है, अर्थात् विकृत हुए रूप वाली।

यक्ष के कहने का अभिप्राय यह है कि उसके विरह में कृश हुई उसकी पत्नी का रूप बिगड़ गया होगा। इसलिये यदि वह पूर्वोक्त रूप वाली युवती को न पाये तो भ्रम में न पड़े।

श्लोक २३ से ३३ तक विरह से संतप्त यक्षिणी का मार्मिक एवं मुग्धकारी चित्रण किया गया है।।२३।।

नूनं तस्या: प्रबलरूदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
नि:श्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्त मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति।।२४।।

अन्वय:-प्रबलरूदितोच्छूननेत्रं नि:श्वासानाम् अशिशिरतया भिन्नवर्णा धरोष्ठं हस्तन्यस्तं लम्बालकत्वात् असकलव्यक्ति तस्या: प्रियाया: मुखं त्वदनुसरणक्लिष्टकानते: इन्दो: दैन्यं बिभर्ति नूनम्।

अनुवाद-मेरा विचार है कि सम्भवत: (नूनम्)बहुत अधिक रोने से सूजे हुए नेत्रों वाला, लम्बे-लम्बे सांसों की गर्मी से कान्ति-हीन निचले ओठ वाला, हाथ पर रक्खा हुआ, लम्बे लटके बालों वाला होने के कारण सम्पूर्ण न दीखने वाला, हाथ पर रक्खा हुआ, लम्बे लटके बालों वाला होने के कारण सम्पूर्ण न दीखने वाला, उस प्रिया का मुख तुम्हारे रोकने से फीकी कान्ति वाले चन्द्रमा की विवर्णता को धारण कर रहा होगा।

टिप्पणी-नूनम्-मेरा विचार है कि सम्भवत:.....।' 'नूनम्' अव्यय वितर्क अथवा निश्चय अर्थ को प्रकट करता है। मल्लिनाथ ने यहां 'नूनम्' का अर्थ वितर्क माना है, इसलिये ऊपर अनुवाद में 'नूनम्' का अर्थ मेरा विचार है कि सम्भवत: किया गया है परन्तु यहां 'नूनम्' का दूसरा अर्थ भी बिल्कुल उपयुक्त है। तब श्लोक का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये-'यह पक्की बात है कि ..... इत्यादि।

प्रबलरूदितोच्छूजनेत्रम्-प्रबलं रूदितं प्रबलरूदितम् (कर्मधारय:) तेन उच्छेन नेत्रे यस्य तत् (बहुव्रीहि:), बहुत अधिक रोने से नेत्र सूज गए हैं नेत्र जिसके। 'मुखम्' का विशेषण। रूदित-रूद्+क्त, भावाचकसंज्ञा नपुंसकलिङ्ग, रोना। उच्छूना-उत्+शिव (बढ़ना) क्त (भूत) बढ़ा हुआ, सूजा हुआ।

??????????? √प्री+क (अ)+टाप् स्त्रीलिङ्ग, प्रसन्न करने वाली, प्यारी। पाठान्तर-बहुनाम् यह 'नि:श्वासानाम् का विशेषण है। पहला पाठ ही अधिक उपयुक्त है।

अशिशिरतया-न शिशिरमशिशिरमुष्णं तस्य भावस्तेन, ठंडा न होने के कारण। यहां 'नञ्' का प्रयोग विरूद्ध अर्थ में हुआ है। समुदाय 'अशिशिर' का अर्थ 'गर्म' है। हेतु के अर्थ में तृतीया विभक्ति।

भिन्नवर्णाधरोष्ठम्-भिन्नो वर्णो यस्य स भिन्नवर्ण: (बहुव्रीहि:), अधरश्चासावोष्ठश्चाऽधरोष्ठ: (कर्मधारय:), भिन्नवर्णोऽधरोष्ठो यत्र तत् (बहुव्रीहि:) बदले हुए रंग वाला है। निचला ओष्ठ जिसका, अर्थात् गर्म सांसों से जिसके ओष्ठ का रंग भद्दा हो गया है। 'मुखम्' का विशेषण।

हस्तन्यस्तम्-हस्ते न्यस्तमिति हस्तन्यस्तम् (तत्पुरूष:); हाथ पर रखा हुआ। 'मुखम्' का विशेषण। न्यस्त-नि+√अस् (फेंकना)+क्त। शोक और चिन्ता में हाथ पर मुख रखकर बैठा करते हैं। पाठान्तर-हस्तेन्यस्तम्।

असकव्यक्ति-न सकलाऽसकला व्यक्तिर्दर्शनं यस्य तत्। (बहुव्रीहि:); सम्पूर्ण नहीं है दर्शन जिसका, अर्थात् जो पूरा नहीं दीख रहा है। 'मुखम्' का विशेषणं व्यक्ति:-वि+√अञ्च्+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग), प्रकट होना, दीखना, आर्विभाव। विरह में प्रसाधन न करने के कारण लटके हुए बालों से मुख ढका होगा, इसलिये वह पूरी तरह नदी दीखेगा।

लम्बालकत्वात्-लम्बा अलका लम्बालका: (कर्मधारय:) तेषां भावस्तत्वात्;,लटकेहुए बालों के होने के कारण। हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति। बालों का मुख पर लटके हुए होना मुख के पूरा न दीखने का कारण है।

इन्दो: दैन्यम्-चन्द्रमा की विवर्णता को, अर्थात् चन्द्रमा के जैसी कान्तिहीनता को। मुख चन्द्रमा के दैन्य को धारण नहीं कर सकता परन्तु वैसा कहा गया है। इसलिये वाक्य का अभिप्राय 'चन्द्रमा के जैसा दैन्य' हो सकता है। यहां वाच्य अर्थ सम्भव न होने के कारण वाच्य की परिणति उपमा में हो जाती है, इसलिये 'निर्दशना' अलङ्कार है। दैन्यम्-दीनस्य भावो दैन्यम्, दीन+ष्यञ् (नपुंसकलिङ्ग) दीनता, विवर्णता, शोभा-हीनता, उदासी।

त्वदनुसरणक्लिष्टकान्ते:-तवाऽनुसरणं त्वदनुसरणम् (षष्ठीतत्पुरूष:) तेन क्लिष्टा कान्तिर्यस्य तस्य (बहुव्रीहि:) तेरे द्वारा किये गये अनुसरण के आवरण से क्षीण हो गई है चमक जिसकी 'इन्दो:' का विशेषण। जिस प्रकार मेघ द्वारा ढके हुए चन्द्रमा में शोभा हीनता आ जाती है वैसी ही शोभा हीनता यक्षिणी के मुख पर आ गई होगी। अनुसरणम्-अनु+√सृ+ल्युट् (अन), नपुंसकलिङ्ग पीछा करना। क्लिष्ट-अनु+√क्लिश्+क्त, बिगड़ा हुआ, क्षीण। कान्ति:-√कम्+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग), चमक, शोभा, प्रकाश, सौन्दर्य। पाठान्तर त्वदनुसरण के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।।२४।।

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृश्छन्तीवा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तु: स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति।।२५।।

अन्वय:-सा बलिव्याकुला वा, विरहतनु भावगम्यं मत्सादृश्यं लिखन्तां वा, मधुरवचनां पञ्जरस्थां सारिकाम्' रसिके', भर्तु: स्मरसि कच्चित्, हि त्वं तस्य प्रिया' इति पृच्छन्ती वा ते आलोके पुरा निपति।

अनुवाद-वह (मेरी प्रिया) पूजा उपहार में लगी हुई, या विरह से दुबले हुए (और) कल्पना से ही जाने गये मेरे आकार को चित्रित करती हुई या मीठा बोलने वाली पिंजड़े में बन्द मैना से-'हे रसिके! क्या तुझे स्वामी की याद आती है, क्योंकि तू उन्हें बहुत प्यारी है'-यह पूछती हुई तेरी दृष्टि में पड़ेगी।

टिप्पणी-इस तथा अगले श्लोकों में उन क्रिया-कलापों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें करके विरहिणियां अपना समय बिताया करती है।

आलोके ते निपतति पुरा-तुरन्त तुम्हारी दृष्टि में पड़ेगी। आलोके-आलोक्यते इति, आ+√लोक्+घञ्, प्रकाशः दर्शन, दृष्टि, दृष्टिपथ। 'निपतति' में 'पुरा अव्यय के कारण भविष्य-काल में अर्थ लट् लकार का प्रयोग हुआ है।'

बलिव्याकुला-बलौ पूजाकर्मणि व्याकुला व्यापृता (तत्पुरूषः), पूजा-उपहार में लगी हुई। देवताओं के अराधन में पशु-पक्षी आदि के लिये अन्न) आदि डालना बलि कहलाता है। आजकल भी लोग चींटियों और बन्दरों को जमाते देखे जाते हैं। विहहिणी स्त्रियां देवपूजा में और अधिक तत्परता दिखलाती थीं। इसलिये यक्ष यह कल्पना करता है कि उसकी प्रिया बलि-कर्म में व्यस्त हो सकती है।

मत्सादृश्यम्-मम सादृश्यमिति मत्सादृश्यत् (षष्ठीतत्पुरूषः); मेरी समानता को, मेरे चित्र को। यहां सादृश्य का अर्थ आकार या प्रतिबिम्ब है, इसलिये, 'मत्सादृश्य' का अभिप्राय यक्ष का चित्र है। संस्कृत-काव्यों में प्रिय का चित्र मनोविनोद का अतिप्रिय साधन है।

विरहतनु-विरहेण तनु क्रशम् (तत्पुरूषः), विरह के कारण दुर्बल। 'मत्सादृश्यम्' का विशेषण।

भावगभ्यम्-भावेन कल्पनाया गम्यं ज्ञेयम् (तृतीयातत्पुरूषः)(केवल) कल्पना से माना गया। मूर्ति या चित्र बनाते समय अनुकार्य वस्तु (model)को सामने रखा जाता है, परन्तु यक्ष दूर था, इसलिये उसकी पत्नी केवल कल्पना (memory)से ही उसका चित्र बना सकती थी। फिर, यक्षिणी ने अपने प्रिय को क्षीण देखा नहीं था, वह विरह से क्षीण हुए की केवल कल्पना ही कर सकती थी।

लिखन्ती-लिख्+शतृ स्त्रीलिङ्ग, चित्र बनाती हुई। संस्कृत काव्यों में प्रायः 'लिख' का प्रयोग चित्र बनाना अर्थ में ही हुआ है।

पृच्छन्ती-√पृच्छ्+शतृ स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन, पूछती हुई।

मधुरवचनाम्-मधुराणि वचनानि यस्यास्ताम्, (बहुव्रीहिः) मीठे बोलों वाली, अथवा मधुरं वचनं यस्यास्ताम् मीठा बोलने वाली। 'सारिकाम्' का विशेषण। पाठान्तर-मधुरवचनम्, मधुर वचनं यथा स्यात्तथा, मिठास से, मधुर वाणी से। 'पृच्छन्ती' का क्रिया विशेषण।

पञ्जरस्थाम्-पञ्जरे तिष्ठति पञ्चरथा ताम् (उपपदसमासः), पञ्जर+√स्था+क(अ)+टाप् स्त्रीलिङ्ग द्वितीया एकवचन, पिंजरे में रहने वाली। प्राचीन काल में भी धनिकों के घरों में मनो-विनोद के लिये तोते-मैना आदि पक्षी पाले जाते थे। सारिका (मैना) विरहियों के मनोविनोद का उत्तम साधन समझी जाती थी।

रसिके-'रसिका' का सम्बोधन एकवचन, हे रसीली या हे सहृदये। 'रसिका' सारिका का नाम हो सकता है, क्योंकि लोग पालतू पशु-पक्षियों के सुन्दर-सुन्दर नाम रख लेते हैं। पाठान्तर-निभृते या गिरिके। ये भी सारिका के नाम प्रतीत होते हैं। निभृता-चुप रहने वाली अर्थात् कम बोलने वाली, गिरिका-अधिक बोलने वाली।।२५।।

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मदगोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती।।२६।।

अन्वयः-सौम्य, मलिनवसने उत्संगे वीणां निक्षिप्यं मद्गोत्राङ्कं विरचिपदं गेयम् उद्गातुकामा नयनसलिलैः आर्द्रा तन्त्रीं कथञ्चित् सारयित्वा भूयः भूयः स्वयं कृताम् अपि मूर्च्छना विस्मरन्ती वा (ते आलोके पुरा निपतति)।

अनुवाद-अथवा, हे सौम्य, मैले वस्त्रों वाले अङ्क में वीणा रखकर मेरे नाम के चिह्न वाले (तथा) रचे हुए पदों वाले गये (प्रबन्ध)की गाने की इच्छुक, (परन्तु) आंखों के जलों से गीले हुए तार को किसी प्रकार ठीक करके बार-बार स्वयं बनाई गई भी मूर्च्छना को भूलती हुई (मेरी प्रिया तेरी दृष्टि में पड़ेगी)।

टिप्पणी-मलिनवसने-मलिनं वसनं यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहिः), मैला या सादा है वस्त्र जिसका, अर्थात् मलिन वस्त्र से ढके हुए। 'उत्संगे' का विशेषण। वियुक्त स्त्रियों को प्रसाधन वर्जित था, इसलिये वह वस्त्र प्रतिदिन नहीं बदलती थी। अतः यक्षिणी को मलिनवसन बताया गया है। मलिन का अर्थ 'सादा' या 'बिना चटक मटक का' भी हो सकता है।

निक्षिप्य-नि+√क्षिप्+ल्यप्, डालकर, रखकर। यहां 'निक्षिप्य' से वीणा-वादन के प्रति विषादपूर्वक प्रवृत्ति लक्षित होती है। मदगोत्राङ्कम्-मम गोत्रं नामोति मद्गोत्रं तदेवाऽङ्कश्चिह्नं यस्मिन् तत् (बहुव्रीहीः), मेरा नाम है चिह्न जिसका, अर्थात् (ऐसा गीत) जिसमें मेरा नाम आता

है। 'गेयम्' का विशेषण। मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने इसे 'विरचित-पद्म' का क्रियाविशेषण माना है और अर्थ इस प्रकार किया है-'मेरे नाम का चिह्न जैसे हो जाए इस प्रकार जिसके पद रक्खे गये हैं।'

विरचितपद्म-विरचितानि पदानि यस्य तत् (बहुव्रीहि:) बनाये गये हैं पद जिसके। 'गेयम्' का विशेषण। यहां 'पद' का अर्थ वाक्य या चरण समझना चाहिये। चारित्रवर्द्धिनी टीका में 'विरचित' का अर्थ 'स्वरों' के आरोह अवरोह क्रम में रक्खे गये' किया है।

उद्गातुकामा-उच्चै र्गातुं कामो यस्या: सा (बहुव्रीहि:), ऊँचे स्वर में (अर्थात् गन्धार ग्राम में) गाने की इच्छा वाली। मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने लिखा है कि वह देव-योनि के कारण गान्धार ग्राम में ही गायेगी, षड्ज या माध्यम ग्राम में नहीं, क्योंकि यह दोनों ग्राम मनुष्य योनि के लिये हैं। (संस्कृत-टीका देखिय)।

तन्त्रीमार्द्राम्-गीले तारों को। यहां बहुवचन के अर्थ में एकवचन का प्रयोग हुआ है। पाठान्तर-तन्त्रीरार्द्रा:।

नयनसलिलै:-नयनयो: सलिलै: (षष्ठीतत्पुरूष:), आंखों के पानी से अर्थात् आंसुओं से। गान और वादन में प्रवृत्त होने समय यक्षिणी को यक्ष के साथ मिलकर किये गये क्रिया-कलापों की स्मृति हो आती है, इसलिये उसकी आंखों से आंसुओं की धारा बहने लगती है और उसकी वीणा के तार गीले हो जाते हैं।

सारयित्वा-खींचकर, कसकर, ठीक करके। वीणा आदि तार वाले वाद्यों के तारों को उचित मात्रा में खींचकर ठीक किया जाता है जिनसे वह उचित झंकार उत्पनन कर सकें । इसलिये यहां 'सारयित्वा' के अर्थ 'कर कर' 'ठीक करके' समझना चाहिये। मल्लिनाथ ने 'सारयित्वा' का अर्थ गीलेपन को हटाने के लिये 'हाथ से पोंछकर' किया है, जो बहुत उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस अर्थ में 'कथञ्चित्' पद की सार्थकता नहीं रहती।

स्वयमपि कृताम्-स्वयं बनाई गई अर्थात् स्वयं निकाली गई (मूर्च्छना) को भी। जिस लय को स्वयं निकाला गया है, उसे भूलना कठिन होता है, परन्तु वियुक्ति पति के गुणों के स्मरण से यक्षिणी इतनी विह्वल और विक्षिप्त हो जाती थी कि उसे स्वयं निकाली गई मूर्च्छना भी याद न रहती थी। पाठान्तर-अधिकृत्ताम्, 'अधिकृत' का अर्थ भी निकाली गई या बनाई गई है।

?????????????? (Melody) संगीतशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। संगीत-शास्त्र में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धवैल और निषाद सात स्वर और षड्ज, मध्यम तथा गान्धार तीन ग्राम माने गये है, इन दोनों के मूल (Permutation-combination) से २१ मूर्च्छनायें बनती हैं, इसलिये मूर्च्छना सात स्वरों के आरोह-अवरोह के क्रम को कहते हैं देखिय क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणाम्। मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामस्या एता: सप्त च।।'।।२६।।

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणयना देहलीदत्तपुष्पै:।
संभोगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदा:।।२७।।

अन्वय:-विरहदिसस्थापितस्य अवधे: शेषान् मासान् देहलीदत्तपुष्पै: गणनया भुवि विन्यस्यन्ती वा, हृदयनिहितारम्भसंभोगम् आस्वादयन्ती वा (ते आलोके पुरा निपतति), प्रायेण अङ्गनानां रमणविरहेषु एते विनोदा:।

अनुवाद-अथवा विरह के दिन से निश्चित हुई (शाप की) अवधि (एक वर्ष) के शेष बचे हुये महिनों को देहली पर रखे हुये पुष्पों के द्वारा गिन-गिर कर पृथ्वी पर रखती हुई, अथवा हृदय में (ही) रक्खी गई चेष्टा वाले रति-सुख का आस्वादन करती हुई (वह मेरी प्रिया तेरी दृष्टि पड़ेगी), क्योंकि बहुधा स्त्रियों के प्रियों के वियोग में ये ही) मन-बहलाव होते हैं।

टिप्पणी-शेषान् मासान्-(अवधि के) बचे हुये महीनों को। 'विन्यस्यन्ती' का कर्म। यहां पुष्पों के मास का आरोप किया गया इसलिए मासों को रखती हुई कहा गया है, क्योंकि पुष्पों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रक्खा जा सकता है। शेष: शिष्यते इति शेष:, बचना या बचा हुआ। √शिष्+घञ्।

विरहदिवसस्थापितस्य-विरहस्य दिवसो विरहदिवसस्तस्मिन् स्थापितत्य (तत्पुरूष:), वियोग के दिन स्थापित हुई। 'अवधे:' का विशेषण। पाठान्तर-गमनदिवसस्थापितस्य, गमनदिवसस्तस्मिन्। भाव में कोई अन्तर नहीं है।

अवधे:- नियत समय के। अव+√धा+कि। यहां नियत समय (अवधि) एक वर्ष है। (देखिये-पू. मे. श्लोक ३)

विन्यस्यन्ती-वि+नि+√अस् (फेंकना)+शतृ स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन, रखती हुई। यहां वाक्य-रचना स्पष्ट नहीं है भाव है यक्षिणी शाप की अवधि के जितने दिन बचे थे उतने फूल गिनकर देहली पर रख देती थी। मल्लिनाथ ने इस वाक्य का भाव यह दिया है-पुष्पेविन्यासैर्मासान् गणयन्ती वेत्यर्थ:।

गणनया-संख्यानेन, गिनती से, गिन-गिन कर। गणना-√गण (गिनना)+युच् (अन)+टाप् स्त्रीलिङ्ग।

संभोगम्-सम्+भुज्+घञ् पुंल्लिङ्ग द्वितीया एकवचन, रति-सुख, सहवास। पाठान्तर-मत्संभोग मम संभोगस्तम्, मेरे साथ सहवास को। संयोगम्-मिलन को। मत्सङ्गम्-मेरे साथ को।

हृदयनिहितारम्भस्-हृदये निहिता आरम्भाश्चुम्बनादयो व्यापारा यस्मिन् तम् (बहुव्रीहिः), मन में ही रक्खी गयी हैं चुम्बन आदि क्रियायें जिसमें। 'संभोगम्' का विश्लेषण। मल्लिनाथ ने 'आरम्भ' का वैकल्पिक अर्थ 'प्रारम्भ' भी किया है, परन्तु यहां 'आरम्भ' का अर्थ 'चुम्बन आदि चेष्टा' ही अधिक उपयुक्त है, हृदयविहितारम्भम् पाठ में भी अर्थ वही होगा।

आस्वादयन्ती-आ+√स्वद्+णिच्+शतृ स्त्रीलिङ्ग, स्वाद लेती हुई, अनुभव करती हुई। पाठान्तर-आसादयन्ती, आ+√सद्+णिच्+शतृ स्त्रीलिङ्ग, पाती हुई।

रमणविरहेषु-रमणभ्यः प्रियेभ्यो विरहा रमणविरहास्तेषु (पञ्चमी-तत्पुरूषः), प्रियों के विरह में। पाठान्तर-रमणविरहे हि। अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

विनोदाः-विनोद्यन्ते दुःखादीन्येभिरिति विनोदाः, जिनमें दुःख आदि दूर किये जायें, अर्थात् मनोविनोद के उपाय, मनोरञ्जन के साधन। वि+√नुद+णिच्+घञ्।।२७।।

सव्यापारमहनि न तथा पीडयोद्विप्रयोगः
शङ्के रात्रौ गुरूतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे।
तामुन्निद्रामवशियना सौधवातायनस्थः।।२८।।

अन्वयः-अहनि अव्यापारां ते सखीं विप्रयोगः तथा न पीडयेत्, रात्रौ निर्विनोदां गुरूतरशुचं शङ्के। निशीथे उन्निद्राम् अवनिशयानां साध्वीं तां मत्संदेशैः अलं सुखियितुं सौधवातायनस्थः पश्य।

अनुवाद-दिन में कामों में लगी हुई तेरी सखी को (मेरा) वियोग बहुत अधिक न सताता होगा, रात में विनोद रहित (तेरी सखी के) और अधिक दुःखी होने की आशङ्का करता हूं (इसलिये) आधी रात में जागती हुई, भूमि पर लेटी हुई, पतिव्रता उस (अपनी सखी) को मेरे संदेश द्वारा अत्यधिक सुखी करने के लिये महल के झरोखे में बैठकर देखना।

टिप्पणी-सव्यापाराम्-व्यापारेण ताम् (बहुव्रीहिः), काम में लगी हुई को। 'सखीम्' का विशेषण।

तथा-तन्+थल उस प्रकार, उतना, बहुत अधिक।

पीडयेत् विप्रयोगः-(मेरा)वियोग पीड़ित करता होगा, सताता होगा। सम्भावना के अर्थ में विधिलिङ्ग। विप्रयोगः-वि+प्र+√युज्+घञ्। पाठान्तर-खेदयेन्मद्वियोगः।

शङ्के-मैं आशङ्का करता हूं, मुझे भय है, मेरा विचार है, मैं समझता हूं।

गुरूतरशुचम्-गुरूतरा शुक शोको यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहिः), और अधिक है दुःख जिसको, और अधिक दुःखी। 'सखीम्' का विधेयात्मक विशेषण, 'शङ्के' का पूरक। गुरूतरा-अतिशयेन गुर्वी गुरूतरा, गुरू+तरप्+टाप् स्त्रीलिङ्ग।

निर्विनोदम्-निर्गतो विनोदो यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहिः), समाप्त हो गया है विनोद जिसका, विनोद रहित।

ते सखीम्-तेरी सखी को। मित्र अपनी पत्नी को अपने मित्र की सखी कहा करते हैं।

मत्संदेशैः-मम संदेशैरिति मत्संदेशैः (षष्ठीत्पुरूषः), मेरे संदेशों से, मेरे द्वारा कहलाये गये वचनों से।

सुखयितुम्-सुखय् (सुख से नामधातु)+तुमुन्, सुख देने के लिये, सुखी बनाने के लिये।

साध्वीम्-साधु+ङीप् (ई) स्त्रीलिङ्ग द्वितीया एकवचवन, पतिव्रता को।

उन्निद्राम्-उद्गता निद्रा यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहिः), उछट गई है नींद जिसकी, जगाती हुई (सखी) को।

अवनिशयनाम्-अवनिर्भूमिरेव शयनं शय्याः यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहिः), भूमि ही है चारपाई या बिस्तर जिसका, अर्थात् भूमि पर लेटी हुई को। विधवा और प्रोषितभर्तृका स्त्रियों के लिये भूमि पर सोने का विधान किया गया है। पाठान्तर-विरहाशयनाम् विरहयोग्यं शयनं यस्याः सा ताम्, विरह के योग्य है शय्या जिसकी, अर्थात् भूमि पर लेटी हुई, क्योंकि विरहिणियां भूमि पर सोती है। अन्य पाठ-भेद-अवनिशयनसन्नवातायनस्थः, भूमि पर बने बिछावन के समीपवर्ती झरोखे में बैठे हुए (तुम)।

सौधवातायनस्थः–सुधया लिप्तं सौधं तस्य वातायनं सौधवातायनं तत्र तिष्ठतीति सौधवातायनस्थः, सौधवातायन+ष्ठा+क [illegible] से पते हुए (भवन) के झरोखे में स्थित हुआ।।२८।।

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमवि कलामात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम्।।२९।।

अन्वयः–आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां प्राचीमूले कलामात्रशेषां हिमांशोः तनुम्, इव (स्थिताम्), या रात्रिः [illegible] इच्छारतैः क्षणः इव नीता ताम् इव विरहमहतीम् उष्णैः अश्रुभिः यापयन्तीम् (तां साध्वीं पश्य)।

अनुवाद–मनोव्यथा से क्षीण हुई, विरह की सेज पर टिके हुए एक पार्श्व वाली, मानो पूर्व दिशा में मूल (क्षितिज) में केवल एक भाग बची हुई चन्द्रमा की मूर्ति, जो रात्रि मेरे साथ इच्छानुसार किये रति-सुख से एक क्षण के समान व्यतीत की थी, [illegible] के कारण लम्बी हुई को गर्म आंसुओं के साथ बिताती हुई (उस पतिव्रता को देखना)।

टिप्पणी–आधिक्षामाम्–आधिना मनोव्यथया क्षामां कृशाम् (तृतीया–तत्पुरुषः), मानसिक चिन्ता से क्षीण। 'साध्वीम्' [illegible] आधिः–आ+√धा+कि (पुंल्लिङ्ग), मानसिक व्यथा, चिन्ता। चिन्ता को आधि और शारीरिक पीड़ा को व्याधि कहते हैं। [illegible] 'व्याधि' दोनों शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं। क्षाम–√क्षै+क्त।

विरहाशयने–विरह के योग्य शयन में, अर्थात् भूमि-शय्या पर। यहां विरहाशयन का अभिप्राय पूर्व श्लोक में कथित अकेलेशयन [illegible] 'विरहशयने' का विग्रह कई प्रकार से किया जाता है–(१) विरहे शयनं तस्मिन् (२) विरहानुकूल शयनं तस्मिन् (मध्यमपदलोपी समासः), (३) विरहस्य शयने। परन्तु अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

संनिषण्णैकपार्श्वाम्–संनिषण्णैमेकं पार्श्वं यस्यास्ताम् (बहुव्रीहिः), रक्खा हुआ है एक पार्श्व जिसका, अर्थात् एक करवट [illegible] संनिषण्ण–सम्+नि+√सद्+क्त, रक्खा हुआ, टेका हुआ। 'संन्निषण्णैकपार्श्वाम्' को अन्य प्रकार से भी खोला जा सकता है। [illegible] पार्श्वं यया ताम्, अर्थात् जो (विरहशयन के) एक किनारे पर बैठी है। सैनिकीर्णे कपार्श्वाम्–पाठ में भी अर्थ [illegible] होगा–सम्यग् निक्षिप्तमेकं पार्श्वं यया ताम्; डाला हुआ है एक पार्श्व जिसने, अर्थात् करवट न बदलती हुई।

प्राचीमूले–प्राच्यः पूर्वस्या दिशो मूले उपान्त् (षष्ठीतत्पुरुषः) (बहुव्रीहिः), एक भाग मात्र बची हुई। 'तनुम्' का विशेषण। [illegible] में सोलह कलायें (भाग) मानी जाती हैं।

तनुमिव हिमांशोः–हिमाः शीतला अंशवः किरण यस्य स तस्य हिमांशोः तनुमिव बिम्बमिव, शीतल किरण वाले चन्द्रमा [illegible] के समान।

क्षणः इव–क्षव भर के समान। सुख में समय आसानी से बीत जाता है, इसलिये लम्बा समय भी अल्प प्रतीत [illegible] पाठान्तर–क्षणमिद। क्षण शब्द नपुंसकलिङ्ग भी होता है, इसलिये कुछ टीकाकारों ने क्षणमिव पाठ रक्खा है।

विरहमहतीम्–विरहेण महतीम् (तत्पुरुषः), विरह के कारण लम्बी। 'ताम्' का विशेषण, जो रात्रि के लिये आया है। [illegible] विरह से उत्पन्न। [illegible]पतितैः, विरह में गिरेहुए। 'अश्रुभिः' का विशेषण।

यापयन्तीम्–√ या+णिच्+शतृ स्त्रीलिङ्ग द्वितीया एकवचन, बिताती हुई को। पूर्व श्लोक में आय 'तां साध्वीम्' का विशेषण [illegible]

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं नप्रबुद्धां नसुप्ताम्।।३०।।

अन्वयः–जालमार्गप्रविष्टान् अमृतशिशिरान् इन्दोः पादान् पूर्वप्रीत्या अभिमुखं गतं तथा एव संनिवृत्तं चक्षुः खेदात् सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिः छादयन्तीं साभ्रे अह्नि नप्रबुद्धां नसुप्तां स्थलकमलिनीम् इव (तां साध्वीं पश्य)।

अनुवाद–झरोखों के रास्ते अन्दर आई हुई अमृत के समान शीतल, चन्द्रमा की किरणों पर पहले चाव के कारण [illegible] (लेकिन) तुरन्त ही लौटी हुई दृष्टि जो दुःख के कारण आंसुओं से भरी पलकों से ढकती हुई, मेघों से आच्छन्न दिन में न [illegible] (और) न ही मुकुलित स्थलकमलिनी के समान (स्थित) (उस पतिव्रता को देखना)।

टिप्पणी–अमृतशिशिरान् पादान्–अमृतरिव शिशिरान् (उपमितसमासः), अथवा अमृतेन शिशिरान् (तृतीयातत्पुरुषः); अमृत के समान शीतल किरणों को, अथवा अमृत से शीतल किरणों को। काव्यों में चन्द्रमा की किरणों का शीतलता के रूप में वर्णन किया जाता है। यह भी विश्वास किया जाता है कि चन्द्रमा में अमृत या सुधा है, इसलिये किरणें शीतल होती हैं। 'पादान्' में 'अभिमुखम्' के योग के कारण द्वितीया विभक्ति है।

पूर्वप्रीत्या–पूर्वा प्रीतिरितिः (कर्मधारय) तथा, पहले प्रेम के कारण। प्रिय मिलन के समय में चन्द्रमा की किरणें सुखदायी थी, इसलिये यक्षिणी चाव से किरणों पर दृष्टि डालेगी, परन्तु विरह में वह दुःखदायी प्रतीत होंगी, इसलिये वह उन पर से दृष्टि हटा लेगी।

अभिमुखं गतम्–मुखं प्रति इति अभिमुखम् (अव्ययीभावसमासः)। यथा स्वात्तथा गतय, सामने गई हुई (दृष्टि)। पाठान्तर–गतमषि ततः, गई हुई सम्+नि√वृत्+क्त।

सलिलगुरुभिः–सलिलेनाऽश्रुजलेन गुरुभिः (तृतीयातत्पुरुषः), (आंसुओं के) पानी से भारी। 'पक्ष्मभिः' का विशेषण। पाठान्तर–सजलगुरुभिः जलेन सहितैः सजलैश्च तैर्गुरुभिश्चेति सजलगुरुभिः (कर्मधारय) आंसुओं से युक्त (अतः) भारी।

छादयन्तीम्–√छद् (ढकना)+णिच्+शतृ स्त्रीलिङ्ग द्वितीया एकवचन, ढकती हुई को।

साभ्रे–अभ्रैः सह वर्तत इति साभ्रं तस्मिन् (बहुव्रीहिः), मेंघों से युक्त मेघाच्छन्न। 'अह्नि का विशेषण। काव्यों में कमलिनी का सूर्य के साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। सूर्य मेघों से घिरा है, इसलिये कमलिनी खिली नहीं है और दिन है, इसलिये बन्द भी नहीं है।

स्थलकमलिनीत्–स्थल पर उगने वाला कमल के आकार के पुष्पों वाला पौधा। यक्ष पत्नी पृथिवी पर लेटी हुई थी। अतः उसे स्थल-कमलिनी के समान कहा गया है।

नप्रबुद्धां नसुप्ताम्–इन दोनों पदों में निषेधार्थक 'न' अव्यय का 'प्रबुद्धाम्' और 'सुप्ताम्' के साथ 'सुप्सुपा' समास है, इसलिये यह दोनों पर समस्तपद है। 'न' अव्यय 'नञ्' अव्यय से भिन्न है। 'नञ' के साथ समास होकर 'अप्रबुद्धाम्' और 'अप्रसुप्ताम्' पद बनते हैं। 'स्थलकमलिनीम्' के विशेषण।

प्रबुद्ध–प्र+बुध्+क्त, जगा हुआ, विकसित। सुप्त–√स्वप्+क्त, सोया हुआ, संकुचित, बन्द।।३०।।

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।
मत्संभोग कथमुपनमेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्।।३१।।

अन्वयः–शुद्धस्नानात् परुषं नूनम् आगण्डलम्बम् अलकम् अधरकिसलयक्लेशिना निःश्वासने विक्षिपन्तीं स्वप्नजः अपि मत्सभोगः कथम् उपनमेत् इति नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशां निद्राम् आकाङ्क्षन्तीम् (तां साध्वीं पश्य)।

अनुवाद–सादे स्नान से रूखे, निश्चय ही कपोलों तक लटकने वाले बालों की कोंपल जैसे निचले ओठ को विवर्ण कर देने वाले लम्बे सांस से हिलाती हुई, (तथा) स्वप्न में हुआ भी मेरा संभोग किसी प्रकार प्राप्त हो जाये–इस प्रकार आंखों के पानी के प्रवाह से रोके गये स्थान वाली निद्रा की इच्छा करती हुई (उस पतिव्रता को देखना)।

टिप्पणी–अधरकिसलयक्लेशिना–अधरः किसलय इवेत्यधरकिसलयः (उपमितसमासः) तं क्लेश्यति तेन (उपपदसमासः), कोंपल जैसे नीचे के ओठ को सताने वाले अर्थात् विवर्ण कर देने वाले। 'निःश्वासेन' का विशेषण।

शुद्धस्नानात्–शुद्धं लेपनादिद्रव्यरहितं स्नानं शुद्धस्नानम् (कर्मधारयः) तस्मात्कारणात्, तैल अङ्गराग आदि से रहित स्थान के कारण, अर्थात् सादे स्नान के कारण। यहां 'शुद्ध' का अभिप्राय 'तैल आदि सुगन्धित द्रव्यों से रहित' है। प्रोषितभर्तृ का केवल पूजा आदि करने से पूर्व सादा स्नान ही कर सकती थी, क्योंकि उसे प्रसाधन वर्जित था। कुछ टीकाकारों ने 'शुद्धस्नान' का अर्थ 'मासिक धर्म के पश्चात् शुद्धि के लिये किया गया स्नान' किया है, लेकिन यह अर्थ उपयुक्त नहीं है।

आगण्डलम्बम्–आगण्डाभ्यामिति आगण्डम् (अव्ययीभावः) यथा तथा लम्बत इति आगण्डलम्बः (आगण्ड+√लम्ब+अच्) तम्,गालों तक लटकने वाले। 'अलकम्' का विशेषण।

मत्संभोगः–मम संभोग इति मत्संभोग (षष्ठीतत्पुरुषः) मेरा सहवास। पाठान्तर–मत्संयोगः, मेरा मिलन।

उपनमेत्–उप+√ नम्+विधिलिङ्ग अन्यपुरुष एकवचन, प्राप्त हो जाय। संभावना अथवा अभिलाषा के अर्थ में विधिलिङ्ग। पाठान्तर उपनमत प्राप्त होवे। यहां 'नी' धातु को अकर्मक समझना चाहिये।

स्वप्नजः–स्वप्ने जायत इति स्वप्नजः (उपपदसमासः), स्वप्न में होने वाला। स्वप्न+√ जन्+ड (अ)। 'मत्संभोगः' का विशेषण

नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्–नयनयोः सलिलम् (षष्ठीतत्पुरुषः), तस्योत्पीडः प्रवाहः (षष्ठीतत्पुरुषः) तेन रुद्धावकाशः यस्यास्ताम् (बहुव्रीहिः), आंखों के पानी के प्रवाह ने रोक लिया है स्थान जिसका। 'निद्राम्' का विशेषण। नींद आंखों में आती वहां पहले से ही आंसू भरे हैं, इसलिये नींद का स्थान घिर गया है।

उत्पीडः–उत्+√पीड्+घञ्, दबाव, प्रबल धारा, बाढ़, उमड़ना।

अवकाशः–अव+√काश्+घञ्, स्थान, अवसर, प्रसर।।३१।।

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनेखनासकृत्सारयन्ती
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण।।३२।।

अन्वयः–आद्ये विरहदिवसे दाम हित्वा या शिखा बद्धा, शापस्य अन्ते विगलितशुचा मया उद्वेष्टनीयां स्पर्शक्लिष्टां कठिनविषमाम् एकवेणीं ताम् अयमितनखेन करेण गण्डाभोगात् असकृत् सारयन्तीम् (तां साध्वी पश्य)।

अनुवाद–विरह के पहले दिन पुष्पमाला का त्याग करके जो चोटी गूंथी थीं, शाप की समाप्ति पर नष्ट हुये शोक वाले मेरे द्वारा खोले जाने वाली, छूने में दुःखदायी कठोर और उलझी हुई एक वेणी रूप उस (शिखा) को बिना कटे नाखूनों वाले हाथ से गालों के प्रदेश से बार-बार हटाती हुई (उस पतिव्रता को देखना)।

टिप्पणी–बद्धा–√बन्ध+क्त+टाप् स्त्रीलिङ्ग, बांधी थी अर्थात् गूंथी थी। यहां बांधने का अर्थ गूंथना समझना चाहिये।

दाम हित्वा–पुष्प माला को त्याग कर। दाम–'दामन्' नपुंसक द्वितीया एकवचन, 'हित्वा' का कर्म। हित्वा–√हा+क्त्वा, छोड़कर त्याग कर। प्रोषितभर्तृ का प्रसाधन नहीं सकती थी, इसलिये विरह के प्रथम दिवस में चोटी बिना पुष्प के ही गूंथी जाती थी। पाठान्तर–शिखादाम्, पुष्प चूड़ामणि।

विगलितशुचा–विगलिता शुक् शोको यस्य तेन (बहुव्रीहिः), नष्ट हो गया है दुःख जिसका, नष्ट हुए शोक वाला। 'मया' का विशेषण

उद्वेष्टनीयाम्–उत्+√वेष्ट्+अनीयस्+टाप् स्त्रीलिङ्ग द्वितीया एकवचन; खोली जाने वाली, जो खोली जायेगी। भविष्य के अर्थ में अनीयर् प्रत्यय। 'ताम्' का विशेषण।

स्पर्शक्लिष्टाम्–स्पर्शे क्लिष्टाताम् (तत्पुरुषः); छूने में क्लेशदायी। यहां 'क्त' प्रत्यय 'कर्ता' कारक के अर्थ में समझना चाहिये. क्लिश्+क्त।

अयमितनखेन–न यमिता अयमिताः (नञ्समासः); नखा यस्य तेन (बहुव्रीहिः); नहीं कटे हैं नाखून जिसके। 'करेण' का विशेषण

सारयन्तीम्–√सृ+णिच्+शतृ स्त्रीलिङ्ग द्वितीया एकवचन; हटाती हुई को। 'साध्वीम्' का विशेषण।

कठिनविषमाम्–कठिना च विषमा चेति कठिनविषमा ताम् (कर्मधारयः); कठोर और उलझी हुई। 'तां शिखाम्' का विशेषण। वह समय से प्रसाधन नहीं किया था, इसलिये चोटी सख्त और गांठ-गठीली हो गई थी। 'विषम्' का अर्थ ऊँचा नीचा होता है। यहां इसका अर्थ 'उलझा हुआ' समझना चाहिये।

एकवेणीम्–एका वेणी ताम् (कर्मधारयः); एक वेणी को। वेणी का अर्थ भी लिखा हो होता है। परन्तु यहां 'वेणी' का अर्थ 'सिर की केशरचना' है। शिखा में एक से अधिक भी वेणी हो सकती हैं, परन्तु प्रोषितभर्तृका शिखा को एक वेणी में ही गूंथती थी।।३२।।

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्तीं
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा।।३३।।

अन्वयः–अबला संन्यस्ताभरणम् असकृत् दुःखदुःखेन शय्योत्सङ्गे निहित पेशलं गात्रं धारयन्ती सा अवश्यं त्वाम् अपि नवजलमयम् अस्रम् मोचयिष्यति। प्रायः आर्द्रान्तरात्मा सर्वः करुणावृत्तिः भवति।

अनुवाद–दुर्बल हुई (तथा) आभूषणों का त्याग किये हुये, बार-बार कठिनाई से सेज पर रक्खे हुये, कोमल शरीर को धारण करने वाली वह (तुम्हारी सखी) नि:सन्देह तुमको भी नये जल के रूप में आंसू बहाने के लिये लाचार कर देगी। बहुधा कोमल हृदय वाले सभी दयालु स्वभाव के होते हैं।

टिप्पणी–संन्यस्ताभरणम्–संन्यस्तानि त्यक्तान्याभरणनि भूषणनि येन यत् (बहुव्रीहि:); त्याग दिये हैं आभूषण जिसने, आभूषण-विहीन। 'गात्रम्' का विशेषण। संन्यस्त्–सम्+नि+√अस् (फेंकना)+क्त; छोड़ा।

पेशलम्–'गात्रम्' का विशेषण; कोमल। पाठान्तर–कोमलम: पेल; वम्। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

शय्योत्सङ्गे–शय्याया: शयनस्योत्सङ्गेऽङ्के (षष्ठीतत्पुरुष:); सेज की गोद में अर्थात् सेज पर।

दु:खदुखेन–'निहितम् का क्रिया-विशेषण, दु:ख से। कठिनाई से। मल्लिनाथ ने यहां प्रकार के अर्थ में द्विरक्ति मानी है, लेकिन इस वीप्सा अर्थात् अधिकता अर्थ में भी माना जा सकता है। तब अर्थ होगा–बड़े दु:ख से, बड़ी कठिनाई से।

नवजलमयम्–नवं च तत् जलं चेति नवजलम् (कर्मधारय:) तदेव लवजलमयम् ; नये जल के रूप में अर्थात् नव-जल रूपी। यहां मयट् प्रत्यय स्वरूपार्थ में हुआ। पाठान्तर–जललवमयम्;। जल की बूंदों के रूप में। किसी को दु:खी देखकर चेतन प्राणी ही आंसू बहा सकता है, मेघ कैसे बहायेगा? इसका उत्तर है कि मेघ से छूटती हुई जल की बूंद ही उसके आंसू होंगे। इसीलिये यह कहा गया है कि दु:खियारी यक्षिणी मेघ को भी जल के रूप में आंसू बहाने के लिये विवश कर देगी।

मोचयिष्यति–√मुच्+णिच्+लृट् अन्यपुरुष एकवचन; छोड़ने के लिये प्रेरित करेगी, छूड़वाये गिरवायेगी, बहवायेगी, बहाने के लिये विवश कर देगी। 'मुच्' धातु द्विकर्मक है, इसलिये इसके दो कर्म हैं–(१) गौणकर्म 'त्वाम्' और (२) मुख्य कर्म 'अस्रम्'।

करुणवृत्ति:–करुणामयी वृत्तिर्यस्य वृत्तिर्यस्य स करुणवृत्ति: (बहुव्रीहि:) दया से युक्त भावना वाला, दयालु स्वभाव का। 'सर्व:' का विधेयात्मक विशेषण 'भवति क्रिया का पूरक।

आर्द्रान्तरात्मना–आर्द्रा मृदुरन्तरात्मा हृदयं यस्य स: (बहुव्रीहि:); कोमल हृदय वाला। 'सर्व' का विशेषण। 'आर्द्र' का शब्दार्थ 'गीला' होता है, परन्तु यहां इसका अभिप्राय 'कोमल' कोमल-हृदय व्यक्ति पर दु:ख कातर होता है; मेघ का मध्य भाग जल-मय होने से आर्द्र है। इसलिये दु:खियारी यक्षिणी को देखकर उसके आंसू अवश्य ही उमड़ आयेंगे।।३६।।

जाने संख्यास्तव मयि मन: संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूता प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगमन्यभाव: करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत्।।३४।।

अन्वय:-तव सख्या: मन मयि संभृतस्नेहं जाने अस्मात् तां प्रथमविरहे इत्थभूतां तर्कयामि, सुभगमन्यभाव: मां वाचालं न करोति खलु। भ्रात:, मया तत् उक्तम् (तत्) निखिलम् अचिरात् ते प्रत्यक्षम् (भविष्यति:)।

अनुवाद:-(मैं) तब तेरी सखी के मन को अपने प्रति स्नेह से भरा हुआ जानता हूं, इसीलिये मैं उस प्रथम वियोग में इस प्रकार हुई सोचता हूं; सचमुच (स्वयं को) सुन्दर समझने की भावना मुझे मुखर नहीं बना रही है। हे भाई मैंने जो कहा है, (वह) सब जल्दी ही तुम्हें प्रत्यक्ष (हो जायेगा)।

टिप्पणी-संभृतस्नेहम्-संभृत: संचित: स्नेहो यस्मिन् तत (बहुव्रीहि:), इकट्ठा है प्रेम जिसमें, प्रेम से भरा हुआ। 'मन:' का विधेयात्मक विशेषण। संभृत-सम्+√भ+क्त।

प्रथमविरहे-प्रथमो विरहस्तस्मिन् (कर्मधारय:), पहले वियोग में। 'प्रथम' पद विरह की उत्कटता को प्रकट करता है।

वाचालम्-वाच:+आलच् अधिक बोलने वाला, अनर्गल बातें करने वाला। 'माम्' का विधेयात्मक विशेषण, 'करोति' का पूरक।

सुभगमन्यभाव:-सुभगम् आत्मनां मन्यत इति सुभगमन्य: (उपपदसमास:) तस्य भाव:। सुभगैमन्यभाव (षष्ठीतत्पुरुष:), स्वयं को सुन्दर समझने की भावना। सुभगमन्य:-सुभग+√मन्+खश् (अ), स्वयं को सुन्दर समझने वाला।

यक्ष, यह आशङ्का करके कि कहीं मेघ यक्षिणी की विरह दशा को केवल अतिश्योक्ति और कामुक की गर्वोक्ति ही न समझ रहा हो, कहता है-मैं जो कुछ कह रहा हूं वह अलका जाकर तुम अपनी आंखों से देख लोगे। मैं स्वयं को सुन्दर समझता हूं, इसलिये ऐसी बातें नहीं कर रहा हूं, बल्कि मैं अपने प्रति यक्षिणी के स्नेह के कारण ही ऐसा कह रहा हूं।।३४।।

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपिच मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति॥३५॥

अन्वयः-अलकैः रुद्धापाङ्गप्रसरम् अञ्जनस्नेहशून्यम् अपि च मधुनः प्रत्यादेशात् विस्मृत भ्रूविलासं त्वयि आसन्ने उपरिस्पन्दि मृगाक्ष्या नयनं मीन क्षोभात् चलकुवलयश्रीतुलाम् एष्यति इति शङ्के।

अनुवाद-बालों से रोकी गई कोरों की गति वाला, काजल की चिकनाई से रहित, और मद्य के त्याग से भौंवां के विलास को भूला हुआ, तुम्हारे समीप आने पर ऊपर के भाग में फड़कने वाला, मृगनयनीका (बायां) नेत्र मछली की हलचल के कारण चञ्चल कमल की शोभा की समानता को प्राप्त होगा-ऐसा मेरा विचार है।

टिप्पणी-रुद्धपाङ्गप्रसरम्-रुद्धोऽपाङ्गयोर्नेत्रप्रान्तयोः प्रसरो गतिर्यस्य तत् (बहुव्रीहिः), जिसके चारों कोरों की गति का रोक दिया गया है। 'नयनम्' का विशेषण। ढीले हुए बालों की लटें आंखों पर आ गई थीं, इसलिये कनखियों से नहीं देख सकती थी।

अलकैः-बालों की लटों से। 'अलक' या 'चूर्णकुन्तल' उन ढीले और घुघराले बालों को कहते हैं, जो मुंह, माथे और आंखों पर लटक आते हैं।

अञ्जनस्नेहाशून्यम्-अञ्जनस्य अञ्जनेन वा स्नेहोऽञ्जनस्नेहस्तेन शून्यम् (तत्पुरुषः), काजल की चिकनाई से रहित। 'नयनम्' का विशेषण। काजल लगाने से आंखों की चमक बढ़ जाती है और काजल न लगने से आंखों रूखी-सी लगती हैं। प्रोषितभर्तृका वह काजल नहीं लगाती थी।

प्रत्यादेशात्-प्रति+आ+√दिश्+घञ् (भावे), त्यागना, स्वीकार न कराना। हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति।

विस्मृतभ्रू विलासम्-विस्मृती भ्रूविलासो येन तत् (बहुव्रीहिः), जो भौंओं के मटकाने को भूल हुआ। 'नयनम्' का विशेषण। पति-वियोग के कारण मद्यपान छोड़ देने से यक्ष-पत्नी में चञ्चलता और मस्ती न रही थी, इसलिये नेत्रों की चञ्चलता भी समाप्त हो गई थी।

उपरिस्पन्दि नयनम्-उपरि ऊर्ध्वं भागे स्पन्दते इति उपरिस्पन्दि (उपपदसमासः), ऊपर के भाग में फड़कने वाला नेत्र। स्पन्दि √स्पन्द्+णिनि फड़कने वाला। स्त्रियों का बाये अङ्ग का फड़कना शुभ-शकुन माना जाता है। और आंख का ऊपर के हिस्से में फड़कना इष्ट-प्राप्ति का लक्षण कहा गया है। पति के मित्र मेघ की प्राप्ति भी यक्ष-पत्नी के लिये इष्ट-प्राप्ति ही होगी, इसलिये उसका बायां नेत्र ऊपर के हिस्से में फड़केगा।

मीनक्षोभात्-मीनस्य क्षोभात् (षष्ठीतत्पुरुषः), मछली की हलचल से, अर्थात् समीप में मछली के चलने फिरने से। मीन क्षोभ चलकुवलय के हिलने का हेतु है, इसलिये इसमें पञ्चमी विभक्ति है। पाठान्तर-मीनक्षोभाकुलकुवलय० आदि पाठ में भी अर्थ वही रहता।

चलकुवलयश्रीतुलाम्-चलं कुवलयं चलकुवलयम् (कर्मधारयः) तस्य श्रियाः शोभायास्तुला सादृश्यमिति चलकुवलयश्रीतुला (षष्ठीतत्पुरुषः) ताम्, हिलते हुए कमल की शोभा की समानता को। 'एष्यति' का कर्म। मल्लिनाथ ने विग्रह करते हुये 'श्रिया तुलाम्' तृतीया विभक्ति रखी है, लेकिन वह ठीक नहीं है॥३५॥

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्॥३६॥

अन्वयः-मदीयैः कररुहपदैः मुच्यानः चिरपरिचितं मुक्ताजालं दैवगत्या त्याजितः संभोगान्ते मम हस्तसंवाहनानां समुचितः सरसकदलीस्तम्भगौरः अस्याः वामः ऊरुः च चलत्वं यास्यति।

अनुवाद-और मेरे (द्वारा किये गये) नखों के चिह्नों से छोड़ी जाती हुई भाग्य के फेरे से लम्बे समय से परिचित मोतियों की माला छुड़ाई गई, संभोग के बाद मेरे हाथों में दबाई जाने योग्य, ताले केले के तने के समान गोरी-गोरी, इस (मेरी प्रिया) की बाईं जांघ फड़क उठेगी।

टिप्पणी-वामश्चास्य उरुः-और उसकी बाईं जांघ। शकुन-शास्त्र के अनुसार स्त्री की बाईं जांघ का फड़कना भी इष्ट-प्राप्ति का लक्षण है।, पाठान्तर-वामो वाम्याः अथवा इसकी बाईं जांघ।

कररुहपदैर्मुच्यमानः-करे रुहन्तीति कररुहाः, कर+√रुह्+अच्, (उपपदसमासः) तेषां पदैचिह्नैः (षष्ठीतत्पुरुषः), नखों के चिह्नों से छोड़ी जाती हुइ (जांघ), अर्थात् नखों के चिह्नों से रहित। मुच्यान्-√मुच्+शानच् (कर्मणि), छोड़ा जाता हुआ।

मदीयैः-ममेमानि मदीयानि तैः, मेरे। '०पदैः'का विशेषण। अस्मद् (एकवचन)+छ (ईय) प्रत्यय।

चिरपरिचितम्-चिरं परिचितमिति चिरपरिचितम् (सुप्सुपासमासः), चिर् काल से जाना पहचाना, अर्थात् चिर-काल से धारण किया गया। 'मुक्ताजालम्' का विशेषण।

त्याजितः-√त्यज्+णिच्+क्त, छुड़ाया गया। 'ऊरुः' का विशेषण।

यहां णिजन्त 'त्यज्' धातु से बनी 'त्याजितः' क्रिया के दो कर्म हैं-(१) मुक्ताजालम्, जो द्वितीया एकववचन का रूप है, (२) 'ऊरुः' जो प्रथम विभक्ति का रूप है। 'त्याजितः' का प्रयोजक कर्ता 'दैवगति है' है, और प्रयोज्य कर्ता 'ऊरु' है जो णिजन्त अवस्था में कर्म हो गया है। 'क्त' प्रत्यय कर्मकारक के अर्थ में हुआ है इयलिये 'उरु' में प्रथमा विभक्ति आई है।

संभोगान्ते-संभोगस्यानते संभोगान्ते (षष्ठीत्पुरुषः), रति-क्रीड़ा के अन्त में।

हस्तसंवाहनानाम्-हस्ताभ्यां संवाहनानि हस्तंसवाहनानि तेषाम् (तृतीया तत्पुरुषः), हाथों से दबाये जाने के (योग्य)। संवाहन-सम+√वह्+णिच्+ल्युट् (अन) नपुंसकलिङ्ग भाववाचक संज्ञा। पाठान्तर-संवाहनस्य। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

सरसकदलीस्तम्भगौरः-रसेन सहितः सरस (बहुव्रीहिः), कदल्याः स्तम्भः कदलीस्तम्भः (षष्ठीतत्पुरुष्ः) सरसः कदलीस्तम्भ सरसकदलीस्तम्भः (कर्मधारयः) तद्वद् गौरः सरसकदलीस्तम्भगौरः (उपमितसमासः); ताजे केले के तने के समान गौरवर्ण का। 'ऊरुः' का विशेषण। पाटान्तर-कनककदलगभगौरः, सुनहरी केले के मध्य-भाग के समान गौर, सरसकदलीगर्भगौरः ताले केले के मध्य-भाग के समान गौर सरसकदलीस्तम्बगौरः ताजे केले के तने (स्तम्ब=स्तम्भ) के समान गौर।।३६।।

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैना स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथञ्चि-
त्सद्यः कण्ठच्युतभुलताग्रन्थिगाढोपगूढम्।।३७।।

अन्वयः-जलद, तस्मिन् काले यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्यात्, एनाम् अन्वास्य स्तनितविमुखः याममात्रं सहस्व। अस्याः मयि प्रणयिनि कथञ्जित् स्वप्नलब्धे (सति) गाढोपगूढं सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि या भूत।

अनुवाद-हे मेघ, उस समय यदि वह निद्रा के सुख को प्राप्त हो तो उसके पास बैठकर गर्जन से पराङ्मुख होकर पहर भर प्रतीक्षा कर लेना (जिससे कि) इसका मुख प्रिय के किसी प्रकार स्वप्न में मिलने पर (किया गया गाढ आलिङ्गन) तुरन्त कण्ठ में शिथिल हुए लता-जैसी भुजाओं के बन्धन वाला न हो जाय।

टिप्पणी-लब्धनिद्रासुखा-लब्धं निद्रायाः सुखं यया स (बहुव्रीहिः), पाया है नींद का सुख जिसने, नींद के सुखको प्राप्त हुई। लब्ध-√लभ्+क्त।

अन्वास्य-अनु+√ आस् (बैठना)+ल्यप्, समीप बैठकर। 'आस्' धातु अकर्मक होती है परन्तु यहां 'अनु' उपसर्ग जुड़ने से सकर्मक हो गई है, इसलिये इसके कर्म 'एनाम्' में द्वितीया विभक्ति है।

स्तनितविमुखः-स्तनिताद् गर्जनाद् (केवल अर्थ मात्रच् प्रत्यय), पहरभर। 'याममात्रम्' 'सहस्व' क्रिया का काल-बोधक क्रिया विशेषण है, इसलिये इसमें अत्यन्त संयोग के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है।

सहस्व-√सह+लौट् मध्यमपुरुष एक वचन आत्मनेपद, सहना, प्रतीक्षा करना। पाठान्तर-सहेथाः विधिलिङ् मध्यमपुरुष, एकवचन, आत्मनेपद, क्षमस्व, √क्षम्+मध्यमपुरुष एक वचन। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

मा भूत्-√भू+लुङ् अन्यपुरुष एकवचन, न होवे। निषेधार्थक 'मा' अन्वय के योग में सब लकारों के अर्थ में लुङ् लकार आता है।

स्वप्नलब्धे-स्वप्ने लब्धः स्वप्नलब्धः (सप्तमी तत्पुरुषः) तस्मिन्, सपने में मिल जाने पर। 'मयि प्रिये' का विशेषण।

सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि-सद्यः कण्ठात् च्युतो भुजलतयोर्ग्रन्थिर्बन्धे यस्य तत् (बहुव्रीहिः), तुरन्त कण्ठ से छूट गया है लतासदृश का बन्धन जिसका। 'गाढोपगूढम्' का विशेषण।

गाढोपगूढम्-गाढं च तदुपगूढमिति गाढोपगूढम (कर्मधारय:), गाढ आलिङ्गन। गाढ-√गाह+क्त। उपगूढ अप+√ गूह+क्त [illegible] संज्ञा नपुंसकलिङ्ग), आलिङ्गन।।३७।।

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैजलिकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भ: स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीर: स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथा:।।३८।।

अन्वय:-विद्युद्गर्भ: धीर: (च सन् त्वम्) स्वजलकणिकाशीतलेन अनि लेन तां मानिनीम् उत्थाप्य मालतीनाम् अभिनवै [illegible] सम प्रत्याश्वस्ताम्, त्वत्सनाथे गवाक्षे स्तिमितनयनां स्तनितवचनै: वक्तुं प्रक्रमेथा:।

अनुवाद-मध्य भाग में बिजली वाले (और) धीरे हुए (तुम) अपने जल की नन्हीं बुंदों से शीतल पवन द्वारा उस [illegible] को उठाकर चमेली के ताले गुच्छों के साथ-साथ स्वस्थ हुई तथा तुमसे युक्त झरोखे पर दृष्टि लगाई हुई के साथ गर्जन [illegible] बोलना प्रारम्भ करना।

टिप्पणी-तामुत्थाप्य-उस (मानिनी यक्षिणी) को उठाकर। उत्थाप्य उत्+स्था+णिच्+ल्यप्। पाठान्तर-प्रोत्थाप्यैनाम्, इस [illegible] को उठाकर।

स्वजलकणिकाशीतलेन-स्वस्य जलस्य कणिकाभि: शीतलेन (तत्पुरुष:), अपने जल की नन्हीं बून्दों से शीतल। [illegible] के विशेषण।

प्रत्यायश्वस्ताम्-प्रति+आ+√श्वस्+क्त स्त्रीलिङ्ग द्वितीया एक वचन स्वस्थ हुई को, विकसित हुई को। यहां 'प्रत्याश्वस्ताम्' [illegible] का सम्बन्ध यक्षिणी और मालती दोनों के साथ है। मेधा की फुहारों से, शीतल पवन से यक्षिणी और मालती की कलियां [illegible] हो जायेंगी। इस उल्लेख से यक्षिणी और मालती की सुकुमारता प्रकट की गई है।

विद्युद्गर्भ:-विद्युद् गर्भ मध्ये मस्य स: (बहुव्रीहि:), बिजली है मध्य में जिसके, अर्थात् अन्तर में बिजली को छिपाए हुए [illegible] का विशेष। मल्लिनाथ ने गर्भ का 'अन्त:स्थ' किया है।

स्तिमितनयनाम्-स्तिमिते निश्चले नयने यस्याताम् (बहुव्रीहि:), निश्चले हैं नेत्र जिसके, अर्थात् एक-टक दृष्टि [illegible] हुए के 'मानिनीम्' का विशेषण।

त्वत्सवाथे-नाथेन सह वर्तमान: सनाथ: (बहुव्रीहि:), त्वया सनाथस्त्वत्सनाथ: (तृतीयात्पुरुष:) तस्मिन्, तुमसे युक्त [illegible] के विशेषण।

स्तनितवचनै:-स्तनितानि गर्जितान्येव वचनानि तै: (कर्मधारय:), गर्जनरूपी वचनों से। पाठान्तर-धीराणि गम्भीराणि स्तनित [illegible] वचनानि तै:, गम्भीर गर्जन-रूपी वचनों से।

मानिनीम्-मानोऽस्या अस्तीति मानिनी ताम् (मान+ईन्+ङप् स्त्रीलिङ्ग), मनस्विनी को।

प्रक्रमेथा:-प्र+√ क्रम+विधिलिङ्ग मध्यपुरुष एक वचन आत्मनेपद, प्रारम्भ करना। 'क्रम्' धातु का सामान्यता परस्मैपद में प्रयोग [illegible] परन्तु जब 'प्रारम्भ करना' अर्थ में प्र और उपसर्ग जुड़े हों तो इसका आत्मनेपद में प्रयोग होता है। (मिलाइय-'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' अष्टाध्यायी १, ३, ४२)।।३८।।

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि।।३९।।

अन्वय:-अविधवे, मां भर्तु: प्रियं मित्रं हृदयनिहितै, तत्संदेशै: त्वत्समीपम् आगतम् अम्बुवाहं विद्धि. य: मन्द्रस्निग्ध [illegible] अबलावेणिमोक्षात्सुकानि पथि श्राम्यतां प्रोषितानां त्वरयति।

अनुवाद-हे सौभाग्यवती, मुझे (अपने) पति का प्रिय मित्र (और) हृदय में रखे हुये उसके संदेशों के साथ तेरे समीप [illegible] मेघ जानो, जो (मेघ) (अपनी) गम्भीर और मधुर ध्वनियों से अबला जनों की चोटियों को खोलने के लिये लालायित हुए मार्ग में थके हुये प्रवासियों के संघों को प्रेरित करता है।

टिप्पणी-अविधवे-न विधवाऽविधवा तत्सम्बुद्धौ अविधवे (नञ्समासः) हे अविधवा, हे सौभाग्यवती। विधवा-जिसका पति मर गया हो। प्रायः विषय शब्द की व्युत्पति इस प्रकार की जाती है-विगतो धवो यस्याः सा:, अर्थात् जिसका धन (स्वामी) मर गया हो। परन्तु सम्भवतः यह शब्द √ व्यध् (पीडने) धातु से निष्पन्न है और इसका शब्दिक अर्थ 'पीडित' या 'व्यथित' है।

विद्धि-√विद् (जानना)+लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन जनो।

तत्संदेशैः-तस्य संदेशैः (तत्पुरुषः), उसके अर्थात् तेरे पति के संदेशों के साथ। पाठान्तर-तत्संदेशात्, उसके संदेश के कारण। हेतु में पञ्चमी विभक्ति त्वत्संदेशात्-तेरे लिये भेजे गये संदेश के कारण। संदेश-सम्+√दिश्+घञ् (पुंल्लि.), कहना अथवा जाने वाली बात।

हृदयनिहितैः-हृदये निहितैः (सप्तमीतत्पुरुषः), हृदय में रक्खे हुए। 'संदेशैः' का विशेषण। निहित-नि+√धा+क्त।

यो वृन्दानि.....प्रोषितानाम्-संस्कृत काव्यों में वर्षा ऋतु का उद्दीपक के रूप का वर्णन किया गया है, इसलिये प्रायः यह वर्णन किया जाता है कि मेघ परदेश में गये हुये पतियों को घर लौट आने के लिये प्रेरित करता है। प्राचीन काल में वर्षा ऋतु में यातायात की असुविधा के कारण व्यापारियों के साथ वर्षा आगमन से पूर्व सभी अपने घर वापस लौट आते थे। त्वरयति-त्वरां करोति 'त्वरा' से नामधातु (deunimative) त्वरा+णिच्+लट् अन्यपुरुषः एकवचन, शीघ्रता करता है, प्रेरित करता है। त्वरयति रूप√त्वर् (भवदिगणीय) धातु से प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय जुड़कर भी बन सकता है। श्राम्यताम्-श्रम् (दिवादि०)+शतृ षष्ठी बहुवचन, थके हुए। 'प्रोषितानाम्' का विशेषण।

प्रोषितानाम्-प्र+√ वस्+क्त षष्ठी बहुवचन, दूर गये हुओं के, परदेशियों के, पथिकों के।

मन्द्रस्निग्धैः-मन्द्रैश्च स्निग्धैश्चेति मन्द्रस्निग्धैः (कर्मचारयः) गम्भीर और मधुर (शब्दों से), 'ध्वनिभिः' का विशेषण। संस्कृत में 'ध्वनि' शब्द पुंल्लिङ्ग होता है, सान्द्रस्निग्धैः पाठ में भी वही अर्थ होगा।

अदलावेणिमोक्षोत्सुकानि-अबलाना वेणयोऽबलावेणयस्तासां मोक्षः (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्मिन् उत्सुकानि (सप्तमीतत्पुरुषः), (अपनी) स्त्रियों की चोटियों को खोलने के लिये उत्सुकानि। 'प्रोषितानां वृन्दानि' का विशेषण। केशों की चोटी के अर्थ में 'वेणि' और 'वेणी' दोनों शब्द होते हैं। मोक्ष-√ मोक्ष (छोड़ना)+घञ् (भाववाचक संज्ञा पुंल्लिङ्ग), खोलना, छुटकारा। प्रेषितभर्तृका स्त्री प्रिय के प्रवास के समय केशों को लटकाती हुई एक चोटी में गूंथती थी, जिसे प्रवास से लौटकर पति अपने हाथ से खोलता था (देखिये, उत्तरमेघ श्लोक संख्या ३२)। 'उत्सुक' के योग में तृतीया या सप्तमी विभक्ति आया करती है, इसलिये '०मोक्षात्सुकानि' का विग्रह 'मोक्षे उत्सुकानि' किया गया है।।३१।।

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किञ्चिदूनः।।४०।।

अन्वयः-इति एवम् आख्याते उन्मुखी उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया सा, पवन् तनयं मैथिलीव, त्वां वीक्ष्या संभाव्य च अस्मात् परम् अवहिता (सती) श्रोष्यति, सौम्य सीमन्तिनीतां सुहृदुपनतः कान्तोदन्तः संगमात् किञ्चिदूनः (भवति)।

अनुवाद-इस प्रकार कहा जाने पर ऊपर की ओर मुख किये (और) उत्सुकता से फूले हुए हृदय वाली यह (मेरी प्रिया), वचन के पुत्र (हनुमान) का सीता के समान, तुम्हें देखकर और तुम्हारा आदर करके सावधान होकर सुनेगी, (क्योंकि) हे सौम्य, स्त्रियों को (पति के) मित्र द्वारा लाया गया पति का वृत्तान्त मिलन से कुछ ही कम होता है।

टिप्पणी-आख्याते-आ+√ख्या+क्त (भाववाचक संज्ञा नपुंसकलिङ्ग), भावलक्षण अर्थ में सप्तमी विभक्ति, कहने पर, कहा जाने पर।

पवनतनयं मैथिलीं-जैसे मिथिला देश में रहने वाली (सीता) ने पवन के पुत्र हनुमान को देखकर और सम्मानित करके उसकी बात सुनी थी। आख्यान के अनुसार हनुमान के पिता का नाम पवन और माता का नाम अञ्जना या अञ्जनी था, इसलिये हनुमान को 'पवन-सुत', 'वायु-पुत्र', 'मारुति' तथा 'आञ्जनेय' आदि नामों से पुकारा जाता है। रामायण की कथा के अनुसार जब हनुमान लङ्का में जाकर सीता से मिला तो पहले सीता ने अविश्वास के कारण उपेक्षा दिखलाई, परन्तु जब उसे यह विश्वास हो गया हक वह श्रीरामचन्द्र का दूत है तो उसे चाह से देखकर उसका सम्मान किया तथा उसकी बात ध्यान से सुनी।

मैथिली-मिथिला निवासोऽस्या इति मैथिली (मिथिला+अण्+ङीप् स्त्रीलिङ्ग), मिथिला की रहने वाली, सीता का एक नाम। प्राचीनकाल में देश के नाम पर भी स्त्री-पुरुषों के नाम पड़ जाते थे।

उन्मुखी:- उद्गत मुखं यस्या: सा (बहूव्रीहि:) ऊपर उठा है जु मुख जिसका, ऊपर की ओर मुख किये। क्योंकि यक्षिणी अवनि-शयन पर बैठी हुई झरोखे में स्थित मेघ की ओर देखेगी, इसलिये उसका मुख ऊपर को उठ जायेगा।

उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदय -उत्कण्ठया उच्छ्वसितं हृदयं यस्या: सा (बहुव्रीहि:), उत्सुकता के कारण फूल उठा है हृदय जिसका (पति के कमित्र का वचन सुनने के) कौतुहल से उल्लसित हृदय वाली।

संभाव्य चैपम् - और इस प्रकार सम्मान करके। यक्षिणी का चाव से प्रफुल्ल हृदय से मेघ को देखना ही यक्षक्षिणी द्वारा मेघ का सम्मान होगा। पाछान्तर -संभाष्य, बातचीत करके । 'एनम्' के स्थान पर 'एव' पाठ भी पाया जाता है, इस पाठ में 'एव' का सम्बन्ध 'श्रोष्यिति' के साथ समझना चाहिये। और तब इसका अर्थ होगा 'अवश्य सुनेगी। '

अस्मात् परम् इसके आगे अर्थात् परिचय देने के बाद कहे गये अवश्य वचन को।

अवहिता -अवहित ध्यानमस्या अस्ती त्यवहिता (अवहित+अच्+ मतुप् प्रत्यय के अर्थ में), सावधान हुई। अवहितम् अवधानम् (भाववाचक संज्ञा नंपुसंकलिङ्ग, ध्यान)।

सीमन्तिनीनाम्-सीमान्त आसामस्तीतासाम् (सीमान्त+इनि+ङीप् स्त्रीलिङ्ग), सीमान्त (मांग, बालों को दो भागों में बांटने पर सिर पर बनने वाली रेखा) जिनके हो, स्त्रियों को यहां सामान्य सम्बन्ध के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है।

कान्तोदन्त:-कान्तस्य प्रियस्योदन्तो वृत्तान्त: (षष्ठीतत्पुरूष:), प्रिय का समाचार। कान्त -√कम् (चाहना)+क्त, चाहा गया पिय, पति। पाठान्तर-कान्तोपान्तात्, प्रिय के समीप से।

सुहृदुपगत:-सुहृदा मित्रो आनीत: (तृतीया तत्पुरूष:), मित्र द्वारा लाया गया । युहृउा -शोभन हृदयं यस्य स: (बहुव्रीहि: सुन्दर हृदय के अर्थ में बहुव्रीहि समास में 'हृदय' को 'हृत्' हो जाता है। उपनत-उप+√नम्+क्त। पाठान्तर-सुहृदगपम, मित्र का आना, सुहृदुप: (पति के पास से) आया हुआ मित्र।।४०।।

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूया एवं ता सहचरो रामगिर्याश्रमस्थ:
अव्यापन्न: कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्त:
पूर्वाभाष्य सुलभविपदां प्राणिनामेदेव।।४१।।

अनवय:-असयुष्मान् मम च आत्मन: वचनाज् (मम) उपकर्तुतम् एवं बूया:-'अबले, तव सहचर: रामगिर्याश्रमस्थ: अव्यापन्न: वियुक्त: त्वां कुशलं पृव्छति।' सुलभविपदां प्राजिणनाम् एतद् एव पूर्पाभाष्सम्।

अनुवाद-हे आयुष्मान् मेरी ओर से और से (मेरे) हित के लिये तुम उस (मेरी प्रिया) से इस प्रकार से कहना 'हे अबले तेरा सखा रामगिरि के आश्रमों में स्थित है (और) जीवित है, बिछड़ा हुआ (वह) तुम्हारी कुशल पूछता है।' सहज ही विपत्तियों को पाने वाली प्राणियों से यह (कुशल-प्रश्न) ही पहले पूछना चाहिये।

टिप्पणी–आयुष्मान्-आयु आयूरस्यातीत्यायानुष्मान तत्सम्बोधन आयुष्मान् (आयुष+मतुव)हे उम्र वाले, हे चिरजीवन। यक्ष ने पूर्वमेघ यश्लोक संख्या ९ में मेघ को अपना छोटा भाई माना है। इसलिये यह स्वाभविक ही है कि वह मेघ को 'आयु' का सम्बोधन करता है। लोग अपने छोटों को 'वत्स' या 'आयुष्मान्' शब्दों से सम्बोधित करते है। मल्लिलनाथ ने 'आयुष्मान्' में मतुप् प्रत्यस 'प्रशस्य' अर्थ में माना है। उसके अनुसार इसका अर्थ है- 'प्रशसंनीय जीवन वाला'। पाठान्तर-आयूष्मान्, इसका सम्बन्ध 'ब्रुयात्' से समझना चाहिय -आयुष्मान् एवं ब्रूयात् दीर्घजीवी इस प्रकार कहे।

मम च वचनादरत्मक-मेरी और से अपनी और से (इस प्रकार कहना)। आगे कहे गये संदेश में श्लोक ४३ तक मेघ के वचन हैं और श्लोक ४४ से श्लोक ५२ तक यक्ष के वचन हैं। मल्लिनाथ ने आत्मन: का अन्वय उपकर्तुम् के साथ किया है, जो उचित नहीं है 'भरतमल्लिक आदि टीकाकारों ने 'मम' और 'आत्मन:' का अन्वय 'वचनात्' के साथ किया है। हमने यहां भरतमल्लिक का अनुसरण करना उचित समझा है।

(मम) उपकर्तुम-मेरा हित करने केलिए, मल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उसके अनुसार मेघ यक्ष का प्राण मानकर यदि उसका संदेश उसकी प्रिया के पास पंहुचा देगा तो दूसरे के प्राणों की रक्षा द्वारा कृत-कृत्य होकर अपना भी हित साधन करेगा। तब 'आत्मन:' में सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी विभक्ति है।

रामगिर्याश्रमज्य:-रामगिरै: आश्रमेषु तिष्ठतीति रामगिरिर्याश्रमस्थ: (रामगिरि+√स्था+क)•उपपदसमास:, रामगिरि के आश्रमों में स्थित। 'सहचर:' का विधेयात्मक विशेषण। पूर्वमेघ श्लोक १ की टिप्पणी पृ० ५ भी देखिये)।

अव्यापन्नः न व्यापन्नः इति अव्यापन्नः जीवितः (नञ्समास), न मरा हुआ अर्थात् जीवित। 'सहचरः' का विधेयात्मक विशेषण। व्यापन्न-वि+आ+√पद+क्त, मृत, मरा हुआ।

पूर्वाभाष्यम्-पूर्वमाभाष्यमिति पूर्वाभाष्यम् (सुन्पसुपासमासः), पहले कहने के लिए आवश्यक। आभाष्य-आ+√भाष+ण्यत्। पाठान्तर-पूर्वाशास्यम्। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

सुलभविपदाम्-सुलभा विपदो तेषाम् (बहुव्रीहिः), जिन्हें विपत्तियां सुलभ हैं अर्थात् सहज ही विपत्तियों में पड़ जाने वाले प्राणियों को। यहां भी सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी विभक्ति है। सुलभ-सु+√लभ्+खल(कर्म के अर्थ में), जिसे अपनी ही बाद में आसानी से पाया जा सके।।४१।।

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तलुना गाढतप्तेन
सास्रेणाभ्द्रुतमपिरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन
उष्णोच्छ्वायं समधिकतरोच्छ्वारसिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्पिशत विधना वैरिणा रूद्धमार्गः।।४२।।

अन्वयः-वैरिण विधिना रूद्धमार्गः दूरवजर्ती (तव सहचरः) तनुना, गाढतप्तेन, सास्रेण, उत्कण्ठितेन समधिकतरोच्छ्पासिना अङ्गेन (त्वदीसम्) प्रतुन, तप्तम् अश्रुद्रुतम् बविरतोत्कण्ठम्, उष्णोव्छ्वासं उङ्ग तैः सकल्पैः विशाति।

अनुवाद- प्रतिकुल भाग्य द्वार रोक लिये गये मार्ग वाला (और) दूर रहने वाला तेरी साथी (अपने) दुर्बल, अत्यधिक संतप्त, आंसुओं से यूक्त, चाह से भरे हुए और लम्बे-लम्बे उसासरों वाले शरीर द्वारा (तेरे) अत्यधिक कृश तपे हुए, आंसू बहे हुए, सतत उत्कण्ठा से भरे हुए (और) गर्म उसांसों वाले शरीर से उन-उन मनोरथों के साथ मिलता है।

टिप्पणी-गाढं यथा स्यात्तथा तप्तेन (सुप्सुपासमासः), अत्यधिक तपे हुए। अङ्गेन का विशेषण।

सास्रेण-अस्रैः सह वर्तमानमिति सास्रम् (बहुव्रीहिः), आंसू बहा हुआ, जिस पर आंसू बहे हैं, आंसुओं से गीला। 'अङ्गम्' का विशेषण। द्रुतम्-√द्रु (बहना, पिघलना, गीला होना)+क्त(कर्माणि)। पाठान्तर-अस्रद्रुतम्।

अविरतोत्कण्ठम्-न विरताऽविरता (नञ्समासः) उत्काण्ठता (तारकादि शब्द-समूह में होने के कारण इतच्प्रत्यय) अथवा उत्+√कण्ठ् (दुःखी होना)+क्त, चाह से भरा, अथवा व्याकुल, बेचैन।

उष्णोच्छ्वासम्-उष्णा उच्छ्वासा यस्य तत् (बहुव्रीहिः), गर्म उसांसों वाला, गर्म आहों वाला। 'अङ्गम्' का विशेषण। उच्छ्वासः-उत्+√श्वस्+घञ् (भाववाचक संज्ञा पुंल्लिङ्ग) 'पाठान्तर दीर्घोच्छ्वासम्-गर्म उसांसों से युक्त।

समधिकतरोच्छ्वासिना-समधिकतरं तथा स्यात्तथोच्छ्वसितीति समधिकतरोच्छवासि तेन (उपपदसमासः), समधिकतर+उत्+√श्वस्+णिनि (ताच्छील्ये) अत्यधिक उसांस लेने वाला।

संकल्पैः तैः-उन उन संकल्पों से अर्थात् मिलन के समय अनूभव किये गये मनोरथों के साथ। यहां 'तैः' संकल्पैः' का अभिप्राय विरह में अनुभूत मनोरथ भी हो सकता है। पाठान्तर-ते। इस पाठ में 'ते' का सम्बन्ध 'अङ्गम्' के साथ होगा'-'तेरे (यक्षिणी के) शरीर से मिलता है।

विशति-√विश्+लट् अन्यपुरूष एकवचवन, जाता है, मिलता है। 'विश्' धातु सकर्मक होती है, यहां इसका कर्म 'अङ्गम्' है।

रूद्धमार्गः रूद्धः प्रतिबद्धो मार्गो यस्य सः (बहुव्रीहिः) रोक लिया गया है, मार्ग जिसका, रोक लिये गये मार्ग वाला। प्रतिकूल भाग्य के कारण यक्ष अपनी प्रिया के पास नहीं जा सकता। रूद्ध-√रूध् (रोकता)+क्त।

यहां यक्ष और यक्षिणी के समान अनुराग को प्रकट करने के लिये उनकी समता दशा का वर्णन किया गया है। समानानुरगियों का योग वर्णन किये जाने के कारण यहां समानाङ्कार है।।४२।।

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृश्य
स्त्वामुत्कण्ठविरचितपदं मन्मुखेनेदाह।।४३।।

अन्वयः-यः ते सुखीनां पूरस्तात् शब्दाख्येम्, अपि सत् (तत्) आननस्पर्शलभात् कर्णे कथाचितुं लोलः अभूत् किल, श्रवणविषय- अतिक्रान्तः लोचपसनाभ्याम् अदृश्यः स त्वम् उत्कठाविरवितपदम् इदं मुन्मुखेन आह।

अनुवाद- जो तेरी सखियों के सामने शब्दों से कहने योग्य भी जो (होता था), उसे सचमुच (तेरे मुख के स्पर्श के लाभ से कान कहने के लिये लालयित रहता था, कानों की पहुंच से बाहर हुआ और नेत्रों से न दीख पड़ने वाला वह) तुम्हारा प्रिय उत्सुकता रचे गये शब्दों वाले इस (संदेश) को मेरे द्वारा तुमसे कहता है।

टिप्पणी-शब्दाख्येम्-शब्दैः उच्चैः आख्येयं वाच्यम्। तृतीयातत्पुरूष), शब्दों से (अर्थात् ऊँचे स्वर से) कहने योग्य। आख्येयं आ+ख्या+यत्। ते-युष्मद् षष्ठी एकवचन। 'ते' का सम्बन्ध कई प्रकार से जोड़ा जा सकता है-'ते सुखीनाम्' तेरी सखियों के (सामने) अध्याहृत 'प्रियः' के साथ, जैसा कि मल्लिनाथ ने किया है, तब अर्थ होगा 'यः ते (प्रियाः)' जो तेरा प्रिय, शब्दाख्येयम् के साथ 'यः सखी-पुरस्तात् शब्दाख्येयमति यत्' जो सखियों के सामने तुमसे शब्दों में कहने योग्य भी जो (वचन) होता था। 'तैः यः' के स्थान पर 'तत् तत्' और 'तद्यः' पाठ भी पाये जाते है। 'ते तत्' पाठ में 'तत्' के मुकाबले में आया हुआ समझना चाहिये। इस पाठ में तीसरे चरण में आये 'सः' के समानान्तर 'यः' का अध्याहार करना पड़ेगा, जबकि स्वीकृत पाठ में 'तत्' का अध्याहार करना पड़ता है। कर्ताकारक अध्याहार को बचाने के लिये 'तद् यः' पाठ सर्वोत्तम है। श्री काले ने यही पाठ स्वीकार किया है।

आननस्पर्शलोभात्-आननस्य स्पर्शतस्मिन् लोभात् (सप्तमीतत्पुरूष), (तेरे) मुख को छूने के लालच से। हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति।

उत्कण्ठविरचितपदम्-उत्कण्ठया औत्सुक्येन विरचितानि पदानि यस्य तत् (बहुव्रीहिः), उत्सुकता से क्रम में रख गये हैं शब्द जिसमें ऐसा (यह वाचक)। 'इदम्' का विशेषण।

मन्मुखेन-मम मुखेनेति मन्मखेन (षष्ठीतत्पुरूषः), मेरे द्वारा, मेरे मुख से।

इस श्लोक में यक्ष की वर्तमान दशा करी पूर्व दशा से तुलना करके उसकी विवशता प्रकट की गई है। जो यक्ष सखियों के सम्मुख स्पष्ट शब्दों में कहने योग्य बात को भी अपनी प्रिया के मुख के स्पर्श के लोभ से उसके कान में कहने के लिये उत्सुक रहा करता था, अब वही यक्ष, जब वह इतनी दूर है कि वह न तो प्रिया की बात को कानों से सुन ही सकता है और न उसे प्रिया को नेत्रों से देख ही सकती है, प्रिया से अपना संदेश मेघ द्वारा कहलाने के लिये विवश है।।४३।।

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपात
वक्त्रच्छायां शशिनि शिसखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रुविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृशयमस्ति।।४४।।

अन्वयः-श्यामासु अङ्गम्, चकितहरिणोप्रेक्षणे दृष्टिपातम्, शशिनि वक्त्रच्छायाम्, शिखिनां बर्हभारेषु केशान् प्रतनुष नदीवीचिषु भ्रुविलास- उत्पश्यामि। हन्त! चण्डि, क्वचिदपि एकस्मिन् ते सादृश्यं न अस्ति।

अनुवाद-प्रियङ्गु लताओं में (तेरे) शरीर की, भयभीत हरिणी के दृष्टिक्षेप में (तेरी) चितवन की, चन्द्रमा में (तेरे) मुख की छाया की, मयूरों के पङ्खों के समूहों से (तेरे) केशों की (और) हल्की-हल्की नदी तरंगों में (तेरे) भ्रू-भंगों की कल्पना किया करता हूं। खेद है कि हे कोपने, किसी भी एक (वस्तु) में तेरी समानता नहीं है।

टिप्पणी-श्यामासु-'श्यामा' प्रियङ्गु लता का नाम है, जिसे कोमलता आदि के कारण प्रायः स्त्रियों के शरीर के उपमान के रूप प्रस्तुत किया जाता है।

चकितहरिणीप्रेक्षणे-चकिता हरिणी चकितहरिणी (कर्मधारयः) तस्याः प्रेक्षणे विलोकने (षष्ठीतत्पुरूषः), भयभीत हरिणी के दर्शन में। पाठान्तर-०प्रेक्षते। अर्थ वही रहेगा।

दृष्टिपातम्-दृष्ट्याः पातो दृष्टिपातः (षष्ठीतत्पुरूषः) तम्, दृष्टि डालने को, चितवन को। 'उत्पश्यामि' का कर्म। दृष्टिः < दृश् देखना+क्तिन् (स्त्रीलिङ्ग संज्ञा, देखना नेत्र। पातः-पत्यन्त इति पातः, √पत्+घञ्, गिराना, पड़ना। पाठान्तर-दृष्टिपातान्।

वक्त्रच्छायाम्-वक्त्रस्य मुखस्य छाया कान्तिस्ताम् (षष्ठीतत्पुरूषः), मुख की शोभा को। पाठान्तर-वक्त्रच्छायम्, अर्थ में कोई अन्तर नहीं। तत्पुरूष समास के अनत में 'छाया' को विकल्प से 'छाय' हो जाता है (देखिये विभाषा सेनासूराच्छायाशालानिशानाम् अष्टाध्यायी २, ४, २५), गण्डच्छयम्, कपोलों की शोभा को।

शिखिनं बर्हभारेषु केशान्-मयूरों के पंखों के समूहों में केशों को (देखता हूं) स्त्रियों के काले और लम्बे केशों की उपमा मयूर की पूंछ से दी जाती है। शिखिन्-शिखाऽस्यास्तीति शिखी (शिख+इनि), कलगी वाला मयूर।

बर्हभारः-प्रकर्षेण तनुषु (प्रादिसमासः) अत्यन्त छोटी हल्की। 'नदी-विचिषु' का विशेषण।

नदीवीचिषु-नद्याः वीचिषु तहङ्गेषु (षष्ठीतत्पुरूषः), भौं के अङ्गों को, भौं के तिरछेपन को, भौंओं के माहक संचालन को। पाठान्तर-भ्रूपताकाः, भ्रूवः पताका इव (उपमितसमासः), पताका जैसी भौंओं को।

चण्डि-चण्डते इति चण्डी√ चण्ड् (क्रोध करना)+अच्+ङीष् (स्त्रीलिङ्ग), क्रोध करने वाली। सम्बोधन एकवचन। प्रणय-चाटु में प्रेयसी को 'चण्डी', 'कोपना', 'असहना' आदि सम्बोधन किये जाते हैं। पाठान्तर-भीरू, डरपोक। युवतियों को 'भीरू' सम्बोधन भी किया जाता है। यहां यज्ञ द्वारा 'चण्डि' या 'भीरू' सम्बोधन साभिप्राय है, क्योंकि यक्षिणी यक्ष द्वारा अन्य वस्तुओं में अपने सादृश्य के अन्वेषण से मान में कुपित भी हो सकती थीं प्रिय की परोन्मुखता की आशङ्का से भयभीत भी।।४४।।

त्वामलिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरूपरिचतैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः।।४५।।

अन्वयः-प्रणयकुपितां त्वां धातुरागैः शिलायाम् आलिख्य यावत् आत्मानं ते चरणपतितं कर्तुम् इच्छामि तावत् मुहुः उपचितैः अस्रैः मे दृष्टिः आलुप्यते। क्रूरः कृतान्तः तस्मिन् अपि नौ सङ्गमं न सहते।

अनुवाद-प्रणय मान में रूठी हुई तेरा गेरू रंग से पत्थर पर चित्र बनाकर जैसे ही मैं स्वयं तेरे चरणों में गिरा हुआ चित्रित करना चाहता हूं वैसे ही बार-बार उमड़े आंसुओं से मेरी दृष्टि जलुप्त हो जाती है। निर्दय देव (चित्र) में भी हमारे मिलन को नहीं सहता।

टिप्पणी-इस श्लोक में यक्ष ने कहलाया है कि वह चित्र में बनाई गई मान में रूठी हुई प्रिया के चरणों में गिरकर मनाने की चेष्टा द्वारा मनोविनोद करना चाहता है, परतुं देव को वह भी स्वीकार नहीं है।

आलिख्य-चित्र में अङ्कित करके। संस्कृत में 'लिख्' धातु का प्रयोग 'चित्र बनाना' अर्थ में ही हुआ है।

प्रणयकुपिताम् त्वाम्-प्रणयेन कुपिताम् (तृतीयातत्पुरूषः), प्रेम के कारण मान में रूठी हुई तुमको। 'आलिख्य का कर्म।'

धातुरागैः-धातव एव रागास्तैः (कर्मधारयः), गेरू आदि खनिज रूपी रंगों से। वहां विरह-दशा में चित्रपट तथा वर्ण आदि आलेखन-सामग्री उपलब्ध नहीं थी, इसलिये यक्ष पत्थर पर गेरू आदि के रंगों से ही चित्र बना सकता था।

आत्मानं ते चरणिपतितं.....कर्तुम्-ज्यों ही अपने को तेरे चरणों में पड़ा हुआ बनाना चाहता हूं। यहां मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने इस वाक्य का अभिप्राय यह लिखा है कि यक्ष स्वयं को प्रिया के चरणों में पड़ा हुआ चित्रित करना चाहता है परन्तु इस वाक्य का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि यक्ष साक्षात् अपने को चित्र में लिखित प्रिया के चरणों में डालना चाहता है।

मुहुरूपचितैः-बार-बार इकट्ठे हुए, बार-बार उमडड़े हुये। 'अस्रैः' का विशेषण। उपचित-उप+√चि (इकट्ठा होना)+क्त।

आलुप्यते-आ+√ लुप् (छुपना, छिपना)+लट् (कर्मवाच्य), नष्ट कर दी जाती है, ढक जाती है।

कृतान्तः-कृतस्य कर्मणः अन्तः कृतान्तः कर्मविपाकः (षष्ठीतत्पुरूषः), कर्म-विपाक, दैव। 'कृतान्त' शब्द के कई अर्थ होते हैं। यहां देव या कर्मविपाक अर्थ अभिप्रेत है।।४५।।

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरूकिसलयेष्वश्रुलेशः पतन्ति।।४६।।

अन्वयः-स्वप्नसंदर्शनेषु मया कथमपि लब्धायाः ते निर्दयाश्लेषहेतोः आकाशप्रणिहितभुजं मां पश्यन्तीनां स्थलीदेवतानां मुक्तास्थूलाः अश्रुलेशाः तरूकिसलयेषु बहुशः न पतन्ति खलु न।

अनुवाद-स्वप्न विज्ञानों मेरे द्वारा किसी प्रकार (कठिनाई से) प्राप्त हुई तेरे गाढ़ आलिङ्गन के लिये आकाश में भुजा फैलाये हुये मुझे

देखती हुई वन-स्थली की देवियों के मोती जैसी मोटे आंसओं के कण वृक्षों की कपोलों पर सचमुच बहुत बार नहीं गिरते हैं यह बात) नहीं।

टिप्पणी-आकाशप्रणिहितभुजम्-आकाशे प्राणिहितो भुजो येन तम् (बहुव्रीहिः), आकाश में फैलाई हैं भुजा जिसने। 'माम' का विशेषण यक्ष स्वप्न में देखी गई यक्षिणी का आलिंगन करने के लिये भुजायें फैलाता था, परन्तु वहां खाली आकाश के सिवाय कुछ न होता था। यक्ष की इस दीन दशा को देखकर वन-देवियों की आंखों से मोटे-मोटे आंसू गिरने लगते थे।

निर्दयाश्लेषहेतोः-निर्गता दया यस्मात्सः (बहुव्रीहिः), तथोक्त आश्लेषुः (कर्मधारयः)स एव हेतुः (कर्मधारयः)तस्य, गाढ़ आलिंगन के लिये। 'हेतु' शब्द का प्रयोग होने के कारण षष्ठी विभक्ति।

स्वप्नसंदर्शनेषुः-स्वप्नो निद्रा तस्मिन् यानि संदर्शनानि विज्ञानानि तेषु (सप्तमीतत्पुरूषः), सपनों में।

स्थलीदेवतानाम्-स्थलीनां वनानां देवता देव्यः स्थलीदेवताः तासाम् (षष्ठीतत्पुरूषः), वन की अधिष्ठातृ-देवियां। यह विश्वास किया जाता है कि वनों और तालाबों आदि में देवियों का वास होता है। वन-देवता वृक्षों पर रहते हैं।

मुक्तास्थूला-मुक्ता मौक्तिकानि तद्वत् स्थूलं (उपमितसमासः), मोतियों जैसे मोटे। 'अश्रुलेशाः' का विशेषण

तरुकिसजलयेषु-तरूणां किसलयानि तेषु (षष्ठीतत्पुरूषः), वृक्षों के नये पत्तों पर। वन-देवियां वृक्षों पर रहती हैं इसलिये उनके आंसू वृक्षों के पत्तों पर पड़ने का उल्लेख यह प्रकट करने के लिये किया गया है कि यक्ष मरा नहीं है, बल्कि जीवित है क्योंकि पृथ्वी पर महात्माओं, गुरूओं तथा देवताओं के अश्रुपात को देशभ्रंश, महान् दुःख और मृत्यु का सूचक माना जाता है। (देखिये संस्कृत साहित्य का

अश्रु लेशाः-अश्रूणां लेशाः (षष्ठीतत्पुरूषः), आंसुओं की बूंदे। पाठान्तर अश्रूलेखाः, आंसुओं की रेखायें, अश्रु पाताः, आसुओं का गिरना

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारूद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥४७॥

अन्वयः-गुणवति, देवदारूद्रुमाणां किसलयपुटान् सद्यः भित्त्वा तत्क्षीरस्रुतिसुरभयः ये दक्षिणेन प्रवृत्ताः मया ते तुषाराद्रिवाताः 'माम' यदि तव अङ्ग पूर्वस्पृष्टं भवेत् किल इति आलिङ्ग्यन्ते।

अनुवाद-हे गुणशालिनी देवदारू वृक्षों की कोपलों की परतों को तत्काल भेदकर उनके दूध स्राव से सुगन्धित जो (पवन) दक्षिण की ओर चलते हैं, मैं उन हिमालय पर्वत के पवनों का इन्होंने सम्भवतः तेरे शरीर का पहले स्पर्श किया होगा, इस विचार से आलिङ्गन करता हूं।

टिप्पणी-किसलयपुटान् भित्त्वा-किसलयानां नवपल्लवानां पुटान् (षष्ठीतत्पुरूषः), कपोलों की परतों को भेदकर। खिलने से पहले कोंपल पहले सिकुड़ी हुई होती है, फिर धीरे-धीरे बढ़ने पर वायु के स्पर्श द्वारा खुलकर फैल जाती है यहां इसी प्राकृतिक प्रक्रिया को संकेत किया गया है।

देवदारूद्रुमाणम्-देवदारश्च ते द्रुमाश्च तेषाम् (कर्मधारयः), देवदारू वृक्षों के। हिमालय में प्रायः देवदारू वृक्षों का होना का उल्लेख किया जाता है। देवदारू हिम-मण्डित पर्वतीय भागों में पाया जाता है।

तत्क्षीरस्रुतिसुरभयः-तेषां देवदारूवृक्षाणां क्षीरस्य स्रुत्या सुरभयः सुगन्धिताः (तत्पुरुषः), उन देवदारु वृक्षों के दूध के बहने से सुगन्धित 'तुषाराद्रिवाताः' का विशेषण।

दक्षिणेन प्रवृताः-दक्षिण की ओर चलती हुईं। 'दक्षिणेन' में तृतीया विभक्ति है। 'वाताः' का विशेषण। प्रवृत्त- प्र+√वृत+क्त

तुषाराद्रिवाताः-तुषाराणामद्रिः पर्वतस्तुषाराद्रिस्तस्य वाताः (षष्ठी तत्पुरुषः); हिमालय की वायु।

यदि किल भवेत्-सम्भवतः होवे। यहां 'किल' अव्यय का प्रयोग संभावना अर्थ में हुआ है।

प्रेमी लोग विरह में इष्ट जन द्वारा धारण अथवा स्पर्श की गई वस्तुओं के स्पर्श से भी सुख अनुभव करते हैं। यहां इसी बात को कहा गया है। यक्ष इस आशा से कि हिमालय से आने वाले पवन ने उसकी प्रिया के शरीर को छुआ होगा उसको स्पर्श करता है॥४७॥

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घमाया त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने! दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः॥४८॥

अन्वयः–दीर्घमाया त्रिमाया क्षणः अव कथं संक्षिप्येत, अहः अपि सर्वा वस्थासु मन्दमन्दातपं कथं स्यात्। चटुलनयने, इत्थं दुर्लभपार्थनं मे चेतः गाढौष्माभिः त्वद्वियोगव्यथाभिः अशरणं कृतम्।

अनुवाद-लम्बे पहरों वाली रात क्षण के समान किस प्रकार छोटी होवें और दिन सब दिशाओं में मन्दी मन्दी धूप वाले कैसे हो? हे चञ्चल नेत्रों वाली, इस प्रकार दुष्प्राप्य अभिलाषा वाले मेरे मन को अतीव ताप वाली तेरे वियोग की पीड़ाओं ने अनाथ बना दिया है।

टिप्पणी–संक्षिप्येत-सम्+क्षिप्(फेंकना)+विधिलिङ् अन्यपुरुष एकवचन आत्मनेपद (कर्मवाच्य), सिमटे, छोटी होवे। पाठान्तर-संक्षिप्यन्ते; संक्षिप्येरन्।

दीर्घमाया–दीर्घा यामाः प्रहरा यस्यां सा (बहुव्रीहिः), लम्बे प्रहरों वाली विरह में जागरण-चिन्ता के कारण समय देर से बितता है, विशेषतः रात्रियां। इसलिये यक्ष की यह अभिलाषा कि रात्रि किसी तरह छोटी हो जाय, स्वाभाविक थी। लेकिन वियोगकला में यह अभिलाषा दुर्भल ही थी। पाठान्तर-दीर्घयामाः। बहुवचनान्त की अपेक्षा एकवचनान्त पाठ की अच्छा है।

त्रियामा-त्रयो यामा यस्यां सा (बहुव्रीहिः), तीन प्रहरों वाली, रात्रि। दिन-रात में आठ पहर होते हैं, जिनमें रात्रि के तीन पहर ही माने जाते हैं, रात्रि का एक नाम 'त्रियामा' भी है।

सर्वावस्थासु–सर्वासु अवस्थासु (कर्मधारयः); सब दशाओं में। यहां इसके दो अर्थ हो सकते हैं–(१) सब दिशाओं में अर्थात् पूर्वाह्न, पूवाह्न और अपराह्न में, (२) सब ऋतुओं में। सम्भवतः कवि का आशय पहले अर्थ से है। यक्ष का मेघ द्वारा संदेश भेजने का समय ग्रीष्म का अवसान है, उन दिनों प्रातः और सांयकाल में भी बहुत अधिक गर्मी होती है।

मन्दमन्दातपम्-मन्दमन्द आतपो यस्मिन् तत् (बहव्रीहिः); मंदी-मंदी धूप वाला या हल्की-हल्की गर्मी वाला। 'अहः' का विशेषण। 'मन्दमन्द' में 'मन्द' शब्द का दो बार प्रयोग अधिकता या प्रकार अर्थ में है।

चटुलनयने-चटुले चञ्चले नयने यस्याः सा तत्सम्बोधने (बहुव्रीहिः); हे चञ्चल नेत्रों वाली। युवतियों के सौन्दर्य-वर्णन में उनके चञ्चल नेत्रों का उल्लेख किया जाता है।

दुर्लभप्रार्थनम्-दुर्लभा दुःखेन प्राप्या, प्रार्थना अभिलाषा यस्य तत् (बहुव्रीहिः), कठिनाई से पूरी हो सकती हैं अभिलाषायें जिसकी। 'चेतः' का विशेषण। यक्ष के हृदय की अभिलाषा थी कि रात्रियां क्षण के समान छोटी हो जायें और दिन में गर्मी कम हो जाय, लेकिन यह दोनों ही अभिलाषायें पूरी होना कठिन था।

गाढोष्माभिः–गाढा उष्मा यासां ताः (बहुव्रीहिः), तीव्र है ताप जिनका। '०व्यथाभिः' का विशेषण।

त्वदिद्वयोगव्यथाभिः–तव वियोगस्तस्य व्यथामिः (षष्ठी तत्पुरुषः), तेरे विरह की वेदनाओं ने।

अशरणम्–न शरणं रक्षिता यस्य तत् (बहुव्रीहिः) नही है बचाने वाला जिसका, अर्थात् अनाथ, असहाय। यक्ष की प्रिया के विरह से उत्पन्न पीड़ा इतनी तीव्र है कि कोई उसके हृदय को शान्ति नहीं दे सकता। इससे यक्ष ने प्रिया के प्रति अपने अनुराग की पराकाष्ठा प्रकट की है॥४८॥

नन्वात्मानं बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि! त्वमपि पितरा मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वचा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥४९॥

अन्वयः–ननु बहु विगणयन् (अहम्) आत्मानं एव आत्मना अवलम्बे। कल्याणि, तत् त्वम् अपि नितरां कातरत्वं मा गमः। अत्यन्तं सुखम् एकान्ततः दुःखं वा कस्य उपनतम्? दशा चक्रनेमिक्रमेण नीचैः उपरि च गच्छति।

अनुवाद–(आगे पीछे का) बहुत विचार करते हुए (मैं) अपने आप ही अपने को सहारा दिये रहता हूं। हे सुभगे, इसलिये तू भी बहुत अधिक व्याकुल न हो। एकदम सुख अथवा एकदम दुःख किसे मिला है? दशा पहिये के किनारे के समान नीचे और ऊपर जाती है।

टिप्पणी–पूर्व श्लोकों में यक्ष ने अपनी विरह-व्याकुलता बतलाई है, उसे यह शंका होती है कि कहीं प्रिया उसकी दशा सुन कर भयाक्रान्त न हो, जाय, इसलिये उसे सान्त्वना देता है।

ननु–यहां 'ननु' अव्यय केवल ध्यान आकृष्ट करने के लिये सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

बहुविगणयन्–(आगे पीछे की बातों का) बहुत विचार करते हुए। मल्लिनाथके 'बहु विगणयन्' का अभिप्राय 'शाप के अन्त में मैं ऐसा-ऐसा करूंगा इस बात का ध्यान करते हुए' किया है।

आत्मानम् आत्मनैव अवलम्बे– मैं स्वयं ही अपने को संभालते हुए हूं। यक्ष का कहने का अभिप्राय यह है कि मैं स्वयं ही धैर्य धारण किये हुए हूं। अन्य कोई मुझे ढाढ़स देने वाला नहीं है, पूर्व मिलन के सुखों की स्मृति और आगामी मिलन के सुखों की आशा ही मुझे इस संकट में प्राण धारण करने की प्रेरणा दे रही है, इसलिये तुम्हें भी अधिक घबराहट नहीं होना चाहिये। पाठान्तर–न त्वात्मान बहु विगणयन्नात्मना नावलम्बे, स्वयं अपने को धैर्य नहीं बंधाता हूं (ऐसा) तो नहीं है अर्थात् धैर्य बंधाता हूं।

चक्रनेमिक्रमेण–चक्रस्य नेमिः प्रधिः तस्याः क्रमेण परिपाट्या (षष्ठीतत्पुरुषः), पहिये के किनारे की परिपाटी के अनुसार अर्थात् जैसे पहिये का जो किनारा भूमि को छूता है वह ऊपर चला जाता है और जो ऊपर होता है वह घूमता हुआ नीचे आ जाता है, वैसे ही लोगों की दशा में भी उतार-चढ़ाव आते-जाते रहते हैं। संस्कृत-काव्यों में यह विचार बहुधा प्रकट किया गया है।।४९।।

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥५०॥

अन्वयः–शार्ङ्गपाणौ भुजगशयनाद् उत्थिते मे शापान्तः, शेषान् चतुरः मासान् लोचने मीलयित्वा गमय। पश्चात् आवां विरहगणितं तं तम् आत्मभिलाषां परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु निर्वेक्ष्याव।

अनुवाद–भगवान् विष्णु के शेषनागरूपी शय्या से उठ जाने पर मेरे शाप का अन्त (होगा), (इसलिये), तू शेष चार महीने आंखें मींचकर बिता ले। फिर हम दोनों विरह में विचारी गई उन इच्छाओं को ढली हुई शरद् ऋतु की चांदनी वाली रात्रियों में भोगेंगे।

टिप्पणी–भुजगशयनदुत्थिते–भुजग एव शयनं शय्या (कर्मधारय),तस्मात् उत्थिते, भुजग (शेषनाथ) की शय्या से उठ जाने पर हिन्दु-विश्वासों के अनुसार विष्णु भगवान् आषाढ़ शुक्ल एकादशी (हरिशयनी एकादशी) को शेषनाथ की शय्या पर क्षीरसागर में सो रहते है और उससे कार्तिक शुक्ल एकादशी (हरि प्रबोधिनी एकादशी) को उठते हैं। इस बीच में समय को 'देव शयन' (देव सोना) कहा जाता हैं और इसमें विवाह आदि कोई शुभ कार्य नहीं किया जाता। हरिशयनी एकादशी को 'देव-शयनी एकादशी' (देव सोनी ग्यास) और हरिप्रबोधिनी एकादशी को 'प्रबोधनी एकादशी' (देव उठानी ग्यास) भी कहते हैं।

शार्ङ्गपाणौ–शार्ङ्गंपाणौ यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहिः), शार्ङ्ग नामक धनुष है हाथ में जिसके , भगवान विष्णु। (पूर्वमेघ श्लोक ४९ पृ. पर टिप्पणी भी देखिये)।

चतुरो मासान्–चार महीने। कहीं-कहीं मास का प्रारम्भ अमावस्या के बाद आने वाली प्रतिपदा से माना जाता है, इस गणना के अनुसार आषाढ़ के प्रथम दिन से कार्त्तिक शुक्ल एकादशी तक ४ मास १० दिन होते हैं। परन्तु कवि को सम्भवतः १० दिन की अधिकता अभिप्रेत विवक्षित नहीं है।

लोचने मीलयित्वा–आंखें बन्द करके, अर्थात् बिना चिन्ता किये धैर्य के साथ।

विरहगणितम्–विरहे गणितं विचरितम् (सप्तमीतत्पुरुषः), विरह के समय सोची गई (अभिलाषा)। 'आत्माभिलाषाम्' का विशेषण पाठान्तर–विरहगणितम् वियोग में बढ़ी हुई, विरहजनितम्, वियोग से उत्पन्न।

आत्माभिलाषाम्–आत्मनोऽभिलाषः तम् (षष्ठीतत्पुरुषः), अपनी अभिलाषा को। 'निर्वेक्ष्यावः का कर्म।

निर्वेक्ष्यावः–निर्+√विश् (तुदादिगणीय)+लृट् उत्तमपुरुष द्विवचन; भोगेंगें, पूरी करेंगें।

परिणतशरच्चन्द्रिकासु–शरदश्चन्द्रिकाः (षष्ठीतत्पुरुषः), परिणताः शरच्चन्द्रिका यासां तासु (बहुव्रीहिः), ढल गई हैं शरद की चांदनी जिनकी ऐसी (रात्रियों में)। 'क्षपासु' का विशेषण। परिणत्–परि+√नम्+क्त, पका हुआ या ढका हुआ। यक्ष का अभिप्राय है कि हम दोनों शरद् ऋतु की रातों में तब तक अपनी इच्छाओं को पूर्ण करते रहेंगें जब तक कि उनको चांदनी ढलेगी।।५०।।

भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वन विप्रबुद्धा।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव! रमयन्कामपि त्वं मयेति॥५१॥

अन्वयः–भूयः च आहः–'पुरा शयने मे कण्ठलग्ना अपि त्वं निद्रा गत्वा किमपि सस्वनं रुदती विप्रबुद्धा; त्वया च असकृत् पृच्छतः में सान्तर्हासं कथितम्–'कितव, मया स्वप्ने कामपि रमयन् दृष्टः' इति"।

अनुवाद–(तेरे सहचर ने) और आगे कहा है–"पहले कभी बिस्तर पर मेरे गले लगी हुई तुम नींद में पड़कर किसी कारण जोर से रोती हुई जाग पड़ी थीं और तुमने बार-बार पूछने वाले मुझसे मन ही मन हंसी के साथ कहा था–'अरे धूर्त, मैनें स्वप्न में तुझे किसी (स्त्री) के साथ रमण करते देखा है।"

टिप्पणी–भूयः च आह–और फिर कहा है। यह मेघ का वचन है। आह–√ब्रू+लट् लकार, "ब्रू" धातु को लट् लकार के पहले पांच प्रत्यय परे होने पर 'आह' आदेश हो जाता है और उन प्रत्ययों के स्थान पर लिट् लकार के प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

कण्ठलग्ना–कण्ठे लग्ना (सप्तमीतत्पुरुषः), गले में लगी, गले में आलिङ्गन किये।

पुराः–अव्यय, पहले कभी, बहुत पहले।

सस्वनम्–स्वनेन सहितं यथा स्यात्तथा (बहुव्रीहिः), शब्द के साथ, जोर से। 'रुदती' का क्रिया-विशेषण। पाठान्तर–सत्वरम्। अर्थ में कोई अन्तर नहीं। सत्वरम्–जल्दी से, 'विप्रबुद्धा' का क्रिया-विशेषण।

विप्रबुद्धाः–वि+प्र+√बुध+क्त, जाग गई, जाग पड़ी।

सान्तर्हासम्-अन्तर्हासेन सह यात्ति स्वात्तथा सान्तर्हासम् (बहुव्रीहिः); अन्दर ही अन्दर हंसी के साथ, मन्द मुस्कान के साथ। 'कथितम्' का क्रिया-विशेषण।

पृच्छतः मे कथितम्–मुझ पूछते हुए से कहा था। कर्म की अविवक्षा में सामान्य षष्ठी विभक्ति।

कितव–हे धूर्त, 'कितब, का सम्बोधन। ऐसे प्रेमी को जो एक बार पर प्रेम प्रकट करता हो, लेकिन अन्य के साथ छिपकर रमण करता हो, 'शठ' 'कितब' या 'धूर्त' कहा जाता है।

यक्ष-पत्नी को यह विश्वास हो जाय कि संदेश लाने वाला मेघ सचमुच उसे पति के पास से ही आया हुआ उसका मित्र है, यक्ष मेघ द्वारा अभिज्ञान के रूप में पति-पत्नी की एक गुप्त बात कहलाता है।॥५१॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मां कौलीनादसितनयने! मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपी विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥५२॥

अन्वयः–असितनयने एतस्मात् अभिज्ञानदानात् मां कुशलिनं विदित्वा कौलीनाद् मयि अविश्वासिनी मा भूः। स्नेहान् विरहे ध्वंसिनः किमपि आहुः, ते तु अभोगात् इष्टे वस्तुनि उपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।

अनुवाद–हे काले नेत्रों वाली, इस पहचान देने में मुझे सकुशल जानकर लोकापवाद (अफवाह) के कारण मेरे प्रति अविश्वासी न हो। स्नेहों को वियोग में नष्ट हो जाने वाले व्यर्थ (झूठ) ही कहते है; वे तो भोगे न जाने के कारण प्रिय वस्तु के प्रति रस को बढ़ाकर प्रेम-राशि हो जाते हैं।

टिप्पणी–एतस्मात् अभिज्ञानदानात्–अभिज्ञायतेऽनेनेति अभिज्ञानं लक्षणं तस्य दानात्प्रापणात् (षष्ठीतत्पुरुषः) पूर्वोक्त दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि 'त्वं मयेति' तेरे इस बचन रूपी चिह्न देनेसे अभिज्ञान–अभि+√ज्ञा+ल्युट। 'अभिज्ञानदानात्' में हेतु अर्थ में पञ्चमी विभक्ति है। कुछ टीकाकारों ने 'अभिज्ञानदानं प्राप्य' यह अर्थ करके ल्यप् का होने से कर्म में पञ्चमी विभक्ति मानी है।

कौलीनात्–लोकापवादात्; लोकापवाद के कारण, लोक-चर्चा के कारण, अफवाह के कारण। मल्लिनाथ ने 'कौलीन' का अभिप्राय 'इतने दिनों में मर गया होगा, यह जीवित तो आ जाता' यह लोक-चर्चा किया है। परन्तु यहां कौलीन का अर्थ लोगों में फैली यह बात भी हो सकती है–'उसने परदेश में अवश्य ही किसी स्त्री से लगाव कर लिया होगा, इसलिये अपनी पत्नी को भूल गया है।' कौलीन शब्द की व्युत्पत्ति है संदिग्ध है। मल्लिनाथ ने 'कूले जनसमूहे भवात् कौलीनात्' व्युत्पत्ति की है। उसके अनुसार कौलीन शब्द

जन-समूह में होने वाला' इस अर्थ में 'कुल' शब्द से बना है। कुछ टीकाकारों ने कुलीनस्य भाव: कौलीनाम् (कुलीन+अण्) व्युत्पत्ति की है। हुआ माना है। कुछ टीकाकारों 'कौ पृथिव्यां लीनमिति कुलीनं तस्य भाव:' इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति बतलाते हैं।

असितनयने–असिते कृष्णो नयने यस्या: सा तत्सम्बोधने (बहुव्रीहि:), हे काले नेत्रों वाली। बड़ी-बड़ी पलकों के कारण काले नेत्रों को स्त्रियों का सौन्दर्य माना जाता है।

अविश्वासिनी–न विश्वसितीति अविश्वासिनी (उपपदसमास:), न+वि+√श्वस्+णिनि डीप् स्त्रीलिंग एकवचन, विश्वास न करने वाली, शङ्काशील। यहां मल्लिनाथके अनुसार 'अविश्वासिनी' का अर्थ 'मरनेकी आशङ्का करने वाली है। परन्तु इसका अर्थ 'तुम्हारी स्त्री में आसक्ति की आशङ्का' भी हो सकता है।

किमपि–अव्यय: विलक्षण रूप से, व्यर्थ ही, बिना कारण, झूठ मूठ ही। लोग व्यर्थ ही स्नेह को वियोग में नष्ट हो जाने वाला कहते हैं।

ध्वंसशील, नष्ट हो जाने वाले। 'स्नेहान:' का विधेयात्मक विशेषण।

अभोगात्–भुज्यते इति भोग:, न भोगोऽभोगास्तस्मात् (नञ्समास:), न भोगने के कारण। हेतु के अर्थ में पञ्चमी भोग: (√भुज्+घञ्) (भाववाचक संज्ञा पुंल्लिग) भोगना,आनन्द लेना।

इष्टे वस्तुनि–अभीष्ट वस्तु के प्रति, अभीष्ट वस्तु के विषय में। विषय के अर्थ में सप्तमी।

उपचितरसा:–उपचितो रस आस्वादो येषु ते (बहुव्रीहि:), बढ़ गया है रस जिनमे। 'ते' का विधेयात्मक विशेषण। वियोग में इष्ट वस्तु का भोग न होने के कारण उसके प्रति रस (अभिलाषा)बढ़ जाती है। यहां रस का अभिप्राय स्वाद या अभिलाषा है।

प्रेमराशीभवन्ति–प्रेम्णां राशय: प्रेमराशय: (षष्ठीतत्पुरुष:), न प्रेमराशय: प्रेमराशयो भवन्तीति प्रेमराशीभवन्ति (प्रेमराशि+च्वि [ईकारादेश] अन्यपुरुष, बहुवचन), प्रेम की राशि बन जाते हैं। स्नेह और प्रेम एक ही भाव रति की दो अवस्थायें हैं–इष्ट की ओर झुकाव स्नेह है तथा उसके वियोग को न सह सकना प्रेम है। (संस्कृत टीका देखिये)।।५२।।

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्त:।
साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि
प्रात: कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथा।।५३।।

अन्वय:–प्रथमविरहदग्रहशोकां ते सखाम् एवम् आश्वास्य त्रिनयनवृषोत्खातकूटात् शैलात् आशु निवृत्त: सन् (त्वम्) साभिज्ञानप्रहितकुशल: तद्वचोभि: प्रात: कुन्दप्रससवशिथिलं मम अपि जीवितं धारयेथा:।

अनुवाद– पहले पहल वियोग के कारण तीव्र दु:ख वाली अपनी सखी को इस प्रकार आश्वासन देकर तीन नेत्रों वाले शिव के बैल द्वारा उखाड़े गये शिखरों वाले (कैलास) पर्वत से शीघ्र (ही) लौट कर (तुम) उस (मेरी प्रिया) के वचनों से जिसके अभिज्ञान के साथ कुशल समाचार भेजा गया है, प्रभात में कुन्द-पुष्प के समान शिथिल हुए, मेरे भी प्राणों को धारण करना।

टिप्पणी–यहां यक्ष मेघ के प्रिया का कुशल-संदेश लाने की याचना करता है जिससे कि वह भी अपने व्याकुल प्राणों को कुछ धैर्य बधा सके।

आश्वास्य एवम्–आ+√श्वस्+णिच्+ल्यप्, इस प्रकार (पूर्वोक्त वचनों द्वारा) धैर्य बंधाकर। पाठान्तर–आश्वास्यैनाम्, इसे (जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है) सान्त्वना देकर।

प्रथमविरहोदग्रशोकाम्–प्रथमे विरहे उद्गोऽतितीव्र: शोको यस्यास्ताम् (बहुव्रीहि), पहले वियोग से अति तीव्र है दु:ख जिसका। 'सखीम्' का विशेषण।

त्रिनयनवृषोत्खातकूटात्–त्रीणि नयनानि यस्य स: (बहुव्रीहि:), तस्य वृष: षष्ठीतत्पुरुष:), तेन उत्खाता: कूटा: शिखराणि यस्य तस्मात् (बहुव्रीहि:), तीन नेत्रों वाले (शिव) के बैल द्वारा उखाड़े गये हैं। शिखर जिसका। 'शैलात्' का विशेषण। (पूर्वमेघ श्लोक ५५ की टिप्पणी देखिये)।

साभिज्ञानप्रहितकुशलै:–अभिज्ञानेन सह वर्तमानं यथा स्यात्तथा साभिज्ञानम् (बहुव्रीहि:), तथा प्रहितं कुशल येषु ते: (बहुव्रीहि:) अभिज्ञान (चिह्न) के साथ भेजा गया है कुशल -वृत्त जिनमें। 'तद्वचोभि:' का विशेषण। यक्ष को आशा है कि यक्षिणी भी इसके ही समान अपने कुशल-संदेश के साथ अभिज्ञान भेजेगी।

तद्वचोभिः–तस्य वचोभिः (षष्ठीतत्पुरुषः), उस (यक्षिणी) के वचनों से।

कुन्दप्रसवशिथिलम्–कुन्दस्य प्रसवः (षष्ठीतत्पुरुषः) अथवा कुन्दप्रसवः पुष्पमिति कुन्दप्रसवः (कर्मधारयः), तद्वत् शिथिलम् (उपमितसमासः), कुन्द के पुष्पके समान शिथिल (मुरझाये हुए)। 'शिथिलम्' का विशेषण कुन्द (चमेली) का पुष्प रात को खिलता है और दिन में मुरझा जाता है, इसलिये वियोग में तप्त प्राणों को प्रातः काल के कुन्द-पुष्प के समान कहा गया है। पाठान्तर–प्रातः कुन्दप्रसशिथिलम्। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। प्रसवः–प्र+√सू (उत्पन्न होना) +अच्।।५३।।

कच्चित्सौम्य! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्नः खुल भवतो धीरतां कल्पयामि
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव।।५४।।

अन्वयः–सौम्य, त्वया मे इदं बन्धुकृत्यं व्यवसितं कच्चित्? प्रत्यादेशात् भवतः धीरतां न कल्पयामि खुल याचितः (त्वम्) निःशब्दः अपि चातकेभ्यः जलं प्रदिशसि। हि सताम् ईप्सितार्थक्रिया एव प्रणयिषु उत्तरम्।

अनुवाद–हे भद्र, तुमने मेरा यह मित्र का कार्य (करना) निश्चित कर लिया है न? निश्चित ही (मैं) आपकी धीरता (चुप्पी) को अस्वीकृति का कारण नहीं समझता हूं, (क्योंकि) तुम मांगने पर चुप-चाप रहकर भी चातकों को जल देते हो। सज्जनों के अभिलषित प्रयोजन को कर देना ही याचकों को प्रति उत्तर होता है।

टिप्पणी–कच्चित् अव्यय, अभिलाषा प्रकट करने के लिये प्रयुक्त, क्या?

व्यवसितम्–वि+अव्+√सो+क्त, निश्चित कर लिया, अङ्गीकार कर लिया, ठान लिया।

बन्धुकृत्यम्–बन्धोः कृत्यम् (षष्ठीतत्पुरुषः), भाई या मित्र का कार्य। यक्ष ने मेघ को पहले (पूर्वमेघ ९ और उत्तरमेघ ६४ में) भी भ्राता कहा है। कृत्यम्–√+ल्यप् नपुंसक संज्ञा, कार्य।

प्रत्यादेशात्–प्रति+आ+√दिश्+घञ् पुंल्लिङ्ग, संज्ञा , अस्वीकार कर देने के कारण; न मानने के कारण, मना करने के कारण। हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति। 'प्रत्यादेश' का अर्थ करने में टीकाकारों में बड़ा मतभेद और भ्रम है। मल्लिनाथ ने 'प्रत्यादेशात्' का अर्थ 'करिष्यामीति प्रतिवचनात्' अर्थात् हां में उत्तर ' किया है। उसके अनुसार दूसरी पङक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा–'तुम्हारा काम करूंगा इस उत्तर से ही मैं आपकी धीरता का अनुमान नहीं करता, अर्थात् मुख से बिना कहे भी मैं तुम्हें अपने कार्य के लिय दृढ़ निश्चय समझता हूं। पं॰ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 'प्रत्यादेशात्' के स्थान पर 'प्रत्यादेशम्' पाठ पहनकर इस पङ्क्ति का अर्थ इस प्रकार किया है– मैं तुम्हारी धीरता (चुप रहने को) प्रतिषेध नहीं समझता हूं। 'प्रत्यादेशात्' के स्थान पर 'प्रेत्यादेष्टुम्' और 'प्रत्याख्यातम्' पाठ मिलते हैं, अर्थ मे कोई विशेष अन्तर नहीं है।

धीरताम्–धीरस्य भावो धीरता ताम्, धैर्य को, गम्भीरता को, अविचलिता को ,चुप्पी को। पाठान्तर–अधीरताम् बेचैनी को व्याकुलता को।

सताम् ईप्सितार्थक्रियैव प्रत्युक्तम्–अभीष्ट कार्य को कर देना ही सज्जनों का उत्तर होता है। सज्जन मुख से कहकर उत्तर नहीं देते हैं, प्रत्युत क्रिया द्वारा उत्तर देते है। 'सताम्' में कर्ता कारक के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। ईप्सितार्थक्रिया–आप्तुमिष्ट ईप्सितः (√आप्+सन्+क्त)स चासौ अर्थः प्रयोजनं (कर्मधारयः), तस्य क्रिया कारणम् अनुष्ठानम् (तत्पुरुषः) अभिलषित प्रयोजन को करना।

प्रत्युक्तम्–प्रति+√वच्+क्त भाववाचक संज्ञा नपुंसकलिङ्ग, प्रतिवचन, उत्तर।

प्रणियिषु–प्रणयो याञ्चा एषास्मतीति प्रणयिनः तेषु (प्रणय+इन्), याचकों के प्रति। विषय के अर्थ में सप्तमी विभक्ति।।५४।।

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्धया।
इष्टान्देशाञ्जलद! विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।।५५।।

अन्वयः–जलद, सौहार्दात् वा विधुरः इति वा मयि अनुक्रोशबुद्धया वा अनुचितप्रार्थनावर्तिनः मे एतत् प्रियं कृत्वा प्रावृषा संभृतश्रीः (त्वम्) इष्टान् देशान् विचर एवं च क्षणम् अपि ते विद्युता विप्रयोगः मा भूत्।

अनुवाद–हे मेघ, प्रेम के कारण अथवा यह दुःखी है, इसलिये मेरे प्रति दया भाव के कारण, मुझ अनुचित याचना करने वाले का

यह प्रिय करके वर्षा ऋतु से बढ़ी हुई शोभा वाले (तुम) अभिलषित देशों में विचरण करना, और इस प्रकार (अर्थात् मेरे समान) क्षण भर के लिये भी तेरा बिजली से वियोग न होवे।

टिप्पणी–अनुचितप्रार्थनावर्तिन:–अनुचिता प्रार्थनाऽनुचितप्रार्थना (कर्मधारय:) अत्र वर्ततेऽनुचितप्रार्थनावर्ती तस्य (उपपदसमास) अनुचित याचना करने वाला। मेघ इन्द्र का प्रकृति-पुरुष था, उससे संदेश ले जाने की प्रार्थना करना ही अनुचित था। पाठान्तर अनुचितप्रार्थनाबद्धपथ: अनुचित प्रार्थना है मार्ग जिनका अर्थात् अनुचित प्रार्थना करने वाला।

सौहार्दात्–सुहृदो भाव: सौहार्द्र: तस्मात् (सुहृद्+अण), प्रेम के कारण। हेतु के अर्थ में पञ्चमी।

विधुर–दु:खी, संतप्त, वियुक्त। परम्परा के अनुसार 'विधुर' की व्युत्पत्ति 'विगता धूर्यस्य' की जाती है। परन्तु यह सम्भवत: \ धि धातु से निष्पन्न शब्द है। (उत्तमेघ श्लोक संख्या ३१ पृ० २३८ पर टिप्पणी भी देखिये)।

अनुक्रोशबुद्धया–अनुक्रोशस्य बुद्धिरनुक्रोशबुद्धि: (षष्ठीतत्पुरुष:) तया, दया के विचार से, दया-भाव से। हेतु के अर्थ में तृतीया विभक्ति।

इष्टान् देशान् विचर–अभिलषित स्थानों में विचरण करना। 'चर्' धातु अकर्मक है। परन्तु देश और काल के वाचक शब्दों में अकर्मक धातुओं के साथ द्वितीया विभक्ति आती है, इसलिये देशान् में द्वितीया है।

संभृतश्री:–संभृता श्रीर्यस्य स: (बहुव्रीहि:), बढ़ गई है शोभा जिसकी, बढ़ी हुई शोभा वाला।

क्षणम् अपि–क्षण भर के लिये भी। 'अत्यन्तसंयोग' के अर्थ में द्वितीया विभक्ति। पाठान्तर–क्वचिदपि, कहीं भी, कभी भी।

ते विद्युता विप्रयोग: मा भूत्–तेरा बिजली से वियोग न होवे। कविसम्प्रदाय में 'विद्युत्' का मेघ की पत्नी के रूप में वर्णन किया जाता है। इसलिये यक्ष मेघ के प्रति शुभ-कामना प्रकट करता है कि उसका अपनी प्रिया विद्युत् से कभी वियोग न हो।

विप्रयोग:–वि+प्र+√युज:+घञ् भाववाचक संज्ञा, पुल्लिङ्ग, वियोग, विछोह। मा भूत्–√भू+लङ् अन्यपुरुष, एकवचन का रूप। (पूर्वमेघ श्लोक ४० में 'मा च भू' और उत्तरमेघ श्लोक ३६ में 'मा भूत्' पर टिप्पणी देखिये)।।५५।।

इति महाकविकालिदासविरचिते मल्लिनाथसूरिकृतसञ्जीवनीव्याख्यायुते
टिप्पण्यादिभि: संवलिते मेघदूतेकाव्ये उत्तरमेघ:।

महकवि बाणभट्ट रचित 'हर्षचरितम्'

भूमिका

महाकवि बाण

संस्कृत-साहित्य में महाकवि कालिदास की पद्य-रचना जितनीं उत्कृष्ट और सरस है उतनी ही महाकवि बाण की गद्य-रचना महत्त्वशाली है। बाण ने अपनी गद्यरचना का जो परिष्कृत और परिमार्जित रूप प्रस्तुत किया है वही आगे चलकर साहित्य के अन्य गद्य कवियों के लिए आदर्श बन गया। संस्कृत में गद्य-साहित्य की यों ही कमी समझी जाती है उस पर बाण जैसे कवि ने आकार मानो अपने पहले और आगे के समस्त अभाव की पूर्ति स्वयं कर ली। हर्षचरित से कादम्बरी के संतुलन में हर्षचरित एकदम नहीं आ सकता, हाँ, बाण की चित्रग्राहिणी प्रतिभा का निखार अपेक्षाकृत हर्षचरित से कादम्बरी में अधिक पाया जाता है। हर्षचरित में बाण की महती साधना अभिलक्षित होती है। वही साधना कादम्बरी के रूप में फल के समान उद्भूत हुई है। जैसे कोई योगी सिद्धिप्राप्ति के उद्देश्य से साधना में स्थिर हो जाता है, उसे साधक कहते हैं, उसी प्रकार हर्षचरित में बाण साधक है और कादम्बरी में सिद्ध। बाण के दोनों ग्रन्थ साहित्य और कला की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण हैं। विशेषरूप से हर्षचरित पर बाण की युगीन संस्कृति का प्रभाव अधिक है। अत: ऐतिहासिक, सांस्कृतिक सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से हर्षचरित संस्कृत-साहित्य का सर्वाधिक मूल्यवान् ग्रन्थ है ऐसा विद्वानों का कथन है। हर्षचरित हमें बाण की आत्मकथा से भी बहुत अंशों में परिचित कराता है। बाण ने हर्ष चरित के प्रंसग में आत्म-चरित को सन्नद्ध करके साहित्यिक जगत् का बड़ा ही उपकार किया है। बाण के साहित्य का अध्ययन करते हुए हमारी आंखों के समाने बाण का स्वाभिमानी और मस्ताना व्यक्तित्व नाचने लगता है। हम उसी के आधार पर बाण की प्रत्येक सूक्ष्मेक्षिका को आसानी से आंक लेने में समर्थ होते हैं। संस्कृत-साहित्य के अध्ययनशील लोगों के मन में आचार्यों और कवियों की निजी जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के न मिलने के कारण बड़ी उत्सुकता रह ही जाती है, और जब यह बात मन में आती है कि कभी हमें तत्तत् कवियों और आचार्यों के जीवन के सम्बन्ध में जानने का सौभाग्य नहीं प्राप्त होगा तब वही उत्सुकता एक गहरी निराशा के रूप में बदल जाती है। सौभाग्य से बाण के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं सोच सकते क्योंकि उन्होनें हर्षचरित के आरम्भिक दो-तीन उच्छ्वासों में अपने अल्हड़ जीवन की मौलिक घटनाओं का उल्लेख वंशानुकीर्तन की भूमिका में क्रम से प्रस्तुत कर दिया है। बाण का स्थितिकाल नि:सन्देह रूप से सप्तम् शती का पूर्वार्ध (६०६-६४७ ई०) है। हर्ष का समय निश्चित होने के कारण इस सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक वैमत्य नहीं है।

बाण का वंश-परिचय

बाण ने हर्षचरित के आरम्भ में अपनी आत्मकथा के साथ-साथ अपने कुल का भी पौराणिक शैली में उद्भव बताया है। बाण के जीवन से परिचित होने के लिए यह सामग्री बड़ी सहायक है। एक बार भगवान् ब्रह्म के इन्द्र आदि देवताओं के बीच कमल के आसन पर विराजमान थे; वहां मनु, दक्ष, चाक्षुष प्रभृति प्रजापति एवं मुनिगण भी गोष्ठी में ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे। ऋक्, साम, यजुष् का पाठ भी चल रहा था। वेद के अर्थ के सम्बन्ध में परस्पर विवाद का भी प्रंसग उपस्थित हो जाता था। ऐसे अवसर पर स्वभाव से ही अत्यन्त क्रोधी महामुनि दुर्वासा और उपमन्यु मुनि में विवाद छिड़ गया। क्रोध से अभिभूत दुर्वासा ने सामागान करते हुए स्वर से हीन पाठ कर दिया दुर्वासा के स्वरहीन सामागान से एकाएक गोष्ठी के समस्त लोग सन्न हो गये और शाप के भय से किसी को कुछ बोलने का साहस न हुआ। भगवान् ब्रह्मा ने भी इस भयावह प्रंसग को टालने का प्रयास किया परन्तु उन्हीं के पार्श्वभाग में चामर लेकर खड़ी सरस्वती दुर्वासा का स्वरहीन पाठ सुनकर हंस पड़ी। सरस्वती को अपने पर हंसते हुए देखकर दुर्वासा क्रोध से तमातमा उठे और उन्होनें शाप देने के लिए हाथ में जल उठा लिया। ब्रह्मा ने जोर से दुर्वासा को फटकारा, अत्रि ने स्वयं मना किया, सरस्वती की सखी सावित्री ने भी क्रोध शान्त करने के लिए प्रार्थना की, फिर भी दुर्वासा ने किसी की न सुनी और शाप दे डाला। "कि ब्रह्मलोक को छोड़कर सरस्वती को तब तक अन्यत्र रहना होगा जब तक वह अपने पुत्र का मुख न देख ले।" दुर्वासा के शाप से ग्रस्त होकर

सरस्वती ने किसी प्रकार सावित्री के साथ मर्त्यलोक के लिए प्रस्थान किया। स्वर्ग की गंगा के तटमार्ग से होते हुए वह मर्त्यलोक में हिरण्यवाह शोण के समीप उतरी। सरस्वती ने शोक के तट पर ही रहने के लिए आग्रह किया। दोनों ने नदी के तीर पर के लतामण्डप में निवास किया। शोक में नित्य स्नान और देवार्चन करते हुए कुछ दिन बीत गये।

एक समय दिन जब एक पहर चढ़ गया तब उत्तर की ओर घोड़ों की हिनहिनाहट सुन पड़ी। कुतूहल से सरस्वती ने लतामण्डप से बाहर निकल कर देखा कि धूल उड़ाता हुआ घोड़ों का समूह चला रहा था, जिसके साथ हजारों पैदल युवक चल आ रहे थे। अश्वरोहियों के बीच अट्ठारह वर्ष की आयु का एक सुन्दर युवक भी था। एक ओर अधिक अवस्था वाला पुरूष भी दिखाई पड़ा था। वह युवक दिव्य आकृति वाली दोनों कन्याओं को देखता हुआ कुतूहल से लतामण्डप के समीप आ पहुंचा और घोड़े से उतर गया। साथ के और लोगों को दूर पर ही उसने रोक दिया और वह दूसरे सज्जन के साथ पैदल ही वहां आया। सरस्वती और अक्षमाला सावित्री ने उसका वनवास की उचित सामग्री से सत्कार किया और उस वृद्ध से पूछा-'यह यूवक कहां से आया है? इसे जाना कहां है? इसके पिता कौन है, माता का क्या नाम है? सावित्री के इस अनुरोध पर उस पुरूष ने कहा-'यह च्यवन का पुत्र दधिच है। इसकी माता राजा शर्याती की पुत्री सुकन्या है। शर्यात पुत्री को गर्भवती जान कर पति के घर से अपने घर गया। वहां उसने इसे जन्म दिया। अपने ननिहाल में ही यह बढ़ा। जब इसकी माता अपने पति के घर जाने लगी तब नाना ने स्नेह से इसे अपने साथ ही रख लिया। वहीं पर इसने समस्त विद्याओं और कलाओं को सीखा तब किसी प्रकार नाना ने इसे पिता के पास जाने के लिए छोड़ा मैं उन्हीं शर्यात का विकुक्षि नामक आज्ञाकारी भृत्य हूं। मुझे इसे पिता के घर पहुंचाने के लिए भेजा गया है। शोण के सुरम्य तट पर भगवान् च्यवन का आश्रम है, हम वहीं जा रहे हैं।' यह कह कर उस पुरूष ने उन दोनों का भी परिचय पूछा। तब सावित्री ने कहा 'अभी हम दोनों का यहां बहुत दिनों तक रहने का विचार है अत: धीरे-धीरे सब कुछ ज्ञात हो जाएगा।' फिर दधीच और वह पुरूष भी च्यवनाश्रम की ओर घोड़े पर सवार होकर चल दिये। इधर सरस्वती दधीच के चले जाने पर उस दिशा की ओर ही देर तक मुख फैलाये बैठी रही, फिर किसी तरह वह दिन बीता। रात में भी दधीच के दर्शन के चिन्ता में जागती रही। इस प्रकार कई रातें बीतीं तो अपने देश की ओर लौटते समय विकुक्षि वहां पहुंचा। सावित्री ने दधीच को लाने के लिये च्यवनाश्रम गई और कार्य साध कर लौटी। प्रणय हो जाने पर दधीच सरस्वती के साथ एक वर्ष तक वहीं रह गये। देवयोग से सरस्वती ने गर्भ धारण किया और समय पर पुत्र पैदा किया। पैदा होते ही सरस्वती ने अपने पुत्र को समस्त वेदों, शास्त्रों, कलाओं और विद्याओं में प्रवीण हो जाने का वरदान दिला दिया और दधीच को साथ पितामह के आदेश से सावित्री के साथ ब्रह्मलोक चली गई। सरस्वती के चले जाने पर दधीच ने अथर्व वंश में उत्पन्न अपने भाई को अक्षमाला नाम की पत्नी के पास उस सरस्वती-पुत्र को पालने के लिए छोड़ कर तपस्या करने के लिए जंगल में प्रस्थान किया। जिस समय सरस्वती ने पुत्र पैदा किया था। उसी अवसर पर अक्षमाला के गर्भ से भी पुत्र उत्पन्न हुआ था अक्षमाला ने दोनों पुत्रों को पाल-पोस कर बड़ा किया। एक का नाम सारस्वत और दूसरे का नाम वत्स था। दोनों में सहोदर भाई जैसा स्नेह था। माता के वरदान से सारस्वत यौवन के आरम्भ में ही समस्त शास्त्रों का पारगंत विद्वान् हो गया। उसने वत्स को भी अपनी सारी विद्या दे दी और उसका विवाह करके प्रीतिकूट नाम का स्थान बनवा दिया पिता दधीच जहां तपस्या करने गये थे वहां स्वयं दण्ड-चीवर धारण करके चला गया।

वत्स से वंश चला। उसी वंश की परम्परा में बाण का जन्म हुआ। बाण ने वात्स्यायन वंश की परम्परा भी दी है। वत्स के बाद अनेक वर्ष बीते और बहुत से वात्स्यानन ब्राह्मण उस कुल में क्रमश: उत्पन्न हुए। उसी क्रम में कुबेर नाम का ब्राह्मण उत्पन्न हुआ। उसके चार पुत्र हुए-अच्युत, ईशान, हर और पाशुपत। पाशुपत के पुत्र का नाम अर्थपति था। अर्थपति ने ग्यारह पुत्रों का उत्पन्न किया जिनके नाम ये हैं-भृगु, हंस, शुचि, कवि, महदत्त, धर्म, जातवेदस्, चित्रभानु, लक्ष, अहिदत्त और विश्वरूप। चित्रभानु के ही पुत्र बाण थे। बाण की माता का नाम राजदेवी थी। बाण के दो पारशव भाई (शूद्र स्त्री से उत्पन्न) थे-चित्रसेन और मित्रसेन और चार सहोदर भाई थे-गणपति अधिपति, तारापति और श्यामल।

बाण की आत्मकथा

इस प्रकार बाण ने अपने वात्स्यायनवंश का उद्भव बताते हुए प्राचीन कुलपुरूषों की क्रमबद्ध वंशावली दी है और इसी क्रम में अपने की भी चर्चा की है। कहा जा चुका है कि बाण के पिता का नाम चित्रभानु और माता का नाम राजदेवी था। बालपन में ही माता का वियोग सहना पड़ और पिता ने मातृस्नेह के साथ उसका पालन किया। वह अपने घर पर ही रह कर बढ़ा। उसके सभी संस्कार यथा समय पिता ने किये जब वह चौदह वर्ष का हुआ तब उसके पिता का भी देहान्त हो गया। उस समय तक उसका समावर्त्तनसंस्कार और उसके साथ ही विवाह भी हो चुका था। पिता की मृत्यु के बाद दु:खी और शोकसंतप्त बाण ने किसी प्रकार

अपने घर पर ही रह वह समय काटा। कुछ दिन के बाद जब पितृशोक कुछ कम हुआ तब वाणी की स्वतंत्र प्रकृति ने जोर मारा। उसमें वह विनय अब न रहा। अल्हड़न के कारण बालक बाण में नई-नई वस्तुओं के देखने का कुतूहल बढ़ा। फलतः वह यौवन के आरम्भ होते ही धैर्य को त्याग कर घुमक्कड़ और आवारा बन गया। इसके साथ और सहायक भी बहुत से हो गये। वह उनके साथ देश-देशान्तरों को देखने की इच्छा से अपने पिता-पितामह के वैभव और विद्या की परवाह न करके घर द्वार छोड़कर निकल पड़ा। स्वछन्द होकर वह उस प्रकार मनमौजी हो गया कि उसकी खिल्ली उड़ने लगी।

अपने उसी उच्छृङ्खल भ्रमण के अवसर पर घूम-घूम कर बाण ने अपने युग के जीवन का गहरा अध्ययन किया। वह राजकुलों में पहुंचा जहां के व्यवहार अत्यन्त उदार होते थे, गुरूकुल या उस समय के शिक्षा संस्थानों में भी कुछ काल तक रहा, बहुमूल्य बातचीत करने वाले गुणवान् लोगों की गोष्ठियों में बैठा और विद्ग्ध जनों के बीच पहुंचा। इस प्रकार युवक बाण को अनुभव के चार स्रोत जीवन के आरम्भ में ही मिल गये। अनुभवी होकर बाण की चंचल प्रकृति बदल गई। वह वात्स्यायन वंश के अनुरूप गम्भीर स्वभाव वाला बन गया। बहुत दिनों तक देशों-देशान्तरों का चक्कर काट कर वह फिर अपनी जन्मभूमि प्रीतिकूट को लौटा और अपने बालमित्रों से बड़े स्नेह के साथ मिला।

अपने बन्धु-बान्धवों से मिल कर बाण बड़ा प्रसन्न हुआ। बहुत दिनों तक प्रीतिकूट का ही आन्नद लेता रहा। एक दिन स्थाणीश्वर के महाराज श्रीहर्ष के भाई का भेजा हुआ मेखलक नाम का दीर्घाध्वग बाण से आकर गर्मी के दिनों में मिला। उस समय भोजन के पश्चात् बाण अपने घर पर आराम कर रहा था। उसके पारशव भाई (शूद्रा जननी से उत्पन्न) ने भीतर आकर उसके आगमन की सूचना दी। बाण ने कहा-'उसे शीघ्र अन्दर लाओ।' तब वह दीर्घाध्वग भीतर जाकर बाण के समीन कुछ हट कर बैठा। बाण के पूछने पर उसने कृष्ण का कुशल-समाचार सुना कर पत्र अर्पित किया। बाण ने पत्र को स्वयं पढ़ा। फिर मेखलकं ने मौलिक सन्देश में कृष्ण की ओर से कहा-'मैं तुमसे बिना कारण ही अपने बन्धु की तरह प्रेम करता हूं। तुम्हारी अनुपस्थिति में दुर्जन लोगों ने सम्राट के भर दिये, पर वह सत्य नहीं। किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति ने तुम्हारी बाल-चपलताओं से चिढ़ कर कुछ इधर-उधर की बात कह दी। अन्य लोगों ने भी ठीक वैसाही समझा और कहने लगे। सम्राट् ने ऐसे मूर्खों की एक-सी बात सुनकर अपना मत स्थिर कर लिया। तुम्हारे विषय में मैनें सम्राट से निवेदन किया और उन्होंने मेरी बात मान ली। अब अपने घर पर व्यर्थ समय-यापन करना ठीक नहीं, शीघ्र राजकुल में आओ।'

यह सुनकर बाण ने उसी चन्द्रसेन को आज्ञा दी-'मेखलक को ले जाकर भोजनच्छादान की व्यवस्था कर आराम से ठहराओ।' तब तक दिन ढल चुका था। बाण संध्योपसाना से निवृत्त होकर फिर अपने शयनीय पर आ गये और सम्राट् से मिलने के सम्बन्ध में एकाकी सोचने लगे-'क्या करूं? महाराज ने मुझे कुछ और ही समझ लिया है, मेरे अकारणबन्धु कृष्ण ने ऐसा संदेश भेजा है, सेवा बहुत कष्टदायिनी है, नौकारी करना मेरे अनुकूल नहीं, राजकुल अतिगम्भीर और विशाल है, न तो मेरे पूर्वजों का राजकुल से सम्बन्ध रहा है जिससे प्रेमभाव बना है, तो मुझ में कुलक्रमागत क्षमता ही है, न तो पहले से ऐसी मदद मिली जिसका स्नेह मान कर चला जाय, न तो बड़े होने का अब तक गौरव मिला है, न पहली मेल मुलाकात की अनुकूलता है, न तो बुद्धि सम्बन्धी विषयों में आदान-प्रदान करने का प्रलोभन है, न तो अपनी विद्या के अतिशय प्रदर्शन का कुतूहल है, न तो अपनी सुन्दर आकृति से मिलने वाले आदर की आंकाक्षा है, न सेवावृत्ति के अनुरूप चापलूसी करने की कला मुझे आती है, न तो मुझमें वैसी चुतराई है कि विद्वानों की गोठिष्यों में भाग लूं, न तोधन खर्च करके दूसरों को मुट्ठी में कर लेने की आदत है, और न तो राजा के प्रिय जनों से भरा मेरा परिचय है और कृष्ण के संदेशानुसार जाना भी जरूरी है। त्रिभुवनगुरू भगवान् शंकर वहां जाने पर सब भला करेंगे।' यह सोच कर बाण ने प्रस्थान करने के लिए निश्चय किया।

दूसरे दिन प्रातःकाल बाण ने स्नान करके उज्जवल दुकूल धारणकिया और हाथ में अक्षमाला लेकर प्रास्थानिक सूक्तों और मंत्रपदों को बार-बार दुहराया, फिर देवों के देव भगवान् शङ्कर की साङ्गोपाङ्ग अर्चना की तथा तिल और घृत की आहुतियों से हवन सम्पन्न किया। ब्राह्मणों को दक्षिणा में धन दिया। होमधेनु की परिक्रमा की। शुक्ल माल्य, वसन एवं रोचनाचित्रित तथा दूर्वाग्रप्रथित गिरिकर्णिक नामक पुष्प का कर्णपूर और शिखा में सिद्धार्थक आदि माङ्गलिक द्रव्यों से परिष्कृत होकर बाण प्रस्थान के लिए तैयार हो गया। माता के समान स्नेह के आर्द्र हृदय वाली, पिता की, माता के समान स्नेह से आर्द्र हृदय वाली पिता की छोटी बहन मालती ने बाण के प्रस्थान की माङ्गलिक तैयारी की। गांव की बांधव-वृद्धाओं ने आशीर्वाद दिये, परिजनों को बूढ़ी स्त्रियों ने बाण का अभिनन्दन किया, पूजितचरण गुरूओं ने बाण के प्रस्थान का समर्थन किया, कुलवृद्धों ने उसका सिर सूंघा, शुभ शकुनी से उसका उत्साह और भी बढ़ा, ज्योतिषियों ने नक्षत्र की गणना की, फिर शोभन् मुहूर्त में जल से पूर्ण कलश की ओर दृष्टिपात करते हुए कुलदेवताओं की प्रमाण कर बाण प्रीतिकूट से निकल पड़ा।

पहले दिन गर्मी में किसी प्रकार धीरे-धीरे चण्छितकायमतन-कानन पार कर वह मल्लकूट नामक गांव में गया। वहां बाण [illegible] और हार्दिक मित्र जगत्पति रहता था, उसने बाण का सत्कार किया। बाण उस दिन वहीं सुखपूर्वक ठहरा। दूसर दिन गङ्गा [illegible] यष्टिगृहक नाम के बनगांव में रात बिताई। फिर राप्ती (अजिरवती) के किनारे मणितार नामक गांव क पास हर्ष के स्कन्ध [illegible] (छवनी) में पहुंचा जो राज-भवन के सन्निकट ही था।

स्कन्धावार में स्नान, भोजन और विश्राम के पश्चात् जब एक पहर दिन बाकी था और जब हर्ष भी भोजन आदि से निवृत्त हो चु [illegible] तब वह मेखलक के साथ राजद्वार के लिए चल पड़ा। मार्ग में प्रख्यात् राजाओं के अनेक शिविर-सन्निवेश मिले। राजद्वा [illegible] के दर्शन के लिए नाना देशों से सामन्तगण पधारे हुए थे। झुण्ड हाथी, घोड़े और ऊँट खड़े थे और हजारों आतपत्रों से वहां श्वेतद्वी [illegible] दृश्य था। सब लोग राजद्वार के राजकीय अनुयायियों से यह पूछते हुए नहीं थकते थे कि बाह्य कक्ष में उपस्थित होकर सम्राट् [illegible] दर्शन देंगे? एक ओर एकान्त में बौद्ध, जैन, पाशुपत, सन्यासी, वणी सम्प्रदायों के साधु, सब देशों के लोग, समुद्र तट [illegible] म्लेच्छ और समस्त द्वीपों से संवाद लेकर लौटे हुए दूत एकत्र थे। राजद्वार के इस दृश्य को देखकर बाण के मन में आश्चर्य [illegible] द्वारपालों ने मेखलक को दूरी ही से पहचान लिया। 'क्षण भर आप यहीं ठहरें' बाण से यह कह कर मेखलक वरोक भीतर चला [illegible] थोड़ी देर बाद वह महाप्रीतहारों के प्रधान दौवारिक पारियात्र के साथ वापस आया। मेखलक द्वारा परिचित होकर पारियात्र ने बाण को प्रणाम किया और विनयपूर्वक कहा-'देव के दर्शन के लिए भीतर पधारिये, आप पर देव की प्रसन्नता है।' बाण ने 'मैं धन्य हूं [illegible] देव मुझे इस प्रकार अपने अनुग्रह का पात्र समझते हैं' यह कहते हुए उसके साथ भीतर प्रवेश किया। तब बाण ने वनायु, आन्ध्र, काम्बोज, भारद्वाज, सिन्ध और पारस देशके राजवल्लभ अश्वों से भरी हुई मन्दुरा देखी। कुछ दूर हट कर बाई ओर इभाधिष्ठानशाला [illegible] हाथियों का लम्बा-चौड़ा बाड़ा मिला। वहां बाण ने सम्राट् के मुख्य हाथी दर्पशात को देखा। उसे देखकर बाण बहुत आश्चर्यित [illegible] और सोचने लगा-निश्चय ही इस महाराज के निर्माण में बड़े-बड़े परमाणु बनाये गये होंगे, नहीं तो वह गौरव कहां से इसमें आता? इस प्रकार फिर तीन कक्षाओं को पार कर बाण ने मुक्तास्थानमण्डप के सामने वाले आंगन में सम्राट् हर्ष के दर्शन किये।

तब सम्राट् के सामने आकर बाण ने दाहिना हाथ उठा कर 'स्वस्ति' शब्द का उच्चारण किया। हर्ष ने उसे देख कर दौवारिक से पूछा-'यह वही बाण है?' दौवारिक ने कहा-'देव का कथन सत्य है, यह यही बाण है।' इस पर हर्ष ने कहा-'मैं इसे तब तक नहीं देखना चाहता जब तक यह मेरा प्रसाद प्राप्त न कर ले।' यह कह कर उन्होंने अपने पीछे बैठे हुए मालवराज के पुत्र (माधवगुप्त) से कहा-'यह भारी भुजङ्ग (आवारा) है।'

बाण राजा के अभिप्राय को नहीं समझ सका। सारी राज-मण्डली में सन्नाटा छा गया। बाण कुछ देर तक चुप रह कर सोचता [illegible] इस प्रकार की बात कैसे कहते हैं? जैसे आपको मेरे विषय में सच्ची बात का पता न हो, या मेरा विश्वास न हो, या आपकी बुद्धि दूसरों पर निर्भर रहती हो, अथवा आप स्वयं लोक के वृत्तान्त से अनभिज्ञ हों। लोगों के स्वभाव और फैली हुई बात मनमानी [illegible] में सोमपान करने वाली वात्स्यायान ब्राह्मणों के वंश में जन्मा हूं। समय से मेरे यज्ञोपवीत आदि संस्कार हुए हैं। मैंने अङ्गों के साथ वेद का सम्यक् प्रकार से स्वाध्याय किया है। अपनी शक्ति के अनुसार शास्त्रों का भी श्रवण मैंने किया है। विवाह के क्षण से लेकर मैं नियमित गृहस्थ हूं। तो मुझमें क्या भुजङ्गपना है? मेरी नई अवस्था की कुछ चपलताएं अवश्य हैं पर वे ऐसी नहीं जिससे इस लोक या परलोक का कोई विरोध हो; मैं इस बात को इनकार नहीं करता। मेरे हृदय में इसी बात का बहुत पश्चात्ताप है। हे देव [illegible] आप भगवान् बुद्ध के समान शान्तचित्त, मनु के समान वर्णाश्रमर्यादा के रक्षक और यम के समान दण्डधर हैं। सातों समुद्रों की करधनी [illegible] समस्त द्वीपों की माला से विराजित पृथिवी पर आपका एकच्छत्र शासन है, तो कौन ऐसा निडर है जो सब प्रकार से दुःखद अभिनय करने की मन से भी कल्पना करता है?.....समय से स्वयं आप मेरे विषय में सब कुछ जान लेंगे, क्योंकि बुद्धिमानों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी बात में विपरीत हठ नहीं रखते?' इतना कहकर बाण चुप हो गया। सम्राट् ने भी 'मैंने ऐसा ही सुना था' इस इतना ही कहा। लेकिन बातचीत और आसन दान आदि के प्रसाद से उसे अनुगृहीत नहीं किया। केवल स्नेह से भर अमृत को [illegible] करने वाले दृष्टिपात मात्र से उसको नहलाते हुए उन्होंने अपने अन्तरतम की प्रीति प्रकट की। जब सूर्य अस्त होने लगा [illegible] राजसमूह से विदा लेकर महल के अन्दर चले गये।

बाण वहां से निकल कर अपने निवास स्थान स्कन्धावार में लौट आया। तब वह अपने मन में सोचने लगा-'सचमुच देव हर्ष बड़े उदार है, क्योंकि मेरे बाल्यकाल की चपलताओं से फैले हुए जनापवाद को सुनकर कुपित होने पर भी मन में मेरे प्रति स्नेह अक्षय रखते हैं। मैं उनकी आंखों पर चढ़ा हुआ (अक्षिगत, अर्थात् कोपीभाजन) होता तो कैसे दर्शन की कृपा करते। वह मुझे गुणी देखना चाहते हैं। बड़ों की यही रीति है कि छोटों को बिना मुख से कहे ही केवल व्यवहार से विनय सिखा देते हैं। मुझे धिक्कार है यदि मैंने

ही दोषों से अन्धा होकर और केवल अनादर से दु:खी होकर मैं ऐसे गुणवान् राजा के विषय मैं कुछ सोचने लगूं। अब मैं सर्वथा वही करूंगा जिससे समय से वे ठीक मुझे पहचान लें। बाण ने ऐसा निश्चय किया और दूसरे दिन प्रात:काल वह स्कन्धावार से निकल कर मित्रों और रिश्तेदारों के घर में ठहरा। तब तक सम्राट् स्वयं उसके स्वभाव से परिचित होकर उस पर प्रसन्न हो गये और फिर वह राजभवन में आकर जम गया। थोड़े ही दिनों में सम्राट् उस पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे अपने प्रसादजनित सम्मान, प्रेम, विश्वबास, धन-सम्पत्ति, परिहासं और प्रभाव की पराकाष्टा पर पहुंच दिया।

इस प्रकार बाण सम्राट् हर्ष से पर्याप्त सम्मान पाकर किसी समय शरत्काल के आरम्भ में बन्धुओं को देखने की उत्कण्ठ, से अपनी जन्मभूमि की प्रंशासा करते हुए उसके स्वागत में निकल पड़े। सबसे मिलकर बाण बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सबसे पूछा-'आप लोग सुखपूर्वक तो रहे? यश का कार्य चल रहा है? प्रतिदिन वेदाभ्यास तो अविच्छिन है न? व्याकरण के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ तो होते रहते हैं? काव्य की चर्चा तो बराबर रहती है? अब उन्होंने उससे कहा-'हम लोग सर्वथा कुशल से हैं। 'अपनी शक्ति और विभव के अनुसार समय से सब लोग ब्राह्मण के उचित क्रिया-कलाप करते हैं। जब तुम परमेश्वर महाराज हर्ष के पार्श्वभाग में वेत्रासन पर स्थित हो तो विशेष रूप से हम लोग प्रसन्न है।' इस प्रकार की अनेक बातों से मन बहलाता हुआ उनके साथ देर तक ठहरा। मध्याह्न में उठकर वह स्नानादि से निवृत्त हुआ। भोजन के पश्चात् जब वह बैठा तो सब के सब जुट आये और उसे घेर कर बैठ गये। इसी बीच सुदृष्टि नामक बाण का पुस्तक वाचक आ गया और उससे कुछ दूर पर रखी हुई वेत्रपीठिका पर बैठे गया। क्षणभर ठहर कर तत्काल उसने सूत की बेठन खोल दी। पुस्तक को उसने सरकंडों के बने पीढ़े पर रख दिया। पीछे समीप में बैठे हुए मधुकर और पारावर नामक वंशी बजाने वाले बाण के दो मित्रों ने जब अवकाश दिया, तब सुदृष्टि वायुपुराण का पाठ करने लगा।

जब सुदृष्टि वायुपुराण का पाठ कर रहा था, उसी समय सूचीब्राण नामक बन्दी ने दो आर्याछन्दी का गान किया। उसने कहा कि वायु-पुराण हर्ष के चरित से अभिन्न प्रतीत होता है। आर्याओं को सुन कर बाण के चचेरे भाइयों-गणपति, अधिपति, तारापति और श्यामल ने एक-दूसरे की ओर देखा। तत्पश्चात् उन चारों में सबसे छोटा बाण का अत्यन्त प्रिय श्यामल बोला-'तात बाण, प्रात: स्मरणीय, पुण्यों की राशि देव हर्ष-चरित पूर्वपुरूषों की वंशपरम्परा के साथ हम सुनना चाहते हैं। बहुत दिनों से हम लोगों की यह इच्छा बनी हुई। अत: आप कहें। यह भार्गववंश पुण्यवान् राजर्षि के पवित्र चरित को सुनकर और पवित्र बन जाय। 'बाण ने हंस कर अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए दूसरे दिन हर्षचरित का वर्णन आरम्भ करने के लिए निश्चय किया और संध्योपासनं के लिए शोण के तीर पर चले गये।

इस प्रकार बाण ने दूसरे दिन हर्ष के पूर्व-पुरूषों की वंशपरम्परा के साथ हर्षचरित का वर्णन आरम्भ किया। बाण के जीवन के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता।

हर्षचरित के अतिरिक्त बाण की दूसरी कृति कादम्बरी है। कादम्बरी संस्कृत गद्य-साहित्य के चरम-उत्कर्ष का एक उज्जवल उदाहरण है। कादम्बरी के आरम्भ में भी बाण ने संक्षेप में अपनी वंशपरम्परा दी है। कादम्बरी की वंशपरम्परा में कुबेर के बाद अर्थपति का उल्लेख आता है। बीच में पाशुपात का नाम छूत गया है। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् बाण कन्नौज से प्रीतिकूट लौट आये। वहीं इन्होंने अपने दोनों ग्रन्थों को लिखा। हर्षचरित से हर्ष के जीवनवृत्त के सम्बन्ध की आकांक्षा की पर्याप्त मात्रा में पूर्ति नहीं होती। बाण जैसे ग्रन्थ को पूरा लिखने में उदासीन हो गये। कुछ लोग उनके पुत्र का नाम भूषणबाण या भूषणभट्ट बतलाते हैं। कादम्बरी की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'पुलिन' या 'पुलिन्द' नाम मिलता है। धनपाल की तिलकमञ्जरी में श्लेष से पुलिन्द ही का उल्लेख है-

केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानं पुलिन्दकृतसन्निधिः॥

(ति० म० २६ श्लोक)

बाण के समकालीन कवियों में मातंगदिवाकर और मयूर का उल्लेख आता है। अनुश्रुति के अनुसार मयूर जिन्होंने सूर्यशतक का निर्माण किया है, बाण के श्यालक बताये गये हैं। बाण ने अपने विवाह का उल्लेख सम्राट् हर्ष से मिलने के प्रंसग में ही किया है-'दारपरिग्रहादभ्यागरिकोऽस्मि।' इसके अतिरिक्त वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक तथ्य प्राप्त नहीं है।

बाण की रचनाएं

बाण की प्रमाणिक रचनाओं में हर्षचरित और कादम्बरी के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। यों तो उनके नाम पर कई अन्य रचनाओं का भी उल्लेख आता है। चण्डीशतक बाण का निर्मित समझा जाता है। इसमें १०० श्लोकों में बाण ने भगवती दुर्गा की स्तुति की है। पार्वती-परिणय नाटक को भी कुछ लोगों ने बाण ही का निर्माण समझा था। परन्तु कीथ ने स्पष्ट कर दिया कि यह नाटक १५वीं शताब्दी के कवि वामनभट्ट बाण की रचना है। वामनभट्ट बाण तैलंगदेशीय वत्सगोत्री ब्राह्मण थे। नलचम्पू के टीकाकार चण्डपाल

और गुणविनयगणि के अनुसार बाण ने मुकुटताड़ितक नाटक की भी रचना की थी, पर यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। जहां तक बाण की शैली और कल्पना का क्षेत्र है उसकी भूमिका में बाण के हर्ष चरित और कादम्बरी के अतिरिक्त अन्य कृतियां किसी अंश में भी संगत नहीं बैठती। अत: प्रमाणित तथ्य के अभाव में यह मान लेना ही ठीक है कि इन दोनों के अतिरिक्त बाण की कोई अन्य रचना नहीं है।

हर्षचरित

हर्षचरित एक आख्यायिका है। बाण ने ग्रन्थ के आरम्भ में स्वयं कहा है-'करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्' (श्लोक ८) आचार्यों ने आख्यायिका का जो स्वरूप निर्धारित किया है उसका समन्वय विशेष रूप से हर्षचरित में मिल जाता है। हर्षचरित में मिल जाता है। हर्षचरित एक ऐतिहासिक काव्य है। यह कहा जा सकता है कि संस्कृत-साहित्य में ऐतिहासिक काव्य लिखने का शुभारम्भ बाण के द्वारा ही हुआ। प्राचीन कवि ऐतिहासिक पुरूषों के चरित को लेकर काव्य निर्माण करने में सम्भवत: अपनी हानता समझते थे। सामान्य व्यक्ति को काव्य का नायक बनाकर लिखना उनके विचार में शोभन न था। बाण ने हर्ष चरित लिख कर इस श्लोक को मिटाने का प्रथम प्रयास किया। आगे चलकर कई ऐतिहासिक पुरूषों के जीवनवृत्त पर कवियों ने उनके चरित-काव्य लिखे। हर्षचरित आठ उच्छ्वासों में विभक्त है। प्रथम सवा दो उच्छ्वासों में बाण ने आत्मकथा लिखी है और शेष में सम्राट् हर्षवर्धन का चरित है। आरम्भ हर्ष के वंश प्रवर्तक पुष्यभूति के वर्णन से किया गया है। हर्ष के पिता का नाम प्रभाकरवर्धन और माता का यशोवती था। उनके बड़े भाई का नाम राज्यवर्धन था। राज्यवर्धन का जन्म ५८८ ई० में हुआ। दो वर्ष के बाद हर्ष उत्पन्न हुए तथा एक वर्ष के बाद राज्यश्री का जन्म हुआ। राज्यश्री का विवाह ग्रहवर्मा से हुआ। ग्रमवर्मा मौखरि क्षत्रिय एवं अवन्तिवर्मा का पुत्र था। हूणों द्वारा गान्धार के उत्तर में आक्रमण किये जाने पर राज्यवर्धन एक बड़ी सेना लेकर उन्हें रोकने के लिए गये। राज्यवर्धन लौटे ही थे कि इधर प्रभाकरवर्धन का देहान्त हो गया। हर्ष की माता यशोवती पति की मृत्यु होने से पूर्व ही चिता में बैठ कर सती हो गई। इधर मालवा के राजा ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। ग्रहवर्मा को मार कर राज्यश्री मालवाधिप की कैद में आ गयी। राज्यवर्धन ने हर्ष को राज्य का भार देकर शत्रु के विरूद्ध प्रयाण किया। उन्होंने मालवराज को परास्त कर दिया, परन्तु उसके सहायक गोडाधिप शशांक ने उन्हें मार डाला। हर्ष को बड़े भाई की असामायिक मृत्यु से बहुत क्षोभ हुआ। प्रतिशोध के लिए जो बन्दीगृह से छूट कर विन्ध्याटवी में भाग निकली थी। राज्यश्री के मिलने के बाद हर्षचरित समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार यह एक ऐतिहासिक तथ्य बाण की रचना में अलंकृत काव्यमय शैली में आया है। जगह-जगह पर अलौकिक पात्र और पौराणिक कथाओं का भी उपयोग किया गया है। किसी घटना के तिथिक्रम का उल्लेख नहीं है। कुछ ऐतिहासिक पात्रों के नाम का भी उल्लेख है। राज्यवर्धन को मारने वाले गौडाधिप का हर्षचरित में नामोल्लेख नहीं किया है। इन कारणों से हर्षचरित का ऐतिहासिक महत्त्व के कम होने पर भी हर्ष के समकालीन युग की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अध्ययन के लिए हर्षचरित से बढ़ कर कोई दूसरा सहायक ग्रन्थ नहीं है। किसी का कहना कि 'हर्षचरित सभ्यता का विश्वकोश है' किसी अंश में अत्युक्ति नहीं। समकालीन संस्थाओं का चित्र इस तरह हर्षचरित के घटनाक्रमों का ठीक-ठीक मेल हो जाने से हर्षचरित के महत्त्व का पता चलता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी हर्षचरित का महत्त्व है। आरम्भ में बाण ने महाभारत, वासवदत्ता एवं बृहत्कथा नामक ग्रन्थों की तथा भास, कालिदास, प्रवरसेन, भट्टार हरिशचन्द्र एवं आढ्यराज नामक कवियों की प्रशंसा की है। बाण के स्थितिकाल का निश्चय हो जाने से अन्य कवियों के स्थितिकाल के निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है।

हर्षचरित बाण की प्रथम रचना है। यद्यपि भाषा और भाव की दृष्टि से कादम्बरी की तरह प्रौढ़ता हर्षचरित में नहीं, तथापि इन दोनों के अभिव्यक्ति-सामर्थ में कोई अपूर्णता भी अभिलक्षित नहीं होती। बाण की 'स्फुरत्कलालपाविलास -कोमला कविता नवधू' कादम्बरी में जो कौतुकधिक राग उत्पन्न करती है, हर्षचरित में विवाह की योग्यता होने पर भी अविवाहित लड़की के कारण अज्ञातयौवना-सी लगती है। सम्भव है इसी कारण वह कादम्बरी की तरह सहृदय-जनों में कौतूकधिक राग उत्पन्न न कर सकी हो। स्थान-स्थान पर बाण की अद्‌भूत वर्णनशक्ति का पूर्वाभास हर्षचरित में मिल जाता है।

पात्र-परिचय

संक्षेप में हर्षचरित के पात्रों के सम्बन्ध में जानना आवश्यक है। मुख्य पात्र के रूप में सरस्वती, सावित्री, बाण, पुष्यभूति, भरतवाक्य यशोवती, राज्यवर्धन, हर्षवर्धन तथा राज्यश्री के चरित्र में निर्दिष्ट हैं।

सरस्वती और सावित्री-सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री देवी और ब्रह्माजी की कुमारी कुन्या थी। विद्या की देवी होने के कारण और बालभाव की चपलता से उसमें कुछ अभिमान की मात्रा भी थी। दुर्वासा के स्वरहीन सामगान पर वह हंस पड़ी। जिससे उस क्रोधान्ध ऋषि के शाप से ग्रस्त हुई। दुर्वासा ने उसकी विद्याजनित उन्नति को चूर करने के लिए नीचे मर्त्यलोक में चल जाने का शाप दे डाला। परन्तु सरस्वती ने ऋषि के शाप को सिर झुका कर मान लिया। उसकी प्रिय सखी सावित्री ऋषि के इस अन्याय को न सह सकीं और स्वयं प्रतिशाप देने के लिए उद्यत हो गई। तब सरस्वती ने उसे रोका और कहा-'सखी, तू अपना क्रोध शान्तकर, संस्कारशून्य बुद्धि होने पर भी ब्राह्मण सर्वथा आदरणीय है।' सरस्वती की इस वाणी में उसकी अपार सहिष्णुता निहित है। वह निरपराध होने पर भी कुछ नहीं बोलती और सावित्री को साथ लेकर मर्त्यलोक के लिए ब्रह्मलोक से प्रस्थान कर देती है। ब्रह्मा जी ने उसके शाप को पुत्र का मुख देखने की अवधि दी। सावित्री ने उसे बहुत ढाढस दिया और वे दोनों शोण के तट पर निवास करने लगीं। वहीं पहुंचे हुए दधीच से सरस्वती का प्रणय हो गया। सरस्वती की अपेक्षा सावित्री अधिक प्रगल्भ थी। सरस्वती मुग्धा और सावित्री प्रगल्भा थी। दधीच के प्रथम दर्शन से अधिक प्रगल्भ थी। दधीच के प्रथम दर्शन से आकृष्ट होने पर भी सरस्वती ने अपना प्रणय-भाव बिल्कुल छुपा कर रखा समाचार लेकर मालती आई तब एकान्त में सरस्वती ने दधीच के प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया। दधीच को लाने के लिए मालती के चले जाने पर उसने सावित्री से यह रहस्य प्रकट कर दिया। इस प्रकार एक सहिष्णु, लज्जाशील नारी के रूप में चित्रित है और सावित्री का चित्रण एक संवेदनशील नारी के रूप में हुआ है।

बाण-हर्षचरित के रचयिता बाण भी एक मुख्य पात्र हैं। मानना तो यह चाहिए कि हर्षचरित दो विश्राम विभागों में विभक्त आख्यायिका है। प्रथम भाग के मुख्य पात्र स्वयं महाकवि बाण है और द्वितीय भाग के सम्राट् हर्ष वर्धन। बाण ने अपने चरित्र का जितनी धार्मिकता और स्पष्टता से चित्रण किया है उतना शायद ही हर्ष के चित्रण में हो। यद्यपि यह बात नहीं फिर भी कवि ने अपना दोष और गुण सब एक तटस्थ पर्यवेक्षक के नाते कह डाले हैं। बाण की तटस्थता इसी से व्यक्त होती है कि उन्होंने अपनी आत्मकथा में 'उत्तम पुरूष' के स्थान पर अन्य पुरूष का ही प्रयोग किया है। 'मैं उत्पन्न हुआ' के स्थान पर 'बाण उत्पन्न हुआ, बढ़ा और यौवन के आरम्भ में अवारा (इत्वर) बन गया' आदि साधारण पात्र के रूप में ही बाण ने अपने को रखा है। सम्भव था अगर उत्तम पुरूष 'मैं का प्रयोग करते, तो अपने दोष पक्ष के उल्लेख में इतनी स्पष्टता न होती। छोटी अवस्था में ही बाण की माता मर गई। पिता ने ही किसी प्रकार पाल-पोस कर बढ़ाया। दुर्भाग्य से जब बाण चौदह वर्ष का हुआ तभी उसके पिता भी दिवंगत हो गए। अब मातृ-पितृहीन बाण को सुधारने वाला कोई नहीं मिला। मिले वही नाचने-गाने के शौकीन-संगी-साथी। उनके साथ रहने से बाण की स्वतंत्रता बढ़ती गई और फलत: यौवन के आरम्भ में ही वह अवारा (इत्वर) हो गया। इन्हीं साथियों के साथ यहां-वहां मारा-मारा फिरने लगा। कभी किसी नगर में जाकर नाटक खेलता, तो कभी किसी नगर में। इस इत्वरवृत्ति ने यद्यपि बाण को पितृ-पितामह द्वारा अर्जित वैभव एवं अविच्छिन्न विद्या से वंचित कर दिया, तथापि बाण ने अपने उसी भ्रमणशील जीवन में, जब उसकी प्रत्येक कर्मचारी से मिलता और वहां के उदार व्यवहारों से परिचित होता। दूसरा स्रोत उस समय के गुरूकुल थे, वहां जा-जाकर अध्ययन-अध्यापन की विधियों को उसने खूब समझ लिय। तीसरा स्रोत गुणी जनों की गोष्ठियां मिलीं, जिनमें उसने अनमोल बातें सुनी। चौथा स्रोत सूझ-बूझ वाले विद्ग्ध जनों की मंडलियां थी, उसने उनमें भीतर घुस कर थाह ली। इस प्रकार वह अपने जीवन की अल्हड़पन और घुमक्कड़ी प्रवृत्ति से अपनी आंखों देखें हुए लोकजीवन का चौचाक अनुभव पाकर अपने घर वापस आया। तब उसके अन्दर जो पुश्तैनी प्रतिभा थी वह चमक उठी।

बाण स्वभावत: अपने भाई-बन्धुओं में हिल-मिल जाता था। उसे अपने लोगों के बीच मोक्ष का आनन्द मिलता था। वह सम्राट् के पास से भी उस आनन्द के लिए चला जाता था। अपनी इस प्रकृति से बाण बहुत अधिक जनप्रिय हो गया था। उसमें नम्रता भी खूब थी। अपने बड़ों के सामने झुक जाता था। उसने अपने आरम्भिक जीवन की समस्त बुराईयों को जड़ से खोद कर निकाल दिया और अनुभवी होने के बाद स्वयं अपना निर्माण किया। यद्यपि बाण ने कदाम्बरी में भर्वु या भर्त्सु नामक अपने गुरू का उल्लेख किया है, तथापि यह नहीं विदित होता कि बाण के जीवन के निर्माण में भर्वुशर्मा का कितना हाथ था। बाण के व्यक्तित्व में दो बातें बड़े महत्त्व की थीं, एक तो वह जन्म से ही स्वभावगम्भीर अर्थात् विस्तृत मेधाशक्ति वाला था, दूसरे वह प्रत्येक वस्तु की जानकारी प्राप्त करने के लिए सदा उत्सुक रहता था। इन दोनों बातों से बाण को मार्गस्थ होने में बड़ी सहायता मिली।

बाण के व्यक्तित्व की और विशेषता है, वह है उसका स्वभिमान। वह जितना विनम्र था उतना ही स्वाभिमानी भी। वह किसी की परवाह नहीं करता था। उसे क्या पड़ी थी कि वह राजकुल में प्रवेश पाकर सेवा में हाजिरी बजाता और सेवकों जैसी चापलूसी करता! जब हर्ष के भाई कृष्ण ने अपने दूत द्वारा संदेश भेजा कि बिना समय गंवाए राजकुल में पधारें तो बाण बहुत सोच में पड़ गया। कृष्ण के दूत ने संदेश में यह भी कहा कि सेवा में झंझट सोच कर उदासीन न होना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि बाण के स्वाभिमानी व्यक्तित्व से कृष्ण खूब परिचित थे। उन्हें डर था कि बाण कहीं सम्राट् के पास आना अस्वीकार न कर दें। बाण से डाह करने वालों

ने उसकी आरम्भिक चाल-चलन की बात लेकर सम्राट् के कान भर दिये थे, जिसका परिमार्जन बड़े प्रयत्न से कृष्ण [illegible] बाण अपने अकारणबन्धु कृष्ण का संदेश सुनकर बहुत सोच में पड़ गए। राजसेवा उन्हें कष्टप्रद लगती थी। राजदरबार में बहुत [illegible] नज़र आते थे। न उनके पुरूषों ने किसी की इस तरफ रूचि रही, न उनके ही मन में ऐसी बात थी कि वे राजकुल में [illegible] बुद्धि-सम्बन्धी विषयों का आदान-प्रदान करें। न विद्वानों की गोष्ठियों में बैठने की विलक्षण चतुराई ही उनके पास थी। चापलूसों से भी उन्हें बड़ी चिढ़ थी। ऐसी स्थिति में भी उन्होंने जाने का निश्चय कर दिया। स्वाभिमान उन्हें रोकता था, परन्तु जब यह ध्यान में आता कि सम्राट् मुझको कुछ ऐसा-वैसा समझ गए है तो उनका स्वाभिमान उनको चलने के लिए प्रेरित करने लगा। स्वाभिमानी व्यक्ति को यह कैसे सह्य होता कि दूसरा उसे हीन दृष्टि से देखे, जब कि वह हीन नहीं। अपनी अहीनता का सम्यज्ञान होने पर भी बाण में अहङ्कार का लेश भी न था। उन्हीं के निर्देश से पता चलता है कि वे रूप सम्पन्न थे, पर उनके मन में सुन्दर रूप से मिलने वाले आदर की इच्छा न थी। उनमें प्रगाढ़ शास्त्रीय ज्ञान था लेकिन बुद्धि-सम्बन्धी विषयों पर लड़ाई-झगड़े के लिए दिखावा करना वाना वह सर्वथा व्यर्थ समझते थे।

जब सम्राट् ने प्रथम बार बाण को देखकर हंसते हुए 'महानयं भुजङ्गः' कह डाला तो बाण अपनी स्वतंत्र प्रकृति और स्वाभिमान से संवलित ब्रह्मतेज का संवरण न कर सके। थोड़ी देर तक चुप रह कर उन्होंने पूछ ही डाला-'कामे भुजङ्गता?' बाण का व्यक्तित्व इस प्रकरण में जितना स्पष्ट खुल सकता है उतना अन्यत्र नही। उस समय बाण को यह सुध-बुध न थी कि वे महाराजाधिराज हर्षवर्धन के सामने खड़े हैं। उनका स्वाभिमान तत्काल प्रज्वलित हो उठा। जब कि बाण में अब कोई भुजङ्गपना न रह गया था तब भी उनके कान भर देने से केवल ऐसी निराधार कल्पना कर देना कहां तक उचित था। उसने हर्ष से स्पष्ट यह कह दिया कि आप नेत्र की तरह बोलते हैं अर्थात् आपकी बुद्धि दुसरों पर निर्भर करती है। आप मुझे साधारण व्यक्ति मत समझिये। मैंने वात्स्यायन ब्राह्मण के कुल में जन्म लिया है। सांगवेद का स्वाध्यय और अनेक शास्त्र भी सुने हैं। विवाह हो जाने के बाद नियमित गृहस्थ हूं। इससे यह पता चलता है कि बाण उस समय तक विवाहित हो गए थे और तभी से उनके जीवन में स्थिरता आई। यौवन के आरम्भ में अवश्य ही मुझ में कुछ चपलताएं थीं, इसमें मैं इनकार न करूंगा, किन्तु वे ऐसी थीं जिनका इस लोक या उस लोक में विरोध न हो।' बाण की इस वाणी में सचमुच उनका ब्रह्मतेज निखर उठा हे। फिर बात बाण अपनी नम्रता का अवलम्बन ले लेते हैं। बाण ने अपने राग को खूब पहचाना था। वे अपनी कमजोरियों को अच्छी तरह समझ गए थे और उन्हें हटाने का प्रयत्न भी करते थे। जैसा कि उन्होंने स्कन्धावार में दरबार से लौटाने पर सोचा था मुझे धिक्कार है यदि मैं अपने दोषों के प्रति अन्धा होकर केवल अनादर ही का अनुभव करके इस गुणी सम्राट् के प्रति कुछ और सोचने लगूं। अवश्य ही मैं वह करूंगा जिससे यह कुछ समय बाद मुझे ठीक जान लें।

पुष्यभूति और भैरवाचार्य- पुष्यभूति ही हर्ष के वर्धनवंश के आदि संस्थापक थे। वे शिव के अनन्य उपासक थे। उनके प्रभाव से घर-घर में शिव की पूजा होती थी। राजा पुष्यभूति बोतल-साधना भी करते थे। इस कार्य में उनका सहायक भैरवाचार्य नामक दाक्षिणत्य महाशैव था। भैरवाचार्य से मिलने का वृत्तान्त यह है कि एक दिन उस राजा के पास एक परिव्राट् आया। वह भैरवाचार्य का मुख्य शिष्य था। राजा के पूछने पर कि 'भैरवाचार्य कहां है?' इस शिष्य ने 'सरस्वती के किनारे शून्यायतन में ठहरे हैं' यह कह कर पांच-चांदी के कमल भैरवाचार्य की ओर से अर्पित किए। दूसरे दिन पुष्यभूति ने पुराने देवी के मन्दिर के उत्तर बिल्ववाटक में आसन लगाए भैरवाचार्य को साक्षात् शिव की तरह देखा। भैरवाचार्य से राजा की मित्रता हो गई। भैरवाचार्य के शिष्य ने ब्रह्मराक्षस के हाथ से छीन कर लाई अट्टहास नामक तलवार राजा को अर्पित की। राजा ने भैरवाचार्य की बोतल साधना में बड़ी सहायता दी। फलतः श्रीकंठ नाग को हरा कर उसने लक्ष्मी को प्रसन्न किया। प्रसन्न लक्ष्मी द्वारा वर मांगने के लिए प्रेरित किए जाने पर पुष्यभूति ने अपने प्रिय सुहृद् भैरवाचार्य की सिद्धि के लिए ही वर मांगा। इससे पुष्यभूति की निःस्वार्थरता व्यक्त होती है। लक्ष्मी ने वर देकर राजा की शिव-भट्टारक के प्रति अनन्य भक्ति देखकर वरदान में यह भी कहा-'तुम महान् राजवंश के संस्थापक होंगे जिसमें हरिशचन्द्र के समान सर्वद्वीपों का भोक्ता हर्ष नाम का चक्रवर्ती जन्म लेगा।' भैरवाचार्य विद्याधर के शरीर को प्राप्त हुआ। उसने राजा का बहुत बड़ा उपकार माना। इस प्रकार पुष्यभूति के रूप में एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया गया है जो परोपकार में ही जीवन को लगा देता है और स्वप्न में भी स्वार्थ का चिन्तन नहीं करता।

प्रभाकरवर्धन और यशोवती-पुष्यभूति के वंश में प्रभाकरवर्धन बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने सिन्ध, गान्धार, गुर्जर, लाट, मालव [illegible] पर विजय प्राप्त की थी।

हूणरूपी हिरन के लिए यह केसरी था। इस प्रकार वह स्थाण्वीश्वर के छोटे से राज्य को बढ़ा कर महाराजाधिराज की पदवी से विभूषित हुआ। इसी कारण उसका दूसरा नाम प्रतापशील था। प्रभाकरवर्धन अत्यन्त पराक्रमी होते हुए भी दयावान् था। उसने मालवा के राजा

के मारे जाने पर उसके अनाथ कुमारों के साथ मृदु व्यवहार किया। वह सूर्य का भक्त था। उसकी रानी यशोवती थी। हर्षचरित में यशोवती के चरित्र का चित्रण एक भारतीय पतिव्रता के रूप में हुआ है। रानी यशोवती के गर्भ से ही राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री ने जन्म लिया। प्रभाकरवर्धन ने राज्यश्री का विवाह बड़ी धूम-धाम से मौखरिवंशज अवन्तिवर्मा के ज्येष्ठ पुत्र ग्रहवर्मा के साथ किया। राजा प्रभाकारवर्धन ने अपने योग्य पुत्र राज्यवर्धन को हूणों से युद्ध करने के लिए भेजा। उसके पीछे-पीछे १४-१५ वर्ष की आयु वाला हर्ष भी कुछ पड़ावों तक गया, पर वह शिकार देखने की रूचि से हिमालय की तराइयों में रूक गया। अचानक पिता की बिमारी का समाचार पाकर हर्ष वहां से लौट आया। हर्ष के आने पर पति के मरने के पूर्ण ही यशोवती ने अग्नि में प्रवेश कर भारतीय नारी आदर्श का उज्जवल चित्र. प्रस्तुत किया। बाद में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हुई।

राज्यवर्धन-एक आज्ञाकारी पुत्र, स्नेहशील भाई और शूर योद्धा के रूप में राज्यवर्धन का चित्रण किया गया है। वह पिता की आज्ञा पाते ही हूणों के साथ युद्ध करने के लिये चला जाता है। बालक हर्ष भी कुछ पड़ावों तक उसके साथ चलता है, पर हिमालय की तराइयों में आखेट के लिये रूक जाता है। जब तक राज्यवर्धन परदेश से नहीं लोटा था, इसी बीच प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो गई और माता यशोवती भी न रही। हर्ष ने राज्यवर्धन के पास खबर पहुंचा दी। इधर हर्ष के मन में बड़ी भारी चिन्ता होने लगी कि पिताजी का समाचार सुनकर बड़े भैया (आर्य) भी कही बुद्ध की तरह आचारण न कर बैठें। कहीं राज्यवर्धन आश्रम में प्रविष्ट न हो जायें। कहीं वह पुरूष-सिंह किसी गुफा में न चला जाय। अनाथ पृथिवी को देखकर कहीं निरन्तर अश्रुधारा प्रवाहित न करने लगें। प्रथम बार इस आपत्ति से विह्वल होकर आत्मचिन्तन में न लग जायें। संसार को अनित्य समझकर पास आती हुई राज्यलक्ष्मी से विरक्त न हो जायें। कही दु:खज्वाला का शमन करने के लिये जल में न डूब जायें। यहां लौटने पर राजाओं के कहने पर पराङ्मुख न हो जायें। इस प्रकार हर्ष अपने मन में कल्पना करते हुए राज्यवर्धन की बाट देखते रहे। भ्रातृप्रेम से अभिभूत हर्ष के मन के ये भाव राज्यवर्धन के शम प्रधान व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं। लगता है कि राज्यवर्धन आरम्भ से ही भगवान् बुद्ध के धर्म से आस्थावान् था। जैसा कि एक ताम्रपात्र के अनुसार उसे परम सौगत भी कहा गया है। हर्ष को भी उपुर्यक्त चिन्ता में भी राज्यवर्धन से विरक्त होने के पश्चात् बुद्ध के जीवन की झलक मिलती है। हर्ष को यह सन्देह था कि बुद्ध के समान वे भी कहीं न चले जाये।

पितृ-शोक में अभिभूत होकर राज्यवर्धन जब लौटा तब यही घटना घटी। हर्ष से उसने कहा-'तुम राज्यभार ग्रहण करो, मैंने आज शस्त्र छोड़ा।' और तलवार हाथ से फेंक दी। राज्यवर्धन के कथन में उसकी नि:स्पृहता पितृप्रेम, भ्रातप्रेम आदि समस्त सद्वृत्तियों एक साथ उमड़ पड़ी है। इसी अवसर पर एक विचित्र घटना घटी। एक परिचायक ने आकर खबर दी कि सम्राट् के मरने की खबर सुनकर दुरात्मा मालवराज ने ग्रहवर्मा को जान से मार डाला और राज्यश्री को कान्यकुब्ज के कारावास में डाल दिया। इस समाचार से तत्काल राज्यवर्धन का शोक जाता रहा, उसके स्थान पर क्रोध प्रतिष्ठित हो गया। उसने हर्ष से कहा-'तुम राज्य संभालों, मैं मालवराज के कुल का नाश करने चला।' हर्ष ने जब यह कहा कि 'आर्य के प्रसाद से पहले भी मैं वञ्चित न रहा। कृपा कर मुझे भी साथ ले चलें।' तो राज्यवर्धन ने कहा-'तुम ठहरो, मुझे अकेले ही शत्रु का नाश करने दो।' यह कहकर उसने उसी दिन शत्रु पर धावा बोल दिया।

राज्यवर्धन मालवराज की सेना को खेल ही खेल में जीत लेने पर भी गौड़धिप के कुचक्र से मारा जाता है। हर्ष के हृदय में हर्षवर्धन के प्रति अपार स्नेह था। उसने उसके मारे जाने का समाचार सुनकर उसकी चरण-रज का स्पर्श करके प्रतिज्ञा की-'कुछ ही दिनों में यदि गौड़धिप को न मार डालूं तो स्वयं जल कर भस्म हो जाऊँगा।' हर्ष चरित में राज्यवर्धन का व्यक्तित्व सर्वथा अकलुषित और स्नेह तथा पराक्रममय देखने में आता है।

हर्षवर्धन-कहा जा चुका है कि 'वर्धनवंश' के आदि संस्थापक राजा पुष्पभूति को लक्ष्मी ने प्रसन्न होकर वरदान दिया था-'तुम्हारे वंश में हरिशचन्द्र के समान समस्त द्वीपों का भोक्ता हर्ष नाम का चक्रवर्ती जन्म लेगा।' इसलिए यह स्वाभाविक था कि हर्ष के समस्त गुण जन्मजात थे। जैसा कि बाण ने हर्ष के यशोवती के गर्भ में आते ही रानी का वर्णन करते हुए लिखा है-उसके मन में यह दोहद इच्छा हुई कि चार समुद्रों का जल एक में मिलकर स्नान करूं और समुद्र के बेला-कुञ्जों में भ्रमण करूं। नंगी तलवार के पानी में मुंह देखने की, बीण अलग हटा कर धनुष की टंकार सुनने की और पंजर-बद्ध केसरियों के देखने की इच्छा हुई। इस प्रकार हर्ष जन्म से ही एक महापुरूष था। किसी ब्राह्मण ने ज्योतिष के अनुसार हर्ष के जन्म के साथ भविष्यवाणी भी कर दी थी। हर्ष में शैशव काल से ही अपूर्व रणोत्साह और साहस का आभास मिलने लगा था। जब पिता ने अपने सुयोग्य पुत्र राज्यवर्धन को हूणों से भिड़न्त के लिए भेजा, तो १४-१५ वर्ष की अवस्था वाले हर्ष भी बड़े भाई के साथ चलने के उत्साह का संवरण न कर सके। कुछ पड़ावों के बाद ही हर्ष का मन आखेट में लग गया तो वे आगे न जाकर हिमालय की तराइयों में शिकार करने लगे। यहां से हर्ष के जीवन का आकस्मिक परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। उन्हें पिता की बिमारी की खबर मिलती है। वे शीघ्र ही दौड़ पड़े; मार्ग में कुछ भी नहीं खाया-पिया। इससे उनका अनन्य पितृ प्रेम व्यक्त होता है।

राजद्वार पर पहुंचते ही उन्होंने उद्विग्न होकर सुषेण नामक वैद्यकुमार से पिता की हालत पूछी। सुषेण ने कोई आशाजनक बात न कहा तो घबड़ाए हुए पिता के पास पहुंचे। उन्होंने उन्हें रूग्णावस्था में देखा। प्रभाकरवर्धन ने हर्ष को देखकर उठने की चेष्टा की परन्तु बड़ी कठिनता से यह कहा-'हे वत्स, दुबले जान पड़ते हो।' तब भंडि ने कहा कि हर्ष को भोजन किए हुए तीन दिन का चुके हैं यह सुनकर पिता ने गद्गद कंठ से कहा-'तुम्हारे आहार के बाद ही मैं पथ्य लूंगा।' पति का पुत्र के प्रति स्नेह स्वाभाविक है, पर यह स्वाभाविकता की सीमा पर यह स्नेह पहुंच गया है। गुणवान् पुत्र के प्रति पिता का इससे बढ़कर क्या भाव हो सकता है। हर्ष की गुणग्राहिता भी असामान्य थी। जब उन्होंने सुना कि रसायन नामक वैद्यकुमार ने समाट् के भक्ति और स्नेह से आग में कूद कर जान दे दी, तो उनकी प्रतिक्रिया यह हुई कि उसने कुल-पुत्रता धर्म को चमका दिया। स्वयं बाण ने अपना विशिष्ट परिचय दिया तब हर्ष ने कहा था कि मैंने भी ऐसा ही सुना है। तब बाण ने एकान्त में हर्ष की उदारता एवं गुणग्राहिता की प्रशंसा की है। अस्तु, इसी बीच जब प्रभाकरवर्धन मृत्युशय्या पर अन्तिम सांस तोड़ने ही वाले थे तब हर्ष के जीवन की दूसरी मार्मिक घटना माता यशोवती के सती हो जाने की तैयारी सुनकर हुई। किसी प्रकार वे मां को उनके निर्णय से विचलित न कर सके। तत्पश्चात् पिता भी दिवंगत हो गए हैं। इन उद्वेजक घटनाओं से हर्ष अत्यन्त शोकमग्न अवस्था में पड़ गए। अनेक कुलपुत्र, गुरू, वृद्ध ब्राह्मण, मूर्धाभिषिक्त अमात्य मस्करी, मुनि, वेदान्ती तथा पौराणिक लोगों ने हर्ष के शोक को उदाहरणों और दृष्टान्तों द्वारा कम किया। तब हर्ष के मन में राज्यवर्धन के विषय में अनेक विचार आने लगे। कहीं बड़े भाई पिता के मरण का घातक समाचार सुनकर बुद्ध की तरह आश्रम में न प्रविष्ट हो जायें! हर्ष की यह भावना राज्यवर्धन के प्रति अपार भातृ-प्रेम और हृदय की पवित्रता को व्यंजित करने वाला है। सचमुच इस प्रकार की आन्तारिक वृत्ति के कारण महानता की दृष्टि से हर्ष एक उच्च आदर्श का रूप धारण कर लेते हैं।

जैसा हर्ष ने राज्यवर्धन के विषय में मन में सोचा था, शोक से भरे हुए राज्यवर्धन ने आकर यही सोचा और अपनी तलवार फेंक दी। राज्यवर्धन के इस विचार से हर्ष का हृदय विदीर्ण हो गया। उन्होंने अपने आप में ही कोई ऐसा दोष अनुभव किया जिसके कारण राज्यवर्धन ने यह निश्चय कर डाला। हर्ष के उस विदीर्ण हृदय में कितनी पवित्रता और विशालता थी। इसी बीच एक घटना और घटती है। मालवराज द्वारा ग्रहवर्मा की मृत्यु और राज्यश्री के कारागार में बन्द होने की खबर तत्काल मिली। सुनते ही राज्यवर्धन का दिमाग जाता रहा, वे आगबबूला हो गए। हर्ष को राज्यभार सम्हालने के लिए कहा और स्वयं फिर हाथ में कृपाण उठा लिया। पहले तो हर्ष के साथ जाने के लिए आग्रह किया। हर्ष के पराक्रम से परिचित थे, उन्होंने कहा-'सारी पृथिवी को जीतने के लिए मान्धाता की तरह तुम धनुष उठाओगे, तो तुम ठहरो। मुझे अकेले ही शत्रु का नाश करने दो।' यह कहकर उन्होंने प्रस्थान किया। जब हर्ष को यह घटना यह सुन पड़ी कि एक मालवराज को खेल-खेल में पराजित कर लेने पर भी राज्यवर्धन को धोखे से गौड़ाधिप ने मार डाला तो उनकी क्रोधाग्नि फूट पड़ी। तब हर्ष ने यह प्रतिज्ञा की-'यदि कुछ ही दिनों में इस पृथिवी को गौडरहित न बना दूं और समस्त राजाओं के पैरों में बेड़ियां न तो घी से धधकती हुई आग में पंतगों की तरह अपने शरीर को जला दूंगा।' हर्ष की इस प्रतिज्ञा से उसका समस्त ओज प्रदीप्त हो उठा है। युद्ध की तैयारियों होने लगी। कुछ दिन बाद प्राग्ज्योतिषेश्वर कुमार ने हंसवेग के साथ एक दूत और अनेक उपहार भेजे। हर्ष के हृदय में प्रत्युपकार की भावना का यह कितना सुन्दर प्रसङ्ग है। जब एकान्त में बैठे-बैठे उन्होंने यह सोचा-'आमरण मैत्री के अतिरिक्त इस प्रकार के सुन्दर उपहार का बदला और क्या हो सकता है?' भण्डि ने आकर राज्यश्री के विन्ध्याटवी में भाग जाने की खबर दी, तो हर्ष स्वयं सब काम छोड़ कर उसे खोजने निकल पड़े। बीच में शबर युवक निवास के माध्यम से दिवाकरमित्र नामक एक बौद्ध भिक्षु से भेंट होती है। दिवाकरमित्र के एक शिष्य ने हर्ष को राज्यश्री का पता बताया। अन्त में राज्यश्री मिल जाती है।

इस प्रकार हर्ष का व्यक्तित्व आदि से अन्त तक निर्भीक और साहसी, कर्त्तव्यपरायण और स्नेहमय मिलता है। बाण ने सम्राट् हर्ष के जीवन का बहुत नजदीक से अध्ययन किया था। बाण की लेखनी के स्पर्श में हर्ष के व्यक्तित्व की जो परिस्फूर्ति हर्षचरित में दिखाई देता है वह अपूर्व है। यह कहना कठिन है कि बाण की लेखनी ने हर्ष का यह भावना प्राप्त की अथवा हर्ष का व्यक्तित्व ही बाण की लेखनी के स्पर्श से समृद्ध हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि हर्ष की यह भावना भी अभिलक्षित होती है कि उसने राज्यविस्तार में साम्प्रदायिक तथा धार्मिक वातावरण को भी एक सन्तुलित रूप दिया था। हर्ष किसी एक धर्म और सम्प्रदाय का पक्षपाती न था। उसके मन में सबके प्रति समान आदरभाव था। बाण ने एक तटस्थ दर्शक के रूप में ही उसके व्यक्तित्व का चित्रण किया है। अंध प्रंशसा का पुल बांधना बाण जैसे स्वाभिमानी के लिए कहां तक सम्भव था।

हर्ष के व्यक्तित्व की यह प्रसंगत: सामान्य चर्चा है। ग्रन्थ के आद्योपान्त अवलोकन से ही पाठक उसकी विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे। बाण की चित्रग्राहिणी प्रतिभा में हर्ष के व्यक्तित्व का चित्र ऐसी स्वाभाविकता से अलिखित है कि देखते ही बनता है।

राज्यश्री-यह हर्ष की छोटी बहन थी। यह नृत्यु, गीत आदि कलाओं से प्रवीण थी। प्रभाकरवर्धन ने धूमधाम से ग्रहवर्मा के साथ

उसका विवाह किया। पिता के मरते ही राज्यश्री पर भी दुर्भाग्य के बदल उमड़ आए। मालवराज ने ग्रहवर्मा को जान से मार दिया और उसे कान्यकुब्ज के कारागार में बन्द कर रखा। वह किसी तरह बन्धन से छूट परिवार के साथ विंध्याचल के जंगल में चली गई। जब वह अग्निप्रवेश करने के लिए तैयार थी, तब हर्ष उसे ढूंढते हुए पहुंच गए। इस अवस्था में सहसा भाई को पाकर वह विलाप करने लगी। हर्ष ने रोते हुए कहा-'अब धीरज धरो, अपने को सम्हालो।' राज्यश्री पर इस समय दु:ख का पहाड़ टूट पड़ा था, हर्ष ने मृत्यु के मुख से खींच कर उसे दबा लिया। वह अपने सतीत्व की रक्षा के लिए शत्रु के कारावास से भी भाग निकली। भारतीय नारी का यह उच्च आदर्श राज्यश्री में एकान्तत: प्रस्फुरित होता है। बौद्धभिक्षु आचार्य दिवाकरमित्र के सामने राज्यश्री ने हर्ष से विनयपूर्वक कषाय वस्त्र धारण की अनुज्ञा मांगी। एक विधवा के तपस्वी जीवन के लिए आत्मसंयम के अतिरिक्त और दूसरा क्या कर्त्तव्य रह जाता है। हर्ष ने भाई के वध का बदला लेने की जो प्रतिज्ञा की थी उसे सुनकर तत्काल राज्यश्री को ऐसा न करने के लिए कहा। उन्होंने भिक्षु दिवाकरमित्र से कह दिया कि प्रतीक्षा पूरी होने पर मैं और यह एक साथ कषाय ग्रहण करेंगे। तब राज्यश्री ने भाई की बात पर आग्रह नहीं किया।

इस प्रकार इन प्रमुख पात्रों की चर्चा के साथ ही हर्षचरित का कथानक भी बहुत अंश में सामने आ जाता है।

कादम्बरी

महाकवि बाणभट्ट की दूसरी 'अतिद्वयी' रचना कादम्बरी है। यह एक कथा है। आधुनिक परिभाषा में कथा को ही उपन्यास कहते हैं। यद्यपि कथा और उपन्यास में बहुत अन्तर है, तथापि काल्पनिकता का सम्बन्ध दोनों में एक-सा अभिलक्षित होता है। आधुनिक उपन्यास कथा का विकसित रूप है और कथा उपन्यास का पूर्वरूप। कादम्बरी संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट गद्य-रचना है और बाण की अमर कृति है। 'हर्ष चरित इस पृथिवी लोक की तथ्यात्मक आख्यायिका है पर कादम्बरी दिव्य-लोक को भूतल पर लाने वाली काव्य-कल्पना है।' यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि बाण हर्षचरित की अपेक्षा कादम्बरी में अधिक सफल हुए है। कादम्बरी की कथा के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि यह गुणाढ्यकृत की बृहत्कथा से ली गई है। उसके संस्कृत अनुवाद के रूप में क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी और सोमदेवकृत कथासरित्सागर में कादम्बरी कथा का मूल रूप सुरक्षित है। भारतीय प्राचीन साहित्य में उपजीव्य तीन ग्रन्थ विशेष रूप से रहे हैं-रामायण, महाभारत और बृहत्कथा। अत: सम्भव है कि बाण ने अपनी कथा का मूल घटनाऐं बृहत्कथा से ली हों, किन्तु यह निर्विवाद है कि उन्होंने अपनी प्रतिभा से उसे एक सर्वथा नवीन और मौलिक रूप दे दिया है।

कादम्बरी की कथा संक्षेप में इस प्रकार है-'विदिशा के राजा शूद्रक के समीप एक चाण्डालकन्या पंजरबद्ध आश्चर्यकारी शुक को उनकी सेवा में अर्पित करती है। यह शुक अपने जन्म से लेकर महर्षि जाबलि के आश्रम में पहुंचने तक का वृतान्त सुनाता है। महर्षि जाबलि शुक के पूर्वजन्म की कथा सुनाते है।- उज्जयीनि के राजा तारापीण्ड थे। उनकी रानी विलासवती थी। उनके गुणवान् महामन्त्री शुकनास थे। बड़ी प्रतीक्षा के बाद राजा को एक पुत्र होता है। उसी समय शुकनास की पत्नी मानोरमा के गर्भ से भी पुत्र होता है। राजा के पुत्र का नाम चन्द्रापीड़ और शुकनास के पुत्र का नाम वक्शसम्पायन। दोनों ने एक साथ गूरूकुल में अध्ययन किया। दोनों दिग्विजय के लिए सेना लेकर निकल पड़े। राजकुमार चन्द्रपीड़ एक बार किन्नर-मिथुन का पीछा करते हुए बहुत दुर अच्छोद नामक सरोवर के समीप पहुंच गए। वहां महाश्वेता नामक एक तपस्विनी गन्धर्वकन्या मिलती है। पूछने पर अवगत हुआ कि उसका अभीप्सित प्रिय पुण्डरीक मिलने के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। प्रिय के भावी मिलन की आशा में वह अच्छोद सरोवर के किनारे रहने लगी थी। उसकी सखर कादम्बरी ने भी कौमार्यव्रत धारण किया था। वह चन्द्रापीड़ को कादम्बरी के पास ले जाते हैं। चन्द्रापीड़ फिर लौट कर अपने स्थान पर आते हैं। वहां से पिता का पात्र पाकर अकेले घर आ जाते है। घर से फिर स्कन्धावार पहुंच कर वैश्म्पायन को वहां न देख दौड़-दौड़ महाश्वेता ने जब यह कहा कि मुझसे अपने प्रणयचायना की तो मैंने उसको शुक बना दिया, तो इस प्रकार अपने सुहद की आपत्ति से चन्द्रापीड़ के प्राण निकल जाते है। वहां कादम्बरी भी पहुंचकर चन्द्रपीड़ के पुन: मिलन की आशा से उनके शवशरीर की सेवा करती है। यहां जाबलि की कथा समाप्त हो जाती है।

तब शुक ने शुद्रक से कहा कि मैं जाबलि के आश्रम से महा श्वेता के लिए उड़ चला तो बीच में ही में चाण्डलकन्यका ने पकड़ कर मुझे आप के समीप ला दिया। तब चाण्डाल-कन्यका ने कहा कि मैं लक्ष्मी हूं, यह शुक पुण्डरीक है और आप चन्द्रापीड है। शूद्रक को कादम्बरी का प्रेम स्मृत हो उठा। उनके प्राण निकल गए और उधर चन्द्रापीड़ जीवित हो गए। शुक की आत्मा भी पुण्डरीक के मृत शरीर में आकर पुन: तभि मिल गई। जो चन्द्रलोक में सुरक्षित था। तत्पश्चात् महाश्वेता और पुण्डरीक, कादम्बरी और चन्द्रापीड़ सब एकत्र हो गए और विवाहित होकर सुख-पूर्वक रहने लगे।

इस प्रकार कादम्बरी अनेक अप्राकृतिक घटनाओं से भरी होने पर भी कुतूह उत्पन्न करने से अपूर्व है। उत्सुकता तो साथ के आरम्भ

में चाण्डलकान्यका द्वारा शूद्रक की सभा में वैशम्पायन शूक पके लिए लाए जाने से ही लेकर आरम्भ हो जाती और पाठक को बरबस आगे बढ़पे के लिए बाध्य होना पड़ता है। कथा की प्रधान नायिका कादम्बरी बड़ी लम्बी-चढ़ान के बाद मिलती है। अनेक उपकथाएं भी साथ-साथ चल पड़ती है जो कथा के सूत्र में पुष्टि लाने का काम करती हैं। महाश्वेता की प्रणयकथा कादम्बरी की प्रणयकथा के अन्तर्मुक्त होने पर भी अपना अस्तित्व अलग रखती है। कादम्बरी एक मुग्धा नायिका है जो सिर्फ प्रणय करना जानती है, महाश्वेता तपी हुई वनिता है जो प्रणय के सच्चे मार्ग पर कादम्बरी को प्रतिष्ठित करने में सहायक होती है। आरम्भ में उसका वासना-जनित प्रेम भी आगे चलकर विरह-तप्त होकर महाश्वेता के प्रणय के समान ही पवित्र बन गया। आरम्भ से अन्त तक कादम्बरी कथा अनेक प्रकार की विविधपूर्ण घटनाओं से भरी होने के कारण कवि के वस्तुविन्यास-कौशल का परिचय देती है।

बाण के चरित्र की अपनी विशेषता है। जैसा कि हम हर्षचरित में देख चुके हैं, उसी प्रकार कादम्बरी के सभी पात्र सजीव बन पड़े हैं। नवयुवक चन्द्रापीड़ जो अपनी सौम्यता में, महाराज तारापीड़ जो अपनी उदारता में, और आदर्श महामन्त्री शुकनास जो अपनी गाम्भीर्य प्रवीणता में, रानी विलासवती जो अपनी सुकुमारता में, छाया की भांति चन्द्रापीड का अनुसरण करने वाली पत्रलेखा अपनी तत्परता में कठोर कापिंजल अपनी स्नेहमयता में कादम्बरी के जीते-जागते पात्र हैं जो पाठक के मन पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। कादम्बरी के चित्रण में बाण ने भावों के सम्बन्ध में अपनी मार्मिक निरीक्षण प्रतिभा का अपूर्व परिचय दिया है। कादम्बरी के समस्त भाव हृदय और समीक्षक पाठक के लिए अलग से अध्ययन के विषय हैं। बाण के मौलिक कवित्व का साक्षात्कार इन्हीं विषयों में होता है।

वर्णन-वैचित्र्य

कल्पनाओं का अतिरिक्त हो जाना बाण जैसे कल्पनाशील मन वाले भावुकहृदय कवि के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह दृष्टि में आती है कि बाण ने अपनी बहुमुखी जीवन के अनुभवों को समेट कर पद-पद में अनुस्यूत कर दिया है। हर्षचरित में बाण की दृष्टि के सामने उनके जो अनुभव थे, कादम्बरी में वे ही बिल्कुल उनके तरल मानस से अन्तर्लीन होकर कुछ विलक्षण रूप में प्रस्फुरित होते हैं। जैसे कोई चित्रकार किसी प्रपात के मनोहर दृश्य के सामने बैठ कर उसका रेखाचित्र बना लेता है और घर पर जाकर आंखों के मार्ग से मन में उतारे हुए उस हृदय के समस्त छविमय आकार का विविध प्रकार के रंगों में अभिव्यंजित करता है, ठीक उसी प्रकार बाण ने अभ्यास के लिए अनुभव के विविध रूपों का एक खाका तैयार कर लिया था हर्षचरित के रूप में सहृदय जनों के सामने हैं। फिर वे ही अनुभव नये-नये रंगरूप में अलौकिकता के साथ कादम्बरी के रंग में भीन गए हैं। यही कारण है कि कवि की सफलता हर्ष चरित की अपेक्षा कादम्बरी में अधिक समझी जाती है। प्रतीहारी का सेनापति सिंहनाद का उपदेश है उसकी कोटि में कादम्बरी का शुकनासोदेश कितना विस्तृत और पूर्ण बन गया है। ऐसा लगता है कि महर्षि व्यास ने महाभारत के अतिरिक्त प्रकरण में गीता को उपनिबद्ध कर दिया है वैसे ही महाकवि बाण ने शुकनासोपदेश के नाम से एक अतिरिक्त रचना ही कादम्बरी में उपनिबद्ध कर दी हो।

कादम्बरी शताधिक वर्णनों का अद्भुत संग्रह है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में कादम्बरी में बाण का हाथ खूब मृद्वीकापाक हुआ है। बाण की चित्रग्राहिणी प्रतिभा वर्णनों में वर्णनातीत सफल हुई है। कादम्बरी में बाण ने नदी वन, सूर्य, चन्द्र, नगर, सायं-प्रात:, चन्द्रोदय, धूलिपटल, राजकुल, इन्द्रायुध, अस्त्र आदि के वर्णनों में बड़ी दूरदार्शिता से काम लिया है। चन्द्रोदय वर्णन में उसके सौंदर्य की सूक्ष्मतम कल्पना में बाण के अतिरिक्त कौन सफल हो सकता है? यद्यपि संस्कृत-साहित्य में वर्णनीय विषयों की कमी नहीं है, कालिदास जिस चित्र को थोड़े में ही अंकित कर सके हैं उसे बाण ने भव्य रूप देकर बड़ा बना दिया है यही कारण है कि कालिदास के पश्चात् सर्वाधिक मौलिकता बाण के अपेक्षा अन्य को नहीं मिला। बाण की दृष्टि में किसी विशेष वर्णन में पक्षपात नहीं दिखाई देता। बाण जिस सूक्ष्मता से धवलदेहकान्तिप्रतिमण्डिता महाश्वेता का वर्णन करते हैं। अपेक्षाकृत बाण के वर्णन प्रात: काल से अधिक सांयकाल के ही मिलते हैं। सम्भव है प्रात:काल की अपेक्षा सांयकाल का दृश्य ही इनको अधिक रम्य लगा हो। नगरी उज्जयिनी के वर्णन से जाबालि के शान्त और पवित्र आश्रम का वर्णन भी कम अद्भुत नहीं। कादम्बरी के सामान्य वर्णनों में भी कम आकर्षण नहीं। मानवीय सौन्दर्य का वर्णन और तद्वाची शब्दों की विकसित सामग्री भी कालिदास से कम बाण की इस रचना में मिल जाती है। इसके अतिरिक्त इन्द्रायुध अश्व के सजीव वर्णन से बाण को 'तुरङ्गबाण' की पदवी भी मिल गई है। बाण के साहित्य के प्राण 'वर्णन' ही हैं। उन्हें अलग कर देने पर कथा कुछ भी न रह जायेगी।

बाण अत्यन्त परिहास-प्रिय व्यक्ति थे। कादम्बरी के चण्डिका मन्दिर के बुड्ढे पुजारी के वर्णन में उनकी परिहासप्रियता का परिचय मिलता है। उस पुजारी के वर्णन में बाण ने खुलकर मजाक किया है। 'देवी के चरणों पर बार-बार माथा रगड़ने से उसके माथे पर निशान पड़ गया था। किसी ठगवैद्य द्वारा दिए हुए सिद्धांजन से उसकी एक आंख फूट गई थी इसलिये वह दूसरी आंख से प्रतिदिन सौ बार

अंजन लगता था जिससे लकड़ी की सलाई भी घिसकर चिकन हो गई थी। रेशम के कोये का छल्ला पैर के अगूंठे में मढ़ लेने के कारण उसकी काट से अंगूठा घायल हो गया था। पिशाच चढ़े हुए लोगों का भूत उतारने के लिए वह मंत्र पढ़कर पीली सरसों से बार-बार उन्हें मारता तो वे भी उसकी ओर लपक कर थप्पड़ मारते जिससे उसका कान दब कर चपटा हो गया था। दिन भर मच्छर की तरह भनभनाता हुआ सिर हिला कर कुछ गुनगुनाता रहता था। वह लाचार ब्रह्मचारी था, अत एव जब दूर जगहों से आकर ठहरी हुई बुड्ढी तापसियों को देखता तो ताव खा-खा कर स्त्रीवशीकरण चूर्ण का उन पर प्रयोग करता था। कभी आए हुए बटोहियों को वहां न ठहरने देने के लिए उनसे जूझ जाता और तब वे भी बिगड़ कर उसके साथ गुत्थम-गुत्था करने लगते और उसे पटककर उसकी पीठ चटका देते। रतौंधी के कारण वह दिन में ही आज्ञा लेता। उसका पेट निकला हुआ था खाने की कोई थाह न थी। फाल्गुन में जब लोगों को मस्ती चढ़ती तो वे मचियासहित किसी बूढ़ी दासी को उठा ले आते और उसके साथ ब्याह रचा कर उसकी ठठोली करते।' इस प्रकार बाण के इस बुड्ढे पुजारी को देखकर मन में रस भरे आते हैं। हास्य, वीभत्स और भयानक का जीता-जागता चित्र बाण ने यहां देकर अपनी अद्भुत कला का प्रदर्शन किया है।

कादम्बरी का एक प्रसंग बहुत आश्चर्यकारी है जहां बाण की कथानिर्माणक्षमता का अनुमान सहज ही होने लगता है। जब महाश्वेता के साथ चन्द्रापीड कादम्बरी के यहां भवन में जाकर ताम्बूल द्वारा उससे सम्मानित होते हैं। तत्पश्चात् उस समय कथा-क्रम शिथिल होता प्रतीत होता है। सबके सब चुपचाप यथास्थान बैठते हैं। कादम्बरी, चन्द्रापीड़, महाश्वेता एवं और सब उपस्थित सखी और परिजनों के लिए इस समय ऐसे हलके झोंके की आवश्यकता थी कि जिससे फिर वे अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त कर सकें। बाण ने वहां सहसा एक सारिका और परिहास नामक शुक के झगड़े का प्रसंग लाकर कथा के प्रवाह को विलक्षण युक्ति से सम्हाल लिया है। चन्द्रापीड़ ने इस प्रंसग में नर्म भाषित करके सबको प्रभावित कर लिया। वहां का वातावरण उन पर हावी न हो सका। वहां के लोगों और चन्द्रापीड़ में अपरिचयकृत दूरी हट गई और वे उन सबके ऊपर प्रभावशाली हो गए तथा परस्पर सबके निकट आ गए। इस प्रकार बाण की लेखनी कथा के वस्तु-विन्यास वर्णनों के संवर्धन एवं मानस भावों के अंकन में सर्वत्र जगरूक रहती है। वर्णनों की भरमार से कथा-प्रवाह के शिथिल प्रतीत होते हुए भी उनकी सरसता एवं चित्रमयता से पाठक को किसी प्रकार का उद्वेजन नहीं हो पाता। वह कथा के अग्रिम मोड़ से परिचित होने के लिए उत्सुक होकर भी तत्काल वर्णनों के भीतर इतना डूब जाता है कि कथा की ओर से उसका ध्यान हट जाता है। इसे बाण की अपनी विशेषता समझना चाहिए।

यह पहले कहा जा चुका है कि कादम्बरी का उत्तर भाग बाणभट्ट के सुयोग्य पुत्र की रचना है। सौभाग्य की बात है कि उत्तरभाग भी बाणरचित पूर्वभाग की तरह ही बन गया है। सम्भव था बाण कुछ और विस्तृत करके लिखते। उत्तर भाग को देखकर ऐसा लगता है कि अगर भूषणभट्ट या पुलिन्द (न्ध्र) भट्ट ने अपना नाम लिखे बिना ही कादम्बरी की पूर्ति की होती तो निश्चय ही यह किसी के लिए निर्णय कठिन हो जाता कि पूरी रचना एक हर कवि की है या नहीं। हाँ, इतना लोग अवश्य कहते हैं कि बाण अन्त में चलकर हड़बड़ा गए और कथा को शीघ्र समाप्त कर डाला। कहीं उत्तर भाग में भी पूर्व भाग के टक्कर की रचना हो गई। फिर भी बाण-पुत्र यह कहते हुए तनिक भी रूकते नहीं कि मैंने पिता की वाणी के समुद्रगामी प्रवाह में अपनी बाण की धारा मिला दी जिससे कथा समाप्ति को प्राप्त कर सके। उनका यह कथन सर्वथा सत्य है। बाण की धारा में मिल पाने से ही उनकी बाणी यह काम कर सकी, अन्यथा बाण-जैसे वर्णनशिल्पी के सामने किसी दूसरे का डट पाना कभी सम्भव न था। बाण-पुत्र में कुछ-कुछ कवित्व का जो गुण था वह उनके पिता के आशीर्वाद का ही फल था। उन्होंने कादम्बरी के सम्बन्ध में कहा है-

कादम्बरीरसभरेण समस्तु एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।
भीतोऽस्मि यन्न रसवर्णविवर्जितेन तच्छेषमात्मवचसाऽप्यनुसन्धानः।।

अर्थात् कादम्बरी (एक प्रकार की मदिरा तथा कादम्बरीकथा) के उत्तम रस को पीकर सहृदय जनों का वर्ग बिल्कुल छक कर अपनी सुध-बुध खो बैठा है। ऐसी स्थिति में रस और बाण से विहीन अपनी बाण द्वारा कादम्बरी की पूर्ति करते हुए मुझे कुछ भय नहीं, क्योंकि बेहोशी में किसी को पता न चलेगा।

बाण की दृष्टि में काव्य का स्वरूप

बाण की शैली जानने में पूर्व हमें बाण के विचार में काव्य के स्वरूप को जान लेना चाहिए। बाण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अपनी अलग दृष्टि रखते हैं, जैसा कि हर्षचरित के आरम्भ में उन्होंने समझाया है। बाण को उन कवियों की कविता पंसद न थी जो राग द्वेष में भरकर मनमाने ढंग से बकवास करते हैं। बाण के अनुसार ऐसे 'वाचाल' और 'कर्मचारी' लोग ही कुकवि हो जाते हैं। नई वस्तु उत्पन्न करने वाला ही सच्चे अर्थ में कवि कहलाने योग्य है और वही 'उत्पादक' है। बाण केवल स्वभावोक्ति के पक्षपाती न थे। प्रायः उन दिनों साहित्य में कविता के नाम पर प्रचुर मात्रा में स्वभावोक्ति किसी प्रकार भी कविता नहीं हो सकती;

क्योंकि उसमें नवीनता का सर्वथा अभाव रहता है। आगे चलकर अंलकारशास्त्र के आचार्यों ने वक्रोक्तिवाद को खड़ा करके बाण के निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण किया। स्वभावोक्ति एक अंलकारमात्र तक सीमित रह गई। वस्तु के यथार्थ रूप में कोई अलंकार के रहता, अन्यथा कविता लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं। कवि वस्तु के यथार्थ रूप को बदल डालता है और अपनी ओर से कई नई वस्तु का निर्माण करता है, यही बाण का अभिप्रेत पक्ष था। वक्रोक्ति लेने इलेप्रधान शैली को उत्पन्न किया। कालान्तर में इस का काव्य निर्माण भी चल पड़ा। यही उसकी झलक बाण के पुर्ववर्ती पूर्ववत्ती। सुबन्धु की प्रत्यक्षुरश्लेषमय रचना में सर्वत्र मिलती है। यह शैली बाण की भी पंसद थी। कादम्बरी में उन्होंने लगातार श्लेषों से भरी हुई। (निरन्तरश्लेषघना शैली का प्रयोग की है। वस्तु की भावात्मक रचना में जब तक शब्दों की मरोड़ से उत्पन्न नवत्व का साक्षात्कार नहीं मिलता तब तक कवि प्रशंसा के पात्र नहीं, सम्भवत: बाण की यही दृष्टि थी। यह भी बात नहीं कि जाति या स्वोभाक्ति शैली बाण का सर्वथा प्रतीभिमत थी उन्होंने अग्राम्या जाति की प्रंशासा की है, अर्थात् वह स्वभावोक्ति जो केवल वस्तु के यथार्थ रूप का चित्रण न होकर सुन्दरता का चित्रण हो, बाण को सर्वथा मान्य थी।

बाण कविता में समन्वय दृष्टि से पक्षपाती थी। वे एकांगी दृष्टि को कविता के लिए उपयुक्त नहीं मानत थे। इस लिए प्राय: सब पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के कवि लोग एकांगी दृष्टि से काव्य लिखते थे, जैसा कि बाण ने स्वयं निर्देश किया है

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षराडम्बरम्॥ (हर्ष०)

अर्थात् उत्तर के लोगों में श्लेष-प्रधान शैली में रचना करने की प्रवृत्ति है, पश्चिम के लोग अर्थमात्र पर ध्यान देते हैं, भाषा कैसी भी हो अर्थ बढ़िया होना चाहिए। दक्षिणात्यक शैली लेग उत्प्रेक्षा करने में खूब पटु है, उत्प्रेक्षाशैली उड़ान भरना या हद तक कल्पना करना है, गौड़ देश के निवासी कवियों के अक्षराडम्बर ही खूब चलता है। अक्षराम्बर अर्थात् विकट शब्दों की योजना का अनुप्रासमय ध्वनि से तात्पर्य है। इस प्रकार चारों और साहित्यिक समाज में एकांगी दृष्टि से काव्य-निर्माण की प्रवृत्ति चल पड़ी थी जो बाण को अभिप्रेत न थी। बाण कविता में सब शैलियों का समन्वय मानते थे। बाण की दृष्टि में बढ़िया काव्य यह है कि वह जिसमें पांच बातों का मेल हो

नवोऽर्थो जातिराग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्ट: स्फुटो रस:।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥

हर्ष श्लोक

अर्थात् विषय की नवीनता, सुन्दर लगने वाली स्वाभावोक्ति, श्लेष ऐसा जो क्लिष्ट नहो, स्फुट रस, जिसके निर्णय के लिए सहृदय को विशेष माथापच्ची न करनी पड़ी, विकट या भारी भरकम शब्दों की योजना। बाण का कहना है कि सब मिल कर ये सोनी बातें किसी एक काव्य में दुर्लभ है, परन्तु सच्चे अर्थ में वही काव्य कहने योग्य है जिसमें इन सब का समन्वय हो। बाण ने अपने काव्य में इनके समन्वय का हमेशा ध्यान नहीं रखा है। बाण को यह समन्वयप्रधान शैली किसी प्रकार के एकांगी दृष्टिकोण के अधीन नहीं रहस्य भी यही उसकी विशेषता है। सचमुच श्लाघनीय रचना समन्वयप्रधान दृष्टिकोण का कवि ही कर सकता है, बाण की सफलता का रहस्य भी यही है। बाण रचना में विषय की सर्वाधिक नूतनता, सरल श्लेष-प्रधान शैली की अद्भुत योजना, वस्तुओं का सजीव यथार्थ-वर्णन, समासबहुल पदविन्यास तथा कथावस्तु का ग्रन्थन, इन सब का विलक्षण सामंजस्य मिल जाता है।

कहा गया है कि बाण मनमाने ढंग की कविता करने वाले बालचाल एवं अनुत्पादक कवियों से खूब चिढ़ हुए थे। दूसरे काव्य के शब्दों को बदल कर उनके स्थान में अपने शब्द रख कर काव्य निर्माण की प्रवृत्ति रखने वाले कवि बाण के शब्दों में चोर होते हैं, वे अच्छे ही पकड़े जाते हैं। ऐसे कवियों की रचना किसी अंश में आदर के योग्य नहीं। बाण की दृष्टि में कविता की भूमिका अनेक रूपों में सर्वथा मौलिक और महत्त्वपुर्ण है। कविता की सिद्धि के लिए कवि को महती साधना करनी पड़ती है। साधना-विहीन कवि किसी प्रकार भी कविता की उच्च भूमिका में नहीं पहुंच सकता। बाण ने किसी विशेष कवि का नाम लेकर इस प्रकार का कुछ भी निर्देश की बात नहीं कही है। व्यक्तिगत आक्षेप बाण को अभिमत नहीं। प्रशंसा के अवसर पर वे विशेष कवियों की चर्चा हृदय खोल कर करजे हैं। इसी प्रंसग में बाण ने अनेक कवियों का आदरपूर्वक स्मरण किया।

सर्वविद महर्षि व्यास और आख्यायिका निर्माण करने वाले कवीश्वरों की वन्दना के पश्चात् बाण अपने पूर्ववर्ती गद्य काव्य वासवदत्ता की प्रशंसा करते हैं। वासपदत्ता सुबन्धुकृत होनी चाहिए। किन्तु कुछ विद्वानों की कथा के रूप में सुबन्धु की उपलब्ध श्लेष बहुल रचना वासवदत्ता आख्यायिका के प्रंसग में कवियों के दर्प को विचलित करने वाली बाण की निर्दिष्ट (आख्यायिका) वासवदत्ता से अभिरिक्त लगती है। अस्तु, वे वासवदत्ता के गुण से प्रभावित अवश्य थे, पर अन्य कवियों की तरह विगलित दर्प न थे, क्योंकि कादम्बरी के आरम्भिक पद्यों में बाण के अपनी कथा को 'निरन्तरश्लेषघना' और 'अतिद्वयी' अर्थात् वासवदत्ता और सामान्यतया बृहत्कथा का अतिक्रमण करने वाली कहा है।

फिर बाण के भट्टार हरिचन्द्र नामक कवि के गद्यबन्ध चर्चा की है, जिसमें पदबन्ध, उज्जवल, मनोहर तथा अनुप्रास के रूप में क्रम से वर्णों की स्थिति है। उसकी शैली बाण के लिए आदर्श थी। भट्टार हरिचन्द्र के गद्यबन्ध के उपलब्ध न होने से यह ठीक पता नहीं चलता कि वे कौन थे। सम्भावना है कि राजशेखर ने जिन हरिचन्द्र का उल्लेख किया है वे ही बाण के भट्टार हरिचन्द्र हों। इस प्रकार बाण के सातवाहन के सुभाषितकोश गाथासप्तमीशती, प्रवरसेन की प्रसिद्ध रचना सेतुबन्ध और भास के यशस्वी नाटकों का सादर संस्मरण किया है।

महाकवि कालिदास बाणभट्ट के अत्यन्त प्रिय कवि थे। बाण ने उसकी मधुरसार्द्र सूक्तियों में खूब आनन्द लिया था। सचमुच कालिदास के बाद बाण का ही नाम लिया जा सकता है। बाण ने कालिदास को खूब समझा है और उनकी शैली को आदर्श मान कर और भी पल्लवित रूप में निर्माण करने की अद्भुत क्षमता अर्जित की है। गुणाढ्य को बृहत्कथा और आढ्यराज नामक कवि के काव्योत्साह भी बाण के लिए आश्चयकारी थे। आढ्यराज की प्रशंसा में बाण कहते हैं कि जिह्वा ही भीतर की ओर खींच जाती है और कविता करने के लिए प्रवृत्त नहीं होती।

इस प्रकार बाणभट्ट जितने अंश में दोषज्ञ थे उतने ही अंश में गुणज्ञ भी। फिर भी किसी विशेष के प्रति उनकी बुरी धारणा न थी। बाण के साहित्य में ऐसे व्यक्ति का कोई भी निर्देश नहीं मिलता, जिससे बाण भट्ट क्षुब्ध हो। कादम्बरी में उन्होंने थोड़े में ही अपनी काव्यनिर्माण शैली की ओर संकेत किया है। जैसा कि कहा जा चुका है कि श्लेष प्रधान शब्दों की अद्भुत योजना बाण की शैली की विशेषता है। कादम्बरी में इस शैली की प्रांजलता का साक्षात्कार होता है। बाण के शब्दों में बाण की शैली को 'निरन्तर-श्लेषघना' कहना चाहिए।

आख्यायिका और कथा

महाकवि आख्यायिका और कथा दोनों के लेखक है। हर्षचरित आख्यायिका है और कादम्बरी कथा। अमरकोष में 'आख्यायिकोपलब्धार्था' कहा है, अर्थात् आख्यायिका वह कथा है जिसका सत्यार्थ ज्ञात हो। कथा का विषय कल्पित होता है। आगे चलकर आख्यायिका के इस लक्षण का विकास हुआ और भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी परिभाषा की। हर्षचरित और कादम्बरी को देखकर आख्यायिका का विषय ऐतिहासिक होना और कथा का कल्पनाप्रसूत होना, ऐसा ज्ञात होता है। अग्निपुराण के अनुसार आख्यायिका वह है जिसमें लेखक के वंश की प्रशंसा कुछ विस्तार से हो, कन्याहरण, संग्राम, विपलम्भ आदि विपत्तियों का वर्णन हो, रीति और वृत्ति अति प्रदीप्त शैली में हों, परिच्छेदों का नाम उच्छवास हो, चूर्णक शैली का बाहुल्य हो तथा वक्र और अपवक्र नामक श्लोक हों (अग्नि ३३६।१३-१४)। कथा में इसके विपरीत कुछ श्लोकों में कवि वंश का संक्षिप्त वर्णन हो, मुख्यार्थ के अवतरण के रूप में दूसरी कथा कही जाय, जिसमें परिच्छेद न हों अथवा कहीं पर लम्बक हों (अग्नि ३३६।१५-१७)। दण्डी ने कभी काव्यादर्श में दोनों के भेद बताने का प्रयत्न किया है। आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है, कथा का नायक या अन्य कोई; किन्तु यह नियम सर्वत्र लागू नहीं। दण्डी दोनों में किसी विशेष अन्तर के पक्षपाती न थे। नाममात्र का ही भेद है, यही उनका तात्पर्य था। पर बाण ने दोनों को भेद बताने का प्रयत्न किया है। आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है, कथा का नायक या अन्य कोई; किन्तु यह नियम सर्वत्र लागू नहीं। दण्डी दोनों में किसी विशेष अन्तर के पक्षपाती न थे। नाममात्र का ही भेद है, यही उनका तात्पर्य था। पर बाण ने इससे बिल्कुल भिन्न दृष्टि अपनाई है। आगे चलकर आचार्यों ने हर्षचरित और कादम्बरी को देखकर ही आख्यायिका और कथा के लक्षण बनाये हैं। दण्डी के अनुसार नामभेद वाला पक्ष किसी को सम्मत नहीं।

बाण ने अनेक आख्यायिकार कवियों की आख्यायिकाएं देखी थीं। सम्भवत: महाभाष्य में उल्लिखित वासवदत्ता नाम की आख्यायिका से ही बाण परिचित हों। सुबन्धु की वासवदत्ता, जो कथारूप में अभी उपलब्ध है, बाण के बाद रचना हो। पतंजलि ने वासवदत्ता के अतिरिक्त सुमनोत्तरा और भैमरथी आख्यायिकाओं का भी उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि बाण का हर्षचरित संस्कृत-साहित्य की पहली आख्यायिका नहीं, पर यह अवश्य है कि उपलब्ध पहली आख्यायिका यही दृष्टिपथ में आती है।

बाण की शैली

अब हमें संक्षेप में बाण की शैली के आधार पर वर्णनों का अध्ययन कर लेना चाहिए। बाण के समय से ही चार प्रकार गद्यशैलियों चल पड़ी थी, जिनमें बाण के साहित्य में तीन मिलती हैं, जैसे-एक दीर्घ समास वाली, दूसरी अल्प समास वाली और तीसरी समास-रहित। लम्बे-लम्बे समासों वाली शैली को उत्कलिका, छोटे-छोटे समासों वाली शैली को चूर्णक और समासरहित शैली को आबिद्ध कहते हैं। बाण को इन तीनों शैलियों में बड़ी सफलता प्राप्त थी। उन्हें किसी विशेष शैली पर आग्रह नहीं था, फिर भी उत्कलिका अर्थात् दीर्घ समाव शैली बाण के चित्रात्मक प्रसंग के अनुकूल पड़ती थी। इसलिए बाण वर्णनों में प्राय: इसका आश्रयण करते हैं। हर्षचरित के दधीचवर्णन, ग्रीष्मवर्णन आदि प्रसंगों के विशेष रूप से यह शैली प्रयुक्त है। वर्णनों में चलचित्र के समान शब्दों

के माध्यम से छोटे-छोटे चित्र प्रस्तुत करने में कवि कई शब्दों को गूंथकर एक लड़ी बना डालता है। बाण के जिस वर्णन को लीजिए, उसमें दीर्घ समासों वाली शैली का आश्रयण करते हैं। आविद्ध शैली में किसी चित्र को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वस्तु से सम्बन्धित कुछ बातों का सामान्य चर्चा के लिए यह उपयोगी है। बाण ने अपने वर्णनों में प्रायः ऐसा ही किया है। वृत्तशैली का जिसमें छोटे-छोटे समास होते हैं, बाण खूब लिखते हैं। इसके लिए कोई खास नियम नहीं है। वर्णन करते-करते कभी शास्त्रीय उपदेश भी करने की प्रवृत्ति बाण के साहित्य में जगह-जगह मिलती है। उसमें प्रायः अल्पसमास चूर्णकशैली बाण को पसंद है। बाण की शैली का निखरा हुआ रूप हर्ष चरित के चतूर्थ उच्छ्वास में जहां राज्यश्री के विवाह का प्रसंग है, मिलता है। हर्षचरित को अपेक्षा कादम्बरी के वर्णन चित्रमयता और प्राञ्जलता तथा सरसता की दृष्टि से अपूर्ण बन पड़े हैं। महाश्वेता, कादम्बरी आदि के वर्णन में बाण की अलौकिक वर्णन-क्षमता का परिचय मिलता है।

बाण स्वयं कादम्बरी में गद्य की उत्कृष्ट शैली की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं - उत्कृष्टकविनिबन्धोऽयं विविधवर्णश्रेणिप्रतिपाद्यमानाभिनवार्थसञ्चयम्।' अर्थात् नाना प्रकार के वर्णों द्वारा नये अर्थ-समूह का प्रतिपादन करने वाला गद्य उत्कृष्ट होता है अथवा वह उत्कृष्ट कवि द्वारा लिखा जाता है। रीति के दृष्टि से बाण में पाञ्चाली रीति का प्राचुर्य है। स्वयं भोजराज भी इसे स्वीकार करते हैं-

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि।। (सरस्वतीकण्ठाभरण)

अर्थात् शब्द और अर्थ का समान रूप से गुम्फन पाञ्चाली रीति में होता है, वह शिला भट्टारिका और बाण दोनों की उक्तियों में पाई जाती है। विषय के अनुरूप शब्दावली का प्रयोग ही पाञ्चाली रीति का तात्पर्य है। बाण के सिद्धहस्त कवि हैं।

इस भूमिका में बाण के जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में कुछ उपयोगी बातों की चर्चा की गई है। आशा है बाण के विद्यार्थी इससे लाभान्वित होंगे। श्रद्धेय डॉ० वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने हर्षचरित और कादम्बरी पर अलग-अलग अपना सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया। भूमिका में मैंने उनकी दृष्टि का बहुत अंश में अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। बाण के साहित्य को जानने के लिए जो कुछ अन्य स्रोत भी मिले हैं मैंने उनका उपयोग किया है।

॥श्रीः॥

हर्षचरितम्

'सङ्केत'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथम उच्छ्वासः

नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे॥१॥

त्रिभुवनीरूपी नगर के निर्माण-आरम्भ के मूलस्तम्भ; (जिनकें) उन्नत (कहीं भी न झुकने वाले) मस्तक पर चन्द्र के चंवर की शोभा है (उन) भगवान् शङ्कर को नमस्कार है [कवि ने भगवान् शंकर को त्रिभवुन-नगर के निर्माण-आरम्भ का मूलस्तम्भ कहा है, जिस प्रकार शङ्कर के उन्नत मस्तक पर चन्द्र की शोभा है उसी प्रकार प्राचीन वास्तुकला के अनुसार पहले मूलस्तमभों पर चन्द्राकृति चंवर बनाये जाते थे, जो स्तम्भ के उपरिभाग में लगे होते थे। चन्द्र के साथ चंवर का अभेद इस अंश में भी है कि दोनों श्वेतवर्ण एवं श्रमापहारक हैं, चन्द्र की किरणों के समानही चंवर के उजले केश जाल छिटक रहते हैं। किसी के अनुसार ईश्वर (शिवजी) जगत् के निमित्त कारण होने से त्रिभुवन रूपी नगर के आरमभ में मूल अर्थात् मूलकारण (उपादान कारण) परमाणुओं के आधार हैं, स्तम्भ है।

किसी ने इस श्लोक को ब्रह्माजी और विष्णु के पक्ष में भी लगाया है। विष्णु के वामनावतार में त्रैलोक्य को लांघने के समय उनके सिर से चन्द्र का चंवर लग गया, अथवा आकाश रूप उनके सिर से चंवर रूप चन्द्र लगा रहता है। और ब्रह्माजी हिरण्यकेश होने के कारण स्वर्णमय केशकलाप वाले हैं। इस पक्ष में चन्द्र का अर्थ हिरण्य या सुवर्ण है]॥१॥

हरकण्ठग्रहानन्दमीलिताक्षी नमाम्युमाम्।
कालकूटविषस्पर्शजातमूर्च्छागमामिव॥२॥

उमा को प्रमाण करता हूं, जिनकी आंखे शिव के कण्ठालिङ्गन के आनन्द से मूदं गई है, मानो शिव के गले में स्थित कालकूट विष के स्पर्श हो जाने से उन्हें मूर्च्छा आ गई हो॥२॥

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे।
चक्रे पुण्यं सरस्वत्या यो वर्षमिव भारतम्॥३॥

समस्त (विद्याओं और कलाओं को) जानने वाले और कवियों के प्रजापति महर्षि व्यास को प्रणाम है, जिन्होंने सरस्वती (नदी) से पवित्र (भारत) वर्ष की भांति (अपनी) सरस्वती (वाणी) से भारत (महाभारत ग्रन्थ) का निर्माण किया [जिस प्रकार कालिदास के आदर्थ थे–महर्षि वाल्मीकि, उसी प्रकार महर्षि व्यास को सम्भवतः इन्होंने अपना आदर्श माना था। यह चयन बाण के स्वभाव के अनुकूल था। बाण अपनी कृति के द्वारा सर्व जगत् को 'बाणोच्छिष्ट' कर लेना चाहते थे, जैसे महर्षि व्यास ने भी कहा है–'जो जो यहां (महाभारत में) है, वह अन्यत्र है और जो-जो यहां नहीं है, वह कहीं नहीं हैं।' इसी प्रकरण के नवम पद्य में स्वयं बाण ने कवि की उस वाणी को सराहा है जो महाभारत की कथा के समान सभी प्रकार के वृत्तान्तों से युक्त होकर तीनों जगत् में व्याप्त नहीं हो जाती है, अर्थात् अपनी व्याप्ति में सबको समेट नहीं लेती है।]॥३॥

प्रायः कुकवयो लोके रागाविष्टितदृष्टयः।
कोकिला इव जायन्ते वाचालाः कामकारिणः॥४॥

राग (लाली) से युक्त दृष्टि वाले कौकिल जिस प्रकार वाचाल एवं कामोद्दीपक होते हैं। उसी प्रकार संसार में प्रायः कुकवि राग

(द्वेषपूर्वक अनर्थाभिनिवेश) से युक्त दृष्टि वाले होकर असम्बद्ध प्रलाप करते हैं और स्वेच्छानुसार काम करते हैं, न कि [शास्त्रादिक द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलते हैं)।।४।।

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे-गृहे।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव।।५।।

कुत्तों के समान घर-घर में केवल जन्म लेने वाले [जातिभाजः, अर्थात् वे कवि जो केवल जाति (स्वभाव वर्णना मात्र) के [लिए] वक्रोक्तिशून्य है।] कवि असंख्य है, जो स्वरूप मात्रा का वर्णन करते हैं। शरभों के समान उत्पादक (उठे पैरों वाले। शरभ एक पशु है जिसके आठ पैर होते हैं, और सब ऊपर की ओर रहते हैं] अर्थात् नव निर्माण करने वाले कवि जगत् में बहुत नहीं है।

अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः।
अनाख्याताः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते।।६।।

सहृदय जनों के बीच अप्रसिद्ध कवि दूसरे कवि के वर्णों को बदल देने से एवं निर्माण के चिह्नों को छिपाने से चोर [समझा जाता है] क्योंकि चोर भी लोगों के बीच मुख के अकस्मात् फीके पड़ जाने से और हाथों पर लगे हुए बेड़ी के दागों को छिपाने से पहचान लिया जाता है।।६।।

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरम्।।७।।

उत्तरी क्षेत्र के कवियों की रचना श्लेष-प्रधान होती है। पश्चिमी क्षेत्र के कवि प्रधान रूप से अर्थाडम्बर में लग रहते हैं। दाक्षिणात्य कवि उत्प्रेक्षा करने में निपुण होते हैं और गौड़-देशीय (प्राच्य) कवियों की रचना में अक्षरमात्र का प्राचुर्य रहता है।।

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्।।८।।

नवीन हर्ष (जिसे अब तक किसी कवि ने नही लिखो हो, अर्थात् चमत्कारी), आग्राम्य जाति (अर्थात् स्वाभावोक्ति [अभिव्यक्ति] ग्रामीण माथापच्ची के ही समय में आ जाने वाली श्लेष, सुबोध रस एवं आकर्षक शब्दों का संचयन-इन सब गुणों का एकत्र [किसी काव्य में) होना कठिन है।।८।।

किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम्।।९।।

उस कवि के काव्य से क्या, जिसकी वाणी सब प्रकार के वृत्तान्तो वाली महाभारत की कथा के समान तीनों जगत् में व्याप्त नहीं होती।।९।।

उच्छ्वासान्तऽप्यखिन्नास्ते येषां वक्त्रे सरस्वती।
कथमाख्यायिकाकारा न ते वन्द्याः कवीश्वराः।।१०।।

जो उच्छ्वास के बाद भी नहीं थकते और जिनके मुख में सरस्वती विराजमान है। ऐसे आख्यायिकाओं का निर्माण करने वाले कवीश्वर क्यों नहीं वन्दनीय है?।।१०।।

कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्।।११।।

निश्चय ही सुबन्धु की रचना 'वासवदत्ता' के कानों तक पहुंचते ही कवियों का अभिमान उस प्रकार चूर हो गया जिस प्रकार [अर्जुन द्वारा प्राप्त 'शक्ति' नामक अस्त्र विशेष को कर्ण के पास देखते ही द्रोण आदि का गर्व बिल्कुल नहीं रहा।।११।।

पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिश्चन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।।१२।।

आर्य हरिश्चन्द्र द्वारा निर्मित गद्यकाव्य राजा के समान है, उसमें शब्दों की रचना निर्मल है, वह मनोहर है एवं उसमें अलङ्कार [रूपी मणि के] मतानुसार अक्षरों की एक क्रम से संघटना है। (राजा भी अपने पद या मण्डल पर जम कर रहता है, हार धारण करता है [अर्थात् अपने पाठ के अनुसार किसी का हरण नहीं करता एवं ब्राह्मण आदि वर्णों की क्रमानुसार स्थिति रखता है।।१२।।

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः॥१३॥

सातवाहन ने निर्दोष गुणालङ्कारयुक्त सुभाषित का एक संग्रह तैयार किया जो विशुद्ध जाति के रत्नों के कोष के समान कभी विनष्ट नहीं होने वाला, वैदग्ध्यपूर्ण हुआ.है।।१३।।

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनैव सेतुना॥१४॥

प्रवरसेन नामक कवि को कुमुद के समान उज्जवलकीर्ति सेतु (बन्ध) नामक प्राकृत काव्य के द्वारा पार कर गई, जैसे कुमुद नाम के एक वानर-सेनापति से शोभित वानरों की सेना सेतु के द्वारा समुद्र पार पहुंच गई थी।

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥१५॥

भास ने देवमन्दिरों के समान अपने नाटकों से लोक में ख्याति प्राप्ति की जिनका आरम्भ सूत्रधार करता है, जिनमें पात्रों की भूमिकायें (अवस्थाएं) और सहायक कथायें (पताका) रहती है।।१५।।

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥१६॥

नई उकसी हुई मंजरियों के समान मधुर एवं सरस कालिदास की सूक्तियों में उत्तरमात्र से ही किसी आनन्द नहीं आता?।।१६।।

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥१७॥

जैसे कामदेव को जलाकर भस्म करना और पार्वती का शृङ्गार करना आदि परस्पर विरुद्ध बातों से शिव की लीला किसे नहीं विस्मित करती, उसी प्रकार वर्णनों द्वारा कन्दर्प (कामदेव या नरवाहनदत्त) को प्रकाशित करने वाली एवं पार्वत के प्रति आराधना से युक्त (गुणाढ्य की) बृहत्कथा किसे नही विस्मय-विमुग्ध करती?।।१७।।

आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि।
जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते॥१८॥

आढ्यराज के उत्साह या महान् कार्य को हृदयस्थ करके स्मरण करने पर मानो मेरी जीभ मुंह के भीतर की ओर खींची जा रही है और कविता करने में प्रवृत्त नहीं हो रही है (निष्कर्ष यह कि आढ्यराज के सामने मैं कवि बनने का साहस नहीं कर पा रहा हूं)।।१८।।

तथापि पतेर्भक्त्वा भीतो निर्वहणाकुलः।
करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्॥११॥

ऐसा जानता हुआ भी मैं सम्राट् के प्रति अपने असाधारण अनुराग से प्रेरित होकर आख्यायिका रूपी समुद्र को पार करने में आकुलता और भय का अनुभव करते हुए भी अपनी जीभ (अर्थात् वाणी द्वारा) के चप्पू द्वारा तैरने की चपलता कर रहा है।।१९।।

सुखप्रबोधलिता सुवर्णघटंनोज्ज्वलैः।
शब्दैराख्यायिका भाति शय्येव प्रतिपादकैः॥२०॥

बिना किसी आया के सुखपूर्वक समझ में आ जाने से सुन्दर लगने वाली और आकर्षक रचना वाले एवं विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्दों से आख्यायिका उस शय्या के समान शोभित है जिस पर सुखपूर्वक नींद तोड़ी जाती है और जो सोने से मढ़े पावों से चमकती है।।२०।।

जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्राकारकृतजगद्रक्षः।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपर्वतो हर्षः॥२१॥

सम्राट् हर्ष की विजय हो, जो चारों ओर प्रज्वलित प्रतापाग्नि की दीवार बनाकर सारे जगत् की रक्षा करते हैं और जो समस्त प्रियजनों के मनोरथ सिद्ध करने में श्रीपर्वत [यह आन्ध्र वेु गुण्टूर जिले का एक पर्वत है जो छठी शताब्दियों में मन्त्र-तंत्र के लिए प्रसिद्ध था। मन्त्रयान का जन्मस्थान यहां था। मालतीमाधव ओर कादम्बरी में भी इसका उल्लेख है। इसके सम्बन्ध में तत्कालीन समाज में यह

प्रसिद्धि थी कि यहां हर प्रकार के मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। मालतीमाधव की एक भिक्षुणी सौदामिनी मन्त्र-तन्त्र साधने श्रीपर्वत पर गई थी और कादम्बरी के जरद्द्रविड धार्मिक को भी श्रीपर्वत से सम्बन्धित अचम्भों की बहुत बातें याद थीं] के सदृश है।

एवमनुश्रूयते–पूरा किल भगवान्स्वलोकमधितिष्ठन्परमेष्ठी विकासिनि पद्मह्रिरे समुपविष्टः सुनासोरप्रमुखैर्गीर्वाणैः परिवृता ब्रह्मोद्याः कथाः कुर्वन्नन्याश्च निरवद्या विद्यागोष्ठीर्भावयन्कदाचिदासाञ्चके। तथासीनं च तं त्रिभुवनप्रतीक्ष्यं मनुदक्षचाक्षुषप्रभृतयः प्रजापतयः सर्वे च सप्तर्षिपुरः सरा महर्षयः सिषेविरे। केचिदृचः स्तुतिचतुराः समुचारयन्। केचिदपचितिभाञ्जि यजूंष्यपठन्। केचित्प्रशंसासामानि सामानि जगुः। अपने विवृतक्रतुक्रियातन्त्रान्मन्त्राव्याचचक्षिरे। विद्याविसंवादकृताश्च तत्र तेषामन्योन्यस्य विवादाः प्रादुरभवन्।

ऐसा सुना जाता है कि–बहुत पहले की बात है, भगवान् ब्रह्मा अपने ब्रह्मलोक में शासन कर रहे थे। किसी विकसित कमल के आसन पर विराजमान हो इन्द्र प्रमुख देवताओं के बीच घिरे हुए शाश्वत ब्रह्मा के विषय में चर्चा कर रहे थे और अन्य दोषरहित विद्यागोष्ठियों में भाग ले रहे थे। उस प्रकार बैठे हुए तीनों लोकों के पूजनीय भगवान् ब्रह्मा की सेवा में मनु, दक्ष, चाक्षुष आदि प्रजापति और मरीचि आदि सब महर्षि संलग्न थे। स्तुति में चतुर उनमें कुछ ने ऋचाओं का पाठ किया। कुछ ने पूजन के यजुर्वेदीय मन्त्र पढ़े। कुछ ने प्रशंसामूलक सामों का गान किया। अन्य लोगों के यज्ञक्रियाओं के उपयोग में आने वाले मन्त्रों की व्याख्या की। वहां उन लोगों के बीच मत मतान्तर को लेकर परस्पर विद्याविषयक विवाद उठ खड़े हुए।

अथातिरोषणः प्रकृत्या महातपा मुनिरत्रेस्तनयस्तारापतेर्भ्राता नाम्ना दुर्वासा द्वितीयेन मन्दपालनाम्ना मुनिना सह कलहायमानः सामगायन्क्रोन्धधो विस्वरमकरोत्। सर्वेषु च तेषु शापभयप्रतिपन्नमौनेषु मुनिष्ववन्यालापलीलया चावधीरयति कमलमम्भवे, भवगती कुवारी किञ्चिदुन्मुक्तबालभावे भूषितनवयौवने वयसि वर्तमाना, गृहीतचामप्रचलद्भुजलता पितामहमृषर्वीजयन्ती, निर्भर्त्सनताडनजातरागाभ्यामिव स्वभावारुणाभ्यां पादपल्लवाभ्यां समुद्भासमाना, शिष्यद्वयेनेव पदक्रममुखरेण नूपुरयुगलेन वाचालिन धर्मनगरतोरणसतम्भविभ्रमं विभ्राणा जङ्घाद्वितयम्, सलीलमुत्कलालापप्रलापिनि मेखलादाम्नि विन्यस्तवामहस्तकिसलया, विद्वन्मानसनिवास लग्नेन गुण कलापेनेवांसावलम्बिना ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकाया, भास्वन्मध्यनायकमनेक मुक्तानुयातमपवर्गमार्गमिव हारमुद्वहन्ती, वदनप्रविष्टसर्वविद्याक्तकरसेनेव पाटलेन स्फुरता दशनच्छदेनविराजमाना, संक्रान्तकमलाम्न कृष्णालिनप्रतिमां मध गोताकर्णनावतीर्णशशिहरिणामिव कपोलस्थलीं दधाना, तिर्यक्सावज्ञनुन्नमितकभ्रूलता, श्रोत्रमेकं विस्वरश्रवणकलुषित प्रक्षालयन्तीव पाङ्गनिर्गतेन लोचनाश्रुजलप्रवाहेणेतरश्रवणेन च विकसितसिन्धु वारमञ्जरीजुषा हसतेव प्रकटितविद्यामदा, श्रुतिप्रणयिभि प्रणवैरिव कर्णावतंस कुसुममधुकरकुलैरपास्यमाना, सूक्ष्मविमलेन प्रज्ञाप्रतानेनोवांशुकेनाच्छादित शरीरा, वाङ्मयमिव निर्मल दिक्षु दशनज्योत्स्नालोकं विकिरन्ती देवी सरस्वती श्रुत्वा जहास।

तब स्वभाव से अत्यन्त क्रोधी, महातपस्वी, अत्रि का पुत्र, तारापति (चन्द्र) का भ्राता दुर्वासा का मुनि मन्दपाल नाम के [illegible] साथ झगड़ा कर बैठा और सामगान करते हुए क्रोध से अन्धा होकर स्वर-भङ्ग कर दिया। शाप न दे दे, इस डर से [illegible] चुप हो गये और दूसरों के साथ बात करने के बहाने ब्रह्माजी ने भी (उसी विस्वर सामगान की) उपेक्षा की। [illegible] (वहीं उपस्थित थी)। वह कुछ-कुछ बालभाव छोड़ नये यौवन को सुशोभित करने वली उम्र में आ पहुंची थी। [illegible] भुजलता को हिलाते हुए पितामह (ब्रह्माजी) पर झल रही थी। दुर्वासा के प्रति झुंझलाहट के कारण भूमि कपर पटकने [illegible] हुए स्वाभाविक लाल अपने पादपल्लवी से शोभित हो रही थी। पदन्यास से मुखरित होने वाली नूपुरों से उसके दोनो [illegible] रहे थे, मानो पदपाठ और क्रमपाठ के अभ्यास में मुखर दो शिष्य अपने चरण अर्थात् शाखा का स्वाध्याय कर रहे [illegible] जांघें धर्मनगर के तोरणस्तम्भ का अनुकरण कर रहीं थीं। उत्सुक कलहंस की भांति अव्यक्त शब्द करत हुइ करधनी [illegible] वह लीला के साथ बायें हस्तकिसलय को रखे हुए खड़ी थी। विद्वानों के मानस (चित या मानस सरोवर) में हमश [illegible] संक्रान्त हुए गुणों (श्लेष से तन्तुओं) के रूप में कंधे पर लटकते हुए ब्रह्मसूत्र से उसका शरीर पवित्र हो रहा था [illegible] मध्यमणि युक्त और अनेक मोतियों से गुम्फित हार को पहने थी, जो सूर्य के मध्य से जाने वाले और अनेक मोक्षमार्ग [illegible] अनुसृत मोक्षमार्ग की तरह था। मुख में प्रविष्ट समस्त विद्याओं के चरण के आलते से मानो पाटल हुए (क्रोध म [illegible] सुशोभित कर रहे थे। उसके कपोलों पर ब्रह्माजी के काले मृगचर्म की छाया पड़ रही थी: मानो उसके मीठे गीतों [illegible] चन्द्रमा का मृग ही वहां उतर कर आ गया हो। उसकी एक भौंह कु तिरस्कार का भाव लिये हुए टेढ़ी और [illegible] थी। आंख के कोने से निकलते हुए आंसू की धारा से मानो वह भ्रष्ट पाठ के श्रवण करने से कलुषित [illegible] थी और उसके दूसरे कान पर खिले हुए श्वेत सिन्धुवार की मंजरी हंस रही थी जिसमें उसका विद्यामद प्रकट हो [illegible] कान पर लगे कनफूल पर भौंह पर भौंरे छाये हुए थे, मानों यह श्रुति (वेद) से प्रेम करने वाले अनेक प्रणवों ('ओ' [illegible]

हो रही थी। प्रशा के प्रतान की तरह बहुत बारीक तन्तुओं से बना और उज्जवल अशुंक उसका शरीर ढंक रहा था। वह वाङ्मय के समाननिर्मल अपने दांतों से चांदनी का आलोक दिशाओं में छिटका रही थी। (दुर्वासा के स्वरहीन पाठ को) सुन कर वह हंस पड़ी।

दृष्ट्वा च तां तथा हसन्तीं स मुनिः 'आः पापकारिणि, दुर्गृहीतविद्यालवावलेपदुर्विदग्धे, मामुपहससि इत्युक्त्वा शिरः कम्पशीर्यमाणबन्धविशाराशेरुन्मिषत्पिङ्गलिम्नो जटाकलापस्य रोचिषा सिञ्चन्निव रोषहरनद्रवेण दश दिशः, कृतकालसन्नि- धानामिवान्धकारितललाटपट्टाष्टापदामन्तकान्तः पुरमण्डनपत्रभङ्गमकरिकां भ्रुकुटिमावध्नन्, अतिलोहितेन चक्षुषाऽमर्षदेवतायै स्वरुधिरोपहारमिव प्रयच्छान्, निर्दयदष्टदशनच्छदभयपलायमानामिव वाचं रुन्धन्दन्तांशुच्छलेन, असा वस्त्रंसिनः शापशासनपट्टस्येव ग्रथ्नन्ग्रन्थिमन्यथा कृष्णाजिनस्य, स्वेदकणप्रतिबिम्बितैः शापशङ्कशरणागतरिव सुरासुरमुनिभिः प्रतिपन्नसर्वावयवः, कोपकम्पतरलिताङ्गलिना करेण प्रसादनलग्नामक्षरमा लामिवाक्षमालमाक्षिप्य कामण्डलवेन वारिणा समुपस्दृश्य शापजलं जग्राह।

दुर्वासा ने सरस्वती को उस प्रकार हंसते देखकर "ओ पाप करने वाली, निम्न रूप से प्राप्त विद्या के लेश पर अभिमान से भरी ओ दुविदग्धे! तू मेरा उपहास कर रही है?" यह कह कर बार-बार शिरःकम्प के कारण बंधन के शिथिल हो जाने पर इधर उधर खुले हुए पीताभवर्ण की चमक से युक्त, जटा-समूह के तेज से मानो क्रोधाग्नि के द्रव से समस्त दिशाओं को सींचने लगे। भौंहें चढ़ने लगीं, यमराज का सन्निधान प्राप्त कर चुकी थी, उनके ललाटरूपी शतरंज खेल के पट्टे को मानो अपनी कालिमा से मलिन कर रही हो और जैसे वे यमराज के अन्तःपुर की पत्र भङ्गमकरिकाएं हो। आंखें अत्यन्त लाल हो गई, मानो वे अमर्ष देवता के लिए अपने ही रुधिर का उपहार भेंट कर रहे थे। बड़ी बेदर्दी से ओट कट जाने के भय से मानों भागती हुई वाणी को वे अपने दांतों की प्रभा के बहाने मानों रोग रहे थे। शाप के शासपट्ट की भांति कैसे गिरते हुए कृष्य मृगचर्म की गांठ दूसरे प्रकार से बांधने लगे। शाप के भय से शरण में आये हुए की तरह सुर, असुर और मुनि उनके स्वेदकणों से भरे समस्त अङ्गों में प्रतिबिम्बित हो रहे थे। क्रोध से उत्पन्न कंप कंपों के कारण चंचल अंगुलियों वाले हाथ से उन्होंने मानो प्रसन्न करने के लिए लगी हुई अक्षरमाला की भांति अपनी अक्षरमाला को फेंक दिया और कमण्डल के जल से आचमन करके शाप देने के लिए जल उठाया।

अत्रान्तरे स्वयम्भुवोऽभ्याशे समुपविष्टा देवी मूर्तिमती पीयूषफेन पटलपाण्डुरं कल्पद्रुमकूलवञ्कलं वसाना, बिसतन्तुमयेनां- शुकेनोन्नतस्तनमध्यबद्धगात्रिकाग्रन्थिः, तपोबलनिर्जितत्रिभुवनजयपताकाभिरिव निसृभिर्भस्मपुण्ड्रकराजिभिर्विराजिततललाटाजिरा, स्कन्धावलम्बिना सुधाफेनधवलेन तपः प्रभावकुण्डलीकृतेन गङ्गास्त्रोतसेव योगपट्टकेन विरचितवैकक्ष्यका, सव्येन ब्रह्मोत्पत्ति- पुण्डरीकमुकुलमिव स्फटिककमण्डलुं करेण कलयन्ती, दक्षिणमक्षमालाकृतपरिक्षेप कम्बुनिर्मितोर्मिकादन्तुरितं तर्जनतरङ्गिततर्जनी- कमुत्क्षिपन्ती करम्, आः पाप, क्रोधोपहत, दुरात्मन्, अज्ञ, अनात्मज्ञ, ब्रह्मबन्धो, मुनिखेट, अपसद, निराकृत, कथामात्मस्खलितविलक्षः सुरासुरमुनि मनुजवृन्दवन्दनीयां त्रिभुवनमातरं भगवतीं सरस्वतीं शप्तुमभिलषसि' इत्यभिदधाना, रोषविमुक्तवेत्रासनैरोङ्कारमुखरित मुखैरुत्क्षेप दोलायमानजटाभारभरितदिग्भिः परिकरबन्धभ्रमित कृष्णाजिनाटोपच्छायाश्यामाय मानदिवसैरर्षनिः श्वासदोलाप्रेङ्खोलितब्रह्मलोकैः सोमरसमिव स्वेदविसर व्याजेन स्रवद्भिरग्निहोत्रपवित्रभस्मस्मेरललाटैः कुशतन्तुचामरचीरचीव रिभिराषाढिभिः प्रहरणीकृतमण्डलुमण्डलैर्मूर्तैश्चतुर्भिर्वेदैः सह बृसीमपहाय सावित्री समुत्तस्थौ।

इस अवसर पर देवी सावित्री ब्रह्माजी के समीप संदेह बैठी थी। वह अमृत के फेन पटल के सदृश उज्जवल कल्पद्रुम से प्राप्त दुकूलाकृति छाल को पहने थी। उसने अपनी उन्नत स्तनों के मध्य को विसतन्तु के बने हुए अंशुक को स्वस्तिकाकार गांती से बांध रखा था। भस्म की तीन रेखायें उसके ललाट के प्रांगण में शोभायमान थीं मानो उसके अपने तपोबल से जीते हुए तीनों भुवन की जयपताका हो। कंधे पर भवलम्बित, अमृत फेन से समान धवल और मानो तपस्या के प्रभाव से टेढ़े किये हुए गङ्गा के सोते के समान उसने अपने योगपट् को वक्ष पर टेढ़ा लटकाकर वैकक्ष्यक बना लिया था। उसके बायें हाथ में ब्रह्मा जी की उत्पत्ति वाले पुण्डरीक के मुकुल के सदृश स्फटिक मणि का कमण्डलु डोल रहा था। यह अपनी दाहिनी भुजा को ऊपर की और फेंक रही थी जो अक्षमाला से परिवेष्टित, शंख की बनी अंगूठी से व्याप्त थी और उसकी तर्जनी चञ्चल हो रही थी (वह बोल उठी-) "अरे पापी, क्रोध का मारा, दुरात्मा, मूर्ख, अपने आप को न पहचानने वाला, पतित ब्राह्मण, पाखण्डी साधु, नीच, स्वाध्यायशून्य, अपनी गलती से लज्जित, तू देवता, असुर, मुनि मनुष्यसमूह द्वारा वन्दनीय त्रिभुवन की माता देवी सरस्वती को शाप देना चाहती हैं?" यह कती हुई सावित्री मूर्तिमान चारों वेदों वु साथ कुशासन छोड़ उठ खड़ी हुई। क्रोध से उन मूर्तिमान् वेदों ने भी अपने-अपने वेत्रासन छोड़ दिए, उनके मुख ओंकार की ध्वनि से भर रहे थे, वेग से ऊपर की ओर फेकने से उनका चञ्चल जटाभर मानों दिशाओं में फैलने लगा। उनकी कमर में लपेट कर बांधे हुए काले मृगचर्म की बनी छाया से दिन में अंधेरा छाने लगा, वे अपने अमर्षजन्य निःश्वासों से सारे ब्रह्मलोक को दोलायमान करने लगे। उनके शरीर से सोमरस के समान स्वेदजल निकल रहे थे। अग्निहोत्र के पवित्र भस्म से उनके ललाट चमक रहे थे। वे कुश के तन्तुओं से बने चामर एवं वल्कल और आषाढसंज्ञक पलाश का दण्ड धारण किये हुए थे। वे अपने कमण्डलु से मारने के लिए तत्पर हो उठे।

ततो 'मर्षय भगवन्, अभूमिरेषा शापस्य' इत्यनुनाथ्यमानोऽपि विबुधैः, 'उपाध्याय। स्खलितृमेकं क्षमस्व' इति बद्धाञ्जलिपुटैः प्रसाद्यमानोऽपि स्वशिष्यैः, 'पुत्र, मा कृथास्तपसः प्रत्यूहम्' इति निवार्यमाणोऽप्यत्रिणा, रोषावेशविवशो दुर्वासाः 'दुर्विनीते व्यपनयामि ते विद्याजनितामुन्नतिमिमाम्, अधस्ताद्गच्छ मर्त्यलोकम्' इत्युक्त्वा तच्छापोदकं विससर्ज। प्रतिशापदानोद्यतां सावित्रीम 'सखि संहर रोषम्, असंस्कृतमतयोऽपि जात्यैव द्विजन्मानो माननीयः' इत्यभिदधाना सरस्वत्येव न्यवारयत्।

तब 'हे भगवन्, क्षमा करो, यह शाप देने योग्य नहीं' इस प्रकार देवताओं के प्रार्थना करने पर भी, 'आचार्य एक अपराध क्षमा कर इस प्रकार अपने शिष्यों से प्रसन्न किये जाने पर भी 'पुत्र, तपस्या में विघ्नकरो', इस प्रकार अत्रि द्वारा रोके जाने पर भी क्रोध वशम् दुर्वासा ने कहा-'दुर्विनीते, मैं तेरे इस विद्याजनित गर्व को दूर करता हूं, तू नीचे मृत्युलोक में जा ओर शाप के जल को छोड़ के प्रतिशाप देने के लिए सावित्री तैयार हो गई तो सरस्वती ने 'सखी, तू अपने क्रोध को समेट ले, संस्कार शून्य बुद्धि होने पर भी ब्राह्मण के कारण ही ब्राह्मण हमारे मान्य है' यह कहते हुए रोक दिया।

अथ तां तथा शप्तां सरस्वतीं दृष्ट्वा पितामहो भगवान्कमलोत्पत्ति लग्नमृणालसूत्रामिव धवलयज्ञोवीतिनीं तनुमुद्वहन्, उद्गच्छद गच्छङ्गुलीयमरकतमयूखलताकलापेन त्रिभुवनोपप्लवप्रशमकुशापीडधारिणेव दक्षिणेन करेण निवार्य शापकलकलम अतिविमलदीर्घैर्विकृतयुगारम्भसूत्रपातमिव दिक्षु पातयन् दशनकिरणैः सरस्वतीप्रस्थानमङ्गल पटहेनेव पूरयन्नाशा , स्वरेण सुधीरमुवाच-'ब्रह्मन्, न खलु साधु सेवितोऽयं पन्थाः येनासि प्रवृत्तः। निहन्त्येष पुरस्तात्। उद्दामप्रसृतेन्द्रियाश्वसमुत्थापितं हि राज कलुषयति दृष्टिमनक्षजिताम्। कियद्दूरं वा चक्षुरीक्षते। विशुद्धय हि धिया पश्यन्ति कृतबुद्धयः सर्वानर्थनमतः सतो वा। निसर्गविरोधिनी चेयं पयः पावकयोरिव धर्मक्रोधयोरेकत्र वृत्तिः। आलोकमपहाय कथं तमसि निमज्जसि! क्षमा हि मूल सर्वतसाम्। परदोषदर्शनदक्षा दृष्टिरिव कुपिता बुद्धिर्न ते आत्मरागदोषं पश्यति। क्व महातपोभारवैवधिकता, क्व पुरो धागित्वम् अतिरोषणश्चक्षुष्मानन्ध एव जनः। नहि कोपकलुषिता विमृशति मतिः कर्तव्यकर्तव्यं वा। कुपितस्य प्रथममन्धकारीभवति विद्या ततो भ्रुकुटिः। आदाविन्द्रियाणी रागः समास्कन्दति, चरमं चक्षुः। आरम्भे तपो गलति, पश्चात्स्वेदसलिलम्। पूर्वमयशः स्फुरति अनन्तरमधरः। कथं लोकविनाशय ते विषपादयस्येव जटावल्कलानि जातानि। अनुचिता खल्वस्य मुनिवेषस्य हारयष्टिरिव वृत्तमुक्ता चित्तवृत्ति। शैलूष इव वृथा वहसि कृत्रिममुपशमशून्येन चेतसा तापसाकल्यम्। अत्यमपि न ते पश्यामि कृशलजातम। अनेनाति लघिम्नाऽद्याप्युपर्येव प्लवसे ज्ञानोदन्वतः। न खल्वेनडमूका एडा जडा वा सर्व एते महर्षयः। रोषदोषनिषद्दो स्वहृदय निग्राह्यो किमर्थ मसि निगृहीतवाननागसां सरस्वतीम्। एतानि तान्यात्प्रमादस्खलित वैलक्ष्याणि, यैर्याप्तां यात्यदिग्धो जनः इत्युक्त्वा पुनराह-'वत्से सरस्वती, विषादं मा गाः। एषा त्वामनुयास्यति सावित्री। विनोदयिष्यति चास्मद्विरहदुःखिनाम् आत्मजसुखकमलावलोकनाव सुरमुनिमनुजमण्डलः ससंभ्रमोपगतनारदस्कन्धविन्यस्तहस्तः समुचिताह्निककरणायोदतिष्ठत्। सरस्वत्यपि शप्ता किञ्चिदधोमुखी धवलकृष्णशारां कृष्णाजिनलेखामिव दृष्टिमुरसि पातयन्ती सुरभिनिः-श्वासपरिमललग्नैर्मुर्तैः शापाक्षरैरिव षट्चरणचक्रैराकृष्यमाण शापशोकशिथिलितहस्ताऽधोमुखीभूतेनोदिश्यमानमर्त्यलोकाकवरतरणमार्गेवनखमयूख जलाकेन षट्चरणचक्रैराकृष्यमाणा शापशोकशिथिलितहस्ताऽधोमुखीभूतेनोदिश्यमानमर्त्यलोकाकवतरणमार्गेवनखमयूख जलाकेन नूपुरव्याहाराहूतैर्भवनकलहंसकुलैर्ब्रह्मलोकनिवासिहृदयै रिवानुगम्यमानां समं सावित्र्या गृहमगात्।

तब पितामह भगवान् ब्रह्मा ने दुर्वासा के शाप से ग्रस्त सरस्वती को देखा। उनके शरीर पर सफेद जनेऊ ऐसा लगता था मानो कमल में उत्पत्ति के होने से उसके मृणाल सूत्र लग गए हो। उन्होंने अपने दाहिने हाथ से, जिसकी निर्मल अंगूठी के मरकत मणि किरणें फैल कर निकल रही थीं। और जो त्रिभुवन के कष्ट को दूर करने के लिए कुश की पवित्री धारण कर रहा था, शापजन्य कोलाहल को शान्त किया। अति विमल और फैलती हुई। दांतों की किरणों से मानों भविष्य के होने वाले सतयुग का आरम्भिक सूत्रपात कर रहा हो सरस्वती के प्रस्थान के समय मङ्गलपटह के समान अपनी आवाज से दिशाओं को भरते हुए ब्रह्माजी ने गम्भीरतापूर्वक कहा 'हे ब्राह्मण, आपने जिस मार्ग को अपनाया है वह अच्छे लोगों के द्वारा सेवित नहीं है, अन्त में गिरा देता है। जो जितेन्द्रिय नहीं हैं उनके आंखें उच्छृङ्खल (बेलगाम) इन्द्रियरूपी घोड़ों द्वारा उठी रज (धूल, राग) निस्तेज बना देती हैं। चर्मचक्षु कहां तक देख सकते हैं बुद्धिमान लोग अपने प्रज्ञारूपी चक्षु से समस्त भले-बुरे को देख लेती है। जल और अग्नि के समान धर्म और क्रोध का एक साथ रहना स्वभावविरुध है। प्रकाश (विवेक) को छोड़ अन्धकार (अज्ञान) में क्यों गिर रहे हो? क्षमा तो सब तपस्याओं का मूल है दूसरों की बुराइयों को ही देखने में निपुण दृष्टि के समान तुम्हारी क्रोध से अभिभूत बुद्धि अपने ही भीतर उत्पन्न राग दोष को नहीं देख पा रही है। कहाँ महान् तप के भार को वहन करने की क्षमता और कहाँ एकमात्र दूसरों के अवगुण ग्रहण करना! अत्यन्त क्रोध स्वभाव का नेत्रधारी भी अन्धा है, क्योंकि क्रोध से कलुषित हो जाने पर बुद्धि कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार नहीं कर पाती। पहले क्रोधी व्यक्ति की विद्या धुंधली हो जाती है और पीछे उनकी भौंह। पहले राग इन्द्रियों को घेरता है, पीछे (लाली रूप में) आंखों में व्याप्त हो जाता है। आरम्भ में तपस्या विगलित हो जाती है। पश्चात् स्वेदजल। पहले अयश स्फुरित होने लगता है, फिर अधर (फड़फड़ाने लगते हैं) विषवृक्ष के समान तुम्हारे तटारूपी वल्कल लोकविनाश के लिए कैसे उत्पन्न हो गए? तुम्हारी शीलरहित चित्तवृत्ति इस

मुनिवेष के लिए वर्तुल मोतियों वाली हारयष्टि के समान अनुचित है। शमभाव से रहित चित्त के द्वारा नट के समान कृत्रिम तपस्वी के वेष को व्यर्थ ही ढो रहे हो। (इससे) तुम्हारा भी कल्याण नहीं देखा रहा हूं। इसी हल्केपन से आज भी तुम ज्ञान-समुद्र के ऊपर-ऊपर ही तैर रहे हो। वे सब महर्षि कानों के बहरे आंखों के अन्धे और मूर्ख नहीं है। जबकि जहां-जहां क्रोध जैसा महान् दोष वर्तमान है, ऐसे अपने हृदय को तुम्हें नियन्त्रित करना चाहिए तो फिर क्यों तुमने निरपराधा सरस्वती को शाप से जकड़ डाला। अपनी असावधानी से हुई गलतियों से लज्जित होने का यही अवसर है, जिनसे मूर्ख जन निन्दनीय होता है। यह कह कर ब्रह्मा जी ने फिर कहा-'वत्से सरस्वति! दुःखी मत हो, यह सावित्री तेरे साथ जायगी। हमारे विरह से दुखी होने पर यह तुझे बहलायेगी। पुत्र का मुखमण्डल देखने तक तेरे इस शाप की अवधि है।' इतना कहकर ब्रह्माजी ने सुर, असुर और मुनि के मण्डल को अपने-अपने स्थान विदा किया और स्वयं शीघ्र पहुंचे हुए नारद के कन्धे पर हाथ रख कर समुचित दैनिक क्रिया करने के लिए उठ खड़े हुए। सरस्वती भी शप्त होने के कारण कुछ सिर झुकाकर सावित्री के साथ घर चली। कृष्ण मृतमर्च की रेखा जैसी उज्जवल ओर श्याम अपनी आंखें वह वक्ष पर डाल रही थी। मूर्तिमान शाप के अक्षरों के समान भौंरे उनकी श्वास की सुगन्धि के साथ लग गए, मानों उसे रोक रहे थे। शपजन्य शोक से उसके हाथ शिथिल पड़ गये थे। नीचे की ओर दौड़ती हुई उसके नखों किरणें मानो उसे मर्त्यलोक में अवतीर्ण होने का मार्ग बतला रहे थीं। ब्रह्मलोक में निवास करने वाले लोगों के हृदय के समान भवन के कलहंस उसके नूपुरों की आवाज से बुलाये जाने पर उसका पीछा करने लगे।

अत्रान्तरे सरस्वत्यतरणवार्तामिव कथयितुं मध्यमं लोकमवततारांशुमाली। क्रमेण च मन्दायमाने मुकुलितविसिनीविसरव्यसनविषण्णासरसि वासरे, मधुमदमुदितकामिनीकोपकुटिलकटाक्षक्षिप्यमाण इव क्षेपीयः क्षितिधरशिखरमवतरति तरुणतरकपिलपनलोहिते लोकैकचक्षुषि भवति, प्रस्नुतमुखमाहेयीयूथक्षरत्क्षीरधाराधवलितेष्वासन्नचन्द्रोदयोददामक्षरोदलहरीक्षालितेष्विव दिव्याश्रमोपशल्येषु, अपराह्णप्रचारचलिते चामरिणि चामीकरतटताडनरणितरदने रदति सुरस्त्रवन्तीरोधांसि स्वैरमैरावते, प्रसृतानेकविद्याधराभिसारिकासहस्रचरणालक्तकरसानुलिस इव प्रकटयति च तारापथे पाटलताम्, तारापथप्रस्थितसिद्धदत्तदिनकरास्तमयार्घ्यावप्रजाजिते रञ्जितककुभि, कुसुम्भभासि स्रवति पिनाकिप्रणतिमुदितसंध्यास्वेदसलिल इव रक्तचन्दनद्रवे उप्रेक्षर, वन्दारुमुनिवृन्दारक-वृन्दबध्यमानसंध्याञ्जलिवने, ब्रह्मोत्पत्तिसकमलसेवागतसकलकमलाकर इव राजति ब्रह्मलोकेः, समुच्चा रिततृतीयसवनब्रह्मणि ब्रह्मणियमक ज्वलितवैतानज्वलनज्वालाजटालाजिरेष्वारब्धधर्मसाधनशिबिरनीराजनेष्विव सप्तर्षिमन्दिरेषु, अघमर्षणमुषितकिल्बिष-विषगदोल्लाघलघुषु यतिषु संध्योपासनासीनतपस्विपङ्क्तपूतपुलिने तैरव प्लवमाननलिनयोनियानहंसहासदन्तुरितोर्मिणि मन्दाकिनीजले, जलदेवतातपत्र पत्ररथकुलकलत्रान्तः पुरसौधे निजमधुमधुरामोदिनि कृतम धुपमुदि मुमुदिषमाणे कुमुदवने, दिवसावसानताम्यत्तामरस-मधुरमधुसपीति प्रीते सुसुप्सति मृदुमृणालकाण्डकण्डूयनकुण्डलितकंकरे धृतपत्रराजिवीजितराजीवसरसि राजहंसयूथे, तटलताकुसुमधूलिधूसरितसरिति सिद्धपुरपुरंध्रि धम्मिल्लमल्लिकागन्धग्राहिणी सायंतने तनीयसि निशानिश्वासनिभे नभ स्वति, संकोचोदञ्चदुच्चकेसरकोटिसंकट कुशेशयकोशकोटरकुटीशायिनी षट् चरणचक्रे, नृत्योद्धूतधूर्जटिजटाटवीकुटजकुड्मलनिकलनिभे नभस्तलं स्तबकयति तारागणे, संध्यानुबन्धताम्र परिणमत्तालफलत्वाक्त्विषि कालमेघमे दुरे, मेदिनीं मीलयति नववयसि तमसि तरुणतरतिमिरपटल पाटनपटीयसि समुन्मिषति यामिनीकामिनीकर्णपूरचम्पककलिकाकदम्बके प्रदीपप्रकारे, प्रतनुतुहिनकिरणकिरण-वण्यालोकपाण्डुन्याश्यान नीलनीरमुक्तकान्तिदीकुलबालपुलिनायमाने शातक्रतवे क्रशयति तिमिरमाशामुखे, खमुचि मेचकितविकचितकुवलयरसि शशधरकर निकरकचग्रहाविले विलोयमाने मानिनीमनसीव शर्वरीशबरचिकुरचये चाषपक्षत्विषि तमसि, उदिते भगवत्युदयगिरिशिखरकटककुहरहरि खरनखरनिवहहतेतिनिहतनिजहरिणगलिरुधिरनियचयनिचितमिव लोहितं वपुरुदयरागधरमधरमिव विभावरीवध्या धारयति श्वेतभानौ, अचलच्युतचन्द्रकान्तजलधाराधौत इव ध्वन्ते, गोलोकगलित दुग्धविसरवाहिनि दन्तमयकरमुखमहाप्रणाल इवापूरयितुं प्रकृते पयोधिमिन्दुमण्डले, स्पष्टे प्रदोषसमये सावित्री शून्यहृदयामिव किमपि ध्यायन्तीं सास्त्रां सरस्वतीमवादीत्-'सखि, त्रिभुवनोपदेशदानदक्षा यास्तव पुरो जिह्वा जिह्वेति मे जल्पन्ती। जानास्येव यादृश्यो विसंस्थूला गूणवत्यपि जने दुर्जनवन्निर्दाक्षिण्याः क्षणभङ्गिन्यो दुरतिक्रमणीया न रमणीया दैवस्य वामा वृत्तयः। निष्कारणा च निकारकणिकापि कलुषयति मनस्विनोऽपि मानसमसदृशजनापतन्ती। अनवरतनयन जलसिच्यमानश्च तरुरिव विपल्लवोऽपि सहस्रधा प्ररोहति। अतिसुकुमारं च जनं संतापपरमाणवो मालतीकुसुममिव म्लानिमानयन्ति। महतां चोपरि निपतन्नणुरपि सृणिरिव करिणां क्लेशः कदर्थनायालम्। सहजस्नेहपाशग्रन्थिबन्धनाश्च बान्धुवभूता दुस्त्यजा जन्मभूमयः। दारयति दारुणः क्रर्कष्यात इव हृदयं संस्तुतजनविरहः, सा नार्हस्येवं भवितुम्। अभूमिः खल्वसि दुःखक्वेडाङ्कुरप्रसवानाम्। अपि च पुराकृते कर्मणि बलवति शुभेऽशुभे वा फलकृति तिष्ठत्याधिष्ठातरि प्रष्ठे पृष्ठतश्च कोऽवसरो विदुषि शुचाम्। इदं च ते त्रिभुवनमङ्गलैककमलम मङ्गलभूताः कथमिद मुखपवित्रयन्त्यश्रुबिन्दवः। तदलम्। अधुना कथय कतमं भुवा भागमलङ्कर्तुमिच्छसि। कस्मिन्नवतितीर्षति ते पुण्य भाजि प्रदेशे हृदयम्। कानि वा तीर्थान्युग्रहीतुमभिलषसि। केषु वा धन्येषु तपोवनधामसु तपस्यन्ती

स्थातुमिच्छसि। सज्जोऽयमुप चरणचतुरः सहपांशुक्रीडापरिचयपेशलः प्रेयान्सखीजनः क्षितितजावतरणाय। अनन्यशरणा चाद्यैव प्रभृति प्रतिपद्यस्व मनसा वाचा क्रियया च सर्वविद्याविधातार दातारं च श्वःश्रेयसस्य चरणरजः पवित्रितत्रिदशासुरं मुधासृति कलिकाकल्पितकर्णावतंसं देवदेवं त्रिभुवनगुरुं त्र्यम्बकम्। अल्पीयसैव कालेन स ते शापशोकविरतिं वितरिष्यति' इति।

इसी बीच सुर्य सरस्वती के अवतीर्ण होने या समाचार कहने के लिए मध्यलोक (भूलोक) में उतरे। क्रमशः दिन मन्द पड़ने लगा कमलिनी समूह के मुकुलित होने के दुःख से सरोवर दुखी हो गए। मदिरा से मदमाती कामिनियों के क्रोधः के सदृश लाल वर्ण वाले संसार के एकमात्र नेत्र भगवान् सूर्य अस्ताचल के शिखर पर उतरने लगे। दिव्य आश्रमों के समीपवर्ती प्रदेश आर्द्र स्तनों वाली गौओं के झुण्ड से बहती हुई दूध की धारा से धवल हो रहे थे। मानो निकट में होने वाले चन्द्रोदय से बढ़े हुए क्षीरसागर की लहरों द्वारा प्रक्षुलित हो रहे हों। सन्ध्याकालीन भ्रमण के लिए निकला हुआ, चंवर धारण किये हुए इन्द्र का हाथ ऐरावत सुवर्ण के तटों पर अपने दांतों को पीट कर बजाता हुआ स्वच्छन्द होकर मन्दाकिनी के किनारों को खोदने लगा। आकाश लाल हो गया, मानो मानो इधर-उधर घूमती हुई सहस्त्रों विद्याधरी अभिसारिकाओं के चरणों में लगे महावर से पुत गया हो। आकाश में घूमते हुए सिद्धों द्वारा सुर्यास्त के अर्घ्यरूप में ढल गया, दिशाओं को रंजित करता हुआ कुसुम्भी रंग का रक्तचन्दन चू रहा था, मानो शिव के प्रणाम करने में विभोर संध्या के शरीर से पसीना निकल रहा हो। वंदनशील मुनिजन अपनी सन्ध्योपासना में अंजलियां बांध रहे थे, मानो ब्रह्माजी की उत्पत्ति वाले कमल की सेवा के लिए समस्त कमल इकट्ठे हों, इस प्रकार ब्रह्मलोक सुशोभित हो रहा था। ब्रह्माजी लोगों का (संध्याकालीन) सवन (यज्ञीय स्नान) विषयक वेद का उच्चारण कर रहे थे। सप्तर्षियों के गृह-प्रांगण में यज्ञाग्नि की ज्वालाएं व्याप्त थीं, मानो शिविर में धर्म का एक कार्य नीराजन (आरती) नामक शान्तिकर्म हो रहा हो। अघमर्षण मन्त्र के जप से पाप के विषाक्त रोग का विनाश हो जाने से यतिलोग स्वस्थ हो रहे थे। (मन्दाकिनी के तट का) पलिन संध्योपासना के लिए तपस्वियों के अवतरण से और भी पवित्र हो रहा था। तैरता हुआ ब्रह्मा जी का वाहन हंस अपनी उज्जवल हंसी से मन्दाकिनी की तरंगों की निम्नोन्नत शोभा बढ़ा रहा था। जलदेवता के छत्रस्वरूप और पक्षि-कामिनियों के अन्तःपुर के प्रासादरूप, अपने मकरंद की मीठी सुगंध वाले, तथा धीरों के प्रसन्न करने वाले कुमुद तत्काल खिल रहे थे। राजहंसों का समूह ढंपते हुए कमलों के मीठे मधु (मकरन्द या मद्य) का सहपान करने से छककर, गर्दन को कुण्डलित करके कोमल मृणालों द्वारा शरीर खुजलाते हुए, पंखों को फड़फड़ा कर पद्म सरोवरों को हिला देते हुए ऊँघ रहा था। तट की तलाओं के फूलों की धूल उड़ कर धूसर बनाती हुई, सिद्धों के नगर को उत्तम महिलाओं के बंधे हुए केशपाश की मल्लिका की गंध लेकर रात की सांस की समान वायु मंद-मंद बहने लगी। झुण्ड के झुण्ड भौंरे सिकुड़ जाने से पराग भरे कमलों के कोशों की संकीर्ण कुटिया में विश्रम करने लगे। नृत्य के समय हिलती हुई भगवान् शंकर की जटाटवी से फूल से गुच्छेदार तारे आकाश में छिटक गए। संध्या की लाली लिये हुए, पकते हुए तालफल की त्वचा के समान कलौंस भरी लगाए हुए प्रलयकालीन मेघों के सदृश गहन पहला अंधेरा धरती पर छा गया। रात्रिरूपी कामिनी के कान में खो सी हुई चम्पा की कली के समान दीपक गहन अंधेरे को हटाने लगे। यमुना का रेतीला किनारा नीले जल के हट जाने पर जैसे लगता है, उसी प्रकार पूर्व दिशा का मुख चन्द्रमा की कुछ-कुछ रश्मियों के लुनाई भरे आलोक से पीला होने लगा और अन्धकार को क्षीण करने लगा। दिवसान्त होने से अंधकार आकाश को छोड़ने लगा, खिलेहुए कुवलय वाले सरोवर विभिन्न वर्ण के हो गए। चाहे पक्षी के पंखजैसा आर भीलनी के बालों जैसा अंधेरा चन्द्र कि किरणों के कचग्रह से मानिनी नायिका के मन के समान धीमा पड़ने लगा। रात्रिवधू के अधराग के समान लाल चन्द्रमा उदित हो गया, मानो उदयाचल की खोह में रखने वाले सिंह के द्वारा पकड़ पंजे से मार गए अपने हिरन के रक्त से वह रंग गया था। उदयाचल से बहती हुई चन्द्रकान्त मणियों की जलधारा से मानो सारा अंधेरा धुल गया। आकाश में उठ कर चन्द्रमा अपनी सफेद चांदनी से समुद्र को ऐसे भरने लगा जैसे हाथी के दांतो का बना हुआ मकरमुखी पनाला गलाकर उसमें दूध की धार बहा रहा हो। इस प्रकार प्रदोष समय के स्पष्ट हो जाने पर सावित्री शून्य-हृदय होकर कुछ सोचती और बड़बड़ाती हुई सरस्वती से बोली-'सखि, तू त्रिभुवन को उपदेश देने में चतुर है' तेरे सामने मेरी जीभ कुछ बकते हुए शर्मिन्दा हो रही है तू तो जानती ही है कि गुणवान् लोगों के विषय में जैसी दैवी प्रवृत्तियां मर्यादाहीन, दुर्जनों की तरह क्रूर, क्षणभङ्गुर, दुरन्त एवं अनर्थकारी होती है। समानता न रखने वालों द्वारा बिना किसी कारण के उत्पन्न परिभव का लेश भी मनस्वी के भी मन को कलुषित कर डालता है। विपत्ति का अंकुर निरन्तर आंसुओं से सींचे जाने पर (पल्लव रहित भी) वृक्ष के समान हजारों शाखा प्रशाखाओं में बढ़ता चला जाता है। मालती के फूल की तरह अतिसुकुमार लोगों को सन्ताप के परमाणु मुरझा डालते हैं।

छोटा भी अंकुश जैसे हाथियों पर गिर कर उनको परेशान कर देता है, वैसे ही बड़ों के ऊपर थोड़े ही क्लेश का पड़ना बहुत कष्टकर हो जाता है। बंधु-बांधव के समान अपनी जन्मभूमियां, जिनके साथ स्वाभाविक स्नेहपाश का गठबन्धन हो चुका है दुस्त्यज हैं। अपने परिचित जनों का विरह दारुण आरे की तरह हृदय को चीर डालता है। पर तुझे इस तरह नहीं होना चाहिए। दुःखरूपी विष के पौधे के उत्पन्न होने के लिए तू स्थान नहीं है। और भी, जब कि पूर्वजन्म के बलवान् शुभ या अशुभ कर्म आगे और पीछे फल दे चुके

हैं, हां तो बुद्धिमान को शोक करने का क्या अवसर है? त्रिभुवन का मंगल करने वाला तेरे कमल के समान इस मुख को अमंगल आंसू क्यों अपवित्र कर रहे हैं? बस रहने से अब बता-धरती के किस भाग को अलंकृत करना चाहती है? किस पुण्यवान् प्रदेश में उतरने के लिए तेरा हृदय तुझे प्रेरित कर रहा है? किन तीर्थों को तू अनुगृहीन करना चाहता है? तपोवन के किन धन्य स्थानों में तपस्यानिरत रहने के लिए सोच रही है? उपचार करने में चतुर, बाल्यकाल से ही धूल की क्रीड़ाओं का साथी और प्रिय यह जन तेरे साथ पृथिवी पर उतरने के लिए तैयार है। अनन्यशरण तू आज से ही मन, वचन और कर्म से भगवान् शंकर की मान, जो समस्त विद्याओं के विधाता एवं कल्याण को देने वाले, देवों के देव और त्रिभुवन के गुरु हैं। जिन्होंने अपने चरण की धूल से सुर, असुर दोनों को पवित्र किया है और चन्द्र की एक कला को अपना कर्णावतंस बनाया है। बहुत थोड़े समय में वे तेरे शापजन्य शोक को दूर कर देंगे।

एवमुक्ता मुक्तमुक्ताफलधवललोचनजललवा सरस्वती प्रत्यवादीत्-'प्रियसखि, त्वया सह विचरन्त्या न मे कांचिदपि पीडामुत्पादयिष्यति ब्रह्मलोकविरहः शापशोको वा केवलं कमलासनसेवासुखमार्द्रयति मे हृदयम्। अपि च त्वमेव वेत्सि मे भुवि धर्मधामानि समाधि साधनानि योगयोग्यानि च स्थानानि स्थातुम्' इत्येवमभिधाय विरराम्। रणरणकोपनीतप्रजागरा चानिमीलितलोचनैव ता निशा मनयत्।

इस प्रकार सावित्री के कहने पर मोती की भांति सफेद आंसू के कण आंखों से टपकती हुई सरस्वती बोली-'प्रिय सखी, ब्रह्मलोक का विरह या शापजनित शोक कोई भी पीड़ा उत्पन्न नहीं कर सकेंगे, तब तक मेरे साथ मैं विचरण करती रही हूं। केवल ब्रह्माजी की सेवा का सुख मेरे हृदय को पिघला रहा है। पृथिवी पर मेरे लिए धर्म के स्थान जो समाधि (चित्तकी एकाग्रता) के साध्न एवं योग (चित्तवृत्ति का निरोध) के उपयुक्त हैं उन्हें तू ही जानती है।' इतना कह वह चुप हो गई। मानसिक उथल-पुथल (रणरणक) के कारण उसकी नींद उचट गई और उसने आंखें बिना बंद किये उस रात को बिताया।

अन्येद्युरुदिते भगवति त्रिभुवनशेखरे खणखणायमानस्खलत्खलीन क्षतिनिजतुरगमुखक्षिप्तेन क्षतजेनेव पाटलितपुष्युदयाचलचूडामणौ जरत्कृकवाकुचूडारुणारुणपुरः सरे विरोचते नातिदूरवर्ती विविच्य नातिदूवर्ती विविच्य पितामहविमान हंसकुलपालः पर्यटन्परवक्त्रमुच्चैरगायत्-

'तरलयसि दृशं किमुत्सुकामकलुषमानसवासलालिते।
अवतर कलहंसि वापिकां पुनरपि यास्यसि पङ्कजालयम्'॥

दूसरे दिन तीनों भुवन के शिरोमाल एवं उदयाचल के चूडामणि भगवान् सूर्य उदित हुए। उनका मण्डल टहाका लाल था, मानों खश-खण करते हुए लगाम की क्षति से उत्पन्न अपने घोड़ों के मखुरुधिर के फव्वारे उस पर पड़ गए हों। वृद्ध कुक्कुट की चूड़ा के समान लाल वर्ण वाला अरूण उनके आगे बैठा था। कुछ ही दूर पर घूमते हुये ब्रह्मा जी के वाहन हंसों के रक्षक ने सोच कर ऊँचे स्वर से अपवक्त्र का गान किया-

'अरी कलहंसी, मानसरोवर के निर्मल जल में रहने वाली तू अपनी उत्सुक आंखों को क्यों चंचल कर रही है? अभी बावली में उतर जा, फिर पंकजालय (सरोवर) में जाना।.[इस श्लोक में हंसपाल सरस्वती को भी सिखावन दे रहा है कि सरस्वती, तू निर्मल चित्त ब्रह्मा जी की लाड़ली है, क्यों अपनी उत्सुक आंखे थका रही है? अभी वापिका (मर्त्यलोक) में उतर, फिर ब्रह्मा जी (पंकजालय) को प्राप्त कर लेना।]

तच्छ्रुत्वा सरस्वती पुनरचिन्तयत्-'अहमिवानेन पर्यनुयुक्ता। भवतु। मानयामि मुनेर्वचनम्' इत्युक्त्वोत्थाय कृतमहीतलावतरणसंकल्पा परित्यज्य वियोगविक्लवं स्वपरिजनं ज्ञातिवर्गमविगणय्यावगणा त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य चतुर्मुख कथमप्यनुनयनिवर्तितानुयायिव्रतिव्राता ब्रह्मलोकतः सावित्री द्वितीया निर्जगाम।

उसे सुनकर सरस्वती ने फिर सोचा-'मानों मुझसे इसने कहा है। अच्छा, मैं मुनि दुर्वासा के वचन जानती हूं,' यह कह कर पृथिवी पर उतरने के लिए संकल्प करके उठी ओर वियोग से व्याकुल अपने परिवार को छोड़, अपने बन्धु-बांधवों को न मान, ब्रह्मा जी की तीन बार प्रदक्षिणा करके, साथ करते हुए तपस्वियों को किसी प्रकार अनुनय विनय द्वारा लौटा कर, अकेले सावित्री को साथ ले ब्रह्मलोक से निकल पड़ी।

ततः क्रमेण ध्रुवप्रवृत्ता धर्मधुनेमिवाधोधावमानधवलपयोधराम्, उद्धुरध्वनिम्, अन्धकमथनमौलिमालतीमालिकम्, आलीयमान बालखिल्यरुद्धरोधसम्, अरुन्धतीधौततारवत्वचम् त्वङ्गत्तुङ्गतरङ्गतरत्तरलतरतारताकाम्, तापसवितीर्णतरलतिलोदकपुलकितपुलिनाम् आप्लवनपूतपितामहपातितपितृतिण्डपाण्डुरितपाराम्, पर्यन्तसुप्त सप्तर्षिकुशशयनसूचिसूर्य ग्रहसूतकोपवासाम्, शिवपुरपतित-निर्माल्यमन्दरदा मकाम्, अनादरदारितमन्दरदरोदूषदम्, अनेकनाकनाकनिकाय कामिनोकुचकलशविलुलितावियहाम्, ग्राहग्रावग्राम-

स्खलनमुखरितस्रोतः सम् सुषुम्णास्रुतशशिधाशोकरस्तबकतारकिततीराम्, विषणग्नि कार्यधूमधूरसरितसैकताम्, सिद्धविरचित-बालुकालिङ्गलङ्घनत्रासविद्रुत विद्याधराम्, निर्मोकमुक्तिमिव गगनोरगस्य, लीलाललाटिकामिव त्रिविष्टपविटस्य, विक्रयवीथीमिव पुण्यपण्यस्य, दत्तार्गलमिव नरक नगरद्वारस्य, अंशुकोष्णीषपट्टिकामिव सुमेरुनृपस्य, दुगूलकदलिकामिव कैलासमृभ्य, पद्धतिमिवपवर्गस्य, नेमिमिव कृतयुगस्य सप्त सागरराजमहिषीं मन्दाकिनीमनुसरन्ती कर्त्यलोकमवततार। अपश्य च्चाम्बरतलस्थितेव हारमिव वरुणस्य, अमृतनिर्झरमिव चन्द्राचलस्य, शशिमणिनिष्यन्दमिव विन्ध्यस्य, कर्पूरद्रुमद्रवप्रवाहमिव दण्डकारण्यस्य, लावण्यासप्रस्रवणमिव दिशाम्, स्फाटिकशिलापट्टशयनमि वाम्बरश्रियाः स्वच्छशिशिरसुरसवारिपूर्ण भगवतः पितामहस्यापत्यं हिरण्यवाहनामनं महानद्म, यं जनाः तेरे वासमरचयत्। उवाच च सावित्री-'सखि, मधुरमयूरविरुतयः कुसुमपांशुपटलसिकतिलतरुतलाः परिमलमत्तमधुपवेणीवीणारणितमणीया रमयन्ति मां मन्दी कृतमन्दाकिनीद्युतेरस्य महानदस्योपकण्ठभूमयः। पक्षपति च हृदयमत्रैव स्थातुं मे' इति। अभिनन्दितवचना च तथेति तया तस्य पश्चिमे तीरे समवारत्। एकस्मिंश्च शुचौ शिलातलसनाथे तटलतामण्डपे गृहबुद्धि बबन्ध। विश्रान्ता च नातिचिरादुत्थाय सावित्र्या सार्धमुच्चितार्चनकुसुमा सस्नौ। पुलिनपृष्ठप्रतिष्ठितशिवलिङ्गा च भक्त्या परमया परब्रह्मपुरः सरां सम्यङ्मुद्राबनधविहितपरिकरां ध्रुवागीतिगर्भामवनिपवनवनगगनदहनतपनतुहिनकिरणयजमानमयीर्मूर्तिरष्टावपि ध्यायन्ती सुचिरमष्टपुष्पिकादात्। अयत्नोपनतेन फलमूलेनामृतरसमप्य तिशिशयिषमाणेन च स्वादिम्ना शिशिरेण शोणवारिणा शरीस्थितिमकरोत्। अतिवाहितदिवसा च तस्मिल्लतामण्डपशिलातले कल्पितपल्लवशयना सुष्वाप। अन्येद्युरुष्यननैव क्रमण नक्तंदिनमत्य वाहयत्।

तब क्रम से सरस्वती सात सागरों की पटरानी मंदाकिनी का अनुसरण करती हुई, कर्त्यलोक में उतरी। वह मंदाकना ध्रुव [illegible] विष्णु) से निकली हुई कामधेनु के समान नीचे लटकते हुए पयोधरों (मेघों, स्तनों) को धारण कर रही थी। उसकी [illegible] वह अंधक के शत्रु भगवान् शंकर के मस्तक की मालती-माला थी। तटपर बालखिल्य मुनियों की भीड़-भाड़ थी। [illegible] बालकल का संमार्जन करती थी। उसकी दौड़ती हुई ऊँची लहरों पर चंचल तारे हिलौरें ले रहे थे। उसकी रतो के [illegible] तिलोदक से पुलकित कर रहे थे। स्नान से पवित्र ब्रह्माजी द्वारा पितरों के लिए लुढ़काये गये पिण्डों से उसक [illegible] था। पास में सोये सप्तर्षियों की कुश-शय्या से सेचित हो रहा था कि उन्होंने यहां सूर्यग्रहण के अशौच का उपशम किय [illegible] से पवित्र होकर इन्द्र द्वारा भेंट किए गए पूजा के फूलों से वह विविध वर्ण वाली हो रही थी। शिवपुर मे गिरि मदरा [illegible] धारण कर रहा था। आयास के बिना ही उसने मन्दराचल की कन्दराओं के चट्टान तोड़ डाले थे। अनक स्वर्ग [illegible] दिव्याङ्गनाओं के कुचनकशों से (आहत होकर) वह डोल रही थी। घड़ियालों और चट्टानों पर निपात होने से रसक प्रवा [illegible] उठते थे। सूर्य की (अमृतमय रश्मि) सुषुम्णा से निकले अमृत के फुहारे मन्दाकिनी के तीर पर तारों की तरह बिछ गए [illegible] के यज्ञ से उत्पन्न धुवां नदी की रेत को धुआंस कर रहा था। सिद्धों द्वारा बनाये गए बालू के शिवलिङ्ग का अकस्मात् [illegible] से उत्पन्न त्रास के कारण विद्याधर इधर-उधर भाग रहे थे। मानों वह मन्दाकिनी गगन सर्प को उज्ज्वल लहराती हुई [illegible] त्रिभुवनरूपी विट (धूर्त) की लीला-ललाटिका (ललाट का अहंकार) हो, पुण्यरूप सौदे की बाजर-गली हो, नरक के [illegible] बन्द करने वाली आगल (अगंला) हो, सुमेरू पर्वत रूपी राजा की अंशुक नामक महीन वस्त्र की उष्णीष (पगड़ी) पर बधा हुआ [illegible] पाट हो, कैलास रूपी हाथी को रेशमी पताका हो, मोक्ष का मार्ग हो सतयुक के रथ की धुरा हो। आकाश में उतरी हुई सरस्वती [illegible] भगवान् पितामह के अपत्स्य हिरण्यवाह नामक महानन्द को देखा जो वरुण देवता का जैसा हार हो, जो चन्द्र पर्वत से [illegible] अमृत निर्झर के समान था, जो विन्ध्य पर्वत से बहता हुआ चन्द्रकान्त मणि के प्रवाह के सदृश था, जो दण्डकारण्य के कपूर [illegible] से बहते हुए कपूरी प्रवाह के समान था। दिशाओं के लावण्यरस का वह जैसा सोता था। मानों वह का आकाश लक्ष्मी के [illegible] लिए गढ़ा हुआ स्फटिक का शिलापट्ट (पाटा) हो। वह महानन्द, स्वच्छ, शिशिर और सुरस (स्वादिष्ट) जल से भरा था [illegible] शोण भी कहते हैं। शोण को देखकर सरस्वती का हृदय उसकी रमणीयता में रम गया और उसने वहीं डेरा डाला। उसने सावित्री से कहा-'सखी, इस महानन्द के तटवर्ती कछार में मोर मधुर ध्वनि करते हैं, वृक्षों के नीचे फूलों के रज बालू की तरह [illegible] है। फूलों की गन्ध से मतवाले और वीण के समान गुञ्जार कर रहे हैं। इसके सामने मन्दाकिनी भी कुछ नहीं। मेरा हृदय [illegible] में रहने के पक्ष में है।' सावित्री ने 'तथा' कह कर सरस्वती की बात का समर्थन किया। तब सरस्वती उसे लेकर उस [illegible] पश्चिमी तीर पर उतरी। वहीं एक पवित्र शिलातल से युक्त लतामण्डप को घर मानकर ठहर गई। कुछ देर तक विश्राम कर [illegible] उठी और सावित्री के साथ पूजा के फूल चुन कर स्नान किया। तब उसने नदी के किनारे रेत में बैठ कर बालू का शिवलिंग [illegible] किया और पञ्चब्रह्म की स्तुति के अनन्तर सम्यक् प्रकार से कई मुद्राबन्ध किए और ध्रुवीगीति के साथ पृथिवी, वायु [illegible] अग्नि, सूर्य चन्द्र और यजमानमयी शिव का आठ मूर्तियों का देर तक ध्यान करती हुई आठ फूलों को अर्पित किया। किसी [illegible] बिना ही मिले हुए अमृत रस से भी बढ़ कर मीठे फल-फूल से और शोण के ठण्डे जल से उसने शरीर की रक्षा मात्र के लिए अत्यल्प भोजन किया। इस प्रकार उसी लतामण्डप के शिलातल पर पत्तों की सेज बनाकर लेट गई। दूसरे दिन इसी क्रम से [illegible] रात-दिन गुजारे।

एवमतिक्रामत्सु दिवसेषु गच्छति च काले याममात्रोद्गते च रवावुत्तरस्यां ककुभि प्रतिशब्दपूरितवनगह्वरं गम्भीरतारतरं तुरङ्गहेषित ह्रादमशृणोत्। उपजातकुतूहला च निर्गत्य लतामण्डपाद्विलोकयन्ती विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डुरे रजःसङ्गतं नातिदवीयसि संमुखमपितन्तमपश्यम्। क्रमेण च सामीप्योपजायमानाभिव्यक्ति तस्मिन्महति शफरोदरधूसरे रजसि पयीव मकरचक्रं प्लवमानं पुरः प्रधावमा नेन, प्रलम्बकुटिलकचपल्लवघटितललाटजूटकेन, धवलदन्तपत्रिकाद्युतिहसितकपोलभित्तिना, पिनद्धकृष्णागुरुपङ्कक्लक-कच्छुररणकृष्ण शबलकषायकञ्चुकेन, उत्तरीयकृतशिरोष्टनेन, वामप्रकोष्ठनिविष्टस्पष्ट हाटककटकेन, द्विगुणपट्टपट्टिकागाढ-ग्रन्थिग्रथितासिधेनुना, अनवरत व्यायामकृतकर्कशशरीरे, वातहरिणयूथेनैव मुहुर्मुहः खमुड्डीमायेन, लङ्घितसमविषमावटविटपेन, कोणधारिणा, कृपाणपाणिना, सेवागृहीतविविधवनकुसुमफलमूलपर्णेन, 'चल चल, याहि, अप सर्पासर्पः, पुरः प्रयच्छ पन्थानम्' इत्यनवरतकृतकलकलेन युवप्रायेण, सहस्रमात्रेण पदातिजनेन सनाभिमश्ववृन्दं सददर्श।

इस तरह कई दिन बीत गए। समय बहुत चला गया। एक रोज एक पहर दिन चढ़ गया, तब सावित्री को उत्तर दिशा की ओर घोड़ों की हिनहिनाहट भरी आवाज सुन पड़ी, वह अपने शब्दों से वन की धाँधियों को भर रही थी और अत्यन्त गम्भीर एवं तीखी थी। सरस्वती के मन में कुतूहल हुआ तो लतामण्डल से निकल आई और उसने सामने थोड़ी ही दूर पर खिले हुए केवड़े के पत्तेदार गर्भ के समान सफेद उड़ती हुई धूलराशि को देखा। क्रम से जब वह और भी समीप आ गई तो मछली के पेट के समान धूसर वर्ण वाले उस धूलि-पटल में एक सहस्र प्रायः युवकों को पैदल सेना के साथ घोड़े इस तरह चलते हुए दिखाई पड़े मानों जल में झुण्ड के झुण्ड मगर तैर रहे हों। (पैदल सेना के वे हजार जवान) आगे की ओर दौड़ते आ रहे थे। उनके सिर पर लम्बे और घुंघराले बालों का बंधा हुआ जूड़ा था। उनके कपोलों पर हाथी दांत के बने पत्ते हंसी की चमक उत्पन्न कर रहे थे। वे काले अंगुरू की बुंदकियों के छींटे वाले लाल रंग के कंचुक से कसे हुए थे। उन्होंने सिर पर चादर की पगड़ी बांध ली थी। उनके बायें हाथ की कलाइयों में सोने के कड़े थे। उनकी कमर में कपड़े की दोहरी पेटी की मजबूत गांठ थी और उसमें छुरी खोंसी हुई थी। निरन्तर व्यायाम करने से उनका बदल कड़ा था। हवा से बात करने वाले हिरनों की तरह वे मानों आकाश में उड़ते चल रहे थे। वे ऊबड़-खबड़ जमीन, खइयों और झाड़ियों को डांकते जाते थे। कुछ सैनिक मुंगरी या डण्डे लिये थे और कुछ के हाथ में तलवारें थी। सहायता के लिए उन्होंने बनैले फूल, फल, मूल और पत्ते के लिये थे। 'चलो-चलो', 'जाओ-जाओ', 'आगे रास्ता दो' इस तरह हमेशा शोर गुल मचा रहे थे।

मध्ये च तस्य सार्धचन्द्रेण मुक्ताफलजालमालिना विविधारत्नखण्डचितेन शङ्खक्षीरफेनपाण्डुरेण क्षीरोदेनेव स्वयं लक्ष्मीं दातुमागतेन गगनगतेनातपत्रेण कृतच्छायम्, अच्छाच्छेनाभराणद्युतीनां निवहेन दिशामिव दर्शनानुरागलग्नेन चक्रवालेनानुगम्यमानम्, आनि तम्बविलम्बिन्या मालतीशेखरस्त्रजा सकलभुवनविजयार्जितया रूपपता कयेव विराजमानम्, उत्सर्पिभिः शिखण्डखण्डिका-पद्मरागमणेररुणैरंशुजालैरदृश्यमानवनदेवताविधृतैर्बालपल्लवैरिव प्रभृज्यमानमार्गरेणु परुषवपुषम्, बकुलकुड्मलमण्डली-मुण्डमालामण्डनमनोहरेण कुटिल कुन्तुलस्तबकमालिना मौलिना मीलितातपं पिबन्तमिव दिवसम्, पशुपतिजटामुकुट-मृगाङ्कद्वितीययशकलघटितस्येव सहजलक्ष्मीसमालिङ्गितस्य ललाटपट्टस्य मनः शिलापङ्कपिङ्गलेन लावण्येन लिम्पन्तमिवान्तरिक्षम्, अभिनवयौवनारम्भावष्टम्भप्रगल्भदृष्टिपाततृणीकृत त्रिभुवनस्य चक्षुषः प्रथिम्ना विकचकुमुदकुवलयकमलसरः सहस्र सछादितदशदिशं शरदमिव प्रयर्तयन्तम्, आयतनयननदीसीमान्त सेतुबन्धेन ललाटतटशशिमणिशिलातलगलितेन कान्तिसलिलस्रोत सेव द्राघीयसा नासावंशेन शोभमानम्, अतिसुरभिसहकारकर्पूरकक्कोललवङ्गपारिजातकपरिमलपुचा मत्तमधुकरकुलकोलाहलमुखेरेण मुखेनसनन्दवनं वसन्तमिवावतारयन्तम्, आसन्नसुहृत्परिहासभावनोत्तानितमुखमुग्धहसितैर्दशनज्योस्नास्नपितादिङ्मुखैः पुनः पुनर्नभसि संचारिणं चन्द्रलोकपिव कल्पयन्तम्, कदम्बमुकुलसील मुक्ताफलयुगलमध्याध्यासितमरकतस्य त्रिकण्टककर्णाभरणस्य प्रेङ्खतः प्रभया समुत्सर्पन्त्या कृतसकुसुमहरितकुन्दपल्लवकर्णावतंस मिवोपलक्ष्यमाणम्, आमोदितमृगमदपङ्कलिखितपत्रभङ्गभास्वरम्, भुजयुगल-मुद्दाममकराक्रान्तशिखरमिव मकरकेतुकेतोः दण्डद्वयं दधानम्, धवल ब्रह्मसूत्र सीमन्तितं सागरमथनसामर्षगङ्गास्रोतः संदा नितमिव मन्दरं देहमुद्वहन्तम्, कर्पूरक्षोदमृष्टिच्छुरणपांशु लेनेव कान्तोच्चकुचचक्रवाकयुगलविपुलपुलिनेनोरः स्थलेन स्थूलभुजायाम पुञ्जितम्, पुरो विस्तारयन्तमिव दिक्चक्रम्, पुरस्तादीषदधोनाभि निहितककोणकमनीयेन पृष्ठतः कक्ष्याधिकक्षिप्तपल्लवेनोभयतः संवलन प्रकटितोरुत्रिभागेन हारीतहरिता निबिडनिपीडितेनाधरवाससा विभज्यमाननतुतरमध्यभागम्, अनवरतश्रमोपचित-मांसकठिनाविकट मक रमुखसंलग्नजानुभ्यामतिविशालवक्षःस्थलोपलवेदिकोत्तम्भशिलास्तम्भाभ्यां चारुचन्दनस्थासकस्थूलतर-कान्तिभ्यामुरुदण्डाभ्यामुप हसन्तमिवैरावतकरायामम्, अतिभरितोरुभावहनखेदेनेव तनु तरजङ्घाकाण्डम्, कल्पपादपल्लद्वयस्येव पाटलस्योभयपार्श्वाव लम्बिनः पादद्वयस्य दोलायमानैर्नमयूखेरश्वमण्डनचामरमालामिव रचयन्तम्, अभिमुखमुच्चैरुदञ्चद्भिरति-चिरमुपरिविश्राम्यद्भिरव वलितविकटं पतद्भिः खुरैः खण्डिभुवि प्रतिक्षणदशनविमुक्तखण खणायिताखरखलीने दीर्घघ्राणलीनलालिके ललाटलुलितचारुचामरकरचक्रमे शिञ्जानशातकौम्भायानशोभिनि मनोरंहसि गोलांगूलकपोलकालकायलोम्नि नीलसिनुघ्वारवर्णे वाजिनि महति समारूढम्, उभयतः पर्याणपट्टश्लिष्टहस्ताभ्यामासन्नपरिचारकाभ्यां दोधूमानधवललचामारिकायुगलम्, अग्रतः

पठतो वन्दिनः सुभाषितमुत्कण्टकितपोलफलकेन लग्नकर्णोत्पलकेसरपक्ष्मशकलेनेव मुखशशिना भावयन्तम्। अनङ्गयुगावतारमिव दर्शयन्तम्, चन्द्रयीमिव सृष्टिमुत्पादयन्तम्, विलास प्रायमिव जीवलोकं जनयन्तम्, अनुरागमयिव सर्गान्तमारचयन्तम्, शृङ्गारमयमिव दिवसमापादयन्तम्, रागाराज्यमिव प्रवर्तयन्तम्, आकर्षणाञ्जनमिव चक्षुषोः, वशीकरणमन्त्रमिव मनसः, स्वस्थावेशचूर्णमिवेन्द्रियाणाम्, असंतोषमिव कौतुकस्य, सिद्धयोगमिव सौभाग्यस्य, पुनर्जन्मदिवसमिव मन्मथस्य, रसायनमिव यौवनस्य, एकाराज्यमिव गमणीयकस्य, कीर्तिस्तम्भमिव रूपस्य, मूल कोशिमिव लावण्यस्य, पुण्यकर्मपरिणाममिव संसारस्य, प्रथमांकुरमिव कान्तिलताया:, सर्गाभ्यासफलमिव प्रजापतेः, प्रतापमिव विभ्रमस्य, यशःप्रवाहमिव वैदध्यस्य, अष्टादशवर्षदेशीयं युवानमद्राक्षीम्।

सरस्वती ने घोड़ों की उस टुकड़े के बीच में अट्ठारह वर्ष के ऐ आश्वारोही युवक को देखा। अर्धन्द्र से युक्त, मोतिय की माल वाला, अनेक प्रकार के रत्नों से खचित, शंख और दूध फेन की तरह उजला छत्र उस पर छाया कर रहा था, मानो रमा को स्वयं अर्पित करने के लिए क्षीरसमुद्र ही आकाश में लहरा रहा हो। आभूषणों की निर्मल किरणें इस तरह उसका पीछा कर रही थी मानो उसके दर्शन के अनुराग से सारी दिशाएं एकत्र होकर अनुसरण कर रही हों। मालती की शेखरस्रज उसके नितम्ब तक लटक रही थी, मानो वह समस्त भुवनों की विजय करने से प्राप्त रूप कर पताका से विराजमान हों। शिखण्ड-खण्डिका नामक उसके शिरोभूषण में जड़ी हुई पद्मराग मणि की लाल किरणें फैल रही थीं, मानो दृष्टिपथ में न आने वाली वनदेवता बालपल्लवों द्वारा मार्ग की धूल से उसकी रूखर देह को झाड़ती हो। मौलसिरी के कुड्मलों से बनी हुई मुण्डमाला से मनोहर एवं घुंघराले बालों के गुच्छों से अपने शिर से दिन के आतप को मन्द करता हुआ वह मानो दिन को भी पी रहा था। उसका ललाट शिव के ललाट से एकदम नये के दूसरे खण्ड से मानो बना हुआ था और उसमें स्वाभाविक शोभा थी, मानों वह मनः शिला के पंकसदृश लाल पीले सुगन्धित के लावण्य से सारे अन्तरिक्ष को लीप रहा था। वह नई जवानी के आरम्भ में गर्वीले और उद्धत दृष्टिपात करने वाली आंखों से सारे संसार को तृण के बराबर समझ रहा था, ऐसी आंखों की दीर्घता को ढकने वाली शरत् को प्रवर्तित कर रहा था। उसकी नासा मानो दीर्घ नयनों की नदी के सीमान्त में बनाया गया पुल का बांध हो, या उसके ललाटरूपी चन्द्रकान्तमणि के शिलातल से बहता हुआ कान्ति का प्रवाह हो, ऐसे वह अपने नासावंश से सुशोभित था। सहाकार, कर्पूर, काक्कोल, लवङ्ग और पारिजातक इन सुगन्धित पदार्थों की गन्ध उसके मुख से निकल रही थी, उस पर मतवाले भौंरे गुञ्जार रहे थे, मानो वह चन्दन वन को मौलसिरी वसन्त को उतार रहा था। वह जब कभी अपने पास के मित्रों के साथ चांदनी में घुल जाता तो मानो वह आकाश में बार-बार स्नान करने वाले चन्द्रालोक का निर्माण कर रहा था। उसके कान में त्रिकंटक नाम का गहना था, जो कदम्ब के कुड्मल के समान स्थूल मोतियों के बीच में पन्ने का जड़ाव करके बनाया गया था, ऐसे त्रिकंटक की प्रभा फैल रही थी, मानो उस युवक ने हरे के सहित कुन्द के हरे पल्लवों को कर्णावतंस बना लिया हो। सुगन्धित कस्तूरी के पंक की बनी हुई पत्र रेखाओं से उसके दोनों चमक रहे थे, मानो कामदेव की पताका के बड़े-बड़े मकरों से आक्रान्त शिखर वाले दो डण्डे हो। मानों समुद्रमंथन से निकली गंगा की धाराओं से जकड़े हुए मन्दराचल के समना श्वेत यज्ञोपवती से वेष्टित शरीर को वह धारण कर रहा था।

कर्पूर के चूर्ण की मूंठों से घूसरित उसकी छाती कान्ता के ऊँचे स्तन रूपी चक्रवाक युगल के लिए चौड़ी रेतीला उसकी स्थूल छाती से वह मानो अपनी स्थूल भुजाओं के आयात में मुञ्जीभूत दिशाओं को फैला रहा था। हारीत पक्षी के समान नील रंग का कस कर बंधा हुआ अधोवस्त्र उसकी पतली कमर को विभाजित कर रहा था, सामने की ओर नाभि से कुछ नीचे उसका एक कोना लटक अच्छा लग रहा था। दोनों ओर शरीर के मोड़ने से दाहिनी जांघ का कुछ भाग दिखाई दे जाता था। वह अपने ऊरुदण्डों से ऐरावत के सूंड का मनो उपहास कर रहा था, दोनों जंघो की मांस हमेशा व्यायाम करते रहने से बढ़ गया था, वे ऐसी जगती थीं मानो वे दुर्ग और विकट मगर के मुख में फंस गई हों, वे चौड़ी छाते के चबूतरे को धारण करने के लिए शिलास्तम्भ थीं। चन्दन के मृदु लेप से उसकी जांघों में कान्ति और भी निखर उठी थी। इर से ज्यादा उभरी हुई जांघों के भार वहन करने से खिन्न होकर मानो उसकी टांगें पतली हो रही थीं। कल्पवृक्ष के दो पल्लवों के समान ललछहू रंग के दोनों ओर लटकते हुए पैरों के नखों को किरण दिखाती हुई मानो घोड़ों का चामरमाला नामक अलंकार बना रही थीं।

मन के समान वेग वाले, लंगूर के मुंह की तरह रोंगटे वाले सिन्धुवार जैसे नीले, लगड़े घोड़े पर वह सवार था। वह घोड़ा अपने मुख से जो सामने देर तक उठे रह जाते और विकट रूप में टेढ़े होकर गिरते, जमीन को छोड़ रहा था। वह कांटेदार लगाम को अपने दांतों से छोड़ता तो खड़-खड़ आवाज होती। घोड़े की नाक पर सामने की ओर लगाम का कमानीदार हिस्सा और माथे पर सोने का पदक झूल रहा था। आवाज करती हुई सुवर्ण की आयान नामक माला से वह घोड़ा सुशोभित हो रहा था। अपने आगे के शरीर का एक हाथ से सहारा लेकर उसके दोनों ओर दो आसन्न परिचारक चंवर झूल रहे थे। आगे-आगे जो बन्दीजन सुभाषित पढ़ कर रहा था। उसे सुन कर उसके मुखचन्द्र के दोनों कपोलभाग रोमाञ्चित हो रहे थे। मानो उसके कर्णोत्पल का पराग झर गया हो। मानो वह अनङ्ग युग का अवतार दिखला रहा थीं, सारी सृष्टि को चन्द्रमय बना रहा था, सारे प्राणिलोक को विलासमय कर रहा था, राग के

राज्य का प्रवर्तन कर रहा था। मानो वह नेत्र रूप आकर्षणाञ्जन, मन का वशीकरणमंत्र, इन्द्रियों को विवश करने वाला चूर्ण, कुतूहल का असन्तोष, सौभाग्य का सिद्धियोग, कामदेव का पुनर्जन्मदिन, यौवन का रसायन, सौन्दर्य का एकच्छत्र राज्य, रूप का कीर्तिस्तम्भ, लावण्य का मूल कोश, संसार के सारे पुण्यकर्मों का परिणाम, कान्ति रूपी लता का पहला अंकुर, ब्रह्मा जी के सृष्टिनिर्माण के अभ्यास का फल-स्वरूप, विभ्रम का प्रताप और वैदग्ध्य का यशः प्रवाह था।

पार्श्वे च तस्य द्वितीयमपरसंश्लिष्टतुरङ्गम्, प्रांशुमुत्तप्ततपनीयस्तम्भाकारम्, परिणतवयसमपि व्यायामकठिनकायम्, नीचनखश्मश्रुकेशम्, शुक्तिखलतिम्, ईषत्तुन्दिलम्, रोमशोरःस्थलम्, अनुल्वणोदारवेषया जरामपि विनयमिवानयन्तम्, आचारस्याप्याचार्यमिव कुर्वाणम्, वलक्षणवारबाणधारिणम्, धौतदुकूलपट्टिकापरिवेष्टित मौलि पुरुषम्।

उस नवयुवक के बगल में एक दूसरे पुरुष को देखा। वह भी दूसरे घोड़े पर सवार था। उसका कद लम्बा था। उसकी आकृति तपे हुए सोने के खम्भे समान थी। अवस्था कम होने पर भी उसका शरीर व्यायाम से गंठा हुआ था। उसके दाढ़ी, मूंछ और नाखून साफ-सुथरे कटे हुए थे। बाल झड़ जाने से बिल्कुल सितेहे जैसा लगता था। उसकी तोंद निकल आई थी। छाती में बाल जम गए थे, वेष शिष्य बना रहा था, आचारों का भी आचार्य हो रहा था। वह उज्ज्वल कंचुक पहने हुए और सिर में धुली हुई दुकूलपट्टिका बांधे हुए था।

अथ स युवा पुरोयायिनां यथादर्शनं प्रतिनिवृत्यातिविस्मितमनसां कथयतां पदातीनां सकाशादुपलभ्य दिव्याकृति तत्कन्यायुगल-मुपलातकुतूहलः प्रतूर्णतुरगो दिदृक्षुस्तं लतामण्डलपोद्देशमाजगाम। दूरादेव च तुरगादवततार। निवारितपरिजनश्च तेन द्वितीयेन साधुना सह चरणाभ्यामेव। सविनयमुपससर्प। कृतोपसंग्रहणौ तौ सावित्री समं सरस्वत्या किसलयासनदानादिना सकुमुमफुलार्घ्यावसानेन वनवासोचितेनातिथ्येन यथाक्रममुपजग्राह। आसीनयाश्च तयोरासीन नातिचिरमिव स्थित्वा तं द्वितीयं प्रवयसमुद्दिश्यावादीत्-'आर्य, सहजलज्जानधनस्य प्रमदाजनस्य प्रथमाभिभाषणमशालीनता, विशेषतो वनमृगीमुग्धस्य कुलकुमारीजनस्य। केवलमियमालोकनकृतार्थाय चक्षुषे स्पृहयन्ती प्रेरयत्दुन्तश्रवणकुतूहलिनी श्रोत्रवृत्तिः। प्रथम दर्शने चोपायनमिवोपनयति सज्जनः प्रणयम्। अग्रगल्भमपि जनं प्रभवता प्रश्रयेणार्पितं मनो मध्विव वाचालयति। अयत्नेनैवातिनम्रे साधौ धनुषीव गुणः परां कोटिमारोपयति विस्त्रम्भः। जनयन्ति च विस्मयमतिधीरधियामप्यदृष्टपूर्वा दृश्यमाना जगति स्त्रष्टः सृष्ट्यति शयाः। यतस्त्रिभुवनाभिभावि रूपमिदमस्य महानुभावस्य। सौजन्यपरतन्त्रा येचं देवानाप्रियस्यातिभद्रता कायति कथां न तु युवति जनसहोत्था तरलता। वत्कथयागमनेनापुण्यभाक्कतमो विजृम्भित विरहव्यथः शून्यतां नीतो देशः? क्व वा गन्तव्यम्? को वायमपहृतहर हुंकारहंकारोऽपर इवानन्यजो युवा? किंनाम्नो वा सम्रुद्धतपसः पितुर यममृतवर्षा कौस्तुभमणिरिव हतेर्हृदयमाह्लादयति? का चास्य त्रिभुवननमस्या विभातसंध्येव महतस्तेजेसो जननी? कानि त्रास्य पुण्य भाञ्जि भजन्त्यभिख्यामक्षराणि? आर्यपरिज्ञानेऽप्ययमेव क्रमः कौतुकानुरोधिनो हृदस्य' इत्युक्तवत्यां तस्यां प्रकटितश्रयोऽसौ प्रतिहाव्याजहार-'आयुष्यमति, सतां हि प्रियंवदत्ता कुलविद्या। न केवलमाननं हृदयमपि च ते चन्द्रमयमिव सुधाशीकरशीतलैराह्लादयति वचोभिः। सौजन्यजन्मभूमयो भूयसा शुभन सज्जननिर्माणशिल्पकला इव भावदृशो दृश्यन्ते। दूरे तावदन्योन्यस्याभिलपनमभिजातैः सह दृशोऽपि मिश्रीभूता महतीं भूमिमारोपयन्ति। श्रूयताम्-अयं खलु भूषणं भार्गववंशस्य भगवतो भूर्भुवः स्वस्त्रितयतिलकस्य, अदभ्रप्रभावस्तम्भिजम्भारिभुजस्तम्भस्य, सुरासुरमुकुटमणिशिलाशययनदुर्ललितपादपङ्केरुहस्य, निजतेजःप्रसरप्लुष्टपुलोम्नश्च्यवनस्य बहिर्वृत्ति जीर्वितं दधीचो नाम तनयः। जन्यन्यस्य जितगतोऽनकपार्थिवसहस्त्रानुयातस्य शर्यातस्य सुता राजपुत्रै त्रिभुवनकन्यारत्नं सुकन्या नाम। तां खलु देवीमन्तर्वत्नीं विदित्वा वैजनने मासि प्रसवाय पिता पत्युः पार्श्वात्स्वगृहमानाययत। असूत च सा तत्र देवी दीर्घायुष मेननम्। अवर्धतानेहसा च तत्रैवायमानन्दितज्ञातिवर्गो बालस्तारक राज इव राजीवलोचनो राजगृहे। भर्तुभवनमागच्छन्त्यामपि दुहितरि नासेचनकदर्शनमिमम-मुश्रुन्मातामहो मनोविनोदनं नप्तारम्। अशिक्षतायं तत्रैव, तर्पा विद्याः सकलाश्च कलाः। कालेन कोपारूढ यौवदमिममालोक्याह-मिवासावप्यनुभवतु मुखकमलावलोकनानन्द मस्येति मातामहः कथंकथमप्येनं पितुरन्तिकमधुना व्यसर्जयेत्। मामपि तस्यैव देवस्य सुगृहीतनाम्नः शर्यातस्याज्ञाकारिणं विकुक्षिनामानं भृत्यपरमाणुमवधारयतु भवती। पितुः पादमूलमायान्तं मया साभिसारम-करोत्स्वामी। तद्वि न. कुलक्रमागतं राजकुलम्। उामानां च चिरंतनता जनयत्यनुजीविन्यपि जने कियन्मात्रमपि मन्दाक्षम्। अक्षीणः खलु दाक्षिण्यकोशो महताम्। एतश्च गव्यूतिमात्रमिव पारेशोणं तस्य भगवतश्च्यवनस्य स्वनाम्ना निर्मितव्यपदेशं च्यावनं नाम चैत्ररथकल्पं काननं निवासः। तदवधिरेवेयं नौ यात्रा। यदि च वो गृहीतक्षणं दाक्षिण्यमनवहेलं वा हृदयमस्माकमुपरि भूमिवां प्रसादानामयं जनः श्रवणार्हो वा, ततो न विमाननीयोऽयं नः प्रथमः प्रणयः कुतूहलस्य। वयमपि शुश्रूषवी वृत्तान्तमायुष्मयोः। नेयमाकृतिर्दिव्यतां व्यभिचरति। गोत्रनामनी तु श्रोतुमभिलषति नो हृदयम्। तत्कथय कतमो वंशः स्पृहणीयतां जन्मना गीतः। तथा हि, सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च, पुण्डरीकमुखी हरिणलोचना, बालातप्रभाधारा, कुमुदहासिनी च, कलहंसस्वना

समुन्नतयोधरा च, कमलकोमलकरा हिमगिरिशिलापृथुनितम्बा च, करभोरुर्विलम्बितगमना च, अमुक्तकुमारभावा किन्नरबालिका च' इति।

वह युवक देखकर लौटे हुए अग्रगामी पैदल सैनिकों से दिव्य आकृति वाली दो कन्याओं के विषय में सुनते ही कुतूहल से भर कर देखने के लिए उत्सुक हो घोड़े को तेज कर उस लतामण्डप के समीप पहुंच गया। कुछ ही दूर पर घोड़े से उतर गया। अपने और साथियों को उसने रोक दिया और उस सज्जन पार्श्वचर को साथ लेकर पैदल ही विनीत भाव से आया। सरस्वती के साथ सावित्री ने उन दोनों का अभिवादन किया और वन वास के योग्य फूल एवं अर्घ्य आदि से उनका क्रम से आतिथ्य सत्कार किया। इतने श्रम से स्थिर हुए तो वह स्वयं बैठी और कुछ ही देर ठहर कर उस दूसरे वृद्ध सज्जन से बोली-'आर्य, सहसलज्जाशील नारियों को अपरिचित पहल बोल बैठना बड़ी धृष्टता है, विशेष्ज्ञ कर तो उनका जो वन्य मृगी कर भांति मुग्ध कुलकुमारियां हैं। आंखें तो दरबकर कुतूहल हो गईं, पर केवज कर्णेन्द्रिय की वृत्ति वृत्तान्त सुनने के लिए कुतूहल से प्रेरित हो रहा है। प्रथम दर्शन में ही सज्जन व्यक्ति सोहार्द के रूप में प्रणय को समर्पित करता है। प्रभावशाली विनस से अर्पित किया हुआ मन मद्य के समान अधृष्ट जन का भी वाचाल बना देता है। अत्यन्त नम्र स्वभाव वाले सज्जन में बिना यत्न के ही विश्वास अधिक हो जाता है, जैस धनुष के अग्रभाग तक उसकी गुण चढ़ जाता है। पहले कभी नहीं देखे गए फिर देखे जाने वाले विधाता के उत्कृष्ट निर्माण और लोगों में अत्यन्त आश्चर्य का उत्पन्न कर देते हैं। बात यह है कि इन महानुभावों का रूप त्रिभुवन को अभिभूत कर देने वाला है। देवानांप्रिय की सौजन्य से भरी यह अतिभद्रता ही मुझे बोलने के लिए तत्पर कर रही है, युवतियों में स्वभावत: होने वाली चंचलता नहीं। तो कहिए इन्होंने किस पुण्यवान् वंश को अपनी विरह-व्यथा के द्वारा सूना कर दिया है। ये कहा जायेंगे? ये मानो दूसरे कामदेव हैं जो शिव के हुंकारजनित अहंकार को मानकर उत्पन्न हो गया है। कौन है ये? बढ़ी हुई तपस्या वाले किस पिता के अमृतवर्षी-स्वभाव से ये हृदय का आह्लादित कर रहे हैं जैसे कौस्तुभमणि विष्णु के हृदय को? त्रिभुवन द्वारा नमन करके योग्य और महान् तेजस्वी को उत्पन्न करने वाली प्रभात की सन्ध्या कौन इनकी जननी है? कौन से पुण्यवान् अक्षर इनके नाम में जुटते हैं! आर्य के सम्बन्ध में जानने के लिए इस कुतहल पर ये ही प्रश्न क्रमश: ये हैं।' सावित्र के इतना पूछने पर विनय प्रकट करते हुए पाश्वचर ने उत्तर दिया-'आयुष्यमती, प्रिय बोलना ही सज्जनों की कुलविद्या है। केवल तुम्हारा मुख ही नहीं, प्रत्युत हृदय भी चन्द्रमय है, क्योंकि वह अमृत के शीतल फुहारों के समान वचनों से आह्लादित कर रहा है। आपके सदृश लोग जो सौजन्य की जन्मभूमि हैं बड़े ही शुभकर्मों से मिलते हैं, क्योंकि वे सज्जनों के निर्माण की शिल्पविश के स्वरूप हैं। ऐसे कुली लोगों के साथ परस्पर बातचीत करना तो दूर है, इनके साथ आंखे ही मिलाकर गौरव की स्थिति में पंहुचा देती है। तो सुनिए-यह भार्गववंश का कुलभूषण, महर्षि च्यवन का बहिश्चर प्राण पुत्र दधीच है, इसके पिता महान् च्यवन पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक में प्रसिद्ध है। उन्होंने अपनी तपस्या के प्रभाव से इन्द्र की भुजशक्ति को भी स्तम्भित कर दिया है। उन्होंने चरण कमल सुर-असुरों की मुकुटमणियों पर शयन के शौकीन हैं। अपने तेज से उन्होंने पुलोमा नामक दैत्य को भस्म कर डाला है। ऐसे पिता के पुत्र इस दधीच की जननी का नाम सुकन्या है जो जगद्विजयी सहस्रों नृपतियों में अनुपम शर्यात की सुता, राजपुत्री एवं त्रिभुवन की कन्याओं में रत्न के समान है। देवी सुकन्या को गर्भिणी जान उसके पिता दसवें महीने में प्रसव के लिए उसे पति के पास से अपने घर ले गए। वहां उसने चिरंजीवा इस दधीच को उत्पन्न किया। राजा के घर में राजवल्लभा से यह चन्द्रमा के समान बांधवों को आनन्दित करता हुआ समय के साथ बढ़ा। पुत्री सुकन्या अपने पति के घर आने लगी तब भी उसने नेत्र के सुखद और मन बहलाने वाले नाती को नहीं छोड़ा। इसने ननिहाल में ही समस्त विद्याओं और कलाओं की शिक्षा पाने के समय से इसे जवान देख और 'मेरे समान पिता भी उसके मुखकमल को देखकर आनन्द का अनुभव करें, वह सोच कर किसी-किसी प्रकार पिता के पास भेजा है। उन्हीं सुगृहीतनामा देव शर्यात का आज्ञाकारी विकुक्षित नामक एक वृच्छ भृत्य इस समय मेरे मालिक के पिता कुछ लज्जा का अनुभव करते हैं। महान् लोगों की उदारता का भण्डार कभी नहीं घटता। यहां से दो कोस पार भगवान् च्यवन का निवास च्यवनाश्रम है, जो चैत्ररथ नामक कुबेर के उद्यान के सदृश है। हम दोनों कर यात्रा में थक गए। यदि आप दोनों का हमारे ऊपर क्षणिक सौजन्य है या हृदय में किसी प्रकार की अवज्ञा नहीं, या यह जन प्रसाद का प्राप्त करने योग्य है तो हमारे कुतूहल का पहला प्रणय उपेक्षा के योग्य नहीं। आप दोनों का वृत्तान्त हम सुनना चाहते हैं। यह आकृति दिव्य जन की ही हो सकती है। हम दोनों का हृदय आपके गोत्र, नाम सुनना चाहता है। तो कहिए-किस वंश का आपने जन्म लेकर स्पृहणीय बना है। आपके समीप यह कौन है जो बहुत से विरोधी पदार्थों के समवाय की भांति लग रही है। जैसा कि इनके बाल अन्धकार के समान सन्निहित है, फिर भी सूर्य के समान इनकी मूर्ति देदीप्यमान है। पुण्डरीक (व्याघ्र या श्वेत कमल) के समान मुख है फिर भी आंखे हरिण के समान है, उगते हुए सूर्य की प्रभा के समान इनका अधर है (फिर भी) कुमुद के सदृश इनका मुस्कान है। मत्त हंस के समान इनकी आवाज है (फिर भी) इनके पयोधर (स्तर या मेघ) उठे हुए हैं। कमल के समान कोमल इनके हाथ हैं फिर भी) हिमालय की चट्टान के समान इनके नितम्ब हैं। ऊँट के समान इनकी दोनों जांघें है। (फिर भी) चाल धीमी चलती

कुमारभव (बाल्यकाल का कार्तिकेय का भाव) इन्होंने नहीं छोड़ा है (फिर भी) इनकी आंखे के कारक (पुतले या तारकासुर) स्नेह को व्यंजित कर रहे हैं। [इस प्रसङ्ग के व्यङ्ग्य विरोधाभासों का स्पष्टीकरण क्रमशः इस प्रकार है- विरोध यह कि जब बाल अन्धकार सन्निहित है तो भगवान् या सूर्य की मूर्ति कैसे हो सकती है। जब कि मुख में पुण्डरीक (व्याघ्र) है तो हरणि का वहां रह सकना कैसे सम्भव है। जहां सूर्य का आतप है वहां कुमुद का हास कहा से, पयोवर या मेघ के उमड़ने की स्थिति में कलहंस मनानसरोवर चल जाते हैं, फिर उनकी आवाज का सुन पड़ना सम्भव नहीं। हिमशिखा के सपीम कमल टिक नहीं सकते। करभ ऊंट की चाल धीमी नहीं होती। जब कुमार या कार्तिकेय का भाव ग्रहण किया तब तारक (एक असुर, जिसका वध कार्तिकेय ने किया था) स्निग्ध कैसे रह सकता है।]

सा त्वावादीत-'आर्य, श्रोयसि कालेन। भूयसो दिवसानत्र स्थातुमभिलषति नौ हृदयम्। अल्पीयांश्चायमध्वा। परिचय एव प्रकटीकरिष्यति। आर्येण न विस्मरणीयोऽयमनुषङ्गदृष्टो जनः' इत्य भिधाय तूष्णीमभूत्। दवीचस्तु नवाम्भोभरगभीराम्भोधरध्वाननिभया भारत्य नर्तयन्वनलतभवनभाजो भुजंगभुजः सुधीरमुवाच-'आर्य, करिष्यति प्रसादमार्याराध्यमाना। पश्यामस्तावत्तातम्। उत्तिष्ठ, व्रजामः, इति। तथेति च तेनाभ्यनुज्ञातः शनकैरुत्थाय कृतनमस्कृतिरुच्चचाल। तुरगारूएं च तं प्रयान्तं सरस्वती सुचिरमुत्तम्भिपक्ष्मणा निश्चलतारकेणा लिखितेनेव चक्षुषा व्यलोकयत्। उत्तीर्य च शोणम चिरेणैव कालेन दधीचः पितुराश्रमपदं जगाम। गत च तस्मिन्सा तामेव दिशमालोकयन्ती सुचिरमतिष्ठत्। कृच्छ्रादिव च संजहार दृशम्।

सावित्री ने कहा-'आर्य! समय से सब मालूम हो जायगा। हम दोनों का विचार यहां बहुत दिनों तक अभी रहने का है। यह रास्ता बहुत थोड़ा है। परिचय बढ़ने से सब बात खुल जायगी। इस बहाने मिले हुए इस जन को आर्य न भूलेंगे।' इतना कह वह चुप हो गयी। जल भर जाने से गम्भीर आवाज वाले नये मेघ की भांति लता-भवन के मयूरों को नाचते हुए धीर स्वर में दधीच बोल उठे-'आर्य, अश्वय ही आराधना करने पर आर्या प्रसन्न होंगी। तब तक हम पिता ही के दर्शन करें। उठिए, चले। पार्श्वचर के स्वीकार करने पर दधीच धीरे से उठे और नमस्कार करके चल दिए। घोड़े पर सवार होकर जाते हुए उन्हें सरस्वती निश्चल आंखे फाड़ कर देर तक देखती रही। सोन पार करके कुछ ही देर में दधीच चयवनाश्रम पहुंचे। उनके चले जाने पर सरस्वती उसी दिशा को देर तक निहारती हुई बैठी रही। बड़ी कठिनाई से वह अपनी आंखे मोड़ सकी।

अथ मुहूर्तमात्रमिव स्थित्वा स्मृत्वा च तां तस्य रूपसपदं पुनः पुनः व्यस्म यतास्या हृदयम्। भूयोऽपि चक्षुराककाङ्क्ष तद्दर्शनम्। अवशेव केनाप्यनीयत तामेव दिशं दृष्टिः। अप्रहितमपि मनस्तेवनैव सार्धगात् अजायज च नवपल्लव इव बालवलतायाः कुतोऽप्यस्या अनुरागश्चेतसि। ततः प्रभृति च सालस्येव शून्येव सनिद्रेव दिवसमनयत्। अस्तुपयाति च प्रत्यक्पर्यस्तमण्डले लाङ्गलिकास्तबकताम्रत्विषि कमलिनीकामुके कठोरसारसशिरः शोणशोचिषि सावित्रे त्रयीमये तेजसि, तरुणतरतमालश्यामले च मलिनयति व्योम व्योम व्यापिनि तिमिरसंचये, संचरत्सिद्धसुन्दरीनूपुररवानुसारिणि च मन्दं मन्दं मन्दाकिनीहंस इव समुत्सर्पति शशिनि गगनतलम् कृतसंध्याप्रणामा निशामुख एव निपत्य विमुक्ताङ्गी पल्लवशयने तस्थौ। सावित्र्यपि कृत्वा यथाक्रियमाणं सायंतनं क्रियाकलापमुचिते शयनकाले किसलयशयनमभजत जातिनिद्रा च सुष्वाप।

अब सरस्वती का हृदय कुछ देर तक ठहर उस दधीच के रूप-सम्पत्ति का स्मरण करके बार-बार उसी आंखें दधीच के दर्शनों के लिए उत्सुक होने लगीं। मानो उसकी बेसुध नजर को कोई उसी दिशा की ओर फेर लेता था बिना भेते ही मन दधीच के साथ चला गया। सुकुमार वनलता में नये पल्लव के समान उसके चित्त में अनुराग अंकुरित होने लगा। उसी सकय से असलाई-सी, शून्य-सी, निंदियाई-सी उसने दिन को व्यतीत किया। जब पश्चिम में ढलते हुए मण्डल वाले, लाङ्गलिका नामक फुलों के गुच्छों के समान कान्ति वाले, कमलिनियों को चाहने वाले तथा वृद्ध सारस के सर समान ललाई वाले सूर्य का वेदमय तेज अस्त हो रहा था, विशाल तमाल वृक्ष के समान काला, आकशव्यापी प्रगाढ़ अंधकार आकाश को मलिन कर रहा था तथा चलती फिरती सिद्धाङ्गनाओं के नूपुरों की ध्वनि का अनुसरण करने वाले आकाशगंगा के वन्दन करके सरस्वती रात के आरम्भ होते ही अपने अङ्गों की सुध-बुध भूल पल्लव के शयन पर पड़ रही। सावित्री भी सायंकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर सोने के लिए पल्ल्वशयन पर पहुंची और नींद आते ही सो गई।

इतरा तु मुहुर्मुहुरङ्गवलनैर्विलुलितकिसलयशयनतला निमीलितनयनापि नालभात निद्राम्। अचिन्तयच्च-'मर्त्यलोकः खलु सर्व लोकानामुपरि, यस्मिन्नेवंविधानि भवति त्रिभुवनभूषणानि सकलगुणग्रामगुरूणि रत्नानि। तथा हि-तस्य मुखलावण्यप्रवाहस्य निष्यन्द बिन्दुरिन्दुः। तस्य च चक्षुषो विक्षेपाः कुमुदकुवलयकमलाकाराः। तस्य चाधरमकणेर्दीधितयो विकसितबन्धकवनराजयः। तस्य चाङ्गस्य परभागोपकरणमनङ्गः। पुण्यभाञ्जि तानि चक्षूंषि चेतांसि यौवनानि वा स्त्रैणानि, येषामसावविषयो दर्शनस्य। क्षणं नु दर्शयता च तमन्यजन्मनितेनेव मे फलितमधर्मेण। का प्रतिपत्तिरिदानीम्? इति चिन्तयन्त्येवं कथंकमप्युपजातनिद्रा चिरात्क्षणमशेत।

सुप्तापि च तमेव दीर्घलोचनं ददर्श। स्वप्नासादितद्वितीयदर्शना चाकर्णाकृष्टकार्मुकेण मनसि निर्दयमताड्यत मकरकेतना। प्रतिबुद्धाया मदनशराहतायाश्च तस्या वार्तामिवोपब्धुमरतिराजगाम। तथा हि-ततः प्रभृति कुसुमधूलिधवलाभिर्वनलताभिस्ताडितापि वेदना मधत्त। मन्दमन्दमारुतविधुतेः कुसुमजोभिरदूषितलोचनाप्यश्रुजलं मुमोच। हंसपक्षतालवृन्तवातवातविलतै शोणाशीकरैरसिक्तप्यार्द्रतामगात्। प्रेङ्खत्कादम्बमिथुनाभिरनूढाप्यधूर्णत वनकमलिनीकल्लोलदोलाभिः विघटमानचक्रवाकयुगलविसृष्टैरस्पृष्टापि श्यामतामाससाद विरह निःश्वबाधूमैः। पुष्पधूलिधूसरैरदृष्टापि व्यचेष्टत मधु करकुल·

लेकिन दूसरी (सरस्वती) बार-बार करवट बदलने लगी, अपने पल्लवशयन को मसल डाला, आंखे मूंद ली, फिर भी नहीं सो सकी। वह सोचने लगी-'निश्चय ही मर्त्यलोक समस्त लोकों में बढ़ा-चढ़ा सा, जहां त्रिभुवन के भूषण, समस्त गुणों के गौरव से युक्त ऐसे रत्न पड़े हैं, जैसा कि-चन्द्रमा उसके लावण्य-प्रवाह का चूआ हुआ एक बिनदु ही तो हैं। उसके नेत्रों के विक्षेप हरिणों के बच्चों और लाल कमलों के आकार हैं। उसके अधरमणि की कान्ति ही तो बन्धूक की खिली हुई वनाराजि है। कामदेव उसके अंग के शोखातिशय का साधन है। उन युवतियों की आंखे, चित्त एवं यौवन पुण्यवान् हैं जिन्होंने इसके दर्शन नहीं किए। मानो आज मेरे से उत्पन्न अधर्म फलित हो गया, जो मैंने क्षण भर इसके दर्शन किए। इस समय क्या करूं? यह सोच ही रही थी कि किसी तरह बहुत देर बात नींद आ गई और क्षण भर सोई रही। सीने पर भी उसी दीर्घलोचन दधीच को देखा। स्वप्न में इसे दूसरी बार दधीच को देखा तो मानो कामदेव ने उसे बड़ी निर्दयता से कान तक खींच कर बाण मारा। जब काम के बाण से घायल सरस्वती की नींद खुली तब उसकी खबर लेने के लिए मानो अरति (वैराग्य) आई। तब वह पुष्पराग से उज्जवल वनलताओं द्वारा ताड़ित होने पर भी वेदना अनुभव करने लगी। मंद मंद हवा से कांपते हुए फूलों की राज उसकी आंखों न भी पड़ती तो भी वह आंसू बहाती रही। पक्षियां के पंखों की हवा से फैलते हुए सोन (नदी) के फुहारों द्वारा सिक्त न होने पर भी (पसीने से) तर होने लगी। हिलते हुए जोड़ियां से युक्त वन की कमलिनी भी दोलाओं पर न बैठी हुई भी चकराने लगी। विघटित होते हुए जोड़े चक्रवाकों के विरह के निःश्वास धूम से स्पष्ट न होने पर भी श्यामता को प्राप्त करने लगी। फूल की धूल की लोप-पोट करने से धूसर भौंरा समूह के दिखाई न पड़ने पर भी वह उद्विग्न होने लगी।

अथ गणरात्रापगमे निवर्तमानस्तेनैव वर्त्मना तं देशं समागत्य तथैव निवारितपरिजनश्छत्रधारद्वितीयो विकुक्षिर्दुढौके। सरस्वती तु तं दूरादेव संमुखमागच्छन्तं श्रीत्या ससंभ्रममुत्थाय वनमृगीवोद् ग्रीवा विलोकयन्ती मार्गपरिश्रान्तमस्नपयदिव धवलितदर्शादिशा दृशा। कृतासनपरिग्रहं तु तं प्रीत्या सावित्री पप्रच्छ-'आर्य, कच्चित् कुशली कुमारः?' इति। सोऽब्रवीत्-'आयुष्मति, कुशली। स्मरति च भवत्योः। केवलममीषु दिवसेषु तनीयसीमिव तनु बिभर्ति। अविज्ञायमाननिमित्तां च शून्यतामिवाधत्ते। अपि च अन्वक्षमागमष्यित्येव मालतीति नाम्ना बाणिनी वार्ता वो विज्ञातुम्। उच्छ्वसित हि सा कुमारस्य' इति। तच्छ्रुत्वा पुनरपि। सावित्री समभाषत-'अतिमहानुभावः खलु कुमारो येनैवनमविज्ञायमाने क्षणदृष्टेऽपि जने परिचिति मनुबध्नाति। यस्य हि गच्छतो यदृच्छया कथमप्यंशुकमिव मार्गलतासु मानसमस्मासु मुहूर्तमासक्तमासीत्। अशून्यं हि सौजन्यमाभिजात्येन वः स्वामिसूनोः। अलसः खलु लोको यदेवं सुलभसौहार्दानि येन केनचित्र क्रीणाति महतं मनांसि। सोऽयमौदार्यातिशयः कोऽपि महात्मनामितरजनदुर्लभो येनोपकरणीकुर्वन्ति त्रिभुवनम्' इति। विकुक्षिस्तूच्चावचैरालपैः सुचिरमिव स्थित्वा यथाभिलषितं देशमयासीत्।

इस तरह कई रातें गुजर गईं। एक दिन उसी मार्ग से लौटता हुआ विकुक्षि परिजनों को बाहर रोक छत्रवाहक को साथ ले भीतर सरस्वती ने दूर ही से सामने आते हुए उसे देखा और प्रेम से फड़क से फड़क उठी, वह हिरनी की तरह गर्दन ऊंची उठाकर देखने लगी मानो मार्ग में थके हुए विकुक्षि को दिशाओं को धवलित करने वाली दृष्टि से स्नान कराने लगी। जब वह आकर आसन पर बैठ गया तब सावित्री ने प्रीतिपूर्वक पूछा-'आर्य, क्या कुमार दधीच कुशल से हैं? उसने कहा-'आयुष्मती, कुमार मकुशल हैं। आप का स्मरण करते हैं। इन दिनों उनका शरीर क्षीण होता जा रहा है। पता नहीं क्यों, शून्य-शून्य से लगते हैं। और भी मालती नाम की दूती समाचार लेकर सामने आने वाली है। कुमार का उसे प्राण ही समझना। यह सुनकर फिर सावित्री बोली 'कुमार सचमुच बड़े महानुभाव हैं, जो अज्ञातवन में भी क्षणभर की देखा-देखी में ही अपना परिचय-सम्बन्ध जोड़ रहे हैं। वे जाने लगे तो मार्ग के लोगों में क्षणभर इस तरह लग गया जैसे मार्ग की लताओं में अंशुक फंस जाता है। आपके स्वामिपुत्र दधीच में फूलने का कारण सौजन्य भी है। दुनिया वाले बड़े आलसी होते हैं जो सुलभ सौहार्द वाले महापुरुषों के मन को जिस किसी वस्तु से खरीदने में महापुरुषों में ही इस तरह बढ़कर उदारता होती है जो इतर लोगों में नहीं होती और जिससे वे लोग त्रिभुवन को अपने वश में कर लेते हैं। विकुक्षि भी लम्बी बातचीत करके अपने अभिलषित देश की ओर चला गया।

अपरेद्युरुद्यति भगवति द्युमणावुद्दामद्युतावभिद्रुततारके तिरस्कृत तमसि तामरसव्यासव्यसनिनि सहस्त्ररश्मौ शोणमुतीर्यायान्ती, तरलदेहप्रभावितानच्छलेनात्यच्छं सकलं शोणसलिलमिवानयन्तीं, स्फुटि तातिमुक्तककुसुमस्तबकसमत्विषि सटाले महति मृगपताविव

गौरी तुरंगमे स्थित, सलीलमुरोबन्धारोपितस्य तिर्यगुत्कर्णतुरगाकर्ण्य, मानूपुरपटुरणितस्यातिबहलेन पिण्डलक्तकेन पल्लवितस्य कुङ्कुमश्रिरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य प्रसद्धिरतिलोहितैः प्रभाप्रभ्वाहैरुभयतस्ताडनदोहलोभागातानि किसलयितानि रक्ताशोकवनानीवाकर्षयन्तो, सकलजीवनलोकहृदयहठहरणाघोषणयेव रशनया शिञ्जानजघनस्थला, धौतवधवलनेत्रनिर्मितेन निर्मोकलघुतरेणाप्रपदीनेन कञ्चुकेन तिरोहिततनुलता, छातकञ्चुकान्तदृश्यमानैराश्यानचन्दनधवलैरवयवैः स्वच्छ सलिलाभ्यन्तर-विभाव्यमानमृणालकाण्डेव सरसी, कुसुम्भरागपाटलं पुलकबन्धचित्रं चण्डातकमन्तःस्फुटं स्फटिकभूमिरिव रत्ननिधानमाद धाना, हारेणामलकीफलनिस्तुलमुक्ताफलेन स्फुरितः स्थुलग्रहणशारा शारदीव श्वेतविरलजलधरपटलावृता द्यौः, (कुचपूर्णकाल-शधोरुपरि रत्नप्रालम्बमालिकामरुणहरितकिरणकिसलयिनीं कस्यापि पुण्यवतो हृदयप्रवेशनमालिकामिव बद्धां धारयन्ती, प्रकोश्टनिविष्टस्यैकस्य हाटककटकस्य मरकतमकरवेदिकासनाथस्य हरितोकृतदिगन्ताभिर्मयूखसंततिभिः स्थलकमलिनोभिरिव लक्ष्मीशङ्कयानुगम्यमाना, अति बहलललताम्बूलकृष्णिकान्धकारितेनाधरसंपुटेन मुखशशिपीतं ससंध्यारागं तिमिरमिव वमन्ती, विकचयनयनकुवलयकुतूहलालीनयालिकुलसंहत्या नीलांशुकजालिकयेव निरुद्धाधवदना, नीलीरागानिहितनीलिम्ना शिखिद्योतमाना, बकुलफलानुकारिणीभिस्तिसृभिर्मुक्ताभिः कल्पितेन बालिकायुगलेनाधोमुखेनालेकजलवर्षिणा सञ्जिन्तीवातिकोमले भुजलते, दक्षिणकर्णावतंसितया केतकीगर्भपलाशलेखया रजनिकरलिह्यालतयेव लावण्यलोभेन लिह्यमानकपोलतल्, तमालश्यामलेन मृगमदामोद निष्यदिना तिलकबिन्दुना मुद्रितमिव मनोभवसर्वस्वं वदनमुद्वहन्ती, ललाटलासकस्य सीमन्तचुम्बिनश्चटुलातिलकमणेरुदञ्चता चटुलेनांशु जालेनेव रक्तांशुकेनेव कृतशिरावगुष्ठना, पृष्ठप्रेङ्खदनादरसंयमनशिथिलजूटिकाबन्धा नीलचामरावकूलिनीव, चूडामणिम-करिका सनाथा मकरकेतुपताकेव कुलदेवतेव चन्द्रमसः, पुनः सञ्जीवनौषधिरिव पुष्पधनुषः, वेलेव रागसागरस्य, ज्योत्स्नेव यौवनचन्द्रोदस्य, महानदीव रतिरसामृतस्य, कुसुमोद्गतिरिव सुरततरोः, बालविद्येव वैदग्ध्यस्य, कौमुदीव कान्तेः, धृतिरिव धैर्यस्य, गुरुशालेव गौरवस्यबीजभूमिरिव विनस्य, गोष्ठीव गुणानाम्, मनस्वितेव महानुभावतायाः, तृप्तिरिव तारुण्यस्य, कुवलयदलदामदीर्घलोचनया पाटलाधरया कुन्दकुड्मलस्फुटदशनया शिरोषमालासुकुमारभुजयुगलया कमलकोमलकरया (बकुलसुरभिनिः श्वसितया चम्पकवदातेहया कुसुममय्येव ताम्बूलकरण्डवाहिन्या महाप्रमाणश्चतरारूढायानुगम्प माना, कतिपयपरिचारकपरिकरा मालती समदृश्यत। दूरादेव च दबीचप्रेम्णा सरस्वत्या लुण्ठितेव मनोरथैः, आकृष्टेव कुतूहलेत, प्रत्युद्गतेवोत्कलिकाभिः, आलिङ्गितेवोत्कण्ठया, अन्तः प्रवेशितेव हृद येन, स्नपितेवानन्दाश्रुभिः, विलिप्तेव स्मितेन, वीजितेवोच्छ्वसितैः, आच्छादितेव चक्षुषा, अभ्यर्चितेव वदनपुण्डरीकेण, सखीकृतेवाशया सविधमुपपयौ। अवतीर्य च दूरादेवातेन मूर्ध्ना प्रणाममकरोत्। आलिङ्गिता च ताभ्यां सविनयमुपाविशत्। सप्रश्रयं ताभ्यां संभाषिता च पुण्यभाजनमात्मानममन्यत। अकथयच्च दधीचसंष्टिं शिरसि निहितेनाञ्जलिना नमस्कारम्। अगृह्णाच्चाकरः प्रभृत्यग्राम्यतया तैस्तरतिपेशलैरालापैः सावित्रीसरस्वत्योर्मनसी।

अगले दिन आकाश के रत्न, प्रखर किरणों वाले, तारों को भगा देने और अंधकार को हटा देने वाले, कमलों को विकसित करने के शौकीन भगवान् सूर्य के उदित होते ही सोन पार करके आती हुई मालती दूर से दिखाई पड़ी। अपने शरीर की तरह प्रभा से सोन के जल को वह और भी निर्मल कर रही थीं। माधवी कै फूल के गूच्छे के सदृश कान्ति वाले, अयाल-युक्त बड़े घोड़े पर वह सिंह पर गौरी की भांति सवार थी। लीला से उसने अपने चरण रकाब पर रखे थे; जब पैर के नुपूर बजते तो उसका घोड़ा कान खड़े करके गर्दन टेढ़ी किए सुनता। आलते से उससे पैर रञ्जित थे। तलवे में कुकुम लगा हुआ था। उसके पैरों की टहाका लाल कान्ति दोनों ओर फैल रही थी, मानो वह ताड़न प्राप्त करने की अभिलाषा के लोभ से आये हुए से रक्ताशोक के हरे भरे वनों की खींचतीं आ रही थी। उसके कटि प्रदेश में अपनी करधनी बज रही थी, मानो वह जीवलोक के सारे लोगों के मन को हठपूर्वक हरने के लिए घोषणा कर रही हो। उसका सारा शरीर धुले हुए सफेद रेशम के, पैरों तक लटकते हुए झीने, सांप की केंचुली की तरह हल्के और बारीक कंचुक से ढकां हुआ था। सूखे चंदन के समान उज्ज्वल अंगों से, जो झीने कंचुक के भीतर दिखाई दे रहे थे, वह उस सरसी के सदृश थीं जिसके निर्मल जल के भीतर मृणाल काण्ड दिखाई दे रहे हों। कुसुंभी रंग का लाल लहंगा झलक रहा था जिस पर रंग-बिरंगी बुंदकियां पड़ रहे हों। मानो स्फटिक की जड़ाव में मोतियां जड़ी हों। आंवले जैसे बड़े-बड़े मोतियों का हार गले में लटक रहा था, वह तारों भरे शरत्काल के आकाश जैसी लग रही थी जिसमें कहीं-कहीं सफेद मेघ के टुकड़े घिरे रहते हैं। उसके स्तनरूप कलश पर रत्नों की प्रालम्ब माला लटक रही थी, मानो किसी पुण्यवान् के हृदय मे प्रवेश करने के स्वगत में मङ्गलार्थ घट में वनमाला बंधी हो। उसके एक हाथ की कलाई में सोने का कड़ा था। जिसके ग्राहमुखी सिरों पर पन्ने जड़े हुए थे, उनकी हरित किरणें दिशाओं में फैल रही थीं, मानो स्थल-कमलिनियां उसे लक्ष्मी समझ कर पीछे लग गई थीं। उसके अधर पर पान चबाने से काले रेखा पड़ गई थी, मानो उसका मुखचन्द्र पिये हुए संध्याराग के सहित अंधकार को उगल रहा हो। भौंरे उसके नेत्रों की खिले हुए कुवलय समझ कर छा रहे थे मानो उसका मुख नीले अंशुक की नकाब से आधा ढंका हुआ था। उसके बायें कान का दन्तपत्र नीली

रंग कर नीला कर दिया गया था, उसका वर्ण मयूर की गर्दन की तरह था, माने विस्तृत नीले मेघ में बिजली के समान [illegible] रही थी। मौलसिरी के फल जैसे लम्बोतरे तीन मोती वाली, उसके कानों में एक-एक बाली थी, जो नीचे लटक कर अपने मालक के [illegible] भुजरूपी लता को सींच रहीं थी। उसके दाहिने कान पर केतकी का नुकीला टौंसा लगा हुआ था, मानो उसके लावण्य के लोभी चन्द्र अपनी जीभ से उसके कपोल को चाट रहा था। तमाल की भांति श्यामल, कस्तूरी की गन्ध फैलाने वाला तिलक बिन्दु कामदेव के सर्वस्व उसके मुख पर मुंहर की भांति लगा था। चटुला-तिलक नाम की मणि सीमन्त से ललाट पर झूल रही थी, उसमें निकलती हुई चंचल किरण-जाल से ऐसा लगता था मानो उसे लाल वस्त्र का सिर का अवगुण्ठन बना लिया हो। उसके बालों का जूड़ा पीठ पर ठीक से न बांधने के कारण ढीला होकर लटक रहा था। मानो नीले चादर लटक रहा हो। चूडामणि मकरिका पहने मानो मकरकेतु [illegible] की पताका हो। चन्द्रमा की कुलदेवता हो, काम को फिर से जीवित कर देने वाले संजीवन-बूटी हो, सुरत वृक्ष की पुष्पावली हो, वैदग्ध्य की बाल विद्या हो, कान्ति की कौमुदी हो, धैर्य की धृति हो, गौरव की गुरुशाला हो, विनय की बीजभूमि हो, गुणों की पुष्टि हो, महानुभावता की मनस्विता हो, और जवानी की तृप्ति हो। उसके पीछे एक बड़े अश्व पर बैठी हुई ताम्बूलकरंकवाहिनी [illegible] रही थी जिसके अंग-अंग मानो फूल से बने थे, क्योंकि कुवलय की माला सी बड़ी-बड़ी आंखे, पाटल पुष्प सा [illegible] कुन्द की कलियों जैसे दांत, शिरीषमाला जैसी सुकुमार दोनों भुजाएं, कमल जैसे हाथ, मौलसिरी की गन्ध जैसी सरस और चम्पा के समान दमकती देह थी। उसके साथ कुछ परिचारक थे। सरस्वती ने दधीच के प्रेम से मालती को दूर से ही मानो मनोरथ द्वारा [illegible] कुतूहल से खींच लिया, मन की तरङ्गों से अगवानी को, उत्कण्ठा से आलिङ्गन किया, हृदय के भीतर रख लिया, आनन्द के [illegible] नहला दिया, स्मित के चन्दन से चर्चित किया, उच्छ्वासितों द्वारा पंखे झलने लगी, आंखों से ढंक दिया, मुख के कमल से [illegible] और आशा से उसे अपना सखी बना लिया। तब मालती आई और उतर कर दूर ही से झुके सिर प्रणाम किया और दासी [illegible] हो विनयपूर्वक बैठी। दोनों ने उससे विनयपूर्वक सम्भाषण किया तो उसने अपने आप को धन्यभाग समझा। मालती ने दधीच के द्वारा सन्दिष्ट सिर पर अंजलि टेक कर नमस्कार निवेदन किया। सावित्री और सरस्वती के मन को उसने अपने अग्राम्य आकार और अतिमधुर बातचीत से हर लिया।

क्रमेण चातीते मध्यंदिनसमये शोणवतीर्णायां सावित्र्यां स्नातुमुत्सारितपरिजना साकूतेव मालती कुसुमस्वस्तशायिनीं समुपसृत्य सरस्वतीमाबभाषे-'देवि, विज्ञाप्यं नः किञ्चिदस्ति रहसि। यतो मुहूर्तमवधानदानेन प्रसादं क्रियमाणमिच्छमि' इति। सरस्वती तु दधीचसदेशङ्किनी कि वक्ष्यतीति हृदयमुत्तरीयकूलवल्कलैकदेशेन संछादयन्ती, गलतावतसपल्लवेन श्रोतुं श्रवणेनेव कृतहलाद्भाव मानेनाविरतश्वाससंदोहदोलायिता जीविताशामिव समासन्नतरूणतरुलतावलम्बमाना, समुत्फुल्लस्य मुखशशिनो लावण्यप्रवाहेण शृङ्गार रसेनेवाप्लायन्ती सकलं जीवलोकम्, शयनकुसुमपरिमललग्नैर्मधुकर कदम्बकैर्मदनानलदाहश्यामलैर्मनोरथैरिव निर्गत्य मूर्तैरुत्क्षिप्यमाणा, कुसुमशयनीयात्स्मरशसंज्वरिणो, मन्दं मन्दमुदगात्। 'उपांशु कथय' इति कपोलतलपतिर्बिम्बितां लज्जया कर्णमूलमिव मालतीं प्रवेशयन्तो मधुरया गिरा सुधीरमुवाच-'सखि माललि, किमर्थमेवभिदधासि? काहमवधानदानस्य शरणस्य प्राणानां वा? सर्वस्याप्रर्यितोधऽपि प्रभवत्येवातिवेलं चक्षुष्यो जनः। सा न काविद्या न भवसि मे स्वसा सखी प्रणयिनी प्राधसयमस च। नियुज्यंता यावतः कार्यस्य क्षमं क्षोदीयसी गरीयसी वा शरीरकमिद्म। अनवस्करमाश्ववं त्वयि हृदयम्। यात्या प्रतिसरा विधेयास्मि ते। व्यावृणु वरवर्णिनि, विवक्षितम्' इति। सा त्ववादीत्-'देवि, जानास्येव माधुर्य विषयाणाम्, लोलपनां चेन्द्रियग्रामस्य, उन्मादितां च नवयौवनस्य, पारिप्लवतां च मनसः। प्रख्यातैव मन्मथस्य दुर्निवारता। अतो न मामुपालम्भेनोपस्थातुमर्हसि। न च बालिशता चपलता चारणता वा वाचालतायाः कारणम्। न किंचिन्न कारयत्यसाधारण कामो गुरुः, चन्द्रमा जीवितेश, मलयमरुदुच्छ्वासहेतुः, आधयोऽन्तरङ्गस्थानेषु, संतापः, परमसुहृत्, प्रजागर आप्तः, मनोरथाः सर्वगताः, निःश्वासा विग्रहाग्रेसरा, मृत्युः पार्श्ववर्ती, रणरणकः संचाकः संकल्पा बुद्ध्युपदेशवृद्धाः। किंच विज्ञापयामि। अनुरूपो देव इत्यात्मसंभावना, शीलवानिति प्रकमविरुद्धम्, धीर इत्यवस्थाविपरीतम्, सुभग इति त्वदायत्तम्, स्थिर प्रीतिरिति निपुणोपक्षेपः, जानाति सेवितुमित्यस्वामिभावोचितम, इच्छति दासभावमामरणात्कर्तुमिति धूर्तालापः, भवनस्वामिनो भवेत्युप प्रलोभनम्, पुण्यभागिनी भजति भर्तारं नादृशीमिति स्वामिपक्षपातः त्वं तस्य मृत्युरित्यप्रियम्, अगुणज्ञासीत्यधिक्षेपः स्वनेऽप्यस्य बहुशः कृतप्रसादासीत्यसाक्षिकम्, प्राणरक्षार्थयन इति कातरता, तत्र गम्यतामित्याज्ञा, वारितोऽपि बलादागच्छतीति परिभवः। तदेवमगोचरे गिरामसीति श्रुत्वा दवी प्रमाणमित्यभिधाय तूष्णीमभूत।

धीरे-धीरे दोपहर बीत गई। तब सावित्री उधर शोण में स्नान करने उतरी। इधर अभिप्राय युक्त सी मालती परिजनों को वहां से [illegible] करके फूल के बिस्तर पर लेटी हुई, सरस्वती के पास आकर बोली-'देवि, एकान्त में कुछ मुझे आपको सूचित करना है, इसलिए चाहती हूं कि क्षणभर आप ध्यान देने का प्रसाद करें। दधीच के सन्देश को आशंका से 'न मालूम क्या कहेगी' सरस्वती का हृदय [illegible] लगी। छाती पर रखे हुए उसके बायें हाथ वे नख की किरणें ऐसी लग रही थीं मानो कुतूहल का अंकुर हृदय से [illegible]

ऐसे हृदय को दुकूल वल्कल के अंचरे के खूंट से ढंक रही थी। कान में लगा हुआ पल्लव गिरने लगा, मानो उसका कान ही सुनने के कुतूहल से दौड़ पड़ा हो। निरन्तर सांस के झूले पर बैठी हुई जीविताशा को समीप के तरूण वृक्ष पर मानो अवलम्बित करने के लिए सहास ले रही थी। खिलखिलाये हुए मुखचन्द्र के लावण्व की धारा से शृङ्गार रस के रूप लगे हुए, मदनाग्नि से जले उसके मूर्त मनोरथ के रूप में श्यामवर्ण वाले भौरों ने उसे झटका दिया और कामज्वर से पीड़ित वह अपने दुष्यशयन से धीरे-धीरे उठी। 'धीरे बोल' यह कहती हुई सरस्वती अपने कपोल पर प्रतिबिम्बत'मालती को लज्जा ने मानो अपने कानों में पहुचंती हुई मधुर आवाज से धीरतापूर्वक बोली-'सखी मालती कैसी बात कर रही है? मैं क्या अवधान देकर सुनूं? शरीर और प्राण पर मेरा वश नहीं। प्रार्थना के बिना ही प्रियजन का प्रभत्व सब पर व्याप्त हो रहा है। तू तो मेरी सब कुछ है, बहन तू, सखी तू, प्रणयिनी तू, और प्राणसमा भी तू। छोटे-बड़े किसी योग्य काम के लिए इस शरीर को नियुक्त कर। मेरा हृदय तेरे प्रति प्रकट और बात मानने वाला है। तू प्रेम से मुझे अनुकूल और अपने वश में कर ले। अरी बरागेहे मालती, कह, क्या कहना चाहती है?' वह बोली-'देवी तू जानती ही है कि विषय मधुर लगते हैं, इन्द्रियां लोलूप होती है, नई जवानी मतवाली होती है और मन चञ्चल रहता है। काम को रोकना कठिन है यह बात प्रसिद्ध ही है। तो मुझे तू उपालम्भन न देना। मेरे इस वाचालता का कारण मूर्खता, चपलता या धूर्तता नहीं है। स्वामी की असाधारण भक्ति क्या नहीं कराती? जब से तुम्हें उन्होंने देखा है तभी से कामदेव उनका आचार्य बन बैठा है, चन्द्रमा उनके प्राणों का अधिपति हो गया, मलयानिल उनके उच्छ्वास का कारण बन गया, मन की व्यथाएं अन्तरंग बन गई, सन्ताप परममित्र बन गया, जागरण आत्मीय हो गया, मनोरथ अव्यवस्थित हो गए, नि:श्वास विरह के आगे चलने लगे, मृत्यु पार्श्वचर हो गई, मानसिक दु:ख ही संचारक बने, संकल्प ही बुद्धि के उपदेशक-वृन्द बने। और क्या कहूं? अगर कहती हूं 'देव दधीच सुयोग्य हैं', अपने सम्मान की बात होती है; 'वे सुशील है' तो बात प्रसंग के विरुद्ध होता है; 'धीर है' यह बात मदनावस्था से विपरीत है, 'सुभग है' यह तो तुम कह सकती हो; 'उनकी प्रीति स्थिर है' यह चतुरता की बात होती है; 'सेवा करना वे जानते हैं' यह कहना स्वामी के लिए उचित नहीं; 'मरने तक तुम्हारी दासता चाहते हैं' प्रलोभन हुआ; 'धन्यभाग नगरी के लिए उचित नहीं;' 'मरने तक तुम्हारी दासता चाहते हैं' प्रलोभन हुआ; 'तू उसकी मृत्यु है' यह बात अप्रिय होती है; 'तू गुणों को नही समझती' यह निन्दा की बात होती है; 'स्वप्न में भी तुमने इस पर बहुत बार प्रसन्नता की' इस बात में कोई साक्षी नहीं; 'अपने प्राणों की भीख मांगता है' यह कायरता है; 'वहां जाओ' यह आज्ञा होती है; 'रोकने पर भी हटपूर्वक आता है' यह अनादर की बात है। इस प्रकार तुमसे मैं कुछ नहीं कह पाती। यह सुन कर आप ही प्रमाण है। यह कहकर चुप हो गई।

अथ सरस्वती प्रतिविस्फारितेन चक्षुषा प्रत्यवादीत्-'अयि, न शक्नोमि बहु भाषितुम्। एषास्मि ते स्मितवादिनि वचसि स्थिता। गृह्यन्तामम्मी प्राणाः' इति। मालती तु देवि, यदाज्ञापयसि, अति प्रसादाय' इति व्याहृत्य प्रहर्षपरवशा प्रणम्य प्रजविना तुरगेण ततार शोणम्। अगाच्च दधीचमानेतु च्यवनाश्रमपदम्। इतरा तु सखीस्नेहेन सावित्रीमपि विदितवृत्तान्तामकरोत्। उत्कण्ठाभार भृता च ताम्यता चेतसा कल्पायितं कथंकथमपि दिवशेषमनेषीत्। अस्तमुपगते च भगवति गभस्तिमति, स्तिमिततरमवतरति तमसि, प्रहसितामिव सितां दशिं पौरंदरी दरीमिव केसरिणि मुञ्चति चन्द्रमसि सरस्वती शुचिनि चीनांशुकसुकुमारतरे तरङ्गिणि दुगूलकोमलशयन इव शोणसैकते समुपविष्ट स्वप्नकृतप्रार्थना पादपतनलग्नां दधीचचरणखनचन्द्रिकामिव ललाटिकां दधाना, गण्डस्थलादर्शप्रतिबिम्बतेन 'चारुहासिनि, अयमवाहृतो हृदययितो जनः' इति श्रवणसमीपवर्तितना निवेद्यमानमदनसंदेशेवेन्दुना, विकीर्यमाण नखकिरणचक्रवालेन वालव्यजनीकृतचन्द्रकलाकलापेनेव करेण वीजयन्ती स्वेदिनं कपोलपट्टम, 'अत्र दधीचादृते न केनचित्प्रवेष्टव्यम' इति तिरश्चीनं चित्तभुवा पातितां विलासवेत्रलतामिव बालमृणालि कामधिस्तनं स्तनयन्ती कथमपि हृदयेन वहन्ती प्रतिपालयामास आसीच्चास्या मनसि-'अहमपि नाम सरस्वती यत्रामुना मनोजन्मा जानत्येव परवशीकृता। तत्र का गणनेतरासु तपस्विनीष्वति तरलासु तरुणीषु' इति।

तब सरस्वती प्रीति से विस्फारित आंखो से (उसे देखती हुई) बोली-'सखी मालती, मैं बहुत बात नहीं कर सकती है। हे स्मितवादिनि! मैं तेरी बात मान जाती हूं। मेरे प्राणों की तू रक्षा करें।' 'देति, अत्यन्त प्रसाद के लिए, जो आज्ञा।' मालती यह कह और अत्यन्त प्रसन्न हो प्रमाण करके अपने तेज घोड़े पर चढ़ सोन के उस पार चली गई और दधीच को लाने के लिए च्यवनाश्रम पहुंची। सरस्वती ने इस वृत्तान्त को सखी के स्नेह से सावित्री को भी सुना दिया। उत्सुकता से बोझिल दु:खी चित्त के कारण कल्प के समान शेष दिन को किसी प्रकार बिताया। जब भगवान् सूर्य अस्त हो गए, धीरे-धीरे अन्धकार भी उतरने लगा और चन्द्रमा, जैसे सिंह गुफा से निकलता है वैसे ही हंसती हुई उज्जवल पूर्व दिशा को छोड़ने लगा, तब सरस्वती पवित्र चीनांशुक के समान कोमल, और तरंगो के चिह्न वाली मानो चादर से युक्त कोमल शय्या के सदृश सोन की रेत पर आकर बैठी और प्रार्थना करने के लिए पैरों पर गिरने से नखों की ज्योत्स्ना हो उसके गालों के आइने में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित हो रहा था, मानो वह उसके कान के पास आकर काम का

यह संदेश उसे सुना रहा थ कि 'हे चारुहासिनी, देख मैंने तेरे हृदय दयित दधीच को तेरे पास पहुंचा दिया।' हाथ क नख्रों की किरण चारों ओर फैल रही थीं, मानो उसने चन्द्र की कलाओं को ही चंवर बना दिया हो, ऐसे हाथ को वह पसीने से तर आन गाल पर झेल रही थी अपने स्तनों पर किसी प्रकार बाल मृणालिकाओं को धारण किये थी। 'यहां दधीच के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रहार न करे' इसलिए काम ने मानो अपनी वेत्र लता वहां छोड़ दी थी। एसने मन में सोचा-'सरस्वती होकर भी मैं जब इस काम द्वारा सब कुछ समझते हुए भी परवश कर दी गई, तो उन बेचारी अति चपल स्वभाव वालों तरूण नारियों की क्या गणना?'

आजगाम च मधुमास इव सुरभिगन्धवाहः, हंस इव कृतमृणालवृतिः, शिखण्डीव घनप्रीत्युन्मुखः, मलयानिल इवाहितसरमचन्दनधवल तनुलतोत्कम्पः, कृष्यमाण इव कृतकरकग्रहेण ग्रहपतिना, प्रेर्यमाण इव कन्दर्पोद्दीपनदक्षेण दक्षिणानिलेन, उह्यमान इवोत्कलिका बहुलेन रतिसरसेन, परिमलसंपातिना मधुपपटलेन पटेनेव नीलेनाच्छादिताङ्गयष्टिः अन्तःस्फुरता मत्तमदनकरिणकर्णह्रियमाणेन प्रतिमेन्दुना प्रथमसमागमविलासविलक्षस्मितेनेव धवलीक्रियमाणैककपोलोदरो मालतीद्वितीयो दधीचः। आगत्य च हृदयगतदयितानूपुर रवविमिश्रयेव हंसगद्गदया गिरा कृतसंभाषणो यथा मन्मथः समाज्ञा पयति, यथा यौवनमुपदिशति, यथा विदग्धताध्यापयति. यथानुरागः शिक्षयति, तथा तामभिरामां रामामरमयत्। उपजातविस्रम्भा चात्मानमकथदस्य सरस्वती। तेन तु सार्धमेकदिवसमिव संवत्सर मधिकमनयत्।

तब (सुगन्धि पवन से युक्त) वसन्त के समान सुगन्धि से भरे हुए, (मृणाल से जीवन धारण करने वाले हंस के समान मृणाल धारण किये हुए, (धन या मेघ में प्रीति से उत्सुक) मयूर के समान घन (दृढ़) प्रीति के करण उत्सुक, (चन्दन और वि वृक्ष के आश्रय पाई हुई तन्वी लताओं में कम्पन पैदा करने वाले) मलयानिल के समान सान्द्र के लेप से उज्जवल शरीर में कम्प स युक्त ग्रहपति दधीच मालती के साथ आये। मानो चन्द्र उन्हें किरण रूपी हाथों से बाल पकड़ कर खींच लाया हो। काम का उद्दीपन करने में दक्षिणानिल ने मानो प्रेरित किय हो। अभिलाषाओं की तरंगो से भरा रतिरस मानो उन्हें ढो लाया हो। सुगन्ध पर झूलता हुए भौंरे उन पर छा रहे थे, मानो उनके नीले वस्त्र से ढंक रहे हों। उनके एक कपोल के भीतर चन्द्र प्रतिफलित होकर चमक रहा था मानो मतवाले मदनरूपी हाथी के कान का वह शङ्ख हो। या प्रथम मिलन के विलास स्वरूप स्मित से उनके कपाल के मध्यभाग की कान्ति और भी निखर गई हो। आकर उन्होंने हृदय में पहुंची हुई प्रिया के नुपूर की आवाज से मिली हुई हंस के समान गद्गद वाणी से बातचीत की। काम जो आज्ञा देता, यौवन जो उपदेश देता, अनुराग जो शिक्षा देता, विदग्धता जो समझती, उसी प्रकार अपनी वन्दना प्रियतमा के साथ वे विहार करने लगे। जब पूरा विश्वास हो गया तब सरस्वती ने अपने आपको उनसे स्पष्ट कर दिया। (कि मैं ब्रह्मा के शाप से ग्रस्त होकर मर्त्य लोक में आई हुए सरस्वती हूं)। दधीच ने सरस्वती के साथ-साथ रह कर एक वर्ष से अधिक समय को एक दिन के समान व्यतीत किया।

अथ दैवयोगात्सरस्वती बभार गर्भम्। असूत चानेहस सर्वलक्षणाभिरामं तनयम्। तस्मै च जातमात्रायैव 'सम्यक्प्रयुक्तस्या: सर्वेवेदाः सर्वाणि च शास्त्रणि सकलाश्च कला मत्प्रभावात् स्वयमाविर्भविष्यन्ति' इति वरमदात्। सद्भर्तुश्लाघया दर्शयितुमिव हृदयेनादाय दधीचं पितामहादेशात्समं सावित्र्या पुनरपि ब्रह्मलोकमारुरोह। गतायां च तस्यां दधीचोऽपि हृदये ह्रादिन्येवाभिहता भार्गववंशसभूतस्य भ्रातुर्ब्राह्मणस्य जायामामलाभिधानां मुनिकन्यकामात्मसूनोः संबर्धनाय नियुज्य विरहतुरस्तपसे वनमगात्। यस्मिन्नेवावसरे सरस्वत्यसूत तनयं तस्मिन्नेवाक्षमालापि सुतं प्रसूवती। तौ तु सा निर्विशेष सामान्यस्तन्यादिना शनैः शनैः शिशू सवमर्धयत्। एकस्तयोः सारस्वताख्य एवाभवत्, अपरोऽपि वत्सनामासीत्। आसीच्च तयोः सोदर्ययोरिव स्पृहणीय प्रीतिः।

तत्पश्चात् दैवयोग से सरस्वती ने गर्भ धारण किया और समय से सब लक्षणें वाले सुन्द पुत्र को उत्पन्न किया और जन्म होते ही यह वर दिया-'मेरे प्रभाव से सम्यक् प्रकार से रहस्यों के साथ वेद, समस्त शास्त्र, समस्त कलाएं स्वयं आविर्भूत हों। उत्तम पति के गौरव के मानो दिखाने के लिए हृदय में दधीच को रखकर ब्रह्मा जी के आदेश के अनुसार फिर सरस्वती सावित्री के साथ ब्रह्मलोक को चली गई। उसके चले जाने से दधीच के हृदय पर गहरा वज्रपात-सा हुआ। तब उन्होंने अने पुत्र को पालने-पोसने के लिए भार्गववंश में उत्पन्न किसी ब्राह्मण भाई की पत्नी अक्षमाला नामक मुनिकन्या के पास रख दिया और स्वयं सरस्वती के विरह में आतुर होकर तपस्या करने के लिए वन में चले गये। जब सरस्वती ने पुत्र पैदा किया था तभी अक्षरमाला को भी एक पुत्र हुआ था। इन दोनों को एक भाव से दूध पिलाकर उसने पाला-पोसा और बढ़ाया। उनमें से एक का नाम सारस्वत हुआ और दूसरे का नाम वत्स। दोनों में सगे भाई के समान स्पृहणीय प्रेम-भाव था।

अथ सारस्वती मातुर्महिम्ना यौवनारम्भ एवाविर्भूताशेषविद्या संभारस्तस्मिन्सवयसि भ्रातरि प्रेयसि प्राणसमे सुहृदि वत्से सादरमयं समस्तमेव संचारयामास। चकार च कृतदारपरिग्रहस्यास्य तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रीत्या प्रीतिकूटनामानं निवासम्। आत्मनाप्याषाढी, कृष्णाजिनी अक्षवलयो, वल्कली, मेखली जटी च भूत्वा तपस्यो जनयितुरे जगामन्तिकम्।

माता के प्रभाव से सारस्वत में यौवन का आरम्भ होते ही सारी विद्याएं प्रगट हो गई तो उसने प्राण के समान प्रिय अपने समवयस्क भाई तथा मित्र वत्स में भी समस्त वाङ्मय को उढ़ेल दिया और वत्स का विवाह करा उसी प्रदेश में प्रीति के कारण प्रीतिकूट नाम का निवास बनवाया। और खुद वह पलाश का डंडा, कृष्ण मृगचर्म, अक्षवलय, बल्कल, मेखला, और जटा धारण करके तपस्या में लगे हुए पिता दधीच के ही पास चला गया।

अथ वत्सात्प्रवर्धमानादिपुरुषजनितात्मचरणोन्नतिः निर्गतप्रघोष परमेश्वरशिरोधृतः, सकलकलागमगम्भीरः, अस्खलितप्रवृत्तो भागीरथीप्रवाह इव पावनः प्रावर्तते विमलो वंशः। यस्मादजायन्त वात्स्यायनो नाम गृहमुनयः आश्रितश्रौता अप्यनालम्बिताली-कबककाकवः, कृतकुक्कुटव्रता अप्यबैडालवृत्तयः विवर्जितजनपङ्क्तयः परिहृतकपटकौरु कुचीकूर्चाकूताः, अगृहीतगह्वराः, न्यक्कृतनिकृतयः, प्रसन्नप्रकृतयः, विहतविकृतयः परपरीवादपराचीनचेतोवृत्तयः, वर्णत्रव्यावृत्ति विशुद्धन्धसः धीरविषणाः, विधूताध्येषणाः, असङ्कसुकस्वभावाः, प्रणतप्रणयिनः, शमितसमस्तशाखान्तरसंशीतयः उद्घातिसमय ग्रन्थार्थग्रन्थः, कवयः, वाग्मिनः, विमत्सराः, परसुभाषितव्यसनिनः, विद्ग्धपरिहासवेदिनः, परिचयपेशलाः, नृत्यगीतवादित्रेष्वबाह्या ऐतिह्यास्यावितृष्णाः, सानुक्रोशाः, सर्वातिथयः, सर्वसाधुसंमताः, सर्वसत्त्वसाधारणसौहार्दद्रवार्द्रीकृतहृदयाः, तथा सर्वगुणोपेता राजसेनानभिभूताः, क्षमाभाज आश्रितनन्दनाः, अनिस्त्रिंशा विद्याधराः, अजडाः कलावन्तः, अदोषास्तारकाः, अपरोपतापिनो भास्वन्तः, अनुष्माणाणे हुतभुजः, असुकसृतयो भोगिनः, अस्तम्भ्याः पुण्यालयाः, अलुप्तक्रक्रिया दक्षाः, अव्यालाः कामजितः, असाधारणा द्विजातयः।

वत्स से विमल वंश पावन गङ्गा की भांति चला, जिसके बढ़ते जाते हुए आदि पुरुषों से अपने चरणों-कठादि वैदिक शाखाओं के अध्ययन करने वालों की उन्नति (गङ्गाप्रवाह के पक्ष में-बढ़ते जाते हुए वामनरूप आदिपुरुष ने जिसकी पदोन्नति माहात्म्य उत्पन्न किया), जिसका निर्घोष (यश) निकल फैला (पक्ष में-शब्द या ध्वनि होती रहती है), जिसे जिसकी आज्ञा को) परमेश्वर अर्थात् राजाओं ने शिर धारण किया (पक्ष में परमेश्वर अर्थात् शिव जी ने शिर से धारण किया), जो समस्त कलाओं के आगम (अध्ययन या अज्ञान) से गम्भी था (पक्ष में-जिसका आगमन कलकल शब्द के साथ होता है), जो महामुनियों का मान्य था। (पक्ष में-महामुनि अर्थात् जह्नु ने जिसका मान किया), जो विपक्षों-शत्रुओं के क्षोभ उत्पन्न करने में समर्थ था (पक्ष में-जो अपने वेग से विपक्षी-पर्वतों को क्षुभित कर देता) पृथ्वीतल में जिसका आयति-प्रताप-व्याप्त हो गया था) (पक्ष में-पृथ्वीतल में आयति-विस्तार-को प्राप्त हुआ है), जो कभी सखलित अर्थात् अपने आचार से च्युत नहीं हुआ। एवं प्रवृत्त अर्थात् प्रकृष्ट वृत्त या व्यवहार वाला था (पक्ष में-जो अस्खलित या बेरोक बहता रहता है। लिस वंश से वात्स्यायन नाम के असाधारण ब्राह्मण उत्पन्न हुए। वे गृहमुनि (गृहस्थ होते हुए भी मुनि-वृत्ति रखने वाले) थे। श्रौत या चिरवृत्त का आश्रयण करके भी वे मिथ्या बगुलों जैसे छल-छद्म से, बगला भगती से अलग रहते थे), कुक्कुट का भक्षण (व्रत) करते थे तथापि बिडालों जैसा व्यवहार (हिंसावृत्ति) नहीं रखते थे (परिहार यह कि वे कुक्कुटव्रत करके अर्थात् उस नियम का पालन करते जिसमें कुक्कुट के अण्डे भी का कुक्कुटव्रत करके अर्थात् उस नियम का पालन करते जिसमें कुक्कुट अण्डे भी का ग्राममात्र भोजन करना चाहिए)। उन्होंने समान के व्यवहार (अथवा किसी का बनाया भोजन) वर्जित रचा था। कपट, कुटिलता और शेखी बघारने की आदत उनमें न थी। पापों से बचते थे। शठता को दूर रखते थे। प्रसनन स्वभाव वाले थे। उनमें किसी तरह का विकार न था। दूसरे की निन्दा से उनकी चित्तवृत्ति पराङ्मुखी थी। तीनों वर्णों (अपने गोत्र के अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को पृथक् करके पवित्र अन्न ग्रहण करते थे। उनकी बुद्धि स्थिर थी। उन्होंने याचना की वृत्ति को तिरस्कृत कर दिया था। उनका स्वभाव स्थिर या मृदु था। उनके मित्रजन अनुकूल थे। उन्होंने समस्त अन्य (वैदिक) शखाओं के सन्देहों को भी दूर किया था। सारे ग्रन्थों की ग्रन्थियां भी उन्होंने उद्घाटित की थी। वे कवि, वक्ता और मत्सर हित थे। दूसरों के सुभाषित को सुनने के शौकीन थे। विदग्ध जनों के परिहासों के जानकार थे। मिलने-जुलने में कुशल थे। नृत्यु, गीत और वाद्य से बाहर नहीं थे। आगन या ऐतिह्य में तृष्णारहित न थे। दयावान्, सबके पूज्य, सभी सज्जनों के इष्ट थे। सभी प्राणियों के प्रति एक समान सौदार्ह के कारण उनका हृदय था (सभी प्रकार के गुणों से युक्त था)। (फिर भी) राजस (गुण) से अभिभूत न थे। (परिहार में राजसेना से अभिभूत न थे)। पृथ्वी पर रहते थे (फिर भी) नन्दन (देवोद्यान) के आश्रित थे (परिहार यह कि क्षमा रखते थे एवं अपने आश्रितों को प्रसन्न रखते थे) निस्त्रिश या खड्ग धारण नहीं करते थे (फिर भी) विद्याधर (एक प्रकार के देवभूत प्राणी जो नियमितरूप से खड्ग धारण करते हैं) थे (परिहार यह कि क्रूर नहीं थे तथा विद्या के धारण करने वाले (पण्डित) थे। कलावान् (चन्द्र) थे (फिर भी) अजड (अशीत) थे (परिहार यह कि गीत आदि कला उन्हें अभ्यस्त थीं एवं जड बुद्धि वाले न थे)। दोषा (रात्रि) नही थे (फिर भी) तारक (नक्षत्र) नही थे (परिहार यह कि द्वेषों रहित थे और उद्धार करने वाले (फिर भी) तारक आचार्य थे। दूसरों को उपताप देने वाले न थे (फिर भी) सूर्य थे (परिहार में, तेजस्वी थे)। अर्थात् अहङ्कार से रहित एवं आहिताग्नि थे)। भूमि में नहीं सरकते थे (फिर भी) भोगी अर्थात् सर्प थे (परिहार में कुसृति या शाठ्य नहीं करते एवं भोगी अर्थात् सुखी थे)। (स्तम्भ रहित थे)। उनके यज्ञकार्य लुप्त नहीं थे (फिर भी) दक्ष (एक प्रजापति, जिसके यज्ञकार्य का वीरभद्र ने विध्वंस कर डाला था) थे (परिहार

में दक्ष अर्थात् चतुर थे)। व्याल अर्थात् चतुर थे)। व्याल अर्थात् सर्प से रहित थे (फिर भी। कामजित अर्थात् शिव । पारह व्याल अर्थात् शठ न थे एवं काम की जीत लेने वाले थे।

तेषु चैवमुत्पद्यमानेष, संसरति च संसारे, सात्सु युगेषु, अवतीर्णे कलौ, वहत्सु वत्सरेषु, व्रजत्सु वासरेषु अतिक्रामति च कालप्रसवपरम्पराभिरनवरतमापतति विकाशिनि वात्स्यायनकुले, क्रमेण कुबेरनामा वैनतेय इव गुरुपक्षपाती द्विजो जन्म लभे। तस्याभवन्नच्युतईशानो हरः पाशुपतश्चेति चत्वारो युगारम्भा इव ब्राह्मतेजोजन्यमान प्रजाविस्तारा नारायणबाहुदण्डा नाम्ना समग्राग्रजन्मचक्रचूडामणिर्महात्मा सूनः। सोऽजनयद् भृगुं हंसं शुचि कवि महीदत्तं धर्म जातवेदसं चित्रभानुंच्यक्ष महिदत्त विश्वरूपं चेत्येकादश रुद्रानिव सोमामृतरसशीकरच्छुरितमुखान्पवित्रान्पुत्रान्। अलभत च चित्रभानुस्तेषां मध्ये राजदेव्यभिधानायां ब्राह्मण्यां बाणमात्मजम्। स बाल एव बलवतो विधेर्वशादुपसंपन्नया व्ययुज्यत जनन्या। जातस्नेहस्तु नितरां पितौवास्य मातृतामकरोत। अवर्धत त तेनाधिकतरमाधीयमानधृतिर्धाम्नि निजे।

इस प्रकार उस वंश में ब्राह्मण उत्पन्न होते गए, संसारचक्र सरकता गया, युग बीते, कलिकाल आया, साल के साल गु न्न ात समय बहुत चला गया। वात्स्यायन कुल जन्म-परम्परा से निरन्तर विकसित होता गया। इसी क्रम में गुरु में पक्षपात भक्ति न्न वाले कुबेर नामक द्विज विनता के पुत्र गरुड़ के समान हुए (गरुड़ भी अपने गम्भीर पक्षों से पतन या गमन करते हैं तथा द्वि न्न पक्षी हैं)। उनके चार पुत्र हुए अच्युत, ईशान्, हर और पाशुपत, जो चार युगारम्भ के समान थे, जिनके ब्राह्म तेज से सन्तोष फैल रही थी, नारायण के बाहुदण्ड की भांति जो साधुवृन्द को सन्तुष्ट करते थे (नारायण का बाहुदण्ड सुदर्शन नामक चक्र और नन्दकनामक खड्ग से युक्त है)। उसमें पाशुपत के एक ही अर्थपति नामक पुत्र भू-भार की भांति कुल मर्यादा का पालन करने वाले पक्ष में अचल अर्थात् पर्वतों के मुल (समूह) के कारण स्थिरत रहने वाला), स्थिर, समुद्र की भांति गम्भीर, समस्त ब्राह्मण के चूडामणि एवं महात्मा पुत्र हुए। अथपति ने रुद्रों के समान ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये-भृगु, हंस, शुचि, कवि महीदत्त, ध न्न ातवेदस चित्रभानु, च्यक्ष, अहिदत्त और विश्वरूप। जो सोम (तृण विशेष अथवा चन्द्रमा) के अमृतमय शीकर से सिक्त मुख वाले थे। उनमें से चित्रभानु ने राजदेवी नामक ब्राह्मणी में बाण नामक पुत्र को पाया। बलवान् दैवयोग से बाण बाल्काल में ही मातृ क न्न जाने से मातृहीन हो गया। स्नेह उत्पन्न हो जाने से पिता ने पूर्णरूप से उसकी माता के स्थान की पूर्ति की और उनके द्वा न्न धैर्य धारण कराया जाता हुआ वह अपने घर पर बढ़ा।

कृतोपनयनादिक्रियाकलापस्य समावृत्तस्य चास्य चतुर्दशवर्ष देशीयस्य पितापि श्रुतिस्मृतिविहितं कृत्वा द्विजजनोचितं निखिलं पुण्यजातं कालेनादशमीस्थ एवास्तमगमत्। संस्थिते च पितरि महता शोकेनाभीलमनुप्राप्तो दिवानिशं दह्यमानहृदयः कथंकथमपि कतिपयान्दिवसानात्मगृह एवानैषीत्। गते च विरलतां शोके शनैः शनैर विनयनिदानतया स्वातन्त्र्यस्य, कुतूहलबहुलतया च बालभावस्य, धैर्यप्रतिपक्षतया च यौवनारम्भस्य, शैशवोचितान्येकानि चापलान्या चरन्नित्वरो बभूव। अभवंश्चास्य सवयसः समानाः सुहृदः सहा याश्च। तथा चं भ्रातरौ पारशवौ चन्द्रसेनमातृषेणौ, भाषाकविरी शानः परं मित्रम्, प्रणयिनौ हृदनारायणौ, विद्वांसो वारबाणवास बाणौ, वण्रकविर्वेणीभारतः प्राकृत्कृकुलपुत्रो वायुविकारः, बन्दिनावनङ्गबाणसूचीबाणौ, कात्यायनिका चक्रवाकिका, जाङ्गुलिको मयूरकः, ताम्बूलदायकश्चण्डकः, भिषक्युत्रो मन्दारकः, पुस्तकवाचकः सुदृष्टिः, कलादश्चार्मीकरहैरिकः सिन्धुषेणः, लेखको गोविन्दकः, चित्रकृद्वीरवर्मा, पुस्तकृत्कुमारदत्तः, मार्दङ्गिको जीमूतः, गायनो सोमिलग्रहादिन्यौ सैरन्ध्री कुरङ्गिका, वांशिकौ मधुकरपारावतौ, गान्धर्वोपाध्यायो दुर्दुरकः, संवाहिका, केरलिका लासकयुवा लाण्डविकः आक्षिक आखण्डलः, कितवो भीमकः, शैलालियुवा शिखडकः, नर्तकी हरिणिका, पाराशरी सुमतिः, क्षपणको वारहेवः कथको जयसेनः, शैवो वक्रघोणः, मन्त्रसाधकः करालः असुरविवरव्यसनी लोहिताक्षः, धातुवादविद्विहंगमः, दार्दुरिको दामोदरः, ऐन्द्रजालिकश्चकोराक्षः, मस्करी ताम्रचूडकः। स एभिरन्यैश्चानुगम्यमानो बालतया निघ्नतामुपगतो देशान्तरावलोकन- कौतुकाक्षिप्तहृदयः सत्स्वपि पितृपितामहोपात्तेषु ब्राह्मणजनोचितेषु विभवेषु सति चाविच्छिन्ने विद्याप्रसङ्गे गृहान्निरगात्। अगाच्च निरवग्रहो ग्रहवानिव नवयौवनेन स्वैरिणा मनसा महतामुपहास्यताम्।

बाण के उपनयन आदि कार्य-कलाप हुए और उसका समावर्तन-संस्कार भी हो चुका। बाण की आयु चौदह वर्ष की न न ह होने पाई थी कि उसके पिता भी वेद (श्रुति) और धर्मशास्त्र (स्मृति) द्वारा विहित एवं ब्राह्मणजन के उचित समस्त पुण्य कर्म को सम्पन्न करके बिना वृद्धावस्था [शङ्कर के अनुसार दशा को प्राप्त, (शत वर्ष की) पूर्ण आयु को पहुंचा व्यक्ति दशमोऽवस्थां हि हिन्दू-संस्कृति में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी गई है, किन्तु चतुर्दश वर्षीय बाण के पिता अभी पूर्णायु नहीं थे] को प्राप्त हुए चल बसे। पिता के मरने पर उसे महान् शोक के कारण कष्ट हुआ और दिन रात हृदय से खौलते हुए अपने अपन घर न ो रह

दिन बिताये। धीरे-धीरे जब उसका शोक कम हुआ तब उसे वह स्वतंत्रता मिल गई जिससे अविनय या अनुशासनहीनता बढ़ती गई। लड़कपन में बहुत से कुतूहल हो जाते हैं। यौवन का आरम्भ धैर्य को नहीं रहने देता। इसलिए बाण शैशवकाल के उचित अनेक चपलताओं में पड़ कर आवारा (इत्वर) हो गया उसके बहुत से सृहृद् और सहायक मिल गए जो, उसकी अवस्था के थे और उसी के समान (आवारा) थे। चन्द्रसेन और मातृषेण, जो शूद्रा माता से उत्पन्न द्विजपुत्र (पारशव) भाई थे, भाषाकवि [यह अपभ्रंश भाषा में गीत रचना करने वाला था] ईशान, जो बाण का परम मित्र था; रुद्र और नारायण, जो बाण के स्नेही थे; वारबाण और वासबाण, जो विद्वान् थे; वर्णकवि वेणी भारत; प्राकृत भाषा में रचना करने वाला कुलपुत्र वायुविकार; अनङ्गबाण और सूचीबाण, जो बन्दीजन थे; कात्यायनिकाएं चक्र चक्रवाचिका; जाङ्गुलिक (विषवैद्य या गारूडी) मयूरक की खिल्ली लगा कर देने वाला चंडक, भिषक्पुत्र मन्दारक, पुस्तकवाचक सुदृष्टि, स्वर्णकार चामीकर, सुनारों का अध्यक्ष या हीरा काटने वाला सिन्धुषेण, लेखक गोविन्दक, चित्रकार वीरवर्मा, मिट्टी के खिलौने बनाने वाला (पुस्तकृत=लेप्यकार) कुमारदत्त मृदङ्ग बजाने वाला जीमुल, गायक सौमित और ग्रहादित्य सैरन्ध्री (प्रसाधिका=बनाव सिंगार करने वाली) कुरंगिका, वांशिक (वंशी बजाने वाले) मधुकर और पारावत, गान्धर्वोपाध्याय (संगीतगुरु) दर्दुरक, संवाहिका (पैर दबाने वाली) केरलिका, नृत्य करने वाला ताण्डविक, आक्षिक (पासा खोलने वाला) शिखंडक, धूर्त भीमक, स्वयं नृत्य करने वाला युवक नट शिखण्टक, नर्तकी हरिणिका, पाराशरी (सन्यासी) सुमति, क्षपणक (जैन साधु) वीरदेव, कथक (कथावाचक) जयसुन, शैववक्रघोण, मन्त्रसाधक कराल, पाताल में घुल कर यक्ष या राक्षस को सिद्ध करने वाला लोहिताक्ष, रसायन बनाने की विद्या जानने वाला विहंगम, दर्दुर नामक घटवाद्य बजाने वाला दामोदर, ऐन्द्रजालिक चकोराक्ष, मस्करी (परिव्राजक) तम्रचूड। ये मित्र तथा कुछ ओर भी लोग बाण के साथ चलते थे। लड़कपन के कारण यह विवश हो गया। उसके मन में देशान्तरों को देखने की बड़ी उत्कण्डा थी। यद्यपि पिता-पितामह द्वारा उपार्जित के उचित धन सम्पत्ति उसके घर थी और विद्या का अविच्छिन्न प्रसंग भी प्राप्त था तथापि वह घर से निकल पड़ा। जैसे किसी पर ग्रहों की बाधा सवार हो वैसे ही स्वच्छन्द होकर और नवयौवन एवं स्वतंत्र मन के कारण बड़े लोगों की खिल्ली का पात्र बना।

अथ शनौ शनैरत्युदारव्यवहृतिमनोहृन्ति बृहन्ति राजकुलानि वीक्षमाणः, निरवद्यविद्याविद्योतितानि गुरुकुलानि च सेवमानः, महार्हालापगम्भीरगुणवद्गोष्ठीश्चौपतिष्ठमानः, स्वभावगम्भीरधीर्धनानि विदग्धमण्डलानि च गाहमानः, पुनरपि तामेव वैपश्चितीमात्मवंशोचितां प्रकृतिमभजत्। महतश्च कालात्तमेव भूयो वात्स्यायनवंशाश्रममात्मनो जन्मभूवं ब्राह्मणाधिवासमगमत्। तत्र च चिरदर्शनादभिनवीभूत स्नेहद्भावैः ससंस्तवप्रकटितज्ञातेयैराप्तैरुत्सवदिवस इवानन्दितागमनो बालमित्रमण्डलमध्यगतो मोक्षसुखमिवान्वभवत्।

इति श्रीमहाकविबाणभट्टकृतौ वात्स्यायनवंशवर्णनं नाम प्रथम उच्छ्वासः।

तब उसने धीरे-धीरे राजकुलों को देखा जिनमें होने वाले उदार व्यवहारों ने उसके मन को हर लिया। अनिन्द्य विद्याओं के (अध्ययन-अध्यापन) से उद्भासित गुरुकुलों में रहा। बड़ी-बड़ी गोष्ठियों में बैठने लगा जो गुणी जनों के बहुमूल्य आलाप के कारण गम्भीर थी। बाण स्वयं स्वभाव से गम्भीर था। उसे धन सम्पत्ति प्राप्त हुई और विद्ग्धजनों के मण्डल में रहा। [कात्यायनिक-शङ्कर द्वारा उद्धृत वचन के अनुसार पाचस वर्ष्ज की अवस्था वाली वीरा, मृतपतिका तथा काषाय वस्त्र धारण करने वाली स्त्री। 'अमरकोश' में भी-'कात्यायन्वर्धवृद्धा या काषायवसनाऽथवा।' (मनुष्यवर्ग, १७)] अन्त में फिर वह अपने कुल के योग्य विद्वान् बन गया। बहुत समय के बाद फिर वह अपनी जन्मभूमि और वात्स्यायनवंशी ब्राह्मणें के गांव प्रीतिकूट में पहुंचा। वहां बन्धुओं ने, जिनका स्नेह-सद्भाव बहुत दिनों के बाद देखने से नवीन हो गया और जिन्होंने आदरपूर्वक अपना बन्धुत्व प्रकट किया, उत्सव के दिन भांति उसके आगमन का अभिनन्दन किया तथा उसने बाल्यकाल के मित्रों के बीच मोक्षसुख जैसा अनुभव किया। [यहां 'बालमित्रमण्डलमध्यगतः' के प्रयोग से यह अर्थ भी व्यञ्जित होता है कि योगी लोग निस्तेज सूर्यमण्डल के मध्य में पहुंच कर मोक्ष सुख का अनुभव करते हैं।]

इकाई–3
मृच्छकटिकम् (शूद्रक)

मृच्छकटिक तथा उसके रचयिता का समय

जिस प्रकार मृच्छकटिक के रचयिता को इतिहास में खोजना विद्वानों के लिए एक समस्या रही है उसी प्रकार रचना का समय निर्धारण करना भी बहुत कठिन प्रमाणित हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो दोनों प्रश्न ही अन्योन्याश्रित हैं, एक का पता लगने पर दूसरे का पता अपने आप ही लग सकता है।

जहां तक किसी ग्रन्थ के काल निर्णय का सम्बन्ध है, उसके लिये प्रायः दो मार्ग अपनाये जाते हैं। प्रथम– ग्रन्थ कर्त्ता का काल निश्चित करके ही उसे ही ग्रंथ का काल मान लिया जाता है। द्वितीय–जहां पर उक्त बात संभव न हो वहा आभ्यतर और बाह्य प्रमाणों के आधार पर स्वतंत्र रूप से ग्रन्थ का काल निश्चित किया जाता है। मृच्छकटिक के काल निर्णय हेतु दोनो ही दृष्टियों से विचार किये गये हैं और निष्कर्ष भी निकालने का प्रयास किये गये हैं। परन्तु अभी तक ये सभी अनिश्चय के गर्भ में हैं। इस सम्बन्ध में आज तक जो कार्य हुआ है। उसके अनुसार इसका समय तृतीय शताब्दी ई० पूर्व से लेकर अष्टम शताब्दी तक दोलायमान है। विद्वानों द्वारा इस लम्बी अवधि में विभिन्न तिथि सम्बन्धी मत रखे गये हैं जो सप्रमाणिक होते हुये भी पूर्ण रूपेण अकाट्य नहीं कहे जा सकते।

(क) ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से ई० पूर्व प्रथम शताब्दी

स्कन्द–पुराण में शुद्रक विषयक उल्लेख प्राप्ति के अनुसार पर मृच्छकटिक के कर्त्ता शुद्रक को आन्ध्रवंश के आदिम राजा से अभिन्न मानने का प्रयास विद्वानों द्वारा समय–समय पर किया जाता है। इसी अभिन्नता के आधार पर मृच्छकटिक का रचनाकाल भी ईसा पूर्व द्वितीय शताबदी तथा ई. पू. प्रथम शताब्दी अनुमानित किये गये है। इस मत के प्रमुख समर्थकों में कर्नल विल्फार्ड विल्सन, डॉ. भण्डारकर, एम. आर.काले. डॉ. भार्गव, डॉ. हरिदत्त शास्त्री आदि है। सभी विद्वानों ने अन्तः साक्ष्य एव बाह्य साक्ष्य के आधार पर उक्त काल की पुष्टि का प्रयास किया है।

१. डॉ. भण्डारकर का कथन है कि सातवाहन नरेशों का शासन–काल बृहत्कथा तथा गाथासप्तशती जैसे काव्य ग्रन्थों के प्रणयन से सौरभित था और ये ग्रन्थ उनके प्राकृत प्रेम के परिचायक समझे जायेंगे। पुनः सातवाहनों क राज्यकाल में बौद्ध धर्म की यथेष्ठ उन्नति हुई थी और उसे राज्य की ओर से प्रचुर प्रोत्साहन भी मिला था। श्री काले एवं विल्सन दोनो ने डॉ. भण्डारकर के उक्त विचारों को उद्धृत करते हुये अपने अलग मत प्रकट किये हैं। विल्सन महोदय का कथन है कि मृच्छकटिक में प्राकृत भाषा का अत्यधिक प्रयोग हुआ है और संवाहक भिक्षु के प्रति प्रदर्शित व्यवहार से बौद्ध धर्म की उन्नत एवं सम्मानपूर्ण अवस्था का अर्थ ग्रहण किया है। इन्हीं व अन्य आधारों पर आपने मृच्छकटिक को सातवाहन–काल की रचना माना है। इस सम्बन्ध में आपने दो अन्य तर्क भी दिये है पहला तर्क शकार संस्थानक द्वारा प्रस्तुत किये गये श्लोक से सीधे उद्धरणों से सम्बन्धित है। विल्सन का कथन है कि उसके सम्पूर्ण उद्धरण रामायण तथा महाभारत से लिये गये हैं और पौराणिक कथाओं में प्राप्त ध्रुव, प्रहलाद, प्रभृति पात्रों की कोई चर्चा उनमें उपलब्ध नहीं है। इसम जान पड़ता है कि मृच्छकटिक की रचना पुराणों के पूर्व हुई होगी क्योंकि नाटककार उनकी कथाओं से परिचित नहीं जान पडता है। आपका दूसरा तर्क यह है कि ब्राह्मण चारुदत्त तथा वेश्या वसन्सेना में जो वैध दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित हो गया है, उससे भी लक्षित होता है कि नाटक उस समय के पूर्व रचा गया होगा जब ब्राह्मण एवं शूद्र में वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध ठहराया गया।

२. विल्सन के अतिरिक्त डॉ. काले ने भी अन्तः साक्ष्यों के आधार मानते हुये इस प्रकार अपना मत प्रस्तुत किया है

(क) यह नाटक ऐसे समय की ओर संकेत करता है जब बौद्ध धर्म उन्नत अवस्था में था। बौद्ध भिक्षुकों का जनता में सम्मान था, व भिक्षु क धर्म ह्रास की ओर अग्रसर हो चला था। अतः इस नाटक की रचना इससे पूर्व ही मानी चाहिये

(ख) नवम अंक में अधिकरणिक द्वारा कथित अगरक–विरुद्धस्य इत्यादि श्लोक में मंगल को बृहस्पति का शत्रुग्रह बतलाया गया है। यह मान्यता वराहमिहिर के विपरीत पड़ती है और उनके पूर्ववर्ती ज्योतिषाचार्यों – द्वारा यह मान्य थी जिनका कि उल्लेख उसने वृहज्जातक में किया हैं डॉ. काले का इस सन्दर्भ में कथन है कि वराहमिहिर का समय ५०० ई० के लगभग निर्धारित किया गया है। अतः मृच्छकटिक की रचना उसके अनेक शताब्दी पूर्व होनी चाहिये।

(ग) वैशिकी काल का उल्लेख तथा किसी वेश्या के नायिका होने की कल्पना वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना के समकालीन

है। वात्स्यायन के कामसूत्र का समय १००ई. पू. से पश्चात् नहीं हो सकता अतः मृच्छकटिक का समय भी इसके ही निकट है।

(घ) बाद में प्रचलित नाट्यकला के अनेक नियमों से मृच्छकटिक का कर्त्ता परिचित नहीं है, जैसे किसी रस–विशेष की प्रधानता अथवा किसी पात्र विशेष के लिये किसी प्राकृत–विशेष की योजना। साथ ही नाटक की सरल किन्तु चित्रपूर्ण शैली न तो कालिदास के समान कोमलकान्त पदावलि में है और न ही भट्टनारायण एवं भवभूति के समान कृत्रिम एवं कलापूर्ण है। इससे प्रकट होता है कि मृच्छकटिक संस्कृत नाटक के प्रारंभिक काल की रचना है।

३. प्रसिद्ध इतिहासकार श्री डे ने भी मृच्छकटिक का रचयिता शूद्रक को स्वीकार करते हुए नाटक में प्रयुक्त शकार तथा विट के रूप, साक्ष्य तथा कामसूत्र के अनुसार वसन्तसेना के चित्रण के कारण नाटक का रचनाकाल ई. पू. प्रथम तथा ई. की प्रथम सदी के मध्य माना है।

४. डॉ. हरिदत्त शास्त्री एवं डॉ. देवस्थली आदि कतिपय विद्वानों ने नवें अंक में प्राप्त **अयंहि पातकी विप्रो** श्लोक के आधार पर मृच्छकटिक को मनुस्मृति के आस–पास की रचना माना है। डॉ. शास्त्री ने बूलर के मत को प्रमाण स्वरूप रखकर मनुस्मृति का समय २०० ई. पूर्व और २०० ई. बीच माना है। मृच्छकटिक में मनुस्मृति के नियम को चूंकि माना नहीं गया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है मृच्छाकटिक का समय मनुस्मृति के रचनाकाल के आस–पास ही होगा। जब मनु के नियम अधिक प्रचलित नहीं हुये होंगे। आपने मृच्छकटिक के रचना काल सम्बन्धी निष्कर्षों में लिखा है कि यद्यपि इस निश्चित रूप से नहीं कह सकते किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह रचना द्वितीय शताब्दी ई.पू. की है। सम्भव है आन्ध्रभृत्यवंश के राजा सिमुक ही शूद्रक हो जिनकी यह रचना हो।

५. शूद्रक के समय के स्थिरीकरण के विषय में एक अन्य महत्वपूर्ण कसौटी कालिदास का आविर्भाव काल है। इस विषय में भी दोनों पक्ष विद्यमान हैं कुछ विद्वानों ने कालिदास को परवर्ती व कुछ न उसे पूर्ववर्ती माना है। शुद्रक कालिदास से पूर्ववर्ती नहीं था इसके लिये विद्वानों के पास मुख्य प्रमाण मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में भास, सौमालिक आदि के साथ शूद्रक के नाम का न होना है। डॉ. रमाशंकर तिवारी ने कालिदास द्वारा नामोल्लेख न करने के संदर्भ में कई प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान करते हुये निष्कर्ष यही निकाला है कि कालिदास ने मृच्छकटिक तथा उसके रचियता शूद्रक की किन्हीं साहित्येतर कारणों से, उपेक्षा की, यह मानने में हम असमर्थता का अनुभव करते हैं। हमारी विवक्षा यह है कि शूद्रक कालिदास का परवर्ती है। इसी प्रकार जागीरदार व अन्य भी अनेक विद्वानों ने शूद्रक को कालिदास का परवर्ती कवि माना है।

दूसरी ओर कालिदास के नाटकों को मृच्छकटिक की नाट्यकला व उसके प्रभावों से प्रभावित जानकर विद्वानों ने शूद्रक को कालिदास से पूर्ववर्ती स्वकार किया है। डॉ. शान्तिकुमार नानूराम व्यास ने कालिदास को शूद्रक का परवर्ती कवि माना है। आपने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये हैं–

(क) कालिदास के नाटकों में मृच्छकटिक की कुछ छाप दिखाई पडती है। कालिदास का समय लगभग १०० ई. पूर्व है अतः मृच्छकटिक की रचना इससे कुछ पूर्व अवश्य हो चुकी होगी। प्रश्न होता है कि फिर कालिदास शूद्रक के प्रति मौन क्यों है? जब उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भास का उल्लेख किया है। कारण यह है कि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति अशान्तिमय होने के कारण कविगण प्रायः किसी उपलब्ध नाटक के परिष्कार एवं परिवर्धन में अपना कौशल प्रदर्शन करते थे किसी समय समकालीन या पूर्वकालीन राजनीतिक क्रान्ति के आधार पर वे मूल रचना में दर्शकों की रुचि के अनुसार परिर्वतन करते थे। कालिदास को संभवतः यह पता रहा होगा कि मृच्छकटिक न कोई मौलिक रचना है और न शूद्रक ही उसके लेखक हैं। कालिदास के अनुसार मृच्छकटिक के रचयिता रामिल और सौमिल रहे होंगे क्योंकि इन्हीं का उल्लेख उन्होंने मालविकाग्निमित्र में किया है।

(ख) मृच्छकटिक में राष्ट्रिय शब्द का प्रयोग वस्तुतः एक पुलिस के अधिकारी के अर्थ में हुआ है। किन्तु बाद में साहित्य में राष्ट्रिय शब्द का प्रयोग राजा के साले के अर्थ में हुआ है। कालिदास ने राष्ट्रिय शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। अतः मृच्छकटिक कालिदास के पूर्व की रचना है।

६. डॉ. सुधीर कुमार भी मृच्छकटिक को कालिदास से पूर्व की रचना मानते है। आपने कालिदास द्वारा शूद्रक का नामोल्लेख न करने के संदर्भ में एक दो संभावनायें की है। आपने लिखा है हो सकता है कि मृच्छकटिक का उल्लेख कालिदास के विक्रमोर्वशीय के **पूर्वेषां कवीनाम्** के अन्तर्गत आ गया हो। द्वितीय संभावना आपने कालिदास के शुद्रक के सभाकवि के रूप में मान कर की है। उसके अनुसार यदि कृष्णचरित के अनुसार शुद्रक वस्तुतः मृच्छकटिक के रचयिता थे, तो कालिदास उनके सभाकवि होने के कारण स्पष्ट शब्दों में शुद्रक का नाम निर्देश करते हुये अपने नाटक की प्रशंसा नहीं कर सकते थे। यह भी संभव है कि शूद्रक का नाटक कालिदास के नाटकों से पहले अभिनीत न हुआ हो। राजा ने अपने काल में

शान्ति स्थापित होने के उपरान्त ही इसे लिखा होगा। उस समय तक कालिदास का मालविकाग्निमित्र लिखा जा चुका होगा। अतः शेष दो नाटकों में किसी में भी कवि का नामतः निर्देश न किया जाना महत्त्वपूर्ण है। निष्कर्ष के रूप मे आपने लिखा है कि भास, कालिदास और शूद्रक आस–पास ही रहे होंगे।

७. डॉ. रामजी उपाध्याय भी डॉ. गुप्त व व्यास के मत से सहमति रखते है। आपने भी स्पष्ट लिखा है इसकी रचना अवश्य ही कालिदास के नाटकों के पहले हुई।

८. डॉ० परांजपे भी मृच्छकटिक को कालिदास के पूर्व की रचना मानते है। इसके लिये आपने प्रकरण में प्रयुक्त कायस्थ तथा राष्ट्रिय आदि शब्दों के अर्थ तथा प्रयोग क्रम का विवेचन किया है। मृच्छकटिक में राष्ट्रिय शब्द का प्रयोग एक पुलिस के अधिकारी के रूप में हुआ है जो कि उसके शब्दिक अर्थ के अधिक उपयुक्त है, जबकि कालिदास ने इस शब्द का रूढि करके राजा के साले के स्थान पर प्रयुक्त किया है। कायस्थों के सन्दर्भ में आप निम्न मत रखते हैं कायस्थों को आप एक विदेशी जाति मानते है तथा कायस्थों का विदेशी शब्दों तथा पल्लवों के वंशगत समूह से सम्बन्ध स्वीकारते हैं और द्वितीय चूंकि भारतीयों ने यूनानियों तथा रोमनों से नक्षत्रविद्या अपनाई, इसलिये मृच्छकटिक के छठे अंक में प्राप्त ज्योतिष–विषयक उल्लेख ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी में स्वभाविक समझे जा सकते हैं।

उक्त सभी मतों पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट होता है कि मृच्छकटिक संस्कृत साहित्य की एक प्राचीन रचना ही है। भारतीय परम्परा के अनुसार कालिदास का समय ई. पू. ५६ के लगभग है। अतः शूद्रक का समय इससे पूर्व या समीपवर्ती होना चाहिये।

(ख) ३०० ई० से ७०० ई० मध्यम

विद्वानों का दूसरा समूह उक्त उक्तियों को स्वीकृति प्रदान नहीं करता। उनके मतानुसार चूंकि मृच्छकटिक चारुदत्त का परिवर्द्धित संस्करण है अतः शूद्रक का समय इतने पूर्व का स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इन विद्वानों ने ब्राह्य प्रमाणों को अपने मत का मूलाधार बनाया है। उदाहरणार्थ :–

१. वामनाचार्य ने अपनी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में (शुद्रकविरचितेषु प्रबन्धेषु) शूद्रक विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया है। **द्यूतहि नाम पुरुषस्य असिहांसनं राज्यम्** मृच्छकटिक के इस द्यूत प्रशंसा परक वाक्य को उद्धृत भी किया है जिससे प्रमाणित होता है कि मृच्छकटिक की रचना काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (आठवीं शताब्दी) के पहले ही हो गई होगी।

वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में मृच्छकटिक के **लिम्पतीव तमोऽगांनि** पद्यांश को अलंकार निरूपण करते समय उद्धृत किया है। उक्त प्रमाणों के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन है कि मृच्छकटिक की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी।

बाह्य प्रमाणों के अतिरिक्त आपने आन्तरिक प्रमाणों को भी अपने मत का आधार बनाया है परन्तु हमारे अनुसार आपके ये प्रमाण स्थापना के बाधक ही है साधक नही। उदाहरणार्थ–आपने **अयं हि पातकी विप्रो** वाला श्लोक लेकर उसे मनुस्मृति के अनुरूप बतलाया है। साथ ही अपने मनुस्मृति का रचनाकाल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना है। उसके पीछे आप मृच्छटिक को मानते हैं।

इस प्रकार उपाध्याय जी शूद्रक व मृच्छकटिक की रचना पञ्चम शतक में मानी है।

२. उपाध्याय जी के अतिरिक्त प्रो. आर.वी. जागीरदार ने भी मृच्छकटिक का रचना काल ई० के पञ्चम शतक तथा षष्ठ शतक के मध्य माना है। आपने मृच्छकटिक के भाषा–पक्ष तथा वस्तुत्व का समीक्षण करते हुये यह निष्कर्ष निकाला है कि मृच्छकटिक की रचना उस समय हुई जबकि समाज में भाग्यवादिता बढ़ी जा रही थी, बौद्धधर्म का पुनरुत्थान हो रहा था तथा प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश भी प्रायः बोलचाल में प्रयुक्त होती थी। ऐसी परिस्थितियां गुप्तों के पतन तथा हर्ष के राज्यकाल के मध्य में समग्ररूप में दीख पडती है। इसी संदर्भ में जागीदार ने मृच्छकटिक पर कालिदास का प्रभाव खोज कर अपने मत का समर्थन किया है।

परन्तु प्रो. जागीरदार का उक्त मत इतने सबल प्रमाणों पर आधारित नहीं है कि उसे स्वीकृत किया जा सके। पांचवीं–छठी शताब्दी में मृच्छकटिक की रचना हुई हो, इसका रचयिता कौन सा शुद्रक था। उसे इतिहास में पकड़ना कहां तक सम्भव है? आदि प्रश्नों का उत्तर मिलना प्रायः असम्भव प्रतीत होता है।

३. डॉ. भोलाशंकर व्यास ने भी गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद की अराजकता तथा गुप्तोत्तरकालीन समाज की पृष्ठभूमि का विस्तार से दिग्दर्शन कराते हुए धर्म, संस्कृति राजनीति से सम्बन्धित अनेक अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है मृच्छकटिक का रचनाकाल ईसा की पांचवीं सदी के उत्तरार्द्ध या छठी सदी के पूर्वार्ध में माना जा सकता है।

४. डॉ. सालेटोर मृच्छकटिक की रचना का काल सप्तम शताब्दी का मध्य व अष्टम शताब्दी का अंतिम चतुर्थांश मानते हैं। आपका कथन है कि नाटक का पूर्वार्द्ध (शिवमार प्रथम द्वारा) ईसा की सातवीं शताब्दी के मध्य के लगभग तथा उत्तरार्द्ध (शिवमार द्वितीय) द्वारा आठवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में रचा होगा, और सौ–सवा सौ वर्षों के इस अन्तराल के बावजूद जो दोनों अंशों की शैली में अन्तर नहीं पड़ा, उसका कारण था शिवमार द्वितीय की निराली काव्य–प्रतिभा सालेटोर की उक्त स्थापना व्यवस्थित होते हुये भी विश्वसनीय नहीं है। युग्म कर्तृत्व की स्थापना अपने आप में अत्यन्त कमजोर है, साथ ही नाटक की रचना शैली व टैकनीक भी इतने बाद का समय मानने को प्रेरित नहीं करती।

५. डॉ. जौली भी मृच्छकटिक में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर उसका रचना काल पञ्चम शताब्दी के लगभग मानते है। आपके मत का प्रमुख आधार प्रकरण का नवम अंक है। प्राणदण्ड के कार्यान्वयन हेतु विष खिलाकर मार डालने, जल में डुबोने, यंत्र पर चढ़ाने तथा अग्नि में प्रविष्ट कराने, चाण्डालों द्वारा शरीर पर आरा चलाने जाने के अतिरिक्त चार विकल्पों के कथन को, कार्य में श्रेष्ठिन् की उपस्थिति की न्यायाधीश के इस कथन को कि हम लोग यानी न्यायाधीश निर्णय के अधिकारी है, शेष बात यानी निर्णय के कार्यान्वयन की बात राजा जाने तथा अन्य संबद्ध तथ्यों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत कर जौली ने यह प्रतिपादन किया है कि मृच्छकटिक में इनका सन्निवेश सूचित करता है कि नारद तथा बृहस्पति के बाद वाले समय में ही नाटक का प्रणयन हुआ। डॉ. तिवारी ने जौली के उक्त मत को अपने मत की पुष्टि में रखते हुये नारद तथा बृहस्पति का समय सन् १०० ई. और सन् ४०० ई. के बीच का माना है तथा इन आधारों पर मृच्छकटिक को पञ्चम शताब्दी की रचना माना हैं।

मृच्छकटिक में प्राप्त उक्त विवेचन का आधार हमारे मतानुसार मनुस्मृति है, जिसका कि उल्लेख स्वयं नाटककार ने भी अपने नाटक में किया है। जहां तक बृहस्पति स्मृति का प्रश्न है उसका मूल आधार भी मनुस्मृति ही है। अतः जौली महोदय का उक्त मत अकाट्य व प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

६. डॉ. बुद्धप्रकाश ने भी मृच्छकटिक के प्रणयन काल के निर्धारण का एक विशिष्ट प्रयास किया है। आपने नाटक से अन्तः साक्ष्यों को एकत्रित किया है। आपने नाटक और शुद्रक के व्यक्तित्व की निरपेक्षता में ऐतिहासिक धरातल पर उसकी रचना का समय निर्धारित किया है।

परन्तु आपके भी मत में उसी प्रकार खींचातानी तथा त्रुटियां वर्तमान है जैसा कि डॉ. सालेटोर के मत में। डॉ. तिवारी ने अपनी पुस्तक में डॉ. प्रकाश की सभी तर्कनाओं को प्रस्तुत करके उनका भली प्रकार से खण्डन–मण्डन किया है। डॉ. तिवारी द्वारा विवेचित बुद्धप्रकाश के मत का हमारे दृष्टि से कोई महत्व प्रतीत नहीं होता।

७. डॉ. रमाशंकर तिवारी भी अपने निष्कर्षों में ईसा की षष्ठ शताब्दी का अन्तराल ही मृच्छकटिक का प्रणयन बतलाते है। आपने लिखा है। मृच्छकटिक के रचयिता शुद्रक ने दक्षिण भारत में राजसत्ता का उपभोग उस अवधि में किया होगा जो गुप्त साम्राज्य के पतन से आरम्भ होती है। और थानेश्वर के महाराजा हर्ष–वर्धन के उदय काल से समाप्त होती है। वह युग भारतीय इतिहास में विकेन्द्रीकरण का काल रहा है जब देश अनेक छोटे–छोटे स्वाधीन राज्यों में बंटा हुआ था जिनमें हूणों द्वारा संस्थापित राज्य भी था जो विदेशी आक्रान्ता थे। शुद्रक ऐसे ही छोटे नरेशों में था जिसको या तो सत्ता प्राप्ति के लिये स्वयं कोई छोटा–मोटा संघर्ष करना पड़ा था या फिर किसी सत्तापहरण वाले काण्ड में उसकी गहरी दिलचस्पी थी।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि मृच्छकटिक व उसके रचयिता का समय ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से लेकर ८०० ई. तक दोलायमान है। इनमें भी (ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी) सातवाहनकाल तथा उत्तर गुप्तकाल दोनों पर अधिक जोर दिया गया है। जहां तक उत्तरगुप्तकाल या ईसा की पांचवी तथा छठी शताब्दी का समय मृच्छकटिक का प्रणयन काल मानने का विद्वानों का मत है। वह मात्र इस आधार पर आधारित है कि चारुदत्त भास की रचना है तथा मृच्छकटिक उसके बाद लिखा गया, उसका परिवर्द्धित संस्करण है, अतः वह ईसा पूर्व की रचना नहीं हो सकता। द्वितीय जो उनका आधार हमने समझा है, वह कालिदास के मालविकाग्निमित्र में शूद्रक के नाम का न होना है। उक्त दो धारणाओं ने ही मूल रूप से शूद्रक व मृच्छकटिक को बाद की रचना मानने हेतु विद्वानों को प्रेरित किया है। यह इस बात से स्पष्ट है कि जब तक भास नाटक चक्र की खोज न हुई थी तब तक मृच्छकटिक एक पुरानी कृति के रूप में माना जाता था। परन्तु ज्यों ही गणपति शास्त्री ने तेरह नाटकों को भास के नाम से विख्यात किया त्यों ही मृच्छकटिक व उसके रचयिता का काल पीछे हटता गया और आज स्थिति आठवीं शताब्दी तक पहुंच चुकी है।

परन्तु यह दुःख का विषय है कि जिन विद्वानों ने ईसा की पांचवी व छठी शताब्दी मृच्छकटिक का रचनाकाल प्रमाणित किया उनमें से अधिकांश ने उसके रचयिता को इतिहास में ढूंढने का कोई प्रयास नहीं किया तथा यदि किया भी तो वे प्रायः असफल रहे।

हमारे मतानुसार मृच्छकटिक ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में रची गई कृति है। इसको रचयिता जैसा कि हम पहले प्रमाणित कर चुके हैं सातवाहन वंश का प्रथम नरेश सिमुक ही है जिसके कि पुराणों में अनेक नाम प्राप्त होते है। न केवल रचयिता विषयक साम्य

हमें उक्त समय को मानने हेतु प्रेरित करता है अपितु मृच्छकटिक में चित्रित समाज व्यवस्था, तत्कालीन धार्मिक स्थिति व प्रकरण की रचना शैली भी उक्त समय का पूर्ण समर्थन करती है। प्रो. काले, विलसन डॉ. भण्डारकर आदि के तर्क जिनको पहले प्रस्तुत किया जा चुका है उक्त मत का पूर्ण समर्थन करते है। जहां तक द्वितीय शताब्दी जो आन्ध्रशासकों का समय था, शूद्रक का समय मानने का प्रश्न है वह स्कन्दपुराण के कथन के आधार पर माना गया है जो कि प्रायः इतिहासेवत्ताओं द्वारा गलत प्रमाणित हो चुका है। डॉ. राय चौधरी, भार्गव व डॉ. भण्डारकर ने आन्ध्रवंश की स्थापना का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी ही माना है।

कालिदास एवं शूद्रक की स्थिति का जहां तक सम्बन्ध है उसके विषय में हमारा यह मत है कि उक्त दानों कवियों का समय समीप का रहा होगा इसी कारण कालिदास ने शूद्रक का नामोल्लेख अपने नाटक मालविकाग्निमित्र में नहीं किया क्योंकि उस समय तक शूद्रक की स्थिति प्रथित यश वाली नहीं थी।

कालिदास के सौमिल्ल तथा राजेश्वर के सौमिल को कुछेक विद्वानों ने एक मानते हुये शूद्रक को कालिदास के पूर्व का माना हैं परन्तु हम दोनों को एकन मान कर भिन्न व्यक्ति मानते है। प्रथम तो दोनों के नामों में ही समानता नहीं है तथा यदि समानता हो भी तो यह आवश्यक नहीं कि एक नाम वाला एक ही व्यक्ति हो।

मृच्छकटिक की कथावस्तु

भारतीय नाट्यपरम्परा के अनुसार 'मृच्छकटिक' प्रकरण का प्रारम्भ भी नान्दीपाठ से किया गया है। स्रग्धरा छन्द मे रचित प्रथम नान्दी में समाधिस्थ शिव की निर्विकल्पक समाधि तथा अनुष्टुब् छन्द में रचित द्वितीय नान्दी में पार्वती की भुजलताओं से सुशोभित शंकर के नीले कण्ठ से सामाजिकों के मंगल की प्रार्थना की गई है।

नान्दीपाठ के बाद प्रस्तावना प्रारम्भ होती है। प्रस्तावना के प्रारम्भ के पाँच श्लोकों में रचयिता एवं रचना के विषय में परिचय दिया गया है। नाटककार ने अपनी प्रतिभा से सम्पूर्ण नाटक की कथावस्तु का संक्षिप्त परिचय प्रस्तावना में ही सूत्रधार द्वारा प्रस्तुत कर दिया है–

"अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्त।
गुणानुरक्ता गणिका च वसन्तशोभेव सन्तसेना।।
तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यहारदुष्टताम्।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः।।"

अर्थात् उज्जयिनी में पहले ब्राह्मण व्यापारी परन्तु बाद में दरिद्र युवक चारुदत्त रहता था। वसन्त ऋतु की सुन्दरता जैसी वसन्तसेना नामक वेश्या चारुदत्त के गुणों के कारण उससे प्रेम करती थी। उन दोनों के श्रेष्ठ आनन्दोत्सव पर आश्रित नीति का आचरण विवाद विचार (व्यवहार) की दोषपूर्णता, दुष्टों के स्वभाव तथा भवितव्यता (होनहार) – इन सबका राजा शूद्रक ने इस मृच्छकटिक नाटक में ग्रथन किया है।

प्रथम अंक

रचयिता व रचना के विषय में परिचय देने के पश्चात् सूत्रधार अपने घर में असाधारण तैयारी देखकर आश्चर्य चकित होता है पूछने पर उसे नटी से पता चलता है कि वह तैयारी 'अभिरूप पति' नामक व्रत के निमित्त की गई है। वह कुछ क्रोधित होता है परन्तु नटी के द्वारा समझाने पर वह शान्त हो जाता है। नटी उसे व्रत में किसी ब्राह्मण को निमन्त्रित करने को कहती है ब्राह्मण को खोजने के लिए निकले हुए सूत्रधार को चारुदत्त का मित्र विदूषक मैत्रेय दृष्टिगोचर होता है। सूत्रधार उसे भोजन के लिए अपने घर निमन्त्रित करता है परन्तु मैत्रेय के द्वारा अस्वीकार कर देने पर वह अन्य ब्राह्मण की खोज में चला जाता है। इसी के साथ प्रस्तावना समाप्त हो जाती है।

प्रथम दृश्य के प्रारम्भ में मञ्च पर मैत्रेय आता है। उसके कथन से ज्ञात होता है कि आर्य चारुदत्त के प्रिय मित्र जूर्णवृद्ध ने उसे चमेली के पुष्पों से सुगन्धित उत्तरीय देवकार्य सम्पादित करने वाले चारुदत्त के पास ले जाने का आदेश दिया है। तभी मञ्च पर चारुदत्त तथा मदनिका प्रवेश करते हैं। चारुदत्त अपने भूतकाल तथा वर्त्तमानकाल की परिस्थितियों पर विचार कर रहा है अतीत की सम्पन्नता एवं वर्त्तमान की निर्धनता को देखकर वह भाग्य के विपर्यय पर चिन्तित होता है। तभी उसे मैत्रेय दृष्टिगोचर होता है। वह प्रसन्नता से मैत्रेय का स्वागत करता है। मैत्रेय उसे जूर्णवृद्ध प्रदत्त उत्तरीय प्रदान करता है। मैत्रेय के साथ दरिद्रता विषयिकी चर्चा में वह (चारुदत्त) दरिद्रता से मृत्यु को श्रेयस्कर बताता है। मैत्रेय के द्वारा सान्तवना देने पर वह कहता है कि वह विभव विनाश से दुःखी नहीं है अपितु निर्धनता के कारण अतिथियों द्वारा की जाने वाली उपेक्षा से उसे कष्ट होता है। वह निर्धनता को सब दुःखों का मूल कारण बताता है और मैत्रेय को मातृदेवियों को बलि अर्पण करने के लिए चौराहे पर भेजता है। मैत्रेय उस समय राजपथ पर गमन में भय व्यक्त करता है। उसे कुछ देर ठहरने की कहकर चारुदत्त अपने पूजाकार्य में लग

जाता है। यहीं प्रथमदृश्य की समाप्ति होती है। द्वितीय दृश्य में वसन्तसेना अत्यन्त भयभीत होकर भागती हुई जाती दिखाई देती है और शकार, विट तथा चेट उसे पकड़ने की चेष्टा में उसका पीछा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। राजा का साला शकार कामासक्त होकर वसन्तसेना को किसी भी तरह से अपने वश में करना चाहता है। वह वसन्तसेना को प्रलोभन देता है, पुकारता है, मारने की धमकी भी देता है परन्तु वसन्तसेना उसके किसी भी प्रलोभन आदि को स्वीकार नहीं करती। शकार वसन्तसेना का चित्रण का बाजारी वस्तु के रूप में करता है। शकार के वाक्यों से ही वसन्तसेना को ज्ञात होता है कि वह चारुदत्त के घर के समीप पहुँच गई है। तभी पूजा से निवृत्त चारुदत्त द्वारा मातृदेवियों को बलि अर्पित करने के लिए प्रेषित मैत्रेय मदनिका के साथ दीपक लेकर द्वार खोलता है। वसन्तसेना शीघ्रता से दीपक बुझाकर घर में प्रविष्ट हो जाती है। विदूषक दीपक जलाने के लिए पुनः घर में प्रवेश करता है। रदनिका बाहर निकलती है और अंधेरे में शकार उसे वसन्तसेना समझकर पकड़ लेता है। वह प्रतिवाद करती है और दीपक को पुनः जलाकर बाहर आया हुआ मैत्रेय (विदूषक) रदनिका के प्रति अभद्र आचरण देखकर शकार को फटकारता है। विट विदूषक को पहचान लेता है। वह क्षमा याचना करके उस घटना के सम्बन्ध में चारुदत्त से कोई चर्चा न करने का अनुरोध करता है। विट शकार को चलने के लिए कहता है। शकार के मना करने पर विट चला जाता है। विदूषक के साथ कुछ देर के वाद–विवाद के बाद शकार चेट के साथ चला जाता है।

घर के अन्दर चारुदत्त वसन्तसेना को रदनिका समझ लेता है। वह उसे बालक रोहसेन को अन्दर ले जाने को कहता है। चारुदत्त द्वारा प्रदत्त चमेली से सुगन्धित उत्तरीय को ग्रहण करके उसकी सुगन्ध से यह अनुमान करती है कि चारुदत्त का यौवन निर्धनता के दोष से रहित है। वसन्तसेना चुपचाप खड़ी रहती है। कोई उत्तर न मिलने पर खिन्न चारुदत्त पुनः रोहसेन को अन्दर ले जाने को कहता है। तभी विदूषक तथा रदनिका प्रवेश करते है। विदूषक से वास्तविक स्थिति को जान कर चारुदत्त वसन्तसेना को पहचान लेता है और क्षमा याचना करता है। वसन्तसेना अपने आभूषणों को धरोहर के रूप में रखना चाहती है जिसे चारुदत्त कुछ संकोच के साथ स्वीकार कर लेता है। चारुदत्त और विदूषक वसन्तसेना को उसके घर पहुँचा कर आ जाते हैं। चारुदत्त द्वारा दिन में वर्धमानक तथा रात्रि में विदूषक को उन आभूषणों का रक्षा भार सौंपने के साथ ही प्रथम समाप्त हो जाता है। इस अंक की संज्ञा 'अलंकारन्यास' है।

द्वितीय अंक

चारुदत्त विषयिकी चिन्ता में मग्न वसन्तसेना के साथ रदनिका प्रवेश करती है। तभी एक चेटी आकर माता की स्नान एवं देवपूजा सम्पन्न करने सम्बन्धी आज्ञा सुनाती है। वसन्तसेना के अस्वीकार करने पर चेटी चली जाती है। मदनिका द्वारा वसन्तसेना से उसकी उद्विग्नता का कारण पूछने पर वह चारुदत्त विषयक अपने प्रेम को प्रकट करती है। वह बताती है कि यद्यपि चारुदत्त निर्धन है परन्तु वह उससे प्रेम करती है और उससे मिलने के लिए ही योजनानुसार अपने आभूषण वहाँ छोड़ दिए हैं।

द्वितीय दृश्य में संवाहक, माथुर द्यूताध्यक्ष तथा एक जुआरी के परस्पर वार्त्तालाप से हमें ज्ञात होता है कि संवाहक माथुर से द्यूत में पराजित होकर उसका दश सुवर्ण मुद्राओं का ऋणी हो गया है। उसका पीछा करते हुए माथुर तथा जुआरी देवी के मन्दिर में पहुँचते हैं। संवाहक को न पाकर दोनों वहा जुआ खेलने लग जाते हैं। द्यूतप्रिय संवाहक स्वयं को रोक नहीं पाता और वहाँ स्वयं ही प्रकट हो जाता है। माथुर और जुआरी उसे पीटते है। तभी दर्दुरक आकर उसे छुड़ाता है। माथुर और दर्दुरक के झगड़े में अवसर पाकर दर्दुरक माथुर की आँखों में धूल झौंक देता है और संवाहक के साथ वहाँ से भाग जाता है।

संवाहक वहाँ से भागकर वसन्तसेना के घर में शरण लेता है। संवाहक के परिचय में चारुदत्त का प्रसंग सुनकर प्रसन्न वसन्तसेना चेटी द्वारा अपना कंकण माथुर के पास भेज देती है और संवाहक को मुक्त करा देती है। संवाहक बौद्ध संन्यासी बनने का संकल्प करके निकल जाता है। तभी कर्णपूरक प्रवेश करके वसन्तसेना को बताता है कि उसने एक परिव्राजक को खुण्टमोडक नामक मत्त हाथी से बचाया है तथा किसी व्यक्ति ने उसके साहस से प्रसन्न होकर अपना उत्तरीय पुरस्कार रूप में प्रदान किया है। उत्तरीय पर चारुदत्त का नाम अंकित देखकर वसन्तसेना कर्णपूरक को एक आभूषण देकर उससे उत्तरीय लेकर प्रसन्नता से ओढ़ लेती है। कर्णपूरक से यह जानकर कि चारुदत्त इसी मार्ग से जा रहा है, वसन्तसेना तथा चेटी छत पर जाकर उसे देखती हैं। यहीं द्वितीय अंक समाप्त होता है। इस अंक का नाम 'द्यूतकर संवाहक' है।

तृतीय अंक

प्रारम्भ में मध्यरात्रि के समय तक भी चारुदत्त के घर न लौटने पर चेट चिन्ता व्यक्त करता है। तभी चारुदत्त और विदूषक मञ्च पर प्रवेश करते हैं। चारुदत्त रेभिल के कुशलता एवं मनोहरता से गाये गये गीत की प्रशंसा करता है। घर पहुँचने पर चेट वर्धमानक चारुदत्त के पैर धोता है और रात को सुवर्णभाण्ड की रक्षा का भार विदूषक पर होने के कारण उसे सौंप देता है। उस सुवर्णभाण्ड को हाथ में लिए हुए ही विदूषक सो जाता है।

रात्रि में वसन्तसेना की दासी मदनिका का प्रेमी शर्विलक उसे दासता से मुक्त कराने के लिए चारुदत्त को घर में सेंध लगाता है। सेंध से पूर्व वह विभिन्न प्रकार की सेंधों तथा विभिन्न विधियों का वर्णन करता है। वह यज्ञोपवीत से नापकर सेंध लगाता है और भीतर प्रवेश करता है जब शर्विलक निरीक्षण कर रहा होता है तभी विदूषक स्वप्न देखता है कि घर में चोर ने सेंध लगाई है। अतः स्वप्न में ही वह चारुदत्त को पुकार कर सुवर्णभाण्ड उसे सौंप देता है। चारुदत्त के गहननिद्रा में होने के कारण शर्विलक उसे सुवर्णभाण्ड को विदूषक के हाथ से लेकर सावधानी से घर से बाहर निकल जाता है।

प्रातःकाल चारुदत्त सेंध के आकार की प्रशंसा करता है। विदूषक से यह सुनकर कि उसने रात्रि में सुवर्णभाण्ड चारुदत्त को दे दिया था, चारुदत्त कोई प्रतिवाद नहीं करता। वह प्रसन्न है कि चोर उसके घर से निराश नहीं गया। वह चिन्तित भी है कि लोग चोरी के वृत्तान्त पर विश्वास न करके उसकी निन्दा ही करेंगे। यह वृत्तान्त जानकर चारुदत्त की पत्नी अपने पिता द्वारा प्रदत्त एक बहुमूल्य रत्नावली यथोचित उपयोग के लिए दे देती है। वह मैत्रेय विदूषक को यह आदेश देता है कि वसन्तसेना के घर जाकर यह रत्नावली सुवर्णालंकारों के बदले उसे दे आये। वर्धमानक को सेंध बन्द करने का आदेश देकर चारुदत्त सन्ध्योपासना के लिए चला जाता है। इसी के साथ 'सन्धिच्छेद' नामक इस अंक की समाप्ति होती है।

चतुर्थ अंक

प्रारम्भ में चारुदत्त के चित्र को देखती वसन्तसेना और मदनिका को चेटी शकार की गाड़ी में बैठने सम्बन्धी माता की आज्ञा सुनाती है। वसन्तसेना इस आदेश को पालन करने से मना कर देती है।

द्वितीय दृश्य में वसन्तसेना पलंग पर चारुदत्त का चित्र रखकर मदनिका को तालवृन्त लाने के लिए भेजती है। इसी समय शर्विलक वसन्तसेना के घर पर प्रवेश करता है। मदनिका से वार्त्तालाप करते समय शर्विलक द्वारा चारुदत्त के घर से चोरी किए गए आभूषणों को मदनिका चारुदत्त द्वारा भेजे गए आभूषण कहकर ही वसन्तसेना को सौंपने के लिए कहती है। उन दोनों के इस वार्त्तालाप को खिड़की के पीछे से छिपकर वसन्तसेना सुन लेती है। शर्विलक द्वारा वसन्तसना को आभूषण सौंपने पर सब कुछ जानने वाली वसन्तसेना मदनिका को शर्विलक को पत्नी के रूप में स्वीकार करने की बात कहती है और उन दोनों को अपनी गाड़ी में बिठाकर विदा करती है।

तभी नेपथ्य से सूचना मिलती है कि राजा पालक के आर्यक को बन्दीगृह में डाल दिया है। शर्विलक अपने घनिष्ठ मित्र आर्यक की रक्षा के लिए अपनी नवविवाहिता पत्नी को चेट के साथ सार्थवाह रेभिल के घर भेज देता है। अन्तिम दृश्य मे विदूषक वसन्तसेना के घर पहुँचकर उसके भव्य प्रासाद को देखकर आश्चर्यचकित होता है। वसन्तसेना विदूषक का स्वागत करती है। सामान्य कुशल–क्षेम प्रश्न के उपरान्त विदूषक जुए में सुवर्ण अलंकार हार जाने का वृत्तान्त सुनाकर उसके बदले मे भेजी गई रत्नावली वसन्तसेना को प्रदान करता है। वसन्तसेना उसे ले लेती है। वह चारुदत्त से मिलने का संदेश देकर विदूषक को विदा करती है। इसी के साथ 'मदनिकाशर्विलक' नामक चतुर्थ अंक की समाप्ति होती है।

पञ्चम अंक

प्रारम्भ में ही चारुदत्त सूर्यास्त के समय विदूषक की प्रतीक्षा कर रहा है। तभी मैत्रेय (विदूषक) आकर उसे वसन्तसेना के रत्नावली स्वीकार करने तथा सायंकाल को चारुदत्त से मिलने का संदेश देता है। चारुदत्त वेश्याओं की स्वार्थपूर्ण प्रीति की अत्यन्त निन्दा करता है। तभी कुम्भीलक चारुदत्त के पास आकर वसन्तसेना के आगमन की सूचना देता है। सूचना सुनकर चारुदत्त प्रसन्नता से अपना उत्तरीय कुम्भीलक को पारितोषिक रूप में प्रदान करता है।

द्वितीय दृश्य में विट और वसन्तसेना चारुदत्त के घर की ओर जाते दिखाई देते हैं। उनके चारुदत्त की वाटिका के पास पहुचने पर आवाज सुनकर चारुदत्त विदूषक को पता लगाने के लिए बाहर भेजता है। वसन्तसेना को आचरण सम्बन्धी निर्देश देकर विट के चले जाने के बाद विदूषक वसन्तसेना को घर में आने के लिए आमन्त्रित करता है। चारुदत वसन्तसेना का स्वागत करता है तथा वस्त्रों के भीग जाने से उसके लिए अन्य वस्त्रों की व्यवस्था करवाता है। विदूषक के द्वारा आगमन का कारण पूछने पर चेटी कहती है कि वसन्तसेना रत्नावली को जुए में हार जाने से उसके बदले सुवर्णभाण्ड प्रदान करने आई है। चारुदत्त और विदूषक उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। चेटी द्वारा विदूषक तथा विदूषक द्वारा चारुदत्त को सम्पूर्ण सुवर्णभाण्ड प्राप्ति का वृत्तान्त बताने से सारा वातावरण आमोद–प्रमोद युक्त हो जाता है। विदूषक के द्वारा घर के भीतर जाने का संकेत प्रदान करने पर चारुदत्त के साथ वसन्तसेना घर में प्रवेश करके सम्पूर्ण रात्रि वहीं पर व्यतीत करती है। इसके साथ ही 'दुर्दिन' नामक पञ्चम अंक समाप्त हो जाता है।

षष्ठम अंक

सम्पूर्ण रात्रि चारुदत्त के साथ व्यतीत करने के बाद वसन्तसेना को चेटी जगाती है और सन्देश देती है कि चारुदत्त ने उसे (वसन्तसेना को) पुष्पकरण्डक नामक जीर्णोद्यान में बुलाया है और बैलगाड़ी भेजी है। वसन्तसेना यह सुनकर प्रसन्न होती है। तभी चारुदत्त के पुत्र को लेकर रदनिका प्रवेश करती है। बालक सोने की गाड़ी से खेलने की हठ कर रहा है। न मिलने पर रोते हुए उस बालक को चेटी वसन्तसेना के पास लेकर जाती है। उसे चारुदत्त का पुत्र जानकर वसन्तसेना प्रसन्नता से उसे गोद में बिठाकर उसके रोदन का कारण पूछती है। रदनिका से सारी स्थिति जानकर वसन्तसेना अपने सोने के सारे आभूषण उतारकर बालक की मिट्टी की गाड़ी में रख देती है।

अग्रिम दृश्य में पूर्व योजनानुसार चारुदत्त का चेट वर्धमानक गाड़ी लेकर आता है। रदनिका से इसकी सूचना पाकर वसन्तसेना तैयार होने लगती है। उधर वर्धमानक गाड़ी में बिछाने के लिए बिछावन लेने चला जाता है। तभी शकार का चेट स्थावरक शकार की गाड़ी को पुष्पकरण्डक उद्यान की ओर जाते हुए मार्ग में गाड़ियों की भीड़ के कारण चारुदत्त की वाटिका के पक्षद्वार पर खड़ी कर देता है। वह अपनी गाड़ी से उतरकर दूसरी गाड़ी के फँसे हुए पहिए को बाहर निकालने में मदद करने के लिए चला जाता है। वसन्तसेना उसे चारुदत्त की गाड़ी समझकर उस में बैठ जाती है। वसन्तसेना की दाहिनी आँख फड़कती है परन्तु वह इस विषय में चिन्तित नहीं होती। तभी स्थावरक आकर गाड़ी चलाता है। उसे गाड़ी में कुछ भार अनुभव होता है परन्तु वह इसे अपनी थकान का परिणाम समझ लेता है।

तभी कारागार से भागा हुए आर्यक राजपुरुषों की दृष्टि से बचने के लिए चारुदत्त की वाटिका के पक्षद्वार में प्रवेश करके छिप जाता है। वर्धमानक वसन्तसेना के लिए गाड़ी लेकर आता है। उसमें आर्यक बैठ जाता है। बेड़ियों की आवाज को आभूषणों की खनक समझकर वर्धमानक यह अनुमान करता है कि वसन्तसेना बैठ गई है। वह गाड़ी हाँक देता है। आर्यक की खोज में पालक के दो सेनापति चन्दनक और वीरक उस गाड़ी को रोक लेते हैं। चन्दनक गाड़ी का निरीक्षण करता है। आर्यक के द्वारा रक्षा की याचना करने पर वह उसे एक तलवार और अभयदान देता है वीरक चन्दनक का विश्वास नहीं करता और स्वयं निरीक्षण करना चाहता है। इस बात पर दोनों में कलह होती है। चन्दनक का संकेत पाकर वर्धमानक गाड़ी को आगे बढ़ा देता है। इसी के साथ अंक समाप्त हो जाता है। प्रस्तुत अंक में गाडियों की अदला–बदली होने से इसका नाम 'प्रवहणविपर्यय' है।

सप्तम अंक

अंक के प्रारम्भ में चारुदत्त और विदूषक जीर्णोद्यान की शोभा को अवलोकन कर रहे हैं। वसन्तसेना के आगमन में विलम्ब होने से चारुदत्त चिन्तित है। वर्धमानक के गाड़ी लेकर प्रवेश करते ही दोनों प्रसन्न होते हैं। गाड़ी में वसन्तसेना की अपेक्षा आर्यक विद्यमान है। आर्यक चारुदत्त से करबद्ध प्रार्थना करता है। चारुदत्त स्वभावनुसार उसे अभय दान देता है और वर्धमानक से उसके पैरों की बेड़ियाँ भी कटवाता है। चारुदत्त से आर्यक पुनः क्षमायाचना करता है। चारुदत्त इस बात को अपना सौभाग्य मानकर आर्यक को पुनः गाड़ी में ही चढ़कर जाने को कहता है। उसे विदा करके चारुदत्त और विदूषक दोनों राजभय से शीघ्र ही वहाँ से चले जाते हैं। आर्यक के सुरक्षित चारुदत्त के पास पहुँच जाने से इस अंक का नाम 'आर्यकोपहरण' रखा गया है।

अष्टम अंक

प्रथम दृश्य में ही आर्द्र चीवर को हाथ में लिए हुए एक भिक्षु प्रवेश करता है। शकार और विट भी वहाँ आते हैं। शकार उस भिक्षु पर उद्यान की पुष्करिणी में चीवर धोने का आरोप लगाकर पीटता है। विट द्वारा बचाने पर वह भिक्षु शकार की स्तुति करता है और अपने प्राण बचाकर वहाँ से खिसक लेता है। शकार और विट, चेट स्थावरक की प्रतीक्षा करते हैं। तभी चेट गाड़ी को लेकर आता है। शकार गाड़ी में विद्यमान वसन्तसेना को चोर या राक्षसी समझकर डर जाता है। विट वसन्तसेना को पहचान लेता है और उसके यहाँ आगमन को अनुचित बताता है। वास्तविक स्थिति जानकर विट वसन्तसेना को धैर्य धारण करने को कहता है। वह शकार को झूठ विज्ञापित करता है कि गाड़ी में सचमुच कोई राक्षसी है अतः पैदल ही नगर की ओर प्रस्थान किया जाये। शकार इस कथन से असंतुष्ट रहता है विट पुनः शकार को विज्ञापित करता है कि वसन्तसेना गुप्तरीति से आपसे रमण करने आई है। वसन्तसेना के प्रतिवाद करने पर कामान्ध शकार वसन्तसेना के पैरों पर गिरकर क्षमा याचना करता है। क्रुद्ध वसन्तसेना के द्वारा शकार के सिर पर पैर से प्रहार करने पर क्रोधित शकार उसे गाड़ी से उतरने को बाध्य करता है। वसन्तसेना के गाड़ी से उतर जाने पर शकार, विट तथा चेट से पृथक् – २ प्रार्थना करता है कि वे वसन्तसेना को मार डालें। दोनों के मना करने पर शकार द्वारा पीटे जाने से चेट और एक बहाने से विट के चले जाने पर शकार वसन्तसेना से प्रणय निवेदन करता है। वसन्तसेना द्वारा अस्वीकार करने पर शकार उसका गला घोंट देता है। वसन्तसेना मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ती है।

कुछ समय पश्चात् विट और चेट वापिस आते हैं तो देखते हैं कि एक वृक्ष के नीचे वसन्तसेना मरी पड़ी है। विट द्वारा पूछने पर शकार पहले तो मना करता है परन्तु अन्ततः इस बात को स्वीकार कर लेता है कि उसने वसन्तसेना को मार डाला है और

बड़ा वीरतापूर्ण कार्य सम्पन्न किया है। वह विट को वसन्तसेना का मूर्च्छित शरीर दिखलाता है। विट बहुत दुखी होता है और शकार को उस उज्जयिनी लक्ष्मी की हत्या करने के लिए भूरिशः धिक्कारता है। शकार विट को स्वर्ण इत्यादि का लालच देकर वसन्तसेना की हत्या का आरोप किसी अन्य पर प्रमाणित करवाना चाहता है। विट इसके स्पष्ट इन्कार कर देता है। इस पर शकार उस हत्या का आरोप उसी पर मढता है तथा राजा के सामने प्रस्तुत होने की धमकी देता है। विट शकार का साथ छोड़कर तथा उसे डरा धमका कर शर्विलक आदि से मिलने चला जाता है। शकार चेट को भी प्रलोभन देता है पर चेट भी उसके घोर कृत्य का अनुमोदन नहीं करता। शकार चेट को घर भेज देता है। वह वसन्तसेना के शरीर को सूखे पत्तों से ढक कर छोड़ देता है और स्वयं चारुदत्त के विरुद्ध हत्या का अभियोग चलाने न्यायालय जाता है।

अंक के अन्तिम दृश्य में भिक्षु प्रवेश करता है। वह अपना चीवर फैलाने के लिए स्थान खोजता है। इतने में वसन्तसेना दीख दिखलाती है। भिक्षु पत्ते हटा कर वसन्तसेना को पहचानता है। वसन्तसेना लता का सहारा लेकर उठ खडी होती है। भिक्षु वसन्तसेना को विश्राम कराने के लिए विहार ले जाता है।

नवम अंक

प्रस्तुत अंक में वसन्तसेना की हत्या के आरोप में चारुदत्त पर संस्थानाक–द्वारा अभियोग लगाये जाने का वर्णन हुआ है

अंक के प्रारम्भ में न्यायालय का कर्मचारी शोधनक न्याय–मण्डप की सफाई करता दिखाई पड़ता है। इसी बीच शकार धन कामुक लम्पटता की विकत्थना करते हुए प्रवेश करता है, श्रेष्ठी, कायस्थ तथा न्यायाधीश मण्डप में आते हैं। न्यायाधीश शोधनक को आदेश देता है कि वह बाहर जाकर मालूम करें कि आज के विचार प्रार्थी कौन–२ हैं। शोधनक के घोषणा करने पर सर्वप्रथम शकार अभियोग लिखाने आगे आता है। शोधनक उसे देखकर घबरा जाता है तथा न्यायाधीश को सूचना देता है न्यायाधीश व अन्य सदस्य भी प्रारम्भ में ही उसका आगमन अशुभ समझते हैं तथा शोधनक को शकार से यह कहने के लिए आदेश देता है कि उसके अभियोग पर आज विचार नहीं होगा। इस पर शकार क्रुद्ध हो जाता है तथा न्यायाधीश को राजा से दण्डित करवाने की धमकी देता है। ऐसी स्थिति में न्यायधीश घबरा कर उसके अभियोग पर विचार करना स्वीकार कर लेता है।

शकार अधिकरण मण्डप में प्रवेश कर यह सूचना देता है कि पुष्पकरण्डक उद्यान में किसी ने धन के लाभ से वसन्तसेना की बाहुपाश–बलात्कार से मार डाला है। न्यायाधीश के यह पूछने पर कि उसे कैसे जान पड़ा कि धन के लिये उसकी हत्या की गई है, शकार उत्तर देता है – "आभूषणविहीन होने से गले में हार सूत्रावली नहीं होने से और प्रत्येक स्थल का गहना उतार होने से।" इस पर यह जानने के लिये कि वसन्तसेना कहां व किसके साथ गई थी अधिकरणिक वसन्तसेना की मां को बुलवाते हैं। वसन्तसेना की माँ आकर कहती है कि वह आर्य चारुदत्त के पास अपने यौवन का सुख प्राप्त करने गई है।

इस पर चारुदत्त को न्यायालय में बुलाया जाता है। चारुदत्त के प्रवेश करने पर न्यायालय न्यायाधीश उस आदर- पूर्वक आसन दिलाता है और मन में सोचता है कि ऐसे भव्य स्वरूप वाला व्यक्ति ऐसे जघन्य कृत्य का अपराधी नहीं हो सकता। न्यायाधीश के यह प्रश्न करने पर कि क्या वसन्तसेना उसकी प्रेमिका है? चारुदत्त सर्वप्रथम कुछ लज्जित सा अनुभव करता है तथा परोक्ष रीति से स्वीकार करते हुये उत्तर देता है कि "इस विषय में केवल यौवन अपराधी हैं, चरित्र नहीं"। न्यायाधीश चारुदत्त को स्पष्ट रूपेण कहने को बाध्य करता है, ऐसी स्थिति में शकार को भी कुछ बोलने का अवसर मिलता है तथा वह चारुदत्त को हत्यारा आदि कह कर सम्बोधित करता है। न्यायाधीश के यहाँ पूछने पर कि अब वसन्तसेना कहाँ है? चारुदत्त बताता है कि वह अपने घर गई है। परन्तु वह यह बतलाने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है कि वह पैदल गई या गाड़ी में। शकार न्यायाधीश पर यह आरोप लगाता है कि वह चारुदत्त का पक्ष ले रहा है। इस पर न्यायाधीश उसकी यह कहते हुये भर्त्सना करता है कि चारुदत्त जैसे दानशील व्यक्ति पर उसने असत्य अभियोग लगाया है।

वसन्तसेना की माता भी यह स्वीकार करती है कि वह क्षण–भंगुर वैभव के हेतु वैसा गर्हित कार्य नही कर सकता। इतने में क्रोध से भरा वीरक वहां आता है। वह चन्दनक के साथ हुये अपने झगड़े की सूचना देता है। वह यह भी कहता है कि चारुदत्त की गाड़ी में बैठकर वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान जा रही थी। शकार के समर्थन में अब यह दूसरा प्रमाण मिल जाता है और न्यायाधीश बड़े खेद के साथ वीरक को आदेश देता है कि वह न्यायालय के द्वार पर अवस्थित घोड़े पर चढ़कर उस उद्यान की ओर देखे कि वहां कोई स्त्री मरी पड़ी है या नहीं। वीरक जाकर व पुनः प्रवेश करके वहां एक स्त्री के मृत शरीर के पड़े रहने की बात का समर्थन करता है। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश स्वतः हतबुद्धि हो जाता है तथा वह चारुदत्त से अनुरोध करता है कि वह सत्य का उद्घाटन करें।

न्यायाधीश के ऐसे कहने पर चारुदत्त अपनी सफाई इस रूप में प्रस्तुत करता है कि "जो मैं फूल चुनने के लिए अशोक लता को भी नहीं झुकाता, तब मैं नीले केशवाली कामिनी की हत्या कैसे कर सकता हूं? शकार पुनः न्यायाधीश पर पक्षपात का आरोप लगाता है तथा चारुदत्त को आसन से नीचे उतारने के लिए आग्रह करता है। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश चारुदत्त का आसन

से नीचे उतरने का आदेश देता है। चारुदत्त जमीन पर बैठ जाता है अपनी पत्नी धूता तथा पुत्र रोहसेन को पुकारते हुए दुःख से विह्वल हो उठता है।

इसी बीच दुर्दैव से विदूषक वसन्तसेना के आभरण हेतु वहां आ टपकता है। शकार पर वह क्रोधित हो जाता है तथा परस्पर दोनों में मारपीट होती है। मारपीट में विदूषक की बगल से वसन्तसेना के आभरण पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। शकार को अब अभियोग के समर्थन में तीसरा और प्रमाण मिल गया है तथा न्यायाधीश की मानसिक स्थिति और भी डांवाडोल हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह निर्णय नहीं कर पाता कि वह क्या करे। चारुदत्त स्वयं स्वीकार करता है कि आभरण वसन्तसेना के हैं। परन्तु यह बतलाने में असमर्थता व्यक्त करता है कि वे वसन्तसेना से विमुक्त कैसे हुये। अब न्यायाधीश को यह निर्णय लेना पड़ता है कि चारुदत्त वस्तुतः अपराधी है। वसन्तसेना की माता निर्णय का विरोध करती रोती हुई न्याय–मण्डप से बाहर निकल जाती है।

अन्ततः वे अपना निर्णय लिख कर राजा पालक के पास भेजते हैं, क्योंकि मनु के अनुसार पापी ब्राह्मण भी मारा नहीं जा सकता। राजा चारुदत्त को प्राण–दण्ड की आज्ञा देता है। चारुदत्त पालक की इस आज्ञा की भर्त्सना करता हुआ, मैत्रेय से अनुरोध करता है कि वह घर जाकर उसकी माता को उसका अभिवादन सुना दे और रोहसेन को भी मिला दे। अधिकरणिक चाण्डालों को आदेश देने के लिए कह कर चले जाते हैं। न्यायाधीश की आज्ञा से चाण्डाल चारुदत्त को हटा लेते हैं।

चारुदत्त पर अभियोग लगाये जाने के कारण प्रस्तुत अंक की अभिधा "व्यवहार" पड़ी है। "व्यवहार का अर्थ है अभियोग या मुकदमा" ।

दशम अंक

अंक के प्रारम्भ में चारुदत को वध स्थान ले जाते हुये चाण्डाल दिखाई देते हैं। चारुदत के सारे शरीर पर लाल चन्दन से छापे मारे गये हैं तथा तिल चावल एवं कुंकुम का लेप लगा है जिससे वह वध्यपशु तुल्य लगता है। श्मशान में ले जाते हुये उसे सम्पूर्ण उज्जयिनी नगरी के लोग, विशेषतः स्त्रियां देख–देख कर रोती हैं। विदूषक चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को लेकर वहां आता है। विदूषक और रोहसेन चाण्डालों से चारुदत्त को छोड़ने की प्रार्थना करते हैं तथा चारुदत्त के स्थान पर अपना वध करने का अनुरोध करते हैं। चाण्डाल बालक के पितृ–प्रेम की सराहना करते हैं। थोड़ी देर बाद वे दूसरे घोषणा–स्थल पर पहुंचते और घोषणा दुहराते हैं। घोषणा को सुन कर शकार के महल में बन्धा स्थावरक चिल्ला कर कहता है कि वसन्तसेना को चारुदत्त ने नहीं शकार ने मारा है। परन्तु उसकी बात किसी के कान तक नहीं पहुंचती। तब वह एक गवाक्ष से कूद कर चाण्डालों के पास आता है और पुनः वही बात कहता है। इसी समय शकार वहां आकर उसके कथन को असत्य बतलाता है। तथा उस पर स्वर्ण को चुराने का आरोप लगाता है। चाण्डाल शकार की बात को सच मान लेते हैं। शकार स्थावरक को मार का भगा देता है और वह चाण्डालों से चारुदत्त को शीघ्र मारने के लिए बार–बार कहता है।

तीसरे घोषणा स्थल पर पहुंच कर शकार के निर्देश पर चाण्डाल पीटने का भय दिखा कर चारुदत्त से यह घोषणा कराते हैं – "हे नगरवासियों! मैंने ही वसन्तसेना को मारा है।" एक चाण्डाल कहता है कि "वध्य पुरूष को सहसा मारना ठीक नहीं क्योंकि अनेक दशाओं में उनके प्राण बच जाते हैं और इन अवस्थाओं में एक अवस्था राज्य परिवर्तन की भी होती है जब सभी बन्दी मुक्त कर दिये जाते हैं।" राज्य परिवर्तन की बात सुन कर शकार घबराता है तथा चाण्डालों से चारुदत्त को शीघ्र मारने के लिए कहता है।

अंक के द्वितीय दृश्य में भिक्षु और वसन्तसेना चारुदत्त के घर जाते दिखाई देते हैं। मार्ग में भीड़ देख कर वसन्तसेना भिक्षु को पता लगाने की लिये कहती है। इतने में चाण्डाल पुनः चारुदत्त के अपराध और उसे मिले दण्ड की घोषणा करते हैं। भिक्षु सुन कर घबराता है तथा सम्पूर्ण वृत्तान्त को वसन्तसेना से कहता है। दोनों वध स्थान की ओर अग्रसर होते हैं। इसी बीच चारुदत्त को जमीन पर लिटाकर चाण्डालों ने उसके वक्ष पर तलवार से प्रहार किया है, परन्तु तलवार उसके हाथ से छूट कर अलग गिर जाती है। तब चाण्डाल चारुदत्त को शूल पर चढ़ाना चाहते हैं। इसी समय भिक्षु और वसन्तसेना वहां पहुंचते हैं। वसन्तसेना चारुदत्त के वक्ष पर गिर पड़ती है और भिक्षु उनके चरणों पर गिर पड़ता है। वसन्तसेना को जीवित देख चाण्डाल चारुदत्त को छोड़ कर राजा को समाचार देने चले जाते हैं। वसन्तसेना को देखकर शकार भी वहां से भाग जाता है। चारुदत्त वसन्तसेना और भिक्षु को पहचान कर आनन्दमग्न हो जाता है।

अंक के अग्रिम दृश्य को शर्विलक का प्रवेश होता है। वह चारुदत्त को आर्यक के द्वारा राजा पालक के मारे जाने का समाचार देता है। चारुदत्त इस समाचार का स्वागत करता है। शर्विलक उसे यह भी सूचना देता है कि उज्जयिनी में सत्ता प्राप्त करते ही आर्यक ने कुशावती नगरी का राज्य उसे सौंप दिया है। इसी समय कुछ लोग शकार को पकड़ कर वहां लाते हैं। शकार चारुदत्त के चरणों में गिर कर प्राण–रक्षा की भीख मांगता है। चारुदत्त उसे अभयदान देता हैं।

अंक का अन्तिम दृश्य धूता के चितारोहण तथा वसन्तसेना के साथ हुये उसके मिलन से सम्बन्ध रखता है। उक्त प्रसंग अधिकांश विद्वान् प्रक्षिप्त बतलाते हैं। शर्विलक इस आनन्दमय अवसर पर वसन्तसेना को आर्यक के नाम पर वधू रूप में चारुदत्त को सौंपता है तथा उसका घूंघट खींच देता है। वसन्तसेना इस अनुग्रह से अपने को कृतार्थ समझती है। चारुदत्त की इच्छानुसार भिक्षु संवाहक को पृथ्वी पर सब विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। दोनों चाण्डाल सब चाण्डालों के अधिपति बना दिये जाते हैं। चन्दनक को पृथिवी दण्डपालक का पद दिया जाता है। शकार का भी अधिकार अस्थायी रूप से पूर्ववत् बना रहने दिया जाता है। इसी सानन्द वातावरण में नाटक भरत वाक्य के साथ समाप्त हो जाता है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र–चित्रण की दृष्टि 'मृच्छकटिक' संस्कृत नाट्य साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण कृति है। शूद्रक ने अपने प्रकरण में प्रायः सभी पात्रों के साथ समान व्यवहार किया है तथा उनको एक विशेष ढंग से अपने प्रकरण में प्रस्तुतीकरण किया है।

चारुदत्त

चारुदत्त प्रस्तुत प्रकरण का नायक है। भारतीय काव्यशास्त्रियों के अनुसार नायक के चार प्रकार माने गये हैं – धीरोदात्त, धीरललित, शान्त, उदात्त तथा उद्धत हैं। ये चारों प्रकार के नायक 'धीर' तो होते ही हैं धीरत्व के अतिरिक्त इनमें अपनी प्रकृतिगत विशेषता भी अलग से पाई जाती है। उक्त चार प्रकार के नायकों में से प्रस्तुत प्रकरण के नायक को 'धीर प्रशान्त' कोटि का नायक माना गया है। धीरप्रशान्त नायक प्रकृति से शान्त होता है। शान्त प्रकृति प्रायः ब्राह्मण या वैश्य में ही होती है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि धीर प्रशान्त कोटि का नायक या तो ब्राह्मण होता है या वैश्य। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण का नायक चारुदत्त धीर होने के साथ साथ कलाप्रेमी व क्षमावान् भी है जो कि क्रमशः धीर ललित तथा धीरोदात्त नायक के प्रमुख गुण माने गये हैं। इस प्रकार ललित, उदात्त तथा शान्त तीनों प्रकार के नायकों के गुणों से वह युक्त है।

चारुदत्त जन्मना ब्राह्मण होते हुये भी कर्मणा श्रेष्ठी है। वह अपनी हृदय की उदारता तथा व्यवहार के कारण दुर्दैव से पड़ा हुआ है। वह अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में अत्यन्त धनाढ्य रह चुका है। परन्तु दुर्भाग्य से वह निर्धन हो गया है अतः निर्धनता से अत्यन्त दुःखी व निराश है। परन्तु चारुदत्त की उदासीनता व निराशा भिन्न प्रकार की है। वह धनाभाव से आंशिक चिन्तित अपने घर से याचकों को खाली हाथ लौटते देखकर वह कहता है –

एतत्तु मां दहति यद् गृहमस्मदीयं
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः
कालात्यते मधुकराः करिणकपोलम्।।

दरिद्र होने पर भी चारुदत्त यश एवं प्रतिष्ठा का सर्वदा ध्यान रखता है। वह अपने वंश की कीर्ति की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। जब चोर घर में सेंध लगा कर घुसता है तथा चारुदत्त को इसका पता चलता है, तब उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि क्या वस्तु चुराई गई परन्तु वह इस बात से दुःखी होता है कि चोर को उसकी मेहनत का फल नहीं मिला, इस पर घर से कोई धन प्राप्त नहीं हुआ, उसे कितनी निराशा हुई होगी। यह सब वह इसलिये सोचता है कि समाज में लोगों को उसकी घर की स्थिति का पता चल जायेगा। वह यह सुनकर प्रसन्न होता है कि चोर स्वर्णालंकार चुरा ले गये हैं।

परन्तु जब उसे यह पता चलता है कि वह धरोहर थी, तब वह अत्यन्त दुःख अनुभव करता है। वह अपनी निर्धनता को धिक्कारता है तथा कहने लगता है "वास्तविक तथ्य पर कौन विश्वास करेगा (कि चोर ने धरोहर चुराई) सभी मुझ ही दोषी ठहरायेंगे। इस संसार में निर्धनता समस्त शंकाओं की जननी है।" विदूषक द्वारा यह प्रस्ताव रखने पर कि वह धरोहर के विषय में ऐसा प्रचार करेगा कि जिससे आप न्याय से मुक्त हो जाओगे, तब चारुदत्त कहता है– "क्या मैं इस समय असत्य बोलूँगा? भिक्षा के द्वारा यथेष्ठ धन एकत्र कर धरोहर लौटा दूँगा, परन्तु चरित्र को कलंकित करने वाला असत्य भाषण नहीं करूंगा।" विदूषक के रत्नावली भेजने के प्रस्ताव को विरोध करने पर वह उत्तर देता है – जिस विश्वास के सहारे वसन्तसेना ने वह धरोहर मेरे पास रखी उसी विश्वास के कारण यह मूल्यवान् रत्नावली उसे दी जा रही है न कि उस स्वर्णाभूषण के बदले में। उक्त दो उदाहरणों से स्पष्ट विदित होता है कि चारुदत्त चरित्र से कितना नेक, सत्य प्रिय एवं विश्वासपात्र था। विश्वास भंग न होने की उक्त चिन्ता चारुदत्त के चरित्र को चमत्कारिता के आलोक से प्रकाशित कर देती है।

उक्त सभी कार्यों के मूल में प्रमुख जो बात है वह है 'कुल की प्रतिष्ठा'। चारुदत्त सर्वदा इस बात का पूर्ण ध्यान रखता है कि उसका आचरण कुल की मर्यादा के अनुकूल हो। नाटक के दशम अंक में चाण्डालों द्वारा पिता तथा पितामह का नाम लेकर उनके ऊपर मढे गये आरोपों की घोषणा करने पर वह अपने गौरवान्वित कुल का स्मरण कर अत्यन्तः दुःखी होता है। चारुदत्त को मृत्यु

का कोई भय नहीं हैं, उसे यदि किसी बात का भय है, तो वह है अपने कुल की प्रतिष्ठा व यश का। वह स्पष्ट कहता है :–

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्म समो भवेत्।।

चारुदत्त का हृदय अत्यन्त उदार, गंभीर और करुणा युक्त है। सम्पत्ति सलिल के समाप्त हो जाने पर भी उसका मनसरोज उसी भांति विकसित है। वह जब भी समय पाता है गुणी और उपकारी सज्जन का सम्मान अति उदारता से करता है मदोन्मत गज से भिक्षु की रक्षा करने के लिए प्रसन्न होकर वह कर्णपूरक को अपना प्रावारक दे डालता है। उदारता के साथ – साथ करुणा भी उसके हृदय में विद्यमान है। वह न केवल अपने सेवकों के प्रति दयालु है, अपितु पशु–पक्षियों के प्रति भी उसकी करुणा द्रवित होती रहती है। चेट द्वारा फेंकी हुई कंकड़ी को कबतूर द्वारा गिराई हुई जानकर जब विदूषक कबूतर को मारना चाहता है, तो चारुदत्त उसे मना करता हुआ कहता है – **'तिष्ठतु दयितासहितस्य..... पारावतः।'** वह इतना कोमल हृदय है कि पुष्प के लिए कोमल लता को नीचे झुकाकर पुष्प चयन तक करना पसंद नहीं करता।

वह एक सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत नागरिक है। उसमें कवि हृदय विद्यमान है। वर्षा–वर्णन जिन शब्दों में उसके द्वारा किया गया वह द्रष्टव्य है। कवि होने के साथ साथ वह संगीत का पारखी एवं कलाप्रिय व्यक्ति है। तृतीय अंक में जब वह रेभिल का संगीत सुन कर वापस घर को लौटता है तब मुक्त–कण्ठ से उसकी प्रशंसा करता है। मकान में जब सेंध लगाई जाती है, तथा वह उसे देखता है, तब चोरी की अधिक चिन्ता न करके सर्व प्रथम सेंध लगाने की कला की प्रशंसा करता है।

शरणागत की रक्षा जो एक भारतीय संस्कृति की अनुपम धरोहर है, उसके चरित्र में विद्यमान है। वह शरणागत की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों तक की परवाह भी नहीं करता। आर्यक जब उसकी शरण में आता है, तब वह स्पष्ट कहता हैं –"अपने प्राणों को भले ही त्याग दूगां, किन्तु शरण में आये हुये तुम्हें नहीं त्यागूंगा।" उसकी शरणागत वत्सलता उस समय अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाती है जबकि वह अपने विरोधी शकार तक को शरण में आने पर क्षमा प्रदान कर दण्ड मुक्त करा देता है।

उक्त गुणों के साथ साथ चारुदत्त धार्मिक प्रवृत्ति से युक्त है। प्रथक अंक में ही उसकी धर्म व देवताओं के प्रति निष्ठा हमें ज्ञात हो जाती है। देवताओं के प्रति मैत्रेय जब अश्रद्धा व्यक्त करता है, जब वह उसे स्पष्ट कह देता है कि 'मित्र! ऐसा न कहो, गृहस्थों का यह नित्य–नियम है।" धार्मिक–प्रवृत्ति से युक्त होने के कारण वह भाग्यवादी भी है। भाग्यवादी होने के कारण ही निर्धनता के संदर्भ में उसने हमेशा भाग्य की प्रबलता की बात कही है। उसका विश्वास है कि 'धन का आना और जाना भाग्य के अनुसार ही होता है।" उसकी भाग्यवादिता एवं धर्म निष्ठा का ज्वलन्त प्रमाण हम उसके निम्न कथन के रूप में देख सकते हैं, जब वह यह आह्वान करता है कि 'वसन्तसेना जहां भी हो, स्वर्ग या संसार में तत्काल वहां उपस्थित हो जाय, यदि उसके धर्म में कुछ भी प्रभाव हो।"

एक प्रेमी के रूप में भी उसका चरित्र चारित्रिक दृढ़ता से युक्त है। वसन्तसेना के प्रति उसका प्यार अत्यन्त गहरा एवं सुकुमार है। जब तक वसन्तसेना उससे आकर नहीं मिलती है, तब तक वह उसके वियोग में तड़पता रहता है। उसके आ जाने पर वह प्रसन्न होता है तथा सहर्ष कह उठता है – "अरे! वसन्तसेना आ गई! हे प्रिये! मेरा सांयकाल प्रतिदिन जागते व्यतीत होता है, और सारी रातें निरन्तर निःश्वास छोड़ते व्यतीत हो जाती हैं। लेकिन हे विस्तृत लोचने! तुम्हारे समागम से आज की संध्या हमारे शोक का अन्त कर देने वाली होगी।" अभियोग प्रकरण में भी वह इन शब्दों में वसन्तसेना का स्मरण करता है – "वसन्तसेना के जीवन के बिना मेरा जीवित रहना व्यर्थ है।" चाण्डाल जब उसे वसन्तसेना का हत्यारा कह कर बार बार घोषणा करते हैं तब वह अत्यन्त दुःख अनुभव करते हुये कह उठता है – "चन्द्रमा की विमल किरणों के समान उज्जवल दांतों वाली! मनोरम प्रवाल के तुल्य रक्ताभ अधरोष्ठ वाली! प्रियतमे! तुम्हारे मुखामृत का पान कर मैं इस समय कितनी निस्सहाय, अवस्था में अपयश रूपी विष का पान कर रहा हूं।"

और अन्त में जब वध–स्थान पर अचानक वसन्तसेना को देखता है तब वह हृदय से गद्‌गद हो उठता है तथा उसे संजीवनी बूंटी के तुल्य बतलाता है। इस प्रकार का एक शान्त, निष्ठावान्, गंभीर तथा सुकुमार प्रेमी है।

इस प्रकार दान, दया, उदारता, परोपकार तथा अन्य ऐसे ही गुणों के कारण वह उज्जयिनी के सभी नर–नारियों का श्रद्धा एवं विश्वास का पात्र बना हुआ है। उसकी प्रंशसा उसके प्रतिद्वन्द्वी भी करते हैं। उसके प्रतिद्वन्द्वी शकार का सेवक विट उसकी इन शब्दों में प्रशंसा करता है :–

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो,
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये।।

न्यायालय में उपस्थित होने पर न्यायाधीश को यह विश्वास नहीं हो पाता कि चारुदत्त ऐसा नृशंस कार्य कर सकता है। वह उसे आसन प्रदान करता है, तथा शकार को लताडते हुये कहता है – "जिस चारुदत्त ने (रत्नों का दान देते हुये) समुद्र को जल की प्रचुरता मात्र है शेष जिसमें ऐसा कर दिया, तथा जिसने (याचकों के द्वारा) अप्रार्थित धन का दान किया, कल्याणों का एक (अद्वितीय) आधार वह महात्मा, धन के लिये वैरियों के द्वारा भी न किया जाने योग्य यह पाप कैसे करेगा।"

इतने सद्गुणों से युक्त एवं प्रशंसा का पात्र होते हुये भी वह मानव है तथा चन्द्रमा में जिस प्रकार कालिमा विद्यमान है उसी प्रकार उसमें भी एक दो चारित्रिक कमजोरियाँ हैं। वह निर्धन है, परन्तु निर्धनता को प्रकट नहीं करता है। उसने गणिका से प्रेम किया है, परन्तु वह अन्त समय तक उसे प्रकट नहीं करता, उसे प्रकट करने में वह संकोच करता है। यह संकोच उसके चरित्र का दोष ही कहा जायेगा, उसे ऐसी स्थिति में जब कि उसे मृत्युदण्ड ही मिल रहा था, प्रणय की स्वीकृति दे देनी चाहिये थी।

अन्य जो दोष उसके चरित्र में देखने को मिलता है वह धूता के प्रति उसकी आश्चर्यजनक उपेक्षा है। वह जब वध के लिये चाण्डालों द्वारा ले जाया जाता है तब सभी का स्मरण करता है परन्तु अपनी पतिव्रता पत्नी धूता की उस समय भी उपेक्षा ही करता है, जो उस जैसे करुण हृदय के लिए उचित प्रतीत नहीं होता।

परन्तु उक्त एक दो अवगुण उसके गुणों के सामने नगण्य दिखाई देते हैं। उसके समस्त गुणों पर विचार, करने के उपरान्त ही **डा० राइडर** ने उसकी तुलना **"मरचेण्ट आफ वेनिस"** के नायक **एण्टोनियो** से की है, जो सर्वथा उचित एवं न्याय संगत प्रतीत होती है।

वसन्तसेना

मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त के चरित्र का वर्णन करने के उपरान्त द्वितीय महत्त्वपूर्ण चरित्र नायिका वसन्तसेना के विषय में भी कुछ उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। संस्कृत के आचार्यों ने प्रकरण सम्बन्धित लक्षणों के अन्तर्गत नायिका के विधान की रूपरेखा भी रखी है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'प्रकरण में नायिका कहीं कुल–कन्या होती है, कहीं वेश्या होती है और कहीं दोनों होती हैं" मृच्छकटिक' एक ऐसा प्रकरण है जिसमें कुल स्त्री तथा गणिका दो नायिकायें हैं। इसमें कुल स्त्री धूता तथा गणिका के रूप में वसन्तसेना है। परन्तु धूता प्रस्तुत प्रकरण में नाम मात्र के लिये है, वास्तविक नायिका तो वसन्तसेना ही है।

वसन्तसेना एक असाधारण रूपवती, नवयौवना वेश्यापुत्री है। यह उसका दुर्भाग्य है कि वह गणिका कुल से उत्पन्न हुई परन्तु फिर भी उसने अपने दृढ़ संकल्प तथा प्रयत्नों के फलस्वरूप अपने आपको कुलवधू के योग्य प्रमाणित किया है। नाटक में उसका परिचय हमें सर्वप्रथम उज्जयिनी के राजमार्ग में होता है जब कि वह रात्रि के अन्धकार में शकार व उसके साथियों द्वारा पीछा की जाती हुई तथा उनसे अपने आपको बचाने हेतु भागती हुई दिखाई पड़ती है। शकार उसके प्रति कामासक्त है तथा उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है, उसने इस घटना के पूर्व भी कामदेवायतन उद्यान में कन्दर्पपूजा महोत्सव के अवसर पर उसके चरित्र को दूषित करने का प्रयास किया था। उस समय चारुदत्त द्वारा उसकी रक्षा की गई थी तथा उसी समय से वह चारुदत्त से प्रभावित होकर उसके प्रति अनुरक्त हो गई थी। शकार को पुनः अवसर प्राप्त होता है तथा वह उसका पीछा करता है। परन्तु वसन्तसेना के विषय में शकार व उसके साथियों की गलत धारणा है। वे उसे सामान्य गणिका समझते हैं जो कि सर्वभोग्या होती है। शकार उसे क्रय वस्तु समझ कर उसके साथ रमण करना चाहता है।

परन्तु वसन्तसेना हृदय से पवित्र एवं सच्चरित्रा है। वह सामान्य गणिका के समान जीवन यापन करना नहीं चाहती अपितु समाज में अपना प्रतिष्ठित स्थान बनाना चाहती है। यही कारण है कि वह संस्थानक जैसे राजवल्लभ को ठुकरा कर अपने शुद्ध एवं गंभीर प्रेम का परिचय देती है। माता की गणिका वृत्ति के कारण उसे विपुल सम्पत्ति प्राप्त है, परन्तु उसका हृदय इस गर्हित जीविका के प्रति विद्रोह कर उठता है। राजश्याल संस्थानक के द्वारा भेजी गई स्वर्णराशि तथा बुलाने के लिये गाड़ी भेजने पर वह क्रुद्ध हो जाती है तथा चेटी से तुरन्त कहती है – "जाकर माताजी से कह दो कि यदि वे मुझे जीवित देखना चाहती हैं, तो पुनः ऐसी आज्ञा न दें।" शकार द्वारा अपना मनोरथ व्यक्त करने पर वह क्रोध से तिलमिला जाती है और कहती है – **'शान्तं! शान्तं! अपेहि, अनार्य्यं मंत्रयसि।'** इस प्रकार शकार, उसके धन तथा स्वर्ण का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है।

वह धन के स्थान पर गुणों की उपासिका है। विट के द्वारा वेश्याओं की समदृष्टि का कथन किये जाने पर वह उसे शान्त भाव से एक ही वाक्य में प्रेम के प्रादुर्भाव का कारण बतलाती है, उसके अनुसार "गुण ही अनुराग का कारण है बलात्कार नहीं। अपने प्रेम का दान वह गुणवान् व्यक्ति को ही देना चाहती है। उसकी इस भावना का स्पष्टीकरण हमें प्रकरण के द्वितीय अंक में मदनिका के साथ हुई उसकी वार्त्ता के अन्तर्गत हो जाता है। वार्ता के अन्तर्गत मदनिका उसके हृदय की बात को जानने के प्रयत्न स्वरूप उससे प्रारंभ में प्रणय को लेकर राजवल्लभ, ब्राह्मण, व्यापारी इत्यादि के विषय में प्रश्न करती है। मदनिका के यह पूछने पर कि क्या वह कोई राजा अथवा राजवल्लभ है, जो तुम्हारे द्वारा कामदेव महोत्सव में अनुगृहीत हुआ है, वह इस प्रकार उत्तर देती है – "सखी रमण करना चाहती हूं, सेवा करना नहीं।" इस प्रकार यद्यपि उसका मुख्य ध्येय रमण करना है परन्तु यह रमण

विवेकाश्रित है, उस रमणेच्छा में धन प्रधान न होकर गुण प्रधान है। वार्त्तालाप के अन्तर्गत चारुदत्त विषयक अनुरक्ति को स्वीकार कर लेने पर, मदनिका द्वारा चारुदत्त को जब निर्धन बताया जाता है, तब वह तत्काल उत्तर देती है – "इसीलिये तो मैं उन्हें चाहती हूं। निर्धन पुरुष में आसक्त होने वाली वेश्या संसार में निन्दनीय नहीं समझी जाती।" मूलतः उसके प्रणय जीवन का यही मूलाधार है। उसे यह पता है कि वह वेश्या है, तथा यदि वह धन के लोभ से किसी के साथ रमण करती है तो समाज में वह निन्दनीय समझी जायेगी, और अपने लक्ष्य 'कुल–वधू' पद को नहीं प्राप्त कर सकेगी। उसके हृदय में प्रणय के सम्बन्ध में वही सिद्धान्त जमा हुआ है जो बहुत बाद में हमे भवभूति के नाटक उत्तररामचरित में देखने को मिलता है – **"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंग न च वयः।"** यही कारण है कि प्रस्तावना में भी उसे गुणानुरक्ता गणिका कहा गया है।

इस प्रकार वसन्तसेना गुणानुरोधिनी है, परन्तु वेश्या होने के कारण चारुदत्त तथा शकार दोनों में उसके प्रणय को लेकर गलत धारणा बनी हुई है, एक और चारुदत्त को यह मानसिक संकोच है कि वह निर्धन है। अतः वसन्तसेना उसे प्राप्य नहीं है, दूसरी और शकार को यह गलत धारण बनी हुई है कि वह धन–धान्य से सम्पन्न है तथा राजा का साला है अतः वसन्तसेना उसी के उपभोग के योग्य है। उसे क्या मालूम कि उसके लिए वसन्तसेना के हृदय में किंचित् मात्र भी स्थान नहीं है तथा उसके प्रणय का देवता तो गुण सम्पन्न चारुदत्त ही है।

परन्तु इस प्रणय के देवता को प्राप्त करने में उसे कितना त्याग करना पड़ा है वह उल्लेखनीय है। दूसरे शब्दों में उसका यह प्रणय–जीवन विरोधों से भरा है जिसमें कि शकार सब से बड़े कांटे के रूप में उसके सामने आता है। परन्तु वसन्तसेना ने इन विरोधों का डट कर मुकाबला किया है। उसने शुरु से ही लम्पट शकार का सामना किया है। उसने उसे कभी कोई ऐसा अवसर नहीं दिया कि वह अपनी चाल में उसे फंसा सके। प्रथम अंक में तो वह अपनी चतुराई एवं शकार की गलती से बच निकलती है परन्तु अष्टम–अंक में दुर्भाग्य के कारण जब वह उसके चंगुल में पुनः फंस जाती है तब वह निर्भीकता से उसका मुकाबला करती है। शकार जब उससे बलात् प्रणय हेतु स्वीकृति चाहता है तब वह अत्यन्त तीव्र एवं भर्त्सना के शब्दों में उसे यह कह कर डाँटती है – "हे खल! तुम चरित्र में अधम हो। दोषों के आकर हो। मुझे धन का लोभ क्यों दे रहे हो? सुन्दर चरित्र तथा पवित्र शरीर वाले कमल को छोड कर क्या भ्रमर और कहीं जा सकता है? ..... आम्रपादप की सेवा के पश्चात् मैं पलाश को स्वीकार नहीं करूँगी।" शकार को कहे गये उक्त वाक्यों में उसकी चारित्रिक दृढ़ता स्पष्टरूपेण झलकती है। शकार द्वारा उसके वश में किये जाने के अन्य भी कई उपाय किये जाते हैं परन्तु सभी उपायों को वह विफल बना देती है। अन्त में वह उसे प्राणाघात की कसौटी पर परखना चाहता है, परन्तु वसन्तसेना वहां भी विचलित नहीं होती और अपने प्राणों को न्यौछावर करने हेतु तत्पर हो जाती है।

वह प्रतिष्ठा को जीवन का प्रमुख लक्ष्य समझती है तथा 'कुलवधू' बनने के अपने संकल्प को किसी भी स्थिति में पूर्ण करना चाहती है। उस समय उस की स्थिति वैसी ही होती है जैसी कि रामायण में रावण के जाल में फंसी सीता की। अन्तर केवल यही है कि वह जन्म से वेश्या है जो कि समाज की दृष्टि में पतित है, उधर सीता राम की पत्नी होने के नाते पूज्या थी।

राक्षस रूपी शकार उसे बार–बार धमकी देता है कि वह चारुदत्त को छोड़ कर उसे अपना प्रेम दान करे परन्तु वसन्तसेना की भी वही सीता जैसी स्थिति है। सीता के समान वह भी शकार द्वारा धमकी दिये जाने पर चारुदत्त का पुनः पुनः स्मरण करती है। वह शकार को स्पष्ट करती है कि "जो हृदय में बैठा है, क्या उसका स्मरण नहीं किया जाता?" इस पर शकार और भी क्रुद्ध होकर उसे कहता है – "आज भी तुम्हारे हृदय में बैठे चारुदत्त को तथा तुम्हें पीस कर एक साथ चूर्ण करता हूँ। दरिद्र चारुदत्त की अभिलाषिणी, ठहर, ठहर।" परन्तु वसन्तसेना पर उसके इस कथन का नाम मात्र भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़त। अपितु वह शकार को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वह बार बार कहे, क्योंकि वे (चारुदत्त) पूजनीय अक्षर हैं। यहां तक कि अन्तिम समय तक जबकि शकार उसे गला घोंट कर मारना चाहता है वह चारुदत्त को मन ही मन स्मरण करती है तथा नमस्कार करती है। इस प्रकार उक्त सम्पूर्ण दृश्य वसन्तसेना के चारुदत्त सम्बन्धी प्रणय का दृढ़ निश्चय हमारे सामने प्रस्तुत करता है। वास्तव में देखा जाये तो गणिका वसन्तसेना का यह त्याग एवं दृढ़ निश्चय संस्कृत नाट्य–साहित्य में कोई समानता नहीं रखता।

परन्तु इतने पर ही उसे कुलवधू का पद नहीं मिलता। इसके लिए उसे चारुदत्त को भी जो कि अपने आपको निर्धन समझ कर अयोग्य समझे बैठा हुआ है, तैयार करना पड़ता है। इसके लिये भी वह योजनाबद्ध कार्यक्रम तैयार करती है। वह अपनी इसी योजना के क्रम में चारुदत्त के घर में प्रविष्ट होती है। तथा वहां पर अपने सुवर्णाभरण धरोहर रूप में रखती है। अलंकार न्यास के इस रहस्य का उद्घाटन हमें द्वितीय अंक में होता है, जब कि वह मदनिका से इस प्रकार कहती है – "प्रत्युपकार करने में असमर्थ उनसे सहसा नहीं मिला जा सकता क्योंकि तब उनका दर्शन पुनः दुर्लभ हो जायेगा।" इस पर मदनिका उसके हृदय की बात समझ जाती है और कहती है। "क्या इसीलिये वह आभूषण उसके हाथ में धरोहर रखा है।" वसन्तसेना इस पर अपनी सहमति प्रकट करती है। इस प्रकार प्रणय हेतु नायिका वसन्तसेना स्वयं प्रारंभिक प्रयास करती है जो कि संस्कृत नाट्य साहित्य में प्रायः अद्भुत प्रयास के रूप में कहा जायेगा अन्यथा तो नायक ही नायिकाओं को प्रसन्न करने के उपाय ढूँढ़ते पाये जाते हैं।

नायक चारुदत्त के मनः संकोच को दूर करने हेतु ही वह उसके द्वारा प्रेषित रत्नावली को स्वीकृत करती है, वह समझती है कि यदि उसे वह स्वीकृत नहीं करेगी तो चारुदत्त पुनः इसके लिए अपनी दरिद्रता को कोसेगा, इसी क्रम में वह बाद में अभिसार की योजना भी बनाती है तथा दुर्दिनमयी संध्या में विहारार्थ चारुदत्त के पास पहुंचती है। रात्रि चारुदत्त के साथ व्यतीत करने के उपरान्त जब प्रातःकाल उसे पुष्पकरण्डक उद्यान में जाने के विषय में चारुदत्त के आमत्रण की सूचना मिलती है तो वह अत्यन्त हर्षित होती है। क्योंकि वहां पर वह चारुदत्त को दिन में अच्छी प्रकार देख सकेगी। यहा पर यह उल्लेखनीय है कि उसका उद्देश्य केवल मात्र चारुदत्त के हृदय में प्रवेश करना ही नहीं अपितु अन्तः पुर में प्रवेश कर गृहिणी तथा कुल स्त्री के पद को ग्रहण करना उसका मूल उद्देश्य है। उसका यह प्रयास है कि अन्तःपुर के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में वह अपना स्थान बनाये। यही कारण है कि चेटी के यह कहने पर कि 'वह अन्तःपुर में ही नहीं, अपितु समस्त जनों के हृदय में भी प्रवेश कर गई है, उसे यकायक विश्वास नहीं होता तथा जिज्ञासावश पूछती है – "क्या चारुदत्त के परिजन मेरे कारण दुःखी हैं?" और जब चेटी विश्वास दिलाती है कि वे सभी उसके आगमन से सुखी हैं, तब वह बहन 'आर्याधूता' को इस सन्देश के साथ मुक्तावली भिजवाती है – वह चारुदत्त की गुणनिर्जिता दासी है अतएव धूता की भी वशीभूता है, उसका अनुरोध है कि वह मुक्तावली भेजकर धूता के कण्ठ की शोभा बढ़ावे।"

वसन्तसेना के विषय में यह भी एक अद्भुत विशेषता है कि वह प्रथम 'जननी' बनती है तथा बाद में पत्नी। वेश्या होने पर भी उसका हृदय वात्सल्य से ओत–प्रोत है। सोने की गाडी के लिए रोते हुये चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को जब वसन्तसेना का परिचय दिया जाता है कि वह तुम्हारी माता है। तब बालक रोहसेन उसे माता मानने से इन्कार करता हुआ भोलेपन में कह उठता है कि यह सच नहीं है, यदि ये मेरी माता है तो अलंकृत क्यों है?" इस पर वसन्तसेना का मातृ–हृदय फूट पडता है। वह रो उठती है और आभूषणों को उतार कर कहती है – "पुत्र, भोले मुख से अत्यधिक करुण बात कह रहे हो। यह लो, अब तुम्हारी माता हो गई। इन आभूषणों को लो और सोने की गाड़ी बनवा लो।" वसन्तसेना का प्रस्तुत कथन यह प्रमाणित करता है कि यहां केवल चारुदत्त से मिलने के लिए उत्सुक उसका नारी – हृदय नहीं रहा है अपितु यह एक सच्चा मातृ–हृदय है जो बच्चे से मिलने के लिए चीत्कार कर उठा है।

वात्सल्य भावना के अतिरिक्त कोमलता और उदारता भी उसके चरित्र के प्रधान गुण हैं। मदनिका एवं संवाहक से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रसंग उसकी कोमल उदारता से ओत–प्रोत है। द्वितीय अंक का प्रसंग है, संवाहक पराजित द्यूतकर के रूप में वसन्तसेना की शरण में आता है। वह उसे शरण प्रदान करती है, वार्त्तालाप के अन्तर्गत चारुदत्त का प्रसंग भी आ जाता है, फिर क्या था फिर तो दया ने प्रेम से मिलकर वह कार्य किया कि परस्पर दोनों का जीवन कृतार्थ हो गया। वसन्तसेना की कृपा से संवाहक को हस्ताभरण मिला और द्यूतकर का मोक्ष हुआ। परन्तु यहां पर यह धारणा बनाना कि उसने यह कार्य मात्र स्वार्थ–सिद्धि के लिए किया, अनुचित होगी। वास्तव में उसकी उदारता निःस्वार्थ भावना युक्त है तथा वह इस उदारता का कोई प्रतिदान नहीं लेना चाहती है। प्रतिदान तो दूर रहा वह उसकी मुक्ति के श्रेय को भी स्वयं स्वीकार नहीं करना चाहती। द्यूतकार माथुर से वह चेटी द्वारा यही कहलाती है कि यह संवाहक ने ही भेजा है तथा संवाहक की सेवा का प्रस्ताव भी बदले में स्वीकार नहीं करती इस प्रकार उक्त सम्पूर्ण कार्य वह निःस्वार्थ भावना से करती है।

संवाहक के अतिरिक्त शर्विलक के प्रति उसका व्यवहार और मदनिका को ऋण–मुक्त करके उसे वधू रूप में दे देना सभी उसकी उदारता के परिचायक कहे जावेंगे। उसी की प्रेरणा व कृपा का फल समझिये कि मदनिका कुलवधू पद को प्राप्त कर सकी। वह मदनिका को जब शर्विलक के साथ छिपकर बातें करती हुई देखती है, तब उसके हृदय में नारी सुलभ ईर्ष्या न होकर प्रसन्नता होती है तथा वह उन दोनों की गतिविधियों में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं डालना चाहती वह उन्हें देखकर कहती है – "अच्छा तो ये यथेष्ट रमण करें। इनकी प्रीति में कोई विच्छेद न उत्पन्न हो जाय। मैं पुकारूँगी नहीं।" उसके इस कथन से उसके चित्त की कोमलता पर मधुर प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार मदनिका को जब वह शर्विलक के साथ रथ पर बैठा कर विदा करती है तब वह उसे इस प्रकार कहती है "अरी मदनिके! मुझे अच्छी तरह देख लेने दे। आज से तुम दूसरे को दे दी गई। गाड़ी पर चढ़ो। मुझे याद रखना।" प्रस्तुत कथन से उसके हृदय की कोमलता, निश्छलता एवं उदारता की अनेक धारायें एक साथ फूट पड़ी हैं। साथ ही इस समस्त संदर्भ के अन्तर्गत उसके हृदय में कहीं भी ईर्ष्या का भाव उठता हो, ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु शर्विलक को मदनिका सौंपने में उसे एक संतोष व आनन्द की प्राप्ति हुई है। शर्विलक भी इस कृत्य के लिये उसके प्रति अनुगृहीत है।

इस प्रकर वसन्तसेना ने वेश्या कुल में उत्पन्न होने के बावजूद भी अपने चारित्रिक गुणों के आधार पर समाज में अपना स्थान बना लिया है। इन्हीं गुणों के कारण 'नगर श्री' की उपाधि से भी वह विभूषित की गई है। चन्दनक के लिये वह चांदनी है तो विट के लिये भगवती लक्ष्मी की पद्म रहित शोभा तथा चारुदत्त के लिये वह सर्वस्व है। वह लावण्यमयी है परन्तु उसका लावण्य उन्मादक किस्म का नहीं है। वह उस प्रणय को प्रेरित करने के योग्य है जो कि अत्यन्त गहन सम्पर्क के बाद ही संभव

है, तथा जो प्रणय पक्वावस्था में गंभीर त्याग के उपरान्त ही पहुंच सकता है। यह कहना निराधार नहीं है कि उसने चारुदत्त के हृदय में अपना स्थान बना लिया है। उसका सौन्दर्य उसकी विनम्रता से जो कि उसके तौर तरीकों में द्रष्टव्य है, परिपक्व हुआ है तथा मधुरता को प्राप्त हुआ हे उसके हृदय की स्पष्टवादिता तथा स्वामीभक्ति की भावना ने उसके व्यावसायिक स्वभाव को भी तिरस्कृत कर दिया है। उसने अपने व्यवसाय तथा जाति सम्बन्धित सभी सीमाओं का अतिक्रमण करके एक आदर्श जीवन प्रस्तुत किया है, जिसमें वेश्या जीवन की दुर्गन्ध तक नहीं है। उसके सम्बन्ध में विट का निम्न कथन अत्यन्त सटीक एवं महत्त्वपूर्ण है – "वह एक वेश्या है, परन्तु जिस प्रणय की उसे आवश्यकता है, वह एक वेश्या के भवन् में प्राप्त नहीं हो सकता है। वह वेश्या होते हुये भी कुलकामिनी के प्रणय की इच्छुक है, उसे वेश्यावृत्ति से घृणा है। यद्यपि वेश्या परिवार में जन्म तथा पालन–पोषण हुआ है परन्तु उसका प्रत्येक कार्य वेश्या जीवन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया का रूप लिये हुए है।"

नाटक के अन्त में वसन्तसेना का चरित्र नितान्त निर्मल किरणों से प्रखर हो उठा है। उसकी समस्त विशेषतायें – चपलता, विनम्रता, विदग्धता, शीलता, उदारता इत्यादि परस्पर रसमय हो गई हैं और वह नव जीवन का देवदूत बन गई है। नाटक के अन्तिम अंक में वह उचित क्षणों में संवाहक सहित उपस्थित होकर चारुदत्त के प्राणों को बचाती है तथा उसे सान्त्वना प्रदान करती हुई उसके चरणों में गिर पड़ती है। चरणों में गिरी हुई वह बड़े ही कातर स्वरों में इस प्रकार निवेदन करती है – "आर्य चारुदत्त। मैं वही पापिनी वसन्तसेना हूं, जिसके कारण आप इस शोचनीय अवस्था में पहुंच गये हैं।" चारुदत्त उसके उक्त कथन से प्रभावित हुआ उसको 'मृत संजीवनी' की संज्ञा प्रदान करता है। नाटक के अन्त में उसे आर्यक द्वारा 'कुलवधू' के पद से अलंकृत किया जाता है, जिसे स्वीकृत कर वह अपने को धन्य समझती है।

वास्तव में यदि देखा जाये तो वसन्तसेना का चरित्र कालिदास की शकुन्तला तथा भवभूति की सीता से भी बढ़ कर प्रतीत होता है। वह 'मालती–माधव' की मालती की तरह परतंत्र बालिका नहीं है और 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' की शकुन्तला की तरह भोली कुमारी भी नहीं है। उसका साम्य यदि कुछ है तो 'विक्रमोर्वशीय' की उर्वशी से। किन्तु यह उर्वशी जितनी विलासिनी प्रतीत नही होती। इसका जीवन तो त्याग से पूर्ण है। उर्वशी का प्रेमी एक महान् राजा है जबकि वसन्तसेना के हृदय का स्वामी एक निर्धन ब्राह्मण। वास्तव में बुद्धिमत्ता, प्रत्युत्पन्नमतित्व और शालीनता में भी वह उर्वशी से बढ़कर संपूर्ण रूप से देखने पर यह सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में एक अद्वितीय चरित्र है।

मैत्रेय-विदूषक

शृंगार रस वाले नायक के सहायकों में 'विदूषक' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृति लक्षण ग्रन्थों में विदूषक के विषय में जो लिखा गया है उनमें प्रायः समानता है तथा सभी ग्रन्थकारों ने विदूषक को हास्य रस के उत्पादक के रूप में माना है। विश्वनाथ के अनुसार 'किसी फूल अथवा वसंतादिक पर जिसका नाम हो, जो अपने कार्य, देह, वेष, भाषा इत्यादि से हंसाने वाले हो, दूसरों के लड़ाने में आनन्द लेता हो और अपने मतलब के कार्यों में निपुण तथा चतुर हो, वह विदूषक कहलाता है। धनंजय ने अन्य विशेषताओं का उल्लेख न करके स्पष्ट रूप से उसे नाटक के मजाकिया पात्र के रूप में बताया है।

मृच्छकटिक का चारुदत्त वणिग् नायक है और मैत्रेय उसका विदूषक है। मैत्रेय का विनोद हाजिर–जवाबी है साथ ही गणिकाओं की वह अत्यधिक हंसी उडाता है। लेकिन मैत्रेय को शठ नहीं कहा जा सकता है ? और बाह्य रूप या वेश की कुरूपता मैत्रेय में होना भी असाधारण वैशिष्ट्य नहीं है। सभी नाटककारों ने शारीरिक विकृति और पर्याय से वेश की विचित्रता को विनोद निर्मिति का एक आवश्यक अंग मानकर अपने विदूषक में उसका प्रयोग किया है। अतः उसी के अनुरूप 'मृच्छकटिक' के विदूषक मैत्रेय में भी शारीरिक विकृति का गुण विद्यमान है। शकार के शब्दों में उसका सिर कौवे के पैर जैसा है। न केवल शकार अपितु वह स्वयं भी अपने सिर को ऊंट के घुटने का उपमा देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परम्परानुसार मृच्छकटिक का विदूषक भी असुन्दर है।

मैत्रेय जन्म से ब्राह्मण है अतः वह वैदिक मंत्रों तथा यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं का जानकर है। परन्तु वह अन्य कुछ विदूषकों की तरह खाली पंडिताई का स्वांग तथा अर्थहीन बडप्पन की बातें नहीं करता। यह अवश्य है कि उसकी बातों में ब्राह्मण होने के कारण इन बातों का कई बार स्वाभाविक रूप से प्रयोग हुआ है। उदाहरण के रूप में जब वह वसन्तसेना के चबूतरे पर ऊंघने वाले द्वारपाल को देखता है तो उसे श्रोत्रिय की उपमा प्रदान करता है। संस्कृत पढ़ने वाली स्त्री और कांकली गाने वाले पुरुष को देखकर उसे हंसी आती है, तथा वह उन दोनों पर टिप्पणी करते हुये कहता है कि 'जिस प्रकार नाक में नथिंया डालने पर गायें सूं सूं करती है, उसी तरह संस्कृत पढ़ने वाली स्त्री रटती रहती है, और कोमल आवाज में गाने वाला पुरुष, सूखे फूलों की माला पहने हुये और मंत्र जपने वाले बूढे पुरोहित के समान प्रतीत होता है।" वसन्तसेना के महल में पर्यटन का अवसर प्राप्त कर वह अत्यन्त प्रसन्न होता है तथा अपने भाग्य की सराहना करता है कि 'रावण जैसे पराक्रमी राजा को पुष्पक विमान की प्राप्ति के लिये कडी तपस्या करनी पड़ी थी, लेकिन उसे बिना परिश्रम के वसन्तसेना के स्वर्गतुल्य प्रासाद में अकड़ कर घूमने को मिला है।"

यद्यपि मैत्रेय यज्ञविधि, जप–तप आदि का ज्ञाता है परन्तु इन कृत्यों में उसे कोई विशेष रुचि नहीं है। यही कारण है कि चारुदत्त द्वारा मातृ देवियों के बलि चढ़ाने के लिये कहने पर वह प्रतिवाद करता हुआ कहता है कि "जब इस प्रकार पूजा करने पर भी देवता चारुदत्त के ऊपर प्रसन्न नहीं होते तब समस्त पूजा–अचर्ना व्यर्थ है।" इसी संदर्भ में वह आगे कहता है कि 'मुझ ब्राह्मण की समस्त क्रियायें विपरीत ही प्रतिफलित होती हैं, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित अंग विपरीत दिखाई पड़तें है।"

मैत्रेय को ब्राह्मण होने से अपनी स्थिति को हमेशा ध्यान रहता है। यही कारण है कि वर्धमानक द्वारा उसे चारुदत्त के पैर धोने के लिए कहने पर वह झट से उछल कर कहता है – "यह सेवक है इसलिए उसका पानी लाना ठीक है। लेकिन मुझ जैसे ब्राह्मण को दूसरे के पैर धोने के लिए यह कहता है, इसका तात्पर्य क्या?" इस प्रकार ब्राह्मण होने का गर्व उसमें पर्याप्त मात्रा में है।

संस्कृत नाटकों के अन्य विदूषकों की भांति उक्त प्रकरण का विदूषक भी भोजनप्रिय व पेटू है। नाटक के प्रारंभ में सूत्रधार यही जानकर उसे भोजन हेतु आमन्त्रित करता है। यद्यपि मैत्रेय आमंत्रण को अस्वीकार कर देता है, क्योंकि पहले से ही उसे दूसरा निमंत्रण मिल चुका है, तथापि चारुदत्त के पुराने वैभव के दिनों में अपने खाये हुये सुगन्धित एव मनारम मोदकों तथा नानाविध व्यंजनों के स्मरण से वह व्यथित होता है। चतुर्थ अंक में जब वह वसन्तसेना के प्रासाद के विभिन्न प्रकोष्ठों को देखता है तब वह आश्चर्य की मुद्रा में दिखाई देता है। महल के वैभव को देखकर मैत्रेय की आंखें चौंधिया जाती हैं। लेकिन यह वैभव और शोभा देखते हुये मैत्रेय जब रसोईघर के पास पहुंचता है तब सचमुच उसकी लार टपकने लगती है। विभिन्न तरह की गंध, अनेक प्रकार की सुरभियों से सुगधित धूप की गंध, खाद्य द्रव्यों की गंध तथा मोदकों एवं मालपूओं की छटा उसे मंत्रमुग्ध सुक बना देती है और उसका चित्त उन्हें चखने के लिए तरसने लगता है। यह सब देखकर वह कह उठता है – "हा ! यह वसन्तसेना का घर प्रत्यक्ष स्वर्ग है।"

वसन्तसेना की स्थूलकाय विस्तीर्ण उदर वाली माता को देखकर उसे ईर्ष्या होती है तथा वह कहता है कि उसे वैसा ही मधुर एवं स्वादिष्ट भोजन भर पेट मिलता, चाहे भले ही वह भी "चौथिया" रोग से पीडित क्यों न हो जाता। वह जब तक वसन्तसेना के महल में रहता है तब तक उसके मन में यही इच्छा बनी रहती है कि कोई उसे आकर भोजन के लिए आग्रह करे लेकिन ऐसी भलाई कोई भी नहीं दिखाता और मैत्रेय की इच्छा मन ही मन में रह जाती है। वसन्तसेना के घर का यह आतेथ्यहीन व्यवहार उसके मन में हमेशा के लिए घर कर रह जाता है। इस प्रकार मैत्रेय के भोजन प्रेम में लोभी वृत्ति होने के साथ साथ उसमें करुणा की भावना भी छिपी हुई हैं। उसके शब्दों में हास्य तत्त्व होने के बावजूद भी उनके पीछे करुणा की भावना अवश्य विद्यमान है।

अन्य विदूषकों की भांति मैत्रेय भी भीरू प्रकृति का है। वह भीरूपन के कारण अन्धेरे में दीप चढाने के लिए अकेले घर से बाहर भी निकलना पसंद नहीं करता, इस कार्य के लिये वह रदनिका को साथ लेकर जाता हे। वसन्तसेना को रात्रि में घर पहुंचाने के लिये भी वह इसलिये ही तैयार नहीं हुआ क्योंकि उसे इस बात का डर था कि वह कुत्ते के समान बाहर मार न दिया जाय। इस प्रकार भय की भावना मैत्रेय के अन्तःकरण में गहरी जमी हुई है। यह सब कुछ होते हुये भी समय आने पर वह भय के घेरे से बाहर निकलकर साहस का परिचय देता है। नवम अंक में न्यायधीश के सन्मुख जिस साहस के साथ उसने न्यायाधीश तथा शकार को लताडा है वह वस्तुतः प्रशंसनीय है।

भीरूपन के साथ साथ मैत्रेय को कुछ विद्वानों ने मूर्ख भी सिद्ध करने का प्रयास किया है। अपने मत की पुष्टि में इन विद्वान ने दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं – प्रथम, चेट कुम्भीलक द्वारा बुझाई गई पहेली को उसका नहीं समझना तथा द्वितीय दुर्दिन की वर्षा में वसन्तसेना के चारुदत्त से चिपक जाने का गलत अभिप्राय ग्रहण करना। जहां तक कुंभीलक द्वारा बुझाई गई पहेली का मैत्रेय द्वारा उसके न समझने का सम्बन्ध है, वह सब कुछ नाटककार द्वारा वांछित योजना का परिणाम ही है, मैत्रेय की मूर्खता प्रमाणित करना वहां नाटककार को अभिप्रेत नहीं है। शूद्रक ने इस स्थल में जो मैत्रेय को चारुदत्त से प्रश्नों के उत्तर पूछने तथा थोडा सोचने का अवसर प्रदान किया है, वह केवल रंगमंच पर हास्य–विनोद के कुछ क्षीण छींटे बिखेरने के लिये न कि मैत्रेय की मूर्खता का निरूपण करने के लिये। जो व्यक्ति नितान्त सटीक तथा विस्मयकारक उपमाओं की योजना कर सकता है और जो ज्ञान की ऊंची बातें कर सकता है धन की क्षण भंगुरता इत्यादि, वह यह नहीं जानता हो कि आम्रवृक्ष में मजरिया कब लगती हैं अथवा यह कि 'वसन्त' और 'सेना' शब्दों को कैसे जोड़ा जाये जबकि वह कुंभीलक को भी पहचानता है और वसन्तसेना के अभिसार का संवाद भी स्वयं ला चुका है – वह सम्पूर्ण स्थिति विश्वसनीय एवं स्वीकार्य नहीं है।

यह अवश्य स्वीकार्य है कि नाटक में मैत्रेय ने दो बड़ी भूलें की है। परन्तु भूल होना मानव के लिये कोई अस्वाभाविक बात नहीं। भूल तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम से भी हुई थी। दो भूलों में प्रथम नींद में बड़बड़ा कर उसने आभूषण की चोरी कराने में सहायता पहुंचाई है और द्वितीय न्याय–मण्डप में शकार से झगड़ा कर आभूषणों को भूमि पर गिरा दिया है जिसमें चारुदत्त के प्राण गहन संकट में पड़ गये हैं। परन्तु इन गलतियों से उसकी मूर्खता का द्योतन नहीं होता। नींद में बडबड़ा उठना व आभूषणों का गिर जाना दोनो ही गलतियां ऐसी है जो कि अनजाने में हुई है। वह व्यक्ति जो चारुदत्त के लिये अपने प्राण तक भी न्योछावर करने

को तैयार हो, भला वह जानकर आभूषणों को ऐसे समय में कैसे गिरायेगा जबकि उनके कारण उसे फांसी दी जा रही है। यदि इसे गलती न कह कर 'होनहार' कहा जाये तो और भी उपयुक्त होगा। ऐसा होना था, इसलिये हुआ, मैत्रेय को तो उसमें दोष का भागी और बनना पड़ा। इसी प्रकार रात्रि में बड़बड़ा उठना मैत्रेय का स्वयं को दोष व उसकी मूर्खता नहीं अपितु नाटककार को अपने नाटक को आगे बढ़ाना था इसलिये ऐसा जानकर मैत्रेय द्वारा उसने करवाया है – क्योंकि विदूषक होने के कारण ऐसा करने के लिये उपयुक्त पात्र है।

मैत्रेय मूर्ख न होकर चतुर एवं सूक्ष्म दुष्टि रखने वाला है। उसने नाटक में जो समय समय पर उपमायें दी हैं वे बहुत ही सटीक, विचित्र तथा आकर्षक हैं। दीपक को जलते हुये प्रायः सभी ने देखा है परन्तु मैत्रेय की सूक्ष्म दृष्टि का एक अनुभव देखिये – "यूप काष्ठ में बांधने के लिये लाये हुये बकरे के समान यह दीपक फुर–फुरा रहा है।" बकरे का फुरफुराना जिसने देखा है वह इस उपमा की सार्थकता से चमत्कृत हो जायेगा। वसन्तसेना और चारुदत्त के परस्पर झुक कर अभिवादन करने के दृश्य के सिर ऐसे मिल रहे हैं जैसे कमल केदार धान के दो गुच्छे मिल रहे हों।" इस प्रकार का विचित्र सादृश्य ढूंढना किसी मूर्ख के लिये संभव नहीं को सकता।

मैत्रेय की सूक्ष्म बुद्धि का परिचय वहां भी मिलता है जहां उसने व्यंग्यात्मक शैली में वसन्तसेना की माँ व भाई पर तीखे प्रहार किये हैं। वसन्तसेना की माता की अति विशाल तोंद देख कर मैत्रेय से नहीं रहा जाता तथा वह समीपवर्ती दासी से पूछ बैठता है – "जिस तरह महादेव की पिण्डी स्थापना करके फिर मन्दिर की दीवारें खड़ी की जाती हैं, क्या उसी तरह पहले इन्हें कमरे में अन्दर रख कर फिर दरवाजे तैयार किये गये हैं? दासी द्वारा यह कहने पर कि माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, बीमारी के कारण उनकी ऐसी अवस्था हो गई है।" मैत्रेय फिर अपनी कोमलकान्त पदावलि के माध्यम से मधुर चुटकी सी लेता है – "इसके मर जाने पर इसके शरीर से कम से कम एक हजार गीदड़ों का पेट भर जायेगा।"

व्यंग्य करने में मैत्रेय की भोली आकृति भी अत्यधिक सहायक सिद्ध होती है। वसन्तसेना के यहां सम्पत्ति देख कर पहले वह यह सोचता है कि समुद्र पर उनका बड़ा व्यापार चलता होगा। लेकिन तुरन्त भोलेपन का स्वांग करके अपनी गलती को ठीक करते हुये कहता है – "पागल की तरह मैं क्या सोच रहा हूं। मदन रूपी समुद्र से प्रेम रूपी निर्मल जल पर तैरने वाले स्तन, जघन और नितम्ब ये ही तुम्हारे मनोहर जहाज हैं। कितना सुन्दर रूपक रचा है मैत्रेय ने जो कि किसी सामान्य बुद्धि के पात्र का कार्य नहीं हो सकता।

मैत्रेय के उक्त कथन से यह भी प्रमाणित होता है कि उसे सम्पत्ति से घृणा है। इस घृणा का कारण उसका स्वयं का आखों देखा अनुभव भी है जो उसने अपने मित्र चारुदत्त के यहां देखा है। चारुदत्त के निर्धन हो जाने पर उसके उद्‌गारों को सुन सुनकर उसके हृदय में सम्पत्ति के प्रति घृणा का भाव पूर्ण रूपेण जड़ जमा गया है। मैत्रेय की दृष्टि में सम्पत्ति तुच्छ है, नाशवान् है। उसे यह भी अनुभव है कि सम्पत्ति वैभव युक्त मानव का हृदय कोमल व दया से युक्त नहीं हो सकता। उसे इस प्रकार का अनुभव गणिका वसन्तसेना के यहां होता है, जहां पर उसे पानी पीने के लिए भी नहीं पूछा जाता। चाहे वसन्तसेना के यहां कितना ही वैभव क्यों न था परन्तु मैत्रेय की दृष्टि में वह सब तुच्छ है। क्योंकि इतना विशाल वैभव होते हुये भी वह उसका स्वागत नहीं करती, मेहमानदारी के रूप में उसके सामने पानी का प्याला भी नहीं रखती, यहां तक कि उदारता व अतिथिभाव दिखाने हेतु दो शब्द भी नहीं कहती। निर्धन कम से कम शब्दों के तो उदार होते ही हैं परन्तु धनिकों के पास वह भी नहीं होता।

यह तो हुये सम्पत्ति के विषय में मैत्रेय के विचार। इसके साथ ही गणिका व वेश्या जीवन को भी वह निन्दनीय मानता है। गणिका पर उसका सीधा आक्षेप इस प्रकार है "गणिका जूते के अन्दर घुसा हुआ कंकड है, जो निकालते समय भी चुभता ही है।" चारुदत्त के साथ रहते हुये तथा यह जानते हुये भी कि वह वसन्तसेना से प्यार करता है, मैत्रेय का विचार परिवर्तित नहीं होता, वह जब भी समय पाता है अपने मित्र चारुदत्त को गणिका का संसर्ग छोडने की सलाह देता है।

वसन्तसेना चारुदत्त के यहां अभिसार करने आती है। चारुदत्त मित्र मैत्रेय को उसे रथ से उतारने हेतु कहता है – परन्तु मैत्रेय गणिका को उतारने में अपना अपमान समझते हुए कहता है –"क्या इसके पैर किसी ने बांध रखे हैं जो अपने आप उतरते नहीं बनता ?" आगे इसी क्रम में वह वसन्तसेना को फिर पूछ बैठता है –"आज रात को यहीं सोने का आपका लक्ष्य दिखाई देता है।" इससे अधिक स्पष्ट भाषण और क्या हो सकता है। वह एक बार पुनः इसी प्रसंग के अन्तर्गत अपने गणिका सम्बन्धी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है – "बिना मूल की बढ़ने वाली कमल–लता, न ठगने वाला व्यापारी, सोना न चुराने वाला सुनार, बिना झगड़े की बस्ती और लोभ रहित गणिका का इस संसार में मिलना असंभव है।"

मैत्रेय का यह कथन वास्तव में एक शाश्वत सत्य है जो कि जीवन के कटु अनुभवों को प्राप्त किया हुआ व्यक्ति ही कह सकता है, सामन्य जन नहीं। इस प्रकार सम्पत्ति व गणिका दोनों के विषय में मैत्रेय की सूक्ष्म बुद्धि का परिचय हमें प्राप्त हो है।

उक्त चारित्रिक विशेषताओं के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चारुदत्त के प्रति उसका अपार प्रेम है। सुख व दुःख दोनों अवसरों

पर साथ रहना तथा मैत्री निभाना उसके जीवन की एक अनुपम विशेषता है। चारुदत्त के दरिद्र हो जाने पर भी वह उसके साथ उसी निष्ठा व प्रेम से रहता है जैसा कि वह उसके वैभव युक्त दिनों में रहता था। परिस्थितियों से ऊबकर वह चारुदत्त की आज्ञाओं का उल्लंघन करने के लिए अनुप्राणित अवश्य होता है परन्तु जब यह देखता है कि यह चारुदत्त की आन्तरिक इच्छा है, तब वह अपनी भावनाओं को दबाकर अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता है। उदाहरणार्थ, वसन्तसेना का मैत्रेय का विश्वास नहीं, वह उसका मुख देखने के लिए भी संतुष्ट नहीं, फिर भी चारुदत्त की आज्ञा होने पर वह वसन्तसेना के अलंकार वापस करने उसके घर जाने के लिए बिना किसी विरोध के तैयार हो जाता है।

आज्ञा पालन के साथ–साथ समय–समय पर वह निर्धनता से चारुदत्त के शोकमग्न होने पर उसे धैर्य एव सांत्वना भी प्रदान करता है। वह उसे यह भी सांत्वना प्रदान करता है कि वे फिर से उसी प्रकार सम्पन्नावस्था में होंगे। वह हर संभव ऐसा प्रयास करता है जिससे कि चारुदत्त की भावनाओं पर कोई आघात न पहुंचे। उदाहरणार्थ रदनिका का जब शकार द्वारा अपमान होता है तब मैत्रेय उससे अनुरोध करता है कि वह इस घटना की सूचना आर्य चारुदत्त को न दे, क्योंकि चारुदत्त उससे और दुःखी होगा।" इस प्रकार चारुदत्त की दरिद्रता तथा वेश्याप्रेम के बावजूद, मैत्रेय की उसके प्रति निष्ठा तथा आदर भावना में रचमात्र की कमी नहीं होने पाई है।

वसन्तसेना की हत्या को मिथ्यारोप आर्य चारुदत्त के ऊपर लगाया जाना सुनते ही वह आधे रास्ते से झट से घर की ओर दौड़ता जाता है। न्यायालय में पहुंचा हुआ साक्षी प्रमाण सम्बन्धी तमाशा देखकर जैसे ही उसे सात्त्विक क्रोध आता है, वैसे ही उसका भोला अन्तःकरण उमड़कर आता है। वह न्यायालय सम्बन्धी समस्त मर्यादाओं का कोई ध्यान न रखते हुये आवेश पूर्ण स्वरों में न्यायाधीश से इस प्रकार पूछता है –"हे सभ्यगण ! जिसने निर्धनों के लिए भवन निर्माण बौद्ध भवन, उपवन, देव–मन्दिर, कूप, तालाब एवं यज्ञस्तम्भों से उज्जयिनी नगरी को विभूषित किया वह निर्धन ब्राह्मण कलेवा जैसे तुच्छ धन के निमित्त इस प्रकार अकार्य करेगा ?" वह इतना कह कर ही चुप नहीं हो जाता अपितु शकार को फटकारते हुये पुनः कहता है – "अरे कुलटा के पुत्र, राजा के साले, संस्थानक, उच्छृंखल, जनता का अपराध करने वाले भाण्ड, बहुत से सुवर्ण से आभूषित बन्दर, मेरे सामने कहो–कहो।" उसे अपने मित्र पर पूर्ण भरोसा है कि वह इस प्रकार का कुकृत्य नहीं कर सकता। इसीलिये चारुदत्त की उदारता को प्रदर्शित करते हुये शकार को वह पुनः कहता है – "जो मेरा प्रिय मित्र पुष्पित माधवीलता को झुकाकर कुसुम–चयन नहीं करता, वह दोनों लोकों के प्रतिकूल यह कर्म कैसे कर सकता है ?"

मैत्रेय के इस उत्स्फूर्त भाषण में न्याय–प्रियता, तर्क–शुद्धता, विनय, भावना–प्रकर्ष और करुणायुक्त क्रोध आदि अनेक बातों का अभूतपूर्व मिलन हुआ है। अंतःकरण की शुद्ध उर्मि से निकला हुआ, इतना तेजस्वी और करुणा से लथपथ वक्तव्य शायद ही कहीं देखने को मिलेगा। वह मूर्ख विदूषक न्याय और मानवता की और से इतनी शूरता और सूझता की वकालत करेगा ऐसा किसको लगा था।"

परन्तु डा० रमाशंकर तिवारी द्वारा मैत्रेय के उक्त आचरण को विवेक हीन बताना उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः एक मित्र के प्रति विदूषक के ये मानसिक व अन्तरात्मा के उद्‌गार हैं जिनका कि ऐसे समय में प्रकट होना स्वभाविक था। ऐसे समय में मानसिक संतुलन खो देना भी कोई विस्मयात्मक बात नहीं कही जायेगी। अपने परम मित्र पर ऐसा अन्याय देखकर उसका हृदय क्रोध से भर आया है तथा वह क्रोध से पागल बना हुआ सामान्य मानव के समान प्रतिद्वन्द्वी शकार पर टूट पड़ता है न्यायालय की सभ्यता और गाम्भीर्य का उसे उस समय कुछ भी ध्यान नहीं रहता। वह क्रोधावेश में शकार को लाखों गालियाँ देता है तथा अपनी कुटिल लाठी को उठा कर न्याय–सभा में वह शकार पर हमला करता है, परन्तु दुर्भाग्य चारुदत्त का कि अनजाने में ऐसी दुर्घटना होती है कि उसका परिणाम उसे भोगना पड़ता है। मैत्रेय को इसके लिये दोषी ठहराना तथा उसके इस कृत्य को मूर्खतापूर्ण कृत्य की संज्ञा देना उचित नहीं कहा जा सकता।

राजश्याल-संस्थानक

राजश्याल संस्थानक एक विचित्र पात्र है। समूचे संस्कृत साहित्य में ऐसे चरित्र का मिलना प्रायः असंभव है। वह प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिनायक है। उसकी मनोवृत्तियां हिंसालु तथा प्रेरणायें पाशविक हैं। उसके हृदय तथा वाणी में एक प्रकार की कुटिलता है। उसका चरित्र अत्यन्त घृणास्पद है। वह प्रथम श्रेणी का मूर्ख है। उसकी मूर्खता उसकी पाशविक धूर्तता के द्वारा स्पष्ट वह अपनी शक्ति एवं डांट–डपट के द्वारा प्रणय करना चाहता है। शकार द्विविधाओं व विरोधों का एक समूह है जो जैसे जितने भ्रमकारी हैं उतनी ही भयंकर भी। वह दुष्ट दम्भी, दुर्विनीत एवं दुराचारी है।

उसकी वाणी की भी एक प्रमुख विशेषता है, जिसके कारण संस्थानक के स्थान पर उसका उपनाम 'शकार पड़ा है वह प्रायः 'स' के स्थान पर 'श' का उच्चारण करता है। उदाहरणार्थ वह वसन्तसेना को वशन्तशेना कहता है। इसके साथ ही एक ही प्रसंग

में वह अनेक समानार्थक शब्दों के प्रयोग का भी शौकीन है। वसन्तसेना की भ्रांति में रदनिका के केश पकड़ कर वह केवल 'केश' शब्द का प्रयोग करके ही संतुष्ट नहीं होता अपितु 'बाल व शिरोरूह' शब्दों का प्रयोग भी करता है। वैसे ही भागती वसन्तसेना को रोकते हुये वह 'मदन' अनंग' मन्मथ' प्रस्खलन्ती' स्खलन्ती' जैसे पर्यायों का एक ही स्वर में कथन करता है। इसी प्रकार वसन्तसेना के दौडने के लिए 'यासि' धावसि 'पलायसे' का प्रयोग भी दृष्टव्य है। अपनी प्रशंसा हेतु वह अपने को 'देवपुरुष, मनुष्य तथा वासुदेव' एक ही सांस में कह जाता है। वसन्तसेना के लिए उसने दस नाम रखे हैं। ऐसा जान पड़ता है जैसे वह इन नामों में इन्द्रजाली प्रभाव का अधिष्ठान मानता है। साथ ही वह शब्द सम्बन्धी अपनी विद्वत्ता भी प्रदर्शित करना चाहता है।

संस्थानक अपने मूर्खतापूर्ण भाषणों में रामायण, महाभारत इत्यादि महाकाव्यों एवं कथा–पुराणों के पात्रों की विनियोजना करता है। परन्तु जिस प्रकार से वह पात्र–नियोजन करता है – वह बड़ी ही विचित्र है। वह ऐसे पात्रों की नियोजना करता है जिनका कि पारस्परिक कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उसकी यह योजना सदैव अनर्गल एवं विकृतिपूर्ण होती है। उदाहरणार्थ वह वसन्तसेना से कहता है – "तू इस समय मेरे वश में वैसे ही आ गई, जैसे रावण के वश में कुन्ती आ गई थी।" oooooo तू राम से ड़री द्रौपदी के समान क्यों भाग रही है ? ..... क्या भीमसेन तुम्हारी रक्षा कर सकता है अथवा परशुराम या अर्जुन या रावण ?" इसी प्रकार के अन्य भी उदाहरण हमें प्रकरण में देखने कोमिलते हैं।

प्राचीन कथाओं तथा काव्यों से लिये गये ये उल्लेख स्पष्ट ही विकृत एवं प्रमादपूर्ण हैं। उपर्युक्त सभी कथनों में असंभव सम्बन्धों की सृष्टि की गई है। वस्तुतः ये सभी प्रयोग शकार उस स्थिति में करता है जब कि वह एक प्रमदा को अपने वश में करना चाहता हे, उस प्रमदा को जिसके कि हृदय में उसके लिये कोई स्थान नहीं है, अपितु वह उसके लिये एक तुच्छ प्राणी है। वह हमेशा उसका अपमान करती रही है। परन्तु शकार उसके पीछे पागल बना हुआ है। शकार का अनुमान उसके विषय में गलत बना हुआ है, वह उसे वेश्या समझता है तथा उसके अपने ऐश्वर्य के लोभ द्वारा अपने वश में करना चाहता है। वह उसे किसी भी प्रकार परेशान करना चाहता है तथा किसी भी प्रकार से उसे अपनी बनाना चाहता है। उसकी मानसिक स्थिति विकृत हो चुकी है, तथा कामाग्नि का वह पूर्ण रूपेण शिकार बन चुका है, किसी भी कीमत पर वह अपनी कामाग्नि शान्त करना चाहता है – उसकी इस अवस्था का चित्रण इस कथन में हुआ है – "क्यों जाती है ? क्यों दौड़ती है ? क्यों गिरती हुई भागती है? हे बाले ! प्रसन्न हो। मरने की शंका छोड दो तनिक ठहर ! अग्नि राशि में पड़े मांस के समान मेरा क्षुद्र हृदय काम से जल रहा है।" इस प्रकार वह कामाग्नि से जल रहा है उसके अन्तर्मन में एक आग प्रज्वलित हो रही है।

कामाग्नि के साथ–साथ उसकी जठराग्नि भी उग्र रूप से प्रकट हुई है। वह खाऊ और भोजन–भट्ट है। उसकी इच्छा हमेशा तरह तरह के भोजन करने की रहती है। न केवल वह नाना प्रकार के व्यंजनों का भोग ही करता है अपितु उनके आस्वाद को सुरक्षित किस प्रकार रखा जा सकता है, इसकी भी उसे विस्तृत जानकारी है। मैत्रेय से चारुदत्त को वसन्तसेना के विषय में चेतावनी देते हुये वह भोजन शास्त्र से यह दृष्टान्त देता है – "गोबर से लिपी ड़ाली वाला कुष्मांड, सूखा साग, तला हुआ मांस तथा हेमन्त ऋतु की रात में पकाया हुआ भात ये सब बहुत समय बीतने पर भी खराब नहीं होते।" स्वर को मधुर किस प्रकार बनाया जा सकता है, इसके लिये वह नुस्खा बताता है – वह विट से कहता है – मैं गायक क्यों न होऊँ ? हींग के संयोग से उज्ज्वल जीरा, मोथा, बच की गांठ तथा गुड से मिली सोंठ इन सभी के मेल से बने हुये गंध योग का मैंने सेवन किया है। मेरे स्वर में मधुरिमा क्यों नहीं आये ? .....मैंने हींग से सुवासित तथा मरीच के चूर्ण से युक्त, तेल और घी में बघारा हुआ कोयल का मांस खाया है। अतः मेरा स्वर मधुर क्यों न होवे ?" शकार के उपर्युक्त कथनों से उसकी स्वाद लोलुपता स्पष्टरूपेण प्रकट होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शकार न केवल काम पिपासु ही है अपितु इसके साथ साथ स्वाद लोलुप भी है। ऐसा लगता है मानो जिह्वा तृष्णा और काम तृष्णा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी काम रूपी भूख को शान्त करने के लिये वह वसन्तसेना का पीछा एक पागल की तरह करता है। तथा इसमें भी संदेह नहीं कि उसने एक सभ्य नागरिक के रुप में वसन्तसेना के प्रणय को प्राप्त करने की इच्छा हेतु एक गाडी तथा बहुमूल्य भेंट भी भेजी है। परन्तु वह प्रणय जिस ढंग से करना चाहता है वह ढंग अमानवीय है। वह उद्देश्य की शीघ्र प्राप्ति में विश्वास रखता है, धैर्य नाम की कोई वस्तु उसमें नहीं है। वह कामान्ध है, तथा उसकी कामुकता इतनी गहरी एवं अमर्यादित है कि वह राजपुरुष होते हुये भी वेश्या युवती के शीलभंग का स्पष्टरुपेण प्रयत्न करता है। वस्तुतः वह प्रेम के मर्म को नहीं जानता है तथा वासना की परितुष्टि ही उसका परम लक्ष्य है। उसने कभी भी शान्त हृदय से वसन्तसेना के विषय में नहीं सोचा, तथा हमेशा ही उसे गलत समझा। उसके पास वास्तव में हृदय है ही नहीं। वह केवल काम से संतप्त है तथा येन–केन–प्रकारेण अपनी कामाग्नि शान्त करना चाहता है। प्रेम की स्निग्धता एवं सुकुमारता का वह कायल नहीं है। शायद वह अपनी क्षुधा शान्त करने हेतु शिष्ट उपचारों की उपादेयता में विश्वास न रख कर तात्कालिक क्रिया में विश्वास रखता है। स्वभाव से दम्भी एवं दुर्विनीत होने के कारण वह इस आदर्श के पालन को महत्व देता है – "ललचाओ, फुसलाओ गणिका मान जाय तो अच्छा ही है, अन्यथा, निरन्तर ताक में रहो, खदेड़ो, पकड़ो, धमकाओ और मिल जाय तो वासना की आग को भर पूर बुझा लो।" वह अशिष्ट उपचारों तथा डराने धमकाने में अधिक विश्वास रखता है। यही कारण है कि वह अपने साथियों सहित

सड़क पर उसका पीछा करता है। वास्तविकता यह है कि वह शक्ति तथा धन के मद में अन्धा है, तथा तलवार के बल पर प्रण करना चाहता है। उसे यह मालूम नहीं कि किसी का हृदय किस प्रकार जीता जा सकता है, वह प्रणय के मैदान में अभी नौसिखिया सा दृष्टिगत होता है।

शकार की एक अन्य विशेषता उसका आत्माभिमानी होना है। वह दम्भी है, किन्तु कायर है। वह अपने आप को देव पुरुष अ वासुदेव समझता है। इसके साथ ही उसे इस बात का भी पूर्ण गर्व है कि वह राजा का साला है, जहां भी अवसर मिलता वह इसे कहने में नहीं चूकता है। वह अपने 'राजश्याल' होने का परिचय अपनी एक विशिष्ट डींग भरी शैली में देता है न्याय–मण्डप में जाकर वह न्यायाधीश से अपना अनावश्यक परिचय देते समय, बहन के साथ पिता को भी जोड लेता है विशाल कुक्कुर कुल में उत्पन्न हुआ हूं। मेरे पिता राजा के श्वसुर हैं, स्वयं राजा मेरे पिता के जामाता हैं मैं राजा का साल हूँ और राजा मेरी बहन के पति हैं।" इस प्रकार के अनावश्यक परिचय वह कई स्थानों पर देता है। यह भी सत्य है कि से लेकर न्यायसंस्था के कर्मचारी एवं अधिकारी तक उसका भय मानते हैं। न्यायालय में जब शोधनक सर्व प्रथम शकार को देखता है तब कम्पित हो उठता है। साथ ही न्यायाधीशों को भी जब यह सूचना मिलती है तब वे व्याकुल हो जाते हैं। न्यायाधीश द्वारा जब सुनवाई के लिए निषेध कर दिया जाता है, उस समय वह अपने को राजा का साला होने की धमकी देता है तथा कहता है कि "वह अपनी बहन के पति राजा पालक से कह कर तथा बहन एवं माता से कह कर न्यायाधीश को पद मुक्त करा देगा यह जानकारी जब न्यायाधीश को होती है तब वह भी ड़र जाता है तथा शोधनक से इस प्रकार कह कर उसे वापस बुलवा लेता है – "वह मूर्ख सब कुछ कर सकता है। कह दो, उसके अभियोग पर आज ही विचार होगा।"

इस प्रकार शकार का आतंक सर्व व्यापक है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसकी रक्तशिराओं में शिष्टता, संस्कृति तथा सज्जनता के कीटाणु बिल्कुल ही प्रवाहित नहीं होते। वह राजा का साला है, अतः उसका प्रत्येक अपराध क्षम्य है, ऐसा वह समझता है। इसी कारण, न्यायाधीश के उससे बैठने का अनुरोध करने पर वह उसके मस्तिष्क पर बैठने की बात कहता है। उसके हृदय में चारुदत्त के लिये शिष्टता का कोई स्थान नहीं है। चारुदत्त को आसन दिये जाने पर वह बौखला उठा है। तथा उस पर स्त्री- हत्या का झूठा आरोप लगाता है। यहां तक कि न्यायाधीश के ऊपर धर्म एवं न्याय के नाम पर पक्षपात का आरोप लगाता है।

परन्तु ऐसा सब कुछ होने पर भी वह भीतर से कायर ही है। जीर्णोद्यान में जब स्थावरक गाड़ी लेकर पहुंचता है, तब वह उसमें वसन्तसेना को देख कर भयभीत हो जाता है और उसे राक्षसी समझ कर समस्त धैर्य एवं साहस खो देता है – 'मर गये ? मर गये ? गाड़ी पर राक्षसी या चोर बैठा हुआ है।" वस्तुस्थिति यह है कि उसकी बहादुरी असहाय अबलाओं तथा निधन सज्जनों तक ही सीमित है। साथ ही दूसरे के बल बूते पर ही वह सब कुछ करता है। वैसे धमकी देना शक्ति का प्रदर्शन करना उसके स्वभाव का संघटक तत्त्व है। वस्तुतः वह है कायर ही। वसन्तसेना की हत्या करके वह बड़ा प्रसन्न होता है, साथ ही यह भी समझता है कि उसने बड़ी वीरता का कार्य सम्पादित किया है, उसे इस बात का भी बड़ा पश्चाताप है कि काश ! उसकी माता भी उसका यह शूरत्व देखती ? विट को वह यह सूचित करते हुये बड़ा प्रसन्न होता है कि – "मैंने वसन्तसेना को मार डाला साथ ही वसन्तसेना को जो कि मूर्च्छित हालत में पडी हुई थी, दिखाता है। परन्तु यह सब कुछ करने पर भी है वह कायर ही। वसन्तसेना को मरी समझ कर वह तत्काल वहां से परकोटे की दीवार को फांद कर भाग जाता है जिसे कि उसे कोई देख न सकें।" इस प्रकार वह आन्तरिक रूप से भीरू ही है।

भीरू होने के साथ ही वह निर्लज्ज भी है। नाटक के अन्त में जब उसकी सारी कलई खुलती है तथा वसन्तसेना को वह जीवित देखता है तो उसकी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। वह आर्य चारुदत्त की शरण ग्रहण करता है, उसके चरणों में पड़ कर इस प्रकार दीन भाव से विनती करना प्रारम्भ करता है – **"भो अशरणशरण ? परित्रायस्व।"** यहां तक कि वसन्तसेना से भी क्षमा याचना की है – वह बड़े ही कातर स्वरों में वसन्तसेना से प्रार्थना करता है – **"गर्भ दासी पुत्रि ! प्रसीद प्रसीद ! न पुनर्मारयिष्यामि। तत् परित्रायस्व।"** इस प्रकार उसकी वास्तविकता अन्त में सभी के सामने आ जाती है। वह वस्तुतः कायर ही है, शूरत्व एवं निर्भीकत्व का नकली बाना अवश्य पहन रखा है, जिसका रहस्योद्घाटन अन्त में हो जाता है। यह भी द्रष्टव्य है कि उसमें समयानुकूल बात करने का ढंग भी नहीं है। उसकी भावनायें इतनी कुण्ठित हो चुकी हैं, तथा उसके संस्कार इतने विकृत रहे हैं कि वह अन्त में भी जबकि क्षमा याचना का समय है वह वसन्तसेना को 'गर्भदासी–पुत्रि' कह कर ही क्षमा याचना करता है।

क्रूरता एवं कामुकता के साथ साथ एक जो बात हमें उसमें मिलती है वह है उसका कपटी होना। वह प्रथम श्रेणी का धूर्त है। वह किसी भी प्रकार से तथा हर कीमत पर वसन्तसेना को अपने वश में करना चाहता है। यहां तक कि कामाग्नि शान्त करने हेतु वह वसन्तसेना के चरणों में गिर जाता है तथा विनीत स्वरों में इस प्रकार प्रार्थना करता है – 'हे विस्तृत लोचने ! हे निर्मल दांतों वाली ! हे मनोहर अंगों वाली ! मैं तुम्हें हाथ जोड़ता हूं। मैंने कामातुर होकर जो तुम्हारा अपमान किया था, उसके लिये अब क्षमा चाहता हूँ। मैं अब तुम्हारा सेवक हो गया हूं।" परन्तु वसन्तसेना पर इन वाक्यों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता है, बल्कि प्रत्युत्तर में वह उसे चरणों से मारती है और दुत्कारती है। ऐसी स्थिति जब होती है तब दुष्ट शकार अपनी अंतिम मंजिल पर

पहुंच जाता है – वह है वसन्तसेना की हत्या। वह इतना धूर्त है कि हत्या का कार्य स्वयं न करके अन्य से करवाना चाहता है तथा प्रलोभन तक देता है। वह विट से अनुरोध करता है कि इस एकान्त स्थान में वह वसन्तसेना को मार दे क्योंकि वहां ऐसा करते हुये उसे कोई नहीं देख रहा है। इसके बाद वह चेट को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देता है, परन्तु दोनों के साथ जब वह विफल हो जाता है तब स्वयं इस नृशंस कार्य को करने हेतु कटिबद्ध होता है। वह सर्वप्रथम उसे एकान्त स्थान जानकर विभिन्न प्रकार के भय इत्यादि दिखाता हे, तथा कई तरह की धमकियाँ देता है। परन्तु वसन्तसेना द्वारा बार–बार चारुदत्त को ही अपना प्रणयी स्वीकार करने व उसे खरे–खोटे शब्द कहने पर वह बौखला उठता है तथा चारुदत्त को विभिन्न प्रकार के अपशब्द कहते हुये अन्त में उसका गला दबा देता है। उसे जब तक सन्तोष नहीं मिलता तब तक कि वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर नहीं गिर जाती। फिर भी उसकी मनोकामना अधूरी ही रह जाती है। उस दुष्ट की धूर्तता व क्रूर कापटिकता पराकाष्ठा पर तब पहुंचती है जबकि वह निर्दोष चारुदत्त पर उस हत्या का असत्य आरोप लगा कर न्यायालय में झूठा अभियोग प्रस्तुत करता है। चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिला कर वह अत्यन्त प्रसन्न होता है तथा उस दिन विशिष्ट भोजन ग्रहण करता है। वह इतना निर्दयी हृदयहीन एवं हत्यारा है कि चारुदत्त के साथ उसके पुत्र रोहसेन को देखकर दोनों को मारने हेतु जल्लादों से कहता है। दया दाक्षिण्यादि गुणों का उसके हृदय में कोई स्थान नहीं है। वह मानव के रूप में दानव है।

शर्विलक

शर्विलक भी प्रस्तुत प्रकरण में एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। प्रासंगिक कथावस्तु का नेता होने से हम उसे नाटक का उप–नायक कह सकते हैं। वह जाति से ब्राह्मण है तथा दान न लेने वाले व चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण का पुत्र है। उसके चरित्र में एक क्रान्तिकारी और प्रेमी के व्यक्तित्व का समन्वय हुआ है। वह अंग्रेजी की इस उक्ति को चरितार्थ करता है कि प्रेम और युद्ध में सब कुछ उचित है।

जहां क्रान्तिकारी के रूप में वह अत्याचारी राजा पालक की हत्या करता है वहां अपनी प्रेयसी मदनिका को दासता से मुक्त कराने के लिए चोरी करना भी बुरा नहीं समझता। वह क्रान्तिकारी दल का नेता है राज्य–विप्लव शक्ति का नेता है, परन्तु राज्यविद्रोह वाला सम्पूर्ण कथानक परदे के पीछे चलता है, अतः शर्विलक के कर्त्तव्य का परिचय दर्शक को प्रत्यक्ष में कम ही हो पाता है। उसके कर्त्तव्य का पूर्ण रूपेण परिणाम दर्शक को नाटक के अन्तिम अंक में ही हो पाता है जबकि वह पालक को मारकर गोपालदारक आर्यक को राज्यगद्दी पर स्थापित करता है। विप्लव का नेता होने से विजश्री उसे ही प्राप्त होती है।

राज्य विप्लव का नेता होने के अतिरिक्त शर्विलक प्रेमी हृदय भी है। वह यद्यपि ब्राह्मण युवक है, परन्तु उसका प्रेम मदनिका से है जो कि वेश्या वसन्तसेना की दासी है। वह उसे दासीत्व से मुक्त करवाना चाहता है और इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु ही वह सन्धिविच्छेद का साहस भी करता है।

सेंध लगाने की विद्या में वह प्रवीण है। सेंध लगाने वाले सम्पूर्ण प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि उसे चोरी की नियमित शिक्षा प्राप्त है तथा वह इस कार्य में अभ्यस्त भी है। उसने सेंध लगाते समय भगवान कनक शक्ति के बताये नियमों का पूर्णतः पालन किया है। वह अनेक प्रकार की सेंध लगाना जानता है जिनमें कि नाटक में उसने पूर्ण कुंभ की सेंध लगाना पसन्द किया है। सेंध लगाते समय जब उसे स्थान को मापने की आवश्यकता पड़ती है तो वह पथभ्रष्ट होकर यज्ञोपवीत का प्रयोग सेंध मापने में करता हैं। वह साहसी इतना है कि सर्प द्वारा अंगुली के काट लिये जाने पर अंगुली को तत्काल यज्ञेपवीत से बांध कर अपने कार्य में लीन हो जाता है। घर में चारों ओर वाद्य यंत्रों को देखकर वह उसे नाट्याचार्य का घर समझता है, तथा मन में यह सोचकर दुःखी होता है कि उसने निर्धन के घर में सेंध लगाई हैं। इसी बीच विदूषक नींद में बडबडाता है, शर्विलक प्रथम उसे मारने के लिए सोचता है परन्तु दूसरे ही क्षण विचार को बदल कर कहता है – "हमारे समान ही दीन इस सज्जन पुरुष को क्लेश देना उचित नहीं है।" इस प्रकार यद्यपि वह प्रणय के वशीभूत होकर चोरी कर रहा है, परन्तु, सज्जनता व उदारता उसके मुख्य चारित्रिक गुण हैं। चोरी करने में भी वह ब्राह्मण का धन एवं यज्ञ की सामग्री को नहीं चुराता है और माता की गोद में बालक का अपहरण नहीं करता है। चारुदत्त को भी दरिद्र समझ कर पहले वह छोड़ कर जाना चाहता है, किन्तु फिर विदूषक द्वारा गौ और ब्राह्मण की शपथ दिलाये जाने पर आभूषणों को ग्रहण करता है।

इस प्रकार मदनिका को दासीत्व से मुक्ति कराने हेतु वह विदूषक के हाथ से आभूषणों को लेकर घर से बाहर निकल जाता है। चौथे–अंक में हम शर्विलक को वसन्तसेना के घर पर मदनिका से मिलने हेतु जाते देखते हैं। उक्त अंक के प्रारम्भ में शर्विलक एक काम–पीडित युवक के रूप में प्रकट हुआ है। वसन्तसेना के घर पर मदनिका को जब वह देखता है तो कामदेव की अग्नि से जलते हुये उसके हृदय पर चन्दन का शीतल लेप चढ जाता है।" यहीं पर वह मदनिका से प्रणय के सम्बध में बात करता है तथा कहता है कि वह दरिद्र है और प्रेम के वशीभूत होने के कारण रात को उसने चोरी भी की है। शर्विलक के यह कहने पर मदनिका उसे कहती है कि 'कलेवे के जैसी तुच्छ स्त्री के कारण तुमने शरीर और चरित्र दोनों को ही सन्देह में डाल दिया है। इस पर वह गर्व से कहता है कि "साहस में ही लक्ष्मी निवास करती है।" वह कहता है कि यद्यपि कामदेव ने उसके गुणों

को विनष्ट कर दिया है फिर भी वह आत्मसम्मान की रक्षा करने में सतर्क है। वह मदनिका को डॉटते हुये कहता है कि तुम मुझको मिथ्या ही मित्र कहती हो और दूसरे प्रेमी के पीछे जाती हो। इसी प्रसंग में वह स्त्रियों तथा वेश्याओं की तीव्र निन्दा भी करता है।" यह स्पष्ट है कि यद्यपि शर्विलक मदनिका से प्रणय करना चाहता है तथा उसे मुक्त भी करवाना चाहता है परन्तु इतना सब होने पर भी वह अपने आत्मसम्मान को ठेस पहुंचा कर कुछ भी नहीं करना चाहता। वस्तुत यही एक ऐसा तत्त्व है जो उसे नितान्त विलासी एवं निष्क्रिय नहीं होने देता और वह राज्य–क्रान्ति का सफल नेतृत्व करता है।

राज्य–विप्लव के नायक के रूप में शर्विलक का अदम्य साहस एवं त्याग प्रशंसनीय है। प्रणय व मित्रता दोनों में वह मित्रता को प्रधानता देता है। यही कारण है कि नव–प्राप्त प्रेयसी मदनिका को वह रेभिल के घर भेज कर स्वतः क्रान्ति के सम्पादनार्थ चला जाता है। जब चतुर्थ अंक में वह आर्यक के बन्दी होने की घोषणा को सुनता है, तब वह प्रथम थोड़ा धर्म–संकट में पड़ जाता है, परन्तु दूसरे ही क्षण वह अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर लेता है – "संसार में मनुष्यों के लिए मित्र एवं वनिता दोनों अत्यन्त प्रिय हैं। किन्तु इस समय जब मित्र कारागार में पड़ा हो, उसके हितार्थ सैकड़ों सुंदरियां निछावर की जा सकती हैं।

चतुर्थ–अंक के बाद शर्विलक को हम अन्तिम अंक में देखते हैं। वह अंतिम अंक में आकर आर्यक के सिंहासनस्थ होने की घोषणा करता है। वसन्तसेना तथा चारुदत्त को जीवित देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न होता है। वह चारुदत्त के समीप जाने में सेंध का स्मरण करके कुछ संकोच करता है। चारुदत्त द्वारा पूछे जाने पर कि आप कौन हैं ? वह शरमाते हुए कहता है कि "जिसने आप के घर (की दीवार) को तोड़ कर (सेंध लगा कर) धरोहर की चोरी की थी, वही महापापी मैं आपकी शरण में आया हूं।" इस प्रकार अपना परिचय देकर पालक वध व नये राजा आर्यक के सिंहासनारूढ़ होने की सूचना देता है। साथ ही आर्यक द्वारा उसे कुम्भावती के शासन दिये जाने का समाचार भी वह सुनाता है। वसन्तसेना के प्रति वह कृतज्ञता प्रकट कर उसका घूंघट स्वीकार कर वधू का गौरव प्रदान कर देता है।

इस प्रकार परिस्थितिवश चौर्य–कार्य करने पर भी वह अपने चरित्र के गौरव को नहीं भूल सका है। वह सच्चा मित्र है, सच्चा प्रणयी है, उपकार के प्रति कृतज्ञ है, वह प्रत्युपकार करने के लिए भी लालायित है और सबसे बड़ी बात यह है कि वेश्या–दासियों की प्रीति में फंसने के बावजूद कौटुम्बिक एवं गार्हस्थिक मर्यादा के महत्त्व के प्रति सजग है – मदनिका को वधू–रूप में प्राप्त कर लेने के बाद वसन्तसेना को भी उसी गौरव से विभूषित कर देता है।

संवाहक-श्रमण

संवाहक श्रमण का चरित्र भी नाटककार ने बडे ही आकर्षक ढंग से चित्रित किया है। नायक व नायिका दोनों के सहायक के रूप में संवाहक ने कार्य किया है इस दृष्टि से नाटक में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाटक में सर्व प्रथम संवाहक से हमारा परिचय द्वितीय अंक में होता है, उक्त अंक में वह एक हारे हुये जुआरी के रूप में हमारे सामने आता है। माथुर व द्यूतकार उसकी प्रतीक्षा करते हुये दिखाई देते हैं। वह दर्दुरक की सहायता से भाग कर वसन्तसेना के यहां शरण लेता है। वसन्तसेना द्वारा पूछे जाने पर वह अपना परिचय संक्षिप्त में देता है। उसके परिचय से ज्ञात होता है कि वह पाटलिपुत्र का निवासी एक गृहस्थ का पुत्र है। अपने घर पर यात्रियों के मुख से इस देश की प्रशंसा सुनकर वह उज्जयिनी आया था, यहां वह देह दबाने की कला सीख कर चारुदत्त की सेवा संवाहक रूप में करने लगा था। अब वह एक जुआरी बन गया है, क्योंकि उसका मालिक चारुदत्त दया के कारण किये गये दान से अब क्षीण वैभव हो गया है। जुए में वह हार गया है तथा सभिक माथुर का दस सुवर्ण से ऋणी बन गया है। माथुर की मार से बचने के लिए अब उसने वसन्तसेना के घर में शरण ली है।

संवाहक के उक्त परिचय से वसन्तसेना अत्यधिक प्रभावित होती है। यह जानकर कि वह चारुदत्त की सेवा कर चुका है वसन्तसेना प्रसन्न होती है तथा उसका बड़ा आदर–सम्मान करती है। वह उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है तथा उसे ऋणमुक्त करने हेतु अपना आभूषण उतार कर चेटी द्वारा माथुर के पास भेज देती है। इस घटना के बाद संवाहक के हृदय में द्यूत–जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न होती है तथा वह उससे हमेशा के लिए निवृत्ति लेकर तत्काल बौद्ध सन्यासी बन जाता है।

संवाहक के उक्त परिचय से हमें ज्ञात होता है कि उसका चरित्र बहुमुखी है। उसके जीवन के कई पहलुओं का नाटक में चित्रण हुआ है। वह एक कृतज्ञ नौकर है जो अपने मालिक चारुदत्त की सज्जनता तथा उदारता से सर्वथैव प्रभावित है। वह वसन्तसेना से वार्त्ता के प्रसंग में उसे 'भूमण्डल का चन्द्रमा' तथा आराधनीय बताता है। न केवल चारुदत्त के प्रति अपितु वसन्तसेना से सम्मान एवं सहानुभूति मिलने के बाद उसके प्रति भी वह कृतज्ञता अनुभव करता है। वह प्रत्युपकार के रूप में उसका देह का संमर्दन करना चाहता है किन्तु वसन्तसेना उसके अनुरोध को टाल देती है। संवाहक हृदय में अनुभव करता है कि वसन्तसेना के प्रति उसने कुछ भी प्रत्युपकार नहीं किया। एक बौद्ध भिक्षु के रूप में भी संवाहक का चरित्र उज्ज्वल ही दिखाई देता है। उसके चित्त में अब भी पाखण्ड या धर्माडम्बर की कोई भावना नहीं दिखाई देती। शकार द्वारा बैंत मारे जाने पर भी हम उसे प्रशान्त

मुद्रा में ही देखते हैं। एक बौद्ध भिक्षु के रूप में वह धर्म का उपदेश भी करता है – "अपने पेट को संयमित रखो। परमात्मा के ध्यान रूपी नगाड़े सदा जगे रहो। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ चोर हैं जो चिरसंचित धर्म–सम्पत्ति का अपहरण करती हैं।"

संन्यासी हो जाने पर भी वह वसन्तसेना द्वारा किये गये उपकार को नहीं भूलता है। अब भी उसके हृदय में प्रत्युपकार की भावना सतत बनी हुई है। अन्त में भाग्य से उसे अपनी अभिलाषा को पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होता है। अष्टम–अंक में जब दुष्ट शकार क्रोधवश वसन्तसेना का गला दबा कर उसे मरी हुई समझ कर जीर्णोद्यान में एक पेड़ के नीचे डाल कर भाग जाता है तब संवाहक संयोग से उस पेड के नीचे आता है, जहां पर वसन्तसेना अचेतन अवस्था में पडी हुई थी। वहां पर हम उसकी स्मृति का परिचय प्राप्त करते हैं, वह वसन्तसेना के हाथ को देखकर पहचान जाता है, तथा कहता है कि –"सचमुच, यह वही हाथ है जिसने मुझे अभय दान दिया था।"

वह वसन्तसेना को ऐसी स्थिति में देख कर उससे वांछित वस्तु के विषय में पूछता है तथा सेवा का आदेश मांगता है। यह सेवा का अवसर पाकर वह अति प्रसन्न होता है। वह कौपीन से जल निचोड़ कर उसे नव–जीवन दान करता है और समीपस्थ विहार में अपनी धर्म–भगिनी की देख–रेख में उसे सौंपता है। वसन्तसेना को अपने साथ ले जाते हुये यद्यपि उसके हृदय में कुछ विचार सा उत्पन्न होता है परन्तु अपने इन्द्रिय–संयम पर उसे विश्वास है अतः वह कहता है कि –"जो मनुष्य हाथों से संयमी है, मुख से संयमी है तथा इन्द्रियों का संयमी है, उसका राजकुल क्या कर सकता है ?" वहां पर वह वसन्तसेना की अत्यधिक सेवा शुश्रूषा करता है और उसे पूर्ण स्वस्थ बना देता है। इस प्रकार वसन्तसेना के प्रति अपने प्रत्युपकार की भावना को पूर्ण कर पाता है।

चारुदत्त द्वारा किये गये उपकार का वह अभी तक प्रतिदान नहीं कर सका है। उसे उसकी भी स्मृति है। संयोग से चारुदत्त के प्रति उपकार करने का भी उसे अवसर मिलता है। दशम–अंक में वसन्तसेना को ऐसे समय में जबकि चारुदत्त को फांसी लगने वाली थी, घटना स्थल पर पहुंचा कर चारुदत्त के प्रति प्रत्युपकार प्रदर्शित कर वह प्रसन्न होता हे।

प्रकरण के अन्त में उसे उसकी इच्छानुसार पृथिवी के सम्पूर्ण विहारों का कुलपति बना दिया जाता है। वास्तविकता का जहां तक सम्बन्ध है संवाहक यह नहीं चाहता था कि उसे कोई पुरस्कार दिया जावे। परन्तु शिष्टाचार के रूप में वह उसे स्वीकार करता है तथा आभार प्रदर्शित करता है।

इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में उसके जीवन के विभिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन हुआ है।

चेट और विट

श्रृंगार रस के नायक के सहायकों में विदूषक के साथ–साथ चेट और विट भी गिनाये गये हैं। साहित्य–दर्पण में विश्वनाथ कविराज ने इनका लक्षण करते हुये लिखा है कि "सामान्यतया इन्हें स्वामिभक्त, बातचीत तथा हास्य विनोद में चतुर, कुपित वधू के मान को भंग कराने में कुशल तथा सच्चरित्र होना चाहिये।"

श्रृंगार रस प्रधान प्रकरण होने से 'मृच्छकटिक' में भी उक्त पात्रों का नियोजन किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में तीन चेट व दो विटों से हमारा परिचय होता है।

चेट वर्धमानक

मृच्छकटिक में तीन चेट क्रमशः स्थावरक, वर्धमानक और कुम्भीलक हैं, जो क्रमशः शकार, चारुदत्त व वसन्तसेना के यहां कार्य करते हैं। इन तीन चेटों में वर्धमानक जो कि चारुदत्त का दास है, अपने स्वामी के अनुरूप ही सीधा सादा और ईमानदार है। अन्य दोनों चेटों के समान उसके हृदय में किसी प्रकार का पाप व धूर्तता का भाव विद्यमान नहीं है। नाटक में सर्व प्रथम हमारा परिचय उससे तृतीय–अंक के शुरू में होता है। वहां वह एक स्वामिभक्त दास के रूप में ये शब्द कहते हुये प्रवेश करता है – "सेवकों पर दया करने वाला सज्जन स्वामी धनहीन होता हुआ भी शोभित होता है।"

तृतीय अंक में जहां वह स्वामि–भक्त दास के रूप में हमारे सन्मुख आता है, षष्ठ–अंक में उसके भोलेपन का हमें परिचय मिलता है। वह इतना भोला है कि आर्यक की बेडियों की ध्वनि को वसन्तसेना के चरण नुपुरों की आवाज समझ लेता है। इसके साथ ही रास्ते में वीरक व चन्दनक द्वारा निरीक्षण करने के उपरान्त भी उसके हृदय में यह संदेह नहीं होता कि उसकी गाडी में कौन बैठा है ? भोलेपन का इससे अधिक क्या उदाहरण हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्धमानक में स्वामि–भक्ति, भोलापन तथा निश्छलता आदि गुण विद्यमान हैं।

चेट कुम्भीलक

यह वसन्तसेना का दास है। नाटक में सर्वप्रथम हमारा परिचय कुम्भीलक से पंचम–अंक में होता है जब वह अपनी स्वामिनी वसन्तसेना के आगमन की सूचना चारुदत्त के पास देने हेतु जाता है। विदूषक के साथ हुई उसकी वार्त्ता से यह स्पष्ट होता है कि वह वर्धमानक की अपेक्षा चतुर एवं तनिक धूर्त भी है। चतुर होने के साथ साथ उसका स्वभाव कुछ मजाकिया भी है। वह रंगमंच पर हंसता हुआ प्रवेश करता है तथा इस प्रकार कहता है – "सात छेदों वाली बांसुरी से मधुर ध्वनि निकालता हूं, सात तारों वाली वीणा को बजाता हूँ तथा गधे के तुल्य गाना गाता हूं, हमारे गान के सामने प्रसिद्ध गन्धर्व तुम्बुरु तथा दर्दुर गायक–नारद भी तुच्छ हैं।" कुंभीलक के उक्त कथन से उसके मजाकिया स्वभाव के साथ साथ उसका मौखर्य भाव भी स्पष्ट होता है।

चारुदत्त के पास सीधे जाने से पूर्व वह उन्हें छिपकर देखता है तथा दरवाजे को बन्द देखकर विदूषक को ककड़ी मार कर उसका ध्यान अपने प्रति आकर्षित करना चाहता है। वह सीधे ढंग से भी जाकर कह सकता था– परन्तु शरारत से बार–बार छिप कर ही विदूषक के ऊपर कंकड़ी मारता है और जब विदूषक उसके सामने आता है तब भी वह आगमन के कारण को स्पष्ट रूप से न बताकर पहेली बुझाता है। वह उसे 'वसन्त' और 'सेना' वाली पहेली बुझाकर विदूषक की बुद्धि को चकमा देने का यत्न करता है। चतुरता में मैत्रेय से वह अधिक चतुर प्रदर्शित किया गया है। दोनों के कथोपकथन से दर्शकों का भी काफी मनोरंजन होता है।

इस प्रकार वर्धमानक जहां पर भोला व निश्छल है वहां कुंभीलक चालाक धूर्त व चंचल स्वभाव का है।

चेट स्थावरक

स्थावरक शकार का दास है। नाटक में स्थित तीनों चेटों में स्थावरक का अपना व्यक्तित्व उभर कर सामने आया है। वह शकार की सेवा में उसी के अन्न से पला है। साधारणतः वह स्वामि–भक्त है और शकार के कार्यों में सहायता भी पहुंचाता है। सर्व प्रथम हमारा परिचय स्थावरक से प्रथम अंक में ही होता है जहां पर वह अपने स्वामी व विट के साथ वसन्तसेना का पीछा करता दिखाई देता है। यद्यपि वह शकार का दास है तथा सेवक होने के कारण उसे सभी प्रकार के कार्य भी करने पड़ते हैं परन्तु फिर भी उसके हृदय में कोमलता है, वह उतना निष्ठुर नहीं जितना कि शकार हैं। वह हृदय से कोमल हैं परन्तु अपनी आजीविका को ध्यान में रखते हुये वह यह भी चाहता है कि वसन्तसेना शकार के काम की तृप्ति करे। इसी हेतु वह भागती हुई वसन्तसेना को शकार के यहां मिलने वाले मछली के मांस की प्रचुरता का प्रलोभन भी देता है।

इतना सब कुछ होते हुये भी उसने अपने हृदय व चरित्र को बेच नहीं दिया हे। अष्टम–अंक में जब कि शकार वसन्तसेना को मारने हेतु विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देता है, यहां तक कि उसे सभी चेटों का प्रधान बनाने के लिए कहता है तब भी वह इस दुष्कार्य को करने के लिए तैयार नहीं होता। वह स्पष्ट भाषी है और ईश्वर से डरता है। अतः वह शकार का स्पष्ट तिरस्कार करते हुये कहता है कि "स्वामी ! आप मेरे शरीर पर समर्थ हैं, चरित्र पर नहीं।" स्थावरक को परलोक का भय है, वह पाप व पुण्य के अनुसार ही अपने भविष्य के विषय में सोचता है। अतएव वह किसी प्रकार का पाप व बुरा कार्य नहीं करना चाहता। वह अपने वर्त्तमान को बुरा समझते हुए अपने अच्छे भविष्य का पुण्य कार्यों द्वारा निर्माण करना चाहता है। वह स्पष्ट कहता है कि "स्वामी, पीटें या मारें किन्तु अकार्य न करूंगा।"

शकार उसे कई बार प्रलोभन देना चाहता है परन्तु वह उसे स्वीकृत नहीं करता। उसका चरित्र पवित्र है जो कि धन के टुकड़ों द्वारा नहीं खरीदा जा सकता है। यही कारण है कि शकार उस पर विश्वास न करते हुये उसे अपने महल में बन्दी बना लेता है जिसे वह मृत्यु सम्बन्धी सत्य को अन्य लोगों से न कह सके।

उसके चरित्र की पवित्रता व हृदय की कोमलता की चरम सीमा हम दशम–अंक में देख सकते हैं जहा पर वि. ह्व या डाला की घोषणा सुनकर, निर्दोष चारुदत्त को बचाने के लिए महल की खिड़की से अपनी बेड़ियों के साथ नीचे कूद पड़ता है। वह अन्य के जीवन को बचाने हेतु अपने जीवन की परवाह नहीं करता। उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि मैं कहां से कूद रहा हूं। निःशंक होकर नीचे कूदता है तथा वसन्तसेना की हत्या के रहस्य को सभी को विज्ञापित कर देता है। शकार यहा भी उसे स्वर्ण का प्रलोभन देता है परन्तु स्थावरक उसकी इस रिश्वत को घोषित कर देता हे परन्तु दोनों चाण्डाल उसके कथन का विश्वास इसलिये नहीं करते क्योंकि वह एक दास है, इस पर उसे आंतरिक पीडा होती हे तथा यह कहता है कि "खेद है, दासता एसी बुरी है कि सत्य का भी किसी को विश्वास नहीं करा पाती।"

इस प्रकार दास होते हुये भी वह चरित्र से महान् है। अपनी सामर्थ्यानुसार वह कर्त्तव्य का पालन करता है, स्वामिभक्ति भी प्रदर्शित करता है परन्तु वहीं तक जहां तक कि आत्मा उसे प्रेरित करती है। धर्म तथा भगवान् का उसके हृदय में पूर्ण स्थान है इन

शब्दों के साथ वह चारुदत्त के चरणों में गिर पड़ता है और करुण स्वरों में निवेदन करता है कि "आर्य चारुदत्त इतना ही मेरा सामर्थ्य है।" ये ही शब्द उसने वसन्तसेना को कहे थे, जब वह जाने लगा था।

विट

प्रस्तुत प्रकरण में दो विट हैं उनमें एक वसन्तसेना का सहायक है तथा द्वितीय शकार का।

वसन्तसेना का विट

वसन्तसेना का विट शास्त्रीय जाति का विट है। वह चतुर, मधुर भाषी तथा वेशोपचार में कुशल है। श्रृंगार की ललित कल्पनायें उसके मानस में उठती हैं और वह उन्हें सुन्दर सुसंस्कृत वाणी में अभिव्यक्त करता है। वह समय को देखते हुये तदनुकूल ही वर्णन करते हुये एक ही पथ में मेघ तथा राजा दोनों का सटीक चित्रण कर जाता है। इसी प्रकार वह घोर जल वृष्टि का भी वर्णन कई चित्रों में प्रस्तुत कराता है। विट का यह प्रमुख कार्य होता है कि वह गणिकाओं को रति–विहार के लिये शिक्षा देता है। प्रस्तुत प्रकरण का विट वसन्तसेना को न केवल शिक्षा देता है परन्तु उसे बड़े सुन्दर व कलात्मक ढंग से समझाता भी है।

शकार का विट

वसन्तसेना के विट की तुलना में यह अपना स्वयं का व्यक्तित्व रखता है जो कि नाटक में उभरकर समय समय पर सामने आता है। वसन्तसेना के लिए उसके हृदय में एक कोमल स्थान है। परन्तु चूंकि वह शकार का सेवक है अतः उसे भी वसन्तसेना का पीछा करने में शकार को सहयोग देना पड़ता है। दूसरा कारण यह भी है कि वह वसन्तसेना को सामान्य वेश्या के समान समझता है तथा इस कारण उसे सर्वभोग्या मानता है।

उसकी मनोभावना कोमल एवं सुकुमार है। वसन्तसेना का पीछा करते हुए वह भी अपनी बुद्धि कौशल का परिचय नये नये उपमानों को प्रस्तुत करके देता है। यद्यपि वसन्तसेना के लिये एक स्त्री होने के नाते विट के हृदय में कुछ दयांश है – परन्तु एक गणिका की हैसियत से वह उसे सर्वभोग्या समझता हे। उसके यह पूछने पर कि उन्हें उसका कौन सा आभूषण चाहिये, वह स्पष्ट उत्तर देता है – "ऐसा मत कहो, वसन्तसेना ! उद्यान लता से फूलों की चोरी नहीं की जाती।" इसी क्रम में वसन्तसेना जब शकार को अनार्य कह कर डाँटती है तब विट से नहीं रहा जाता तथा वह उसे उसकी सही स्थिति बताते हुए वेश्यालय की मर्यादा के प्रतिकूल शब्द बोलने के लिए इन्कार करता है। परन्तु जब विट को उसकी सही स्थिति का ज्ञान होता है, उसके बाद वह उसे परेशान नहीं करता। गणिका द्वारा कहे गये ये शब्द कि **"गुणाः खलु अनुरागस्य कारणं न पुनर्बलात्कारः'** उसके हृदय पर काफी प्रभाव डालते हैं। इसके बाद वह उसे सामान्य गणिका से अलग मानते हुये यह चाहता है कि वह अपने प्रिय चारुदत्त के पास पहुंच जाये। इसी हेतु वह वसन्तसेना को परोक्ष रीति से यह सलाह भी देता है कि "वह अपनी फूलों की माला को तोड़कर फेंक दे और अपने नूपूरों इत्यादि को समेट ले जिससे उसकी प्रगति का पता बताने वाले संकेत (सुगन्ध तथा झंकार) विनष्ट हो जायें।"

वह यद्यपि शकार जैसे क्रूर व निर्दय व्यक्ति का सेवक है परन्तु जहां तक चरित्र का सम्बन्ध है, उसका चरित्र पवित्र है, उसमें वे सभी गुण विद्यमान हैं जो एक सज्जन व्यक्ति में होने चाहिये। शकार के यहां कार्य करते रहने पर भी उसने एक भी शकार का दुर्गुण नहीं लिया है। किस समय क्या करना उचित है, इसका उसे ज्ञान है। यही कारण है कि रदनिका के प्रति अनजाने में हुये अपमान के लिये वह मैत्रेय से क्षमा मांगता है जो कि मानवोचित है। वह बुद्धिमान् इतना है कि चारुदत्त के हृदय पर इस घटना का बुरा प्रभाव होगा, यह सोचकर मैत्रेय से पहले ही इस घटना को बताने के लिए इन्कार कर देता है। वह नहीं चाहता कि उसके द्वारा किये गये कार्य से किसी की आत्मा को ठेस लगे। शकार की सेवा करते हुये भी उसके हृदय में चारुदत्त के गुणों के लिए स्थान है। वह चारुदत्त के गुणों से भयभीत है तथा एक तटस्थ व्यक्ति के समान समय समय पर उसके गुणों की वह प्रशंसा भी करता है। वह गुणों का इतना कायल है कि उन्हें सबसे बड़ा शस्त्र समझता है। इसीलिये वह मैत्रेय से कहता है कि "शस्त्रयुक्त भी हम लोग गुण रूपी शस्त्रों के द्वारा पराजित कर दिये गये हैं।" शकार द्वारा चारुदत्त की निर्धनता पर जब कटाक्ष किया जाता है तब वह शकार को 'मूर्ख' कहता हुआ चारुदत्त के दानशीलता, परोपकारिता आदि गुणों का सावेश वर्णन करता है।

विट के चरित्र की असली विज्ञप्ति अष्टम–अंक में हुई है, जहां पर स्पष्ट रूपेण वसन्तसेना का पक्ष लेते हुये उसकी हर संभव सहायता करता है। प्रसंग जीर्णोद्यान का है। विट और शकार कुंभीलक की प्रतीक्षा करते हुये उद्यान की शोभा देख रहे हैं। इसी बीच वह गाड़ी लेकर वहां आता है। शकार द्वारा यह कहने पर कि गाडी पर स्त्री बैठी है, आप देखिये। उस समय विट का कुलीन स्त्रियों के सम्बन्ध में यह कथन कितना अनुकूल है –"मार्ग में वर्षा से ताडित – आँखों वाले बैलों के समान सिर नीचा किये मैं शीघ्र जाता हूं, क्योंकि समाज में प्रतिष्ठा चाहने वाले मेरी (मेरे जैसे व्यक्ति की) दृष्टि कुलीन स्त्रियों को देखने में भीरू है।" इस प्रकार परस्त्री को देखने मात्र में भी वह लज्जा अनुभव करता है। शकार द्वारा

अधिक आग्रह करने पर वह गाडी को देखता है तथा वसन्तसेना को गाडी में बैठी देखकर अपने आप दुःख मिश्रित क्रोध से युक्त हुये कहता है कि "अरे, कैसे ? यह मृगी व्याघ्र का अनुसरण कर रही हैं ? अरे खेद है, शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान बालुका तट पर स्थित हंस को छोड कर हंसी काक के समीप आ गई।" वह न केवल ऐसा सोचता है अपितु वसन्तसेना के समीप जाकर उसे यह भी कहता है कि उसने यह ठीक नहीं किया है। वसन्तसेना द्वारा आने का सही कारण बताने पर वह उसे आश्वस्त करता है कि वह भयभीत न हो। तथा उस क्षण से उसने निरन्तर चेष्ठा की है कि वसन्तसेना के प्राण संकट में न पडें। इसी हेतु उसने सर्वप्रथम शकार को उसे राक्षसी कह कर बहकाने का प्रयास भी किया है। परन्तु जब शकार विश्वास नहीं करता तो वह उसे अन्य प्रकार से प्रसन्न करने का प्रयास करते हुये कहता है कि "कणिकी के पुत्र, यह वसन्तसेना आप से अभिसार करने आई है।"

शकार द्वारा वसन्तसेना को गाडी से केश पेश पकड़ कर खींचने के लिए कहने पर विट उसे समझाते हुये कहता है कि (सुन्दरता आदि) गुणों से युक्त नारियों के केश नहीं पकड़ने चाहियें, क्योंकि उद्यान में उत्पन्न होने वाली लतायें कोमल पत्ते तोड़ने योग्य नही होती।" इस प्रकार विट करुण हृदय है तथा नारी के प्रति उसके हृदय में दया है। शकार के इस अनुरोध कि वह वसन्तसेना को मार डाले, वह स्पष्ट इन्कार करता है। वह धर्म–भीरू है और पाप–पुण्य की भावनाओं से अनुशासित है, अतएव उसने साफ–साफ कह दिया "यदि मैं उज्जयिनी की विभूषण, वेश्याओं के विरुद्ध कुल कामिनी के समान व्यवहार करने वाली इस स्त्री की हत्या करूँगा, तो परलोक रूपी नदी को किस नाव से पार करूँगा।" इस प्रकार वह पाप कार्य करके अपने परलोक को बिगाड़ना नहीं चाहता।

विट व चेट के इन्कार कर देने पर स्वयं उसकी हत्या करना चाहता है परन्तु विट उसे ऐसा भी नहीं करने देता। वह उसे एक चाल द्वारा वहां से अन्यत्र भेज देता है। परन्तु वहां पर भी उसे वसन्तसेना का ही ध्यान रहता है क्योंकि वह शकार के क्रूर स्वभाव से अच्छी प्रकार परिचित है। वह शीघ्र ही वहां से वापिस आता है, रास्ते में अपशकुनों के होने से वसन्तसेना को लेकर बड़ा चिन्तित होता है। पहुंचने पर वसन्तसेना को न देखकर वह दुःखी होता है तथा शकार द्वारा उसे मृत दिखाने पर वह मूर्च्छित हो जाता है और संज्ञा प्राप्त करने पर शोक विह्वल होकर विभिन्न प्रकार के उद्‌गार प्रकट करता है। वह अश्रु बहाते हुये तथा शकार को लताड़ते हुये कहता है –"क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा ? जिससे तूने यह दुष्कर्म किया है। पापी तूने पाप रहित इस नगर की लक्ष्मी को मार दिया है।" यह कह कर वह वहां से इस शंका से जाना चाहता है कि कहीं यह पापी इस दुष्कर्म को उस पर न डाल दें। शकार उसे पकड़ता है परन्तु विट उससे इतनी घृणा करता है कि वह उसका स्पर्श भी पसन्द नहीं करता तथा उसे यह कहते हुये कि आपकी सेवा करते हुये मुझ पाप रहित को लोग अनार्य एव पाप–वृत्ति समझेंगे उसे छोड़ कर वह चला जाता है। जाते समय वसन्तसेना के प्रति वह करुणापूर्वक निवेदन करता है – हे सुन्दरी, तुम दूसरे जन्म में भी वेश्या न होओ। हे चरित्रगुण से युक्त, तुम किसी पवित्र कुल में जन्म लो।"

उक्त कथन विट की अन्तरात्मा की आवाज है और वसन्तसेना के प्रति भविष्य की शुभ–कामनायें।

अनन्तर, शकार को "पापी" पामर' कह कर और अपनी तलवार खींचते हये वह शर्विलक, चन्दनक इत्यादि विद्राहिणी की पार्श्व को पृथुल बनाने चला जाता है।

इस प्रकार शकार का विट अपनी आजीविका के अनुकूल आचरण करते हुये भी शिष्ट, सज्जन, धर्म–भीरू, साहसी एवं निडर है। वह सामाजिक मूल्यों को जानता है तथा मानव के क्या नैतिक कर्त्तव्य होते हैं उनसे वह भली भांति परिचित है। वह अज्ञान स्वामी की आज्ञा का अन्धानुकरण करने वाला विट न होकर एक समझदार व करुण हृदय विट है। नाटक मे उसका व्यक्तित्व निखर आया है और वह श्रृंगारी संसार के सामान्य विटों के समाज से निकल कर हमारी प्रशंसा तथा सहानुभूति का पात्र बन गया है।

पतिव्रता-धूता

धूता चारुदत्त की धर्म–परिणीता पत्नी है। पत्नी के रूप में वह एक आदर्श पत्नी है, पति को परमेश्वर मानने वाली भारतीय नारी से वह ओतप्रोत है। उसके लिए पति ही देवता एवं भगवान् हैं। उसके जीवन का लक्ष्य अपने पति की प्रसन्नता व सन्तुष्टि है। उसके विचार वही हैं जो विचार उसके पति चारुदत्त के हैं, इस दृष्टि से वह एक वास्तविक सहधर्म–चारिणी नारी है। वह एक आदर्श हिन्दू नारी की प्रतिमा है जो अपने पति का उसके सुख व दुःख दोनों ही अवसरों पर अनुसरण करती है। वह अपने पति का न तो दुःख ही देख सकती है और नही उसकी अपकीर्ति। यही कारण है कि धरोहर वाले आभूषणों के चोरी हो जाने पर वह यह सोच कर अत्यन्त दुःखी होती है कि निर्धनता के कारण लोग यही समझेंगे कि चारुदत्त ने आभूषण के लोभ से सेठ लेकर का वह छल किया है, और वह अपने नैहर की बहुमूल्य रत्नावली वसन्तसेना को बदले में लौटाने के लिए बिना मांग प्रदान कर देती है।

इस स्थल पर हमें चारुदत्त व उसकी पत्नी धूता दोनों के विचारों के साम्य दिखाई देता है। दोनों का चिन्तन चोरी को लेकर समान है। चारुदत्त भी यही कहता है कि **"कः श्रद्धास्यति भूतार्थम्, सर्वो माम् तुलयिष्यति'**, तथा धूता भी **"दरिद्रतयार्यपुत्रेणैवेदृशमकार्यमनुष्ठितम्"** ऐसा लोगों के विषय में सोचती है। परन्तु वह एक पतिव्रता नारी है जो कि अपने पति के विषय में थोड़ी सी भी अपकीर्ति व आलोचना सहन नहीं कर सकती है, इसलिये ही वह अपनी बहुमूल्य रत्नावली निकाल कर प्रदान करती है। चारुदत्त उसके इस गुण से अत्यधिक प्रभावित है तथा वह अपने को दरिद्र नहीं समझता है क्योंकि उसने धूता जैसी विभवानुगता सच्ची पतिव्रता पत्नी पाई है।

धूता को आभूषणों का कुछ भी मोह नहीं है। वह अपने पति को ही जीवन सर्वस्व व सबसे बड़ा आभूषण समझती है। सोने के बने इन बनावटी आभूषणों का उसके जीवन में तनिक भी महत्त्व नहीं है। यही कारण है कि छठे–अंक में जब वसन्तसेना रत्नावली उसके पास वापिस लौटाती है तब वह उसे यह कहते हुये वापिस लौटा देती है – "आर्य पुत्र ने आपको यह रत्नावली प्रसन्न होकर प्रदान की है। मेरा इसको लेना उचित नहीं है। आप यह समझें कि "आर्य पुत्र ही मेरे विशेष आभूषण हैं।" धूता का उक्त एक मात्र कथन उसके पतिव्रत धर्म का परिचायक है।

एक सपत्नी के रूप में भी हम धूता का चरित्र उज्ज्वल ही पाते हैं। वह सौतिया ईर्ष्या रखने वाली नारी न होकर एक प्रेम का सम्बन्ध रखने वाली नारी है। वह वसन्तसेना से किसी प्रकार की घृणा न करती हुई उसे अपनी बहिन कह कर सम्बोधित करती है। न केवल वसन्तसेना अपितु अपने पति पर भी वह इस बात को लेकर कभी रुष्ट नहीं होती कि उसका पति उसके रहते अन्य स्त्री से प्रणय क्यों करता है। वह केवल अपने पति के दर्शनों व उसके प्रणय की भूखी है अन्य बातों से उसे कोई अधिक तात्पर्य नहीं है।

रोहसेन

रोहसेन एक भोला बालक है। संसार में जो तीन हठ क्रमशः बालहठ, त्रियाहठ व राजहठ माने गये हैं उनमें से बालहठ का ज्वलन्त उदाहरण हम रोहसेन को कह सकते हैं। उसमें हमें बालकोचित मनचलापन तथा हठवादी आग्रह स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। वह अपने पड़ोसी के बच्चे की सोने की गाड़ी देख कर उसके लिये मचल उठता है तथा उसी से खेलने का आग्रह करता है। मदनिका उसे मिट्टी की गाड़ी देती है परन्तु वह उसे पसन्द नहीं करता तथा सोने की गाड़ी से ही खेलने की हठ करता है जो बालसुलभ हठ का एक सुन्दर उदाहरण है।

वसन्तसेना को जब रोहसेन के इस आग्रह की मदनिका द्वारा जानकारी प्राप्त होती है तो वह अपने को उसकी माता बताती हुई प्यार करती है। परन्तु उस भोले बालक के हृदय में दरिद्रता की मनोग्रन्थि इतनी जमी हुई है कि वह वसन्तसेना को अपनी माता मानने के लिए तैयार नहीं होता। उक्त संदर्भ में रोहसेन द्वारा कहे गये शब्द बड़े ही हृदय–द्रावक हैं तथा सचमुच उसके ये शब्द वसन्तसेना के हृदय में गहरा प्रभाव डालते हैं। वह रदनिका से वसन्तसेना को अपनी माता न मानते हुये कहता है –"रदनिका, तुम असत्य बोलती हो। यदि हमारी माता है तो आभूषण युक्त किस लिये है ?" वसन्तसेना के हृदय में इन वाक्यों का इतना प्रभाव पड़ता है कि वह इन शब्दों के साथ "बेटे, भोले मुंह से अत्यन्त करुणा पूर्वक बोल रहे हो। अपने आभूषणों को उतार कर रोती हुई कहती है यह लो अब तो मैं तुम्हारी माता हो गई।" यह तो हुआ उसकी बालपन, परन्तु इस बालपन के साथ साथ पितृ–प्रेम से युक्त हृदय भी विद्यमान है। उसे जब यह मालूम होता है कि उसके पिता को फांसी दी जा रही है तो वह विदूषक मैत्रेय के साथ अपने पिता से मिलने हेतु जाता है। वहां पर जाकर वह केवल रोना ही नहीं जानता अपितु उसने चाण्डालों से यह भी अनुरोध किया है कि वे उसके पिता को छोड़ दें और उसे ही उसके बदले मार डालें। चारुदत्त अपने पुत्र के इन वचनों को सुन कर द्रवित होकर कह उठता है कि "यह वह स्नेह का सर्वस्व हैं जो धनिक और दरिद्र दोनों के लिए समान है। यह हृदय का सुखकर लेप है जो चन्दन तथा उशीर का नहीं बना।" इस प्रकार रोहसेन बालक होते हुये भी अत्यन्त है तथा पिता के प्रति उसका क्या कर्तव्य है उसे वह अचछी प्रकार जानता है।

परहृदयग्रहण-पण्डिता-मदनिका

वसन्तसेना व धूता के अतिरिक्त नारी पात्रों में वसन्तसेना की दासी व शर्विलक की प्रेयसी मदनिका का चरित्र भी प्रभाव पूर्ण है। दासी होते हुये भी अपने कुछ गुणों से उसने वसन्तसेना के हृदय में अपना स्थान बना रखा है तथा इस प्रकार उसकी प्रणय रहस्य की गोप्त्री तथा पोषिका है। उसके चरित्र की सर्व प्रमुख विशेषता यह है कि वह अपने से अन्य व्यक्तियों के हृदयों को जानने में निपुण है। यही कारण है कि वसन्तसेना ने भी द्वितीय–अंक में उसे "परहृदयग्रहणपण्डिता" कह कर सम्बोधित किया है।

मदनिका दूसरे के हृदयों को जानने में तो निपुण है ही परन्तु उसके साथ साथ वह मधुर तथा चतुर वाणी बोलने में भी निपुण है। मदनिका द्वारा प्रणय के संदर्भ में किये गये इस प्रश्न की भाषा कितनी मधुर व सुन्दर है –"बड़े आनन्द का विषय है। इस महोत्सव में कौन भाग्यशाली तरुण आप से अनुगृहीत हुआ है ? तो आर्या बतायें कि कोई राजा

अथवा राजवल्लभ सेवित हुआ है ?" वसन्तसेना के प्रति मदनिका का स्नेह बड़ा ही कोमल एवं निष्ठापूर्वक है वह अपने प्रणय से अधिक महत्त्व वसन्तसेना के प्रणय को देती है। मदनिका यद्यपि शर्विलक की प्रेयसी है, परन्तु जब उसे शर्विलक द्वारा यह ज्ञात होता है कि उसकी मुक्ति के लिए उसने सेंध तोड कर चोरी की है तब वह प्रणय को महत्त्व न देकर उसे स्पष्ट कहती है –"शर्विलक, कलेवे के जैसी (तुच्छ) स्त्री के कारण (तुमने) शरीर एवं चरित्र दोनो क संशय मे डाल दिया है।" गणिका मदनिका द्वारा कहे गये ये शब्द अपने आपमें काफी महत्त्व रखते हैं शर्विलक से यह जानक री प्राप्त करके कि उसने चोरी चारुदत्त के घर से की है, वह मूर्च्छित हो जाती है, क्योंकि उसे अपने प्रणय से अधिक अपनी मालकिन वसन्तसेना के प्रणय का ध्यान है। उसे यह भय होता है कि कहीं शर्विलक ने चारुदत्त के साथ हिंसात्मक आचरण तो नहीं किया है।

उक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि मदनिका शर्विलक के प्रति सच्चा प्रणय नहीं रखती थी, अपितु भाव यह है कि प्रणय के साथ साथ शिष्टता का भी उसे ध्यान था तथा एक दासी के रूप में उसे अपने से अधिक अपनी स्वामिनी का ध्यान था। शर्विलक द्वारा स्त्रियों के विषय में सावेश उक्तियों व भर्त्सनाओं को सुन कर भी उसके मन में किसी प्रकार की विक्रिया पैदा नहीं होती। अपितु वह अपनी बुद्धिमता से काम लेकर शर्विलक को सही स्थिति की जानकारी प्रदान करती है। मदनिका की इस कार्यवाही से शर्विलक अत्यधिक प्रभावित होता है तथा उसे अपने से भी अधिक बुद्धिमता बताते हुये कहता है – "स्त्रियाँ तो वस्तुत स्वभाव से ही कुशल होती हैं, पुरुषों की कुशलता तो शास्त्रों के द्वारा सिखाई गई होती है।" इस प्रकार मदनिका क चरित्र की यह एक विशेषता है कि वह समयानुसार आचरण करती है। किस समय क्या कहना चाहिये तथा कैसा करना चाहिये उसे बहुत अनुभव है।

प्रेयसी के रूप में यह एक वीर वधू है। समय आने पर उसने वही किया है जो एक वीर पत्नी को करना चाहिये। विवाह के प्रथमदिन शर्विलक जब अपनी प्रेयसी सहित प्रवहण पर चढ़ कर घर जा रहा था, तभी नेपथ्य से घोषणा होती है कि राजा पालक ने आर्यक को अहीरों की बस्ती से लाकर कारागार में बन्द कर दिया है। घोषणा को सुनते ही शर्विलक तत्काल यह निर्णय करता है कि इस समय जबकि मित्र पर संकट है तो सौ सुन्दरियों से भी अकेला मित्र अधिक मुख्य है। शर्विलक का कहना मात्र के मदनिका भी उसी के अनुरूप करने को तैयार हो जाती है तथा वह बिना किसी सोच विचार के एक वीर-वधू के समान साथ जोड़ कर प्रार्थना करती है –"यह ऐसा ही हो। आर्य पुत्र, मुझे शीघ्रता से गुरुजनों के समीप पहुंचा दें।" शर्विलक अपनी प्रेयसी से प्रथम अवसर पर ऐसे शब्दों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होता है तथा स्वयं को बहुत भाग्यशाली मानता है।

इस प्रकार प्रेयसी के रूप में वह स्वामी के अनुकूल कार्य करने वाली तथा सहेली के रूप में अपनी मालकिन की विश्वास पात्र भी है। गणिका से वधू बनने के मूल में भी उसकी अपनी निष्ठा है जो कि उसने वसन्तसेना के प्रति प्रदर्शित की है।

इस प्रकार यद्यपि मदनिका एक साधारण दासी है, किन्तु इतनी सच्ची एवं निष्ठाशील है कि वह अपने प्रणयी का भी कुछ ध्यान न तथा अपनी मुक्ति के एक मात्र अवसर को भी शर्विलक द्वारा दिये जाने वाले आभूषण को लौटा कर नष्ट करने का खतरा मोल ले लेती है। उसका चरित्र सार्वभौमिक तथा महत्त्वपूर्ण है।

वीरक व चन्दनक

वीरक व चन्दनक यद्यपि नाटक में अधिक बार नहीं आये हैं परन्तु फिर भी उनका नाटक में इतना महत्त्व है कि उनके बिना नाटक अधूरा सा ही दृष्टिगत होता है। वीरक राजा पालक का सेनापति तथा चन्दनक बलपति है। दोनों का राजा पालक ने नगर की रक्षा हेतु नियुक्त कर रखा है। नाटक में दोनों पात्रों से सर्व प्रथम परिचय षष्ठ–अंक में होता है। जब चारुदत्त की गाड़ी में आर्यक जीर्णोद्यान की ओर जा रहा था तब ये दोनों नगर–रक्षक गाड़ी को राजपथ पर निरीक्षण हेतु रोक लेते हैं। दोनों यद्यपि एक ही कार्य के लिए नियुक्त किये गये है तथा दोनों का एक ही कर्तव्य है, परन्तु दोनों के स्वभाव में पृथ्वी एवं आकाश का अन्तर है।

दोनों के स्वभाव का परिचय हमें गाड़ी निरीक्षण के अन्तर्गत होता है। उसके अनुसार एक स्वामिभक्त तथा राजकार्य में सचेष्ट है। यह राजकीय कार्य के संदर्भ में किसी को भी नहीं जानता है। उसके अनुसार "अरे चन्दनक, चारुदत्त को भी जानता हूं और वसन्तसेना को भी भली–भांति जानता हूं (किन्तु) राजकीय कार्य पड़ने पर मैं (अपने) पिता को भी नहीं जानता हूं।" परन्तु द्वितीय रक्षक सत्ता–परिवर्तन के लिय सचेष्ट है तथा हृदय से दयालु भी है।

राजा पालक एवं गोपाल पुत्र आर्यक

राजा पालक एक क्रूर एवं ज्ञान शून्य प्रशासक है। उसके राज्य में प्रजा क्षुब्ध एवं भय युक्त है। प्रजा–पालन का उसे कुछ भी ध्यान नहीं है। अपने साले शकार को उसने पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी है जिससे वह स्वेच्छानुसार अत्याचार व अनाचारादि कार्य करता है। नीति–निर्धारण में स्वयं स्वतंत्र है तथा मन माने ढंग से न्याय प्रदान करता है। मनु के नियमों का उल्लघन करके चारुदत्त

को प्राण–दण्ड प्रदान करना उसकी मनमानी का प्रमुख दृष्टान्त है। स्वयं में बुद्धि का अभाव है तथा सिद्धों की वाणी में विश्वास करके अपने प्रतिद्वन्द्वी आर्यक को बन्धनगृह में डाल देता है। परन्तु अपनी अयोग्यता एवं विलासिता के फलस्वरूप राज्य में अपने विरुद्ध फैली क्रान्ति का शमन करने में वह निष्फल रहता है तथा अन्ततोगत्वा प्रतिक्रियावादियों द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है एवं आर्यक राजगद्दी पर बैठता है।

आर्यक का व्यक्तित्व प्रभावशाली है। वह प्रकरण में किन्हीं विशिष्ट कारणों से राजा के क्रोध का भाजन होकर बन्दी बना लिया जाता है परन्तु अपनी बुद्धिमता एवं भाग्यानुसार जेल से निकल जाता है। चारुदत्त के प्रति वह पूर्ण कृतज्ञ है तथा इसी के फलस्वरूप उसे राजा होने पर कुशावती का राज्य प्रदान करता है।

अन्य गौण पात्र

उक्त पात्रों के अतिरिक्त कुछ पात्र ऐसे भी हैं जिनका कि किसी एक विशिष्ट अंक से ही सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ द्वितीय अंक में कुछ जुआरियों से हमारा परिचय होता है। ये जुआरी दर्दुरक, संवाहक, माथुर आदि हैं। संवाहक का चरित्र–'चित्रण हम पहले कर चुके हैं। उसके अतिरिक्त दर्दुरक ही एक ऐसा पात्र है जिसके विषय में विस्तृत जानकारी हमें प्राप्त होती है। वह एक अनुभवी जुआरी है जिसने कि अपने जीवन का अधिकांश समय इसी वृत्ति में समाप्त किया है। उसका निम्न कथन उसके अनुभव का परिचयक है – "अरे, जुआ भी मनुष्य का बिना सिंहासन का राज्य है।" वह अपने जीवन में जुए द्वारा हुये उतार–चढाव का वर्णन करते हुये कहता है कि द्यूत द्वारा ही धन प्राप्त किया, स्त्री और मित्र जुए से ही प्राप्त किये, जुए से ही दिया और खाया तथा जुए से ही सब कुछ नष्ट कर दिया।"

जुआरी होते हुये भी उसके हृदय में दयांश विद्यमान है। अतः जब माथुर द्वारा संवाहक के प्रति किये गये अनाचार को देखता है, तब उसका हृदय द्रवित हो उठता है और द्यूताध्यक्ष माथुर के चंगुल से उसे बचाता है। पञ्चेन्द्रियों से संयुक्त मनुष्य को दस सुवर्ण के लिए सताया जाए – इसे वह सहन नहीं कर सकता। अतः साम, दाम, दण्ड, भेद नीतियों को अपनाते हुये उसकी रक्षा करता है।

प्रकरण में उसका चरित्र एक सहृदय मानव के रूप में चित्रित किया गया है।

द्वितीय–अंक के अतिरिक्त नवम–अंक में भी कुछ पात्रों की अवतारणा हुई है। ये पात्र मुख्य–न्यायाधीश, श्रेष्ठी, कायस्थ एवं शोधनक हैं। न्यायाधीश एक सहृदय व्यक्ति है। वह न्याय–प्रिय है परन्तु शकार के आतंक से वह भयभीत है। चारुदत्त की सज्जनता एवं शालीनता से वह पूर्ण प्रभावित है। इसीलिये न्यायालय में उसे सम्मान भी प्रदान करता है, जिसके लिये शकार एवं अन्य समालोचकों के लिए वह आलोचना का विषय भी बन जाता है। परन्तु समय एवं परिस्थिति अनुसारा उसने वही किया जो उचित था।

मुख्य अधिकरणिक के अतिरिक्त श्रेष्ठी, कायस्थ एवं संवाहक का चरित्र भी समुचित रूप से चित्रित किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में सभी पात्र अपनी–२ विशिष्ट चरित्रगत विशेषताओं से युक्त हैं।

भाषा-शैली

किसी भी कवि या नाटककार का मूल्यांकन करने की महत्त्वपूर्ण कसौटी यदि कोई है तो वह उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा व शैली है जिसका कि उसने अपनी कृति में प्रयोग किया है। दृश्य या श्रव्य काव्य की कथावस्तु की सामग्री से हम उसके रचयिता का मूल्यांकन उतना नहीं कर सकते जितना कि भाषा शैली से। भाषा व शैली ही उसकी स्वयं की होती है जिसके माध्यम से वह अपने स्वयं व अन्य स्थानों तथा विभिन्न स्त्रोतों से ग्रहण किये गये भावों व विचारों को अपनी कृति में प्रकट करता है। कथानक कभी भी पूर्ण रूप से आविष्कृत नहीं हो सकता। एक ही कथानक को कई रूपों में भाषा व शैली के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार एक काव्य में भाषा व शैली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्यों में भी मूलतः दृश्यकाव्य में भाषा व शैली महत्वपूर्ण तत्त्व है, क्योंकि नाटक अथवा एकांकी प्रत्यक्ष दर्शन का साहित्य है, अतः उसकी भाषा व शैली सरल तथा सुबोध होनी चाहिए।

वही नाटक दर्शकों को प्रभावित व आह्लादित कर सकता है जिसकी भाषा सहज बोधगम्य हो। सहज बोधगम्य होने के साथ साथ भाषा का पात्रानुकूल होना भी आवश्यक है। भाषा का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि भाषा के माध्यम से पात्रों का चरित्र–चित्रण होता है, क्योंकि बोलचाल से ही किसी का व्यक्तित्व आंका जा सकता है। अतः भाषा ऐसी होनी चाहिये जो कि प्रथम–सहज बोधगम्य हो अर्थात् प्रसाद गुण से युक्त हो, द्वितीय–पात्रानुकूल व परिस्थितियों के अनुकूल हो। अधिक आलंकारिक व चमत्कार युक्त भाषा में लिखित नाटक कभी भी दर्शकों को प्रभावित नहीं कर सकता।

भाषा व शैली की कसौटी पर 'मृच्छकटिक' एक खरा व अनुपम नाटक है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल एव प्रस द गुण युक्त है। कवि ने समास प्रधान भाषा का अधिक प्रयोग नहीं किया है। तुलनात्मक दृष्टि से मृच्छकटिक की भाषा कालिदास की अपेक्षा अधिक सरल है। यह भास और कालिदास के मध्य की शैली है, संस्कृत साहित्य की अलंकृत शैली नहीं। प्रारम्भिक शब्दों में उसने वैदर्भी रीति को अपनाया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें समास बहुल गौडी रीति को अपनाने की शक्ति ही नहीं थी। कहीं कही पर आवश्यकतानुसार उसने गौडी रीति को भी अपनाया है। वास्तव मे उसने भाव व पात्र के अनुसार अपनी भाषा का परिवर्तन किया है। अपवाद तो प्रायः सभी जगह पर मिल जाते हैं, अत दो चार अपवाद को छोड़ कर साधारणतया उसकी भाषा स्पष्ट है। उसकी अभिव्यक्ति में शक्ति है और थोड़े ही शब्दो म स्पष्ट चित्र खींच देने की कला है। यह सच है कि शूद्रक में भवभूति के समान अभिव्यक्ति का सौन्दर्य नहीं है और भावों के सूक्ष्म चित्रण म भी वह पीछे है किन्तु भवभूति की क्लिष्टता से वह मुक्त है। कालिदास का स्निग्ध पद–लालित्य एवं काव्यात्मक सौष्ठव भी शूद्रक की प्रस्तुत रचना में वर्त्तमान नहीं है।

मृच्छकटिक की शैली सरल ही नहीं बोलचाल के शब्दों और मुहावरों से युक्त होने के कारण बड़ी लच्छेदार है। यहा पर कतिपय उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा रहा है। "मारयति" मारयामि" इत्यादि का जान से मारने के अर्थ में प्रयोग "कुट्टयति कुट्टयेस्यामि का प्रयोग आजकल की बोलचाल के' लाठी से तुम्हारा सिर कूट दूगाँ' के अर्थ में इसी प्रकार तले हुये मांस के लिये "तलित मास का प्रयोग, भूषणों के झनझनाने के लिये झाणज्झणन्तबहुभूषणशब्दमिश्रं" में झाणज्झणान्त का प्रयोग, "मस्तकं ते मडमडायेस्यामि के क्रिया पद मडमडाना का प्रयोग, मैना के बोलने के लिये 'कुरकुरायते' का प्रयोग तेल और घी मे बघारा हुआ के लिये "व्याघारितं तैलघृतेन मिश्र" में "व्याघारितं" का प्रयोग, घुर–घुर शब्द करने के लिए "घुरघुरायमाणं" का प्रयोग और हारितम् का हारे हुये अर्थ में प्रयोग, यथा "दयासुवर्णं द्यूते हारितम्" तथा तारा का 'तारक' के लिये प्रयोग ये सभी प्रयोग इस तथ्य के विद्योतक हैं कि कालिदास तथा भवभूति की अभिजात वाग्धारा से पृथक्, देववाणी की एक ऐसा धारा भी प्रवाहशील थी जिसमे शास्त्रीय नियमों की कठोरता को शिथिल कर, जन–साधारण के भाव स्वतंत्रतापूर्वक अभिव्यक्ति पाते रहे थे। शूद्रक सस्कृत प्रमेयों की उस लोक धारा का मुकुटमणि है। उक्त प्रयोग इस बात के भी समर्थक है कि "मृच्छकटिक" एक प्राचीन कृति है तथा इसका काल ईसा पूर्व ही है। ऐसे प्रयोग बाद के किसी नाटक व काव्य में दखेने को नहीं मिलते।

इस प्रकार मृच्छकटिक सरल शैली में लिखी गई एक सुन्दर कृति है। यद्यपि अलंकार–शास्त्रियों ने मृच्छकटिक म लम्बे वर्णन चित्रणों का न होना एक दोष बतलाया है, परन्तु वास्तव में लम्बे वर्णन प्रायः नाटक के प्रवाह में बाधक ही होता है साधक नहीं, संवाद जितने संक्षिप्त व सरल होंगें उतने ही दर्शकों को प्रभावित कर सकेंगे। इस प्रकार मृच्छकटिक म लम्बे वर्णना के अभाव से अधिक सजीवता ही आई है जो नाट्य–कला का एक आवश्यक गुण है। फिर भी लम्बे वर्णना व समास युक्त पदों का पूर्ण अभाव नहीं है। चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के प्रासाद का वर्णन और पांचवें अंक में वर्षा और तूफान का वर्णन पर्याप्त लम्बा है। वसन्तसेना के घर का वर्णन लम्बा होने के साथ साथ उबा देने वाला भी है किन्तु वर्षा और तूफान का वर्णन कवित्व की दृष्टि से अत्युत्तम है। वास्तविक स्थिति इस विषय में यह है कि नाटक में नाटककर्त्ता को प्रकृति चित्रण के लिये उतना समय व स्थान नहीं मिल पाता जितना कि एक महाकाव्य के रचयिता को, अतः जो कुछेक स्थान मिल पाते हैं वहां वे अपनी प्रतिभा प्रकृति वर्णन के माध्यम से प्रदर्शित करना चाहते हैं। यही स्थिति 'मृच्छकटिक' के रचयिता शूद्रक की है। उकसे द्वारा किया वह वर्णन उसे ललित भाषा में सूक्ष्म भावों के चित्रण में सिद्धहस्त करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि कवित्व की दृष्टि से इसका महत्त्व अत्यधिक है परन्तु नाट्य–कला की दृष्टि से यह नाटक के प्रवाह का बाधक ही माना जायगा।

शब्द योजना ओर वाक्य विन्यास की दृष्टि से भी भाषा नाटकीय है। भाषा में अभीष्ट गति और प्रवाह है। यही कारण है कि मृच्छकटिक के अनेक वाक्यों ने सूक्तियों का रूप धारण कर लिया है, जैसे **'साहसे श्रीः प्रतिवसति' 'शंकनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता' 'न कालमपेक्षते स्नेहः,** इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने लोकोक्तियों के प्रयोग से अपनी भाषा को सजीव बनाने की ओर ध्यान दिया है। इसी हेतु कहीं कहीं पर तो सम्पूर्ण श्लोक ही सूक्तिमय दृष्टिगोचर होता है यथा **"शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम् मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वशून्यं दरिद्रस्य"** एक उदाहरण और देना पर्याप्त होगा

"आलाने गृह्यते हस्ती, वाजी वल्गासु गृह्यते।
हृदये गृह्यते नारी यदिदं नास्ति गम्यताम्।"

ऐसे स्थलों पर कहीं कहीं काव्यात्मक सौन्दर्य का अभाव भले ही हो सकता है, परन्तु अर्थगत सौन्दर्य आकर्षक होता है। परन्तु कहीं कहीं पर तो काव्यगत व अर्थ दोनों सौन्दर्य ही प्राप्त होत हैं। इस प्रकार लोकोक्तियों व नीतिपरक सूक्तियों का प्रसग कवि के भाषा सम्बन्धी पूर्ण अधिकार के द्योतक हैं। इस प्रकार भाषा व शैली सम्बन्धी प्रथम गुण सहज बोधगम्यता हम शूद्रक की रचना 'मृच्छकटिक' में एक दो अपवादों को छोड़कर प्रायः सर्वत्र मिलता है। भाषा जन–सामान्य के समझने योग्य होने पर प्रभावोत्पादक है।

'मृच्छकटिक' की भाषा सम्बन्धी सब से बड़ी जो विशेषता है – वह है उसकी पात्रानुकूलता। उक्त विशेषता का अन्यत्र प्रायः अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। पात्रों के अनुकूल प्राकृत भाषा का प्रयोग करने में तो शूद्रक बेजोड़ ही हैं। अतः प्राकृतों की दृष्टि से भी मृच्छकटिक संस्कृत का एक अद्वितीय नाटक है। प्राप्त नाटकों में से किसी में भी इतनी अधिक प्राकृतों का प्रयोग नहीं है। यहां पर ऐसा अनुमान करना भी युक्ति संगत प्रतीत होता है कि 'नाट्य–शास्त्र' में विभिन्न प्राकृतों के प्रयोग के लिये जो विधान दिया गया है उसको चरितार्थ करने के लिये ही शूद्रक ने प्राकृत प्रयोग की अपनी योजना कार्यान्वित की है। मृच्छकटिक के प्रसिद्ध टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार इस प्रकरण में शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शाक, चा ाडाली तथा ढक्की इन सात प्राकृतों का प्रयोग हुआ है।

कथोपकथन नाटक के प्राण स्वरूप होते हैं और शूद्रक इस कला में सिद्धहस्त हैं, यही कारण है था उनके द्वारा विरचित मृच्छकटिक के संवादों में जो ताजगी एवं उत्फुल्लता वर्तमान है, वह संस्कृत के अन्य नाट्यकारों में उपलब्ध नहीं होती। नाटक में लम्बे–लम्बे कथोपकथनों का जो कि नाटक की गति में बाधक होते हैं, प्रायः अभाव है और उनके स्थान पर छोटे–छोटे उत्तर–प्रत्युत्तर स्वाभाविकता का प्रदर्शन करते हैं। व्यंग्य और हास्य प्रायः उन्हें और भी सजीव बना देते हैं। उन संवादों को पढ़ने से ऐसा लगता है मानो वे किसी नाटक के नहीं अपितु वास्तविक जीवन के वार्त्तालाप हैं।

"मृच्छकटिक" में प्राप्त संवादों की भाषा में सादगी व सरलता है। 'मृच्छकटिक' की भाषा को प्रणेता ने कहीं भी जानबूझकर अलंकारों से अलंकृत करने का प्रयास नहीं किया है। जितने भी अलंकारों का प्रयोग हुआ है वे सभी अलंकार उसके अर्थ सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अनायास ही आ गये हैं। कवि ने बलपूर्वक अलंकारों को लादा नहीं है। प्रकरण में ऐसे प्रसंगों का प्रायः अभाव ही है जहां पर कि नाटककार ने पांडित्य प्रदर्शन करने का प्रयास किया हो। जो भी अलंकार नाटक में प्रयुक्त किये गये हैं वे सभी अर्थ–व्यंजना में सहायक हैं तथा काव्य–सौन्दर्य को बढाने में उन्होंने सहयोग प्रदान किया है। अलंकारों में 'शब्दालंकार' व 'अर्थालंकार' दोनों का ही समुचित प्रयोग नाटक में किया गया है।

अलंकारों के अलावा छन्दों का भी समुचित प्रयोग हमें यहां देखने को प्राप्त होता है।

मृच्छकटिक का रस-विवेचन तथा काव्य-सौन्दर्य

भारतीय नाट्य–समीक्षा के अनुसार 'रस' रूपक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। दृश्य काव्य के तीन भेदकों में एक 'रस' भी है। वैसे तो कथा, आख्यायिका व महाकाव्य आदि सभी में रसास्वाद होता है परन्तु रस की व्यंजना करना सामाजिकों के हृदय में रसोद्रेक उत्पन्न करना दृश्य काव्य का प्रमुख लक्ष्य है।

रस क्या है ? इस विषय में यहां तो हम इतना ही कहना चाहेंगे कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से सहृदयों को जो एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, वही 'रस' है। तथा इस रस की प्रतीति करना या कराना ही रूपकों का मुख्य प्रयोजन है। क्योंकि रस भेदक तत्त्व है अतः विविध रूपकों में भिन्न भिन्न प्रकार के रसों की प्रधानता और गौणता होती है। जहां तक प्रस्तुत 'रूपक' का सम्बन्ध है, यह 'प्रकरण' कोटि का है, अतः इसमें नाट्य–शास्त्र के नियमानुसार श्रृंगार रस प्रधान (अंगी) होता है तथा अन्य रस उसके अंग के रूप में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि धनंजय ने वीर को भी मान्यता दी है। 'मृच्छकटिक' में स्पष्ट रूप से श्रृंगार रस अंगी रूप में है। श्रृंगार भी दो प्रकार का होता है ? संभोग श्रृंगार और विप्रलंभ श्रृंगार। यहां पर संभोग श्रृंगार अंगी रस है तथा विप्रलंभ श्रृंगार, करुण, हास्य, भयानक, वीभत्स और वीर आदि उसके अंग हैं। इन सबका संक्षिप्त विवेचन हम इस प्रकार कर सकते हैं –

संभोग श्रृंगार

'मृच्छकटिक' में नायक चारुदत्त और नायिका वसन्तसेना के प्रणय का चित्रण किया गया है। वसन्तसेना एक गणिका है जो नाट्य समीक्षा की दृष्टि से सामान्य कोटि की नायिका है। यद्यपि सामान्य नायिका का प्रेम रस की कोटि तक नहीं पहुँचता तथा यहां गणिका वसन्तसेना का प्रेम कुलनारी के समान ही अनन्य प्रेम होने से तथा नाटक के अन्त में उसके द्वारा कुल–वधू के पद को प्राप्त करने से यह प्रेम रस की कोटि तक पहुंच ही जाता है। श्रृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' होता है। सामान्य तौर पर 'रति' का आश्रय नायक होता है परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में नायक चारुदत्त के स्थान पर नायिका वसन्तसेना आश्रय के रूप में प्रतीत होती है क्योंकि प्रेम का अंकुर पहले उसी में उत्पन्न होता है तथा प्रणय को गति देने में पहल भी उसी के द्वारा की जाती है। कामदेवायतन में गुणों के भण्डार तथा रूप–यौवन सम्पन्न चारुदत्त को देख कर वसन्तसेना के हृदय में ही सर्व–प्रथम अनुराग की लहर उत्पन्न होती है। उसके उक्त प्रणय की सूचना सर्व प्रथम हमें शकार के उस कथन से मिलती है जिसमें कि वह विट को चारुदत्त के घर की समीपता बतलाये हुये कहता है – 'भाव, भाव, यह जन्मदासी कामदेवायतन उद्यान से लेकर उस दरिद्र चारुदत्त से प्रेम करने लगी है, मेरी कामना नहीं करती है। बाँई और उसका घर है।" शकार के उक्त कथन से वसन्तसेना मन की मन प्रसन्न होती है क्योंकि अति शीघ्र ही प्रिय समागम की संभावना है इसी अंक के चतुर्थ दृश्य में चारुदत्त और वसन्तसेना

परस्पर मिलते हैं। प्रथम चारुदत्त ने उस रदनिका समझ कर जो व्यवहार किया, उसके लिये क्षमा–याचना करत [illegible]। सं[illegible] ही मन ही मन उसके सौन्दर्य की प्रशंसा भी करता है। परन्तु उसे पराई स्त्री समझ कर (दर्शन करना उचित नहीं समझता) तत्क्षण ही मैत्रेय अपने मित्र की शंका निवारण करता हुआ कहता है – अरे ? पराई स्त्री के दर्शन की शंका से बस करो। यह वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यान से लेकर तुझ में अनुरक्त है। इस प्रकार ऊपर शकार व बाद में विदूषक के कथन स यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रेम सम्बन्धी प्रथम अंकुर वसन्तसेना के हृदय में ही उत्पन्न हुआ है।

जहां तक प्रणय व अनुराग का सम्बन्ध है पहल यद्यपि वसन्तसेना द्वारा की गई है, परन्तु चारुदत्त उसके प्रति उदासीन हो ऐसा बात नहीं। चारुदत्त के हृदय में भी उसके प्रति अनुराग विद्यमान है। परन्तु अपनी निर्धनता की निबिड़ अनुभूति से वह नितान्त दुःखी है तथा अपने को वसन्तसेना का जो कि एक धनाढ्य गणिका है, प्रणयी कहने में हिचकिचाता है। नाटक के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अंक के विप्रलंभ श्रृंगार के अभिव्यंजक भावों से यह संभोग श्रृंगार परिपुष्ट होता है। अंकों में से प्रत्यक अंक नायक के एक ऐसे गुण को नायिका के समक्ष प्रस्तुत करता है जिससे वह अत्यधिक प्रभावित होती है तथा दोनों का प्रणय सूत्र गहन होता जाता है। उदाहरणार्थ – द्वितीय अंक में जुआरी संवाहक ने अपना इतिवृत्त कह कर वसन्तसेना के मानस मे चारुदत्त के उदार गुणों की छाप अधिक सघन भाव से अंकित कर दी है। इसी अंक का कर्णपूरक वाला प्रसंग भी उसकी आसक्ति को अ[illegible] गहन बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। पंचम अंक में वसन्तसेना अभिसारिका बन कर चारुदत्त से मिलने हेतु जाती ह[illegible] यहां मेघ–गर्जना और दुर्दिन का अन्धकार तथा विद्युत् की चमक उन दोनों के प्रणय को उद्दीप्त करने में सहायक हुए हैं। ये सभी यहां पर उद्दीपन के रूप में कहे जावेंगे। मेघों की गर्जना से चारुदत्त अत्यन्त उद्दीप्त होकर कह उठता है – "हे बादल तुम और अधिक गंभीर गर्जन करो, तुम्हारी कृपा से काम से पीडित स्पर्श से रोमांचित एवं उत्पन्न वासना वाला मेरा शरीर कदम्ब पुष्प के सदृश हो रहा है।" वसन्तसेना ऐसे ही समय में चारुदत्त के घर पहुंचती है, वहां वसन्तसेना का आलिंगन करके चारुदत्त अपने कोमल भावों को इस प्रकार प्रकट करता है – "वास्तव में उनके जीवन धन्य हैं जो घर में आई हुई कामिनियों के बादल के जल से शीतल हुये शरीरों का आलिंगन करते हैं।" परन्तु पंचम–अंक का यह मिलन अन्तिम मिलन नहीं कहा जा सकता क्योंकि अग्रिम अंक के प्रारम्भ में ही चारुदत्त से पुनः मिलने के लिये तथा उसके आभ्यंतर प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिए वसन्तसेना की उत्सुकता दिखाई गई है। इधर वसन्तसेना साज–श्रृंगार करके प्रिय समागम हेतु उत्सुक है तो उधर सप्तम अंक में चारुदत्त भी वसन्तसेना से मिलने के लिए उत्सुक है परन्तु दैव का विधान, वसन्तसेना का मोटन, चारुदत्त पर अभियोग और मृत्युदण्ड। विप्रलंभ करुण दशा को ही पहुंचने वाला है कि पुनर्मिलन होता है और चारुदत्त अकस्मात् कह उठता है – '**अहो, प्रभावः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्धियते।**' नाटक के अन्त में पुनः प्रिया की प्राप्ति होती है और वह भी कुल–वधू के रूप में – **"प्राप्ता भूयः प्रियेयम्"।**

इस प्रकार यहाँ प्रारम्भ में संभोग श्रृंगार का उदय होता है और विप्रलंभ इत्यादि रसों से पुष्ट होता हुआ अन्त में परिपक्व दशा को प्राप्त करता है। इस अन्तराल में शकार द्वारा वसन्तसेना के प्रति आकर्षण, उसका पीछा करना, अनुनय करना तथा कम प्रदर्शित करना आदि श्रृंगाराभास कहे जायेंगे।

विप्रलंभ श्रृंगार

संभोग श्रृंगार के साथ–साथ विप्रलंभ का सुन्दर वर्णन भी हमें कहीं–कहीं पर देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ – द्वितीय अंक के प्रारम्भ में हम वसन्तसेना को उद्विग्न व विशेष उत्कण्ठित सी देखते हैं। वह अपने हृदय में कुछ सोच रही है और स्नान आदि में भी उसकी रुचि नहीं है। मदनिका उसकी मनःस्थिति को भांप लेती है और प्रश्न करती है – आर्ये ! दोष दृष्टि नहीं अपितु प्रेम पूछने को प्रेरित करती है कि क्या बात है? ..... आर्या के शून्य हृदय के कारण यह जान रही हूं कि हृदयस्थ किसी (प्रेमी) को आर्या चाहती हैं।" इसी प्रकार चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में हम उसे चारुदत्त की चित्र–रचना करने में मग्न देखते हैं। प्रायः चित्रादि की रचनायें विरह की अवस्था में ही होती है। मेघदूत का यक्ष भी अपनी प्रिया के विरह में उसके चित्रादि की रचनायें करता है। इसी प्रकार पंचम–अंक के प्रारम्भ में भी जब विदूषक अपने मित्र चारुदत्त से गणिका प्रसंग छोड़ने की प्रार्थना करता है तो वहां चारुदत्त प्रकट रूप में यह कहता हुआ भी कि "जिसकी सम्पत्ति है उसी की वह कामिनी है", स्वगत कथन में उसके प्रति अपनी उत्सुकता प्रकट करता है – नहीं, यह जन गुण द्वारा वश में करने योग्य है। साथ ही अग्रिम पंक्ति में विरह–वेदना भी प्रकट करता है। इसी अंक में नायिका वसन्तसेना प्रियमिलन में बाधक मेघ से पीडित होकर विद्युत् की सहानुभूति जगाना चाहती है क्योंकि नारी की वेदना के प्रति नारी ही अधिक संवेदनशील होती है। वह कहती है – "यदि बादल गरजता है तो वह भले गरजे, (क्योंकि) पुरुष निष्ठुर होते हैं। हे बिजली कामिनियों के [illegible] को तुम भी नहीं जानती हो ?" षष्ठम एवं सप्तम अंक में भी हमें विप्रलंभ श्रृंगार के कई स्थल देखने को मिलते हैं। इन अंकों में विरह की उत्कण्ठा उभय पक्षी व्यक्त की गई है। इस प्रकार मृच्छकटिक में संभोग श्रृंगार के साथ साथ विप्रलंभ का भी सुन्दर चित्रण किया गया है।

करुण-रस

मृच्छकटिक मध्यम वर्ग के समाज से सम्बन्धित है। अतः श्रृंगार के साथ–साथ करुण रस का भी सुन्दर चित्रण इसमें हुआ है। इष्ट की हानि से करुणा का उद्रेक होता है। इसके चित्रण द्वारा सहृदयों को करुण रस का आस्वादन हुआ करता है। वैभवनाश का आलम्बन ग्रहण कर नाटककार ने नाटक में चारुदत्त की दरिद्रता का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से किया है। साथ ही 'अभियोग' एवं 'प्राण–दण्ड' जैसे विषय को अपने करुण रस का आलम्बन बना कर रस का पूर्ण रूपेण परिपाक किया है। यद्यपि नाटक की कथावस्तु 'चारुदत्त' और वसन्तसेना की प्रणय कथा से सम्बद्ध है। परन्तु जीवन के 'सुखात्मक' और दुःखात्मक दोनो ही पक्षों को नाटककार ने हमारे समक्ष रखा है।

नाटक के प्रथम अंक में चारुदत्त के वैभवनाश तथ दरिद्रावस्था का करुण चित्रण है। दरिद्र–व्यक्ति की शोकजनक दशा देखकर काव्यशास्त्रियों ने 'वैभवनाश' को भी करुण का आलम्बन माना है। यहां पर चारुदत्त आश्रय है, धन–वैभवनाश आलम्बन, गृह की आर्थिकदशा, मित्रों का विमुखीकरण होना आदि उद्दीपन और विषाद, चिन्ता आदि संचारी भावों से परिपुष्ट करुण रस है।

नाटककार ने करुण–रस के चित्रण के साथ–साथ नायक चारुदत्त के भव्य चरित्र को भी हमारे सामने प्रस्तुत किया है। चारुदत्त यद्यपि निर्धन है, परन्तु उसे अपनी निर्धनता से भी अधिक इस बात का दुःख है कि धन न होने पर मित्रगण विमुख हो जाते हैं। चारुदत्त अपनी वर्त्तमान गृह–स्थिति को देख कर तथा अपने भूत का स्मरण करके अत्यन्त दुःखी होता है। उसका घर पहले धन–धान्य से सम्पूर्ण था परन्तु अब स्थिति बिल्कुल विपरीत है। वह अपने मित्र मैत्रेय को अपनी हृदय वेदना का परिचय इस प्रकार देता है 'मित्र, दुःखों का अनुभव करने के अनन्तर सुख शोभित होता है, जिस प्रकार गहन अन्धकार में दीपक का दर्शन।" परन्तु जो मनुष्य सुख से निर्धनता को प्राप्त होता हे, वह तो शरीर धारण किये हुये भी मृतक के समान जीवन व्यतीत करता है।"

वह इस निर्धनता रूपी दुःख से इतना संतप्त है कि इसकी अपेक्षा वह मृत्यु को भी श्रेयष्कर समझता है क्योंकि मृत्यु का दुःख तो अस्थायी होता है परन्तु निर्धनता कभी न समाप्त होने वाला दुःख है। मानव के दरिद्र हो जाने से उसके विषय में लोक नीति क्या रहती है, उसको नाटककार ने स्वयं चारुदत्त के मुख से प्रकट करवा कर शोक की मार्मिक अभिव्यंजना की है। बन्धु लोग भी निर्धनता के कारण (निर्धन) पुरुष के कहने में नहीं रहते, अत्यन्त स्नेही मित्र भी विपरीत हो जाते हैं, आपत्तियां अधिक हो जाती हैं। शक्ति क्षय को प्राप्त हो जाती है, चरित्र रूपी चन्द्रमा की शोभा धुंधली हो जाती है, जो दूसरों के द्वारा भी किया गया पाप कर्म है वह उसी का (किया हुआ) समझा जाता है।"

चारुदत्त के उक्त शोक की मार्मिक अभिव्यक्ति तृतीय अंक में होती है जबकि वसन्तसेना द्वारा रखी गई धरोहर को चोर चुरा ले जाते हैं। भाग्य की विडम्बना कितनी रहस्यपूर्ण है कि वह मूक ढंग से मानव के भाग्य के साथ अठखेलियां करती हुई, मानव को सताती है। निर्धनता सब आपदाओं की जड़ है इस भय से भयभीत दीन चारुदत्त पर चोर द्वारा धन अपहृत करने पर आघात होता है। वह कह उठता है –

"कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तूलयिष्यति
शंकनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता।"

वैभवनाश के अतिरिक्त मृत आशंका से भी कभी–कभी करुण की उद्भावना होती है। अष्टम–अंक में जब शकार वसन्तसेना द्वारा प्रणय ठुकराने पर क्रोध के कारण गला दबा देता है जब वसन्तसेना मूर्च्छित होकर गिर जाती है। विट उसे मृत समझ कर विलाप करता है और वहीं करुण रस की धारा फूट पड़ती है। विट ने अपने शोक को प्रकट करने में रूपक अलंकार का आश्रय लिया है जिससे वह और भी मार्मिक बन गया है।

नाटक में करुण रस की चरम सीमा हमें दशम अंक में देखने को मिलती है। चारुदत्त के मृत्युदण्ड की जब घोषणा होती है, उस समय मैत्रेय तथा रोहसेन द्वारा किये गये रुदन तथा चारुदत्त को वध्य की वेश–भूषा में चांडालों के द्वारा उज्जयिनी की सड़कों पर ले जाये जाते हुये देख कर सम्पूर्ण नगरी की जो स्थिति होती है, वहां करुण रस की परिपक्वावस्था देखने को मिलती है। उसे ऐसी स्थिति में देख कर सम्पूर्ण नगरी शोक से विह्वल हो उठती है और नर–नारियों के नयनों से आंसुओं की धारायें प्रवाहित हो उठती हैं जिससे बादलों के अभाव में भी वर्षा का दृश्य उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार यहां सम्पूर्ण दृश्य अत्यन्त कारुणिक बन गया है तथा शनैः शनैः कारुणिक से कारुणिकतर बनता जाता है। शूद्रक ने करुण रस को व्यापक बनाने के लिए उत्प्रेक्षा एवं अतिशयोक्ति तथा रूपकादि अलंकारों का प्रयोग भी किया है। उसने प्राण–दण्ड से पूर्व चारुदत्त के लिये पुरवासियों द्वारा नीरव शोक की व्यंजना करवाई है। ऐसा गंभीर वातावरण इससे पूर्व 'राम वन गमन के समय' रामायण में दिखाई दिया था।

वध्य–स्थल पर जाता हुआ चारुदत्त अपने सद्वंश का स्मरण करके अत्यन्त दुःखी होता है। वह सहसा नेपथ्य से अपने पुत्र की आवाज सुन कर तथा उसे देखकर अपनी व्यथा इस प्रकार प्रकट करता है –

'चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः।
अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम्।।'

चारुदत्त को अपनी मृत्यु का दुःख नाम मात्र का भी नहीं है अपितु दुःख केवल इस बात का है कि मृत्यु का निमित्त स्त्री हत्या रूपी कलंक है। साथ ही अपने यश के दूषित होने का भी उसे महान् दुःख है। वह अपने हर दूसरे तीसरे कथन में ऐसे ही भावों को व्यक्त करता है।

इस प्रकार 'मृच्छकटिक' में शूद्रक ने शोक के आलम्बन वैभवनाश और प्राण दण्ड को बना कर गंभीर वातावरण उपस्थित किया है, जिससे चारुदत्त के प्रति सहज ही प्रेक्षकों के हृदय में सहानुभूति एवं करुणा जागृत हो उठती है। नाटक में यह कारुणिक वातावरण आत्म ग्लानि, चिन्ता, विषाद और शंका आदि व्यभिचारी से परिपुष्ट किया गया है। शूद्रक की अनुभावों की ओर दृष्टि निरपेक्ष सी रही है। परन्तु दरिद्रता में लोक नीति किस तरह रंग बदलती है उसका रहस्य प्रभावोत्पादक शैली में अभिव्यक्त किया गया है।

हास्य-रस

हास्य और व्यंग्य की दृष्टि से मृच्छकटिक एक अद्वितीय एवं महत्त्वपूर्ण नाटक है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में परिहास की योजना में शूद्रक को कोई पा नहीं सकता। अधिकांश संस्कृत साहित्य के नाटककार साधारणतः आदर्श प्रतिपादन करने के लिये ही नाटक रचना करते रहे तथा उनकी इस योजना में हास्य रस प्रायः बाधक ही सिद्ध होता, अतः उन्होंने इसे अपने नाटकों में समुचित स्थान प्रदान नहीं किया। यदि कुछेक नाटककारों ने अपने नाटकों में हास्य को स्थान भी दिया तो वे केवल इसके लिये विदूषक पर ही पूर्णरूपेण निर्भर रहे। परन्तु यहां हंसना–हंसाना जीवन का अंग है मात्र विदूषक का कर्म नहीं। 'मृच्छकटिक में स्थित परिहास को हम मुख्य तौर पर तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं : प्रथम शब्दगत, द्वितीय चरित्रगत और तृतीय परिस्थिति गत।

१. **'शब्दगत हास'**: यह हास मूलतः शब्दों के हेर फेर व श्लेषादि अलंकारों पर पूर्ण रूपेण निर्भर रहता है। उक्त हास्य हमें नाटक के पंचम–अंक में देखने को मिलता है – जहां पर कि चेट कुंभीलक के 'सेना' तथा 'वसन्त' पदों को उलट कर जोड़ने के निर्देश को मैत्रेय यह समझ लेता है कि उसे अपने पैर उलटने को कहा जा रहा है। चेट उसे कहता है – 'अरे मूर्ख बटुक, पद में परिवर्तन करो। तब विदूषक अपने पैर–बदल लेता और वहीं 'सेना-वसन्त' शब्द दुहराता है। उक्त हास योजना में 'पद' शब्द में दो अर्थ चिपके हुये हैं, अतः यहां श्लेष से हास उत्पन्न होता है। इसी तरह आठवें अंक में बौद्धश्रमण शकार को जब 'उपासक' कह कर सम्बोधित करता है, तब वह उसका अर्थ नाई समझ कर रुष्ट हो जाता है और जब वह फिर उसे धन्यवाद देता है – "त्वं धन्यः त्वं पुण्यः" तब शकार इन शब्दों से धनुरक्षक पुजारी तथा कुम्हार का अर्थ ग्रहण कर लेता है। कभी कभी शब्दों की आड में पहेली भी बुझाई गई है यथा सेना एवं 'वसन्त' शब्दों को बताने के लिये चेट ने क्रमशः ये प्रश्न पूछे हैं – "सम्पत्तिशाली नगरों की रक्षा कौन करता है ?" और किस समय में आम मंजरियां लगती हे। ऐसी ही पहेली का आश्रय चन्दनक तथा वीरक ने एक दूसरे की जाति बताने में षष्ठ–अंक में लिया है।

उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त शकार के कथनों में भी हमें शब्दगत व भाषागत हास्य देखने को मिलता है। प्रथम, वह दन्त्य 'स' के स्थान पर हमेशा 'श' जैसा उच्चारण करता है, दूसरे शब्दों में वह 'शकार' बहुला भाषा बोलता है। इसी हेतु उसका नाम भी यही पड़ गया है। द्वितीय, वह पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग का बहुत शौकीन है। उदाहरणार्थ –

"स्नातोऽहं सलिलजलैः पानीयैरुद्यान उपवनकानने निषण्णः।
नारीभिः सह युवतिभिः स्त्रीभिर्गन्धर्वैः सुविहितैरंगकैः।।"

इसके अतिरिक्त प्रथम अंक में उसने वसन्तसेना के लिये दस समानार्थक विशेषण निश्चित किये हैं। तृतीय अंक में वह पात्रों को गलत ढंग से उद्धृत करता है। उदाहरणार्थ – वसन्तसेना को भागती देखकर वह कह उठता है – तुम कटी हुई द्रौपदी के समान अनेक आभूषणों से शब्द से मिश्रित झनझनाहट के साथ तुम क्यों भागी जा रही हो ? मैं तुम्हें विश्वावसु की बहन सुभद्रा का जिस प्रकार अपहरण किया था, उसकी प्रकार यह बलात् में तुम्हारा हरण करता हूं। इस प्रकार शकार के उक्त समस्त प्रयोग हास्य उत्पन्न करते हैं।

परन्तु वाग्वैदग्ध्य से हास्य उत्पन्न करने में मैत्रेय का सर्वाधिक सहयोग है। संस्कृत पढती हुई स्त्री उस नवनागरिका को क्षुधित गाय के सूं–सूं शब्द करने के सदृश लगती है। वेश्या को वह जूते में पड़ी कंकडी के समान बतलाता है जो जूते से बाहर जल्दी नहीं निकल पाती। चतुर्थ–अंक में वसन्तसेना की माता को देखकर, वह कह उठता है – हाय इस भद्दी डाकिन के पेट का विस्तार? तो क्या (महादेव की विशाल मूर्ति के समान) इसको यहां घर में प्रविष्ट करा कर (बाद में) घर के शान

को बनाया गया था।" इस पर चेटी द्वारा यह बताये जाने पर कि "वह वृद्धा चौथिया रोग से पीड़ित है, मैत्रेय परिहास में कहता है – "हे भगवन् चातुर्थिक, इस उपकार दृष्टि से मुझ ब्राह्मण को भी देख लो।" इसी प्रकार वसन्तसेना का भाई जो कि रेशमी वस्त्र एवं चमकीले आभूषणों से सुसज्जित था उसे देखकर वह कहता है – "कितना तप करके यह वसन्तसेना का भाई हुआ है।"

किसी अन्य कवि के लिये इतना परिहास पर्याप्त था, पर शूद्रक को इतने से संतोष कहां ? मूल बात तो अभी आगे जाती है जब सूत्रधार परिहास को सत्य समझ बिगड़ उठता है और आपे से बाहर हो वहीं बरस पड़ता है – "सज्जनो देखिये, देखिये। मेरे भात के व्यय द्वारा पारलौकिक पति ढूंढा जा रहा है। अथवा – "अरे दासी के पुत्र जूर्णवृद्ध, क्रोधित राजा पालक के द्वारा, नव–वधू के सुवासित केशपाश के समान, तुझे चीरा जाता हुआ मैं कब देखूंगा।" इधर सूत्रधार का पारा इतना गर्म है तो उधर नटी की चेष्टा इतनी नरम "आर्य, प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये। तुम ही दूसरे जन्म में पति होंगे।"

इस प्रकार 'विदूषक' से तो नहीं पर 'भोजन' को लेकर ही स्वयं सूत्रधार और नटी में इतना बड़ा विभेद हो गया कि इतना कुछ आपको हंसना पड़ा।

२. **चरित्रगत हास्यः** 'मृच्छकटिक' में दो मुख्य हास्यास्पद चरित्र हैं – मैत्रेय और शकार। उक्त दोनों पात्रों में ऐसी कुछ विशेषतायें हैं जो हास उत्पन्न करती है। मैत्रेय – पारम्परिक विदूषक है। उसकी शारीरिक आकृति तो हास का कारण बनती ही है परन्तु इसके साथ उसकी मूर्खता और उसका भोलापन भी हंसी के कारण बनते हैं। इन सबके अतिरिक्त उसकी भीरूता भी परिहास का विषय बनती है। वह रात्रि में बलि चढ़ाने के लिये घर से बाहर नहीं जाना चाहता – परन्तु जब चारुदत्त उससे अधिक अनुरोध करता है तब वह दीपक तथा रदनिका दासी की आवश्यकता अनुभव करता है। वह घबराहट भी बहुत अधिक अनुभव करता है तथा ऐसी स्थिति में अपने कथन द्वारा हास्य उत्पन्न करता है। उदाहरण के तौर पर जब चारुदत्त के घर में सेंध फोड़कर चोरी की जाती है तब प्रातःकाल जब उसे रदनिका जगाती है – "आर्य मैत्रेय, उठिये, उठिये। हमारे घर में सेंध फोड़ कर चोर निकल गया।" तब वह घबरा जाता है तथा अपना संतुलन खोकर कहता है – "हूं दासी की पुत्री, क्या कहती है, चोर को फोड़ कर सेंध निकल गई।" सुस्वादु भोजन की लोलुपता के कारण वह अपने को हंसी का पात्र बनाता है। इसी स्वाद–लोलुपता से प्रेरित होकर वह वसन्तसेना पर अत्यन्त रुष्ट एवं क्रोधित होकर कहता है – "अहो ? वेश्या का लोभ और अनुदारता? ..... इतनी सम्पत्ति युक्त होकर भी उसने मुझ से यह नहीं कहा – 'आर्य मैत्रेय, आराम कीजिये, पात्र से पानी तो पी लीजिये।'

इन सबके अतिरिक्त उसकी अनेक व्यंग्यात्मक उक्तियां जो उसने अपने बारे में, गणिका तथा उसकी माता व उसके भाई के बारे में कही हैं, विचित्र रूप से हास्यप्रद हैं। उसका हास्य न केवल दर्शकों को मनोरंजन प्रदान करने की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है अपितु कहीं–कहीं वह परिस्थितियों व मनःस्थितियों के तनाव को ढीला कर देने में भी सहायक सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ – पंचम अंक में वसन्तसेना से अपना तौलिया मांग कर। कहीं–कहीं परिस्थिति की वास्तविकता को न देख कर वह अपनी भोली और मूर्खता भरी उक्तियों से हास्य उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ पंचम अंक में जब वह चेटी से निम्नलिखित प्रश्न पूछता है – **चेटि, किं भवत्या इहैव स्वप्तव्यम्।"**

मैत्रेय के समान शकार के चरित्र में भी ऐसी विशेषतायें है जो हास्य उत्पन्न करती हैं। भोजन–प्रियता प्रायः विदूषक का गुण होता है तथा हमारे विदूषक मैत्रेय में भी भोजनप्रियता की कमी नहीं, परन्तु परिस्थिति की प्रतिकूलता उसको कुछ और ही चिन्ता में लगा देती है। परन्तु उसके इस अभाव की पूर्ति नाटककार ने एक अन्य पात्र शकार द्वारा करवाई है। प्रकरण में उसे भोजन से जितना स्नेह है उतना किसी भी दूसरे को नहीं। उस के चेट का भी कहना है–

"रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम्।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवते।।"

फिर भी शूद्रक की विशेषता इसमें है कि इस चरित्र कवि ने इस पंडितमानी वज्रमूढ़ को भी हास का आलम्बन बना दिया है। उदाहरणार्थ वह वसन्तसेना को प्रस्ताव रखता है – **"अहं वरपुरुषमनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः।"** परन्तु वसन्तसेना उसे यह कहती हुई फटकार देती है – **"शान्तम् शान्तम् अपेहि। अनार्य मंत्रयसि।"** परन्तु कामुक शकार इसी को प्रसाद समझ आनन्द–विभोर हो निवेदन करता है – "भाव ? भाव ? तनिक देखो तो सही। यह वेश्या पुत्री वास्तव में मुझ से प्रेम करती है, जिससे मुझे यह कहती है "आओ, थक गये हो, खिन्न हो गये हो मैं न किसी दूसरे गांव को गया था, न किसी दूसरे नगर को गया था। भट्टालिके मैं, अपने पैरों से महानुभाव (विट) के सिर की शपथ उठाता हूं कि तुम्हारे ही पीछे पीछे घूमता हुआ श्रांत और खिन्न हो गया हूँ।

शकार अधिकतर विपरीत कथन द्वारा हंसाने का प्रयास करता है। बात ही उसकी कुछ ऐसी उलटी होती है कि वह बस पाठक व दर्शक को हंसने के लिए बाध्य करती है। उदाहरण के तौर पर विट को कहे गये उसके निम्न कथन को देखा जा सकता है – **"श्रृणोमि माल्यगन्धम् । अन्धकारपूरितया पूनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषणशब्दम्।"**

इस प्रकार शकार का बात करने का ढंग, वसन्तसेना के प्रति उसका प्रेम प्रदर्शन, स्त्रियों को मारने में शौर्य प्रदर्शन केन्तु मनुष्य और राक्षसी से भयखाना ये सभी बातें उसके चरित्र को हास्यास्पद बना देती हैं। उसकी इस बात को सुन कर किसे को हंसी नहीं आ जायेगी कि "इस दरिद्र चारुदत्त को वध के लिये ले जाते समय इतनी भीड़ हो रही है, जिस समय मेरे जैसा श्रेष्ठ मनुष्य वध के लिये ले जाया जायेगा उस समय न जाने कितनी भीड़ होगी।"

इस प्रकार विदूषक मैत्रेय का हास परिहास जहां व्यंग्यपूर्ण तथा सदैव शुद्ध मनोरंजक है वहा शकार की उक्तियां प्रारम्भ में मनोरंजक होती हुई भी अन्त में कटु और भयानक हैं।

उक्त दो पात्रों के अतिरिक्त दर्दुरक, कुंभीलक तथा शर्विलक के चरित्र भी समय–समय पर हास्योत्पादक हैं।

३. **परिस्थितिगत हास्यः** परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाला हास्य भी कम उल्लेखनीय नहीं है। नाटककार ने परिस्थितिवश कई ऐसे चित्र प्रस्तुत किये हैं कि पाठक व दर्शक को हंसने के लिये बाध्य होना पड़े। जुआरी संवाहक की द्यूताध्यक्ष बाधु से बचने के लिये कई प्रकार की हास्यास्पद चेष्टाएँ करना तथा अन्त में उलटे कदम चल कर एक समीपस्थ मन्दिर में शरण लेना और वहां मूर्ति बनकर खड़े हो जाना, अन्य जुआरियों द्वारा उसकी चाल समझ कर वहीं जुआ प्रारभ कर देना और संवाहक को बोलने के लिये बाध्य कर देना, इस प्रकार के हास्य का सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार पंचम अंक में वसन्तसेना के आगमन को लेकर जो कुंभीलक तथा मैत्रेय में प्रश्नोत्तर होते हैं तथा जिसमें मैत्रेय परिहास का पात्र बनता है, वहां एक प्रहसनपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। छठे–अंक में प्रवहण निरीक्षण को लेकर वीरक और चन्दनक का झगड़ा तथा न्यायालय में शकार–मैत्रेय की मारपीट वाला प्रसंग भी कम हास्योत्पादक नहीं है।

इस प्रकार 'हास्य–रस'के सभी पहलू हमें मृच्छकटिक में देखने को मिलते हैं। संस्कृत–साहित्य में प्रायः हास्य रस को उपेक्षित किया गई है तथा जो है वह भी बहुत ही मोटे ढंग का व भद्दा हास्य है, परन्तु मृच्छकटिक का हास्य उच्च कोटि का है।

अन्य रस

उक्त प्रमुख रसों के अतिरिक्त बीभत्स, वीर तथा अद्भुत रस के भी कुछ उदाहरण हमें नाटक में देखने को मिलते हैं। अष्टम अंक में शकार द्वारा जीर्णोद्यान में वसन्तसेना का गला घोटना तथा उससे उसके मूर्च्छित हो जाने में बीभत्स रस की प्रतीति होती है। द्वितीय–अंक के अन्त में खुण्टमोडक की भगदड़ में तथा षष्ट–अंक में आर्यक के बन्दीगृह से निकल कर भागने तथा चारुदत्त की गाड़ी में शरण लेने, मार्ग में उसके निरीक्षण आदि के समय भयानक रस की प्रतीति होती है। चतुर्थ–अंक में शर्विलक द्वारा अपने मित्र आर्य के सम्बन्ध में कही गई उक्तियों में युद्ध वीर की तथा चारुदत्त के वर्णन में दान वीर की और मतवाले हाथी से कर्णपूरक द्वारा भिक्षु की रक्षा किये जाने के वर्णन में अद्भुत रस की झलक मिलती है। इस प्रकार मृच्छकटिक में लगभग सभी रसों का सुन्दर समन्वय हुआ है परन्तु श्रृंगार, हास्य व करुण रस विशेष रूप से दृष्टव्य हैं।

काव्य-सौन्दर्य

साहित्य शास्त्र में ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर विद्वद्–वर्ग ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किये हैं। नाटक दृश्य काव्य वर्ग से सम्बन्धित है। परन्तु यह प्रारम्भ से ही 'काव्य' माना जाता रहा है अतएव रंगमंचीय प्रदर्शनीयता के साथ साथ उसमें काव्य सौन्दर्य से युक्त चित्रों को भी सजाये जाने की परम्परा रही है। हमारे यहां के अधिकांश नाटककार कवि पहले हैं तथा नाटककार बाद में, अतः उनके नाटकों में काव्यात्मक दृश्यों के आधिक्य का मिलना प्रायः स्वाभाविक सा ही है। परन्तु यहीं यह उल्लेखनीय है कि ऐसे वर्णनों की प्रचुरता अधिकांश तौर पर नाटकीय प्रवाह में बाधक ही सिद्ध होती है, साधक नहीं। भवभूति के मालती माधव में और कुछ सीमा तक उत्तरामचरित में भी ये दोष स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जो काव्य की दृष्टि से गुण होते हुये भी नाटक की दृष्टि से दोष ही है। कालिदास के नाटकों में भी काव्यात्मक चित्र मिलते हैं परन्तु वहाँ पर काव्यत्व तथा नाटकत्व में सामंजस्य सा दिखाई देता है अतः वह पाठक तथा दर्शक को अखरता नहीं। उक्त दोनों नाटकों की तुलना में मृच्छकटिक में निःसन्देह वर्णनों का अधिक विस्तार दिखाई नहीं देता। एक आधे स्थल पर यदि काव्य प्रतिभा का प्रयोग किया भी गया है तो वहां भी उससे नाटकीय प्रवाह को गति ही मिली है, रुकावट नहीं। वैसे नाटककार यदि चाहता तो उसके पास इतना कौशल था कि वह अपनी काव्य–प्रतिभा प्रदर्शित कर सकता था परन्तु नाटककार ने नाटकीय गति व प्रवाह का ध्यान रखना ही छोड़ना ही अच्छा समझा।

काव्य–शास्त्रियों की दृष्टि में चाहे यह दोष हो सकता है परन्तु हमारी दृष्टि से यह गुण ही कहा जायेगा। इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति चित्रण के दृश्य किसी भी रचना को सौन्दर्य का परिधान प्रदान करते हैं परन्तु नाटकीय दृष्टि से वे अस्वाभाविक ही कहे जावेंगे। उदाहरणार्थ – मृच्छकटिक का पंचम–अंक जहां वर्षा के वर्णन में कुछ सुन्दर पद्यों की रचना की गई है, वे काव्य की दृष्टि से अवश्य सुन्दर प्रतीत होते हैं परन्तु समीक्षक उनके लिए अंगुलि उठाते ही हैं। तथापि मृच्छकटिक में प्रदर्शनीय तत्त्वों का प्राचुर्य है अतः प्रकृति सम्बन्धी कुछ काव्यात्मक चित्रों के होने पर भी इसकी रंगमंचीय अभिरुचि कभी घटती नहीं प्रतीत होती। साथ ही पद–रचना के प्रसादगुण से युक्त होने के कारण नाटकीय प्रवाह में गति ही मिली है। वैसे सरस और शक्तिमती अभिव्यंजना पर कवि का पूर्ण अधिकार है। नवम–अंक में जब शकार न्यायालय में अपने वंश तथा सम्बन्धियों का वर्णन करता है उस समय अधिकरणिक द्वारा कहे गये ये शब्द कितने महत्त्वपूर्ण हें –

"किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः।।"

इस प्रकार थोड़े से चुने हुये सुन्दर पदों के प्रयोग से पूर्ण कथ्य को अभिव्यक्ति प्रदान करने की कला में शूद्रक अतीव कुशल प्रतीत होते हैं। मृत्यु के अवसर पर चारुदत्त द्वारा कहे गये ये शब्द उसकी निर्भीकता और दृढ़ता का संक्षिप्त परिचय प्रदान करते हैं –

"न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत्।।"

भावों की सुन्दर वर्णना ने भी 'मृच्छकटिक' के काव्य–सौन्दर्य में वृद्धि की है। कवि ने मानवीय भावों का बड़ा ही सुन्दर व स्वाभाविक चित्रण किया है। निर्धन हो जाने पर चारुदत्त अत्यन्त उद्विग्न सा दिखाई देता है परन्तु वह इसलिए चिन्तित नहीं है कि वैभव नष्ट हो गया, वह जानता है कि लक्ष्मी चंचल है तथा भाग्य के अनुसार आती है और चली जाती है, उसे तो इसी बात का संताप है कि सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर मित्रों की मित्रता भी शिथिल हो जाती है। वह विदूषक को स्पष्ट कहता है –

"सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति।।"

चोरी के विषय में शर्विलक से जो नाटककार ने कहलवाया है वह अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चोरी को जन–सामान्य चाहे बुरा माने, लेकिन शर्विलक उसे एक गुण मानता हे। लोग इसे इसलिये बुरा समझते हैं कि लोगों के सो जाने पर उन्हें विश्वास में डालकर उनके साथ धोखाधड़ी की जाती है, और इसीलिये उसे वीरता नहीं माना जा सकता। परन्तु शर्विलक व्यावहारिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण मानते हुये सोचता है – यह कार्य निन्दनीय है, पर इसको आजीविका बनाने वाला व्यक्ति किसी की नौकरी बजाने के लिये हाथ जोड़े नहीं रहता, और फिर यह कार्य तो पौराणिक व्यक्तियों ने भी किया है, द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा इसके प्रमाण हैं, जिन्होंने रात को सेंध लगा कर पाण्ड़वों के सोते हुये पुत्रों को मारा था। भला यह काम बुरा होता, तो क्या अश्वत्थामा इसे कभी करते ?

नारी के हृदय का चित्रण करने में भी नाटककार शूद्रक अत्यधिक सफल ही रहे हैं। मेघों की गर्जना से भयानक रात्रि की प्रतिक्रिया वसन्तसेना के मानव पटल पर क्या होती है, इसको नितान्त मोहक ढंग से व्यंजित किया है – "हे मूर्खे ! यदि सघन पयोधर (रात्रि पक्ष में – बादल, पत्नी पक्ष में – स्तन वाली) मेरे ही साथ प्रियतम (रात्रि पक्ष में – चन्द्रमा, सपत्नी पक्ष में – चारुदत्त) रमण करता है तो इसमें तुम्हारा क्या ? इस प्रकार की गर्जनाओं से भी बार बार मुझे मना करती हुई (मेरा) रास्ता रोक रही है। जैसे मेरी कोपमयी सपत्नी हो।"

मानव भावनाओं के अन्य भी कई दृश्य हमें नाटक में इसी प्रकार देखने को प्राप्त होते हैं। पुत्र के लिये एक पिता के मानस में, उसके हृदय में क्या भाव रहते हैं उनको नाटककार शूद्रक ने चारुदत्त के इन शब्दों में स्पष्ट रूप से हमारे सामने रख दिया है। चारुदत्त फांसी से पूर्व अपने पुत्र से मिलने के समय एक ही बात कहता है और वह सब के लिये समभाव से कहता है –

"इदं तत्स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः।
अचन्दनमनोशीरं हृदयास्यानुलेपनम्।।"

इसी प्रकार कवि ने अनेक स्थलों पर मानव–भावनाओं का सुन्दर तथा स्वाभाविक चित्रण किया है। कवि ने अपनी अनुभूति द्वारा मानव हृदय में प्रवेश करके अनेक सूक्ष्म भावों की मार्मिक अभिव्यंजना की है और मानव प्रकृति के चित्रण में वह अत्यधिक सफल हुआ है।

मानव भावनाओं के चित्रण के साथ–साथ उसने जीवन के अन्य भी पहलुओं को अपनी रचना में अपनाया है तथा उनका हृदयस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया है। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मृच्छकटिक के सभी वर्णन यथार्थ से परिपूर्ण हैं तथा उनमें कल्पना को अधिक स्थान नहीं दिया गया है। नाटक में कहीं दरिद्रावस्था का चित्रण है तो कहीं वसन्तसेना की कुबेर तुल्य सम्पदाओं का वर्णन है। कहीं पर द्यूतकर्म का विशद वर्णन है तो कहीं सेंध के स्वरूप तथा भेदों का विस्तृत व जीवन्त चित्रण है। न्यायालय के दृश्य ने नाटक की शोभा में चार चांद लगा दिये हैं।

द्वितीय अंक में जुआरी के मनोविज्ञान का वर्णन भी अत्यधिक सुन्दर बन पड़ा है। यह वर्णन ऋग्वेद के उस जुआरी की स्मृति दिलाता है जो यह सोचता है कि "वह जुआरियों के साथ नहीं जायेगा, जब वे खेलने जायेंगे तो वह पीछे रुक जायेगा किन्तु जैसे ही भूरे पांसों के फेंके जाने की आवाज आती है वह सीधा उस स्थान पर ऐसे चला जाता है जैसे कोई व्यभिचारिणी अपने संकेत स्थल पर।"

इस प्रकार एक ही नहीं अनेक ऐसे सुन्दर वर्णन हमें मृच्छकटिक में देखने में मिलते हैं जिनसे नाटक के सौन्दर्य में वृद्धि होती है।

प्रकृति-चित्रण

मानव का प्रकृति से शाश्वत् सम्बन्ध तथा चिरंतन साहचर्य सर्वविदित है। उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध तभी से है जब से वह इस धरातल पर आया।

यों तो धर्म, दर्शन, साहित्य और कला इन सभी में प्रकृति–चित्रण को स्थान मिला है, किन्तु काव्य में इसे सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य का रचयिता कवि साधारण मानव की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है और वह प्रकृति के विभिन्न दृश्यों से बहुत शीघ्र और अधिक अभिभूत होता है।

शूद्रक भी प्रथम मानव तथा द्वितीय कवि व नाटककार होने के नाते प्रकृति से अपने आपको विमुक्त नहीं कर सका। परन्तु नाटककार होने से 'मृच्छकटिक' में प्रकृति का स्वतंत्र रूप दृष्टिगत नहीं होता। फिर भी जो कुछ हमें देखने को मिला है उसे संक्षिप्त में इस प्रकार रखा जा सकता है।

प्रकरण का पंचम–अंक प्रकृति–चित्रण युक्त है। इस अंक में प्रकृति श्रृंगार रस के उद्दीपन के रूप में आई है। यहां वर्षा और तूफान का वर्णन शूद्रक के काव्यत्व का सुन्दर उदाहरण है। रात्रि का समय है। घने बादलों ने चन्द्रिका को आच्छन्न कर अन्धकार ही अन्धकार फैला दिया है। बिजली चमक रही है और मूसलसाधार वर्षा हो रही है। कभी–कभी तो ऐसा लगता है जैसे बिजली रूपी रस्सियों से बन्धे हुये ये एक–दूसरे पर आक्रमण करते हुये बादल रूपी हाथी मानों इन्द्र की आज्ञा से वृष्टि की धारा रूपी चान्दी की रज्जुओं से पृथ्वी की ऊपर उठा रहे हैं।

"एते हि विद्युद्गुणबद्धकक्षा गजा इवान्योन्यमभिद्रवन्तः।
शक्राज्ञया वारिधराः सधारा गां रूपरज्जेव समुद्धरन्ति।।"

चित्र की मनोरमता अवलोकनीय है। काले उमड़ते बादल काले मतवाले हाथी हैं। काली बिजली की चमकती लकीरें ऐसा भासित हैं जैसे चमकीली रस्सियों से बादलों की कमर कसी हुई हो, हाथियों की कांख में सोने की जंजीरें लगी हैं, यह बिजली की चमकती लकीरों से भान होता है, जल की गिरती स्वच्छ धारायें रजत् की रस्सियां हैं और इतनी द्रुतगति से ये धारायें पृथ्वी पर गिर रही हैं कि उनका क्रम टूटता नहीं, जिसे भान होता है कि ये चमकीली रस्सियां नीचे आकर पुनः पृथ्वी को ऊपर खींच रही हैं। इस प्रकार ऊपर खींचने की कल्पना में यह तथ्य ध्वनित है कि पानी की धाराओं का गिरना एक क्षण के लिए भी रुकता नहीं होता और वे धारायें आकाश से कब अलग होती हैं और पृथ्वी को कब छूती हैं, इसका दर्शक को प्रतिभास ही नहीं होता। धारासार वर्षा का इससे अधिक सटीक वर्णन क्या हो सकता है ?

ऐसे समय में वसन्तसेना अभिसारिका बन कर चारुदत्त के पास जा रही है। मार्ग में जाती हुई वह इन्द्र और बादलों से क्रमशः प्रार्थना करती है – प्रार्थना से भी वे प्रसन्न नहीं होते तब उन्हें डाँट फटकार भी सुनाने का कार्य करती है। वह मेघ से कहती है कि "हे मेघ, तुम बड़े निर्लज्ज हो जो प्रियतम के घर जाती हुई मुझे गर्जन से डराकर धारा रूपी हाथों से स्पर्श कर रहे हो।" मेघ से कहने के उपरान्त इन्द्र से कहती है कि "हे इन्द्र, क्या मैं तुम से पहले प्रेम में आसक्त थी जो तुम बादलों के सिंहनाद से गरज रहे हो ? वर्षापात से प्रिय की आशंका करने वाली मेरा मार्ग रोकना उचित नहीं है।" इस पर भी जब उसकी बात नहीं सुनवाई नहीं होती तब वह चिढ़ कर सक्रोध कह उठती है –

"गर्ज वा वर्ष वा शक्र मुंच वा शतशोऽशनिम्।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धु प्रस्थिता दयितं प्रति।।"

वर्षा के उक्त उद्दीपनकारी चित्रों के अतिरिक्त रात के अन्धकार तथा चन्द्रोदय के भी दो तीन चित्र जो नाटक में देखने को मिलते हैं वे सटीक एवं सुन्दर बन पड़े हैं। प्रथम अंक में अन्धकार की गहनता का निम्न चित्र अत्यन्त मनोरम व सर्व विदित है –

"लिम्पतीव तमोऽंगानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।"

उक्त वर्णनों से ज्ञात होता हे कि कवि को प्रकृति से अनुराग अवश्य था परन्तु नाटकीय रक्षा के कारण उसने उसे सीमित स्थान देना ही उचित समझा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटकीय दृष्टि से मृच्छकटिक संस्कृत साहित्य में अनुपम है।

मृच्छकटिकम्

प्रथमोऽकः

पर्यंकग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-
रन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य।
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या
शंभोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः।।१।।

अन्वयः– पर्यंकग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानोः, अन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञान- रुद्धेन्द्रियस्य, तत्त्वदृष्ट्या, आत्मनि, व्यपगतकरणम्, आत्मानम्, एव, पश्यतः, शम्भोः, शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः, समाधिः, वः, पातु।।१।।

शब्दार्थः– पर्यंकग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानोः = पर्यंकनामक योगासन की गाँठ (पलथी) बाँधने में अर्थात् मुद्रा धारण करने में दुहरे सर्प के लपेटने से बँधी हुई जाँघ वाले। अन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य = भीतर ही प्राण आदि वायु के रोक देने से समाप्त हो गया है (बाहरी चीजों का) ज्ञान जिनका ऐसी वश में की गयी इन्द्रियोंवाले। तत्त्वदृष्ट्या = सच्चे ज्ञान रूपी नेत्र से (निर्विकल्पकज्ञान से)। आत्मनि = अपने में, अपने भीतर। व्यपगतकरणम् = इन्द्रिय आदि से रहित, निष्कल अथवा कारणरहित। आत्मानम् = परमात्मा को। एव = ही। पश्यतः = देखनेवाले। शम्भोः = शिव की। शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः = निराकार के देखने से अर्थात् अनुभव करने से होने वाली तल्लीनता के कारण ब्रह्म में लगी हुई। **समाधिः** = ब्रह्म के चिन्तन में पूर्ण लीनता। वः = आप लोगों की। पातु = रक्षा करे।।

'पर्यंक' नामक एक विशेष प्रकार के योगासन की मुद्रा धारण करने में द्विगुणित सर्प के लपेटने से जिस शिव के घुटने कसकर बँधे हुए हैं; (यौगिक क्रिया के द्वारा) प्राण आदि वायुओं को शरीर के भीतर ही रोक देने से जिसकी सभी इन्द्रियाँ (बाहरी वस्तुओं के) ज्ञान से निवृत्त एवं (विषयों से) संयत हो गयी हैं, जिन्होंने सच्चे ज्ञान के द्वारा अपने भीतर इन्द्रियादि रहित विशुद्ध चैतन्यरूप केवल परमात्मा को ही देखा है; उस शिव की, निराकार (ब्रह्म) के साक्षात्कार करने से होने वाली एकाग्रता (लय) के कारण ब्रह्म में लगी हुयी समाधि आप सभी (सभा में उपस्थित लोगों) की रक्षा करे।।१।।

टीका– पर्यंकेति–पर्यंकस्य = योगासनविशेषस्य, यः ग्रन्थिः = निर्माणं तस्य बन्धे = धारणे, द्विगुणितः = द्विगुणतां प्राप्तः, योभुजगः = सर्पः तस्य आश्लेषेण = वेष्टनेन, संवीते = बद्धे, जानुनी = जानुद्वयं यस्य तस्य, बद्धपर्यंकासनस्येति भावः; अन्तः = शरीराभ्यन्तरे, प्राणानाम् = प्राणापानादिवायूनाम्, अवरोधेन = निरोधेन, व्युपरतम् = विशेषेण निवृत्तम्, सकलम् = समस्तम्, ज्ञानम् = बाह्यविषयज्ञानम् येषां तानि रुद्धानि = सम्यग्वशीकृतानि, इन्द्रियाणि यस्य तस्य; तत्त्वदृष्ट्या = सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या; आत्मनिः = स्वस्मिन्; व्यपगतानि = दूरीभूतानि, करणानि = इन्द्रियाणि यस्मात् तम् अथवा व्यपगतम् = दूरीभूतम्, करणम् = जन्म यस्य तम्; आत्मानम् = परमात्मानं स्वचिद्रूपम्; एव; पश्यतः = ध्यायतः; शम्भोः = शिवस्य; शून्यस्य = निराकारस्य, ईक्षणेन = अवलोकनेन, घटितः = सम्पादितः, यः लयः = तल्लीनता तेन ब्रह्मणि = परब्रह्मणि, लग्नः = सम्पन्नः, समाधिः वः = युष्मान् सामाजिकान्, पातु = रक्षतु।।१।।

इस श्लोक में 'स्रग्धरा' छन्द है। इसका लक्षण है–'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।' इति।।१।।

अपि च,

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपमः।
गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते।।२।।

अन्वयः– यत्र, गौरीभुजलता, विद्युल्लेखा, इव, राजते, श्यामाम्बुदोपमः, नीलकण्ठस्य, कण्ठः, वः, पातु।।२।।

शब्दार्थः– यत्र = जिसमें, जिस कण्ठ में; गौरीभुजलता = पार्वती की भुजा रूपी लता; विद्युल्लेखा = बिजली की रेखा, इव = जैसी,

राजते = शोभित हो रही है; (सः = वह); श्यामाम्बुदोपमः = नीले बादलों के समान, नीलकण्ठस्य = शिवका कण्ठ, कण्ठ, गला; वः = आप लोगों की, सभा में बैठे सज्जनों की; पातु = रक्षा करे।

और भी–

अर्थः— जिसमें (कण्ठ में) पार्वती जी की बाहु–लता बिजली की पंक्ति की भाँति सुशोभित होती है, वह काले बादलों के समान शंकर जी का कण्ठ आप सब की रक्षा करे।।२।।

टीका— यत्र = यस्मिन्, गौर्याः = पार्वत्याः भुज = बाहुः एव लता = वल्ली; विद्युतः = तडितः लेखा = रेखा पंक्ति, इव = यथा राजते = शोभते; (सः), श्यामः = नीलवर्णः अम्बुदः = जलदः एव उपमा = सादृश्यं यस्य सः; नीलः = नीलवर्ण कण्ठ गलभागः यस्य तस्य, शिवस्य इत्यर्थः; कण्ठः = गलप्रदेशः; वः = युस्मान् सामाजिकान्; पातु = रक्षतु।।२।।

यहाँ पर लाटानुप्रास रूपक और उपमा से संसृष्टि नामक अलंकार है।

इस श्लोक में 'पथ्यावक्त्र' छन्द है। इसका लक्षण है–युजोश्चतुर्थेतोजेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।।२।।

सूत्रधारः—अलमनेन परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा परिश्रमेण। एवमहमार्यमि श्रान्प्रणिपत्य विज्ञापयामि–यदिद मय मृच्छकटिक म प्रकरणं प्रयोक्तुं व्यवसिताः। एतत्कविः किल,—

(नान्द्यन्ते)

द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः।।३।।

(मंगलाचरणरूप नान्दी के अन्त में)

सूत्रधारः— सभा में उपस्थित सभ्य लोगों के कुतूहल (नाटक देखने की उत्कण्ठा) को भंग करने वाले इस परिश्रम (मंगलाचरण के विस्तार) को बन्द करो। इस प्रकार आदरणीय एवं सभ्य आप लोगों को प्रणाम करके मैं सूचित करता हूँ कि मैं 'मृच्छकटिक' नामक इस 'प्रकरण' का अभिनय करने के लिए उद्यत हैं। निःसन्देह, इसके रचयिता कवि

अन्वयः— द्विरदेन्द्रगतिः, चकोरनेत्रः, परिपूर्णेन्दुमुखः, सुविग्रहः, च, द्विजमुख्यतमः, अगाधसत्त्वः, शूद्रकः, प्रथितः, कविः बभूव।।३।।

शब्दार्थः— द्विरदेन्द्रगतिः = गजराज के समान चाल वाले, चकोरनेत्रः = चकोर नामक पक्षी के समान आँखों वाले, परिपूर्णेन्दुमुखः = पूर्णिमा तिथि के चन्द्रमा के समान मुख वाले, सुविग्रहः = सुन्दर शरीर वाले, च = और, द्विजमुख्यतमः = क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ, अगाधसत्त्वः = अगाध बलवाले, शूद्रकः = शूद्रक, प्रथितः = विख्यात, कविः = काव्य रचयिता, बभूव = हुए।

अर्थः— गजराज के समान मतवाली गति वाले, 'चकोर' नामक पक्षी के समान आँखों वाले, पूर्णिमा तिथि के चन्द्रमा के समान (मनोहर) मुखवाले, सुन्दर सुगठित शरीरवाले, क्षत्रियों (द्विजों) में सर्वश्रेष्ठ एवं अगाधबलशाली 'शूद्रक' नामक विख्यात कवि हुए।।३।।

टीका— द्विरदः = हस्ती, द्विरदेषु इन्द्रः इव द्विरदेन्द्रः = गजराजः तस्य गतिः = गमनम् इव गतिः यस्य सः; गजराजवत् मन्दगमनः इति भावः। चकोरस्य = पक्षिविशेषस्य नेत्रे = नयने इव नेत्रे यस्य सः। चकोरसदृशसुन्दरनयनः इति भावः। परिपूर्ण सकलकलासम्पन्नः इन्दुः = चन्द्रः मुख्यतमः = श्रेष्ठतमः; अगाधम् = विपुलम् सत्त्वम् = बलम् यस्य सः; शूद्रक = एतन्नाम्ना प्रथितः = प्रसिद्धः, कविः = काव्यकलाकुशलः; बभूव = जातः।।३।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा मालभारिणी छन्द है। इस छन्द का लक्षण है–'विषमे स स जा यदा गुरु ना ना म रा येन तु मालभारिणीयम्'।।३।।

अपि च,—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादादव्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः।।४।।

अन्वयः— ऋग्वेदम्, सामवेदम्, गणितम्, अथ, कलाम्, वैशिकीम्, हस्तिशिक्षाम्, ज्ञात्वा, शर्वप्रसादात, व्यपगततिमिरे चक्षुषी च, उपलभ्य, पुत्रम्, राजानम्, वीक्ष्य, परमसमुदयेन, अश्वमेधेन, च, इष्ट्वा, दशदिनसहितम्, शताब्दम् आयुः, च, लब्ध्वा शूद्रकः अग्निम् प्रविष्टः।।४।।

शब्दार्थः— ऋग्वेदम् = ऋग्वेद को, सामवेदम् = सामवेद को, गणितम् = गणित को, अथ = और, कलाम् = नृत्य गीत आदि बहत्तर

कलाओं को, वैशिकीम् = नाट्यशास्त्र को, हस्तिशिक्षाम् = हाथी सञ्चालन की शिक्षा को, ज्ञात्वा = जानकर, शर्वप्रसादात् = शंकर की कृपा से, व्यपगततिमिरे = अज्ञानरूपी अन्धकार से रहित, चक्षुषी = दोनों नेत्रों को, च, उपलभ्य = पाकर के, पुत्रम् = पुत्र को, राजानम् = राजा के रूप में, वीक्ष्य = देखकर, परमसमुदयेन = परम उन्नति करने वाले, अश्वमेधेन = अश्वमेध नामक यज्ञ से, इष्ट्वा = यजन करके, दशदिनसहितम् = दश दिन के सहित, शताब्दम् = सौ वर्ष तक की, आयुः = जीवन, च, लब्ध्वा = पाकर, शूद्रकः = शूद्रक नाम वाला (कवि, राजा), अग्निम् = आग में, प्रविष्टः = प्रवेश कर गया।।

और भी–

अर्थः– (इस प्रकरण के रचयिता) शूद्रक कवि ऋग्वेद, सामवेद, गणित, नृत्यगीत आदि चौसठ कलाओं, नाट्यशास्त्र एवं हस्तिसञ्चालन की शिक्षा को प्राप्त करके; भगवान शंकर की कृपा से अज्ञान रूपी अन्धकार से रहित नेत्रों ज्ञानरूपी नेत्रों को पा कर; अपने पुत्र को राजा के रूप में देखकर अर्थात् अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाकर एवं परम उन्नति करने वाले 'अश्वमेध' यज्ञ को करके; सौ वर्ष दस दिन की आयु पाकर (अन्त में) अग्नि में प्रविष्ट हो गये।।४।।

टीका– ऋग्वेदम्; सामवेदम्; गणितम्, कलाम् = चतुःषष्ठिसंख्याकां नृत्यगीतादिरूपां विद्याम्; वैशिकीम् = वेशः नेपथ्यग्रहणं तत्सम्बन्धिनीं नाट्यकलाम्; हस्तिशिक्षाम् = गजसञ्चालनादिशिक्षाम्; ज्ञात्वा = प्राप्य; शर्वस्य = शंकरस्य प्रसादात् = अनुग्रहात्; व्यपगतम् = दूरीभूतम् तिमिरम् = अज्ञानान्धकारः ययोः ते; चक्षुषी = नेत्रे, ज्ञाननेत्रे; च, उपलभ्य = प्राप्य; पुत्रम् = सुतम्; राजानम् = राज्यासनासीनम्; वीक्ष्य = दृष्ट्वा; परमः = सर्वाधिकः समुदयः = उन्नतिः यस्मात् सः अथवा परमः समुदयः–समृद्धिः यत्र तेन; अश्वमेधेन = तन्नामकेन यागविशेषेण, इष्ट्वा = यागं विधाय; दशदिनसहितम् = दशदिनाधिकम्; शताब्दम् = शतवर्षमितम्; आयुः = जीवनम्, लब्ध्वा = प्राप्य; शूद्रकः = एतन्नामकः कविः; अग्निम् = वह्निम्; प्रविष्टः = स्वेच्छया निविष्टः।।४।।

इस श्लोक में 'स्रग्धरा' छन्द है।

अपि च,–

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदो वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव।।५।।

अन्वयः– शूद्रकः, समरव्यसनी, प्रमादशून्यः, वेदविदाम्, ककुदः, तपोधनः, च, परवारणबाहुयुद्धलुब्धः, क्षितिपालः, बभूव, किल।।५।।

शब्दार्थः– शूद्रकः = शूद्रक नाम वाले कवि, समरव्यसनी = युद्ध करने के प्रेमी, प्रमादशून्यः = सावधान, वेदविदाम् = वेद के जानने वालों में, ककुदः = श्रेष्ठ, तपोधनः = तपस्वी, च = और, परवारणबाहुयुद्धलुब्धः = शत्रुओं के हाथियों के साथ मल्लयुद्ध करने के लोभी, क्षितिपालः = प्रजापालक, बभूव = थे, किल = निश्चय ही अथवा ऐसी प्रसिद्धि है।।

और भी–

अर्थः– 'शूद्रक' युद्ध करने के प्रेमी (अभ्यासी), असावधानी रहित अर्थात् सर्वदा सतर्क, वेद के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ, तपस्या को ही अपना धन समझने वाले अर्थात् तपस्वी, शत्रुओं के हाथियों के साथ बाहुयुद्ध करने के लोभी तथा प्रजापालक राजा थे।।५।।

टीका– शूद्रकः = एतत्प्रकरणकर्त्ता कविः; समरेषु = संग्रामेषु व्यसनी = प्रसक्तः; सर्वदा युद्धोद्यतः इति भावः; प्रमादेन = अनवधानतया शून्यः = हीनः; वेदविदाम् = वेदज्ञानाम्; ककुदः = श्रेष्ठः; तपोधनः = तपस्यासंलग्नः; च, परेषाम् = शत्रूणाम् वारणैः = गजैः बाहुयुद्धे = मल्लयुद्धे लुब्धः = साभिलाषः; बभूव = अभवत्; किल = निश्चयेन वा इति प्रसिद्धिः।।५।।

अस्यां च तत्कृतौ,–

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना।।६।।

अन्वयः– अवन्तिपुर्याम्, द्विजसार्थवाहः, दरिद्रः, युवा, चारुदत्तः, किल, यस्य, गुणानुरक्ता, वसन्तशोभा, इव, वसन्तसेना, गणिका, च।।६।।

शब्दार्थः– अवन्तिपुर्याम् = उज्जयिनी नगरी में, द्विजसार्थवाहः = व्यापारी ब्राह्मण, दरिद्रः = निर्धन (बाद में निर्धन) युवा = युवक, चारुदत्त नाम का व्यक्ति, किल = निश्चय ही (था); यस्य = जिसके; गुणानुरक्ता = गुणों से प्रेम करने वाली, वसन्तशोभा = वसन्त ऋतु का सुन्दरता, इव = जैसी, वसन्तसेना = वसन्तसेना नामवाली, गणिका = वेश्या, च = भी (तत्र = वहाँ, आसीत् = थी)।।

और उनकी इस रचना (मृच्छकटिक) में–

अर्थः– उज्जयिनी नगरी में पहले व्यापारी–ब्राह्मण किन्तु बाद में निर्धन युवक 'चारुदत्त' रहता था, जिसके गुणों से अनुरक्त, वसन्त ऋतु की शोभा के समान 'वसन्तसेना' नामक वेश्या भी वहाँ थी।।६।।

टीका— अवन्तिपुर्याम् = उज्जयिन्याम्; द्विज सार्थवाहः, पूर्वम् व्यापार संलग्नः = द्विजः; (सम्प्रति) दरिद्रः = निर्धनः, [illegible] चारुदत्तः किल = निश्चयेन आसीत्; यस्य = चारुदत्तस्य; गुणैः = सौन्दर्यादिभिः गुणैः अनुरक्ता = वशंगता, वसन्तस्य शोभा = कान्तिः; इव = यथा; वसन्तसेना; गणिका = वेश्या; च आसीद् इति शेषः।।६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा उपेन्द्रवज्रा छन्द है। उपेन्द्रवज्रा का लक्षण है— उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

तयोरिदं सत्सुरतोत्सवाश्रयं नयप्रचारं व्यवहारदुष्टताम्।
खलस्वभावं भवितव्यतां तथा चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः।।७।।

अन्वयः— इदम्, तयोः, सत्सुरतोत्सवाश्रयम्, शूद्रकः, नृपः, नयप्रचारम्, व्यवहारदुष्टताम्, खलस्वभावम्, तथा, भवितव्यताम् सर्वम् चकार किल।।७।।

शब्दार्थः— इदम् = यह (प्रकरण), तयोः = उन दोनों, चारुदत्त एवं वसन्तसेना की, सत्सुरतोत्सवाश्रयम् = उत्तम विहारलीला के आधार वाला है। शूद्रकः = शूद्रक, नृपः = राजा ने, नयप्रचारम् = नीति की गति को, व्यवहारदुष्टताम् = दोषपूर्ण व्यवहार को, खलस्वभावम् = दुर्जनों के चरित्र को, तथा = और, भवितव्यताम् = होनी, भावी को, सर्वम = इन सबको चकार = इसमें वर्णित किया है, किल = ऐसी प्रसिद्धि है।।

अर्थः— यह 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण उन दोनों (चारुदत्त और वसन्तसेना) की उत्तम विहार–लीला (सम्भोगलीला) को अवलम्बन करके लिखा गया है। राजा 'शूद्रक' ने इसमें नीति की गति दुष्टों के दोषपूर्ण आचरण, दुर्जनों के चरित्र तथा भाग्य -इन सबका वर्णन (प्रणयन) किया है।।७।।

टीका— इदम् = प्रकरणम्; तयोः = चारुदत्तवसन्तसेनयोः, सत् = उत्तमः; सुरतोत्सवः = कामक्रीडाप्रमोदः, सः आश्रयः = अवलम्बनम् यस्य तत्; अस्ति इति शेषः। शूद्रकः नृपः = राजा; (अत्र = अस्मिन् प्रकरणे); नयस्य = नीतेः; प्रचारम् = गतिम्, व्यवहारस्य = दुष्टजनाचरणस्य दुष्टताम् = दोषपूर्णताम् अथवा व्यवहारस्य = विवादनिर्णस्य दुष्टताम् = सदोषताम्, खलानाम् = दुष्टानाम् शकारादीनाम् स्वभावम् = प्रकृतिम्; तथा, भवितव्यताम् = दुर्निवार्यां नियतिम्; (एतत्) सर्वं चकार = प्रणिनाय, किल = एतादृशी प्रसिद्धि अस्ति।।७।।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार तथा वंशस्थ छन्द है। इस छन्द का लक्षण इस प्रकार है— जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।।७।।

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये, शून्येयमस्मत्संगीतशाला, क्व नु गताः कुशीलवा भविष्यन्ति। (विचिन्त्य) आं, ज्ञातम्;

शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य।।८।।

अर्थः— (घूमकर और चारों ओर देखकर) अरे! हमारी संगीतशाला तो खाली है, नट और चारण (अभिनय करने वाले पात्र) कहाँ गये होंगे? (सोचकर) अच्छा, समझ गया;

अन्वयः— अपुत्रस्य, गृहम्, शून्यम्, यस्य, सन्मित्रम्, न अस्ति, चिरशून्यम्, मूर्खस्य, दिशः शून्याः, दरिद्रस्य, सर्वम्, शून्यम्।।८।।

शब्दार्थ— अपुत्रस्य = पुत्रविहीन का, गृहम् = घर, शून्यम् = सूना है। यस्य = जिसका, सन्मित्रम् = सच्चामित्र, न = नहीं अस्ति = है, उसका घर, चिरशून्यम् = हमेशा सूना है, मूर्खस्य = मूर्ख की, दिशः = सभी दिशाएँ शून्याः = सूनी, दरिद्रस्य = निर्धन का, सर्वम् = सब कुछ, शून्यम् = सूना होता है।

अर्थः— पुत्रहीन व्यक्ति का घर सूना है अर्थात् बालक के बिना किसी भी व्यक्ति का घर सूना लगता है, जिस व्यक्ति के पक्के मित्र नहीं हैं उसका (भी) घर सदा से सूना है। मूर्ख के लिये सभी दिशाएँ सूनी (आश्रयरहित) हैं, और निर्धन के लिए सब कुछ सूना है। यही कारण है कि मेरे नट एवं चारण आदि अभिनय करने वाले व्यक्ति मुझको निर्धन समझकर अपनी इच्छा के अनुसर विचरण करते हैं।)।।८।।

टीका— अपुत्रस्य = पुत्ररहितस्य; गृहम् = वासस्थानम्; शून्यम् = रिक्तम्, इव प्रतिभाति। यस्य = जनस्य, सन्मित्रम् = साधुसखा, नास्ति = न वर्तते; तस्य गृहम् = निकेतनम्; चिरशून्यम्–चिराय = बहुकालाय शून्यम्। मूर्खस्य = अज्ञस्य देशः = सर्वाः काष्ठाः; शून्याः = निष्फलाः। सन्ति। दरिद्रस्य = निर्धनस्य; सर्वम् = निखिलं स्थानं, शून्यं भवति।।८।।

यहाँ पर अप्रस्तुत (दरिद्रता) से प्रस्तुत कार्य (संगीतशाला की शून्यता) का वर्णन करने के कारण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द है 'आर्या'। इसका लक्षण है—

'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।।'८।।

कृतं च संगीतक मया। अनेन चिरसंगीतोपासनेन ग्रीष्मसमये प्रचण्डदिन- करकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलिततारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते। तद्यावद्गृहिणीमाहूय पृच्छामि, अस्ति किंचित्प्रातराशो न. वेति। एषोऽस्मि भोः, कार्यवशात्प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः। अविद अविद भोः! चिरसंगीदोवासणोण सुक्खपोक्खरणालाईं विअ मे बुभुक्खाए मिलाणाइ अंगाइ। ता जाव गेहं गदुअ जाणामि, अत्थि किं पि कुडुंबिणीए उववादिदं ण वेत्ति। (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं तं अम्हाणं गेहं, ता पविसामि। (प्रविश्यावलोक्य च) हीमाणहे, किं णु खु अम्हाणं गेहे अवर विअ संविहाणअं वट्टदि। आआमितंडुलोदअप्पवाहा रच्छा, लोहकडाहपरिअत्तणकसणसारा किदविसेसआ विअ जुअदी अहिअदरं सोहदि भूमी। सिणिद्धगंधेण उद्दीविअंती विअ अधिअं बाधोदि मं बुभुक्खा। ता किं पुव्वविढत्तं णिहाणं उप्पण्णं भवे। आदु अहं ज्जेव्व बुभुक्खादो ओदाणमअं जीअलोअं पेक्खामि। णत्थि किल पादरासो अम्हाणं गेहे। पाणच्चअं बाधेदि मं बुभुक्खा। इध सव्वं णवं विअ संविहाणं वट्टदि। एक्का वण्णअं पीसेदि, अवरा सुमणाओ गुंफेदि। (विचिन्त्य) किं ण्णेदं। भोदु। कुडुंबिणिं सद्दाविअ परमत्थं जाणिस्सं। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य।) अज्जे! इदो दाव। (अविद, अविद भोः! चिरसंगीतोपासनेन शुष्कपुष्करनालानीव मे बुभुक्षया म्लानान्यंगानि। तद्यावद्गृहं गत्वा जानामि, अस्ति किमपि कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेति। इदं तदस्माकं गृहम्, तत्प्रविशामि। आश्चर्यम्! किं नु खल्वस्माकं गृहेऽपरमिव संविधानकं वर्तते। आयामितणडुलोदकप्रवाहा रथ्या, लोहकटाहपरिवर्तनकृष्णसारा कृतविशेषकेव युवत्यधिकतरं शोभते भूमि। स्निग्धगन्धेनोद्दीप्यमानेवाधिकं बाधते मां बुभुक्षा। तत्किं पूर्वार्जितं निधानमुत्पन्नं भवेत्। अथवाहमेव बुभुक्षात ओदनमयं जीवलोकं पश्यामि। नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गृहे। प्राणाधिकं बाधते मां बुभुक्षा। इह सर्वं नवमिव संविधानकं वर्तते। एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो ग्रथ्नाति। किंन्विदम्? भवतु, कुटुम्बिनीं शब्दाप्य परमार्थं ज्ञास्यामि। आर्ये! इतस्तावत्।)

अर्थः— मैंने संगीत–कार्य को कर लिया है। अधिक समय तक इस संगीत में लगे रहने से (परिश्रम के कारण) भूखवश चञ्चल पुतलियों वाली मेरी आँखें उसी प्रकार खट–खटा रही हैं (बिचलित हो रही हैं), जिस प्रकार गर्मी के समय में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से सूखे हुए कमल के बीज (कमल के फल में) खट–खटाते हैं। तो जब तक अर्थात् इसलिए पत्नी को बुलाकर पूछता हूँ कि प्रातराश (जलपान) है अथवा नहीं। यह मैं प्रयोजनवश तथा प्रयोग (बात–चीत) की सरलता के कारण प्राकृत भाषा बोलने वाला हो गया हूँ।

खेद है कि देर तक संगीत की उपासना अर्थात् संगीत का कार्य करने से भूख के कारण मेरे सभी अंग सूखे हुए कमल के नाल की भाँति मलिन हो गये हैं। तो जब तक अर्थात् इसलिए, मैं घर जाकर पता लगाता हूँ कि मेरी स्त्री ने (खाने के लिये) कुछ बनाया भी है अथवा नहीं। (घूमकर और देखकर) तो, यही हमारा घर है। अतः इसमें प्रवेश करता हूँ। (प्रवेश कर और देखकर) आश्चर्य! यह क्या? हमारे घर में तो कुछ दूसरा ही आयोजन हो रहा है। गली चावलों के फैले हुए जल के प्रवाह से व्याप्त है। लोहे की कड़ाही को माँजने के लिए इधर–उधर घुमाने से चितकबरी हुयी भूमि, तिलक लगाये हुयी युवती की भाँति, अत्यधिक शोभित हो रही है। (पकवान आदि की) स्निग्ध सुगन्ध से उद्दीप्त हुई सी भूख मुझे अधिक पीड़ित कर रही है। तो क्या पूर्वजों के द्वारा सञ्चित खजाना निकल आया। अर्थात् मिल गया है? अथवा मैं ही भूख के कारण संसार को भातमय अर्थात् पका हुआ चावलमय देख रहा हूँ। हमारे घर में तो जलपान की सामग्री है ही नहीं। भूख के कारण मेरे प्राण निकले जा रहे हैं। यहाँ सब नवीन सा ही आयोजन हो रहा है। एक स्त्री कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य पीस रही है, दूसरी फूलों को गूँथ रही है। (सोचकर) यह क्या बात है? अच्छा, गृहिणी को बुलाकर वास्तविक बात का पता लगता हूँ। (नेपथ्य = पर्दा की ओर देखकर) आर्ये! इधर तो आना।

नटी— (प्रविश्य।) अज्ज! इअं म्हि। (आर्य! इयमस्मि।)

सूत्रधारः— अज्जे! साअदं दे। (आर्ये! स्वागतं ते।)

नटी— आणवेदु अज्जो को णिओओ अणुचिट्टीअदुत्ति। (आज्ञापयत्वार्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति।)

सूत्रधारः— अज्जे! ('चिरसंगीदोवासणेण' इत्यादि पठित्वा।) अत्थि किं पि अम्हाणं गेहे असिदव्वं ण वेत्ति। आर्ये! अस्ति किमप्यस्माकं गेहेऽशितव्यं न वेति।)

नटी— अज्ज! सव्वं अत्थि। (आर्य! सर्वमस्ति।)

सूत्रधारः किं किं अत्थि?। (किं किमस्ति?।)

नटी - तं जधा — गुडोदणं घिअं दहीं तंडुलाइं, अज्जेण अत्तव्वं रसाअणं सव्वं अत्थि त्ति। एवं ते देवा आसासेंतु (तद्यथा—गुडौदनं घृतं दधि तण्डुलाः, आर्येणात्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति। एवं तव देवा आशासन्ताम्।)

सूत्रधारः— किं अम्हाणं गेहे सव्वं अत्थि? आदुपरिहसंसि? (किमस्माकं गेहे सर्वमस्ति? अथवा परिहससि?)

नटी – (स्वगतम्) परिहसिस्सं दाव। (प्रकाशम्) अज्ज! अत्थि आवणे। (परिहसिष्यामि तावत्। आर्य! अस्त्यापण।

सूत्रधारः– (सक्रोधम्) आः, अणज्जे! एव्वं ते आसा छिज्जिस्सदि। अभावं अ गमिस्ससि। जं दाणिं अहं वरंडलम्बुओ विअ दूर उक्खिविअ पाडिदो। (आः अनार्ये! एवं तवाशा छेत्स्यति, अभावं च गमिष्यसि। यदिदानीमहं वरण्डलम्बुक इव दूरमुत्क्षिप्य पातितः।)

नटी– मरिसेदु मरिसेदु अज्जो, परिहासो खु एसो (मर्षतु मर्षत्वार्यः, परिहासः खल्वेषः।)

सूत्रधारः– ता किं उण इमं णवं विअं संविहाणअं वट्टदि एक्का वण्णअं पीसेदि, अवरा सुमणाओ गुंफेदि, अहं अ पञ्चवण्णकुसुमोवहारसोहिदा भूमी। (*तत्किं पुनरिदं नवमिव संविधानकं वर्तते? एका वर्णकं पिनष्टि, अपरा सुमनसो* गुम्फति, इयं च पञ्चवर्णकुसुमोपहारशोभिता भूमिः।)

नटी– अज्ज उववासो गहिदो। (अद्योपवासो गृहीतः।)

सूत्रधारः– किंणामधेओ अअंउववासो? (किंनामधेयोऽयमुपवासः?)

नटी– अहिरूअवदी णाम। (अभिरूपपतिर्नाम।)

सूत्रधारः– अज्जे! इहलोइओ आदु पारलोइओ? (आर्ये? इहलौकिकोऽथवा पारलौकिकः?)

नटी– अज्ज! पारलोइओ। (आर्य! पारलौकिकः।)

सूत्रधारः– (सरोषम्।) पेक्खंतु पेक्खंतु अज्जमिस्सा, ममकेरकेण भत्तपरिव्वएण पारलोइओ भत्ता अण्णेसीअदि। (प्रेक्षन्तां प्रेक्षन्तामार्यामिश्राः! मदीयेन भक्तपरिव्ययेन पारलौकिको भर्तान्विष्यते।)

नटी– अज्ज! पसीद पसीद। तुमं ज्जेव्व जम्मंतरे वि भविस्ससि त्ति उववसिदम्हि। (आर्य! प्रसीद प्रसीद। त्वमेव जन्मान्तरेऽपि भविष्यसीत्युपोषिताऽस्मि।)

सूत्रधारः– *अध अअं उववासो केण दे उविदिट्ठो?। (अथायमुपवासः केन तवोपदिष्ट?)*

नटी– अज्जस्स ज्जेव्व पिअवअस्सेण जुण्णवुड्ढेण। (आर्यस्यैव प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन।)

सूत्रधारः– (सकोपम्।) आः दासीए उत्ता जुण्णुवुड्ढा, कदा णु हु तुमं कुविदेण रण्णा पालएण णववहूकेसहत्थं विअ सुसुअंध कप्पिज्जंतं पेक्खिस्सं। (आः दास्याःपुत्र जूर्णवृद्ध! कदा नु खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधूकेशहस्तमिव ससुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये।)

नटी– पसीददु अज्जो। अज्जस्स ज्जेव्व पारलोइओ अअं उववासो अणुचिट्ठीअदि। (इति पादयोः पतति।) (प्रसीदत्वार्यः। आर्यस्यैव पारलौकिकोऽयमुपवासः अनुष्ठीयते।)

सूत्रधारः– अज्जे! उट्ठेहि। कधेहि एत्थ उववासे केण कज्जं? (आर्ये! उत्तिष्ठ। कथयात्रोपवासे केन कार्यम्?)

नटी– अम्हारिसजणजोग्गेण बम्हणेण उवणिमंतिदेण। (अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेनोपनिमन्त्रितेन।)

सूत्रधारः– अदो गच्छदु अज्जा। अहं पि अम्हारिसजणजोग्गं बम्हणं उवणिमंतेमि। (अतो गच्छत्वार्या। अहमप्यस्मादृशजनयोग्यं ब्राह्मणमुपनियमन्त्रयामि।)

नटी– जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता।)

सूत्रधारः– (परिक्रम्य।) हीमाणहे, ता कधं मए एव्वं सुसमिद्धाए उज्जइणीए अम्हारिसजणजोग्गी बम्हणो अण्णेसिदव्वो? (विलोक्य।) एसो चारुदत्तस्स मित्तं मित्तेओ इदो ज्जेव्व आअच्छदि। भोदु, पुच्छिस्सं दाव। अज्ज मित्तेअ! अम्हाणं गेहे असिदुं अग्गणी भोदु अज्जो। (आश्चर्यम्, तस्मात्कथं मयैवं सुसमृद्धायामुज्जयिन्यामस्मादृशजनयोग्यो ब्राह्मणोऽन्वेषितव्यः? एष चारुदत्तस्य मित्रं मैत्रेय इत एवागच्छति। भवतु, प्रक्ष्यामि तावत्। अद्य मैत्रेय! अस्माकं गृहेऽशितुमग्रणीर्भवत्वार्यः।)

अर्थः–

नटी– (प्रवेश करके अर्थात् मञ्च पर आकर) आर्य! यह (मैं) हूँ।

सूत्रधार– आर्ये! तुम्हारा स्वागत है।

नटी– आर्य! आज्ञा दें, किस आदेश का पालन किया जाय?

अर्थः– सूत्रधार –आर्ये! (बहुत देर तक संगीत कार्य करने से, इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य कहकर) हमारे घर में खाने के योग्य कुछ है अथवा नहीं?

नटी– आर्य! सब कुछ है।

सूत्रधार– क्या-क्या है?

अर्थः– नटी – तो, जैसे-गुड़-भात, घी, दही, चावल आर्य के खाने के योग्य सब प्रकार का सरस भोजन है। इस प्रकार आप के देवगण आशीर्वाद दें।

अर्थः– सूत्रधार –क्या हमारे घर में सब कुछ है? अथवा तुम मेरी हँसी उड़ा रही हो?

नटी– (अपने मन में) तो परिहास करूँगी। (प्रकट रूप में) आर्य! बाजार में हैं।

अर्थः– सूत्रधार –(क्रोध के साथ) री दुष्टे! इसी प्रकार तुम्हारी भी आशा भंग होगी और तू अभाव को प्राप्त होओगी। क्योंकि इस समय मैं लकड़ी के लम्बे लट्ठे से बँधे हुए मिट्टी के बड़े ढेले की भाँति काफी ऊँचा उठाकर पटक दिया गया हूँ अर्थात् आशा दिखला कर निराश किया गया हूँ।

अर्थः– नटी – आर्य! क्षमा करें, क्षमा करें; यह परिहास ही था।

अर्थः– सूत्रधार – तो फिर यह कैसा नवीन-सा आयोजन है? एक स्त्री कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य पीस रही है, दूसरी फूलों को गूँथ रही है और यह सामने की भूमि पाँच रंग के फूलों के उपहार से शोभित है।

नटी– आज उपवास ग्रहण किया है।

सूत्रधार– इस उपवास का क्या नाम है?

नटी– यह 'अभिरूपपति' नामक व्रत है अर्थात् इस व्रत के करने से स्त्री को सुन्दर पति मिलता है।

सूत्रधार– आर्ये! इस लोक में होने वाला पति अथवा परलोक में?

नटी– आर्य! परलोक में होने वाला।

सूत्रधार– (क्रोध के साथ) सज्जन गण! देखिए, देखिए। मेरे भात अर्थात् अन्न को व्यय करके पारलौकिक पति ढूँढ़ा जा रहा है।

नटी– आर्य! प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये। तुम्हीं दूसरे जन्म में भी मेरे पति होओगे, इसीलिए व्रत कर रही हूँ।

सूत्रधार– अच्छा, यह उपवास तुमको किसने बतलाया है?

नटी– आपके ही प्रियमित्र 'जूर्णवृद्ध' ने।

अर्थः–

सूत्रधार – (क्रोधपूर्वक) अरे! दासी के पुत्र जूर्णवृद्ध! क्रुद्ध राजा 'पालक' के द्वारा, नयी वधू के सुगन्धित केशपाश की भाँति, तुझे चीरा जाता हुआ मैं कब देखूँगा?

नटी– आर्य प्रसन्न हों। यह पारलौकिक व्रत तो आर्य के लिए ही किया जा रहा है। (ऐसा कहकर पैरों पर गिरती है।)

सूत्रधार– आर्ये! उठो। बतलाओ कि इस उपवास में क्या करना चाहिए?

नटी– अपने अनुरूप ब्राह्मण को निमन्त्रित करना चाहिए।

सूत्रधार– अच्छा, आर्ये! अब तुम जाओ। मैं भी अपने योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ।

नटी– जैसी आर्य की आज्ञा। (ऐसा कह कर चली जाती है)।

सूत्रधार– (घूम कर) आश्चर्य! तो मेरे द्वारा इस प्रकार भली भाँति सम्पन्न 'उज्जयिनी'' नगरी में अपने योग्य ब्राह्मण कैसे ढूँढ़ा जाय? (देखकर) यह 'चारुदत्त' का मित्र 'मैत्रेय' इधर ही आ रहा है। अच्छा, (इससे) पूछूँ तो। आर्य मैत्रेय! आज आप हमारे घर भोजन करने के लिए अग्रणी हों अर्थात् चलें।

(नेपथ्ये)

भो! अण्णं बम्हणं उवणिमंतेदु भवं; वावुडो दाणिं अहं। (भोः! अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयतु भवान्; व्यापृत इदानीमहम्।)

सूत्रधारः– अज्ज! संपण्णं भोअणं णीसवत्तं च। अवि अ दक्खिणा वि दे भविस्सदि। (आर्य! संपन्नं भोजनं निःसपत्नं च। अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति।)

(पुनर्नेपथ्ये)

भो, जधा दाणिं पढमं ज्जेव्व पच्चादिट्ठोसि, ता को दाणिं दे णिब्बंधो पदे पदे मं अणुबंधेदुं (भोः, यदिदानीं प्रथममेव प्रत्यादिष्टोऽसि, तत्क इदानीं ते निर्बन्धः पदे पदे मामनुरोद्धुम्?)

सूत्रधारः— पच्चादिट्टो म्हि एदिणा। भोदु, अण्णं बम्हणं उवणिमंतेमि। (प्रत्यादिष्टोऽस्म्येतेन। भवतु, अन्यं ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि।) (इति निष्क्रान्तः)

इत्यामुखम्।

(प्रविश्य प्रावारहस्तः)

मैत्रेयः— ('अण्णं बम्हणं' इति पूर्वोक्तं पठित्वा) अथवा, मए वि मित्तेएण परस्स आमंतणआइं पक्खिदव्वाइं। हा अवत्थे! तुलीअसि। जो णाम अहं तत्थभवदो चारुदत्तस्स रिद्धीए अहोरत्तं पअत्तसिद्धेहिं उग्गारसुरहिगंधेहिं मोदएहि ज्जेव्व आसिदो अब्भंतरचदुस्सालअदुए उवविट्टो मल्लक्कसदपरिवुदो चित्तअरो विअ अंगुलीहिं छिविअ छिविअ अवणेमि। णअरचत्तरवुसहो विअ रोमंथाअमाणो चिट्ठामि, सो दाणिं अहं तस्स दलिद्ददाए जहिं तहिं चरिअ गेहपारावदो विअ आवासणिमित्तं इध आअच्छामि। एसो अज्जचारुदत्तस्स पिअवअस्सेण जुण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स उवणेदव्वो त्ति। ता जाव अज्जचारुदत्तं पेक्खामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो अज्जचारुदत्तो सिद्धीकिददेवकज्जो गिहदेवदाणं बलिं हरेतो इदो ज्जेव्व आअच्छदि। (अथवा मयापि मैत्रेयेण परस्यामन्त्रणकानि समीहितव्यानि? हा अवस्थे! तुलर्यास। यो नामाहं तत्रभवतश्चारुदत्तस्य ऋद्धयाऽहोरात्र प्रयत्नसिद्धैरुद्गारसुरभिगन्धिभिर्मोदकैरेवाशितोऽभ्यन्तरचतुःशालकद्वार उपविष्टो मल्लकशतपरिवृतश्चित्रकर इवांगुलीभिः स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वापनयामि, नगरचत्वरवृषभ इव रोमन्थायमानस्तिष्ठामि, स इदानीमहं तस्य दरिद्रतया यत्र तत्र चरित्वा गृहपारावत इवावासनिमित्तमत्रागच्छामि। एष चार्यचारुदत्तस्य प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्योपनेतव्य इति। तद्यावदार्यचारुदत्तं पश्यामि। एष आर्यचारुदत्तः सिद्धीकृतदेवकार्यो गृहदेवतानां बलिं हरन्निव एवागच्छति।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टश्चारुदत्तो रदनिका च)

चारुदत्तः— (ऊर्ध्वमवलोक्य सनिर्वेदं निःश्वस्य च)

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव संप्रति विरूढतृणाकुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः।।६।।

(नेपथ्य में)

अरे! आप दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रण दें। इस समय मैं कार्य में व्यस्त हूँ।

सूत्रधार— आर्य! भोजन तैयार है तथा इसमें दूसरा विपक्षी भी नहीं है अर्थात् एकमात्र आप ही खाने के लिए निमन्त्रित है और दक्षिणा भी तुम्हें मिलेगी।

(फिर नेपथ्य में)

अरे! अभी पहले ही जब तुम्हें मना कर दिया गया है अर्थात् तुम्हारा निमन्त्रण अस्वीकृत कर दिया गया है, तब इस समय पग पग पर मुझसे अनुरोध करने के लिए तुम्हारा यह कैसा हठ है?

सूत्रधार — इसने तो मुझे इन्कार कर दिया। अच्छा, दूसरे ब्राह्मण को निमन्त्रित करता हूँ।

(ऐसा कह कर बाहर चला जाता है)।

(आमुख समाप्त)

(हाथ में उत्तरीय वस्त्र = दुपट्टा लिए हुए प्रवेश करके)

मैत्रेय— ('दूसरे ब्राह्मण को....' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य को पढ़कर) अथवा, मुझ मैत्रेय को भी दूसरों के निमन्त्रण की इच्छा क्यों करनी चाहिए? हा अवस्थे! तुम मेरी परीक्षा ले रही हो। जो मैं श्रद्धेय 'चारुदत्त' की सम्पन्नता के कारण अर्थात् चारुदत्त की सम्पन्नता की अवस्था में यत्नपूर्वक बनाए गये, खाने के बाद डकार में सुगन्धि लाने वाले लड्डुओं को रात-दिन खाकर तृप्त, भीतरी चतुःशाला के द्वार पर बैठा हुआ, सैकड़ों मल्लकों (रंगों से भरे हुए कसोरा) से घिरे हुए चित्रकार की भाँति

(खाद्य–पदार्थों से भरे हुए सैकड़ों पत्रपुटों = दोना को) अंगुलियों से छू–छू कर छोड़ देता था, नगर के प्रांगण के साँड़ की भाँति जुगाली करता बैठा रहता था, वही मैं इस समय उन चारुदत्त की निर्धनता के कारण पालतू कबूतर की भाँति जहाँ–तहाँ घूमकर (भोजन के लिए भटककर) निवास करने के लिए यहाँ चारुदत्त के घर में आ रहा हूँ। आर्य 'चारुदत्त' के प्रिय मित्र 'जूर्णवृद्ध' ने चमेली के फूलों से सुवासित यह उत्तरीय भेजा है कि देवताओं की पूजा से निवृत्त हो जाने पर इसे आर्य 'चारुदत्त' के पास पहुँचा देना अर्थात् आर्य 'चारुदत्त' को दे देना। तो तब तक आर्य 'चारुदत्त' को देखता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह आर्य 'चारुदत्त' देवताओं की पूजा से निवृत्त होकर गृह–देवताओं की बलि (पूजा की सामग्री) लेकर इधर ही आ रहे हैं।

(इसके बाद गृह देवताओं की पूजन–सामग्री हाथ में लिए 'चारुदत्त' और 'रदनिका' प्रवेश करते हैं।)

अन्वयः– यासाम्, मद्गृहदेहलीनाम्, बलिः, सपदि, हंसैः, च, सारसगणैः, विलुप्तपूर्वः, सम्प्रति, वरूढतृणांकुरासु, तासु, एव, कीटमुखावलीढः, बीजाञ्जलिः, पतति।।६।।

शब्दार्थः– यासाम् = जिन, मद्गृहदेहलीनाम् = हमारे घर की देहलियों की, बलिः = पूजा में चढ़ाये गये अक्षत आदि, सपदि = शीघ्र ही, हंसैः = हंसों के द्वारा, च = और, सारसगणैः = सारस पक्षियों के झुंडों के द्वारा, विलुप्तपूर्वः = पहले खाकर समाप्त कर दी जाती थी, सम्प्रति = इस समय, विरूढतृणांकुरासु = उगे हुए तृणांकुरों से युक्त, तासु = उन देहलियों पर, एव = ही, कीटमुखावलीढः = कीड़ों के मुख के द्वारा खायी गयी, बीजाञ्जलिः = बीजों, (चावलों आदि) की अञ्जलि, पतति = गिरती है।

अर्थः– **चारुदत्त–** (ऊपर की ओर देखकर और दुःख के साथ लम्बी साँस लेकर)

मेरे घर की जिन देहलियों पर रक्खे गये पूजा के अक्षत आदि पदार्थ पहले (मेरी सम्पन्न दशा में) हंस और सरसों के द्वारा (खाये जाकर) समाप्त कर दिये जाते थे; आज (निर्धनता की अवस्था में) उगे हुए तृणांकुरों से युक्त उन्हीं देहलियों पर कीड़ों के मुख–द्वारा खाये हुए बीजों की अञ्जलि गिरती है।।६।।

(ऐसा कहकर धीरे–धीरे घूमकर बैठ जाता है।)

टीका– यासाम्, मम = चारुदत्तस्य गृहाणि = भवनानि इति मद्गृहाणि तेषाम् या देहल्यः = द्वारपीण्डिकाः, बहिर्द्वारस्य काष्ठखण्डविशेषाः, तासाम्; बलिः = पूजाप्रयुक्ताक्षतादिद्रव्यम्; सपदि = झटिति; हंसैः = मरालैः; च = तथा; सारसानाम् = पक्षिविशेषाणाम् गणैः = समूहैः; पूर्वम् विलुप्तः = भक्षितः इति विलुप्तपूर्वः; सम्प्रति = अधुना; मम दारिद्र्यकाले इत्यर्थः; विरूढाः = संस्काराभावात् वृद्धिंगताः तृणांकुराः = शष्पांकुराः यासु तासु; तासु = गृहदेहलीषु; एव; कीटमुखैः = कीटाननैः अवलीढः = खण्डितः आस्वादितो वा; बीजानाम् = तण्डुलादीनाम् अञ्जलिः = समूहः; पतति = पतितो भवति।।६।।

इस श्लोक में 'पर्याय' अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण है– 'उक्ता वसन्ततिलका त भ जा ज गौ गः'।।६।।

(इति मन्दं मन्दं परिक्रम्योपविशति)

विदूषकः– एसो अज्ज्चारुदत्तो। ता जाव संपदं उवसप्पामि। (उपसृत्य) सोत्थि भवदे। वड्ढदु भवं। (एष आर्यचारुदत्तः। तद्यावत्सांप्रतमुपसर्पामि। स्वस्ति भवते। वर्धतां भवान्।

चारुदत्तः–अये! सर्वकालमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः। सखे! स्वागतम्। आस्यताम्।

विदूषकः–जं भवं आणवेदि। (उपविश्य) भो वअस्स! एसो दे पिअवअस्सेण जुण्णवुड्ढेण जादीकुसुमवासिदो पावारओ अणुप्पेसिदो सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स तुए उवणेदव्वो त्ति। (समर्पयति) (यद्भवानाज्ञापयति। भो वयस्य! एष ते प्रियवयस्येन जूर्णवृद्धेन जातीकुसुमवासितः प्रावारकोऽनुप्रेषितः सिद्धीकृतदेवकार्यस्यार्यचारुदत्तस्य त्वयोपनेतव्य इति।)

(चारुदत्तो गृहीत्वा सचिन्तः स्थितः)

विदूषकः - भो! किं इदं चिंतीअदि?। (भोः, किमिदं चिन्त्यते?।)

चारुदत्तः - वयस्य!

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति।।१०।।

अर्थः– विदूषक – यह आर्य चारुदत्त हैं। तो मैं अब इनके समीप चलता हूँ। (समीप जाकर) आप का कल्याण हो। आप की वृद्धि हो।

चारुदत्त— अरे! सब समय का मित्र अर्थात् सुख–दुःख का समान मित्र मैत्रेय आया है। मित्र! स्वागत है। बैठिए।

विदूषक— जैसी आप की आज्ञा। (बैठकर) हे मित्र! चमेली के फूलों से सुगन्धित यह उत्तरीय आपके प्रिय मित्र [illegible] है (और कहा है कि) तुम इसे देवताओं की पूजा से निवृत्त हुए आर्य 'चारुदत्त' को दे देना। (समर्पित करता है।

('चारुदत्त' ग्रहण करके चिन्तित हो जाता है।)

विदूषक— अरे! क्या सोच रहे हो?

अन्वयः— घनान्धकारेषु, दीपदर्शनम्, इव, दुःखानि, अनुभूय, सुखम्, हि, शोभते, यः, नरः, सुखात्, दरिद्रताम्, याति, स शरीरेण अपि, मृतः, (इव), जीवति।।१०।।

शब्दार्थः— घनान्धकारेषु = गाढ़े अँधेरे में, दीपदर्शनम् = दीपक के प्रकाश (की), इव = भाँति, दुःखानि = कष्ट, अनुभूय = अनुभव करके, सुखम् = सुख, आनन्द, हि = निश्चित, शोभते = शोभित होता है। तु = किन्तु, यः = जो, नरः = व्यक्ति, सुखात् = सुख से अर्थात् सुख भोग करके, दरिद्रताम् = दरिद्रता को, याति = जाता है, प्राप्त होता है, सः = वह, शरीरेण = शरीर से, धृतः = धारण किया गया, अपि = भी, मृतः = मरा, इव = जैसा, जीवति = जीवित रहता है।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र! घने अन्धकार में दीपक के प्रकाश की भाँति दुःखों का अनुभव करने के अनन्तर सुख शोभित होता किन्तु जो मनुष्य सुख भोग करके निर्धनता को प्राप्त होता है वह तो शरीर से रहता हुआ भी अर्थात् शरीर धारण किए हुए भी मृतक के समान जीवन व्यतीत करता है।।१०।।

टीका— घनाः = निबिडाः अन्धकाराः = तिमिराणि तेषु; दीपदर्शनम् = दीपप्रकाशः इव; दुःखानि = कष्टानि, अनुभूय = [illegible] स्थितस्य जनस्येति शेषः; सुखम् = आनन्दः; हि = अवश्यम्; शोभते = राजते; तु = किन्तु; यः नरः = मनुष्यः, सुखात् = आनन्दानुभवात् अनन्तरमिति शेषः; दरिद्रताम् = निर्धनताम्; याति = गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः; सः = जनः, शरीरेण = [illegible] धृतः = संयुक्तः; अपि, मृतः = निष्प्राणः; इव = यथा; जीवति = प्राणान् धारयति।।१०।।

इस श्लोक के पहले वाले आधे हिस्से में उपमा अलंकार और उत्तर वाले भाग में अप्रस्तुत प्रशंसा तथा (मृतः स जीव में विरोधाभास अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है–वंशस्थ। छन्द का लक्षण इस प्रकार है– "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ"।।१०।।

विदूषकः— भो वअस्स! मरणादो दालिद्दादो वा कदरं दे रोअदि? (भो वयस्य! मरणाद्दारिद्र्याद्वा कतरत्ते रोचते?)

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्।।११।।

अर्थः— विदूषक — हे मित्र! मृत्यु और निर्धनता में से तुम्हें कौन–सी अच्छी लगती है?

अन्वयः— दारिद्र्यात्, मरणात्, वा, मम, मरणम्, रोचते, दारिद्र्यम्, न, (यतः), मरणम्, अल्पक्लेशम्, (अस्ति), दारिद्र्यम्, अनन्तकम्, दुःखम्, (अस्ति)।।११।।

शब्दार्थ— दारिद्र्यात् = निर्धनता से, मरणात् = मरने से, अर्थात् निर्धनता और मृत्यु में से, वा = इसका प्रयोग विकल्प के अर्थ में होता है, मम = मुझे, मरणम् = मृत्यु, रोचते = अच्छी लगती है, दारिद्र्यम् = निर्धनता, न = नहीं, (यतः = क्योंकि), मरणम् = मृत्यु, अल्पक्लेशम् = कम दुःखदायी, (अस्ति = है), दारिद्र्यम् = दरिद्रता, अनन्तकम् = अनन्त, कभी भी न समाप्त होने वाला, दुःखम् = दुःख, (अस्ति = है)।।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र! दरिद्रता और मृत्यु में से मुझे मृत्यु अच्छी लगती है, दरिद्रता नहीं। मृत्यु कम कष्टवाली होती है किन्तु दरिद्रता कभी न समाप्त होने वाला दुःख है अर्थात् दरिद्रता में जीवन पर्यन्त दुःख भोगना पड़ता है।।११।।

टीका— दारिद्र्यात् = दैन्यात् निर्धनत्वाद्वा; मरणात् = जीवनत्यागात्; वा; दैन्यमरणयोः मध्ये इत्यर्थः, मम = चारुदत्तस्य, मरणम् = मृत्युः; रोचते = प्रीणाति; दारिद्र्यम् = दैन्यम्; न रोचते इति शेषः। यतः मरणम् = मृत्युः; अल्पक्लेशः अल्पः = दारिद्र्यात् लघुः, क्लेशः = दुःखम् यस्मिन् तत्, अस्ति; दारिद्र्यम् = निर्धनत्वम्; तु अनन्तकम् = न विद्यते अन्तः = समाप्तिः यस्य तत् तादृशम्; दुःखम्। जीवनपर्यन्तं दुःखप्रदत्वात् दारिद्र्यम् अनन्तदुःखमेवेति तात्पर्यम्।।११।।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उक्त आर्य के साथ उत्तरार्द्ध वाक्य का अर्थ हेतुरूप में अन्वित होता है, अतः यहाँ काव्यलिंग अलंकार है। अथवा सामान्य से विशेष का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है आर्या।।११।।

विदूषकः— भो वअस्स! अलं संतप्पिदेण। पणइजणसंकामिदविहवस्स सुरजणपीदसेसस्स पडिवच्चंदस्स विअ परिक्खओ वि दे

अहिअदरं रमणीओ। (भो वयस्य! अलं संतप्तेन; प्रणयिजनसंक्रामितविभवस्य सुरजनपीतशेषस्य प्रतिपच्चन्द्रस्येव परिक्षयोऽपि तेऽधिकतरं रमणीयः।)

चारुदत्तः— **वयस्य! न ममार्थान्प्रति दैन्यम्। पश्य,—**

एतत्तु मां दहति यद्गृहमस्मदीयं
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम्।।१२।।

अर्थः— विदूषक — हे मित्र! दुःख करना व्यर्थ है प्रेमीजनों को सम्पत्ति दे डालने वाले आपको निर्धनता भी देवों के द्वारा पीने से बचे हुए प्रतिपदा तिथि के चन्द्रमा की (क्षीणता की) भाँति, अत्यधिक अच्छी लगती है।

अन्वयः— भ्रमन्तः, मधुकराः, कालात्यये, संशुष्कसान्द्रमदलेखम्, करिणः, कपोलम्, इव, अतिथयः, क्षीणार्थम्, इति, यत्, अस्मदीयम्, गृहम्, परिवर्जयन्ति, एतत्, तु, माम्, दहति।।१२।।

शब्दार्थः— भ्रमन्तः = इधर–उधर घूमने वाले, मधुकराः = भौंरे, कालात्यये = समय बीत जाने पर अर्थात् मद बहने के समय के समाप्त हो जाने पर, संशुष्क–सान्द्रमदलेखम् = सूखी हुई गाढ़ी मद की धारा वाले, करिणः = हाथी के, कपोलम् इव = गण्डस्थल की भाँति, अतिथयः = मेहमान, आगन्तुक, क्षीणार्थम् = धन से हीन, इति = ऐसा (समझकर), यत् = जो कि, अस्मदीयम् = हमारे, गृहम् = घर को, परिवर्जयन्ति = छोड़ दे रहे हैं, एतत् = यह, तु = ही, माम् = मुझको, दहति = जला रहा है।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र! धन नष्ट हो जाने के विषय में मुझे दुःख नहीं है। देखो—

मुझे यह बात सन्तप्त कर रही है कि हमारे घर को धन से रहित समझ कर अतिथि लोग इसका उसी प्रकार से परित्याग करते हैं, जिस प्रकार (मद बहने के) समय के बीत जाने पर मँडराने वाले भौंरे सूखी हुई गाढ़ी मद की धारा वाले हाथी के गण्डस्थल (कपोल) को त्याग देते हैं।।१२।।

टीका— भ्रमन्तः = इतस्ततः चरन्तः, मधुकराः = भ्रमराः; कालस्य = मदसमयस्य अत्यये = अपगमे; संशुष्काः = शोषं प्राप्ताः सान्द्राः = निबिडाः; मदलेखाः = मदप्रवाहरेखाः यस्य यस्मिन् वा तम्; करिणः = हस्तिनः; कपोलम् = गण्डस्थलम्; इव = यथा; न विद्यते तिथिः द्वितीया अथवा न विद्यते तिथिः = निर्धारितः कालः येषां ते अतिथयः = अभ्यागताः; क्षीणार्थम् = धनहीनम्; इति = इत्थम् मत्वा इति शेषः, यत् अस्मदीयम् = मामकीनम्; गृहम् = भवनम्; परिवर्जयन्ति = विहाय अन्यत्र गच्छन्ति; एतत् = अतिथिपरिवर्जनम्; तु = एव, अर्थात् अतिथिपरिवर्जनमेव; माम् = चारुदत्तम्; दहति = सन्तापयति।।१२।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है। इस छन्द का लक्षण है—'उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौ गः।।'१२।।

विदूषकः— भो वअस्स! एदे खु दासीए पुत्ता अत्थकल्लवत्ता वरडाभीदा विअ गोवालदारआ अरण्णे जहिं जहिं ण खज्जंति तहिं तहिं गच्छंति। (भो वयस्य! एते खलु दास्याःपुत्रा अर्थकल्यवर्ता वरटाभीता इव गोपालदारका अरण्ये यत्र यत्र न खाद्यन्ते तत्र तत्र गच्छन्ति।

चारुदत्त— **वयस्य!**

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति।।१३।।

अर्थः— विदूषक — हे मित्र! दासी के पुत्र, प्रातःकालीन जलपान की भाँति (तुच्छ) ये धन वन में बर्रे से डरे हुए गायों के चरवाहों की भाँति वहीं–वहीं जाते हैं जहाँ खाये नहीं जाते।

अन्वयः— सत्यम्, मे, चिन्ता, विभवनाशकृता, न, अस्ति, हि, धनानि, भाग्यक्रमेण, भवन्ति, (तथा) यान्ति, तु, एतत्, माम्, दहति, यत्, जनाः, नष्टधनाश्रयस्य, सौहृदात्, अपि, शिथिलीभवन्ति।।१३।।

शब्दार्थः— सत्यम् = वस्तुतः, मे = मेरी, चिन्ता, विभवनाशकृता = धन के नाश से होनेवाली, न = नहीं, अस्ति = है, हि = क्योंकि, धनानि = सम्पत्तियाँ, भाग्यक्रमेण = भाग्य के अनुसार, भवन्ति होती हैं, तथा, यान्ति = चली जाती हैं। तु = किन्तु, एतत् = यह, माम् = मुझको, दहति = जलाता है, यत् = कि, जनाः = लोग, नष्टधनाश्रयस्य = धनरूपी आश्रय के नष्ट हो जाने

वाले (व्यक्ति) की, सौहृदात् = मित्रता से, अपि = भी, शिथिलीभवन्ति [illegible] जाते हैं।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र।

वस्तुतः, मुझ धन के नष्ट हो जाने की चिन्ता नहीं है, क्योंकि भाग्य के अनुसार धन प्राप्त होते और चले जाते हैं। यह बात मुझे जलाती है कि जिसका धनरूपी आश्रय नष्ट हो जाता है अर्थात् जो निर्धन हो जाता है उसकी मित्रता से भी लोग शिथिल हो जाते हैं।।१३।।

टीका— सत्यम् = वस्तुतः; मे = मम; चिन्ता = परितापभावना; विभवनाशेन = धनक्षयेण कृता = विहिता; धननाशात्र [illegible] = नहि; अस्ति = वर्तते; हि = यतः; धनानि = विभवा; भाग्यस्य = दैवस्य क्रमेण = अनुसारेण भवन्ति = जायन्ते [illegible] यान्ति = नश्यन्ति; किंकृता तर्हि चिन्ता? इत्याह—तु = किन्तु; एतत् माम् = निर्धनम् चारुदत्तम्, दहति = सन्तापयति [illegible] जनाः = लोकाः; धनमेव आश्रयः धनाश्रय नष्ट = क्षीणः धनाश्रय = विभवाश्रयः यस्य तस्य निर्धनस्येत्यर्थः [illegible] = मित्रभावात्; शिथिलीभवन्ति = प्रयोजनविरहात् मित्रताम् अपि परित्यजन्ति।।१३।।

प्रथमार्द्ध में काव्यलिंग अलंकार तथा 'नष्टधनाश्रयस्य' में रूपक अलंकार होने से इस श्लोक मे सकर अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका।।१३।।

अपि च,—

दारिद्र्यादि्ध्रयमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रंश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्।।१४।।

अन्वयः— (मनुष्यः) दारिद्र्यात्, ह्रियम्, एति, ह्रीपरिगतः, तेजसः, प्रभ्रंश्यते, निस्तेजः, परिभूयते, परिभवात्, निर्वेदम्, आपद्यते [illegible] शुचम्, एति, शोकपिहितः, बुद्ध्या, परित्यज्यते, निर्बुद्धिः, क्षयम्, एति, अहो निर्धनता, सर्वापदाम्, आस्पदम्।।१४

शब्दार्थः— (मनुष्य) दारिद्र्यात् = दरिद्रता से, ह्रियम् = लज्जा को, एति = प्राप्त होता है, ह्रीपरिगतः = लज्जित व्यक्ति [illegible] तेजस्विता से, प्रताप से, प्रभ्रंश्यते = भ्रष्ट होता है, निस्तेजः = तेजहीन, परिभूयते = तिरस्कृत, अपमानित होता है [illegible] = तिरस्कार से, निर्वेदम् = खेद को, ग्लानि को, आपद्यते = प्राप्त करता है, निर्विण्णः = ग्लानियुक्त, शुचम् = शोक को, एति = प्राप्त होता है, शोकपिहितः = शोकाकुल, बुद्ध्या = बुद्धि के द्वारा, परित्यज्यते = छोड़ दिया जाता है, निर्बुद्धि = बुद्धिहीन, क्षयम् = नाश को, एति = जाता है, प्राप्त होता है, अहो = खेद है, निर्धनता = दरिद्रता, सर्वापदाम् = सभी आपत्तियों की, आस्पदम् = जड़ (है)।।

अर्थः— और भी—

(मनुष्य) दरिद्रता से लज्जा को प्राप्त होता है, लज्जित (व्यक्ति) तेज रहित हो जाता है, तेजहीन तिरस्कृत होता है, तिरस्कार से ग्लानि को प्राप्त होता है, ग्लानियुक्त शोक सन्तप्त होता है, शोकाकुल व्यक्ति बुद्धि (विवेक) के द्वारा परित्यक्त [illegible] है अर्थात् शोकाकुल व्यक्ति विवेक को खो बैठता है, और निर्बुद्धि नाश को प्राप्त होता है—अहो! दरिद्रता सभी आपत्तियों की जड़ है।।१४।।

टीका— मनुष्यः = जनः; दारिद्र्यात् = निर्धनत्वात्; ह्रियम् = लज्जाम्; एति = याति; लज्जितः भवति; ह्रिया = लज्जया [illegible] आच्छन्नः; तेजसः = प्रतापात्; प्रभ्रंश्यते = प्रच्युतः भवति; निस्तेजः = तेजहीनः; परिभूयते = तिरस्क्रियते, [illegible] परिभवात् = तिरस्कारात्; निर्वेदम् = ग्लानिम्; आपद्यते = प्राप्नोति; निर्विण्णः = ग्लानियुक्तः; शुचम् = शोकम् [illegible] प्राप्नोति; शोकेन = वेदनया पिहितः = आविष्टः; बुद्ध्या = विवेकेन; परित्यज्यते = विहीयते; निर्बुद्धि [illegible] = नाशम्; एति = गच्छति; अहो = एतत् आश्चर्यद्योतकम् अव्ययम्; निर्धनता = दरिद्रता; सर्वापदाम् [illegible] = विपत्तीनाम्; आस्पदम् = स्थानम्।।१४।।

यहा कारणमाला अलंकार है। 'यथोत्तरं चेत् पूर्वस्यार्थस्य हेतुता तदा कारणमाला स्यात्'

इस श्लोक के छन्द का नाम शार्दूलविक्रीडित है,—लक्षण—"सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् [illegible]

विदूषकः— भो वअस्स! तं ज्जेव अत्थकल्लवत्तअं सुमरिअ अलं संतप्पिदेण। (भो वयस्य! तमेवार्थकल्यवर्तं स्मृत्वालं सन्तापितेन।)

चारुदत्तः— वयस्य! दारिद्र्यं हि पुरुषस्य,—

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम्।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति संतापयति च।।१५।।

अर्थः— **विदूषकः**— हे मित्र! प्रातःकालीन जलपान रूप उसी धन का स्मरण कर दुःख करना व्यर्थ है।

अन्वयः— (हि, दारिद्र्यम्, पुरुषस्य) चिन्तायाः, निवासः, परपरिभवः, अपरम्, वैरम्, मित्राणाम्, जुगुप्सा, स्वजनजनविद्वेषकरणम्, च, कलत्रात्, परिभवः, (भवति, अतः) वनम्, गन्तुम्, बुद्धिः, भवति, च, हृदिस्थः, शोकाग्निः, न, दहति (किन्तु दरिद्रम्) सन्तापयति च।।१५।।

शब्दार्थः— हि = क्योंकि, दारिद्र्यम् = गरीबी, पुरुषस्य = पुरुष की, चिन्तायाः = चिन्ता का, निवासः = घर (है), परपरिभवः = दूसरों के द्वारा किये जाने वाले अनादर का कारण है, अपरम् = दूसरी, विलक्षण, वैरम् = शत्रुता (है); मित्राणाम् = मित्रों की, जुगुप्सा = घृणा है, स्वजनजनविद्वेषकरणम् = अपने भाई बन्धुओं तथा अन्य लोगों के द्वेष का कारण है, कलत्रात् = स्त्री के पास से अर्थात् स्त्री के द्वारा, परिभवः = तिरस्कार, (भवति) = होता है, अतः = इसीलिये वनम् = वन को, गन्तुम् = जाने के लिये, बुद्धिः = विचार, भवति = होता है, च = वन जाने की इच्छा में स्त्री का तिरस्कार कारण है, यह भाव इससे सूचित होता है, हृदिस्थः = हृदय में वर्तमान, शोकाग्निः = शोकरूपी आग, न = नहीं, दहति = जलाती है (किन्तु, दरिद्रम् = दरिद्रको) सन्तापयति = सन्तप्त करती है, च = यह सन्ताप की अधिकता को सूचित करता है।।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र! निर्धनता ही पुरुषों की—चिन्ता का घर (निवास—स्थान) है; दूसरों के द्वारा किये जाने वाले अनादर का कारण है; दूसरी (विलक्षण) शत्रुता है; मित्रों की घृणा तथा अपने भाई बन्धुओं एवं अन्य लोगों के द्वेष का कारण है। पत्नी के द्वारा भी (उसका) तिरस्कार होता है। अतः (दरिद्र व्यक्ति की) वन में चले जाने की इच्छा होती है। हृदय में वर्त्तमान शोकाग्नि एक बार ही जला नहीं डालती किन्तु सन्तप्त करती है (अर्थात् धीरे—धीरे जला—जलाकर मारती है)।।१५।।

टीका— दारिद्र्यम् हि पुरुषस्य (इति गद्यभागेन अन्वयः) चिन्तायाः = कथं मम निर्वाहः स्यात्? इत्येवम् रूपायाः; निवासः = आश्रयः; परेषाम् = अन्येषाम् परिभवः = तिरस्कारस्थानमिति भावः। अपरम् = अन्यत् अथवा विलक्षणम्; वैरम् = शत्रुभावः, शत्रुवत् दुःखकारणतया इति ज्ञेयम्; मित्राणाम् = सुहृदाम्; जुगुप्सा = घृणा, तत्कारणमिति भावः; स्वजनानाम् = बन्धूनाम् जनानाम् = सामान्यलोकनाम् च विद्वेषस्य = शत्रुभावस्य करणम् = हेतुः च भवति। कलत्रात् = भार्यायाः; परिभवः = अनादरः; भवति दरिद्रस्य इति शेषः। अतः तस्य वनम् = अरण्यम्; गन्तुम् = यातुम्; बुद्धिः = मतिः; भवति = जायते; च = चकारो हेतौ। हृदिस्थः = हृदये वर्त्तमानः; शोकस्य = सन्तापस्य; अग्निः = वह्निः; न दहति = न भस्मीकरोति; किन्तु सन्तापयति = सन्तापम् जनयति, दरिद्रमिति शेषः; चकारः सन्तापस्य दुःसहनीयत्वद्योतनार्थम्।।१५।।

यहाँ दरिद्रता का 'चिन्ता का निवास' इत्यादि अनेक प्रकार से उल्लेख होने के कारण उल्लेख अलंकार है। 'शोकाग्नि' में रूपक है। अग्निरूप कारण के रहने पर भी दाह रूप कार्य नहीं होता इस कथन में विशेषोक्ति है। इन अलंकारों में परस्पर अंगांगिभाव होने के कारण संकर अलंकार इस श्लोक में है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शिखरिणी। इसका लक्षण इस प्रकार है—

'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी'।।१५।।

तद्यस्य! कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः। गच्छ, त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर।

विदूषकः—ण गमिस्सं। (न गमिष्यामि।)

चारुदत्तः— किमर्थम्?

विदूषकः—जदो एव्वं पूइज्जंता वि देवणा ण दे पसीदंति, ता को गुणो देवेसु अच्चिदेसु? (यत एवं पूज्यमाना अपि देवता न ते प्रसीदन्ति, तत्को गुणो देवेष्वर्चितेषु?)

चारुदत्तः—वयस्य! मा मैवम्, गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः;

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः?।।१६।।

अर्थः— तो मित्र! मैंने गृह—देवताओं को पूजा सामग्री दे दी है। जाओ तुम भी चौराहे पर मातृ—देवियों को पूजा सामग्री चढ़ा आओ।

विदूषक— मैं नहीं जाऊँगा।

चारुदत्त– किस लिए?

विदूषक– इस प्रकार (विधिवत्) पूजा करने पर भी देवता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं होते तो उनकी (देवताओं की) पूजा में क्या गुण है (पूजित देवों में क्या गुण है)?

अन्वयः– तपसा, मनसा, वाग्भिः, बलिकर्मभिः, पूजिताः, देवताः, शमिनाम्, नित्यम्, तुष्यन्ति, विचारितैः, किम्।।१६।

शब्दार्थः– तपसा = तपस्या से, मनसा = मन से, वाग्भिः = वचनों से, स्तुतियों से, बलिकर्मभिः = पूजा के कार्यों से पूजिताः = पूजित किये गये, देवताः = देव गण, शमिनाम् = शान्तचित्तवाले व्यक्तियों के (ऊपर), नित्यम् = सर्वदा, तुष्यन्ति = सन्तुष्ट रहते हैं, विचारितैः = विचारों से, तर्क–वितर्क करने से, किम् = क्या लाभ?।।

अर्थः– **चारुदत्त**– मित्र! ऐसा मत कहो। गृहस्थाश्रम में रहने वाले व्यक्तियों का यह (देवों की पूजा करना) नित्य कर्म तप, मन, वचनों (स्तुतियों) एवं बलिकर्मों अर्थात् पूजा में समर्पित फल, अक्षत आदि सामानों के द्वारा पूजित देवता शान्त चित्तवाले व्यक्तियों से सर्वदा सन्तुष्ट रहते हैं। (इसमें) तर्क–वितर्क करने से क्या लाभ?।।१६।।

टीका– तपसा = तपस्यया; मनसा = चेतसा ध्यानेन वा; वाग्भिः = स्तुति–पाठादिरूपैः वचनैः; बलिकर्मभिः = पूजाकार्यैः पूजिताः = अर्चिताः; देवताः = देवाः; शमः एषां विद्यते इति शमिनः तेषां शमिनाम् = शान्तचित्तानाम्; नित्यम् = सततम् तुष्यन्ति = सन्तुष्टाः भवन्ति; विचारितैः = विचारणैः तर्कवितर्कैः वा; किं फलम्? सफलं निष्फलं वा इदं देवकर्म अत्र चेतसः कर्तव्यं इति तात्पर्यम्।।१६।।

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है। १६।।

तद्गच्छ, मातृभ्यो बलिमुपहर।

विदूषकः– भो! ण गमिस्सं; अण्णो को वि पउंजीअदु। मम उण बम्हणस्स सव्वं ज्जेव्व विपरीदं परिणमदि। आदंसगदा विअ छाआ वामादो दक्खिणा दक्खिणादो वामा। अण्णं च एदाए पदोसवेलाए इध राअमग्गे गणिआ विडा चेडा राअवल्लहा अ पुरिसा संचरंति। ता मंडूअलुद्धस्स कालसप्परस मूसिओ विअ अहिमुहावत्थिदो वज्झो दाणिं भविस्सं। तुमं इध उवविट्ठो किं करिस्ससि? (भोः! न गमिष्यामि; अन्यः कोऽपि प्रयुज्यताम्। मम पुनर्ब्राह्मणस्य सर्वमेव विपरीतं परिणमति; आदर्शगतेव छाया वामतो दक्षिणा दक्षिणतो वामा। अन्यच्चैतस्यां प्रदोषवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राजवल्लभाश्च पुरुषाः संचरन्ति। तस्मान्मण्डूकलुब्धस्य कालसर्पस्य मूषिक इवाभिमुखापतितो वध्य इदानीं भविष्यामि। त्वमिह उपविष्टः किं करिष्यसि?।)

चारुदत्तः– भवतु, तिष्ठ तावत्; अहं समाधिं निर्वर्तयामि।

(नेपथ्ये)

तिष्ठ वसन्तसेने! तिष्ठ।

(ततः प्रविशति विटशकारचेटैरनुगम्यमाना वसन्तसेना)

विटः– वसन्तसेने! तिष्ठ तिष्ठ,

किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या
नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती।
उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टि-
र्व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि?।।१७।।

अर्थः– तो जाओ, मातृ–देवियों को बलि (पूजा) समर्पित कर दो। विदूषक – जी, मैं नहीं जाऊँगा। किसी दूसरे व्यक्ति को भेज दो। जिस प्रकार दर्पण (शीशा) में पड़ने वाली परछाई (प्रतिबिम्ब) बायें से दाहिनी ओर तथा दाँये से बाईं ओर हो जाती है (अर्थात् जिस प्रकार शीशे में दाहिना भाग वाम और वाम भाग दाहिना दिखाई देता है); उसी प्रकार मुझ ब्राह्मण का सब कुछ विपरीत (उल्टा) ही फल देता है। और दूसरी बात यह है कि इस सन्ध्या–समय में यहाँ सड़क पर वेश्या, विट, चेट और राजा के स्नेही जन (राजश्याल) घूम रहे हैं। तो मैं, मेंढक के लोभी काले सर्प के सामने आए हुए चूहे के समान, इस समय वध्य हो जाऊँगा (अर्थात् जान से मारा जाऊँगा)। तुम यहाँ बैठे हुए क्या करोगे?।

चारुदत्त– अच्छा, तब तक ठहरो। मैं समाधि (सन्ध्या) समाप्त करता हूँ।

(नेपथ्य में)

ठहर, वसन्तसेने? ठहर।

(इसके बाद विट, शकार तथा चेट के द्वारा पीछा की जाती हुई 'वसन्तसेना' प्रवेश करती है)

अन्वयः— भयेन, परिवर्तितसौकुमार्या, नृत्यप्रयोगविशदौ, चरणौ, क्षिपन्ती, उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टिः, त्वम्, व्याधानुसारचकिता, हरिणी, इव, किम्, यासि? ।।१७।।

शब्दार्थः— भयेन = भय के कारण, परिवर्तितसौकुमार्या = सुकुमारता को छोड़ देने वाली अर्थात् सुकुमार मन्दगति को त्याग देने वाली, नृत्यप्रयोगविशदौ = नाचने की कला में निपुण, चरणौ = पैरों को, क्षिपन्ती = जल्दी जल्दी आगे बढ़ाती हुई, उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविसृष्टदृष्टिः = भयविह्वल एवं चञ्चलकटाक्षों से देखती हुई, त्वम् = तुम, व्याधानुसारचकिता = शिकारी के द्वारा पीछा करने से चकित हुई, हरिणी इव = हिरनी के समान, किम् = क्यों, यासि = जा रही हो, भाग रही हो? ।।

अर्थः— विट — वसन्तसेने! ठहर, ठहर,

भय के कारण सुकुमार मन्दगति को त्याग देने वाली, नृत्य–कला में निपुण चरणों को जल्दी–जल्दी आगे बढ़ाती हुई, भय–विह्वल एवं चञ्चल कटाक्षों से (इधर–उधर) दृष्टिपात करती हुई तुम, शिकारी के द्वारा पीछा करने से चकित हुई हरिणी के समान, क्यों जा रही हो? ।।१७।।

टीका— हे वसन्तसेने! भयेन = भीत्या; परिवर्तितम् = द्रुततरगमनाय अन्यथाकृतम् सौकुमार्यम् = गमनसुकुमारता मन्दगमनमिति यावत्, यया सा; नृत्यप्रयोगे = नर्तनकार्ये विशदौ = निर्दोषौ विमलौ वा अथवा नृत्यप्रयोगेन = नृत्याभ्यासेन विशदौ = झटिति प्रसरणशीलौ दक्षौ वा; चरणौ = पादौ; क्षिपन्ती = द्रुतम् इतस्ततः पातयन्ती; उद्विग्नाः = त्रस्ताः अतएव चञ्चलाः = विलोलाः कटाक्षाः = अपांगदृष्टयः, विसृष्टा = प्रेरिता दृष्टिः, त्वम् = सुकोमलांगी वेश्या; व्याधस्य = लुब्धकस्य अनुसारेण = अनुपतनेन पश्चाद्धावनेन वा चकिता = भयविह्वला; हरिणी = मृगी; इव = यथा; किम् = कस्मात्; यासि = गच्छसि, पलायसे? ।।१७।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं वसन्त–तिलका छन्द है। १७।।

शकारः— **च्यिश्ट वशंतशेणिए! च्यिश्ट,**

किं यासि धावशि पलाअशि पक्खलंती
वाशू! पशीद ण मलिस्सशि च्यिश्ट दाव।
कामेण दज्झदि हु मे हडके तवश्शी
अंगाललाशिपडिदे विअ मंशखंडे।।१८।।

(तिष्ठ वसन्तसेनिके! तिष्ठ,

किं यासि धावसि पलायसे प्रस्खलन्ती
वासु! प्रसीद न मरिष्यसि तिष्ठ तावत्।
कामेन दह्यते खलु मे हृदयं तपस्वि
अंगारराशिपतितमिव मांसखण्डम्।। १८।।

अन्वयः— (हे वसन्तसेने!) प्रस्खलन्ती, किम्, यासि, धावसि, पलायसे, हे वासु! प्रसीद, न मरिष्यसि, तावत्, तिष्ठ, अंगारराशिपतितम्, मांसखण्डम्, इव, तपस्वि, मे, हृदयम्, कामेन, खलु, दह्यते।।१८।।

शब्दार्थः— हे वसन्तसेने! प्रस्खलन्ती = लड़खड़ाती हुई, किम् = क्यों, यासि = जा रही हो, धावसि = दौड़ रही हो, पलायसे = भाग रही हो, हे वासु = हे बाले! प्रसीद = प्रसन्न होओ, न = नहीं, मरिष्यसि = मरोगी, तावत् = तनिक, तिष्ठ = रुको, अंगारराशिपतितम् = अंगारों के समूह पर गिरे हुए, मांसखण्डम् = मांस के टुकड़े (की), इव = भाँति, तपस्वि = बेचारा, मे = मेरा, हृदयम् = हृदय, कामेन = कामदेव के द्वारा (कामाग्नि के द्वारा), खलु = निश्चय ही, दह्यते = जलाया जा रहा है।

अर्थः— शकार — ठहरो, वसन्तसेने! ठहरो,

लड़खड़ाती हुई क्यों जा रही हो, दौड़ रही हो, भाग रही हो। बाले! प्रसन्न होओ, मरोगी नहीं, तनिक ठहरो। अंगारों के समूह पर गिरे हुए मांस के टुकड़े की भाँति मेरा बेचारा हृदय कामाग्नि के द्वारा जलाया जा रहा है।।१८।।

टीका— हे वसन्तसेने! प्रस्खलन्ती = प्रस्खलनं कुर्वती; किम् = कथम्; यासि, धावसि, पलायसे हे वासु = हे बाले! प्रसीद = प्रसन्ना भव; न मरिष्यसि = मृत्युम् न गमिष्यसि; तावत् = क्षणं; तिष्ठ = स्थिता भव; अंगारराशौ = अग्निसमूहे पतितम् = भ्रष्टम्,

मांसखण्डम् = पललपिण्डम्; इव = यथा; तपस्वि = वराकम् अनुकम्पार्हं वा; मे = मम; हृदयम् कामेन = मदनेन कामार्तं वा; खलु = अवश्यम्; दह्यते = सन्तप्यते।।१८।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

चेटः — अज्जुके! चिट्ठ, चिट्ठ,

उत्ताशिता गच्छशि अंतिका मे शंपुण्णपच्छा विअ गिम्हमोरी।
ओवग्गदी शामिअभश्टके मे वण्णे गडे कुक्कडशावके व्व।।१६।।

(आर्ये! तिष्ठ तिष्ठ,

उत्त्रासिता गच्छस्यन्तिकान्मम संपूर्णपक्षेव ग्रीष्ममयूरी।

अववल्गति स्वामिभट्टारको मम वने गतः कुक्कुटशावक इव।।)

अन्वयः— (त्वं) मम, अन्तिकात्, सम्पूर्णपक्षा, ग्रीष्ममयूरी इव, उत्त्रासिता, गच्छसि, मम, स्वामिभट्टारकः, वने, गतः कुक्कुटशावक इव, अववल्गति।।१६।।

शब्दार्थः— (त्वम् = तुम), मम = मेरे, अन्तिकात् = पास से, सम्पूर्ण–पक्षा = सम्पूर्ण पंखों वाली, ग्रीष्ममयूरी इव = ग्रीष्मकालीन मयूरी के समान, उत्त्रासिता = भयभीत हुई, गच्छसि = जा रही हो, मम = मेरा, स्वामिभट्टारकः = श्रेष्ठ स्वामी (शकार), वने = जंगल में, गतः गए हुए, कुक्कुटशावक इव = मुर्गे के बच्चे के समान, अववल्गति = (तुम्हार पीछे पीछे) उतावली के साथ आ रहा है।

अर्थः— चेट — आर्ये! ठहरो, ठहरो,

(तुम) मेरे पास से; भयभीत हुई सम्पूर्ण पंखों वाली ग्रीष्म काल की मयूरी के समान जा रही हो मेरा स्वामी (शकार) वन में गये हुए मुर्गे के बच्चे के समान (तुम्हारे पीछे–पीछे) उतावली के साथ आ रहा है।।१६।।

टीका— त्वं मम = मे; अन्तिकात् = समीपात्; सम्पूर्णपक्षा = समस्तपुच्छयुक्ता; ग्रीष्ममयूरी इव = ग्रीष्मकालीनशिखिनीव, उत्त्रासिता = भयविह्वला; गच्छसि = व्रजसि; मम = चेटस्य; स्वामी चासौ भट्टारकश्च स्वामिभट्टारकः = स्वामिश्रेष्ठः शकारः वने = अरण्ये; गतः = सम्प्राप्तः; कुक्कुटस्य शावकः = शिशुः इव; अववल्गति = ससंभ्रममागच्छति।।१६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं इन्द्रवज्रा छन्द है। छन्द का लक्षण इस प्रकार है:— 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।।१५।।

विटः— वसन्तसेने! तिष्ठ तिष्ठ

किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना
रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती।
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती
टंक्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा।।२०।।

अन्वयः— हे वसन्तसेने! बालकदली, इव, विकम्पमाना, पवनलोलदशम्, रक्तांशुकम् वहन्ती, टंकैः, विदार्यमाणा मनःशिलगुहा इव रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलम्, उत्सृजन्ती, किम्, यासि?।।२०।।

शब्दार्थः— हे वसन्तेसेने! बालकदली = नवीन केला के वृक्ष, इव = जैसी, विकम्पमाना = काँपती हुई, पवनलोलदशम = वायु के द्वारा चञ्चल आँचल वाले, रक्तांशुकम् = लाल रेशमी वस्त्र को, वहन्ती = धारण करती हुई, टंकैः = टाँकियों के द्वारा विदार्यमाणा = काटी जाती हुई, मनःशिलगुहा = मनरूपी शिला की कन्दरा (के), इव = समान, रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलम् = लाल कमलों की कलियों को, उत्सृजन्ती = बिखेरती हुई, किम् = क्यों, यासि = जा रही हो?।।

अर्थः— विट — वसन्तसेने! रुको, रुको।

नवीन केला के वृक्ष के समान काँपती हुयी, वायु के द्वारा चञ्चल आञ्चल वाले लाल रेखमी वस्त्र का धारण करती हुई टाँकी द्वारा काटी जाती हुई मनःरूपीशिला की कन्दरा (से निकलने वाली चिंनगारियों) के समान (केशों में ग्रंथित हुए) रक्त–कमलों की कलियों को (वेग से दौड़ने के कारण) बिखेरती हुयी क्यों जा रही हो?।।२०।।

टीका— हे वसन्तसेने! त्वं बालकदली = नूतनकदलीतरुः इव; विकम्पमाना = कम्पिता; पवनेन = वायुना तीव्रसञ्चरणवेगात्प्रबलवायुना वा लोला = चञ्चला दशा = अञ्चलभागः यस्य तत्; रक्तांशुकम् = रक्ताभं वस्त्रम्; वहन्ती = धारयन्ती; टंकैः = पाषाणदारणैः; विदार्यमाणा = प्रस्फोट्यमाना भिद्यमाना वा,; मनःशिलानाम् = रक्तवर्णधातुविशेषाणाम् गुहा = खनिः इव मनःशिलाशब्दः रक्तोत्पलानाम् = रक्तकमलानाम् प्रकरः = समूहः, तस्य कुड्मलम्

• एकैकं मुकुलम्, उत्सृजन्ती = गमनवेगेन पातयन्ती; किम् = कथम्; यासि = गच्छसि, पलायसे।।२०।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा तथा उपमा अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है। २०।।

शकारः— च्यिश्ट वशंतशेणिए! च्यिश्ट,

मम मअणमणंगं मम्मथं वड्ढअंती
णिशि अ शअणके मे णिद्दअं आक्खिवंती।
पशलशि भअभीदा पक्खलंती खलंती
मम वशमणुजादा लावणश्शेव कुंती।।२१।।

(तिष्ठ वसन्तसेने! तिष्ठ,—

मम मदनमनंगं मन्मथं वर्धयन्ती
निशि च शयनके मम निद्रामाक्षिपन्ती।
प्रसरसि भयभीता प्रस्खलन्ती स्खलन्ती
मम वशमनुयाता रावणस्येव कुन्ती।।)

अन्वयः— मम, मदनम्, अनंगम्, मन्मथम्, वर्धयन्ती, निशि, शयनके, च, मम, निद्राम्, आक्षिपन्ती, भयभीता, प्रस्खलन्ती, स्खलन्ती, प्रसरसि, (किन्तु), रावणस्य, कुन्ती, इव, (त्वम्), मम, वशम्, अनुयाता।।२१।।

शब्दार्थः— मम = मेरे, मदनम् अनंगम् मन्मथम् = काम को, वर्धयन्ती = बढ़ाती हुई, निशि = रात में, शयनके = बिस्तर पर, मम = मेरी, निद्राम् = नींद को, आक्षिपन्ती = भंग करती हुई, भयभीता = डरी हुई, प्रस्खलन्ती स्खलन्ती = बार बार लड़खड़ाती हुई, प्रसरसि = भाग रही हो, (किन्तु = परन्तु), रावणस्य = रावण के (वश में), कुन्ती इव = कुन्ती की तरह, (त्वम् = तुम), मम = मेरे, वशम् = वश को (में), अनुयाता = आ गयी हो।।

अर्थः— शकार — ठहरो, वसन्तसेने! ठहरो,

मेरे मदन, अनंग, मन्मथ (काम) को बढ़ाती हुई, और रात्रि में बिस्तर पर मेरी नींद को भंग करती हुई भयभीत होकर बारम्बार लड़खड़ाती हुई भाग रही हो। (किन्तु तुम) उसी प्रकार मेरे वश में आ गयी हो जिस प्रकार रावण के वश में कुन्ती (आ गयी थी)।।२१।।

टीका— मम = शकारस्य; मदनम् अनंगम् मन्मथम् = कामवेगमिति; वर्धयन्ती = दीपयन्ती; निशि = रात्रौ; शयनके = शय्यायाम्; च मम = मे; निद्राम् = शयनम्; स्वचिन्तनेन; आक्षिपन्ती = अपसारयन्ती; त्वम् भयभीता = भयविह्वला, प्रस्खलन्ती स्खलन्ती = स्खलनम् कुर्वती; प्रसरसि = पलायसे; किन्तु रावणस्य = दशाननस्य; कुन्तीव = अर्जुनमातेव; त्वम् मम = पराक्रमी शकारस्य; वशम् = अधिकारम्; अनुयाता = आगता असीति।।२१।।

टिप्पणीः — 'रावणस्येव कुन्ती' इस वाक्य में हतोपमा है। इस श्लोक में प्रयुक्त मालिनी छन्द का लक्षण इस प्रकार है— "ननमयययुतेयं, मालिनी भोगिलोकैः" २१।।

विटः— वसन्तसेने!

किं त्वं पदैर्मम पदानि विशेषयन्ती
व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता।
वेगादहं प्रविसृतः पवनं न रुन्ध्यां
त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि! न मे प्रयत्नः।।२२।।

अन्वयः— हे वसन्तसेने! पतगेन्द्रभयाभिभूता, व्याली, इव, पदैः, मम पदानि, विशेषयन्ती, त्वम्, किम्, यासि? वेगात्, प्रविसृतः, अहम्, पवनम्, न, रुन्ध्याम्? हे वरगात्रि! तु, त्वन्निग्रहे, मे, प्रयत्नः, न।।२२।।

शब्दार्थः— हे वसन्तसेने! पतगेन्द्रभयाभिभूता = पक्षिराज गरुड़ से डरी हुई, व्याली इव = साँपिन के समान, पदैः = (अपने) डगों से, मम = मेरे, पदानि = डगों को, विशेषयन्ती = अतिक्रान्त करती हई, जीतती हुई, त्वम् = तुम, किम् = क्यों, यासि = जा रही हो? वेगात् = वेग से, प्रविसृतः = दौड़ा हुआ, अहम् = मैं, पवनम् = वायु को, न = नहीं, रुन्ध्याम् = रोक सकता हूँ? अर्थात् रोक सकता हूँ। हे वरगात्रि हे सुन्दरि! तु = किन्तु, त्वन्निग्रहे = (जबरदस्ती) तुम्हें पकड़ने में, मे = मेरा, प्रयत्नः = प्रयत्न, न = नहीं है।

अर्थः— **विट**— पक्षिराज गरुड़ से भयभीत हुई नागिन के समान अपने डगों से मेरे डगों को अतिक्रान्त करती हुई अर्थात् अपने पैरों को मुझसे भी अधिक वेग से रखती हुई तुम क्यों जा रही हो? वेग से दौड़ा हुआ मैं क्या (अत्यन्त तीव्रगामी) वायु को भी

नहीं रोक सकता? अर्थात् अवश्य रोक सकता हूँ। किन्तु हे सुन्दरि! मेरा प्रयत्न तुमको जबर्दस्ती रोकने का नहीं है अर्थात मैं जबर्दस्ती तुम्हें रोकना नहीं चाहता।।२२।।

टीका— हे वसन्तसेने! पतगेन्द्रात् = गरुडात् भयम् = भीतिः तेन अभिभूता = आक्रान्ता; व्यालीव = सर्पिणीव पदं = [illegible] मम = विटस्य; पदानि = पादविक्षेपान्; विशेषयन्ती = अतिशयाना; त्वम् = वसन्तसेना; किम् = कस्मात्, यासि [illegible] वेगात् = जवात्; प्रविसृतः = प्रचलितः; अहम् = विटः; पवनम् = वायुम्, न रुन्ध्याम् = अतिक्रमितुं न शक्नुयाम्, अर्थात निरोद्धुं शक्नुयामित्यर्थः; हे वरगात्रि! वरम् = मनोहरम् अतिसुकोमलमित्यर्थः, गात्रम् = शरीरं यस्या सा तत्सम्बुद्धौ [illegible] किन्तु; त्वन्निगहे = तव ग्रहणे; मे = मम; प्रयत्नः = प्रवृत्तिः, न = नास्ति।।२२।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

शकारः— भावे भावे!

एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका
णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मंजूशिका।
एशा वेशवहू शुवेशणिलआ वेशंगणा वेशिआ
एशे शे दशणामके मयि कले अज्जावि मं णेच्छदि।।२३।।

(भाव भाव!)

एषा नाणकमोषिकामकशिका मत्स्याशिका लासिका
निर्नासा कुलनाशिका अवशिका कामस्य मञ्जूषिका।
एषा वेशवधूः सुवेशनिलया वेशांगना वेशिका
एतान्यस्या दश नामकानि मया कृतान्यद्यापि मां नेच्छति।।२३।।

अन्वयः— एषा, नाणकमोषिकामकशिका, मत्स्याशिका, लासिका, निर्नासा, कुलनासिका, अवशिका, कामस्य मञ्जूषिका [illegible] वेशवधूः, सुवेशनिलया, वेशांगना, वेशिका, एतानि, अस्याः, दश, नामकानि, मया, कृतानि, (किन्तु), अद्य अपि (इयम्) मां न, इच्छति।।२३।।

शब्दार्थः— एषा = यह वसन्तसेना, नाणकमोषिकामकशिका = उत्तम रत्न आदि चुरानेवालों की कामाग्नि को शान्त करनेवाली मत्स्याशिका = मछली खानेवाली, लासिका = नाचनेवाली, निर्नासा = नाक रहित अर्थात् अप्रतिष्ठित, कुलनासिका = कुल को नष्ट करने वाली, अवशिका = किसी के वश में न होने वाली, कामस्य = काम की, मञ्जूषिका = पिटारी, (इयम् = यह) = यह (वसन्तसेना), वेशवधूः = वेश्यागामियों की स्त्री, सुवेशनिलया = सुन्दर वेश्यालय में निवास करने वाली, वेशांगना = वेश्यालय की कामिनी, वेशिका = वेश्या (है), एतानि = ये, अस्याः = इसके, दश = दश, नामकानि = नाम, मया = मेरे द्वारा, कृतानि = किये गये हैं—रक्खे गये हैं, (किन्तु), अद्य = आज, अपि = भी, (इयम् = यह), माम् = मुझको, न = नहीं, इच्छति = चाहती है।।

अर्थः— शकार — महानुभाव! महानुभाव!

उत्तम रत्न आदि चुराने वालों की कामाग्नि को शान्त करने वाली, मछली खाने वाली, नर्तकी, नासिकाहीन अर्थात् अप्रतिष्ठित, कुल को नष्ट करने वाली, किसी के वश में न होने वाली, काम की पिटारी, वेश्यागामियों की स्त्री, सुन्दर वेश्यालय में निवास करने वाली, वेश्यालय की कामिनी वेश्या—इस प्रकार इसके ये दश नाम मैंने रक्खे हैं। किन्तु मैं (आज भी) यह मुझे नहीं चाहती है।।२३।।

टीका— भाव! एषा = वसन्तसेना, नाणकानि = बहुमूल्यरत्नानि शिवांकानि टंकादिचित्तानि वा मुष्णन्ति = हरन्ति इति नाणकमोषिः तेषां कामस्य = मदनस्य कशिका = कशा, तस्कराणाम् कामस्य उद्दीपिका इत्यर्थः, मत्स्याशिका = मत्स्यभोजिनी, लासिका = नर्तकी, निर्नासा = निम्ननासा प्रतिष्ठारहिता वा कुलस्य = सद्वंशस्य नाशिका = नाशिनी पातित्यजननात्। अवशिका = अनायत्ता, अवशीभूता, धनदानेनापि कस्यापि अधीना न भवति। कामस्य = मदनस्य, मञ्जूषिका = पटिका एषा वसन्तसेना, वेशस्य = वेश्याजनाश्रयस्य जनस्य वधूः = जाया सम्भोगाश्रयभावात्। सुवेशनिलया = शोभनानां वेशानाम् अलंकाराणां परिधानानां वा निलयः = आश्रयः यस्यां सा अथवा सुवेशः = सुन्दरः वेश्यालयः एव निलयः [illegible] यस्याः सा। वेशस्य = वेश्यालयस्य अंगना = उत्तमा स्त्री; वेशिका = वेशशालिनी। एतानि = पूर्वोक्तानि, अस्याः वसन्तसेनायाः, दश = दशसंख्याकानि, नामकानि = नामानि, मया = शकारेण, कृतानि = विहितानि, किन्तु, भवे अधुना अपि इयं माम् = स्वभक्तं राजश्यालकम्, न इच्छति = वाञ्छति।।२३।।

विटः—

प्रसरसि भयविक्लवा किमर्थं प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा।
विटजननखघट्टितेव वीणा जलधरगर्जितभीतसारसीव।।२४।।

अन्वयः— विटजननखघट्टिता, वीणा, इव, प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा, (त्वम्), जलधरगर्जितभीतसारसी, इव, भयविक्लवा, (सती) किमर्थम्, प्रसरसि।।२४।।

शब्दार्थः— विटजननखघट्टिता = विट लोगों के नख से रगड़ी गयी, वीणा इव = वीणा के समान, प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा = हिलने वाले कुण्डलों से रगड़ खाये हुए कपोलों वाली, (त्वम् = तुम), जलधरगर्जितभीतसारसी = बादलों के गरजने से भयभीत सारसी, इव = जैसी, भयविक्लवा = भयभीत, (सती = होती हुई), किमर्थम् = किसलिये, प्रसरसि = भाग रही हो।।

अर्थः— विट — विट लोगों के नख से घृष्ट (रगड़ी गयी) वीणा के समान (भागने के कारण) हिलने वाले कुण्डलों (के बारम्बार स्पर्श) से घृष्ट (रगड़ खाये हुए) कपोलों वाली तुम, बादलों के गर्जन से भयभीत सारसी की भाँति, भयातुर होकर किसलिये भागी जा रही हो।।२४।।

टीका— विटजनानाम् = विलासिजनानाम् नखैः = अंगुल्यग्रभागैः घट्टिता = घर्षिता सार्यमाणा वा; वीणा इव; प्रचलिते = तीव्रगमनात् चञ्चले ये कुण्डले = कर्णाभूषणे ताभ्यां घृष्टौ = प्राप्तसंघर्षौ गण्डयोः = कपोलयोः पार्श्वौ = भागौ यस्याः सा; त्वम्; जलधराणाम् = मेघानाम् गर्जितेन = गर्जनेन भीता = विक्लवा सारसीव = सारसी पक्षिणीव; भयेन = भीत्या विक्लवा = व्याकुला; सती; किमर्थम् = किन्निमित्तम्; प्रसरसि = शीघ्रम् गच्छसि।।२४।।

यहाँ पर मालोपमा अलंकार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है। छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि तु नजौजरगाश्च पुष्पिताग्रा"।।२४।।

शकारः—

झाणज्झणंतबहुभूशणशद्दमिश्शं
किं दोव्वदी विअ पलाअशि लामभीदा?।
एशे हलामि शहश त्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दं।।२५।।

(झणज्झणमिति बहुभूषणशब्दमिश्रं किं द्रौपदीव पलायसे रामभीता?।
एष हरामि सहसेति यथा हनूमान्विश्वावसोर्भगिनीमिव तां सुभद्राम्।।)

अन्वयः— रामभीता, द्रौपदी, इव, बहुभूषणशब्दमिश्रम्, झणज्झणम्, इति, (कुर्वती) किम्, पलायसे, यथा, हनूमान्, विश्वावसोः, ताम्, भगिनीम्, सुभद्राम्, इव, एषः, (अहम्) इति, सहसा, हरामि।।२५।।

शब्दार्थः— रामभीता = राम से डरी हुई, द्रौपदी इव = द्रौपदी की भाँति, बहुभूषणशब्दमिश्रम् = अनेक आभूषणों के शब्द से मिश्रित, झणज्झणम् = झणझणाहटको, इति = इस प्रकार (कुर्वती = करती हुई)किम् = क्यों, पलायसे = भागी जा रही हो? यथा = जैसे, हनूमान् = हनूमान् जी ने, विश्वावसोः = विश्वावसु की, ताम् = उस प्रसिद्ध, भगिनीम् = बहन, सुभद्राम् = सुभद्रा को (हरा था), एषः = यह, (अहम् = मैं) इति = इस प्रकार, सहसा = बलपूर्वक हरामि = (तुमको) हरता हूँ।।

अर्थः— शकार — राम से डरी हुई द्रौपदी के समान, अनेक आभूषणों के शब्द से मिश्रित झन- झनाहट के साथ अर्थात् अपने आभूषणों का झन–झन शब्द करती हुई तुम क्यों भागी जा रही हो? जिस प्रकार हनुमान् ने विश्वावसु की उस बहन सुभद्रा का अपहरण किया था, उसी प्रकार यह मैं बलपूर्वक तुम्हारा हरण करता हूँ।।२५।।

टीका— रामात् = श्रीरामचन्द्रात् भीता = त्रस्ता; द्रौपदी = पाञ्चाली; इव = यथा; बहुभूषणानाम् = नानाविधालंकाराणाम् शब्देन = ध्वनिना मिश्रम् = समन्वितम्; झणज्झणमिति = झणज्झणेत्यव्यक्तशब्दम्; कुर्वतीति शेषः; किम् = कस्मात्; पलायसे = अपसरसि? यथा हनूमान् = पवनकुमार इव; विश्वावसोः = एतन्नामप्रसिद्धगन्धर्वस्य; ताम् = प्रसिद्धाम्, भगिनीम् = स्वसारम्; सुभद्राम् इव = श्रीकृष्णस्य भगिनीम् इव; एषः = उपस्थितः; अहम्, इति = इत्थम्; सहसा = झटिति हठादित्यर्थः; त्वां हरामि — [illegible] स्वाधिकारे करोमीति।

चेटः —

लामेहि अ लाअवल्लहं तो क्खाहिशि मच्छमंशकं।
एदेहिं मच्छमंशकेहिं शुणआ मडअं ण शेवंदि।।२६।।
(रमय च राजवल्लभं ततः खादिष्यसि मत्स्यमांसकम्।
एताभ्यां मत्स्यमांसाभ्यां श्वानो मृतकं न सेवन्ते।।)

अन्वयः— (हे वसन्तसेने!) राजवल्लभम्, रमय, ततः, मत्स्यमांसकम्, च; खादिष्यसि, एताभ्याम्, मत्स्यमांसाभ्याम्, (तृप्ताः) श्वानः मृतकम् न, सेवन्ते।।२६।।

शब्दार्थः— (हे वसन्तसेने!) राजवल्लभम् = राजा के प्रिय शकार के साथ, रमय = रमण करो, ततः = तब, मत्स्यमांसकम् = मछली और मांस को, खादिष्यसि = खाओगी, एताभ्याम् = इन दोनों (मछली तथा मांस) के कारण, (तृप्ताः = तृप्त हुए) श्वानः = कुत्ते, मृतकम् = लाश को, न = नहीं, सेवन्ते = खाते हैं।

अर्थः— चेट — राजा के अत्यन्त प्रिय (शकार) के साथ रमण करो, तब तुम मछली और मांस (खूब) खाओगी। इन दोनों मछली और मांस के कारण (परितृप्त हुए शकार के) कुत्ते मृतक अर्थात् मरे हुए पशु, पक्षी आदि की लाश का सेवन नहीं करते हैं।।२६।

टीका— हे वसन्तसेने! राज्ञः = नृपतेः पालकस्य वल्लभम् = प्रियम् शकार–मित्यर्थः; रमय = रतिदानेन आनन्दय, ततः = तदनन्तरं मत्स्याश्च मांसम् च मत्स्यमांसम् तदेव मत्स्यमांसकम् च त्वम् खादिष्यसि = भक्षयिष्यसि; एताभ्याम् = मत्स्यमांसाभ्याम् तृप्ताः = परितृप्ताः, श्वानः = कुक्कुराः, मृतकम् = शवशरीरम्; न सेवन्ते = न खादन्ति।।२६।

विटः— भवति वसन्तसेने!

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती
ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम्।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन
त्रस्ताद्भुतं नगरदैवतवत्प्रयासि।।२७।।

अन्वयः— भवति वसन्तसेने! त्वम्, कटीतटनिवेशितम्, ताराविचित्ररुचिरम्, रशनाकलापम्, उद्वहन्ती, निर्मथितचूर्णमनःशिलेन वक्त्रेण नगरदैवतवत्, त्रस्ताद्भुतम्, किम्, प्रयासि।।२७।।

शब्दार्थः— भवति = माननीय, वसन्तसेने! त्वम् = तुम, कटीतटनिवेशितम् = कमर भाग में बँधी हुई, ताराविचित्ररुचिरम् = मोतियों के कारण अद्भुत एवं मनोहर, रशनाकलापम् = करधनी को, उद्वहन्ती = धारण करती हुई, निर्मथित चूर्णमनःशिलेन = चूर्ण मनसिल को तिरस्कृत करने वाले, वक्त्रेण = मुख से, नगरदैवतवत् = नगर के देवता की भाँति, त्रस्ताद्भुतम् = भयविह्वलता पूर्वक, किम् = क्यों, प्रयासि = जा रही हो?।।

अर्थः— विट — सुश्री वसन्तसेने! कटि–प्रान्त में बँधी हुई, मोतियों से अद्भुत अतएव मनोहर मेखला को धारण करती हुई चूर्ण मनःशिला को भी (अपने गुलाबी वर्ण से) तिरस्कृत करने वाले मुख से युक्त तुम नगर–देवता की भाँति, भय–विह्वलतापूर्वक क्यों भागी जा रही हो?।।२७।।

टीका— भवति वसन्तसेने = मान्ये वसन्तसेने! त्वम् कटीतटे = श्रोणिप्रदेशे निवेशितम् = संस्थापितम्; ताराभिः = मुक्ताभिः वैचित्र्यरुचिरं = अद्भुतमनोहरः तम्, रशनाकलापम् = मेखलाभूषणम् उद्वहन्ती = धारयन्ती; निर्मथिता = तिरस्कृता चूर्णा = चूर्णकृता मनःशिला = मनःशिलोपधातुविशेषः येन तादृशेन वक्त्रेण = आननेन, नगरदैवतवत् = नगराधिदेवता इव; त्रस्ताद्भुतम् = सभीतिविस्मयं यथा स्यात् तथा; किम् = कस्मात्, प्रयासि = पलायसे?।।२७।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।।२७।।

शकारः—

अम्हेहिं चंडं अहिशालिअंती वणे शिआली विअ कुक्कुलेहिं।
पलाशि शिग्घं तुलिदं शवेग्गं शवेंटणं मे हलअं हलंती।।२८।।
(अस्माभिश्चण्डमभिसार्यमाणा वने श्रृगालीव कुक्कुरैः।
पलायसे शीघ्रं त्वरितं सवेगं सवृन्तं मम हृदय हरन्ती।।)

अन्वयः— वने, कुक्कुरैः, श्रृगाली, इव, अस्माभिः, चण्डम्, अभिसार्यमाणा, (त्वम्), मम, हृदयम्, सवृन्तम्, हरन्ती, शीघ्रम् त्वरितम् सवेगम् पलायसे।।२८।।

शब्दार्थः— वने = जंगल में, कुक्कुरैः = कुत्तों के द्वारा, श्रृगाली इव = सियारिन के समान, अस्माभिः = हम लोगों के द्वारा, चण्डम् = वेगपूर्वक, अभिसार्यमाणा = पीछा की जाती हुई, मम = मेरे हृदयम् = हृदय को, संवृन्तम् = मूलसहित, हरन्ती = हरण करती हुई, शीघ्रम् त्वरितम् सवेगम् = वेग पूर्वक, पलायसे = भाग रही हो।।

अर्थः— शकार — कुत्तों के द्वारा पीछा की जाती हुई श्रृगाली के समान हम लोगों के द्वारा तीव्र गति से पीछा की जाती हुई, मेरे हृदय को समूल हरण करती हुई तुम शीघ्र, तुरन्त और वेगपूर्वक भाग रही हो।।२८।।

टीका— वने = अरण्ये; कुक्कुरैः = श्वभिः; अभिसार्यमाणा इति शेषः; श्रृगाली = शिवा इव; अस्माभिः = शकारादिभिः, चण्डम् = शीघ्रम्

अभिसार्यमाणा = अनुगम्यमाना; त्वम् मम = शकारस्य; हृदयम् सवृन्तम् = समूलबन्धम्; हरन्ती = चोरयन्ती अपनयन्ती वा; शीघ्रम् त्वरितम् सवेगम् = झटिति यथा तथा; पलायसे = पलायनम् करोषि।।२८।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा उपजाति छन्द है। जब इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा को एक ही श्लोक में मिला देते हैं तो उसे उपजाति छन्द कहते हैं। इसके चौदह भेद होते हैं।।२८।।

वसन्तसेना— पल्लवआ पल्लवआ! परहुदिए परहुदिए!। (पल्लवक पल्लवक! परभृतिके परभृतिके!)

शकारः— (सभयम्) भावे भावे! मणुश्शे मणुश्शे!। (भाव भाव! मनुष्या मनुष्याः!।)

विटः— न भेतव्यं न भेतव्यम्।

वसन्तसेना— माहविए माहविए!। (माधविके माधविके!।)

विटः— (सहासम्) मूर्ख! परिजनोऽन्विष्यते।

शकारः— भावे भावे! इत्थिअं अण्णेशदि। (भाव भाव! स्त्रियमन्वेषयति?।)

विटः— अथ किम्।

शकारः— इश्यिआणं शदं मालेमि। शूले हगे। (स्त्रीणां शतं मारयामि। शूरोऽहम्।

वसन्तसेना— (शून्यमवलोक्य) हद्धी हद्धी, कधं परिअणो वि परिब्भट्टो। एत्थ मए अप्पा शअं ज्जेव रक्खिदव्वो। (हा धिक् हा धिक्, कथं परिजनोऽपि परिभ्रष्टः। अत्र मयात्मा स्वयमेव रक्षितव्यः।)

विटः— अन्विष्यतामन्विष्यताम्।

शकारः— वशंतशेणिए! विलव विलव पलहुदिअं वा पल्लवअं वा शव्वं वा वशंतमाशं। मए अहिशालिअंतीं तुमं के पलित्ताइश्शदि?।

किं भीमशेणे जमदग्गिपुत्ते कुंतीशुदे वा दशकंधले वा।
एशे हगे गेण्हिय केशहश्ते दुश्शाशणश्शाणुकिदिं कलेमि।।२६।।

(वसन्तसेनिके! विलप विलप परभृतिकां वा पल्लवकं वा सर्वं वा वसन्तमासम्। मयाभिसार्यमाणां त्वां कः परित्रास्यते?।

किं भीमसेनो जमदग्निपुत्रः कुन्तीसुतो वा दशकन्धरो वा।
एषोऽहं गृहीत्वा केशहस्ते दुःशासनस्यानुकृतिं करोमि।।

अर्थः— वसन्तसेना —पल्लवक! पल्लवक!! परभृतिके! परभृतिके!!

शकार—(भयपूर्वक) भाव! मनुष्य, मनुष्य।

विट— डरना नहीं चाहिये, डरना नहीं चाहिये अर्थात् डरो मत।

वसन्तसेना — माधविके! माधविके!

विट— (हंसी पूर्वक) मूर्ख! भृत्य को खोज रही है।

शकार— भाव! भाव! क्या स्त्री को खोज रही है?

विट— और क्या?

शकार— स्त्रियाँ तो सैकड़ों मार सकता हूँ। मैं बहादुर हूँ।

वसन्तसेना— (सूना देख कर) हाय! हाय! क्या सेवक भी छूट गये। यहाँ मुझे स्वयं ही अपनी रक्षा करनी चाहिये।

विट — खोजो, खोजो (परिजनों को)।

शकार — वसन्तसेने! विलाप कर, विलाप कर, परभृतिका (कोयल) के लिए, पल्लवक (नूतन पत्ता) के लिए अथवा सम्पूर्ण वसन्त मास के लिए। मेरे द्वारा अभिसरण (पीछा) की जाती हुई तुमको कौन बचायेगा?

अन्वयः— किम्, जमदग्निपुत्रः, भीमसेनः, वा, कुन्तीसुतः, वा, दशकन्धरः, (त्वाम्, रक्षिष्यति), एषः, अहम्, केशहस्ते, (त्वाम्), गृहीत्वा, दुःशासनस्य, अनुकृतिम्, करोमि।।२६।।

शब्दार्थः— किम् = क्या, जमदग्निपुत्रः = जमदग्नि का पुत्र, भीमसेनः = भीमसेन, वा = अथवा, कुन्तीसुतः = कुन्ती का पुत्र, वा = अथवा, दशकन्धरः = रावण, (त्वाम् = तुमको, रक्षियति = बचायेगा), एषः = यह, अहम् = मैं, केशहस्ते = जूड़ा में, (त्वाम्

= तुमको), गृहीत्वा = पकड़ कर, दुःशासनस्य = दुःशासन के, अनुकृतिम् = अनुकरण को, करोमि = करता हूँ ।

अर्थः— क्या जमदग्नि का पुत्र अथवा भीमसेन, अथवा कुन्ती का पुत्र अथवा रावण? (तुम्हारी रक्षा करेगा?)। यह मैं (तुम्हारा) शकार को पकड़ कर दुःशासन का अनुकरण करता हूँ।।२६।।

टीकाः — किम् जमदग्निपुत्रः = परशुरामः; भीमसेनः = वृकोदरः, वा = अथवा; कुन्तीसुतः = कुन्तीपुत्र कर्ण अर्जुन वा दशकन्धरः = दशाननः, त्वां रक्षिष्यतीति शेषः। एषः = त्वत्पृष्ठे संलग्नः; अहम् = राजश्यालः शकारः, केशहस्तेन कण्ठकलापे त्वां गृहीत्वा = धृत्वा; दुःशासनस्य = दुर्योधनानुजस्य; अनुकृतिम् = अनुकरणम्; करोमि।।२६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है। यहाँ महाभारत में वर्णित द्रौपदी वस्त्रहरण की घटना की ओर संकेत है।

णं पेक्ख णं पेक्ख,—

अशी शुतिक्खे वलिदे अ मश्तके
कप्पेम शीशं उद मालएम वा।
अलं तवेदेण पलाइदेण
मुमुक्खु जे होदि ण शे खु जीअदि।।३०।।

ननु प्रेक्षस्व ननु प्रेक्षस्व,

असिः सुतीक्ष्णो वलितं च मस्तकं कल्पये शीर्षमुत मारयामि वा।
अलं तवैतेन पलायितेन मुमूर्षुर्यो भवति न स खलु जीवति।।)

अन्वयः— (मम) असिः, सुतीक्ष्णः, (अस्ति), तव, मस्तकम्, च, वलितम्, (वर्तते), (अहम्, तव) मस्तकम्, कल्पये, उत, मारयामि, वा, तव एतेन पलायितेन, अलम्, यः, मुमूर्षुः, भवति, सः, खलु, न, जीवति।।३०।।

शब्दार्थः— (मम = मेरी) असिः = तलवार, सुतीक्ष्णः = बड़ी तेज, (अस्ति = है), तव = तुम्हारा, मस्तकम् = मस्तक, च = भी, वलितम् = बड़ा सुन्दर, (वर्तते = है), (अहम् = मैं, तव = तुम्हारे) मस्तकम् = शिर को, कल्पये = काट डालता हूँ, उत = अथवा, मारयामि = मार डालता हूँ, वा = विकल्पार्थक है, तव = तुम्हारे, एतेन = इस, पलायितेन = भागने से, अलम् = व्यर्थ है, अर्थात् तुम्हारा भागना व्यर्थ है, यः = जो आदमी, मुमूर्षुः = मरनेवाला, भवति = होता है, सः = वह खलु = निश्चय ही, न = नहीं, जीवति = जीता है।।

अर्थः— देखो, देखो,

तलवार बड़ी तेज है और तुम्हारा मस्तक (भी) बड़ा सुन्दर है, मैं तुम्हारा शिर काट डालूँगा अथवा मार डालूँगा तुम्हारे इस प्रकार भागना निरर्थक है, (क्योंकि) जो मरने वाला होता है वह निश्चित रूप से जीवित नहीं रहता।।३०।।

टीका— मम = शकारस्य; असिः = कृपाणः; सुतीक्ष्णः = निशितः; अस्तीति शेषः; तव = वसन्तसेनायाः, मस्तकम = शिरः च = भी वलितम् = लालितम् शोभनम् वा; वर्तते; अहम् तव मस्तकम् = शिरः; कल्पये = छिनद्मि; उत = अथवा, मारयामि = प्राणविनाशं करोमि; वा इति विकल्पे; तव = वसन्तसेनायाः; एतेन = अधुना गृहीतेन; पलायितेन = अपसरणेन; अलम् = व्यर्थमितिभावः; यः = जनः; मुमूर्षुः = उपस्थितमरणः; भवति = अस्ति; सः = जनः; खलु = निश्चयेन, न जीवति = न जीवनं धरति ।।३०।

इस श्लोक के पहले और चौथे चरण में वंशस्थ और दूसरे तथा तीसरे चरण में इन्द्रवज्रा है। अतः इसमें उपजाति छन्द माना गया है।।३०।।

वसन्तसेना — अज्ज! अबला खु अहं। (आर्य! अबला खल्वहम्।)

विटः— अत एव ध्रियसे।

शकारः— अदो ज्जेव ण मालीहशि। (अत एव न मार्यसे।)

वसन्तसेना — (स्वगतम्) कधं अणुणओवि से भअं उप्पादेदि?। भोदु एव्वं दाव। (प्रकाशम्) अज्ज! इमादो किपि अलंकरणं विमोएहि। (कथमनुनयोऽप्यस्य भयमुत्पादयति। भवतु एवं तावत्। आर्य! अस्मात्किमप्यलंकरणं तर्क्यते।

विटः—शान्तं पापं शान्तं पापम्। भवति वसन्तसेने! न पुष्पमोषमर्हत्युद्यानलता। तत्कृतमलंकरणैः।

वसन्तसेना — ता किं खु दाणिं। (तत्किं खल्विदानीम्।)

शकारः— हग्गे वरपुलिशमणुश्शे वाशुदेवके कामइदव्वे। (अहं वरपुरुषमनुष्यो वासुदेवः कामयितव्यः।)

वसन्तसेना — (सक्रोधम्) संतं पावं। अवेहि, अणज्जं मंतेशि। (शान्तं पापम्। अपेहि, अनार्यं मन्त्रयसि।)

शकारः— (सतालिकं विहस्य) भावे भावे! पेक्ख दाव। मं अंतलेण शुशिणिद्धा एशा गणिआदालिआ णं। जेण मं भणादि—'एहि। शंते शि। किलिंते शि' त्ति। हग्गे ण गामंतलं ण णगलंतलं वा गडे। अज्जुके! शवामि भावश्श शीशं अत्तणकेहिं पादेहिं। तव ज्जेव्व पश्चाणुपश्चिआए आहिंडंते शंते किलिंते म्हि शंवुत्ते। (भाव भाव! प्रेक्षस्व तावत्। मामन्तरेण सुस्निग्धैषा गणिकादारिका ननु। येन मां भणति—'एहि। श्रान्तोऽसि। क्लान्तोऽसि' इति। अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गतः। भट्टालिके! शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम्। तवैव पृष्ठानुपृष्ठिकयाहिण्डमानः श्रान्तः क्लान्तोऽस्मि संवृत्तः।)

विटः— (स्वगतम्) अये, कथं शान्तमित्यभिहिते श्रान्त इत्यवगच्छति मूर्खः? । (प्रकाशम्) वसन्तसेने! वेशवासविरुद्धमभिहितं भवत्या। पश्य,—

तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो
विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव।
वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं
सममुपचर भद्रे! सुप्रियं वाप्रियं वा।।३१।।

अर्थः— वसन्तसेना — आर्य! मैं तो अबला हूँ।

विट — इसीलिए (तुम अब तक) जीवित हो।

शकार — इसीलिए तुम नहीं मारी जा रही हो।

अर्थः— वसन्तसेना — (अपने आप) इसकी नम्रता भी कैसा भय उत्पन्न करती है। अच्छा, तो ऐसा करूँ। (प्रकट रूप से) आर्य! आप मुझ से कोई आभूषण लेना चाहते हैं?।

विट — ऐसा मत कहो। श्रीमति! वसन्तसेने! उद्यान की लता पुष्प तोड़ने के योग्य नहीं होती अर्थात् बगीचे की लता का पुष्प तोड़ना समुचित नहीं होता। इसलिए आभूषणों को रहने दो।

वसन्तसेना — तो, इस समय आपका मुझसे क्या प्रयोजन है?

शकार — मुझ पुरुषश्रेष्ठ, मनुष्य वासुदेव की (तुम्हें) कामना करनी चाहिए।

वसन्तसेना — (क्रोध पूर्वक) शान्त, शान्त अर्थात् चुप रहो, चुप रहो। दूर हटो। अशिष्ट बात कहते हो।

शकार — (ताली बजाता हुआ हँस कर) भाव! भाव! जरा देखो तो। यह वेश्या—पुत्री निश्चय ही भीतर से (मन से) मुझ से प्रेम करती है, जिससे मुझको यह कहती है—"आओ, थक गये हो खिन्न हो गये हो।" मैं न किसी दूसरे गाँव को गया था, न किसी दूसरे नगर को ही। मान्य गणिके! मैं अपने पैरों से महानुभाव (विट) के शिर की शपथ खाता हूँ, कि तुम्हारे ही पीछे—पीछे घूमता हुआ थका एवं खिन्न हुआ हूँ।

विट — (अपने आप) अरे! यह मूर्ख किस प्रकार से 'शान्त' ऐसा कहे जाने पर 'श्रान्त' (थका हुआ) समझ रहा है। (प्रकट रूप से) वसन्तसेने! आपने यह बात वेश्यालय के वास (जीवन) के विरुद्ध कही है (अर्थात् आपने यह बात वेश्याजन के विरुद्ध कही है)।

अन्वयः— वेशवासः, तरुणजनसहायः, चिन्त्यताम्, त्वम्, मार्गजाता, लता, इव, गणिका, (इति), विगणय, हि, पण्यभूतम्, धनहार्यम्, शरीरम्, वहसि, (अतः), हे भद्रे! सुप्रियम्, वा, अप्रियम्, वा समम्, उपचर।।३१।।

शब्दार्थः— वेशवासः = वेश्यालय का निवास, तरुणजनसहायः = युवकों की सहायता वाला अर्थात् युवक जन हैं आश्रय जिसका ऐसा, चिन्त्यताम् = सोचो, त्वम् = तुम, मार्गजाता = मार्ग में उत्पन्न हुई, लता = लतिका, इव = जैसी, गणिका = वेश्या, (हो, इति = ऐसा), विगणय = विशेष रूप से विचारो, हि = क्योंकि, पण्यभूतम् = बेची जाने वाली वस्तु के समान, धनहार्यम् = धन के द्वारा ग्रहण करने के योग्य, शरीरम् = शरीर को, वहसि = धारण करती हो, (अतः = इसलिये) हे भद्रे! हे भद्र स्त्री! सुप्रियम् = प्रिय को, वा = अथवा, अप्रियम् = अप्रिय को, समम् = समानरूप से, उपचर = व्यवहार करो।

अर्थः— देखो—

वेश्यालय के जीवन (वास) को युवकों की सहायता पर आश्रित समझो। सोचो, तुम मार्ग में उत्पन्न हुई लता के समान वेश्या

हो! तुम, बाजार में बेची जाने वाली वस्तु के समान, धन के द्वारा ग्रहण करने योग्य शरीर धारण करती हो अतः हे भद्रे स्त्री! प्रिय और अप्रिय दोनों के साथ समान व्यवहार करो।।३१।।

टीका— वेशवासः—वेशे = वेश्यालये, वासः = निवासः; तरुणजनः = युवजनः सहायः = आश्रयः यस्य स तरुणजनसहायः यः चिन्त्यताम् = विचार्यताम्; त्वम् = वेश्याकुलोत्पन्ना वसन्तसेना; मार्गे = पथि जाता = उत्पन्ना, लता = वल्ली इव यः गणिका = गणस्त्री वेश्या इति यावत् असि, इति = इत्थम्; विगणय = विचारय; हि = यतः; पण्यभूतम = विक्रयस्वरूपम् अत एव धनहार्यम् = धनेन ग्राह्यम्; शरीरम् = देहम्; वहसि = धारयसि; अतः हे भद्रे! हे साधुस्वभावे! कार्यं साधयितुं प्रशस्ते सुप्रियम् = अभीप्सितम्; वा = अथवा; अप्रियम् = अनभीष्टम्; जनमिति शेषः; वा, समम् = तुल्यम्, उपचर = सेवस्व ।।

इस श्लोक में उपमा एवं काव्यलिंग अलंकार तथा मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण है:—

"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" ।।३१।।

अपि च,—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज।।३२।।

अन्वयः— विचक्षणः, द्विजवरः, वर्णाधमः, मूर्खः, अपि, वाप्याम्, स्नाति या, बर्हिणा, नामिता, फुल्लाम्, (ताम्), लताम् वायसः अपि, नाम्यति हि, यया, नावा, ब्रह्मक्षत्रविशः, तरन्ति; तया, एव, इतरे, च; वेश्या, असि, (अतः), वापी, इव, लता इव, नौः, इव, सर्वम् जनम् भज।।३२।।

शब्दार्थः— विचक्षणः = विद्वान्, द्विजवरः = ब्राह्मण, वर्णाधमः = नीच जातिवाला, मूर्खः = मूर्ख, अपि = भी, वाप्याम् = बावड़ी में स्नाति = स्नान करता है। या = जो (लता), बर्हिणा = मोर के द्वारा, नामिता = झुकायी गयी थी, फुल्लाम् = फूली हुई (ताम् = उसी), लताम् = लता को, वायसः = कौवा, अपि = भी, नाम्यति = झुका देता है। हि = जैसा कि सुविदितं है, यया = जिस, नावा = नैया से, ब्रह्मक्षत्रविशः = ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य, तरन्ति = पार होते हैं, तया = उसी नैया से एव ही, इतरे = दूसरे (वर्णाधम) लोग, च = भी। त्वम् = तुम, वेश्या = वेश्या, असि = हो, (अतः) वापी = बावड़ी (के), इव = समान, लता इव = लता के समान, नौः = नैया (के), इव = समान, सर्वम् = सब, जनम् = लोगों को, भज = स्वीकार करो।

अर्थः— और भी—

विद्वान् ब्राह्मण तथा नीच जाति वाला मूर्ख भी एक बावड़ी में स्नान करता है। जो लता पहले मयूर के द्वारा (बैठकर) झुका दी गयी थी उसी फूली हुयी लता को (उस पर बैठ कर) कौवा भी झुका देता है। जिस नाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पार उतरते हैं उसी से दूसरे (वर्णाधम) लोग भी। तुम वेश्या हो, अतः बावड़ी, लता और नाव की भाँति सब लोगों का (एक समान) सेवन करो।।३२।।

टीकाः — विचक्षणः = विद्वान्; द्विजेषु = द्विजातिषु वरः = श्रेष्ठः ब्राह्मणः इत्यर्थः; वर्णेषु = सर्वजातिषु अधमः = हीनः शूद्र चाण्डालो वा; अपि; वाप्याम् = एकस्याम् एव दीर्घिकायाम्; स्नाति = स्नानम् करोति; या = लता; बर्हिणा = मयूरेण नामिता आक्रान्ता अधरीकृता वा, फुल्लाम् = विकसिताम्; ताम् एव लताम् = वल्लरीम्; वायसः = काकः पक्षिक्षुद्रः, अपि = दुष्टाचारः नाम्यति = नमयति; हि = विदितम् इदम्। यया = हेतुभूतया यया; नावा = तरण्या; ब्रह्मक्षत्रविशः = ब्राह्मणक्षात्रियवैश्याः जातिश्रेष्ठाः इति भावः; तरन्ति = पारं व्रजन्ति; तया एव = नावा; इतरे = वर्णाधमाः, शूद्राः अपि तरन्ति इति शेषः त्वं वेश्या = सर्वजनसाधारणी स्त्री; असि = वर्तसे; अतः; वापीव = दीर्घिका इव; लता इव = वल्लरी इव, नौः इव = नौका इव सर्वम् = निखिलम्; जनम् = मनुष्यम् प्रार्थयितारम् इत्यर्थः; भज = सेवस्व।।३२।।

इस श्लोक में मालोपमा एवं काव्यलिंग अलंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्द का लक्षण इस प्रकार है— सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" ।।३२।।

वसन्तसेना — गुणो खु अणुराअस्स कारणं, ण उण बलक्कारो। (गुणः खल्वनुरागस्य कारणम्, न पुनर्बलात्कारः)।

शकारः— भावे भावे! एशा गब्भदाशी कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि ताह दलिद्दचालुहत्ताह अणुलत्ता ण मं कामेदि। वामदो तश्श घलइ। जधा तव मम अ हश्तादो ण एशा पलिब्भंशदि तधा कलेदु भावे। (भाव भाव! एषा गर्भदासी कामदवायतनोद्यानात्प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते। वामतस्तस्य गृहम्। यथा तव मम च हस्तान्नैषा परिभ्रश्यति तथा करोतु भाव)।

विटः— (स्वगतम्) यदेव परिहर्तव्यं तदेवोदाहरति मूर्खः। कथं वसन्तसेनार्यचारुदत्तमनुरक्ता?। सुष्ठु खल्लिवदमुच्यते—'रत्नं रत्नेन संगच्छते' इति। तद्गच्छतु, किमनेन मूर्खेण। (प्रकाशम्) काणेलीमातः! वामतस्तस्य सार्थवाहस्य गृहम्?।

शकार — अध इं। वामदो तश्श घलं। (अथ किम्। वामतस्तस्य गृहम्।)

वसन्तसेना — (स्वगतम्) अम्महे, वामदो तस्स गेहं त्ति जं सच्चं, अवरज्झंतेण वि दुज्जणेणे उवकिदं, जेण पिअसंगमं पाविदं। (आश्चर्यम्, वामतस्तस्य गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यतापि दुर्जनेनोपकृतम्, येन प्रियसंगमः प्रापितः।)

शकारः— भावे भावे! बलिए खु अंधआले माशलाशिपविश्टा विअ मशिगुडिआ दीशंती ज्जेवव पणश्टा वशंतशेणिआ। (भाव भाव! बलीयसि खल्वन्धकारे माषराशिप्रविष्टेव मसीगुटिका दृश्यमानैव प्रनष्टा वसन्तसेना।)

विटः—अहो, बलवानन्धकारः। तथा हि,—

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना।
उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण।।३३।।

अर्थः— शकार — भाव! भाव!! जन्म से ही दासी यह वेश्या कामदेवायतन उद्यान में अर्थात् उस उद्यान में जिसमें कामदेव का मन्दिर है जाने से लेकर उस दरिद्र चारुदत्त से प्रेम करने लगी है और मुझे नहीं चाहती है। बाँयी ओर उसका घर है। ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे यह हमारे और तुम्हारे हाथ से निकल न जाय।

विट — (अपने आप) यह मूर्ख वही बात कह रहा है जो नहीं कहनी चाहिए। क्या वसन्तसेना आर्य चारुदत्त से प्रेम करती है? वस्तुतः यह ठीक ही कहा गया है कि—'रत्न—रत्न के ही साथ संयुक्त होता है (अर्थात् योग्य का मेल योग्य से ही होता है)।' तो जाने दो। इस मूर्ख से क्या लाभ? (प्रकट रूप से) काणेलीपुत्र! (व्यभिचारिणीपुत्र!) उस सार्थवाह चारुदत्त का घर बाँयी ओर है?

शकार — और क्या? उसका घर बाँयी ओर है।

वसन्तसेना — (अपने आप) आश्चर्य! यदि सचमुच बाँयी ओर उसका घर है, तो अपराध करते हुए भी इस दुष्ट ने उपकार किया है, जिसने प्रिय के साथ समागम तो प्राप्त कराया अर्थात् जिससे प्रिय चारुदत्त का मिलना तो सम्भव हो गया।

शकार — भाव! भाव!! इस घोर अन्धकार में, उड़द (माष) की ढेर में गिरी हुई स्याही की टिकिया के समान, देखते ही देखते वसन्तसेना अदृश्य हो गयी।

अन्वयः— आलोकविशाला, मे दृष्टिः, सहसा, तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना, (जाता), उन्मीलिता, अपि, (दृष्टिः) अन्धकारेण, निमीलिता, इव, (भवति)।।३३।।

शब्दार्थः— आलोकविशाला = प्रकाश में दूर तक देखने वाली, मे = मेरी, दृष्टिः = आँख, सहसा = एकाएक, तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना = अन्धकार में प्रवेश करने से अवरुद्ध (जाता = हो गयी है), उन्मीलिता = खुली हुई, अपि = भी, (दृष्टिः = आँख), अन्धकारेण = अन्धकार के द्वारा, निमीलिता = बन्द, इव = सी, (भवति = हो रही है)।।

अर्थः— विट — अहो, प्रबल अंधकार है; क्योंकि—

प्रकाश में विस्तृत (दूर तक देखने वाली) मेरी दृष्टि सहसा अन्धकार में प्रवेश करने से अवरुद्ध हो गयी है। खुली हुई भी मेरी आँखें अन्धकार के द्वारा बन्द सी कर दी गयी हैं।।३३।।

टीकाः — आलोके = प्रकाशे दर्शने वा विशाला = विस्तृता महती वा; मे = मम विटस्य; दृष्टिः = नेत्रम्; सहसा = झटिति; तिमिरे = अन्धकार प्रवेशेन = आगमनेन विच्छिन्ना = अवरुद्धा हीनशक्तिः; जाता इति। उन्मीलिता = कृतोन्मेषा; अपि; (दृष्टिः); अन्धकारेण = तिमिरेण; निमीलिता = मुद्रिता; इव; भवति इति।।३३।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार एवं आर्या छन्द है।

अपि च,—

लिम्पतीव तमोऽंगानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।।३४।।

अन्वयः— तमः, अंगानि, लिम्पति, इव, नभः, अञ्जनम्, वर्षति, इव, दृष्टिः, असत्पुरुषसेवा, इव, विफलताम्, गताः।।३४।।

शब्दार्थः— तमः = अन्धकार, अंगानि = अंगों को, लिम्पति इव = लिप्त सा कर रहा है, नभः = आकाश, अञ्जनम् = आँजन, काजल

को, वर्षति इव = बरस सा रहा है, दृष्टिः = आँख, असत्पुरुषसेवा इव = दुष्ट मनुष्यों की सेवा की भाँति, विफलताम् = निष्फलता को, गता = प्राप्त हो गयी है।

अर्थः— और भी —

अन्धकार अंगों को लिप्त सा कर रहा है अर्थात् अंगों में अन्धकार व्याप्त हो रहा है, आकाश मानो काजल की वृष्टि कर रहा है। मेरी दृष्टि दुष्ट मनुष्यों की सेवा की भाँति निष्फल हो गयी है।।३४।।

टीकाः — तमः = अन्धकारः, अंगानि = शरीरावयवान्; लिम्पति इव = म्रक्षति इव; नभः = आकाशम्; अञ्जनम् = कज्जलम् वर्षति = पातयति इव; दृष्टिः = नेत्रम्; असत्पुरुषस्य = असज्जनस्य सेवा = परिचर्या इव; विफलताम् = निष्फलताम् दर्शनाभावमित्यर्थः; गता = जाता।।३४।।

इस श्लोक में यमक और अनुप्रास तथा उपमा एवं उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है। इसमें प्रयुक्त छन्द है—'अनुष्टुप'। इसका लक्षण इस प्रकार है—

"श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।३४।।

शकारः— भावे भावे! अण्णेशामि वशंतशेणिअं। (भाव भाव! अन्विष्यामि वसन्तसेनिकाम्।)

विटः— काणेलीमातः! अस्ति किंचिच्चिह्नं यदुपलक्षयसि।

शकारः— भावे भावे! किं विअ? (भाव भाव! किमिव?।)

विटः— भूषणशब्दं सौरभ्यानुविद्धं माल्यगन्धं वा।

शकारः— शुणामि मल्लगंध, अंधआलपुलिदाए उण णाशिआए ण शुव्वत्तं पेक्खामि भूषणसद्दं। (श्रृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकारपरिपूरितया पुनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषणशब्दम्।

विटः— (**जनान्तिकम्**) **वसन्तसेने!**

कामं प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं
सौदामिनीव जलदोदरसंधिलीना।
त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं
गन्धश्च भीरु! मुखराणि च नूपुराणि।।३५।।

अर्थः— **शकारः**— भाव! भाव!! वसन्तसेना को खोज रहा हूँ।

विटः— काणेली के पुत्र! कोई चिह्न है, जिसके सहारे तुम (वसन्तसेना को) ढूँढ़ रहे हो?।

शकार —भाव! भाव!! कैसा चिह्न?

विट — आभूषणों की खनखनाहट अथवा सुगन्धित माला की गन्ध?

शकार — माला की गंध तो सुन रहा हूँ, किन्तु अन्धकारयुक्त नाक से अर्थात् नाक के अन्धकार से पूर्ण हो जाने के कारण आभूषण के शब्द को स्पष्ट नहीं देख रहा हूँ।

अन्वयः— हे वसन्तसेने! जलदोदरसन्धिलीना, सौदामिनी, इव, कामम्, त्वम्, प्रदोषतिमिरेण, न, दृश्यसे, तु, हे भीरु! माल्यसमुद्भव अयम्, गन्धः, त्वाम्, सूचयिष्यति, च, मुखराणि, नूपुराणि, च, (सूचयिष्यति)।।३५।।

शब्दार्थः— हे वसन्तसेने! जलदोदरसन्धिलीना = बादलों के भीतर सन्धि–स्थल में छिपी हुई, सौदामिनी = बिजली (के), इव = समान, कामम् = यद्यपि, त्वम् = तुम, प्रदोषतिमिरेण = सायंकालीन अन्धकार के कारण, न = नहीं दृश्यसे = दिखलायी पड़ती हो, तु = किन्तु, हे भीरु = हे डरपोक स्वभाववाली! माल्यसमुद्भवः = माला से निकली हुई, अयम् = यह, गन्धः = सुगन्ध, त्वाम् = तुमको, सूचयिष्यति = सूचित कर देगी, च = और, मुखराणि = शब्द करने वाले, नूपुराणि = नूपुर को (सूचयिष्यन्ति = सूचित कर देंगे)।।

अर्थः— विट — (जनान्तिक) हे वसन्तसेने!

बादलों के भीतर सन्धि–स्थल में छिपी हुई बिजली के समान यद्यपि तुम सायंकालीन अन्धकार के कारण नहीं दिखलायी

पड़ रही हो, परन्तु हे डरपोक। माला से निकली हुयी सुगन्ध तथा शब्द करने वाले नूपुर तुम्हें सूचित कर देंगे अर्थात् तुम्हारा पता बता देंगे।

टीका— हे वसन्तसेने! जलदानाम् = मेघानाम् उदरसन्धौ = आभ्यन्तरे लीना = अन्तर्हिता; सुदाम्नः = मेघविशेषस्य अपत्यं स्त्री सौदामिनी = विद्युत्; इव; कामम् = यद्यपि; त्वम् = वसन्तसेना; प्रदोषतिमिरेण प्रदोषस्य = रजनीमुखस्य तिमिरेण = अन्धकारेण; न = नहि; दृश्यसे = अवलोक्यसे; तु = किन्तु; हे भीरु = हे भयशीले! माल्यात् = पुष्पदाम्नः समुद्भवः = उत्पत्तिः यस्य सः; अयम् = अनुभूयमानः; गन्धः = सौरभः; त्वाम् = वसन्तसेनाम्; सूचयिष्यति = ज्ञापयिष्यसि, च = तथा; मुखराणि = शब्दायमानानि; नूपुराणि = पादभूषणानि; च = अपि; सूचयिष्यन्ति इति।।३५।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार और वसन्ततिलका छन्द है।

श्रुतं वसन्तसेने!।

वसन्तसेना— (स्वगतम्) सुदं गहिदं च। (नाट्येन नूपुराण्युत्सार्य माल्यानि चापनीय किंचित्परिक्रम्य हस्तेन परामृश्य) अम्मो, भित्तिपरामरिससूचिदं पक्खदुआरअं खु एदं। जाणामि अ संजोएण गेहस्स संवुदं पक्खदुआरअं।

(श्रुतं गृहीतं च। अहो, भित्तिपरामर्शसूचितं पक्षद्वारकं खल्वेतत्। जानामि च संयोगेन गेहस्य संवृत्तं पक्षद्वारकम्।)

चारुदत्तः— वयस्य! समाप्तजपोऽस्मि। तत्सांप्रतं गच्छ। मातृभ्यो बलिमुपहर।

विदूषकः— भो, ण गमिस्सं। (भो न गमिष्यामि।)

चारुदत्तः— धिक्कष्टम्,—

दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्त्वं ह्रासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत्परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते।।३६।।

अर्थः — हे वसन्तसेने, सुना।

वसन्तसेना — (अपने आप) सुना और मतलब भी समझ लिया (अभिनय से नूपुरों को उतार कर और मालाओं को फेंक कर, कुछ घूम कर तथा हाथ से छूकर) अहो! दीवार के छूने से पता चलता है कि यह अवश्य ही बगल का दरवाजा (खिड़की) है, और छूने से लगता है घर का यह पक्षद्वार (खिड़की) बन्द है।

चारुदत्त— मित्र! मैं जप समाप्त कर चुका। तो अब जाओ, मातृ–देवियों को बलि (पूजा) चढ़ा जाओ।

अर्थः— **विदूषकः**— अजी मैं नहीं जाऊँगा।

अन्वयः— दारिद्र्यात्, बान्धवजनः, पुरुषस्य, वाक्ये, न, सन्तिष्ठते, सुस्निग्धाः, सुहृदः, विमुखीभवन्ति, आपदः, स्फारीभवन्ति, सत्त्वम्, ह्रासम्, उपैति, शीलशशिनः, कान्तिः, परिम्लायते, च, यत्, पापम्, कर्म, परैः, अपि, कृतम्, तत्, तस्य, सम्भाव्यते।।३६।।

शब्दार्थः— दारिद्र्यात् = दरिद्रता के कारण, बान्धवजनः = बन्धु लोग, पुरुषस्य = निर्धन पुरुष के, वाक्ये = कहने में, न = नहीं, सन्तिष्ठते = रहते, सुस्निग्धाः = अत्यन्त स्नेही, सुहृदः = मित्र, विमुखीभवन्ति = विमुख हो जाते हैं, मुँह फेर लेते हैं, आपदः = विपत्तियाँ, स्फारीभवन्ति = बढ़ जाती हैं, सत्त्वं = बल, ह्रासम् = कमी को, उपैति = प्राप्त हो जाता है, शीलशशिनः = चरित्ररूपी चन्द्रमा की, कान्तिः = चमक, परिम्लायते = धुँधली हो जाती है, च = कहाँ तक कहा जाय, यत् = जो, पापम् = पाप, कर्म = काम, परैः = दूसरे व्यक्तियों के द्वारा, अपि = भी कृतम् = किया गया है, तत् = वह पाप कर्म, तस्य = उसी दरिद्र का, सम्भाव्यते = समझा जाता है।।

अर्थः— दरिद्रता के कारण बन्धु लोग भी निर्धन पुरुष के कहने में नहीं रहते। अत्यन्त स्नेही मित्र भी विमुख हो जाते हैं और आपत्तियाँ बढ़ जाती हैं। बल क्षीण हो जाता है, चरित्र रूपी चन्द्रमा की कान्ति धुँधली हो जाती है, कहाँ तक कहा जाय, जो दूसरे व्यक्तियों के द्वारा भी किया गया पाप–कर्म है वह उसी का किया हुआ समझा जाता है।।३६।।

टीका— दारिद्र्यात् = निर्धनत्वात्; बान्धवजनः = सुहृज्जनः; पुरुषस्य = निर्धनजनस्य; वाक्ये = कथने; न सन्तिष्ठते = न चलति, वचनं न पालयति इत्यर्थः; सुस्निग्धाः = अतिस्नेहपूरिताः; सुहृदः = मित्रजनाः; विमुखीभवन्ति = विमुखाः उदासीनाः वा जायन्ते; आपदः = विपत्तयः; स्फारीभवन्ति = वृद्धिम् आपद्यन्ते; सत्त्वम् = बलम्; ह्रासम् = अवनतिम्; उपैति = गच्छति;

शीलम् = चरित्रम् एव शशिः = चन्द्रः तस्य; कान्तिः = दीप्तिः; परिम्लायते = मलिनतां प्राप्नोति, च = किञ्च, यत् पापम् = पापजनकम् निन्दितमित्यर्थः, कर्म = कार्यम्; परैः = अन्यजनैः; अपि, कृतम् = सम्पादितम्; तत् = अन्यव्यक्तिकृ पाप कर्म; तस्य = निर्धनस्य जनस्य; सम्भाव्यते = अनुमीयते।।३६।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

अपि च,–

संगं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते संभाषते नादरात्
संप्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिना सावज्ञमालोक्यते।
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम्।।३७।।

अन्वयः– हि, कश्चित्, अस्य, संगम्, न, एव, कुरुते, आदरात्, न, सम्भाषते, उत्सवेषु, धनिनाम्, गृहम्, सम्प्राप्तः, सावज्ञम् आलोक्यते अल्पच्छदः, (दरिद्रः), लज्जया, महाजनस्य, दूरात्, एव, विहरति, (अतः अहम्) मन्ये, निर्धनता, अपरम्, प्रकामम्, षष्ठम्, महापातकम् (अस्ति)।।३७।।

शब्दार्थः– हि = क्योंकि, कश्चित् = कोई, अस्य = इसका (निर्धन का), संगम् = साथ, न = नहीं, एव = ही, कुरुते = करता है, आदरात् = आदर से, न = नहीं, सम्भाषते = बोलता है; उत्सवेषु = उत्सवों में, धनिनाम् = धनियों के, गृहम् = घर को सम्प्राप्तः = गया हुआ, सावज्ञम् = अनादरपूर्वक, आलोक्यते = देखा जाता है; अल्पच्छदः = अल्प वस्त्र वाला (दरिद्र) लज्जया = लज्जा के कारण, महाजनस्य = बड़े लोगों के, दूरात् = दूर से, एव = ही, विहरति = चलता है (अतः इसलिये, अहम् = मैं), मन्ये = मानता हूँ, निर्धनता = गरीबी, अपरम् = दूसरा, प्रकामम् = प्रबल, षष्ठम् = छठा महापातकम् = महापाप, (अस्ति = है)।।

अर्थः– और भी–

कोई भी व्यक्ति इसका (निर्धन का) संग नहीं करता है। न आदर से बोलता है। उत्सव के अवसर पर (यदि निर्धन) धनिक के घर पहुँच जाता है तो वहाँ भी वह लोगों के द्वारा अनादर की दृष्टि से देखा जाता है। निर्धन व्यक्ति अल्प वस्त्रवाला होने के कारण लज्जावश बड़े लोगों से दूर होकर ही चलता है अर्थात् दूर ही रहता है। अतः मेरी समझ में दरिद्रता (पाँच महापापों के अतिरिक्त) एक प्रबल छठा महापाप है।।३७।।

टीका– हि = यतः; कश्चित् = कोऽपि; जनः इति शेषः; अस्य = दरिद्रस्य; संगम् = सम्पर्कम्; नैव कुरुते = नैव विदधाति तथा आदरात् = सत्कारात्, न सम्भाषते = न वदति; दरिद्रम् इति शेषः; उत्सवेषु = विवाहादिशुभावसरेषु, आनन्दजनककार्येषु इत्यर्थः धनिनाम् = धनवताम्; गृहम् = भवनम्; सम्प्राप्तः = गतः; अवज्ञया = तिरस्कारेण सहितं सावज्ञम्; आलोक्यते = अवलोक्यते अल्पः = स्वल्पः छदः = वस्त्रम् यस्य सः, अल्पच्छदः अतिस्वल्पवस्त्रः दरिद्रः; लज्जया = ह्रिया, महाजनस्य = धनिनः श्रेष्ठवस्त्रवतः इत्यर्थः; दूरादेव; विहरति = गच्छति; अतः अहम्; मन्ये = स्वीकरोमि, यत् निर्धनता = दरिद्रता अपरम् = अन्यत्; प्रकामम् = प्रवृद्धम्; षष्ठम् = ब्रह्महत्यादिपञ्चप्रकारातिरिक्तम्; महापातकम् = बृहत्पातकम्; अस्ति। ३७।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

अपि च,–

दारिद्र्य! शोचामि भवन्तमेवमस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा।
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम्।।३८।।

अन्वयः– हे दारिद्र्य! भवन्तम्, एवम्, शोचामि, (यत्), अस्मच्छरीरे, सुहृद्, इति, उषित्वा, मयि, मन्दभाग्ये, विपन्नदेह, (सति), त्वम् क्व गमिष्यसि, इति, मम, चिन्ता (अस्ति)।।३८।।

शब्दार्थः– हे दारिद्र्य = हे दरिद्रता, भवन्तम् = आपको अर्थात् आपके विषय में, एवम् = इस प्रकार, शोचामि = दुःखी होता हूँ (यत् = कि), अस्मच्छरीरे = मेरे शरीर में, सुहृद् = मित्र, इति = जैसा, उषित्वा = निवास करके, मयि = मुझ, मन्दभाग्ये = अभागा (के), विपन्नदेहे = मर जाने पर, त्वम् = तुम, क्व = कहाँ, गमिष्यसि = जाओगे, इति = ऐसी, मम = मेरी, चिन्ता = चिन्ता, अस्ति = है।

अर्थः– और भी–

हे दारिद्र्य! तुम्हारे विषय में मैं इस प्रकार दुःखी होता हूँ अर्थात् तुम्हारे विषय में मुझे यही चिन्ता है कि मेरे शरीर में मित्र के समान निवास करके मुझ अभागे के मर जाने पर तुम कहाँ जाओगे?।

टीका– हे दारिद्र्य = हे दैन्य! भवन्तम् = त्वाम्; एवम् = इत्थम्; शोचामि = तव भाविनीं दशां विचारयन् दुःखमनुभवामि। यत्; अस्मच्छरीरे = मम देहे; सुहृद् = मित्रमिति बुद्ध्या इति शेषः; उषित्वा = निवासं कृत्वा; मयि = चारुदत्ते; मन्दभाग्ये = भाग्य विरहिते; विपन्नः = विनष्टः; देहः = शरीरं यस्य तस्मिन्; मृते सतीत्यर्थः; त्वं क्व = कुत्र; गमिष्यसि = यास्यसि; इति = एतादृशी; मम = तव सुहृदः; चिन्ता = मर्मोपघातिनी भावना अस्तीति।।३८।।

इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है–उपजाति।

विदूषकः– (सवैलक्ष्यम्) भो वअस्स! जइ मए गंतव्वं ता एसा वि सहाइणी रदणिआ भोदु। (भो वयस्य! यदि मया गन्तव्यम्, तदेषापि मम सहायिनी रदनिका भवतु।)

चारुदत्तः–रदनिके! मैत्रेयमनुगच्छ।

चेटि– जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।)

विदूषकः–भोजि रदणिए! गेण्ह बलिं पदीवं च। अहं अवावुदं पक्खदुआरअं करेमि। (तथा करोति) (भवति रदनिके! गृहाण बलिं प्रदीपं च। अहमपावृतं पक्षद्वारकं करोमि।)

वसन्तसेना–मम अब्भुववत्तिणिमित्तं विअ अवावुदं पक्खदुआरअं। ता जाव पविसामि। (दृष्ट्वा) हद्धी हद्धी, कधं पदीवो। (पटान्तेन निर्वाप्य प्रविष्टा) (ममाभ्युपपत्तिनिमित्तमिवापावृतं पक्षद्वारकम्। तद्यावत्प्रविशामि। हा धिक् हा धिक्, कथं प्रदीपः।)

चारुदत्तः– मैत्रेय! किमेतत्?

विदूषकः–अवावुदपक्खदुआरएण पिंडीभूदेण वादेश णिव्वाविदो पदीवो। भोदि रदणिए! णिक्कम तुमं पक्खदुआरएण अहंपि अब्भंतरचदुस्सालादो पदीवं पज्जालिअ आअच्छामि। (इति निष्क्रान्तः) (अपावृतपक्षद्वारेण निर्वापितः प्रदीपः। भवति रदनिके! निष्क्राम त्वं पक्षद्वारकेण। अहमप्यभ्यन्तरचतुःशालातः प्रदीपं प्रज्वाल्यागच्छामि।)

शकारः– भावे भावे! अण्णेशामि वशंतशेणिअं। (भाव भाव! अन्वेषयामि वसन्तसेनिकाम्।)

विटः– अन्विष्यतामन्विष्यताम्।

शकारः– (तथा कृत्वा) भावे भावे! गहिदा गहिदा। (भाव भाव! गृहीता गृहीता।)

विटः– मूर्ख! नन्वहम्।

शकारः– इदो दाव भविअ एअंते भावे च्यिश्टदु। (पुनरन्विष्य चेटं गृहीत्वा) भावे भावे! गहिदा गहिदा। (इतस्तावद्भूत्वा एकान्ते भावस्तिष्ठतु। भाव भाव! गृहीता गृहीता।)

चेटः– भश्टके, चेडे हग्गे। (भट्टारक! चेटोऽहम्।)

शकारः– इदो भावे, इदो चेडे। भावे चेडे, चेडे भावे। तुम्हें दाव एअंते च्यिश्ट। (पुनरन्विष्य रदनिकां केशेषु गृहीत्वा।) भावे भावे! शपदं गहिदा गहिदा वशंतशेणिआ।

अंधआले पलाअंती मल्लगंधेण शूइदा।
केशविंदे पलामिश्टा चाणक्के णेव्व दोव्वदी।।३९।।

(इतो भावः, इतश्चेटः। भावश्चेटः, चेटो भावः। युवां तावदेकान्ते तिष्ठतम्। भाव भाव! सांप्रतं गृहीता वसन्तसेनिका।

अन्धकारे पलायमाना माल्यगन्धेन सूचिता।

केशवृन्दे परामृष्टा चाणक्येनेव द्रौपदी।।)

अर्थः– विदूषक – (लज्जापूर्वक) मित्र! यदि मुझे जाना ही है तो यह रदनिका भी मेरे साथ चले।

चारुदत्त– रदनिके! मैत्रेय के साथ जाओ।

चेटी – जैसी आर्य की आज्ञा।

विदूषक – हे रदनिके! बलि और दीपक को पकड़ो। मैं पक्षद्वार (खिड़की) को खोलता हूँ। (वैसा करता है)।

वसन्तसेना – मानो मुझ पर दया करने के लिये बगल का द्वार खुल गया है। तो जब तक प्रवेश करती हूँ। (देखकर) हाय हाय! क्या दीपक (जल रहा) है? (आँचल से दीपक बुझा कर भीतर प्रविष्ट हो जाती है)।

चारुदत्त– मैत्रेय! यह क्या?

विदूषक –पक्षद्वार के खुलते ही एकत्रीभूत वायु के झोंके के दीपक बुझा दिया गया। हे रदनिके! तुम पक्षद्वार से बाहर चलो। मैं भीतरी चतुःशाला से दीपक जलाकर आ रहा हूँ। (निकल जाता है)।

शकार – भाव! भाव!! मैं वसन्तसेना को ढूँढ रहा हूँ।

विट – ढूँढिये, ढूँढिये।

शकार – (खोलकर) भाव! भाव!! पकड़ ली गयी, पकड़ ली गयी।

विट – मूर्ख! (यह तो) मैं हूँ।

शकार – तो आप (भाव) इधर होकर एकान्त में खड़े रहें। (फिर ढूँढ कर और चेट को पकड़कर) भाव! भाव!! पकड़ ली गयी, पकड़ ली गयी।

चेट – स्वामिन्! यह तो मैं (चेट) हूँ।

शकार – इधर भाव (विट), इधर चेट। भाव–चेट, चेट–भाव। तुम दोनों तो एकान्त में खड़े रहो। (फिर खोज कर और रदनिका के केश पकड़कर) भाव! भाव!! अब 'वसन्तसेना' पकड़ ली गयी, पकड़ ली गयी।

अन्वयः–अन्धकारे, पलायमाना, माल्यगन्धेन, सूचिता, (वसन्तसेना), चाणक्येन, द्रौपदी, इव, केशवृन्दे, परामृष्टा।।३६।।

शब्दार्थः– अन्धकारे = अँधेरे में, पलायमाना = भागती हुई, माल्यगन्धेन = माला की सुगन्ध से, सूचिता = सूचित की गयी (वसन्तसेना), चाणक्येन = चाणक्य के द्वारा, द्रौपदी इव = द्रौपदी की भाँति, केशवृन्दे = केशों में (से) परामृष्टा = पकड़ ली गयी।

अर्थः– अन्धकार में भागती हुई माला की गन्ध से सूचित 'वसन्तसेना' मेरे द्वारा उसी प्रकार केशों से पकड़ ली गयी है जैसे चाणक्य के द्वारा 'द्रौपदी'।।३६।।

टीकाः – अन्धकारे = तिमिरव्याप्ते स्थाने; पलायमाना = पलाय्य गच्छन्ती अपि; माल्यस्य = पुष्पदाम्नः गन्धेन = सौरभेण; सूचिता = निर्दिष्टा; वसन्तसेना; चाणक्येन = कौटिल्येन; द्रौपदी = पाञ्चाली; इव = यथा; केशवृन्दे = केशकलापे; परामृष्टा = गृहीता।।३६।।

विटः–

एषासि वयसो दर्पात्कुलपुत्रानुसारिणी।
केशेषु कुसुमाढ्येषु सेवितव्येषु कर्षिता।।४०।।

अन्वयः– वयसः, दर्पात्, कुलपुत्रानुसारिणी, एषा, (त्वम्), कुसुमाढ्येषु, सेवितव्येषु, केशेषु, कर्षिता, असि।।४०।।

शब्दार्थः– वयसः = अवस्था के, दर्पात् = घमण्ड से, कुलपुत्रानुसारिणी = कुलीन पुत्र (चारुदत्त) का अनुगमन करनेवाली, एषा = यह, (त्वम् = तुम), कुसुमाढ्येषु = फूलों से सजे हुए, सेवितव्येषु = सेवा करने के योग्य, केशेषु = बालों में, कर्षिता = खींची गयी, असि = हो।।

अर्थः– विट – युवावस्था के अहंकार से कुलीन पुत्र चारुदत्त का अनुगमन करने वाली यह तुम फूलों से सजे हुए सेवा करने के योग्य बालों से पकड़ कर खींची जा रही हो।।४०।।

टीका– वयसः = यौवनावस्थायाः; दर्पात् = अहंकारात्; कुलस्य = प्रशस्तवंशस्य, पुत्रम् = सुतम् चारुदत्तमित्यर्थः अनुसरः इति अनुसारिणी = अनुगमनशीला; एषा = अपसरन्ती अपि; त्वम् = वसन्तसेना; कुसुमैः = पुष्पैः आढ्येषु = सम्पन्नेषु, सेवितव्येषु = अलंकार्येषु सेवनीयेषु वा; केशेषु = कचेषु;, कर्षिता = हठात् गृहीता; असि = वर्तसे।।४०।।

शकारः–

एशाशि वाशू शिलशि ग्गहीदा केशेशु बालेशु शिलोलुहेशु।
अक्कोश विक्कोश लवहिचंडं शंभुं शिवं शंकलमीशलं वा।।४१।।

(एषासि वासु शिरसि गृहीता केशेषु बालेषु शिरोरूहेषु।
आक्रोश विक्रोश लपाधिचण्डं शंभुं शिवं शकरमीश्वरं वा।।)

अन्वयः— हे वासु! एषा, (त्वम्) शिरसि, केशेषु, बालेषु, शिरोरूहेषु, गृहीता, असि, (सम्प्रति), आक्रोश, विक्रोश, वा, शम्भुम्, शिवम्, शंकरम्, ईश्वरम्, अधिचण्डम्, लप।।४१।।

शब्दार्थः— हे वासु = हे बाले! (त्वम् = तुम), शिरसि = शिर में, केशेषु = बालों में, बालेषु = केशों में, शिरोरूहेषु = शिर के बालों में, गृहीता = पकड़ ली गयी, असि = हो, (सम्प्रति, = अब) आक्रोश = गाली दो, विक्रोश = चिल्लाओ, वा = अथवा, शम्भुम् = शम्भु को, शिवम् = शिव को, शंकरम् = शंकर को, ईश्वरम् = ईश्वर को, अधिचण्डम् = काफी जोर से, लप = पुकारो।।

अर्थः— शकार — हे बाले! यह (तुम) शिर के बालों, केशों, शिरोरूहों के माध्यम से पकड़ ली गयी हो अर्थात् तुम्हारे शिर के बाल पकड़ में आ गए हैं। अब तुम गाली दो, चिल्लाओ, शम्भु, शिव, शंकर अथवा ईश्वर को जोर से पुकारो अर्थात् हमें किसी से भय नहीं है।

टीका— हे वासु = हे बाले! एषा = पलायमाना; त्वम् = वसन्तसेना; शिरसि केशेषु बालेषु शिरोरूहेषु = कचेषु, गृहीता = अवलम्बिता, असि = वर्तसे। सम्प्रति त्वम् आक्रोश = शापम् गालिं वा देहि, श्रावय; विक्रोश = आह्वय कमपि इति शेषः, वा = अथवा; शम्भुम् शिवम् शंकरम् = महेश्वरमित्यर्थः, अधिचण्डम् = अत्युच्चैः; लप = विलापम् कुरु।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—इन्द्रवज्रा। इसका लक्षण इस प्रकार है— 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'।।४१।।

रदनिका— (सभयम्) किं अज्जमिस्सेहिं ववसिदं?। (किमार्यमिश्रैर्व्यवसितम्?।)

विटः— काणेलीमातः! अन्य एवैष स्वरसंयोगः।

शकारः— भावे भावे! जधा दहिभत्तलुद्धाए मज्जालिए शलपलिवत्ते होदि, तधा दासीए धीए शलपलिवत्ते कडे। (भाव भाव! यथा दधिभक्तलुब्धाया मार्जारिकायाः स्वरपरिवृत्तिर्भवति, तथा दास्याः पुत्र्या स्वरपरिवृत्तिः कृता।)

विटः— कथं स्वरपरिवर्तः कृतः?। अहो चित्रम्, अथवा किमत्र चित्रम्?।

इयं रंगप्रवेशेन कलानां चोपशिक्षया।
वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमाश्रिता।।४२।।

अर्थः— रदनिका — (भयपूर्वक) आप महानुभावों ने यह क्या किया?

विट — काणेली के पुत्र! यह स्वर तो दूसरा सा लगता है अर्थात् यह स्वर 'वसन्तसेना' के स्वर से भिन्न सा प्रतीत होता है।

शकार — भाव! भाव!! जिस प्रकार दही भात की इच्छुक बिल्ली के स्वर में परिवर्तन हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार दही—भात की अभिलाषिणी बिल्ली अपना स्वर बदल देती है उसी प्रकार दासी की पुत्री इस नीच वसन्तसेना ने भी स्वर में परिवर्तन कर लिया है।

अन्वयः— इयम्, रंगप्रवेशेन, कलानाम्, उपशिक्षया, वञ्चनापण्डितत्वेन, च, स्वरनैपुण्यम्, आश्रिता।।४२।।

शब्दार्थः— इयम् = यह वसन्तसेना, रंगप्रवेशेन = नाट्यशाला में प्रवेश करने से, कलानाम् = संगीत आदि कलाओं के, उपशिक्षया = अभ्यास के द्वारा, वञ्चनापण्डितत्वेन = ठगने की कुशलता के कारण, स्वरनैपुण्यम् = स्वर परिवर्तन में निपुणता, आश्रिता = प्राप्त कर ली है।।

अर्थः— विट — क्या स्वर में परिवर्तन कर लिया? अहो आश्चर्य है! अथवा इसमें आश्चर्य ही क्या है?

इस 'वसन्तसेना ने नाट्यशाला में प्रवेश एवं कलाओं की शिक्षा के द्वारा दूसरों को ठगने में कुशलता प्राप्त कर लेने के कारण स्वर परिवर्तन में निपुणता प्राप्त कर ली है।।४२।।

टीका— इयम् = वसन्तसेना; रंगः = नाट्यशाला तस्मिन् प्रवेशेन = गमनेन; कलानाम् = नृत्यगीतादीनाम्; उपशिक्षया = अभ्यासेन, शिक्षया वा; वञ्चनायाम् = जनप्रतारणायाम्, धूर्ततायाम् इत्यर्थः; पण्डितत्वेन = चातुर्येण; च; स्वरनैपुण्यम् = स्वरपरिवर्तनपटुताम्; आश्रिता = प्राप्तवती, शिक्षिता इत्यर्थः।।४२।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार तथा अनुष्टुप् छन्द है।।४२।।

विदूषकः— ही ही भोः, पदोसमंदमारुदेण पशुबंधोवणीदस्य विअ छागलस्स हिअअं, फुरफुराअदि पदीवो। (उपसृत्य रदनिकां दृष्ट्वा) भो रदणिए! (आश्चर्यं भोः, प्रदोषमन्दमारुतेन पशुबन्धोपनीतस्येव छागलस्य हृदयम्, फुरफुरायते प्रदीपः। भो रदनिके!)

शकारः— भावे भावे! मणुश्शे मणुश्शे। (भाव भाव! मनुष्यो मनुष्यः।)

विदूषकः— जुत्तं ण्णेदं, सरिसं ण्णेदं, जं अज्जचारुदत्तस्स दलिद्ददाए संपदं परपुरिसा गेहं पवेसिअंति। (युक्त नेदम्, सदृशं नेदम् यदार्यचारुदत्तस्य दरिद्रतया सांप्रतं परपुरुषा गेहं प्रविशन्ति।)

रदनिका — अज्ज मित्तेअ! पेक्ख मे परिहवं। (आर्य मैत्रेय! प्रेक्षस्व मे परिभवम्।)

विदूषकः— किं तव परिहवो आदु अम्हाणं?। (किं तव परिभवः अथवाऽस्माकम्?।)

रदनिका — णं तुम्हाणं ज्जेव्व। (ननु युष्माकमेव।)

विदूषकः— किं एसो बलक्कारो?। (किमेष बलात्कारः?।

रदनिका — अध इं। (अथ किम्।)

विदूषकः— सच्चं (सत्यम्।)

रदनिका — सच्चं। (सत्यम्)

विदूषकः— (सक्रोधं दण्डकाष्ठमुद्यम्य) मा दाव। भो, सके गेहे कुक्कुरो वि दाव चंडो भोदि, किं उण अहं बम्हणा ता एदेण अम्हारिसजणभाअधेअकुडिलेण दंडकट्ठेण दुट्ठस्स विअ सुक्खाणवेणुअस्स मत्थअं दे पहारेहिं कुट्टइस्सं। (मा तावत् भोः, स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति, किं पुनरहं ब्राह्मणः। तदेतेनास्मादृशजनभागधेयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन दुष्टस्येव शुष्कवेणुकस्य मस्तकं ते प्रहारैः कुट्टयिष्यामि।

विटः— महाब्राह्मण! मर्षय मर्षय।

विदूषकः— (विटं दृष्ट्वा) ण एत्थ एसो अवरज्झदि। (शकारं दृष्ट्वा) एसो खु एत्थ अवरज्झदि। अरे रे राअसालअ संठाणअ दुज्जण दुम्मणुस्स! जुत्तं ण्णेदं। जइ वि णाम तत्तभवं अज्जचारुदत्तो दलिद्दो संवुत्तो, ता किं तस्स गुणेहिं ण अलंकिदा रज्जइणी। जेण तस्स गेहं पविसिअ परिअणस्स ईरिसो उवमद्दो करीअदि।

मा दुग्गदो त्ति परिहवो णत्थि कदंतस्स दुग्गदो णाम।

चारित्तेण विहीणो अड्ढो वि अ दुग्गदो होई।।४३।।

(नात्र एषोऽपराध्यति। एष खल्वत्रापराध्यति। अरे रे राजश्यालक संस्थानक दुर्जन दुर्मनुष्य! युक्त नेदम्। यद्यप्यार्य तत्रभवानार्यचारुदत्तो दरिद्रः संवृत्तः। तत्किं तस्य गुणैर्नालंकृतोज्जयिनी? येन तस्य गृहं प्रविश्य परिजनस्येदृशमुपमर्दं क्रियते।

मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम।

चारित्र्येण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति।।)

(प्रवेश करके)

अर्थः— विदूषक — अरे आश्चर्य है! रात्रि के प्रथम प्रहर की धीमी–धीमी हवा से, वध्य पशु को बाँधने के खूँट के समान ले जाये गये बकरे के हृदय की भाँति, दीपक काँप रहा है। (समीप आकर और रदनिका को देखकर) अरी रदनिका

शकार — भाव! भाव!! मनुष्य, मनुष्य।

विदूषक — यह उचित नहीं है, यह योग्य नहीं है कि आर्य 'चारुदत्त' की निर्धनता के कारण अब उनके घर में दूसरे लोग प्रवेश करते ।

रदनिका — आर्य मैत्रेय! मेरा अपमान तो देखो।

विदूषक — क्या तुम्हारा अपमान? अथवा हम लोगों का?।

रदनिका — हाँ आप ही लोगों का।

विदूषक — क्या यह बलात्कार?।

रदनिका — और क्या?

विदूषक — सचमुच?

रदनिका — सचमुच।

विदूषक — (क्रोध के साथ लकड़ी का दण्डा उठाकर) ऐसा नहीं (होगा)। अपने घर में तो कुत्ता भी प्रचण्ड बन जाता है और मैं तो भला ब्राह्मण हूँ। अतः हम लोगों के भाग्य के समान टेढ़े इस काष्ठ के दण्ड से विकृत सूखे हुए बाँस के समान तेरे मस्तक को प्रहारों से कूट डालूँगा।

विट— महाब्राह्मण! क्षमा करो, क्षमा करो।

विदूषक— (विट को देख कर) यहाँ यह अपराध नहीं कर रहा है। (शकार को देखकर) निश्चय ही यही अपराधी है। अरे राजश्यालक संस्थानक! दुष्ट! नीच मनुष्य! यह उचित नहीं है। यद्यपि आर्य चारुदत्त इस समय निर्धन हो गये हैं; तो भी क्या 'उज्जयिनी' नगरी उनके गुणों से विभूषित नहीं है? जिससे उनके घर में घुसकर (उनके) सेवक का इस प्रकार अपमान किया जा रहा है।

अन्वयः— (अयम्) दुर्गतः, इति, परिभवः, मा, (कर्त्तव्यः), कृतान्तस्य, (समीपे), दुर्गतः, न, अस्ति, नाम, च, चारित्र्येण, विहीनः, आढ्यः, अपि, दुर्गतः, भवति।।४३।।

शब्दार्थः— (अयम् = यह), दुर्गतः = निर्धन हैं, इति = इसलिये, परिभवः = अपमान, मा = नहीं, (कर्त्तव्यः = करना चाहिये), कृतान्तस्य = यमराज के (समीपे = पास में) दुर्गतः = निर्धन, न = नहीं, अस्ति = है, नाम = सम्भवतः, च = और, चारित्र्येण = चरित्र से, विहीनः = हीन, आढ्यः = धनी, अपि = भी, दुर्गतः = दुर्दशाग्रस्त, भवति = होता है।

अर्थः— यह 'निर्धन है' इसलिये अपमान मत करो। यमराज के यहाँ निर्धन कोई नहीं है और चरित्रहीन धनवान् भी दुर्दशा को प्राप्त होता है।।४३।।

टीका— अयम् = जनः इति; दुर्गतः = निर्धनः; इति = अस्मात् कारणात्; परिभवः = तिरस्कारः; मा = न; कर्त्तव्यः इति; कृतान्तस्य = यमराजस्य देवस्य वा; (समीपे = समक्षम्); दुर्गतः = दरिद्रः, नास्ति नाम इति संभावनायाम्; च = तथा; चारित्र्येण = शिष्टाचारेण; विहीनः = रहितः; आढ्यः = धनसम्पन्नः; अपि; दुर्गतः = दरिद्रः विपद्ग्रस्त इत्यर्थः; भवति = जायते ।।४३।।

विटः— (सवैलक्ष्यम्) महाब्राह्मण! मर्षय मर्षय। अन्यजनशंकया खल्विदमनुष्ठितम्, न दर्पात्। पश्य,—

सकामान्विष्यतेऽस्माभिः

विदूषकः— किं इअं?। (किमियम्?।)

विटः— शान्तं पापम्।

काचित्स्वाधीनयौवना।

सा नष्टा शंकया तस्याः प्राप्तेयं शीलवञ्चना।।४४।।

अन्वयः— अस्माभिः, सकामा, स्वाधीनयौवना, काचित्, अन्विष्यते, सा, नष्टा, तस्याः, शंकया, इयम्, शीलवञ्चना, प्राप्ता।।४४।।

शब्दार्थः— अस्माभिः = हमारे द्वारा, सकामा = कामासक्ता युवती, स्वाधीनयौवना = अपने यौवन की स्वामिनी, काचित् = कोई स्त्री, अन्विष्यते = ढूँढी जा रही है, सा = वह स्त्री, नष्टा = गायब हो गयी, तस्याः = उसी की, शंकया = शंका से, इयम् = यह, शलवञ्चना = चरित्र की हानि, प्राप्ता = प्राप्त हुई।।

अर्थः— विट — (लज्जापूर्वक) महाब्राह्मण! क्षमा करो, क्षमा करो। किसी दूसरे व्यक्ति (वसन्तसेना) के भ्रम से ऐसा (अनुचित) कार्य हो गया, अहंकार से नहीं। देखो—

हमारे द्वारा एक कामासक्ता युवती ढूँढ़ी जा रही है अर्थात् हम लोग एक कामिनी को खोज रहे हैं।

विदूषक— क्या यह (रदनिका)?

विट — पाप शान्त हो।

कोई अपने यौवन की स्वामिनी स्त्री अर्थात् वेश्या। किन्तु वह रमणी तो भाग गयी और उसी के भ्रम में यह चरित्र की हानि हुई अर्थात् इस प्रकार सदाचार का उल्लंघन हो गया।।४४।।

टीकाः — अस्माभिः = शकारप्रमुखैः जनैः; कामेन = मदनेन सहिता = संयुक्ता स्त्री सकामा = कामोत्सुका युवतीत्यर्थः; स्वाधीनम् = स्वायत्तम् भर्त्राद्यधीनत्वविरहितम् यौवनम् = यौवनव्यवहारः यस्याः सा, स्वेच्छाचारिणी गणिका इति यावत;

काचित् = सुन्दरी; अन्विष्यते = अनुसन्धीयते; किन्तु सा = अनुसन्धीयमाना सुन्दरी नष्टा = अदर्शनं गता; तस्याः = [illegible] शंकया = आशंकया भ्रमेण वा; इयम् = रदनिकया सह घटिता; शीलस्य = शिष्टाचारस्य वञ्चना = [illegible] दुश्चरितसंभावनेत्यर्थः; प्राप्ता = सञ्जाता, अस्माभिः इति।।४४।।

इस श्लोक में 'पथ्यावक्त्र' छन्द है। इसका लक्षण इस प्रकार है–'युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ।४४।

सर्वथेदमनुनयसर्वस्वं गृह्यताम् (इति खड्गमुत्सृज्य कृताञ्जलिः पादयोः पतति)

विदूषकः— सप्पुरिस! उट्ठेहि उट्ठेहि। अआणंतेण मए तुम उवालद्धे। संपदं उण जाणंतो अणुणेमि। (सत्पुरुष! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। अजानता मया त्वमुपालब्धः। साम्प्रतं पुनर्जानन्ननुनयामि।)

विटः— ननु भवानेवात्रानुनेयः। तदुत्तिष्ठामि समयतः।

विदूषकः— भणादु भवं। (भणतु भवान्।)

विटः— यदीमं वृत्तांतमार्यचारुदत्तस्य नाख्यास्यसि।

विदूषकः— ण कधइस्सं। (न कथयिष्यामि।)

विटः—

एष ते प्रणयो विप्र। शिरसा धार्यते मया।
गुणशस्त्रैर्वयं येन शस्त्रवन्तोऽपि निर्जिताः।।४५।।

अर्थः— सब प्रकार से मेरी इस महान् विनती को स्वीकार कीजिए। (ऐसा कह कर तलवार त्याग कर हाथ जोड़े पैर पर गिर जाता है)।

विदूषकः— हे सज्जन! उठो, उठो। बिना जाने मैंने तुम्हें उलाहना दिया है। अब तो जान लेने पर मैं आप से विनती करता हूँ

विटः— इस विषय में तो आप ही विनती के पात्र हैं। अच्छा तो मैं उठता हूँ, किन्तु एक शर्त पर।

विदूषकः— कहिए आप।

विटः— यदि इस घटना को आर्य 'चारुदत्त' से नहीं बताओगे।

विदूषकः— नहीं कहूँगा।

अन्वयः— हे विप्र! एषः, ते, प्रणयः, मया, शिरसा, धार्यते, येन शस्त्रवन्तः अपि, वयम्, गुणशस्त्रैः, निर्जिताः।।४५।।

शब्दार्थः— हे विप्र = हे ब्राह्मण! एषः = यह, ते = तुम्हारा, प्रणयः = अनुग्रह, स्नेह, मया = मेरे द्वारा, शिरसा = शिर से धार्यते = धारण किया जा रहा है, येन = जिससे, जिस कारण से, शस्त्रवन्तः = शस्त्रधारी, अपि = भी, वयम् = हम लोग, गुणशस्त्रैः = गुणरूपीशस्त्र से, निर्जिताः = पराजित कर दिये गये।

अर्थः— विट — हे ब्राह्मण! तुम्हारे इस अनुग्रह को मैं शिरोधार्य करता हूँ। जिस कारण से शस्त्रधारी होते हुए भी हम लोग आप के गुणरूपी शस्त्र से पराजित कर दिये गए हैं।।४५।।

टीका— हे विप्र = हे द्विजश्रेष्ठ! एषः = त्वया सम्प्रति एव प्रदर्शितः; ते = तव; प्रणयः = अनुग्रहः स्नेहः वा; मया = विटेन शिरसा = उत्तमांगेन इत्यर्थः; धार्यते = स्वीक्रियते; येन = कारणेन प्रणयेन वा शस्त्रवन्तः = आयुधधारिणः; अपि वयम् = विटादयः गुणाः = औदार्यादिगुणाः एव शस्त्राणि = आयुधानि तैः (कारणभूतैः) चारुदत्तस्य इति शेषः; निर्जिताः = पराभूताः।।४५।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।

शकारः— (सासूयम्) किंणिमित्तं उण भावे! एदश्श दुश्टवडुअश्श किविणं अंजलिं कदुअ पाएशु णिवडिदे?। (किंनिमित्तं पुनर्भाव! एतस्य दुष्टवटुकस्य कृपणाञ्जलिं कृत्वा पादयोर्निपतितः?।)

विटः— भीतोऽस्मि।

शकारः— कश्श तुमं भीदे?। (कस्मात्त्वं भीतः?।)

विटः— तस्य चारुदत्तस्य गुणेभ्यः।

शकारः— के विअ तश्श गुणा जश्श गेहं पविशिअ अशिदव्वं पि णत्थि। (के इव तस्य गुणा यस्य गृहं प्रविश्याशितव्यमपि नास्ति

विटः— मा मैवम्,—

सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो
न तेन कश्चिद्विभवैर्विमानितः।
निदाघकालेष्विव सोदको ह्रदो
नृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान्।।४६।।

अर्थः— शकार — (ईर्ष्या के साथ) भाव! विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर आप इस दुष्ट ब्राह्मण के पैरों पर क्यों गिर पड़े?

विट— डर गया हूँ।

शकार— तुम किससे डर गये हो?

विट— उस 'चारुदत्त' के गुणो से।

शकार— उसके क्या गुण हैं? जिसके घर में घुसने पर कुछ खाने योग्य पदार्थ भी नहीं है अर्थात् जिसके घर में खाने के लिए भी कुछ नहीं है।

अन्वयः— सः, अस्मद्विधानां, प्रणयैः, कृशीकृतः, तेन, कश्चित्, विभवैः, न, विमानितः, नृणाम्, तृष्णाम्, अपनीय, सः, निदाघकालेषु, सोदकः, ह्रदः, इव, शुष्कवान्।।४६।।

शब्दार्थः— सः = वह चारुदत्त, अस्मद्विधानाम् = हम जैसे लोगों की, प्रणयैः = प्रेमपूर्वक मांगों से, कृशीकृतः = धनहीन कर दिये गये हैं, तेन = उनके द्वारा, कश्चित् = कोई, विभवैः = धन के कारण से, न = नहीं, विमानितः = अपमानित किया गया, नृणाम् = पुरुषों की, तृष्णाम् = (धनसम्बन्धिनी) प्यास को, अपनीय = मिटाकर, सः = वह, निदाघकालेषु = गर्मी के समयों में, सोदकः = जलयुक्त, ह्रदः = तालाब की, इव = भाँति, शुष्कवान् = सूख गये हैं अर्थात् निर्धन हो गये हैं।।

अर्थः— **विटः**— ऐसा मत कहो।

वह हम जैसे लोगों की ही प्रेमपूर्ण मांगों से धनहीन हो गये हैं अर्थात् प्रेम के कारण हम लोगों को धन दे देकर निर्धन हो गये हैं। उन्होंने किसी को भी धन के गर्व से अपमानित नहीं किया है। मनुष्यों की धनसम्बन्धिनी तृष्णा को मिटा कर वे गर्मी के समय में जलयुक्त तालाब के समान सूख गये हैं अर्थात् निर्धन हो गये हैं।।४६।।

टीकाः— सः = चारुदत्तः; अस्मद्विधानाम् अस्माकम् विधा इव विधा = प्रकारः येषां तेषाम् = अस्मादृशानाम्; प्रणयैः = धनयाचनापूर्णप्रार्थनाभिः; कृशीकृतः = धनहीनः कृतः; तेन = चारुदत्तेन; कश्चित् = कोऽपि, याचकः मनुष्यः इति शेषः; विभवैः = धनैः; न विमानितः = न अपमानितः; नृणाम् = याचकजनानाम्; तृष्णाम् = धनाभिलाषाम्; (ह्रदपक्षे—पिपासाम्); अपनीय = दूरीकृत्य; सः = चारुदत्तः; निदाघकालेषु = ग्रीष्मसमयेषु; सोदकः = सजलः; ह्रदः = जलाशयः; इव, शुष्कवान् = धनाभावरूपाम्, जलाभावरूपां च शुष्कतां प्राप्तः।।४६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं वंशस्था छन्द है। छन्द का लक्षण इस प्रकार है—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ"।।४६।।

शकारः— (सामर्षम्) के शे गब्भदाशीअ पुत्ते?।

शूले विक्कंते पंडवे शेदकेदू
पुत्ते लाधाए लावणे इंददत्ते।
आहो कुंतीए तेण लामेण जादे
अश्शत्थामे धम्मपुत्ते जडाऊ।।४७।।

(कः स गर्भदास्याः पुत्रः?

शूरो विक्रान्तः पाण्डवः श्वेतकेतुः पुत्रो राधाया रावण इन्द्रदत्तः।

आहो कुन्त्यास्तेन रामेण जातः अश्वत्थामा धर्मपुत्रो जटायुः।।

अन्वयः— कः, सः, विक्रान्तः, शूरः, (सः, किम्) पाण्डवः, श्वेतकेतुः, इन्द्रदत्तः राधायाः पुत्रः, रावणः, आहो, तेन, रामेण, जातः, कुन्त्याः (पुत्रः), अश्वत्थामा, (वा) धर्मपुत्रः, जटायुः।।४७।।

शब्दार्थः— कः = कौन (है), सः = वह, विक्रान्तः = पराक्रमी, शूरः = योद्धा?; (सः = वह, किम् = क्या), पाण्डवः = पाण्डु का पुत्र, श्वेतकेतुः = श्वेतकेतु (है?), इन्द्रदत्तः = इन्द्र के द्वारा दिया गया, राधायाः = राधा का, पुत्रः = पुत्र, रावणः = दशानन

(है?), आहो = अथवा, तेन = उस, रामेण = राम से, जातः = उत्पन्न, कुन्त्याः = कुन्ती का (पुत्र) अश्वत्थामा (है?), = अथवा) धर्मपुत्रः = धर्मराज का पुत्र, जटायुः = जटायु है?।

अर्थः— **शकारः**— (रोषपूर्वक) कौन है वह जन्मदासी का पुत्र?

क्या वह शूरवीर पाण्डुपुत्र 'श्वेतकेतु है? अथवा इन्द्रप्रदत्त 'राधा' का पुत्र 'रावण' है? अथवा प्रसिद्ध उस राम से उत्पन्न 'कुन्ती' का पुत्र 'अश्वत्थामा' है? अथवा धर्मपुत्र 'जटायु' है?।।४७।।

टीका— कः सः, विक्रान्तः = पराक्रमी; शूरः = वीरः?; सः किम्; पाण्डवः = पाण्डुपुत्रः; श्वेतकेतुः = एतन्नाम्ना प्रसिद्ध तन अथ इन्द्रेण = देवराजेन दत्तः = प्रदत्तः; राधायाः पुत्रः = सुतः रावणः = दशाननः; आहो = अथवा; तेन = प्रसिद्धेन, रामण = रामचन्द्रेण; जातः = समुत्पन्नः; कुन्त्याः = अर्जुनमातुः; (पुत्रः = सुतः) अश्वत्थामा = द्रौणिः, अथवा धर्मपुत्रः = धर्मसुत जट = तन्नाम्ना प्रसिद्धः महापराक्रमी पक्षिविशेषः।।४७।।

इस श्लोक में वैश्वदेवी छन्द है— 'बाणश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ''।।४७।।

विटः— **मूर्ख! आर्यचारुदत्तः खल्वसौ,**

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्त्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ।।४८।।

अन्वयः— दीनानाम्, स्वगुणफलनतः, कल्पवृक्षः; सज्जनानाम्, कुटुम्बी; शिक्षितानाम्, आदर्शः; सुचरितनिकषः, शीलवेलासमुद्रः, सत्कर्त्ता न, अवमन्ताः; पुरुषगुणनिधिः; दक्षिणोदारसत्त्वः; हि, अधिकगुणतया, श्लाघ्यः, एकः, सः, जीवति, अन्ये, उच्छ्वसन्ति इव च।।४८।।

शब्दार्थः— दीनानाम् = दीनों के, स्वगुणफलनतः = अपने गुण रूपी फलों से झुके हुए, कल्पवृक्षः = कल्पवृक्ष, सज्जनानाम् = साधुओं के, कुटुम्बी = बन्धु, शिक्षितानाम् = पढ़े लिखे लोगों के, आदर्शः = आदर्श, नमूना, सुचरितनिकषः = सच्चरित्र की कसौटी, शीलवेलासमुद्रः = सदाचाररूपी मर्यादा के सागर, सत्कर्ता = सत्कार करने वाले, न = नहीं, अवमन्ता = अनादर करने वाले, पुरुषगुणनिधिः = मनुष्योचित गुणों के खजाना, दक्षिणोदारसत्त्वः = सरल एवं उदारस्वभाववाले, हि = निश्चित, अधिकगुणतया = गुणों की अधिकता के कारण, श्लाघ्यः = प्रशंसनीय, एकः = एकमात्र, सः = वह चारुदत्त, जीवति = जी रहे हैं, अन्ये = दूसरे लोग, उच्छ्वसन्ति = सांस लेते हैं, इव = मानो, जैसे।।

अर्थः— विट — अरे मूर्ख! यह तो आर्य 'चारुदत्त' हैं।

जो दीनों के कामनाओं को पूर्ण करने वाले अपने गुण रूपी फलों से नम्र कल्पवृक्ष हैं। साधुओं के बन्धु, शिक्षितों के आदर्श सच्चरित्र की कसौटी, सदाचार रूपी मर्यादा के सागर, सत्कार करने वाले, किसी का अनादर न करने वाले, मनुष्योचित गुणों के खजाना, सरल एवं उदार स्वभाव वाले हैं। गुणों की प्रचुरता के कारण प्रशंसनीय वह आर्य चारुदत्त ही यथार्थ रूप में जीवित हैं और अन्य लोग तो सिसकते ही हैं अर्थात् उनके अतिरिक्त अन्य गुणहीन व्यक्तियों का जीवन निरर्थक है।।४८।

टीका— दीनानाम् = दुरवस्थापतितानाम् जनानाम्; स्वस्य = निजस्य गुणाः = दयादाक्षिण्यादिगुणाः एव फलानि = परिणामः तेन = नम्रः अतिविनयशीलः इति भावः; कल्पवृक्षः = कल्पस्य वृक्षः कल्पवृक्षः = कल्पतरुः; सज्जनानाम् = सद्वृत्तानाम् जनानाम् कुटुम्बी = बन्धुः; उपजीव्यः इति भावः; शिक्षितानाम् = विदुषाम्; आदृश्यते रूपमत्र आदर्शः = निदर्शनरूप, सुचरितानाम् = दयादाक्षिण्यादीनाम् निकष्यते अस्मिन् इति निकषः = परीक्षापाषाणः, परीक्षास्थानमित्यर्थः; शीलम् = सद्वृत्तम् एव वेला = मर्यादा तस्याः समुद्रः = सागरः; यथा सागरः कदापि वेलाभूमिं नातिक्रामति तथैवाऽयं जनः सदाचारं न लघयति इत्यर्थः सत्कर्त्ता = समादरकर्त्ता, सर्वेषां जनानाम्; नावमन्ता = न कस्यचिदपि अपमानकर्त्ता; पुरुषगुणानाम् = औदार्यादीनाम् निधिः = आलयः; दक्षिणम् = सरलम् अनुकूलम् वा उदारम् = महत् च सत्त्वम् = स्वभावः यस्य सः। हि = निश्चितम् अधिकगुणतया = अन्यजनातिशायिगुणशालित्वेन; श्लाघ्यः = प्रशंसनीय'; एकः = केवलः, सः = चारुदत्तः, जीवति = सफल प्राणान् धारयति; अन्ये = इतरे जनाः; उच्छ्वसन्ति = उच्छ्वासं कुर्वन्ति; इव = यथा;।

इस श्लोक में एक ही चारुदत्त का अनेक रूपों में उल्लेख किया गया है अतः उल्लेख अलंकार है। शीलवेला आदि में रूपक है; उच्छ्वसन्तीव में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है स्रग्धरा—लक्षण = म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।।४८।।

तदितो गच्छामः।

शकारः— अगेणिहअ वशंतशेणिअं? । (अगृहीत्वा वसन्तसेनाम्?)

विटः— नष्टा वसन्तसेना।

शकारः— कधं विअ? । (कथमिव? ।)

विटः—

अंधस्य दृष्टिरिव पुष्टिरिवातुरस्य
मूर्खस्य बुद्धिरिव सिद्धिरिवालसस्य।
स्वल्पस्मृतेर्व्यसनिनः परमेव विद्या
त्वां प्राप्य सा रतिरिवारिजने प्रनष्टा।।४६।।

अर्थः— तो यहाँ से चलें।

शकारः— 'वसन्तसेना' को बिना पकड़े ही?

विट— 'वसन्तसेना' तो अदृश्य हो गयी।

शकार— किस प्रकार?

अन्वयः— सा, त्वाम्, प्राप्य, अन्धस्य, दृष्टिः, इव, आतुरस्य, पुष्टिः, इव, मूर्खस्य, बुद्धिः, इव, अलसस्य, सिद्धिः, इव, अल्पस्मृतेः, व्यसनिनः, परमा, विद्या, इव, अरिजने, रतिः, इव, प्रनष्टा।।४६।।

शब्दार्थः— सा = वह वसन्तसेना, त्वाम् = तुमको, प्राप्य = प्राप्त कर, अन्धस्य = अन्धे की, दृष्टिः = आँख (के), इव = समान, आतुरस्य = रोगी के पुष्टिः = बल (के), इव = समान, मूर्खस्य = मूर्ख की, बुद्धिः = बुद्धि (के), इव = समान, अलसस्य = आलसी की, सिद्धिः = सफलता (की), इव = तरह, अल्पस्मृतेः = कम स्मरण शक्तिवाले, व्यसनिनः = दुर्गुणासक्त (व्यक्ति की) परमा = उत्कृष्ट, विद्या = विद्या (की), इव = भाँति, अरिजने = शत्रु में, रतिः = प्रेम (के), इव = तुल्य, प्रनष्टा = अदृश्य हो गयी।

अर्थः— विट — वह तुम्हें प्राप्त कर अन्धे की दृष्टि के समान, रोगी के बल के समान, मूर्ख की बुद्धि की भाँति आलसी की सफलता की भाँति, कम स्मरण शक्तिवाले दुर्गुणसक्त (व्यक्ति) की उत्कृष्ट विद्या की तरह, शत्रुओं में प्रेम के सदृश, अदृश्य हो गयी।।४६।।

टीकाः— सा = वसन्तसेना; त्वाम् = शकारम्; प्राप्य = लब्ध्वा; अन्धस्य = दृष्टिशक्तिरहितस्य जनस्य; दृष्टिः = दर्शनशक्तिः इव, आतुरस्य = व्याधिविह्वलस्य; पुष्टिः = शरीरबलमिव; मूर्खस्य = विवेकहीनस्य; बुद्धिः = विवेकसामर्थ्यम् इव; अलसस्य = मन्दस्य, सिद्धिः = कार्यसफलता इव; अल्पा = क्षीणा स्मृतिः = स्मरणशक्तिः यस्य तस्य; व्यसनम् अस्ति अस्य इति व्यसनी तस्य व्यसनिनः = दुर्गुणसक्तस्य; परमा = श्रेष्ठा; विद्या = ज्ञानम्; अरिजने = शत्रुजने; रतिः = अनुरागः इव; प्रनष्टा = अदर्शनं गता।।४६।।

यहाँ पर एक ही उपमेयभूत वसन्तसेना के लिये अन्धे की दृष्टि, आतुर की पुष्टि आदि अनेक उपमान होने के कारण मालोपमा अलंकार है। प्रयुक्त छन्द है वसन्ततिलका। छन्द का लक्षण—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।।४६।।

शकारः— अगेणिहअ वशंतशेणिअं ण गमिश्शं। (अगृहीत्वा वसन्तसेनां न गमिष्यामि।)

विटः— एतदपि न श्रुतं त्वया?

आलाने गृह्यते हस्ती वाजी वल्गासु गृह्यते।
हृदये गृह्यते नारी यदीदं नास्ति गम्यताम्।।५०।।

अन्वयः— हस्ती, आलाने, गृह्यते, वाजी, वल्गासु, गृह्यते, नारी, हृदये, गृह्यते, यदि, इदम्, नास्ति, (तदा), गम्यताम्।।५०।।

शब्दार्थः— हस्ती = हाथी, आलाने = खम्भे में (हाथी को बाँधने का खम्भा आलान कहा जाता है), गृह्यते = वश में किया जाता है, वाजी = घोड़ा, वल्गासु = लगामों में, गृह्यते = वश में किया जाता है, नारी = स्त्री, हृदये = हृदय में, गृह्यते = पकड़ी जाती है, वश में की जाती है, यदि = यदि, इदम् = हृदय, नास्ति = नहीं है, (तदा = तो), गम्यताम् = जाओ।।

अर्थः— शकार — 'वसन्तसेना' को बिना लिये नहीं जाऊगा।

विट— क्या तुमने यह भी नहीं सुना है? (कि)—

हाथी खम्भे में बाँध कर वश में किया जाता है, घोड़ा लगाम से वश में किया जाता है और स्त्री हृदय से वश में की जाती है। यदि यह हृदय का प्रेम नहीं है तो जाइये।।५०।।

टीका— हस्ती = करी; आलाने = बन्धनस्तम्भे गृह्यते = वशीक्रियते; वाजी = अश्वः; वल्गासु = मुखरश्मिसु, गृह्यत = नियन्त्र्य = स्त्री; हृदये = हृदि; गृह्यते = वशीक्रियते; स्त्रीणां वशीकरणं हृदयप्रेम्णा एव सम्भवति न तु बलात्कारेण इति, यदि चेत्; इदम् = अनुरागपूर्णं हृदयम्; नास्ति = न वर्तते; तदा गम्यताम् = निवर्त्यतामस्मद्व्यापारादिति।।५०।।

प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र, लक्षण—'युजोर्येन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्'।।५०।।

शकारः— यदि गच्छसि, गच्छ तुमं। हग्गे ण गमिश्शं। (यदि गच्छसि, गच्छ त्वम्। अहं न गमिष्यामि।)

विटः— एवम्; गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

शकारः— गडे खु भावे अभावं। (विदूषकमुद्दिश्य।) अले काकपदशीशमश्तका दुश्टवडुअका! उवविश उवविश। (गते खलु भावोऽभावम्। अरे काकपदशीर्षमस्तक दुष्टवटुक! उपविशोपविश।)

विदूषकः—उववेसिदा जेव्व अम्हे। (उपवेशिता एव वयम्।)

शकारः— केण?। (केन?।)

विदूषकः—कअंतेण। (कृतान्तेन।)

शकारः— उट्ठेहि उट्ठेहि। (उत्तिष्ठोत्तिष्ठ।)

विदूषकः—उट्ठिस्सामो। (उत्स्थास्यामः।)

शकारः— कदा?। (कदा?।)

विदूषकः—जदा पुणो वि देव्वं अणुऊलं भविस्सदि। (यदा पुनरपि दैवमनुकूलं भविष्यति।

शकारः— अले, लोद लोद। (अरे, रुदिहि रुदिहि।)

विदूषकः—रोदाविदा जेव्व अम्हे। (रोदिता एव वयम्।)

शकारः— केण?। (केन?।)

विदूषकः—दुग्गदीए। (दुर्गत्या।)

शकारः— अले, हश हश। (अरे, हस हस।)

विदूषकः—हसिस्सामो। (हसिष्यामः।)

शकारः— कदा?। (कदा?।)

विदूषकः—पुणो वि रिद्धीए अज्जचारुदत्तस्स। (पुनरपि ऋद्ध्यार्यचारुदत्तस्य।)

शकारः— अले दुष्टवडुअका! भणेशि मम वअणेण तं दलिद्दचालुदत्तकं-'एशा शशुवण्णा शहिलण्णा णवणाडअदशणुट्ठिदा शुत्तधालिव्व वशंतशेणिआ णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता अम्हेहिं बलक्काला(णुणीअमाणा तुम गेहं पविश्टा। ता जइ मम हश्ते शअं ज्जेव्व पट्टाविअ एणं शमप्पेशि, तदो अधिअलणे ववहालं विणा लहु णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पीदी हुविश्शदि। आदु अणिज्जादमाणाह आमलणंतिके वेले हुविश्शदि। अधि अ पेक्ख पेक्ख,

कश्चालुका गोछडलित्तवेंटा
शाके अ शुक्खे तलिदे हु मंशे।
भत्ते अ हेमंतिअलत्तिशिद्धे
लीणे अ वेले ण हु होदि पूदी।।५१।।

अरे दुष्टबटुक! भणिष्यसि मम वचनेन तं दरिद्रचारुदत्तकम्-'एषा ससुवर्णा सहिरण्या नटनाटकदर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा। तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति। अथवाऽनिर्यातयतो मरणान्तिकं वैरं भविष्यति। अपि च प्रेक्षस्व,

कूष्माणडी गोमयलिप्तवृन्ता शाकं
च शुष्कं तलितं खलु मांसम्।
भक्तं च हैमन्तिकरात्रिसिद्धं लीनायां
च वेलायां न खलु भवति पूति।।

अर्थः— शकार — यदि तुम जाते हो, तो जाओ; मैं नहीं जाऊँगा।

विट— अच्छा, जाता हूँ। (निकल जाता है)।

शकार— भाव तो अभाव को प्राप्त हुए अर्थात् विट चले गये। (विदूषक को लक्ष्य करके) अरे कौवे के पैर के समान शिर तथा माथे वाले दुष्ट वटुक, बैठ जा, बैठ जा।

विदूषक— हम लोग तो बैठा ही दिए गये हैं।

शकार— किसके द्वारा?

विदूषक— दैव के द्वारा।

शकार— उठो, उठो।

विदूषक— उठेंगे।

शकार— कब?

विदूषक— जब फिर भाग्य अनुकूल होगा।

शकार— अरे रोओ, रोओ।

विदूषक— हम लोग रुलाए जा चुके हैं।

शकार— किसके द्वारा?

विदूषक— दुर्दशा के द्वारा।

शकार— अरे हँस, हँस।

विदूषक — हँसेंगे।

शकार — कब?

विदूषक — पुनः आर्य 'चारुदत्त' की समृद्धि से।

शकार — अरे दुष्ट बटुक! मेरे बचन मेरी ओर से उस दरिद्र 'चारुदत्त' से कहो कि—"यह सुन्दर वर्ण वाली, सुवर्ण के आभूषणों से युक्त, नवीन नाटक के प्रदर्शन के लिए उठ कर खड़ी हुई मुख्य नटी जैसी 'वसन्तसेना' नाम की वेश्या-पुत्री, जो कि कामदेवायतनोद्यान में जाने से लेकर तुमसे प्रेम करती है, हमारे द्वारा बलपूर्वक मनायी जाती हुई भी तुम्हारे घर में प्रविष्ट हो गयी है। तो यदि स्वयं ही भेज कर मेरे हाथ में इसको सौंप देते हो तो न्यायालय में मुकदमे के बिना शीघ्र ही 'वसन्तसेना' को लौटाने वाले तुम्हारा मेरे साथ दृढ़ प्रेम हो जायगा। अथवा वसन्तसेना को नहीं लौटाने पर जीवन भर के लिए शत्रुता हो जायगी।"

अन्वयः— गोमयलिप्तवृन्ता, कूष्माण्डी, शुष्कम्, शाकम्, च, तलितम् मांसम्, खलु हैमन्तिकरात्रिसिद्धम्, भक्तम्, च, वेलायाम्, लीनायाम्, च, न, खलु, पूति, भवति।।५१।।

शब्दार्थः— गोमयलिप्तवृन्ता = गोबर से लिपी हुई डंठल वाली, कूष्माण्डी = कुम्हड़ी, शुष्कम् = सूखा हुआ, शाकम् = शाक, च = और, तलितम् = तला हुआ, मांसम् = मांस, हैमन्तिकरात्रिसिद्धम् = हेमन्त ऋतु की रात में पकाया हुआ, भक्तम् = भात, वेलायाम् = काल के, लीनायाम् = बीत जाने पर, च = भी, न खलु = नहीं, पूति = दुर्गन्धयुक्त, विकृत, भवति = होता है।।

अर्थः— और भी देखो—

गोबर से लिप्त डण्ठल ' ली कूष्माण्डी, सूखा हुआ शाक, तला हुआ मांस, हेमन्त ऋतु की रात्रि मे पकाया हुआ भात अधिक काल बीत जाने र भी विकृत नहीं होते हैं।।५१।।

टीकाः— गोमयेन = गोपुरीषेण लि म् = वेष्टितम् वृन्तम् = बन्धनम् यस्याः स; कूष्माण्डी = स्वल्पकर्कारू, शुष्कम् = च; तलितम् = घृतादिना सम्भृष्टम; मांसम् खलु; हैमन्तिकायाम् = हेमन्तऋतुभवायां रात्रौ = निशायाम सिद्धम भक्तम् = अन्नम् तण्डुलं ; वेलायाम् = काले; लीनायाम् = अतिक्रान्तायाम्; च = अपि; न खलु = नैव, पूति युक्तम्, विकृतम् इत्यर्थ भवति = जायते।।५१।।

यहाँ पर अप्रस्तुत यथोक्त कूष्माण्ड इत्यादि में दुर्गन्ध के अभाव का प्रतिपादन किया गया है और उससे प्रस्तुत को न लौटाने से वैररूप ोष की विपरीत–क्रम से प्रतीति होती है; अतः अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। प्रयुक्त है—इन्द्रवज्रा। इसका ल ण इस प्रकार है– 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'।।५१।।

शोश्तकं भणेशि, लश्त भणेशि। तधा भणेशि जधा हग्गे अत्तणकेलिकाए पाशादबालग्गकवोदवालिआए उवावेश्टे शुणामि तधा जदि ण : णेशि, ता कवालतलप्पविश्टं कवित्थं विअ मश्तअं दे मडमडाइश्शं।

शोभनं भणिष्यसि, सव टं भणिष्यसि। तथा भणिष्यसि यथाहमात्मकीयायां प्रासादबालाग्रकपोतपालिकायामुपावेष्टः शृणोमि। अन्यथा यदि णसि, तदा कपाटतलप्रविष्टं कपित्थगुलिकमिव मस्तकं ते मडमडायिष्यामि।

विदूषकः—भणिस्सं। (भणिष्यामि।)

शकारः— (अपवार्य) चेडे! गेडे श कं ज्जेव्व भावे। (चेट! गतः सत्यमेव भावः।)

चेटः— अध इं। (अथ किम्।)

शकारः— ता शिग्घं अवक्कमम्ह। तच्छीघ्रमपक्रमावः।)

चेटः— ता गेण्हदु भश्टके अशिं (तद्गृह्णातु भट्टारकोऽसिम्।)

शकारः— तव ज्जेव्व हत्थे च्यिश्ट । (तवैव हस्ते तिष्ठतु।)

चेटः— एशे भश्टालके। गेणहद ां भश्टके अशिं। (एष भट्टारकः। गृह्णत्वेनं भट्टारकोऽसिम्।)

शकारः— (विपरीतं गृहीत्वा)

णिव्वल कलं मूलकपेशिवण्णं
खंधेण वेत्तण अ कोशशुत्तं।
कुक्को : कुक्कीहिं अ बुक्कअंते
जधा ा आले शलणं पलामि।।५२।।
(निर्वल्कलं मूलक शेवर्णं स्कन्धेन गृहीत्वा च कोशसुप्तम्।
कुक्कुरैः कुक्करीः श्च बुक्क्यमानो यथा शृगालः शरणं प्रयामि।।)

(परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

अर्थः— भली प्रकार कहना, तथा ुपट के साथ कहना; और उस प्रकार कहना जिससे मैं (अपने) राजभवन के नवीनमेत पर भाग वाली कपोतपालिका र बैठा हुआ सुनता रहूँ। यदि ऐसे नहीं कहोगे, तो किवाड़ों के बीच मे रक्खी हुई कैथ के समान तुम्हारे मस्तक को मड़– ड़ शब्द के साथ पीस डालूँगा।

विदूषक— कह दूँगा।

शकार— (अलग हट कर) चेट! स मुच ही भाव (विट) चले गये?

चेट— और क्या?

शकार— तो हम दोनों शीघ्र ही च ।

चेट— तो स्वामी तलवार को ग्र ग करें।

शकार— तुम्हारे ही हाथ में रहे।

चेट— स्वामिन!! यह है। आप इस तलवार को ले लें।

अन्वयः— निर्वल्कलम्, मूलकपेशिवर्णम्, कोशसुप्तम्, (असिम्), स्कन्धेन, गृहीत्वा, च, कुक्कुरैः, कुक्कुरीभिः, च, बुक्क्यमानः, श्रृगालः, यथा, शरणम्, प्रयामि।।५२।।

शब्दार्थः— निर्वल्कलम् = नंगी, मूलकपेशिवर्णम् = मूली के छिलके के समान रंगवाली, कोशसुप्तम् = म्यान में स्थित, (असिम् = तलवार को), स्कन्धेन = कन्धे से (पर) गृहीत्वा = पकड़कर, यहाँ पर रख कर, च = तथा, कुक्कुरैः = कुत्तों के द्वारा, कुक्कुरीभिः = कुतियों के द्वारा, बुक्क्यमानः = भौंके जाते हुए, श्रृगालः = गीदड़ (की), यथा = भाँति, शरणम् = घर को, प्रयामि = जा रहा हूँ।

अर्थः— शकार — (उलटी पकड़ कर)—

नंगी तथा मूली के छिलके के समान रंगवाली, म्यान में स्थित तलवार को कन्धे पर रख कर मैं कुत्ते और कुतियों के द्वारा भौंके जाते हुए गीदड़ की भाँति घर को जाता हूँ
।।५२।।

(घूमकर निकल जाते हैं)

टीका— वल्कलात् = तरुत्वचः लक्षणया तन्निर्मितात् कोशात् निर्गतम् = निःसृतम् कोशबहिर्भूतम् इत्यर्थः; मूलकस्य पेशिः = त्वक् तद्वर्णः इव वर्णः यस्य तम् = मूलकत्वग्वर्णमित्यर्थः; कोशसुप्तम् = कोशस्थितम् (असिम्); स्कन्धेन = अंश–प्रदेशेन; = गृहीत्वा = धृत्वाः, च; कुक्कुरैः = श्वभिः; कुक्कुरीभिः = शुनीभिश्च; बुक्कयमानः, शब्दायमानः; श्रृगालः = जम्बुकः; यथा = इव; शरणम् = गृहम् प्रयामि = वेगेन गच्छामि।।५२।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं उपजाति छन्द है।

विदूषकः— भोदि रदणिए! ण हु दे अअं अवमाणो तत्थभवदो चारुदत्तस्स णिवेदइदव्वो। दोग्गच्चीपीडिअस्स मण्णे दिउणदरा पीडा हुविस्सदि। (भवति रदनिके! न खलु तेऽयमपमानस्तत्रभवतश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्यः। दौर्गत्यपीडितस्य मन्ये द्विगुणतरा पीडा भविष्यति।)

रदनिका—अज्ज मित्तेअ! रदणिआ खु अहं संजदमुही। (आर्य मैत्रेय! रदनिका खल्वहं संयतमुखी।)

विदूषकः—एवं ण्णेदं। (एवमिदम्।)

चारुदत्तः— (वसन्तसेनामुद्दिश्य) रदनिके! मारुताभिलाषी प्रदोषसमयशीतार्तो रोहसेनः। ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम्। अनेन प्रावारकेण छादयैनम्। (इति प्रावारकं प्रयच्छति)

वसन्तसेना—(स्वगतम्) कधं परिअणो त्ति मं अवगच्छदि! (प्रावारकं गृहीत्वा समाघ्राय च स्वगतं सस्पृहम्) अम्महे, जादीकुसुमवासिदो पावारओ। ऋणुदासीणं से ज्जोव्वणं पडिभासेदि। (कथं परिजन इति मामवगच्छति। आश्चर्यम्, जातीकुसुमवासितः प्रावारकः। अनुदासीनमस्य यौवनं प्रतिभासते।)

(अपवारितकेन प्रावृणोति)

चारुदत्तः— ननु रदनिके! रोहसेनं गृहीत्वाभ्यन्तरं प्रविश।

वसन्तसेना— (स्वगतम्) मंदभाइणी खु अहं तुह अब्भंतरस्स। (मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य।

चारुदत्तः— ननु रदनिके! प्रतिवचनमपि नास्ति। कष्टम्,—

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां
नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते।
तदास्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां
चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः।।५३।।

अर्थः— **विदूषक**— अरी रदनिके! अपने इस अनादर को परमश्रद्धेय आर्य चारुदत्त से मत कहना। मैं समझता हूँ कि इस घटना को सुनकर दुर्दशा से पीडित आर्य चारुदत्त की पीडा दुगुनी हो जायगी।

रदनिका—आर्य मैत्रेय! मैं 'रदनिका' अपने मुख को वश में रखने वाली हूँ।

विदूषक— हाँ, यह ऐसा ही है।

चारुदत्त– (वसन्त सेना को लक्ष्य करके) रदनिके! वायु सेवन का इच्छुक 'रोहसेन' रात्रि के प्रथम प्रहर की अर्थात् सायं कालीन ठण्ड से पीडित है। इस लिए भीतर ले जाओ और इस उत्तरीय से इसे ढँक दो। (ऐसा कह कर उत्तरीय प्रदान करता है)

वसन्तसेना– (अपने आप) क्या भूल से मुझे अपना परिजन समझ रहे हैं? (उत्तरी लेकर के सूँघ कर अपने आप अभिलाषा पूर्वक) अहो उत्तरीय जाती–पुष्पों (चमेली के फूलों) से सुवासित है। (अतः अभी) इनका यौवन उपभोग की तृष्णा से उदासीन नहीं हुआ है

(अलग हट कर अपने आपको ढक लेती है)।

चारुत्त– हे रदनिके! 'रोहसेन' को लेकर भीतर चली जाओ।

वसन्तसेना– (अपने आप) तुम्हारे घर के भीतर प्रवेश करने के योग्य मैं नहीं हूँ।

अन्वयः– यदा, तु, नरः, कृतान्तोपहिताम्, भग्यक्षयपीडिताम्, दशाम्, प्रपद्यते, तदा, अस्य, मित्राणि, अपि, अमित्रताम्, यान्ति, चिरानुरक्तः जनः, अपि, विरज्यते।।५३।।

शब्दार्थः– यदा = जब, नरः = मनुष्य, कृतान्तोपहिताम् = कुद्ध दैव के द्वारा उपस्थित की गयी, भाग्यक्षयपीडिताम् = भाग्यनाश के कारण दलित, दशाम् = दशा को, हालत को, प्रपद्यते = प्राप्त होता है, तदा = तब, अस्य = इसके, मित्राणि = मित्र, अपि = भी, अमित्रताम् = शत्रुता को, यान्ति = जाते हैं, प्राप्त हो जाते हैं; चिरानुरक्तः = बहुत दिनों से प्रेम करने वाला जनः = व्यक्ति, अपि = भी, विरज्यते = विमुख हो जाता है।।

चारुदत्त– अरी रदनिके! तुम्हारे पास उत्तर भी नहीं है? खेद है,

जब मनुष्य क्रुद्ध दैव के द्वारा उपस्थित की गयी भाग्यनाश के कारण दलित दशा को प्राप्त हो जाता है तब इस धनहीन के मित्र भी शत्रुता को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् शत्रु बन जाते हैं और बहुत दिनों से प्रेम करने वाला व्यक्ति भी विरक्त हो जाता है।।५३।।

टीकाः– यदा = यस्मिन् समये; नरः = मानवः; कृतान्तेन = क्रुद्धदैवेन उपहिताम् = उपस्थापिताम्, भाग्यस्य = सुन्दरादृष्टस्य क्षयेण = विनाशेन, पीडा संजाता अस्याः तां पीडिताम् = दलिताम्; दशाम् = अवस्थाम्; प्रपद्यते = प्राप्नोति तदा = तस्मिन् दुर्दशापूरिते काले; अस्य = दुर्दशाग्रस्तस्य जनस्य; मित्राणि = सुहृदः अपि, अमित्रताम् = शत्रुताम् तटस्थताम् वा यान्ति गच्छन्ति; चिरात् = बहोः कालात् अनुरक्तः = प्रीतः; जनः = मनुष्यः अपि; विरज्यते = विरक्तः भवति।।५३।।

यहाँ अप्रस्तुत मित्र आदि के वर्णन से प्रस्तुत रदनिका की प्रतीति होती है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार प्रयुक्त हुआ है–वंशस्थ। छन्द का लक्षण– 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ'।।५३।।

(रदनिकामुपसृत्य)

विदूषकः–भो; इअं सा रअणिआ। (भोः, इयं सा रदनिका।)

चारुदत्तः–इयं सा रदनिका। इयमपरा का?।

अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वाससा

वसन्तसेना– (स्वगतम्) णं भूसिदा। (ननु भूषिता।)

चारुदत्तः– छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते।।५४।।

अथवा, न युक्तं परकलत्रदर्शनम्।

अर्थः– विदूषक– (रदनिका के समीप जाकर) आर्य! (हम लोगों की) 'रदनिका' तो यह है।

अन्वयः– (या), अविज्ञातावसक्तेन, मम, वाससा,दूषिता, (तथा), शरदभ्रेण, छादिता, चन्द्रलेखा, इव, दृश्यते।।५४।।

शब्दार्थः– (या = जो) अविज्ञातावसक्तेन = अनजान में स्पर्श किये हुए मम = मेरे, वाससा = वस्त्र से, दूषिता = दूषित हो गयी (तथा), शरदभ्रेण = शरद् ऋतु के मेघ से, छादिता = ढकी हुई, चन्द्रलेखा = चन्द्रकला (के) इव = समान दृश्यते = दिखलाई पड़ती है।

अर्थः– चारुदत्त– यह तो 'रदनिका' है, और यह दूसरी (स्त्री) कौन है?

'(जो) अनजाने में स्पर्श किये हुए मेरे वस्त्र से दूषित हो गयी अर्थात् मेरे = परपुरुष के वस्त्र के स्पर्श से दूषित हो गयी

वसन्तसेना– (अपने आप) अपितु भूषित हो गयी।

चारुदत्त– 'शरद् ऋतु के मेघ से ढकी हुयी चन्द्रकला के समान दिखलायी पड़ती है'।।५४।।

अथवा दूसरे की स्त्री को देखना उचित नहीं है।

टीका:– (या = स्त्री) अविज्ञातायाम् = अज्ञातायाम् मया इति शेषः अवसक्तेन = योजितेन अथवा अविज्ञातम् = अविदितम् अवसक्तम् = संसर्गः यस्य तेन; मम = चारुदत्तस्य, वाससा = उत्तरीयवस्त्रेण; दूषिता = अपवित्रीकृता; परपुरुषस्य वस्त्रस्य स्पर्शादिति भावः; तथा शरदः = शरदर्तोः अभ्रेण = मेघेन; छादिता = आवृता; चन्द्रस्य = चन्द्रमसः लेखा = कला, इव, दृश्यते = अवलोक्यते।।५४।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है। छन्द का लक्षण – 'युजोर्येन सरिद्भर्तुः। पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।।५४।।

विदूषकः–भो, अलं परकलत्तदंसणसंकाए। एषा वसंतसेणा कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि भवंतमणुरत्ता। (भोः, अलं परकलत्रदर्शनशंकया। एषा वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्ता।)

चारुदत्तः– अये, इयं वसन्तसेना (स्वगतम्)

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे।
क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति।।५५।

अर्थः– विदूषक – अरे, दूसरे की स्त्री को देखने की शंका न कीजिए। यह 'वसन्तसेना' कामदेवायतनोद्यान में गमन से लेकर तुम में अनुरक्त है।

अन्वयः– विभवविस्तरे, क्षीणे, यया, जनितः, मे कामः, कुपुरुषस्य, क्रोधः, इव, स्वगात्रेषु, एव, सीदति ।।५५।।

शब्दार्थः– विभवविस्तरे = धनराशि के, क्षीणे = क्षीण हो जाने पर, यया = जिस वसन्तसेना के द्वारा, जनितः = उत्पन्न किया गया, मे = मेरा, कामः = कामभाव, कुपुरुषस्य = असमर्थ व्यक्ति के, क्रोधः इव = क्रोध की तरह, स्वगात्रेषु = अपने देह में, एव = ही, सीदति = नष्ट हो रहा है।

अर्थः– **चारुदत्त**– अरे! यह वसन्तसेना है! प्रचुर धनराशि के क्षीण हो जाने पर जिस वसन्तसेना के द्वारा उत्पन्न की गयी मेरी काम वासना, असमर्थ व्यक्ति के क्रोध की भाँति, अपनी देह में ही विनष्ट हो रही है।।५५।।

टीका– विभवविस्तरे = सम्पत्तिसमूहे; क्षीणे = विनष्टे सति; यया = वसन्तसेनया; जनितः = उत्पादितः; मे = मम, निर्धस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः; कामः = भोगाभिलाषः; कुपुरुषस्य = असमर्थस्य जनस्य; क्रोधः इव = कोपः इव; स्वगात्रेषु = स्वकीयशरीरेषु एव; सीदति = विनश्यति।।५५।।

यहाँ पर उपमा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।

विदूषकः–भो वअस्स! एसो खु राअसालो भणादि। (भो वयस्य! एष खलु राजश्यालो भणति।)

चारुदत्तः–किम्?।

विदूषकः–एसा ससुवण्णा सहिलण्णा णवणाडअदंसणुट्ठिदा सुत्तधालि व्व वसंतसेणा णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता अम्हेहिं बलक्काराणुणीअमाणा तुह गेहं पविट्ठा। (एषा ससुवर्णा सहिरण्या नवनाटकदर्शनोत्थिता सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति त्वामनुरक्तास्माभिर्बलात्कारानुनीयमाना तव गेहं प्रविष्टा।

वसन्तसेना–(स्वगतम्) बलक्काराणुणीअमाणेत्ति जं सच्चं, अलंकिदम्हि एदेहिं अक्खरेहिं। बलात्कारानुनीयमानेति यत्सत्यम्, अलंकृतास्म्येतैरक्षरैः।)

विदूषकः– ता जइ मम, हत्थे सअं ज्जेव्व पट्ठाविअ एणं समप्पेसि, ता अधिअरणे ववहारं विणा लहुं णिज्जादमाणाह तव मए अणुबद्धा पीदी हुविस्सदि।

अ॰ध॰ आमरणं वेरं हुविस्सदि। (तद्यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्यैनां समर्पयसि, ततोऽधिकरणे व्यवहारं विना लघु निर्यातयतस्तव मयानुबद्धा प्रीतिर्भविष्यति। अन्यथाऽऽमरणं वैरं भविष्यति।)

चारुदत्तः— (सावज्ञम्) अज्ञोऽसौ। (स्वगतम्) अये, कथं देवतोपस्थानयोग्या युवतिरियम्?। तेन खलु तस्यां वेलायाम्'-

प्रविश गृहमिति प्रतोद्यमाना न चलति भाग्यकृतां दशामवेक्ष्य।
पुरुषपरिचयेन च प्रगल्भं न वदति यद्यपि भाषते बहूनि।।५६।।

अर्थः— विदूषक — हे मित्र! यह राजश्याल (शकार) कहता है—

चारुदत्त— क्या?

विदूषक— यह सुन्दर वर्ण वाली, सुवर्ण के आभूषणों से युक्त, नूतन नाटक के प्रदर्शन के लिए उठ कर खड़ी हुई मुख्य नटी के सदृश 'वसन्तसेना' नाम की वेश्या पुत्री, जो कि कामदेवायतनोद्यान में जाने से लेकर तुमसे प्रेम करती है, हमारे द्वारा बलपूर्वक मनायी जाती हुयी भी तुम्हारे घर में प्रविष्ट हो गयी है।

वसन्तसेना— 'बलात् मनायी जाती हुई' यह बात सत्य है, इन अक्षरों से वस्तुतः मैं अलंकृत हो गयी।

विदूषक— तो यदि स्वयं ही भेजकर मेरे साथ में इस वसन्तसेना को सौंप देते हो तो न्यायालय में मुकदमे के बिना शीघ्र ही वसन्तसेना को लौटाने वाले तुम्हारी मेरे साथ प्रबल मैत्री हो जायगी। और न लौटाने पर जीवन भर के लिए वैर हो जायगा

अन्वयः— गृहम्, प्रविश, इति, प्रतोद्यमाना, भाग्यकृताम्, दशाम्, अवेक्ष्य, न, चलति, यद्यपि (इयम्), बहूनि, भाषते, (तथापि), पुरुषपरिचयेन प्रगल्भम्, न च, वदति।।५६।।

शब्दार्थः— गृहम् = घर में, प्रविश = प्रवेश करो, इति = इस प्रकार, प्रतोद्यमाना = प्रेरित की गयी, भाग्यकृताम् = (प्रतिकूल) भाग्य के द्वारा उपस्थित की गयी, दशाम् = अवस्था को, अवेक्ष्य = देखकर, न = नहीं, चलति = चलती है, जाती है, यद्यपि = यद्यपि, (इयम् = यह वसन्तसेना), बहूनि = बहुत, भाषते = बोलती है, (तथापि = तो भी) पुरुषपरिचयेन = पुरुष के संसर्ग से, प्रगल्भम् = धृष्टतापूर्वक, न च् = नहीं ही, वदति् = बोलती है।।

अर्थः— चारुदत्त— (अनादर पूर्वक) यह (शकार) मूर्ख है। (अपने आप) अहो! कैसी देवता के समान पूजा करने के योग्य यह वेश्या है। तभी तो (अभी) उस समय—

(रोहसेन को लेकर) 'घर में प्रवेश करो', इस प्रकार प्रेरित की गयी (भी, प्रतिकूल) भाग्य के द्वारा उपस्थित की गयी (मेरी) दुरवस्था को देखकर (भीतर) नहीं गयी। यद्यपि (वेश्या होने के नाते यह) बहुत बोलती है तथापि पुरुषों के संसर्ग से अर्थात् पुरुषों के समक्ष धृष्टता पूर्वक नहीं बोलती है।।५६।।

टीकाः — गृहम् = भवनाभ्यन्तरम्; प्रविश = गच्छ, रोहसेनम् गृहीत्वा इति शेषः; इति = इत्थम्; प्रतोद्यमाना = प्रेर्यमाणा मया इति शेषः; भाग्येन = दैवेन कृताम् = जनिताम्; दशाम् = अवस्थाम् दुरवस्थामित्यर्थः; अवेक्ष्य = अवलोक्य, न चलति = गृहाभ्यन्तरम् न गतवतीति; यद्यपि इयं वसन्तसेना; बहूनि = अधिकानि; भाषते = वदति; तथापि; पुरुषस्य = मादृशस्य जनस्य परिचयेन = संसर्गेण; पुंसः समक्षमित्यर्थः; प्रगल्भम् = धृष्टं यथा स्यात् तथा; न च—नैव; वदति = वक्ति। कुलागना इव लज्जापरवशः अस्याः व्यवहारः इति।।५६।।

इस श्लोक में पुष्पिताग्रा छन्द है। इसका लक्षण है—

''अयुजि न-युग-रेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा'।।५६।।

(प्रकाशम्) भवति वसन्तसेने! अनेनाविज्ञानादपरिज्ञातपरिजनोपचारेणापराद्धोऽस्मि। शिरसा भवतीमनुनयामि।

वसन्तसेना— एदिणा अणुचिदभूमिआरोहणेण अवरद्धा अज्जं सीसंण पणमिअ पसादेमि। (एतेनानुचितभूमिकारोहणेनापराद्धाऽऽर्यं शीर्षेण प्रणम्य प्रसादयामि।)

विदूषकः— भो, दुवे वि तुम्हें सुखं पणमिअ कलमकेदारा अण्णोण्णं सीसेण सीसं समाअदा। अहं पि इमिणा करहजाणुसारिसेण सीसेण दुवेवि तुम्हें पसादेमे।

(भोः, द्वावपि युवां सुखं प्रणम्य कलमकेदारावन्योन्यं शीर्षेण शीर्षं समागतौ। अहमप्यमुना करभजानुसदृशेन शीर्षेण द्वावपि युवां प्रसादयामि।)

(इत्युत्तिष्ठति)

चारुदत्तः— भवतु, तिष्ठतु प्रणयः।

वसन्तसेना— (स्वगतम्) चदुरो मधुरो अ अअं उवण्णासो। ण जुत्तं अज्ज एरिसेण इध आअदाए मए पडिवासिदुं। भादु, एव्व दाव

भणिस्सं। (प्रकाशम्) अज्ज! जइ एव्वं अहं अज्जस्स अणुग्गेज्झा ता इच्छे अहं इमं अलंकारअं अज्जस्स गेहे णिक्खिविदुं। अलंकारस्स णिमित्तं एदे पावा अणुसरंति। (चतुरो मधुरश्चायमुपन्यासः। न युक्तमद्येदृशेनेहागतया मया प्रतिवस्तुम्। भवतु, एवं तावद्भणिष्यामि। आर्य! यद्येवमहमार्यस्यानुग्राह्या तदिच्छाम्यहमिममलंकारकमार्यस्य गेहे निक्षेप्तुम्। अलंकारस्य निमित्तमेते पापा अनुसरन्ति।)

चारुदत्तः— अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम्।

वसन्तसेना— अज्ज! अलिअं। पुरिसेसु णासा णिक्खिविअंति, ण उण गेहेसु। (आर्य! अलीकम्। पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु।

चारुदत्तः— मैत्रेय! गृह्यतामयलंकारः।

वसन्तसेना— अणुग्गहीद म्हि। (अनुगृहीतास्मि।)

(इत्यलंकारमर्पयति)

विदूषकः—(गृहीत्वा) सोत्थि भोदिए। (स्वस्ति भवत्यै।)

चारुदत्तः— धिङ् मूर्ख! न्यासः खल्वयम्।

विदूषकः—(अपवार्य) जइ एव्वं ता चोरेहिं अवहरीअदु। (यद्येवं तदा चौरैरपह्रियताम्।)

चारुदत्तः— अचिरेणैव कालेन।

विदूषकः—एसो से *अम्हाणं विण्णासो। (एषोऽस्या अस्माकं विन्यासः।)*

चारुदत्तः— निर्यातयिष्ये।

वसन्तसेना— अज्ज! इच्छे अहं, इमिणा अज्जेण अणुगच्छिज्जती सकं गेहं गंतुं। (आर्य! इच्छाम्यहमनेनार्येणानुगम्यमाना स्वकं गेहं गन्तुम्।)

चारुदत्तः— मैत्रेय! अनुगच्छ तत्रभवतीम्।

विदूषकः— तुमं ज्जेव्व एदं कलहंसगामिणीं अणुगच्छंतो राअहंसो विअ सोहसि। अहं उण बम्हणो तहिं जणेहिं चउप्पहोवणीदो उवहारो कुक्कुरेहिं विअ खज्जमाणो विवज्जिस्सं। (त्वमेवैतां कलहंसगामिनीमनुगच्छन् राजहंस इव शोभसे। अहं पुनर्ब्राह्मणो यत्र तत्र जनैश्चतुष्पथोपनीत उपहारः कुक्कुरैरिव खाद्यमानो विपत्स्ये।)

चारुदत्तः— एवं भवतु। स्वयमेवानुगच्छामि तत्रभवतीम्। तद्राजमार्गविश्वासयोग्याः प्रज्वाल्यन्तां प्रदीपिकाः।

विदूषकः— वड्ढमाणआ! पज्जालेहि पदीविआओ। (वर्धमानक! प्रज्वालय प्रदीपिकाः।)

चेटी— (जनान्तिकम्) अले, तेल्लेण विणा पदीविआओ पज्जालीअंति। (अरे, तैलेन विना प्रदीपिकाः प्रज्वाल्यन्ते।)

विदूषकः—(जनान्तिकम्) ही, ताओ खु अम्हाणं पदीविआओ अवमाणिदनिद्धणकामुआ विअ गणिआ णिस्सिणेहाओ दाणिं संवुत्ता। (आश्चर्यम्, ताः खल्वस्माकं प्रदीपिका अपमानितनिर्धनकामुका इव गणिका निःस्नेहा इदानीं संवृत्ताः।)

चारुदत्तः— मैत्रेय! भवतु, कृतं प्रदीपिकाभिः। पश्य,-

उदयति हि शशांकः कामिनीगण्डपाण्डु-
र्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पंके क्षीरधाराः पतन्ति।।५७।।

अर्थः— (प्रकट रूप में) मानिनि! वसन्तसेने!! इस प्रकार अनजान के कारण ठीक से न जानी गयी तुम्हारे साथ सेवक के समान व्यवहार करने से मैं अपराधी हूँ। अतः शिर झुकाकर मैं आपको अनुनय करता हूँ।

वसन्तसेना—अनुचित भूमि में आरोहण करने से अर्थात् वेश्या होने के कारण मैं आपके पवित्र घर में प्रवेश करने के योग्य नहीं हूँ। अतः इस भूमि पर आना मेरे योग्य नहीं है, इस कारण से अपराधिनी मैं वसन्तसेना शिर से प्रणाम करके आर्य आप को प्रसन्न करती हूँ।

विदूषक— आह! सुखपूर्वक प्रणाम करके आप दोनों के शिर, धान की दो क्यारियों के समान, परस्पर मिल गये। मैं भी [illegible] के घुटने के समान इस (अपने) शिर से आप दोनों को भी प्रसन्न करता हूँ।

(यह कह कर उठता है)।

चारुदत्त— जाने दो। प्रणय औपचारिकता को रहने दो।

वसन्तसेना— (अपने आप) यह कथन प्रौढ एवं मधुर है। आज इस प्रकार बिना बुलाये आयी हुई मेरे द्वारा यहाँ रहना उचित नहीं है। अच्छा! तो इस प्रकार कहती हूँ। (प्रकट रूप से) आर्य! यदि इस प्रकार मैं आपके द्वारा अनुगृहीत की जा रही हूँ तो मैं इस आभूषण को आप के घर में धरोहर रखना चाहती हूँ। आभूषण के लिये ये पापी मेरा पीछा कर रहे हैं।

चारुदत्त— यह घर धरोहर रखने के लायक नहीं है।

वसन्तसेना— आर्य! यह असत्य है। पुरुषों में अर्थात् पुरुषों के पास धरोहर रक्खी जाती है, न कि घरों में।

चारुदत्त— मैत्रेय! इस आभूषण को ले लो।

वसन्तसेना— अनुगृहीत हुई। (आभूषण दे देती है)।

विदूषक— (लेकर) आपका कल्याण हो।

चारुदत्त— धिक्कार है मूर्ख! यह तो धरोहर है।

विदूषक— (अलग हटकर) यदि ऐसा है तो चोरों द्वारा चुरा लिया जाय।

चारुदत्त— बहुत शीघ्र ही....।

विदूषक— इसकी यह हमारे यहाँ विशेष धरोहर है।

चारुदत्त— लौटा दूँगा।

वसन्तसेना— आर्य! मैं इन आर्य 'मैत्रेय' के साथ अपने घर जाना चाहती हूँ।

चारुदत्त— मैत्रेय! आप के साथ जाओ।

विदूषक— तुम्हीं कलहंस के समान सुन्दर गमन करने वाली इनका वसन्तसेना का अनुगमन करते हुए राजहंस के समान शोभित होते हो। फिर मैं बेचारा ब्राह्मण रास्ते में दुष्ट मनुष्यों के द्वारा उसी प्रकार मारा जाऊँगा जिस प्रकार जहाँ तहाँ बीमारों पर मनुष्यों द्वारा लाकर चढ़ाई गयी बलि कुत्तों द्वारा खा ली जाती है।

चारुदत्त— ऐसा ही हो। स्वयं मैं ही इन श्रीमती का अनुगमन करता हूँ। तो राजमार्ग में विश्वास के योग्य दीपकों को जलाओ।

विदूषक— वर्धमानक! दीपकों को जलाओ।

चेटी — (अलग से) अरे! तेल के बिना कहीं दीपक जलाए जाते हैं?

विदूषक— (अलग से) आश्चर्य है; वस्तुतः वे हमारी प्रदीपिकाएँ धनहीन कामुक व्यक्तियों को अपमानित करने वाली वेश्याओं के समान आजकल स्नेहरहित (वेश्या के पक्ष में प्रेम रहित, प्रदीपिका के पक्ष में तेल रहित) हो गयी हैं।

अन्वयः— हि, कामिनीगण्डपाण्डुः, ग्रहगणपरिवारः, राजमार्गप्रदीपः, शशांक, उदयति, यस्य, गौराः, रश्मयः, स्रुतजल, पंके क्षीरधारा इव, तिमिरनिकरमध्ये, पतन्ति।।५७।।

शब्दार्थ— हि = क्योंकि, कामिनीगण्डपाण्डुः = सुन्दरी युवती के कपोल के समान गोरा, ग्रहगणपरिवार = नक्षत्रसमूह रूपी परिवारवाला, राजमार्गप्रदीपः = राजमार्ग का दीपक, शशांकः = चन्द्रमा, उदयति = उदित हो रहा है, यस्य = जिसकी गौराः = श्वेत, रश्मयः = किरणें, स्रुतजले = सूखे हुए जलवाले, पंके = कीचड़ में, क्षीरधाराः इव = दूध की धाराओं के समान, तिमिरनिकरमध्ये = अन्धकारसमूह के मध्य में, पतन्ति = पड़ रही हैं।

अर्थः— चारुदत्तः— मैत्रेय? रहने दो, प्रदीपिकाओं की आवश्यकता नहीं है। देखो—

सुन्दरी युवती के कपोल के समान उज्ज्वल, नक्षत्र—समूह रूपी परिवार वाला तथा राजमार्ग का दीपक अर्थात् राजमार्ग को प्रकाशित करने वाला चन्द्रमा उदित हो रहा है। जिसकी श्वेत किरणें, सूखे हुए जलवाले कीचड़ मे दूध की धाराओं के समान, अन्धकार समूह के मध्य में पड़ रही हैं।।५७।।

टीका— हि = यतः; कामः अस्याः अस्ति इति कामिनी तस्याः कामिन्याः = तरुण्याः गण्डः = कपोलः इव पाण्डुः = गौरवर्णः; ग्रहगणाः = नक्षत्रसमूहाः एव परिवारः सहचरवर्गः यस्य सः; नक्षत्राणां समूहैः आवृतः इत्यर्थः; राजमार्गस्य = राजपथस्य प्रदीपः = दीपकः प्रकाशको वा; शशांकः = चन्द्रः; उदयति = उदेति; यस्य = चन्द्रस्य; गौराः = शुभ्रवर्णा; रश्मयः = किरणाः; स्रुतम् = शुष्कम् जलम् = सलिलम् यस्मात् तस्मिन्; पंके = कर्दमे क्षीरस्य = दुग्धस्य धाराः = प्रवाहाः, इव; तिमिरनिकरस्य = अन्धकारसमूहस्य मध्ये = अभ्यन्तरे; पतन्ति = पतित्वा अन्धकारं विनाश यन्तीति।।५७।।

''कामिनीगण्डपाण्डुः'' में लुप्तोपमा; ''राजमार्गप्रदीपः'' में रूपक तथा उत्तरार्द्ध में श्रौती उपमा है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द है—मालिनी, लक्षण- ''ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।।५७।।

(सानुरागम्) भवति वसन्तसेने! इदं भवत्या गृहम्। प्रविशतु भवती।

(वसन्तसेना सानुरागमवलोकयन्ती निष्क्रान्ता)

चारुदत्तः— वयस्य! गता वसन्तसेना, तदेहि। गृहमेव गच्छावः।

राजमार्गो हि शून्योऽयं रक्षिणः संचरन्ति च।
वञ्चना परिहर्तव्या बहुदोषा हि शर्वरी।।५८।।

अन्वयः— हि, अयम्, राजमार्गः, शून्यः, च, रक्षिणः, सञ्चरन्ति, वञ्चना, परिहर्तव्या, हि, शर्वरी, बहुदोषा, (भवति)।।५८।।

शब्दार्थः— हि = क्योंकि, राजमार्गः = सड़क, शून्यः = सूनी (है), च = और; रक्षिणः = पहरेदार, सञ्चरन्ति = घूम रहे हैं, वञ्चना = ठगी, परिहर्तव्या = बचाने योग्य है, हि = क्योंकि, शर्वरी = रात, बहुदोषा = बहुत दोषों वाली, भवति = होती है।।

अर्थः— (प्रेम के साथ) वसन्तसेने! यह आपका घर है। आप प्रवेश करें।

(वसन्तसेना प्रेमपूर्वक देखती हुई निकल जाती है)।

चारुदत्तः—मित्र! वसन्तसेना गयी। तो आओ, घर को ही चलें।

काफी रात बीत जाने से यह राजमार्ग सूना है और रक्षक लोग घूम रहे हैं। ठगी से बचना चाहिए अर्थात् वसन्तसेना के आभूषण को कहीं छिपा कर रखना चाहिए जिससे चोर न पा सकें क्योंकि रात वस्तुतः बड़ी दोषपूर्ण होती है अर्थात् चोरी आदि अपराध रात्रि में ही होते हैं।।५८।।

टीकाः— हि = यतः; अयम् = आवाभ्याम् अनुस्रियमाणः; राजमार्गः = साधारणमार्गः; शून्यः = जनसञ्चरणरहितः, रात्र्याधिक्यादिति; च = तथा; रक्षिणः = रक्षकपुरुषाः; सञ्चरन्ति = इतस्ततः भ्रमन्ति; वञ्चना = प्रतारणा; परिहर्तव्या = निवारणीया; हि = यतः; शर्वरी = रात्रिः; बहुदोषा—बहवः = अनेके दोषाः = चौरादिभिः कृताः उपद्रवाः यस्याम् सा; रात्रौ एव दुर्जनाः गर्हितकार्याणि सम्पादयन्ति; भवति = वर्तते इति शेषः।।५८।।

यहाँ पर चौथे चरण के अर्थ से तीसरे चरण के अर्थ का समर्थन करने से सामान्य से विशेष का समर्थन होता है। अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इस श्लोक के छन्द का नाम है पथ्यावक्त्र,—लक्षण— 'युजोर्येन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्'।।५८।।

(परिक्रम्य) इदं च सुवर्णभाण्डं रक्षितव्यं त्वया रात्रौ, वर्धमानकेनापि दिवा।

विदूषकः—जधा भवं आणवेदि। (यथा भवानाज्ञापयति।)

अर्थः— (घूमकर) इस सोने के पात्र अर्थात् स्वर्णाभूषण रखने की छोटी सन्दूक की रक्षा तुमको रात्रि में और 'वर्धमानक' को दिन में करनी चाहिए।

विदूषकः—जैसी आप आज्ञा देते हैं (अर्थात् जैसी आपकी आज्ञा)।

इति निष्क्रान्तौ

इति मृच्छकटिकेऽलंकारन्यासो नाम प्रथमोंऽकः।

(दोनों निकल जाते हैं)

अलंकार—न्यास नामक प्रथम अंक समाप्त।

द्वितीयोऽंकः

(प्रविश्य)

चेटी– अत्ताए अज्जआसआसं संदेसेण पेसिदम्हि। ता जाव पविसिअ अज्जआसआसं गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसा अज्जआ हिअएण किंपि आलिहंती चिट्ठदि। ता जाव उवसप्पामि। (मात्रार्यासकाशं संदेशेन प्रेषितास्मि। तद्यावत्प्रविश्यार्यासकाशं गच्छामि। एषार्या हृदयेन किमप्यालिखन्ती तिष्ठति। तद्यावदुपसर्पामि।)

(ततः प्रविशत्यासनस्था सोत्कण्ठा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना– हज्जे! तदो तदो?। (चेटि! ततस्ततः?।)

चेटी– अज्ज्ए ण किंपि मंतेसि। किं तदो तदो?। (आर्ये! न किमपि मन्त्रयसि। किं ततस्ततः?)

वसन्तसेना– किं मए भणिदं?। (किं मया भणितम्?।)

चेटी– तदो तदो त्ति। (ततस्तत इति।)

वसन्तसेना– (सभ्रूक्षेपम्) आं, एव्वं। (आं, एवम्।)

(उपसृत्य)

प्रथमा चेटी– अज्जए! अत्ता आदिसदि – 'णहादा भविअ देवदाणं पूअं णिव्वेत्तेहि' त्ति। (आर्ये! माताऽऽदिशति- स्नाता भूत्वा देवतानां पूजां निर्वतय' इति।)

वसन्तसेना– हज्जे! विण्णवेहि अत्तं – 'अज्ज ण णहाइस्सं। ता म्हणो ज्जेव्व पूअं णिव्वत्तेदु' त्ति। (चेटि! विज्ञापय मातरम्- 'अद्य न स्नास्यामि। तद्ब्राह्मण एव पूजां निर्वर्तयतु' इति।)

चेटी– जं अज्जआ आणवेदि। (यदार्याज्ञापयति।)

(इति निष्क्रान्ता)

(प्रवेश करके)

अर्थः– चेटी– वसन्तसेना की माता के द्वारा सन्देश के साथ आर्या वसन्तसेना के पास भेजी गयी हूँ। अतः प्रवेश करके आर्या के समीप चलती हूँ। (घूम कर और देख कर) यह आर्या तल्लीनता पूर्वक कुछ सोचती हुई बैठी हैं। तो तब तक उनके समीप चलती हूँ।

(इसके बाद आसन पर बैठी हुई उत्कण्ठित वसन्तसेना तथा मदनिका प्रवेश करती हैं)

वसन्तसेना– चेटी! इसके बाद?

चेटी– आर्ये! कुछ कहती तो हो नहीं; फिर 'इसके बाद' क्या?

वसन्तसेना– मैंने क्या कहा?

चेटी– 'इसके बाद'।

वसन्तसेना– (भ्रूविक्षेप के साथ) अच्छा, इस प्रकार?

(समीप जाकर)

पहली चेटी – आर्ये! माता जी की यह आज्ञा है कि–"स्नान करके देवताओं की पूजा कर लो।'

वसन्तसेना– चेटी! माता जी से कह दो कि–'आज मैं स्नान नहीं करूँगी। इसलिये ब्राह्मण ही पूजा को निपटा ले।'

चेटी– जैसी आपकी आज्ञा।

(ऐसा कह कर चली जाती है)

मदनिका– अज्जए! सिणेहो पुच्छदि ण पुरोभाइदा, ता किं णेदं?। (आर्ये! स्नेहः पृच्छति, न पुरोभागिता, तत्किं न्विदम्?।)

वसन्तसेना– मदणिए! केरिसिं मं पेक्खसि?। (मदनिके! कीदृशीं मां प्रेक्षसे?।)

मदनिका– अज्जाआए सुण्णहिअअत्तणेण जाणामि हिअअगदं कंपि अज्जआ अहिलसदि त्ति। (आर्यायाः शून्यहृदयत्वेन जानामि

हृदयगतं कमप्यार्याभिलषतीति।)

वसन्तसेना– सुट्ठु तुए जाणिदं। परहिअअग्गहणपंडिआ मदणिआ खु तुमं। (सुष्ठु त्वया ज्ञ ं.म्। परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम्।)

मदनिका– पिअं मे पिअं। कामो खु णाम एसो भअवं। अणुगहिदो महूसवो तरुणजणस्स। र कधेदु अज्जआ, किं राआ राअवल्लहो वा सेवीअदि?। (प्रियं मे प्रियम्। कामः खलु नामैष भगवान्। अनुगृहीतो महं सवस्तरुणजनस्य। तत्कथयत्वार्या, किं राजा राजवल्लभो वा सेव्यते?।)

वसन्तसेना– हञ्जे! रमिदुमिच्छामि, ण सेविदुं। (चेटि! रन्तुमिच्छामि, न सेवितुम्।

मदनिका– विज्जाविसेसालंकिदो किं को वि ब्रह्मणजुआ कामीअदि?। (विद्याविशेषालंकृ ः किं कोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते?।

वसन्तसेना– पूअणीओ मे ब्रह्मणजणो। (पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः।)

मदनिका– किं अणेअणअराभिगमणजणिदविहववित्थारो वाणिअजुआ वा कामीअदि?। (मनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वाणिग्युवा वा काम्यते?।)

वसन्तसेना– हञ्जे! उवारूढसिणेहं पि पणइजणं परिच्चइअ देसंतरगमणेण पाणिअजणो हंतं विओअजं दुक्खं उप्पादेदि। (चेटि! उपारूढस्नेहमपि प्रणयिजनं परित्यज्य देशान्तरगमनेन वाणिग्जनो महद्वियोग ं दुःखमुत्पादयति।)

मदनिका– अज्जए! ण राआ, ण राअवल्लहो, ण बह्मणो, ण वाणिअजणो; ता को दाणिं सो भट्टिदारिआए कामीअदि?। (आर्ये! न राजा, न राजवल्लभः, न ब्राह्मणः, न वाणिग्जनः; तत्क इदानीं स भर्तृदारिकया काम्यते?।)

वसन्तसेना – हञ्जे! तुमं मए सह कामदेवाअदणुज्जाणं गदा आसि। (चेटि! त्वं मया सह कामदेवायतनोद्यानं गतासीः।)

मदनिका– अज्जए! गदम्हि। (आर्ये! गतास्मि।)

वसन्तसेना– तह वि मं उदासीणा विअ पुच्छसि?। (तथापि मामुदासीनेव पृच्छसि?।)

मदनिका– जाणिदं, किं सो ज्जेव जेण अज्जआ सरणाअदा अब्भुववण्ण?। (ज्ञातम्, किं स एव येनार्या शरणागताभ्युपपन्ना?।)

वसन्तसेना– किंणामहेओ खु सो?। (किंनामधेयः खलु सः?।)

मदनिका– सो खु सेट्ठिइठचतरे पडिवसदि। (स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति।)

वसन्तसेना– अइ! णामं से पुच्छिदासि। (अयि! नामास्य पृष्टासि।)

मदनिका– सो खु अज्जए! सुगहीदणामहेओ अज्जचारुदत्तो णाम। (स खलु आर्ये! सु हीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम।)

वसन्तसेना– (सहर्षम्) साहु मदणिए! साहु। सुट्ठु तुए जाणिदं। (साधु मदनिके! सा । सुष्ठु त्वया ज्ञातम्।)

मदनिका– (स्वगतम्) एव्वं दाव। (प्रकाशम्) अज्जए! दलिद्दो खु सो सुणीअदि। (एवं तावत्। आर्ये। दरिद्रः खलु स श्रूयते।)

वसन्तसेना– अदो ज्जेव कामीअदि। दलिद्दपुरिससंकंतमणा खु गणिआ लोए व अणीआ भोदि। (अत एव काम्यते। दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति।)

मदनिका– अज्जए! किं हीणकुसुमं सहआरपादवं महुअरीओ उण सेवंति?। (आर्ये! किं हीनकुसुमं सहकारपादपं मधुकर्यः पुनः सेवन्ते?।)

वसन्तसेना– अदो ज्जेव ताओ महुअरीओ वुच्चन्ति। (अत एव ता मधुकर्य उच्यन्ते।)

मदनिका– अज्जए! जइ सो मणीसिदो ता कीस दाणिं सहसा ण अहिसारीअदि? (आर्ये यदि स मनीषितस्तत्किमर्थमिदानीं सहसा नाभिसार्यते?।)

वसन्तसेना– हञ्जे! सहसा अहिसारिअंतो पंचुअआरदुब्बलदाए, मा दाव, जणो दुल्लहदंसणं पुणो भविस्सदि। (चेटि! सहसाभिसार्यमाणः प्रत्युपकारदुर्बलतया, मा तावत्, जनो दुर्लभदर्शनः पुनर्भविष्यति।)

मदनिका– किं अदो ज्जेव सो अलंकारओ तस्स हत्थे णिक्खित्तो। (किमत एव सोऽ कारस्तस्य हस्ते निक्षिप्तः।)

वसन्तसेना– हञ्जे! सुट्ठु दे जाणिदं। (चेटि! सुष्ठु त्वया ज्ञातम्।)

अर्थः – मदनिका– आर्ये! दोष की इच्छा नहीं किन्तु मेरा आपके प्रति प्रेम पूछने को प्रेरित करता है कि यह क्या बात है अर्थात आप की यह हालत क्यों है?

वसन्तसेना– मदनिके! (तुम) मुझे कैसी देख रही हो?

मदनिका– आपके मन की उदासी के कारण यह समझ रही हूँ कि आप अपने मन में बैठे हुए किसी प्रेमी को चाहती हैं।

वसन्तसेना– तुमने ठीक जाना। दूसरे के मन की बातों को परखने में चतुर 'मदनिका' हो।

मदनिका– मेरे लिए बहुत प्रिय है। यह तो भगवान् कामदेव हैं अर्थात् यह कामदेव का ही प्रभाव है कि तुम किसी पुरुष को चाहती हो। अब तो युवकों की इच्छा पूरी हो गयी। तो आप बतलावें कि राजा अथवा राजा का कोई प्रिय व्यक्ति आपके द्वारा चाहा जा रहा है?

वसन्तसेना– चेटी! सम्भोग करना चाहती हूँ न कि सेवा करना।

मदनिका– क्या किसी खास विद्या को जानने वाले ब्राह्मण युवक को आप चाहती हैं?

वसन्तसेंना– ब्राह्मण लोग तो हमारे पूज्य हैं।

मदनिका– अथवा बहुत से शहरों में जाकर व्यापार करने से बहुत अधिक धन को पैदा करने वाले किसी व्यापारी युवक को चाहती हो?

वसन्तसेना– चेटी! व्यापारी पुरुष बहुत अधिक प्यार करने वाले प्रेमी जन स्त्री को छोड़ कर दूसरे देशों को चले जाने से विरह के कारण होने वाले महान् दुःख को पैदा करता है।

मदनिका – आर्ये! न राजा, न राजप्रेमी, न ब्राह्मण और न वणिक् ही। तो वह कौन है जिसे आप चाहती हैं?

वसन्तसेना – चेटी! तुम मेरे साथ काम देवायतन उद्यान में गयी थी।

मदनिका – आर्ये! गयी थी।

वसन्तसेना – फिर भी अनजान सी मुझसे पूछ रही हो?

मदनिका – जान गयी। क्या उसको ही, जिसने आपको शरण देकर कृपा की थी?

वसन्तसेना – उसका क्या नाम है?

मदनिका – वह सेठों के चौक में रहते हैं।

वसन्तसेना – अरी! मैंने उसका नाम पूछा है।

मदनिका – आर्ये! वह सुन्दर नाम वाले आर्य 'चारुदत्त' हैं।

वसन्तसेना – (प्रसन्नता के साथ) वाह! मदनिके वाह!! तूने ठीक जाना।

मदनिका – (अपने आप) तो ऐसा कहती हूँ। (प्रकट रूप में) आर्ये! सुनती हूँ कि वे निर्धन हैं।

वसन्तसेना – इसीलिए तो मैं चाहती हूँ क्योंकि निर्धन पुरुष से प्रेम करने वाली वेश्या संसार में निन्दा का पात्र नहीं होती है।

मदनिका – आर्ये! क्या भ्रमरियाँ बिना बौर वाले आम के पेड़ का सेवन करती हैं?

वसन्तसेना – इसीलिए तो उनका नाम 'मधुकरी' है।

मदनिका – आर्ये! यदि वह अभीप्सित प्रेमी है तो क्यों नहीं तुरन्त इसी समय छिप कर उनसे मिलती हैं?

वसन्तसेना – चेटी! एकाएक छिप कर मिलने पर बदला चुकाने में असमर्थ होने के कारण, ऐसा न हो, कि फिर इन आर्य चारुदत्त का मिलना भी दुर्लभ हो जाय।

मदनिका – क्या इसीलिए वह आभूषण उनके हाथ में धरोहर के रूप में रक्खा है?

वसन्तसेना – चेटी! तुमने ठीक जाना।

(नेपथ्ये)

अले भट्ठा! दशसुवण्णाह लुद्धु जूदकरु पपलीणु पपलीणु। ता गेण्ह गेण्ह। ट्ठ चिट्ठ, दूलात्पदिट्टो सि। (अरे भट्टारक! दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः प्रपलायितः। तद्गृहाण गृ ण। तिष्ठ तिष्ठ, दूरात्प्रदृष्टोऽसि।)

(प्रविश्यापटीक्षेपेण संभ्रान्तः)

संवाहकः -हीमाणहे, कट्टे एसे जुदिअलभावे।

णवबंधणमुक्काए विअगद्दहीए
हा ताडिदो म्हि गद्दहीए।
अंगलाअमुक्काए विअ शत्तीए
घडुक्को विअ घादिदो म्हि शत्तीए।।१।।

(आश्चर्यम्, कष्ट एष द्यूतकरभावः)।

नवबन्धनमुक्तयेव गर्दभ्या हा ताडितोऽस्मि गर्दभ्या।
अंगराजमुक्तयेव हा शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि शक्त्या।

(नेपथ्य में)

अर्थः– अरे स्वामी! दस सुवर्ण के लिये रोका हुआ जुआरी भाग गया, भाग गया। तो से पकड़ो पकड़ो। ठहरो ठहरो दूर से ही दिखलायी पड़ गया है।

अन्वयः– हा! नवबन्धनमुक्तया, गर्दभ्या, इव, गर्दभ्या, ताडितः, अस्मि, हा! अंगराजमुक्तय शक्त्या, घटोत्कचः; इव, शक्त्या, घातितः, अस्मि।।१।।

शब्दार्थः– हा! = हाय! नवबन्धनमुक्तया = नये बन्धन से छूटी हुई, गर्दभ्या = गदही के इव = समान, गर्दभ्या = जुआ खेलने की कौड़ी के द्वारा, ताडितः = मारा गया, अस्मि = हूँ, हा हाय! अंगराजमुक्तया = कर्ण के द्वारा चलायी गयी, शक्त्या = शक्तिनामक अस्त्र से, घटोत्कच इव = भीम के पुत्र घटोत्कच के समान, शक्त । = जुए की कौड़ियों की चाल से, घातितः = मार दिया गया, अस्मि = हूँ।।

(बिना पर्दा उठाए घबराया हुआ प्रवेश करके

अर्थः– संवाहक – आश्चर्य है! यह जुआरीपन बहुत ही दुःखदायक है।

हाय! शीघ्र ही बन्धन से छूटी हुई गदही के समान गर्दभी (जुए के काम में आने वाली कौड़ी, पाशा) ने मुझे मार दिया अर्थात् कौड़ी से बुरी तरह पछाड़ा गया हूँ। 'कर्ण' (अंगराज) के द्वारा चलाई हुई शक्ति (एक प्रकार का फेंक कर मारने वाला अस्त्र) से घटोत्कच' (भीम के पुत्र) समान, मैं भी शक्ति (जुए में चली जाने वाली कौड़ियों की एक खास चाल) के द्वारा मारा गया हूँ।।१।।

टीका– हा = कष्टम्!; नवम् = सद्यः बन्धनात् = पाशात् मुक्तया = स्वतन्त्रया विगलि या वा; गर्दभ्या = रासभस्त्रिया; इव = यथा; गर्दभ्या = वराटिकया; ताडितः = दण्डितः; अस्मि = वर्ते; हा = खेदे अव्यय दम्; अंगराजेन = कर्णेन मुक्तया प्रक्षिप्तया; शक्त्या = अस्त्रविशेषेण; घटोत्कच इव = हिडिम्बागर्भजभीमसेनपुत्रः इव; श या = द्यूतखेलनप्रकारेण इत्यर्थः; घातितः = मारितः अस्मि।

इस श्लोक में उपमा एवं यमक की संसृष्टि है। प्रयुक्त छन्द है–चित्रजाति।।१।।

लेखअवावडहिअअं शहिअं दट्टूण झत्ति पब्भट्ठे।
एण्हिं मग्गणिवडिदे कं णु खु शलणं पपज्जे।।२।।

लेखकव्यापृतहृदयं सभिकं दृष्ट्वा झटिति प्रभ्रष्टः।
इदानीं मार्गनिपतितः कं नु खलु शरणं प्रपद्ये।।

अन्वयः– लेखकव्यापृतहृदयम्, सभिकम्, दृष्ट्वा, झटिति, प्रभ्रष्टः, इदानीम्, मार्गनिपति ः, (अहम्) नु, कम्, खलु, शरणम्, प्रपद्ये।।२।।

शब्दार्थः– लिखने में उलझे हुए चित्तवाले, सभिकम् = जुआरियों के अगुआ को, जु ा कराने वाले को, दृष्ट्वा = देखकर, झटिति

= जल्दी ही, प्रभ्रष्टः = भाग निकला, इदानीम् = अब, मार्गनिपतितः = रास्ते पर आ गया, अहम् = मैं, नु = अरे, कम् = किसकी, शरणम् = शरण को, प्रपद्ये = प्राप्त करूँ?

अर्थः— जुआरियों के अगुआ सभिक को कुछ लिखने में उलझा हुआ देख कर जल्दी ही भाग निकला और अब रास्ते पर आ गया मैं किसकी शरण में जाऊँ?।।२।।

टीका— लेखः एव लेखकः = लेखनम् तस्मिन् व्यापृतम् = संलग्नम् हृदयम् = चेतः यस्य तम्; सभिकम् = द्यूताध्यक्षम्, दृष्ट्वा = अवलोक्य; झटिति = शीघ्रम; प्रभ्रष्टः = पलायितः; इदानीम् = सम्प्रति; मार्गे = राजपथे निपतित = आगत अहम् = संवाहकः; नु = अरे! कम् = जनम्; खलु = वाक्यालंकारे पदमेतत्; शरणम् = शरणार्थं रक्षितारम् इत्यर्थः प्रपद्ये = प्राप्नोमि?।।२।।

इसमें गाथा छन्द है, लक्षण—

''विषमाक्षरपादत्वात्, पादौ रसमञ्जसं धर्मवत्।
यच्छन्दसि नोक्तमत्र, गाथेति तत् सूरिभिः कथितम्''।।२।।

ता जाव एदे शहिअजूदिअला अण्णदो मं अण्णेशंति, ताव हक्के विप्पडीवेहिं पाद हिं एदं शुण्णदेउलं पविशिअ देवीभविश्शं।

तद्यावदेतौ सभिकद्यूतकरावन्यतो मामन्विष्यतः, तावदहं विपरीताभ्यां पादाभ्यामेतच्छून्यदेवकुलं प्रविश्य देवीभविष्यामि।

(बहुविधं नाट्यं कृत्वा तथा स्थितः)

(ततः प्रविशति माथुरो द्यूतकरश्च

माथुरः— अले भट्टा! दशसुवण्णाह लुद्धु जूदकरु पपलीणु पपलीणु। ता गेण्ह गेण्ह। चिट्ठ चिट्ठ। दूरात्पविट्ठोसि। (अरे भट्टारक! दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः प्रपलायितः। तद्गृहाण गृहाण। तिष्ठ तिष्ठ, दूरात्प्रदृष्टोऽसि।)

द्यूतकरः-

जइ वज्जसि पादालं इंदं शलणं च संपदं जासि।
सहिअं वज्जिअ एकं रुद्दो वि ण रक्खिदुं तरइ।।३।।

(यदि व्रजसि पातालमिन्द्रं शरणं च सांप्रतं यासि।
सभिकं वर्जयित्वैकं रुद्रोऽपि न रक्षितुं तरति।।)

अर्थः— तो जब तक जुआरियों का अगुआ (सभिक) और जुआरी मुझे दूसरी ओर ढूँढते हैं तब तक मैं उलटे पैरों से चलकर इस सूने देव–मन्दिर में घुस कर देवता की मूर्ति बन जाऊँ।

(बहुत प्रकार का अभिनय करके देवता की मूर्ति बन कर बैठ जाता है)

(इसके पश्चात् 'माथुर' और जुआरी प्रवेश करते हैं।)

अर्थः— माथुर — अरे स्वामी! दश सुवर्ण के लिये रोका हुआ जुआरी भाग गया, भाग गया। तो उसे पकड़ो, पकड़ो। ठहरो ठहरो। दूर से ही दिखलायी पड़ गया है।

अन्वयः— यदि, पातालम्, व्रजसि, इन्द्रम्, शरणम्, च, यासि, (किन्तु), एकम्, सभिकम्, वर्जयित्वा, रुद्रः, अपि (त्वाम्) रक्षितुम्, न तरति।।३।।

शब्दार्थः— यदि = यदि, पातालम् = पाताल को, व्रजसि = जाते हो, इन्द्रम् = इन्द्र की, शरणम् = शरण को, यासि = जाते हो, किन्तु, एकम् = केवलम्, सभिकम् = सभिक को, जुआरियों के अध्यक्ष को, वर्जयित्वा = छोड़कर, रुद्रः = शिव, अपि = भी, (त्वाम् = तुमको), रक्षितुम् = बचाने में, न = नहीं तरति = समर्थ हैं।

अर्थः— जुआरी — यदि (अपने बचाव के लिये तुम) पाताल लोक में जाते हो अथवा इन्द्र की शरण में चले जाते हो तो जाओ किन्तु इस समय केवल सभिक को छोड़ कर शिव भी तुम्हें नहीं बचा सकते।।३।।

टीका— यदि = चेत्; पातालम् = पृथिव्याः अधस्तलमित्यर्थः; व्रजसि गच्छसि; इन्द्रम् = देवराजम् वा; शरणम् = रक्षकम् यासि = गच्छसि; किन्तु एकम् = केवलम्; सभिकम् = द्यूतकराध्यक्षम् माथुरम्; वर्जयित्वा = परित्यज्य, रुद्रः = शिवोऽपि त्वाम् = संवाहकम्; रक्षितुम् = त्रातुम्; न तरति = न समर्थः भवति इति भावः।।३।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।

माथुरः—

कहिं कहिं सुसहिअवप्पलंभआ
पलासि ले भअपलिवेविदंगआ।
पदे पदे समविसमं खलंतआ
कुलं जसं अइकसणं कलेंतआ।।४।।

(कुत्र कुत्र सुसभिकविप्रलभ्भक! पलायसे रे भयपरिवेपितांगक!।

पदे पदे समविषमं स्खलन्कुलं यशोऽतिकृष्णं कुर्वन्।)

अन्वयः— हे सुसभिकविप्रलम्भक! भयपरिवेषितांगक! कुलम्, यशः, अतिकृष्णम्, कुर्वन्, प , पदे, समविषमम्, स्खलन्, कुत्र, कुत्र, पलायसे।।४।।

शब्दार्थः— हे सुसभिकविप्रलम्भक—हे सच्चे और सीधे जुआरियों के अगुआ को ठगने वाले भयपरिवेपितांगक = डर के मारे काँपते हुए शरीर वाले! कुलम् = कुलको, यशः = यशको, अतिकृष्णम् = अत्यन्त काले कुर्वन् = करते हुए, पदे पदे = पग पग पर, समविषमम् = ऊँचे—नीचे, स्खलन् = लड़खलाते हुए, कुत्र कुत्र = कहाँ कहाँ, पलायसे = भाग रहे हो।।

अर्थः— माथुर — अरे! (मुझ जैसे) सच्चे और सीधे जुआरियों के अगुआ को भी धोखा देने वाले! डर के मारे काँपते हुए शरीरवाले! अपने कुल एवं कीर्ति को अत्यन्त काला करते हुए, पग—पग पर ऊँचे—नीचे लड़खड़ाते हुए तू कहाँ कहाँ भाग रहा है।।४।।

टीका— सुसभिकम् = सरलव्यवहारकारिणम् सभिकं मामित्यर्थः विप्रलम्भयति = प्रतारयति इति सुसभिकविप्रलम्भकः तत्सम्बद्धो; भयेन = भीत्या परिवेपितानि = कम्पितानि अंगानि = शरीरावयवाः यस्य तत्सम्बद्धोः; कुलम = वंशम्, यशः = कीर्तिञ्च स्वकीयमिति शेषः; अतिकृष्णम् = मलीमसम् मलिनमित्यर्थः, कुर्वन् = विदधत्; पदे पदे = प्रतिपादन्यासम् इत्यर्थः, समविषमम् = उच्चावचस्थानम् समविषमं यथा स्यात्तथा वा; स्खलन् = गमने भ्रश्यन्; कुत्र कुत्र = कस्मिन् कस्मिन् स्थाने; पलायसे = पलाय्य गच्छसि।।४।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है—रुचिरा। इसका लक्षण इस प्रकार है—"जभौ जौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः।।४।।

द्यूतकरः— **(पदं वीक्ष्य) एसो वज्जदि। इअं पणट्टा पदवी। (एष व्रजति। इयं प्रनष्टा पदवी।)**

माथुरः— **(आलोक्य, सवितर्कम्) अले, विप्पदीवु पादु। पडिमाशुण्णु देउलु (विचिन्त्य) धुत्तु जूदकरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्ठो। (अरे, विप्रतीपौ पादौ। प्रतिमाशून्यं देवकुलम्। धूर्तो द्यूतकरी विप्रतीपाभ्यां पादाभ्यां देवकुलं प्रविष्टः।)**

द्यूतकरः— **ता अणुसरेम्ह। (ततोऽनुसरावः।)**

माथुरः — एव्वं भोदु। (एवं भवतु।)

(उभौ देवकुलप्रवेशं निरूपयतः, दृष्टवाऽन्योन्यं संज्ञाप्य)

द्यूतकरः — कधं कट्ठमयी पडिमा?। (कथं काष्ठमयी प्रतिमा?।)

माथुरः — अले, ण हु ण हु, शैलपडिमा। (इति बहुविधं चालयति संज्ञाप्य च)। एव्वं दु। एहि, जूदं किलेम्ह। (अरे, न खलु न खलु, शैलप्रतिमाः एवं भवतु। एहि, द्यूतेन क्रीडावः। (इति बहुविधं तं क्रीडति))

संवाहकः — (द्यूतेच्छाविकारसंवरणं बहुविधं कृत्वा, स्वगतम्) अले,

कत्ताशद्दे णिण्णाणअश्श हलइ हडकं मनुश्शश्श।
ढक्काशद्देव्व णडाधिवश्श पब्भट्टलज्जश्श।।५।।

अरे, कत्ताशब्दो निर्नाणकस्य हरति हृदयं मनुष्यस्य।
ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराज्यस्य।।

अर्थः— जुआरी — (पैरों के चिह्न को देख कर) यह जा रहा है अर्थात् यहाँ से गया। । यहाँ पैर के चिह्न गायब हो गये अर्थात् जाने के पैर के चिह्न गायब हो गये किन्तु आने के हैं।

माथुर— (देखकर तर्कपूर्वक) अरे! पैरों के चिह्न उलटे आने के हैं। देवता का यह मन्दिर मूर्ति से रहित है (सोच कर) ठग जुआरी

उलटे पाँवों से मन्दिर में घुस गया है।

जुआरी— तो उसका पीछा करते हैं।

माथुर— ऐसा ही हो।

(दोनों मन्दिर में घुसने का अभिनय करते हैं। देखकर और एक दूसरे को इशारा करके)

जुआरी— क्या यह काठ की मूर्ति है?

माथुर— अरे! नहीं, नहीं, पत्थर की मूर्ति है। (ऐसा कह कर उसे बहुत भाँति से हिलाता डुलाता है और इशारा करके) अच्छा ऐसा हो। आओ जुआ खेलें। (ऐसा कहकर बहुत तरह से जुआ खेलता है)

अन्वयः— अरे! कत्ताशब्दः, निर्नाणकस्य, मनुष्यस्य, प्रभ्रष्टराज्यस्य, नराधिपस्य, ढक्काशब्दः, इव, हृदयम्, हरति।।५।।

शब्दार्थः— अरे = ओह! कत्ताशब्दः = कौड़ी की खनखनाहट, निर्नाणकस्य = निर्धन, मनुष्यस्य = मनुष्य के, प्रभ्रष्टराज्यस्य = राज्य से वञ्चित, नराधिपस्य = राजा के, ढक्काशब्दः = भेरी के शब्द (की), इव = तरह, हृदयम् = हृदय को, हरति = लुभाता है, आकृष्ट करता है।

अर्थः— संवाहक — (जुआ खेलने की इच्छा को जैसे तैसे रोक कर अपने आप)

अरे, यह कौड़ी अथवा पासा की खन–खनाहट की आवाज निर्धन जुआरी मनुष्य के हृदय को उसी तरह लुभाती है जैसे तरह कि हाथ से राज्य निकल जाने वाले किसी राजा को भेरी का शब्द (लड़ाई आदि के लिए ललचाता है)।।५।।

टीका— अरे = अहो! कत्ता = यया द्यूतकरणं सा कत्ता, शब्दः = ध्वनिविशेषः; नास्ति नाणकम् = धनम् यस्य तस्य निर्नाणकस्य निर्धनस्य; मनुष्यस्य = जनस्य; प्रभ्रष्टम् = शत्रुभिः स्वायत्तीकृतम् राज्यम् = राज्यश्रीः यस्य तस्य, राज्यच्युतस्येत्यर्थः नराधिपस्य = राज्ञः; ढक्काशब्दः = भेरीध्वनिः इव; हृदयम् = चेतः; हरति = आकृष्टं करोति।।५।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा विपुला छन्द है। छन्द का लक्षण— "उल्लंघ्य गणत्रयमादिमं, शकलयार्द्वयोर्भवति यदि यस्यास्तां पिंगलनागो, विपुलामिति समाख्याति"।।५।।

जाणामि ण कीलिश्शं शुमेलुशिहलपधणशण्णिहं जूअं।
तह वि हु कोइलमहुले कत्ताशद्दे मणं हलदि।।६।।
जानामि न क्रीडिष्यामि सुमेरुशिखरपतनसंनिभं द्यूतम्।
तथापि खलु कोकिलमधुरः कत्ताशब्दो मनो हरति।।

अन्वयः— द्यूतम्, सुमेरुशिखरपतनसन्निभम्, जानामि, (अतः) न, क्रीडिष्यामि, तथापि, कोकिलमधुरः, कत्ताशब्दः, खलु, मनः, हरति।।६।।

शब्दार्थः— द्यूतम् = जुआ को, सुमेरुशिखरपतनसन्निभम् = सुमेरु पर्वत की चोटी से गिरने के समान, जानामि = जानता हूँ (अ इसलिये), न = नहीं, क्रीडिष्यामि = खेलूँगा, तथापि = तो भी, कोकिलमधुरः = कोयल की आवाज के समान मधुर कत्ताशब्दः = कौड़ी की खन–खनाहट, खलु = निश्चय ही, मनः = मन को, हरति = लुभा लेती है।

अर्थः— जुआ (खेलना) 'सुमेरु' पर्वत की चोटी से गिरने के समान (हानिकारक) है; (मैं यह) जानता हूँ। अतः नहीं खेलूंगा तथापि कोयल के गले से निकली हुई मीठी कूक के समान कौड़ी की खन–खनाहट मन को लुभा ही लेती है।।६।।

टीका— द्यूतम् = द्यूतक्रीडनम्; सुमेरोः = तन्नामकपर्वतस्य शिखरात् = श्रृंगात् पतनम् = भ्रंशनम् तेन सन्निभम् = तुल्यम् तत्पतनवत् विनाशकमिति भावः; जानामि = अवबोधयामि, अतः न क्रीडिष्यामि तथापि कोकिल इव = कोकिलकूजनमिवेत्यर्थः मधुरः = श्रवणसुभगः; कत्तायाः = द्यूते प्रयुज्यमानायाः लोके 'कौड़ी' इति प्रसिद्धायाः; शब्दः = रवः; खलु = अवश्यम् मनः = चेतः हरति = आकर्षति।

यहाँ पर भी उपमा अलंकार एवं विपुला छन्द है।

द्यूतकरः— मम पाठे, मम पाठे। (मम पाठे, मम पाठे।)

माथुरः — ण हु; मम पाठे मम पाठे। (न खलु; मम पाठे मम पाठे।)

संवाहकः — (अन्यतः सहसोपसृत्य) णं मम पाठे। (ननु मम पाठे।)

द्यूतकरः — लद्धे गोहे। (लब्धः पुरुषः।)

माथुरः – (गृहीत्वा) अले पेदंडा! गहीदोसि। पअच्छ तं दशसुवण्णं। (अरे लुप्तदण्ड! गृहीतोऽसि। प्रयच्छ तद्दशसुवर्णम्।)

संवाहकः – अज्ज दइश्शं। (अद्य दास्यामि।)

माथुरः – अहुणा पअच्छ। (अधुना प्रयच्छ।)

संवाहकः – दइश्शं। पशादं कलेहि। (दास्यामि। प्रसादं कुरु।)

माथुरः – अले, णं संपद् पअच्छ। (अरे, ननु सांप्रतं प्रयच्छ।)

संवाहकः – शिलु पडदि। (शिरः पतति।) (इति भूमौ पतति)

(उभौ बहुविधं ताडयतः)

माथुरः – एसु तुमं हु जूदिअरमंडलीए बद्धोसि। (एष त्वं खलु द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽसि।)

संवाहकः – (उत्थाय, सविषादम्) कधं जूदिअलपंडलीए बद्धो म्हि। ही, एशे अम्हाणं जूदिअलाणं अलंघणीए शमए। ता कुदो दइश्शं?। (कथं द्यूतकरमण्डल्या बद्धोऽस्मि। कष्टम्, एषोऽस्माकं द्यूतकराणामलंघनीयः समयः। तस्मात्कुतो दास्यामि?।)

माथुरः – अले, गंथु कुलुकुलु। (अरे, गण्डः क्रियतां क्रियताम्।)

संवाहकः – एव्वं कलेमि। (द्यूतकरमुपस्पृश्य) अद्धं ते देमि, अद्धं मे मुंचदु। (एवं करोमि। अर्धं तुभ्यं ददामि, अर्धं मे मुञ्चतु।)

द्यूतकरः – एव्वं भोदु। (एवं भवतु।)

संवाहकः – (सभिकमुपगम्य) अद्धशश गंथु कलेमि। अद्धं पि मे अज्जो मुंचदु। (अर्धस्य गण्डं करोमि। अर्धमपि म आर्या मुञ्चतु।)

माथुरः – को दोसु?। एव्वं भोदु। (को दोष? एवं भवतु।)

संवाहकः – (प्रकाशम्) अज्ज! अद्धे तुए मुक्के?। (आर्य! अर्धं त्वया मुक्तम्?।)

माथुरः – मुक्के। (मुक्तम्।)

संवाहकः – (द्यूतकरं प्रति) अद्धे तुए वि मुक्के?। (अर्धं त्वयापि मुक्तम्?।)

द्यूतकरः – मुक्के। (मुक्तम्।)

संवाहकः – संपदं गमिश्शं। (सांप्रतं गमिष्यामि।)

माथुरः – पअच्छ तं दशसुवण्णं, कहिं गच्छसि?। (प्रयच्छ तं दशसुवर्णम्। कुत्र गच्छसि?)।

संवाहकः – पेक्खध पेक्खध भट्टाअला! हा, संपदं ज्जेव्व एक्काह अद्धेगंथु कडे, अवरद्धह अद्धे मुक्के। तहवि मं अबलं शंपदं ज्जेव्व मग्गदि। (प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वं भट्टारकाः! हा, सांप्रतमेव एकस्यार्धे गण्डः कृतः, अपरस्यार्धं मुक्तम्। तथापि मामबलं सांप्रतमेव याचते।)

माथुरः – (गृहीत्वा) धुत्तु! माथुरु अहं णिउणु। एत्थ तुए ण अहं धुत्तिज्जामि। ता पअच्छ तं पेदंडआ! सव्वं सुवण्णं संपदं। (धूर्त! माथुरोऽहं निपुणः। अत्र नाहं धूर्तयामि। तत्प्रयच्छ तं लुप्तदण्डक, सर्वं सुवर्णं सांप्रतम्।)

संवाहकः – कुदो दइश्शं?। (कुतो दास्यामि?।)

माथुरः – पिदरु विक्किणिअ पअच्छ। (पितरं विक्रीय प्रयच्छ।)

संवाहकः – कुदो मे पिदा?। (कुतो मे पिता?।)

माथुरः – मादरु विक्किशिअ पअच्छ। (मातरं विक्रीय प्रयच्छ।)

संवाहकः – कुदो मे मादा?। (कुतो मे माता?।)

माथुरः – अप्पाणं विक्किणिअ पअच्छ। (आत्मानं विक्रीय प्रयच्छ।)

संवाहकः – कलेध पशादं। णेध मं लाजमग्गं। (कुरुत प्रसादम्। नयत मां राजमार्गम्।)

माथुरः – पसरु। (प्रसर।)

संवाहकः–एव्वं भोदु। (परिक्रामति) अज्जा! क्किणिध मं इमश्श शहिअश्श हत्थादो शेहिं शुवण्णकेहिं। (दृष्ट्वा आकाशे) किं

भणाघ-'किं कलइश्शशि' त्ति?। गेहे दे कम्मकले हुविश्शं। कधं? अदइअ पडिंवअणं गदे?। भोदु एव्वं। इमं अण्ण भणइश्शं। (पुनस्तदेव पठति) कधं एशे वि मं अवधीलिअ गदे। हा, अज्जाचालुदत्तस्स विहवे विहडिदे एशे वड्ढामि मंदभाए। (एवं भवतु। आर्याः! क्रीणीध्वं मामस्य सभिकस्य हस्ताद्दशभिः सुवर्णकैः। किं भणत-'कि करिष्यसि' इति?। गेहे ते कर्मकरो भविष्यामि। कथं अदत्त्वा प्रतिवचनं गतः?। भवत्वेवम्, इममन्यं भणिष्यामि। कथं एषोऽपि मामवधीर्य गतः?। हा, आर्यचारुदत्तस्य विभवे विघटिते एष वर्ते मन्दभाग्यः।)

माथुरः— णं देहि। (ननु देहि।)

संवाहकः— कुदो दइश्शं?। (कुतो दास्यामि?।) (इति पतति)

(माथुरः कर्षति)

संवाहकः — आज्जा! पलित्ताअध पलित्ताअध। (आर्याः! परित्रायध्वं परित्रायध्वम्।)

(ततः प्रविशति दर्दुरकः)

दर्दुरकः — भोः! द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्।

न गणयति पराभवं कुतश्चिद्धरति ददाति च नित्यमर्थजातम्।

नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्यते जनेन।।७।।

अर्थः—

जुआरी — मेरा दाँव है मेरा।

माथुर — नहीं, मेरा दाँव है, मेरा दाँव है।

संवाहक — (दूसरी ओर से अचानक पास आकर) दाँव तो मेरा है।

जुआरी — (भागा हुआ) पुरुष मिल गया।

माथुर — (पकड़ कर) अरे! दण्ड (हारा हुआ धन) न देने वाले, पकड़ लिये गये हो। तो वह दस सुवर्ण दो।

संवाहक — आज दूँगा।

माथुर — अभी दो।

संवाहक — दूँगा। दया करो।

माथुर — अरे! इसी समय दो।

संवाहक — शिर चक्कर खा रहा है (भूमि पर गिर पड़ता है)

(दोनों बहुत भाँति पीटते हैं)

माथुर — लो, अब तुम जुआरियों की टोली के द्वारा पकड़ लिये गये हो।

संवाहक — (उठकर, दुःख के साथ) क्या जुआरियों की टोली के द्वारा पकड़ लिया गया हूँ? खेद है, यह हम जुआरियो का न उल्लंघन करने के लायक नियम है। तो कहाँ से दूँ।

माथुर — अरे, प्रबन्ध करो अथवा शर्त मान लो।

संवाहक — ऐसा ही करता हूँ। (जुआरी को छूकर) आधा तुम्हें दिये देता हूँ। आधा तुम मेरे लिए छोड़ दो।

जुआरी — ऐसा ही सही।

संवाहक — (सभिक के पास जाकर) आधे की शर्त मानता हूँ अर्थात् आधा देने का वायदा करता हूँ। और आधा आप भी मेरे लिये छोड़ दें।

माथुर — क्या हर्ज है? ऐसा ही सही।

संवाहक — (प्रकट रूप में) आर्य! आधा आपने छोड़ दिया?

माथुर – छो. दिया।

संवाहक – (जुआरी से) आधा तुमने भी छोड़ दिया?

जुआरी – हाँ, छोड़ दिया।

संवाहक – (अच्छा तो) अब जाता हूँ।

माथुर – कहाँ जाते हो? दस सोने की मुद्रा दो।

संवाहक – महानुभावो! देखिये, देखिये। हाय! अभी अभी एक ने आधे की शर्त की है औ: दूसरे ने भी आधा छोड़ दिया है। फिर भी मुझ कमजोर से इसी समय ही माँग रहे हैं।

माथुर – (पकड़ कर) धूर्त! मैं चालाक 'माथुर' हूँ। यहाँ मैं धूर्तता नहीं कर रहा हूँ। इसलिए दण्ड न देने वाले (ठग)! वह सभी सोना इसी समय दो।

संवाहक – कहाँ से दूँगा?

माथुर – अपने पिता को बेच कर दो।

संवाहक – मेरे पिता कहाँ हैं?

माथुर – (तो फिर) माता को बेच कर दो।

संवाहक – मेरी माता कहाँ हैं?

माथुर – (तो) अपने को बेच कर दो।

संवाहक – मेरे ऊपर दया करें। मुझे बेचने के लिये सड़क पर ले चलिए।

माथुर – चलो।

संवाहक – ऐसा ही हो। (घूमता है) आर्यो! मुझको इस सभिक (जुआरियों के सरदार) के हाथ से दश सोने की मोहर देकर खरीद लीजिए। (आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो कि–"कौन सा काम करोगे" तुम्हारे घर में काम करने वाला अर्थात् नौकर होऊँगा। क्या बिना उत्तर दिये ही चला गया? अच्छा जाने दो। इस दूसरे आदमी से कहूँगा। क्यों? यह भी मेरा अनादर करके चला गया? हाय! आर्य! 'चारुदत्त' के धन के नाश हो जाने पर मैं अभागा होकर जी रहा हूँ।

माथुर – दो न!

संवाहक – कहाँ से दूँ? (ऐसा कह कर गिर पड़ता है)।

(माथुर घसीटता है)

संवाहक – आर्यो! रक्षा करो, रक्षा करो।

(इसके बाद दर्दुरक प्रवेश करता है)

दर्दुरक – अरे! जुआ भी मनुष्य का बिना सिंहासन का राज्य है।

अन्वयः– (द्यूतम्), कुतश्चित्, पराभवम्, न, गणयति, नित्यम्, अर्थ–जातम्, हरति, ददाति, च, निकामम्, आयदर्शी, राजा, इव, भववता, जनेन, समुपास्यते।।७।।

शब्दार्थः– द्यूतम् = जुआ, कुतश्चित् = किसी से अथवा कहीं से, पराभवम् = अपमान को, न गणयति = नहीं गिनता है, नित्यम् = नित्य ही, अर्थजातम् = धनको, हरति = लेता है, च = और, ददाति = देता है, निकामम् = काफी, आयदर्शी = लाभ दिखाने वाले, राजा इव = राजा की तरह, विभववता = धनी, जनेन = व्यक्ति के द्वारा, समुपास्यते = सेवित होता है।।

अर्थः– जुआ किसी से अपमान की परवाह नहीं करता है। यह नित्य ही धन लेता (पैदा करता) और देता है। राजा की भाँति काफी लाभ दिखलाने वाला जुआ बड़े–बड़े धनी आदमियों के द्वारा भी सेवित होता है अर्थात् खेला जाता है।।७।।

टीका– द्यूतम्, कुतश्चित् = कस्मादपि; पराभवम् = तिरस्कारम्; पराजयम् वा; न गणयति = किञ्चित्कर्तृत्वेन न जानाति; नित्यम् = सर्वदा; अर्थजातम् = सम्पत्तिसमूहम्; हरति = उपार्जयति; ददाति = विजयशालिने अर्पयति च; निकामम् = पर्याप्तम्; आयम् = धनप्राप्तिम् दर्शयति = उपस्थापयतीत्यर्थः; राजा द्यूतञ्च उद्दामधनोपार्जनं वृणुते; राजा इव = नृपतिरिव; विभववता = ऐश्वर्यशालिना; अपि जनेन = लोकेन; समुपास्यते = सेव्यते।।७।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा पुष्पिताग्रा छन्द प्रयुक्त है। छन्द का लक्षण–

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा"।।७।।

अपि च,–

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव।।८।।

अन्वयः– द्यूतेन, एव, द्रव्यम्, लब्धम्, द्यूतेन, एव, दाराः, मित्रम्, (लब्धम्), द्यूतेन, एव दत्तम्, भुक्तम्, द्यूतेन, एव, सर्वम्, नष्टम्।

शब्दार्थः– द्यूतेन = जुआ से, एव = ही, द्रव्यम् = धन, लब्धम् = प्राप्त हुआ, द्यूतेन = जुआ से, एव = ही, दाराः = स्त्री (प्राप्त हुई), मित्रम् = मित्र (प्राप्त हुआ), द्यूतेन = जुआ से, एव = ही, दत्तम् = दिया गया भुक्तम् = खाया गया, द्यूतेन = जुआ से एव = ही, सर्वम् = सब कुछ, नष्टम् = खतम हो गया।।

और भी–

अर्थः– जुआ से ही मैंने धन कमाया। स्त्री और मित्र जुए से ही प्राप्त किया। जुए से ही किसी को कुछ दिया और खाया और जुए से ही अपना सब कुछ गवाँ दिया।।८।।

टीका– द्यूतेन = द्यूतक्रीडया एव; द्रव्यम् = धनम्; लब्धम् = उपार्जितम्; द्यूतेनैव दाराः = पत्नी; लब्धा मित्रम् = सुहृत्, लब्धम् = इत्यनेन दत्तम् = अन्यजनाय समर्पितम्; भुक्तम् = उपभुक्तम्; द्यूतेनैव सर्वम् = निखिलम् वस्तु; नष्टम् = नाश गतम्।

इस श्लोक में विषम अलंकार एवम् विद्युन्माला छन्द है। छन्द का लक्षण–"मो मो गो गो विद्युन्माला।।८।।

अपि च,–

त्रेताहृतसर्वस्वः पावरपतनाच्च शोषितशरीरः।
नर्दितदर्शितमार्गः कटेन विनिपातितो यामि।।९।।

अन्वयः– त्रेताहृतसर्वस्वः, पावरपतनात्, शोषितशरीरः, नर्दितदर्शितमार्गः, कटेन, विनिपातितः, यामि।।९।।

शब्दार्थः– त्रेताहृतसर्वस्वः = त्रेता ('तीया' नामक एक खास चाल) के द्वारा सब कुछ छीन लिया जाने वाला पावरपतनात् = पावर ('दूआ' नामक एक प्रकार का दाँव) के गिरने से, शोषितशरीरः = सन्न (शुष्क) शरीरवाला, नर्दितदर्शितमार्गः = नर्दित ('नक्का' नामक एक तरह का दाँव) के द्वारा रास्ता दिखाया गया, कटेन = कट ('पूरा' नामक एक ढंग का दाँव) के द्वारा विनिपातित = विनष्ट किया गया, (मैं), यामि = जा रहा हूँ।।

और भी–

अर्थः– त्रेता ('तीया' नामक एक खास चाल = दाँव) के कारण सब कुछ छीन लिया जाने वाला, पावर ('दूआ' नामक एक प्रकार का दाँव) के द्वारा सन्न (शुष्क) शरीर खाला, नर्दित ('नक्का' नामक एक तरह का दाँव) के द्वारा (घर का) रास्ता दिखाया जाने वाला, कट ('पूरा' नामक एक ढंग का दाँव) के द्वारा मारा हुआ जा रहा हूँ अर्थात्! 'तीया' 'दूआ' और 'नक्का' के चक्कर में मैं पूर्ण रूप से मिट चुका हूँ।।९।।

टीका– त्रेतया = त्रेतापातेन हृतम् = अपहृतम् सर्वस्वम् = निखिलम् धनं यस्य सः; पावरस्य = 'दूआ' इति प्रसिद्धस्य पतनात्; शोषितम् = शुष्कीकृतं शरीरम् = कायः यस्य सः; नर्दितेन = 'नान्दी' (नक्का) इति प्रसिद्धेन दर्शितः = निर्दिष्टः मार्गः = पन्थाः यस्य असौ; कटेन = 'पूरा' इति ख्यातेन; विनिपातितः = विध्वंसितः; अहमितिशेषः, यामि = गच्छामि।

इस श्लोक में आर्या छन्द है। छन्द का लक्षण–

"यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।।९।।"

(अग्रतोऽवलोक्य) अयमस्माकं पूर्वसभिको माथुर इत एवाभिवर्तते। भवतु, अपक्रमितुं न शक्यते। तदवगुण्ठयाम्यात्मानम्। (बहुविधं नाट्यं कृत्वा स्थितः, उत्तरीयं निरीक्ष्य)

अयं पटः सूत्रदरिद्रतां गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलंकृतः।
अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः संवृत एव शोभते।।१०।।

अर्थः— (सामने की ओर देखकर) यह हमारा पहले का सभिक (जुआ कराने वाला) माथुर इसी ओर आ रहा है। अच्छा, भागा तो नहीं जा सकता। इसलिए अपने शरीर को ढक लेता हूँ। (कई तरह से शरीर ढकने का नाटक करके खड़ा हो जाता है, अपने दुपट्टे को देखकर)

अन्वयः— अयम्, पटः, सूत्रदरिद्रताम्, गतः, अयम्, पटः, हि, छिद्रशतैः, अलंकृतः, अयम्, पटः प्रावरितुम्, न, शक्यते, अयम्, पटः, हि, संवृतः, एव, शोभते।।१०।।

शब्दार्थः— अयम् = यह, पटः = कपड़ा, सूत्रदरिद्रताम् = सूतों की जीर्णता को, गतः = प्राप्त हो गया है, अयम् = यह, पटः = वस्त्र, हि = निश्चय ही, छिद्रशतैः = सैकड़ों छेदों से, अलंकृतः = परिपूर्ण है, अयम = यह, पटः = वस्त्र, प्रावरितुम् = शरीर ढकने के लिये, न = नहीं, शक्यते = समर्थ है, अयम् = यह, पटः = वस्त्र, हि = निश्चत ही, संवृतः = लपेटा हुआ, एव = ही, शोभते = अच्छा लगता है।

अर्थः— यह कपड़ा जीर्ण हो गया है, यह कपड़ा बहुत से छेदों से परिपूर्ण है। यह वस्त्र शरीर ढकने लायक नहीं है। यह कपड़ा लपेटा हुआ रहने पर ही अच्छा लगता है।

टीका— अयम् = उत्तरीयाख्यः; पटः = वस्त्रम्; सूत्राणाम् = तन्तूनाम्, दरिद्रताम् = न्यूनता म् जीर्णताम् वा; गतः = प्राप्तः, अयम् = गृहीतः, पटः = दुकूलाख्यं वस्त्रम् हि = निश्चितम्, छिद्राणाम् = विवराणाम्, शतै = बहुत्वैः इत्यर्थः, अलंकृतः = परिपूर्ण; इति भावः, अयं पटः; प्रावरितुम् = आच्छादयितु, न शक्यते = न समर्थ्यते; अयं पः ; हि = निश्चतम्; संवृतः = वेष्टितः एव शोभते = भाति।

इस श्लोक में वंशस्थ छन्द है। लक्षण— "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौः"।।१०।।

अथवा किमयं तपस्वी करिष्यति?। यो हि

पादेनैकेन गगने द्वितीयेन च भूतले।।
तिष्ठाम्युल्लम्बितस्तावद्यावत्तिष्ठति भास्करः।।११।।

अर्थः— अथवा यह तुच्छ (माथुर मेरा) कर ही क्या सकता है? जो कि मैं—

अन्वयः— एकेन, पादेन, गगने, द्वितीयेन, च, भूतले, उल्लम्बितः, तावत्, तिष्ठामि, यावत्, भास्करः, तिष्ठति।।११।।

शब्दार्थः— एकेन = एक, पादेन = पैर से, गगने = आकाश में, द्वितीयेन = दूसरे से, भूतले = जमीन पर, उल्लम्बितः = लटका हुआ, तावत् = तब तक, तिष्ठामि = ठहरा हूँ, ठहर सकता हूँ, यावत् = जब तक, भास्करः = सूर्य, तिष्ठति = रहा है।

अर्थः— एक पैर आसमान में करके और दूसरा पैर जमीन पर रखकर तब तक लटक हुआ रह सकता हूँ जब तक सूरज रहता है। (अर्थात् जब मैं समूचे दिन इतने दुःखदायी काम को भी कर सकता हूँ, तो 'माथुर' से डरने की क्या जरूरत? वह इससे और कठोर दण्ड क्या देगा?)।।११।।

टीका— एकेन पादेन = चरणेन; गगने = आकाशे; द्वितीयेन = अन्येन; चकारः चरणस्मारकः; भूतले = पृथिव्याम्; उल्लम्बितः = उर्ध्वं लम्बमानः = सन् इत्यर्थः; तावत् = तावत्कालम्; तिष्ठामि = स्थितः भवितुं शक्नोमि इत्यर्थः; यावत् = यावत्कालम्; भास्करः = सूर्यः; तिष्ठति = अस्तं न गच्छति इत्यर्थ; अतः मम माथुरसकाशात् भयं नास्ति इति भावः।।११।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है। लक्षण— "युजोश्तुर्थतो येन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।।५।।

माथुरः — दापय दापय। (दापय दापय।)

संवाहकः — कुदो दइश्शं?। (कुतो दास्यामि?।)

(माथुरः कर्षति)

दर्दुरकः — अये, किमेतदग्रतः?। (आकाशे) किं भवानाह—'अयं द्यूतकरः सभिकेन खलीक्रियते, कश्चिन्मोचयति' इति१। नन्वयं दर्दुरो मोचयति। (उपसृत्य) अन्तरमन्तरम्। (दृष्ट्वा) अये, कथं माथुरो वर्तते?। अयमपि तपस्वी संवाहकः,-

यः स्तब्धं दिवसान्तमानतशिरो नास्ते समुल्लम्बितो
यस्योद्घर्षणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः किणः।
यस्यैतच्च न कुक्कुरैरहरहोजंघान्तरं चर्व्यते
तस्यात्यायतकोमलस्य सततं द्यूतप्रसंगेन किम्?।।१२।।

अर्थः—

माथुर — दिलाओ, दिलाओ।

संवाहक — कहाँ से दूँ?

(माथुर घसीटता है)

दुर्दुरक— अरे! यह सामने क्या (हो रहा) है? (आकाश की ओर) क्या कहा आपने कि 'यह जुआरी जुआ करानेवाल (सभिक) के द्वारा मार--पीट कर अपमानित किया जा रहा है, और कोई छुड़ाता भी नहीं है।' तो लो यह 'दुर्दुरक' छुड़ाता है। (समीप जाकर) बस, बस हटो, हटो। (देखकर)। अरे क्या यह धूर्त 'माथुर' है, और यह (दूसरा) बेचारा 'संवाहक' है,-

अन्वयः— यः, दिवसान्तम्, आनतशिरः, (सन्), स्तब्धम्, समुल्लम्बितः, न, आस्ते, यस्य, पृष्ठे, उद्घर्षणलोष्ठकैः, अपि, सदा, कृष्णः न जातः, यस्य, च, एतत्, जंघान्तरम्, कुक्कुरैः, अहः अहः, न, चर्व्यते, अत्यायतकोमलस्य, तस्य, सततम्, द्यूतप्रसगेन, किम्?।।१२।

शब्दार्थः— यः = जो व्यक्ति, दिवसान्तम् = दिन भर, आनतशिरः = नीचे शिरवाला, सन् = होता हुआ, स्तब्धम् = चुपचाप, समुल्लम्बित = लटका हुआ, न नहीं, आस्ते = रहता, यस्य = जिसकी, पृष्ठे = पीठ में, उद्घर्षणलोष्ठकैः = घसीटने पर ढेलों के द्वारा, अपि = भी, सदा = हमेशा, किणः = घट्ठा, न = नहीं, जातः = पड़ा है, यस्य = जिसका, एतत् = यह, जंघान्तरम् = जाँघ का भीतरी भाग, कुक्कुरैः = कुत्तों के द्वारा, अहः अहः = प्रतिदिन, न चर्व्यते = नहीं काटा जाता, अत्यायतकोमलस्य = अत्यन्त कोमल, तस्य = उस व्यक्ति के, द्यूतप्रसंगेन = जुआ खेलने से, किम् = क्या प्रयोजन?।।

अर्थः— जो व्यक्ति मेरे समान दिन भर नीचे शिर करके चुपचाप लटका हुआ नहीं रह सकता। जिसकी पीठ पर (पैसा न दे सकने पर दूसरे जुआरियों के द्वारा) नित्य घसीटने से ढेलों के द्वारा चोट का चिह्न भी नहीं पड़ा है। (पैसा न दे सकने के कारण भागने पर जुआरियों के द्वारा दौड़ाये गये) कुत्तों से जिसकी जांघ का यह भीतरी हिस्सा प्रतिदिन काटा नहीं जाता ऐसे अत्यन्त कोमल व्यक्ति को निरन्तर जुआ खेलने से क्या प्रयोजन? अर्थात् जुआ खेलना आसान काम नहीं है। इसमें दिन से कठिन दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः कोमल आदमियों को इधर नहीं आना चाहिए)।।१२।।

टीका— यः = द्यूतकरः जनः; दिवसान्तम् = दिनावसानपर्यन्तम्; सन्ध्यां यावदित्यर्थः; आनतम् = अधोलम्बितम् शिर = मस्तकम् यस्य सः, तादृशः सन्; स्तब्धम् = निश्चलं यथा तथा समुल्लम्बितः = उच्चस्थानात् अधोलम्बितः; न आस्ते = न तिष्ठति, न स्थातुं शक्नोति इत्यर्थः; यस्य = जनस्य च, एतत् = इदम्; जंघान्तरम् = जंघयोः अन्तरालम्; कुक्कुरैः = श्वभिः अहरहः प्रतिदिनम्, न चर्व्यते = न खाद्यते; अत्यायतकोमलस्य = अतिशयकोमलस्य; तस्य द्यूतकरस्य; द्यूतप्रसंगेन = द्यूतक्रीडनेन किम् = किं प्रयोजनम्? तादृशेन जनेन द्यूतकरेण न भाव्यमिति भावः।।१२।।

इस श्लोक में काव्यलिंगालंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

भवतु, माथुरं तावत्सान्त्वयामि। (उपगम्य) माथुर! अभिवादये।

(माथुरः प्रत्यभिवादयते)

दर्दुरकः — किमेतत्?।

माथुरः — अअं दशसुवण्णं धालेदि। (अयं दशसुवर्णं धारयति।)

दर्दुरकः — ननु कल्यवर्तमेतत्।

माथुरः — (दर्दुरस्य कक्षातललुण्ठीकृतं पटमाकृष्य) भट्टा! पश्शत पश्शत। जज्जरपडप्पावुदो अअं पुलिसो दशसुवण्णं कल्लवत्त भणादि। (भर्त्तारः! पश्यत पश्यत। जर्जरपटप्रावृतोऽयं पुरुषो दशसुवर्णं कल्यवर्तं भणति।

दर्दुरकः — अरे मूर्ख! नन्वहं दशसुवर्णान्कटकरणेन प्रयच्छामि। तत्किं यस्यास्ति धनं स किं क्रोडे कृत्वा दर्शयति?। अरे

दुर्वणोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया।।१३।।

अर्थः— अच्छा, तो 'माथुर' को शान्त करता हूँ। (पास में जाकर) माथुर प्रणाम करता हूँ।

(माथुर भी बदले में प्रणाम करता है)

दर्दुरक — यह क्या है?

माथुर — यह मेरा दश स्वर्णमुद्राओं का ऋणी है।

दर्दुरक – अरे! इतना धन तो कलेवा की भाँति तुच्छ है।

माथुर – (दर्दुरक की काँख में लपेट कर दबाए हुए कपड़े को खींच कर) महानुभावों! देखिए, देखिए। फटे–पुराने कपड़े से ढका हुआ यह व्यक्ति सोने की दस मोहरों को कलेवा की तरह (तुच्छ) बतला रहा है।

दर्दुरक – अरे मूर्ख! सोने की दस मुहरे तो मैं एक दाँव से (एकबार कौड़ी अथवा पाशा फेंक कर) दे सकता हूँ। तो जिसके पास धन होता है क्या वह उसको (धन को) गोदी में रख कर (संसार को) दिखलाता फिरता है?

अन्वयः– (हे माथुर! त्वम्), दुर्वर्णः, असि, विनष्टः, असि, (यत्) त्वया, दशस्वर्णस्य, कारणात्, पञ्चेन्द्रियसमायुक्तः, नरः, व्यापाद्यते।।१३।।

शब्दार्थः– (हे माथुर! त्वम् = तुम), दुर्वर्णः = नीच, असि = हो, विनष्टः = पतित, असि = हो, (यत् = जो कि) त्वया = तुम्हारे द्वारा, दशस्वर्णस्य = सोने की दश मोहरों के, कारणात् = कारण से, पञ्चेन्द्रियसमायुक्तः = पाँच इन्द्रियों से युक्त, नरः = मनुष्य, व्यापाद्यते = मारा जा रहा है।

अरे,–

अर्थः– माथुर! तुम नीच एवं पतित हो जो कि सोने की दस मोहरों के लिए पाँच इन्द्रियों से युक्त मनुष्य को मार रहे हो।।१३।।

टीका– हे माथुर! त्वं दुर्वर्णः–दुष्टः = अधमः वर्णः = जातिः यस्य सः; हीनजातिः इत्यर्थः; असि = वर्तसे; विनष्टः = पतितः; असि; यत् त्वया = माथुरेण; दशस्वर्णस्य = दशानां स्वर्णानां समाहारः तस्य; कारणात् = निमित्तात्; पञ्चभिः इन्द्रियैः = नेत्रादिभिः करणैः समायुक्तः = संयुक्तः; नरः = पुरुषः; व्यापाद्यते = हन्यते।।१३।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार तथा अनुष्टप् छन्द है।

माथुरः – भट्टा! तुए दशसुवण्णु कल्लवत्तु। मए एसु विहवु। (भर्तः! तव दशसुवर्णः कलवर्तः। ममैष विभवः)

दर्दुरकः – यद्येवम्, श्रूयतां तर्हि। अन्यांस्तावद्दशसुवर्णानस्यैव प्रयच्छ। अयमपि द्यूतं शीलयतु।

माथुरः – तत्किं भोदु?। (तत्किं भवतु?।)

दर्दुरकः – यदि जेष्यति तदा दास्यति।

माथुरः – अह ण जिणादि?। (अथ न जयति?।)

दर्दुरकः – तदा न दास्यति।

माथुरः – अह ण जुत्तं जप्पिदुं। एव्वं अक्खंतो तुमं पअच्छ धुत्तआ!। अहं पि णाम माथुरो धुत्तु जूदं मित्था आदंसआमि। अण्णस्स वि अहं ण बिभेमि। धुत्ता! खंडिअवुत्तोसि तुमं। (अथ न युक्तं जल्पितुम्। एवमाक्षाणस्त्वं प्रयच्छ धूर्तक!। अहमपि नाम माथुरो धूर्तो द्यूतं मिथ्या दर्शयामि। अन्यस्मादप्यहं न बिभेमि। धूर्त! खण्डितवृत्तोऽसि त्वम्।)

दर्दुरकः – अरे, कः खण्डितवृत्तः?।

माथुरः – तुमं हु खंडिअवुत्तो। (त्वं खलु खण्डितवृत्तः।)

दर्दुरकः – पिता ते खण्डितवृत्तः। (संवाहकस्यापक्रमितुं संज्ञां ददाति)

माथुरः – गोसाविआपुत्ता! णं एव्वं ज्जेव जूदं तुए सेविदं?। (वेश्यापुत्र! नन्वेवमेव द्यूतं त्वया सेवितम्?।)

दर्दुरकः – मयैवं द्यूतमासेवितम्।

माथुरः – अले संवाहआ! पअच्छ तं दशसुवण्णं। (अरे संवाहक! प्रयच्छ तद्दशसुवर्णम्।)

संवाहकः – अज्ज दइश्शं, दाव दइश्शं,। (अद्य दास्यामि, तावद्दास्यामि।)

(माथुरः कर्षति)

दर्दुरकः – मूर्ख! परोक्षे खलीकर्तुं शक्यते, न ममाग्रतः खलीकर्तुम्।

(माथुरः संवाहकमाकृष्य घोणायां मुष्टिप्रहारं ददाति, संवाहकः सशोणितं मूर्च्छां नाटयं भूमौ पतति, दर्दुरक उपसृत्यान्तरयति; माथुरो दर्दुरकं ताडयति दर्दुरको विप्रतीषं ताडयति)

माथुरः – अले अले दुष्ट छिण्णालिआपुत्तअ! फलं पि पाविहसि। (अरे अरे दुष्ट पुंश्चलीपुत्रक! फलमपि प्राप्स्यसि।)

दर्दुरकः – अरे मूर्ख! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः। श्वो यदि राजकुले ताडयष्यिसि, तदा द्रक्ष्यसि।

माथुरः – एसु पेक्खिस्सं। (एष प्रेक्षिष्ये।)

दर्दुरकः – कथं द्रक्ष्यसि?।

माथुरः – (प्रसार्य चक्षुषी) एव्वं पेक्खिस्सं। (एवं प्रेक्षिष्ये।)

(दर्दुरको माथुरस्य पांशुना चक्षुषी पूरयित्वा संवाहकस्यापक्रमितुं संज्ञां ददाति, माथुरोऽक्षिणी निगृह्य भूमौ पतति, संवाहकोऽपक्रामति)

दर्दुरकः – (स्वगतम्) प्रधानसभिको माथुरो मया विरोधितः। तन्नात्र युज्यते स्थातुम्। कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन, यथा किल-'आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति।' इति। सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

संवाहकः – (सत्रासं परिक्रम्य, दृष्ट्वा) एशे कश्श वि अणपावुदपक्खदुयालके गुहे। ता एत्थ पविशिश्शं। (वेशं रूपयित्वा, वसन्तसेनामालोक्य) अज्जे! शलणागदे म्हि। (एतत्कस्याप्यनपावृतपाद्वारकं गेहम्। तदत्र प्रविशामि। आर्ये! शरणागतोऽस्मि।)

वसन्तसेना – अभअं सरणागदस्स। अज्जे! दक्केहि पक्खदुआरअं। (अभयं शरणागतस्य। चेटि! पिधेहि पक्षद्वारकम्।)

(चेटी तथा करोति)

वसन्तसेना – कुदो दे भअं?। (कुतस्ते भयम्?।)

संवाहकः – अज्जे! धणिकादो। (आर्ये! धनिकात्।)

वसन्तसेना – हज्जे! संपदं अवावुणु पक्खदुआरअं। (चेटि! सांप्रतमपावृणु पक्षद्वारकम्।)

संवाहकः – (आत्मगतम्) कधं धणिकादो तुलिदं शे भअकालणं?। शुट्दु खु एवं वुच्चदि,-

जे अत्तबलं जाणिअ भालं तुलिदं वहेइ माणुश्शे।
ताहं खलणं ण जायदि ण अ कंतालगडे विवज्जदि।।१४।।

एत्थ लक्खिदम्हि। (कथं धनिकात्तुलितमस्या भयकारणम्? सुष्ठु खल्वेवमुच्यते,-

य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः।
तस्य स्खलनं न जायते न च कान्तारगतो विपद्यते।।

अर्थः–

माथुर – महाराज! सोने की दस मोहरें आप के लिए तुच्छ हैं। किन्तु मेरे लिये यही धन हैं।

दर्दुरक – यदि ऐसी बात है तो सुनो। सोने की दस मोहरें इसको और दो। यह भी फिर जुआ खेले।

माथुर – उससे क्या होगा।

दर्दुरक – यदि जीतेगा तो दे देगा।

माथुर – यदि नहीं जीतेगा?

दर्दुरक – तब नहीं देगा।

माथुर– और बकवाद करना ठीक नहीं है। रे धूर्त! ऐसा कहते हो तो तुम्हीं दे दो। मैं भी धूर्त माथुर हूँ। छल से जुआ खेलता हूँ, दूसरे किसी से भी नहीं डरता हूँ। धूर्त! तुम बेईमान (खण्डितचरित्र) हो।

दर्दुरक – अरे! कौन बेईमान है?

माथुर – तुम्हीं बेईमान (चरित्रहीन) हो।

दर्दुरक – तेरा बाप बेईमान है। ('संवाहक' को भागने के लिये इशारा करता है)।

माथुर – वेश्या के बच्चे! क्या तुमने इसी तरह से जुआ खेला है?

दर्दुरक – हाँ, मैंने इसी तरह से जुआ खेला है।

माथुर – अरे संवाहक! सोने की दस मोहरों को दो।

संवाहक – आज दूँगा। तब तक दे दूँगा।

(माथुर घसीटता है)

दर्दुरक – मूर्ख! मेरे न रहने पर ही तुम इसको सता (पीट) सकते हो, मेरे सामने नहीं।

('माथुर' 'संवाहक' को खींचकर उसकी नाक पर मुक्का मारता है। 'संवाहक' खू से लथपथ होकर के मूर्च्छा का अभिनय करता हुआ भूमि पर गिर पड़ता है। 'दर्दुरक आगे बढ़कर बीच–बचाव करता । 'माथुर' 'दर्दुरक' को मारता है। बदले में 'दर्दुरक' भी पीटता है)

माथुर – अरे रे दुष्ट! छिनार के बच्चे (कुलटापुत्र)! (इसका) फल भी पाओगे।

दर्दुरक – अरे मूर्ख! तुमने बिना कसूर मुझे रास्ते चलते मारा है। कल यदि राजदरबार में मारोगे तो देखना।

माथुर – अच्छा, देख लूँगा।

दर्दुरक – कैसे देखोगे?

माथुर – (आँखें फाड़कर) ऐसे देखूँगा।

('दर्दुरक' धूल से 'माथुर' की आँखों को भर कर 'संवाहक' को भागने का इशारा करता है। 'माथुर' आँखें थाम कर जमीन पर गिरता है। 'संवाहक' भागता है)

दर्दुरक – (अपने आप) मैंने प्रधान सभिक 'माथुर' से विरोध कर लिया है। इसलिये यहाँ ठहरना ठीक नहीं है। मेरे प्रिय मित्र 'शर्विलक' ने कहा भी है कि–'सिद्ध के आशीर्वाद अथवा भविष्यवाणी से 'आर्यक' नाम वाला अहीर का पुत्र राजा होगा। और हमारे जैसे सभी व्यक्ति उसके पीछे हैं। तो मैं भी उसके पास ही चलूँगा। (ऐसा विचार कर चला जाता है)।

संवाहक– (भयपूर्वक घूमकर और देखकर) यह किसी का घर है जिसकी खिड़की खुली हुई है। तो इसमें घुसता हूँ। (घुसने का अभिनय करके 'वसन्तसेना' को देख कर) आर्ये! आप की शरण में आया हुआ हूँ।

वसन्तसेना– शरण में आये हुए तुम्हारे लिए किसी बात का डर नहीं है। चेटी! खिड़की का किवाड़ बन्द कर दो।

(चेटी वैसा ही करती है)

वसन्तसेना – किससे तुम्हें डर है?

संवाहक – श्रीमती जी! धनी से।

वसन्तसेना – चेटी! अब किवाड़ खोल दो।

संवाहक – (अपने आप) क्या मेरे ही समान इसको भी धनी व्यक्ति से भय लग रहा है? वास्तव में यह ठीक ही कहा जाता है।

अन्वयः–यः, मनुष्यः, आत्मबलम्, ज्ञात्वा, तुलितम्, भारम्, वहति, तस्य, स्खलनम्, न, जायते, कान्तारगतः, च, (सः) न, विपद्यते।।१४।।

शब्दार्थः– यः = जो, मनुष्यः = मनुष्य, आत्मबलम् = अपने बल को, ज्ञात्वा = समझ कर, तुलितम् = (उसके) अनुसार, भारम् = बोझको, वहति = ढोता है, तस्य = उसका, स्खलनम् = पतन, न = नहीं, जायते = होता, कान्तारगतः = गहनवन अथवा दुर्गम मार्ग में गया हुआ, च = भी, (सः = वह) न = नहीं, विपद्यते = नष्ट होता है।।

अर्थः– जो मनुष्य अपनी ताकत का अनुमान करके भार उठाता है, वह कभी भी गड्ढे में नहीं गिरता है। और न तो दुर्गम रास्ते पर चलने से नष्ट ही होता है। अर्थात् यदि मैंने अपने धन का ध्यान करके जुआ खेला होता तो यह हालत न होती।।१४।।

टीका– यः मनुष्यः = पुरुषः; आत्मनः = स्वस्य बलम् = सामर्थ्यम्; ज्ञात्वा = विचार्य; तुलितम् = स्वानुरूपम्; भारम् = गुरुद्रव्यमित्यर्थः; वहति = धारयति; तस्य = जनस्य; स्खलनम् = पतनम्, न जायते = न भवति; कान्तारे = दुर्गममार्गे, गहने वने वा; गतः = प्राप्तः; च = अपि; सः न विपद्यते = न विपत्तिमवाप्नोति।।१४।।

इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार तथा आर्या छन्द है।

अत्र लक्षितोऽस्मि।

माथुरः – (अक्षिणी प्रमृज्य, द्यूतकरं प्रति) अले, देहि देहि। (अरे, देहि देहि।)

द्यूतकरः – भट्टा! जावदेव अम्हे दद्दरेण कलहायिदा तावदेव सो गोहो अवक्कंतो। (भर्तः! यावदेव वयं दर्दुरेण कलहायितास्तावदेव स पुरुषोऽपक्रान्तः।)

माथुरः – तस्स जूदकलस्स मुट्टिप्पहालेण णासिका भग्गा आसि। ता यहि, रुहिरपहं अणुसरेम्ह। (तस्य द्यूतकरस्य मुष्टिप्रहारेण नासिका भग्नासीत्। तदेहि, रुधिरपथमनुसरावः।)

(अनुसृत्य)

द्यूतकरः – भट्टा! वसंतसेणागेहं पविट्टो सो। (भर्तः! वसन्तसेनागृहं प्रविष्टः सः।)

माथुरः – भूदाइं सुवण्णाइं। (भूतानि सुवर्णानि।)

द्यूतकरः – लाअउलं गदुअ णिवेदेम्ह। (राजकुलं गत्वा निवेदयावः।)

माथुरः – एसो धुत्तो अदो णिक्कमिअ अण्णत्त गमिस्सदि। ता उअरोधेणेव्व गेण्हेम्ह। (एष धूर्तोऽतो निष्क्रम्यान्यत्र गमिष्यति। तदुपरोधेनैव गृह्णीवः।)

(वसन्तसेना मदनिकायाः सज्ञां ददाति)

मदनिकाः – कुदो अज्जो? को वा अज्जो? कस्स वा अज्जो?। किं वा वित्तिं अज्जो उवजीअदि? कुदो वा भअं?। (कुत आर्यः? को वार्यः? का वा वृत्तिमार्य उपजीवति? कुतो वा भयम्?।)

संवाहकः – शुणादु अज्जआ। अज्जए? पाडलिउत्ते मे जन्मभूमी। गहवइदालके हग्गे। संवाहअश्श वित्तिं उवजीआमि। (श्रृणोत्वार्या। आर्ये! पाटलिपुत्रं मे जन्मभूमिः। गृहपतिदारकोऽहम्। संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि।)

वसन्तसेना – जुउमारा खु कला सिक्खिना अज्जेण। (सुकुमारा खलु कला शिक्षितार्येण।)

संवाहकः – अज्जए! कलेत्ति शिक्खिदा, आजीमिआ दाणिं संवुत्ता। (आर्ये! कलेति शिक्षिता, आजीविकेदानीं संवृत्ता।)

चेटी – अदिणिब्विण्णं अज्जेण पडिवअणं दिण्णं। तदो तदो?। (अतिनिर्विण्णमार्येण प्रतिवचनं दत्तम्। ततस्ततः?।)

संवाहकः – तदो अज्जए! एशे णिजगेहे आहिंडकाणं मुहादो शुणिअ अपुव्वदेशदंशणकुदूहलेण इह आगदे। इह वि मए पविशिअ उज्जइणिं एक्के अज्जे शुश्शूशिदे। जे तालिशे पिअडंशणे पिअवादी, दइअ ण कित्तेदि, अवकिदं विशुमलेदि। किं बहुणा पलंतेण। दक्खिणाए पलकेलअं विअ अत्ताणअं अवगच्छदि, शलणागअवच्छले अ। (तत आर्ये! एष निजगृह आहिण्डकानां मुखाच्छ्रुत्वाऽपूर्वदेशदर्शनकुतूहलेनेहागतः। इहापि मया प्रविश्योज्जयिनीमेक आर्यः शुश्रूषितः। यस्तादृशः प्रियदर्शनः प्रियवादी, दत्त्वा न कीर्तयति, अपकृतं विस्मरति। किं बहुना प्रलपितेन। दक्षिणतया परकीयमिवात्मानमवगच्छति, शरणागतवत्सलश्च।)

चेटीः – को दाणिं अज्जआए मणोरहाहुत्तस्स गुणाइं चोरिअ उज्जइणिं अलंकरेदि?। (क इदानीमार्याया मनोरथाभिमुखस्य गुणांश्चोरयित्वोज्जयिनीमलंकरोति?।)

वसन्तसेना – साहु हज्जे! साहु; मए वि एव्वं ज्जेव्व हिअएण मंतिदं। (साधु चेटि! साधु। मयाप्येवमेव हृदयेन मन्त्रितम्।)

चेटी – अज्ज! तदो तदो?। (आर्य! ततस्ततः?।)

संवाहकः – अज्जए! शे दाणिं अणुक्कोशकिदेहिं पदाणेहिं...। (आर्ये! स इदानीमनुक्रोशकृतैः प्रदानैः....।)

वसन्तसेना – किं उवरदविहवो संवुत्तो?। (किमुपरतविभवः संवृत्तः?।)

संवाहकः – अणाचक्खिदे ज्जेव्व कधं अज्जआऐ विण्णादं?। (अनाख्यातमेव कथमार्यया विज्ञातम्?।)

वसन्तसेना – किं एत्थ जाणीअदि?। दुल्लहा गुणा विहवा अ। अपेएसु तडाएसु बहुदरं उदअं भोदि। (किमत्र ज्ञातव्यम्?। दुर्लभा गुणा विभवाश्च। अपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति।)

चेटी – अज्ज! किंणामधेओ खु सो?। (आर्य! किंनामधेयः खलु सः)

संवाहकः – अज्जे! के दाणिं तश्श भूदलमिअंकश्श णामं ण जाणादि। शो खु शेट्ठिचत्तले पडिवशदि। शलाहणिज्जणामधेए अज्जचालुदत्ते णाम। (आर्ये! क इदानीं तस्य भूतलमृगांकस्य नाम न जानाति। स खलु श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति। श्लाघनीयनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम।)

वसन्तसेना – (सहर्षमासनादवतीर्य) अज्जस्स अत्तणकेरकं एदं गेहं?। हज्जे! देहि से आसणं। तालवेंटअं गेण्ह। परिस्सम्मो

अज्जस्स बाधेदि।

(आर्यस्यात्मीयमेतन्देहम्। चेटि! देह्यस्यासनम्। तालवृन्तकं गृहाण। परिश्रम आर्यस्य बाधते।)

(चेटी तथा करोति)

संवाहक – (स्वगतम्) कधं अज्जचालुदत्तस्स णामशंकित्तणेण ईदिने मे आदले। शाहु अज्जचालुदत्तो! शाहु, पुहवीए तुमं एक्के जीवशिञ्च शेषे उण जणे शशदि। (इति पादयोर्निपत्य) भोदु अज्जए! भोदु; आशणे णेशीददु अज्जआ। (कथमार्यचारुदत्तस्य नामसंकीर्तनेनेदृशो म आदरः?! साधु आर्यचारुदत्त! साधु, पृथिव्यां त्वमेको जीवसे। शेषः पुनर्जनः श्वसिति। भवत्वार्ये! भवतु; आसने निषीदत्वार्या।)

वसन्तसेना – (आसने समुपविश्य) अज्ज! कुदो सो धणिओ?। (आर्य! कुतः स धनिक ')।

संवाहकः –

शक्कालधणे खु शज्जणे काह ण होइ चलाचते धणे।
जे पूइदुं पि ण जाणादि शे पूआविशेशं पि जाणादि।।१५।।

(सत्कारधनः खलु सज्जनः कस्य न भवति चलाचलं धनम्।
यः पूजयितुमपि न जानाति स पूजाविशेषमपि जानाति।।)

अर्थः– माथुर – (आँखें पोंछकर, जुआरी से) अरे! दो, दो।

जुआरी– स्वामिन्! जैसे ही हम लोग 'दर्दुरक' के साथ झगड़ा करने में उलझे हुए थे, तब वह आदमी भाग गया।

माथुर – उस जुआरी की नाक घूँसे के प्रहार से टूट गयी थी। तो आओ, खून गिरने के रास्ते का पीछा करें।

(अनुसरण करके)

जुआरी– स्वामिन्! वह 'वसन्तसेना' के घर में घुस गया है।

माथुर– (तब तो) मोहरें गयीं।

जुआरी – तो राजकुल में चलकर निवेदन करते हैं।

माथुर – यह धूर्त संवाहक यहाँ से निकलकर दूसरी जगह भाग जायगा। इसलिये घेरकर ही पकड़ लें।

('वसन्तसेना' 'मदनिका' को इशारा करती है)

मदनिका–आप कहाँ से आ रहे हैं? अथवा आप कौन हैं? आप किसके पुत्र हैं? आप कौन सा व्यवसाय करके जीवन–यापन करते हैं? आप को किससे डर है?।

संवाहक– आर्या सुनें। आर्ये! पटना मेरी जन्म–भूमि है। मैं एक गृहस्थ का लड़का हूँ। देह दबा–दबा कर मैं अपनी जीविका चलाता हूँ।

वसन्तसेना– वास्तव में आपने बड़ी ही कोमल कला सीखी है।

संवाहक – आर्ये! पहले तो मैंने इसे कला मान कर ही सीखा था। किन्तु अब तो यह जीविका बन गयी है।

चेटी – आपने बहुत उदास जबाव दिया है। इसके बाद?

अर्थः–

संवाहक– इसके बाद आर्ये! अपने घर पर देश–विदेश में घूमने वालों के मुँह से इस देश के बारे में सुनकर अद्भुत देश देखने की इच्छा से यहाँ आया। यहाँ भी 'उज्जैन' में आकर मैंने एक सज्जन व्यक्ति की सेवा की। जो बड़े ही सुन्दर, मीठा बोलनेवाले, किसी को कुछ देकर भी उसके बारे में न कहने वाले तथा अपने साथ किये गये बुरे बर्ताव को भुला देने वाले हैं। अधिक कहने से क्या लाभ? सज्जनता के कारण वे अपने आपको भी दूसरों का सेवक समझते हैं। और शरण में आये हुए लोगों को प्रेम करते हैं।

चेटी – ऐसा कौन है जो आजकल आर्या वसन्तसेना के अभिलषित प्रिय आर्य चारुदत्त के गुणों को चुरा कर 'उज्जयिनी' को सुशोभित कर रहा है? अर्थात् आर्य 'चारुदत्त' के समान यहाँ दूसरा सज्जन कौन है?।

वसन्तसेना – वाह दासी! वाह! मैं भी यही मन में सोच रही थी।

चेटी — आर्य! उसके बाद?

संवाहक— आर्य! वे इस समय दयावश किये गये दान से....।

वसन्तसेना— क्या निर्धन हो गये हैं?।

संवाहक— बिना कहे ही आप कैसे समझ गयीं?

वसन्तसेना— इसमें जानना ही क्या है? गुणों एवं धन का एक स्थान पर मिलना कठिन है। जिन तालाबों का पानी पीने लायक नहीं होता उनमें जल अधिक रहता है।

चेटी— आर्य! उनका नाम क्या है?

संवाहक— आर्ये! इस समय उस पृथिवी के चन्द्रमा अर्थात् चन्द्रमा की भाँति अपने गुणों से पृथिवी पर प्रकाशित होने वाले का नाम कौन नहीं जानता? वे सेठों के चौक में रहते हैं। वे सराहनीय नाम वाले आर्य 'चारुदत्त' हैं।

वसन्तसेना— (बड़ी प्रसन्नता के साथ आसन से उतरकर) यह आप का अपना घर है। चेटी! बैठने के लिए आसन दो। (सुखाने के लिए) पंखा ले लो। आर्य को थकावट परेशान कर रही है।

(चेटी वैसा ही करती है)

संवाहक— (अपने आप) क्या आर्य 'चारुदत्त' का नाम लेने भर से ही मेरा इतना आदर हो रहा है? धन्य हो आर्य चारुदत्त! इस पृथिवी पर वास्तव में तुम अकेले जी रहे हो। बाकी मनुष्य तो केवल साँस लेते हैं। (पैरों पर गिर कर) बस करो आर्ये! बस करो आर्ये! आप आसन पर बैठें।

वसन्तसेना— (आसन पर बैठकर) श्रीमान् जी! वह आर्य चारुदत्त धनी कैसे हों?

अन्वयः— सत्कारधनः, सज्जनः, (भवति), खलु, कस्य, धनम्, चलाचलम्, न, भवति?, यः, पूजयितुम्, अपि, न, जानाति, आदर, पूजाविशेषम्, जानाति।।१५।।

शब्दार्थः— सत्कारधनः = दूसरों का आदर करना ही है धन जिसका ऐसा, सज्जनः = सज्जन, (भवति = होता है), खलु = निश्चय ही, कस्य = किसका, धनम् = धन, चलाचलम् = चञ्चल, नाशवान्, न = नहीं, भवति = होता है?, यः = जो, पूजयितुम् = (दूसरों का) सम्मान करना, अपि = भी, न = नहीं, जानाति = जानता है, अपि = क्या, सः = वह, पूजाविशेषम् = आदर विशेष को, जानाति = जानता है?।।

अर्थः—

संवाहक— दूसरों का आदर करना ही सज्जनों का धन होता है? किसका धन नाशवान् नहीं होता है? अर्थात् सभी लोगों का धन नश्वर होता है। जो आदमी दूसरों का आदर भी करना नहीं जानता है, वह क्या आदर के विशेष तरीके को जानता होगा? अर्थात् नहीं जानता है।।१५।।

टीका— सत्कारः = अन्येषां सम्मानम् एव धनम् = सम्पत्तिः यस्य सः; सज्जनः = सत्पुरुषः; भवतीति शेषः, खलु = निश्चयम्, कस्य = जनस्य; धनम्; चलाचलम् = चञ्चलम्, नाशशालि इत्यर्थः; न भवति = नास्ति; यः = जनः, पूजयितुम् = सम्यग्रूपेण सत्कर्तुमपि, न जानाति = न अवबोधयति; अपि = किम्; सः = जनः, पूजायाः = सत्कारस्य विशेषम् = प्रकारभेदम्, जानाति = अवगच्छति? न जानाति इत्यर्थः।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार तथा वैतालीय छन्द है। छन्द का लक्षण— षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च विषमे स्युर्निरन्तराः। न समाऽत्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः।।

वसन्तसेना— तदो तदो (ततस्ततः ?।)

संवाहकः— तदो तेण अज्जेण शवित्ती पलिचालके किदो म्हि। चालित्तावशेशे अ तस्सिं जूदोवजीवी म्हि शंवुत्ते। तदो भाअधे ोअविशमदाए दशशुवण्णअं जूदे हालिदं। (ततस्तेनार्येण सवृत्तिः परिचारकः कृतोऽस्मि। चारित्र्यावशेषे च तस्मिन्द्यूतोपजीव्यस्मि संवृत्तः। ततो भागधेयविषमतया दशसुवर्णं द्यूते हारितम्।)

माथुरः— उच्छादिदो म्हि, मुसिदो म्हि। (उत्सादितोऽस्मि, मुषितोऽस्मि।)

संवाहकः— एदे दे शहिअजूदिअलां में अणुशंधअति। शंपदं शुणिअ अज्जआ पमाणं। (एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ मामनुसंधत्तः। साम्प्रं श्रुत्वार्या प्रमाणम्।)

वसन्तसेना— मदणिए! वासपादवविसंदुलदाए पक्खिणो इदो तदो वि आहिडंति। हञ्जे! ता गच्छ। एदाणं सहिअजूदिअराणं, अअं अज्जो ज्जेव पडिवादे त्ति, इमं हत्थाभरणअं तुमं देहि। (मदनिके! वासपादपे संष्ठुलतया पक्षिण इतस्ततोऽप्याहिण्डन्ते। चेटि! तद्गच्छ। एतयोः सभिकद्यूतकरयोः, अयमार्य एव प्रतिपादयतीति, इमं हस्ताभरणं त्वं देहि।)

(इति हस्तात्कटकमाकृष्य चेट्याः प्रयच्छति)

चेटी— (गृहीत्वा) जं अज्जआ आणवेदि। (यदार्याज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता)

माथुरः— उच्छादिदो म्हि, मुसिदो म्हि। (उत्सादितोऽस्मि, मुषितोऽस्मि।)

चेटी — जधा एदे उद्धं पेक्खंति, दीहं णीससंति, विसूरअंति अहिलहंति अ दुअ। रणिहिदलोअणा, तधा तक्केमि, एदे दे सहिअजूदिअरा हुविवस्संति। (उपगम्य) अज्ज! वंदामि। (यथैतावूर्ध्वं प्रेक्षेते, दीर्घं निश्वसतः विचारयत अभिलपतश्च द्वारनिहितलोचनौ, तथा तर्कयामि, एतौ तौ सभिकद्यूतकरौ भविष्यतः आर्यं वन्दे।)

माथुरः — सुहं तुए होदु। (सुखं तव भवतु।)

चेटी — अज्ज! कदमो तुम्हाणं सहिओ? (आर्य! कतरो युवयोः सभिकः?।)

माथुरः —

कस्स तुहुं तणुमज्झे अहरेण रददट्ठदुव्विणीदेण।
जम्पसि मणोहलवअणं आलोअंती कडक्खेण।।१६।।

णत्थि मम विहवो, अण्णत्त व्वज।

(कस्य त्वं तनुमध्ये अधरेण रतदष्टदुर्विनीतेन।
जल्पसि मनोहरवचनमालोकयन्ती कटाक्षेण।।

नास्ति मम विभवः, अन्यत्र व्रज।)

अर्थः—

वसन्तसेना— उसके बाद?

संवाहक— उसके बाद उन आर्य ने मुझे वेतन पर नौकर रख लिया। उनके निर्धन हो जाने पर मैं जुआ खेलकर अपनी जीविका चलाने वाला हो गया। इसके बाद भाग्य के साथ न देने के कारण जुए में दस सो। की मोहरें हार गया।

माथुर— (मैं तो) मर गया, लूट लिया गया।

संवाहक— ये दोनों सभिक और जुआरी मुझे ढूँढ़ रहे हैं। अब मेरी कहानी सुनकर आ: ही निर्णायक हैं। (जैसा कहें वैसा हो)।

वसन्तसेना— मदनिके! बसेरावाले पेड़ के ठूँठ हो जाने पर चिड़ियाँ इधर-उधर भटकर ही हैं। चेटी! तो जाओ। इन दोनों सभिक और जुआरी को हाथ का यह कंगन यह कह कर तुम दे दो कि इसे आर्य संवाहक ही दे रहे है।।

(ऐसा कहकर हाथ से कंगन उतार कर चेटी को ती है)

चेटी — (लेकर) जो आर्या आज्ञा देती हैं। (निकल जाती है)

माथुर — मैं तो मर गया, लुट गया।

चेटी — जिस तरह ये दोनों ऊपर की ओर देखते हैं, लम्बी आहें भर रहे हैं, (मेरे) दरवाजे पर आँखें गड़ाये आपस में बातें कर रहे हैं, इससे अनुमान करती हूँ कि ये दोनों वे ही सभिक और जुआरी होंगे। (समीप जाकर) आर्य! प्रणाम करती हूँ।

माथुर — तुम्हारा भला हो।

चेटी — आर्य! आप दोनों में कौन सभिक है?

अन्वयः— हे तनुमध्ये! कटाक्षेण, आलोकयन्ती, त्वम्, रतदष्टदुर्विनीतेन, अधरेण, मनोहरवचनम्, कस्य, जल्पसि।।१६।।

शब्दार्थः— हे तनुमध्ये = हे पतली कमर वाली स्त्री! कटाक्षेण = टेढ़ी आँखों से, आलोकयन्ती = देखती हुई, त्वम् = तुम, रतदष्टदुर्विनीतेन = सम्भोग के समय में काटे गये एवं धृष्ट, अधरेण = ओठ से, मनोहरवचनम् = मन को लुभाने वाले वचन, कस्य = किसको, जल्पसि = बोल रही हो।।

अर्थः— माथुर – हे पतली कमर वाली स्त्री? टेढ़ी आँखों से देखती हुई तुम सम्भोग के समय में काटे गये धृष्ट ओष्ठ से मन को लुभाने वाले वचन किससे बोल रही हो?।।१६।।

मेरे पास धन नहीं है। दूसरी जगह जाओ।

टीका— "आर्य! कतरः युवयोः सभिकः?" इति मदनिकायाः वचनं श्रुत्वा माथुरः पृच्छति–तनु = क्षामम् मध्यम् = उदरम् यस्याः तत्सम्बुद्धौ; कटाक्षेण = वक्रावलोकनेन; आलोकयन्ती = पश्यन्ती; त्वम्; रते = सम्भोगे दष्टः = कृतदन्तक्षतः एवं दुर्विनीतः = धृष्टः रतिसूचकत्वात् तेन; अधरेण = निम्नौष्ठेन; मनोहरवचनम् = हृदयाकर्षकं वाक्यम्, कस्य = कस्मै प्रतीत्यर्थः जल्पसि = वदसि।।१६।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।

चेटी – जइ ईदिसाइं णं मंतेसि, ता ण होसि जूदिअरो। अत्थि को वि तुम्हाणं धारओ?। (यदीदृशानि ननु मन्त्रयसे, तदा न भवसि द्यूतकरः। अस्ति कोऽपि युष्माकं धारकः?।)

माथुरः – अत्थि, दशसुवण्णं धालेदि। किं तस्स?। (अस्ति, दशसुवर्णं धारयति। किं तस्य?।)

चेटी – तस्स कारणादो अज्जआ इमं हत्थाभरणं पडिवादेदि। णहि णहि, सो ज्जेव पडिवादेदि। (तस्य कारणादार्येद हस्ताभरणं प्रतिपादयति। नहि नहि, स एव प्रतिपादयति।)

माथुरः– (सहर्षं गृहीत्वा, अले, भणेशि तं कुलपुत्तं 'भूदं तुए गंथु। आअच्छ, पुणो जूदं रमह'। (अरे, भणसि तं कुलपुत्रम् भूतस्तव ग्रन्थः। आगच्छ, पुनर्द्यूतं रमस्व'।)

(इति निष्क्रान्तौ)

चेटी (वसन्तनामुपसृत्य) अज्जए! पडितुट्टा गदा सहिअजूदिअरा। (आर्ये! परितुष्टौ गतौ सभिकद्यूतकरौ।)

वसन्तसेना– ता गच्छदु अज्ज बंधुअणो समस्ससदु। (तद्गच्छतु, अद्य बन्धुजनः समाश्वसितु।)

संवाहकः– अज्जए! जइ एव्वं ता इअं कला पलिअणहत्थगदा कलीअदु। (आर्ये! यद्येवं तदियं कला परिजनहस्तगता क्रियताम्।)

वसन्तसेना– अज्ज! जस्स कारणादो इअं कला सिक्खीअदि, सो ज्जेव अज्जेण सुस्सूसिदपुव्वो सुस्सूसिदव्वो। (आर्य! यस्य कारणादियं कला शिक्ष्यते, स एवार्येण शुश्रूषितपूर्वः शुश्रूषितव्यः।)

संवाहकः–(स्वगतम्) अज्जआए णिउअं पच्चादिट्टो म्हि। कधं पच्चुवकलिश्शं। (प्रकाशम्) अज्जए! अहं एदिणा जूदिअलावमाणेण शक्कशमणके हुविश्शं। ता शंवाहके जूदिअले शक्कशमणके शंवुत्तेति शुमलिदव्वा अज्जआए एदे अक्खलु। (आर्यया निपुणं प्रत्यादिष्टोऽस्मि। कथं प्रत्युपकरिष्ये?। आर्ये! अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणको भविष्यामि। तत्संवाहको द्यूतकरः शाक्यश्रमणकः संवृत्त इति स्मर्तव्यान्यार्ययैतान्यक्षराणि।)

वसन्तसेना – अज्ज! अलं साहसेण। (आर्य! अलं साहसेन।)

संवाहकः – अज्जए! कले णिच्चए, (इति परिक्रम्य)

जूदेण तं कदं मे जं वीहत्थं जणश्श शव्वश्श।
एणहिं पाअडशीशे णलिन्दमग्गेण विहलिश्शं।।१७।।

(आर्ये! कृतो निश्चयः),

द्यूतेन तत्कृतं मम यद्विहस्तं जनस्य सर्वस्य।
इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि।।)

अर्थः— चेटी – यदि ऐसी बातें करते हो तो तुम जुआरी नहीं हो। क्या तुम लोगों का कोई ऋणी भी है?।

माथुर– हाँ है। दस सोने की मोहरों का कर्जदार (ऋणी है।) उसका क्या?।

चेटी– उसके कारण से आर्या वसन्तसेना ने यह हाथ का कंगन दिया है। नहीं, नहीं वही आपका ऋणी दे रहा है।

माथुर– (बड़ी प्रसन्नता के साथ लेकर) अरी, उस कुलीनपुत्र से कह देना तुम्हारा वायदा पूरा हो गया। आओ फेर जुआ खेलें।

(ऐसा कह कर वे दोनों चले जाते हैं)

चेटी— (वसन्तसेना के पास जाकर) आर्ये! वे दोनों सभिक और जुआरी खुश होकर चले गये।

वसन्तसेना— तो आप भी जायँ और आज अपने परिवारवालों एवं भाई–बन्धुओं को सान्त्वना दें।

संवाहक— आर्ये! यदि ऐसा है तो यह शरीर दबाने की कला अपनी सेविका को मुझसे सिखला देवा दें अर्थात् आप कहें तो मैं मदनिका को देह दबाने की कला सिखला दूँ।

वसन्तसेना— आर्य! जिस चारुदत्त के कारण आपने यह कला सीखी है और जिस की आपने पहले सेवा भी की है, उन्हीं की अब भी आपको सेवा करनी चाहिए।

संवाहक— (अपने आप) आर्या वसन्तसेना ने बड़ी चतुराई के साथ मेरी बात अस्वीकृत कर दी। तो मैं कैसे इनके उपकार का बदला चुकाऊँगा? (प्रकट रूप में) आर्ये जुआरी के द्वारा किये गये इस अपमान के कारण मैं बौद्ध संन्यासी होऊँगा। तो 'जुआरी संवाहक बौद्ध संन्यासी हो गया है' इन अक्षरों को आप याद रखना।

वसन्तसेना— आर्य! इतना साहस मत करना।

अन्वयः— द्यूतेन, मम, तत्, कृतम्, यत्, सर्वस्य, जनस्य, (समक्षम्) विहस्तम्, इदानीम्, प्रकटशीर्षः, नरेन्द्रमार्गेण, विहरिष्यामि।।१७।।

शब्दार्थः— द्यूतेन = जुए के द्वारा, मम = मेरा, तत् = वह, कृतम् = किया गया, यत् = जो, सर्वस्य = सब, जनस्य = जनों के (समक्षम् = सामने) विहस्तम् = अपमान (हुआ), इदानीम् = अब, प्रकटशीर्षः = ऊँचा शिर वाला (होकर), नरेन्द्रमार्गेण = सड़कों से, विहरिष्यामि = घूमूँगा।।

अर्थः — संवाहक — आर्ये! मैंने निश्चय कर लिया है। (घूम कर)

जुए के कारण मैं सभी आदमियों के सामने अपमानित हुआ। अब ऋण चुक जाने के बाद मैं सड़कों पर शिर ऊँचा करके अर्थात् निर्भय होकर घूमूँगा।।१७।।

टीका— द्यूतेन = द्यूतक्रीडया इत्यर्थः; मम = द्यूतव्यसनिनः संवाहकस्य; तत् कृतम् = विहितम्; यत् सर्वस्य = निखिलस्य; जनस्य = लोकस्य समक्षमिति शेषः; विगतः = किञ्चित्कर्तुमशक्तः हस्तः = करः यस्मिन् तत् विहस्तम् = पराभूतम्; अवमाननमिति यावत्; इदानीम् = द्यूतदेयदशसुवर्णे दत्ते सतीत्यर्थः; प्रकटम् = उन्नमितम् शीर्षम् = शिरः यस्य सः, निर्भयः सन् इति भावः; नरेन्द्रमार्गेण = राजमार्गेण; विहरिष्यामि = भ्रमिष्यामि।।१७।।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द है आर्या।

(नेपथ्ये कलकलः)

संवाहकः — *(आकर्ण्य)* अले, किं णणेदं?। *(आकाशे)* किं भणाध-'एशे खु वशंतशेणअ : खुंटमोडके णाम दुट्टहत्थी विअलेदि' त्ति?। अहो, अज्जआए गंधगअं पेक्खिश्शं गदुअ। अहवा किं मम एदिणा?। जधाववशिदं अणुचिट्टिश्शं। (अरे, किं न्विदम्?। किं भणत–'एष खलु वसन्तसेनायाः खुण्टमोडको नाम दुष्टहस्ती विचरति' इति?। अहो, आर्याया गन्धगजं प्रेक्षिष्ये गत्वा। अथवा किं ममैतेन? यथाव्यवसितमनुष्ठास्यामि।) (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशत्य पटीक्षेपेण प्रहृष्टो विकटोज्ज्वलवेषः कर्णपूरकः)

कर्णपूरकः— *कहिं कहिं अज्जआ?।* (कुत्र कुत्रार्या?।)

चेटी— दुम्मणुस्स किं ते उव्वेअकालणं, जं अग्गदो वट्टिदं अज्जअं ण पेक्खसि। (दुर्मनुष्य! किं त उद्वेगकारणम्! यदग्रतोऽवस्थितामार्यां न प्रेक्षसे।)

कर्णपूरकः— *(दृष्ट्वा) अज्जए! वंदामि। (आर्ये! वन्दे।)*

वसन्तसेना— करणऊरअ परितुट्टमुहो लक्खीअसि। ता किं ण्णेदं?। (कर्णपूरक! परितुष्टमुखो लक्ष्यसे। तत्किं न्विदम्?।)

कर्णपूरकः— *(सविस्मयम्) अज्जए! वंचिदासि, जाए अज्ज कण्णऊरअस्स परक्कमो ण दिट्ठो। (आर्ये! वञ्चितासि, ययाद्य कर्णपूरकस्य पराक्रमो न दृष्टः।)*

वसन्तसेना— कण्णऊरअ! किं किं? (कर्णपूरक! किं किम्?।)

कर्णपूरकः— *सुणादु अज्जआ जो सो अज्जआए खुंटमोडओ णाम दुट्टहत्थी, सो आगणत्थंभं भंजिअ महमेत्थं वावादिअ महंतं संखोहं करंतो राअमग्गं ओदिण्णो। तदो एत्थंतरे उग्घुट्टं जणेण—(श्रृणोत्वार्या। यः स आर्यायाः खुण्टमोटको नाम*

दुष्टहस्ती स आलानस्तम्भं भङ्क्त्वा महामात्रं व्यापाद्य महान्तं संक्षोभं कुर्वन् राजमार्गमवतीर्णः। ततोऽन्तरे उद्घुष्टं जनेन)

अवरोध वालअजणं तुरिदं आरुहध वुक्खपासादं।
किं ण हु पेक्खध पुरदो दुट्टो हत्थी इदो एदि।।१८।।

'अपनयत बालकजनं त्वरितमारोहत वृक्षप्रासादम्।
किं न खलु प्रेक्षध्वं पुरतो दुष्टो हस्तीत एति।।

(पर्दे के पीछे कोलाहल)

अर्थः— संवाहक — (सुनकर) अरे! यह क्या है? (आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो—'वसन्तसेना' का यह 'खुण्टमोडक' नामक मतवाला हाथी घूम रहा है। अतः जाकर आर्या वसन्तसेना के मतवाले हाथी को देखूँगा। अथवा मेरा इससे क्या मतलब? मैंने तो जो सोचा है वही करूँगा। (ऐसा कह कर चला जाता है)।

(इसके बाद बिना पर्दा गिराये ही प्रसन्न एवं खूब सफेद वेष वाला 'कर्णपूरक' प्रवेश करता है।)

कर्णपूरक— आर्या वसन्तसेना कहाँ हैं, कहाँ हैं?।

चेटी— रे दुर्जन! तुम्हारी घबराहट का क्या कारण है जो सामने ही बैठी हुई आर्या को नहीं देख रहे हो?

कर्णपूरक— (देखकर) आर्ये प्रणाम करता हूँ।

वसन्तसेना — कर्णपूरक! तुम बड़े प्रसन्न मुख दिखाई पड़ते हो? तो यह क्या बात है?

कर्णपूरक — (विस्मय के साथ) आर्या वञ्चित रह गयीं क्योंकि तुमने आज मेरा पराक्रम नहीं देखा।

वसन्तसेना — कर्णपूरक क्या बात है? क्या बात?

कर्णपूरक — आर्या सुनें! वह जो आपका 'खुण्ट मोडक' नाम का दुष्ट हाथी है वह हाथी बाँधने के खूँटे को तोड़ कर महावत को मार कर घोर उपद्रव को मचाते हुए सड़क पर उतर आया। उसके बाद लोग चिल्लाने लगे—

अन्वयः— बालकजनम्, अपनयत, वृक्षप्रासादम्, त्वरितम्, आरोहत, किम्, न, खलु, प्रेक्षध्वम्, पुरतः, दुष्टः, हस्ती, इतः, एति ।१८।

शब्दार्थः— बालकजनम् = बच्चों को, अपनयत = हटालो, वृक्षप्रासादम् = पेड़ों एवम् घरों पर, त्वरितम् = जल्द, आरोहत = चढ़ जाओ, किम् = क्या, न खलु = नहीं, प्रेक्षध्वम् = देख रहे हो, पुरतः = सामने से, दुष्टः = बदमाश, हस्ती = हाथी, इतः = इधर, एति = आ रहा है।

अर्थः— बच्चों को रास्ते से हटा लो, जल्दी ही पेड़ों एवं घरों पर चढ़ जाओ। क्या नहीं देख रहे हो कि दुष्ट हाथी सामने से इधर ही आ रहा है।।१८।।

टीका— बालकजनम् = शिशुजनम्; अपनयत = दूरं नयत; राजमार्गादिति शेषः; वृक्षश्च प्रासादश्च इति वृक्षप्रासादम् = वृक्षांश्च गृहाग्रञ्च; त्वरितम् = झटिति; आरोहत; किम् न खलु प्रेक्षध्वम्? = पश्यथ? यूयमिति शेषः; पुरतः = अग्रतः; दुष्टः = क्रूरः; हस्ती = गजः; इतः = एतस्यां दिशि; एति = आगच्छति।।१८।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।।१८।।

अपि अ—

विचलइ णेउरजुअलं छिज्जंति अ मेहला मणिक्खइआ।
वलआ अ सुन्दरदरा रअणंकुरजालपडिबद्धा।।१९।।

अपि च,-

विचलति नुपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नांकुरजालप्रतिबद्धाः।।

अन्वयः— नुपुरयुगलम्, विचलति, मणिखचिताः, मेखलाः, रत्नांकुरजालप्रतिबद्धाः, सुन्दरतराः, वलयाः, च, छिद्यन्ते।।१९।

शब्दार्थः— नुपुरयुगलम् = पायजेब का जोड़ा, विचलति = गिर रहा है, मणिखचिताः = मणियों से जड़ी हुई मेखलाः = करधनियां, रत्नांकुरजालप्रतिबद्धाः = छोटे–छोटे रत्नों से मढ़े हुए, सुन्दरतराः = अच्छे–अच्छे, वलयाः = कंगन, च = भी, छिद्यन्ते = टूट रहे हैं।

और भी–

अर्थः– (हाथी के डर से भागती हुई स्त्रियों के) पाजेब का जोड़ा गिर रहा है, मणियों से जड़ी हुई मेखलाएँ तथा छोटे–छोटे रत्नों से मढ़े हुए अच्छे–अच्छे कंगन टूट रहे हैं।।१६।।

टीका– (गजभयात् पलायनपराणां नारीणां गमनवेगात्) नूपुरयुगलम् = चरणकटकयुगलम्; (चरणेभ्यः) विचलति = भ्रंशते; मणिभिः = रत्नैः खचिताः = जटिताः; मेखलाः = काञ्चयः; रत्नांकुराणाम् = लघुरत्नानाम् जालैः = समूहैः प्रतिबद्धाः = अनुबद्धाः, विभूषिताः इत्यर्थः; सुन्दरतराः = रमणीयाः; वलयाः = कटकाः च; छिद्यन्ते = विगीर्यन्ते;।।१६।।

यहाँ आर्या छन्द है।

तदो तेण दुट्टहत्थिणा कलचरणरदणेहिं फुल्लणलिणिं विअ णअरिं उज्जइणिं उद्दावगाहमाणेण समासादिदो परिव्वाजओ। तच्च परिब्भट्टदंडकुंडिआभाअणं सीअरेहिं सिंचिअ दंतंतरे क्खित्तं पेक्खिअ पुणो वि उग्घुट्टं जणेण-'हा परिव्वाजओ वावादीअदि' त्ति।

ततस्तेन दुष्टहस्तिना करचरणरदनैः फुल्लनलिनीमिव नगरीमुज्जयिनीमवगाहमानेन समासादितः परिव्राजकः। तं च परिभ्रष्टदण्डकुण्डिकाभाजनं शीकरैः सिक्त्वा दन्तान्तरे क्षिप्तं प्रेक्ष्य पुनरप्युद्घुष्टं जनेन 'हा, परिव्राजको व्यापाद्यते' इति।)

वसन्तसेना– **(ससंभ्रमम्) अहो पमादो, अहो पमादो। (अहो प्रमादः, अहो प्रमादः।)**

कर्णपूरकः– **अलं संभमेण; सुणादु दाव अज्जआ। तदो विच्छिण्णविसंठुलसिंखलाकलावं उव्वहंतं दंतंतरपरिग्गहिदं परिव्वाजअं उव्वहंतं तं पेक्खिअ कण्णऊरएण मए, णहि णहि, अज्जआए अण्णपिंडउट्टेण दासेण, वामचलणेण जूदलेक्खअं उग्घुसिअ तुरिदं आवणादो लोहदंडं गेण्हिअ आआरिदो सो दुट्टहत्थी।** (**अलं संभ्रमेण; श्रृणोतु तावदार्या। ततो विच्छिन्नविसंष्ठुलश्रृंखलाकलापमुद्वहन्तं दन्तान्तरपरिगृहीतं परिव्राजकमुद्वहन्तं तं प्रेक्ष्य कर्णपूरकेण मया-नहि नहि, आर्याया अन्नपिण्डपुष्टेन दासेन, वामचलनेन द्यूतखेलकमुद्घुष्योद्घुष्य त्वां तमापणाल्लोहदण्डं गृहीत्वाकारितः स दुष्टहस्ती।)**

वसन्तसेना– **तदो तदो?।** (**ततस्ततः?।**)

कर्णपूरकः–

आहणिऊण सरोसं तं हत्थिं विज्झसैलसिहराभं।
मोआविओ मए सो दंतंतरसंठिओ परिव्वाजओ।।२०।।
(आहत्य सरोषं तं हस्तिनं विन्ध्यशैलशिखराभम्।
मोचितो मया स दन्तान्तरसंस्थितः परिव्राजकः।।)

अर्थः– इसके बाद अपने सूंड, पैर और दाँतों से, फूली हुई कमल की लता की भाँति, 'उज्जियनी' नगरी को रौंदते हुए उस दुष्ट हाथी ने एक संन्यासी को पकड़ लिया। संन्यासी का दण्ड कमण्डलु और खाने का खप्पड़ (जिसमें भोजन खाते हैं) जमीन पर गिर गया। जल की बूँदों से उस संन्यासी को खींच कर हाथी ने उसको अपने दाँतों के बीच दबा लिया। संन्यासी को हाथी के मुँह में फँसा हुआ देख कर फिर लोगों ने चिल्लाना शुरू किया- हाय! संन्यासी मारा जा रहा है।

वसन्तसेना– (घबराहट के साथ) अहो! अनर्थ हुआ।

कर्णपूरक– घबराएं नहीं। आप सुनें तो। तब टूटी–फूटी एवं अस्त–व्यस्त जञ्जीरों को बाँधे हुए और दाँतों के बीच में पकड़े गये संन्यासी को उठाए हुए उस हाथी को देख कर मुझ 'कर्णपूरक' ने–नहीं नहीं, आपके अन्न के कौर से पले हुए इस सेवक ने जुआरी (संवाहक, जो संन्यासी होकर हाथी के दाँत में दबा है) को बार बार डाढ़स बँधा कर तुरन्त बाजार से लोहे का एक छड़ लेकर बाईं ओर पैतरा बदल करके उस दुष्ट हाथी को ललकारा।

अन्वयः– विन्ध्यशैलशिखराभम्, तम्, हस्तिनम्, सरोषम्, आहत्य, मया, दन्तान्तरसंस्थितः, सः, परिव्राजकः, मोचितः।।२०।।

शब्दार्थः– विन्ध्यशैलशिखराभम् = विन्ध्याचल पहाड़ की चोटी की भाँति आकारवाले, तम् = उस, हस्तिनम् = हाथी को, सरोषम् = क्रोधपूर्वक, आहत्य = मारकर, मया = मेरे द्वारा, दन्तान्तरसंस्थितः = दाँतों के बीच में दबा हुआ, सः = वह, परिव्राजकः = बौद्धसंन्यासी, मोचितः = छुड़ाया गया।।

अर्थः— कर्णपूरक — विन्ध्याचल पहाड़ की चोटी की भाँति आकार वाले उस हाथी पर क्रोधपूर्वक प्रहार करके मंच हाथी के दाँतों के बीच दबे हुए उस संन्यासी को छुड़ा लिया।।२०।।

टीका— विन्ध्यशैलस्य = विन्ध्यपर्वतस्य शिखरस्य = श्रृंगस्य आभा = कान्तिः आकृतिः इति भावः, इव आभा यस्य तम्, म = पूर्वकथितं मदमत्तम्, हस्तिनम् = गजम्; सरोषम् = सकोपम् यथा तथा; आहत्य = लोहदण्डेन प्रहृत्य, मया = कर्णपूरकेण, दन्तान्तरे = दन्तमध्ये संस्थितः = वर्तमानः गृहीतः इत्यर्थः; सः = पूर्व निर्दिष्टः वराकः; परिव्राजकः = बौद्धभिक्षुः मोचितः = मुक्तः कृतः।।२०।।

इस श्लोक में आर्या छन्द का ही एक प्रकार गीति छन्द है,— लक्षण— आर्यापूर्वार्धसमं द्वितीयमपि भवति यत्र सगणः। छन्दोविदस्तदानीं गीतिं तामभृतवाणि भाषन्ते।।२०।।

वसन्तसेना— सुट्ठु दे किदं; तदो तदो?। (सुष्ठु त्वया कृतम्; ततस्ततः?।)

कर्णपूरकः—तदो अज्जए! साहु रे कण्णऊरअ! साहुवेत्ति एत्तिअमेत्तं भणंती, विसमभरक्कंता विअ णावा, एक्कदा पल्हत्था सअला उज्जइणी आसि। तदो अज्जए! एक्केण सुण्णाइं आहरणट्ठाणाइं परामुसिअ उद्धं पेक्खिअ दीहं णीससिअ अअं पावारओ मम उवरि क्खित्तो। (तत आर्ये! 'साधु रे कर्णपूरक! साधु' इत्येतावन्मात्रं भणन्ती, विषमभराक्रान्ता इव नौः एकतः परावृत्ता सकलोज्जयिन्यासीत्। तत आर्ये! एकेन शून्यान्याभरणस्थानानि परामृश्य ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्यायं प्रावारको ममोपरि क्षिप्तः।)

वसन्तसेना— कण्णऊरअ! जाणीहि दाव किं एसो जादीकुसुमवासिदो पावारओ ण वेत्ति। (कर्णपूरक! जानीहि तावत्किमेष जातीकुसुमवासितः प्रावारको न वेति।)

कर्णपूरकः— अज्ज्ए! मदगंधेण सुट्ठु तं गंधं ण जाणामि। (आर्ये! मदगन्धेन सुष्ठु तं गन्धं न जानामि।)

वसन्तसेना— णामं पि दाव पेक्ख। (नामापि तावत्प्रेक्षस्व।)

कर्णपूरकः— इमं णामं, अज्जआ एव्व वाएदु। (इदं नाम, आर्यैव वाचयतु।) (इति प्रावारकमुपनयति)

वसन्तसेना— अज्जचारुदत्तस्स। (आर्यचारुदत्तस्य।) (इति वाचयित्वा सस्पृहं गृहीत्वा प्रावृणोति।)

चेटी— कण्णऊरअ! सोहदि अज्जआए पावारओ। (कर्णपूरक! शोभते आर्यायाः प्रावारकः।)

कर्णपूरकः— आं, सोहदि अज्जआए पावारओ। (आं, शोभत आर्यायाः प्रावारकः।)

वसन्तसेना— *कण्णऊरअ! इदं दे पारितोसिअं। (कर्णपूरक! इदं ते पारितोषिकम्।) (इत्याभरणं प्रयच्छति)*

कर्णपूरकः— (शिरसा गृहीत्वा प्रणम्य च) संपदं सुट्ठु सोहदि अज्जआए पावारओ। (साम्प्रतं सुष्ठु शोभत आर्यायाः प्रावारकः।)

वसन्तसेना— कण्णऊरअ! एदाए वेलाए कहिं अज्जचारुदत्तो?। (कर्णपूरक! एतस्यां वेलायां कुत्रार्यचारुदत्तः?।)

कर्णपूरकः— एदेण ज्जेव मग्गेण पवुत्तो गेहं। (एतेनैव मार्गेण प्रवृत्तो गेहम्।)

वसन्तसेना— हज्जे! उवरिदणं अलिंदअं आरुहिअ अज्जचारुदत्तं पेक्खेम्ह। (चेटि! उपरितनमलिन्द— कमारुह्यार्यचारुदत्तं पश्यामः।)

अर्थः—

वसन्तसेना— तुमने बड़ा अच्छा किया। उसके बाद?

कर्णपूरक— इसके बाद आर्ये! 'वाह कर्णपूरक! वाह!' केवल यही कहती हुई, काफी बोझ से एक तरफ दबी हुई नौका की भाँति सम्पूर्ण 'उज्जयिनी' की जनता एक ओर ही इकट्ठी हो गयी (अर्थात् मुझको घेर लिया)। तब आर्ये! एक नागरिक चारुदत्त ने अपने आभूषण पहनने के खाली अंगों को छूकर ऊपर देखकर, लम्बी साँस लेकर यह दुपट्टा मेरे ऊपर फेंक दिया।

वसन्तसेना— कर्णपूरक! देखो तो, क्या यह दुपट्टा चमेली के फूलों से सुवासित हैं अथवा नहीं?।

कर्णपूरक— आर्ये! (अपनी शरीर में लिपटे हुए हाथी के) मद की गन्ध के कारण चमेली की महक को ठीक से नहीं जान पा रहा हूँ।

वसन्तसेना — तो (इस पर लिखा हुआ) नाम ही देखो।

कर्णपूरक — इस नाम को आर्या ही पढ़ें (ऐसा कह कर दुपट्टा दे देता है)

वसन्तसेना — आर्य 'चारुदत्त' का नाम है। (यह पढ़कर लालसा पूर्वक लेकर ओढ़ लेती है)

चेटी – कर्णपूरक! आर्या को यह दुपट्टा अच्छा लग रहा है?

कर्णपूरक – हाँ यह दुपट्टा आर्या के शरीर पर अच्छा लगता है।

वसन्तसेना – कर्णपूरक! यह तुम्हें ईनाम है। (ऐसा कह कर आभूषण देती है)।

कर्णपूरक – (झुके शिर से लेकर और प्रणाम करके) अब आपका दुपट्टा बहुत अच्छा लग रहा है।

वसन्तसेना – कर्णपूरक! इस समय आर्य 'चारुदत्त' कहाँ होंगे?

कर्णपूरक – इसी रास्ते से घर जा रहे हैं।

वसन्तसेना – चेटी! (आओ) ऊपर वाली अटारी पर चढ़कर आर्य 'चारुदत्त' को देखें।

(इति निष्कान्ताः सर्वे)

इति द्यूतकरसंवाहको नाम द्वितीयोऽंकः।

(सब निकल जाते हैं)।

द्यूतकरसंवाहक नामवाला दूसरा अंक समाप्त।

तृतीयोऽंकः

(ततः प्रविशति चेटः)

चेटः–

सुअणे खु भिच्चाणुकपके शामिए णिद्धणके वि शोहदि।
पिशुणे उण दव्वगव्विदे दुक्कले क्खु पलिणामदालुणे।।१।।
सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धकोऽपि शोभते।
पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करः खलु परिणामदारुणः।।

अन्वयः– भृत्यानुकम्पकः, सुजनः, स्वामी, निर्धनकः, अपि, (सन्), खलु, शोभते, पुनः, द्रव्यगर्वितः, पिशुनः, दुष्करः, परिणामदारुणः, खलु, (भवति)।।१।।

शब्दार्थः– भृत्यानुकम्पकः = नौकरों पर दया करने वाला, सुजनः = सज्जन, स्वामी = मालिक, निर्धनकः = निर्धन, अपि = भी, (सन् = होता हुआ), खलु = निश्चय ही, शोभते = शोभित होता है, पुनः = किन्तु, द्रव्यगर्वितः = धन के मद में चूर, पिशुनः = खल, दुष्ट, दुष्करः = दुःख से सेवा करने के योग्य, परिणामदारुणः = अन्त में भयंकर, खलु = अवश्य ही, (भवति = होता है)।

(इसके बाद चेट 'वर्धमानक' प्रवेश करता है)

अर्थः–

चेट– नौकरों पर दया करने वाला सज्जन मालिक निर्धन रहने पर भी सुखदायी (शोभित) होता है। किन्तु धन के मद में चूर दुष्ट मालिक दुःख से सेवा करने योग्य तथा अन्त में भयंकर होता है।।१।।

टीका– भृत्यानाम् = सेवकानाम् अनुकम्पकः = दयावान्; सुजनः = सज्जनः; स्वामी = प्रभुः; निर्धनकः = धनहीनः, अपि सन्; खलु = निश्चितम्; शोभते = राजते; पुनः = किन्तु; द्रव्येण = धनेन, धनाधिक्येन इत्यर्थः गर्वितः = दर्पयुक्तः; पिशुनः = खलः; दुःखेन = आयासेन क्रियते = सेव्यते इति दुष्करः, परिश्रमसेवनीयः इत्यर्थः; तथा परिणामे = अन्तकाले दारुणः = भयंकरः; खलु = अवश्यं भवतीतिः।।१।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार एवं वैतालीय छन्द है।

अवि अ,-

शश्शपलक्कबलद्दे ण शक्कि वालिदुं
अण्णपशत्तकलकत्तेण शक्कि वालिदुं।
जूदपशत्तमणुश्शे ण शक्कि वालिदुं
जे वि शहाविअदोशे ण शक्कि वालिदुं।।२।।

अपि च,-

सस्यलम्पटबलीवर्दो न शक्यो वारयितु-
मन्यकलत्रप्रसक्तो न शक्यो वारयितुम्।
द्यूतप्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितुं
योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम्।।

अन्वयः— सस्यलम्पटबलीवर्दः, वारयितुम्, न, शक्यः, अन्यकलत्रप्रसक्तः, वारयितुम्, न, शक्यः, द्यूतप्रसक्तमनुष्यः, वारयितुम्, न, शक्यः, यः, अपि, स्वाभाविकदोषः (अस्ति, सः) वारयितुम्, न, शक्यः।।२।।

शब्दार्थः— सस्यलम्पटबलीवर्दः = हरे धान का लोभी सांड, वारयितुम् = रोकने के लिए, न = नहीं, शक्यः = सम्भव है, अर्थात् नहीं रोका जा सकता है, अन्यकलत्रप्रसक्तः = दूसरे की स्त्री में प्रेम करने वाला, वारयितुं न शक्यः = रोका नहीं जा सकता, द्यूतप्रसक्तमनुष्यः = जुआ खेलने का आदती मनुष्य, वारयितुं न शक्यः = रोका नहीं जा सकता, यः = जो, अपि = भी, स्वाभाविकदोषः = स्वाभाविक बुराई, (अस्ति = है, सः = वह) वारयितुं न शक्यः = छोड़ी नहीं जा सकती है।।

और भी—

अर्थः— हरे धान का लोभी साँड़, दूसरे की स्त्री में आसक्त पुरुष, जुआ खेलने का आदती मनुष्य (इस सब) को रोका नहीं जा सकता। और जो भी स्वाभाविक बुराई होती है वह भी छोड़ी नहीं जा सकती है।।२।।

टीका— सस्यलम्पटः = सस्यभक्षणे लोलुपः प्रसक्तः वा बलीवर्दः = वृषभः; वारयितुम् = अवरोद्धुम्; न शक्यः; अन्येषाम् = परेषाम् कलत्रेषु = स्त्रीषु प्रसक्तः = प्रेमपरः, वारयितुं न शक्यः; द्यूते = द्यूतक्रीडने प्रसक्तः = संलग्नः; मनुष्यः = जनः; निवारयितुं न शक्यते; योऽपि स्वाभाविकः = प्रकृतिदत्तः दोषः = दूषणम्; अस्ति सः अपि वारयितुं न शक्यः।।२।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवम् दृष्टान्त अलंकार की संसृष्टि है। प्रयुक्त छन्द का नाम है शक्करी जाति।।२।।

का वि वेला अज्जचारुदत्तश्श गंधव्वं शुणिदुं गदश्श। अदिक्कमदि अद्धलअणी। अज वि ण आअच्छदि। ता जाव बाहिलदुआलशालाए गदुअ शुविश्शं।

कापि वेलार्यचारुदत्तस्य गान्धर्वं श्रोतुं गतस्य। अतिक्रामत्यर्धरजनी। अद्यापि नागच्छति। तद्यावद्बहिर्द्वारशालायां गत्वा स्वप्स्यामि।)

(इति तथा करोति)

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च)

चारुदत्तः— अहो अहो! साधु साधु, रेभिलेन गीतम्। वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्। कुतः,-

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः।।३।।

अर्थः— गाना सुनने के लिए गए हुए आर्य 'चारुदत्त' को कितनी देर हो गई? आधी रात बीत रही है। अब भी नहीं आये। तो तब तक बाहरी दरवाजे वाली कोठरी में सोऊँगा।

(वैसा ही करता है।)

(इसके बाद 'चारुदत्त' और 'विदूषक' प्रवेश करते हैं)

चारुदत्त— वाह! वाह!! 'रेभिल' ने बहुत अच्छा गाया। वीणा तो, सही में, समुद्र से बिना निकला हुआ रत्न है। क्योंकि—

अन्वयः— (वीणा), उत्कण्ठितस्य, हृदयानुगुणा, वयस्या, संकेतके, चिरयति, प्रवरः, विनोदः विरहातुराणाम्, प्रियतमा, संस्थापना, रक्तस्य, रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः, (अस्ति)।।३।।

शब्दार्थः— (वीणा = वीणा नामक वाद्य), उत्कण्ठितस्य = विरह पीडा से व्याकुल व्यक्ति के, हृदयानुगुणा = मनपसन्द, वयस्या = सखी (है), संकेतके = संकेत करने वाले प्रेमी के, चिरयति = देर करने पर, प्रवरः = श्रेष्ठ, विनोदः = मनबहलाव का साधन, (है), विरहातुराणाम् = विरह से पीडित व्यक्तियों की, प्रियतमा = प्रिय, मनोनुकूल, संस्थापना = ढाढस बँधाने वाली (है), रक्तस्य = प्रेमी का, रागपरिवृद्धिकरः = राग को बढ़ाने वाला, प्रमोदः = मनोरञ्जन, (अस्ति = है)।।

अर्थः— (वीणा) अत्यन्त विरह पीडा से व्याकुल व्यक्ति के लिए मनपसन्द सखी है। इशारा किये गये स्थान पर आने में प्रेमी के देर करने पर यह (वीणा) मनबहलाव का अच्छा साधन है। विरह से पीडित की प्रिय ढाढस बँधाने वाली (प्रेमिका) है। और प्रेमी जनों के राग (दूसरे के प्रति कामपूर्ण प्रेम) को बढ़ाने वाला मनोरञ्जन है।।३।।

टीका— (वीणा = तन्त्री); उत्कण्ठा = विरहवेदना सञ्जाता = उत्पन्ना अस्य इति उत्कण्ठितस्य = विरहवेदनाविह्वलस्य जनस्य; हृदयानुगुणा = हृदयानुरूपा; वयस्या = प्रियसखीरूपा; संकेतयति यः सः संकेतकः तस्मिन् संकेतके = दत्तसंकेते; चिरयति = विलम्बं कुर्वाणे सति; प्रवरः = उत्तमः; विनोदः = मनोरञ्जनम्; विरहेण = प्रियवियोगेन आतुराणाम् = व्याकुलानाम्; प्रियतमा = चित्तानुरूपा; संस्थापना = धैर्यदायिनी; रक्तस्य = अनुरागवतः जनस्य; रागस्य = अनुरागस्य परिवृद्धिकरः = संवर्धकः; प्रमोदः = विनोदः; अस्तीति।।३।।

इस श्लोक में एक ही वीणा का 'वयस्या' आदि अनेक रूपों से उल्लेख किया गया है, अतः उल्लेख अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द है वसन्ततिलका।

विदूषकः—मो, एहि। गेहं गच्छेम्ह। (भोः, एहि। गृहं गच्छावः।)

चारुदत्तः— अहो, सुष्ठु भावरेभिलेन गीतम्।

विदूषकः—मम दाव दुवेहिं ज्जेव्व हस्सं जाअदि। इत्थिआए सक्कअं पठंतीए, मणुस्सेण अ काअर्ली गाअंतेण। इत्थिआ दाव सक्कअं पठंती, दिण्णणवणस्सा विअ गिट्टी, अहिअं सुसुआअदि। मणुस्सो वि काअर्ली गाअंतो, सुक्खसुमणोदामवेट्टिदो बुड्ढपुरोहिदो विअ मंतं जवंतो, दिढं मे ण रोअदि। (मम तावद्द्वाभ्यामेव हास्यं जायते। स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता। स्त्री तावत्संस्कृतं पठन्ती, दत्तनवनस्येव गृष्टिः, अधिकं सूसूशब्दं करोति। मनुष्योऽपि काकलीं गायन्, शुष्कसुमनोदामवेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन्, दृढं न रोचते।)

चारुदत्तः— वयस्य! सुष्ठु खल्वद्य गीतं भावरेभिलेन। न च भवान्परितुष्टः।

रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च
भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च।
किंवा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै-
रन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये।।४।।

अर्थः— विदूषक — आइए, घर चलें।

चारुदत्त— अहा! 'रेभिल' महोदय ने अच्छा गाया।

विदूषक— मुझे तो संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री तथा धीमी राग (काकली) से गाते हुए मनुष्य—इन दोनों पर ही हँसी आती है। संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री, पहले पहल ब्याई हुई (प्रसूता) अतः नाक में नाथी गयी गाय के समान बहुत अधिक सू, सू, शब्द करती है। महीन स्वर से गाता हुआ मनुष्य भी, सूखे फूलों की माला पहने मन्त्र जपते हुए बूढ़े पुरोहित की भाँति मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लगता।

अन्वयः— (गीतम्), नाम, रक्तम्, च, मधुरम्, च, समम्, स्फुटम्, च, भावान्वितम्, च, ललितम्, च, मनोहरम्, च, (आसीत्), वा, मदुक्तैः, बहुभिः, प्रशस्तवचनैः, किम्?, यदि, वनिता, अन्तर्हिता, भवेत्, इति, मन्ये।।४।

शब्दार्थः— (गीतम् = गाना), नाम = निश्चय ही, रक्तम् = रागपूर्ण, मधुरम् = मीठा लगने वाला, समम् = (स्वर तथा लय आदि की) समतावाला, स्फुटम् = स्पष्ट, भावान्वितम् = भावपूर्ण, ललितम् = ललित, कोमल, च = एवम्, मनोहरम् = मन को लुभाने वाला, च = भी, (आसीत् = था), वा = अथवा, मदुक्तैः = मेरे द्वारा कहे गये, बहुभिः = बहुत से, प्रशस्तवचनैः = प्रशंसा

के वाक्यों से, किम् = क्या (लाभ)? यदि = शायद, कदाचित्, वनिता = स्त्री, अन्तर्हिता = छिपी हुई, भवति = हो, इति = ऐसा, मन्ये = मानता हूँ।।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र! 'रेभिल' महोदय ने आज वास्तव में बहुत अच्छा गाना गाया। फिर भी आप प्रसन्न नहीं हुए ('रेभिल' का वह गाना) रागपूर्ण, सुनने में मीठा लगनेवाला, (स्वर तथा लय आदि की) समतावाला, स्पष्ट, भावपूर्ण, ललित एवं मनोहर था। अथवा हमारे बहुत बढ़ाई करने से क्या लाभ? मुझे तो ऐसा लगता था कि ('रेभिल' के रूप में) मानो स्त्री छिपी हुई हो (अर्थात् 'रेभिल' स्त्रियों की भाँति सब प्रकार की निपुणता के साथ गा रहा था)।।४।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

अपि च,—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम्।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव।।५।।

अन्वयः— सत्यम्, यत्, गीतसमये, विरते, अपि, वर्णानाम्, मूर्च्छनान्तरगतम्, अपि, तारम्, विरामे, मृदुम्, पुनः, च, हेलासंयमितम् रागद्विरुच्चारितम्, तस्य, मधुरगिरः, तम्, स्वरसंक्रमम्, श्लिष्टम्, तन्त्रीस्वनम्, च, श्रृण्वन्, इव, अहम्, गच्छामि।।५।।

शब्दार्थः— सत्यम् = सचमुच, सत्य है, यत् = कि, गीतसमये = गाने का समय, विरते = बीत जाने पर, अपि = भी, वर्णानाम् = अक्षरों की, मूर्च्छनान्तरगतम् = मूर्च्छना (स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह) के अन्तर्गत, अपि = भी, तारम् = आते ऊँचा, विरामे = विराम के समय, मृदुम् = कोमल, पुनः = फिर, हेलासंयमितम् = लीला पूर्वक नियन्त्रित, रागद्विरुच्चारितम् = गाने में दो बार उच्चारण की हुई, तस्य उस (रेभिल) की मधुरगिरः = कोमल वाणी की, तम् = उस, स्वरसक्रमम् = स्वरयोजना को, श्लिष्टम् = मिली हुई, तन्त्रीस्वनम् = वीणा की ध्वनि को, श्रृण्वन् = सुनता हुआ, इव = सा, अहम् = मैं, गच्छामि = जा रहा हूँ।।

और भी—

अर्थः— यह सत्य है कि गाने का समय बीत जाने पर भी अक्षरों की मूर्च्छना (स्वरों का क्रमशः चढ़ाना और उतारना) के अन्तर्गत (चढ़ाने के समय) काफी ऊँचा, विराम के समय कोमल; और पुनः लीलापूर्वक नियन्त्रित, रागों में दो बार उच्चारण की हुई उस (रेभिल) की कोमल वाणी की उस स्वरयोजना को तथा (उससे) मिली हुई वीणा की आवाज को मैं सुनता हुआ सा जा रहा हूँ (अर्थात् सब प्रकार से सुन्दर 'रेभिल) का गाना अब भी हमारे कानों में (ठीक ठीक गूँज रहा है)।।५।।

टीका— सत्यम् = वस्तुतः; यत् गीतस्य = संगीतस्य समये = काले; विरते = व्यतीते; सति, अपि; वर्णानाम् = गानाक्षराणाम्, मूर्च्छना = स्वरारोहावरोहक्रमः। तस्याः अन्तरगतम् = मध्ये वर्तमानम्, अपि; तारम् = उच्चैः; विरामे = अवसाने मृदुम् = कोमलम् पुनः = मुहुश्च; हेलया = लीलया संयमितम् = नियमितम्; रागेषु = रागविशेषेषु द्विरुच्चारितम् = द्विरुक्तम्, तस्य = रेभिलस्य; मधुरगिरः = मधुरवाण्याः; तम् = श्रुतपूर्वम्; स्वराणाम् = निषदादीनाम् संक्रमम् = आरोहावरोहरूपं शोभनं क्रमम् श्लिष्टम् = गानाक्षरैः अभिन्नं गानाक्षरमिलितमित्यर्थः; तन्त्र्याः = वीणायाः स्वनम् = ध्वनिम्; श्रृण्वन् = श्रवणं कुर्वन् इव अहम् = चारुदत्तः; गच्छामि = व्रजामि।।५।। इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार तथा शार्दलविक्रीडित छन्द है।

विदूषकः— भो वअस्स! आवणंतररच्छाविभाएसु सुहं कुक्कुरा वि सुत्ता। ता गेहं गच्छेम्ह। (अग्रतोऽवलोक्य) वअस्स! पेक्ख पेक्ख एसो वि अंधआरस्स विअ अवआसं देंतो अंतरिक्खपासादादो ओदरदि भअवं चंदो। (भो वयस्य! आपणान्तररथ्यादिभागेषु सुखं कुक्कुरा अपि सुप्ताः। तद्गृहं गच्छावः। वयस्य! पश्य पश्य। एषोऽप्यन्धकारस्येवावकाशं दददन्तरिक्षप्रासादादवतरति भगवाश्चन्द्रः।

चारुदत्तः— सम्यगाह भवान्

असौ हि दत्त्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः।
जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम् ।।६।।

अर्थः— विदूषक — हे मित्र! बाजार की गलियों में जगह–जगह पर कुत्ते भी सुख से सो गये हैं। तो घर चलें। (सामने देखकर) मित्र! देखो, देखो। अंधेरे को (फैलने के लिए) जगह (अवकाश) सा देते हुए भगवान् चन्द्रमा भी आकाश रूपी महल से ढल (उतर) रहे हैं।

अन्वयः— जलावगाढस्य, वनद्विपस्य, अवशिष्टम्, तीक्ष्णम्, विषाणाग्रम्, इव, हि, उन्नतकोटिः, असौ, इन्दुः, तिमिरावकाशम्, दत्त्वा, अस्तम्, व्रजति।।६।।

शब्दार्थः— जलावगाढस्य = जल में डूबे हुए, वनद्विपस्य = जंगली हाथी के, अवशिष्टम् = (जल में डूबने से) बचे हुए, तीक्ष्णम् = तीखे, नुकीले, विषाणाग्रमिव = दाँत के अगले हिस्से की तरह, हि = निश्चय ही, उन्नतकोटिः = टेढ़ा (उठा हुआ) किनारे वाला, असौ = यह, इन्दुः = चन्द्रमा, तिमिरावकाशम् = अँधेरे के लिए स्थान को, दत्त्वा = देकर, अस्तम् = अस्ताचल को, व्रजति = जा रहा है।।

अर्थः— चारुदत्त— आपने ठीक कहा—

जल में डूबे हुए जंगली हाथी के (जल में डूबने से) बचे हुए दाँत के तीखे अगले हिस्से की तरह उन्नत अग्रभागवाला यह चन्द्रमा अँधेरे को (फैलने के लिए) मौका देकर अस्ताचल को जा रहा है।।६।।

टीका— जले = सलिले अवगाढस्य = मग्नस्य; वनद्विपस्य = वनगजस्य; अवशिष्टम् = सलिलावगाहनात् अवशेषीभूतम्; तीक्ष्णम् = तीव्रम्; विषाणस्य = दन्तस्य अग्रम् = अग्रभागमिव, हि = खलु; उन्नता = उच्छ्रिता कोटिः = अग्रभागः यस्य सः; असौ दृश्यमानः; इन्दुः चन्द्रः; तिमिरेभ्यः = अन्धकारेभ्यः अवकाशम् = प्रसरणावसरमित्यर्थः; दत्त्वा = प्रदाय; अस्तम् = अस्ताचलम्; व्रजति = गच्छति।।६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं उपजाति छन्द है।

विदूषकः—भो, एदं अम्हाणं गेहं। वड्ढमाणअ, वड्ढमाणअ! उग्घाटेहि दुआरअं। (भोः, इदमस्माकं गेहम्। वर्धमानक, वर्धमानक! उद्घाटय द्वारम्।)

चेटः — अज्जमित्तेअस्स शलशंजोए शुणीअदि। आगदे अज्जचालुदत्ते। ता जाव दुआलअं शे उग्घाटेमि। (तथा कृत्वा) अज्ज! वंदामि। मित्तेअ! तुमं पि वंदामि। एत्थ वित्थिण्णे आशणे णिशीददु अज्जा। (अत्र मैत्रेयस्य स्वरसंयोगः श्रूयते। आगत आर्यचारुदत्तः। तद्यावद्द्वारमस्योद्घाटयामि। आर्य! वन्दे। मैत्रेय! त्वामपि वदे। अत्र विस्तीर्णे आसने निसीदतमार्यौ।

(उभौ नाट्येन प्रविश्योपविशतः)

विदूषकः— वड्ढमाणअ! रअणिअं सद्दावेहि पादाइं धोइदुं। (वर्धमानक! रदनिकामाकारय पादौ धावितुम्।)

चारुदत्तः— (सानुकम्पम्) अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्।

चेटः — अज्जमित्तेअ! अहं पाणिअं गेण्हे। तुमं पादाइं धोवेहि। (आर्यमैत्रेय! अहं पानीयं गृह्णामि। त्वं पादौ धाव।।

विदूषकः—(सक्रोधम्) भो वअस्स! एसो दाणिं दासीए पुत्तो भविअ पाणिअं गेण्हेदि। मं उण बम्हणं पादाइं धोवावेदि। (भो वयस्य! एष इदानीं दास्याः पुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति। मां पुनर्ब्राह्मणं पादौ धावयति।)

चारुदत्तः—वयस्य मैत्रेय! त्वमुदकं गृहाण। वर्धमानकः पादौ प्रक्षालयतु।

चेटः — अज्जमित्तेअ! देहि उदअं। (आर्यमैत्रेय! देह्युदकम्।)

(विदूषकस्तथा करोति, चेटश्चारुदत्तस्य पादौ प्रक्षाल्यापसरति)

चारुदत्तः— दीयतां ब्राह्मणस्य पादोदकम्।

विदूषकः—किं मम पादोदएहिं? भूमीए ज्जेव्व मए ताडिदगद्दहेण विअ पुणो वि लोट्टिदव्वं (किं मम पादोदकैः? भूम्यामेव मया ताडितगर्दभेनेव पुनरपि लोठितव्यम्।)

चेटः— अज्जमित्तेअ। बम्हणे खु तुमं। (आर्यमैत्रेय! ब्राह्मणः खलु त्वम्।)

विदूषकः—जधा सव्वणागाणं मज्झे डुंडुहो, तधा सव्वबम्हणाणं मज्झे अहं बम्हणो। (यथा सर्वनागानां मध्ये डुण्डुभः तथा सर्वब्राह्मणानां मध्येऽहं ब्राह्मणः।)

चेटः— अज्जमित्तेअ! तधा वि धोइश्शं। (तथा कृत्वा) अज्जमित्तेअ! एदं तं शुवण्णभंडअं मम दिवा, तुह लत्तिं च। ता गेण्ह। (आर्यमैत्रेय! तथापि धाविष्यामि। आर्यमैत्रेय! एतत्तत्सुवर्णभाण्डं मम दिवा, तव रात्रौ च, तद्गृहाण।) (इति दत्त्वा निष्क्रान्तः)

विदूषकः—(गृहीत्वा) अज्ज वि एदं चिट्ठदि किं एत्थ उज्जइणीए चोरो वि णत्थि, जो एदं दासीए पुत्तं णिद्दाचोरं ण अवहरदि।

भो वअस्स! अब्भंतरचतुस्सालअं पवेसआमि णं। (अद्याप्येतत्तिष्ठति। किमत्रोज्जयिन्यां चौरोऽपि नास्ति, एतं दास्याःपुत्रं निद्राचौरं नापहरति। भो वयस्य! अभ्यन्तरचतुःशालकं प्रवेशयाम्येनम्।)

चारुदत्तः—

अलं चतुःशालमिमं प्रवेश्य
प्रकाशनारीधृत एष यस्मात्।
तस्मात्स्वयं धारय विप्र!
तावद्यावन्न तस्याः खलु भोः समर्प्यते।।७।।

अर्थः— विदूषक — श्रीमान् जी यह हमारा घर है। वर्धमानक वर्धमानक! दरवाजा खोलो।

चेट आर्य मैत्रेय की आवाज सुनाई पड़ती है। 'चारुदत्त' आ गए। तो अब इनके लिए किवाड़ों को खोल दूँ। (खोलकर) आर्य! प्रणाम करता हूँ। मैत्रेय! तुम्हें भी नमस्कार करता हूँ। इस बिछे हुए आसन पर आप दोनों बैठें।

(दोनों अभिनय के द्वारा प्रवेश करके बैठ जाते हैं।)

विदूषक— वर्धमानक! पैर धुलवाने के लिए 'रदनिका' को बुलाओ।

चारुदत्त— (कृपापूर्वक) सोए हुए को मत जगाओ।

चेट — आर्य मैत्रेय! मैं पानी लेता हूँ। तुम चारुदत्त के पैर को धोओ।

विदूषक— (क्रोध के साथ) हे मित्र यह नीच जाति का होकर इस समय पानी लेता है और मुझ ब्राह्मण से पैर धोने के लिये कहता है।

चारुदत्त— मित्र मैत्रेय! तुम पानी लो। वर्धमानक पैरों को धोवे।

चेट— आर्य मैत्रेय! जल दीजिए।

(विदूषक जल देता है। चेट 'चारुदत्त' का पैर धोकर हट जाता है)

चारुदत्त— ब्राह्मण (विदूषक) को पैर धोने के लिए पानी दो।

विदूषक— मुझे पैर धोने के लिए जल से क्या मतलब? पीटे गये गधे की भाँति मुझे तो फिर जमीन पर ही लोटना (सोना) है।

चेट— आर्य मैत्रेय! तुम तो ब्राह्मण हो।

विदूषक— जैसे सभी साँपों में डुम्डुभ साँप होता है। उसी प्रकार सब ब्राह्मणों के बीच में मैं भी (नाममात्र का) ब्राह्मण हूँ।

चेट— आर्य मैत्रेय! तो भी धुलाऊँगा। (पैर धुलवा कर) आर्य मैत्रेय! यह सोने के आभूषण का पात्र दिन में मेरे और रात में तुम्हारे है, अर्थात् मुझे दिन में तथा तुमको रात्रि में इसकी रक्षा करनी है तो लो। (देकर चला जाता है)।

विदूषक— (लेकर) यह आज भी मौजूद है। क्या इस 'उज्जयिनी' में कोई चोर भी नहीं है जो नींद में बाधा डालने वाले अधम स्वभाव के आभूषणों के इस पात्र को नहीं चुरा लेता है। हे मित्र! इसको भीतरी चतुःशाला में भेजता हूँ।

अन्वयः— इमम्, चतुशालम्, प्रवेश्य, अलम्, यस्मात्, एषः, प्रकाशनारीधृतः, तस्मात्, भोःविप्र! तावत्, स्वयम्, धारय, यावत् खलु तस्याः (हस्ते), न समर्प्यते।।७।।

शब्दार्थः— इमम् = इसको, चतुःशालम् = चौपाल में, प्रवेश्य = भेजने से, अलम् = बस (करो), यस्मात् = क्योंकि, एष = यह, प्रकाशनारीधृतः = वेश्या के द्वारा रखा गया है, तस्मात् = तो, भोः विप्र = हे ब्राह्मण!, तावत् = तब तक, स्वयम् = स्वयं तुम, धारय = रक्खो, रखवाली करो, यावत् = जबतक, खलु = निश्चय ही, तस्याः = उसके, (हस्ते = हाथ में) न = नहीं, समर्प्यते = समर्पित कर दिया जाता, लौटा दिया जाता।।

अर्थः— **चारुदत्त**— इसे चतुःशाला में भेजना ठीक नहीं है, क्योंकि यह वेश्या की धरोहर है। इसलिए हे ब्राह्मण! जब तक यह 'वसन्तसेना' को लौटा नहीं दिया जाता, तब तक इसकी रखवाली तुम स्वयं करो।।७।।

टीका— इमम् = सुवर्णभाण्डमित्यर्थः; चतुःशालम् = चतु प्रकोष्ठयुक्तं गृहमित्यर्थः; प्रवेश्य = प्रापय्य, अलम् = व्यर्थम्, गृहाभ्यन्तरं प्रवेशयितव्यं न इत्यर्थः; यस्मात् = यतः, यस्मात्कारणादित्यर्थः; एषः = आभूषणसमूहः; प्रकाशनार्या = वेश्यया, वसन्तसेनया इत्यर्थः, धृतः = न्यासरूपेण स्थापितः, परिहितः इति केचन, तस्मात् = ततः, तस्मात्कारणादित्यर्थः; भोः विप्र = हे ब्राह्मण! तावत् = तावत्कालपर्यन्तं स्वयं धारय = स्वसमीपे स्थापय, त्वं स्वयमेव रक्ष इत्यर्थः; यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, खलु =

अवश्यम्; तस्याः = वेश्यायाः वसन्तसेनायाः; हस्ते इति शेषः; न समर्प्यते = न दीयते ।।७।।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है।

(निद्रां नाटयन्, 'तं तस्य स्वरसंक्रमम्-' (३/५) इति पुनः पठति)

विदूषकः—अवि णिद्दाअदि भवं?। (अपि निद्राति भवान्?।)

चारुदत्तः— अथ किम्।

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम्।
अदृश्यरूपा चपला जरेव या मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्धते।।८।।

(निद्रा का अभिनय करता हुआ,—'उसका वह स्वर का उतार चढ़ाव'—(३/५) यह फिर पढ़ता है)

अर्थः— विदूषक — क्या आप सो रहे हैं?

अन्वयः— हि, ललाटदेशात्, नयनावलम्बिनी, इयम्, निद्रा, माम्, उपसर्पति, इव, अदृश्यरूपा चपला, जरा, इव, या मनुष्यसत्त्वम्, परिभूय, वर्धते।।८।।

शब्दार्थः— हि = क्योंकि, ललाटदेशात् = माथे से, नयनावलम्बिनी = आँखों में उतरी हुई, इयम् = यह, निद्रा = नींद, माम् = मुझको, मेरी ओर, उपसर्पति इव = आ सी रही है, अदृश्यरूपा = न दीख पड़ने वाली, चपला = चञ्चल, जरा इव = वृद्धावस्था की भाँति, या = जो (नींद), मनुष्यसत्त्वम् = मनुष्यों के बल को, परिभूय = तिरस्कृत करके, वर्धते = बढ़ती है।।

अर्थः— चारुदत्त— और क्या?

मस्तक से आँखों में उतरती हुई यह नींद मेरी ओर आ रही है अर्थात् धीरे–धीरे मुझे वश में कर रही है। न दीख पड़ने वाली चञ्चल वृद्धावस्था की भाँति यह नींद भी मनुष्यों के बल को अभिभूत करके बढ़ती है।।८।।

टीका— हि = यतः; ललाटदेशात् = भालप्रदेशात्; नयने = नेत्रे अवलम्बते = आश्रयते; इयम् = अनुभूयमाना; निद्रा = स्वापः; माम् = चारुदत्तम्; उपसर्पति = आगच्छति, इव, अदृश्यम् = अन्तर्हितम् रूपम् = आकृतिः चपला = चञ्चला; जरा = वृद्धावस्था; इव; या = निद्रा; मनुष्याणाम् = मानवानाम्, सत्त्वम् = बलम्; परिभूय = तिरस्कृत्य, वर्धते = वृद्धिं गच्छति।।८।।

श्लोक के पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा अलंकार है। उत्तरार्द्ध में उपमा अलंकार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वंशस्थ।

विदूषकः— ता सुवेम्ह। (तत्स्वपिवः।) (नाट्येन स्वपिति)

(ततः प्रविशति शर्विलकः)

शर्विलकः —

कृत्वा शरीरपरिणाहसुखप्रवेशं
शिक्षाबलेन च बलेन च कर्ममार्गम्।
गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वो
निर्मुच्यमान इव जीर्णतनुर्भुजंगः।।९।।

अर्थः— विदूषक — तो सोते हैं। (अभिनय के द्वारा सो जाता है)।

(इसके बाद अर्थात् आधीरात में 'शर्विलक' प्रवेश करता है)

अन्वयः— शिक्षाबलेन, च, बलेन, च, शरीरपरिणाहसुखप्रवेशम्, कर्ममार्गम्, कृत्वा, भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वः, (सन्, अहम्), निर्मुच्यमानः, जीर्णतनुः, भुजंगः, इव, गच्छामि।।९।।

शब्दार्थः— शिक्षाबलेन = (चोरी करने की) शिक्षा के जोर से, च = और, बलेन = (शरीर के) बल से, च = भी, शरीरपरिणाहसुखप्रवेशम् = देह की लम्बाई – चौड़ाई के सुख से घुसने के लायक, कर्ममार्गम् = सेंध को, कृत्वा = करके, भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वः = जमीन पर घिसकने से छिले हुए पार्श्वभागवाला, (सन् = होता हुआ, अहम् = मैं), निर्मुच्यमानः = केंचुली छोड़ते हुए, जीर्णतनुः = जर्जर देहवाले भुजंगः इव = साँप के समान, गच्छामि = जा रहा हूँ।

अर्थः— शर्विलक — अपनी शिक्षा के जोर तथा बल के प्रभाव से (अपने) देह की लम्बाई चौड़ाई (विशालता) के सुख से घुसने के लायक सेंध लगा करके, जमीन पर घिसकने से छिले हुए पार्श्वभागवाला मैं (शर्विलक), केंचुली छोड़ते हुए जर्जर देहवाले साँप के समान; सेंध में जाता हूँ।।९।।

टीका— शिक्षायाः = चौर्यशिक्षायाः चौर्यज्ञानस्य वा बलेन = सामर्थ्येन; च = तथा; बलेन = शरीरशक्त्या; च = अपि, शरीरस्य देहस्य परिणाहः = विशालता तथा सुखेन = अनायासेन प्रवेशः = गमनमित्यर्थः यत्र तम्; कर्मणः = चौर्यस्य मार्गम् पन्थानम्, सन्धिमित्यर्थः; कृत्वा = विधाय; सञ्जातघर्षणौ पार्श्वौ = शरीरस्य वामदक्षिणभागौ यस्य तथाभूत, सन् अहम् निर्मुच्यमानः = कञ्चुकात् परिहीयमानः; जीर्णा = प्राचीना तनुः = वपुः यस्य सः; भुजंगः = सर्प, इव; गच्छामि = गृहान्तरं याम इत्यर्थः।।६।।

यहाँ उपमा अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका।।६।।

(नभोऽवलोक्य सहर्षम्) अये, कथमस्तमुपगच्छति स भगवान्मृगांकः।

तथा हि,-

नृपतिपुरुषशंकितप्रचारं परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम्।
घनपटलतमोनिरुद्धतारा रजनिरियं जननीव संवृणोति।।१०।।

अर्थः— (आकाश की ओर देख कर प्रसन्नता के साथ) अरे! क्या यह भगवान् चन्द्रमा डूबने जा रहे हैं। जैसे कि—

अन्वयः— घनपटलतमोनिरुद्धतारा, इयम्, रजनी, जननी, इव, नृपतिपुरुषशंक्तिप्रचारम्ः परगृहदूषण-- निश्चितकवीरम् माम् संवृणोति।।१०।।

शब्दार्थः— घनपटलतमोनिरुद्धतारा = बादलों के समूह की भाँति गाढ़े अँधेरे से तारों को ढकनेवाली, इयम् = यह, रजनी = रात, जननी = माता (के), इव = समान, नृपतिपुरुषशंकितप्रचारम् = राजा के सिपाहियों के द्वारा आने--जाने के विषय में शंका किये जाने वाले, परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम् = दूसरे के घरों में सेंध लगाने में माने हुए सबसे बड़े वीर, माम = मुझको, संवृणोति = ढक रही है।

अर्थः— बादलों के समूह की भाँति गाढ़े अँधेरे से तारों को ढकने वाली यह रात माता के समान, राजा के सिपाही जिसके आने-जाने को शंका की निगाह से देखते हैं, तथा जो दूसरे के घरों में सेंध लगाने में माना हुआ सबसे बड़ा वीर है। ऐसे मुझको ढक रही है। (अँधेरी रात चोरों को छिपाकर उसी प्रकार उनकी रक्षा करती है, जैसे माता अपने बालक की।।१०।।

टीका— घनानाम् = मेघानाम् पटलेनेव = समूहेनेव तमसा = अन्धकारेण निरुद्धाः = आवृताः ताराः = नक्षत्राणि यया इयम् = घनान्धकारेण निरुद्धाः सर्वे भावाः = पदार्थाः यया इयम् = वर्तमाना, रजनी = रात्रिः, जननी = माता, इव, नृपतिपुरुषैः = राजपुरुषैः शंकितः = शंकया सह विचारितः प्रचारः = सञ्चारः यस्य तम्, तथा परेषाम् = अन्येषाम् गृहेषु दूषणे सन्धिकरणे निश्चितः = मान्यः एकः = प्रधानः वीरः = शूरः तम्; मामिति शेषः, संवृणोति = आच्छादयति।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा पुष्पिताग्रा छन्द है। छन्द का लक्षण— 'अयुजि नयुगरेफतो युजि तु नजौ जरौ यदा पुष्पिताग्रा'।।१०।।

वृक्षवाटिकापरिसरे संधिं कृत्वा प्रविष्टोऽस्मि मध्यमकम्। तद्यावदिदानीं चतुःशालकमपि दूषयामि। भोः,

कामं नीचमिदं वदन्तु पुरुषाः स्वप्ने च यद्वर्धते
विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत्।
स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलि
र्मार्गो ह्येष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना।।११।

अर्थः— फुलवाड़ी के पास की चहार दीवारी में सेंध लगाकर (चारुदत्त के) घर में घुस आया हूँ। तो अब इस चौपाल (चतुःशाल) में भी सेंध लगाता हूँ।

अन्वयः— यत्, स्वप्ने, वर्धते, विश्वस्तेषु, वञ्चनापरिभवः, च, हि, तत् चौर्यम्, शौर्यम्, न, (अतः), पुरुषाः, इदम्, कामम्, नीचम्, वदन्तु, स्वाधीना, वचनीयता, अपि, हि, वरम्, बद्धः, सेवाञ्जलिः, न, हि, एषः, मार्गः, पूर्वम्, द्रौणिना, नरेन्द्रसौप्तिकवधे, कृतः।।११।

शब्दार्थः— यत् = जो, स्वप्ने = सोने पर, वर्धते = बढ़ती है, विश्वस्तेषु = विश्वास किये हुए लोगों में, वञ्चनापरिभवः = वञ्चना का अपमान है, हि = निश्चय ही, तत् = वह, चौर्यम् = चोरी है, शौर्यम् = शूरता, न = नहीं है, (अतः) पुरुषाः = मनुष्य लोग, इदम् = इसको, कामम् = भले ही, नीचम् = अधम, वदन्तु = कहें, स्वाधीना = अपने आधीन, वचनीयता = निन्दनीय कर्म करना, अपि = भी, हि = अवश्य ही, वरम् = श्रेष्ठ है, बद्धः = जोड़ी गयी, सेवाञ्जलिः = सेवा की अञ्जलि, न = नहीं (श्रेष्ठ है), हि = इसी बात को समझ कर, एषः = यह (चोरीरूप) मार्गः = मार्ग, पूर्वम् = पहले, द्रौणिना = अश्वत्थामा के द्वारा, नरेन्द्रसौप्तिकवधे = राजा (पाण्डव) के सोये हुए (पुत्रों) की हत्या में, कृतः = किया गया है।

अर्थः— अरे! जो मनुष्यों के सो जाने पर होती है तथा जिसमें विश्वास के साथ सोये हुए लोगों के धन का छिनना रूप अपमान होता है वह चोरी है, शूरता नहीं। (अतः) मनुष्य लोग उस चोरी को भले ही अधम कहें किन्तु फिर भी मेरा तो यही मत है कि किसी के भी अधीन न होने के कारण यह चोरी रूप निन्दित काम भी अच्छा है। किसी की सेवा में हाथ जोड़ना अच्छा नहीं। और यह रास्ता तो पहले ही राजा पाण्डव के सोये हुए पुत्रों की हत्या में 'द्रोणाचार्य' के पुत्र अश्वत्थामा ने दिखा दिया है।।११।।

टीका— यत् चौरकार्यम्, स्वप्ने = निद्रादशायाम्, वर्धते = प्रसरति; विश्वस्तेषु = शंका विहीनेषु जनेषु; सविश्रम्भं सुप्तेषु; वञ्चनया = द्रव्याद्यपहरणरूपया प्रतारणया परिभवः = तिरस्कारः; अस्तीति; हि = निश्चितम्, तत् चौर्यम् = चौरकर्म, तस्करता, अस्ति निगद्यते वा, शौर्यम् = शूरता नास्ति; अतः; पुरुषाः = जनाः; इदम् = कार्यम्; कदन्नम् = यथेष्टम्; नीचम् = अधमं कर्म; वदन्तु = कथयन्तु; तत्र मम नास्ति काचित् विप्रतिपत्तिः, परञ्च मदीयं मतं त्विदं अस्ति—स्वाधीना = स्वाश्रया; वचनीयता = परीवादः; अपि; हि = अवश्यम्; वरम् = श्रेष्ठम्; बद्धः = सम्पुटितः सेवायां = धनिकजनशुश्रूषायाः अञ्जलिः, न = न वरमित्यर्थः; हि = इदमेव मत्वा; एषः = चौर्यकर्मरूपः, मार्गः = पन्थाः; पूर्वम् = पुरा, महाभारतकाले इति भावः; द्रौणिना = द्रोणपुत्रेण अश्वत्थाम्ना; नरेन्द्राणाम् = शासकानां युधिष्ठिरपुत्रादीनाम्, सुप्ते = शयने भवः सौप्तिकः = शयनावस्थायाम् सम्पन्नः सः चासौ वधः = विनाशः तस्मिन; कृतः = निर्मितः।

इस श्लोक में काव्यलिंग एवं अर्थान्तरन्यास अलंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

तत्कस्मिन्नुद्देशे संधिमुत्पादयामि।

देशः को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन्न शब्दो भवे-
द्भित्तीनां च न दर्शनान्तरगतः संधिः करालो भवेत्।
क्षारक्षीणतया च लोष्टककृशं जीर्णं क्व हर्म्यं भवे-
त्कस्मिन्स्त्रीजनदर्शनं च न भवेत्स्यादर्थसिद्धिश्च मे।।१२।

अर्थः— तो किस स्थान पर सेंध लगाऊँ।

अन्वयः— कः, नु, भित्तीनाम्, देशः, जलावसेकशिथिलः, भवेत्, यस्मिन्, शब्दः, न, भवेत्; सन्धेः, च, करालः, भवेत; न, च, दर्शनान्तरगतः; क्व, च, हर्म्यम्, क्षारक्षीणतया, लोष्टककृशम्, जीर्णम्, च, भवेत; कस्मिन्, स्त्रीजनदर्शनम्, च, न, भवेत्, मे, अर्थसिद्धिः, च, स्यात्।।१२।।

शब्दार्थः— कः = कौन, नु = यह प्रश्नवाचकता का द्योतक अव्यय है, भित्तीनाम् = भीतों का, दीवालों का, देशः = स्थान, जलावसेकशिथिलः = पानी पड़ने से गीला, भवेत् = होगा, यस्मिन् = जिस स्थान में, शब्दः = आवाज, न = नहीं, भवेत् = होगी, सन्धिः = सेंध, च = भी, करालः = भयंकर, बड़ी, भवेत् = होगी अर्थात् न = न, दर्शनान्तरगतः = दिखलायी पड़े, क्व = कहाँ, हर्म्यम् = महल, क्षारक्षीणतया = क्षार से पतली हो जाने के कारण, लोष्टककृशम् = कम ईंटों वाली, जीर्णम् = जर्जर, च = भी, भवेत् = होगी, कस्मिन् = किस स्थान में, स्त्रीजनदर्शनम् = स्त्रियों का सामना, च = भी, न भवेत् = न हो, मे = मेरी, अर्थसिद्धिः = काम में सफलता, च = भी स्यात् = हो।।

अर्थः— हमेशा पानी पड़ने से गीला अतः कमजोर हुआ दीवारों का कौन सा ऐसा स्थान होगा, जिसमें सेंध लगाते समय आवाज न हो, सेंध बड़ी हो, किन्तु दिखलायी न पड़े। और कहाँ की दीवार क्षार लग जाने से पतली हो जाने के कारण कम ईंटों वाली एवं जर्जर होगी? किस जगह सेंध करने से स्त्रियों का सामना न होगा और मेरे चोरी के काम में सफलता भी मिलेगी।।१२।।

टीका— कः नु = वितर्के; भित्तीनाम् = कुड्यानाम्; देशः = भागः; जलानाम् = सलिलानाम्; अवसेकेन = सेचनेन शिथिलः = अकठिनः; भवेत् = स्यात् = यस्मिन् = देशे, शब्दः = सन्धिच्छेदस्य ध्वनिः; न भवेत्; सन्धिः = सुरंगा; च करालः = भयंकरः विशालः; भवेत्, न च दर्शनान्तरगतः = दृष्टिविषयं प्राप्तः भवेत्; रक्षिणां जनानां वेति शेषः; क्व च = कुत्र च; हर्म्यम् = गृहम्, भित्तिः इत्यर्थः; क्षारेण = लवणेन क्षीणतया = कृशतया; कृशानि = दुर्बलानि क्षीणानि इत्यर्थः लोष्टकानि = इष्टकादिखण्डानि यत्र, जीर्णम् = दुर्बलम्, च भवेत्; कस्मिन् = देशे; स्त्रीजनानाम् = स्त्रीणाम् दर्शनम् = साक्षात्कारः; न भवेत; मे = मम; अर्थस्य = कार्यस्य सिद्धिः = सफलता च स्यात्।।१२।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।१२।।

(भित्तिं परामृश्य) नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन दूषितेयं भूमिः क्षारक्षीण। मूषिकोत्करश्चेह। हन्त, सिद्धोऽयमर्थः। प्रथममेतत्स्कन्दपुत्राणां सिद्धिलक्षणम्। अत्र कर्मप्रारम्भे कीदृशमिदानीं संधिमुत्पादयामि। इह खलु भगवता कनकशक्तिना

चतुर्विधः संध्युपायो दर्शितः। तद्यथा—पक्वेष्टकानामाकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनम्, पिण्डमयानां सेचनम्, काष्ठमयानां पाटनमिति। तदत्र पक्वेष्टके इष्टिकाकर्षणम्। तत्र—

पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं
वापी विस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम्।
तत्कस्मिन्देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पं
दृष्ट्वा श्वो यं यद्विस्मयं यान्ति पौराः।।१३।।

अर्थः— (दीवार को टटोल कर) रोज सूर्य के दिखालायी पड़ने पर जल देने से यह भूमि (दीवार) गीली एवं क्षार लगने से कटी हुई है। यहाँ चूहों के द्वारा खने गये छोटे–छोटे मिट्टी के टुकड़ों का ढेर भी है। वाह! काम बन गया। कार्तिकेय के पुत्र चोरों का यह काम सिद्ध होने का पहला चिह्न है। अब काम शुरू करने पर यहाँ कैसी सेंध बनाऊँ? वास्तव में इस सम्बन्ध में तो भगवान् 'कलाकशक्ति' ने चार प्रकार का सेंध फोड़ने का उपाय बतलाया है। जैसे कि पक्की ईंटों के मकान में ईटों का बाहर खींचना, कच्ची ईंटों के घरों में ईंटों का काटना, मिट्टी के पिण्डों से बनी हुई दीवारों को पानी से सींचना काठ से बनी दीवारों के काठों को उखाड़ना। तो यहाँ पक्की ईंटों के मकान में ईंटों का खींचना ही ठीक होगा। वही

अन्वयः— पद्मव्याकोशम्, भास्करम्, बालचन्द्रम्, वापी, विस्तीर्णम्, स्वस्तिकम्, पूर्णकुम्भम्, (एते, सप्त, सन्धिप्रकाराः, सन्ति) तत् कस्मिन्, देशे आत्मशिल्पम्, दर्शयामि, यत्, यम्, दृष्टवा, श्वः, पौराः, विस्मयम्, यान्ति।।१३।।

शब्दार्थः— पद्मव्याकोशम् = खिले हुए कमल के समान आकारवाली, भास्करम् = सूर्य के समान गोल, बालचन्द्रम् = द्वितीया के चन्द्रमा के समान तिरछी, वापी = बावड़ी जैसी, विस्तीर्णम् = चौड़ी स्वस्तिकम् = स्वस्तिक के आकार जैसी, पूर्ण कुम्भम् = नीचे–ऊपर कुछ संकरी तथा बीच में चौड़ी। (एते = ये, सप्त = सात, सन्धिप्रकाराः = सेंधों के प्रकार, सन्ति = हैं) तत् = तो, कस्मिन् = किस, देशे = स्थान में, आत्मशिल्पम् = अपनी कला को, दर्शयामि = दिखलाऊँ, यत् = जिससे यम् = जिसको, दृष्ट्वा = देखकर, श्वः = सुबह, पौराः = नगरी के लोग, विस्मयम् = आश्चर्य को, यान्ति = जायेंगे

अर्थः— खिले हुए कमल, सूर्य (गोल), द्वितीया के चन्द्रमा (अर्द्धचन्द्राकार) बावड़ी, विस्तृत, स्वस्तिक (इस प्रकार के चिह्न वाला) पूर्ण घड़ा (ये सात सेंध के प्रकार हैं) तो किस जगह अपनी (सेंध फोड़ने की) चतुराई दिखलाऊँ? जिसे सबेरे देखकर नगर के लोग आश्चर्य चकित हो जायँ।।१३।।

टीका— पद्मवत् = कमलवत् व्याकोशम् = उत्फुल्लम्, विकसितकमलसमानमित्यर्थः; भास्करम् = सूर्यमण्डलसन्निभम्, गोलाकारमित्यर्थ बालचन्द्रम् = शुक्लद्वितीयाचन्द्राकारम्, वक्रमित्यर्थः; वापी = दीर्घिकासदृशम्, चतुष्कोणमित्यर्थः; विस्तीर्णम् = विस्तृतम स्वस्तिकम् = स्वस्तिकाकारतुल्यम्; पूर्णकुम्भम् = पूर्वघटाकारमधः उर्ध्वं च कृशं मध्ये स्थूलमिति। (एते = पूर्वकथिताः, सप्त = सप्तसंख्याकाः सन्धिप्रकाराः = सन्धिभेदाः सन्ति)। तत् = तस्मात् कस्मिन् देशे = कस्मिन् भित्तिस्थाने, आत्मनः = स्वस्य शिल्पम् = कलाकारिताम्; दर्शयामि = प्रदर्शयामि; यत् = यस्मात्; यम् = सन्धिम्; दृष्ट्वा = अवलोक्य, श्वः = प्रातःकाले पौराः = पुरवासिनः; विस्मयम् = आश्चर्यम्; यान्ति = प्राप्नुवन्ति।।१३।।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है वैश्वदेवी। लक्षण– "बाणश्चैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ'।।१३।।

तदत्र पक्वेष्टके पूर्णकुम्भ एव शोभते। तमुत्पादयामि।

अन्यासु भित्तिषु मया निशि पाटितासु
क्षारक्षतासु विषमासु च कल्पनासु।
दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशिवर्गो
दोषांश्च मे वदति कर्मणि कौशलं च।।१४।।

अर्थः— तो इस पक्की ईंटों वाले मकान में पूर्ण घड़े के आकार की सेंध ही अच्छी लगती है अतः उसी को बनाता हूँ।

अन्वयः— निशि, अन्यासु क्षारक्षतासु, भित्तिषु, विषमासु, कल्पनासु, मया, पाटितासु, प्रभातसमये, प्रतिवेशिवर्गः, दृष्ट्वा, मे दोषान् कर्मणि, कौशलम्, च, वदति।।१४।।

शब्दार्थः— निशि = रात में, अन्यासु = दूसरी, क्षारक्षतासु = क्षार से कटी हुई, भित्तिषु = दीवारों में, विषमासु = विचित्र, कल्पनासु = सूझ–बूझ में, मया = मेरे द्वारा, पाटितासु = फोड़ी जाने पर, प्रभातसमये = प्रातःकाल, प्रतिवेशिवर्ग = पड़ोसी लोग दृष्टवा = देखकर, मे = मेरे, दोषान् = दोषों को, कर्मणि = काम में, कौशलम् = चतुराई को, च = भी, वदति = कहेंगे।

अर्थः— रात के समय दूसरी, क्षार से कटी हुई दीवारों के, विचित्र सूझ–बूझ के साथ मेरे द्वारा, फोड़ी जाने पर प्रातःकाल पड़ोसी लोग सेंध को देखकर मेरे दोष एवं सेंध बनाने के काम की चतुराई को कहेंगे।।१४।।

टीका— निशि = रात्रौ; अन्यासु = अपरासु; क्षारेण = लवणेन; क्षतासु = दूषितासु; भि ष्षु = कुड्येषु; एवं विषमासु = विलक्षणासु, कल्पनासु = सन्धिरचनोत्प्रेक्षासु; विलक्षणया कल्पनया इति भावः; मया = इ विलकेन; पाटितासु = विदारितासु सतीषु, प्रभातसमये = प्रातःकाले; प्रतिवेशिनाम् = तत्पल्लीस्थानाम् वर्ग = समूहः; दृष्ट वा = अवलोक्य; सन्धिमिति शेषः; मे = मम चौरस्येतिभावः; दोषान् = अपराधान्; कर्मणि = कार्ये, चौरकार्ये इत्यर्थः; कौशलम् = नैपुण्यम्, च = अपि, वदति = कथयिष्यति इत्यर्थः।।१४।।

इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रतः।, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगाचार्याय यस्याहं प्रथमः शिष्यः। तेन च परितुष्टेन योगरोचना मे दत्ता।

अनया हि समालब्धं न मां द्रक्ष्यन्ति रक्षिणः।
शस्त्रं च पतितं गात्रे रुजं नोत्पादयिष्यति।।१५।।

अर्थः— वरदानी 'कुमार कार्तिकेय को नमस्कार है। 'कनकशक्ति' 'ब्रह्मण्यदेव' एवं 'देव व्रत' के लिए नमस्कार है। 'भास्करनन्दी' के लिए नमस्कार है। 'योगाचार्य' को नमस्कार है, जिनका मैं पहला शिष्य हूँ। मेरे ऊपर खुश हुए उन्होंने योगरोचना (एक ऐसा मलहम जिसके लगा लेने से मनुष्य दिखलायी नहीं पड़ता और न तो शस्त्र आदि के मारने से चोट ही लगती है) मुझे दी है।

अन्वयः— अनया, समालब्धम्, माम्, रक्षिणः, हि, न, द्रक्ष्यन्ति, (तथा) गात्रे, पतितम्, शस्त्रम्, च, रुजम्, न, उत्पादयिष्यति।।१५।।

शब्दार्थः— अनया = इस योगरोचना के द्वारा, समालब्धम् = लेपन किये गये, माम् = मुझको, रक्षिणः = सिपाही, हि = अवश्य, न = नहीं, द्रक्ष्यन्ति = देखेंगे, (तथा = और) गात्रे = शरीर पर, पतितम् = पड़ा हुआ, शस्त्रम् = शस्त्र, च = भी, रुजम् = पीडा को, न = नहीं, उत्पादयिष्यति = उत्पन्न करेगा।

अर्थः— (शरीर में) इस के लेपन कर लेने पर मुझको सिपाही नहीं देख सकेंगे। और शरीर पर पड़ा हुआ शस्त्र पीड़ा नहीं उत्पन्न करेगा।।१५।।

टीका— अनया = योगरोचनया; समालब्धम् = कृतसमालम्भनम्; आलिप्तशरीरमित्यर्थः; माम् = शर्विलकम्; रक्षिणः = रक्षणे नियुक्ताः राजपुरुषाः; हि = निश्चितम्; न द्रक्ष्यन्ति = नावलोकयिष्यन्ति; तथा गात्रे = शरीरे; पतितम् = प्रक्षिप्तम्; शस्त्रम् = आयुधम्; च = अपि; रुजम् = पीडाम्; न उत्पादयिष्यति = जनयिष्यति।।१५।।

इस श्लोक मे समुच्चय अलंकार एवं अनुष्टुप् छन्द है।

(तथा करोति) धिक्कष्टम्। प्रमाणसूत्रं मे विस्मृतम्। (विचिन्त्य) आं, इदं यज्ञोपवीतं प्रमाणसूत्रं भविष्यति। यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्, विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः,-

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्ग-
मेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटनं भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च।।१६।।

अर्थ :— (शरीर में लेप करता है) हाय, खेद है। अपना नापने का धागा भूल आया। (सोचकर) हां, यह यज्ञोपवीत नापने का धागा बन जायेगा। ब्राह्मण के लिए यज्ञोपवीत बड़े काम की चीज है। विशेषतः हम जैसों के लिए, क्योंकि —

अन्वयः— (मादृशः, चौरः) एतेन, भित्तिषु, कर्ममार्गम्, मापयति, एतेन, भूषणसम्प्रयोगान्, मोचयति, यन्त्रदृढे, कपाटे, (एतेन), उद्घाटनम्, भवति, कीटभुजगैः, दष्टस्य, परिवेष्टनम्, च (भवति)।।१६।।

शब्दार्थः— (मादृशः = मेरे जैसा, चौरः = चोर व्यक्ति) एतेन = इस जनेऊ से, भित्तिषु = दीवारों में, कर्ममार्गम् = सेंध को, मापयति = नापता है। एतेन = इससे भूषणसम्प्रयोगान् = जेवरों के जोड़ों को, मोचयति = खोलता है, यन्त्रदृढे = किल्ली से कसकर बन्द की गयी, कपाटे = किवाड़ में, (एतेन = इससे), उद्घाटनम् = खोलना, भवति = होता है, कीटभुजगैः = कीड़ों तथा सर्पों के द्वारा, दष्टस्य = काटे गये व्यक्ति का, (यह), परिवेष्टनम् = लपेटना, बन्धन, च = भी, (भवति = होता है)।।

अर्थः— (चोर) इससे दीवारों में सेंध नापता है। इससे पहने गये जेवरों के जोड़ खोलता है। इससे किल्ली से कस कर बन्द की गयी किवाड़ खोली जाती है। विषैले कीड़ों तथा सर्पों के द्वारा काट खाये गये व्यक्ति के लिये यह बन्धन हो जाती है। (जिस जगह सर्प आदि काटते हैं, उसके ऊपर कस कर बाँध देने से विष का दौर दूसरे अंगों में नहीं होता है)।।१६।।

टीका— मादृशः चौरः एतेन = यज्ञोपवीतेन; भित्तिषु = कुड्येषु; कर्मणः = तस्करतारूपकार्यस्य मार्गम् = सन्धिरूप पन्थानम् = [illegible] यति = मितं विदधाति; एतेन = यज्ञोपवीतेनैव; भूषणनाम = परिहितालंकाराणाम् संप्रयोगान् = श्लिष्टबन्धान् [illegible] शिथिलीकरोति इति भाव; यन्त्रेण = अर्गलादिना दृढे = संयमिते, कपाटे, उद्घाटनम् = मोचनम् भवति = जायते कीट = वृश्चिकादिभिः सर्पैः = भुजगैः च; दष्टस्य = सञ्जातदंशनस्य जनस्य; परिवेष्टनम् = परित [illegible] तीति शेषः।।१६।।

इस श्लोक में समुच्य अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

मापयित्वा कर्म समारभे। (तथा कृत्वावलोक्य च) एकलोष्टावशेषोऽयं संधिः। घिक्कष्टम्, अहिना दष्टोऽस्मि। (यज्ञोपवीतेनांगुलीं बद्धवा विषवेगं नाटयति; चिकित्सां कृत्वा) स्वस्थोऽस्मि। (पुनः कर्म कृत्वा दृष्ट्वा च) अये, ज्वलति प्रदीपः। तथा हि,—

शिखा प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा महीतले संधिमुखेन निर्गता।
विभाति पर्यन्ततमः समावृता सुवर्णरेखेव कषे निवेशिता।।१७।।

अर्थः— नाप कर सेंध लगाना प्रारम्भ करता हूँ। (वैसा करके और देखकर) अब इस सेंध में एक ही ईंट निकालना [illegible] गया है। हाय! हाय!! बड़ा कष्ट है। साँप ने काट खाया (जनेऊ से अँगुली को बाँध कर विष चढ़ने का अभिनय करता है। दवा करके) स्वस्थ हो गया। (फिर सेंध फोड़कर और देखकर) अरे! दीपक जल रहा है। जैसे कि

अन्वयः— सुवर्णपिञ्जरा, सन्धिमुखेन, महीतले, निर्गता, पर्यन्ततमः समावृता, प्रदीपस्य, शिखा कषे निवेशिता, सुवर्णरेखा, इव, विभाति।।१७।।

शब्दार्थः— सुवर्णपिञ्जरा = सोना जैसी पीली, सन्धिमुखेन सेंध के छेद से, महीतले = जमीन पर, निर्गता = निकली हुई, पर्यन्ततमःसमावृता = चारों ओर अँधेरे से घिरी हुई, प्रदीपस्य = दीपक की, शिखा = लौ, कषे = कसौटी पर, निवेशिता = खींची गयी, सुवर्णरेखा = सोने की रेखा, इव = जैसी, विभाति = शोभित हो रही है।

अर्थः— सोना जैसी पीली, सेंध के छेद से बाहर जमीन पर निकली हुई, चारों ओर अँधेरे से घिरी हुई दीपक की लौ ऐसी शोभित हो रही है जैसी कसौटी पर खींची गई सोने की रेखा।।१७।।

टीका— सुवर्णवत् = कनकमिव पिञ्जरा = पिंगलवर्णा; सन्धिमुखेन = सन्धिछिद्रेण, महीतले = भूतले, निर्गता = निःसृता [illegible] न्तषु = परितः, चतुर्भागेषु इत्यर्थः तमसा = अन्धकारेण समावृता = समाच्छन्ना; प्रदीपस्य = दीपकस्य, शिखा = [illegible] कषे = शाणे; निवेशिता = दत्ता, सुवर्णस्य = कनकस्य रेखा = लेखा, इव = यथा; विभाति = शोभते।।१७।।

इस श्लोक में उपका अलंकार एवं वंशस्थ छन्द है।

(पुनः कर्म कृत्वा) समाप्तोऽयं संधिः। भवतु, प्रविशामि। अथवा न तावत्प्रविशामि। प्रतिपुरुषं निवेशयामि। (तथा कृत्वा) अये, न कश्चित्। नमः कार्तिकेयाय। (प्रविश्य, दृष्ट्वा च) अये, पुरुषद्वयं सुप्तम्। भवतु, आत्मरक्षार्थं द्वारमुद्घाटयामि। कथं जीर्णत्वाद्गृहस्य विरौति कपाटम्?। तद्यावत्सलिलमन्वेषयामि। क्व नु खलु सलिलं भविष्यति?। (इतस्ततो दृष्ट्वा सलिलं गृहीत्वा क्षिपन्, सशंकम्) मा तावद्भूमौ पतच्छब्दमुत्पादये। भवतु। एवं तावत्। (पृष्ठेन प्रतीक्ष्य कपाटमुद्घाट्य च) भवतु एवं तावत्। इदानीं परीक्षे किं लक्ष्यसुप्तम्, उत परमार्थसुप्तमिद द्वयम्। (त्रासयित्वा परीक्ष्य च) अये, परमार्थसुप्तेनानेन भवितव्यम्। तथा हि,-

निःश्वासोऽस्य न शंकितः सुविशदस्तुल्यान्तरं वर्तते
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला।
गात्रं स्रस्तशरीरसंधिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं
दीपं चापि न मर्षयेदभिमुखं स्याल्लक्ष्यसुप्तं यदि।।१८।।

अर्थः— (फिर सेंध फोड़ कर) यह सेंध पूरी हो गई अच्छा अब प्रवेश करूँ। अथवा पहले मैं स्वयं न घुस कर मनुष्य के पुतले को घुसाता हूँ। (वैसा करके) अरे! कोई नहीं है। 'कार्तिकेय' के लिए नमस्कार है। (घुस कर और देख कर) अरे दो मनुष्य सोये हुए हैं। अच्छा, तो अपनी रक्षा के लिए दरवाजा खोलता हूँ। क्यों? घर के पुराना होने के कारण किवाड़ मरमराती (शब्द करती) हैं? तो जब तक पानी ढूँढता हूँ। पानी कहाँ होगा? (इधर–उधर देखकर पानी को लेकर किवाड़ पर डालता हुआ शंका पूर्वक) जमीन पर गिरता हुआ (यह पानी) शब्द पैदा न करे। अच्छा तो ऐसा करूँ। (पीठ के सहारे किवाड़ उतार कर) अच्छा, तो ऐसा (करूँ)। अब परीक्षा करूँगा कि यह दोनों बनावटी रूप से सो रहे हे अथवा वास्तव में सोये हुए हैं। (डरा कर और परीक्षा करके) अरे ये दोनों सचमुच सोये हुए हैं। क्योंकि–

अन्वयः— अस्य, निःश्वासः, शंकितः, न, (अपि तु), सुविशदः, तुल्यान्तरम्, वर्तते, दृष्टिः, गाढनिमीलिता (अस्ति, सा) न, विकला, अभ्यन्तरे, न, चञ्चला, (वर्तते), गात्रम्, स्रस्तशरीरसंधिशिथिलम्, शय्याप्रमाणाधिकम् (च, वर्तते), यदि, लक्ष्यसुप्तम्, स्यात्, (तदा), अभिमुखम्, दीपम्, च, अपि, न, मर्षयेत्।।१८।।

शब्दार्थः—अस्य = सोये हुए इन दोनों पुरुषों की, निःश्वासः = साँस, शंकितः = शंकायुक्त, न = नहीं है, (अपि तु = किन्तु) सुविशदः = स्पष्ट, सरल, तुल्यान्तरम् = समान अन्दर के साथ (चालवाली), वर्तते = है, दृष्टिः = आँख, गाढनिमीलिता = भली–भाँति बन्द, (अस्ति = है, सा = वह आँख), न विकला = न बेचैन, (और) अभ्यन्तरे = भीतर में, न चञ्चला = न तो चञ्चल, (वर्तते = है), गात्रम् = शरीर, स्रस्तशरीरसंधिशिथिलम् = जोड़ों के ढीली होने के कारण शिथिल, शय्याप्रमाणाधिकम् = खाट के आकार से अधिक, (वर्तते = है), यदि, लक्ष्यसुप्तम् = छल से सोये हुए, स्यात् = होते, (तदा = तब), अभिमुखम् = सामने, दीपम् = दीपक को, अपि = भी, न मर्षयेत् = न सहन करते।।

अर्थः— सोये हुए इन दोनों की साँस शंका युक्त नहीं है अर्थात् स्वाभाविक रीति से चल रही है। उनकी यह साँस स्पष्ट तथा समान अन्तर वाली अर्थात् एक रूप से चलने वाली है। आँख भली भाँति बन्द है। वह आँख न तो बेचैन है और न पुतली ही चञ्चल है। देह के जोड़ों के ढीली होने के कारण शरीर शिथिल तथा खाट के आकार से अधिक है। अर्थात् गाढ़ी नींद के कारण शरीर के अंग खाट के नीचे भी लटक रहे हैं। यदि ये छल से सोये होते तो साँस ने दीपक के प्रकाश को भी नहीं सहन करते अर्थात् दीपक के प्रकाश से इनकी आँखें चौंधिया जाती।।१८।।

टीका— अस्य = सुप्तपुरुषद्वयस्य; निःश्वासः = प्राणवायुः, शंकितः = शंकायुक्तः; नास्ति; अपि तु; सुविशदः = स्पष्टः, सरलः; तुल्यम् = एकरूपम् अन्तरम् = व्यवधानम् यथा स्यात्तथा; वर्तते = अस्ति; दृष्टिः = नेत्रम् = सुदृढम् निमीलिता = मुद्रिता; अस्तीति शेषः; सा न विकला विक्लवा; तथा अभ्यन्तरे = नेत्राभ्यन्तरे; न चञ्चला = न च चाञ्चल्ययुक्ता; वर्तते; गात्रम् = शरीरम्; स्रस्ताः = शिथिलाः ये शरीरसन्धयः = अवयवग्रन्थयः तैः शिथिलम् = स्रस्तम् पतितम् वा; शय्यायाः = खट्वायाः प्रमाणात् = परिमाणात् अधिकम् = अतिरिक्तम्; वर्तते; यदि = चेत्; लक्ष्येण = छलेन सुप्तम् = शयितम् स्यात् = भवेत्, तदा अभिमुखम् = समक्षम्; दीपम् = दीपकम्; चापि; न मर्षयेत् = न सहेत।।१८।।

स्वभावोक्ति अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित।।१८।।

(समन्तादवलोक्य) अये! कथं मृदंगः, अयं दर्दुरः, अयं पणवः, इयमपि वीणा, एते वंशाः, अमी पुस्तकाः, कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम्। अथवा भवनप्रत्ययात्प्रविष्टोऽस्मि। तत्किं परमार्थदरिद्रोऽयम्, उत राजभयाच्चौरभयाद्वा भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति। तन्ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यम्। भवतु, बीजं प्रक्षिपामि। (तथा कृत्वा) निक्षिप्तं बीजं न क्वचित्स्फारीभवति। अये, परमार्थदरिद्रोऽयम्। भवतु गच्छामि।

विदूषकः—(उत्स्वप्नायते) भो वअस्स! संघी विअ दिस्सदि, चोरं विअ पेक्खामि, ता गेण्हदु भवं एदं सुवण्णभंडअं। (भो वयस्य! संधिरिव दृश्यते, चौरमिव पश्यामि, तद्गृह्णातु भवानिदं सुवर्णभाण्डम्।)

शर्विलकः—किं नु खल्वयमिह मां प्रविष्टं ज्ञात्वा दरिद्रोऽस्मीत्युपहसति?। तत्किं व्यापादयामि उत लघुत्वादुत्स्वप्नायते?। (दृष्ट्वा) अये, जर्जरस्नानशाटीनिबद्धं दीपप्रभयोद्दीपितं सत्यमेवैतदलंकरणभाण्डम्। भवतु, गृह्णामि। अथवा न युक्तं तुल्यावस्थं कुलपुत्रजनं पीडयितुम, तद्गच्छामि।

विदूषकः—भो वअस्स! सावित्तोसि गोबह्मणकामाए, जइ एदं सुवण्णभंडअं ण गेणाहसि। (भो वयस्य! शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया, यद्येतत्सुवर्णभाण्डं न गृह्णासि।)

शर्विलकः- अनतिक्रमणीया भगवती गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या च तद्गृह्णामि। अथवा ज्वलति प्रदीपः। अस्ति च मया प्रदीपनिर्वापणार्थमाग्नेयः कीटो धार्यते। तं तावत्प्रवेशयामि। तस्यायं देशकालः। एष मुक्तो मया कीटो यात्वेवास्य दीपस्योपरि मण्डलैर्विचित्रैर्विचरितुम्। एष पक्षद्वयानिलेन निर्वापितो भवत्पीठेन। धिक्कृतमन्धकारम्। अथवा मयाप्यस्मद्ब्राह्मणकुले न धिक्कृतमन्धकारम्?। अहं हि चतुर्वेदविदोऽप्रतिग्रहकस्य पुत्रः शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिकामदनिकार्थमकार्यमनुतिष्ठामि। इदानीं करोमि ब्राह्मणस्य प्रणयम्। (इति जिघृक्षति)

विदूषकः— भो वअस्स! सीदलो दे अग्गहत्थो। (भो वयस्य! शीतलस्तेऽग्रहस्तः।)

शर्विलकः — धिक्प्रमादः। सलिलसंपर्काच्छीतलो मेऽग्रहस्तः। भवतु, कक्षयोर्हस्तं प्रक्षिपामि (नाट्येन सव्यहस्तमुष्णीकृत्य गृह्णाति)

विदूषकः— गहिदम्। (गृहीतम्।)

शर्विलकः — अनतिक्रमणीयोऽयं ब्राह्मणप्रणयः, तद्गृहीतम्।

विदूषकः— ताणिं विक्किणिदपण्णोविअ वाणिओ, अहं सुहं सुविस्सम्। (इदानीं विक्रीतपण्य इव वणिक्, अहं सुखं स्वप्स्यामि।)

शर्विलकः — महाब्राह्मण! स्वपिहि वर्षशतम्। कष्टमेवं मदनिकागणिकार्थे ब्राह्मणकुलं तमसि पातितम्, अथवा आत्मा पातितः?।

धिगस्तु खलु दारिद्र्यमनिर्वेदितपौरुषम्।
यदेतद्गर्हितं कर्म निन्दामि च करोमि च।।१६।।

अर्थः— (चारों ओर देखकर) अरे! क्या (यह) मृदंग है। यह दर्दुर है? यह पणाव है, यह वीणा है, ये बासुरियाँ हैं आदि के मुस्तक हैं। क्या यह मकान नाच–गाना आदि सिखलाने वाले किसी नाट्याचार्य का है? अथवा घर के विश्वास से घुस आया हूँ अर्थात् महल बड़ा है। अतः धन से भरा होगा। इस विश्वास से घुस आया हूँ। तो क्या यह वास्तव में दरिद्र है अथवा राजा एवं चोरों के डर के मारे जमीन में गाड़ कर अपना धन रखता है। तो क्या मुझ 'शर्विलक' के लिए भी जमीन में छिपा हुआ धन अप्राप्य है? अच्छा बीज फेंकता हूँ। (बीज फेंक कर) फेंका गया बीज कहीं नहीं फैल रहा है। अरे यह तो सचमुच दरिद्र है। अच्छा, जाता हूँ।

विदूषक— (स्वप्न में बड़बड़ाता है) हे मित्र! सेंध सी दिखाई दे रही है। चोर सा देख रहा हूँ। अतः आप इस स्वर्ण भाण्ड को ले

शर्विलक—क्या यह सचमुच मुझे इस घर में घुसा हुआ जान कर "मैं दरिद्र हूँ" ऐसा सूचित कर मेरी हँसी उड़ा रहा है या मुझे डालूँ? अथवा चञ्चल होने के कारण स्वप्न देखता हुआ बड़बड़ा रहा है। (देख कर) अरे! नहान की फली पुरानी धोती में बँधा हुआ, दीपक के प्रकाश से चमकनेवाला सचमुच ही यह आभूषणों का डिब्बा है। अच्छा, लेता हूँ। अथवा अपनी ही तरह (निर्धन) हालत वाले अच्छे कुल में पैदा हुए व्यक्ति को दुःख देना ठीक नहीं है। तो जाता हूँ।

विदूषक— हे मित्र *गाय और ब्राह्मण की अभिलाषा के द्वारा तुम्हें शपथ दिलाता हूँ अर्थात् तुम्हें गाय और ब्राह्मण की सौगन्ध है* यदि तुम आभूषण के इस डिब्बे को नहीं लेते हो।

शर्विलक—भगवती गाय और ब्राह्मण की अभिलाषा उल्लंघन करने लायक नहीं होती अर्थात् गाय और ब्राह्मण की सौगन्ध दिलाने लायक नहीं होती, तो ले लेता हूँ। किन्तु दीपक जल रहा है। दीपक बुझाने के लिए मैं आग का कीड़ा रखता हूँ। तब तक उसको छोड़ता हूँ। उसको छोड़ने के लिए यही उचित समय और स्थान है। मेरे द्वारा छोड़ा गया यह कीड़ा इस दीपक के ऊपर विचित्रता से मडराने के लिये उड़े। 'भद्रपीठ' कीड़े ने अपने पंखों की हवा से इस का बुझा दिया। हाय! अंधेरा कर दिया, अथवा, हाय! मैंने भी अपने ब्राह्मण कुल में अँधेरा नहीं कर दिया? अर्थात् कर दिया। मैं वार्ता करने वाले तथा दान न लेने वाले का पुत्र 'शर्विलक' नाम का ब्राह्मण वेश्या मदनिका के लिए अनुचित कार्य कर रहा हूँ, अब ब्राह्मण का प्रणय करता हूँ। अर्थात् ब्राह्मण विदूषक की प्रार्थना स्वीकार करता हूँ। (ऐसा कह कर लेना चाहता है)

विदूषक— हे मित्र! तुम्हारी अँगुलियाँ ठण्डी हैं।

शर्विलक—दुःख है। बड़ी असावधानी हो गयी। जल के छूने से मेरी अँगुलियाँ ठण्डी हो गई हैं। अच्छा, अंगुलियों को कक्ष में रखता हूँ अर्थात् रखकर गरम करता हूँ। (अभिनयपूर्वक दाहिने हाथ को गर्म करके सोने के जेवरों के डिब्बे को लेता है)

विदूषक— ले लिया?

शर्विलक—ब्राह्मण का आग्रह टालने लायक नहीं है। इसलिए ले लिया।

विदूषक— अब मैं समान बेच कर खाली हुए बनिये की भाँति सुख के साथ सोऊँगा।

शर्विलक—महाब्राह्मण! सौ वर्ष सोते रहो। अफसोस है कि 'मदनिका' वेश्या के लिये ब्राह्मण कुल को अन्धकार में डाल दिया अथवा अपने आपको गिरा दिया?

अन्वयः— अनिर्वेदितपौरुषम्, दारिद्र्यम् खलु, धिक्, अस्तु, यत्, एतत्, गर्हितम्, कर्म, निन्दामि, च, करामि च।।१६

शब्दार्थः— अनिर्वेदितपौरुषम् = जिसमें आदमी का पुरुषार्थ कुछ भी नहीं कर पाता ऐसी, दारिद्र्यम् = गरीबी को, खलु = निश्चय ही, धिक् = धिक्कार, अस्तु = हो, यत् = जिससे, एतत् = यह, गर्हितम् = निन्दनीय, कर्म = काम को, निन्दामि = अनुचित बतला रहा हूँ, च = और, करोमि च = कर भी रहा हूँ।

अर्थः— जिसमें आदमी का पुरुषार्थ कुछ भी नहीं कर पाता। ऐसे गरीबी को धिक्कार है। जिसके कारण इस निन्दनीय काम की निन्दा कर रहा हूँ और फिर भी कर रहा हूँ। अर्थात् गरीबी कठिन होती है। इसी के कारण मैं चोरी को बुरा काम समझता हुए भी कर रहा हूँ।।१६।।

टीका— अनिर्वेदितपौरुषम्—निर्वेदः सञ्जातः अस्य इति निर्वेदितं न निर्वेदितम् अनिर्वेदितम् = अखिन्नम् वा अनिश्चितम् अगणितमित्यर्थः पौरुषम् = पुरुषस्य भावः कर्म वा यस्मिन् तत्; दारिद्र्यम् = निर्धनत्वं; खलु = निश्चितम्; धिक्; अस्तु = वर्तताम्। यत् = यस्मात्, अहमितिशेषः, एतत् = प्रारभ्यमाणाम्; गर्हितम् = निन्दितम्, कर्म = कार्यम् तस्करतामित्यर्थः, निन्दामि च = निर्भर्त्सयामि च, करोमि च = विवशतया सम्पादयामि च।।१६।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं अनुष्टुप् छन्द है।

तद्यावन्मदनिकाया निष्क्रयणार्थं वसन्तसेनागृहं गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, पदशब्द इव। मा नाम रक्षिणः। भवतु, स्तम्भीभूत्वा तिष्ठामि। अथवा ममापि नाम शर्विलकस्य रक्षिणः। योऽहं

मार्जारः क्रमणे, मृगः प्रसरणे, श्येनो ग्रहालुञ्चने,
सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने श्वा सर्पणे पन्नगः
माया रूपशरीरवेशरचने वाग्देशभाषान्तरे
दीपो रात्रिषु, संकटेषु डुडुमो वाजी स्थले, नौर्जले।।२०।।

अर्थः— तो अब मैं धन देकर 'मदनिका' को दासीपन से छुड़ाने के लिए 'वसन्तसेना' के घर को जाता हूँ। (घूमकर और देखकर) अरे! पैरों की आहट–सी है। परहेदार न हो? अच्छा, खम्भे की भाँति (निश्चल) होकर खड़ा हो जाता हूँ। अथवा मुझ 'शर्विलक' के लिए भी पहरेदार (डर की चीज है)।

अन्वयः— ('यः अहम्') क्रमणे, मार्जारः; प्रसरणे, मृगः; ग्रहालुञ्चने, श्येनः; सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने, श्वा; सर्पणे, पन्नगः; रूपशरीरवेशरचने, माया; देशभाषान्तरे, वाक्; रात्रिषु, दीपः; संकटेषु, डुडुमः; स्थले, वाजी; जले, नौ (अस्मि)।।२०।।

शब्दार्थः— (यः = जो, अहम् = मैं), क्रमणे = उछलने में, मार्जारः = बिलाव; प्रसरणे = जल्द भागने में, मृगः = हरिण; ग्रहालुञ्चने = झपटकर पकड़ने और छीनने में, श्येनः = बाज; सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने = सोये हुए एवं बिना सोये हुए मनुष्य का बल जाँचने में, श्वा = कुत्ता; सर्पणे = सरकने में, पन्नगः = साँप; रूपशरीरवेशरचने = आकार, शरीर एवं वेश बनाने में, माया = इन्द्रजाल; देशभाषान्तरे = दूसरे देश की भाषा बोलने में, वाक् = सरस्वती; रात्रिषु = रातों में, दीपः = दीपक; संकटेषु = संकटों में, डुडुमः = भेड़िया; स्थले = जमीन पर, वाजी = घोड़ा; जले = जल में, नौ = नैया (अस्मि = हूँ)।।

अर्थः— झपटने अथवा उछलने में बिलाव, जल्द भाग निकलने में हरिण, झपट कर पकड़ने और छीनने में बाज, सोये हुए एवं बिना सोये हुए मनुष्य का बल जाँचने में कुत्ता, सरकने में साँप, विचित्र आकार, शरीर एवं वेश बनाने में माया, अनेक देशों की भाषा बोलने में (साक्षात्) सरस्वती, रातों में दीपक, संकट के समय भेड़िया, जमीन पर घोड़ा और जल में नौका (की तरह हूँ) अर्थात् किसी भी हालत में मुझे कोई पकड़ नहीं सकता।।२०।।

टीका— 'यः अहम् = शर्विलकः' क्रमणे = उच्छलने; मार्जारः = विडालः; प्रसरणे = उत्प्लुत्य धावने; मृगः = हरिणः; ग्रहश्च = ग्रहणञ्च आलुञ्चनञ्च = आच्छिद्य हरणञ्च; श्येनः = पक्षिविशेषः; सुप्तस्य = कृतशयनस्य च सुप्तस्य = जागरितस्य च मनुष्यस्य = नरस्य यत् वीर्यम् = सामर्थ्यम् तस्य तुलने = परिज्ञाने निर्धारणे; श्वा = कुक्कुरः; सर्पणे = भूतलपरिसर्पणे; पन्नगः = सर्पः; रूपस्य = आकारस्य शरीरस्य = विभिन्नजीवानां गात्रस्य वेशस्य = अलंकारादिरचनायाः च रचने = निर्माणे; माया = इन्द्रजालम्; अन्या = इतरा देशभाषा = प्रदेशवाणी इति देशभाषान्तरम् तस्मिन्; अन्यदेशभाषायाः परिज्ञाने, परिभाषणे च, वाक् = साक्षात् सरस्वती; रात्रिषु = रजनीषु; दीपः = दीपकः; संकटेषु = विपत्तिषु; डुडुमः = वृकः; स्थले = भूमौ; वाजी = अश्वः; जले = सलिले; नौ = तरणिः; अस्मि इति।।२०।।

यहाँ पर एक ही शर्विलक में विडाल आदि का अभेद रूप से आरोप करने के कारण मालारूपक अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है–शार्दूलविक्रीडित।

अपि च,–

भुजग इव गतौ गिरिः स्थिरत्वे पतगपतेः परिसर्पणे च तुल्यः।
शश इव भुवनावलोकनेऽहं वृक इव च ग्रहणे बले च सिंहः।।२१।।

अन्वयः— अहम्, गतौ, भुजगः, इव, स्थिरत्वे, गिरिः, परिसर्पणे, पतगपतेः, तुल्यः, भुवनावलोकने शशः, इव, ग्रहणे, वृकः, इव, बले, च, सिंहः, (अस्मि)।।२१।।

शब्दार्थः— अहम् = मैं, गतौ = चाल में, भुजगः = सर्प, इव = जैसा, स्थिरत्वे = अडिग होने में, गिरिः = पर्वत, परिसर्पणे = जल्दी चलने में, पतगपतेः = पक्षिराज गरुड़ के, तुल्यः = समान, भुवनावलोकने = संसार को देखने में, शशः = खरगोश, इव =

जैसा, ग्रहणे = पकड़ने में, वृकः = भेडिया, इव = जैसा, बले = बल में, च = भी, सिंहः = सिंह, अस्मि = हूँ।

अर्थः— मैं चाल में साँप के समान, स्थिरता में पर्वत एवं जल्दी चलने में पक्षियों के राजा गरुड़ के तुल्य, ससार को देखने में खरगोश जैसा पकड़ने में भेडिया की भाँति एवं बल में सिंह के तुल्य हूँ।।२१।।

टीका— अहम् = शर्विलकः; गतौ = गमने; भुजगः = सर्पः; इव = यथा; स्थिरत्वे = दृढतायाम्; गिरिः = पर्वतः, परिसर्पणे = गमने च; पतगपतेः = पक्षिराजस्य गरुडस्येत्यर्थः; तुल्यः = सदृशः; भुवनस्य = संसारस्य अवलोकने = दर्शने, शशः = शश इव; ग्रहणे = ग्रहे; वृकः इव; बले = वीर्ये च, सिंहः = मृगराजः; अस्मीति।।२१।।

यहाँ पर एक ही उपमेय शर्विलक की बहुत से उपमानों के साथ समानता बतलाने के कारण मालोपमा अलंकार है। इस श्लोक के छन्द का नाम है पुष्पिताग्रा,—लक्षण—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।।

(प्रविश्य)

रदनिका— हद्धी हद्धी, बाहिरदुआरसालाए पसुत्तो वड्ढमाणओ। सोवि एत्थ ण दीसइ। भोदु। अज्जमित्तेअं सद्दावेमि (हा धिक् हा धिक्, बहिर्द्वारशालायां प्रसुप्तो वर्धमानकः। सोऽप्यत्र न दृश्यते। भवतु, आर्यमैत्रेयमाह्वयामि।) इति परिक्रामति)

शर्विलकः—(रदनिकां हन्तुमिच्छति, निरूप्य) कथं स्त्री। भवतु, गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)

रदनिका— (गत्वा, सत्रासम्) हद्धी हद्धी, अम्हाणं गेहे सन्धि कप्पिअ चोरो णिक्कमति। भोदु, मित्तेअं गदुअ पबोधमि। (विदूषकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ! उट्ठेहि उट्ठेहि। अम्हाणं गेहे संधिं कप्पिअ चोरो णिक्कंतो। (हा धिक् हा धिक अस्माकं गृहे संधिं कल्पयित्वा चौरो निष्क्रामति। भवतु मैत्रेयं गत्वा प्रबोधयामि। आर्यमैत्रेय! (उत्तिष्ठोत्तिष्ठ)। अस्माक गेहे संधिं कल्पयित्वा चौरो निष्क्रान्तः।)

विदूषकः—(उत्थाय) आः दासीए धीए! किं भणासि-'चोरं कप्पिअ संधी णिक्कंतो'?। (आः दास्याःपुत्रिके! किं भणसि चोरं कल्पयित्वा संधिर्निष्क्रान्तः?।)

रदनिका—हदास! अलं परिहासेण। किं ण पेक्खसि एण?। (हताश! अलं परिहासेनं। किं न प्रेक्षसे एनम्?।)

विदूषकः—आः दासीए धीए! किं भणासि-'दुदिअं विअ हुआरअं उग्घाडिदं' त्ति?। भो वअस्स चारुदत्त! उट्ठेहि उट्ठेहि। अम्हाणं गेहे संधि दइअ चोरो णिक्कंतो। (आ दास्याःपुत्रिके! किं भणसि-'द्वितीयमिव द्वारमुद्घाटितम्' इति?। भो वयस्य चारुदत्त! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, अस्माकं गेहे संधिं दत्त्वा चौरो निष्क्रान्तः।)

चारुदत्तः—भवतु। भोः, अलं परिहासेन।

विदूषकः—भो! ण परिहासो पेक्खदु भवं। (भो! न परिहासः, प्रेक्षतां भवान्।)

चारुदत्तः—कस्मिन्नुद्देशे?।

विदूषकः—भो! एसो। (भोः! एषः।)

चारुदत्तः—(विलोक्य) अहो, दर्शनीयोऽयं संधिः,-

उपरितलनिपातितेष्टकोऽयं शिरसि तनुर्विपुलश्च मध्यदेशे।
असदृशजनसंप्रयोगभीरो- र्हृदयमिव स्फुटितं महागृहस्य।।२२।।

(प्रवेश करके)

अर्थः— रदनिका— हाय! हाय! वर्धमानक बाहर के दरवाजे वाली कोठरी में सोया हुआ था। वह भी यहाँ नहीं दिखाई दे रहा है अच्छा, आर्य 'मैत्रेय' को पुकारती हूँ।

(ऐसा कह कर घूमती है)

शर्विलक— (रदनिका को मारना चाहता है। देखकर) क्या स्त्री है? अच्छा तो जाता हूँ। (ऐसा कहकर निकल जाता है)

अर्थः—

रदनिका— (जाकर डर के साथ) हाय! हाय!! हमारे घर में सेंध लगाकर चोर निकल रहा है। अच्छा जाकर 'मैत्रेय' को जगाती हूँ (विदूषक के पास जाकर) आर्य मैत्रेय! उठिए, उठिए। हमारे घर में सेंध लगाकर चोर निकल गया।

विदूषक– (उठकर) अरी दासी की लड़की! क्या कह रही हो—चोर को फोड़ कर सेंध निकल गई?"

रदनिका– अरे शरारती! हँसी मत करो। क्या इसे नहीं देखते हो?

विदूषक– अरी दासी की लड़की! क्या कह रही हो कि 'दूसरा दरवाजा सा खोल दिया ।' हे मित्र चारुदत्त! उठो, उठो। हमारे घर में सेंध लगाकर चोर निकल गया।

चारुदत्त– अच्छा, अरे हँसी मत करो।

विदूषक– अरे! हँसी नहीं है। आप देख लीजिए।

चारुदत्त– किस जगह पर?

विदूषक– अरे, यह है।

चारुदत्त– (देखकर) अहो! यह सेंध देखने लायक है।

अवयः– उपरितलनिपातितेष्टकः, शिरसि, तनुः, मध्यदेशे, विपुलः, च, अयम्, (सन्धिः), असदृशजनसम्प्रयोगभीरोः, महागृहस्य, स्फुटितम्, हृदयम्, इव, (दृश्यते)।।२२।।

शब्दार्थः– उपरितलनिपातितेष्टकः = जिसमें ऊपर के हिस्से से खींचकर ईटें हटायी गयी हैं, ऐसी, शिरसि = शिर में, प्रारम्भ में, तनुः = सँकरी, मध्यदेशे = बीच के स्थान में, विपुलः = चौड़ी, विशाल, अयम् = यह (सेंध), असदृशजन = सम्प्रयोगभीरोः = अनुचित व्यक्ति, चोर आदि के घुसने से डरे हुए, महागृहस्य = विशाल घर के, स्फुटितम् = फटे हुए, हृदयमिव = कलेजा के समान, (दृश्यते = दिखलायी पड़ती है)।।

अर्थः– जिसमें ऊपर के हिस्से से खींचकर ईटें हटाई गई हैं, जो ऊपरी हिस्से में सँकरी और बीच के स्थान में चौड़ी है अर्थात् जो घड़े के आकार वाली है ऐसी यह सेंध, अयोग्य मनुष्य के घुसने से डरे हुए इस विशाल घर के फटे हुए कलेजा के समान दिखाई पड़ती है।

टीका– उपरितलात् = उर्ध्वभागात् निपातिताः = आकृष्टाः इष्टकाः यस्य तादृशः; शिरसि = मुखभागे इत्यर्थः; तनुः = क्षीणः; मध्यदेशे = मध्यभागे; विपुलः = विस्तीर्णः; अयम् = सन्धिः; असदृशजनस्य = अयोग्यजनस्य चौरादेः इत्यर्थः, सम्प्रयोगात् = प्रवेशात् भीरोः = भीतस्य; महागृहस्य = विशालप्रासादस्य; स्फुटितम् = विदीर्णम्; हृदयमिव = वक्षःस्थलमिव; दृश्यते इति।।२२।।

यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—पुष्पिताग्रा।

कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता?।

विदूषकः—**भो वअस्स! अअं संधी दुवेहिं ज्जेव दिण्णो भवे-आदु आगंतुएण, सिक्खिदुकामेण वा? अण्णधा इध उज्जइणीए को अम्हाणं घरविहवं ण जाणादि?। (भो वयस्य! एष संधिर्द्वाभ्यामेव दत्तो भवेत्-अथवाऽऽगन्तुकेन, शिक्षितुकामेन वा। अन्यथात्रोज्जयिन्यां कोऽस्माकं गृहविभवं न जानाति?।)**

चारुदत्तः—

वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता
नासौ वेदितवान् धनैर्विरहितं विस्रब्धसुप्तं जनम्।
दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वितः
सन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं पश्चान्निराशो गतः।।२३।।

अर्थः– क्या इस काम में भी कुशलता आवश्यक है?

विदूषक– हे मित्र! यह सेंध दो (तरह के आदमियों) के द्वारा ही लगायी हुई हो सकती है। या तो यहाँ नये आये हुए परदेशी के द्वारा, अथवा चोरी सीखने वाले किसी मनुष्य के द्वारा। नहीं तो, इस 'उज्जयिनी' नगरी में कौन हमारे घर के धन को नहीं जानता है? अर्थात् सभी जानते हैं कि 'चारुदत्त' का घर गरीब है।

अन्वयः– वैदेश्येन, व्यापारम्, अभ्यस्यता, मम, गृहे, (सन्धिः) कृतः, भवेत्, असौ, धनैः, विरहितम्, विश्रब्धसुप्तम्, जनम्, न, वेदितवान्, प्राक्, महतीम्, अस्माकम्, निवासरचनाम्, दृष्टवाआशान्वितः, सुचिरम्, सन्धिच्छेदनखिन्नः, पश्चात्, निराशः, एव, गतः।।२३।।

शब्दार्थः— वैदेश्येन = परदेशी के द्वारा, व्यापारम् = व्यापार को, चोरी को, अभ्यस्यता = सीखने वाले के द्वारा, मम = मेरे, गृहे = घर में (सन्धिः = सेंध), कृतः = की गयी, भवेत् = हो, (किन्तु), असौ = यह चोरी करने वाला, धनैः = धन से, विरहितम् = हीन, विश्रब्धसुप्तम् = निश्चिन्त सोये हुए, जनम् = जन को, हम दोनों को, न = नहीं, वेदितवान् = जान पाया, प्राक् = पहले, महतीम् = भारी, निवासरचनाम् = घर की बनावट को, दृष्ट्वा = देखकर, आशान्वितः = आशावान् होकर, सुचिरम् = देर तक, सन्धिच्छेदनखिन्नः = सेंध फोड़ने के कारण परेशान, पश्चात् = बाद में, निराशः = निराश, एव = ही, गतः = चला गया।

अर्थः— **चारुदत्त**— चाहे नये नये आये हुए किसी परदेशी ने अथवा चोरी सीखने वाले किसी पुरुष ने मेरे घर में यह सेंध लगाई हो। (परन्तु) वह, गरीब अतः निश्चिन्त सोये हुए जन (हम दोनों) को नहीं जान पाया (अर्थात् हमारी हालत उस चोर को मालूम थी)। हमारे इस मकान की भारी बनावट को देखकर पहले वह आशा करके देर तक सेंध फोड़ने के कारण परेशान हुआ (और) बाद में निराश ही चला गया (अर्थात् बेचारा कितनी आशा से मेहनत करके घुसा, परन्तु एक कौडी भी हाथ नहीं लगी)।।२३।।

टीका— विदेशे = परदेशे भवः = उत्पन्नः वैदेश्यः तेन; गृहस्य निर्धनतायाः अपरिचितेन इति यावत्; व्यापारम् = सन्धिविच्छेदनरूपं कार्यम्; अभ्यस्यता = शिक्षमाणेन वा; मम = चारुदत्तस्य; गृहे = भवने; सन्धिः कृतः = कल्पितः; भवेत् = स्यात्, परन्त्वयं भावः = सन्धिविच्छेदकर्ता; धनैः = द्रविणैः; विरहितम् = विहीनम्; अत एव, विश्रब्धम् = निशंकम् यथा स्यात् तथा सुप्तम् = शयानम्; जनम् = पुरुषम्; मामिति न वेदितवान् = न ज्ञातवान्; प्राक् = पूर्वम्, महतीम् = विशालाम्; अस्माकमिव सर्वेषां = गृहस्य रचनाम् = निर्मितिम्; दृष्ट्वा = विलोक्य; आशया अन्वितः आशान्वितः = आशायुक्तः सन्, सुचिरम् = बहुकालं सन्धिच्छेदनेन = सन्धिखननेन खिन्नः = श्रान्तः; भूत्वा पश्चात् = अन्ते गृहावलोकनानन्तरमित्यर्थः, निराशः = निराशः एव गतः = प्रयातः।।२३।।

इस श्लोक में कव्यलिंग अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है शार्दूलविक्रीडित।

ततः सुहृद्भ्यः किमसौ कथयिष्यति तपस्वी-'सार्थवाहसुतस्य गृहं प्रविश्य न किंचिन्मया समासादितम्' इति?।

विदूषकः— **भो! कधं तं ज्जेव चोरहदअं अणुसोचसि?। तेण चिंतिदं महंतं एदं गेहम्। इदो रअणभंडअ सुअण्णभंडअं वा णिक्कामिस्सम्। (स्मृत्वा, सविषादमात्मगतम्) कहिं तं सुवण्णभंडअं। (पुनरनुस्मृत्य, प्रकाशम्) भो वअस्स! तुमं सव्वकालं भणासि-'मुक्खो मित्तेअओ, अपंडिदो मित्तेअहो' त्ति। सुट्ठु मए किदं तं सुवण्णभंडअं भवदो हत्थे समप्पअंतेण। अण्णधा दासीए पुत्तेण अवहिदं भवे। (भोः! कथं तमेव चोरहतकमनुशोचसि?। तेन चिन्तितं महदेतद्गृहम्। इतो रत्नभाण्डं सुवर्णभाण्डं वा निष्क्रामयिष्यामि। कुत्र तत्सुवर्णभाण्डम्। भो वयस्य! त्वं सर्वकालं भणसि-'मूर्खो मैत्रेय अपण्डितो मैत्रेयः' इति। सुष्ठु मया कृतं तत्सुवर्णभाण्डं भवतो हस्ते समर्पयता। अन्यथा दास्याःपुत्रेणापहृतं भवेत्।**

चारुदत्तः— **अलं परिहासेन।**

विदूषकः— **भो! जह णाम अहं मुक्खो ता किं परिहासस्य वि देशआलं ण जाणामि?। (भोः! यथा नामाहं मूर्खस्तत्किं परिहासस्यापि देशकालं न जानामि?।)**

चारुदत्तः— **कस्यां वेलायाम्?।**

विदूषकः— **भो! जदा तुमं मए भणिदोसि—'शीदलो दे अग्गहत्थो'। (भोः! यदा त्वं मया भणितोऽसि-'शीतलस्तेऽग्रहस्त' इति।)**

चारुदत्तः— **कदाचिदेवमपि स्यात्। (सर्वतो निरूप्य, सहर्षम्) वयस्य! दिष्ट्या ते प्रियं निवेदयामि।**

विदूषकः— **किं ण अवहिदम्?। (किं नापहृतम्?।)**

चारुदत्तः— **हृतम्।**

विदूषकः— **तधा वि किं पिअम्?। (तथापि किं प्रियम्?।)**

चारुदत्तः— **यदसौ कृतार्थो गतः।**

विदूषकः— **णासो कखु सो। (न्यासः खलु सः।)**

चारुदत्तः— **कथं न्यासः?। (मोहमुपगतः)**

विदूषकः— **समस्ससदु भव। जइ णासो चोरेण अवहिदो तुमं किं मोहं उवगदो?। (समाश्वसितु भवान्। यदि न्यासश्चौरेणापहृतस्तत्किं मोहमुपगतः?।)**

चारुदत्तः— **(समाश्वस्य) वयस्य!**

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति।
शंकनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता।।२४।।

अर्थः— तब (खाली हाथ यहाँ से जाने पर) यह बेचारा मित्रों से क्या कहेगा कि—"[illegible]र्थवाह के पुत्र चारुदत्त के घर में घुस कर मैंने कुछ भी नहीं पाया।'

विदूषक— अरे, क्यों उस दुष्ट चोर का ही सोच कर रहे हो? उसने सोचा होगा कि यह बड़ा घर है। इसमें से रत्नों का पात्र अथवा सोने का पात्र निकाल लूँगा। (याद करके दुःख के साथ अपने आप) वह सो[illegible]ने के आभूषणों का पात्र कहाँ हैं? (फिर याद करके, प्रकट रूप में) हे मित्र! तुम हर समय यह कहते हो कि 'मैत्रेय मूर्ख है मैत्रेय' बुद्धू है' सोने के गहनों के उस डिब्बे को आपके हाथ में देकर के मैंने बड़ा अच्छा किया। नहीं तो दासी के लड़के (उस चोर) ने चुरा लिया होता।

चारुदत्त— हँसी मत करो।

विदूषक — अरे! यद्यपि मैं मूर्ख हूँ, तो क्या हँसी करने की जगह और समय भी नहीं जानता हूँ?

चारुदत्त— किस समय अर्थात् किस समय तुमने दिया था?

विदूषक — अरे! जिस समय मैंने आप से कहा था कि 'आपकी उँगलियाँ ठण्डी हैं।'

चारुदत्त— शायद ऐसा भी हुआ हो (चारों ओर देखकर खुशी के साथ) मित्र! भाग्य [illegible] तुम्हें प्रिय (बात) सुनाता हूँ।

विदूषक — क्या (वह आभूषण का डिब्बा) चोरी नहीं गया?

चारुदत्त— (चोरी) चला गया।

विदूषक — तो क्या प्रिय है?

चारुदत्त— कि वह सफल होकर गया।

विदूषक — वह तो धरोहर थी।

चारुदत्त— क्या धरोहर? (बेहोश हो गया)।

अर्थः—

विदूषक — आप धीरज रखें। यदि चोर ने धरोहर चुरा ली (तो) तुम क्यों बेहोश हो [illegible]ये।

अन्वयः— कः, भूतार्थम्, श्रद्धास्यति, सर्वः, माम्, तुलयिष्यति, हि, अस्मिन्, लोके, निष्प्रता[illegible]ग, दरिद्रता, शंकनीया, (भवति)।।२४।।

शब्दार्थः— कः = कौन, भूतार्थम् = सच्ची बात को, यथार्थ को, श्रद्धास्यति = मानेगा सर्वः = सब, माम् = मुझको, तुलयिष्यति = तौलेंगे, सन्देह करेंगे, हि = क्योंकि, अस्मिन् = इस, लोके = लोक में, निष्प्रता[illegible]ग = तेजहीन, दरिद्रता = निर्धनता, शंकनीया = सन्देह के योग्य, (भवति = होती है)।।

अर्थः— **चारुदत्त**— (धीरज धारण करके) मित्र।

कौन सच्ची बात पर विश्वास करेगा? सब मुझ पर ही सन्देह करेंगे। क्यों कि इस संसार में तेजहीन दरिद्रता सन्देह का कारण होती है। अर्थात् लोग गरीब को ही दोषी ठहराते हैं। हाय बड़ा दुःख है।

टीका— कः = जनः, भूतम् = यथार्थतया घटितम् अर्थम् = तथ्यम्, सुवर्णभाण्डं चौ[illegible]णापहृतमित्येवं रूपमिति भावः; श्रद्धास्यति = विश्वासं करिष्यति; सर्वः = निखिलः लोकः; माम् = दरिद्रम्चारुदत्तम्; तुलयि[illegible]ष्यति = अवज्ञास्यति। हि = यतः; अस्मिन् = एतस्मिन्; लोके = संसारे; निर् = नास्ति प्रतापः = तेजः पौरुषम् वा यस्[illegible]याम् सा; दरिद्रता = निर्धनता; शंकनीया = शंकायोग्या; भवतीति शेषः।

भोः! कष्टम्,—

यदि तावत्कृतान्तेन प्रणयोऽर्थेषु मे कृतः।
किमिदानीं नृशंसेन चारित्रमपि दूषितम्?।।२५।।

अन्वयः— यदि, तावत्, कृतान्तेन, मे, अर्थेषु, प्रणयः, कृतः, (तर्हि), नृशंसेन, इदानीम्, चारित्रम्, अपि, किम्, दूषितम्।।२५।।

शब्दार्थः— यदि तावत् = यदि, कृतान्तेन = भाग्य के द्वारा, मे = मेरे, अर्थेषु = धन में, प्रणयः = प्रेम, कृतः = किया गया (तो), नृशंसेन = (उस) निष्ठुर के द्वारा, इदानीम् = अब, चारित्रम् = चरित्र को, अपि = भी, किम् = क्यों, दूषितम् = [illegible] किया गया?।।

अर्थः— यदि भाग्य ने मेरा धन छीन लिया तो क्यों उस निष्ठुर ने अब मेरे चरित्र पर भी धब्बा लगा दिया?।।२५।।

टीका— यदि तावत्, कृतान्तेन = दैवेन; मे = मम चारुदत्तस्य; अर्थेषु = धनेषु; प्रणयः = प्रीतिः; कृतः = विहितः; तर्हि, नृन् = जनान् शंसति = हन्ति इति नृशंसः तेन नृशंसेन = क्रूरेण; इदानीम् = सम्प्रति, निर्धनावस्थायामित्यर्थः; चारित्रम् = चरित्रताम् अपि किम् = कथम्; दूषितम् = निन्दनीयं कृतम्?।।२५।।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है अनुष्टुप्।।२५।।

विदूषकः— अहं क्खु अवलविस्सम्-'केण दिण्णम्, केण गहिदम्, को वा सक्खि' त्ति। (अहं खल्वपलपिष्यामि-'केन दत्तम्, केन गृहीतम्, को वा साक्षी' इति।)

चारुदत्तः— अहमिदानीमनृतमभिधास्ये?।

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम्।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम्।।२६।।

अर्थः— विदूषक — मैं झूठे ही कह दूँगा कि—किसने दिया? किसने लिया? और कौन गवाह है?

चारुदत्त— क्या मैं इस समय झूठ बोलूँगा?

अन्वयः— भैक्ष्येण, अपि, न्यासप्रतिक्रियाम्, पुनः, अर्जयिष्यामि, चारित्रभ्रंशकारणम्, अनृतम्, न, अभिधास्यामि।।२६।।

शब्दार्थः— भैक्ष्येण = भीख से, अपि = भी, न्यासप्रतिक्रियाम् = धरोहर के बदले का धन, न्यास—प्रतिशोध का उपाय पुनः = फिर अर्जयिष्यामि = एकत्र करूँगा, चारित्रभ्रंशकारणम् = चरित्र को बिगाड़ देने का कारण, अनृतम् = झूठ, न = नहीं अभिधास्यामि = बोलूँगा।।

अर्थः— (मैं) भीख माँगकर भी धरोहर लौटाऊँगा। किन्तु चरित को बिगाड़ देने वाले झूठ को नहीं बोलूँगा।।२६।।

टीका— भैक्ष्येण = भिक्षाप्राप्तान्नेन भिक्षया वा, अपि; न्यासस्य = निक्षेपस्य प्रतिक्रियाम् = परिशोधम्, तद्योग्यसम्पत्तिमिति भावः पुनः = मुहुः, अर्जयिष्यामि = एकत्रीकरिष्यामि; किन्तु, चारित्रस्य = सच्चरित्रस्य भ्रंशकारणम् = च्युतिकारम्, अनृतम् = असत्यम्; न अभिधास्यामि = न कथयिष्यामि। ।।२६।।

इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है।

रदनिका — ता जाव अज्जा धूदाए गदुअ णिवेदेमि। (तद्यावदार्याधूतायै गत्वा निवेदयामि।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(ततः प्रविशति चेट्या सह चारुदत्तवधूः)

वधूः — (ससंभ्रमम्) अइ, सच्चं अवरिक्खदसरोरो अज्जउत्तो अज्जमित्तेएण सह। (अयि! सत्यमपरिक्षतशरीर आर्यपुत्र आर्यमत्रेयेण सह।)

चेटी — भट्टिणि! सच्चम्, किं तु जो सो वेस्साजणकेरको अलंकारउो सो अवहिदो। (भर्त्रि! सत्यम्, किं तु य [illegible] वेश्याजनस्यालंकारकः सोऽपहृतः।)

(वधूर्मोहं नाटयति)

चेटी — समस्ससदु अज्जा धूदा। (समाश्वसित्वार्या धूता।)

वधूः — (समाश्वस्य) हञ्जे! किं भणासि-'अवरिक्खदसरीरो अज्जउत्तो' त्ति?। वरं दाणिं सो सरीरेण परिक्खदो, ण उण चारित्तेण। संपदं उज्जइणीए जणो एव्वं मंतइस्सदि-दलिद्दादाए अज्जउत्तेण ज्जेव ईदिसं अकज्जं अणुचिट्ठदम्' त्ति। (ऊर्ध्वमवलोक्य, निःश्वस्य च) भअवं कअंत! पोक्खरवत्तपडिदजलबिंदुचंचलेहिं कीलसि दलिद्दपुरिसभाअधेएहिं। इअं च मे एक्का मादुघरलद्धा रअणावली चिट्ठदि। एदं पि अदिसोंडीरदाए अज्जउत्तो ण गेण्हिस्सदि। हञ्जे! अज्जमित्तेअं दाव

सद्दावेहि। (चेटि! किं भणसि-'अपरिक्षतशरीर आर्यपत्रः, इति? वरमिदानीं स शरीरेण परिक्षतः, न पुनश्चारित्रेण। सांप्रतमुज्जयिन्यां जन एवं मन्त्रयिष्यति-'दरिद्रतयार्यपुत्रेणैवेदृशमकर्यमनुष्ठितम्' इति। भगवन्कृतान्त! पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुचञ्चलैः क्रीडसि दरिद्रपुरुषभागर्धयैः। इयं च मे एका मातृगृहलब्धा रत्नावली तिष्ठति। एतामप्यतिशौण्डीरतयार्यपुत्रो न ग्रहीष्यति। चेटि! आर्यमैत्रेयं तावत् शब्दया।)

चेटी— जं अज्जा धूदा आणवेदि। (विदूषकमुपगम्य) अज्जमित्तेअ! धूदा दे सद्दावेदि। (यदार्या धूताऽऽज्ञापयति। आर्यमैत्रेय! धूता त्वामाह्वयति।)

विदूषकः—कहिं सा?। (कुत्र सा?।)

चेटी— एसा चिट्ठदि, उवसप्प। (एषा तिष्ठति, उपसर्प।)

विदूषकः—(उपसृत्य) सोत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

वधूः— अज्ज! वंदामि। अज्ज! पौरत्थिमामुहो होहि। (आर्य! वन्दे। आर्य! पुरस्तान्मुखो भव।)

विदूषकः—एसो भोदि! पौरत्थिआमुहो संवुत्तो म्हि। (एष भवति! पुरस्तान्मुखः संवृत्तोऽस्मि।)

वधूः— अज्ज! पडिच्छ इमम्। (आर्य! प्रतीच्छेमाम्।)

विदूषकः—किं ण्णेदम्?। (किं न्विदम्?।)

वधूः— अहं क्खु रअण्णसिट्ठं उववसिदा आसि। तहिं जधाविहवाणुसारेण बम्हणो पडिग्गाहिदव्वो। सो अ ण पडिग्गाहिदो, ता तस्स किदे पडिच्छ इमं रअणमालिअम्। (अहं खलु रत्नषष्ठीमुपोषितासम्। तत्र यथाविभवानुसारेण ब्राह्मणः प्रतिग्राहितव्यः। स च न प्रतिग्राहितः, तत्तस्य कृते प्रतीच्छेमां रत्नमालिकाम्।)

विदूषकः—(गृहीत्वा) सोत्थि, गमिस्सम्; पिअवअस्सस्स णिवेदेमि। (स्वस्ति, गमिष्यामि; प्रियवयस्यस्य निवेदयामि।)

वधूः— अज्जमित्तेअ! मा क्खु मं लज्जोवेहि। (आर्यमैत्रेय! मा खलु मां लज्जितां कुरु।)

(इति निष्क्रान्ता)

विदूषकः— (सविस्मयम्) अहो, से महाणुभावदा। (अहो, अस्या महानुभावता।)

चारुदत्तः— अये, चिरयति मैत्रेयः। मा नाम वैकल्व्यादकार्यं कुर्यात्। मैत्रेय, मैत्रेय!।

विदूषकः— (उपसृत्य) एसो म्हि। गेण्ह एदम्। (रत्नावलीं दर्शयति) (एषोऽस्मि, गृहाणेदम्।)

चारुदत्तः— किमेतत्?।

विदूषकः— भे, दे सरिसदारसंगहस्स फलं। (भोः, यत्ते सदृशदारसंग्रहस्य फलम्।)

चारुदत्तः— कथं ब्राह्मणी मामनुकम्पते?। कष्टम्, इदानीमस्मि दरिद्रः,-

आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः।
अर्थतः पुरुषो नारी या नारी साऽर्थतः पुमान्।।२७।।

अर्थः— रदनिका — तब तक जाकर आर्या 'धूता' (चारुदत्त की स्त्री) से सारी बातें कहती हूँ।

(सभी चले जाते हैं)।

(इसके बाद चेटी के साथ 'चारुदत्त' की स्त्री प्रवेश करती है)।

वधू — (घबराहट के साथ) अरी! सचमुच आर्य 'मैत्रेय' के साथ आर्यपुत्र चारुदत्त कुशल पूर्वक तो हैं? अर्थात् उन लोगों को कोई चोट तो नहीं लगी?)

चेटी — स्वामिनि! सचमुच। किन्तु जो वेश्या का आभूषण था वह चुरा लिया गया।

('चारुदत्त' की स्त्री मूर्च्छा का अभिनय करती है।)

चेटी — आर्या धूता! धीरज रक्खें।

वधू — (धीरज धारण करके) चेटी क्या कह रही हो कि—'आर्यपुत्र चारुदत्त के शरीर में कोई चोट नहीं लगी है? [illegible] लगने की अपेक्षा उनका शरीर से घायल हो जाना इस समय अच्छा था। अब 'उज्जयिनी' में लोग यह कहेंगे कि [illegible] के कारण आर्य चारुदत्त ने ही ऐसा अनुचित काम किया है।' (ऊपर देखकर और लम्बी साँस लेकर) भगवन् [illegible] के पत्तों पर पड़ी हुई पानी की बूँदों के समान गरीब पुरुषों के चञ्चल भाग्यों से खिलवाड़ करते हो। मेरे नैहर (मायके घर) से मिली हुई रत्नों की एक माला है। बहुत उदारचित्त होने के कारण आर्यपुत्र चारुदत्त इसको भी नहीं लेंगे। चेटी! तनिक आर्य मैत्रेय को बुलाओ।

चेटी — जैसी आर्या 'धूता' की आज्ञा (विदूषक के पास जाकर) आर्य मैत्रेय! 'धूता' तुम्हें बुला रही हैं।

विदूषक— वह कहाँ हैं?

चेटी— यह है। पास जाइए।

विदूषक— (जाकर) आपका भला हो।

वधू— आर्य! प्रणाम करती हूँ। आर्य! जरा सामने मुँह कीजिए।

विदूषक— श्रीमती जी यह मैं सम्मुख हो गया।

वधू— आर्य! इसे लीजिए।

विदूषक— यह क्या है?

वधू — मैंने 'रत्नषष्ठी' का व्रत किया था। उसमें अपने धन के अनुसार ब्राह्मण को दान देना चाहिए। किन्तु (मैंने) [illegible] दान नहीं दिया था। अतः उसके लिए यह रत्नावली ले लो।

विदूषक— (ले करके) (आपका) कल्याण हो। मैं जा रहा हूँ। प्रिय मित्र चारुदत्त से कहूँगा।

वधू— आर्य 'मैत्रेय'! मुझे लज्जित मत करो।

(ऐसा कहकर निकल जाती है।)

विदूषक— (विस्मय के साथ) धन्य है इसकी उदारता!

चारुदत्त— अरे, 'मैत्रेय' देर कर रहा है। कहीं विकलता के कारण अनुचित काम न कर डाले। 'मैत्रेय'! मैत्रेय!! (कहकर [illegible])।

विदूषक— (समीप में जाकर) यह आ गया हूँ। इसे लो (रत्नावली दिखलाता है)।

चारुदत्त— यह क्या है?

विदूषक— अरे तुम्हारे सदृश (गुणिनी) स्त्री से विवाह करने का फल है।

अन्वयः— आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः, स्त्रीद्रव्येण, अनुकम्पितः, पुरुषः, अर्थतः, नारी, (भवति, तथा) या, नारी, सा, अर्थतः, पुमान (भवति) ।२७।

शब्दार्थः— आत्मभाग्यक्षतद्रव्यः = अपने भाग्य के कारण नष्ट धनवाला, स्त्रीद्रव्येण = स्त्री के धन से, अनुकम्पितः = अनुगृहीत, पुरुष = पुरुष, अर्थतः = धन (न होने) से, नारी = स्त्री, (भवति = होता है, तथा = और) या = जो, नारी = स्त्री है, सा = वह अर्थतः = धन से, पुमान् = पुरुष, भवति = होती है।।

अर्थः— **चारुदत्त**— क्या ब्राह्मणी (मेरी स्त्री) मुझ पर दया कर रही है? हाय! इस समय मैं दरिद्र हो गया हूँ।

अपने भाग्य के कारण नष्ट धन वाला तथा स्त्री के धन से अनुगृहीत पुरुष धन (न होने) से स्त्री (के तुल्य) हो और जो नारी है वह धन (हो जाने) से पुरुष (के समान) है।।२७।।

टीका— आत्मनः = स्वस्य भाग्येन = दुर्दैवेन क्षतम् = विनष्टम् द्रव्यम् = धनम् यस्य सः; स्त्रियाः = पत्न्याः द्रव्येण = [illegible] धनेन अनुकम्पितः = अनुगृहीतः; पुरुषः = जनः; अर्थतः = धनात्, धनाभावादिति यावत्; नारी = स्त्री; पोष्यत्वसाम्यादिति भावः भवतीति शेषः; तथा या नारी = स्त्री अस्ति; सा अर्थतः = धनेनेत्यर्थः = पुमान् पुरुषः; रक्षकत्वसाधर्म्यादिति ।२७।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार तथा अनुष्टुप् छन्द है।

अथवा, नाहं दरिद्रः; यस्य मम

विभवानुगता भार्या सुखदुःखसुहृद्भवान्।
सत्यं च न परिभ्रष्टं यद्दरिद्रेषु दुर्लभम्।।२८।।

अन्वयः— (यस्य मम) स्त्री, विभवानुगता, भवान्, सुखदुःखसुहृत्, सत्यम्, च, न, परिभ्रष्टं, यत्, दरिद्रेषु, दुर्लभम्।।२८।।

शब्दार्थः— (यस्य = जिस, मम = मेरी) स्त्री = पत्नी, विभवानुगता = धन के अनुसार चलने वाली है), भवान् = आप, सुखदुःखसुहृत् = सुख एवं दुःख के मित्र (हैं), सत्यम् = सत्य, च = भी, न = नहीं, परिभ्रष्टम् = छूटा, यत् = जो, (ये तीनों) दरिद्रेषु = निर्धनों में, दुर्लभम् = मुश्किल हैं।।

अर्थः— अथवा मैं दरिद्र नहीं हूँ। जिस मेरी—

पत्नी धन के अनुसार चलने वाली है अर्थात् कम अथवा अधिक धन के अनुसार घर के खर्च का प्रबन्ध करने वाली पत्नी है। आप सुख तथा दुख में एक भाव से साथ देने वाले मित्र हैं। और सच बोलना भी नहीं छूटा है—जो कि (ये तीनों बातें) निर्धनों के पास बड़ी मुश्किल से मिलती हैं।।२८।।

टीका— यस्य ममेति स्त्री = भार्या; विभवस्य = धनस्य अनुगता = अनुसारिणी; सम्पत्त्यनुसारं गृहकार्यं धैर्येण सञ्चालयति, न कस्यामपि अवस्थायां विमनायते इति; भवान् = त्वम्; सुखदुःखयोः = सम्पत्तिविपत्त्योः सुहृत् = सखा; अस्तीति शेषः; सत्यम् = सत्यवचनम्; च न परिभ्रष्टम् = नष्टम्; यत् = त्रयम्; दरिद्रेषु = निर्धनेषु; दुर्लभम् = दुष्प्राप्यम् भवतीति।।२८।।

दरिद्रता के इसमें समुच्चय अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप्।।२८।।

मैत्रेय! गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनायाः सकाशम्। वक्तव्या च सा मद्वचनात्- 'यत्खल्वस्माभिः सुवर्णभाण्डमात्मीयमिति कृत्वा विश्रम्माद्द्यूते हारितम्; तस्माकृते गृह्यतामियं रत्नावली' इति।

विदूषकः—मा दाव अक्खाइदस्स अभुत्तस्स अप्पमुल्लस्स चोरेहि अवहदस्स कारणादो चदुःसमुद्दसारभूदा रअणावली दीअदि। (मा तावदखादितस्याभुक्तस्याल्पमूल्यस्य चौरैरपहृतस्य कारणाच्चतुः समुद्रसारभूता रत्नावली दीयते।)

चारुदत्तः—वयस्य! मा मैवम्,—

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः।
तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते।।२९।।

अर्थः— मैत्रेय — रत्नावली को लेकर 'वसन्तसेना' के पास जाओ। और मेरी ओर से उससे यह कहो कि—(आपके द्वारा रक्खे गये) सोने के पात्र को विश्वास पूर्वक अपना समझ कर जुए में हरा दिया। उसके बदले में आप यह रत्नावली ले लें।

विदूषक— जिसे (बेच कर) खाया नहीं है, जिसे काम में नहीं लाया है, (उपयोग जिसका नहीं किया है), जो कम कीमत की वस्तु है, जिसे चोरों ने चुरा लिया है, (उस वस्तु) के बदले में चारों सागरों की सारभूत यह रत्नावली मत दीजिए।

अन्वयः— तया, यम्, विश्वासम्, समालम्ब्य, अस्मासु, न्यासः, कृतः, तस्य, महतः, प्रत्ययस्य एव, एतत्, मूल्यम्, प्रदीयते।।२९।।

शब्दार्थः— तया = उसके द्वारा, यम् = जिस, विश्वासम् = विश्वास को, समालम्ब्य = पकड़ कर, सहारा बनाकर, अस्मासु = हम लोगों में, न्यासः = धरोहर, कृतः = की गयी, रक्खी गयी, तस्य = उस, महतः = बहुत बड़े, प्रत्ययस्य = विश्वास की, एव = ही, एतत् = यह, मूल्यम् = कीमत, प्रदीयते = दी जा रही है।।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र! ऐसा मत (कहो)

उस वसन्तसेना ने जिस विश्वास के सहारे हमारे पास धरोहर रक्खी है, उस बहुत बड़े विश्वास की ही यह कीमत दी जा रही है (न की उस सोने के भाण्ड की)।।२९।।

टीका— तया = वसन्तसेनयेत्यर्थः; यम्, विश्वासम् = प्रत्ययम्; समालम्ब्य = आश्रित्य; अस्मासु = मादृशनिर्धनेषु इति भावः; न्यासः = निक्षेपः; कृतः = सम्पादितः; तस्य महतः = अगाधस्येत्यर्थः; प्रत्ययस्यैव = विश्वासस्यैव, एतत् = रत्नावलीरूपम्; मूल्यम् = निष्क्रयः; दीयते = समर्प्यते। विश्वासस्य एतत् रत्नावली रूपं मूल्यं प्रदीयते न तु सुवर्णभाण्डस्येत्यर्थः।।२९।।

इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार एवं अनुष्टुप् छन्द है।।२९।।

तद्वयस्य! अस्मच्छरीरस्पृष्टिकया शापितोऽसि, नैनामग्राहयित्वात्रागन्तव्यम्। वर्धमानक!

एताभिरिष्टिकाभिः संधिः क्रियतां सुसंहृतः शीघ्रम्।
परिवादबहलदोषान्न यस्य रक्षां परिहरामि।।३०।।

अर्थः— इसलिए मित्र! तुम्हें हमारे शरीर की सौगन्ध है, तुम उसे बिना दिए हुए यहाँ मत आना।

अन्वयः— एताभिः, इष्टिकाभिः, सन्धिः, शीघ्रम्, सुसंहतः, क्रियताम्, परिवादबहलदोषात्, यस्य, रक्षाम्, न, परिहरामि।।३०।।

शब्दार्थः— एताभिः = इन, इष्टिकाभिः = ईंटों से, सन्धिः = सेंध, शीघ्रम् = जल्द, सुसंहतः = भरी हुई, जोड़ी हुई, क्रियताम् = की जाय, परिवाद = बहलदोषात् = अपयश में महान् दोष होने के कारण, यस्य = जिस सेंध की, रक्षाम् = मरम्मत को, न = नहीं, परिहरामि = उपेक्षित करूँगा।

अर्थः— वर्धमानक! इन ईंटों से इस सेंध को जल्द ही अच्छी तरह भर दो। लोगों में फैलने वाले अपयश में महान् दोष होने के कारण जिस सेंध की मरम्मत की उपेक्षा नहीं करूँगा अर्थात् यदि यह सेंध इसी प्रकार फूटी रहेगी तो जनता में मेरे बारे में अनेक तरह की बुरी बातें फैलेंगी।।३०।।

टीका— एताभिः = बहिर्निर्गताभिः; इष्टिकाभिः = पक्वमृत्खण्डैः; सन्धिः = चौरकृतं विवरम्, शीघ्रम् = झटिति; सुसहत = सम्यक् पूर्णः; क्रियताम् = विधीयताम्; परिवादे = लोकापवादे, अस्य भवने चौरः प्रविष्टः आसीदेवंरूपे बहल = अधिक दोष = दूषणम् तस्मात्; यस्य = सन्धेः; रक्षाम् = रक्षणम्, यथावस्थानमित्यर्थः; न परिहरामि = न उपेक्षे।।३०।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं आर्या छन्द है।

वयस्य मैत्रेय! भवताप्यकृपणशौण्डीर्यमभिधातव्यम्।

विदूषकः—भो, दलिद्दो किं अकिवणं मंतेदि?। (भोः, दरिद्रः किमकृपणं मन्त्रयति?।)

चारुदत्तः— अदरिद्रोऽस्मि सखे!। (यस्य मम। 'विभवानुगता भार्या-' (३/२८) इत्यादि पुनः पठति) तद्गच्छतु भवान्। अहमपि कृतशौचः सन्ध्यामुपासे।

अर्थः—

मित्र मैत्रेय! तुम भी अत्यन्त उदारता के साथ (वसन्तसेना से सारी बातें) कहना।

विदूषक— अरे क्या दरिद्र भी उदरता के साथ कहता है?

चारुदत्त— मित्र! मै। दरिद्र नहीं हूँ। ('जिस मेरी धन के अनुसार चलने वाली स्त्री है'। ३/२८ इत्यादि फिर पढता हे) तो आप जायें। मैं भी शौच इत्यादि करके सन्ध्या—पूजा करता हूँ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

।। इति सन्धिच्छेदो नाम तृतीयोऽंकः।।

(सब निकल जाते हैं)

सन्धिच्छेद (सेंध लगाना) नामक तीसरा अंक (समाप्त)

चतुर्थोऽकः

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी — आणत्तम्हि अत्ताए अज्जआए सआसं गतुम्। एसा अज्जआ चित्तफलअणिसण्णदिट्ठी मदणिआए सह किंपि मंतअंती चिट्ठदि। ता जाव उवसप्पामि। (आज्ञप्तास्मि मात्रार्यायाः सकाशं गन्तुम्। एषार्या चित्रफलकनिषण्णदृष्टिर्मदनिकया सह किमपि मन्त्रयन्ती तिष्ठति। तद्यावदुपसर्पामि।)

(इति परिक्रामति)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा वसन्तसेना मदनिका च)

वसन्तसेना— हज्जे मदणिए! अवि सुसदिसी इअं चित्ताकिदी अज्जचारुदत्तस्य। (चेटि मदनिके! अपि सुसदृशीय चित्राकृतिरार्यचारुदत्तस्य।)

मदनिका— सुसदिसी। (सुसदृशी।)

वसन्तसेना— कधं तुमं जाणासि?। (कथं त्वं जानासि?।)

मदनिका— जेण अज्जआए सुसिणिद्धा दिट्टी अणुलग्गा। (येनार्यायाः सुस्निग्धा दृष्टिरनुलग्ना।)

वसन्तसेना— हञ्जे! किं वेसवासदाक्खिण्णेण मदणिए! एव्वं भणासि?। (चेटि! किं वेश्यावासदाक्षिण्येन मदनिके! एवं भणसि?।)

मदनिका— अज्जए! किं जो ज्जेव जणो वेसे पडिवसदि, सो ज्जेव अलीअदक्खिणो भोदि?। (आर्ये! किं य एव जनो वेशे प्रतिवसति, स एवालीकदक्षिण भवति?।)

वसन्तसेना— हञ्जे! णाणापुरिससंगेण वेस्साजणो अलीअदक्खिणो भोदि। (चेटि! नानापुरुषसंसर्गेण वेश्याजनोऽलीकदक्षिणो भवति।)

मदनिका— जदो दाव अज्जआए दिट्टी इध अभिरमदि हिअअं च, तस्स कारणं किं पुच्छीअदि?। (यतस्तावदार्याया दृष्टिरिहाभिरमते हृदयं च, तस्य कारणं किं पृच्छ्यते?।)

वसन्तसेना— हञ्जे! सहीजणादो उवहसणीअदां रक्खामि। (चेटि! सखीजनादुपहसनीयतां रक्षामि।)

मदनिका— अज्जए! एव्वं णेदम्। सहीजणचित्ताणुवत्ती अबलाजणो भोदि। (आर्ये! एवं नेदम्। सखीजनचित्तानुवर्त्यबलाजनो भवति)

प्रथमा चेटी— (उपसृत्य) अज्जए! अत्ता आणवेदि—'गहिदावगुंठणं पक्खदुआरए सज्जं पवहणम्। ता गच्च' त्ति। (आर्ये! माताज्ञापयति—'गृहीतावगुण्ठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्। तद्गच्छ' इति।)

वसन्तसेना— हञ्जे! किं अज्जचारुदत्तो मं णइस्सदि। (चेटि! किमार्यचारुदत्तो मां नेष्यतेः?।)

चेटी— अज्जए! जेण पवहणेण सह सुवण्णदससाहस्सिओ अलंकारओ अणुपेलिदो। (आर्ये! येन प्रवहणेन सह सुवर्णदशसाहस्रिकोऽलंकारोऽनुप्रेषितः।)

वसन्तसेना— को उण सो?। (कः पुनः सः?।)

चेटी — एसो ज्जेव राअस्सालो संठाणओ। (एष एव राजश्यालः संस्थानकः।)

वसन्तसेना— (सक्रोधम्) अवेहि मा पुणो एव्वं भणिस्ससि। (अपेहि, मा पुनरेवं भणिष्यसि।)

चेटी— पसीददु पसीददु अज्जआ। संदेसेण म्हि पेसिदा। (प्रसीदतु प्रसीदत्वार्या। सन्देशेनास्मि प्रेषिता।)

वसन्तसेना— अहं संदेसस्य ज्जेव कुप्पामि। (अहं संदेशस्यैव कुप्यामि।)

चेटी— ता किंति अत्तं विण्णविस्सम्?। (तत्किमिति मातरं विज्ञापयिष्यामि?।)

वसन्तसेना— एव्वं विण्णाविदव्वा—'जइ मं जीअंतीं इच्छसि, ता एव्वं ण पुणो अहं अत्ताए अण्णविदव्वा'। (एवं विज्ञापयितव्या-'यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदैवं न पुनरहं मात्राऽऽज्ञापयितव्या'।)

चेटी— जधा दे रोअदि। (यथा ते रोचते।) (इति निष्क्रान्ता)

(प्रविश्य)

शर्विलकः—

दत्त्वा निशाया वचनीयदोषं निद्रां च जित्वा नृपतेश्च रक्ष्यान्।
स एष सूर्योदयमन्दरश्मिः क्षपाक्षयाच्चन्द्र इवास्मि जातः।।१।।

अर्थः— चेटी (वसन्तसेना की एक दासी) — वसन्तसेना की माता जी ने मुझे आर्या वसन्तसेना के पास जाने की आज्ञा दी है। चित्र–पट पर आँख गड़ाए हुए यह आर्या वसन्तसेना 'मदनिका' के साथ कुछ बात–चीत कर रही है। तो उनके पास चलूँ। (ऐसा कहकर घूमती है)।

(इसके बाद ऊपर बतलाये हुए ढंग से 'वसन्तसेना' और 'मदनिका' प्रवेश करती हैं)

वसन्तसेना— चेटी मदनिका! चित्र में बनी हुई आर्य 'चारुदत्त' की यह आकृति क्या (मेरी शरीर की सुन्दरता आदि के) योग्य है?

मदनिका—अनुरूप है।

वसन्तसेना— तुम कैसे जानती हो?

मदनिका— क्योंकि आर्या की स्निग्ध दृष्टि इसमें लगी हुई है।

वसन्तसेना— चेटी मदनिका! क्या वेश्यालय में रहने से चतुरता सीख लेने के कारण ऐसा कह रही हो?

मदनिका— आर्ये! क्या जो व्यक्ति वेश्या के घर में रहता है वही झूठ बोलने में चतुर होता है?

वसन्तसेना— चेटी! बहुत से पुरुषों का साथ होने के कारण वेश्यायें झूठ बोलने में चतुर हो जाती हैं।

मदनिका— जब आपकी दृष्टि तथा हृदय दोनों ही इसमें अनुरक्त है तो फिर उसका कारण क्यों पूछती हैं? अर्थात् सुन्दर पुरुष के प्रति प्रेम होने पर शीघ्र उससे मिलना चाहिये, देर करना व्यर्थ है।

वसन्तसेना— चेटी! सखियों की हँसी से बचना चाहती हूँ। अर्थात् अयोग्य पुरुष से नाता जोड़ने पर सखियाँ हँसी लेंगी। अतः उससे बचना चाहती हूँ।

मदनिका— आर्ये! ऐसी बात नहीं है। स्त्रियाँ सखियों के चित्त के अनुसार व्यवहार करने वाली होती हैं।

पहली चेटी — (पास में जाकर) आर्ये माता जी यह आज्ञा देती हैं कि बगल के दरवाजे पर पर्दे से ढका हुआ रथ तैयार है। इसलिए जाओ।

वसन्तसेना— चेटी! क्या आर्य चारुदत्त मुझे ले जायेंगे?

चेटी— आर्ये! जिसने रथ के साथ दस हजार सोने की मोहरों के मूल्य का अलंकार भेजा है।

वसन्तसेना— कौन है फिर वह?

चेटी— यही राजा का साला 'संस्थानक'।

वसन्तसेना— (कोप के साथ) दूर हटो। फिर कभी ऐसा मत कहना।

चेटी— आर्ये! प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। मैं तो केवल सन्देश लाई हूँ।

वसन्तसेना— मैं सन्देश पर ही कोप कर रही हूँ।

चेटी— तो माता जी से क्या कहूँगी?

वसन्तसेना— इस प्रकार कहना—'यदि मुझे जीवित चाहती हो, तो मुझे माता जी के द्वारा फिर ऐसी आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए

चेटी— जैसी आप की इच्छा। (निकल जाती है)।

अन्वयः— निशायाः, वचनीयदोषम्, दत्त्वा, निद्राम्, च, नृपतेः, रक्ष्यान्, च, जित्वा, सः, एषः, (अहम्), क्षपाक्षयात्, सूर्योदयमन्दरश्मिः, चन्द्रः इव, जातः, अस्मि।।१।।

शब्दार्थः— निशायाः = राशि को, वचनीयदोषम् = निन्दा के दोष को, दत्त्वा = देकर, निद्राम् = नींद को, च = और, नृपतेः = राजा के, रक्ष्यान् = पहरेदारों को, च = भी, जित्वा = जीतकर, सः = वह, एषः = यह, (अहम् = मैं), क्षपाक्षयात् = रात के बीत जाने से, सूर्योदयमन्दरश्मिः = सूर्योदय के कारण मन्द तेज वाले, चन्द्रः = चन्द्रमा, इव = जैसा, जातः = हो गया, अस्मि = हूँ।।

(प्रवेश करके)

अर्थः— शर्विलक— रात्रि को निन्दा का दोष देकर अर्थात् 'रात में ही चोरी जैसे खराब काम होते हैं। इस प्रकार का दोष लगाकर नींद तथा राजा के पहरेदारों को जीत कर, यह मैं रात के बीत जाने पर सूर्योदय के कारण मन्द तेजवाले चन्द्रमा के समान हो गया हूँ।।१।।

टीका— निशायाः = रात्रेः, वचनीयदोषम् = बहुदोषा हि शर्वरीति अपवादरूपं दूषणम्, दत्त्वा = समर्प्य, चौर्यण दूषयित्वेत्यर्थः, निद्राम् च = आत्मनः स्वापञ्च, नृपतेः = राज्ञः, रक्ष्यान् = नगररक्षकान् च, जित्वा = तिरस्कृत्य, अगण्य इत्यर्थः, सः = रात्रौ कमलौ, एषः = गच्छन्, अहमिति शेषः, क्षपायाः = रात्रेः क्षयात् = नाशात्, सूर्योदयेन = प्रभाकरप्रकाशेन मन्दाः = कान्तिहीनाः रश्मयः = कराः यस्य सः, चन्द्रः = शशिः, इव = यथा, जातः = संवृत्तः, अस्मि = वर्ते।।१।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है उपजाति।

अपि च,–

यः कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां
संभ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा।
तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा
स्वैर्दोषैर्भवति हि शंकितो मनुष्यः।।२।।

अन्वयः– यः, कश्चित्, त्वरितगतिः, (सन्), संभ्रान्तम्, माम्, निरीक्षते; वा, स्थितम्, (माम्), द्रुतम्, उपसर्पति; दूषितः, अन्तरात्मा, तम्, सर्वम्, तुलयति; हि, मनुष्यः, स्वैः, दोषैः, शंकितः, भवति।।२।।

शब्दार्थः– यः = जो, कश्चित् = कोई, त्वरितगतिः = जल्दी चलने वाला, (सन् = होता हुआ , सम्भ्रान्तम् = भयभीत, माम् = मुझको, निरीक्षते = देखता है; वा = अथवा, स्थितम् = खड़े हुए, (माम् = मेरे पास), द्रुत म् = शीघ्र उपसर्पति = आता है; दूषितः = दोषी, अन्तरात्मा = अन्तःकरण, तम् = उन, सर्वम् = सबको, तुलयति = तौ ता है, सन्देह के साथ देखता है, हि = इसलिए कि, मनुष्यः = मनुष्य, स्वैः = अपने, दोषैः = दोषों से, शंकितः = शंक वाला, भवति = होता है।

और भी–

अर्थः– जल्दी–जल्दी चलने वाला जो कोई मनुष्य मुझ भयभीत को देखता है, अथवा खड़े हुए मेरे पास वेग से आता है; दोषी मेरी अन्तःकरण उन सब को सन्देह के साथ देखने लगता है अर्थात् यह सोचता है कि मुझे पकड़ने के लिये तो नहीं आ रहे हैं?। सचमुच मनुष्य अपने दोषों के कारण (ही) शंका करता है।।२।।

टीका– यः कश्चित् = यः कोऽपि जनः इति शेषः; त्वरिता = वेगवती गतिः = गमनम् यस्य तादृ ः सन्; संभ्रान्तम् = अनुचितकार्यानुष्ठानात् चकितम्, माम् = शर्विलकम्; निरीक्षते = पश्यति; वा = अथवा; स्थितम् = गति निवृत्तम्; मामिति शेषः; द्रुतम् = शीघ्रम्; उपसर्पति = समीपमागच्छति; दूषितः = दोषयुक्तः; कृतापराधः इत्यर्थः; अन्तरात्मा = अन्तःकरणम्; ममेति शेषः; तम् = पूर्वोक्तम्; सर्वम् = निखिलम् जनम्; तुलयति = आशंकते परीक्षते वा,; हि = यथा हि; मनुष्यः = कृतापराधः जनः; स्वैः = स्वकृतैः; दोषैः = अपराधैः; शंका = सन्देहः सञ्जाता = उत्पन्ना अस्य इति शंकि तः = शंकायुक्तः; भवति = जायते।।२।।

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–प्रहर्षिणी छन्द का लक्षण– "त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्"।।२।।

मया खलु मदनिकायाः कृते साहसमनुष्ठितम्।

परिजनकथासक्तः कश्चिन्नरः समुपेक्षितः
क्वचिदपि गृहं नारीनाथं निरीक्ष्य विवर्जितम्।
नरपतिबले पार्श्वायाते स्थितं गृहदारुवद्-
व्यवसितशतैरेवंप्रायैर्निशा दिवसीकृता।।३।।

अर्थः– वास्तव में 'मदनिका' के लिए मैंने यह चोरी का काम किया है।

अन्वयः– (मया), परिजनकथासक्तः, कश्चित्, नरः, समुपेक्षितः; क्वचित्, अपि, गृहम्, नारी नाथम्, निरीक्ष्य, विवर्जितम्; नरपतिबले, पार्श्वायाते, गृहदारुवत्, स्थितम्; एवंप्रायैः, व्यवसितशतैः, निशा, दिवसीकृता।।३।।

शब्दार्थः– (मया = मेरे द्वारा), परिजनकथासक्तः = परिवार के साथ बात करने में लगा हुआ, कश्चित् = कोई, नरः = मनुष्य, समुपेक्षितः = उपेक्षित कर दिया गया; क्वचित् = कुछ स्थानों पर, अपि = भी, गृ हम् = घर, नारीनाथम् = स्त्री है रक्षक जिसकी ऐसा, निरीक्ष्य = देखकर, विवर्जितम् = छोड़ दिया गया; नरपतिबले = रा जा के पहरेदारों के, पार्श्वायाते = बगल में आने पर, गृहदारुवत् = घर के खम्भे के समान, स्थितम् = खड़ा हुआ गया, ए वंप्रायैः = इस प्रकार वाले, व्यवसितशतैः = सैकड़ों कार्यों से, निशा = रात, दिवसीकृता = दिन बना दी गयी।

अर्थः– परिवार के साथ बात करने में लगे हुए किसी पुरुष की उपेक्षा कर दी अर्थात् उसके घर में नहीं घुसा। और किसी घर को इसलिए भी छोड़ दिया कि उस घर में केवल स्त्रियाँ ही थीं। यदि राजा के पहरेदार बगल में आ गए तो घर में लगे हुए काठ के खम्भे के समान चुपचाप खड़ा हो गया। इस प्रकार के सैकड़ों कार्य से मैंने रात को दिन बना दिया अर्थात् रात जागते ही जागते एवं काम करते करते बिता दी।।३।।

टीका– मया = शर्विलकेन; परिजनैः = परिवारसदस्यैः भृत्यजनैः वा सह कथायाम् = वार्तायाम् आसक्तः = संलग्नः; कश्चित् = कोऽपि; नरः = मनुष्यः; समुपेक्षितः = उपेक्षाविषयीकृतः, परित्यक्तः इति भावः; क्वचिदपि = कुत्रचिदपि; गृहम् = भवनम्;

नारी = स्त्री नाथः = प्रभुः यस्य तत्, स्त्रीमात्रसहायमित्यर्थः; निरीक्ष्य = दृष्ट्वा; विवर्जितम् = परित्यक्तम्, नरपति = राज्ञः बले = रक्षकसमूहे; पार्श्वायाते = समीपम् आगते सति; गृहस्य = भवनस्य दारुवत् = स्तम्भकाष्ठवत्, स्थितम् = अवस्थितम्, एवंप्रायैः = ईदृशैः; व्यवसितशतैः = कार्यैः; निशा = रात्रिः; अदिवसः दिवसः सम्पद्यमानः कृतः इति दिवसीकृता = दिनवत कृता। जाग्रता विविधानि कार्याणि कुर्वता एव रात्रिः गमितेति भावः।।३।।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार एवं हरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण--

'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता'।।३।।

(इति परिक्रामति)

(ऐसा कह कर घूमता है)

वसन्तसेना— हञ्जे! इमं दाव चित्तफलअं मम सअणीये ठाविअ तालवेंटअं गेण्हिअ लहु आअच्छ। (चेटि! इमं तावच्चित्रफलकं मम शयनीये स्थापयित्वा तालवृन्तं गृहीत्वा लघ्वागच्छ।)

मदनिका— जं अज्जआ आणवेदि। (यदार्याज्ञापयति।) (इति फलकं गृहीत्वा निष्क्रान्ता)

शर्विलकः— इदं वसन्तसेनाया गृहम्। तद्यावत्प्रविशामि। (प्रविश्य) क्व नु मया मदनिका द्रष्टव्या?

(ततः प्रविशति तालवृन्तहस्ता मदनिका)

शर्विलकः — (दृष्ट्वा) अये इयं मदनिका!

मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती रतिरिव मूर्तिमती विभाति येयम्।
मम हृदयमनंगवह्निनप्तं भृशमिव चन्दनशीतलं करोति।।४।।

अर्थः—

वसन्तसेना— चेटी, इस तस्वीर (चित्रपट) को मेरे बिस्तर पर रख कर और पंखा (ताड़ का पंखा) लेकर जल्द आओ।

मदनिका—जैसी आप की आज्ञा। (ऐसा कह कर चित्र को लेकर निकल जाती है)।

शर्विलक—यह वसन्तसेना का घर है। तो इस में घुसता हूँ। (घुस कर) मुझे मदनिका को कहाँ खोजना चाहिए!

(इसके बाद ताड़ का पंखा हाथ में लिये 'मदनिका' प्रवेश करती है)।

अन्वयः— या, इयम्, गुणैः, मदनम्, अपि, विशेषयन्ती, मूर्तिमती, रतिः, इव, विभाति; (सा), अनंगवह्निनतप्तम्, मम, हृदयम्, भृशम् चन्दनशीतलम्, इव, करोति।।४।।

शब्दार्थः— या = जो, इयम् = यह मदनिका, गुणैः = गुणों के द्वारा, मदनम् = कामदेव को, अपि = भी, विशेषयन्ती = लाघती हुई जीतती हुई, मूर्तिमती = आकार को धारण करने वाली, रतिः = कामदेव की स्त्री रति, इव = जैसी विभाति = शोभित हो रही है; सा = वह, अनंगवह्निनतप्तम् = कामाग्नि से झुलसे हुए, मम = मेरे, हृदयम् = हृदय को, भृशम् = अत्यधिक चन्दन शीतलम् = चन्दन की भाँति शीतल, इव = सा, करोति = कर रही है।।

अर्थः—

शर्विलक — (देख कर) अरे! यह मदनिका!

जो यह मदनिका (चित्त को उन्मत्त बना देने वाले) गुणों के द्वारा कामदेव को भी अतिक्रमित करती हुई, शरीर को धारण करने वाली कामदेव की स्त्री रति के समान सुशोभित हो रही है। वह कामाग्नि से झुलसे हुए मेरे हृदय को चन्दन की भाँति अत्यधिक शीतल कर रही है।।४।।

टीका— या इयम् = मदनिका; गुणैः = चित्तोन्मादनादिभिः गुणैः; मदनम् = कामदेवम्; अपि, विशेषयन्ती = अतिक्रामन्ती जयन्ती इत्यर्थः; मूर्तिमती आकार धारिणी; रतिः = मदनस्त्रीः; इव = यथा; विभाति = शोभते; सा = पूर्वोक्तगुणविशिष्टा, अनंगवह्निना = कामाग्निना तप्तम् = तन्तप्तम्; मम = शर्विलकस्य; हृदये विषयैः, हरति = आहरति विषयानिति वा हृदयम् = मनसम् भृशम् = अत्यधिकम्; चन्दनशीतलम् = चन्दनानुलेपनेन शैत्ययुक्तमिव; करोति = विदधाति।।४।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार है। तथा प्रयुक्त छन्द का नाम है—पुष्पिताग्रा। छन्द का लक्षण— "अयुजि नयुगरफना यकारा युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा"।।

मदनिके!।

मदनिका – (दृष्ट्वा) अम्मो, सव्विलओ। सव्विलअ कधं! साअदं दे, कहिं तुमम्?। (आश्चर्यम् कथं शर्विलकः। शर्विलक! स्वागतं ते। कुत्र त्वम्?।)

शर्विलकः – कथयिष्यामि।

(इति सानुरागमन्योन्यं पश्यतः)

वसन्तसेना– चिरअदि मदणिआ। ता कहिं क्खु खु सा?। (गवाक्षकेन दृष्ट्वा) कथं एषा केनापि पुरिसकेण सह मंतअंती चिट्ठदि। जघा अदिसिणिद्धाए णिच्चलदिट्ठीए आपिबंती विअ एवं निज्झाअदि तघा तक्केमि, एसो जणो एदं इच्छदि अभुजिस्सं कादुम्। ता रमदु रमदुम्, मा कस्साबि पीदिच्छेदो भोदु। ण क्खु सद्दाविस्सम्। (चिरयति मदनिका। तत्कुत्र नु खलु सा? कथम् एषा केनापि पुरुषकेण सह मन्त्रयन्ती तिष्ठति?। यथातिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या पिबन्तीवैतं निध्यायति तथा तर्कयामि, एष स जन एनामिच्छत्यभुजिष्यां कर्तुम्। तद्रमतां रमताम्, मा कस्यापि प्रीतिच्छेदो भवतु। न खल्वाकारयिष्यामि।)

मदनिका – सलिव्वअ! कधेहि। (शर्विलक! कथय।)

(शर्विलकः सशंक दिशोऽवलोकयति)

मदनिका – सव्विलअ! किं ण्णेदम्? ससंको विअ लक्खीअसि?। (शर्विलक! किं न्विदम्? सशंक इव लक्ष्यसे?)।

शर्विलकः – वक्ष्ये त्वां किंचिद्रहस्यम्। तद्विविक्तमिदम्।

मदनिका – अध इं। (अथ किम्।)

वसन्तसेना – कधं परमहस्सम्?। ता ण सुणिस्सम्। (कथं परमरहस्यम्?। तन्न श्रोष्यामि।)

शर्विलकः – मदनिके! किं वसन्तसेना मोक्ष्यति त्वां निष्क्रयेण?।

वसन्तसेना – कधं मम संबंधिणी कधा?। ता सुणिस्सं इमिणा गवक्खेण ओवारिदसरीरा। (कथं मम संबधिनी कथा?। तच्छ्रोष्याम्यनेन गवाक्षेणापवारितशरीरा।)

मदनिका – सब्विलअ! भणिदा मए अज्जआ। तदो भणादि–'जइ मम छंदो तदा विणा अत्थं सव्वं परिजणं अभुजिस्सं करइसम्'। अध सव्विलअ! कुदो दे एत्तिओ विहवो, जेण म अज्जआसआसादो मोआइस्सासि?। (शर्विलक! भणिता मयार्या। तदा भणति 'यदि मम छन्दस्तदा विनार्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि। अथ शर्विलक! कुतस्त एतावान्विभवः, येन मामार्यासकाशान्मोचयिष्यसि?।)

शर्विलकः–

दारिद्र्येणाभिभूतेन त्वत्स्नेहानुगतेन च।
अद्य रात्रौ मया भीरु! त्वदर्थं साहसं कृतम्।।५।।

अर्थः– मदनिका – (देखकर) आश्चर्य, क्या शर्विलक है? शर्विलक तुम्हारा स्वागत है। तुम कहाँ?

शर्विलक–बताऊँगा।

(इस प्रकार बात करके वे दोनों प्रेमपूर्वक एक दूसरे को देखते हैं)

वसन्तसेना– 'मदनिका' देर कर रही है। तो फिर वह कहाँ चली गई? (खिड़की से देखकर) क्या? यह किसी पुरुष के साथ बातचीत करती हुई खड़ी है। जिस प्रकार अन्यन्त प्रेम भरी अपलक आँखों से इस आदमी को पीती हुई सी ध्यान के साथ देख रही है, उससे अनुमान करती हूँ कि यह वह आदमी है जो इस मदनिका को दासी पन से छुड़ाना चाहता है। तो रमण करे, रमण करे। किसी का भी प्रेम न टूटे। (अतः मैं) बुलाऊँगी नहीं।

अर्थः– मदनिका – शर्विलक! बतलाओ।

(शर्विलक शंकापूर्वक चारों ओर देखता है)

मदनिका–शर्विलक! क्या बात है? तुम शंकायुक्त से दिखलाई पड़ रहे हो।

अर्थः—

शर्विलक—तुम से कुछ गुप्त बात बताऊँगा। तो क्या यह जगह निर्जन है?।

वसन्तसेना— और क्या?

मदनिका—क्या बिलकुल गुप्त बात है? तो नहीं सुनूँगी।

शर्विलक—मदनिका! तो क्या 'वसन्तसेना' धन देने से तुम्हें अपने बन्धन से छोड़ देगी?

वसन्तसेना— क्या! मेरे विषय की बात है? तो शरीर छिपाकर अर्थात् छिपकर इस झरोखे से सुनूँगी।

मदनिका — शर्विलक! मैंने आर्या वसन्तसेना से कहा था। तो उन्होंने कहा कि—'यदि मेरा वश हो तो विना धन के ही सब दासों को स्वतन्त्र कर दूँ।' फिर शर्विलक! तुम्हारे पास इतना धन कहाँ है, जिससे मुझको आर्या वसन्तसेना के पास से [illegible] डा लगा

अन्वयः— हे भीरु! दारिद्र्येण, अभिभूतेन, च, त्वत्स्नेहानुगतेन, मया, अद्य, रात्रौ, त्वदर्थे, साहसम्, कृतम्।।५।।

शब्दार्थः— हे भीरु! = हे डरपोक स्त्री!, दारिद्र्येण = गरीबी से, अभिभूतेन = परेशान, च = एवं, त्वत्स्नेहानुगतेन = तुम [illegible] रे प्रेम में फँसे हुए, मया = मेरे द्वारा, अद्य = आज, रात्रौ = रात में, त्वदर्थे = तुम्हारे लिए, साहसम् = चोरी कृतम् = की गयी है।

अर्थः—

शर्विलक—हे डरने वाली स्त्री! गरीबी से परेशान एवं तुम्हारे प्रेम में फँसे हुए मैंने आज रात में तुम्हारे लिए अर्थात् तुमको [illegible] लिये चोरी की है।।५।।

टीकाः— हे भीरु = हे भयशीले! दारिद्र्येण = निर्धनतया; अभिभूतेत = पीडितेन निर्जितेन वा; च = तथा, त्वयि = मदनिक [illegible] राम स्नेह = अनुरागः त्वत्स्नेहः तेन अनुगतः = युक्तः इत्यर्थः तेन; त्वत्प्रेमप्रवणेनेति यावत्; मया = शर्विलकेन, अद्य [illegible] रात्रा [illegible] जन्याम् त्वदर्थे = तव निमित्तम्, त्वामभुजिष्याम् कर्तुमिति यावत्; सहस = बले भवं साहसम् = दुष्करकर्म चौर्यमिति कृतम् अनुष्ठितम्।।५।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है। लक्षण— 'युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्'।।५।।

वसन्तसेना— पसण्णा से आकिदी, साहसकम्मदाए उण उव्वेअणीआ। (प्रसन्नास्याकृतिः साहसकर्मतया पुनरुद्वेजनीया

मदनिका— सव्विलअ! इत्थीकल्लवत्तस्स कारणेण उहअ पि संसए विणिक्खित्तम्। (शर्विलक! स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि संशये विनिक्षिप्तम्।)

शर्विलकः—किं किम्!।

मदनिका— सरीरे चारित्तं च। (शरीरं चारित्र्यं च।)

शर्विलकः— अपण्डिते! साहसे श्रीः प्रतिवसति।

मदनिका— सव्विलअ! अखंडिदचारित्तो सि। ता ण खु ते मम कारणादो साहसं करंतेण अच्चंतविरुद्धं आचरिदं?। (शर्विलक! अखण्डितचारित्र्योऽसि। तन्न खलु त्वया मम कारणात्साहसं कुर्वतात्यन्तविरुद्धमाचरितम्।)

शर्विलकः-

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम्।
धात्र्युत्संगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचि
त्कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता।।६।।

अर्थः— वसन्तसेना — इसका आकार तो सुन्दर है, किन्तु चोरी करने के कारण क्षोभ पैदा करने वाला है अर्थात् इसका [illegible] र यह भी चोरी करने के कारण डरावना मालूम पड़ता है।

मदनिका—शर्विलक! कलेवा के समान तुच्छ स्त्री के अर्थात् मेरे कारण तुमने दोनों ही सन्देह में डाल दिया।

शर्विलक—क्या, क्या?

मदनिका—शरीर और चरित।

शर्विलक—भोली भाली स्त्री! साहस में लक्ष्मी निवास करती है।

मदनिका—शर्विलक! तुम्हारा चरित निर्दोष है। तो मेरे लिये हिम्मत (चोरी) करते हुए तुम ने नितान्त विरुद्ध आचरण नहीं किया है?(मदनिका का यह कथन वक्रोक्तिपूर्ण है। अतः इसका भावार्थ होगा कि—तुम्हारा चरित खराब है। तुमने एकदम खराब कार्य किया है)।

अन्वयः— धनार्थी, अहम्, फुल्लाम्, लताम्, इव, विभूषणवतीम्, अबलाम्, नो, मुष्णामि; विप्रस्वम्, अथो, यज्ञार्थम्, अभ्युद्धृतम्, काञ्चनम्, न, हरामि; तथा क्वचित्, धात्र्युत्संगतम्, बालम्, न, हरामि; चौर्ये, अपि, मम, मतिः नित्यम्, कार्याकार्यविचारिणी, (सती), स्थिताः।।६।।

शब्दार्थः—धनार्थी = धन को चाहने वाला, अहम् = मैं, शर्विलक, फुल्लाम् = फूली हुई, लताम् = लता, इव = जैसी, विभूषणवतीम् = जेवरों से सजी हुई, अबलाम् = स्त्री को, नो = नहीं, मुष्णामि = लूटता हूँ; विप्रस्वम् = ब्राह्मण के धन को, अथो = तथा, यज्ञार्थम् = यज्ञ के लिए, अभ्युद्धृतम् = निकाले गये, काञ्चनम् = सोना को न = नहीं, हरामि = चुराता हूँ; तथा = और, क्वचित् = कहीं, धात्र्युत्संगगतम् = धाय की गोद में स्थित, बालम् बच्चे को न = नहीं, हरामि = छीनता हूँ; चौर्ये = चोरी में, अपि = भी, मम = मेरी, मतिः = बुद्धि, नित्यम् = हमेशा, कार्याकार्यविचारिणी = उचित और अनुचित काम का विचार करने वाली, स्थिता = है।

अर्थः—

शर्विलक—धन को चाहने वाला मैं, फूली हुई लता के समान आभूषणों से सजी हुई स्त्री को नहीं लूटता हूँ। ब्राह्मण के धन एवं यज्ञ के लिये निकाल कर रक्खे हुए सोना को भी नहीं चुराता हूँ। और मैं कहीं धाय की गोद में स्थित बच्चे को भी छीनकर नहीं ले जाता हूँ। चोरी में भी मेरी बुद्धि हमेशा उचित और अनुचित का विचार करती है।

टीका— धानार्थी = धनलिप्सुः; अहम् = शर्विलकः, फुल्लाम् = विकसित पुष्पाम्; लताम् = वल्लरीम्; इव = यथा; विभूषणवतीम् = अलंकारयुक्ताम्; अबलाम् = स्त्रियम्; नो = नहि; मुष्णामि = चोरयामि; विप्रस्वम् = ब्राह्मण सम्पत्तिम्; अथो = तथा; यज्ञार्थम् = यज्ञसम्पादननिमित्तिमित्यर्थः; अभ्युद्धृतम् = निःसार्य स्थापितम् एकत्रीकृतम् वा; काञ्चनम् = सुवर्णम्; न हरामि = न चोरयामि। तथा = अपि च; क्वचित् = कुत्रचित्; धात्र्याः = उपमातुः उत्संगे = क्रोडे गतम् = वर्तमानम्; बालम् = बालकम्; न हरामि = तच्छरीरात् अलंकारादिकम् न आच्छिनद्मि इति भावः। चौर्ये = चोरकर्मणि; अपि मम = शर्विलकस्य; मतिः = बुद्धि; नित्यम् = सर्वदा; कार्यम् = कर्त्तव्यम् अकार्यम् = अकर्त्तव्यं च विचारयति = तच्छीला इति; कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकिनी इत्यर्थः सती; स्थिता = तिष्ठति।।६।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। यहाँ पर प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित।।६।।

तद्विज्ञाप्यतां वसन्तसेना,-

तो 'वसन्तसेना' से कहो—

'अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्मितः।
अप्रकाशो ह्यलंकारो मत्स्नेहाद्धार्यतामिति,।।७।।

अन्वयः— अयम्, अलंकारः, तव, शरीरस्य, प्रमाणात्, इव, निर्मितः (अस्ति, तथा), अप्रकाशः, (अस्ति), हि, मत्स्नेहात्, धार्यताम्, इति।।७।।

शब्दार्थः— अयम् = यह, अलंकारः = आभूषण, तव = तुम्हारे, शरीरस्य = शरीर की, प्रमाणात् = नाप से, इव = मानों, निर्मितः = बनाया गया, (अस्ति = है, तथा = एवं) अप्रकाशः = न दिखाने लायक, (अस्ति = है), हि = अवश्य ही, मत्स्नेहात् = मेरे ऊपर प्रेम करने के कारण, धार्यताम् = पहना जाय; इति = ऐसा (कहना)।।

अर्थः— यह आभूषण मानों तुम्हारे शरीर की ही नाप से बनाया गया है। यह (दूसरों को) दिखाने के लायक भी नहीं है। मेरे ऊपर प्रेम करके (आप) इसे ले लें।।७।।

टीका— अयम् = दीयमानः; अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः = आभरणम्; तव = भवत्याः वसन्तसेनायाः इत्यर्थः; शरीरस्य = गात्रस्य; प्रमाणात् = परिमाणात्; इव निर्मितः = घटितः; अस्तीति शेषः; तथा = अनुचितः प्रकाशः यस्य सः अप्रकाशः = अप्रदर्शनीयः अस्ति; हि = अवश्यम्; मयि = मदनिकायामित्यर्थः, स्नेहात् = अनुरागात्; धार्यताम् = गृह्यताम्।।७।।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है पथ्यावक्त्र।

मदनिका—सव्विलअ! अप्पकाशो अलंकारओ। अअं च जणो त्ति दुवेवि ण जुज्जदि। ता उत्तणेहि दाव पेक्खामि एदं अलंकारअम्।

(शर्विलक! अप्रकाशोऽलंकारः। अयं च जन इति द्वयमपि न युज्यते। तदुपनय तावत्। पश्याम्येनमलंकारम्।)

शर्विलकः— इदमलंकरणम्! (इति साशंक समर्पयति)

मदनिका—(निरूप्य) दिट्ठपुरुव्वो विअ अअं अलंकारओ। ता भणेहि कुदो दे एसो। (दृष्टपूर्व इवायमलंकारः। तद्भण कुतस्ते एषः।)

शर्विलकः— मदनिके! किं तवानेन? गृह्यताम्।

मदनिका— (सरोषम्) जइ मे पञ्चअं ण गच्छसि, ता किंणिमित्तं मं णिक्किणासि?। (यदि मे प्रत्ययं न गच्छसि, तत्किंनिमित्तं मां निष्क्रीणासि?।)

शर्विलकः — अयि, प्रभाते मया श्रुतं श्रेष्ठिचत्वरे, यथा-'सार्थवाहस्य चारुदत्तस्य' इति।

(वसन्तसेना मदनिका च मूर्छां नाटयतः)

शर्विलकः — मदनिके! समाश्वसिहि। किमिदानीं त्व

विषादस्रस्तसर्वांगी संभ्रमभ्रान्तलोचना।
नीयमानाऽभुजिष्यात्वं कम्पसे नानुकम्पसे ।।८।।

अर्थः—

मदनिका—शर्विलक! प्रकट रूप से न पहनने लायक आभूषण और वह जन दोनों की संगति नहीं बैठती अर्थात् दिखाव के लिये वह आभूषण पहनकर लोगों के सामने जाती ही हैं। अतः तुम्हारा कहना माना न जायेगा। फिर भी दो, इस आभूषण को देकर।

शर्विलक — यह है आभूषण। (ऐसा कह कर शंका पूर्वक दे देता है)।

मदनिका—(देखकर) यह आभूषण पहले से देखा हुआ सा लगता है। तो बतलाओ कि यह तुम्हें कहाँ से मिला?

शर्विलक—मदनिका! तुम्हें इससे क्या? आभूषण ले लो।

मदनिका—(क्रोध के साथ) यदि तुम्हें मेरा विश्वास नहीं है तो किस लिए धन देकर मुझे छुड़ाते हो?

शर्विलक—अरे! सुबह मैंने सेठों के चौक में यह सुना था कि—'सार्थवाह 'चारुदत्त' का है।'

('वसन्तसेना' और 'मदनिका' मूर्छा का अभिनय करती हैं)।

अन्वयः— विषादस्रस्तसर्वांगी, संभ्रमभ्रान्तलोचना, कम्पसे; अभुजिष्यात्वम् नीयमाना, (अपि, किम्, मयि), न अनुकम्पसे।।८।।

शब्दार्थः—विषादस्रस्तसर्वांगी = दुःख से शिथिल सब अंगों वाली, संभ्रमभ्रान्तलोचना = घबराहट से चञ्चल आँखों वाली कम्पसे = काँप रही हो। अभुजिष्यात्वम् = स्वाधीनता को, नीयमाना = प्राप्त कराई जाती हुई (अपि = भी, किम् = क्या मयि = मेरे ऊपर), न = नहीं, अनुकम्पसे = कृपा कर रही हो।।

अर्थः—

शर्विलक—मदनिका! धीरज धरो। इस समय तुम क्यों—

दुःख से शिथिल सब अंगों वाली, घबड़ाहट से चञ्चल आँखों वाली काँप रही हो? दासीपन से छुड़ाई जाती हुई (भी क्या मेरे ऊपर) कृपा क्यों नहीं कर रही हो?।।८।।

टीका— विषादेन = दुःखेन स्रस्तानि = शिथिलानि सर्वाणि = सम्पूर्णानि अंगानि = अवयवाः यस्याः सा; सम्भ्रमेण = भयेन भ्रान्ते = घूर्णिते लोचने = नेत्रे यस्याः सः; कम्पसे = वेपसे; भुङ्क्ते स्वाम्युच्छिष्टम् या सा भुजिष्या = दासी, तस्या भावः भुजिष्यात्वम् न भुजिष्यात्वम् अभुजिष्यात्वम् = अकिंकरीत्वम्, नीयमाना = प्राप्यमाणा अपि किं मयि शर्विलके न अनुकम्पसे = न दयसे?।।८।।

इस श्लोक में विभावना एवं विशेषोक्ति अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।८।।

मदनिका— (समाश्वस्य) साहसिअ! ण क्खु तुए मम कारणादो इमं अकज्जं करंतेण तस्सि गेहे को वि वावादिदो परिक्खदो वा?। (साहसिक! न खलु त्वया मम कारणादिदमकार्यं कुर्वता तस्मिन्गेहे कोऽपि व्यापादितः परिक्षतो वा?।)

शर्विलकः— मदनिके! भीते सुप्ते न शर्विलकः प्रहरति; तन्मया न कश्चिद्व्यापादितो नापि परिक्षतः।

मदनिका– सच्चम् (सत्यम्?।)

शर्विलकः– सत्यम्।

वसन्तसेना– (संज्ञां लब्ध्वा) अम्महे, पच्चुवजीविदम्हि। (आश्चर्यम्, प्रत्युपजीवितास्मि

मदनिका– पिअम् पिअम्। (प्रियम्।)

शर्विलकः– (सेर्ष्यम्) मदनिके! किं नाम प्रियमिति?।

त्वत्स्नेहबद्धहृदयो हि करोम्यकार्यं
सद्वृत्तपूर्वपुरुषेऽपि कुले प्रसूतः।
रक्षामि मन्यथविपन्नगुणोऽपि मानं
मित्रं च मां व्यपदिशस्यपरं च यासि।।६।।

अर्थः–

मदनिका– (धीरज धारण कर) हे साहसी! मेरे लिए इस बुरे काम को करते हुए तुमने उ: घर में किसी को जान से मारा तो नहीं? अथवा किसी को घायल तो नहीं किया?

शर्विलक–मदनिका! डरे हुए और सोये हुए पर 'शर्विलक' वार नहीं करता है। इस लिए मैं न तो किसी को मारा है और नहीं किसी को घायल ही किया है।

मदनिका–सच?

शर्विलक–सच।

वसन्तसेना– (होश में आकर) आश्चर्य है, कि मैं फिर जीवित हो गई।

मदनिका–प्रिय हुआ।

अन्वयः– सद्वृत्तपूर्वपुरुषे, कुले, प्रसूतः, अपि, (अहम्) त्वत्स्नेहबद्धहृदयः, (सन्), हि, अक ार्यम्, करोमि; मन्मथविपन्नगुणः, (सन्), अपि, मानम्, रक्षामि; (किन्तु, त्वम्) माम्, मित्रम्, व्यपदिशसि, च, अपरम्, च, यासि ६।।

शब्दार्थः– सद्वृत्तपूर्वपुरुषे = सदाचारी पुरुषों वाले, कुले = कुल में, प्रसूतः = पैदा हुअ, अपि = भी, अहम् = मैं, त्वत्स्नेहबद्धहृदयः = तुम्हारे प्रेम से बँधा हुआ हृदय वाला अर्थात् तुम्हारे प्रेम के आधीन, सन् = ह ता हुआ, हि = निश्चय, अकार्यम् = कुकर्म को, करोमि = करता हूँ; मन्मथविपन्नगुणः = कामदेव के कारण गुणहीन, स = होता हुआ, अपि = भी, मानम् = मान को, रक्षामि = बचाता हूँ; (किन्तु = परन्तु, त्वम् = तुम) माम् = मुझको, मित्र ् = मित्र, व्यपदिशसि = कहती हो, च = और, अपरम् = दूसरे को, दूसरे के पास, च = भी, यासि = जाती हो।।

अर्थः–

शर्विलक–(ईर्ष्या के साथ) मदनिका! क्या प्रिय हुआ?

सदाचारी पुरखों के कुल में पैदा हुआ भी मैं तेरे प्रेम के अधीन होकर ऐसा कुक र्म करता हूँ अर्थात् चोरी करता हूँ। कामदेव के प्रभाव के कारण गुणहीन होकर भी सम्मान की रक्षा करता हूँ। (इतने पर भी तू ऊपर से तो) मुझको अपना मित्र बतलाती है, और दूसरे (प्रेमी) के पीछे जाती है अर्थात् हृदय से किसी और को चाह ी है।।६।।

टीका– सद् = समीचीनम् वृत्तम् = कर्म येषाम् ते सद्वृत्ताः = सदाचारपालनतत्पराः पू पुरुषाः = पूर्वजाः यत्र तस्मिन्; कुले = वंशे; प्रसूतः = उत्पन्नः = अपि अहम् = शर्विलकः; त्वत्स्नेहेन = तव प्रेम्णा बद्धम् = वशीकृतम् हरति, ह्रियते वा हृदयम् = चेतः यस्य तादृशः सन् हि = निश्चितम्; अकार्यम् = अनुचितम् कर्म; करोमि = सम्पादयामि। मननं मत् = चेतना मथतीति मथः मतः = चेतनायाः मथः = मन्थनकर्ता कामदेवः इत्यर्थः तेन विपन्नाः = विनष्ट : गुणाः = सदाचारादयः यस्य तादृशः सन्; अपि; मानम् = आत्मसम्मानम्; रक्षामि = न त्यजामि इत्यर्थः; किन्तु त्वं ाम् = शर्विलकमित्यर्थः; मित्रम् = प्रियम्; व्यपदिशसि = कथयसि; च = तथा; अन्यम् = अपरम् पुरुषम्, चारुदत्तमित्याद यः; च = अपि; यासि = सम्भोगार्थम् व्रजसि इति।।६।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है वसन्ततिलका।।६।।

(साकूतम्)

इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः।।१०।।

अन्वयः— इह, सर्वस्वफलिनः, कुलपुत्रमहाद्रुमाः, वेश्याविहगभक्षिताः, अलम्, निष्फलत्वम्, यान्ति।।१०।।

शब्दार्थः—इह = इस संसार में, सर्वस्वफलिनः = सारा धन ही जिनका फल है, ऐसे कुलपुत्रमहाद्रुमाः = कुलीन पुत्र रूपी बड़े पेड़, वेश्याविहगभक्षिताः = वेश्यारूपी चिड़ियों के द्वारा खाये जाकर, अलम् = पूर्ण रूप से, निष्फलत्वम् = फल हीनता को, यान्ति = प्राप्त होते हैं।।

(अभिप्राय पूर्वक अर्थात् किसी बात को मन में लेकर)

अर्थः— इस संसार में अपना सारा धन ही जिनका फल है ऐसे कुलीन पुत्र रूपी बड़े पेड़ वेश्या रूपी चिड़ियों के द्वारा खाये जाकर एकदम निष्फल कर दिये जाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार चिड़ियाँ फल खाकर पेड़ को फलहीन कर देती हैं, उसी प्रकार वेश्याएँ धन खाकर पुरुषों को गरीब कर देती हैं।।१०।।

टीकाः— इह = अस्मिन् जगति; सर्वं = निखिलम् स्वम् = धनमेव फलम् = प्रसवः इति सर्वस्वफलम्, तदस्ति एषामिति सर्वस्वफलिनः = समग्रधनरूपफलयुक्ताः; कुलपुत्राः = सद्वंशोत्पन्नाः जनाः एव महाद्रुमाः = महावृक्षाः; वेश्याः = गणिकाः एव विहगाः = पक्षिणः तैः भक्षिताः = खादिताः सन्तः; अलम् = पर्याप्तम्; निष्फलत्वम् = फलराहित्यम्; यान्ति = गच्छन्ति। रूपकः

यहाँ पर रूपक अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र।।१०।।

अयं च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च।।११।।

अन्वयः— सुरतज्वालः, प्रणयेन्धनः, अयम्, कामाग्निः, (अस्ति), यत्र, नराणाम्, यौवनानि, धनानि, च, हूयन्ते।।११।।

शब्दार्थः—सुरतज्वालः = सम्भोग रूपी लपट वाली, प्रणयेन्धनः = प्रेम रूपी ईंधनवाली, अयम् = यह, कामाग्निः = काम वासना रूपी आग, (अस्ति = है) यत्र = जिसमें, नराणाम् = मनुष्यों की, यौवनानि = जवानियाँ, च = और, धनानि = सम्पत्तियाँ, हूयन्ते = होम की जाती हैं।।

अर्थः— सम्भोग जिसकी लपटें हैं, प्रेम जिसका ईंधन है, ऐसी कामवासना रूपी आग में मनुष्यों की जवानी और सम्पत्ति दोनों ही होम की जाती हैं।।११।।

टीका— सुरतम् = सम्भोगक्रीडा एव ज्वाला = शिखा यस्य सः; प्रणयः = अनुरागः एव इन्धनम् = दारु यस्य सः, अयम् = अनुभूयमानः, कामः = कामदेव; एव अग्निः = वह्निः अस्तीतिः; यत्र = यस्मिन् कामाग्नौ; नराणाम् = मानवानाम्, यौवनानि = तारुण्यानि; धनानि = सम्पत्तयश्च; हूयन्ते = भस्मसात् क्रियन्ते, आहुतयः इव प्रक्षिप्यन्ते।।११।।

यहाँ सांगरूपक अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है पथ्यावक्त्र।।११।।

वसन्तसेना—(सस्मितम्) अहो से अत्थाणे आवेओ। (अहो, अस्यास्थाने आवेगः।)

शर्विलकः— सर्वथा—

अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये
स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो
भुजंगकन्यापरिसर्पणानि।।१२।।

वसन्तसेना— (मुस्कराकर) अहो! इसका रोष गलत जगह पर है अर्थात् इसका रोष बिना कारण के ही है।

अन्वयः— ये, पुरुषाः स्त्रीषु, च, श्रीषु, च, विश्वसन्ति, ते, अपण्डिताः, मे, मताः, हि, श्रियः, तथैव, नार्यः, भुजगकन्यापरिसर्पणानि कुर्वन्ति।।१२।।

शब्दार्थः—ये = जो, पुरुषाः = पुरुष, स्त्रीषु = स्त्रियों पर, च = और, श्रीषु = धन पर, विश्वसन्ति = भरोसा रखते हैं, ते = वे पुरुष, अपण्डिताः = बेवकूफ (अज्ञ), मे = मुझे, मताः = लगते हैं; हि = क्योंकि, श्रियः = सम्पत्तियाँ, तथैव = उसी तरह, नार्यः = स्त्रियाँ, भुजंगकन्यापरिसर्पणानि = नागिन के समान (टेढ़ी) चाल, कुर्वन्ति = करती हैं, चलती हैं।।

शर्विलक—हर प्रकार से—

अर्थः— जो आदमी स्त्रियों एवं धन पर भरोसा रखते हैं; वे मुझे मूर्ख लगते हैं। सम्पत्ति तथा स्त्रियाँ नागिन के समान टेढ़ी चाल चला करती हैं।।१२।।

टीकाः — ये पुरुषाः = जनाः; स्त्रीषु = रामासु; च = तथा; श्रीषु = सम्पत्तिषु च; विश्वसन्ति = विश्वासं कुर्वन्ति; ते पुरुषाः; अपण्डिताः = अप्रवीणाः, अज्ञाः इति यावत्; मे = मम, शर्विलकस्य इत्यर्थः; मताः = अभीष्टाः; मम बुद्ध्या ते मूर्खाः सन्ति इति भावः; हि = यतः; श्रियः = सम्पत्तयः; तथैव = तद्वदेव; नार्यः = स्त्रियः अपि; भुजगकन्यानाम् = सर्पिणीनाम्, इव इत्यर्थः; परिसर्पणानि = कुटिलगमनानि; कुर्वन्ति = सम्पादयन्ति।।१२।।

इस श्लोक में दीपक एवं उपमा के परस्पर अंगांगिभाव के कारण संकर अलंकार तथा उपजाति छन्द है।।१२।।

स्त्रीषु न रागः कार्यो रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति।
रक्तैव हि रन्तवया विरक्ताभावा तु हातव्या।।१३।।

अन्वयः— स्त्रीषु, रागः, न कार्यः; स्त्रियः, रक्तम्,, पुरुषम्, परिभवन्ति; हि, रक्ता, एव, रन्तव्या, विरक्तभावा, तु, हातव्या।।१३।।

शब्दार्थः— स्त्रीषु = स्त्रियों पर, रागः = प्रेम, न = नहीं, कार्यः = करना चाहिये; स्त्रियः = स्त्रियाँ, रक्तं = प्रेम करने वाले, पुरुषम् = पुरुष को, परिभवन्ति = अपमानित करती हैं; हि = केवल, रक्ता = प्रेम करने वाली स्त्री, एव = ही, रन्तव्या = रमण करने के योग्य है, विरक्तभावा = उदासीन (स्त्री), तु = तो, हातव्या = त्याग देने लायक (है)।।

अर्थः— स्त्रियों पर प्रेम नहीं करना चाहिए। स्त्रियाँ अपने पर प्रेम करने वाले पुरुष को अपमानित करती हैं। प्रेम करने वाली स्त्री के साथ ही रमण करना चाहिए। और उदासीन (प्रेम न करने वाली स्त्री) को त्याग देना चाहिए। अर्थात् उससे प्रेम नहीं करना चाहिए।।१३।।

टीकाः — स्त्रीषु = वनितासु; रागः = प्रीतिः; न कार्यः = न कर्तव्यः; स्त्रियः = वनिताः; रक्तम् = अनुरागशालिनम्; पुरुषम् = जनम्; परिभवन्ति = तिरस्कुर्वन्ति। हि = केवलम्; रक्ता = अनुरागिणी स्त्री एव; रन्तव्या = रमणार्हा; विरक्ताः = अनुरागशून्यः भावः यस्याः सा, अननुरागिणीत्यर्थः; हातव्या = परिवर्जनीया।।१३।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार तथा आर्या छन्द है।

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो-
र्विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः।।१४।।

अन्वयः— एताः, वित्तहेतोः, हसन्ति, च, रुदन्ति, च, पुरुषम्, विश्वासयन्ति, तु, न, विश्वसन्ति; तस्मात्, कुलशीलसमन्वितेन, नरेण, श्मशानसुमनाः, इव, वेश्याः, वर्जनीयाः।।१४।।

शब्दार्थः— एताः = ये (व्यापारी स्त्रियाँ), वित्तहेतोः = धन के लिये, हसन्ति = हँसती हैं, च = और, रुदन्ति = रोती हैं, पुरुषम् = पुरुष को, विश्वासयन्ति = विश्वास दिलाती हैं, तु = किन्तु, न = नहीं, विश्वसन्ति = विश्वास करती हैं; तस्मात् = इसलिये, कुलशीलसमन्वितेन = (अच्छे) कुल एवम् स्वभाव वाले, नरेण = मनुष्य के द्वारा, श्मशानसुमनाः इव = श्मशान भूमि के फूल की भाँति, वेश्याः = वेश्याएँ, वर्जनीयाः = त्याग देने के योग्य हैं।।

वास्तव में यह ठीक कहा जाता है—

अर्थः— ये (व्यापारी स्त्रियाँ) धन के लिए हँसती और रोती हैं। पुरुष को विश्वास दिलाती हैं, किन्तु (स्वयं पुरुष का) विश्वास नहीं करती हैं। इसलिए अच्छे कुल एवं स्वभाव वाले पुरुष को चाहिए कि वह वेश्याओं को श्मशान भूमि के फूल के समान छोड़ दे।।१४।।

टीकाः— एताः = वेश्याः; वित्तस्य = धनस्य, हेतोः = कारणात्; हसन्ति = दातुः विनोदार्थं हासम् कुर्वन्ति इत्यर्थः; च = तथा; रुदन्ति = विलपन्ति च; पुरुषम् = कामुकम जनमित्यर्थः; विश्वासयन्ति = प्रत्याययन्ति च, तु = किन्तु; न विश्वसन्ति = न प्रत्ययम् गच्छन्ति; तस्मात् = ततः; कुलञ्च = सद्वंशश्च शीलञ्च = स्वभावश्च ताभ्याम् समन्वितेन = युक्तेन, कुलवता शीलवता चेत्यर्थः; नरेण = पुरुषेण; श्मशानस्य = पितृवनस्य सुमनाः = पुष्पम् मालती पुष्पाणि वा; इव वेश्याः = वारनार्यः; वर्जनीयाः = हातव्याः।।१४।।

पूर्वार्द्ध में दीपक अलंकार है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में उपमा अलंकार है। इस प्रकार यहाँ दीपक एव उपमा की संसृष्टि है। प्रयुक्त छन्द का नाम है–वसन्ततिलका।।१४।।

अपि च–

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति।।१५।।

अन्वयः– समुद्रवीची, इव, चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्रलेखा, इव, मुहूर्तरागाः, स्त्रियः, हृतार्थाः, (सत्यः), निरर्थम्, पुरुष, निष्पीडितालक्तकवत त्यजन्ति।।१५।।

शब्दार्थः– समुद्रवीची = सागर की लहरी, इव = जैसी, चलस्वभावाः = चञ्चल स्वभाव वाली; सन्ध्याभ्रलेखा = सायंकालीन बादलों की पाँत, इव = जैसी, मुहूर्तरागाः = क्षण भर के लिये राग लालिमा, प्रेम वाली, स्त्रियः = स्त्रियाँ, हृतार्थाः = धन लेने वाली (सत्यः = होकर), अर्थात् धन लेकरके; निरर्थम् = निर्धन, पुरुषम् = पुरुष को, निष्पीडितालक्तकवत् = निचोड़े गये महावर के समान, त्यजन्ति = छोड़ देती हैं।।

और भी–

अर्थः– सागर की लहरों के समान चञ्चल स्वभाव वाली, सायंकालीन बादलों की रेखा के समान क्षण भर के लिए राग (बादलों के पक्ष में–लालिमा एवं स्त्रियों के पक्ष में–प्रेम) वाली स्त्रियाँ (वेश्यायें) धन लेकर के (बाद में) निर्धन हुए मनुष्य को निचोड़े गये महावर (अलक्तक) के समान, छोड़ देती हैं।।१५।।

टीकाः – समुद्रस्य = सागरस्य, वीची = तरंगः इव; चलः = अस्थिरः स्वभावः = प्रकृतिः यासाम् ताः, अतिचपलाः इत्यर्थः, सन्ध्यायाः = सायंकालस्य अभ्राणाम् = मेघानाम् लेखा = रेखा, इव; मुहूर्तम् = क्षणम् अल्पकालमित्यर्थः–रागः = अनुरागः (मेघलेख पक्षे रक्तिमा) यासाम् ताः; स्त्रियः = रमण्यः; हृतः = अपहृतः कामुकात् गृहीतः इति यावत्, अर्थः = धनम् याभिः तथाभूताः सत्यः, निर्गतः अर्थः यस्य तम् निरर्थम् = निर्धनम्; पुरुषम् = जनम्; निष्पीडितम् = निःसारितम् अलक्तकम् = लाक्षा तद्वत् त्यजन्ति = परित्यजन्ति।।१५।।

इस श्लोक में उपका अलंकार एवं उपजाति छन्द है।।१५।।

स्त्रियो नाम चपलाः-

अन्यं मनुष्यं हृदयेन कृत्वा अन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति।
अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्यं शरीरेण च कामयन्ते।।१६।।

अन्वयः– (स्त्रियः), हृदयेन, अन्यम् मनुष्यम्, कृत्वा, ततः, अन्यम् दृष्टिभिः, आह्वयन्ति, अन्यत्र, मदप्रसेकम्, मुञ्चन्ति, शरीरेण, अन्यम् च, कामयन्ते।।१६।।

शब्दार्थः– (स्त्रियः = स्त्रियाँ), हृदयेन = हृदय से, अन्यम् = दूसरे, मनुष्यम् = पुरुष को, कृत्वा = करके, ततः = उससे अन्य = दूसरे को, दृष्टिभिः = आँखों से, आह्वयन्ति = बुलाती हैं; अन्यत्र = दूसरे पर, मदप्रसेकम् = मदिरा का कुल्ला, मुञ्चन्ति = छोड़ती हैं, करती हैं; शरीरेण = शरीर से, अन्यम् = दूसरे को, कामयन्ते = चाहती हैं।

चञ्चल स्वभाववाली स्त्रियाँ–

अर्थः– अपने हृदय में दूसरे पुरुष को रखकर उससे किसी दूसरे पुरुष को आँख के इशारों से बुलाती हैं। उससे भी दूसरे पुरुष पर मदिरा का कुल्ला करती हैं और अपनी शरीर से (उससे भी किसी) अन्य पुरुष को चाहती हैं अर्थात् आलिंगन करती हैं।।१६।।

टीकाः– स्त्रियः = वारनार्यः इत्यर्थः; हृदयेन = चेतसा; अन्यम् = इतरम्; मनुष्यम् = पुरुषम्; कृत्वा = निश्चित्य इत्यर्थः, ततः = तस्मात् पुरुषात्; अन्यम् = इतरम् जनम्; दृष्टिभिः = नेत्रेंगितैः इत्यर्थः; आह्वयन्ति = आकारयन्ति; अन्यम = तस्मात् अन्यस्मिन जने; मदस्य = मदिरायाः, प्रसेकम् = मुखात् प्रक्षेपम्, सेचनमित्यर्थः; मुञ्चन्ति = त्यजन्ति, कुर्वन्ति, इत्यर्थः, शरीरेण कायेन, अन्यम् = तदतिरिक्तम् च, कामयन्ते = वाञ्छन्ति, प्रेम्णा आलिंगन्ते।।१६।।

यहाँ पर दीपक अलंकार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–इन्द्रवज्रा। छन्द का लक्षण–'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'।।१६।।

सूक्तं खलु कस्यापि–

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति
न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो
न वेशजाताः शुचयस्तथांगनाः।।१७।।

अन्वयः– पर्वताग्रे, नलिनी, न, प्ररोहति, गर्दभाः, वाजिधुरम्, न, वहन्ति; प्रकीर्णाः, यवाः, शालयः, न, भवन्ति, तथा, वेशजाताः, अंगनाः, शुचयः, न, (भवन्ति)।।१७।।

शब्दार्थः– पवताग्रे = पहाड़ की चोटी पर, नलिनी = कमललता, न = नहीं, प्ररोहति = उगती है; गर्दभाः = गदहे, वाजिधुरम् = घोड़े के भार को, न = नहीं, वहन्ति = ढोते हैं प्रकीर्णाः = बोए हुए, यवाः = जौ, शालयः = धान, न भवन्ति = नहीं होते हैं, तथा = और, वेशजाताः = वेश्या के घर में पैदा हुई अंगनाः = स्त्रियाँ, शुचयः = पवित्र, न = नहीं, (भवन्ति = होती हैं)।।

सचमुच किसी का कहा हुआ ठीक ही है–

अर्थः– पहाड़ की चोटी पर कमललता नहीं उगती है। गधे घोड़े के भार को नहीं ढोते हैं (खेत में) बोए हुए जौ धान नहीं हो जाते हैं। इसी प्रकार वेश्या के घर में पैदा हुई स्त्रियाँ पवित्र नहीं होती हैं।।१७।।

टीकाः– पर्वतस्य = गिरेः, अग्रे = श्रृंगे; नलिनो = कमलिनी; न प्ररोहति = नोत्पद्यते; गर्दभा इति गर्दभाः = रासभाः; वाजिनाम् = अश्वानाम्, धुरम् = भारम् = अश्ववाह्यम्, भारमित्यर्थः, न वहन्ति = वोढुम् न समर्थाः भवन्ति इत्यर्थः, प्रकीर्णाः = क्षेत्रे प्रक्षिप्ताः; यवाः = सितशूकाः, शालयः = कलमाः; न भवन्ति = न जायन्ते; तथा वेशजाताः = वेश्यालये जाताः = उत्पन्नाः; अंगनाः = स्त्रियः; शुचयः = पवित्राः; न भवन्तीति।।१७।।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार एवं वंशस्थ छन्द है।।१७।।

आः दुरात्मन् चारुदत्तहतक! अयं न भवसि। (इति कतिचित्पदानि गच्छति)

मदनिका– (अञ्चले गृहीत्वा) अइ असंबद्धभासअ असंभावणीए कुप्पासि। (अयि असंबद्धभाषक! असंभावनीये कुप्यसि?।)

शर्विलकः–कथमसंभावनीयं नाम?

मदनिका– एसो क्खु अलंकारओ अज्जआकेरओ। (एष खल्वलंकार आर्यासंबन्धी।)

शर्विलकः– ततः किम्?

मदनिका– स च तस्स अज्जस्स हत्थे विणिक्खित्तो। (स च तस्यार्यस्य हस्ते विनिक्षिप्तः।)

शर्विलकः– किमर्थम्?

मदनिका– (कर्णे) एव्वं विअ। (एवमिव।)

शर्विलकः– (सवैलक्ष्यम्) भोः कष्टम्,-

छायार्थं ग्रीष्मसंतप्तो यामेवाहं समाश्रितः।
अजानता मया सैव पत्रैः शाखा वियोजिता।।१८।।

अर्थः– अरे दुष्ट चारुदत्त! अब तुम न रहोगे अर्थात् अभी तुम्हें मारता हूँ। (ऐसा कह कर कई कदम चलता है)।

मदनिका–(आँचल पकड़ कर) हे असम्बद्ध बोलने वाले! असम्भावित पर कोप कर रहे हो?

शर्विलक–असम्भावनीय कैसे है?

मदनिका–वास्तव में यह आभूषण वसन्तसेना का है।

शर्विलक–उससे क्या?

मदनिका–वह आभूषण उन आर्य चारुदत्त के हाथ में धरोहर रक्खा गया था।

शर्विलक–किस लिए?

मदनिका–(कान में) इसलिए।

शर्विलक—(लज्जा के साथ) अरे दुःख है।

अन्वयः— ग्रीष्मसन्तप्तः, अहम्, छायार्थम्, याम्, एव, समाश्रित, अजानता, मया, सा, एव, शाखा, पत्रैः, वियोजिता।।१८।।

शब्दार्थः— ग्रीष्मसन्तप्तः = गर्मी से परेशान, अहम् = मैने, छायार्थं = छाँह के लिये, याम् = जिस (डाली) को, एव = ही, समाश्रित = आश्रय बनाया, सहारा बनाया, अजानता = न जानने वाले, मया = मेरे द्वारा, सा = वह, एव = ही, शाखा = डाली, पत्रैः = पत्तों से, वियोजिता = रहित कर दी गयी।।

अर्थः— गर्मी से परेशान हुए मैंने छाँह के लिए जिस डाली का आश्रय लिया, उसी को अनजाने में मैने ही पत्तों से हीन बना दिया। अर्थात् अपनी कामाग्नि से परेशान होकर मैं जिस 'वसन्तसेना' से 'मदनिका' को छुड़ाना चाहा उसी 'वसन्तसेना' का आभूषण चुराया। वास्तव में यह भूल हो गयी।।१८।।

टीकाः— ग्रीष्मेण = निदाघेन सन्तप्तः = पीडितः; अहम् = शर्विलकः; छायार्थम् = अनातपार्थम्, याम् = शाखामित्यर्थः, एव समाश्रित = आश्रितवान्; अजानता = अनभिज्ञेन, मया = शर्विलकेन; सैव = कृताश्रयैव; शाखा = शाला; पत्रैः = पर्णैः छायासाधनभूतैः इति भावः; वियोजिता = पत्रशून्या कृता।।१८।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।१८।।

वसन्तसेना—कधं एसो वि सतप्पदि ज्जेव?। ता अजाणंतेण एदिणा एव्वं अणुचिट्ठिदम्। (कथमेषोऽपि सन्तप्यत एव। तदजानतैतेनैवमनुष्ठितम्)

शर्विलकः— मदनिके! किमिदानीं युक्तम्?।

मदनिका— इत्थं तुमं ज्जेव पंडिओ। अत्र त्वमेव पण्डितः।

शर्विलकः— नैवम्; पश्य-

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः।
पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते।।१९।।

अर्थः— वसन्तसेना — क्या यह भी सन्ताप ही कर रहा है। तो अनजाने में ही इसने ऐसा किया।

शर्विलक—मदनिका — अब क्या उचित है?

मदनिका—इस विषय में तुम्हीं चतुर हो।

शर्विलक—ऐसा नहीं। देखो—

अन्वयः— एताः, स्त्रियः, हि, निसर्गात्, एव, पण्डिताः, खलु, नाम, तु, पुरुषाणाम्, पाण्डित्यम्, शास्त्रैः, एव, उपदिश्यते।।१९।।

शब्दार्थः— एताः = ये, स्त्रियः = स्त्रियाँ, हि = निश्चय ही, निसर्गात् = प्रकृति से, जन्म से, एव = ही, पण्डिताः = चतुर होती हैं, खलु नाम = ऐसी सम्भावना की जाती है। तु = किन्तु, पुरुषाणाम् = पुरुषों की, पाण्डित्यम् = चतुरता, शास्त्रैः = शास्त्रों के द्वारा, एव = ही, उपदिश्यते = सिखाई जाती है।।

अर्थः— वास्तव में, ये स्त्रियाँ जन्म से ही चतुर होती हैं। पुरुषों की चतुरता तो शास्त्रों के द्वारा ही सिखाई गई होती है अर्थात शास्त्र पढ़ने के बाद ही पुरुष चतुर होते हैं।।१९।।

टीकाः— एताः = इमाः; स्त्यायन्ति गर्भाः आसु इति स्त्रियः = नार्यः; हि = निश्चितम्; निसर्गात् = स्वभावात्; एव पण्डिताः = चतुराः प्रवीणाः; भवन्तीति शेषः; नामेति सम्भावनायाम्; तु = किन्तु; पुरुषाणाम् = पुंसाम्; पाण्डित्यम् = नैपुण्यम्; शास्त्रैः = ग्रन्थाध्ययनैः इत्यर्थः; एव उपदिश्यते = शिक्ष्यते, वा कथ्यते विचक्षणैः इति।।१९।।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र।।१९।।

मदनिका— सव्विलअ। जइ मम वअणं सुणीअदि, ता तस्स ज्जेव महाणुभावस्स पडिणिज्जादेहि। (शर्विलक! यदि मम वचनं श्रूयते, तदा तस्यैव महानुभावस्य प्रतिनिर्यातय।)

शर्विलकः— मदनिके! यद्यसौ राजकुले मां कथयति।

मदनिका— ण चंदादो आदवो होदि। (न चन्द्रादातपो भवति।)

वसन्तसेना— साहु मदणिए! साहु। (साधु मदनिके! साधु)

शर्विलकः— मदनिके।

न खलु मम विषादः साहसेऽस्मिन्भयं वा
कथयसि हि किमर्थं तस्य साधोर्गुणांस्त्वम्?।
जनयति मम वेदं कुत्सितं कर्म लज्जां
नृपतिरिह शठानां मादृशां किं नु कुर्यात्?।।२०।।

अर्थः— मदनिका — शर्विलक! यदि मेरा कहना मानते हो तो उन्हीं महानुभाव आर्य चारुदत्त को लौटा दो।

शर्विलक—मदनिका! यदि ये चारुदत्त मेरे विषय में राजकुल में कह देंगे तो।

मदनिका—चन्द्रमा से गर्मी नहीं होती अर्थात् 'चारुदत्त' से ऐसी बात की आशा नहीं है।

वसन्तसेना—वाह! मदनिका वाह!!

अन्वयः— अस्मिन्, साहसे, मम, विषादः, वा, भयम्, न, खलु; (अस्ति), त्वम्, तस्य, साधोः, गुणान्, किमर्थं, कथयसि?हि, इदम्, कुत्सितम्, कर्म, वा, मम, लज्जाम्, जनयति, इह, नृपतिः, मादृशाम्, शठानाम्, किम्, नु, कुर्यात्?।।२०।।

शब्दार्थः— अस्मिन् = इस, साहसे = इस चोरी के काम में, मम = मुझे, विषादः = खेद, वा = अथवा भयम् = डर, न खलु = नहीं है, त्वम् = तुम तस्य = उन, साधोः = सज्जन के, गुणान् = गुणों को, किमर्थं = किस लिए, कथयसि = कह रही हो? हि = अवश्य ही, इदम् = यह, कुत्सितम् = बुरा कर्म = काम, वा = ही, मम = मेरी, लज्जाम् = लज्जा को जनयति = उत्पन्न कर रहा है, इह = इस विषय में, नृपतिः = राजा, मादृशाम् = हम जैसे, शठानाम् = धूर्तों का, किम् = क्या, कुर्यात् = करेगा?।

अर्थः —

शर्विलक—इस चोरी के काम में, सचमुच, मुझे न तो पछतावा ही है और न राजा के दण्ड आदि का डर ही। ऐसी हालत में तुम सज्जन उन आर्य 'चारुदत्त' के कृपा आदि गुणों की बात क्यों कह रही हो? अरे! मैंने तो चोरी रूप जिस बुरे काम को किया है, वही मुझे मेरी लज्जा उत्पन्न कर रहा है। नहीं तो इस विषय में राजा हम जैसे धूर्तों का कर ही क्या सकता है? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता।।२०।।

टीकाः— अस्मिन् = मया सम्पादिते; साहसे = चौर्ये; मम = शर्विलकस्य; विषादः = खेदः; वा = अथवा; भयम् = भीतिः; न खलु = नैव; अस्तीतिः; अस्यामवस्थायाम् त्वम् = मदनिका इत्यर्थः; तस्य = मया लुण्ठितस्य; साधोः = सज्जनस्य, चारुदत्तस्येत्यर्थः; गुणान् = दयादक्षिण्यादिगुणान्, किमर्थं = कस्मात् हेतोः, कथयसि = वदसि?। हि = अवधारणे; इदम् = मया कृतम्; कुत्सितम् = निन्दितम्, कर्म = कार्यम्, चौर्यमिति यावत्; वा = एव; लज्जां = लज्जां जनयति = उत्पादयति; इह = अस्मिन् कार्ये—चौर्ये इति यावत्; नृपतिः = राजा; मादृशाम् = मत्सदृशानाम्; शठानाम् = धूर्तानाम्; किं नु कुर्यात् = किं कर्तुं शक्नुयात्?।।२०।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण— 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।।२०।।

तथापि नीतिविरुद्धमेतत्। अन्य उपायश्चिन्त्यताम्।

मदनिका — सो अअं अवरो उवाओ (सोऽयमपर उपायः।)

वसन्तसेना — को क्खु अवरो उवाओ हुविस्सदि?। (कः खल्वपर उपायो भविष्यति?।)

मदनिका — तस्स ज्जेव अज्जस्स केरओ भविअ एदं अलंकारअं अज्जआए उवणेहि। (तस्यैव आर्यस्य संबन्धी भूत्वेममलंकारकमार्याया उपनय।)

शर्विलकः — एवं कृते कि भवतिं?।

मदनिका — तुमं दाव अचोरो, सो वि अज्जो अरिणो, अज्जआए सकं अलंकारअं उवगदं होदि। (त्वं तस्वदचौरः, सोऽप्यार्योऽनृणः, आर्यया स्वकोऽलंकार उपगतो भवति)।

शर्विलकः — नन्वतिसाहसमेतत्।

मदनिका — अइ! उवणेहि, अण्णधा अदिसाहसम्। (अयि! उपनय, अन्यथातिसाहसम्)

वसन्तसेना – साहु मदणिए! साहु। अभुजिस्सए विअ मंतिदम् (साधु मदनिके! साधु, अभुजिष्ययेव मन्त्रितम्।)

शर्विलकः –

मयाप्ता महती बुद्धिर्भवतीमनुगच्छता।
निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्गदर्शकः।।२१।।

अर्थः–

फिर भी यह नीति के खिलाफ है। दूसरा तरीका सोचो।

मदनिका–तो दूसरा तरीका यह है।

वसन्तसेना– और कौन सा दूसरा तरीका होगा?

मदनिका – उन्हीं आर्य 'चारुदत्त' के आदमी बनकर इस आभूषण को आर्या वसन्तसेना के पास ले जाओ।

शर्विलक – ऐसा करने पर क्या होगा?

मदनिका – तुम चोर नहीं समझे जाओगे। वह आर्य चारुदत्त भी ऋण मुक्त हो जायेंगे और आर्या वसन्तसेना का आभूषण भी उनको मिल जायेगा।

शर्विलक – किन्तु यह तो बड़े साहस का काम है।

मदनिका – अरे ले जाओ। यदि ऐसा नहीं करोगे तभी बड़ी हिम्मत का काम होगा।

वसन्तसेना – वाह! मदनिका वाह! विवाह करके लाई गई अपनी स्त्री की भाँति तुमने सलाह दी।

अन्वयः– भवतीम्, अनुगच्छता, मया, महती, बुद्धिः, आप्ता, नष्ट–चन्द्रायाम्, निशायाम्, मार्गदर्शकः, दुर्लभः (भवति)।।२१

शब्दार्थः– भवतीम् = आप को, अनुगच्छता = अनुसृत करने वाले, मया = मेरे द्वारा, महती = बड़ी, बुद्धिः = बुद्धि, आप्ता = [illegible] गयी; नष्टचन्द्रायाम् = चन्द्रमा से रहित, निशायाम् = रात में, मार्गदर्शकः = राह बतलाने वाला, दुर्लभ = दुर्लभ, (भवति = होता है)।

अर्थः –

शर्विलक–तुम्हारे अनुसार चलकर मैंने बड़ी बुद्धि पाई है। जिस रात में चन्द्रमा डूब जाता है, उस रात में राह बतलाने वाला दुर्लभ होता है।।२१।।

टीकाः – भवतीम् = त्वाम्; अनुगच्छता = अनुसरता; मया = शर्विलकेनेत्यर्थः; महती = श्रेष्ठा विशाला वा; बुद्धिः = मतिः आप्ता = प्राप्ता; नष्टः = अदर्शनं गतः, चन्द्रः = चन्द्रमाः यस्याम् तथाभूतायाम्, अन्धकारपूर्णायामित्यर्थः; निशायाम् = रजन्याम्; मार्गदर्शकः = पथःदर्शकः = निर्देशकः; दुर्लभः = दुष्प्रापः भवतीति।।२१।।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।२१।।

मदनिका– तेण हि तुमं इमस्सिं कामदेवगेहे मुहुत्तअं चिट्ठ, जाव अज्जआए तुह आगमणं णिवेदेमि। (तेन हि त्वमस्मिन्कामदेवगेहे मुहूर्तकं तिष्ठ, यावदार्यायै तवागमनं निवेदयामि।)

शर्विलकः – एवं भवतु।

मदनिका – (उपसृत्य) अज्जए! एसो क्खु चारुदत्तस्स सआसादों बम्हणो आअदो। (आर्ये! एष खलु चारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगतः।)

वसन्तसेना – हञ्जे! तस्स केरअं त्ति कधं तुम जाणासि?। (चेटि! तस्य संबन्धीति कथं त्वं जानासि?।)

मदनिका – अज्जए! अत्तणकेरअं पि ण जाणामि?। (आर्ये! आत्मसंबन्धिनमपि न जानामि?।)

वसन्तसेना – (स्वगतं सशिरः कम्पं, विहस्य) जुज्जदि, (प्रकाशम्) पविसदु। (युज्यते, प्रविशशु।)

मदनिका – जं अज्जआ आणवेदि। (उपगम्य) पविसदु सव्विलओ! (यदार्याज्ञापयति। प्रविशतु शर्विलकः।)

शर्विलकः – (उपसृत्य, सवैलक्ष्यम्) स्वस्ति भवत्यै।

वसन्तसेना – अज्ज! वदामि। उवविसदु अज्जो। (आर्य! वन्दे। उपविशत्वार्यः।)

शर्विलकः – सार्थवाहस्त्वां विज्ञापयति-'जर्जरत्वाद् गृहस्य दूरक्ष्यमिदं भाण्डम्ः तद्गृह्यताम्'।

(इति मदनिकायाः समर्प्य प्रस्थितः)

वसन्तसेना – अज्ज! ममावि दाव पडिसंदेसं तहिं अज्जो णेदु। (आर्ये! ममापि तावत्प्रतिसंदेशं तत्रार्यो नयतु।)

शर्विलकः – (स्वगतम्) कस्तत्र यास्यति;। (प्रकाशम्) कः प्रतिसंदेशः?।

वसन्तसेना – पडिच्छदु अज्जो मदणिअम्। (प्रतीच्छत्वार्यो मदनिकाम्।)

शर्विलकः – भवति! न खल्ववगच्छामि।

वसन्तसेना – अहं अवगच्छामि। (अहमवगच्छामि।)

शर्विलकः – कथमिव?।

वसन्तसेना – अहं अज्जचारुदत्तेण भणिदा-'जो इमं अलंकारअं समप्पइस्सदि, तस्स तुए मदणिआ दादव्वा'। ता सो ज्जेव एदं दे देदित्ति एव्वं अज्जेण अवगच्छिदव्वम्। (अहमार्यचारुदत्तेन भणिता-'य इममलंकारकं समर्पयिष्यति, तस्य त्वया मदनिका दातव्या। तत्स एवैतां ते ददातीत्येवमार्येणावगन्तव्यम्।)

शर्विलकः – (स्वगतम्) अये विज्ञातोऽहमनया। (प्रकाशम्) साधु आर्यचारुदत्त! साधु;

गुणेष्वेव हि कर्त्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः सदा।
गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः।।२२।।

अर्थः –

मदनिका–अतः कामदेव के इस मन्दिर में तुम थोड़ी देर बैठो। जब तक मैं आर्या वसन्तसेना को तुम्हारे आने की खबर दिये देती हूँ।

शर्विलक – ऐसा ही हो।

मदनिका – (पास में जाकर) आर्या! 'चारुदत्त' के यहाँ से यह ब्राह्मण आया हुआ है।

वसन्तसेना – चेटी! तुम्हें कैसे मालूम कि उनका आदमी है?

मदनिका – आर्या! क्या मैं अपने आदमी को भी नहीं पहचानूँगी?

वसन्तसेना – (अपने आप, शिर हिलाती हुई हँसकर) ठीक है। (प्रकट रूप में) आने दो।

मदनिका – जैसी आपकी आज्ञा। (शर्विलक के पास जाकर) शर्विलक! अन्दर चलिए।

शर्विलक – (पास में जाकर घबड़ाहट के साथ) आपका कल्याण हो।

वसन्तसेना – आर्य! प्रणाम करती हूँ। आप बैठें।

शर्विलक – सार्थवाह चारुदत्त आपको सूचित करते हैं अर्थात् आपसे कहे हैं कि–'घर के जर्जर होने से सोने के इस पात्र को सुरक्षा के साथ रखना कठिन है। इसलिए इसको ले लीजिए।'

(ऐसा कहकर मदनिका को देकर चल देता है)।

वसन्तसेना – आर्य! मेरा भी प्रतिसन्देश आप वहाँ लेते जायँ।

शर्विलक – (अपने आप) वहाँ कौन जायगा? (प्रकट रूप में) क्या प्रतिसन्देश है?

वसन्तसेना – आप 'मदनिका' को स्वीकार करें।

शर्विलक – आर्या! मैंने समझा नहीं।

वसन्तसेना – मैं समझ रही हूँ।

शर्विलक – किस प्रकार?

वसन्तसेना – आर्य 'चारुदत्त' ने मुझसे कहा है–'जो आदमी इस आभूषण को समर्पित करे उसको तुम मदनिका दे देना। इसलिए

वे चारुदत्त ही आपको मदनिका दे रहे हैं ऐसा समझना चाहिए।

शर्विलक – (अपने आप) अरे! इसने मुझे जान लिया। (प्रकट रूप में) धन्य! आर्य चारुदत्त धन्य!

अन्वयः– पुरुषैः सदा, गुणेषु, एव, प्रयत्नः, कर्त्तव्यः, हि, गुणयुक्तः, दरिद्रः, अपि, अगुणैः, ईश्वरैः, समः, न, (भवति)।।२२।।

शब्दार्थः– पुरुषैः = पुरुषों के द्वारा, सदा = हमेशा, गुणेषु = गुणों में, एव = ही, प्रयत्नः = प्रयत्न, उद्योग, कर्त्तव्यः = करना चाहिय, हि = क्योंकि, गुणयुक्तः = गुणवान्, दरिद्रः = निर्धन, अपि = भी, अगुणैः = गुणहीन, ईश्वरैः = धनियों के, समः = समान न = नहीं, भवति = होता है।।

मनुष्यों को हमेशा अच्छे गुणों को पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि गुणवान् दरिद्र भी गुणहीन धनिका के समान नहीं (बल्कि उनसे बढ़ कर है)।।२२।।

टीका– पुरुषैः = जनैः; सदा = सर्वदा, गुणेषु = दयादाक्षिण्यादिषु; प्रयत्नः = उद्योगः; कर्तव्यः = विधेयः; हि = यतः, गुणयुक्तः = संवलितः; दरिद्रः = धनहीनः अपि; गुणैः = गुणविरहितैः; ईश्वरैः = धनसम्पन्नैः, समः = तुल्यः न, भवतीति शेषः। अगुणेभ्यो धनसम्पन्नेभ्यः निर्धनः अपि गुणवान् श्रेष्ठः, इति भावः।।२२।।

इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार एवं अनुष्टुप् छन्द है।।२२।।

अपि च,–

गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो न किंचिदप्राप्यतमं गुणानाम्।
गुणप्रकर्षादुडुपेन शंभोरलंघ्यमुल्लंघितमुत्तमांगम्।२३।।

अन्वयः– पुरुषेण, गुणेषु, यत्नः, कार्यः, गुणानां, किंचित्, अपि, अप्राप्यतमं, न, (अस्ति); उडुपेन, गुणप्रकर्षात्, अलंघ्यम्, शम्भोः उत्तमांगम्, लंघितम्।।३।।

शब्दार्थः– पुरुषेण = मनुष्य के द्वारा, गुणेषु = गुणों में, यत्नः = उपाय, कार्यः = करना चाहिये, गुणानां = गुणों को, किंचित् = कुछ, अपि = भी, अप्राप्यतमं = दुर्लभ, न = नहीं, (अस्ति = है); उडुपेन = चन्द्रमा के द्वारा; गुणप्रकर्षात् = गुणों की महत्ता के कारण, अलंघ्यम् = न लांघे जाने वाले, शम्भोः = शिव के, उत्तमांगम् = शिरको, लंघितम् = लाघ लिया गया।

और भी–

मनुष्य को हमेशा अच्छे गुणों (दया, परोपकार आदि की प्राप्ति) में उपाय करना चाहिए। क्योंकि गुणों अथवा गुणवान् बनने के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है। ताराओं के राजा चन्द्रमा ने (अपनी शीतलता आदि) गुणों की महत्ता के कारण ही किसी भी प्राणी के द्वारा न लांघे जाने वाले भगवान् शिवजी के मस्तक को लांघ लिया अर्थात् मस्तक पर बैठ गये।।२३।।

टीका– पुरुषेण = नरेण, गुणेषु = दयादाक्षिण्यादिषु, यत्नः = प्रयासः, कार्यः = कर्त्तव्यः, गुणानां = दयादाक्षिण्यादिस्वरूपाणामित्यर्थे किंचिदपि = किमपि वस्तु; अप्राप्यतमं = दुर्लभं; नास्ति। उडुपेन = चन्द्रमसा; गुणप्रकर्षात् = गुणाधिक्यात्, अलंघ्यं केनापि लंघितुमशक्यं; शम्भोः = शिवस्य; उत्तमांगम् = शिरः; लंघितम् = आक्रान्तम्, अधिगतमित्यर्थः।।२३।।

यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त नाम है–उपेन्द्रवज्रा, छन्द का लक्षण – 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ'।।२३।।

वसन्तसेना– **को एत्थ पवहणिओ?। (कोऽत्र प्रवहणिकः?।)**

(प्रविश्य सप्रवहणः)

चेटः– **अज्जए! सज्जं प्रवहणम्। (आर्ये! सज्जं प्रवहणम्।)**

वसन्तसेना– **हञ्जे मअणिए! सुदिट्ठं मं करेहि। दिण्णासि। आरुह पवहणम् सुमरेसिम्। (चेटि मदनिके! सुदृष्टा मा कुरु। दत्तासि। आरोह प्रवहणम्। स्मरसि माम्।)**

मदनिका– **(रुदती) परिच्चत्तह्मि अज्जआए। (परित्यक्तास्म्यार्यया।) (इति पादयोः पतति)**

वसन्तसेना– **संपदं तुमं ज्जेव्व वंदणीआ संवुत्ता। ता गच्छ। आरुह पवहणम्। सुमरेसि मम् (सांप्रतं त्वमेव वन्दनीया संवृत्ता। तद्गच्छ, आरोह प्रवहणम्। स्मरसि माम्।)**

शर्विलकः – **स्वस्ति भवत्यै। मदनिके!**

सुदृष्टः क्रियतामेव शिरसा वन्द्यतां जनः।
यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम्।।२४।।

अर्थः – वसन्तसेना – कोई गाड़ीवान् है यहाँ?

(गाड़ी के साथ प्रवेश करके)

चेट– आर्या! गाड़ी तैयार है।

वसन्तसेना– चेटी मदनिका! मुझे नजर भर (भली प्रकार) देख लो। तुम शर्विलक को दे दी गई हो। गाड़ी पर सवार होओ। मुझे याद रखना।

मदनिका – (रोती हुई) आपने मुझे छोड़ दिया (ऐसा कह कर 'वसन्तसेना' के पैरों पर गिरती है)।

वसन्तसेना – इस समय तो तुम्हीं पूजनीय हो गई हो। जाओ गाड़ी पर सवार होओ। मुझे याद रखना।

शर्विलक – आपका वसन्तसेना का कल्याण हो। हे मदनिके!

अन्वयः– एषः, जनः, सुदृष्टः, क्रियताम्; (तथा), शिरसा, वन्द्यतां; यत्र, ते, दुर्लभं, वधूशब्दावगुण्ठनं, प्राप्तम्।।२४।।

शब्दार्थः– एषः = यह, जनः = व्यक्ति, (अर्थात् वसन्तसेना), सुदृष्टः = भली–प्रकार देखा गया, क्रियताम् = किया जाय, (तथा = और), शिरसा = शिर से, वन्द्यतां = प्रणाम किया जाय; यत्र = जिसके कारण, ते = तुम्हें (तुम्हारे द्वारा), दुर्लभं = दुर्लभ, वधूशब्दावगुण्ठनं = बहूशब्दरूप घूँघट; प्राप्तं = प्राप्त हुआ।।

अर्थः – 'वसन्तसेना' को भली भाँति देख लो और शिर झुका कर प्रणाम कर लो। जिन की कृपा से तुमने दुर्लभ बहू शब्द रूप घूँघट पाया है अर्थात् जिस 'वसन्तसेना' की कृपा से खुले रूप में रहने वाली तुम वेश्या से अब घूँघट में रहने वाली वधू हो गयी हो।।२४।।

टीका– एषः = पुरोवर्ती; जनः = वसन्तसेनारूपः जनः; सुदृष्टः = सम्यग् दृष्टः शोभनमवलोकितः वा; क्रियताम् = विधीयताम्; तथा शिरसा = मस्तकेन, शिरः–प्रणामेन इत्यर्थः; वन्द्यतां = प्रणम्यतां; यत्र = यस्मिन् जने यस्य जनस्य कारणाद्वा, ते = तव। दुर्लभं = दुष्प्राप्यं; वधूशब्दः = 'वधू' शब्दवाच्यत्वरूपम्, एव अवगुण्ठनम् = आवरणम्, प्राप्तम् = उपलब्धम्।।२४।।

श्लोक के पूर्वार्द्ध में काव्यलिंग अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है–पथ्यावक्त्र।।२४।।

(इति मदनिकया सह प्रवहणमारुह्य गन्तुं प्रवृत्तः)

(नेपथ्ये)

कः कोऽत्र भोः! राष्ट्रियः समाज्ञापयति-'एष खल्वार्यको गोपालदारको राजा भविष्यतीति सिद्धादेशप्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादानीय घोरे बन्धनागारे बद्धः। ततः स्वेषु स्वेषु स्थानेष्वप्रमत्तैर्भवद्भिर्भवितव्यम्'।

शर्विलकः– **(आकर्ण्य) कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्यको मे बद्धः? कलत्रवांश्चास्मि संवृत्तः। आः, कष्टम्; अथवा-**

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
संप्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः।।२५।।

(ऐसा कह कर 'मदनिका' के साथ गाड़ी पर चढ़कर जाने लगता है)

(पर्दे के पीछे)

अर्थः– अरे! यहाँ कौन कौन हैं! राजा के साले शकार अथवा राजकर्मचारी आज्ञा देते हैं कि–"यह अहीर का पुत्र 'आर्यक' राजा होगा" इसप्रकार किसी सिद्ध पुरुष के कहने पर विश्वास कर डरे हुए राजा 'पालक' ने उसे घर से लाकर कठोर कारागार में बन्द कर दिया है। इसलिये अपनी–अपनी जगहों पर आप सब पहरेदारों को सावधान हो जाना चाहिये।।

शर्विलक–(सुनकर) क्या राजा 'पालक' के द्वारा मेरा प्रिय मित्र 'आर्यक' बाँध लिया गया है? इधर मैं स्त्री–वाला हो गया हूँ। हाय! कष्ट है।

अन्वयः– लोके, सुहृद्, वनिता च, इदं, द्वयं, नराणाम्, अतीव, प्रियं; तु, सम्प्रति, सुन्दरीणां, शतात्, अपि, सुहृद्, विशिष्टतमः (अस्ति)।।२५।।

शब्दार्थः—लोके = दुनिया में, सुहृद् = मित्र, च = और, वनिता = स्त्री, इदं = यह, द्वयं = जोड़ी, नराणाम् = मनुष्यों को, अतीव = बहुत, प्रियं = प्रिय है, तु = किन्तु, सम्प्रति = इस समय, सुन्दरीणां = सुन्दर स्त्रियों के, शतात् = सौ से, अपि = भी सुहृद् = मित्र, विशिष्टतमः = बढ़कर (अस्ति = है)।।

अथवा—

इस दुनियाँ में मित्र और स्त्री दोनों ही—मनुष्यों को बहुत प्रिय हैं। किन्तु इस समय (जबकि मित्र कारागार में है) सौ करोड़ा सुन्दर स्त्रियों से भी मित्र बढ़कर हैं।।२५।।

टीका— लोके = अस्मिन् संसारे; शोभनं हृदयम् अस्य इति सुहृद् = मित्रं; च = तथा; वनिता = भार्या च; इदम् = उक्तप्रकारकं द्वयम् = उभयम्; नराणाम् = पुरुषाणाम्; अतीव = अधिकं; प्रियं = प्रीतिकरम्; अस्ति इति शेषः; तु = किन्तु; सम्प्रति = अधुना; सुन्दरीणां = स्त्रीणां; शतात् = शतसंख्यायाः; समूहात् इति यावत्; सुहृद् = मित्रं; विशिष्टतमः = श्रेष्ठतम, अधिकप्रिय इत्यर्थः; अस्तीतिशेषः।।२५।।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या।

भवतु, अवतरामि। (इत्यवतरति)

मदनिका — (साश्रमञ्जलिं बद्ध्वा) एव्वं ण्णेदम्। ता परं णेदु मं अज्जउत्तो समीवं गुरुअणाणम्। (एवं न्विदम्। तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम्)।

शर्विलकः — साधु प्रिये! साधु; अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम्। (चेटमुद्दिश्य) भद्र! जानीषे रेभिलस्य सार्थवाहस्योद्वसितम्?

चेटः — अध इं। (अथ किम्।)

शर्विलकः — तत्र प्रापय प्रियाम्।

चेटः — जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।)

मदनिका — जधा अज्जउत्तो भणादि, अप्पमत्तेण दाव अज्जउत्तेण होदव्वम्। (यथार्थपुत्रो भणति, अप्रमत्तेन तावदार्यपुत्रेण भवितव्यम्।)

(इति निष्क्रान्ता)

शर्विलकः — अहमिदानीं

ज्ञातीन्विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्
राजापमानकुपिताश्च नरेन्द्रभृत्यान्।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः।।२६।।

अर्थः— अच्छा, उतरता हूँ (गाड़ी पर से उतरता है)

मदनिका—(आँखों में आँसू भर कर तथा हाथ जोड़कर) यह ऐसा ही हो। तो आर्यपुत्र सबसे पहले मुझे घर के गुरुजनों के पास पहुंचा दें।

शर्विलक—वाह! प्रिय वाह!! हमारे मन के अनुसार ही कहा। (चेट के प्रति) अच्छे आदमी। 'रेभिल' का घर जानते हो?

चेट— और क्या?

शर्विलक—प्रिया मदनिका को वहाँ पहुँचा दो।

चेट— जैसी आपकी आज्ञा।

मदनिका—जैसा आप कहते हैं। तब आर्यपुत्र को भी सावधान रहना चाहिए। (ऐसा कहकर निकल जाती है)

शर्विलक—मैं इस समय—

अन्वयः— उदयनस्य, राज्ञः, यौगन्धरायणः, इव, सुहृदः, परिमोक्षणाय, ज्ञातीन्, विटान्, स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्, राजापमानकुपितान् नरेन्द्रभृत्यान्, च, उत्तेजयामि।।२६।।

शब्दार्थः— उदयनस्य = उदयननामकस्य, राज्ञः = राजा को, (छुड़ाने के लिये), यौगन्धरायणः = यौगन्धरायण (की), इव = तरह, सुहृदः = मित्र के, परिमोक्षणाय = छुड़ाने के लिये, ज्ञातीन् = जाति के आदमियों को, विटान् = विटों को, स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान् = अपनी भुजा के पराक्रम से यश पानेवालों को, राजापमानकुपितान् = राजा के द्वारा किये गये अपमान से गुस्साये, हुए नरेन्द्रभृत्यान् = राजा के कर्मचारियों को, उत्तेजयामि = उत्तेजित करता हूँ।।

अर्थः— उदयन नामक राजा को छुड़ाने के लिये मन्त्री यौगन्धरायण की तरह मैं मित्र आर्यक को कारागार से छुड़ाने के लिये अपनी जाति के आदमियों, विटों, अपनी भुजाओं के पराक्रम से यश पाने वालों, राजा के द्वारा किये गये अपमान से गुस्साये हुए राजा के कर्मचारियों को उत्तेजित करता हूँ।।२६।।

टीका— उदयनस्य = उदयननाम्ना प्रसिद्धस्य; राज्ञः = वत्सराजस्य इत्यर्थः, (परिमोक्षणाय), यौगन्धरायणः एतन्नाम्ना प्रसिद्धः उदयनस्य प्रधानामात्यः इव; सुहृदः = मित्रस्य, बद्धस्य आर्यकस्य इत्यर्थः, परिमोक्षणाय = मोचनाय; ज्ञातीन् = बान्धवान्; विटान् = धूर्तजनान; स्वभुजविक्रमेण = स्वबाहुपराक्रमेण लब्धः = प्राप्तः वर्णः = ख्यातिः, यशः यैः तान्; राज्ञः = नृपस्य, पालकस्य इत्यर्थः अपमानेन = तिरस्कारेण, राजककावमानेन इत्यर्थः। कुपितान् = क्रुद्धान्; नरेन्द्रस्य = नृपस्य भृत्यान् = सेवकान् च; उत्तेजयामि।।२६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।।२६।।

अपि च,—

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं
रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशंकैः।
सरभसमभिपत्य मोचयामि
स्थितमिव राहुमुखे शशांकबिम्बम्।।२७।।

अन्वयः— अकारणे, आहितात्मशंकैः, असाधुभिः, रिपुभिः, गृहीतं, राहुमुखे शशांकबिम्बम्, इव, स्थितं, प्रियसुहृदं, सरभसम्, अभिपत्य, मोचयामि।।२७।।

शब्दार्थः— अकारणे = कारण के न होने पर (भी), आहितात्मशंकैः = अपने मन में भय करने वाले, असाधुभिः = दुष्ट, रिपुभिः = शत्रुओं के द्वारा, गृहीतं = पकड़े गये, (अतः) राहुमुखे = राहु के मुख में, शशांकबिम्बम् = चन्द्रमा के मण्डल (के), इव = समान, स्थितं = वर्तमान, प्रियसुहृदं = प्रिय मित्र को, सरभसम् = वेगपूर्वक, अभिपत्य = हमला बोलकर, मोचयामि = छुड़ाता हूँ।।

अर्थः— विना कारण के ही अपने मन में भय करने वाले, दुष्ट शत्रुओं के द्वारा पकड़ कर बन्द किये गये, अतएव राहु के मुँह में वर्तमान चन्द्रमा के मण्डल के समान प्रिय मित्र 'आर्यक' को अचानक हमला बोल कर छुड़ाता हूँ।।२७।।

टीका— अकारणे = कारणाभावे सत्यपि; आहिता = स्थापिता, कृता इत्यर्थः; आत्मनि = स्वस्मिन् शंका = सन्देहः, भीतिः इति यावत्, यैः तैः; असाधुभिः = दुष्टैः; रिपुभिः = शत्रुभिः, पालकादिभिः इत्यर्थः; गृहीतं = कारागारे निबद्धम् अतः; रहति = गृहीत्वा त्यजति चन्द्रार्कौ इति राहुः = विधुन्तुदः तस्य मुखे = आनने; शशांकस्य = चन्द्रमसः बिम्बम् = मण्डलम् इव; स्थितं = वर्तमानं; प्रियसुहृदं = प्रियमित्रं; सरभसं = सवेगं यथा तथा; अभिपत्य = आक्रम्य; मोचयामि = बन्धनरहितं करोमि।।२७।।

यहाँ उपमा अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—पुष्पिताग्रा। छन्द का लक्षण—

अयुजि नयुगरेफतो यकारो; युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।।२७।।

(इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य)

चेटः — अज्जए! दिट्टिआ वड्ढसि। अज्जचारुदत्तस्स सआसादो बह्मणो आअदो। (आर्ये! दिष्ट्या वर्धसे। आर्यचारुदत्तस्य सकाशाद् ब्राह्मण आगतः।)

वसन्तसेना — अहो, रमणीअदा अज्ज दिवसस्स। ता हज्जे! सादरम् बन्धुलेन समं पपवेसेहिणम् णेम्। (अहो, रमणीयताद्य दिवसस्य। तच्चेटि! सादरम् बन्धुलेन समं प्रवेशयैनम्।)

चेटी — जं अज्जआ आणवेदि। (यदार्याज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता)

(विदूषको बन्धुलेन सह प्रविशति)

विदूषकः— ही ही भोः, तवच्चरणकिलेसविणिज्जिदेण रक्खसराआ रावणो पुप्फकेण विमाणेण गच्छदि। अहं उण बम्हणो अकिदतवच्चरणकिलेसो वि णरणारीजणेण गच्छामि। (आश्चर्यं भोः, तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन राक्षसराजो रावणः पुष्पकेण विमानेन गच्छति। अहं पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपश्चरणक्लेशोऽपि नरनारीजनेन गच्छामि।)

चेटी — पेक्खदु अज्जो अम्हकेरकम् गेहदुआरम्। (प्रेक्षतामार्योऽस्मदीयम् गेहद्वारम्।)

विदूषकः — (अवलोक्य, सविस्मयम्) अहो सलिलसित्तमज्जिदकिदहरिदोवलवण्णस्स विविहसुअंधिकुसुमोवहारचित्तालिहिदभूमिभाअस्सगअणतलाअलोअणको दूहलदूरुण्णामिदसीसस्स, दोलाअमाणावलंबिदैरावणहत्थब्भमाइदमल्लिआदामगुणालंकिदस्स, समुच्छिददंतिदंततोरणाव- भासिदस्स महारअणोवराओवसोहिणा पवणवलंदोलणाललंतचञ्चलग्गहत्थेण 'इदो एहि' त्ति वाहरंतेण विअ मं सोहग्गपडाआणिवहेणोवसोहिदस्स तोरणधरणत्थंभवेदिअणिक्खित्तसमुल्ल- संतहरिदचूदपल्लवललामफटिअमंगलकलसाभिरामोहअपारसस्स महासुरवक्खत्थलदुब्भेज्ज- वज्जणिरंतरपडिबद्धकणअकवाडस्स दुग्गदजणमणोरहाआसकरस्स, वसंतसेणाभवणदुआरस्स सस्सिरीअदा। जं सच्चं मज्झत्थस्स वि जणय बलादिट्ठिं आआरेदि। (अहो सलिलसिक्तमार्जितकृतहरितोपलेपनस्य विविधसुगन्धिकुसुमोपहारचित्रालिखितभूमिभागस्य, गगनतलावलोकनकौतूहलदूरोन्नामितशीर्षस्य दोलायमानावलम्बितैरावतहस्तभ्रमागत- मल्लिकादामगुणालंकृतस्य समुच्छ्रितदन्तिदन्त- तोरणावभासितस्य महारत्नोपरागोपशोभिना, पवनबलान्दोलनाललच्चलाग्रहस्तेन 'इत एहि' इति व्याहरतेव मां सौभाग्यपताका- निवहेनोपशोभितस्य, तोरणधरणस्तम्भवेदिकानिक्षिप्त समुल्लसद्धरितचूतपल्लवेल्लाम- स्फटिकमंगलकलशाभिरामोभयपार्श्वस्य महासुरवक्षः, स्थलदुर्भेद्य वज्रनिरन्तरप्रतिबद्धकन- ककपाटस्य दुर्गतजनमनोरथायासकरस्य वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सश्रीकता। यत्सत्यं मध्यस्थस्यापि जनस्य बलाद्दृष्टिमाकारयति।)

(ऐसा कह कर निकल जाता है)

(प्रबेश करके)

अर्थः—

चेट— आर्या! सौभाग्य से बढ़ रही है अर्थात् शुभ समाचार है। आर्य 'चारुदत्त' के पास से एक ब्राह्मण आया हुआ है।

वसन्तसेना— अहा! आज का दिन कितना भला है। तो चेटी! बन्धुल के साथ आदरपूर्वक इनको अन्दर ले आओ।

चेटी— जैसी आर्या की आज्ञा। ऐसा कह कर निकल जाती है।

(बन्धुल के साथ विदूषक मैत्रेय प्रवेश करता है)

विदूषक — अरे आश्चर्य है! राक्षसों का राजा रावण तपस्या करने में होने वाले कष्टों से पाये हुए 'पुष्पक' विमान से चला करता है किन्तु मैं ब्राह्मण तपस्या की तकलीफ उठाये बिना ही वेश्या के साथ चल रहा हूँ अर्थात् मैं रावण से अधिक भाग्यवान हूँ।

चेटी — आर्य! हमारे घर के दरवाजे को देखें।

विदूषक — (देखकर आश्चर्य के साथ) पानी छिड़क कर, झाड़ू लगाकर (फिर) जहाँ हरे रंग के गोबर से लीपा गया है, वहाँ की भूमि बहुत तरह के सुगन्धित फूलों के चढ़ाने से चित्र में बनी हुई सी लग रही है; आकाश की शोभा को देखने के लिये ऊँचाई के कारण जिसने अपना शिर काफी ऊँचा उठा रक्खा है; जो चंचल एवं लटकी हुई तथा ऐरावत हाथी की सूंड के भ्रम को पैदा करने वाली 'मल्लिका' फूल की माला से शोभायमान है; जो हाथी के दाँत से बने हुए काफी ऊँचे तोरण से सुशोभित है; महँगे रत्नों की आभा से सुन्दर लगने वाले, हवा की झोकों से हिलने के कारण काँप रहे एवं चंचल अगले हिस्से रूपी हाथ से 'यहाँ आइये' इस प्रकार मुझे पुकारते हुए से, शुभसूचक पताका के झुण्डों से जो सुशोभित हो रहा है, तोरण को धारण करने के लिये बनाये गये खम्भों की वेदिकाओं पर रक्खे हुए, लहलहाते हरे—हरे आम के पत्तों से सुन्दर लगने वाले स्फटिक मणि से बने हुए, मंगल—कलशों से जिसके दोनों पार्श्व मनोहर है; जिसकी सोने की बनी हुई किवाड़े हिरण्यकशिपु की छाती के समान फाड़ने में मुश्किल तथा हीरे की बनी हुई कीलों से घने रूप से जड़ी हुई हैं, जो गरीब आदमियों के मन की इच्छा के लिए पीड़ा देने वाला है। अहा! 'वसन्तसेना' के महल के ऐसे द्वार की सुन्दर जो द्वार स्वयमेव निस्पृह आदमियों की आँखों को भी जबरदस्ती अपनी ओर खींच लेता है।

चेटी — एदु। इमम् पढमम् पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेतु, इमम् प्रथमम् प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः (प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः, इधो वि पढमे पकोट्ठे ससिसंखमुणालसच्छाहाओ, विणिहिदचुण्णमुट्ठिपाडुराओ विविहरअणपडिबद्धकंचणसोवाणसोहिदाओ, पासादपंतिओ, ओलंबिदमुत्तादामेहिं फटि, वादाअणमुहचंदेहिं णिज्झाअंती

विअ उज्ज इणिं। सोत्तिओ विअ सुहोवविट्टो णिद्दाअदि दोवारिओ। सदहिणा कलमोदणेण पलोहिदा ण भक्खंति वाअसा बलिं सुधासवण्णदाए। आदिसदु भोदि। (आश्चर्यं भोः, अत्रापि प्रथमे प्रकोष्ठे शशिशंखमृणालसच्छायाः विनिहितचूर्णमुष्टिपाण्डुराः विविधरत्न प्रतिबद्धकाञ्चनसोपानशोभिताः प्रासादपङ्क्तयोऽवलम्बितमुक्तादामभिः स्फटिकवातायनमुखचन्द्रैर्निर्ध्यायन्तीवोज्जयिनीम्। श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः। सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभित्ता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया। आदिशतु भवती।)

चेटी – एदु एदु अज्जो। इमं दुदिअं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं द्वितीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः– (प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः, इदो वि दुदिए पओट्ठे पज्जंतोवणीदजवसबुसकवलसुपुट तेल्लब्भंगिदविसाणा बद्धा पवहणबइल्ला। अअं अण्णदरो अवमाणिदो विअ कुलीणो दीहं णीससदि सेरिहो। इदो अ अवणीदजुज्झस्स मल्लस्स विअ मद्दीअदि गीवा मेसस्स। इदो इदो अवराणं अस्साणं केसकप्पणा करीअदि। अअं अवरो पाडच्चरो विअ दिढबद्धो मंदुराए साहामिओ। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो अ कूरच्चुअतेल्लमिस्म पिंडं हत्थी पडिच्छाबीअदि मेत्थपुरिसेहिं। आदिसदु भोदी। (आश्चर्यं भोः, इहापि द्वितीये प्रकोष्ठे पर्यन्तोपनीतयवसबुसकवल- सुपुष्टास्तैलाभ्यक्तविषाणा बद्धाः प्रवहणबलीवर्दाः। अयमन्यतरोऽवमानित इव कुलीनो दीर्घं निःश्वसिति सैरिभः। इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य। इत इतोऽपरेषामश्वानां केशकल्पना क्रियते। अयमपरः पाटच्चर इव दृढबद्धो मन्दुरायां शाखामृगः। इतश्च कूरच्युततैलमिश्रं पिण्डं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः। आदिशतु भवती।)

अर्थ–

चेटी– आइये, आइये! इस पहले प्रकोष्ठ में आप प्रवेश कीजिए।

विदूषक– (प्रवेश कर और देखकर) अरे! आश्चर्य! यहाँ पहले प्रकोष्ठ में भी चन्द्रमा, शंख एवं कमलनाल के समान चमकवाली, जगह–जगह पर रक्खी गयी। चूर्ण लगी हुई हथेली के छापों से सफेद; अनेक प्रकार के रत्नों से जड़ी गयीं सोने की सीढ़ियों से शोभित, महलों की कतारें, स्फटित मणि से बने हुए तथा लटकने वाली मोती की 'मालाओं से युक्त वातायन रूपी मुखचन्द्रों से मानों उज्जयिनी को ध्यान से देख रही हैं। आनन्द के साथ बैठा हुआ द्वारपाल वेदों का पाठ करने वाले ब्राह्मण के समान नींद ले रहा है। दही से सने हुए अगहनी धान के भात से ललचाये गये भी कौवे बलि को चूने के समान सफेद रंग का होने की वजह से, नहीं खा रहे हैं। श्रीमती बतावें।

चेटी – आर्य! आइये, आइये! इस दूसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश कीजिए।

विदूषक– (प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य। यहाँ दूसरे प्रकोष्ठ में भी सामने डाली गयी घास एवं भूसा खाने से बलिष्ठ तथा तेल लगी हुई सींगों वाले गाड़ी के बैल बँधे हुए हैं। यह एक भैंसा, अपमानित, अच्छे कुल में उत्पन्न हुए की भाँति लम्बी–लम्बी साँसें ले रहा है। इस तरफ लड़कर के आये हुए पहलवान की भाँति भेंड़े की गर्दन मली जा रही है। इधर कुछ घोड़ों के बाल काट–छाँटकर ठीक किये जा रहे हैं। यहाँ घुड़साल में, चोर की भाँति, यह बन्दर कसकर बँधा हुआ है। (दूसरी तरफ देख कर) इस ओर महावत हाथी को कौर से टपकने वाले तेल से सना हुआ पिण्ड खिला रहा है। श्रीमती जी बतावें।

चेटी – एदु एदु अज्जो। इमं तइअं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं तृतीयं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः–(प्रविश्य, दृष्ट्वा च) ही भोः भे, इदो वि तइए पओट्ठे इमाइं दाव कुलउत्तजणोववेसणणिमित्तं विरचिदाइं आसणाइं। अद्धवाचिदो पासअपीठे चिट्ठइ पोत्थओ। एसो अ साहीणमणिमअसारिआसहिदो पासअपीठो। इमे अ अवरे मअण संधि ाविग्गाहचदुरा विविहवण्णिआविलित्तचित्तफलअग्गहत्था इदोपरिब्भमन्ति गणिआ वुड्डविडा अ। आदिसदु भोदी। (आश्चर्यं भोः इहापि तृतीये प्रकोष्ठे इमानि तावत्कुलपुत्रजनोपवेशननिमित्तं विरचितान्यासनानि। अर्धवाचितं पाश्कपीठे तिष्ठति पुस्तकम्। एतच्च स्वाधीनमणिमयसारिकासहित पाशकपीठम्। इमे चापरे मदनसंधि विग्रहचतुरा विविधवर्णिकाविलिप्तचित्रफलकाग्रहस्ता इतस्ततः परिभ्रमन्ति गणिका वृद्ध विटाश्च। आदिशतु भवती।)

चेटी – आइये, आइये श्रीमान् जी। श्रीमान् जी इस तीसरे प्रकोष्ठ में प्रवेश करें।

विदूषक– (प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य है। इस तीसरे प्रकोष्ठ में धनी युवकों के बैठने के लिये ये आसन लगाये गये हैं। पाशा (जुआ का एक प्रकार) खेलने की चौकी पर आधी पढ़ी हुई एक किताब रक्खी है। और यह पाशा खेलने की चौकी असली मणि से बनी हुई मैनाओं (मैना पक्षी के शकल की गोटियों) से व्याप्त है। और ये युवक तथा युवतियों के काम–सम्बन्धी मिलाप तथा प्रेम–कलह कराने में चतुर वेश्याएँ तथा वृद्ध विट अनेक रंगों से रंगे हुए चित्र हाथों में लिये इधर–उधर घूम रहे हैं। आप बतलाइये।

चेटी— आवें, आवें, श्रीमान् जी। इस चौथे खण्ड में श्रीमान् जी प्रवेश करें।

विदूषक— (प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य है। इस चौथे प्रकोष्ठ में भी युवतियों के हाथ से बजाय गये मृदंग बादल की भाँति, गम्भीर शब्द कर रहे हैं। पुण्य समाप्त हो जाने पर आकाश से गिरने वाले ताराओं के समान मँजीरे गिर रहे हैं। भौंरों की गुञ्जार की भाँति बाँसुरी मीठी तान से बजाई जा रही है। दूसरी स्त्री की ईर्ष्या के कारण प्रेम में कुपित हुई युवती स्त्री की भाँति, गोद में रक्खी हुई वीणा उँगलियों के द्वारा सहलाने से (बजाने के लिये) मिलाई जा रही है। और वेश्याओं की ये कुछ लड़कियाँ, फूलों के रसों को पीने से मतवाली भ्रमरियों के समान, बड़ी मीठी तान में गाती हुई गाई जा रही हैं, और श्रृंगार से पूर्ण अभिनय सिखाये जा रहे हैं। थोड़ी टेढ़ी पानी से भरी हुई गगरियाँ झरोखों में हवा से ठण्डी हो रही हैं। बतलावें श्रीमती जी।

चेटी— एदु एदु अज्जो। इमं चउट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं चतुर्थं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो, इदो वि चउट्ठे पओट्ठे जुवदिकरताडिदा जलधरा विअ गंभीरं णदंति मुदंगा, हीणपुण्णाओ विअ गअणादो तारआओ णिवडंति कंसतालआ, महुअरविरुअं विअ महुरं वज्जदि वंसो। इअं अवरा ईसाप्पणअकुविदकामिणी विअ अंकारोविदा कररुहपरामरिसेण सारिज्जदि वीणा। इमाओ अवराओ कुसुमरसमत्ताओ विअ महुअरिओ अदिमहुरं पगीदाओ गणिआदारिआओ णच्चिअंति, णट्टअं पढिअंति, ससिंगारओ। ओवग्गिदा गवक्खेसु वादं गेण्हंति सलिलगग्गरीओ। आदिसदु भोदी। (आश्चर्यं भोः इहापि चतुर्थे प्रकोष्ठे युवतिकरताडिता जलधरा इव गम्भीरं नदन्ति मृदंगाः, क्षीणपुण्या इव गगनात्तारका निपतन्ति कांस्यतालाः, मधुकरविरुतमिव मधुरं वाद्यते वंशः। इयमपरेर्ष्याप्रणयकुपित- कामिनीवांकारोपिताकररुहपरामर्शेन सार्यते वीणा। इमा अपराः कुसुमरसमत्ता इव मधुकर्योऽतिमधुरं प्रगीता गणिकादारिका नर्त्यन्ते, नाट्यं पाठ्यन्ते सश्रृंगारम्। अल्पवल्गिता गवाक्षेषु वातं गृह्णन्ति सलिलगर्गर्यः। आदिशतु भवती।)

चेटी — एदु एदु अज्जो। इमं पंचमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं पञ्चमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्य, दृष्ट्वा च) ही ही भोः, इदो वि पंचमे पओट्ठे अअं दलिद्दजणलोहुप्पादणअरो आहरइ उवचिदो हिंगुतेल्लगंधो। विविहसुरहिधूमुग्गारेहिं णिच्चं संताविज्जमाणं णीससदि विअ महाणसं दुवारमुहेहिं। अधिअं उस्सुसावेदि मं साहिज्जमाणबहुविहभक्खभोअणगंधो। अअं अवरो पडच्चरं विअ पोट्टिं धोअदि रूपिदारओ। बहुविहाहारविआरं उवसाहेदि सूवआरो। बज्झंति मोदआ, पच्चंति अपूवआ। (आत्मगतम्) अवि दाणिं इह वड्ढिअं भुंजसुत्ति पादोदअं लहिस्सं। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो गंधव्वच्छरगणेहिं विअ विविहालंकारसोहिदेहिं गणिआजणेहिं बंधुलेहिं अ जं सच्चं सग्गीअदि एदं गेहं। भो! के तुम्हें बंधुला णाम?। (आश्चर्यं भोः, इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठेऽयं दरिद्रजनलोभोत्पादनकर अहारत्युपचितो हिंगुतैलगन्धः। विविधसुरभिधूमोद्गारैर्नित्यं संताप्यमानं निःश्वसितीव महानसं द्वारमुखैः। अधिकमुत्सुकयते मां साध्यमानबहुविधभक्ष्यभोज- नगन्धः। अयमपरः पटच्चरमिव हमपशूदरपेशिं धावति रूपिदारकः। बहुविधाहारविकार- मुपसाधयति सूपकारः। बध्यन्ते मोदकाः। पच्यन्तेऽपूपकाः। अपीदानीमिह वर्धितं भुङ्क्ष्व इति पादोदकं लप्स्ये। इह गन्धर्वाप्सरोगणैरिव विविधालंकारशोभितैर्गणिकाजनैर्बन्धुलैश्च यत्सत्यं स्वर्गायते इदं गेहम्। भोः, के यूयं बन्धुला नाम?।)

बन्धुलाः— वयं खलु

परगृहललिताः परान्नपुष्टाः परपुरुषैर्जनिताः परांगनासु।
परधननिरता गुणेष्ववाच्या गजकलभा इव बन्धुला ललामः।।२८।।

चेटी— आइये, आइये श्रीमान् जी! इस पाँचवें प्रकोष्ठ में श्रीमान् जी प्रवेश करें।

विदूषक— (प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य! यहाँ पाँचवें में भी दरिद्र आदमियों को ललचाने वाली, चारों ओर फैली हुई हींग और तेल की यह महक मुझे आकृष्ट कर रही है। हमेशा जलता हुआ रसोई घर भाँति-भाँ की महक से भरे हुए धुएं को प्रकट करने वाले द्वज्ञर रूपी मुखों से मानो उछ्वास ले रहा है पकाये जाते हुए अनेक प्रकार के भोजनों की महक मुझे बहुत उत्सुक बना रही है दूसरा यह कसाई काटे गये पशु की अँतड़ी को, पुराने कपड़े की भाँति, धो रहा है रसोइया भाँति-भाँति के भोजनों का प्रकार बना रहा है। लड्डू बाँधे जा रहे हैं। पूए छाने जा रहे हैं। (अपने आप) तो क्या यहाँ पर 'आइये! भोजन तैयार है, खाइये!' ऐसी प्रार्थना कर कोई मुझे पैर धोने के लिए बढ़कर जल देगा? (दूसरा ओर देखकर) यहाँ गन्धर्वों एवं अप्सराओं के झुण्डों की भाँति अनेक प्रकार के आभूषणों से सुशोभित वेश्याओं तथा बन्धुला के कारण सचमुच यह घर स्वर्ग जैसा मालूम पड़ रहा है। अरे बन्धुल नाम वाले तुम कौन हो?

अन्वयः— परगृहललिताः, परान्नपुष्टाः, परपुरुषैः, परांगनासु, जनिताः, परधननिरताः, गुणेषु, अवाच्याः, (वयं) बन्धुलाः, गजकलभाः इव, ललामः।।२८।।

शब्दार्थः— परगृहललिताः = दूसरे के घर में प्रेम से रहने वाले, परान्नपुष्टाः = दूसरों के दाने से पले हुए, परपुरुषैः = दूसरे पुरुषों के द्वारा, परांगनासु = दूसरे की स्त्रियों में, जनिताः = पैदा किये गये, परधननिरताः = पराये धन में निरत, गुणेषु = गुणों में, अवाच्याः = हीन, (वयं = हम) बन्धुलाः = बन्धुललोग, गजकलभाः = हाथियों के बच्चों, इव = जैसे, ललामः = विहार करते हैं।

अर्थः—

बन्धुलोग— वास्तव में दूसरे के घर में प्रेमपूर्वक रहने वाले, दूसरों के दाने से पले हुए, दूसरे पुरुषों के द्वारा दूसरे की स्त्रियों में पैदा किये गये, पराये धन को आनंद से खाने वाले, गुणों से हीन (हम) बन्धुल लोग हाथियों के बच्चों के समान विहार करते हैं।

टीका— परगृहम् = अन्यभवनं ललितं = प्रियं येषां ते; परेषाम् = अन्येषाम् अनेन = धनेन इत्यर्थः पुष्टाः = पालिताः; परपुरुषैः = अन्यजनैः; परेषाम् = अन्येषाम् अंगनासु = स्त्रीषुः जनिताः = उत्पादिताः, वर्णसंकराः इति भावः; परधनेषु = अन्यविभवेषु निरताः = भोगासक्ताः; गुणेषु = सद्गुणेषु अवाच्याः = अवक्तव्याः, शून्याः इति यावत्; वन्धुलाः = उक्तलक्षणाः कुलटापुत्राः वयमिति गद्यस्थेन अन्वयः; गजकलभाः = जशावकाः इव; ललामः = विहरामः ॥२८॥

इस श्लोक में उपका अलंकार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है।

विदूषकः—आदिसदु भोदी। (आदिशतु भवती।)

चेटी— एदु एदु अज्जो। इमं छट्ठं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं षष्ठं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भोः, इदो वि छट्ठे पओट्ठे अमुं दाव सुवण्णरअणाणं कम्मतोरणाइं णीलरअणविणिक्खित्ताई इंदाउहट्ठाणं विअ दरिसअंति। वेदुरिअमोत्ति- अपवालअपुप्फराअइंदणीलकक्केतरअपद्मराअमरगअपहुदिआइं रअणविसेसाइं अण्णोण्णं विचारेन्तिसिप्पिणो। बज्झंति जादरूवेहिं माणिक्काइं। घडिज्जंति सुवण्णालंकारा। रत्तसुत्तेण गत्थीअंति मोत्तिआभरणाइं। घसीअंति धीरं वेदुरिआइं। छेदीअंति संखआ। सणिज्जंति पवालआ। सुक्खविअंति ओल्लविदकुंकुमपत्थरा। सालीअदि क्त्थूरिया। विसेसेण धिस्सदि चंदणरसो। संजोइअंति गंधजुत्तीओ। दीअदि मणिआकामुकाणां सकप्पूरं ताबोलं। अवलोईअदि सकडक्खअं। पअट्टदि हासो। पिबीअदि अ अणवरअं ससिक्कारं मइरा। इमे चेडा, इमा चेडिआओ, इमे अवरे अवधीरिदपुत्तदारवित्ता मणुस्सा आसवकरआपीदमदिरेहिं गणिआजणेहिं जे मुक्का ते पिअं। आदिसदु भोदी। (आश्चर्यं भोः, इहापि षष्ठे प्रकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैदूर्यमौक्तिकप्रबालकपुष्परागेन्द्रनी- लकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन्रत्नविशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः। वध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि। घट्यन्ते, सुवर्णालंकाराः। रक्तसूत्रेण ग्रथ्यन्ते मौक्तिकाभरणानि। घृष्यन्ते धीरं वैदर्याणि। छिद्यन्ते शंखाः। शाणैर्घृष्यन्ते प्रवालकाः। शोष्यन्त आर्द्रकुंकुम-प्रस्तराः। सार्यते कस्तूरिका। विशेषेण घृष्यते चन्दनरसः। संयोज्यन्ते गन्धयुक्तयः;। दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्। अवलोक्यते सकटाक्षम्। प्रवर्तते हासः। पीयते चानवरतं सस्रीत्कारं मदिरा। इमे चेटाः, इमाश्चेटिकाः, इमे अपरेऽवधीरितपुत्रदारवित्ता मनुष्या आसवकरकापीतमदिरैर्गणिकाजनैर्ये मुक्तास्ते पिबन्ति। आदिशतु भवति।)

चेटी — एदु एदु अज्जो। इमं सत्तमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इमं सप्तमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः— *(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो! इधो वि सत्तमे पओट्ठे सुसिलिट्ठविहंगवाडीसुहणिसण्णाइं अण्णोण्णचुंबणपराइं सुहं अणुभवंति पारावदमिहुणाइं। दहिभत्तपूरिदोदरो बह्मणो विअ सुत्तं पढदि पंजरसुओ। इअं अवरा संमाणणालद्धपसरा विअ घरदासी अधिअं कुरुकुराह्मदि मदणसारिआ। अणेअफलरसास्सादपहट्टकंठा कुंभदासी विअ कूअदि परपुट्ठा। आलंबिदा णागदंतेसु पंजरपरंपराओ। जोधीअंति लावआ। आलवीअंति कविंजला। पेसीअंति पंजरकवोदा। इदो तदो विविहमणिचित्तलिदो विअ अअं सहरिसं णच्चंतो रविकिरणसंतत्तं पक्खुक्खेवेहिं विधुवेदि विअ पासादं घरमोरो। (अन्यतोऽवलोक्य च) इदो पिंडीकिदा विअ चंदपादा पदगदिं सिक्खंता विअ कामिणीणं पच्छादो परिब्भमंति राअहंसमिहुणा। एदे अवरे वुड्ढमहल्लका विअ इदो तदो संचरंति घरसारसा। ही ही भो पसारणअं किदं गणिआए णाणपक्खिसमूहेहिं। जं सच्चं खु णंदणवणं विअ मे गणिआघरं पडिभासदि। आदिसदु भोदी। (आश्चर्यं भोः, इहापि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टविहंगवाटीसुखनिषण्णान्यन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पंजरशुकः। इयमपरा संमाननालब्धप्रसरेव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। आलम्बिता नागदन्तेषु पंजरपरंपराः। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते कपिञ्जलाः। प्रेष्यन्ते पंजरकपोताः। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन्रविकिरणसंतप्तं**

पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः। इतः पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगति शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि। एतेऽपरे वृद्धमहल्लका इव इतस्ततः संचरन्ति गृहसारसाः। आश्चर्यं भोः, प्रसारणं कृतं गणिकया नानापक्षिसमूहैः। यत्सत्यं खलु नन्दनवनमिव मे गणिकागृहं प्रतिभासते, आदिशतु भवत्ति।)

चेटी– एदु एदु अज्जो। इमं अट्टमं पओट्ठं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इममष्टमं प्रकोष्ठं प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः– **(प्रविश्यावलोक्य च) भोदि! को एसो पट्टपावारअपाउदो अधिअदरं अच्चब्भुदपुणरुत्तालंकारालंकिदो अंगभंगेहिं परिक्खलंतो इदो तदो परिब्भमदि?। (भवति! क एष पट्टप्रावारकप्रावृतोऽधिकतरमत्यद्भुतपुनरुक्तालंकारालंकृतोऽङ्गभङ्गैः परिस्खलन्नितस्ततः परिभ्रमति?।)**

चेटी– **अज्ज! एसो अज्जआए भादा भोदि। (आर्य! एष आर्याया भ्राता भवति।)**

विदूषकः– केत्तिअं तवच्चरणं वसंतसेणाए भादा भोदि?। अधवा

मा दाव जइ वि एसो उज्जलो
सिणिद्धो ल सुअंधो अ।
तह वि मसाणवीधीए जादो विअ
चंपअरुक्खो अणहिगमणीओ लोअस्स।।२६।।

'कियत्तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनायाः भ्राता भवति?

मा तावद्यद्यप्येष उज्ज्वलः
स्निग्धश्च सुगन्धश्च।
तथापि श्मशानवीथ्यां जात इव
चम्पकवृक्षोऽनभिगमनीयो लोकस्य।।२६।।

अर्थः–

विदूषक – आप बतलाइए।

चेटी– आर्य! आइये, आइये! इस छठे प्रकोष्ठ में आर्य प्रवेश करें।

विदूषक– (प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य! इस छठे प्रकोष्ठ में भी ये मरकत मणि (हरे रंग की मणि) जटित, सोने और चन्दन के (बने हुए) नक्काशीदार तोरण इन्द्रधनुष की सी शोभा दिखा रहे हैं। शिल्पीगण, वैदूर्य, मोती, मूंगा, पुष्पराग इन्द्रनील, कर्केतरक, पद्मराग, मरकत आदि विशिष्ट रत्नों का आपस में विचार कर रहे हैं। सोने में मणियाँ जड़ी जा रही हैं। सोने के आभूषण गढ़े जा रहे हैं। लाल सूत्र से मोतियों के आभूषण गूंथे जा रहे हैं। धीरे–धीरे वैदूर्य मणियां घिसी जा रही हैं। शंख काटे जा रहे हैं। मूंगे सान से खरादे जा रहे हैं। गीली केशरों की तहे सुखाई जा रही हैं। कस्तूरी बनाई जा रही है (सूखने के लिये धूप में फैलाकर बार–बार डुलाई जा रही है)। चन्दनरस विशेष रूप से घिसा जा रहा है। गन्ध मिलाये जा रहे हैं। वेश्या और कामुक को कपूर मिला हुआ पान दिया जा रहा है। कटाक्षपूर्वक देखा जा रहा है। हँसी चल रही है। बराबर सी–सी करके मदिरा पी जा रही है। ये चेट है। ये चेटिकायें हैं। अपना पुत्र, स्त्री तथा धन सब कुछ छोड़ देने वाले, शकोरों में मदिरा पी चुकने वाली वेश्याओं के द्वारा जो छोड़ दिये गये हैं ऐसे ये दूसरे लोग मदिरा पी रहे हैं अर्थात् मदिरा पीकर वेश्याएँ उन्हें अकेला छोड़ कर चली गयी हैं। आप आगे निर्देश कीजिये।

चेटी– आर्य! आइये, आइये! इस सातवें प्रकोष्ठ में आप प्रवेश कीजिए।

विदूषक– (प्रवेश करके और देखकर) अरे! आश्चर्य! यहाँ सातवें प्रकोष्ठ में भी सुन्दर चिड़िया–घर (कपोतपालिका) पर आनन्द के साथ बैठे हुए आपस के चुम्बन में लगे हुए कबूतरों के जोड़े सुख का अनुभव कर रहे हैं। दही–भात से भरे हुए पटल से ब्राह्मण की भाँति, पिंजरे में बैठा तोता वेद के मन्त्रों को पढ़ रहा है। दूसरी यह मैना, आदर पाने से शिरवती धर की नौकरानी के समान, अधिक कुर–कुर शब्द कर रही है। अनेक फलों के रस को आस्वादित करने से प्रसन्न कण्ठ वाली कोयल कुट्टिनी स्त्री के समान कूक रही है। खूँटियों में पिंजरों की कतारें लटक रही हैं। बटेर लड़ाये जा रहे हैं। पिंजरों के कबूतर भेजे जा रहे हैं अर्थात् आकाश में उड़ाए जा रहे हैं। खुशी के मारे नाचता हुआ, रंग–विरंगी मणियों से चित्रित सा यह पालतू मोर पंखों के फड़फड़ाने से सूरज की किरणों से गरम हुए महल को मानों हवा कर रहा है। (दूसरी ओर देख कर) इधर इकट्ठी की गयी चन्द्रमा की किरणों के समान ऊँची जाति के हंसों के जोड़े सुन्दरी स्त्रियों के पीछे–पीछे सुन्दर गति को सीखते हुए से इधर–उधर घूम रहे हैं। दूसरे ये पालतू सारस पक्षी बहुत बूढ़े व्यक्तियों की तरह इधर–उधर

घूम रहे हैं। ओह! आश्चर्य है! इस वेश्या ने भाँति–भाँति की चिड़ियों के झुण्डों को फैला रक्खा है। सच तो यह है कि वेश्या का यह घर मुझे देवताओं के वन की तरह मालूम पड़ रहा है। आप बतलाइए।

चेटी– आर्य! आइए, आइए। आप इस आठवें प्रकोष्ठ में प्रवेश करें।

विदूषक– (प्रवेश करके और देखकर) श्रीमती जी! यह कौन है, जो रेशमी दुपट्टे को ओढ़े हुए, अधिक रूप से अत्यन्त विलक्षण लगने वाले एक ही आभूषण को दो–तीन की संख्या में पहने अंगों को लचका कर डगमगाता हुआ इधर–उधर घूम रहा है?

चेटी – श्रीमान् जी! ये आर्या वसन्तसेना के भाई होते हैं।

विदूषक– कितनी तपस्या करके यह 'वसन्तसेना' का भाई हुआ है?

अन्वयः– मा, तावत्, यद्यपि, एषः, उज्ज्वलः, स्निग्धः, च, सुगन्धः, च, (अस्ति), तथापि, श्मशानवीथ्याम्, जातः, चम्पकवृक्षः, इव, लोकस्य, अनभिगमनीयः, (अस्ति)।।२६।।

शब्दार्थः– मा तावत् = ऐसी बात नहीं है, यद्यपि = यद्यपि, एषः = यह, उज्ज्वलः = उजला, सुघड़, स्निग्धः = चिकना–चुपड़ा, च = और, सुगन्धः = सुगन्धित, (अस्ति = है), तथापि = तो भी, श्मशानवीथ्याम् = मरघट की गली में, जातः = उगे हुए, चम्पकवृक्षः = चम्पा के पेड़, इव = जैसा, लोकस्य = लोगों के लिये, अनभिगमनीयः = त्याज्य, (अस्ति = है)।।

अर्थः– ऐसी बात नहीं है। यद्यपि यह सुघड़ तथा चिकना–चुपड़ा एवं सुगन्धित है। किन्तु फिर भी श्मशान की गली में उगे हुए चम्पा के पेड़ की तरह यह लोगों के लिये त्याज्य है।।२६।।

टीका– मा तावत् = 'कियत्तपश्चरणं कृत्वा वसन्तसेनायाः भ्राता भवति? इति कथनं न समीचीनम्; यद्यपि एषः = वसन्तसेनायाः भ्राता; उज्ज्वलः = धवलः, सौन्दर्ययुक्तः इति यावत्; स्निग्धः = प्रसाधनद्रव्यैः चिक्कणः; च = तथा; सुगन्धः = आमोदयुक्तः च अस्तीतिशेषः। तथापि; श्मशानवीथ्यां = श्मशानमार्गे; जातः = उत्पन्नः; चम्पकवृक्षः = चम्पकपादपः इव; लोकस्य = जनस्य; अनभिगमनीयः = अस्पृश्यः।।२६।।

(अन्यतोऽवलोक्य) भोदि! एसा उण का फुल्लपावारअपाउदा उवाणहजुअलणिक्खित्ततेल्लचिक्कणेहिं पादेहिं उच्चासणे उवविट्टा चिट्ठदि?। भवति! एषा पुनः का पुष्पप्रावारकप्रावृतोपानद्युगल- निक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासन उज्वविष्टा तिष्ठति?।

चेटी – अज्ज! एसा खु अम्हाणं अज्जआए अत्तिआ। (आर्य? एषा खल्वस्माकमार्याया माता।)

विदूषकः– अहो से कवट्ठडाइणीए पोट्टवित्थारो। ता किं एदं पवेसिअ महादेवं विअ दुआरसोहा इह घरे णिम्मिदा?। (अहो अस्याः कपर्दकडाकिन्या उदरविस्तारः। तत्किमेतां प्रवेश्य महादेवमिव द्वारशोभा इह गृहे निर्मिता?।)

चेटी – हदास! मा एव्वं उवहस अम्हाणं अत्तिअं; एसा खु चाउत्थिएण पीडीअदि। (हताश! मैवमुपहसास्माकं मातरम्; एषा खलु चातुर्थिकेन पीड्यते।)

विदूषकः– (सपरिहासम्) भअवं चाउत्थिअ! एदिणा उवआरेण मं पि बम्हणं आलोएहि (भगवंश्चातुर्थिक! एतेनोपकारेण मामपि ब्राह्मणमवलोकय।)

चेटी – हदास! मरिस्ससि। (हताश! मरिष्यसि।)

विदूषकः– (सपरिहासम्) दासीए धीए! वरं ईदिसो शूणपीण जठरो मुदो ज्जेव।

सीधु सुरासवमत्तिअ एआवत्थं गदा हि अत्तिआ।
जइ मरइ एत्थ अत्तिआ भोदि सिआलसहस्सपज्जत्तिआ।।३०।।

(दास्याःपुत्रि! वरमीदृशः शूनपीनजठरो मृत एव।)

सीधुसुरासवमत्ता एवावदवस्थां गता हि माता।
यदि म्रियतेऽत्र माता भवति श्रृगालसहस्रपर्याप्तिका।।

अर्थः – (दूसरी ओर देखकर) श्रीमती जी! अच्छा यह कौन हैं जो फूल गढ़ी हुई ओढ़नी को ओढ़े, दोनों जूतों में तेल से चिकने पैरों को डाले ऊँचे आसन पर बैठी हैं?

चेटी – श्रीमान् जी! यह हमारी आर्या वसन्तसेना की माता हैं।

विदूषक— इस गन्दी डायन के पेट का फैलाव आश्चर्यजनक है! तो क्या महादेव के समान भारी पेटवाली इसको यहं घर के भीतर घुसाकर इस घर में सुन्दर दरवाजों को बनाया गया था?

चेटी— दुष्ट! हमारी माता जी की इस प्रकार हँसी मत करो। यह तो चौथिया बुखार से परेशान हैं।

विदूषक— भगवान् चौथिया बुखार! इसी उपकार से मुझ ब्राह्मण को भी देख लीजिए अर्थात् यदि आपके आने से यह मोटी हो रही है तो इसी प्रकार आकर मुझे भी मोटा कर दीजिए।

चेटी— दुष्ट! मर जाओगे।

विदूषक— (हँसी लेते हुए) बढ़ा हुआ एवं मोटा पेट वाला ऐसा आदमी मरा हुआ ही अच्छा है अर्थात् जीने से तो इनका मरना ही अच्छा है।

अन्वयः— सीधुसुरासवमत्ता, माता, एतावदवस्थाम्, गता, हि, यदि, अत्र, माता, म्रियते, (तु), श्रृगालसहस्रपर्याप्तिका, भवति।।३०।।

शब्दार्थः— सीधुसुरासवमत्ता = सीधु, सुरा एवं आसव (ये तीनों भिन्न–भिन्न मदिराओं के नाम हैं) से मतवाली, माता = जननी, एतावदवस्थाम् = इस हालत को, गता = प्राप्त हुई है, यदि = यदि, अत्र = इस समय, माता = जननी, म्रियते = मर जाती है, (तु = तो), श्रृगालसहस्रपर्याप्तिका = हजारों सियारों की पूर्ति, भवति = होती है।।

अर्थः— सीधु, सुरा एवं आसव (ये तीनों भिन्न–भिन्न मदिराओं के नाम हैं) से मतवाली (यह तुम लोगों की) माता इस हालत को प्राप्त हो गयी है। यदि इस समय यह माता मर जाती है तो हजारों सियारों की (पेट–) पूर्ति होगी।।३०।।

टीका— सीधुसुरासवैः = त्रिविधैः मदिराविशेषैः मत्ता = प्राप्तमदा; माता = वसन्तसेनाजननी; एतावदवस्थाम् = एतादृशीं दशां, गता = प्राप्ता; यदि = यदि, अत्र = अस्मिन् समये, माता = जननी, म्रियते = मृत्युं गच्छति; तदा, श्रृगालसहस्रपर्याप्तिका = श्रृगालसमुदायस्य इत्यर्थः पर्याप्तिका = पूर्तिः तृप्तिः इत्यर्थः, भवति = जायते।।३०।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं आर्या छन्द है।

भोदि! किं तुम्हाणं जाणवत्ता वहंति?।

भवति! किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति?।

चेटी — अज्ज! णहि णहि। (आर्य! नहि नहि।)

विदूषकः— किं वा एत्थ पुच्छीअदि? तुम्हाणं खु पेम्मणिम्मलजले मअणसमुद्दे त्थणणिअंबजहणा ज्जेव जाणवत्ता मणहरणा। एव्व वसंतसेणाए बहुवुत्तंतं अट्टपओट्टं भवणं पेक्खिअ जं सच्चं जाणमि, एकत्थं विअ तिविट्ठअं दिट्टं। पसंसिदु णत्थि मे वाआविहवो। किं दाव गणिआघरो, अहवा कुबेरभवणपरिच्छेदो त्ति। कहिं तुम्हाणं अज्जआ?। (किं वात्र पृच्छ्यते? युष्माकं खलु प्रेमनिर्मलजले मदनसमुद्रे स्तननितम्बजघनान्येव यानपात्राणि मनोहराणि। एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तमष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य यत्सत्यं जानामि, एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम्। प्रशंसितुं नास्ति मे वाग्विभवः। किं तावद्गणिकागृहं, अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद इति। कुत्र युष्माकमार्या?।)

चेटी — अज्ज! एसा रुक्खवाडिआए चिट्ठदि। ता पविसदु अज्जो। (आर्य! एषा वृक्षवाटिकायां तिष्ठति। तत्प्रविशत्वार्यः।)

विदूषकः—(प्रविश्य, दृष्ट्वा च) ही हो भो, अहो रुक्खवाडिआए एस्सिरीअदा। अच्छरीदिकुसुमपत्थारा रोविदाअणेअपादवा, णिरंतरपादवतलणिम्मिदा जुवदिजहणप्पमाणा पट्टदोला, सुवण्णजूधिआसेहालिआमालईमल्लिआणं मालिआकुरबआअदिमोत्तअप्पहुदिकुसुमेहिं सअं णिवडिदेहिं जं सच्चं लहुकरेदि विअ णंदणवणस्स सस्सिरीअदं। (अन्यतोऽवलोक्य) इदो अ उदअंतसूरसमप्पहेहिं कमलरत्तोत्पलेहिं संझाअदि विअ दीहिआ। अवि अ,-

एसो असोअवुच्छो णवणिग्गमकुसुमपल्लवो भादि।
सुभडो व्व समरमज्झे घणलोहिदपकचच्चिक्को।।३१।।

भोदु, ता कहिं तुम्हाणं अज्जआ?। (आश्चर्यं भोः, अहो वृक्षवाटिकायाः सश्रीकता। अच्छरीतिकुसुमप्रस्तारा रोपिता अनेकपादपाः, निरन्तरपादपतलनिर्मिता युवतिजघनप्रमाणाः पट्टदोलाः,
सुवर्णयूथिकाशेफालिकामालतीमल्लिकानवमल्लिकाकुरबकातिमुक्तकप्रभृतिकुसुमैः स्वयं निपतितैर्यत्सत्य लघूकरातीव नन्दनवनस्य सश्रीकताम्। इतश्च उदयत्सूर्यसमप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः संध्यायते इव दीर्घिका। अपि च,-

एषोऽशोकवृक्षो नवनिर्गमकुसुमपल्लवो भाति।

सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपंकचर्चिकः।

भवतु, तत्कुत्र युष्माकमार्या?।

अर्थः—

श्रीमती जी! क्या आप की गाड़ी अथवा नैया आदि चलती हैं?

चेटी — आर्य! नहीं, नहीं।

विदूषक— अथवा इस विषय में पूछने की क्या बात है? वास्तव में प्रेमरूपी निर्मल जलवाले कामरूपी सागर में तुम लोगों के स्तन, नितम्ब और जाँघें ही मनोहर यानपात्र हैं। इस प्रकार विभिन्न चरित्रों वाले एवं आठ आँगन से युक्त 'वसन्तसेना' के महल को देखकर सचमुच मुझे लगता है कि मानो एक जगह पर इकट्ठा हुए स्वर्ग–लोक को देख लिया है। प्रशंसा करने के लिये मेरी वाणी में बल नहीं है। तो क्या यह वेश्या का घर है? अथवा 'कुबेर' के महल का एक हिस्सा है?। तुम्हारी आर्या वसन्तसेना कहाँ हैं?।

चेटी — आर्य! यह उद्यान में बैठी हैं। तो आप प्रवेश करें।

अर्थः—

विदूषक— (प्रवेश करके और देखकर) अरे आश्चर्य! उद्यान की सुन्दरता आश्चर्यजनक है। जिन पर भली भाँति फूलों का फैलाव होता है। ऐसे बहुत से पौधे लगाये गये हैं। युवतियों के जघन–स्थल की नाप वाली पटरियों के झूले सघन पेड़ों के नीचे बने हुए हैं। सोनजूही, शेफालिका, मालती, बेला, चमेली, कुरबक तथा मोगरा आदि अपने आप गिरे हुये फूलों से यह उद्यान सचमुच ही नन्दन वन की शोभा को तुच्छ कर रहा है। (दूसरी ओर देखकर) और इधर निकलते हुए सूर्य के समान कान्ति वाले साधारण एवं लाल वर्ण वाले कमलों से (यह) बावड़ी सन्ध्या का दृश्य उपस्थित–सा कर रही है। और भी;–

अन्वयः— नवनिर्गतकुसुमपल्लवः, एषः, अशोकवृक्षः, समरमध्ये, घनलोहितपंकचर्चिकः, सुभटः, इव, भाति।।३१।।

शब्दार्थः— नवनिर्गतकुसुमपल्लवः = नये निकले हुए फूलों एवं पत्तों वाला, एषः = यह, अशोकवृक्षः = अशोक का पेड़ा, समरमध्ये = लड़ाई के बीच में, घनलोहितपंकचर्चिकः = गाढ़े खून रूपी कीचड़ से लथपथ हुए, सुभटः = वीर योद्धा की, इव = भाँति, भाति = शोभायमान हो रहा है।

अर्थः— नये निकले हुए फूलों एवं पत्तों (कोपलों) वाला यह अशोक का पेड़, लड़ाई के मैदान में गाढ़े खून रूपी कीचड़ से लथपथ हुए वीर योद्धा की भाँति, शोभायमान हो रहा है।।३१।।

टीका— नवनिर्गताः = नूतनोत्पन्ना कुसुमपल्लवाः = पुष्पपत्राणि यस्य सः; एषः = पुरोवर्तमानः; अशोकवृक्षः = अशोकपादपः; समरमध्ये = समरांगणे; घनैः = सान्द्रैः लोहितैः = रक्तैः एव पंकैः = कर्दमैः चर्चिकः = चर्चितः कृतलेपनः इत्यर्थः; सुभटः = शूरः इव; भाति = शोभते।।३१।।

चेटी — अज्ज! ओणामेहि दिट्ठिं, पेक्ख अज्जअं। (आर्य अवनमय दृष्टिम्, पश्यार्याम्।)

विदूषकः— (दृष्ट्वा, उपसृत्य) सोत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

वसन्तसेना — (संस्कृतमाश्रित्य) अये, मैत्रेयः। (उत्थाय) स्वागतम्, इदमासनम्;, अत्रोपविश्यताम्।

विदूषकः— उपविसदु भोदी। (उपविशतु भवती।)

(उभावुपविशतः)

वसन्तसेना — अपि कुशलं सार्थवाहपुत्रस्य?।

विदूषकः—भोदि! कुणलं। (भवति! कुशलम्।)

वसन्तसेना — आर्य मैत्रेय! अपीदार्नी।

गुणप्रवालं विनयप्रशाखं विश्रम्भमूलं महनीयपुष्पम्।
तं साधुवृक्षं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहंगाः सुखमाश्रयन्ति?।।३२।।

अर्थः— अच्छा, तो तुम्हारी आर्या वसन्तसेना कहाँ है?

चेटी— आर्य! दृष्टि नीची कीजिए। आर्या को देखिए।

विदूषक— (देखकर और समीप आकर) आप का कल्याण हो।

वसन्तसेना– (संस्कृत के माध्यम से) अरे! मैत्रेय है। (उठकर) स्वागत है। यह आसन है। यहाँ बैठिए।

विदूषक– आप बैठें।

(दोनों बैठते हैं)

वसन्तसेना– सार्थवाह के पुत्र आर्य 'चारुदत्त' कुशल से तो हैं?

विदूषक– श्रीमती जी! कुशल से हैं।

अन्वयः– गुणप्रवालं, विनयप्रशाखं, विश्रम्भमूलं, महनीयपुष्पम्, स्वगुणैः, फलाढ्यं, तं, साधुवृक्षं, सुहृद्विहंगाः, सुखम्, आश्रयन्ति ।३२।

शब्दार्थः– गुणप्रवालं = गुण रूपी कोपलों वाले, विनयप्रशाखम् = नम्रता रूपी डालियों वाले, विश्रम्भमूलम् = विश्वासरूपी जड़ वाले, महनीयपुष्पम् = महानता रूपी फूल वाले, स्वगुणैः = अपने गुणों के द्वारा, फलाढ्यम् = फल–परिपूर्ण, तम = उस, साधुवृक्षम् = सज्जन रूपी वृक्ष पर, सुहृद्विहंगाः = मित्र रूपी पक्षी, सुखम् = सुख पूर्वक, आश्रयन्ति = आश्रय लेते हैं?।

अर्थः–

वसन्तसेना– आर्य मैत्रेय! क्या इस समय,

जिसके गुण ही कोंपलें हैं, नम्रता ही डालियाँ हैं, विश्वास ही जड़ है, महानता ही फूल है ऐसे अपने गुणों के द्वारा क परिपूर्ण उस सज्जन चारुदत्त रूपी वृक्ष पर मित्र रूपी पक्षी सुखपूर्वक आश्रय लेते हैं?।।३२।।

टीका– गुणाः = दयादाक्षिण्यादिगुणाः एव प्रवालाः = किसलयाः यस्य तम्; विनयः = विनम्रता एव प्रशाखा = उत्कृष्टा शाखा यस्य तम्; विश्रम्भः = विश्वासः एव मूलं यस्य तम्; महनीयम् = श्रेष्ठं पूजनीयम् वा, पूजनीयचरितमेवेति भावः पुष्पम् = प्रसूनं यस्य तम्; स्वगुणैः = स्वक्षमादिगुणैः; फलाढ्यम् = फलसम्पन्नम्; श्रेष्ठगुणफलयुक्तमित्यर्थः; तम् = चारुदत्तरूपम्, साधुवृक्षम् = सज्जनपादपम्; मित्राणि एव विहंगाः = पक्षिणः; सुखम् = सानन्दम् आश्रयन्ति = अवलम्बन्ते किम्?।।३२।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार एवं उपजाति छन्द है।

विदूषकः–(स्वगतम्) सुट्ठु उवलक्खिदं दुट्टविलासिणीए। (प्रकाशम्) अध इं। (सुष्ठूपलक्षितं दुष्टविलासिन्या। अथ किम्।)

वसन्तसेना– अये! किमागमनप्रयोजनम्?।

विदूषकः–सुणादु भोदी। तत्तभवं चारुदत्तो सीसे अंजलिं कदुअ भोदिं विण्णवेदि (शृणोतु भवती। तत्रभवांश्चारुदत्तः शीर्षेऽञ्जलिं कृत्वा भवतीं विज्ञापयति।)

वसन्तसेना– (अञ्जलिं बद्ध्वा) किमाज्ञापयति?।

विदूषकः–मए तं सुवण्णभंडअं विस्संभादो अत्तणकेरकेति कदुअ जूदे हारिदं। सो अ सहिओ राअवत्थहारी ण जाणीअदि कहिं गदो त्ति। (मया तत्सुवर्णभाण्डं विश्रम्भादात्मीयमिति कृत्वा द्यूते हारितम्। स च सभिको राजवार्ताहारी न ज्ञायते क्व गत इति।)

चेटी– अज्जए! दिट्ठिआ वड्ढसि। अज्जो जूदिअरो संवुत्तो। (आर्ये! दिष्ट्या वर्धसे। आर्यो द्यूतकरः संवृत्तः।)

वसन्तसेना – (स्वगतम्) कधं चोरेण अवहिदं पि सोंडीरदाए जूदे हारिदं त्ति भणादि?। अदो ज्जेव कामीअदि। (कथं चौरेणापहृतमपि शौण्डीरतया द्यूते हारितमिति भणति?। अत एव काम्यते।)

विदूषकः–ता तस्स कारणादो गेण्हदु भोदी इमं रअणावलिं। (तत्तस्य कारणाद् गृह्णातु भवतीमां रत्नावलीम्।)

वसन्तसेना– (आत्मगतम्) किं दंसेमि तं अलंकारअं?। (विचिन्त्य) अधवा ण दाव। (किं दर्शयामि तमलंकारम्?। अथवा न तावत्।)

विदूषकः–किं दाव ण गेण्हदि भोदी एदं रअणावलिं?। (किं तावन्न गृह्णाति भवमीमां रत्नावलीम्?।)

वसन्तसेना– (विहस्य, सखीमुखं पश्यन्ती) मित्तेअ! कधं ण गेण्हिस्सं रअणावलिं?। (इति गृहीत्वा पार्श्वे स्थापयति, स्वगतम्) कधं झीणकुसुमादो वि सहआरपादवादो मअरंदबिंदओ णिवडंति?। (प्रकाशम्) अज्ज! विण्णवेहि तं जूदिअरं मम वअणेणअज्जचारुदत्तं-'अहं पि पदोसे अज्जं पेक्खिदुं आअच्छामि' त्ति। (मैत्रेय! कथं न ग्रहीष्यामि रत्नावलीम्?। कथं हीनकुसुमादपि सहकारपादपान्मकरन्दविन्दवो निपतन्ति?। आर्य! विज्ञापय तं द्यूतकरं मम वचनेनार्यचारुदत्तम्- अहमपि प्रदोष आर्यं प्रेक्षितुमागच्छामि' इति।)

विदूषकः—(स्वगतम्) किं अण्णं तहिं गदुअ गेण्हिस्सदि?। (प्रकाशम्) भोदि! भणामि-(स्वगतम्) 'णिअत्तीअदु इमादो गणिआपसंगादो' त्ति। (किमन्यत्तत्र गत्वा ग्रहीष्यति?। भवति! भणामि-'निवर्ततामस्माद्गणिकाप्रसंगात्' इति।)

(इति निष्क्रान्तः)

वसन्तसेना— हज्जे! गेण्ह एदं अलंकारअं। चारुदत्तं अहिरमिदुं गच्छम्ह। (चेटि! गृहाणैतमलंकारम्। चारुदत्तमभिरन्तुं गच्छावः।)

चेटी— अज्जए! पेक्ख पेक्ख। उण्णमदि अकालदुद्दिणं। (आर्ये! पश्य पश्य, उन्नमत्यकालदुर्दिनम्।)

वसन्तसेना—

उदयन्तु नाम मेघा भवतु निशा वर्षमविरतं पततु।
गणयामि नैव सर्वं दयिताभिमुखेन हृदयेन।।३३।।

अर्थः—

विदूषक— (अपने आप) ठीक जाना इस दुष्ट वेश्या ने। (प्रकट रूप में) और क्या? अर्थात् आश्रय लेती हैं।

वसन्तसेना— जी! आप के आने का कारण क्या है?

विदूषक— श्रीमती जी सुनें। आदरणीय 'चारुदत्त' शिर पर हाथ जोड़कर आप को सूचित करते हैं।

वसन्तसेना— (हाथ जोड़कर) क्या आज्ञा देते हैं?

विदूषक— आपके द्वारा रक्खे गये उस सोने के भाण्ड को विश्वास पूर्वक अपना मानकर मैं जुए में हार गया और राजाओं का सन्देश पहुँचाने वाला वह सभिक न जाने कहाँ चला गया।

चेटी— आर्या! भाग्य से बढ़ रही हो अर्थात् तुम्हारा भाग्य बलवान है। आर्य 'चारुदत्त' जुआरी हो गये।

वसन्तसेना— (अपने आप) क्या चोर के द्वारा चुराये गये को भी, उदारता के कारण, 'जुए में हरा दिया' ऐसा कह रहे हैं? इसीलिए तो मैं उनको चाहती हूँ।

विदूषक— तो उसके बदले में आप इस रत्नों की माला को लीजिए।

वसन्तसेना— (अपने आप) क्या उस आभूषण को दिखला दूँ? (विचार कर) या अभी नहीं।

विदूषक— तो क्या आप इस रत्नावली को नहीं ले रही हैं?

वसन्तसेना— (हँसकर सखी के मुख को देखती हुई) मैत्रेय! रत्नावली को क्यों नहीं लूँगी? (लेकर पास में रखती हुई अपने आप) क्या मञ्जरी से हीन भी आम के पेड़ से फूलों के रस की बूँदे गिरती हैं? (प्रकट रूप में) श्रीमान् जी! मेरी तरफ से उन जुआरी आर्य 'चारुदत्त' से कहना कि—'मैं भी आज रात के पहले पहर में आर्य को देखने के लिये आऊँगी।'

विदूषक— (अपने आप) क्या वहाँ जाकर दूसरी कोई वस्तु लेंगी? (प्रकट रूप में) श्रीमती जी! कहूँगा—(अपने आप) 'कि इस वेश्या का साथ छोड़ दो।'

(ऐसा कहकर चला जाता है)

वसन्तसेना— चेटी! इस आभूषण को लो। 'चारुदत्त' से काम—क्रीडा करने चलेंगी।

चेटी— आर्या देखिये, विना समय के ही, दुर्दिन (पानी की फुहार छोड़ने वाली काली घटाएँ) उमड़ रही हैं।

अन्वयः— मेघाः, उदयन्तु, नाम; निशा, भवतु; अविरतम्, वर्षं, पततु; (अहं) दयिताभिमुखेन, हृदयेन, सर्वं, नैव, गणयामि।।३३।।

शब्दार्थः—मेघाः = घटाएँ, उदयन्तु = घिर आये, निशा = रात, भवतु = हो जाय, अवरितम् = लगातार, वर्षं = वर्षा, पततु = पड़े; (अहं = मैं), दयिताभिमुखेन = प्रियतम के लिये उमड़ने वाले अथवा तड़पने वाले, हृदयेन = हृदय के कारण, सर्वं = यह सब, नैव = नहीं, गणयामि = गिनती हूँ।।

अर्थः—

वसन्तसेना— घटाएँ भले ही घिर आये, रात हो जाय, लगातार पानी गिरता रहे, फिर भी मैं प्रियतम से मिलने के लिये तड़पने वाले हृदय के कारण इन सबकी कुछ भी परवाह नहीं करती।।३३।।

टीका— मेघाः = जलदाः; उदयन्तु = आविर्भवन्तु; नामेति स्वीकारे; निशा = रात्रिः; भवतु = अस्तु; अविरतम् = अनवरतम्;

वर्षं = वृष्टिः; पततु = भवतु इत्यर्थः; अहं दयिताभिमुखेन = प्रियतममिलनोत्सुकेन इत्यर्थः; हृदयेन = चेतसा सर्वं = निखिल–मेतत्; नैव गणयामि = नैव शोचामि।।३३।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है–आर्या।।३३।।

हज्जे! हारं गेण्हिअ लहुं आअच्छ। (चेटि! हारं गृहीत्वा शीघ्रमागच्छ।)

अर्थः– चेटी हार लेकर शीघ्र आओ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(सब निकल जाते हैं)

इति मदनिका-शर्विलको नाम चतुर्थोंकः।।

'मदनिका' और शर्विलक नामक चौथा अंक समाप्त।

पञ्चमोऽंकः

(ततः प्रविशत्यासनस्थः सोत्कण्ठश्चारुदत्तः)

चारुदत्तः– (ऊर्ध्वमवलोक्य) उन्नमत्यकालदुर्दिनम्। यदेतत्

आलोकितं गृहशिखण्डिभिरुत्कलापै-
र्हंसैर्यियासुभिरपाकृतमुन्मनस्कैः।
आकालिकं सपदि दुर्दिनमन्तरिक्ष-
मुत्कण्ठितस्य हृदयं च समं रुणद्धि।।१।।

अन्वयः– उत्कलापैः, गृहशिखण्डिभिः, आलोकितं; यियासुभिः, उन्मनस्कैः; हंसैः, अपाकृतम्; आकालिकम्, दुर्दिनम् सपदि, अन्तरिक्षम् उत्कण्ठितस्य, हृदयम्, च, समम्, रुणद्धि।।१।।

शब्दार्थः– उत्कलापैः = ऊपर की ओर पंख किये हुए, गृहशिखण्डिभिः = पालतू मोरों के द्वारा, आलोकितम् = देखा गया, यियासुभिः = जाने की इच्छा वाले, उन्मनस्कैः = खिन्न मन वाले, हंसैः = हंसों के द्वारा, अपाकृतम् = तिरस्कृत किया गया; आकालिकम् = कुसमय में होने वाला, दुर्दिनम् = बादलों से ढका हुआ दिन, सपदि = शीघ्र ही, अन्तरिक्षम् = आसमान को उत्कण्ठितस्य = विरही के, हृदयम् = हृदय को, समं = साथ ही, रुणद्धि = ढँक रहा है।।

अर्थः– (इसके बाद आसन पर बैठा हुआ उत्कण्ठित चारुदत्त प्रवेश करता है)

चारुदत्त– (ऊपर की ओर देखकर) कुसमय में ही दुर्दिन (झड़ी लगाने वाला काला–काला मेघ) उमड़ रहा है। जो यह

ऊपर की ओर पंख छितराए हुए पालतू मोरों के द्वारा (आनन्द के साथ) देखा गया, (मानसरोवर को) जाने की इच्छा वा खिन्न–मन हंसों के द्वारा तिरस्कृत किया गया कुसमय का यह दुर्दिन (मेघों से युक्त दिन) शीघ्र ही आसमान तथा विरही आदमी के हृदय को साथ–साथ आच्छन्न कर रहा है।१।।

टीका– उद्गतः कलापः = पिच्छं यैः तैः, ऊर्ध्वप्रसारितपुच्छैः इत्यर्थः; गृहस्य = भवनस्य, शिखण्डः = बर्हं एषामस्तीति शिखण्डिनः = मयूराः, गृहपालितमयूराः इत्यर्थः, आलोकितम् = प्रसन्नतया अवलोकितम्; यियासुभिः = गन्तुमिच्छुभिः मानसरावरमिति शेषः; उद्गतं = खिन्नमित्यर्थः मनः = चेतः येषां तैः; हंसैः = मरालैः; अपाकृतम् = तिरस्कृतम्; आकालिकम् = अनवसरोत्पन्नं दुर्दिनम् = मेघाच्छन्नं दिनम्; लक्षणया मेघः इत्यर्थः; सपदि = झटिति; अन्तरिक्षम् = आकाशम्; उत्कण्ठितस्य = विरहातुरस्य हृदयम् = चेतश्च; समम् = साकम्; रुणद्धि = आच्छादयति।।१।।

इस श्लोक में 'सहोक्ति' अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

अपि च,–

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः।
आभाति संहतबलाकगृहीतशंखः
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः।।२।।

अन्वयः— जलार्द्रमहिषोदरभृंगनीलः, विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः, संहतबलाकगृहीतशंखः, अपरः, केशवः, इव, खम्, आक्रमितुं, प्रवृत्तः, मेघ, आभाति।।२।।

शब्दार्थः— जलार्द्रमहिषोदरभृंगनीलः = पानी से भीगे हुए भैंसे के पेट एवं भौंरे के समान नीला, विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः = बिजली की चमक रूपी बने हुए पीताम्बर का दुपट्टा धारण करने वाला (विष्णु के पक्ष में—बिजली की चमक के समान बना हुआ पीताम्बर ही है दुपट्टा जिसका), संहतबलाकगृहीतशंखः—इकट्ठी हुई बगुलों की पाँत रूपी शंख को लेने वाला (विष्णु के पक्ष में—इकट्ठी हुई बगुलों की पाँत की भाँति लिया है 'पाञ्चजन्य' नामक शंख जिसने), अपरः = दूसरे, केशवः = विष्णु (की), इव = तरह, आकाश को, आक्रमितुं = लाघने के लिये, प्रवृत्तः = तैयार, मेघः = बादल, आभाति = शोभित हो रहा है।।

और भी—

अर्थः— पानी से भीगे हुए भैंसे के उदर एवं भौंरे के समान नीला, बिजली की चमक रूपी बने हुए पीताम्बर का दुपट्टा धारण करने वाला (विष्णु के पक्ष में—बिजली की चमक के समान बना हुआ पीताम्बर ही हैं दुपट्टा जिसका), इकट्ठी हुई बगुलों की पाँत रूपी शंख को लेने वाला (विष्णु के पक्ष में—इकट्ठी हुई बगुलों की पाँत की भाँति लिया है 'पाञ्चजन्य नामक शंख जिसने), वामनरूपधारी दूसरे विष्णु के समान आकाश को व्याप्त करने के लिये तैयार मेघ शोभित हो रहा है।।२।।

टीका— जलेन = सलिलेन आर्द्रः = सिक्तदेहः यः महिषः = सैरिभः तस्य उदरं = कुक्षिः नीलः = श्यामः (मेघः विष्णुश्च); विद्युदः = तडिदः प्रभा = कान्तिः एव रचितम् = निर्मितम् पीतपटोत्तरीयम् = पीताम्बरोत्तरीयम्, यद्वा पीतपटम् उत्तरीयं च यस्य येन वा सः) संहताः = सुसम्बद्धाः बलाकाः = बकपंक्तयः एवं गृहीतः = धृतः शंखः येन तथोक्तः (विष्णुपक्षे—संहतबलाकावत् गृहीतशंखः = पाञ्चजन्यशंख येन सः), अपरः = अन्यः; केशवः = विष्णुः इव; खम् = आकाशम्; आक्रमितुम् = आक्रान्तं कर्तुं; प्रवृत्तः = उद्युक्तः; मेघः = जलदः; आभाति = शोभते।

श्लोक के प्रथम चरण में उपमा दूसरे चरण एवं तीसरे चरण में रूपक तथा मेघ में दूसरे केशव का संशय होने से उत्प्रेक्षा अलंकार है। इस प्रकार इन अलंकारों के परस्पर सापेक्ष होने से इस श्लोक में संकर अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।२।।

अपि च,—

केशवगात्रश्यामः कुटिलबलाकावलीरचितशंखः।
विद्युद्गुणकौशेयश्चक्रधर इवोन्नतो मेघः।।३।।

अन्वयः— केशवगात्रश्यामः, कुटिलबलाकावलीरचितशंखः, विद्युद्गुणकौशेयः, मेघः, चक्रधरः, इव, उन्नतः।।३।।

शब्दार्थः— केशवगात्रश्यामः = विष्णु की शरीर के समान साँवला, कुटिलबलाकावलीरचितशंखः = बगुलों की टेढ़ी पाँत रूपी शंख को धारण करने वाला, विद्युद्गुणकौशेयः = बिजली रूपी धागों का पीताम्बर पहनने वाला, मेघः = बादल, चक्रधरः इव = विष्णु के समान, उन्नतः = उमड़ रहा है।

और भी—

अर्थः— विष्णु की शरीर के समान साँवला, बगुलों की टेढ़ी पाँत रूपी शंख को धारण करने वाला, बिजली रूपी धागे से बना हुआ पीताम्बर पहनने वाला यह बादल विष्णु के समान उमड़ रहा है।।३।।

टीका— केशवस्य = विष्णोः गात्रम् = शरीरम् इव श्यामः = नीलः; कुटिला = वक्रा बलाकावली = वकपंक्तिसमूहः बकपंक्तिः सा एव रचितः = धृतः शंखः येन तथोक्तः विद्युदः = तडिदः एव गुणाः = तन्तवः तेषां कौशेयं यस्य सः यथोक्तः अथवा विद्युद्गुणः = विद्युल्लेखा एवं कौशेयं यस्य सः तथोक्तः; मेघः = जलदः; चक्रधरः = विष्णुः इव; उन्नतः = उद्गतः।।३।।

यहाँ पर उपमा अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या।

एता निषिक्तरजतद्रवसंनिकाशा।
धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्यः।
विद्युत्प्रदीपशिखया क्षणदृष्टनष्टा-
श्छिन्ना इवाम्बरपटस्य दशाः पतन्ति।।४।।

अन्वयः— निषिक्तरजतद्रवसंनिकाशाः, जलदोदरेभ्यः, जवेन, पतिताः, विद्युत्प्रदीपशिखयाक्षणदृष्टनष्टाः, एताः, धाराः, अम्बरपटस्य, छिन्नाः, दशाः, इव, पतन्ति।।४।।

शब्दार्थः— निषिक्तरजतद्रवसंनिकाशाः = छिड़के हुए चांदी के द्रव जैसी, जलदोदरेभ्यः = बादलों के उदर से, जवेन = वेग से, पतिताः = गिरती हुई, विद्युत्प्रदीपशिखया = बिजली रूपी दीपक की लौ के कारण, क्षणदृष्टनष्टाः = क्षणभर के लिए दिखलायी पड़कर अदृश्य हो जाने वाली, एताः = ये, धाराः = धाराएँ, अम्बरपटस्य = आकाशरूपी कपड़े के, छिन्नाः = टूटे हुए, दशः = छोर (के), इव = समान, पतन्ति = गिर रही हैं।।

अर्थः— छिड़के हुए चाँदी के द्रव जैसी, बादलों के उदर से वेग के साथ गिरती हुई बिजली रूपी दीपक की लौ के कारण क्षणभर के लिये दिखलायी पड़कर अदृश्य हो जाने वाली, ये जल की धाराएँ आकाश रूपी कपड़े के टूटे हुए छोर के समान गिर रही हैं अर्थात् ये धाराएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं मानो आकाश रूपी फटे कपड़े के सूत गिर रहे हों।।४।

टीका— निषिक्ताः = क्षरिताः ये रजतस्य द्रवाः तेषां संन्निकाशाः = तुल्याः, रजत–द्रववत् धवलाः इति यावत्; जलदोदरेभ्यः = मेघजठरेभ्यः; जवेन = वेगेन; पतिताः = भ्रष्टाः; विद्युदेव = तडिदेव दीपशिखा = प्रदीपार्चिः तया; क्षणं = चिञ्चित्कालमित्यर्थः; दृष्टाः = दर्शनं गताः ततः नष्टाः = अदर्शनं गताः; एताः = अवलोक्यमानाः; धारा = जलधारा; अम्बरमेव = आकाशमेव पटः = वस्त्रं तस्य; दशाः = प्रान्तभागाः; इव पतन्ति = क्षरन्ति।।४।।

इस श्लोक में रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छ्रितैः।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना।।५।।

अन्वयः— संसक्तैः, चक्रवाकमिथुनै, इव; प्रडीनैः, हंसैः, इव; व्याविद्धैः, मीनचक्रमकरैः, इव; प्रोच्छ्रितैः, हर्म्यैः, इव; तैः, तैः, आकृतिविस्तरैः, वायुना, विश्लेषितैः, अनुगतैः, समुन्नतैः, मेघैः; इह, गगनं, पत्रच्छेद्यम्, इव, भाति।।५।।

शब्दार्थः— संसक्तैः = आपस में मिले हुए, चक्रवाकमिथुनैः = चकई–चकवा के जोड़ों के, इव = समान; प्रडीनैः = उड़ते हुए, हंसैः = हंसों के इव = समान; व्याविद्धैः = इधर–उधर फेंके गये, मीनचक्रमिथुनैः = मछलियों के झुण्ड तथा मकरों के इव तुल्य; प्रोच्छ्रितैः = अत्यन्त ऊँचे, हर्म्यैः = महलों के इव = समान तैः तैः = उन–उन, आकृतिविस्तरैः = आकार से फैलने वाले; वायुना = हवा से, विश्लेषितैः = छिन्न–भिन्न, अनुगतैः = एक दूसरे के पीछे चलने वाले, मेघैः = बादलों के द्वारा इह = यहाँ, गगनम् = आकाश, पत्रच्छेद्यम् = चित्र की, इव = भाँति, भाति = सुशोभित हो रहा है।

अर्थः— आपस में मिले हुए चक्रवाक के जोड़ों के समान, उड़ते हुए हंसों की भाँति, फेंके हुए मछलियों के झुण्ड तथा मगरों की तरह, ऊँचे–ऊँचे महलों जैसे, भिन्न–भिन्न आकार से फैलने वाले; हवा की झोंकों से छिन्न–भिन्न, एक दूसरों के पीछे चलने वाले, उमड़ते हुए बादल के द्वारा यहाँ आकाश चित्र की भाँति सुशोभित हो रहा है।।५।।

टीका— (क्वचित्) संसक्तैः; = संगतैः चक्रवाकमिथुनैः = कोकयुगलैः इव; (क्वचित्) प्रडीनैः = उड्डीनैः हंसैः = मरालैः इव, क्वचित् व्याविद्धैः = प्रक्षिप्तैः भ्रान्तैः वा; मीनचक्रैः = मत्स्यसमूहैः; मकरैः = हिंस्रैः; जलजन्तुविशेषैश्च इव; प्रोच्छ्रितैः = अभ्युन्नतैः, हर्म्यैः = प्रासादैः इव; इत्थं तैः तैः = तादृशैः इत्यर्थः, आकृतिभिः = आकारैः विस्तरैः = विस्तृतैः बहुलैः वा; वायुना = पवनेन पवनवेगेनेतिभावः; विश्लेषितैः = भेदं प्रापितैः इतस्ततः चालितैः वा; अनुगतैः = युक्तैः, समभ्युन्नतैः = अत्युन्नतैः, मेघैः = जलदैः इह = अस्मिन् स्थाने, गगनम् = नभः; पत्रच्छेद्यं = चित्रम् इव; भाति = राजते।।५।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।५।।

एतत्तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं मेघान्धकारं नभो
हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी।
अक्षद्यूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वानं गतः कोकिलो
हंसाः संप्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातचर्यां गताः।।६।।

अन्वयः— मेघान्धकारम्, एतत्, नभः, तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं, (वर्तते); अतिदर्पितबलः, शिखी, दुर्योधनः, वा, हृष्टः, (सन्), गर्जति, कोकिलः, अक्षद्यूतजितः, युधिष्ठिरः, इव, अध्वानं, गतः, सम्प्रति, हंसाः, पाण्डवा, इव, वनात्, अज्ञातचर्यां गताः।।६।।

शब्दार्थः— मेघान्धकारकम् = बादलों के कारण अँधेरा, एतत् = यह, नभः = आकाश, तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं = उस धृतराष्ट्र के मुख के समान, (वर्तते = है); अतिदर्पितबलः = घमण्डको सूचित कर रहा है रूप जिसका ऐसा (दुर्योधन के पक्ष में अत्यन्त अभिमानी सेना वाला) शिखी = मोर, दुर्योधनः = दुर्योधन की, इव = तरह, हृष्टः = प्रसन्न (सन् = होता हुआ), गर्जति =

गरज रहा है। कोकिलः = कोयल, अक्षद्यूतजितः = पाँसे के द्वारा जुए में हारे हुए, युधिष्ठिरः इव = युधिष्ठिर के समान, अध्वानं = मौन को (युधिष्ठिर के पक्ष में = वन मार्ग को) प्राप्त हो गई है। सम्प्रति = इस समय, हंसाः = हंस, पाण्डवाः = पाण्डवों (की), इव = भाँति, वनात् = वन (हंस के पक्ष में बनवास) से अज्ञातचर्याम् = अज्ञात वास को, गताः = चले गये।।

(आगे के इस श्लोक में दुर्योधन के राज्य तथा वर्षाकाल की अवस्था का एक साथ ही वर्णन किया गया है)–

अर्थः– बादलों के कारण अँधेरा यह आकाश उस धृतराष्ट्र के मुख के समान है (धृतराष्ट्र का मुँह भी आँखों के न होने से अन्धकार पूर्ण था और आकाश की भी सूर्य–चन्द्रमा रूपी दोनों आँखें बादलों में नष्ट हो गयी हैं)। अत्यन्त अभिमानी सेना है जिसकी ऐसे प्रसन्न दुर्योधन की भाँति घमण्ड को सूचित कर रहा है रूप जिसका ऐसा मोर प्रसन्न होकर गरज रहा है। कोयल पाँसे के द्वारा जुए में हारे हुए युधिष्ठिर के समान मौन (युधिष्ठिर के पक्ष में–'अध्वान' के माने वन मार्ग) को प्राप्त हो गयी है। इस समय हंस पाण्डवों के समान वन (हंसों के पक्ष में जल और पाण्डवों के पक्ष में–वनवास) से अज्ञातवास (अर्थात् मानसरोवर) को चले गये हैं।।६।।

टीका– मेघैः = जलदैः अन्धकारः = ध्वान्तं यत्र तत्; एतत् = परिदृश्यमानम्;–नभः = गगनम्, तस्य = प्रसिद्धस्य धृतराष्ट्रस्य = दुर्योधनपितुः वक्त्रसदृशम् = मुखतुल्यम्, वर्तते इति शेषः। धृतराष्ट्रमुखं नेत्रशून्यम् अतः अन्धकारपूर्णमासीत्। गगनमपि चन्द्रसूर्यादर्शनात् तमसाच्छन्नमस्तीति भावः। अतिदर्पितम्ः = अतिगर्वप्रकाशकं बलं = रूपं यस्य सः, अथवा अतिदर्पितं बलं = शक्तिः यस्य सः, मेघालोके शिखिनः प्रसन्नाः बलशालिनश्च भवन्ति, अति दर्पितम् = अत्यन्तगर्वसमन्वितं बलं = सैन्यं यस्य असौ, दुर्योधनः वा = इव; हृष्टः = प्रसन्नः सन्; गर्जति = मुहुः मुहुः शब्दं करोति। कोलिलः = पिकः; अक्षद्यूते = पाशक्रीडायां जितः = पराजितः युधिष्ठिरः = पाण्डवाग्रजः इव; अध्वानं = मौनं (युधिष्ठिरपक्षे–अध्वानं = वनपन्थानम्), गतः = प्राप्तः। सम्प्रति = अधुना; हंसाः = मरालाः; पाण्डवाः = पाण्डुपुत्राः इव; वनात्–जलात्, (पाण्डवपक्षे–वनवासात्) अज्ञातचर्याम् = अज्ञातवासम्; गताः = प्राप्ताः।

यहाँ पर उपमा अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–शार्दूलविक्रीडित।।६।।

(विचिन्त्य) चिरं खलु कालो मैत्रेयस्य वसन्तसेनायाः सकाशं गतस्य। नाद्याप्यागच्छति।

(प्रविश्य)

विदूषकः–अहो गणिआए लोभो अदक्खिण्दा अ, जदो ण कधा वि किदा अण्णा। अणेकहा सिणेहाणुसारं भणिअ किं पि, एवमेअ गहिदा रअणावली। एत्तिआए ऋद्धीए ण तए अहं भणिदो-'अज्जमित्तेअ! वीसमीअदु। मल्लकेण पाणीअं पि पिबिअ गच्छीअदु' ति। ता मा दाव दासीए धीआए गणिआए मुहं पि पेक्खिस्सं। (सनिर्वेदम्) सुट्ठुखु वुच्चदि-'अकंदसमुत्थिदा पउमिणी, अवंचओ वाणिओ, अचोरो सुवण्णआरो, अकलहो गामसमागमो, अकुद्धा गणिआ त्ति दुक्करं एदे संभावीअंति'। ता पिअवअस्सं गदुअ इमादो गणिआपसंगादो णिवत्तावेमि। (परिक्रम्य, दृष्ट्वा) कधं पिअवअस्सो रुक्खवाडिआए उपविट्टो चिट्टदि? ता जाव उवसप्पामि। (उपसृत्य) सोत्थि भवदे। वड्ढदु भवं। (अहो गणिकाया लोभोऽदक्षिणता च। यतो न कथापि कृताऽन्या। अनेकधा स्नेहानुसारं भणित्वा किमपि, एवमेव गृहीता रत्नावली। एतावत्या ऋद्ध्या न तयाहं भणितः-'आर्यमैत्रेय! विश्रम्यताम्, मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा गम्यताम्' इति। तन्मा तावद्दास्याःपुत्र्या गणिकाया मुखमपि द्रक्ष्यामि। सुष्ठु खलूच्यते 'अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी, अवञ्चको वणिक्, अचौरः सुवर्णकारः, अकलहो ग्रामसमागमः, अलुब्धा गणिकेति दुष्करमेते संभाव्यन्ते। तत्प्रियवयस्यं गत्वास्माद्गणिकाप्रसंगान्निवर्तयामि। कथं प्रियवयस्यो वृक्षवाटिकायामुपविष्टस्तिष्ठति?। तद्यावदुपसर्पामि। स्वस्ति भवते। वर्धतां भवान्।)

चारुदत्तः– (विलोक्य) अये, सुहृन्मे मैत्रेयः प्राप्तः। वयस्य! स्वागतम्, आस्यताम्।

विदूषकः– उवविट्टो म्हि। (उपविष्टोऽस्मि।)

चारुदत्तः– वयस्य! कथय तत्कार्यम्।

विदूषकः– तं खु कज्जं विणट्टं। (तत्खलु कार्यं विनष्टम्।)

चारुदत्तः– किं तया न गृहीता रत्नावली?।

विदूषकः– कुदो अम्हाणं एत्तिअं भाअधेअं?। णवणलिणकोमलं अंजलिं मत्थए कदुअ पडिच्छिआ। (कुतोऽस्माकमेतावद्भागधेयम्?। नवनलिनकोमलमञ्जलिं मस्तके कृत्वा प्रतीष्टा।)

चारुदत्तः– तत्किं ब्रवीषि विनष्टमिति?।

विदूषकः— भो! कधं ण विणट्टं? जं अभुत्तपीदस्स चोरेहिं अवहिदस्स अप्पमुल्लस्य सुवण्णभंडअस्स कारणादो चतुरसमुद्दसारभूदा रअणमाला हारिदा। (भोः! कथं न विनष्टम्? यदभुक्तपीतस्य चोरैरपहृतस्याल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूता रत्नमाला हारिता।)

चारुदत्तः— वयस्य! मा मैवम्;

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तया कृतः।

तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते।।७।।

(प्रवेश करके)

अर्थः—

विदूषकः—अहो! वेश्या वसन्तसेना का लालच और अनुदारता। क्योंकि दूसरी कोई बात तक न की। प्रेम-भरी बातों में इधर-उधर की बातें करके ऐसे ही रत्नावली ले ली। इतना धन रहने पर भी उसने मुझसे कहा तक नहीं कि—'आर्य मैत्रेय आराम कीजिए। मल्लक (एक प्रकार का वर्तन) से पानी तो पीकर जाइये।' तो दासी की लड़की इस वेश्या वसन्तसेना का मुँह भी कभी नहीं देखूँगा। (खेद के साथ) ठीक ही कहा जाता है—'बिना जड़ के उगी हुई कमल-लता, न लगने वाला बनियाँ, न चुराने वाला सुनार, बिना झगड़ा वाला ग्राम-सम्मेलन, लोभ न करने वाली वेश्या, इनकी उम्मीद करना मुश्किल है अर्थात् इनका मिलना मुश्किल है। तो चलकर प्रिय मित्र चारुदत्त को वेश्या के इस साथ से अलग करता हूँ। (घूमकर और देखकर) क्या प्रिय मित्र बगीचे में बैठे हुए हैं? तो उनके पास चलता हूँ। (पास जाकर) आपका कल्याण हो। आप बढ़ें।

चारुदत्त— (देखकर) अरे! मेरे मित्र मैत्रेय आ गये। मित्र! स्वागत है। बैठिये।

विदूषक — बैठ गया हूँ।

चारुदत्त— मित्र! उस काम को बतलाओ।

विदूषक — वह काम तो बिगड़ गया।

चारुदत्त— क्या उसने रत्नावली नहीं ली?

विदूषक — हम लोगों का इतना भाग्य कहाँ? नये कमल के समान कोमल अंजलि मस्तक पर करके उसने रत्नावली ले ली।

चारुदत्त— तब क्यों कहते हैं—कि बिगड़ गया।

विदूषक— अजी। क्यों नहीं बिगड़ गया? जो न खाये-पीये गये, चोरों द्वारा चुराये गये, कम कीमत वाले सोने के कारण चार समुद्र की साररूप रत्नावली को खो दिया।

अन्वयः— तया, यं, विश्वासं, समालम्ब्य, अस्मासु, न्यासः, कृतः, तस्य, महतः, प्रत्ययस्य, एव, एतत्, मूल्यं, प्रदीयते।।७।।

शब्दार्थः—तया = उस वसन्तसेना के द्वारा, यं = जिस, विश्वासं = विश्वासको, समालम्ब्य = पकड़कर, अस्मासु = हम लोगों में अर्थात् हम लोगों के पास, न्यासः = धरोहर, कृतः = की गयी, रक्खी गयी, तस्य = उस, महतः = बहुत बड़े, प्रत्ययस्य = विश्वास की, एव = ही, एतत् = यह, मूल्यं = कीमत, प्रदीयते = दी जा रही है, चुकायी जा रही है।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र! ऐसी बात मत कहो।

उसने जिस विश्वास के भरोसे हमारे पास धरोहर रक्खी, उस बहुत बड़े विश्वास की ही यह कीमत चुकायी जा रही है।।७।।

टीका— तया = वेश्या वसन्तसेनया इत्यर्थः; यं विश्वासं = प्रत्ययम्; समालम्ब्य = आश्रित्य; अस्मासु = सुदृढप्रीतिहीनेषु = इति भावः; न्यासः = निक्षेपः; कृतः = विहितः; तस्य = पूर्वकृतस्य; महतः = विशालस्य, अगाधस्य इत्यर्थः; प्रत्ययस्य = विश्वासस्य; एव एतत् = रत्नावलीस्वरूपम्; मूल्यं = निष्क्रयः; प्रदीयते = समर्प्यते।।७।।

इस श्लोक में अतिश्योक्ति अलंकार एवं अनुष्टुप् छन्द है।

विदूषकः—भो वअस्स! एदं पि मे दुदिअं संदावकारणं जं सहीअणदिण्णसण्णाए पडंतोवारिदं मुहं कदुअ अहं उवहासेदा। ता अहं बम्हणो भविअ दाणिं भवंतं सीसेण पडिअ विण्णवेहिम-'णिवत्तीअदु अप्पा इमादो बहुपच्चवाआदो गणिआपसंगादो'। गणिआ णाम पादुअंतरप्पविट्टा विअ लेट्ठुआ दुक्खेण उण णिराकरीअदि। अवि अ,

भो वअस्स! गणिआ हत्थी कायत्थओ भिक्खु चाटो रासहो अ जहिं एदे णिवसंति तहिं दुट्टा वि ण जाअंति। (भो वयस्य! एतदपि मे द्वितीयं संतापकारणं यत्सखीजनदत्तसंज्ञया पटान्तापवारितं मुखं कृत्वाऽहमुपहसितः। तदहं ब्राह्मणो भूत्वेदानीं भवन्तं शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि-'निवर्त्यतामात्मास्माद्बहुप्रत्यवायाद्गणिकाप्रसंगात्'। गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टेव लेष्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते। अपि च, भो वयस्य! गणिका, हस्ती, कायस्थो भिक्षुः, चाटो राजभश्च यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते।)

चारुदत्तः— वयस्य! अलमिदानीं सर्वं परिवादमुक्त्वा। अवस्थयैवास्मि निवारितः। पश्य;

वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं
प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति।
सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावाः
खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति।।८।।

अर्थः—

विदूषक— हे मित्र! मेरे सन्ताप का दूसरा कारण यह भी है कि अपनी सखियों को इशारा करके, आँचल से मुँह ढककर उसने वसन्तसेना ने मेरी हँसी की। तो मैं ब्राह्मण होकर (भी आपके पैरों पर) शिर रखकर विनती करता हूँ...'आप अपने को बहुत सी कठिनाइयों से भरे हुए, वेश्या के इस संग से हटा लें।' वेश्या तो जूते के भीतर घुसी हुई कंकड़ी के समान बाद में दुःख से निकाली जाती है।

और भी, हे मित्र!

वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिखारी, धूर्त, गधा, जहाँ ये सब निवास करते हैं वहाँ पर दुष्ट भी नहीं रहते हैं (सज्जनों का तो कहना ही क्या?)।

चारुदत्त— मित्र! इस समय इस सब निन्दा को कहना व्यर्थ है। हालत के द्वारा ही (वेश्या के संग से) रोक दिया गया हूँ। देखो...

अन्वयः— तुरगः, त्वरितं, प्रयातुं, वेगं, करोति; तु, प्राणव्ययात्, (तस्य), चरणाः, तथा, न, वहन्ति; (इत्थं), पुरुषस्य, चलाः, स्वभावाः, सर्वत्र, यान्ति (किन्तु), ततः, खिन्नाः, पुनः, हृदयम्, एव, विशन्ति।।८।।

शब्दार्थः— तुरगः = घोड़ा, त्वरितं = जल्दी, प्रयातुं = जाने के लिये, वेगं = वेग को, करोति = करता है; तु = किन्तु, प्राणव्ययात् = निर्बलता के कारण (तस्य = उसके), चरणाः = पैर; तथा = उस प्रकार, न वहन्ति = नहीं ढोते हैं, नहीं चलते है; (इत्थम् = इसी प्रकार), पुरुषस्य = पुरुष के, चलाः = चंचल, स्वभावाः = स्वभाव, सर्वत्र = चारों ओर, यान्ति = जाते हैं, (किन्तु), ततः = वहाँ से, खिन्नाः = उदास होकर, पुनः = फिर, हृदय में ही, विशन्ति = घुस जाते हैं, लौट जाते हैं।

अर्थः— घोड़ा जल्दी जाने के लिये वेग करता है। किन्तु कमजोरी के कारण पैर उस प्रकार नहीं चलते हैं। (इसी प्रकार) पुरुष के चंचल स्वभाव अर्थात् मनोरथ चारों ओर जाते हैं, किन्तु (सफलता न मिलने पर) उदास होकर फिर हृदय में ही लौट आते हैं अर्थात् गरीब की सारी इच्छाएँ धन के बिना उसके मन में ही सड़ जाती हैं। इसी तरह वसन्तसेना को पाने की मेरी भी इच्छा मन में ही रह जा रही है)।।८।।

टीका— तुरगः = अश्वः; त्वरितं = सत्वरम्; प्रयातुं = गन्तुम्; वेगं = जवम्; करोति = विदधाति; तु = किन्तु; प्राणव्ययात् = बलक्षयात्, निर्बलतया इत्यर्थः; तस्य चरणाः = पादाः; तथा = तेन प्रकारेण, वेगेन इत्यर्थः; न वहन्ति = न चलन्ति; (इत्थम् = अनेनैव प्रकारेण), पुरुषस्य = निर्धनजनस्य इत्यर्थः; चलाः = चपलाः; स्वभावाः = प्रकृतयः; मनोरथाः इत्यर्थः; सर्वत्र = सर्वासु दिक्षुः; अर्थात् सर्वविषयेषु; यान्ति = व्रजन्ति; किन्तु ततः = तस्मात् खिन्नाः = दुःखिताः असफलतयेति भावः; पुनः = मुहुः; हृदयमेव = चेतः एव; विशन्ति = विलीयन्ते।।७।।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।८।।

अपि च, वयस्य!

यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः।
(स्वगतम्) न गुणहार्यो ह्यसौ जनः। (प्रकाशम्)
वयमर्थैः परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया।।९।।

अन्वयः— यस्य, अर्थाः, (सन्ति), तस्य, सा, कान्ता, (अस्ति), हि, असौ, जनः, धनहार्यः, (अस्ति), वयं, अर्थैः, परित्यक्ताः, (अतः), ननु, सा, मया, त्यक्ता, एव।।६।।

शब्दार्थः— यस्य = जिसके, अर्थाः = धन, (सन्ति = हैं), तस्य = उसकी; सा = वह, कान्ता = प्रिया, (अस्ति = है), हि = यानि, असौ = यह, जनः = जन, धनहार्यः = धन के द्वारा वश में करने के लायक, (अस्ति = है), वयं = हम लोग, अर्थैः = धन के द्वारा, परित्यक्ताः = छोड़ दिये गये (हैं), (अतः = इसलिये), ननु = अवश्य ही, सा = वह, मया = मेरे द्वारा, त्यक्ता = छोड़ी गयी, एव = ही (है)।।

अर्थः—

और भी मित्र!

जिस आदमी के पास धन है उसी की वह वसन्तसेना प्रिया है। क्योंकि यह जन (वेश्या वसन्तसेना) धन के द्वारा ही वश में करने के लायक है अर्थात् वश में होती है)।

(अपने आप) नहीं, यह जन वसन्तसेना गुणों के द्वारा वश में करने लायक है।

(स्पष्ट रूप में) धन ने हम लोगों को छोड़ दिया है। इस लिये मेरे द्वारा तो वह वसन्तसेना छोड ही दी गयी है।।६।।

टीका— यस्य = जनस्य; अर्थाः = धनानि; सन्तीति शेषः; तस्य = जनस्य, धनवतः इत्यर्थः; सा = वसन्तसेना, कान्ता = प्रिया, अस्ति हि = यतः; असौ जनः = वेश्या वसन्तसेना इत्यर्थः; धनेन = वित्तेन हार्यः = वशीकर्तुं योग्यः अस्ति, वयम् अर्थैः = धनैः परित्यक्ताः = विरहिताः; अतः ननु = निश्चयमेव; सा = वसन्तसेना; मया = चारुदत्तेन; त्यक्ता = परित्यक्ता ।६।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप्।

विदूषकः—**(अधोऽवलोक्य, स्वगतम्) जधा एसो उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससदि, तधा तक्केमि मए विणिवारिअंतस्स अधिअदर वड्ढिदा से उक्कंठा। ता सुट्ठ खु एव्वं वुच्चदि-'कामो वामो' त्ति। (प्रकाशम्) भो वअस्स! भणिदं अ ताए- भणेहि चारुदत्तं-अज्ज पओसे मए एत्थ आअंतव्वं' त्ति। ता तक्केमि रअणावलीए अपरितुट्टा अवरं मग्गिदं आअमिस्सदि त्ति। (यथैष ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वसिति, तथा तर्कयामि मया विनिवार्य्यमाणस्याधिकतरं वृद्धास्योत्कण्ठा। तत्सुष्ठु खल्वेवमुच्यते-'कामो वामः' इति। भो वयस्य! भणितं च तया-'भण चारुदत्तम्-अद्य प्रदोषे मयात्रागन्तव्यम्' इति। तत्तर्कयामि रत्नावल्या अपरितुष्टाऽपरं याचितुमागमिष्यतीति।**

चारुदत्तः—**वयस्य! आगच्छतु, परितुष्टा यास्यति।**

चेट— **(प्रविश्य) अवेध माणहे। (अवेत मानवाः)।**

जधा जधा वश्शदि अब्भखंडे तधा तधा तिस्मदि पुट्ठिचम्मे।
जधा जधा लग्गदि शीदवादे तधा तधा वेवदि मे हलक्के।।१०।।

यथा यथा वर्षत्यभ्रखण्डं तथा तथा तिम्यति पृष्ठचर्म।
यथा यथा लगति शीतवातस्तथा तथा वेपते मे हृदयम्।।

अर्थः—

विदूषक— (नीचे की ओर देखकर अपने आप) यह जिस प्रकार ऊपर की ओर देखकर लम्बी आहें भर रहे हैं, इससे मैं अनुमान करता हूँ कि मेरे द्वारा रोके गये इनकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ गयी है। तो यह ठीक ही कहा जाता है कि- "काम बड़ा होता है" (प्रकट रूप में) हे मित्र! और उसने कहा है कि—"चारुदत्त से कहना— आज सायंकाल (प्रदोष) में मुझे यहां (वसन्तसेना के घर) आना है।" तो मैं अनुमान करता हूँ कि रत्नावली से सन्तुष्ट न हुई वह कुछ और माँगने आयगी।

चारुदत्त— मित्र! आवे। सन्तुष्ट होकर जायगी।

अन्वयः— यथा, यथा, अभ्रखण्डं, वर्षति, तथा, तथा, पृष्ठचर्म, तिम्यति, यथा, यथा, शीतवातः, लगति, तथा, तथा, मे हृदयं, वेपते।

शब्दार्थः— यथा = जैसे, यथा = जैसे, अभ्रखण्डं = बादलों का टुकड़ा, वर्षति = बरस रहा है, तथा = वैसे तथा = वैसे, पृष्ठ चर्म = पीठ का चमड़ा, तिम्यति = गीला हो रहा है, यथा = जैसे, यथा = जैसे, शीतवातः = ठण्डी हवा, लगति = लग रही है, तथा = वैसे, तथा = वैसे, मे = मेरा, हृदयम् = हृदय, कलेजा, वेपते = काँप रहा है।।

अर्थः—

चेट— (प्रवेश करके) मनुष्यों! समझो (कि)

जैसे जैसे बादलों का टुकड़ा बरस रहा है, वैसे वैसे पीठ का चमड़ा भीग रहा है। जैसे जैसे ठण्डी हवा लग रही है, वैसे वैसे मेरा हृदय काँप रहा है।।१०।।

टीका— यथा यथा अभ्रखण्डं = जलदशकलम्; वर्षति = जलं मुञ्चति; तथा तथा पृष्ठचर्म = पश्चाद्भागः इत्यर्थः, तिम्यति = आर्द्रीभवति, यथा यथा शीतवातः = शीतलवायुः, लगति = शरीरस्पर्शं करोति, तथा तथा मे = मम चेष्टस्य इत्यर्थः, हृदयं = गात्रम्, वेपते = कम्पते।।१०।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है—उपेन्द्रवज्रा। लक्षण—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।।१०।।

(प्रहस्य)

वंशं वाए शतच्छिद्दं शुशद्दं
वीण वाए शत्ततंतिं णदंतिं।
गीअं गाए गद्दहश्शाणुलूअं के
मे गाणे तुंबुलू णालदे वा।।११।।

वंशं वादयामि सप्तच्छिद्रं सुशब्दं
वीणां वादयामि सप्ततन्त्रीं नदन्तीम्।
गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं
को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा।।

अन्वयः— सप्तछिद्रं = सात छेदों वाली, सुशब्दं = सुन्दर शब्द वाली, वंशं = बाँसुरी को, वादयामि = बजाता हूँ। सप्ततन्त्रीं = सात तातों वाली, नदन्तीं = झंकार करती हुई, वीणां = वीणा को, वादयामि = बजाता हूँ। गर्दभस्य = गधा के, अनुरूपं = समान, गीतं = गीत को, गायामि = गाता हूँ, मे = मेरे, गाने = गाने में अर्थात् गाने के समान् तुम्बुरुः = तुम्बुरु नामक गन्धर्व, वा = अथवा, नारदः = नारद मुनि, कः = कौन (है)?।

(हँस कर)

अर्थः— सात छेदों वाली तथा सुन्दर शब्द वाली बाँसुरी बजाता हूँ। सात तारों वाली झंकार करती हुई वीणा बजाता हूँ। गधे के समान गाना गाता हूँ। मेरे गाने पर तुम्बुरु और नारद कौन हैं? अर्थात् मेरे गाने के सामने वे लोग भी कुछ नहीं हैं)।।११।।

टीका— सप्त छिद्राणि = बिलानि यस्मिन् तम्, सु = शोभनः शब्दः = ध्वनिः यस्य तं, वंशं—वेणुं, वादयामि = ध्वनितं करोमि। सप्ततन्त्र्यः = तन्तवः इत्यर्थः यस्यास्ताम्, नदन्तीम् = शब्दायमानां वीणाञ्च वादयामि। गर्दभस्य = रासभस्य, अनुरूपं = योग्यं, गीतं = गानं, गायामि = करोमि इत्यर्थः। मे = मम, चेटस्य इत्यर्थः, गाने = गीताराधने, तुम्बुरुः = गानविद्याविशारदः एकः गन्धर्वः, वा = अथवा, नारदः कः? = कीदृक् गुणयुक्तः? तुच्छः इत्यर्थः।।११।।

व्यतिरेक अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति।।११।।

आणत्तम्हि अज्जआए वशंतशेणाए-'कुंभीलआ! गच्छ तुमं, मम आगमणं अज्जचारु दत्तश्श णिवेदेहि' त्ति। ता जाव अज्जचारुदत्तश्श गेहं गच्छामि। (परिक्रम्य, प्रविष्टकेन दृष्ट्वा) एशे चालुदत्ते रुक्यवाडिआए चिट्ठदि। एशे वि शे दुष्ट्टवडुके; ता जाव उपशप्पेमि। कधं ढक्किदे दुवाले रुक्खवाडिआए?। भोदु, एदश्श दुट्टवडुकश्श शण्णं देमि। (अवेत मानवाः! आज्ञप्तोऽस्म्यार्यया वसन्तसेनया-'कुम्भीलक! गच्छ त्वम्। ममागमनमार्यचारुदत्तस्य निवेदय' इति। तद्यावदार्यचारुदत्तस्य गेहं गच्छामि। एष चारुदत्तो वृक्षवाटिकायां तिष्ठति। एषोऽपि स दुष्टबटुकः, तद्यावदुपसर्पामि। कथमाच्छादितं द्वारं वृक्षवाटिकायाः। भवतु, एतस्य दुष्टबटुकस्य संज्ञां ददामि।)

(इति लोष्टगुटिकाः क्षिपति)

विदूषकः—अए, को दाणिं एसो पाआरवेट्टिदं विअ कइत्थं मं लोट्टकेहिं ताडेदि?। (अये! क इदानीमेष प्राकारवेष्टितमिव कपित्थं मां लोष्टकैस्ताडयति?।)

चारुदत्तः—आरामप्रासादवेदिकायां क्रीडद्भिः पारावतैः पातितं भवेत्।

विदूषकः—दासीए पुत्त दुट्टपारावअ! चिट्ठ चिट्ठ। जाव एदिणा दंडकट्ठेण सुपक्कं विअ चूअफलं इमादो पासादादो भूमीए पाडइस्सं। (दास्याः पुत्र दुष्टपारावत! तिष्ठ तिष्ठ यावदेतेन दण्डकाष्ठेन सुपक्वमिव चूतफलमस्मात्प्रासादाद्भूमौ पातयिष्यामि।)

(इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य धावति)

चारुदत्तः—(यज्ञोपवीतं आकृष्य) वयस्य! उपविश। किमनेन?। तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी पारावतः।

चेट— कधं पारावदं पेक्खदि, मं ण पेक्खदि?। भोदु, अवराए लोट्टगुडिकाए पुणो वि ताडइस्सं। (कथं पारावतं पश्यति, मां न पश्यति? भवतु, अपरया लोष्टगुटिकया पुनरपि ताडयिष्यामि।) (तथा करोति)

विदूषकः—(दिशोऽवलोक्य) कधं कुंभीलओ?। ता जाव उवसप्पामि। (उपसृत्य, द्वारमुद्घाट्य) अरे कुंभीलअ! पविश; साअदं दे। (कथं कुम्भीलकः? तद्यावदुपसर्पामि। अरे कुम्भीलक! प्रविश; स्वागतं ते।)

चेटः — (प्रविश्य) अज्ज! वंदामि। (आर्य! वन्दे।)

विदूषकः—अरे, कहिं तुमं ईदिसे दुहिणे अंधआरे आअदो?। (अरे, कुत्र त्वमीदृशे दुर्दिनेऽन्धकार आगतः?।)

चेटः— अले, एशा शा। (अरे, एषा सा।)

विदूषकः—का एसा का?। (कैषा का?।)

चेटः— एशा शा। (एषा सा।)

विदूषकः—किं दाणिं दासीए पुत्ता! दुब्भिक्खकाले वुड्ढरंको विअ उद्धकं सासाअसि-'एसा सा से' त्ति?। (किमिदानीं दास्याः पुत्र! दुर्भिक्षकाले वृद्धरंक इवोर्ध्वकं श्वासायसे 'एषा सा सा' इति?)

चेटः — अले, तुमं पि दाणिं इंदमहकामुको विअ सुट्ठु किं कांकाअसि-'का के' त्ति?। (अरे त्वमपीदानीमिन्द्रमहकामुक इव सुष्ठु किं काकायसे-'का का' इति?।)

विदूषकः—ता कहेहि। (तत्कथय।)

चेटः — (स्वगतम्) भोदु एव्वं भणिशं। (प्रकाशम्) अले, पण्हं दे दइश्शं। (भवतु, एवं भणिष्यामि। अरे, प्रश्नं ते दास्यामि।)

विदूषकः—अहं दे मुंडे गोड्डं दइस्सं। (अहं ते मस्तके पादं दास्यामि।)

चेटः— अले, जाणाहि दाव, तेण हि कश्शिं काले चूआ मालेंति। (अरे, जानीहि तावत्; तेन हि कस्मिन्काले चूता मुकुलिता भवन्ति।)

विदूषकः—अरे दासीए पुत्ता! गिम्हे। (अरे दास्याःपुत्र! ग्रीष्मे।)

चेटः — (सहासम्) अले, णहि णहि। (अरे, नहि नहि।)

विदूषकः—(स्वगतम्) किं दाणिं एत्थ कहिस्सं?। (विचिन्त्य) भोदु, चारुदत्तं गदुअ पुच्छिस्सं। (प्रकाशम्) अरे, मुहुत्तअ चिट्ठ। (चारुदत्तमुपसृत्य) भो वअस्स! पुच्छिस्सं दाव, कस्सिं काले चूआ मोलेंति?। (किमिदानीमत्र कथयिष्यामि?। भवतु, चारुदत्तं गत्वा प्रक्ष्यामि। अरे, मुहूर्तकं तिष्ठ। भो वयस्य! प्रक्ष्यामि तावत्, कस्मिन्काले चूता मुकुलिता भवन्ति?।)

चारुदत्तः—मूर्ख! वसन्ते।

विदूषकः—(चेटमुपगम्य) मुक्ख! वसंते। (मूर्ख! वसन्ते।)

चेटः— दुदिअं दे पण्हं दइश्शं। शुशमिद्धाणं गामाणं का लक्खअं कलेदि?। (द्वितीयं ते प्रश्नं दास्यामि। सुसमृद्धानां ग्रामाणां का रक्षां करोति?।)

विदूषकः—अरे, रच्छा। (अरे, रथ्या।)

चेटः— (सहासम्) अले, णहि णहि। (अरे, नहि नहि।)

विदूषकः—भोदु, संसए पडिदम्हि। (विचिन्त्य) भोदु, चारुदत्तं पुणो वि पुच्छिस्सं। (भवतु, संशये पतितोऽस्मि। भवतु, चारुदत्तं पुनरपि प्रक्ष्यामि।)

(पुनर्निवृत्य चारुदत्तं तथैवोदाहरति)

चारुदत्तः— वयस्य! सेना।

विदूषकः—(चेटमुपगम्य) अरे, दासीए पुत्ता! सेणा। (अरे दास्याःपुत्र! सेना।)

चेटः— अले दुवे वि एक्कश्रिंश कदुअ शिग्घं भणाहि। (अरे, द्वे अप्येकस्मिन्कृत्वा शीघ्रं भण।)

विदूषकः—सेणावसंते। (सेनावसन्ते।)

चेटः— णं पलिवत्तिअ भणाहि। (ननु परिवर्त्य भण।)

विदूषकः—(कायेन परिवृत्य) सेणावसंते। (सेनावसन्ते।)

चेटः— अले मुक्ख बडुका! पदाइं पलिवत्तावेहि। (अरे मूर्ख बटुक! पदे परिवर्तय।)

विदूषकः— (पादौ परिवर्त्य) सेणावसंते। (सेनावसन्ते।)

चेटः — अले मुक्ख! अक्खलपदाइं पलिवत्तावेहि। (अरे मूर्ख! अक्षरपदे परिवर्तय।)

विदूषकः— (विचिन्त्य) वसन्तसेणा। (वसन्तसेना।)

चेटः — एशा शा आअदा। (एषा सागता।)

विदूषकः— ता जाव चारुदत्तस्स णिवेदेमि। (उपसृत्य) भो चारुदत्त! धणिओ दे आअदो। (तद्यावच्चारुदत्तस्य निवेदयामि। भो चारुदत्त! धनिकस्त आगतः।)

चारुदत्तः— कुतोऽस्मत्कुले धनिकः?।

विदूषकः— जइ कुले णत्थि, ता दुवारे अत्थि; एसा वसंतसेणा आअदा। (यदि कुले नास्ति, तद्वारेऽस्ति; एषा वसन्तसेनागता।)

चारुदत्तः— वसस्य! किं मां प्रतारयति?।

विदूषकः— जइ मे वअणे ण पत्तिआअसि, ता एदं कुंभीलअं पुच्छ। अरे दासीए पुत्ता कुंभीलअ! उपसप्प। (यदि मे वचने न प्रत्ययसे, तदिमं कुम्भीलकं पृच्छ। अरे दास्याःपुत्र कुम्भीलक! उपसर्प।)

चेटः — (उपसृत्य) अज्ज! वंदामि। (आर्य! वन्दे।)

चारुदत्तः—भद्र! स्वागतम्; कथय सत्यं प्राप्ता वसन्तसेना?।

चेटः — एशा शा आअदा वशंतसेणा। (एषा सागता वसन्तसेना।)

चारुदत्तः—(सहर्षम्) भद्र! न कदाचित्प्रियवचनं निष्फलीकृतं मया, तद्गृह्यतां पारितोषिकम्।

(इत्युत्तरीयं प्रयच्छति)

चेटः— (गृहीत्वा प्रणम्य, सपरितोषम्) जाव अज्जआए णिवेदेमि। (यावदार्याया निवेदयामि।)

(इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—भो! अवि जाणासि, किंणिमित्तं ईदिसे दुद्दिणे आअदे त्ति?। (भो! अपि जानासि, किंनिमित्तमीदृशे दुर्दिन आगतेति?।)

चारुदत्तः— वयस्य! न सम्यगवधारयामि।

विदूषकः—मए जाणिदं। अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमुल्लं सुवण्णभंडअं त्ति ण परितुट्टा अवरं मग्गिदुं आअदा। (मया ज्ञातम्। अल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डमिति न परितुष्टाऽपरं याचितुमागता।)

चारुदत्तः—(स्वगतम्) परितुष्टा यास्यति।

(ततः प्रविशत्युज्जवलाभिसारिकावेशेन सोत्कण्ठा वसन्तसेना, छत्रधारिणी, विटश्च)

विटः— (वसन्तसेनामुद्दिश्य)

अपद्मा श्रीरेषा प्रहरणमनंगस्य ललितं
कुलस्त्रीणां शोको मदनवरवृक्षस्य कुसुमम्।
सलीलं गच्छन्ती रतिसमयलज्जाप्रणयिनी
रतिक्षेत्रे रंगे प्रियपथिकसार्थैरनुगता।।१२।।

अर्थः— आर्या वसन्तसेना ने मुझे आज्ञा दी है—"कुम्भीलक! जाओ तुम। मेरे आने को आर्य चारुदत्त से नम्रता पूर्वक बतलाओ जब तक आर्य चारुदत्त के घर जाता हूँ। (प्रवेश करके दरवाजे से देखकर) यह आर्य चारुदत्त वृक्षवाटिका में बैठे हैं। वह दुष्ट ब्राह्मण भी है। तो जब तक पास चलता हूँ। क्या वृक्षवाटिका का दरवाजा बन्द है? अच्छा, इस दुष्ट ब्राह्मण को इशारा करता हूँ। (ऐसा कहकर कंकड़ियाँ फेंकता है)।

विदूषक— अरे! चहार दीवारी से घिरे हुए कैथ के समान यह कौन मुझे कंकरी से मार रहा है?।

चारुदत्त— (हो सकता है) वृक्षवाटिका के महल की चौकी पर खेलते हुए कबूतरों ने गिरा दी हो।

विदूषक— दासी के बच्चे, दुष्ट कबूतर! ठहर—ठहर जब तक काठ के इस डण्डे से तुझे खूब पके हुए आम के फल के समान इस महल से जमीन पर गिरता हूँ। (ऐसा कहकर लकड़ी का दंडा लेकर दौड़ता है)।

चारुदत्त— (यज्ञेपवीत को खींचकर) मित्र बैठो। इससे क्या बिगड़ गया? बेचारा कबूतर अपनी स्त्री के साथ बैठे।

चेट— क्या कबूतर को देख रहा है, मुझे नहीं देख रहा है? अच्छा दूसरी कंकड़ी से फिर मारूँगा।

(वैसा ही करता है)

विदूषक— (चारों ओर देखकर) क्या कुम्भीलक! तो जब तक समीप चलता हूँ। (पास में जाकर, दरवाजा खोलकर) अरे कुम्भीलक भीतर आओ। तुम्हारा स्वागत है।

चेट — (प्रवेश करके) आर्य! प्रणाम करता हूँ।

विदूषक— अरे! ऐसे दुर्दिन अन्धकार में तुम कहाँ आये हो?

चेट — अरे! यह वह है।

विदूषक— कौन यह कौन?

चेटी— यह वह है।

विदूषक— दासी के बच्चे! अकाल के समय वृद्ध गरीब के समान, इस समय क्यों लम्बी साँस ले रहा है "एषा सा सा"

चेट — अरे! तुम भी तो इस समय इन्द्रोत्सव के इच्छुक कौवे के समान अच्छा का का (कौन कौन) क्यों कर रहे हो?

विदूषक— तो बतलाओ।

चेट— (अपने आप) अच्छा, इस तरह कहूँगा। (प्रकट रूप में) अरे! तुम्हें प्रश्न पूछूँगा।

विदूषक— मैं तुम्हारे मस्तक पर लात मार दूँगा।

चेट — अरे! जानते हो? किस समय में आम बौराते हैं?

विदूषक— अरे! दासी के बच्चे गर्मी में।

चेट — (हँसकर) अरे, नहीं, नहीं।

विदूषक— (अपने आप) इस प्रश्न का अब क्या उत्तर दूँ?। (विचार कर) अच्छा, चलकर चारुदत्त से पूछता हूँ। (प्रकट रूप में) अरे क्षण भर ठहर। (चारुदत्त के पास जाकर) हे मित्र जरा पूछता हूँ। किस समय में आम बौराते हैं?

चारुदत्त— मूढ! वसन्त में।

विदूषक — (चेट के पास जा कर) मूढ! वसन्त में

चेट — दूसरा प्रश्न तुम्हें देता हूँ। धन से भरे–पूरे गाँवों की रखवाली कौन करती है?।

विदूषक — अरे गली।

चेट — (हँसी के साथ) अरे, नहीं, नहीं।

विदूषक — अच्छा, सन्देह में पड़ गया हूँ। (सोचकर) अच्छा इस बार भी चारुदत्त से पूँछूगा।

(फिर लौट कर चारुदत्त से उसी प्रकार कहता है)।

चारुदत्त— मित्र! सेना।

विदूषक— (चेट के पास जाकर) अरे! दासी के बच्चे! सेना।

चेट— अरे दोनों को एक में मिलाकर जल्द बोलो।

विदूषक— सेना वसन्त।

चेट— उरे, उलट कर कहो।

विदूषक— (शरीर को घुमाकर) सेना वसन्त।

चेट— अरे मूर्ख ब्राह्मण के बच्चे! पदों को बदलो।

विदूषक— (पैरों को घुमा कर) सेना वसन्त।

चेट— अरे मूर्ख! अक्षर वाले पद में उलट फेर करो, पैरों में नहीं।

विदूषक— (सोचकर) वसन्त सेना।

चेट— यह वह आ गयी है।

विदूषक— तो जब तक चारुदत्त से निवेदन करता हूँ। (समीप जा कर) हे चारुदत्त! तुम्हारा महाजन आ गया है।

चारुदत्त— हमारे कुल में महाजन कहाँ से आया?।

विदूषक— यदि कुल में नहीं है तो दरवाजे पर है; यह वसन्तसेना आई है।

चारुदत्त— मित्र! क्या मुझे छल रहे हो?

विदूषक— यदि मेरे कहने में विश्वास नहीं कर रहे हो तो इस कुम्भीलक से पूछो। अरे दासी के बच्चे कुम्भीलक! पास आओ।

चेट— (पास जाकर) आर्य! प्रणाम कर रहा हूँ।

चारुदत्त— भले मनुष्य! स्वागत है। बतलाओ क्या सचमुच वसन्तसेना आई हैं?

चेट— यह वसन्तसेना आ गई है।

चारुदत्त— (खुशी के साथ) भले आदमी! मैंने प्रिय वचन कभी खाली नहीं किया है। तो पुरस्कार ग्रहण करो (ऐसा कह कर दुपट्टा देता है)।

चेट — (लेकर प्रणाम कर के सन्तोष के साथ) जब तक आर्या वसन्तसेना से कहता हूँ।

(ऐसा कह कर निकल जाता है)।

विदूषक— अरे! क्या जानते हो कि ऐसे दुर्दिन में किसलिए आई है?

चारुदत्त— मित्र! भली भाँति नहीं जान पा रहा हूँ।

विदूषक— मैं जानता हूँ। रत्नावली कम कीमत की है, सोने के आभूषणों का भाण्ड अधिक मूल्य का है; ऐसा सोचकर सन्तुष्ट न हुई वह और कुछ माँगने के लिए आई है।

चारुदत्त— (अपने आप) सन्तुष्ट हो कर जायगी।

(इसके बाद अभिसारिका के स्वच्छ वेश में उत्कण्ठित वसन्तसेना, छाता को पकड़ कर चलने वाली स्त्री और विट प्रविष्ट होते हैं)

अन्वयः— रतिसमयलज्जाप्रणयिनी, प्रियपथिकसार्थैः, अनुगता, रंगे, (इव), रतिक्षेत्रे, सलीलं, गच्छन्ती, एषा, अपद्मा, श्रीः, अनंगस्य, ललितं, प्रहरणं, कुलस्त्रीणां, शोकः, मदनवरवृक्षस्य, कुसुमम् (अस्ति)।।१२।।

शब्दार्थः— रतिसमयलज्जाप्रणयिनी = सम्भोग के समय लजाने वाली, प्रियपथिकसार्थैः = पथिकों के प्रिय समूहों से, अनुगता = पीछा की गयी, रंगे = नाटक घर (की), (इव = भाँति), रतिक्षेत्रे = सम्भोग के स्थान में अर्थात् संकेत के स्थान में, सलीलं = हाव–भाव के साथ, गच्छन्ती = जाती हुई, एषा = यह वसन्तसेना, अपद्मा = विना कमलवाली, श्रीः = लक्ष्मी, अनंगस्य = कामदेव का, ललितं = सुकुमार, प्रहरणम् = अस्त्र, कुलस्त्रीणां = कुलीन स्त्रियों का, शोकः = अफसोस, (और) मदनवरवृक्षस्य = कामदेव रूपी सुन्दर वृक्ष का, कुसुमम् = फूल (अस्ति = है)।।

अर्थः— विट —(वसन्तसेना को उद्देश्य करके) सम्भोग के समय लजानेवाली, पथिकों के प्रिय समूहों से अनुगमन की जाने वाली नाटकघर की भाँति (आनन्द देने वाले) संकेत–स्थान में हाव–भाव के साथ जाती हुई यह वसन्तसेना बिना कमल के लक्ष्मी है, कामदेवका सुकुमार अस्त्र है, कुलीन स्त्रियों का साक्षात् शोक है (क्योंकि इसकी सुन्दरता से खिंचकर कुलपुत्र वेश्यागामी बन जाते हैं। अतः उनकी स्त्रियाँ शोक करती हैं,) तथा कामरूपी सुन्दर वृक्ष का फूल है।।१२।।

टीका— रतिसमये = रमणकाले लज्जायां = व्रीडायां प्रणयिनी = प्रीतियुक्ताः प्रियैः = अभीप्सितैः पथिकसार्थैः = गन्तृसमूहैः अनुगता = अनुसृता; एतेन वसन्तसेनायाः प्रसिद्धिः सूच्यते, रंगे = नाट्यशालायाम्, इव, रतिक्षेत्रे = सम्भोगस्थाने, सलीलं = सविलासम्; गच्छन्ती = व्रजन्ती; एषा = वसन्तसेना; नास्ति पद्मं = कमलं यस्याः सा अपद्मा = कमलोत्पत्तिरहिता इत्यर्थः; श्रीः = लक्ष्मीः अस्ति। अनंगस्य = कामदेवस्य, ललितं = सुकुमारं सुन्दरं वा; प्रहरणम् = आयुधं कुलस्त्रीणां = कुलबधूनाम्; शोकः = सन्तापः; मदनः = कामः एव वरवृक्षः श्रेष्ठपादपः तस्य, कुसुमं = प्रसूनम् अस्तीति सर्वत्र योज्यम्।।१२।।

इस श्लोक में मालारूपक अलंकार तथा शिखरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण—रसैः रुद्रैश्छिन्नायमनसभला गः शिखरिणी ।१२।

वसन्तसेने! पश्य पश्य

गर्जन्ति शैलशिखरेषु विलम्बिबिम्बा
मेघा वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः।
येषां रवेण सहसोत्पतितैर्मयूरैः
खं वीज्यते मणिमयैरिव तालवृन्तैः।।१३।।

अन्वयः— वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः, शैलशिखरेषु, विलम्बिबिम्बाः, मेघाः, गर्जन्ति, येषां, रवेण, सहसा, उत्पतितै, मयूर मणिमय तालवृन्तैः, खं वीज्यते, इव।।१३।।

शब्दार्थः— वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः = विरहिणी स्त्रियों के हृदय के समान (मलिन), शैलशिखरेषु = पर्वत की चोटियों पर विलम्बिबिम्बाः = लटकते हुए आकार वाले, मेघाः = बादल, गर्जन्ति = गरज रहे हैं। येषां = जिनके, रवेण = गरजने से सहसा = एकाएक, अचानक, उत्पतितैः = उड़े हुए, मयूरैः = मोरों के द्वारा, मणिमयैः = मणि के बने हुए तालवृन्तैः = पंखों से, खम् = आकाश, वीज्यते = हवा किया जा रहा है; इव = मानो।।

अर्थः—

वसन्तसेना देखो–देखो–

विरहिणी स्त्रियों के हृदय के समान मलिन, पर्वत की चोटियों पर लटकते हुए आकार वाले बादल गरज रहे हैं जिनके गरजने से अचानक उड़े हुए मोरों के द्वारा अपने पंख रूपी मणिमय तालवृन्तों से मानो आकाश को पंखा झला जा रहा है।।

टीका— वियुक्ताः = प्रोषितभर्तृकाः विरहिण्यः याः वनिताः = नार्यः तासां हृदयं = चेतः अनुकुर्वन्ति = अनुसरन्ति इति तादृशभूत मलिनाः इति भावः। शैलानां = पर्वतानां शिखरेषु = श्रृंगेषु, विलम्बि = लम्बमानं बिम्बं = मण्डलं येषां तादृशाः मेघाः = पयोधराः, गर्जन्ति = नदन्ति। येषां = मेघानां, रवेण = गर्जनेन, सहसा = झटिति, उत्पतितैः = उड्डीनैः मयूरैः = शिखण्डिभिः, मणिमयैः = नीलरत्नादिनिर्मितैः, तालवृन्तैः = व्यजनैः, खम् = आकाशं, वीज्यते इव।।१३।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।१३।।

अपि च,—

पंकक्लिन्नमुखाः पिबन्ति सलिलं धाराहता दर्दुराः
कण्ठं मुञ्चति बर्हिणः समदनो नीपः प्रदीपायते।
संन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मेघैर्वृतश्चन्द्रमा
विद्युन्नीचकुलोद्गतेव युवतिर्नैकत्र संतिष्ठते।।१४।।

अन्वयः— धाराहताः, पंकक्लिन्नमुखाः, दुर्दराः, सलिलं, पिबन्ति, समदनः, बर्हिणः, कण्ठं, मुञ्चति, नीपः, प्रदीपायते, कुलदूषणैः जनैः संन्यासः, इव, मेघैः, चन्द्रमा, वृतः, नीचकुलोद्गता, युवतिः, इव, विद्युत्, एकत्र, न, सन्तिष्ठते।।१४।।

शब्दार्थः— धाराहताः = (पानी की) धारा से ताडित, पंकक्लिन्नमुखाः = कीचड़ से लथपथ मुँहवाले, दर्दुराः = मेंढक, सलिलं = पानी

को, पिबन्ति = पी रहे हैं। समदनः = कामातुर, बर्हिणः = मोर, कण्ठं = गले की आवाज को, मुञ्चति = छोड़ रहा है। नीपः = कदम्ब, प्रदीपायते = दीपक सा मालूम पड़ रहा है। कुलदूषणैः = कुल को दूषित करने वाले, जनैः = लोगों के द्वारा, संन्यासः इव = संन्यास की भाँति, मेघैः = बादलों के द्वारा, चन्द्रमा = चन्द्र, वृतः = ढँका है, नीचकुलोद्गता = नीच कुल में पैदा हुई, युवतिः = जवान स्त्री, इव = जैसी, विद्युत् = बिजली, एकत्र = एक स्थान पर; न = नहीं, सन्तिष्ठते = ठहर रही है।।

और भी

अर्थः— (पानी की) धारा से ताडित एवं कीचड़ से लथ–पथ मुँहवाले मेंढक पानी पी रहे हैं। कामातुर मोर मीठी आवाज में बोल रहा है। कदम्ब का पेड़ दीपक सा मालूम पड़ रहा है। बादलों के द्वारा चन्द्रमा उसी प्रकार ढँक लिया गया है जिस प्रकार कुल को दूषित करने वाले लोगों के द्वारा संन्यास (कलंकित कर दिया जाता है), नीच कुल में पैदा हुई युवती के समान बिजली एक स्थान पर नहीं ठहर रही है।।१४।।

टीका— धाराभिः = जलधाराभिः, हताः = ताडिताः, पंकेन = कर्दमेन क्लिन्नानि = लिप्तानि मुखानि आननानि येषां ते; दर्दुराः = मण्डूकाः; सलिलं = जलं; पिबन्ति = आचामन्ति; मदनेन = कामेन सहितः समदनः = कामातुरः, बर्हिणः = मयूरः कण्ठं = कण्ठशब्दं; मुञ्चति = त्यजति। नीपः = कदम्बः; प्रदीपायते = पुष्पैः प्रदीपवत् आचरति; कुलं = वंशं दूषयन्ति इति कुलदूषणाः = कुलकलंककराः तैः; जनैः = लोकैः; संन्यासः = यतिधर्मः इव; मेघैः = जलधरैः; चन्द्रमा = चन्द्रः; वृतः = आच्छादितः भवति; नीचकुले = पतितवंशे उद्गता = उत्पन्ना; युवतिः = तरुणिः इव; विद्युत् = चपला; एकत्र = एकस्मिन् स्थले; न सन्तिष्ठते = न स्थिरतां गच्छति।।१४।।

वसन्तसेना— भाव! सुट्ठु दे भणिदं। (भाव! सुष्ठु ते भणितम्।) एषा हि,—

मूढे! निरन्तरपयोधरया मयैव
कान्तः सहाभिरमते यदि किं तवात्र?
मां गर्जितैरपि मुहुर्विनिवारयन्ती
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी।।१५।।

अन्वयः— कुपिता, सपत्नी, इव, निशा, हे मूढे! निरन्तरपयोधरया, मया, एव, सह, कान्तः, यदि, अभिरमते, (तदा); अत्र, तव, किम्?; (ईदृशैः) गर्जितैः अपि, मुहुः, विनिवारयन्ती, (मम), मार्गं, रुणद्धि।।

शब्दार्थः— कुपिता = कुपित हुई, सपत्नी = सौत, इव = जैसी, निशा = रात; "हे मूढे! = हे मूर्ख! निरन्तरपयोधरया = घने पयोधर (रात के पक्ष में–बादल, सौत के पक्ष में–स्तन) वाली, मया = मेरे, एव = ही, सह = साथ, कान्तः = प्रियतम (रात के पक्ष में चन्द्रमा; सौत के पक्ष में चारुदत्त), यदि = यदि, अभिरमते = रमण करता है, (तदा = तो, तब), अत्र = इसमें, तव = तुम्हारा, किम्? = क्या? (ईदृशैः = इस प्रकार वाले), गर्जितैः = बार–बार गरजने से, अपि = भी, मुहुः = बारम्बार, विनिवारयन्ती = मना करती हुई (मम = मेरे), मार्गं = रास्ताको, रुणद्धि = रोक रही है।

अर्थः—

वसन्तसेना— श्रीमान् जी! आप का कहना ठीक है। यह कुपित हुई सौत के समान रात–मूर्ख! यदि घने पयोधर (रात के पक्ष में बादल, सौत के पक्ष में–स्तन) वाली मेरे ही साथ प्रियतम (रात के पक्ष में–चन्द्रमा, सौत के पक्ष में–चारुदत्त) रमण करता है तो इस में तुम्हारा क्या? (इस प्रकार के) बार–बार गरजने से भी बारम्बार मुझे मना करती हुई रास्ता रोक रही है।।१५।।

टीका— कुपिता = क्रुद्धा; समानः = एकः पतिः = भर्ता यस्याः सा सपत्नी = एकपतिका स्त्री इव; निशा = रात्रिः; हे मूढे! = हे मूर्खे! मया सह रमणरतमपि कान्तं यासि अतस्त्वं मूर्खा असि इति भावः; वसन्तसेने! इति शेषः; निरन्तराः = निविडाः पयोधराः जलदाः यस्यां सा तादृशया मया = निशया (सपत्नीपक्षे–निरन्तरौ = स्थूलत्वात् निविडौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः तया) एव सह = साकम्; कान्तः = प्रियः, यदि = चेत्; अभिरमते = क्रीडति; तदा अत्र = अस्मिन् विषये; तव = वसन्तसेनायाः किम्? = का हानिः? एतादृशैः गर्जितैः = गर्जनैः, अपि मुहुः = बारम्बारम्; विनिवारयन्ती = निषेधयन्ती; मम मार्गं = पन्थानम्; रुणद्धि = आवृणोति।।१५।।

यहाँ उपमा अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–वसन्ततिलका।।१५।।

विटः— भवतु एवं तावत्; उपालभ्यतां तावदियम्।

वसन्तसेना— भाव! किमनया स्त्रीस्वभावदुर्विदग्धयोपालब्धया? पश्यतु भावः

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा।
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः।।१६।।

अर्थः—

विट — अच्छा तो ऐसा हो। इसे उलाहना दिया जाय।

वसन्तसेना— श्रीमान् जी! स्त्री स्वभाव के कारण हठी इस को उलाहना देने से क्या लाभ? आप देखें—

अन्वयः— मेघाः, वर्षन्तु, गर्जन्तु, वा, अशनिम्, एव, मुञ्चन्तुः (परन्तु), रमणाभिमुखाः, स्त्रियः, शीतोष्णं, न, गणयन्ति।।१६।।

शब्दार्थः— मेघाः = बादल, वर्षन्तु = बरसें, गर्जन्तु = गरजें, वा = अथवा, अशनिम् = वज्रको, एव = ही, मुञ्चन्तु = छोड़ें (परन्तु = किन्तु), रमणाभिमुखाः = रमण करने के लिये जाती हुई, स्त्रियाः = स्त्रियाँ, शीतोष्णं = ठण्डक–गर्मी को, न = नहीं, गणयन्ति = गिनती हैं।।

अर्थः— बादल बरसें, गरजें अथवा वज्र ही गिरा दें। (परन्तु) प्रेमी के साथ रमण करने के लिये जाती हुई स्त्रियाँ ठण्डक–गर्मी की परवाह नहीं करती हैं।।१६।।

टीका— मेघाः = जलदाः; वर्षन्तु = सलिलं क्षरन्तु गर्जन्तु = नंदन्तु; वा = अथवा; अशनिं = वज्रम् एव; मुञ्चन्तु = पातयन्तु; किन्तु, रमणाय = रत्यर्थम् अभिमुखाः = गन्तुं तत्पराः; स्त्रियः = कामिन्यः; शीतोष्णं = शीतम् आतपं च न गणयन्ति = न किंचित्करं मन्यन्ते।।१६।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार एवं अनुष्टप् छन्द है।।१६।।

विटः— वसन्तसेने! पश्य पश्य, अयमपरः

पवनचपलवेगः स्थूलधाराशरौघः
स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः।
हरति करसमूहं खे शशांकस्य मेघो
नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः।।१७।।

अन्वयः— पवनचपलवेगः, स्थूलधाराशरौघः, स्तनितपटहनादः, स्पष्टविद्युत्पताकः, मेघः, मन्दवीर्यस्य, शत्रोः, पुरमध्ये, नृप इव, खे, शशांकस्य, करसमूहं, हरति।।१७।।

शब्दार्थः— पवनचपलवेगः = हवा के द्वारा चञ्चल वेग वाला (नृप के पक्ष में हवा की भाँति चञ्चल गति वाला), स्थूलधाराशरौघः = मोटी धारायें ही जिसके बाण के समूह हैं, (नृप के पक्ष में मोटी धाराओं जैसा बाण–समूह वाला), स्तनितपटहनादः = जिसका गरजना ही नगाड़े की आवाज है। (नृपके पक्ष में–बादलों की गड़गड़ाहट के तुल्य लड़ाई के नगाड़े की आवाज वाला), स्पष्टविद्युत्पताकः = स्पष्ट बिजली ही जिसकी पताका है, (नृप के पक्ष में चमकती हुई बिजली की भाँति पताका वाला); मेघः = बादल; मन्दवीर्यस्य = मन्दपराक्रम वाले, शत्रोः = शत्रु के, पुरमध्ये = नगर के बीच में, नृप इव = राजा की भाँति; खे = आकाश में, शशांकस्य = चन्द्रमा के, करसमूहं = किरणों के समूह को, हरति = छीन ले रहा है।।१७।।

अर्थः— विट — वसन्तसेना! देखो, देखो! यह दूसरा—

(बादल और विजयी राजा का एक साथ वर्णन)

(पानी की) मोटी धाराएँ ही जिसके बाण के समूह हैं, जिसका गरजना ही नगाड़े की आवाज है, स्पष्ट बिजली जिसकी पताका है, ऐसा मेघ आकाश में चन्द्रमा की किरणों को उसी प्रकार से छीन ले रहा है अर्थात् छिपा दे रहा है जैसे हवा की भाँति चंचल गति वाला, मोटी मोटी धाराओं जैसा बाण–समूह वाला, बादलों की गड़गड़ाहट के तुल्य लड़ाई के नगाड़े की आवाज वाला, चमकती हुई बिजली की भाँति पताका वाला विजयी राजा मन्द पराक्रम वाले शत्रु (राजा) के कर (टैक्स) को छीन लेता है। (हरण कर लेता है)।।१७।।

टीका— पवनेन = वायुना चपलः = चंचलः वेगः = गतिप्रवाहः यस्य सः; अन्यत्रपवनः इव चपलः = अप्रतिहततीव्रः वेगः यस्य तादृशः स्थूलाः = पुष्टाः धाराः = जलधाराः एव शरौघः = बाणसमूहः यस्य सः; अन्यत्र स्थूलाः धाराः इव शरौघः यस्य तादृशः स्तनितं = गर्जितम् एव पटहस्य = ढक्कायाः नादः = ध्वनिः यस्य सः; अन्यत्रस्तनितमिव पटहस्य नादः यस्य तादृशः स्पष्टा = सुव्यक्ता विद्युत् = चपला एव पताका = ध्वजः यस्य सः; अन्यत्र स्पष्टा विद्युत् इव पताका यस्य तादृशः मेघः = जलदः मन्दं = क्षीणं वीर्यं = पराक्रमः यस्य तस्य, क्षीणशक्तेः इत्यर्थः; शत्रोः = रिपोः; पुरमध्ये = राजधानीमध्ये, नृपः = विजयी

राजा इव; खे = आकाशे; शशांकस्य = चन्द्रस्य; करसमूहं = किरणजालम्, अन्यत्र–राजग्राह्यं धनम्; हरति = अपहरति, आच्छादयति इत्यर्थः; अन्यत्र–बलाद् गृह्णाति।।१७।।

इस श्लोक में श्लेष एवं रूपक से पुष्ट होकर उपमा अलंकार तथा मालिनी छन्द है। छन्द का लक्षण– 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।।१७।।

वसन्तसेना– एव्वं ण्णेदं। ता कधं एसो अवरो?। (एवं न्विदम् तत्कथमेषोऽपरः?)

एतैरेव यदा गजेन्द्रमलिनैराध्मातलम्बोदरै-
र्गर्जद्भिः सतडिद्बलाकशबलैर्मेघैः सशल्यं मनः।
तत्किं प्रोषितभर्तृवध्यपटहो हा हा हताशो बकः
प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति शठधोः क्षारं क्षते प्रक्षिपन्।।१८।।

अन्वयः– यदा, गजेन्द्रमलिनैः, आध्मातलम्बोदरैः, सतडिद्बलाकशबलैः, गर्जद्भिः, एतैः, मेघैः, एव, मनः, सशल्यं; भवति, हा, हा, तत्, प्रोषितभर्तृवध्यपटहः, हताशः, शठधीः, बकः, क्षते, क्षारं, प्रक्षिपन्, इव, किं, प्रावृट्, प्रावृट्, इति, ब्रवीति।।१६।।

शब्दार्थः– यदा = जबकि, गजेन्द्रमलिनैः = गजराजों के समान मलिन, आध्मातलम्बोदरैः = फूले हुए तथा लटकते हुए पेट वाले, सतडिद्बलाकशबलैः = बिजली एवं बगुलों की पाँत से चितकबरे, गर्जद्भिः = गरजते हुए, एतैः = इन्हीं, मेघैः = बादलों के कारण, एव = ही, मनः = मन, सशल्यं = काँटे से युक्त, (भवति = हो रहा है), हा हा = हाय हाय! तत् = तब, प्रोषितभर्तृवध्यपटहः = परदेश गये हैं पति जिनके ऐसी विरहिणियों के लिए वध के समय बजने वाला नगाड़ा रूप, हताशः = अभागा, शठधीः = धूर्त बुद्धि वाला, बकः = बगुला, क्षते = घाव पर, क्षारं = नमक को, प्रक्षिपन् = छिड़कता हुआ, इव = सा, किं = क्यों, प्रावृट् = वर्षा, प्रावट = वर्षा, इति = ऐसा, ब्रवीति = बोल रहा है।

अर्थः–

वसन्तसेना– ऐसा ही है। तो क्यों यह दूसरा–

जब कि गजराजों के समान मलिन फूले हुए तथा लटकते हुए उदर वाले, बिजली एवं बगुलों की पाँत से चितकबरे, गरजते हुए इन्हीं बादलों के ही कारण विरहिनियों का मन काँटे से चुभ रहा है। हाय हाय! तब, परदेश गये हैं पति जिनके ऐसी विरहिनियों के लिए वध के समय बजने वाले नगाड़े की भाँति अभागा धूर्त बुद्धिवाला बगुला घाव पर नमक छिड़कता हुआ सा क्यों वर्षा, वर्षा– इस प्रकार चिल्ला रहा है।।१८।।

टीका– यदा = यस्मिन् काले; गजेन्द्रमलिनैः = गजेन्द्रवत् = गजरावत् मलिनैः = श्यामवर्णैः; आध्मातानि = उच्छूनानि, जलभरितानि इत्यर्थः, अत एव लम्बानि = अद्यो लम्बमानानि उदराणि = जठराणि येषां तैः; तडिद्भिः = विद्युद्भिः बलाकाभिः = बकपंक्तिभिः सहिता सतडिद्बलाकाः अतएव शबलाः = विचित्राः तैः, गर्जद्भिः = ध्वनद्भिः; एतैः = आकाशे वर्तमानैः, मेघैः = जलदैः; एव मनः = विरहिणीनां चेतः इत्यर्थः; शल्येन = शंकुना शहितं सशल्यम् = विरहवेदनारूपशल्येन विद्धम् इत्यर्थः; भवतीति शेषः; हाहेतिखेदबोधकमव्ययम्; तत् = तस्मात् कारणात् तदा वा; प्रोषिताः, = विदेशं गताः भर्तारः = पतयः यासां ताः, वियोगिन्यः इत्यर्थः तासां (कृते) वध्यपटहः = वधकाले वाद्यमानः दुन्दुभिः, हता = विनष्टा आशा यस्य सः हताशः = आशाविहीनः भाग्यरहितः इति भावः; शठा = वञ्चनशीला धीः = बुद्धिः यस्य सः, बकः० क्षते = व्रणे, क्षारं = लवणं, प्रक्षिपन् = योजयन्, इव किं = कस्मात्, प्रावृट् प्रावृट् = वर्षा वर्षा, इति ब्रवीति = उच्चैः वदति।।१८।।

यहाँ 'गजेन्द्रमलिनैः' में उपमा, 'वध्यपटहः' में रूपक एवं 'क्षारं क्षते प्रक्षिपन्' में निदर्शना अलंकार है। इस प्रकार इस श्लोक में इन सब अलंकारों की संसृष्टि है। प्रयुक्त छन्द का नाम है–शार्दूलविक्रीडित।।१८।।

विटः– वसन्तसेने! एवमेतत्। इदमपरं पश्य

बलाकापाण्डुरोष्णीषं विद्युदुत्क्षिप्तचामरम्।
मत्तवारणसारूप्यं कर्तुकाममिवाम्बरम्।।१९।।

अन्वयः– बलाकापाण्डुरोष्णीषं, विद्युदुत्क्षिप्तचामरम्, अम्बरम्, मत्तवारणसारूप्यं, कर्तुकामम्, इव, (प्रतिभाति)।।१९।।

शब्दार्थः– बलाकापाण्डुरोष्णीषं = बगुलियाँ अथवा बकपंक्तियाँ ही' जिसकी सफेद 'पगड़ी हैं (वारण = हाथी के पक्ष में–बगुलियों के समान जिसकी सफेद पगड़ी है), विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् = बिजली ही जिस का डुलाया जाता हुआ चामर है ऐसा (वारण के पक्ष में–बिजली के समान चामर जिस पर डुलाया जा रहा है), अम्बरम् = आकाश, मत्तवारणसारूप्यं = मतवाले हाथी की समानता को, कर्तुकामम् = करने की इच्छावाला, इव = सा, (प्रतिभाति = मालूम पड़ता है)।

अर्थः—

विट — वसन्तसेना! यह ऐसा ही है। इस दूसरे (दृश्य) को देखो—

बगुलियाँ ही जिसकी सफेद पगड़ी हैं, बिजली ही जिसका डुलाया जाता हुआ चामर है, ऐसा यह आकाश, बगुलेया के समान जिसकी सफेद पगड़ी है, बिजली के समान चामर जिस पर डुलाया जा रहा है, ऐसे मत्त हाथी की मानों समानता करना चाहता है।।१६।।

टीका— बलाका = बकपंक्तिः एव पाण्डुरम् = शुभ्रम् उष्णीषम् = शिरोवस्त्रं यस्य तत्; पक्षान्तरे—बलाकावत् पाण्डुरम् उष्णीषं यस्य तथा; विद्युत् = तडित् एव उत्क्षिप्तम् = ऊर्ध्वं चालितं चामरं = प्रकीर्णकं यस्य तथा भूतम् पक्षान्तरे—विद्युत् इव उत्क्षिप्तं चामरं यस्य तथा; अम्बरम् = आकाशं, मत्तवारणस्य = मत्तहस्तिनः सारूप्यं = सादृश्यं; कर्तुकामम् = कर्तुमिच्छुकमिव, प्रतिभातीति शेषः।।१६।।

पहले और दूसरे चरण में रूपक, तीसरे चरण में उपका और चौथे चरण में उत्प्रेक्षा अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—अनुष्टुप्।।१६।।

वसन्तसेना— भाव! पेक्ख पेक्ख। (भाव! पश्य पश्य।)

एतैरार्द्रतमालपत्रमलिनैरापीतसूर्यं नभो
वल्मीकाः शरताडिता इव गजाः सीदन्ति धाराहताः।
विद्युत्काञ्चनदीपिकेव रचिता प्रासादसंचारिणी
ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हृता।।२०।।

अन्वयः— आर्द्रतमालपत्रमलिनैः, एतैः, (मेघैः), नभः, आपीतसूर्यं, (जातम्) धाराहताः, वल्मीकाः, शरताडिताः, गजाः, इव, सीदन्ति विद्युत्, प्रासादसचांरिणी, कांचनदीपिका, इव, रचिता; दुर्बलभर्तृका, वनिता, इव, ज्योत्स्ना, मेघैः, प्रोत्सार्य, हृता।।२०।।

शब्दार्थः—आर्द्रतमालपत्रमलिनैः = गीले तमाल के पत्तों के समान मलिन, एतैः = इन, (मेघैः = मेघों के द्वारा), नभः = आकाश, आपीतसूर्यं = ढक लिया गया है सूर्य जिसमें ऐसा, (जातम् = हो गया है), धाराहताः = धाराओं से आहत, वल्मीकाः = दीमकों के घर; शरताडिताः = बाण से मारे गये, गजाः इव = हाथियों की भाँति, सीदन्ति = नष्ट हो रहे हैं, विद्युत् = बिजली, प्रासादसंचारिणी = महलों पर घूमने वाली, कांचनदीपिका = सोने का दीपक, इव = जैसी, रचिता = बना ली गयी है। दुर्बलभर्तृका = कमजोर पति वाली, वनिता = स्त्री (की), इव = भाँति, ज्योत्स्ना = चाँदनी, मेघैः = बादलों के द्वारा, प्रोत्सार्य = जबरदस्ती छीनकर, हृता = हरली गयी है।।

अर्थः—

श्रीमान् जी! देखिये, देखिये—

गीले तमाल के पत्तों के समान नीले रंग के इन बादलों के द्वारा आसमान में सूर्य ढक दिया गया है, धाराओं से आहत वल्मीक (दीमकों के घर), बाण से मारे गये हाथियों के समान, नष्ट हो रहे हैं, बिजली महलों पर घूमने वाली सोने के दीपक जैसी बना ली गयी है, कमजोर है पति जिसका ऐसी स्त्री के समान चाँदनी का मेघों ने बलपूर्वक हरण कर लिया है।।२०।।

टीका— आर्द्राणि = जलसिक्तानि यानि तमालस्य = तमालवृक्षस्य पत्राणि = पर्णानि तद्वत् मलिनाः = श्यामवर्णाः हैं, एतैः = दृश्यमानैः मेघैः इति शेषः; नभः = आकाशम्; आपीतः = आच्छादितः सूर्यः = दिनकरः, धाराभिः = जलधाराभिः हताः = ताडिताः; वल्मीकाः = वामलूराः। शरैः = बाणैः ताडिताः = कृतप्रहाराः; गजाः = हस्तिनः इव; सीदन्ति = विषादं व्रजन्ति, नश्यन्ति इति भावः; विद्युत् = तडित्; प्रासादसंचारिणी = हर्म्यतले विहरणशीला; कांचनदीपिका = स्वर्णनिर्मितप्रदीपिका इव, रचिता = कल्पिता। दुर्बलः = बलहीनः भर्ता = पतिः यस्याः तादृशी; वनिता = स्त्री इव, ज्योत्स्ना = चन्द्रिका, मेघैः = जलदैः, प्रोत्सार्य = हठादुत्थाप्य, हृता = अपहृता।।२०।।

यहाँ पर उपमा अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित।।२०।।

विटः— वसन्तसेने! पश्य पश्य

एते हि विद्युद्गुणबद्धकक्षा गजा इवान्योन्यमभिद्रवन्तः।
शक्राज्ञया वारिधराः सधारा गां रूप्यरज्ज्वेव समुद्धरन्ति।।२१।।

अन्वयः— विद्युद्गुणबद्धकक्षाः, अन्योन्यम्, अभिद्रवन्तः, गजाः, इव, सधाराः, एते, वारिधराः, शक्राज्ञया, गां, रूप्यरज्ज्वा, इव, समुद्धरन्ति,।।२१।।

शब्दार्थः— विद्युद्गुणबद्धकक्षाः = बिजली रूपी रस्सी से बँधी हुई कमर वाले (हाथी के पक्ष में—बिजली की भाँति रस्सी से कसी हुई कमर वाले), अन्योन्यम् = एक दूसरे को, अभिद्रवन्तः = धक्का देते हुए, गजाः = हाथियों (के), इव = समान, सधाराः = धाराओं वाले, एते = ये, वारिधराः = बादल, शक्राज्ञया = इन्द्र की आज्ञा से, गां = पृथिवी को, रूप्यरज्ज्वा = चाँदी की रस्सी से, इव = मानो, समुद्धरन्ति = ऊपर उठा रहे हैं।

अर्थः—

विट— *वसन्तसेना! देखो, देखो—*

बिजली रूपी रस्सी से बँधी हुई कमर वाले, आपस में एक दूसरे को धक्का देते हुए हाथियों के समान, पानी की धाराओं वाले ये बादल इन्द्र की आज्ञा से जमीन को मानो पानी की धार रूपी चाँदी की रस्सियों के द्वारा ऊपर उठा रहे हैं।।२१।।

टीका— विद्युत् = तडित् एव गुणः = रज्जुः तेन बद्धा = संयमिता कक्षा = मध्यभागः येषां ते, गजपक्षे—विद्युद् इव गुणः तेन बद्धा = आबद्धा कक्षा = उदरभागः येषां ते; अन्योन्यं = परस्परम्; अभिद्रवन्तः = अभिगच्छन्तः; गजाः = करिणः इव; धाराभिः सहिताः सधाराः = जलधारायुक्ताः; एते = परिदृश्यमानाः; वारिधराः = जलधराः; शक्रस्यः = इन्द्रस्य आज्ञया = आदेशेन, गां = पृथ्वीं, रूप्यरज्ज्वा = रजतनिर्मित—रज्ज्वा इव, समुद्धरन्ति = ऊर्ध्वं कर्षन्ति।।२१।।

इस श्लोक में उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकार तथा उपजाति छन्द है।।२१।।

अपि च, पश्य

महावाताध्मातैर्महिषकुलनीलैर्जलधरै-
श्चलैर्विद्युत्पक्षैर्जलधिभिरिवान्तः प्रचलितैः।
इयं गन्धोद्दामा नवहरितशष्पाङ्कुरवती
धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव।।२२।।

अन्वयः— महावाताध्मातैः, महिषकुलनीलैः, विद्युत्पक्षैः, अन्तःप्रचलितैः, जलधिभिः, इव, चलैः, जलधरैः, नवहरितशष्पांकुरवती, गन्धोद्दामा, इयं, धरा, धारापातैः, मणिमयशरैः, भिद्यते, इव।।२२।।

शब्दार्थः— महावाताध्मातैः = प्रबल हवा से भरे हुए, महिषकुलनीलैः = भैसों के झुण्ड की भाँति नीले, विद्युत्पक्षैः = बिजलीरूपी पंखवाले, अन्तःप्रचलितैः = आकाश में हिलने वाले, जलधिभिः इव = सागरों के समान, चलैः = चञ्चल, जलधरैः = बादलों के द्वारा, नवहरितशष्पांकुरवती = नयी हरी घासों के अंगुरवाली, गन्धोद्दामा = तेज महकवाली, इयं = यह, धरा = पृथिवी, धारापातैः = धारापात (रूपी), मणिमयशरैः = मणिमय बाणों से, भिद्यते इव = भेदी सी जा रही है।।

और भी देखो—

अर्थः— प्रबल हवा से भरे हुए, भैंसों के झुण्ड की भाँति नीले, बिजली रूपी पंख वाले, आकाश में हिलने वाले सागरों की भाँति, इधर-उधर दौड़ने वाले, जल से भरे हुए बादलों के द्वारा, नयी हरी घासों के अंकुरवाली तथा तेज महक वाली यह पृथ्वी धारापातरूपी मणिमय बाणों से भेदी सी जा रही है।।२२।।

टीका— महावातेन = प्रबलवायुना आध्मातैः = पूरितैः; महिषानां = कासराणां कुलानि = समूहाः इव नीलाः = श्यामाः तैः; विद्युत् = तडित् एव पक्षाः = पत्राणि येषां तैः अथवा विद्युद् एव पक्षाः तैः (करणभूतैः); अतः अन्तः = अन्तरिक्षे, प्रचलितैः = प्रसरद्भिः; जलधिभिः = सागरैः इव; चलैः = चञ्चलैः; इतस्ततः = धावनपरैः इत्यर्थः, जलधरैः = मेघैः नवानां = नूतनानाम् अचिरोद्गतानाम् इत्यर्थः हरितानां = पालाशानां शष्पाणां = बालतृणानां ये अंकुराः = अभिनवोद्भिदः तद्वती = शष्पप्ररोहशालिनी इत्यर्थः, गन्धेन = प्रथमवृष्टिजनितमृत्तिकागन्धेन उद्दामा = उत्कटा, इयं = दृश्यमाना, धरा = पृथिवी, धारापातैः = जलधारापातैः, एव मणिमयशरैः = रत्ननिर्मितबाणैः, भिद्यते = विध्यते इव।।२२।।

इस श्लोक में उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलंकार तथा शिखरिणी छन्द है।

वसन्तसेना— भाव! एसो अवरो!। (भाव! एषोऽपरः।)

एह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः
प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमालिंगितः
हंसैरुज्झितपंकजैरतितरां सोद्वेगमुद्वीक्षितः
कुर्वन्नञ्जनमेचका इव दिशो मेघः समुत्तिष्ठति।।२३।।

अन्वयः— शिखण्डिनां, केकाभिः, एहि एहि, एति, पटुतरम्, आक्रन्दितः, बलाकया, सरभसं, प्रोड्डीय, सोत्कण्ठम्, आलिंगित [illegible] उज्झितपंकजैः, हंसैः, अतितरां, सोद्वेगम्, उद्वीक्षितः, मेघः, दिशः, अञ्जनमेचकाः, कुर्वन्, इव, समुत्तिष्ठति।।२३ ।

शब्दार्थः— शिखण्डिनां = मोरों की, केकाभिः = पिंहक के द्वारा, एहि एहि = आओ–आओ, इति = इस प्रकार, पटुतरम = [illegible] भा [illegible], आक्रन्दितः = बुलाया गया, बलाकया = बगुलों की पाँतों के द्वारा, सरभसं = वेगपूर्वक, प्रोड्डीय = उडकर, सोत्कण्ठ [illegible] = उत्कण्ठा के साथ, आलिंगितः = आलिंगन किया गया, इव = सा, उज्झितपंकजैः = कमलों को छोड़ने वाले ह [illegible] = हंसों के द्वारा, अतितरां = अत्यन्त, सोद्वेगम् = घबड़ाहटपूर्वक, उद्वीक्षितः = देखा गया, मेघः = बादल, दिश [illegible] = दिशा [illegible] को, अंजनमेचकाः = काजल से काली, कुर्वन् = करता हुआ, इव = सा, समुत्तिष्ठति = उमड रहा है।।

अर्थः—

वसन्तसेना—भाव! यह दूसरा–

मोरों की केका ध्वनि के द्वारा 'आओ, आओ' इस प्रकार भलीभाँति बुलाया गया, बगुलों की पाँतों के द्वारा वेग पूर्वक उडक [illegible] उत्कण्ठा के साथ मानो आलिंगन किया गया तथा कमलों को छोड़ने वाले हंसों के द्वारा अत्यन्त घबराहट के साथ देखा गया बादल दिशाओं को काजल के समान काली करता हुआ उमड़ रहा है।।२३।।

टीका— शिखण्डिनां = मयूराणां, केकाभिः = वचनैः, एहि एहि = आगच्छ आगच्छ, इति = इत्थम्, पटुतरम् = उच्चैर [illegible] म्, आक्रन्दि- = आहूतः, आदरेऽत्र वीप्सा। बलाकया = बकपंक्त्या, सरभसं = सवेगं, प्रोड्डीय = उत्पत्य, सोत्कण्ठ = [illegible] त्कण्ठापूर्वक [illegible] अथवा साभिलाषम्, आलिंगितः = कृतालिंगनः इव। उज्झितानि = परित्यक्तानि पंकजानि = कमलानि यैः तादृशैः, ह [illegible] = मरालैः, वर्षाकाले हंसाः कमलवनं जलाशयं वा परित्यज्य मानसं सरः गच्छन्ति इति प्रसिद्धिः, अतितराम = अत्यधिक सोद्वेगं = सोत्कण्ठं यथा तथा, उद्वीक्षितः = अवलोकितः, मेघः = जलदः, दिशः = काष्ठाः, अञ्जनेन = कज्जलेन मेचक [illegible] = मलिनाः, कुर्वन् इव समुत्तिष्ठति = समुज्जृम्भते।।२३।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।२३।।

विटः— एवमेतत्; तथा हि पश्य

निष्पन्दीकृतपद्मषण्डनयनं नष्टक्षपावासरं
विद्युद्भिः क्षणनष्टदृष्टतिमिरं प्रच्छादिताशामुखम्।
निश्चेष्टं स्वपितीव संप्रति पयोधारागृहान्तर्गतं
स्फीताम्भोधरधामनैकजलद्च्छत्रापिधानं जगत्।।२४।।

अन्वयः— निष्पन्दीकृतपद्मषण्डनयनं, नष्टक्षपावासरं, विद्युद्भिः, क्षणनष्टदृष्टतिमिरं, प्रच्छादिताशामुखं, स्फीताम्भोधरधामनैकजलद च्छत्रापि [illegible] धानं, पयोधारागृहान्तर्गतं, जगत्, सम्प्रति, निश्चेष्टं, स्वपिति, इव।।२४।।

शब्दार्थः— निष्पन्दीकृतपद्मषण्डनयनं = कमलों के समूह रूपी नेत्रों को बन्द करने वाला, नष्टक्षपावासरं = जिसके रात–दिन खत- हो गये हैं, ऐसा, विद्युद्भिः = बिजलियों से; क्षणनष्टदृष्टतिमिरं = क्षण भर में खतम हो जाता है और फिर दिखलाई पड़ने लगता है अन्धकार जिसमें ऐसा, प्रच्छादिताशामुखं = ढँका है दिशारूपी मुँह जिसका ऐस स्फीताम्भोधरधामनैक– जलदच्छत्रापिधानं = बढ़े हुए बादलों के निवासस्थान आकाश में बहुत से बादल ही जिसके ढक- वाले छाता हैं ऐसा, पयोधारागृहान्तर्गतं = जलधारारूपी घर में स्थित, जगत् = संसार, सम्प्रति = इस समय निश्चेष्ट = निश्चलतापूर्वक, स्वपिति इव = सो सा रहा है।।

अर्थः—

विट— तुम्हारा कहना ठीक है। और देखो–

जिसने कमलों के समूह रूपी नेत्रों को बन्द कर लिया है, जिसके रात–दिन समाप्त हो गये हैं अर्थात् जिसके रात-दिन का पता नहीं चल रहा है। जिसमें बिजली की चमक से क्षण में अन्धकार समाप्त हो जाता है और पुनः दिखलाई पड़ने लगता है, जिसका दिशा रूपी मुँह ढक गया है, बढ़े हुए बादलों के निवास स्थान आकाश में बहुत से बादल ही जिसके ढँकने वाले छाता हैं, ऐसा संसार इस समय जलधारा रूपी घर के भीतर मानो निश्चल होकर सो रहा है।।२४।।

टीका— निष्पन्दीकृतानि = निश्चलीकृतानि, मुकुलितानीत्यर्थः पद्मषण्डानि = कमलसमूहाः एव नयनानि = नेत्राणि येन तत् निमीलितकमलनेत्रमिति भावः; नष्टौ = अदर्शनं गतौ, मेघैरावृतत्वात् परिचेतुमशक्यौ इत्यर्थः; क्षपावासरौ = निशादिवसौ यस्मिन् तत्; विद्युद्भिः = चंचलाभिः; क्षणं = किंचित्कालं नष्टम् = अदर्शनं प्राप्तं पश्चात् दृष्टम् = अवलोकित तिमिरम =

अन्धकारः यत्र तथाभूतं; प्रच्छादितानि = आच्छादितानि मेघसमूहैः इति शेषः, आशाः = दिशः एव मुखानि यस्य तत्; स्फीतानां = वृद्धिंगतानाम्, बहूनामित्यर्थः अम्भोधराणां = जलधराणां धामनि = स्थाने, आकाशे इत्यर्थः, ये नैकजलदाः = भूरिमेघाः एव छत्राणि = आतपत्राणि तैः अपिधानम् आच्छानं यस्य तत्; पयसां = जलानां धाराः = प्रवाहाः एव गृहाणि = भवनानि तेषाम् अन्तर्गतम् = मध्यस्थितं; जगत् = भुवनं; सम्प्रति = अधुना, निश्चेष्टं = निश्चलं, स्वपिति इव = शयनं करोति इवेत्युप्रेक्षा।।२४।।

'पद्मषण्ड' में नेत्रत्व का, जलद में छत्रत्व का आरोप करने से रूपक और 'जगत् स्वपिति इव' मे उत्प्रेक्षा अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–शार्दूलविक्रीडित।।२४।।

वसन्तसेना– *भाव एव्वं ण्णेदं। ता पेक्ख पेक्ख। (भाव! एवं न्विदम्; तत्पश्य पश्य।)*

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम्।।२५।।

अन्वयः– असाधौ, जने, उपकृतम्, इव, ताराः, नाशं, गताः; कान्तेन, वियुक्ताः, स्त्रियः, इव, ककुभः, न, राजन्ति; त्रिदशपतिशस्त्रस्य, शिखिना, प्रकामम्, अन्तस्तप्तम्, (अत एव), द्रवीभूतं, गगनं, जलरूपेण, पतति, (इति, अहम्), मन्ये।।२५।।

शब्दार्थः– असाधौ = दुष्ट, जने = आदमी पर, उपकृतम् = उपकार (की), इव = तरह, ताराः = तारे, नाशं = नाश को, गताः = प्राप्त हो गए, कान्तेन = प्रेमी के द्वारा, वियुक्ताः = वियुक्त, छोड़ी गयी, स्त्रियः = स्त्रियों, इव = जैसी, ककुभः = दिशायें, न = नहीं, राजन्ति = शोभित हो रही है। त्रिदशपतिशस्त्रस्य = देवताओं के स्वामी (इन्द्र) के शस्त्र–वज्र की, शिखिना = आग से, प्रकामम् = अत्यन्त, अन्तस्तप्तं = भीतर तपा हुआ, (अत एव = इसीलिये), द्रवीभूतं = पिघला हुआ, गगनम् = आकाश, जलरूपेण = जल के रूप से, पतति = गिर रहा है, (इति = ऐसा, अहम् = मैं) मन्ये = मानता हूँ।।

अर्थः– वसन्तसेना – भाव! ऐसा ही है। देखो–देखो तो–

दुष्ट आदमी पर किये गये उपकार की भाँति सभी तारे नाश को प्राप्त हो गए हैं प्रेमी के द्वारा वियुक्त स्त्रियों के समान, दिशाएँ शोभित नहीं हो रही हैं। देवताओं के स्वामी इन्द्र के वज्र की आग से भीतर ही अत्यन्त तपा हुआ आकाश मानो पिघलकर जल के रूप में गिर रहा है।।२५।।

टीका– असाधौ = दुष्टे; जने = व्यक्तौ, उपकृतं = विहितोपकारः इव; ताराः = नक्षत्राणि, नाशम् = अदर्शनं, गताः = प्राप्ताः। कान्तेन = प्रियेण, वियुक्ताः = 'वियोगं प्रापिताः, स्त्रियः = वनिताः इव, ककुभः = दिशः न राजन्ति = न शोभन्ते। तृतीया = यौवनाख्या दशा येषां ते त्रिदशाः = देवाः तेषां पतिः = राजा इन्द्रः इत्यर्थः तस्य शस्त्रस्य = आयुधस्य, वज्रस्येत्यर्थः, शिखिना = वह्निना, इन्द्रवज्राग्निना इत्यर्थः, अन्तः = अभ्यन्तरे तप्तं = सन्तप्तम् उष्णतां प्राप्तमित्यर्थः, अत एव द्रवीभूतं = द्रवतां प्राप्तं, गगनम् = आकाशम्, जलरूपेण सलिलरूपेण, पतति = स्रवति, इति अहं मन्ये = सम्भावयामीत्यर्थः।।२५।।

श्लोक के पूर्वार्द्ध में उपमा और उत्तरार्द्ध में उत्प्रेक्षा अलंकार है। इस श्लोक के छन्द का नाम है–शिखरिणी।।२५।।

अपि च, पश्य–

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम्।
प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि।।२६।।

अन्वयः– प्रथमश्रीः, पुरुषः, इव, मेघः, अनेकानि, रूपाणि, करोति, (सः, कदाचित्) उन्नमति, नमति, वर्षति, गर्जति, तिमिरौघं, करोति।।२६।।

शब्दार्थः– प्रथमश्रीः = पहले पहल धन पाये हुए, पुरुषः = पुरुष (के), इव = समान, मेघः = बादल, अनेकानि = बहुत से, रूपाणि = रूपों को, करोति = कर रहा है। (सः = वह मेघ, कदाचित् = कभी) उन्नमति = उमड़ रहा है, नमति = झुक रहा है, वर्षति = बरस रहा है, गर्जति = गरज रहा है, तिमिरौघं = अन्धकार के समूह को, करोति = कर रहा है।

और भी देखो–

अर्थः– पहले पहल धन पाये हुए पुरुष के समान बादल बहुत से रूपों को (धारण) कर रहा है। (कभी तो वह) उमड़ रहा है, (कभी) झुक रहा है, (कभी) बरस रहा है, गरज रहा है तथा (कभी) अँधेरा कर रहा है।।२६।।

टीका— प्रथमा = अचिरागता श्रीः = सम्पत्तिः यस्य तादृशः, पुरुषः = जनः इव, मेघः = पयोदः, अनेकानि = विविधानि, रूपाणि = आकृतीः, करोति = विदधाति। सः = मेघः, कदाचित् उन्नमति = उत्तिष्ठति, कदाचित् नमति = अधः आगच्छति, कदाचित् वर्षति = जलं मुञ्चति, कदाचित् गर्जति = गर्जनं करोति, कदाचित् तिमिरौघम् = अन्धकारसमूहं, करोति = विस्तारयतीत्यर्थः। प्रथमप्राप्तधनः अपि कदाचित् उन्नमति = गर्वमावहति, उर्ध्वशिरः सन् गच्छति, नमति = नम्रः भवति, वर्षति = पर्याप्तधन ददाति, गर्जति = क्रोधेन उच्चैः वदति, तिमिरौघं = पाप समूहं, करोति।।२६।।

एक ही मेघका उमड़ना आदि अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध होने के कारण श्लोक में पूर्वार्द्ध में दीपक अलकार और उत्तरार्द्ध में उपमा अलंकार है। इस प्रकार इस श्लोक में दीपक एवं उपमाकी संसृष्टि अलंकार एवं आर्या छन्द है।

विटः— एवमेतत्

विद्युद्भिर्ज्वलतीव संविहसतीवोच्चैर्बलाकाशतै-
र्माहेन्द्रेण विवल्गतीव धनुषा धाराशरोद्गारिणा।
विस्पष्टाशनिनिस्वनेन रसतीवाघूर्णतीवानिलै-
र्नीलैः सान्द्रमिवाहिभिर्जलधरैर्धूपायतीवाम्बरम्।।२७।।

अन्वयः— अम्बरम्, विद्युद्भिः, ज्वलति, इव; बलाकाशतैः, उच्चैः, संविहसति, इव; धाराशरोद्गारिणा, माहेन्द्रेण, धनुषा, विवल्गति, इव, विस्पष्टाशनिनिस्वनेन, रसति, इव; अनिलैः, आघूर्णति, इव; अहिभिः, इव, नीलैः, जलधरैः, सान्द्रं, धूपायति, इव।।२७

शब्दार्थः—अम्बरम् = आकाश, विद्युद्भिः = विजलियों से, ज्वलति इव = जल सा रहा है। बलाकाशतैः = बगुलों की सैकड़ों पाँतों से, उच्चैः = जोर से, संविहसति इव = हँस सा रहा है। धाराशरोद्गारिणा = धारा रूपी बाणों को बरसाने वाले, माहेन्द्रेण = इन्द्र के, घनुषा = धनुष से, विवल्गति इव = पैतरा बदल सा रहा है। विस्पष्टाशनिनिस्वनेन = स्पष्ट, वज्र के घोष = आवाज से, रसति इव = गरज सा रहा है। अनिलैः = हवाओं के द्वारा, आघूर्णति इव = घूम सा रहा है। अहिभिः = सर्पों (की) इव = भाँति, नीलैः = नीले, जलधरैः = बादलों से, सान्द्रं = खूबघने रूप में, धूपायति इव = धूपित सा हो रहा है धूपसा दिखाया जा रहा है।।

अर्थः— विट — ऐसा ही है—

आकाश बिजलियों से मानो जल रहा है, बगुलों की सैकड़ों पाँतों से अत्यधिक हँस सा रहा है, धारा रूपी बाणों का बरसाने वाले इन्द्रधनुष से मानो पैतरा बदल रहा है; वज्र के स्पष्ट घोष से गर्जन सा कर रहा है, हवाओं के द्वारा घूम सा रहा है और नीले सर्पों की भाँति (काले) बादलों से खूब घने रूप में धूपित सा हो रहा है।।२७।।

टीका— अम्बरम् = आकाशम्, विद्युद्भिः = तडिद्भिः, ज्वलति = उद्भासते इव। बलाकाः = बकपंक्तयः तासा शतै = शतसख्यकै समूहैः इत्यर्थः, उच्चैः = तारं यथा तथा, संविहसति = सम्यक् हासं करोति इव, धाराः = जलधाराः एव शरा = बाणा तान् उद्गिरति = वर्षति इति तेन, माहेन्द्रेण = इन्द्रसम्बन्धिना, धनुषा = कोदण्डेन, विवल्गति इव = प्लुतगति करोति इव। विस्पष्टः = सुव्यक्तः यः अशनेः = वज्रस्य स्वनः = ध्वनिः तेन, विद्युन्निर्घोषेणेत्यर्थः, रसति उच्चैः शब्दं करोति इव। अनिलैः = वायुभिः, आघूर्णति = भ्रमति इव, अहिभिः = सर्पैः इव, नीलैः = श्यामैः, जलधरैः = पयोदैः, सान्द्रम् = अत्यर्थं यथा तथा, धूपायति = धूपितं भवति इव।।२७।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार है। 'अहिभिः इव जलधरैः' में उपमा है। इस में प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित।।२७।।

वसन्तसेना—

जलधर! निर्लज्जस्त्वं यन्मां दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम्।
स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि।।२८।।

अन्वयः— हे जलधर! त्वं, निर्लज्जः, (असि) यत्, दयितस्य, वेश्म, गच्छन्तीं, मां, स्तनितेन, भीषयित्वा, धाराहस्तैः, परामृशसि।।२८।।

शब्दार्थः—हे जलधर! = हे जल से भरे–पूरे बादल! त्वं = तुम, निर्लज्जः = निर्लज्ज, (असि = हो), यत् = जो कि, दयितस्य = प्रेमी के, वेश्म = घर को, गच्छन्तीं = जाती हुई, मां = मुझको, स्तनितेन = गर्जन से, भीषयित्वा = डरा कर, धाराहस्तै = धारा रूपी हाथों से, परामृशसि = छू रहे हो।।

अर्थः— वसन्तसेना — हे जल से भरे–पूरे बादल! तुम निर्लज्ज हो, जो कि प्रेमी के घर जाती हुई मुझको गर्जन से डराकर जल धरा रूपी हाथों से छू रहे हो।।२८।।

टीका– हे जलधर–हे पयोधर! त्वं निर्लज्जः = त्रपाविहीनः, लज्जाशून्यः इति यावत् असीति शेषः, यत् = यस्मात्, दयितस्य = प्रियस्य, वेश्म = भवनं, गच्छन्तीं मां; स्तनितेन = गर्जितेन, भीषयित्वा = त्रासयित्वा, धाराः = जलधाराः एव हस्ताः = कराः तैः, परामृशसि = स्पृशसि।।२८।।

इस श्लोक में समासोक्ति अलंकार तथा आर्या छन्द है।।२८।।

भोः शक्र!

किं ते ह्यहं पूर्वरतिप्रसक्ता यत्त्वं नदस्यम्बुदसिंहनादैः?।
न युक्तमेतत्प्रियकाङ्क्षिताया मार्गं निरोद्धं मम वर्षपातैः।।२९।।

अन्वयः– भो शक्र! अहं, किं, ते, पूर्वरतिप्रसक्ता, (आसम्)? यत्, त्वम्, अम्बुदसिंहनादैः, नदसि; प्रियकांक्षितायाः, मम, मार्गं, वर्षपातैः, निरोद्धुम्, एतत्, न, युक्तम्।।२९।।

शब्दार्थः– भो शक्र! = हे इन्द्र! अहं = मैं, किं = क्या, ते = तुम्हारे, पूर्वरति = प्रसक्ता = पहले प्रेम में आसक्त, (आसम् = थी)! यत् = जिससे, त्वम् = तुम, अम्बुदसिंहनादैः = बादलों के हिंनादों से, नदसि = गरज रहो हो? प्रियकाङ्क्षितायाः = प्रेमी को चाहने वाली, मम = मेरे, मार्गं रास्ता को, वर्षपातैः = वर्षा करके, निरोद्धम् = रोकना, एतत् = यह, न युक्तम् = ठीक नहीं है।।

अर्थः– हे इन्द्र! मैं क्या कभी पहले तुम्हारे प्रेम में आसक्त थी, जो तुम बादलों के सिंहनादों से गरज रहे हो? प्रेमी को चाहने वाली मेरा, वर्षा करके रास्ता रोकना यह ठीक नहीं है।।२९।।

टीका– भो शक्र! = हे इन्द्र! अहं = वसन्तसेना, किं ते = तव; पूर्वं = पुरा, रतौ = प्रेम्णि सम्भोगे वा प्रसक्ता = आसक्ता, आसमिति शेषः। यत् = यस्मात् कारणात्, त्वम् अम्बुदानां = जलदानां = सिंहनादैः सिंहवद्गर्जनैः क्रोधाभिव्यञ्जकैः शब्दैः इति भावः; नदसि = गर्जसि, तथा प्रियः = प्रेमास्पदः चारुदत्तः इत्यर्थः काङ्क्षितः = वाञ्छितः, सम्भोक्तुमिति शेषः, यया यस्याः वा तस्याः, मम = अभिसरणशीलायाः वसन्तसेनायाः; वर्षपातैः = धारासम्पातैः, निरोद्धुम् = अवरोद्धुं निवारयितुमित्यर्थः, एतत् न युक्तम् = न समीचीनम्।।२९।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। यहाँ प्रयुक्त छन्द का नाम है–उपजाति।।२९।।

अपि च,–

यद्वदहल्याहेतोर्मृषा वदसि शक्र! गौतमोऽस्मीति।
तद्वन्ममापि दुःखं निरपेक्ष! निवार्यतां जलदः।।३०।।

अन्वयः– हे शक्र! यद्वत्, अहल्याहेतोः, गौतमः, अस्मि, इति, (त्वम्) मृषा, वदसि, हे निरपेक्ष! तद्वत्, मम, अपि, दुःखं (जानीहि, अतः), जलदः, निवार्यताम्।।३०।।

शब्दार्थः– हे शक्र = हे इन्द्र! यद्वत् = जिस प्रकार, अहल्याहेतोः = अहल्या के लिये, गौतमः = गौतम (अहल्या के पति का नाम), अस्मि = हूँ, इति = ऐसा, (त्वम् = तुम), मृषा = असत्य, वदसि = कहते हो, हे निरपेक्ष! = हे पराई पीडा को न जानने वाले! तद्वत् = उसी प्रकार, मम = मेरे, अपि = भी, दुःखं = दुःख को, (जानीहि = जानो, अतः = इसलिये) जलदः = बादल, निवार्यताम् = रोका जाय।।

और भी–

अर्थः– हे इन्द्र – जिस प्रकार अहल्या के लिये 'मैं गौतम हूँ' यह तुमने झूठ कहा था। हे पराई पीडा को न जानने वाले! उसी प्रकार मेरा भी दुःख जानो और बादलों को रोक लो।।३०।।

टीका– हे शक्र = हे इन्द्र! यद्वत् = यथा, अहल्या = गौतमपत्नी तस्याः हेतोः = कारणात्, तया सह रन्तुमितिभावः, 'गौतमः अस्मि' इति = इत्थं त्वम्, मृषा = असत्यं, वदसि = कथयसि, हे निरपेक्ष = हे परपीडानभिज्ञ! तद्वत् = तेनैव प्रकारेण, ममापि = कामपीडितायाः मम वसन्तसेनायाः अपीत्यर्थः, दुःखं = पीडां जानीहि, अतः जलदः = मम प्रियभवनं गमने विघ्नकारकः पयोदः, निवार्यताम् = अपसार्यताम्।।३०।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।

अपि च,–

गर्ज वा वर्ष वा शक्र! मुञ्च वा शतशोऽशनिम्।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति।।३१।।

अन्वयः– हे शक्र! गर्ज, वा, वर्ष, वा, शतशः, अशनिं, मुञ्च, (किन्तु) दयितं, प्रति, प्रस्थिताः, स्त्रियः, रोद्धुं, न, शक्याः, हि।।३१

शब्दार्थः– हे शक्र! = हे इन्द्र! गर्ज = गरजो, वा = अथवा, वर्ष = बरसो, वा = अथवा, शतशः = सैकड़ों वार, अशनिं = वज्र को, मुञ्च = छोड़ो, (किन्तु = परन्तु) दयितं प्रति = प्रेमी के पास, प्रस्थिताः = जाती हुई, स्त्रियः = स्त्रियाँ, रोद्धुं = रोकने के न शक्याः = योग्य नहीं हैं, = अर्थात् नहीं रोकी जा सकती।।

और भी–

अर्थः– हे इन्द्र! गरजो चाहे बरसो अथवा सैकड़ों बार वज्र छोड़ो। किन्तु प्रेमी के पास जाती हुई स्त्रियाँ नहीं रोकी जा सकतीं।।३१।।

टीका– हे शक्र = हे देवराज! गर्ज = गर्जनं कुरु, वा = अथवा, वर्ष = जलवर्षणं कुरु, वा = किं वा, शतशः = अनेकशः इत्यर्थः, अशनिं = वज्रं, मुञ्च = पातय, किन्तु दयितं = प्रणयिनं प्रति, प्रस्थिताः = चलिताः, स्त्रियः = कामिन्यः, रोद्धुं = निवारयितुम्, न शक्या हि = न सम्भावाः।।३१।।

श्लोक के पूर्वार्द्ध में दीपक एवं उत्तरार्द्ध में अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है– अनुष्टुप।।३१।।

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः।
अयि! विद्युत्प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि।।३२।।

अन्वयः– यदि, वारिधरः, गर्जति, तद्, गर्जतु, नाम, (यतः), पुरुषाः, निष्ठुराः, (भवन्ति, किन्तु), अयि, विद्युत्! त्वम्, अपि, च, प्रमदानां, दुःखं, न, जानासि?।।३२।।

शब्दार्थः– यदि, वारिधरः = बादल, गर्जति = गरजता है, तत् = तो, गर्जतुनाम = भलेहीं गरजे, (यतः = क्योंकि) पुरुषाः = पुरुष, निष्ठुराः = निर्दयी, भवन्ति = होते हैं, किन्तु), अयि = हे, विद्युत् = बिजली, त्वम् = तुम, अपि = भी, प्रमदानाम = कामिनियों की, दुखं = पीडाको, न जानासि = नहीं जानती हो?।।

अर्थः– यदि बादल गरजता है तो वह भले ही गरजे, क्योंकि पुरुष निर्दयी होते हैं। किन्तु हे बिजली! तुम भी क्या कामिनियों की पीडा को नहीं जानती हो।।३२।।

टीका– यदि = चेत्, वारिधरः = जलदः, गर्जति = ध्वनति, तत् = तु, गर्जतु = नदतु, नामेति स्वीकारे, यतः पुरुषाः = पुमांसः निष्ठुराः = निर्दयाः, भवन्तीति शेषः, किन्तु अयि विद्युत्! = हे चपले! त्वमपि च = त्वं स्त्री भूत्वा अपीत्यर्थः, प्रमदानां = कामपीडितानां स्त्रीणां, दुःखं = पीडाम्, न जानासि = न वेत्सि?।।३२।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है–आर्या।।३२।।

विटः– **भवति! अलमलमुपालम्भेन। उपकारिणी तवेयम्,-**

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः
शैलस्य मूर्ध्नि निहितेव सिता पताका।
आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय-
माख्याति ते प्रियतमस्य हि सन्निवेशम्।।३३।।

अन्वयः– ऐरावतोरसि, चला, सुवर्णरज्जुः, इव, शैलस्य, मुर्ध्नि, निहिता, सिता, पताका, इव, आखण्डलस्य, भवनोदरदीपिका, इयं, ते प्रियतमस्य, सन्निवेशम्, आख्याति, हि।।३३।।

शब्दार्थः– ऐरावतोरसि = इन्द्र के हाथी ऐरावत की छाती पर, चला = चंचल, सुवर्णरज्जुः = सोने की रस्सी, इव = जैसी, शैलस्य = पर्वत की, मूर्ध्नि = चोटी पर, निहिता = रक्खी गई, सिता = सफेद, पताका = ध्वजा, इव = जैसी, आखण्डलस्य = इन्द्र के, भवनोदरदीपिका = घर की दीपिका, इव = जैसी, इयं = यह, बिजली, ते = तुम्हारे, प्रियतमस्य = प्रेमी के, सन्निवेशम् = घर को, आख्याति = बतला रही है।।

अर्थः– विट – श्रीमती जी! उलाहना देना बन्द कीजिए। यह बिजली तुम्हारा उपकार करने वाली है–

इन्द्र के हाथी ऐरावत की छाती पर चञ्चल सोने की रस्सी के समान, पर्वत की चोटी पर रक्खी गई सफेद पताका की भाँति, इन्द्र के घर की दीपिका के तुल्य यह बिजली तुम्हारे प्रेमी के घर को बतला रही है।।३३।।

टीका— ऐरावतस्य = इन्द्रगजस्य उरसि = वक्षसि, स्थापितेति, चला चंचला, सुवर्णरज्जुः = सुपर्णनिर्मितं दाम इव शैलस्य = पर्वतस्य, मूर्ध्नि = शिखरे, निहिता = स्थापिता, सिता = धवला, पताका = ध्वजः, इव, आखण्डयति = विदारयति पर्वतान् इति आखण्डलः तस्य आखण्डलस्य = इन्द्रस्य, भवनोदरस्य = गृहमध्यस्य दीपिका = प्रदीपिका इव, इयं = विद्युत्, ते = तव, वसन्तसेनायाः इत्यर्थः, प्रियतमस्य = प्रेमपात्रस्य, चारुदत्तस्येत्यर्थः, सन्निवेशं = भवनम्, आख्याति = प्रकाशेन दर्शयति हि।।३३।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।३३।।

वसन्तसेना — भाव! एव्वं तं ज्जेव्व एदं गेहं। (भाव! एवं तदेवैतद्गेहम्।)

विटः— सकलकलाभिज्ञाया न किंचिदिह तवोपदेष्टव्यमस्ति। तथापि स्नेहः प्रलापयति। अत्र प्रविश्य कोपोऽन्यन्तं न कर्त्तव्यः।

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः, कोपेन विनाऽथवा कुतः कामः?।

कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम्।।३४।।

अर्थः—

वसन्तसेना—भाव! ऐसी ही बात है। यह वही घर है।

विट — सभी कलाओं की जानकार तुम्हारे लिये यद्यपि कुछ उपदेश नहीं देना है। तो भी स्नेह कुछ कहने के लिये प्रेरित कर रहा है। यहाँ चारुदत्त के घर में प्रवेश करके बहुत अधिक कोप नहीं करना चाहिए।

अन्वयः— यदि, कुप्यसि, रतिः, न, अस्ति, अथवा, कोपेन, विना, कामः, कुतः? (अतः) त्वं, कुप्य, च, कान्तम्, च, कोपय, त्वं, प्रसीद, च, (कान्तम्) च, प्रसादय,।।३४।।

शब्दार्थः— यदि, कुप्यसि = कोपकरती हो, रतिः = प्रेम, न = नहीं, अस्ति = है। अथवा कोपेन = कोप के, विना = अभाव में, कामः = सम्भोग का आनन्द, कुतः = कहाँ? (अतः = इसलिये) त्वं = तुम, कुप्य = कोप करो, च = और, कान्तम् = प्रेमी को, च = भी, कोपय = कुपित करो, त्वं = तुम, प्रसीद = खुश होओ, च = और, (कान्तम् = प्रेमी को), च = भी, प्रसादय = खुश करो।

अर्थः— यदि तुम केवल कोप ही करती हो तो अनुराग नहीं है। अथवा कोप के बिना सम्भोग का आनन्द कहाँ! तुम कोप करो और प्रेमी को भी कोप कराओ एवं तुम खुश होओ और प्रेमी को भी खुश करो।।३४।।

टीका— यचि कुप्यसि = केवलं कोपम् एव करोसि इत्यर्थः, रतिः = अनुरागः सम्भोगक्रिया वा, नास्ति = न जायते। अथवा कोपेन = ईषत्प्रणयकोपेन विना, पूर्णतया कोपाभावे इत्यर्थः, कामः = सम्भोगानन्दप्राप्तिः, कुतः? अतः त्वं कुप्य = प्रणयकोपम् आवह, च = तथा, कान्तं च = प्रणयिनमपि, कोपय = क्रोधं कारय, पुनः त्वं प्रसीद प्रसन्ना भव, च = तथा, कान्तममि प्रसादय = चुम्बनादिभिः प्रसन्नं कुरु।।३४।। इस श्लोक में आर्या छन्द है।।३४।।

भवतु एवं तावत्। भो भोः! निवेद्यतामार्यचारुदत्ताय

एषा फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
कान्तस्यालयमागता समदना हृष्टा जलार्द्रालका।
विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी
पादौ नूपुरलग्नकर्दमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता।।३५।।

अन्वयः— फुल्लकदम्बनीपसुरभौ, घनोद्भासिते, काले, समदना, हृष्टा, जलार्द्रालका, विद्युद्वारिदगर्जितैः, सचिकिता, त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी, कान्तस्य, आलयम्, आगता, एषा, नूपुरलग्नकर्दमधरौ, पादौ प्रक्षालयन्ती, स्थिता।।३५।।

शब्दार्थः— फुल्लकदम्बनीपसुरभौ = फुले हुए कदम्ब एवं नीपके कारण सुन्दरगन्धवाले, घनोद्भासिते = बादलों से सुशोभित, काले = समय में, समदना = काम से पीडित, हृष्टा = प्रसन्न, जलार्द्रालका = पानी से गीले केशोंवाली, विद्युद्वारिदगर्जितैः = बिदली तथा बादलों के गरजने से, सचकिता = भयभीत, त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी = तुम्हारे दर्शन को चाहने वाली, कान्तस्य = प्रियके, आलयम् = घर को, आगता = आई हुई, एषा = यह वसन्तसेना, नूपुरलग्नकर्दमधरौ = नूपुर में लिपटे हुए कीचड़ को धारण करने वाले, पादौ = पैरों को, प्रक्षालयन्ती = धोती हुई, स्थिता = खड़ी है।।

अर्थः— अच्छा! ऐसा ही। हे, हे! आर्य चारुदत्त से नम्रता के साथ कहो—

फूले हुए कदम्ब एवं नीप के कारण सुन्दर गन्ध वाले, बादलों से सुशोभित समय में काम से पीडित, प्रसन्न, पानी से गीले केशों वाली, बिजली तथा बादलों के गरजने से भयभीत, तुम्हारे दर्शन को चाहने वाली; प्रिय (चारुदत्त) के घर आई हुई यह (वसन्तसेना) नूपुर में लिपटे हुए कीचड़ को धारण करने वाले पैरों को धोती हुई (दरवाजे पर) खड़ी है।।३५।

टीका— फुल्लैः = विकसितैः कदम्बैः = प्रियकैः नीपैः = धाराकदम्बैश्च सुरभिः = सुगन्धितः तस्मिन्; घनैः = मेघः ऊदभासित = सुशोभिते; काले = समये; मदनेन = कामेन सहिता = संयुक्ता समदना = कामविह्वला इत्यर्थः, हृष्टा = प्रसन्ना प्रियमिलनाशया प्रसन्ना इतिभावः; जलैः = मेघमुक्तैः सलिलैः आर्द्राः = सिक्ताः अलकाः = केशाः यस्याः सा; विद्युद्दिभ = तडिद्भिः वारिदानां = जलदानां गर्जितैश्च = स्तनितैश्च; सचकिता = भयभीता; तव = चारुदत्तस्य दर्शनम् = अवलोकनम आकाङ्क्षति इति त्वर्शनाकाङ्क्षिणी = तव दर्शनाय उत्कण्ठिता इत्यर्थः कान्तस्य = प्रियस्य, तवेत्यर्थः, आलयम = भवनम; आगता = प्राप्ताः एषा = वसन्त सेना; नूपुरयोः = मंजीरयोः, कर्दमान् = पंकान् धरतः इति नूपुरलग्नकर्दमधरौ, पादौ = चरणौ, प्रक्षालयन्ती = धावयन्ती; स्थिता = वर्तमानास्ति।।३५।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित।।३५।।

चारुदत्तः— (आकर्ण्य) वयस्य! ज्ञायतां किमेतदिति।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (वसन्तसेनामुपगम्य; सादरम्) सोत्थि भोदीए। (यद्भवानाज्ञापयति। स्वस्ति भवत्यै।)

वसन्तसेना— अज्ज! वंदामि। साअदं अज्जस्स। (विटं प्रति) भाव! एसा छत्तधारिआ भावस्स ज्जेव्व भोदु। (आर्य! वन्दे। स्वागतमार्यस्य। भाव! एषा छत्रधारिका भावस्यैव भवतु।)

विटः— (स्वगतम्) अनेनोपायेन निपुणं प्रेषितोऽस्मि। (प्रकाशम्) एवं भवतु, भवति वसन्तसेने!

साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः
शाठ्यात्मकस्य रतिकेलिकृतालयस्य।
वेश्यापणस्य सुरतोत्सवसंग्रहस्य
दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिरस्तु।।३६।।

अर्थः—

चारुदत्त— (सुनकर) मित्र! मालूम करो। यह क्या है?

विदूषक— जैसी आप की आज्ञा। (वसन्तसेना के पास जाकर आदर के साथ) आप का भला हो।

वसन्तसेना— आर्य! प्रणाम कर रही हूँ। आपका स्वागत है। (विट से) भाव! छाता लेकर पीछे—पीछे चलने वाली यह स्त्री आप के साथ ही रहे।

अन्वयः— साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमेः, शाठ्यात्मकस्य, रतिकेलिकृतालयस्य, सुरतोत्सवसंग्रहस्य, वेश्यापणस्य दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रयसिद्धिः, अस्तु।।३६।।

शब्दार्थः— साटोपकूटकपटानृतजन्मभूमे = गर्व के सहित माया छल एवं झूठ के जन्म—स्थान, शाठ्यात्मकस्य, = धूर्तता रूप आत्मा वाले रतिकेलिकृतालयस्य = सम्भोग—क्रीडा के द्वारा अपना घर बनाया गया, सुरतोत्सवसंग्रहस्य = रमण के सुख के संग्रहवाले वेश्यापणस्य = वेश्या रूपी बाजार की, दाक्षिण्यपण्यसुखनिष्क्रसिद्धिः = उदारता से बिकनेवाली वस्तु की सुख के साथ लेन—देन अस्तु = होवे।।

अर्थः—

विट— (अपने आप) इस उपाय से बड़ी चतुरता के साथ लौटा दिया गया हूँ। (प्रकट रूप में) ऐसा ही हो। सुश्री वसन्तसेना

गर्व के सहित माया, छल एवं झूठ का जो जन्मस्थान है अर्थात् जो गर्व आदि को उत्पन्न करता है धूर्तता ही जिस की आत्मा है, सम्भोग—क्रीडा ने जिसको अपना घर बनाया है अर्थात् जिसमें रतिक्रीडा की प्रधानता रहती है। जहाँ रमण के सुख का संग्रह है, ऐसे वेश्या रूपी बाजार की उदारता से न कि पैसे से बिकने वाली वस्तु की सुख के साथ लेन—देन होवे।।३६।।

टीका— आटोपः = गर्वः तेन सहितं साटोपं = सगर्वं यत् कूटं = माया कपटं = छलम् अनृतम् = असत्यभाषणं एतेषां जन्मभूमेः = प्रादुर्भावस्थानस्य; शाठ्यं = धूर्तता एव आत्मा = स्वभावः यस्य तादृशस्य; रतिकेलिः = कामक्रीडा तेन कृतः यः आलयः =

आश्रयः तस्य; कामक्रीडाश्रयभूतस्येत्यर्थः; सुरतमेव = रमणमेव उत्सवः = आनन्दः तस्य संग्रहः = संचयः यस्मिन् तथाभूतस्य; सम्भोगानन्दपूर्णस्येति भावः; वेश्यापणस्य = वेश्याव्यवहारस्य वेश्यारूपविपणेः वा; दाक्षिण्येन = उदारतया; न तु धनविनिमयेन इत्यर्थः, पण्यस्य = विक्रेयवस्तुनः स्वयौवनरूपस्येत्यभिप्रायः; सुखेन = आनन्देन = निष्क्रयः = आदानप्रदाने, विनिमयः इत्यर्थः; अस्तु = भवतु। अथवा दाक्षिण्यमेव = औदार्यमेव पण्यसुखस्य = मूल्यं दत्वा प्राप्तस्य वेश्यासम्भोगानन्दस्य निष्क्रयः = मूल्यं तस्य सिद्धिः = साफल्यम्; अस्तु = भवतु।।३६।।

श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–वसन्ततिलका।।३६।।

(इति निष्क्रान्तो विटः)

वसन्तसेना – अज्ज मित्तेअ! कहिं तुम्हाणं जूदिअरो?। (आर्य मैत्रेय! कुत्र युष्माकं द्यूतकरः?।)

विदूषकः– (स्वगतम्) ही ही भो, जूदिअरो त्ति भणंतीए अलंकिदो पिअवअस्सो। (प्रकाशम्) भोदि! एसो खु सुक्खरुक्खवाडिआए। (आश्चर्यं भोः! द्यूतकर इति भणन्त्यालंकृतः प्रियवयस्यः। भवति! एष खलु शुष्कवृक्षवाटिकायाम्।)

वसन्तसेना – अज्ज! का तुम्हाणं सुक्खरुक्खवाडिआ वुच्चदि?। (आर्य! का युष्माकं शुष्कवृक्षवाटिकोच्यते?।)

विदूषकः– भोदि! जहिं ण खाईअदि, ण पीईअदि। (भवति! यत्र न खाद्यते, न पीयते।)

(वसन्तसेना स्मितं करोति)

विदूषकः– ता पविसदु भोदी। (तस्मात्प्रविशतु भवती।)

वसन्तसेना – (जनान्तिकम्) एत्थ पविसिअ किं मए भणिदव्वं?। (अत्र प्रविश्य किं मया भणितव्यम्?।)

चेटी – 'जूदिअर! अवि सुहो दे पदोसो? त्ति। ('द्यूतकर! अपि सुखस्ते प्रदोषः?' इति)

वसन्तसेना – अवि पारइस्सं!। (अपि पारयिष्यामि?।)

चेटी – अवसरो ज्जेव्व पारइस्सदि। (अवसर एव पारयिष्यति।)

विदूषकः– पविसदु भोदी। (प्रविशतु भवती।)

वसन्तसेना – (प्रवीश्योपसृत्य च, पुष्पैस्ताडयन्ती) अइ जूदिअर! अवि सुहो दे पसोदो?। (अयि द्यूतकर! अपि सुखस्ते प्रदोषः?।)

चारुदत्तः– (अवलोक्य) अये, वसन्तसेना प्राप्ता। (सहर्षमुत्थाय) अयि प्रिये!

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निःश्वसतो गता निशा।
त्वया समेतस्य विशाललोचने!
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः।।३७।।

(ऐसा कह कर विट निकल जाता है)

अर्थः– वसन्तसेना – आर्य मैत्रेय! आप के जुआरी चारुदत्त कहाँ हैं?

विदूषक– (अपने आप) अरे! आश्चर्य! जुआरी यह कहती हुई इस के द्वारा प्रिय मित्र चारुदत्त अलंकृत कर दिये गये। (प्रकट रूप में) श्रीमती जी,! यह सूखे वृक्षों वाली वाटिका में हैं।

वसन्तसेना– आर्य! कौन सी सूखे वृक्षों वाली आप की वाटिका कही जाती है?।

विदूषक– श्रीमती जी! जहाँ न कुछ खाया जाता है और न कुछ पिया जाता है।

(वसन्तसेना मुस्कराती है)

विदूषक– तो आप भीतर चलें।

वसन्तसेना–(अलग से) यहाँ प्रवेश करके मुझे क्या कहना चाहिए?।

चेटी – जुआरी! आपका सायंकाल तो सुखकर है? ऐसा!

वसन्तसेना – (ऐसा कहने में) क्या पार पा सकूँगी?।

चेटी — अवसर ही पार कर देगा अर्थात् अवसर ही वैसा कहने में आप को समर्थ बना देगा।

वसन्तसेना— आप प्रवेश करें।

विदूषक— (प्रवेश करके और चारुदत्त के पास जाकर फूलों से मारती हुई) जुआरी! आपका सायंकाल तो सुखदायक हो।

चारुदत्त— (देखकर) अरे। वसन्तसेना आ गयी! (प्रसन्नता के साथ उठकर)

अन्वयः सदा, जाग्रतः (एव) मम प्रदोषः, यति, सदा निश्वसतः। (एव) मे, निशा, गता, हे विशाललोचने। अद्य, त्वया, समेतस्य, मम प्रदोषकः शोकान्तकरः, (भवति)।।३७।।

शब्दार्थः— सदा = हमेशा, जाग्रतः = जागते हुए, (एव = ही), मम = मेरा, प्रदोषः = प्रदोष = सायंकाल, याति = बीतता है। सदा = हमेशा, निश्वसतः = आहें भरते हुए, (एव = ही), मे = मेरी, निशा = रात, गता = बीती है। हे विशाललोचने = हे बड़ी–बड़ी आँखों वाली! अद्य = आज, त्वया = तुम से, समेतस्य = मिलने वाले, मम = मेरा, प्रदोषकः = सायंकाल, शोकान्तकरः = दुःखों को समाप्त करने वाला, (भवति = हो रहा है)।।

अर्थः— हे प्रिये। हमेशा जागते हुए ही मेरा प्रदोष बीता है। और सर्वदा आहें भरते हुए ही मेरी रात बीती है। किन्तु हे बड़ी–बड़ी आँखों वाली स्त्री। आज तुम्हारे साथ मिलने वाले मेरा प्रदोष दुःखों को समाप्त करने वाला हो रहा है।३७।।

टीका— सदा = सर्वदा! जाग्रतः = अनिद्राणस्य एव, मम = त्वयि बद्धहृदयस्य चारुदत्तस्य इत्यर्थः, प्रदोषः = सन्ध्याकाल याति = व्यतीतः भवति। सदा = नित्यं निश्वसतः = तव विरहाद्दीर्घं श्वसतः एव, मे = मम, निशा = अखिला रात्रिः, गता व्यतीता भवतीति शेषः। विशाले दीर्घे लोचने = नेत्रे यस्याः तत्सम्बुद्धौ, अद्य = सम्प्रति, त्वया = प्रियया वसन्तसेनया इत्यर्थः समेतस्य = सहितस्य, मम = चारुदत्तस्य, प्रदोषकः = सन्ध्यासमयः, शोकान्तकरः = शोकविनाशकः भवतीति शेषः।।३७।।

इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—वंशस्थ।।३७।।

तत्स्वागतं भवत्यै, इदमासनम्; अत्रोपविश्यताम्।

विदूषकः— इदं आसणं, उवविसदु भोदी। (इदमासनम्, उपविशतु भवती।)

(वसन्तसेना नाट्येनासीना, ततः सर्व उपविशन्ति)

चारुदत्तः— **वयस्य! पश्य वश्य**

वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन।
एकः स्तनोऽभिषिक्तो नृपसुत इव यौवराज्यस्थः।।३८।।

अर्थः — तो आपका स्वागत है। यह आसन है। इस पर बैठें।

विदूषक— यह आसन है। आप बैठें!

(वसन्तसेना अभिनय पूर्वक बैठती है, उसके बाद सभी बैठते हैं)

अन्वयः— वर्षोदकम्, उद्गिरता, श्रवणान्तविलम्बिना, कदम्बेन, एकः, स्तनः, यौवराज्यस्थः, नृपसुतः, इव, अभिषिक्तः।।३८।।

शब्दार्थः— वर्षोद्कम् = वर्षा के जल को, उद्गिरता = गिराते हुए, श्रवणान्त–विलम्बिना = कान के छोर पर लटकने वाले, कदम्बेन = कदम्ब के फूल के द्वारा, एकः = एक, स्तनः = स्तन, यौवराजस्यथः = युवराज–पद पर बैठे हुए, नृपसुतः = राजकुमार (के), इव = समान, अभिषिक्तः = नहलादिया गया, अभिषिक्त कर दिया गया।

अर्थः— **चारुदत्त**— मित्र! देखो, देखो–वर्षा के जल को गिराते हुए, कान के छोर पर लटकने वाले कदम्ब के फूल ने एक स्तन का, युवराज–पद पर बैठे हुए राजकुमार के समान, अभिषेक कर दिया है।।३८।।

टीका— वर्षस्य = वृष्टेः, उदकं = जलम्; उद्गिरता = मुञ्चयता; श्रवणस्य = कर्णस्य अन्ते = अन्तिमे भागे विलम्बते = आलम्बते इति श्रवणान्त–विलम्बितेन; कदम्बेन = नीपकुसुमेनेत्यर्थः; एकः स्तनः = पयोधरः, वसन्तसेनायाः इतिशेषः, यौवराज्यस्थः = युवराजपदवीम् अधिरूढः; नृपस्य = राज्ञः सुतः = पुत्रः इव; अभिसिक्तः = अभिषेकं प्रापितः सेञ्चितः।।३८।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं आर्या छन्द है।।३८।।

तद्वयस्य! क्लिन्ने वाससी वसन्तसेनायाः। अन्ये प्रधानवाससी समुपनीयेतामिति।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (यद्भवानाज्ञापयति।)

चेटी– अज्ज मित्तेअ! तिट्ठ तुमं; अहं ज्जेव्व अज्जअं सुस्सूसइस्सं। (तथा करोति) (आर्य मैत्रेय! तिष्ठ त्वम्; अहमेवार्यां शुश्रूषयिष्यामि।)

विदूषकः–(अपवारितकेन) भो वअस्स! पुच्छामि दाव तत्थभोदिं किं पि। (भो वयस्य! पृच्छामि तावत्तत्रभवतीं किमपि।)

चारुदत्तः– एवं क्रियताम्।

विदूषकः– (प्रकाशम्) अध किंणिमित्तं उण ईदिसे पणट्टचंदालोए दुद्दिणअंधआरे आअदा भोदी?। (अथ किंनिमित्तं पुनरीदृशे प्रनष्टचन्द्रालोके दुर्दिनान्धकार आगता भवती?।)

चेटी – अज्जए! उजुओ बम्हणो। (आर्ये! ऋजुको ब्राह्मणः।)

वसन्तसेना – णं णिउणोत्ति भणाहि। (ननु निपुण इति भण।)

चेटी – एसा खु अज्जआ एव्वं पुच्छिदुं आअदा-'केत्तिअं ताए रअणावलीए मुल्लं' त्ति। (एषा खल्वार्या एवं प्रष्टुमागता-'कियत्तस्या रत्नावल्या मूल्यं' इति।)

विदूषकः– (जनान्तिकम्) भो! भणिदं मए-जधा अप्पमुल्ला रअणावली, बहुमुल्लं सुवण्णभंडअं। ण परितुट्टा अवरं मग्गिदुं आअदा। (भोः! भणितं मयायथाऽल्पमूल्या रत्नावली, बहुमूल्यं सुवर्णभाण्डम्। न परितुष्टा, अपरं याचितुमागता।)

चेटी – सा ख अज्जआए अत्तणकेरकेत्ति भणिअ जूदे हारिदा। सो अ सहिओ राअवात्थहारी ण जाणीअदि कहिं गदो त्ति। (सा खल्वार्यया आत्मीयेति भणित्वा द्यूते हारिता। स च सभिको राजवार्ताहारी न ज्ञायते कुत्र गत इति।)

विदूषकः– भोदि! मंतिदं ज्जेव मंतीअदि। (भवति! मन्त्रितमेव मन्त्र्यते।)

चेटी – जाव सो अण्णेसीअदि ताव एदं ज्जेव्व गेण्ह सुवण्णभंडअं। (यावत्सोऽन्विष्यते तावदिदमेव गृहाण सुवर्णभाण्डम्।) (इति दर्शयति)

(विदूषको विचारयति)

चेटी – अदिमेत्तं अज्जो णिज्झाअदि। ता किं दिट्ठपुरुव्वो दे?। (अतिमात्रमार्यो निध्यायति। तत्किं दृष्टपूर्वस्ते?।)

विदूषकः– भोदि! सिप्पकुसलदाए ओबंधेदि दिट्टिं। (भवति! शिल्पकुशलतयावबध्नाति दृष्टिम्।)

चेटी– अज्ज! वंचिदोसि दिट्टीए। तं ज्जेव्व एदं सुवण्णभंडअं। (आर्य! वञ्चितोऽसि दृष्ट्या! तदेवेदं सुवर्णभाण्डम्।)

विदूषकः–(सहर्षम्) भो वअस्स! तं ज्जेव्व एदं सुवण्णभंडअं, जं अम्हाणं गेहे चोरेहिं अवहिदं। (भो वयस्य! तदेवेदं सुवर्णभाण्डम्, यदस्माकं गृहे चौरैरपहृतम्।)

चारुदत्तः– वयस्य!

योऽस्माभिश्चिन्तितो व्याजः कर्तुं न्यासप्रतिक्रियाम्।
स एव प्रस्तुतोऽस्माकं किंतु सत्यं विडम्बना।।३६।।

अर्थः– तो मित्र! वसन्तसेना के दोनों वस्त्र भीग गये हैं। दूसरे दो अच्छे वस्त्र ले आओ।

विदूषक – जैसी आप की आज्ञा।

चेटी – आर्य मैत्रेय। तुम रुको। मैं ही आर्या वसन्तसेना की सेवा करूँगी। (वैसा करती है)।

विदूषक – (अलग से) हे मित्र! इन श्रीमती वसन्तसेना से कुछ पूँछता हूँ।

चारुदत्त– ऐसा ही करो।

विदूषक – (प्रकट रूप में) चन्द्रमा के प्रकाश से रहित दुर्दिन के कारण ऐसे अँधेरे समय में भला आप किसलिए आयी हैं?

चेटी – आर्ये! यह ब्रह्मण भोला–भाला है।

वसन्तसेना – नहीं, यह कहो कि चतुर है।

चेटी – यह आर्या यह पूँछने आई है कि उस रत्नावली का क्या मूल्य है?

विदूषक – (अलग से) अरे! मैंने कहा कि रत्नावली कम कीमत की है, सोने के आभूषण का भाण्ड अधिक दाम का है। (अतः उतने से) सन्तोष न करके और माँगने आयी है।

चेटी – आर्या उसे अपनी समझ कर जुए में हरा दीं। वह जुआ खेलाने वाला राजा के सन्देश को जहाँ तहाँ ले जाने वाला है अतः न जाने कहाँ चला गया।

विदूषक – श्रीमती जी! कही गयी बात को ही कह रही है।

चेटी – जब तक वह जुआ खेलाने वाला ढूँढा जा रहा है तब तक इस सोने के आभूषणों के भाण्ड को ही आप ले लें। (ऐसा कह कर दिखलाती है)

(विदूषक सोचता–विचारता है)

चेटी – आर्य बहुत ध्यान से देख रहे हैं। तो क्या (यह) पहले से देखा हुआ है?।

विदूषक – श्रीमती जी! अच्छी कारीगरी के कारण आँखों को आकृष्ट कर रहा है।

चेटी – आर्य! (आप अपनी) आँखों के द्वारा ठगे गये हैं अर्थात् आँखों ने आपको धोखा दिया है। यह वही सोने के आभूषणों का पात्र है।

विदूषक – (खुशी के साथ) हे मित्र! यह वही आभूषणों का पात्र है। जिसे हमारे घर में चोरों ने चुराया था।

अन्वयः– अस्माभिः, न्यासप्रतिक्रियाम्, कर्तुं, यः, व्याजः, चिन्तितः; सः, एव, अस्माकं, प्रस्तुतः, (किन्तु), सत्यम, (इयं) विडम्बना, (अस्ति)।।३६।।

शब्दार्थः– अस्माभिः = हमारे द्वारा, न्यासप्रतिक्रियाम् = धरोहर की क्षतिपूर्ति को, कर्तुं = करने के लिए, यः = जो, व्याजः = बहाना, चिन्तितः = सोचा गया था, सः = वह, एव = ही, अस्माकं = हम लोगों को, प्रस्तुतः = उपस्थित (है), (किन्तु) सत्यम् = सचमुच, (इयं = यह,) विडम्बना = जालसाजी (अस्ति = है)।।

अर्थः– चारुदत्त– मित्र! जो बहाना हम लोगों ने धरोहर की क्षति–पूर्ति करने के लिये सोचा था वही (बहाना) हमारे सामने उपस्थित है। किन्तु सचमुच यह जाल साजी (प्रतारणा ही) है अर्थात् यह वह सुवर्णभाण्ड नहीं है जो हमारे घर से चोरी गया था किन्तु हम लोगों की ढाँढस के लिये इसने दूसरा आभूषण ला रक्खा है।।३६।।

टीका– अस्माभिः न्यासस्य = निक्षेपस्य प्रतिक्रियां = क्षतिपूर्तिं; कर्तुं = विधातुं; यः व्याजः = कपटः, चिन्तितः = विचारितः कृत इत्यर्थः; सः = व्याजः एव अस्माकम् = अस्माकं समक्षमित्यर्थः; प्रस्तुतः = उपस्थितः। यादृशः व्याजः अस्माभिः वसन्तसेना प्रति कृतः, तादृशः एव तया अस्मान् प्रति विहितः इति भावः। किन्तु सत्यं = वस्तुतः, इयं विडम्बना = कपटाचारः नतु सत्यव्यवहारः।

इस श्लोक के छन्द का नाम है–पथ्यावक्त्र।।३६।।

विदूषकः– भो वअस्स! सच्चं सवामि बम्हण्णेण। (भो वयस्य! सत्यं शपे ब्राह्मण्येन।)

चारुदत्तः– प्रियं नः प्रियम्।

विदूषकः– (जनान्तिकम्) भो! पुच्छामि-णं कुदो एदं समासादिदं त्ति। (भोः! पृच्छामि-ननु कुत इदं समासादितमिति।)

चारुदत्तः– को दोषः?।

विदूषकः– (चेट्याः कर्णे) एव्वं विअ। (एवमिव।)

चेटी – (विदूषकस्य कर्णे) एव्वं विअ। (एवमिव।)

चारुदत्तः– किमिदं कथ्यते?। किं वयं बाह्याः?।

विदूषकः – (चारुदत्तस्य कर्णे) एव्वं विअ। (एवमिव।)

चारुदत्तः– भद्रे! सत्यं तदेवेदं सुवर्णभाण्डम्?

चेटी – अज्ज! अध इं। (आर्य! अथ किम्?।)

चारुदत्तः– भद्रे! न कदाचित्प्रियनिवेदनं निष्फलीकृतं मया। तद्गृह्यतां पारितोषिकमिदमंगुलीयकम्।

(इत्यनंगुलीयकं हस्तमवलोक्य लज्जां नाटयति।)

वसन्तसेना – (आत्मगतम्) अदो ज्जेव्व कामीअसि। (अतएव काम्यसे।)

चारुदत्तः— (जनान्तिकम्) भोः! कष्टम्;

धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत्।
यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात्कोपप्रसादा विफलीभवन्ति।।४०।।

अर्थः—

विदूषक— हे मित्र! मैं ब्राह्मणपन की सौगन्ध खाता हूँ कि यह सत्य है अर्थात् वही सुवर्णभाण्ड है।

चारुदत्त— प्रिय! हमारा प्रिय!

विदूषक — (अलग से) अरे! पूछता हूँ कि यह कहाँ मिला?

चारुदत्त— क्या बुराई है?

विदूषक — (चेटी के कान में) ऐसा ही है?

चेटी — (विदूषक के कान में) ऐसा ही है।

चारुदत्त— यह क्या कह रहे हो? क्या हम लोग बाहरी हैं?

विदूषक — (चारुदत्त के कान में) ऐसा ही है।

चारुदत्त— भद्रे! सचमुच क्या यह वही सुवर्ण भाण्ड है।

चेटी — आर्य! और क्या!

चारुदत्त— भद्रे! मैंने प्रिय–निवेदन कभी निष्फल नहीं किया है। तो पुरस्कार के रूप में इस अँगूठी को ग्रहण करो। (ऐसा कहकर बिना अँगूठी के हाथ को देखकर लज्जा का अभिनय करता है)।

वसन्तसेना — (अपने आप) इसीलिये (मेरे द्वारा) चाहे जाते हो।

अन्वयः— लोके, धनैः, वियुक्तस्य, नरस्य, आदितः, एव, जीवितेन, किं तावत्; प्रतिकारनिरर्थकत्वात्, यस्य, कोपप्रसादाः, विफलीभवन्ति।।४०।।

शब्दार्थः— लोके = संसार में, धनैः = धनों से, वियुक्तस्य = हीन, नरस्य = मनुष्य के, आदितः = जन्म से, एव = ही, जीवितेन = जीने से, किं तावत् = क्या लाभ। प्रतिकारनिरर्थकत्वात् = बदला चुकाने में असमर्थता के कारण, यस्य = जिसके, कोपप्रसादाः = कोप और कृपा, विफलीभवन्ति = निष्फल होते हैं।

अर्थः— चारुदत्त— (अलग से) अरे! दुःख है—

संसार में निर्धन मनुष्य के जन्म से ही जीने से क्या लाभ? बदला चुकाने में असमर्थ होने के कारण जिसके कोप और अनुग्रह दोनों ही निष्फल होते हैं अर्थात् निर्धन किसी पर खुश होकर उसे कुछ दे नहीं सकता है और नाराज होने पर उसका कुछ बिगाड़ भी नहीं सकता है, ।।४०।।

टीका— लोके = संसारे, धनैः = सम्पद्भिः; वियुक्तस्य = विहीनस्य, नरस्य = जनस्य, आदितः एव = जन्मतः एव, जीवितेन = जीवनेन, किं तावत् = किं फलमित्यर्थः, अर्थात् न किमपि फलम्। यस्य = धनरहितस्य जनस्य; कोपप्रसादाः = क्रोधानुग्रहाः; विफलीभवन्ति = निष्फलाः भवन्ति।।४०।।

श्लोक के पूर्वार्द्ध में अप्रस्तुत प्रशंसा एवं उत्तरार्द्ध में काव्यलिंग अलंकार है। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—उपजाति।।४०।।

अपि च,—

पक्षविकलश्च पक्षी शुष्कश्च तरुः सरश्च जलहीनम्।
सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्य लोके दरिद्रश्च।।४१।।

अन्वयः— लोके, पक्षविकलः, पक्षी, च, शुष्कः, तरुः, च, जलहीनं, सरः, च, उद्धृतदंष्ट्र, सर्पः, च, (एतत्, सर्वं) तुल्यम्।।४१।।

शब्दार्थः— लोके = संसार में, पक्षविकलः = पंख से हीन, पक्षी = चिड़िया, च = और, शुष्कः = सूखा, तरुः = पेड़, च = तथा, जलहीनं = जल से रहित, सरः = तालाब, च = एवं, उद्धृतदंष्ट्रः = दाँत उखाड़ा हुआ, सर्पः = साँप, (एतत् = यह, सर्वं = सब) तुल्यं = समान (है)

और भी—

अर्थः— संसार में, बिना पंख की चिड़ियाँ, सूखा पेड़, बिना जल का तालाब तथा दाँत उखाड़ा हुआ साँप एवं दरिद्र मनुष्य सभी समान होते हैं।४१।।

टीका— लोके = जगति, पक्षाभ्यां = पत्राभ्यां विकलः = विहीनः, पक्षी = खगः, शुष्कः = नीरसः, तरुः = वृक्षः जलेन सलिलेन हीनः = विरहितं, सरः = जलाशयः; उद्धृताः = उत्पाटिताःदंष्ट्राः = दन्ताः यस्य तथाभूतः, दन्तविहीन इत्यर्थः; सर्पः = जगत् एतत् सर्वं तुल्यं = समानमेव।।४१।।

इस श्लोक में मालोपमा अलंकार तथा आर्या छन्द है।

अपि च,—

शून्यैर्गृहैः खलु समाः पुरुषा दरिद्राः
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णैः।
यद्दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृताना
मेव भवन्ति विफलाः परितोषकालाः।।४२।।

अन्वयः— दरिद्राः, पुरुषाः, खलु, शून्यैः, गृहैः, तोयरहितैः, कूपैः, च, शीर्णैः, तरुभिः, च, समाः, (भवन्ति), यत्, दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृताना (तेषां), परितोषकालाः, एवं, विफलाः, भवन्ति।।४२।।

शब्दार्थः— दरिद्राः = निर्धन, पुरुषाः = मनुष्य, खलु = वस्तुतः, शून्यैः = सूने, गृहैः = घरों, तोयरहितैः = पानी से रहित, कूपैः = कुआ, च = तथा, शीर्णैः = सूखे, तरुभिः = पेड़ों से (के), समाः = समान, (भवन्ति = होते हैं)। यत् = क्योंकि, दृष्टपूर्वजनसंगमविस्मृताना = पहले के परिचित जनों के मिलने से (अपनी गरीबी को) भूल जाने वाले, (तेषां = उनके,) परितोषकालाः = प्रसन्नता के समय, एवं = इसी प्रकार, विफलाः = व्यर्थ, भवन्ति = होते हैं।।

और भी—

अर्थः— दरिद्र मनुष्य वस्तुतः सूने घरों; बिना पानी के कुओं तथा सूखे पेड़ों के समान है। क्योंकि पहले के परिचित जनों के मिलने से (खुशी के कारण अपनी दरिद्रता को) भूल जाने वाले निर्धन लोगों की प्रसन्नता के समय इसी तरह निष्फल हो जाते हैं।।४२।।

टीका— दरिद्राः = पूर्णतया धनरहिताः; पुरुषाः = मानवाः; खलु = निश्चयेन, शून्यैः = जनरहितैः;, गृहैः = भवनैः तोयरहितैः = जलहीनैः; कूपैः = उदपानैः, शीर्णैः = शुष्कैः इत्यर्थः; तरुभिः = वृक्षैश्च; समाः = तुल्याः भवन्तीति शेष। यत् = यस्मात् दृष्टपूर्वस्य = पूर्वपरिचितस्य जनस्य = व्यक्तेः संगमेन = मिलने न, मिलनजन्यानन्दाधिक्येन हेतुना इत्यर्थः विस्मृत = विस्मृतनिजदैन्यानां तेषां = निर्धनजनानां; परितोषकालाः = सन्तोषसमयाः, पुरस्कारप्रदानस्य योग्यकालाः इत्यर्थः। अनेनैव प्रकारेण, यथा मम तथा इत्यर्थः; विफलाः = निष्फलाः भवन्ति = जायन्ते।।४२।।

इस श्लोक में मालोपमा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।।४२।।

विदूषकः— भो! अलं अदिमेत्तं संतप्पिदेण। (प्रकाशं, सपरिहासं) भोदि! समप्पीअदु ममकेरिआ ण्हाणसाडिआ। (भोः! अलमतिमात्रं संतापितेन। भवति! समर्प्यतां मम स्नानशाटिका।)

वसन्तसेना — अज्ज चारुदत्त! जुत्तं ण्णेदं इमाए रअणावलीए इमं जणं तुलइदुं। (आर्य चारुदत्त! युक्तं नेदमनया रत्नावल्या इमं जनं तुलयितुम्।)

चारुदत्तः— (सविलक्षस्मितं) वसन्तसेने! पश्य पश्य

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति।
शंकनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्प्रतापा दरिद्रता।।४३।।

अर्थः— विदूषक — अरे! अधिक सन्ताप करना व्यर्थ है। (प्रकट रूप में, हँसी के साथ), श्रीमती जी! मेरी नहान की धोती दे दो।

वसन्तसेना— आर्य चारुदत्त! इस रत्नावली से इन जन को तौलना ठीक नहीं।

चारुदत्त— (लज्जा पूर्वक मुस्कराकर) वसन्तसेना! देखो, देखो—

अन्वयः— कः, भूतार्थं, श्रद्धास्यति, सर्वः, मां, तुलयिष्यति, हि, अस्मिन्, लोके, निष्प्रतापा, दरिद्रता, शंकनीया, (भवति)।।४३।

शब्दार्थः— कः = कौन, भूतार्थं = सच्ची बात को, यथार्थ को, श्रद्धास्यति = मानेगा, सर्वः = सब, मां = मुझको, तुलायेष्यति = तौलेगा,

हि = क्योंकि, अस्मिन् = इस, लोके = लोक में, निष्प्रतापा = तेजहीन, दरिद्रता = निर्धनता, शंकनीया = सन्देह के योग्य (भवति = होती है)।।

अर्थः— कौन सच्ची बात का विश्वास करेगा? सभी मुझे तौलेंगे। क्योंकि इस संसार में, निर्बल दरिद्रता निश्चित रूप से शंका के योग्य होती है।।४३।।

टीका— कः = जनः, भूतार्थं = सत्यं, सुवर्णभाण्डं चौरैरपहृतमित्येवं रूपमिति भावः; श्रद्धास्यति = विश्वासं करिष्यति? हि = यतः; अस्मिन् = एतस्मिन्, लोके = संसारे, निष्प्रतापा = तेजशून्या; दरिद्रता = निर्धनता; शंकनीया = आशंकितुं योग्या भवतीति।।४३।।

विदूषकः— हञ्जे! किं भोदीए इध ज्जेव्व सुविदव्वं?। (चेटि! किं भवत्या इहैव सुप्तव्यम्?।)

चेटी — (विहस्य) अज्ज मित्तेअ! अदिमेत्तं दाणिं उजुअं अत्ताणअं दंसेसि। (आर्य मैत्रेय! अतिमात्रमिदानीमृजुमात्मानं दर्शयसि।)

विदूषकः— भो वअस्स! एसो खु ओसारअंतो विअ सुहोवविट्टं जणं पुणो वि वित्थारिवारिधाराहिं पविट्टो पज्जण्णो। (भो वयस्य! एष खल्वपसारयन्निव सुखोपविष्टं जनं पुनरपि विस्तारिवारिधाराभिः प्रविष्टः पर्जन्यः।)

चारुदत्तः— सम्यगाह भवान्,—

अमूहिं भित्त्वा जलदान्तराणि पंकान्तराणीव मृणालसूच्यः।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद्विमुक्ता दिवोऽश्रुधरा इव वारिधाराः।।४४।।

अर्थः— विदूषक — चेटी! क्या आपको यहीं सोना है?

चेटी — (हँसकर) आर्य मैत्रेय! इस समय आप अपने को बहुत अधिक भोला—भाला दिखला रहे हैं।

विदूषक — हे मित्र! आनन्द से बैठे हुये लोगों को हटाता हुआ सा यह बादल फैलने वाली पानी की धाराओं के साथ फिर आ गया।

अन्वयः— हि, अमूः, वारिधाराः, मृणालसूच्यः, पंकान्तराणि, इव, जलदान्तराणि, भित्त्वा, चन्द्रव्यसनात्, विमुक्ताः, दिवः, अश्रुधाराः, इव, पतन्ति।।४४।।

शब्दार्थः— हि = अवश्य ही, अमूः = ये, वारिधाराः = जल की धाराएँ; मृणालसूच्यः = कमललता की जड़ के अंकुर, पंकान्तराणि = कीचड़ के भीतर की, इव = तरह, जलदान्तराणि = बादलों के पेटों को, भित्त्वा = चीरकर, चन्द्रव्यसनात् = चन्द्रमा की विपत्ति के कारण, विमुक्ताः = बहायी गयी, दिवः = आकाश की, अश्रुधाराः = आसुओं की धाराओं के, इव = समान, पतन्ति = गिर रही हैं।

अर्थः— चारुदत्त— आप ने ठीक कहा—

अवश्य ही ये जल की धाराएँ, कीचड़ को फाड़कर निकले हुये कमललता की जड़ के अंकुर के समान बादलों के पेट को चीर कर प्रेमी चन्द्रमा की विपत्ति के कारण बहायी गयी आकाश की आँसुओं की धाराओं के समान गिर रही हैं।।४४।।

टीका— हि = निश्चितम्; अमूः = एताः पुरो दृश्यमानाः; वारिधाराः = जलधाराः; मृणालानां = विसानां सूच्यः = अंकुराः; पंकस्य = कर्दमस्य अन्तराणि = अन्तर्भागान् इव; जलदानां = पयोदानाम् अन्तराणि = उदराणि, मध्यभागान् इत्यर्थः; भित्त्वा = विदार्य; चन्द्रस्य = चन्द्रमसः व्यसनात् = मेघावरणझरूपविपत्तेः कारणात्; विमुक्ताः = प्रवाहिताः; दिवः = आकाशस्य; अश्रुधाराः = नेत्राम्बुधाराः इव; पतन्ति = स्रवन्ति।।४४।।

इस श्लोक में समासोक्ति अलंकार तथा उपजाति छन्द है।।४४।।

अपि च,—

धाराभिरार्यजनचित्तसुनिर्मलाभि-
श्चण्डाभिरर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः।
मेघाः स्रवन्ति बलदेवपटप्रकाशाः
शक्रस्य मौक्तिकनिधानमिवोद्गिरन्तः।।४५।।

अन्वयः— बलदेवपटप्रकाशाः, मेघाः, आर्यजनचित्तसुनिर्मलाभिः, अर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः, चण्डाभिः, धाराभिः, शक्रस्य, मौक्तिकनिधानम्, उद्गिरन्तः, इव, स्रवन्ति।।४५।।

शब्दार्थः—बलदेवपटप्रकाशाः = बलदेव जी के वस्त्रों के समान आभा वाले, मेघाः = बादल, आर्यजनचित्तसुनिर्मलाभिः = [illegible] के चित्त के समान विमल, अर्जुनशरप्रतिकर्कशाभिः = अर्जुन के तीरों के तुल्य कठोर, चण्डाभिः = तीखी, धाराभिः = [illegible] आ के द्वारा, शक्रस्य = इन्द्र के, मौक्तिकनिधानम् = मोतियों के खजाने को, उद्गिरन्तः = बिखराते हुए, इव = [illegible], स्रवन्ति = झर रहे हैं।

और भी—

अर्थः— बलदेव जी के वस्त्रों के समान आभा वाले बादल सज्जनों के चित्त के समान विमल, अर्जुन के तीरों के तुल्य कठोर [illegible] तीखी धाराओं के द्वारा मानों इन्द्र के मोतियों के खजाने को बिखराते हुए झर रहे हैं।।४५।।

टीका— बलदेवस्य = बलरामस्य पटवत् = वस्त्रवत् प्रकाशः = कान्तिः येषां ते; बलरामवस्त्रवन्नीलाः इत्यर्थः, मघा [illegible], आर्यजनस्य = सज्जनस्य चित्तवत् = चेतः इव सुनिर्मलाः = विमलाः मालिन्यरहिताः इत्यर्थः, ताभिः अर्जुनस्य = पार्थस्य शरेण = बाणेन प्रतिकर्कशाः = सदृशकठिनाः ताभिः; अत एव चण्डाभिः = तीक्ष्णाभिः; धाराभिः = जलप्रवाहैः शक्रस्य = इन्द्रस्य; मौक्तिकनिधानं = मुक्तानिधिम्; उद्गिरन्तः = उद्वमन्तः इव; स्रवन्ति = क्षरन्ति।।४५।।

इस श्लोक में मालोपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।।४५।।

प्रिये! पश्य पश्य

एतैः पिष्टतमालवर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरैः
संसक्तैरुपवीजितं सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः।
एषाम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्यागता
रक्ता कान्तमिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत्समालिंगति।।४६।।

अन्वयः— अम्भोदसमागमप्रणयिनी, स्वच्छन्दम्, आगता, रक्ता, प्रियतमा, इव, एषा, विद्युत्, पिष्टतमालवर्णकनिभैः, एतैः, अम्भोधरैः आलिप्तम्, संसक्तैः, सुरभिभिः, शीतैः, प्रदोषानिलैः, उपवीजितं, च, कान्तम्, इव, अम्बरम्, समालिंगति।।४६।।

शब्दार्थः—अम्भोदसमागमप्रणयिनी = बादलों के समागम की प्रबल इच्छावाली, बादलों के उदय में प्रेम करने वाली, (प्रियतमा के पक्ष मे—बादलों के उमड़ने से प्रियतम की इच्छावाली), स्वच्छन्दम् = अपनी इच्छा के अनुसार, आगता = आयी हुई, रक्ता = लालरंगवाली (प्रियतमा के पक्ष में—अनुरागवाली), प्रियतमा = प्रेयसी, इव = जैसी, एषा = यह, विद्युत् = बिजली, पिष्टतमालवर्णकनिभैः = पिसे हुए तमाल के रंग जैसे, एतैः = इन; अम्भोधरैः = बादलों से, (कान्त पक्ष में—अगरागा से) आलिप्तम् = लेपन किये हुए, संसक्तैः = हमेशा बहने वाली, सुरभिभिः = सुगन्धित शीतैः = ठण्डी, प्रदोषानिलैः = सायंकाल की हवाओं से (कान्त के पक्ष में—शीतल सुगन्धित हवाओं से) उपवीजितं = पंखा झले जाते हुए, कान्तमिव = प्रेमी की भांति, अम्बरम् = आकाश को, समालिंगति = अपने अंगों से लिपटा रही है।।

अर्थः— प्रिये! देखो, देखो—

बादलों के समागम की प्रबल इच्छा वाली, अपनी इच्छा से आयी हुई, लाल रंग वाली यह बिजली, पिस हुये तमाल के रंग जैसे इन बादलों से घिरे हुये हमेशा बहने वाली सुगन्धित एवं ठण्डी सायंकाल की हवाओं से पंखा झल जाते हुए आकाश का उसी प्रकार से आलिंगन कर रही है जैसे बादलों के उमड़ने से प्रियतम की इच्छा वाली, अपनी इच्छा से आयी हुई, अनुरागिणी कामिनी प्रेमी का आलिंगन करती है।।४६।।

टीका— अम्भोदस्य = मेघस्य समागमे = उदये प्रणयिनी = प्रेमशालिनी; प्रियतमापक्षे = अम्भोदस्य समागमात् = उदयात् प्रणयिनी = प्रियमिलनस्य = अभिलाषिणी; स्वच्छन्दम् = स्वतन्त्रम्; आगता = उदिता; प्रियतमापक्षे = प्राप्ता, रक्ता = रक्तवर्णा प्रियतमापक्षे = अनुरागिणी; प्रियतमेव = प्रेयसीव; एषा = मेघसमूहे स्फुरन्ती; विद्युत् = तडित्, पिष्ट = चूर्णीकृत = तमालवर्णकं = तमालपत्रस्य विलेपनं तन्निभैः = तत्तुल्यैः, श्यामवर्णैः इतिभावः, एतैः = पुरो दृश्यमानैः, अम्भोधरैः = मेघैः आलिप्तं = कृतालेपनं; (कान्तपक्षे = कस्तूरिकाद्यङ्गरागैः लिप्ताङ्गं), संसक्तैः = परस्परं मिलितैः, सततप्रवहणशीलैः सुरभिभिः = सुगन्धिभि., शीतैः = शीतलैः, प्रदोषानिलैः = सान्ध्यपवनैः, उपवीजितं = विहितव्यजन, कान्तपक्षे—शीतलसुरभिशीतपवनैः उपवीजितं, कान्तं = प्रणयिनमिव, अम्बरं = आकाशं, समालिंगति = आलिङ्गितं करोति।।४६।।

समासोक्ति अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित।।४६।।

(वसन्तसेना श्रृंगारभावं नाटयन्ती चारुदत्तमालिंगति)

चारुदत्तः— **(स्पर्शं नाटयन्प्रत्यालिंग्य)**

भो मेघ! गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात्स्मरपीडितं मे
संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम्।।४७।।

अर्थः— (वसन्तसेना श्रृंगारभाव का अभिनय करती हुई चारुदत्त का आलिंगन करती है)।

अन्वयः— भो मेघ! त्वं, गम्भीरतरं, नद, तव, प्रसादात्; स्मरपीडितं, मे, गात्रम्, स्पर्शरोमाञ्चितजातरागं, (सत्), कदम्बपुष्पत्वम्, उपैति।।४७।।

शब्दार्थः— भो मेघ! = ऐ बादल! त्वं = तू; गंभीरतरं = और अधिक गम्भीरतापूर्वक, नद = गरज; तव = तेरी, प्रसादात् = कृपा से, स्मरपीडितं = कामदेव के द्वारा सताया गया, मे = मेरा, गात्रम् = शरीर, संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं = स्पर्श से रोमांञ्चित एवं उत्पन्न वासना वाला, (सत् = होता हुआ), कदम्बपुष्पत्वं = कदम्ब के फूल की तुलना को, उपैति = प्राप्त हो रहा है।।

अर्थः— चारुदत्त— (स्पर्श का अभिनय करते हुये बदले में आलिंगन करके)

ऐ बादल! तू और अधिक गम्भीरता से गरज, तेरी ही कृपा से कामदेव के द्वारा सताया गया मेरा शरीर (वसन्तसेना के) स्पर्श से रोमांचित एवं उत्पन्न—वासना वाला होकर कदम्ब फूल के समान हो रहा है।।४७।।

टीका— भो मेघ = हे जलद! त्वं गम्भीरतरं = सुगभीरं यथा तथा, गर्ज = नद। तव = भवतः; प्रसादात् = अनुरागात्, स्मरेण = कामेन पीडितं = सन्तापितं, मे = मम, गात्रं = शरीरं, स्पर्शेन = प्रियायाः वसन्तसेनायाः आलिंगनेन, रोमाञ्चाः संजाताः अस्येति रोमाञ्चितं = पुलकितं, तथा जातः = उत्पन्नः रागः = सम्भोगस्य अभिव्यंजकः अभिलाषः इत्यर्थः यस्मिन् तादृशं, सत् कदम्बस्य नीपस्य पुष्पत्वं = कुसुमभाव कदम्बपुष्पवत्कण्टकितावस्थामित्यर्थः, उपैति—प्राप्नोति।।४७।।

इस श्लोक में निदर्शना अलंकार एवं उपजाति छन्द है।।४७।।

विदूषकः—दासीए पुत्त दुद्दिण! अणज्जो दाणिं सि तुमं, जं अत्तभोदिं विज्जुआए भायावेसि। (दास्याः पुत्र दुर्दिन! अनार्य इदानीमसि त्वम्, यदत्रभवतीं विद्युता भीष्यसि।)

चारुदत्तः— वयस्य! नार्हस्युपालब्धुम्,-

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधारं शतह्रदा स्फुरतु।
अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्तः।।४८।।

अर्थः—

विदूषक— दासी के बच्चे दुर्दिन! तुम बड़े अशिष्ट हो जो इस समय श्रीमती वसन्तसेना जी को बिजली से डरा रहे हो।

अन्वयः— अविरतधारं, दुर्दिनं, वर्षशतम्, अस्तु; शतह्रदा, स्फुरतु; यत्, अहम्, अस्मद्विधदुर्लभया, प्रियया, परिष्वक्तः।।४८।।

शब्दार्थः— अविरतधारं = बिना रुकी धारावाला, दुर्दिनं = दुर्दिन, वर्षशतम् = सौ वर्ष, अस्तु = होवे; शतह्रदा = बिजली, स्फुरतु = चमके। यत् = क्योंकि, अहम् = मैं, अस्मद्विधदुर्लभया = हमारे जैसे निर्धनों के लिये दुर्लभ, प्रियया = प्रिया के द्वारा, परिष्वक्तः = आलिंगित किया जा रहा हूँ।

अर्थः— चारुदत्त— मित्र! तुम्हें दुर्दिन को उलाहना नहीं देना चाहिये।

हमेशा धाराओं से बरसने वाला यह दुर्दिन सौ वर्ष तक रहे। बिजली चमकती रहे। क्योंकि हमारे जैसे निर्धनों के लिये दुर्लभ प्रिया के द्वारा मैं आलिंगित किया जा रहा हूँ।।४८।।

टीका— अविरताः = विरामरहिताः धाराः = जलधाराः यस्मिन् तादृशं; दुर्दिनं = मेघाच्छन्नः वर्षायुक्तश्च कालः; वर्षशतं = बहुकालव्यापि इत्यर्थः; अस्तु = भवतु, शतह्रदा = विद्युत् स्फुरतु = प्रकाशिता भवतु; यत् = यस्मात्, अहम् = चारुदत्तः; अस्मद्विधानां = अस्मादृशदरिद्राणां जनानामित्यर्थः, दुर्लभया = दुष्प्रापया, प्रियया = प्रेयस्या, परिष्वक्तः = यथेच्छम् आलिंगितः।।४८।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है आर्या।

अपि च, वयस्य!

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि
ये कामिनीनां गृहमागतानाम्।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि
गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति।।४९।।

अन्वयः— तेषां, जीवितानि, खलु, धन्यानि, ये, गृहम्, आगतानां, कामिनीनां, मेघोदकशीतलानि, गात्राणि, गात्रेषु, परिष्वजन्ते ।४६ ।।

शब्दार्थः— तेषाम् = उनके, जीवितानि = जीवन, खलु = निश्चय ही, धन्यानि = धन्य हैं, ये = जो लोग, गृहम् = घर मे आगतानां = आयी हुयी, कामिनीनां = कामनियों के, मेघोदकशीतलानि = बादल के जल से ठण्डे, गात्राणि = अगों को गात्रेषु = अंगों में, ,परिष्वजन्ति = कस कर आलिंगित करते हैं।

और भी मित्र!

अर्थः— वास्तव में उन्हीं के जीवन धन्य हैं, जो घर में आयी हुई कामिनियों के बादल के जल से ठण्डे हुये गीले अगों को अपने अंगों में कसकर आलिंगन करते हैं।।४६।।

टीका— तेषां = जनानाम्, जीवितानि = जीवनानि, खलु = निश्चयेन, धन्यानि = सफलानि इति भावः, ये = जनाः गृहम् = भवनम्, स्वेच्छया इति शेषः, आगतानां = प्राप्तानां, भूयान् = अधिकः कामः = मदनानुभूतिः यासां ताः तासां कामिनीनां = स्मरपीडितानां सुन्दरीणां, मेघानां = पयोदानाम् उदकैः = जलैः शीतलानि = शैत्ययुक्तानि, गात्राणि = अगानि, गात्रेषु = स्वांगेषु; परिष्वजन्ति = गाढम् आलिंगन्ति।।४६।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार एवं इन्द्रवज्रा छन्द है।।४६।।

प्रिये वसन्तसेने?

स्तम्भेषु प्रचलितवेदिसंचयान्तं
शीर्णत्वात्कथमपि धार्यते वितानम्
एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपा
त्संक्लिकन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः।।५०।।

अन्वयः— प्रचलितवेदिसञ्चयान्तं, वितानम्, शीर्णत्वात्, स्तम्भेषु, कथमपि, धार्यते। एषा, चित्रभित्तिः, च, स्फुटितसुधाद्रवानुलेपा सलिलभरेण, संक्लिन्ना, (जाता)।।५०।।

शब्दार्थः— प्रचलितवेदिसंचयान्तं = हिल रहा है वेदी के समूह में छोर जिसका ऐसा, वितानम् = चँदोवा, शीर्णत्वात् = जर्जरता के कारण, स्तम्भेषु = खम्भों पर, कथमपि = किसी तरह, धार्यते = धारण किया गया है। एषा = यह, चित्रभित्तिः = चित्र बनी हुई भीत, च = भी, स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात् = गली हुई चूने की कलई के लिप जाने के कारण, सलिलभरेण = जल की अधिकता अथवा वेग से, संक्लिन्ना = एकदम गीली, (जाता = हो गयी है)।

अर्थः— प्रिये वसन्तसेने! (हवा की झोकों से) हिल रहा है वेदी के समूह में बँधा हुआ छोर जिसका ऐसा वितान जर्जर होने के कारण खम्भों पर बड़ी मुश्किल से ठहरा हुआ है। और यह चित्रित दीवार कहीं–कहीं गली हुई चूने की कलई (सुधा–द्रव) के लिप जाने के कारण जल के वेग से एकदम गीली हो गयी है।।५०।।

टीका— प्रचलितः = प्रकम्पितः वायुवेगेनेति शेषः वेद्याः = बद्धभूमेः संचये = समूहे, अन्तः = प्रान्तभागः यस्य तादृशं, वितानम् = वस्त्रवेश्म। जीर्णत्वात् = अतिप्राचीनत्वात्, स्तम्भेषु = स्थूणासु, कथमपि = अतिकठिनतया इत्यर्थः, धार्यते = क्षीयते वायुवेगेन वितानस्य स्थितिः संशये निक्षिप्ता इति भावः। एषा = पुरोवर्तमाना, चित्रभित्तिः = चित्रैः अलंकृता कृताऽऽ स्फुटितः = यत्र–तत्र गलितः यः सुधाद्रवः = लिप्ततरलचूर्णः तस्य अनुलेपात् = विलेपनात्, सलिल–भरेण = जलस्य आधिक्येन वेगेन वा; संक्लिन्ना = आर्द्रा जाता, अतः न स्थेयमत्रेति भावः।।५०।।

इस श्लोक में प्रहर्षिणी छन्द है। छन्द का लक्षण है–त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम।।५०।।

(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये इन्द्रधनुः; प्रिये! पश्य पश्य

विद्युज्जिह्वेनेदं महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन।
जलधरविवृद्धहनुना विजृम्भितमिवान्तरिक्षेण।।५१।।

अन्वयः— विद्युज्जिह्वेन, महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन, जलधरविवृद्धहनुना, अन्तरिक्षेण, विजृम्भितम्, इव।।५१।।

शब्दार्थः—विद्युज्जिह्वेन = बिजली रूपी जीभ वाले, महेन्द्रचापोच्छ्रितायतभुजेन = इन्द्रधनुषरूपी ऊपर उठी हुई एव लम्बी भुजा वाले जलधरविवृद्धहनुना = बादलरूपी बढ़ी हुई ठोढ़ी वाले, अन्तरिक्षेण = आकाश के द्वारा, विजृम्भितम् इव = मानो जभाई ली गयी है।।

अर्थः— (ऊपर की ओर देखकर) अरे! इन्द्र धनुष! प्रिये, देखो! देखो!

बिजली रूपी जिह्वा वाले, इन्द्र धनुष रूपी ऊपर उठी हुई एवं लम्बी भुजावाले, पानी से भरे बादल रूपी बढ़ी हुई ठोढ़ी वाले आकाश ने मानों जँभाई ली है।।५१।।

टीका– विद्युत् = तडित् एव जिह्वा = रसना यस्य तेन; महेन्द्रस्य चापः = धनुः एव उच्छ्रितौ = उर्ध्वं प्रसारितौ भुजौ = बाहू यस्य तादृशेन; जलधरः = पयोधरः एव विवृद्धः = वृद्धिं प्राप्तः हनुः = चिबुकं यस्य तथोक्तेन; अन्तरिक्षेण = आकाशेन; विजृम्भितमिव = मुखव्यादानमिव विहितमित्यर्थः।।५१।।

इस श्लोक में रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलंकार तथा आर्या छन्द है।।५१।।

तदेहि, अभ्यन्तरमेव प्रविशावः (इत्युत्थाय परिक्रामति)

तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रुक्षं सलिलेषु चण्डम्।
संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः।।५२।।

अन्वयः– धाराः, तालीषु, तारं, विटपेषु, मन्द्रं, शिलासु, रूक्षं, सलिलेषु, चण्डम्, ताड्यमानाः, संगीतवीणा, इव, तालानुसारेण, पतन्ति।।५२।।

शब्दार्थः– धाराः = जल की धाराएँ, तालाषु = ताल के पत्तों पर, तारं = ऊँचे स्वर से, विटपेषु = पेड़ों की डालियों पर, मन्द्रं = गम्भीर ध्वनिपूर्वक, शिलासु = पत्थर की चट्टानों पर, रूक्षं = कर्कशता के साथ; सलिलेषु = जल में, चण्डम् = प्रचण्ड रूप से, ताड्यमाना = बजायी जाती हुई, संगीतवीणा = संगीत की वीणा (की), इव = तरह, तालानुसारेण = ताल के अनुसार, पतन्ति = गिर रही हैं।

अर्थः– तो आओ, भीतर ही चलें (ऐसा कह कर उठकर घूमता है)

(पानी की) धाराएँ ताल के पत्तों पर ऊँचे स्वर, पेड़ों की डालियों पर गम्भीर पत्थर की चट्टानों पर कर्कश तथा जल में प्रचण्ड (ध्वनि) से, बजायी जाती हुई संगीत की वीणा के समान, ताल के अनुसार गिर रही हैं।।५२।।

टीक – धाराः = जलधाराः; तालीषु = तालपत्रेषु; तारम् = उच्चैः; विटपेषु = वृक्षशाखासु, मन्द्रं = गम्भीरं, शिलासु = प्रस्तरखण्डेषु, रुक्षं = कर्कशं, सलिलेषु = जलेषु, चण्डम् = तीक्ष्णं यथा तथा, ताड्यमाना = वाद्यमाना, संगीतवीणा = संगीततन्त्री इव, तालानुसारेण = यथातालमित्यर्थः, पतन्ति = क्षरन्ति।।५२।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं उपजाति छन्द है।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(सब निकल जाते हैं)

इति दुर्दिनो नाम पञ्चमोऽकः।

।।दुर्दिन नामक पाँचवां अंक समाप्त।।

षष्ठोऽंकः

(ततः प्रविशति चेटी।)

चेटी– कधं अज्ज वि अज्जआ ण विवुज्झदि। भोदु, पबिसिअ पडिबोधइस्सं। (कथमद्यप्यार्या न विबुध्यते। भवतु, प्रविश्य प्रतिबोधयिष्यामि।)

(इति नाट्येन परिक्रामति।)

(ततः प्रविशति आच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना।)

चेटी– (निरूप्य।) उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ, पभादं वसुत्तं। (उत्तिष्ठतूत्तिष्ठत्वार्या। प्रभातं संवृत्तम्।)

वसन्तसेना–(प्रतिबुध्य।) गधं रत्ति ज्जेव्व पभादं सवुत्तं?। (कथं रात्रिरेव प्रभातं संवृत्तम्?)

चेटी– अम्हाणं एसो पभादो, अज्जआए उण रत्तिज्जेव्व। (अस्माकमेतत् प्रभातम्, आर्यायाः पुना रात्रिरेव।)

वसन्तसेना– हञ्जे! कहिं उण तुम्हाणं जूदिअरो?। (चेटि! कुतः पुनर्युष्माकं द्यूतकरः?)

चेटी– अज्जए! वड्ढमाणअं समादिसिअ, पुप्फकरंडअं जिण्णुज्जाणं गदो अज्जचारुदत्तो। (आर्ये! वर्धमानकं समादिश्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गत आर्यचारुदत्तः।)

वसन्तसेना– किं समादिसिअ?। (किं समादिश्य?)

चेटी– जोएहि रात्तीए पवहणं, वसन्तसेना गच्छदुत्ति। (योजय रात्रौ प्रवहणम्, वसन्तसेना गच्छत्विति।)

वसन्तसेना– हञ्जे! कहिं मए गन्तव्वं?। (चेटि! कुत्र मया गन्तव्यम्?)

चेटी– अज्जए! जहिं चारुदत्तो। (आर्ये! यत्र चारुदत्तः।)

वसन्तसेना– (चेटीं परिष्वज्य।) हञ्जे सुट्ठु ण निज्झाइदो रत्तीए, ता अज्ज पच्चक्खं पेक्खिस्सं। हञ्जे! किं पविट्टा अह इह अब्भंतरचदुस्सालअं?। (चेटि! सुष्ठु न निध्यातो रात्रौ, तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये। चेटि! किं प्रविष्टाहमिहाभ्यन्तरचतुःशालकम्?।)

चेटी– ण केवलं अब्भंतरचदुस्सालअं, सव्वजणस्स वि हिअअं पविट्टा। (न केवलमभ्यन्तरचतुः शालकम्, सर्वजनस्यापि हृदय प्रविष्टा।)

वसन्तसेना– अवि संतप्पदि चारुदत्तस्स परिअणो?। (अपि संतप्यते चारुदत्तस्य परिजनः?।)

चेटी– संतप्पिस्सदि। (संतप्स्यति।)

वसन्तसेना– कदा?। (कदा?।)

चेटी– जदो अज्जआ गमिस्सदि। (यदार्या गमिष्यति।)

वसन्तसेना– तदो मए पढमं संतप्पिदव्वं। (सानुनयम्) हञ्जे! गेण्ह एदं रअणावलिं। मम बहिणीआए अज्जाधूदाए गदुअ समप्पेहि। भणिदव्वं च-'अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी, तदा तुम्हाणं पि। ता एसा तुह ज्जेव्व कंठाहरणं होदु रअणावली'। (तदा मया प्रथमं संतप्तव्यम्। चेटि! गृहाणैतां रत्नावलीम्। मम भगिन्या आर्याधूतायै गत्वा समर्पय। वक्तव्यं च-'अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि। तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली'।)

चेटी– अज्जए! कुपिस्सदि चारुदत्तो अज्जाए दाव। (आर्ये! कुपिष्यति चारुदत्त आर्यायै तावत्।)

वसन्तसेना– गच्छ; ण कुपिस्सदि। (गच्छ; न कुपिष्यति।)

चेटी– (गृहीत्वा) जं आणवेदि। (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविशति) अज्जए! भणादि अज्जा घूदा-'अज्जउत्तेण तुम्हाणं पसादीकिदाः; ण जुत्तं मम एदं गेण्हिदुं। अज्जउत्तो ज्जेव्व मम आहरणविसेसो त्ति जाणादु भोदी'। (यदाज्ञापयति। आर्ये! भणत्यार्या घूता-'आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता; न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम्। आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेष इति

जानातु भवती'।)

(इसके बाद चेटी प्रवेश करती है)

अर्थः—

चेटी— *क्या आर्या वसन्तसेना अब भी नहीं सोकर उठ रही है? अच्छा, प्रवेश करके जगाऊँगी। (ऐसा कहकर अभिनय से घूमती है)।*

(इसके बाद ढँके हुए शरीरवाली सोई हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है)

चेटी— (देखकर) आर्ये! उठिए, उठिए। सबेरा हो गया।

वसन्तसेना— (जागकर) क्या रात ही सबेरा हो गयी?।

चेटी— हम लोगों का यह सबेरा है। किन्तु आर्या की तो रात ही है।

वसन्तसेना— चेटी! तुम लोगों के जुआरी आर्य चारुदत्त कहाँ हैं?।

चेटी— आर्ये! वर्धमानक को आज्ञा देकर आर्य चारुदत्त पुष्करण्डक नामक पुराने उद्यान में गये हैं।

वसन्तसेना— क्या आज्ञा देकर?।

चेटी— रात में ही गाड़ी ठीक करो चली जाय।

वसन्तसेना— चेटि! मुझे कहाँ जाना होगा?

चेटी— आर्ये! जहाँ चारुदत्त हैं।

वसन्तसेना— (चेटी को अपने शरीर से लिपटा कर) चेटि! रात में ठीक से नहीं देखा था। इसलिए आज आँखभर अर्थात् भलीभाँति देखूँगी। चेटि! क्या मैं यहाँ भीतरी चतुःशाला में आ गई हूँ।?

चेटी— न केवल भीतरी चतुःशाला में ही किन्तु सभी लोगों के हृदय में भी प्रवेश गई हो।

वसन्तसेना— क्या चारुदत्त का परिवार (मेरे यहाँ आने के कारण) दुःखी है?

चेटी— दुःखी होगा।

वसन्तसेना— कब?

चेटी— जब आर्या जायेंगी।

वसन्तसेना— तब तो मुझे ही सबसे पहले दुखी होना है। (विनय के साथ) चेटि! इस रत्नावली को ले लो। जाकर मेरी बहन आर्या धूता को समर्पित कर दो। और कह दो—'मैं गुणों से वश में की गयी श्री चारुदत्त की दासी हूँ, तब आपकी भी दासी ही हूँ। इसलिए यह रत्नावली आपके ही गले का आभूषण होवे।'

(ततः प्रविशति दारकं गृहीत्वा रदनिका)

रदनिका—एहि वच्छ! सअडिआए कीलम्ह। (एहि वत्स! शकटिकया क्रीडावः।)

दारकः— (सकरुणम्) रदणिए! किं मम एदाए मट्टिआसअडिआए। तं ज्जेव सोवण्णसअडिअं देहि। (रदनिके! किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया?। तामेव सौवर्णशकटिकां देहि।)

रदनिका—(सनिर्वेदं निःश्वस्य) जाद! कुदो अम्हाणं सुवण्णववहारो?। तादस्स पुणो वि रिद्धीए सुवण्णसअडिआए कीलिस्ससि। ता जाव विणोदेमि णं अज्जआवसंतसेणाए समीवं उपसप्पिस्सं। (उपसृत्य) अज्जए! पणमामि। (जात! कुतोऽस्माकं सुवर्णव्यवहारः?। तातस्य पुनरपि ऋद्ध्या सुवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि। तद्यावद्विनोदयाम्येनम्। आर्यावसन्तसेनायाः समीपमुपसर्पिष्यामि। आर्ये! प्रणमामि।)

वसन्तसेना—रदणिए! साअदं दे; कस्स उण अअं दारओ?। अणलंकिदसरीरो वि चंदमुहो आणंदेदि मम हिअअं। (रदनिके! स्वागतं ते; कस्य पुनरयं दारकः?। अनलंकृतशरीरोऽपि चन्द्रमुख आनन्दयति मम हृदयम्।)

रदनिका—एसो खु अज्जचारुदत्तस्स पुत्तो रोहसेणो णाम। (एष खल्वार्यचारुदत्तस्य पुत्रो रोहसेनो नाम।)

वसन्तसेना—(बाहू प्रसार्य) एहि मे पुत्तअ! आलिंग। (इत्यंक उपवेश्य) अणुकिदं अणेण पिदुणो रूवं। (एहि मे पुत्रक! आलिंग। अनुकृतमनेन पितू रूपम्।)

रदनिका—ण केवलं स्वं, सीलं स्वं तक्केमि। एदिणा अज्जचारुदत्तो अत्ताणअं विणोदेदि। (न केवलं रूपम्, शीलमपि तर्कयामि। एतेनार्यचारूदत्त आत्मानं विनोदयति।)

वसन्तसेना— अध किंणिमित्तं एसो रोअदि?। (अथ किंनिमित्तमेष रोदिति?।)

रदनिका—एदिणा पडिवेसिअगहवइदारअकेरिआए सुवण्णसअडिआए कीलिदं। तेण अ सा णीदा। तदो उण तं भग्गतस्स मए इअं मट्ठिआसअडिअ कदुआ दिण्णा। तदो भणादि-'रदणिए! किं मम एदाए मट्ठिआसअडिआए?। तं तुज्जेव्व सोवण्णस-अडिअं देहि' त्ति। (एतेन प्रतिवेशिकगृहपतिदारकस्य सुवर्णशकटिकया क्रीडितम्। तेन च सा नीता। ततः पुनस्तां याचतो मयेयं मृत्तिकाशकटिका कृत्वा दत्ता। ततो भणति-'रदनिके! किं ममैतया मृत्तिकाशकटिकया?। तामेव सौवर्णशकटिकां देहि' इति।)

वसन्तसेना—हद्धी हद्धी; अहं पि णाम परसंपत्तीए संतप्पदि। भअवं कअंत! पोक्खरवत्तपडिद- जलबिंदुसरिसेहिं कीलसि तुम पुरिस भाअधेएहिं। (इति साम्रा) जाद! मा रोद। सुवण्णसअडिआए कीलिस्ससि। (हा धिक् हा धिक; अयमपि नाम परसम्पत्त्या सन्तप्यते। भगवन्कृतान्त! पुष्करपत्रपतितजलबिन्दुसदृशैः क्रीडसि त्वं पुरुषभागधेयैः। जात! मा रुदिहि। सौवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि।)

दारकः— रदणिए! का एसा?। (रदनिके! कैषा?।)

वसन्तसेना— दे पिदुणो गुणणिज्जिदा दासी। (ते पितुर्गुणनिर्जिता दासी।)

रदनिका—जाद! अज्जआ दे जणणी भोदि। (जात! आर्या ते जननी भवति।)

दारकः— रदणिए! अलिअं तुमं भणासि; जइ अम्हाणं अज्जआ जणणी, ता कीस अलंकिदा?। (रदनिके! अलीकं त्वं भणसि; यद्यस्माकमार्या जननी, तत्किकर्थं-मलंकृता?।)

वसन्तसेना— जाद! मुद्धेण मुहेण अदिकरुणं मंतेसि। (नाट्येनाभरणन्यवतार्य रुदन्वती) एसा दाणिं दे जणणी सवुत्ता; ता गेण्ह एदं अलंकारअं, सोवण्णसअडिअं घडावेहि। (जात! मुग्धेन मुखेनातिकरुणं मन्त्रयसि। एषेदानीं ते जननी सवृत्ता; तद्गृहाणैतमलंकारम्, सौवर्णशकटिकां कारय।)

दारकः— अवेहि, ण गेण्हिस्सं, रोदसि तुमं। (अपेहि, न ग्रहिष्यामि, रोदिषि त्वम्।)

वसन्तसेना— (अश्रूणि प्रमृज्य) जाद ण रोदिस्सं। गच्छ, कील। (अलंकारैर्मृच्छकटिकां पूरयित्वा) जाद! कारेहि सोवण्णसअडिअं (जात! न रोदिष्यामि। गच्छ, क्रीड। जात! कारय सौवर्णशकटिकाम्।)

चेटी— आर्ये! तब चारुदत्त आर्या पर नाराज होंगे।

वसन्तसेना—जाओ, नहीं नाराज होंगे।

अर्थः—

चेटी— (लेकर) जैसी आपकी आज्ञा। (ऐसा कहकर निकल कर फिर प्रवेश करती है) आर्ये! आर्या धूता कह रही है—आर्यपुत्र ने प्रसन्न होकर इसे आपको दिया है, (इसलिए) मेरा लेना ठीक नहीं है। आप यह जान लें कि आर्यपुत्र ही मेरे विशेष आभूषण है।'

(इति दारकमादाय निष्क्रान्ता रदनिका)

(उसके बाद बच्चे को लेकर रदनिका प्रवेश करती है)

रदनिका—आओ बेटे! गाड़ी से खेलें।

बच्चा— (करुणा के साथ) रदनिके! मिट्टी की इस गाड़ी से मुझे क्या? वही सोने की गाड़ी दो।

रदनिका– (दुःख के साथ लम्बी साँस लेकर) बेटे! हमारे यहाँ सोने का व्यवहार कहाँ? जब तुम्हारे पिताजी फिर धनी हो जायेंगे तब सोने की गाड़ी से खेलना। तो जब तक इसको बहलाती हूँ। आर्या वसन्तसेना के पास ले चलूँ। (पास में जाकर) आर्ये! प्रणाम करती हूँ।

अर्थः–

वसन्तसेना–रदनिके! तुम्हारा स्वागत है। यह बच्चा किसका है? आभूषणरहित शरीरवाला भी चन्द्रमा जैसा मुखवाला यह मेरे हृदय को आनन्दित कर रहा है।

रदनिका– यह आर्य चारुदत्त का पुत्र है। इसका नाम रोहसेन है।

अर्थः–

वसन्तसेना– (बाँहों को फैला कर) आओ मेरे बच्चे! मेरी शरीर से लिपट जाओ। (गोदी में बैठकर) इसने पिता के ही रूप की नकल की है।

रदनिका– न केवल रूप ही। अनुमान करती हूँ, स्वभाव भी (इसने पिता के समान ही पाया है)। आर्य चारुदत्त इससे अपने को बहलाते हैं।

वसन्तसेना– अच्छा, तो यह क्यों रो रहा है?

रदनिका– यह पड़ोसी घर वाले के बच्चे की सोने की गाड़ी से खेला है। वह बच्चा अपनी गाड़ी ले गया। तब फिर उस (सोने की गाड़ी) को माँगने पर मैंने मिट्टी की यह गाड़ी बनाकर दे दी। तभी से यह कह रहा है–'रदनिके! मुझे इस मिट्टी की गाड़ी से क्या? वही सोने की गाड़ी दो।'

वसन्तसेना– हाय! हाय!! यह भी परायी सम्पत्ति से दुःखी होता है। भगवान् क्रुद्ध दैव! कमल के पत्ते पर गिरी हुई पानी की बूँदों के समान मनुष्य के भाग्यों से तुम खिलवाड़ करते हो। (ऐसा कह कर आँखों में आँसुओं को भर कर) बेटे! मत रोओ। सोने की गाड़ी से खेलना।

बच्चा– रदनिके! यह कौन है?

वसन्तसेना– तुम्हारे पिता के गुणों के द्वारा वश में की गयी दासी।

रदनिका– बेटे! आर्या वसन्तसेना आपकी माता होती हैं।

बच्चा– रदनिके! तुम झूठ बोल रही हो। यदि हमारी माता हैं, तो किसलिए इतने आभूषण पहने हैं?

वसन्तसेना– बेटे! भोले–भाले मुँह से अत्यन्त करुणापूर्वक बोल रहे हो। (अभिनय से आभूषण उतार कर रोती हुई) लो, यह अब तुम्हारी माता हो गयी। तो इस आभूषण को ग्रहण करो। सोने की गाड़ी बनवा डालो।

बच्चा– जाओ नहीं लूँगा। तुम रो रही हो।

वसन्तसेना– (आँसुओं को पोछकर) बेटे। रोऊँगी नहीं। जाओ, खेलो। बच्चे! सोने की गाड़ी बनवा लो।

(बच्चे को लेकर रदनिका निकल जाती है)

(प्रविश्य)

रदनिका–अज्जए! एसो वड्ढमाणओ विण्णवेदि-'पक्खदुआरए सज्जं पवहणं' त्ति। (आर्ये! एष वर्धमानको विज्ञापयति-पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम्' इति।)

वसन्तसेना–हज्जे! चिट्ठदु मुहुत्तअं; जाव अहं अत्ताणअं पसाधेमि। (चेटि! तिष्ठतु मुहूर्तकम्; यावदहमात्मानं प्रसाधयामि।)

रदनिका–(निष्क्रम्य) वड्ढमाणआ! चिट्ठ मुहुत्तअं; जाव अज्जआ अत्ताणअं पसाधेदि। (वर्धमानक! तिष्ठ मुहूर्तकम्; यावदार्यात्मानं प्रसाधयति।)

चेटः– ही ही भो, मए वि जाणत्थलके विशुमलिदे। ता जाव गेण्हिअ आअच्छामि। एदे णश्शालज्जुकडुआ बइल्ला। भोदु,

पवहणेण ज्जेव गदागदिं कलिश्शं। (हीही भोः! मयापि यानास्तरणं विस्मृतम्। तद्यावद्गृहीत्वागच्छामि। एतौ नासिकारज्जुकटुकौ बलीवर्दौ। भवतु, प्रवहणेनैव गतागतिं करिष्यामि। (इति निष्क्रान्तश्चेटः)

वसन्तसेना– **हज्जे! उवणेहि मे पसाहणं। अत्ताणअं पसाधइस्सं। (चेटि! उपनय मे प्रसाधनम्। आत्मानं प्रसाधयिष्यामि।) (इति प्रसाधयन्ती स्थिता)**

(गाड़ी पर बैठा हुआ प्रवेश करके)

अर्थः–

चेट– रदनिके! रदनिके! आर्या वसन्तसेना से निवेदन करो–'बगल के दरवाजे पर पर्दे से ढकी हुई तैयार गाड़ी खड़ी है

(प्रवेश करके)

रदनिका– आर्ये! यह वर्धमानक सूचित करते हैं कि–'बगल के दरवाजे पर तैयार गाड़ी खड़ी है।

वसन्तसेना– चेटि! क्षण भर ठहरे। जब तक मैं अपने को सजा–सँवार लेती हूँ।

रदनिका– (निकलकर) वर्धमानक! क्षण भर ठहरो। जब तक आर्या अपने को सुसज्जित करती हैं।

चेट– अरे ताज्जुब! मैं भी गाड़ी का बिछावन भूल आया। तो जब तक लेकर आता हूँ। नाक में पहनाई गई नाथ के कारण ये दोनों बैल तीखे हैं। अच्छा, गाड़ी से ही जाना–आना करूँगा। (ऐसा कहकर चेट निकल जाता है)।

वसन्तसेना– चेटि! सजाने–सँवारने की चीजें लाकर मुझे दो। अपने को सुसज्जित करूँगी। (ऐसा कह कर श्रृंगार करती हुई स्थित होती है)।

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढः)

चेटः– **लदणिए लदणिए! णिवेदेहि अज्जआये वशंतशेणाये-'ओहालिअं पक्ख दुआलए शज्जं पवहणं चिट्ठदि'। (रदनिके रदनिके! निवेदयार्यायै वसन्तसेनायै-'अपवारितं पक्षद्वारके सज्जं प्रवहणं तिष्ठति'।)**

(प्रविश्य प्रवहणाधिरूढः)

स्थावरकश्चेटः– **आणत्तम्हि लाअशालअशंठाणेण-'यावलआ! पवहणं गेण्हिअ पुप्फकलंडअं जिण्णुज्जाणं तुलिदं आअच्छेहि, त्ति। भोदु, तहिं ज्जेव गच्छामि। वहध बइल्ला! वहध। (परिक्रम्यावलोक्य च) कधं गामशअलेहिं लुद्धे मग्गे?। किं दाणिं एत्थ कलइश्शं?। (साटोपम्) अले ले, ओशलध ओशलध। (आकर्ण्य) किं भणाध-'एशे कश्शकेलके पवहणे' त्ति? एशे लाअशालअशंठाणकेलके पवहणे त्ति। ता शिग्घं ओशलध। (अवलोक्य) कधं एशे अवले शहिअं विअ मं पेक्खिअ शहश ज्जेव जूदपलाइदे विअ जूदिअले ओहालिअ अत्ताणअं अण्णदो अवक्कंते?। ता को उण एशे? अधवा किं मम एदिणा? तुलिदलं गमिश्शं। अले ले गामलुआ! ओशलध ओशलध। (आकर्ण्य) किं भणाध-'मुहुत्तअं चिट्ठ, चक्कपलिवट्टिं देहि' त्ति?। अले ले, लाअशालअशंठाणकेलके हग्गे शूले चक्कपलिपट्टिं दइश्शं। अधवा एशे एआई तवश्शी। ता एव्वं कलेमि। एदं पवहणं अज्जचालुदत्तश्श रुक्खवाडिआए पक्खदुआलए थावेमि। (इति प्रवहणं संस्थाप्य) एशे म्हि आअदे। (आज्ञप्तोऽस्मि राजश्यालकसंस्थानेन-'स्थावरक! प्रवहणं गृहीत्वा पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं त्वरितमागच्छ' इति। भवतु, तत्रैव गच्छामि। वहतं बलीवर्दाः! वहतम्। कथं ग्रामशकटै रुद्धो मार्गः?। किमिदानीमत्र करिष्यामि? अरे रे, अपसरत अपसरत। किं भणथ-'एतत्कस्य प्रवहणम्' इति?। एतद्राजश्यालकसंस्थानस्य प्रवहणमिति। तच्छीघ्रमपसरत। कथमेषोऽपरः सभिकमिव मां प्रेक्ष्य सहसैव द्यूतपलायित इव द्यूतकरोऽपवार्यात्मानमन्यतोऽपक्रान्तः? तत्कः पुनरेषः?। अथवा किं ममैतेन?। त्वरितं गमिष्यामि। अरे रे ग्राम्याः! अपसरत अपसरत। किं भणथ-'मुहूर्तकं तिष्ठ, चक्रपरिवृत्तिं देहि' इति?। अरे रे, राजश्यालकसंस्थानस्याहं शूरश्चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि। अथवा एष एकाकी तपस्वी। तदेवं करोमि। एतत्प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायाः पक्षद्वारके स्थापयामि। एषोऽस्म्यागतः।) (इति निष्क्रान्तः)**

चेटी– **अज्जए! णेमिसद्दो विअ सुणीअदि। ता आअदो पवहणो। (आर्ये! नेमिशब्द इव श्रूयते। तदागतं प्रवहणम्।)**

वसन्तसेना– **हज्जे! गच्छ तुवरदि मे हिअअं; ता आदेसेहि पक्खदुआलअं। (चेटि! गच्छ, त्वरयति मे हृदयम्: तदादिश पक्षद्वारम्।)**

चेटी– एदु एदु अज्जआ। (एत्वेत्वार्या।)

वसन्तसेना– (परिक्रम्य) हञ्जे! वीसम तुमं। (चेटि! विश्राम्य त्वम्।)

चेटी– जं अज्जआ आणवेदि। (यदार्याज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्ता)

वसन्तसेना– (दक्षिणाक्षिस्पन्दं सूचयित्वा, प्रवहणम धिरुह्य च) किं ण्णेदं फुरदि दाहिणं लोअणं? अधवा चारुदत्तस्स ज्जेव दंसणं अणिमित्तं पमज्जइस्सदि। (किं न्विदं स्फुरति दक्षिणं लोचनम्? अथवा चारुदत्तस्यैव दर्शनमनिमित्तं प्रमार्जयिष्यति।)

(प्रविश्य)

स्थावरकश्चेटः– ओशालिदा मए शअडा। ता जाव गच्छामि। (इति नाट्येनाधिरुह्य चालयित्वा, स्वगतम्) भालिके पवहणे। अधवा चक्कपलिवट्टिआए पलिश्शंतश्श भालिके पवहणे पडिभाशेदि। भोदु, गमिश्शं। जाध गोणा! जाध। (अपसारिता मया शकटाः। तद्यावद्गच्छामि। भारवत्प्रवहणम्। अथवा चक्रपरिवर्तनेन परिश्रान्तस्य भारवत्प्रवहणं प्रतिभासते। भवतु, गमिष्यामि। यातं गावौ! यातम्।)

(नेपथ्ये)

अरे रे दोवारिआ! अप्पमत्ता सएसु सएसु गुम्मट्ठाणेसु होध। एसो अज्ज गोवालदारओ गुत्तिअं भंजिअ गुत्तिवालअं वावादिअ बंधणं भेदिअ परिब्भट्टो अवक्कमदि, ता गेण्हध गेण्हध। (अरे रे दौवारिकाः! अप्रमत्ताः स्वेषु स्वेषु गुल्मस्थानेषु भवत। एषोऽद्य गोपालदारको गुप्तिं भङ्क्त्वा गुप्तिपालकं व्यापाद्य बन्धनं भित्वा परिभ्रष्टोऽपक्रामति, तद्गृह्णीत गृह्णीत।)

(प्रविश्यापटीक्षेपेण सभ्रान्त एकचरणलग्ननिगडोऽवगुण्ठित आर्यकः परिक्रामति)

(गाड़ी पर चढ़ा हुआ प्रवेश करके)

राजा के साले संस्थानक के द्वारा मुझे आज्ञा दी गयी है–'स्थावरक! गाड़ी लेकर पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में शीघ्र आओ।' अच्छा, वहीं जाता हूँ। चलो, बैलों! चलो। (घूमकर और देखकर) क्या गाँव की गाड़ियों से रास्ता रुक गया है? अब यहाँ क्या करूँ? (घमण्ड के साथ) अरे रे! हटो–हटो। (सुनकर) क्या कह रहे हो–'यह किसकी गाड़ी है?' यह राजा के साले संस्थानक की गाड़ी है। तो शीघ्र हटो। (देखकर) जुआ से भागा हुआ जुआरी के समान यह दूसरा जुआ खेलाने वाले के समान मुझे देखकर अपने को छिपाकर जल्दी से ही दूसरी ओर भाग गया? तो फिर यह कौन है? अथवा मुझको इससे क्या? शीघ्र ही चलूँ। अरे रे गाँव के आदमियों! हटो हटो। (सुनकर) क्या कह रहे हो–'क्षण भर ठहरो। जरा पहिये में सहारा लगा दो।' अरे! राजा के साले संस्थानक का शूर (सेवक) मैं पहिये में सहारा लगाऊँगा?। अथवा यह बेचारा अकेला है। तो ऐसा करता हूँ अर्थात् सहारा लगा देता हूँ। इस गाड़ी को आर्य चारुदत्त की वृक्षवाटिका की खिड़की पर खड़ी कर देता हूँ। (गाड़ी खड़ी करके) यह मैं आ ही गया। (निकल जाता है)।

चेटी– गाड़ी की नेमि का शब्द सुनायी पड़ रहा है। इसलिये (प्रतीत होता है कि) गाड़ी आ गयी है।

वसन्तसेना–चेटि! चलो। मेरा हृदय उत्कण्ठित हो रहा है। अतः पक्षद्वार का रास्ता बतलाओ।

चेटी– आर्ये! आइये, आइये।

वसन्तसेना– (घूमकर) चेटि! तुम आराम करो।

चेटी– जो आर्या आज्ञा देती हैं। (निकल जाती है)

वसन्तसेना– (दाहिनी आँख का फड़कना सूचित करके और रथ पर चढ़कर) क्यों यह दाहिनी आँख फड़क रही है? अथवा चारुदत्त का दर्शन ही अनिष्ट को दूर करेगा।

(प्रवेश करके)

स्थावरक **चेट**– मैंने गाड़ियों को हटा दिया है। इसलिये अब जाता हूँ। (ऐसा कहकर अभिनय के साथ गाड़ी पर चढ़कर, चलाकर, अपने आप) गाड़ी बोझिल (मालूम पड़ती है)। अथवा पहिये में जोर लगाने के कारण थके हुए मुझको गाड़ी बोझिल

सी लग रही है। अच्छा, चलूँगा। चलो, बैलों! चलो।

(पर्दे के पीछे)

अरे द्वारपालों! अपनी–अपनी चौकियों पर सावधान हो जाओ। यह अहीर का लड़का कारागार को तोड़कर, कारागार के रखवाले को मारकर, हथकड़ी को तोड़ कर छूटा हुआ भागा जा रहा है। अतः पकड़ो! पकड़ो।

(बिना पर्दा गिरे ही प्रवेश करके घबड़ाया हुआ एक पैर में पड़ी हुई बेड़ी वाला कपड़े से मुँह छिपाये हुए आर्यक घूमता है।)

चेटः– **(स्वगतम्) महते णअलीए शंभमे उप्पण्णे। ता तुलिदं तुलिदं गमिश्मं। (महान्नगर्या सम्भ्रम उत्पन्नः। तत्त्वरितं त्वरितं गमिष्यामि।)**

(इति निष्क्रान्तः)

आर्यकः–

हित्वाऽहं नरपतिबन्धनापदेश-
व्यापत्तिव्यसनमहार्णवं महान्तम्।
पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी
प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद्भ्रमामि।।१।।

अन्वयः– महान्तम्, नरपतिबन्धनापदेशव्यापत्तिव्यसनमहार्णवं, हित्वा, पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी, अहं, बन्धनात्, प्रभ्रष्टः गजः इव भ्रमामि।।१।।

चेटः– (अपने आप) नगरी में बहुत अधिक घबड़ाहट पैदा हो गई है। इसलिये जल्दी, जल्दी चलूँगा।

शब्दार्थः– महान्तम् = बहुत बड़े, नरपतिबन्धनापदेशव्यापत्तिव्यसनमहार्णवं = राजा की कैद के बहाने से होने वाली बहुत बड़ी आपत्ति रूप संकट के सागर को, हित्वा = पार करके, पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी = पैर के निचले हिस्से में लगी बेड़ी रूप एक पाश को खींचने वाला, अहं = मैं बन्धनात् = बन्धन से, प्रभ्रष्टः = छूटे हुए, गजः इव = हाथी के समान, भ्रमामि = घूम रहा हूँ।

(ऐसा कहकर निकल जाता है)

अर्थः–

आर्यक– राजा की कैद के बहाने से होने वाली बहुत बड़े आपत्तिरूप संकट के विशाल महासागर को पार करके पैर के निचले हिस्से में लगे; बेड़ी रूप एक पाश को खींचने वाला मैं, बन्धन से छूटे हुए हाथी के समान, घूम रहा हूँ।।१।।

टीका– महान्तम् = दुस्तरम् इत्यर्थः; नरपतेः = राज्ञः पालकस्य बन्धनं = कारागारावरोधः तदेव व्यपदेशः = व्याजः तेन या व्यापत्तिः, विशाला आपत्तिः ताडनबधादिविपत्तिः तद्रूपं यत् व्यसनं = कष्टं संकटमित्यर्थः तदेव महार्णवः = विशालसागरः तं; हित्वा = कथंचित् परित्यज्य; पादाग्रे = चरणाग्रे स्थितः = संलग्नः यः निगडः = श्रृंखला सः एव एक एव पाशः = अवरोधकः तं कर्षति इति तथोक्तः; अहम् = आर्यकः; बन्धनात् = श्रृंखलायाः; प्रभ्रष्टः = च्युतः गजः = हस्ती इव; भ्रमामि = चलामि।।१।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं प्रहर्षिणी छन्द है। छन्द का लक्षण–त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।।१।

भोः, अहं खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राज्ञा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः। तस्माच्च प्रियसुहृच्छर्विलकप्रसादेन बन्धनात्परिभ्रष्टोऽस्मि। (अश्रूणि विसृज्य)

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधो
यद्वन्यनाग इव संयमितोऽस्मि तेन।
दैवी च सिद्धिरपि लंघयितुं न शक्या,
गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः?।।२।।

अर्थः— अरे! सिद्ध की भविष्यवाणी से डरे हुए राजा पालक के द्वारा मुझे अहीरों की बस्ती से मँगवाकर मार डालने वाले गुप्त कारागार में बेड़ियों से एवं हथकड़ियों से जकड़ दिया गया था। प्रिय मित्र शर्विलक की कृपा से उस कारागार से छूट गया हूँ। (आँसू बहाकर)

अन्वयः— यदि, मे, भाग्यानि, तदा, मम, कः, अपराधः; यत्, तेन, वन्यनागः, इव, संयमितः, अस्मि; दैवी, सिद्धिः, अपि, च, लङ्घयितुं, न, शक्या, (तथापि); नृपः, गम्यः, बलवता, सह, कः, विरोधः?।।२।।

शब्दार्थः— यदि = यदि, मे = मेरे, भाग्यानि = भाग्य है, तदा = तब, मम = मेरा, कः = कौन, अपराधः = दोष? यत् = जिससे, तेन = उस राजा के द्वारा, वन्यनागः = जंगली हाथी, इव = जैसा, संयमितः = बन्धन में डाल दिया गया, अस्मि = हूँ, दैवी = भाग्यवश होने वाली, सिद्धिः = राज्य की प्राप्ति, अपि = भी, लंघयितुं = टाली जाने के लिये, न = नहीं, शक्या = योग्य है, (तथापि = तो भी) नृपः = राजा, गम्यः = सेवा करने के योग्य है, बलवता = बलवान् के साथ, कः = कौन, विरोध?।।

अर्थः— यदि मेरे भाग्य हैं, तो उसमें मेरा कौन सा दोष? जिससे उस राजा पालक के द्वारा मैं, जंगली हाथी के समान, बन्धन में डाल दिया गया था। भाग्य वश होने वाली राज्य की सिद्धि भी टाली नहीं जा सकती। फिर भी राजा (सबके लिये) सेवा करने के योग्य है। (क्योंकि) बलशाली के साथ क्या विरोध? (अर्थात्—भाय में यदि राज्य होगा तो वह अवश्य मिलेगा। किन्तु इस समय बलशाली राजा से विरोध करके कष्ट उठाना ठीक नहीं है। उससे मेल कर लेना चाहिए)।।२।।

टीका— यदि = चेत्, मे = मम आर्यकस्य, भाग्यानि = राज्यभोगप्रदानि पूर्वकर्माणि; तदा = तर्हि; मम = मे, कः = कीदृशः; अपराधः = दोषः? अर्थात् न कोऽपि मम दोषः। यत् = यस्मात्; तेन = राज्ञा पालकेन; वने = अरण्ये भवः वन्यः = वनोत्पन्नः इत्यर्थः स चासौ गजः = हस्ती, इव; संयमितः = निगडितः, बद्धः; अस्मि = वर्ते। दैवी = भाग्याधीना; सिद्धिः = राज्यलाभः, अपि च, लंघयितुम् = अतिक्रामयितुं; न शक्या = न योग्या; भाग्यं यत् ललाटे लिखितं तत् मार्जितुं न शक्यते इत्यर्थः। तथापि नृपः = राजा; गम्यः = आश्रयणीयः भवतीति शेषः; यतः बलवता = बलशालिना जनने; सह = साकं; कः = कीदृशः; विरोधः = विवादः; निर्बलस्येति।।२।।

इस श्लोक में उपमा एवं अर्थान्तरन्यास अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।।२।।

तत्कुत्र गच्छामि मन्द भाग्यः?। (विलोक्य) इदं कस्यापि साधेरनावृतपक्षद्वारं गेहम्।

इदं गृहं भिन्नमदत्तदण्डो विशीर्णसंधिश्च महाकपाटः।
ध्रुवं कुटुम्बी व्यसनाभिभूतां दशां प्रपन्नो मम तुल्यभाग्यः।।३।।

तदिमं तावत्प्रविश्य तिष्ठामि।

(नेपथ्ये)

अर्थः— तो अभागा मैं कहाँ जाऊँ (देखकर) यह किसी सज्जन का खुली हुई खिड़की वाला घर है।

अन्वयः— इदं, गृहं, भिन्नम्, अदत्तदण्डः, विशीर्णसन्धिः, महाकपाटः, च, (अस्ति, अतः, ज्ञायते); मम, तुल्यभाग्यः, कुटुम्बी, ध्रुवं, व्यसनाभिभूतां, दशां, प्रपन्नः, (अस्ति)।।३।।

शब्दार्थः— इदं = यह, गृहं = घर, भिन्नम् = फूटा हुआ है, अदत्तखण्डः = बिना बेड़ा दी हुई, विशीर्णसन्धिः = फटे हुए जोड़ स्थान वाली, महाकपाटः = विशाल किवाड़, (अस्ति = है, अतः = इसलिये, ज्ञायते = मालूम पड़ता है) मम = मेरे, तुल्यभाग्यः = जैसा भाग्य वाला, कुटुम्बी = घर का मालिक, ध्रुवं = निश्चय ही, व्यसनाभिभूतां = दुःखों से भरी हुई, दशां = हालत को, प्रपन्नः = प्राप्त हुआ (अस्ति = है)।

अर्थः— यह घर फूटा हुआ है। बिना दण्ड लगायी हुई, फटे हुए जोड़—स्थान वाली, किवाड़ है। (अतः मालूम पड़ता है कि) मेरे जैसा मन्द भाग्यवाला यह घर का मालिक अवश्य ही दुःखों से भरी हालत को प्राप्त हो गया है।।३।।

इसलिए इसी में घुसकर बैठता हूँ।

टीका– इदं = पुरोवर्ति; गृहं = भवनं; भिन्नम् = यत्र तत्र स्फुटितम्। न दत्तः = संलग्नः दण्डः = अर्गला, यस्मिन् तादृश., कपा.स्य उद्घाटितत्वात् गृहे धनशून्यता ज्ञायते इति भावः; विशीर्णः = जीर्णः सन्धि = फलकानां संयोजनं यस्य तादृशश्च अस्तीति शेषः; अतः ज्ञायते; मम तुल्यं = सदृशं भाग्यं यस्य सः; कुटुम्बो = गृहस्वामी; ध्रुवम् = अवश्य; व्यसनेन = विपत्त्या अभिभूताम् = आक्रान्तां; दशाम् = अवस्थां; प्रपन्नः = प्राप्तः अस्तीति शेषः।।३।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं उपेन्द्रवज्रा छन्द है।।३।।

जाध गोणा! जाध। (यातं गावौ,! यातम्।)

आर्यकः– (आकर्ण्य) अये, प्रवहणमित एवाभिवर्तते।

भवेद्गोष्ठीयानं न च विषमशीलैरधिगतं
वधूसंयानं वा तदभिगमनोपस्थितमिदम्।
बहिर्नेतव्यं वा प्रवरजनयोग्यं विधिवशा-
द्विविक्तत्वाच्छून्यं मम खलु भवेद्दैवविहितम।।४।।

अन्वयः– इदम्, विषमशीलैः, अधिगतं, गोष्ठयानं, न, च, भवेत्; वा, वधूसंयानं, (न, भवेत्); (यत्) तदभिगमनोपस्थितम् (अस्ति), वा, मम विधिवशात्, शून्यं, बहिः; नेतव्यं, प्रवरजनयोग्यं, (न भवेत्), विविक्तत्वात्, खलु, (मम), दैवविहितम्, भवेत्।।४।

शब्दार्थः– इदम् = यह (गाड़ी), विषमशीलैः = खराब आचरणवालों के द्वारा अधिगतं = चढ़ी गयी, गोष्ठीयानं = उत्सव अ.वा सभा में जाने वाली सवारी, न भवेत् = न हो? वा = अथवा, वधूसंयानं = दुलहिन की सवारी, (न भवेत = न हो?) (यत् = जो) तदभिगमनोपस्थितम् = उसे ले जाने के लियेआयी हुई (अस्ति = है); वा = अथवा, मम = मेरे विधिवशात् = भाग्य के कारण; शून्यं = सूनी, बहिः = बाहर, नेतव्यं = ले जाने वाली, प्रवरजनयोग्यं = बड़े लोगों के चढ़ने के लायक, (न भवेत् = न हो?), (अथवा) विविक्तत्वात् = निर्जन होने के कारण, खलु = निश्चय ही, (मम = मेरे) दैवविहितम् = भाग्य के द्वारा भेजी गयी, भवेत् = हो?।।

(पर्दे के पीछे)

बढ़े चलो बैलों! बढ़े चलो।

अर्थः–

आर्यक– (सुनकर) अरे, गाड़ी इधर ही आ रही है।

यह गाड़ी खराब आचरणवाले आदमियों के द्वारा चढ़ी गयी किसी उत्सव में जाने वाली सवारी न हो अथवा यह किसी दुलहिन की सवारी न हो जो उसे ले जाने के लिये आयी है? अथवा भाग्य के कारण सूनी बाहर ले जाने वाली, बड़े लोगों के चढ़ने के लायक न हो अथवा निर्जन होने के कारण खाली यह गाड़ी निश्चय ही मेरे भाग्य के द्वारा न भेजी गयी हो?।।४।।

टीका– इदम् = पुरोदृश्यमानं प्रवहणं; विषयमशीलैः = भ्रष्टचरित्रैः; अधिगतम् = अधिष्ठितं; गोष्ठी = विद्वत्परिषत् सभा वा तत्र गमनार्थं यानं = प्रवहणं; न च भवेत् = न च स्यात्; वा = अथवा; वध्वाः = नूतनविवाहितायाः स्त्रियः संयानं = प्रवहणं, न भवेत्, यत्; तस्याः = बध्वाः अभिगमनाय = गन्तुमित्यर्थः, उपस्थितम् = आगतम्, अस्ति; वा = अथवा, मम = आर्यकस्य; विधिवशात् = भाग्यवशात्; शून्यं = रिक्तं; बहिः = बाह्यप्रदेशे; नेतव्यं = नेतुं योग्यं; प्रवरजनाना = श्रेष्ठजनानां योग्यम् = अधिरोहणोचितं; न भवेत्? अथवा, विविक्तत्वात् = निर्जनत्वात्, परिजनादिरहितत्वादितिभावः, खलु = निश्चितं, मम दैवेन = पूर्वपुण्येन विहितं = प्रापितमित्यर्थः; भवेत् = स्यात्।।४।।

इस श्लोक में सन्देह नामक अलंकार तथा शिखरिणी छन्द है।।४।।

(ततः प्रवहणेन सह प्रविश्य)

वर्धमानकश्चेटः— हीमाणहे, आणीदे मए जाणत्थलके। लदणिए! णिवेदेहि अज्जआए वशंतशेणाए—'अवत्थिदे शज्जे पवहणे अहिलुहिअ पुप्फकलंटअं जिण्णुज्जाणं गच्छदु अज्जआ'। (आश्चर्यम्, आनीतं मया यानास्तरणम्। रदनिके! निवेदयार्यायै वसन्तसेनायै-'अवस्थितं सज्जं प्रवहणमधिरुह्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गच्छत्वार्या'।)

चेटः— (श्रुत्वा) कधं णेउलशद्दे?। ता आअदा खु अजआ। अज्जए! इमे णश्श कडुआ बइल्ला। ता पिट्ठदो ज्जेव आलुहदु अज्जआ। (कथं नूपुरशब्दः?। तदागता खल्वार्या। आर्ये! इमौ नासिकारज्जुकटुकौ बलीवर्दौ। तत्पृष्ठत एवारोहत्वार्या।)

(आर्यकस्तथा करोति)

चेटः— पादुप्फालचालिदाणं णेउलाणं वीशंतो शद्दो, भलक्कंते अ पवहणे। तथा तक्केमि शंपदं अज्जआए आलूढाए होदव्वं; ता गच्छामि। जाध गोणा! जाध। (पादोत्फालचालितानां नूपुराणां विश्रान्तः शब्दः, भाराक्रान्तं च प्रवहणम्। तथा तर्कयामि सांप्रतमार्ययारूढया भवितव्यम्ः तद्गच्छामि। यातं गावौ! यातम्।) (इति परिक्रामति)

(प्रविश्य)

वीरकः— अरे रे, अरे जअ-जअमाण-चंदणअ-मंगल-पुल्लभद्दप्पमुहा!

किं अच्छध वीसद्धा जो सो गोवालदारओ बद्धो।
भेत्तूण समं वच्चइ णरवइहिअअं अ बंधणं चादि।।५।।

(अरे रे, अये जय-जयमान-चन्दनक—मंगल-पुष्पभद्र-प्रमुखाः!

किं स्थ विश्रब्धा यः स गोपालदारको बद्धः।
भित्त्वा समं व्रजति नरपतिहृदयं च बन्धनं चापि।।

(उसके बाद गाड़ी के साथ प्रवेश करके)

अर्थः—

वर्धमानक चेट— आश्चर्य! मैं गाड़ी की बिछावन ले आया। रदनिके! आर्या वसन्तसेना से निवेदन करो—'तैयार गाड़ी खड़ी है, उस पर चढ़ कर आप पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में जाय।'

आर्यक— (सुनकर) यह वेश्या की सवारी है। और बाहर जाने वाली है। अच्छा, चढ़ता हूँ। (ऐसा कह कर धीरे से चढ़ता है)।

चेट— (सुनकर) क्या पायल का शब्द? तो निश्चय ही आर्या वसन्तसेना आ गयीं। आर्ये! ये बैल नाक में पहनायी गयी रस्सी के कारण तीखे हैं। इसलिए आप पीछे से ही चढ़ें।

(आर्यक वैसा ही करता है)

चेट— पैरों के उठाने से हिलने वाले नूपुरों की झंकार बन्द हो गयी है। गाड़ी भी बोझिल हो गयी है। इससे अन्दाज करता हूँ कि अब आर्या वसन्तसेना चढ़ चुकी होंगी। तो अब चलता हूँ। चलो बैलों! चलो (ऐसा कहकर घूमता है)।

अन्वयः— विश्रब्धाः, किं, स्थ, यः, गोपालदारकः, रुद्धः, सः, नरपतिहृदयं, च, बन्धनम्, अपि, समं, भित्त्वा, व्रजति।।५।।

शब्दार्थः— विश्रब्धाः = निश्चिन्त, किं = क्यों, स्थ = हो? यः = जो, गोपालदारकः = अहीर का लड़का, रुद्धः बन्दी था, सः = वह, नरपतिहृदयं = राजा के हृदय को, च = और, बन्धनं = बन्धन को, अपि = भी, समं = एक साथ, भित्त्वा = तोड़ कर, व्रजति = जा रहा है।।

(प्रवेश करके)

अर्थः—

वीरकः— अरे! अरे! जय, जयमान, चन्दनक, मंगल एवं पुष्पभद्र आदि प्रधान (रक्षकों)।

तुम लोग निश्चिन्त होकर क्यों खड़े हो? जो अहीर का लड़का बन्दी बनाया गया था, वह राजा के हृदय एवं बन्ध दोनों को एक साथ ही तोड़कर भागा जा रहा है।।५।।

टीका— विश्रब्धाः = विश्वस्ताः; किं = कथं; स्थ = तिष्ठथ। यः गोपालस्य = आभीरस्य दारकः = पुत्रः रुद्धः = बद्धः आसीत्, सः नरपतेः = राज्ञः हृदयं = चेतः, च = तथा, बन्धनं = कारागारञ्चापि; समं = साकं, भित्त्वा = विदार्य, व्रजति = पलायते इत्यर्थः।।५।।

इस श्लोक में सहोक्ति अलंकार एवं आर्या छन्द है।

अले पुरत्थिमे पदोलीदुआरे चिट्ठ तुमं। तुमं पि पच्छिमे, तुमं पि दक्खिणे, तुमं पि उत्तरे। जो वि एसो पाआरखंडो, एदं अहिरुहिअ चन्दणेण समं गदुअ अवलोएमि। एहि चन्दणअ! एहि, इदो दाव। अरे, पुरस्तात्प्रतोलीद्वारे तिष्ठ त्वम्, त्वमपि पश्चिमे, त्वमपि दक्षिणे, त्वमप्युतरे। योऽप्येष प्राकारखण्डः, एनमधिरुह्य चन्दनेन समं गत्वावलोकयामि। एहि चन्दनक! एहि। इतस्तावत्।

चन्दनकः— **अरे रे वीरअ विसल्ल-भीमंगअ-दंडकालअ-दंड-सूरप्पमुहा!**

आअच्छध वीसत्था तुरिअं जत्तेह लहु करेज्जाह
लच्छी जेण ण रण्णोपहवइ गोत्तंतरं गंतुं।।६।।

(अरे रे वीरक—विशल्य-भीमांगद-दण्डकाल-दण्डशूरप्रमुखाः,

आगच्छथ विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत।

लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम्।।

अर्थः— अरे, तुम पूरब वाली गली के मुँहाने पर खड़े हो जाओ, तुम भी पश्चिम में, तुम दक्षिण में और तुम भी उत्तर में और मैं चन्दन के साथ जाकर जो यह चहार दीवारी का हिस्सा है उस पर चढ़ कर देखता हूँ। आओ चन्दनक! आओ। इधर तो आओ।

(घबड़ाया हुआ प्रवेश करके)

अर्थः— **चन्दनक**— अरे! वीरक, विशल्य, भीमांगद, दण्डकाल, दण्डशूर आदि (रक्षकों)!

अन्वयः— हे विश्वस्ताः! आगच्छथ, त्वरितं, यतध्वं, लघु, कुरुत; येन, राज्ञः, लक्ष्मीः, गोत्रान्तरं, गन्तुम्, न, प्रभवति।।६।

शब्दार्थः— हे विश्वस्ताः = हे विश्वासपात्रों! आगच्छथ = आओ, त्वरितं = जल्द, यतध्वं = कोशिश करो, लघु = शीघ्रता, कुरुत = करो, येन = जिससे, राज्ञः = राजा की, लक्ष्मीः = राज्य—लक्ष्मी, गोत्रान्तरं = दूसरे कुल को, गन्तुम् = जाने में न = नहीं, प्रभवति = समर्थ हो।।

अर्थः— हे विश्वासपात्रों! आओ, शीघ्रता से (आर्यक को पकड़ने की) कोशिश करो, शीघ्रता करो। जिससे राजा पालक की राज्य—लक्ष्मी दूसरे कुल में न जा सके अर्थात् आर्यक राजा न हो सके।।६।।

टीका— हे विश्वस्ताः! = हे विश्वासपात्राणि! आगच्छथ = आयात; त्वरितं = शीघ्रं; यतध्वम् = आर्यकं गृहीतुं यत्नं कुरुत, लघु = झटिति; कुरुतयेन = येन हेतुना; राज्ञः = पालकस्य, लक्ष्मीः = राज्यश्रीः; गोत्रान्तरं = अन्यत् कुलं, गन्तुं = यातुं न प्रभवति = न समर्था भवति।।६।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है—गाथा।।६।।

अवि अ,—

उज्जाणेसु सहासु अ मग्गे णअरीअ आवणे घोसे।
तं तं जोहह तुरिअं संका वा जाअए जत्थ।।७।।

अपि च—

उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे।
तं तमन्वेषयत त्वरितं शंका वा जायते यत्र।।

अन्वयः— उद्यानेषु, सभासु, च, मार्गे, नगर्याम्, आपणे, घोषे, वा, यत्र, शंका, जायते, तं, तं, त्वरितम्, अन्वेषयत।।७।।

शब्दार्थः— उद्यानेषु = बगीचों में, सभासु = सभाओं में, च = भी, मार्गे = रास्ते में, नगर्याम् = नगरी में, आपणे = बाजार में, घोषे = अहीरों की बस्ती में, वा = अथवा, यत्र = जहाँ, शंका = सन्देह, जायते = पैदा हो, तम् = उसको, तम् = उसको, अर्थात् उस उस स्थान को, त्वरितम् = शीघ्र, अन्वेषयत = खोजो।।

और भी—

अर्थः— बगीचों में, सभाओं में, रास्ते में, नगरी, बाजार एवं अहीरों की बस्ती में, जहाँ कहीं शंका पैदा हो उन उन जगहों को शीघ्रतया खोजो।।७।।

टीका— उद्यानेषु = वाटिकासु, सभासु = समितिषु च; मार्गे = पथि; नगर्याम् = पुरि; आपणे = वस्तुक्रयविक्रयस्थाने; घोषे = आभीरपल्लयां; वा = अथवा; यत्र = यस्मिन् स्थाने; शंका = सन्देहः; जायते = उत्पद्यते तं तं = तं स्थानमित्यर्थः; त्वरितम् = शीघ्रतम्; अन्वेषयत = गवेषयत।।७।।

इस श्लोक में गाथा छन्द है।।७।।

रे रे वीरअ! किं किं दरिसेसि भणादि दाव वीसद्धं।
भेत्तूण अ बंधणअं को सो गोवालदारअं हरइ।।८।।
रे रे वीरक! किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विश्रब्धम्।
भित्त्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति।।

अन्वयः— रे रे वीरक! किं किं, दर्शयसि, विश्रब्धं, किं, भणसि, तावत् बन्धनकम्, भित्त्वा, सः, कः, (यः), गोपालदारकम्, हरति।।८।।

शब्दार्थः— रे रे वीरक! = अरे वीरक! किं किं = क्या क्या, दर्शयसि = दिखला रहे हो, विश्रब्धं = विश्वासपूर्वक, किं भणसि = क्या कह रहे हो? तावत् = (यह समूह के अर्थ में प्रयुक्त है), बन्धनकम् = बन्धन को, भित्त्वा = तोड़कर, सः = वह, कः = कौन (है), (यः = जो), गोपालदारकम् = अहीर के लड़के को, हरति = छुड़ाये लिये जा रहा है।।

अर्थः— अरे वीरक! क्या क्या दिखला रहे हो? विश्वासपूर्वक क्या कह रहे हो? बन्धन को तोड़कर वह कौन अहीर के बच्चे को छुड़ाये लिये जा रहा है?।।८।।

टीका— रे रे वीरक! किं किं दर्शयसि = निर्दिशसि इत्यर्थः; विश्रब्धं = विश्वासपूर्वकं यथा तथा; किं भणसि = कथयसि, तावदिति साकल्ये। बन्धनकम् = कारागृहमित्यर्थः, भित्त्वा = भङक्त्वा, सः कः = सः कः पुरुषः अस्ति, यः गोपालदारकम् = आभीरपुत्रं, हरति = बलात् आच्छिद्य याति।।८।।

इस श्लोक में आर्या छन्द का एक भेद गीति छन्द है।

कस्सट्टमो दिणअरो कस्स चउत्थो अ वट्टए चंदो।
छट्ठो अ भग्गवगहो भूमिसुओ पंचमो कस्स?।।९।।
कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्तते चन्द्रः।
षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पंचमः कस्य?।।

अन्वयः— कस्य, अष्टमः, दिनकरः, कस्य, चन्द्रः, चतुर्थः, च, वर्तते कस्य, भार्गवग्रहः, षष्ठः, च, भूमिसुतः, पञ्चमः, वर्तते।।९।।

शब्दार्थः— कस्य = किसके, अष्टमः = आठवें, दिनकरः = सूर्य (है), कस्य = किसके, चन्द्रः = चन्द्रमाः, चतुर्थः = चौथे, वर्तते = है। कस्य = किसके भार्गवग्रहः = शुक्रग्रह, षष्ठः = छठे, च = और, भूमिसुतः = मंगल, पञ्चमः = पाँचवें है।।

अर्थः— किसके आठवें स्थान पर सूर्य है? चन्द्रमा किसके चौथे स्थान पर है? किसके छठे स्थान पर शुक्र एवं पाँचवें स्थान पर मंगल है?।।९।।

टीका— कस्य = जनस्य, जन्मराशेः अष्टमः = अष्टमस्थानास्थितः, दिनकरः = सूर्यः, कस्य चन्द्रः = चन्द्रमाः, चतुर्थः = जन्मराशेः चतुर्थराशिस्थः, वर्तते = स्थितः अस्ति। कस्य, भार्गवसुतः = शुक्रः, षष्ठः = षष्ठस्थानस्थितः, च = तथा, भूमिसुतः =

मंगलः, पञ्चमः = जन्मराशेः पंचमस्थानीयः, वर्तते = अस्ति।।६।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।।६।।

भण कस्स् जम्मछट्ठो जीवो णवमो तहेअ सूरसुओ।
जीअंते चंदणए को सो गोवालदारअं हरइ।।१०।।
भण कस्य जन्मषष्ठो नवमस्तथैव सूरसुतः।
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति।।

अन्वयः— भण, जीवः, कस्य, जन्मषष्ठः, तथैव, सूरसुतः, (कस्य), नवमः?, चन्दनके, जीवति, सः, कः, (यः), गोपालदारकम् हरति।।१०।।

शब्दार्थः— भण = बतलाओ, जीवः = बृहस्पति, कस्य = किसकी, जन्मषष्ठः = जन्मराशि से छठे (है), तथैव = उसी तरह सूरसुत = शनि, (कस्य = किसके), नवमः = नवें स्थान पर स्थित है, चन्दनके = चन्दनक के, जीवति = जिन्दा रहने पर, सः = वह, कः = कौन (है), (यः = जो), गोपालदारकम् = अहीर के बच्चे को, हरति = छुडाये ले जा रहा है।

अर्थः— बतलाओ, बृहस्पति किसकी जन्म–राशि से छठे स्थान पर है? तथा शनि नवें स्थान पर है? चन्दनक के जिन्दा रहते हुए वह कौन है जो अहीर के बच्चे को छुड़ाये ले जा रहा है?।।१०।।

टीका— भण = ब्रूहि, जीवः = बृहस्पतिः, कस्य जनस्येति शेषः, जन्मनः = जन्मराशेः षष्ठः = षष्ठस्थानस्थितः अस्ति, तथा सूरसुतः = सूरस्य = सूर्यस्य सुतः = पुत्रः शनिः इत्यर्थः, कस्य नवमः = जन्मराशितः नवमराशिस्थित इत्यर्थः। चन्दनके जीवति = वर्तमाने, सः कः अस्तु; यः गोपालस्य = गोपस्य दारकः = सुतः तम्, हरति = बलात नयति।।१०।

वीरकः— भड चंदणआ!

अवहरइ कोवि तुरिअं चंदणअ सवामि तुज्ज हिअएण।
जइ अद्धइददिणअरे गोवालअदारओ खुडिदो।।११।।

(भट चन्दनक!

अपहरति कोऽपि त्वरितं चन्दनक शपे तव हृदयेन।

यथार्धोदितदिनकरे गोपालदारकः खुटितः।।)

अन्वयः— हे चन्दनक! तव, हृदयेन, शपे, कोऽपि, त्वरितं, (आर्यकम्) अपहरति; यथा, अर्धोदितदिनकरे गोपालदारकः खुटितः।।११।।

शब्दार्थः— हे चन्दनक! तव = तुम्हारे, हृदयेन = हृदय से, शपे = सौगन्ध खाता हूँ। कोऽपि = कोई, त्वरितं = जल्दी से, (आर्यकम् = आर्यक को) अपहरति = छुड़ाये लिये जा रहा है। यथा = जैसे कि, अर्धोदितदिनकरे = सूर्य के आधा निकलने पर, गोपालदारकः = गोपाल का पुत्र, खुटितः = बन्धन छोड़कर भगाया गया।।

वीरक— वीर चन्दनक!

अर्थः— मैं तुम्हारे हृदय की सौगन्ध खाता हूँ। हे चन्दनक! कोई जल्दी से आर्यक को छुड़ाये लिये जा रहा है। क्योंकि सूर्य के आधा निकलने के समय वह गोपाल–पुत्र भाग निकला था।।११।।

टीका— हे चन्दनक! तव हृदयेन = हृदयं स्पृष्ट्वा, शपे = शपथं करोमि। कोऽपि = अज्ञातनामा जनः; त्वरित = शीघ्रम्, आर्यकम् इति शेषः; अपहरति = अचूचुरदित्यर्थः। यथा अर्धोदितदिनकरे = सूर्योदयकाले; गोपालदारकः = आभीरपुत्र आर्यक इत्यर्थः; खुटितः = बन्धनं छित्वा मोचितः इत्यर्थः।।११।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।।११।।

चेटः— जाध गोणा! जाध। (यातं गावौ! यातम्।)

चन्दनकः— (दृष्ट्वा) अरे रे, पेक्ख पेक्ख

ओहारिओ पवहणो वच्चइ मज्झेण राअमग्गस्स।
एदं दाव विआरह कस्स कहिं पवसिओ पवहणो त्ति।।१२।।

(अरे रे, पश्य पश्य

अपवारितं प्रवहणं व्रजति मध्येन राजमार्गस्य।
एतत्तावद्विचारय कस्य कुत्र प्रेषितं प्रवहणमिति।।)

अर्थः—

चेट— बढ़े चलो बैलों! बढ़े चलो।

चन्दक— (देखकर) अरे रे! देखो देखो—

अन्वयः— राजमार्गस्य, मध्येन, अपवारितं, प्रवहणं, व्रजति, एतत्, तावत्, विचारय, कस्य, प्रवहणं, कुत्र, प्रेषितम्, इति।।१२।।

शब्दार्थः— राजमार्गस्य = सड़क के, मध्येन = बीच से, अपवारितं = ढकी हुई, प्रवहणं = गाड़ी, व्रजति = जा रही है। एतत् = यह, तावत् = सब कुछ, विचारय = विचार करो, कस्य = किसकी, प्रवहणं = गाड़ी है, कुत्र = कहाँ, प्रेषितम् = भेजी गयी है. इति = ऐसा।

अर्थः— सड़क के बीचोबीच कपड़े से ढकी हुई गाड़ी जा रही है। यह सब पूछताछ करो कि किसकी गाड़ी है और कहाँ जा रही है?।।१२।।

टीका— राजमार्गस्य = सामान्यपथस्य; मध्येन = मध्यभागम् अवलम्ब्य इत्यर्थः; अपवारितम् = आच्छादितं; प्रवहणं = कर्णीरथः; व्रजति = गच्छति; एतत् = इदं; तावत् = साकल्येन, विचारय = जानीहि, कस्य जनस्य एतत् प्रवहणं = रथः; तथा कुत्र = कस्मिन् स्थाने; प्रेषितं = गन्तुं निर्दिष्टम्; इति।।१२।।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—गाथा।।१२।।

वीरकः— (अवलोक्य) अरे पवहणवाहआ! मा दाव एवंपवहणं वाहेहि। कस्सकेरकं एदं पवहणं? को वा इध आरूढो कहिं वावज्जइ?। (अरे प्रणहणवाहक! मा तावदेतत्प्रवहणं वाहय। कस्यैतत्प्रवहणम्? को वा इहारूढः कुत्र वा व्रजति?।)

चेटः— एशे खु पवहणे अज्जचालुदत्ताह केलके। इध अज्जआ वशंतशेणा आलूढा पुप्फकरंडअं जिण्णुज्जाणं कीलिदुं चालुदत्तश्ण णीअदि। (एतत्खलु प्रवहणमार्य चारुदत्तस्य। इहार्या वसन्तसेनारूढा पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं क्रीडितुं चारुदत्तस्य नीयते।)

वीरकः— (चन्दनमुपसृत्य) एसो पवहणवाहओ भणादि-'अज्जचालुदत्तस्स पवहणं वशंतशेणा आलूढा। पुप्फकरंडअं जिण्णुज्जाणं णीअदि' त्ति। (एष प्रवहणवाहको भणति-'आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणं वसन्तसेनारूढा। पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं नीयते' इति।)

चन्दनकः— ता गच्छदु। (तद्गच्छतु।)

वीरकः— अणवलोइदो ज्जेव्व?। (अनवलोकित एव?)

चन्दनकः—अध इं। (अथ किम्।)

वीरकः— कस्स पच्चएण?। (कस्य प्रत्ययेन?)

चन्दनकः—अज्जचारुदत्तस्स। (आर्यचारुदत्तस्य।)

वीरकः— को अज्जचारुदत्तो, का वा वसंतशेणा, जेण अणवलोइदं वज्जइ?। (क आर्यचारुदत्तः, का वा वसन्तसेना, येनानवलोकितं व्रजति?।)

चन्दनकः—अरे, अज्जचारुदत्तं ण जाणासि, ण वा वसंतसेणिअं?। जइ अज्जचारुदत्तं वसंतसेणिअं वा ण जाणासि, ता गच्छणे जोण्हासहिदं चंदं पि तुमं ण जाणासि।

को तं गुणारविंदं सीलमिअंकं जणो ण जाणादि।
आवण्णदुक्खमोक्खं चउसाअरसारअं रअणं।।१३।।

(अरे आर्यचारुदत्तं न जानासि, न वा वसन्तसेनाम्?। यद्यार्यचारुदत्तं वसन्तसेनां वा न जानासि, तदा गगने ज्योत्स्नासहितं चन्द्रमपि त्वं न जानासि।

करतं गुणारविन्दं शीलमृगांकं जनो न जानाति।
आपन्नदुःखमोक्षं चतुःसागरसारं रत्नम्।।

अर्थः—

वीरक— (देखकर) अरे गाड़ीवान्। इस गाड़ी को आगे मत बढ़ाओ। यह किसकी गाड़ी है? इस पर कौन चढ़ा है, यह कहाँ जा रही है?

चेट— यह गाड़ी आर्य चारुदत्त की है। इस पर आर्या वसन्तसेना बैठी हैं। पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में चारुदत्त के साथ क्रीडा करने के लिये जा रही हैं।

वीरक— (चन्दनक के पास जाकर) यह गाड़ीवान कहता है कि 'आर्य चारुदत्त की गाड़ी है, इस पर वसन्तसेना चढ़ी है पुष्पकरण्डक नामक पुराने उद्यान में ले जायी जा रही हैं।"

चन्दनक— तो जाय।

वीरक— बिना देखे ही?

चन्दनक— और क्या?

वीरक— किसके विश्वास से?

चन्दनक— आर्य चारुदत्त के।

वीरक— आर्य चारुदत्त कौन है और वसन्तसेना कौन है, जिससे बिना देखे ही चली जाय?

चन्दनक— अरे! आर्य चारुदत्त को नहीं जानते हो और न वसन्तसेना को ही? यदि आर्य चारुदत्त और वसन्तसेना को नहीं जानते हो तो तुम आकाश में चाँदनी के सहित चन्द्रमा को भी नहीं जानते हो।

अन्वयः— गुणारविन्दम्, शीलमृगांकम्, आपन्नदुःखमोक्षम्, चतुःसागरसारम्, रत्नम्, तम्, कः, जनः, न, जानाति।।१३।।

शब्दार्थः— गुणारविन्दम् = गुणों में कमल के समान, शीलमृगाङ्कम् = स्वभाव में चन्द्रमा के तुल्य, आपन्नदुःखमोक्षम = विपत्ति में पड़े हुए लोगों के दुःख को दूर करने वाले, चतुःसागरसारम् = चारों सागरों के सार रूप, रत्नम् = रत्न, तम् = उसको कः = कौन, जनः = आदमी, न = नहीं, जानाति = जानता है।

अर्थः— गुणों में कमल के समान (सुन्दर), स्वभाव में चन्द्रमा के तुल्य (प्रिय), विपत्ति में पड़े हुए लोगों के दुःख का दूर करने वाले, चारों–सागरों के सारभूत रत्न उस (आर्य चारूदत्त) को कौन आदमी नहीं जानता ? (अर्थात् सभी उनको जानते हैं)।।१३।।

टीकाः— गुणेषु = दयापरोपकारादिषु अरविन्दम् इव = कमलम् इव; शीले = स्वभावे मृगाङ्कः = चन्द्रः इव, तम्, आपन्नानाम् = दुःखितानां दुःखस्य = क्लेशस्य मोक्षः = मुक्तिः येन तम्; चतुर्णां सागराणां सारम् = सारभूतम्; रत्नम् = मणिस्वरूपम् इत्यर्थः, तम् = चारुदत्तम्; कः जनः = कः मानवः; न जानाति = न वेत्ति। सर्वजनविदितं निखिलप्राणिसहायक

सच्चरित्रयुक्तं चारुदत्तं न कोश्यत्र यः न जानाति।।१३।।

इस श्लोक में रूपक अलङ्कार एवं आर्या छन्द है।

द्वावेव पूजनीयाविह नगर्यां तिलकभूतौ च।
आर्या वसन्तसेना धर्मनिधिश्चारुदत्तश्च।।
दो ज्जेव पूअणीआ इह ण्अरीए तिलअ भूदा अ
अज्जा वसंतसेणा धम्मणिही चारुदत्तो अ ।।१४।।

अन्वयः– इह, नगर्याम्, द्वौ, एव, पूजनीयौ, तिलकभूतौ, च, आर्या, वसन्तसेना, धर्मनिधिः, चारुदत्तः, च।।१४।।

शब्दार्थः– इह = इस, नगर्याम् = नगरी में, द्वौ = दो, एव = ही, पूजनीयौ = पूजनीय, (एवं), तिलकभूतौ = शिरमौर रूप (हैं), आर्या = आदरणी, वसन्तसेना = वसन्तसेना नामक वेश्या–पुत्री, (तथा) धर्मनिधिः = धर्मनिधि, चारुदत्तः = चारुदत्त।

अर्थः– इस (उज्जयिनी) नगरी में दो ही व्यक्ति पूजनीय एवं सिरमौर रूप हैं – आर्या वसन्तसेना और धर्मनिधि चारुदत्त।।१४।।

टीका– इह = अस्याम्; नगर्याम् = उज्जयिन्तां नगर्याम् इत्यर्थः, द्वौ = उभौ एव; पूजनीयौ = सम्माननाहौ, तिलकभूतौ = मुकुटस्वरूपौ इत्यर्थः, स्तः तयोः एका आर्या = माननीया, वसन्तसेना अस्ति द्वितीयः, धर्मनिधिः = धर्मस्य आकर; धर्मशील इति भावः, चारुदत्त वर्तते।। १४।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।

वीरकः– अरे चंदणआ !

जाणामि चारुदत्तं वसंतसेणं अ सुट्ठ जाणामि।
पत्तते अ राअकज्जे पिदरं पि अहं ण जाणामि।।१५।।

अरे चन्दनक–जानामि चारुदत्तं वसन्तसेनां च सुष्ठु जानामि।
प्राप्ते च राजकार्यो पितरमप्यहं न जानामि।।

अन्वयः– चारुदत्तम्, जानामि, वसन्तसेनाम्, च सुष्ठु जानामि, च, राजकार्ये, प्राप्ते, अहम्, पितरम्, अपि, न, जानामि।।१५।।

शब्दार्थः– चारुदत्तम् = चारुदत्त को, जानामि = जानता हूं, वसन्तसेनाम् = वसन्तसेना को, च = भी, सुष्ठु = भली–भाँति, जानामि = जानता हूँ, (च = पुनः), राजकार्ये = राजकार्य के, प्राप्ते = समुपस्थिते, अहम् = वीरकः, पितरम् = स्वजनकम्, अपि न जानामि = न विधि, न त्यजामि इत्यर्थः, का कथा पुनरन्येषाम् ?।।१५।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।

आर्यकः– (स्वगतम्) अयं मे पूर्ववैरी, अयं मे पूर्वबन्धुः, यतः

एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता।
विवाहे च चितायां च यथा हुतभुजोर्द्वयोः।।१६।।

अर्थः– **आर्यक**– (अपने आप) यह (वीरक) मेरा पूर्व (जन्म) का शत्रु है। यह (चन्दनक) मेरा पूर्व (जन्म) का भाई है। क्योंकि –

अन्वयः– एककार्यनियोगे, अपि, अनयोः, तुल्यशीलता, न, यथा, विवाहे, च, चितायाम्, च, द्वयोः, हुतभुजोः।।१६।।

शब्दार्थः– एककार्यनियोगे = एक काम में लगे रहने पर, अपि = भी, अनयोः = इन दोनों (चन्दनक एवं वीरक) के, तुल्यशीलता = स्वभाव में समानता, न = नहीं है, यथा = जैसे, विवाहे = विवाह में, च = और, चितायाम् = चिता में, द्वयोः = दोनों हुतभुजोः = आग की।।

अर्थः— इस प्रकार के ही काम में लगे रहने पर भी इन दोनों का स्वभाव एक समान नहीं है। जिस तरह विवाह की अग्नि तथा चिता की अग्नि – दोनों में समानता नहीं होती। (अर्थात् चन्दनक विवाह की आग के समान सुखदायी है और वीरक चिता की आग की तरह दुःखदायी है)।।१६।।

टीका— एकस्मिन् = समाने कार्ये = कर्मणि, एकत्र रक्षाकार्ये अपरत्र दहनकर्मणि, नियोगे = नियोजने; अपि, अन्यो **चन्दनक**—वीरकयोः; तुल्यशीलता = समानः स्वभावः इत्यर्थः; नास्ति; यथा = येन प्रकारेण; विवाहे = उद्वाह, च = तथा चितायाम् = शवदहनकाष्ठपुञ्जे, च = अपि, द्वयोः = द्वयोः स्थानयोः स्थितयोः हुतभुजोः = अग्न्योः यथा = कस्मिन् दहनकर्मणि प्रवृत्तयोः विवाहस्य चितायाश्च अग्न्योः न समानता। एकस्मिन् शोभनता अपरस्मिन उद्वेजकता भवति। तथैव एकस्मिन् रक्षाकार्ये संलग्नयोः चन्दनकवीरकयोः तुल्यस्वभावता नास्तीति भावः।।१६।।

चन्दनकः— तुम तंतिलो सेणावई रण्णे पच्चइदो। एदे धारिदा मए बइल्ला। अवलोएहि। (त्वं तन्त्रिलः सेनापती राज्ञः प्रत्ययितः। एतौ धारितौ मया वलीवर्दौ। अवलोकय।)

वीरकः— तुमं पि रण्णो पच्चइदो बलवई। ता तुमं ज्जेव अक्लोएहि। (त्वमपि राज्ञः प्रत्ययितो बलपतिः। तस्मात्त्वमेवावलोकय।)

चन्दनकः— मए अवलोइदं तुए अवलोइदं भोदि ? (मयावलोकितं त्वयावलोकितं भवति ?)

वीरकः— जं तुए अवलोइदं तं रण्णा पालएण अवलोइदं। (यत्त्वयाऽवलोकितं तद्राज्ञा पालकेनावलोकितम।)

चन्दनकः— अरे, उण्णा मेहि धुरं। (अरे, उन्नामय धुरम्।)

(चेटस्तथा करोति)

आर्यकः— (स्वागतम्) अपि रक्षिणो मामवलोकयन्ति। अशस्त्रश्चास्मि मन्दभाग्यः।

अथवा—

भीमस्यानुकरिष्यामि बाहुः शस्त्रं भविष्यति।
वरं व्यायच्छतो मृत्युर्न गृहीतस्य बन्धने।।१७।।

अर्थः— **चन्दनक**— तुम राज्य की चिन्ता करने वाले राजा के विश्वासपात्र सेनापति हो। (लो) इन दोनों को मैंने पकड़ लिया है। देख लो।

वीरक— तुम भी राजा के विश्वस्त सेनापति हो। इसलिए तुम्हीं देख लो।

चन्दनक— क्या मेरे देख लेने से तुम्हारा देखना हो जाएगा ?

वीरक— यदि तुमने देख लिया तो मानो राजा पालक ने देख लिया।

चन्दनक— अरे ! जुआ उठाओ।

(चेट वैसा करता है)

अर्थः— **आर्यक**— (अपने आप) क्या सिपाही मुझे देखते हैं और अभागा मैं बिना शस्त्र के हूं अथवा–

अन्वयः— (अहम्), भीमस्य, अनुकरिष्यामि, (मे) बाहुः, शस्त्रम् भविष्यति; व्यायच्छतः, (मम), मृत्युः, वरम्, बन्धने, गृहीतस्य, न ।।१७।

शब्दार्थः— (अहम् = मैं), भीमस्य = भीम की, अनुकरिष्यामि = नकल करूंगा। (मे = मेरी), बाहुः = भुजा, शस्त्रम् = शस्त्र, ही प्रयोग भविष्यति = होगी। व्यायच्छतः = लड़ते हुए, (मम = मेरा) मृत्यु = मरना, वरम् = अच्छा है बन्धने = कारागार में गृहीतस्य = बन्द किये गये का (मरना) न = नहीं।।

अर्थः— (मैं) भीम की नकल करूंगा। (मेरी) भुजा ही शस्त्र होगी। लड़ते हुए मर जाना अच्छा है, कारागार में पड़ा हुआ (का) नहीं (मरना ठीक है)।।१७।।

टीका— अहम् = आर्यकः; भीमस्य = वृकोदरस्य; अनुकरिष्यामि = अनुकरणं करिष्यामि। मे बाहुः = भुजः शस्त्रम् = प्रहरणम् भविष्यति। व्यायच्छतः = युद्धं कुर्वतः, मम इति शेषः, मृत्युः = मरणम्, वरम् = प्रियम्, किन्तु बन्धने = कारागार गृहीतस्य = अवरुद्धस्य, मृत्युः न वरम्। बन्धनात् युद्धे मृत्युः अभीप्सितः। अतः युद्धम् एव करिष्यामीति भाव।।१७।।

अथवा साहसस्य तावदनवसरः।

(चन्दनको नाटयेन प्रवहणमारुह्यावलोकयति)

आर्यकः— शरणागतोऽस्मि।

चन्दकः— (संस्कृतमाश्रित्य) अभयं शरणागतस्य।

आर्यकः—

त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च।।
भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागतं त्यजति।।१८।।

अर्थः— अथवा यह हिम्मत करने का समय नहीं है।

(चन्दनक अभिनय के साथ गाड़ी पर चढ़कर देखता है)

आर्यक— मैं आपकी शरण में आ गया हूँ।

चन्दनक— (संस्कृत में) शरण में आये हुए को कोई डर नहीं है।

अन्वयः— यः, शरणगतम् त्यजति, तम्, जयश्रीः, खलु त्यजति, मित्राणि, बन्धुवर्गः, च, किल, जहति, (सः) सदा, उपहास्यः, च, भवति।।१८।।

शब्दार्थः— यः = जो, शरणागतम् = शरण में आये हुए को, त्यजति = छोड़ देता है, तम् = उसको, जयश्रीः = विजयलक्ष्मी, त्यजति = छोड़ देती है। मित्राणि = मित्र वर्ग, बन्धु वर्ग :— भाई–बन्धुओं का समूह, च = भी, किल = अवश्य ही,। जहति = छोड़ देता है। (सः = वह) सदा = हमेशा, उपहास्यः = हँसी का पात्र, च = भी, भवति = होता है।

अर्थः—

आर्यक— जो (व्यक्ति) शरण में आये हुए की रक्षा नहीं करता है, निश्चय ही उसको विजयलक्ष्मी त्याग देती है। मित्र तथा भाई–बन्धु भी उसे छोड़ देते हैं। और वह हमेशा हँसी का पात्र होता है।।१८।।

टीका— यः जनः इतिशेषः, शरणे = आश्रये आगतम् = प्राप्तं जनम्, त्यजति = जहाति, तम् = जनम्, जयश्रीः = विजयलक्ष्मीः, खलु = निश्चितम्, त्यजति = परित्यज्य गच्छति। मित्राणि = सुहृदः, बन्धुवर्गश्च = सम्बन्धिगणश्च, किल = अवश्यम्, जहति = त्यजन्ति, सः जन, सदा = सर्वदा, उपहास्यः = उपहसनीयः, च = अपि, भवति = जायते। शरणागतस्य परित्यागः सर्वथा निन्दादायकः असुखकरश्च भवतीति भावः।।१८।।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है – आर्या।

चन्दनकः—कर्ध अज्जओ गोवालदारओ सेणवित्तसिदी विअ पत्तरही साउणिअस्स हत्थे णिवडिदो। (विचिन्त्य) एसो अणवरावो सरणाअदो अज्जचारुदत्तस्य पवहणं आरूढो, पाणप्पदस्स मे अज्जसव्विलअस्स मित्तं। अण्णदो राअणिओओ। ता किं दाणिं एत्थ जुत्तं अणुचिट्ठिदुं। अधवा जं भोदु तं भोदु, पढमं ज्जेव अभअं दिण्णं।

भीदाभअप्पदाणं दत्तस्य परोवआररसिअस्स।
जइ होइ होउ णाओ तहवि हु लोए गुणो जेव।।१९।।

(सभयमवतीर्य) **दिट्ठो अज्जो - (इत्यर्वोक्ते) ण, अज्जआ वसंतसेणा। तदो एस भ्णादि - 'जुत्तं णेदं, सरिसं णेदं, जं अहं अज्जचारुदत्तं अहिसारिदुं गच्छन्ती राअमग्गे परिभूदा।' (कथमार्यको गोपालदारकः श्येनवित्रासित इव पत्ररथः शाकुनिकस्य हस्ते निपतितः ?। एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः, प्राणअप्रस्य मे आर्यशर्विलकस्य मित्रम्। अन्यतो राजनियोगः। तत्किमिदानीमत्र युक्तमनुष्ठातुम् ?। अथवा यद्भवतु तद्भवतु, प्रथममेवाभयं दत्त म्।)**

भीताभयप्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य।
यदि भवति भवतु नाशस्तथापि खलु लोके गुण एव।।

अर्थः— **चन्दनक**—क्या! अहीर—पुत्र आर्यक बाज से डरे हुए पक्षी की भाँति बहेलिया के हाथ मे आ पड़ा ? (दूसरी ओर तो) यह (बेचारा) निर्दोष है, शरण में आया हुआ है तथा आर्य चारुदत्त की गाड़ी पर चढ़ा हुआ है। मेरे जीवनदाता शर्विलक का मित्र है। दूसरी ओर राजा की आज्ञा है। तो अब इस विषय में क्या करना ठीक है अथवा जो हो सो हो, पहले ही अभय दे दिया है।

अन्वयः— भीताभयप्रदानम्, ददतः, परोपकाररसिकस्य, (जनस्य) यदि, नाशः, भवति, भवतु, तथापि, लोके, गुणः एव, (भवति) ॥१६॥

शब्दार्थः— भीताभयप्रदानम् = डरे हुए के लिए अभय–दान को, ददतः = देने वाले, परोपकाररसिकस्य = परोपकार करने के प्रेमी (जनस्य = व्यक्ति की), यदि = यदि, नाशः = मृत्यु, भवति = होती है, (तो) भवतु = हो; तथापि = तो भी (ऐसा होने पर भी), लोके = संसार में, गुणः = प्रशंसा, एव = ही, (भवति = होती है)॥

अर्थः— डरे हुए को अभयदान देने वाले परोपकार करने के प्रेमी (आदमी) की यदि मृत्यु हो जाती है तो होने दो। ऐसा होने पर भी संसार में (उसकी) प्रशंसा ही होती है अर्थात् मुझे आर्यक की रक्षा करनी चाहिए, चाहे इसमे हमारी मृत्यु ही हो जाय॥१६॥

टीका— भीतेभ्यः = भयचकितेभ्यः; अभयस्य = अभीतेः प्रदानम् = दानम्; ददतः = अर्पयतः, कुर्वतः इत्यर्थः, परेषाम् = अन्येषाम् उपकारे = साहाय्ये रसिकस्य = अनुरागिणः, परोपकारतत्परस्येत्यर्थः, जनस्येति शेषः, यदि = चेत्; नाशः = मृत्युः भवति = जायते, तर्हि भवतु = अस्तु, तथापि = मरणेऽपि, लोके = संसारे, गुणः = यशः, एव भवति। परोपकारे मृते जनं लोकः प्रशंसते इतिभावः॥ १६॥

दृष्ट आर्यः— न, आर्या वसन्तसेना। तदेषा भणति, - 'युक्तं नेदम्, सदृशं नेदम्, यदहमार्यचारुदत्तमभिसर्तुं गच्छन्ती राजमार्गे परिभूता।'।

वीरकः— चन्दणआ ! एत्थ मह संसओ समुप्पण्णे। (चन्दनक ! अत्र मे संशयः समुत्पन्नः।)

चन्दनकः— कधं दे संसओ ?। (कथं ते संशयः ?।)

वीरकः—

संभमघग्घरकंठो तुमं पि जादो सि जं तुए मणिदं।
दिट्ठो मए खु अज्जो पुणो वि अज्जा वसंतसेणेत्ति॥२०॥

एत्थ मे अप्पच्चओ।

(संभ्रमघर्घरकण्ठस्त्वमपि जातोऽसि यत्त्वया भणितम्।
दृष्टो मया खल्वार्यः पुनरप्यार्या वसन्तसेनेति॥

अत्र मेऽप्रत्ययः)

अर्थः— (डर के साथ गाड़ी से उतर कर) देख लिया आर्य..... (यह आधा कहने पर) नहीं, आर्या वसन्तसेना। तो यह कहता है – 'यह उचित नहीं है, यह ठीक नहीं है; जो कि आर्य चारुदत्त से अभिसार (रमण) करने के लिये जाती हुई मेरी सड़क पर अपमान किया गया।'

वीरक—चन्दनक ! तुम्हारे कहने में मुझे सन्देह पैदा हो गया है।

चन्दनक—तुझे सन्देह क्यों है ?

अन्वयः— त्वम्, अपि, संभ्रमघर्घरकण्ठः, जातः, असि, यत्, त्वया, (पूर्वम्) भणितम्, मया, खलु, आर्यः, दुष्ट पुनरपि, आर्या वसन्तसेना इति॥२०॥

शब्दार्थः— त्वम् = तुम्, अपि = भी, संभ्रमघर्घरकण्ठः = घबराहट के कारण घर्घराहटपूर्ण कण्ठवाले, जातः = हो गये, असि हो, यत् = जो कि, त्वया = तुम्हारे द्वारा, (पूर्वम् = पहले), भणितम् = कहा गया, मया = मेरे द्वारा, खलु = निश्चित ही, आर्यः = आर्य, (आर्यक), दुष्टः = देखा गया, पुनरपि = और फिर, आर्या = माननीय, वसन्तसेना = वसन्त (देख गयी), इति = ऐसा॥

अर्थः— **वीरक**—घबड़ाहट के कारण तुम्हारी आवाज घर्घरा (लड़खड़ा) रही है। और तुमने (पहले) कहा मैंने आर्य को देख लिया और बाद में कहा आर्या वसन्तसेना को देख लिया। (इससे मुझे संदेह हो गया है)॥२०॥

इसी (तुम्हारे दो तरह के कहने) में मुझे अविश्वास है।

टीका— त्वम् = चन्दनकः, अपि सम्भ्रमेण = असत्यवचनोद्वेगेन घर्घरः = घर्घर–ध्वनियुक्तः कण्ठः = गलप्रदेशः यस्य तादृशः जातः = सम्पन्नः, असि = वर्तसे। यत = यस्मात्; त्वया = चन्दनकेन, पूर्वं भणितम् = उक्तम्, मया खलु = मयैव आर्य

= कोऽपि पुरुषः, दुष्ट = अवलोकित, पुनरपि = आयः दुष्टः इत्युक्त्यनन्तरमेव, आर्या = मान्या, वसन्तसेना दुष्टा, इति = इत्थम्। अतः द्विविधवाक्यकथनेन में संशयः जातः इति भावः।।२०।।

इस श्लोक में गीति छन्द है।

चन्दनकः—अरे, को अप्पच्चओ ? तुह। वअं दक्खिणत्ता अवत्तभासिणो। खस-खत्ति-खडो खडट्टोबिसअ-कण्णाट-कण्ण-प्पावरणअदविड-चोल-चीण-बर्वर-खेर-खान-मुख मधुघादपहुदाणं मिलिच्छजादीणं अणेअदेसभासाभिण्ण जहेट्ठं मंतआम, दिट्ठो दिट्ठा वा अज्जो अज्जआ वा। (अरे, कोऽप्रत्ययस्तव ?। वयं दाक्षिणात्या अव्यक्त भाषिणः। खष-खत्ति-कड-कडट्टोबिल-कर्णाट कर्ण-प्रावरण-द्राविड-चोल-चीन-बर्बर- खेर-खान-मुख- मधुघातप्रभृतीनां म्लेच्छजातीना- मनेकदेशभाषाभिज्ञा यथेष्टं मन्त्रयामः, दृष्टो दृष्टा वा, आर्य आर्या वा।)

वीरकः— णं अहं पि पलोएमि। राअअण्ण एसा। अहं रण्णे पच्चइदो। (नन्वहमति प्रलोकयामि। राजाज्ञैषा। अहम् राज्ञः प्रत्ययितः।)

चन्दनकः—ता किं अहं अप्पच्चइदो संवुत्तो ?। (तत्किमहमप्रत्ययितः संवृत्तः ?।)

वीरकः— णं सामिणिओओ। (ननु स्वमिनियोगः।)

चन्दनकः—(स्वगतम्) अज्जगोवालदारओ अज्जचारुदत्तस्य पवहणं अहिरुहिअ अवक्कमदि त्ति जइ कहिज्जदि, तदो अज्जचारुदत्तो रण्ण सासिज्जइ। ता को एत्थ उवाओ। (विंचिन्त्य) कण्णाटकलहप्पओअं कलेमि। (प्रकाशम्) अरे वीरअ ! मए मन्दणकेण पलोइदं पुणो वि तुमं पलोएसि को तुम। (आर्यगोपालदारक आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमधिरुह्यापक्रामतीति यदि मथ्यते, तदार्यचारुदत्तो राज्ञा शास्यते। तत्कोऽत्रोपायः ?। कर्णाटकलहप्रयोगं करोमि। अरे वीरक ! मया चन्दनकेन प्रलोकितं पुनरपि त्वं प्रलोकयसि ?। कस्त्वम् ?।)

अर्थः—

वीरकः— अरे, तुमं पि को ? (अरे, त्वमपि कः ?।)

चन्दनकः—पूइज्जंतो माणिज्जंतो तुम अप्पणो जादिं ण सुमरेसि ?। (पूज्यमानो मान्यमानस्त्वमात्मनो जातिं न स्मरसि ?।)

वीरकः— (सक्रोधम्) अरे, का मह जादी ?। (अरे, का मम जातिः ?।)

चन्दनकः—को भण्उ ? (को भणतु ?।)

वीरकः— भण्उ। (भणतु।)

चन्दनकः—अहवा ण भणामि,-

जाणंतो वि हु जादिं तुज्झ अ ण भणामि सीलविहवेण।
चिट्ठउ महच्चिअ मणे किं च कइत्थेण भग्गेण।।२१।।

(अथवा न भणामि,—

जानन्नपि खलु जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन।
तिष्ठतु ममैव मनसि किं च कपित्थेन भग्नेन।।)

अर्थः—

चन्दनक— अरे ! तुम्हें अविश्वास क्यों है ? हम दक्खिन के निवासी अस्पष्ट बोलने वाले होते हैं। खष, खत्ति, कड, कडट्टोबिल, कर्नाट, कर्णप्रावरण, द्राविड़, चोल, चीन, बर्वर, खेर, खान, मुख, मधुघात आदि म्लेच्छ जातियों की अनेक देशों की भाष को जानने वाले (हम लोग) जैसा चाहते हैं वैसा बोलते हैं — 'देखा गया' या 'देखी गयी', 'आर्य' या 'आर्या'।

वीरक— तो मैं भी देखता हूं। यह राजा की आज्ञा है। मैं राजा का विश्वासपात्र हूं।

चन्दनक— तो क्या मैं अविश्वसनीय हो गया हूं ?

वीरक– तो भी स्वामी की आज्ञा है।

चन्दनक– (अपने आप) यदि यह कह दूं कि आर्य गोपाल–पुत्र आर्य चारुदत्त की गाड़ी पर चढ़कर भाग रहा है तो [illegible] भी चारुदत्त को दण्ड देंगे। तो इसमें क्या उपाय है ? (सोचकर) कर्णाट (के लोगों) की भांति झगड़ा करूंगा। (प्रकट रूप में) अरे ! वीरक ! मुझ चन्दनक के द्वारा देखे जाने पर भी फिर तुम देख रहे हो। ? कौन हो तुम (दुबारा देखने वाले) ?

वीरक–अरे ! तुम्हीं कौन हो ?

चन्दनक– पूजनीय तथा माननीय तुम अपनी जाति की याद नहीं करते हो ?

वीरक– (क्रोध के साथ) अरे ! क्या है मेरी जाति ?

चन्दनक– कौन कहे ?

वीरक– कहो।

चन्दनक– अथवा नहीं कहूंगा –

अन्वयः– तव;, जातिम्, खलु, जानन्, अपि, शीलविभवेन, न, भणामि, (सा), मम, एव, मनसि, तिष्ठतु, कपित्थेन, भग्नेन, व किम्।।२१।।

शब्दार्थः– तव = तुम्हारी, जातिम् = जाति को, खलु = निश्चय ही, जानन् = जानते हुए, अपि = भी, शीलविभवेन = सुशीलता के कारण, न = नहीं, भणामि = कहता हूँ अथवा कहूँगा, (सा = वह जाति); मम = मेरे, एव = ही, मनसि = मन में, तिष्ठतु = रहे, कपित्थेन = कैथ, भग्नेन = तोड़ने से, किं = क्या लाभ ?।।

वीरकः– **णं भणउ, भण। (ननु भणतु, भणतु।)**

(चन्दनकः सज्ञां ददाति)

अर्थः–

वीरक– अरे ! कहो, कहो।

(चन्दनक (उसकी जाति का परिचायक) इशारा करता है)

अर्थः– **वीरक**–अरे ! यह क्या है ?

वीरकः– अरे, किं णेदं। (अरे, किं न्विदम् ?।)

चन्दनकः–

सिण्णसिलाअलहत्थो पुरिसाणं कुच्चगंठिसंठवणो।
कत्तरिवावुदहत्थो तुमं पि सेणावई जादो।।२२।।

(शीर्णशिलातलहस्तः पुरुषाणा कूर्चग्रन्थिसंस्थापनः।
कर्तरीव्यापृतहस्तस्त्वमपि सेनापतिर्जातः।)

अन्वयः– शीर्णशिलातलहस्तः, पुरुषाणाम्, कूर्चग्रन्थिसंस्थापनः, कर्तरीव्यापृतहस्तः, त्वम्, अपि, सेनापतिः, जातः।।२२।

शब्दार्थः– शीर्णशिलातलहस्तः = टूटे पत्थर के टुकड़े को हाथ में रखने वाला, पुरुषाणाम् = पुरुषों की, कूर्चग्रन्थिसंस्थापनः = दाढ़ी की गाँठ छीलनेवाले, कर्तरीव्यापृतहस्तः = कैची (चलाने) में व्यस्त हाथ वाला, त्वम् = तुम्, अपि = भी, सेनापतिः = सेनापति, जातः = हो गये हो।।

अर्थः–

चन्दनक– (उस्तरा पैना करने के लिये) टूटे पत्थर के टुकड़े को हाथ में रखनेवाला, पुरुषों की दाढ़ी छीलनेवाला एव कैंची चलाने में व्यस्त हाथवाला तू (नाई) भी सेनापति हो गया है।।२२।।

टीका– शीर्णम् = भग्नं शिलातलम् = प्रस्तरखण्डः हस्ते = करे यस्य असौ, नापितः क्षुरं तीक्ष्णं विधातुं एकं प्रस्तरखण्डं स्वसमीपे स्थापयति। कार्यकाले सः प्रस्तरखण्डं हस्ते स्थाप्य तत्र क्षुरं सञ्चाल्य तीक्ष्णं करोति। पुरुषाणाम् = जनानाम्, कूर्चानाम् = श्मश्रूणाम्। ग्रन्थेः = वन्धनस्य, मूलप्रदेशस्य इत्यर्थः, संस्थापनम् = समुच्छेदः येन तादृशः, कर्तर्याम् = केश–कर्तनाय अस्त्रविशेषे व्यापृतः = संलग्नः हस्तः = करः यस्य सः = तथाभूतः, त्वमपि = त्वं नापितः भूत्वा अपि इत्यर्थः, सेनापतिः = बलपतिः, जातः = भूतः। त्वत्सदृशः नापितः अपि सेनापतिः जातः महदाश्चर्यम् एतदिति भावः।।२२।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।

वीरकः– अरे चन्दणआ ! तुमं पि माणिज्जंतो अप्पणो केरिकं जादिं ण सुमरेसि ?। (अरे चन्दनक! त्वमपि मान्यमान आत्मनो जातिं न स्मरसि ?।)

चन्दनकः– अरे, का मह चन्दणअस्स चन्दविसुद्धम्स जादी ? (अरे, का मम चन्दनकस्य चन्द्रविशुद्धस्य जातिः ?।)

वीरकः– को भणउ ?। (को भणतु ?।)

चन्दनकः–भणउ, भणउ। (भणतु, भणतु।)

(वीरको नाटयेन संज्ञा ददाति)

चन्दनकः–अरे, किं णेदं। (अरे, किं न्विदम् ?।)

वीरकः– अरे, सुणाहि सुणाहि,-

जादी तुज्झ विसुद्धा मादा भेरी पिदा वि दे पडहो।
दुम्मुह ! करडअभादा तुमं पि सेणावई जादो।।२३।।

(अरे, शृणु शृणु,–

जातिस्तव विशुद्धा माता भेरी पितापि ते पटहः।
दुर्मुख ! करटकभ्राता त्वमपि सेनापतिर्जातः।।)

अर्थः– **वीरक**–अरे चन्दनक ! माननीय तुम भी अपनी जाति की याद नहीं करते हो ?

चन्दनक– अरे ! चन्द्रमा के समान स्वच्छ मुझ चन्दनक की क्या जाति है ?

वीरक– कौन कहे ?

चन्दनक– कहो, कहो।

(वीरक अभिनय के साथ (जाति का परिचय कराने वाला) इशारा करता है।)

अर्थः–

चन्दनक– अरे ! यह क्या है ?

वीरक– अरे ! सुनो, सुनो –

अन्वयः– तव, जातिः, विशुद्धा, भेरी, ते माता, पिता, अपि, पटहः, हे दुर्मुख ! करटकभ्राता, त्वम्, अपि, सेनापतिः, जातः।।२३।।

शब्दार्थः– तव = तुम्हारी, जातिः = जाति, विशुद्धा = बड़ी पवित्र है, भेरी = दुन्दुभि, ते = तुम्हारी, माता = माँ (है), पिता = बाप, अपि = भी, पटहः = तासा (है)। हे दुर्मुख = हे कटु बोलनेवाले ! करटकभ्राता = करटक के भाई, त्वम् = तुम, अपि = भी, सेनापतिः, जातः = हो गये।।

अर्थः– हे कटु बोलने वाले ! तुम्हारी जाति एकदम पवित्र है। भेरी (दुन्दुभि) माता है, पटह (तासा) पिता है, करटक (एक प्रकार का चमड़े से मढ़ा बाजा) के भाई तुम (चमार) भी सेनापति हो गये।। २३।।

– तव = चन्दनकस्य; जातिः = गोत्रम्; विशुद्धा = अतिनिर्मला अस्ति। भेरी = वाद्य विशेषः; ते = तव; माता = जननी;

पोषिका इति पिता = जनकः अपि, पटहः = ढक्का अस्ति। हे दुर्मुख! = कटुभाषिन् ! करटकस्य = वाद्यविशेषस्य भ्रातः = सहोदरः, त्वमपि = चर्मकारः अपीत्यर्थः = सेनापतिः = बलाधिपतिः, जातः = भूतः। चर्मकारः सेनापतिः जातः आश्चर्यम् एतत्।।२३।।

चन्दनकः—(सक्रोधम्) अहं चन्दणओ चम्मारओ ता पलोएहि पवहणं। (अहं चन्दनकश्चर्मकारः, तत्प्रलोकय प्रवहणम्।)

वीरकः— अरे, पवहणवाहआ ! पडिवत्तावेहि पवहणं। पलोइस्सं। (अरे प्रवहणवाहक ! परिवर्तय प्रवहणम्, प्रलोकयिष्यामि।)

(चेटस्तथा करोति, वीरकः प्रवहणमारोढुमिच्छति, चन्दनकः सहसा केशुषु गृहीत्वा पातयति, पादेन ताडयति च)

वीरकः— (सक्रोधमुत्थाय) अरे, अहं तुए वीसत्थो राआण्णत्तिं करेंतो सहसा केसेसु गेण्हिअ पादेन ताडिदो। ता सुणु रे अहिअरणमज्झे जइ दे चउरंगं ण कप्पावेमि, तदो ण होमि वीरओ। (अरे, अहं त्वया विश्वस्तो राजाज्ञप्तिं कुर्वन्सहसा केशुषु)

गृहीत्वा पादेन ताडितः। तच्छृणु रे, अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरंगं न कल्पयामि, तदा न भवामि वीरकः।)

चन्दनकः—अरे ! राअउलं अहिअरण वा वच्च। किं तुए सुणअसरिसेण ?।

(अरे ! राजकुलमधिकरणं वा व्रज। किं त्वया शुनकसदृशेन ?।)

वीरकः— तथा। (इति निष्क्रान्तः)

चन्दनकः—(दिशोऽवलोक्य) गच्छ रे पवहणवाहआ ! गच्छ। जइ को वि पुच्छेदि तदो भणेसि - 'चंदणअवीरएहि अवलोइदं पवहणं वच्चइ। अज्जे वसंतसेणे ! इमं च अहिण्णाणं दे देमि। (गच्छ रे प्रवहणवाहक ! गच्छ। यदि कोऽपि पृच्छति तदा भण - 'चन्दनकवीरकाभ्यामवलोकितं प्रवहणं व्रजति' आर्ये वसन्तसेने ! इदं चाभिज्ञानं ते ददामि।) (इति खड्गं प्रयच्छति)

आर्यकः— (खड्गं गृहीत्वा, सहर्षमात्मगतम्)

अये शस्त्रं मया प्राप्तं स्पन्दते दक्षिणो भुजः।
अनुकूलं च सकलं हन्त संरक्षितो ह्यहम्।।२४।।

चन्दनक— (कोप करके) मैं चन्दनक चमार हूं ? तो (तुम) देख ले गाड़ी को।

वीरक— अरे गाड़ीवान् ! लौटाओ गाड़ी, देखूंगा।

(चेट गाड़ी लौटा लाता है, वीरक गाड़ी पर चढ़ना चाहता है, चन्दनक झपटकर वीरक के बालों को पकड़कर जमीन पर उसे गिराता और पैर से मारता है)।

वीरक— (गुस्से के साथ उठकर) अरे ! राजा की आज्ञा (का पालन) करते हुए मुझ विश्वसनीय (कर्मचारी) को एकाएक बाल पकड़कर तुमने पैर से मारा है। तो सुन रे ! कचहरी में यदि तुझे भली भांति दण्ड न दिलवाऊँ तो मैं वीरक नहीं

चन्दनक— अरे ! राजकुल अथवा कचहरी में जा। कुत्ते जैसे तुझसे क्या ?

वीरक— अच्छा। (बाहर निकल जाता है)

चन्दनक— (चारों ओर देखकर) जाओ रे गाड़ीवान् जाओ। यदि कोई भी पूछे तो कह देना – "चन्दनक और वीरक के द्वारा जायी गयी गाड़ी जा रही है।" आर्ये वसन्तसेने ! यह निशानी तुम्हें देता हूं। (ऐसा कह कर तलवार दे देता है)

अन्वयः— अये, मया, शस्त्रम्, प्राप्तम्, दक्षिणः, भुजः, स्पन्दते; सकलम्, अनुकूलम्, हन्त ! अहम्, हि, संरक्षितः।।२४।

शब्दार्थः— अये, शस्त्रप्राप्तौ हर्षसूचकम् अव्ययम् इदम्, मया = आर्यकेण, शस्त्रम् = आयुधम्, प्राप्तम् = उपलब्धम्, दक्षिणः = वामेतरः, भुजः = बाहुः, स्पन्दते = स्फुरति, दक्षिणांगस्य स्पन्दनं पुरुषाणां कृते शुभसूचकं मन्यते, सकलम् = सर्वम् अनुकूलम् = अविरुद्धम्, सम्भवतीति शेषः, हन्त! इत्यपि प्रसन्नताबोधकमव्ययम्; अहम् = आर्यकः, हि = निश्चयेन संरक्षितः = परिपात्रः इदानीं प्राप्तशस्त्रस्य मम भयं नास्ति इति भावः।।२४।।

अर्थः—

आर्यक— (तलवार लेकर प्रसन्नतापूर्वक अपने आप)

अरे! मैंने शस्त्र पा लिया। दायीं भुजा फड़क रही है। सब कुछ अनुकूल है। प्रसन्नता है, मैं बच गया हूँ।।२४।।

इस श्लोक में समाधिनामक अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है। अलंकार का लक्षण— "समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात्।" ।।२४।।

चन्दनकः—अज्जए!

एत्थ मए विण्णविदा पच्चइदा चंदणं पि सुमरेसि।
ण भणामि एस लुद्धो णेहस्स रसेण बोल्लामो।।२५।।

आर्ये!

अत्र मया विज्ञप्ता प्रत्ययिता चन्दनमपि स्मरसि।
न भणाम्येष लुब्धः स्नेहस्य रसेन ब्रूमः।)

अन्वयः— अत्र, मया, विज्ञप्ता, प्रत्ययिता, (त्वम्), चन्दनम्, अपि, स्मरसि, एषः, लुब्धः (सन्), न, भणामि, (किन्तु) स्नेहस्य, रसेन, ब्रूमः।।२५।।

शब्दार्थः— अत्र = इस विपत्ति के समय में, मया = मेरे द्वारा, विज्ञप्ता = सूचिता की गयी अथवा मुझसे परिचित हुई, प्रत्ययिता = जिसे मैंने रक्षा का विश्वास दिलाया है अथवा जिसके विषय में सिद्ध का वचन सत्य हो गया है, ऐसी, (त्वम् = तुम) चन्दनकम् = चन्दनक को, अपि = भी, स्मरसि = याद रखना, एषः = यह (मैं), लुब्धः सन् = लोभ के वश में होकर, न = नहीं, भणामि = कह रहा हूँ, (किन्तु) स्नेहस्य = प्रेम के, रसेन = रस के कारण, ब्रूमः = बोल रहा हूँ।

अर्थः—

चन्दनक— आर्ये! आपसे मेरी विनती है कि इस विपत्ति से निकल जाने पर निश्चिन्तता की हालत में (मुझ) चन्दनक को भी याद रखना। (यह बात) मैं किसी लालच के कारण नहीं कह रहा हूँ, (बल्कि) स्नेह रस के कारण कह रहा हूँ (अर्थात् मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि राजा होने पर मुझे कोई बड़ा पद देना। मैं केवल प्रेमवश कह रहा हूँ)।।२५।।

टीका— अत्र = अस्मिन् विपत्तिकाले, मया = चन्दनकेन, विज्ञप्ता = सूचिता मया सह परिचिता वा, प्रत्ययिता = सञ्जातप्रत्यया सती अथवा विश्वासं प्रापिता अथवा प्रत्ययः = सिद्धस्य विश्वासः संजातः अस्याः सा त्वमितिशेषः, चन्दनम् = माम्, अपि स्मरसि = स्मरिष्यसि। एषः = एषः तवोपकारकः अहम्, लुब्धः = लोभपरवशः सन्, न भणामि = न वदामि। एतदर्थं नाऽहं भणामि यत् राज्यप्राप्तौ मह्यमुन्नतं पदं दास्यसि। किन्तु, स्नेहस्य = प्रेम्णः, रसेन = अनुभूत्या, ब्रूमः = कथयामः।।२५।।

इस श्लोक में गाथा छन्द है।।२५।।

आर्यकः—

चन्दनश्चन्द्रशीलाढ्यो दैवादद्य सुहृन्मम।
चन्दनं भोः स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि।।२६।।

अन्वयः— चन्द्रशीलाढ्यः, चन्दनः, दैवात्, अद्य, मम, सुहृत्, (जातः), भोः (मित्र!), यदि, सिद्धादेशः, तथा (तदा), चन्दनम्, स्मरिष्यामि।।२६।।

शब्दार्थः— चन्द्रशीलाढ्यः = चन्द्रमा के समान स्वभाववाला, चन्दनः = चन्दनक, दैवात् = संयोग से, अद्य = आज, मम = मेरा, सुहृत् = मित्र, (जातः = हो गया है), भोः (मित्र!) = हे मित्र! यदि = यदि, सिद्धादेशः = सिद्ध की भविष्यवाणी, तथा = वैसी होगी अर्थात् सही निकलेगी, तदा = तब, चन्दनम् = चन्दनक को, स्मरिष्यामि = याद करूंगा।।२६।।

अर्थः—

आर्यक— चन्द्रमा के समान (सुन्दर) स्वभाववाला चन्दनक संयोग से आज मेरा मित्र हो गया है। हे (मित्र)! यदि सिद्ध की भविष्यवाणी सही निकली तो (मैं) चन्दनक को याद करूँगा।।२६।।

टीका— चन्द्रवत् शीलम् = स्वभावः तेन आढ्यः = सम्पन्नः, चन्दनः = चन्दनकः, दैवात् = संयोगात्, अद्य = अस्मिन् दिने, मम = आर्यकस्य, सुहृत् = मित्रम्, जातः इति शेषः। भोः मित्र! यदि = चेत्, सिद्धादेशः = सिद्धस्य कथनम्, तथा = सत्यम् भवतीति शेषः, तदा = तस्मिन्काले, चन्दनम् = त्वामित्यर्थः, स्मरिष्यामि = स्मरणं करिष्यामि।।२६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।२६।।

चन्दनकः—अभअं तुह देउ हरो विण्हू बम्हा रवी अ चंदो अ।

हत्तूण सत्तुवक्खं सुंभणिसुंभे जधा देवी।।२७।।

(अभयं तव ददातु हरो विष्णुर्ब्रह्मा रविश्च चन्द्रश्च।

हत्वा शत्रुपक्षं शुम्भनिशुम्भौ यथा देवी।)

अन्वयः— हरः, विष्णुः, ब्रह्मा, रविः, चन्द्रः, च, तव, अभयम्, ददातु, शत्रुपक्षम्, हत्वा, (तथैव, विजयम्, लभस्व), यथा, शुम्भनिशुम्भौ (हत्वा) देवी (प्राप्तवती)।।२७।।

शब्दार्थः— हरः = शंकर, विष्णु = हरि, ब्रह्मा = सृष्टिकर्ता, रविः = सूर्य, चन्द्रः = चन्द्रमा, तव = तुम्हें, अभयम् = अभय को ददातु = प्रदान करें। शत्रुपक्षम् = शत्रु के दल को, हत्वा = मार कर, (तथैव = उसी प्रकार, विजयम् = विजय को लभस्व = पाओ), यथा = जैसे, शुम्भनिशुम्भौ = शुम्भ एवं निशुम्भ को, (हत्वा = मारकर), देवी = देवी ने, (प्राप्तवती = पाया था)।।

अर्थः—

चन्दनक— शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य और चन्द्रमा तुम्हें अभय प्रदान करें। शत्रु के दल को मारकर (तुम उसी प्रकार विजय पाओ) जैसे शुम्भ एवं निशुम्भ को मारकर देवी ने पाया था।।२७।।

टीका— हरः = सृष्टिसंहारकः शिवः, विष्णुः = सृष्टिपालकः हरिः, ब्रह्मा = सृष्टिकर्ता, रविः = दिनकरः, चन्द्रः = निशाकरश्च तव = आर्यकस्य, अभयम् = अभीतिम् ददातु = प्रयच्छतु, शत्रूणाम् = अरीणाम् पक्षम् = कुलम्, हत्वा = विनाश्य, तथैव = तेनैव प्रकारेण, विजयम् = सफलताम्, लभस्व = प्राप्तं कुरू,) यथा = येन प्रकारेण, शुम्भनिशुम्भौ = शुम्भनिशुम्भनामानौ राक्षसौ, (हत्वा = विनाश्य) देवी = दुर्गा, (प्राप्तवती = आदत्तवती)।।२७।।

इस श्लोक में तुल्ययोगिता एवं उपमा अलंकार तथा आर्या छन्द है।।२७।।

(चेटः प्रवहणेन निष्क्रान्तः)

चन्दनकः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अरे! णिक्कमंतस्स मे पिअवअस्सो सव्विलओ पिट्ठदो ज्जेव अणुलग्गो गदो। भोदु, पधाणदंडधारओ वीरओ राअपच्चअआरो विरोहिदो। ता जाव अहंपि पुत्तभादुपडिवुदो एदं ज्जेव अणुगच्छामि। (अरे! निष्क्रमतो मम प्रियवयस्यः शर्विलकः पृष्ठत एवानुलग्नो गतः। भवतु, प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययकारो विरोधितः। तद्यावदहमपि पुत्रभ्रातृपरिवृत एतमेवानुगच्छामि।)

(इति निष्क्रान्तः)

(चेट गाड़ी के साथ निकल जाता है)

अर्थः—

चन्दनक— (पर्दे की ओर देखकर) अरे! बाहर निकलते ही मेरा प्रिय मित्र शर्विलक पीछे पीछे ही लगा हुआ निकल गया। अच्छा, राजा के विश्वासपात्र प्रधान अधिकारी वीरक से विरोध कर लिया है तो पुत्र और बन्धुओं के समेत मैं भी इसी आर्यक के पास जाता हूँ।

(ऐसा कह कर निकल जाता है)

इति प्रवहणविपर्यासो नाम षष्ठोऽकः।।

'प्रवहणविपर्यय' अर्थात् गाड़ी की अदला–बदली नामक छठा अंक समाप्त।।

सप्तमोऽंकः

(ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च)

विदूषकः—भो! पेक्ख पेक्ख पुप्फकरंडअजिण्णुज्जाणस्स सस्सिरीअदां। (भोः! पश्य पश्य पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानस्य सश्रीकताम्।)

चारुदत्तः— वयस्य! एवमेतत्; तथा हि—

वणिज इव भान्ति तरवः पण्यानीव स्थितानि कुसुमानि।
शुल्कमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति।।१।।

(इसके बाद चारुदत्त और विदूषक प्रवेश करते हैं)

अन्वयः— तरवः, वणिजः, इव; भान्ति, कुसुमानि, पण्यानि, इव, स्थितानि, मधुकरपुरुषाः, शुल्कम्, साधयन्तः, इव, प्रविचरन्ति।।१।।

शब्दार्थः— तरवः = वृक्ष, वणिजः = बनियों, इव = जैसे, भान्ति = लग रहे हैं, सुशोभित हो रहे हैं। कुसुमानि = फूल, पण्यानि = बेंची जाने वाली चीजों (के); इव = समान, स्थितानि = वर्तमान हैं। मधुकरपुरुषाः = पुरुषों की भाँति भौंरे, शुल्कं = कर को, साधयन्तः = वसूल करते हुए, इव = से, प्रविचरन्ति = फिर रहे हैं।।

अर्थः—

विदूषक— अहा! देखिये, देखिये पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान (पुराने बगीचे) की सुन्दरता को। चारुदत्त— मित्र! ऐसा ही हैं। क्योंकि— वृक्ष बनियों जैसे लग रहे हैं। फूल बेची जाने वाली वस्तुओं के समान विराज रहे हैं। (सरकारी) पुरुषों की भाँति भौंरे कर वसूल करते हुए से फिर रहे हैं।।१।।

टीका— तरवः = वृक्षाः, वणिजः = विक्रेतारः, इव = यथा, भान्ति = शोभन्ते। कुसुमानि = पुष्पाणि, पण्यानि = विक्रेयवस्तूनि, इव, स्थितानि = राजितानि। मधुकराः = भ्रमराः पुरुषाः = शुल्कग्राहिणः राजपुरुषाः इव, शुल्कम् = घट्टादिदेयम्, करमित्यर्थः; साधयन्तः = गृह्लन्तः इव, प्रविचरन्ति = इतस्ततः भ्रमन्ति।।१।।

इस श्लोक में उपका अलंकार एवं आर्या छन्द है।।१।।

विदूषकः—भो! इमं असक्काररमणीअं सिलाअलं उवविसदु भवं। (भोः! इदमसंस्काररमणीयं शिलातलमुपविशतु भवान्।)

चारुदत्तः—(उपविश्य) वयस्य! चिरयति वर्धमानकः।

विदूषकः—भणिदो मए वड्ढमाणओ-'वसंतसेणिअं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छ' त्ति। (भणितो मया वर्धमानकः-'वसन्तसेनां गृहीत्वा लघु लघ्वागच्छ' इति।)

चारुदत्तः—तत्किं चिरयति

किं यात्यस्य पुरः शनैः प्रवहणं तस्यान्तरं मार्गते
भग्नेऽक्षे परिवर्तनं प्रकुरुते छिन्नोऽथ वा प्रग्रहः।
वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिर्मार्गान्तरं याचते
स्वैरं प्रेरितगोयुगः किमथवा स्वच्छन्दमागच्छति।।२।।

अर्थः—

विदूषक— मित्र! बिना धोये झाड़े भी सुन्दर साफ इस शिला पर आप बैठ जाँय।

चारुदत्त— (बैठ कर) मित्र! वर्धमानक देर कर रहा है।

विदूषक– मैंने वर्धमानक से कहा था–वसन्तसेना को लेकर शीघ्र लौटो।

अन्वयः– किम्, अस्य, पुरः, प्रवहणम्, शनैः, याति, तस्य, अन्तरम्, मार्गते? अक्षे, भग्ने; परिवर्तनम्, कुरुते? अथवा, प्रग्रहः, छिन्नः (अथवा) 'वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिः (सन्), मार्गान्तरम्, याचते? अथवा, स्वैरम्, प्रेरितगोयुगः, स्वच्छन्दम्, आगच्छति किम्?।।२।।

शब्दार्थः– किम् = क्या, अस्य = इसके, पुरः = आगे, प्रवहणम् = गाड़ी, शनैः = धीरे–धीरे, याति = जा रही है, तस्य = उसके (से), अन्तरम् = अवकाश को, मार्गते = ढूँढ रहा है? अक्षे = धुरा के, भग्ने = टूट जाने पर, परिवर्तनम् = अदला–बदली को, कुरुते = कर रहा है? अथवा = या, प्रग्रहः = बैलों को संभालने की रस्सी, छिन्नः = टूट गयी? (अथवा), वर्त्मान्तोज्झितदारुवारितगतिः = रास्ता के बीच में रख छोड़े गये काठ से रुक गया है जाना जिसका ऐसा (सन् = होता हुआ), मार्गान्तरम् = दूसरे रास्ते को, याचते = ढूँढ रहा है? अथवा = या, स्वैरम् = धीरे–धीरे प्रेरितगोयुगः = बैलों को हाँकता हुआ, स्वच्छन्दम् = मौज से, आगच्छति = आ रहा है, किम् = क्या?।।

अर्थः–

चारुदत्त– तो क्यों देर कर रहा है?

क्या वर्धमानक के आगे कोई दूसरी गाड़ी धीरे–धीरे जा रही है? और वह उस गाडी से आगे बढने का रास्ता ढूंढ रहा है? अथवा धुरा टूट जाने पर बदल रहा है? अथवा रस्सी ही टूट गयी? अथवा सड़क के बीचो–बीच रखे गये भारी काठ से रास्ता रुक जाने के कारण दूसरा मार्ग ढूँढ रहा है अथवा धीरे–धीरे बैलों को हांकता हुआ मौज से आ रहा है क्या?।।२।।

टीका– किम्; अस्य = वर्धमानकस्य, पुरः = अग्रे, प्रवहणम् = अन्यत् शकटम्, शनैः = मन्दं मन्दमित्यर्थः याति = व्रजति तस्य = पुरो गच्छतः प्रवहणस्य, अन्तरम् = गन्तुम् अवकाशम्, मार्गते = अन्विष्यति? अक्षे = शकटे, भग्ने = भ्रुटिते सति, परिवर्तनम् = तस्य निःसारणं तथा तत्र अन्यस्य नियोजनम् इत्यर्थः, कुरुते = विदधाति? अथवा–विकल्पार्थे शब्दोऽयं प्रयुज्यते, प्रग्रहः = वृषभबन्धनरश्मिः, छिन्नः = भग्नः? अथवा = उत्, वर्त्मनः = मार्गस्य अन्ते = मध्यभागे उज्झितः = परित्यक्तम्, राजकर्मचारिभिः इति शेषः, यत् दारु = काष्ठम् तेन रुद्धा = वारिता गतिः = गमनम् यस्य तादृशः सन् मार्गान्तरम् = अन्यं पन्थानम्, याचते = प्रार्थयति, अनुसरति इति भावः। अथवा, स्वैरम् = मन्दम्, शनैः शनैः इत्यर्थः प्रेरितम् = सञ्चालितं गोयुगम् = बलीवर्दद्वयं येन तादृशः सन्, स्वच्छन्दम् = यथेच्छम्, आगच्छति = आयाति किम्?।।२।।

इस श्लोक में सन्देह नामक अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।२।।

(प्रविश्य, गुप्तार्यकप्रवहणस्थः)

चेटः– **जाध गोणा! जाध। (यातं गावौ! यातम्।)**

आर्यकः– **(स्वगतम्)**

नरपतिपुरुषाणां दर्शनाद्भीतभीतः
सनिगडचरणत्वात्सावशेषापसारः।
अविदितमधिरूढो यामि साधोस्तु याने
परभृत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः।।३।।

अन्वयः– नरपतिपुरुषाणाम्, दर्शनात्, भीतभीतः, सनिगडचरणत्वात्, सावशेषापसारः, (अहम्) वायसीभिः, नीडे, रक्षितः, परभृतः इव साधोः, याने, अविदितम्, (तु), अधिरूढः, (सन्), यामि।।३।।

शब्दार्थः– नरपतिपुरुषाणाम् = सिपाहियों को, दर्शनात् = देखने से, भीतभीतः = डरा हुआ; सनिगडचरणत्वात् = बेडी से जकड़े रहने के कारण, सावशेषापसारः = पूर्णरूप से भाग निकलने में असमर्थ, (अहम् = मैं) वायसीभिः = कौआ की स्त्रियों के द्वारा, नीडे = घोसले में, रक्षितः = पाले गये, परभृतः इव = कोयल के समान, साधोः = सज्जन की, याने = गाड़ी पर, अविदितम् = छिपे रूप से, अधिरूढः = चढ़ा हुआ, यामि = जा रहा हूँ।।

अर्थः— (छिपकर बैठा हुआ आर्यक जिसमें ऐसी गाड़ी पर बैठा हुआ प्रवेश करके)

चेट— चलो बैलो! चलो।

आर्यक— (अपने आप) राजपुरुषों को देखने से अत्यन्त डरा हुआ, बेड़ी से पैर जकड़े रहने के कारण पूर्णरूप से भाग निकलने में असमर्थ, मैं कौवों की स्त्रियों के द्वारा घोसले में पाले गये कोयल के समान, किसी सज्जन पुरुष की सवारी पर छिपे रूप से चढ़कर जा रहा हूँ।।३।।

टीका— नरपतेः = राज्ञः पुरुषाणाम् = अधिकारिणाम्; रक्षिणामित्यर्थः; कोकिलपक्षे = नरपतिपुरुषाणाम् = शाकुनिकानामिति भावः; दर्शनात् = अवलोकनात्; भीत–भीतः = अभिभीतः; निगडेन = श्रृंखलया सहितः सनिगडः = सश्रृंखलः चरणः = पादः यस्य तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्; चरणस्य सश्रृंखलत्वात्; (हेतोः); कोकिलपक्षे–सनिगडः इव सनिगडः = बाल्यान्मन्दगमनः चरणः = पादः यस्य तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्, सावशेषः = किञ्चिदवशिष्टः अपसारः = पलायनं यस्य तादृशः, अहम्, वायसीभिः = काकीभिः, नीडे = कुलाये, रक्षितः = पालितः, परभृतः = कोकिल इव, साधोः = सज्जनस्य, आर्यचारुदत्तस्य इत्यर्थः, याने = प्रवहणे, अविदितम् = अज्ञातं यथा तथा, अधिरूढः = अधिष्ठितः सन्, यामि = व्रजामि।।३।।

अहो, नगरात्सुदूरमपक्रान्तोऽस्मि; तत्किमस्मात्प्रवहणादवतीर्य वृक्षवाटिकागहनं प्रविशामि? उताहो प्रवहणस्वामिनं पश्यामि? अथ वा कृतं वृक्षवाटिकागहनेन। अभ्युपपन्नवत्सलः खलु तत्रभवानार्यचारुदत्तः श्रूयते; तत्प्रत्यक्षीकृत्य गच्छामि।

स तावदस्माद्व्यसनार्णवोत्थितं निरीक्ष्य साधुः समुपैति निर्वृत्तिम्।

शरीरमेतद्गतमीदृशीं दशां धृतं मया तस्य महात्मनो गुणैः।।४।।

अर्थः— अहो! नगर से काफी दूर निकल आया हूँ। तो क्या इस गाड़ी से उतर कर पेडों के उद्यान के घने स्थान में घुस जाऊँ? अथवा गाड़ी के मालिक का दर्शन करूँ? अथवा बाग के घने स्थान में नहीं जाऊँगा। सुना जाता है कि पूज्य आर्य चारुदत्त शरणागत पर दया करने वाले हैं। इसलिये इनका दर्शन करके ही जाऊँगा।

अन्वयः— तावत्, सः, साधुः, अस्मात्, व्यसनार्णवोत्थितम्, (माम्), निरीक्ष्य, निर्वृत्तिम्, समुपैति, ईदृशीम्, दशाम्, गतम्, एतत्, शरीरम्, मया, तस्य, महात्मनः, गुणैः, धृतम्।।४।।

शब्दार्थः— तावत् = (यह केवल वाक्य की सुन्दरता के लिये प्रयोग किया गया है) सः = वह, साधुः = सज्जन, अस्मात् = इस, व्यवसनार्णवोत्थितम् = विपत्ति रूपी सागर से उबरा हुआ, (माम् = मुझको), निरीक्ष्य = देखकर, निर्वृत्तिम् = सुख को, समुपैति = प्राप्त होंगे। ईदृशीम् = ऐसी, दशाम् = हालत को, गतम् = गया हुआ, एतत् = यह शरीरम् = शरीर, मया = मेरे द्वारा, तस्य = उस, महात्मनः = महात्मा के, गुणैः = गुणों से, धृतम् = धारण किया गया है।।

अर्थः— वह सज्जन इस विपत्तिरूपी सागर से उबरा हुआ मुझे देखकर सुख को प्राप्त होंगे। मैंने ऐसी हालत में पड़े हुए इस शरीर को उन्हीं महात्मा के गुणों से ही धारण किया है।।४।।

टीका— सः = सर्वजनविदितः, साधुः = सज्जनः, चारुदत्तः इति शेषः, अस्मात् = अनुभूयमानात्, व्यसनम् = दुखम् एवं अर्णवः = सागरः तस्मात् उत्थितम् = निर्गतम्, रक्षितम् इत्यर्थः, मामितिशेषः, निरीक्ष्य = अवलोक्य, निर्वृत्तिम् = परमं सुखं सन्तोषं वा, समुपैति = प्राप्स्यति। ईदृशीम् = अनुभूयमानाम्, अतिदुःखकरीमित्यर्थः, दशाम् = अवस्थाम्, गतम् = प्राप्तम्, एतत् = तस्य प्रवहणे सुरक्षितं मदीयम्, शरीरम् = देहः, मया = आर्यकेण, तस्य = प्रसिद्धस्य; महात्मनः = सज्जनस्य, गुणैः = कीर्त्यादिभिः इत्यर्थः, वात्सल्यादिगुणैः वा; धृतम् = अवस्थापितम्।।४।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार एवं वंशस्थ छन्द है।।४।।

चेटः— इमं तं उज्जाणं, जाव उवशप्पामि। (उपसृत्य) अज्जमित्तेअ!। (इदं तदुद्यानम्, यावदुपसर्पामि। आर्यमैत्रेय!।)

विदूषकः—भो! पिअं दे णिवेदेमि। वड्ढमाणओ मंतेदि। आगदाए वसन्तसेणाए होदव्वं। (भोः! प्रियं ते निवेदयामि। वर्धमानको मन्त्रयति। आगतया वसन्तसेनया भवितव्यम्।)

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम्।

विदूषकः—दासीए पुत्ता! किं चिरइदो सि?। (दास्याः पुत्र! किं चिरायितोऽसि?।)

चेटः— अज्जमित्तेअ! मा कुप्प; जाणत्थलके विशुमलिदे त्ति कदुअ गदागर्द कलेंते चिलइदेम्हि। (आर्यमैत्रेय! मा कुप्य; यानास्तरणं विस्मृतमिति कृत्वा गतागत कुर्वंश्चिरायितोऽस्मि।)

चारुदत्तः—वर्धमानक! परिवर्तय प्रवहणम्। सखे मैत्रेय! अवतारय वसन्तसेनाम्।

विदूषकः—किं णिअडेण बद्धा से गोड्डा, जेण सअं ण ओदरेदि?। (उत्थाय, प्रवहणमुद्घाट्य) भो! ण वसंतसेणा, वसंतसेणो खु एसो। (किं निगडेन बद्धावस्याः पादौ, येन स्वयं नावतरति?। भोः! न वसन्तसेना, वसन्तसेनः खल्वेषः।)

चारुदत्तः—वयस्य! अलं परिहासेन। न कालमपेक्षते स्नेह। अथ वा स्वयमेवावतारयामि।

(इत्युत्तिष्ठिति)

आर्यकः— (दृष्ट्वा) अये अयमेव प्रवहणस्वामी। न केवलं श्रुतिरमणीयो दृष्टिरमणीयोऽपि। हन्त, रक्षितोऽस्मि।

चारुदत्तः—(प्रवहणमधिरुह्य, दृष्ट्वा च) अये, तत्कोऽयं?।

करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः
पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायताक्षः।
कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो
वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा।।५।।

अर्थः—

चेट— यह वह पुष्पकरण्डक उद्यान है। जब तक पास चलता हूँ। (पास जाकर) आर्य मैत्रेय!

विदूषक— मित्र! आप से प्रिय निवेदन करता हूँ, वर्धमानक बोल रहा है। वसन्तसेना आ गयी होगी।

चारुदत्त— प्रिय है, हमारा प्रिय है।

विदूषक— दासी के बच्चे! क्यों देर की है?

चेट— आर्य मैत्रेय! कोप मत कीजिए। गाड़ी की गद्दी भूल गया था। इसलिये फिर जाना-जाना करने में देर हो गई।

चारुदत्त— वर्धमानक! गाड़ी घुमाओ। मित्र मैत्रेय! वसन्तसेना को उतारो।

विदूषक— क्या इनके पैर बेड़ी से बँधे हुए हैं, जिससे खुद नहीं उतर रही हैं? (उठकर, गाड़ी को खोलकर) मित्र! यह वसन्तसेना नहीं वसन्तसेन है।

चारुदत्त— मित्र! हँसी मत करो। प्रेम देरी को नहीं बर्दाश्त करता। अथवा खुद ही उतारता हूँ।

(ऐसा कह कर उठता है)

आर्यक— (देखकर) अरे! यही गाड़ी के मालिक हैं। केवल सुनने में ही सुन्दर नहीं, किन्तु देखने में भी मनोहर हैं। आज अब मेरी रक्षा हो गयी।

अन्वयः— **करिकरसमबाहुः, सिंहपीनोन्नतांसः, पृथुतरसमवक्षाः, ताम्रलोलायताक्षः, यः, एवंविधः, महात्मा, (अस्ति, सः), कथम्, इदम्, असमानम्, (बन्धनम्) प्राप्तः, (सन्) पादलग्नम्, एकम्, निगडम्, वहति।।५।।**

शब्दार्थः— करिकरसमबाहुः = हाथी के सूँड़ के समान भुजावाला, सिंहपीनोन्नतांसः = सिंह के समान मोटे एवं ऊँचे कन्धोंवाला, पृथुतरसमवक्षाः = ऊँची एवं समतल छाती वाला, ताम्रलोलायताक्षः = ताँबे की रंग की चञ्चल तथा बड़ी-बड़ी आँखोंवाला, यः = जो, एवंविधः = इस प्रकार, महात्मा = महापुरुष, (अस्ति = है, सः = वह), कथम् = कैसे, इदम् = इस, असमानम् = अयोग्य, (बन्धनम् = बन्धन को), प्राप्तः सन् = प्राप्त होकर, पादलग्नम् = पैर में लगी हुई, एकम् = एक, निगडम् = बेड़ी को, वहति = धारण कर रहा है।।

अर्थः–

चारुदत्त– (गाड़ी पर चढ़कर और देखकर) अरे! तो यह कौन है?

हाथी के सूँड़ के समान जिसकी भुजाएँ हैं। सिंह के समान मोटे एवं ऊँचे जिसके कन्धे हैं। ऊँची एवं समतल जिसकी छाती है। ताँबे के रंग की, चञ्चल तथा बड़ी–बड़ी जिसकी आँखें हैं–इस प्रकार का जो यह महात्मा है (वह) कैसे इस अयोग्य हालत में पड़कर पैर में लगी हुई एक बेड़ी को धारण कर रहा है?।।५।।

टीका– करिणः = गजस्य करेण = शुण्डेन समौ = तुल्यौ बाहू = भुजौ यस्य तथोक्तः, दीर्घबाहूः इत्यर्थः। सिंहस्य = मृगराजस्य इव पीनौ = प्रपुष्टौ उन्नतौ = उच्छ्रितौ अंसौ = स्कन्धौ यस्य तादृशः। पृथुतरम् = अतिविशालम् समम् = समानम्, वक्षः = वक्षस्थलं यस्य सः। ताम्रे = ईषद्रक्ते लोले = चञ्चले अक्षिणी = नेत्रे यस्य तथोक्तः। यः = जनः, एवंविधः = एवम्प्रकारः, महात्मा = महापुरुषः महाशयः वा अस्तीतिशेषः, सः कथम् = केन प्रकारेण, असमानम् = अयोग्यम्, बन्धनमिति शेषः, प्राप्तः = उपगतः, सन् पादे = चरणे लग्नम् = संयुतम्, एकम्, निगडम् = श्रृंखलम्, वहति = धारयति।।५।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं मालिनी छन्द है।।५।।

ततः को भवान्?।

आर्यकः– शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि।

चारुदत्तः– किं घोषादानीय योऽसौ राजा पालकेन बद्धः?।

आर्यकः– अथ किं।

चारुदत्तः–

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम्।।६।।

अर्थः– तो आप कौन हैं?

आर्यक– शरण में आया हुआ अहीर का बालक आर्यक हूँ।

चारुदत्त– क्या जिसे अहीरों की बस्ती (घोष) से लाकर राजा पालक ने बन्दी बनाया था?

आर्यक– और क्या?

अन्वयः– विधिना, एव, उपनीतः, त्वम्, (मम), चक्षुर्विषयम्, आगतः, (असि)। अहम्, प्राणान्, अपि, जह्याम्, तु, शरणागतम्, त्वाम्, न।।६।।

शब्दार्थः– विधिना = भाग्य से, एव = ही, उपनीतः = लाये गए, त्वम् = तुम, (मम = मेरी), चक्षुर्विषयम् = आँखों के दृश्य–भाव को, आगतः = प्राप्त हुए (असि = हो)। अहम् = मैं, प्राणान् = प्राणों को, अपि = भी, जह्याम् = छोड़ दूँ, तु = किन्तु शरणागतम् = शरण में आए हुए, त्वाम् = तुमको, न = नहीं, (छोड़ सकता)।।

अर्थः–

चारुदत्त– भाग्य के द्वारा ही लाये तुम मेरी आँखों के विषय हुए हो। चाहे मैं प्राणों को भले ही छोड़ दूँ, किन्तु शरण में आये हुए तुमको नहीं छोड़ सकता।।६।।

टीका– विधिना = भाग्येन; एव; उपनीतः = आनीतः; त्वम् = आर्यकः; मम चक्षुषोः = नयनयोः विषयम् = गोचरं दृष्टिपक्षमित्यर्थः, आगतः = प्राप्तः असीति शेषः। अहम् = चारुदत्तः; प्राणान् = असून्; अपि, जह्याम् = त्यजेयम्, तु = किन्तु, शरणे = रक्षणे आगतम् = उपस्थितम्, त्वाम् = आर्यकम्, न = न जह्यामिति।।६।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।

(आर्यको हर्षं नाटयति)

चारुदत्तः—वर्धमानक! चरणान्निगडमपनय।

चेटः— जं अज्जो आणवेदि। (तथा कृत्वा) अज्ज! अवणीदाइं णिगलाइं। (यदार्य आज्ञापयति। आर्य! अपनीतानि निगलानि।)

आर्यकः— स्नेहमयान्यन्यानि दृढतराणि दत्तानि।

विदूषकः—संगच्छेहि णिअडाइं। एसो वि मुक्को। संपदं अम्हे वच्चिस्सामो। (संगच्छस्व निगडानि। एषोऽपि मुक्तः। साम्प्रतं वयं व्रजिष्यामः।)

चारुदत्तः—धिक्, शान्तम्।

आर्यकः— सखे चारुदत्त! अहमपि प्रणयेनेदं प्रवहणमारूढः; तत्क्षन्तव्यम्।

चारुदत्तः—अलंकृतोऽस्मि स्वयंग्राहप्रणयेन भवता।

आर्यकः— अभ्यनुज्ञातो भवता गन्तुमिच्छामि।

चारुदत्तः—गम्यताम्।

आर्यकः— भवतु, अवतरामि।

चारुदत्तः—सखे! नावतरितव्यम्। प्रत्यग्रापनीतसंयमनस्य भवतोऽलघुसंचारा गतिः। सुलभपुरुषसंचारेऽस्मिन्प्रदेशे प्रवहण विश्वासमुत्पादयति, तत्प्रवहणेनैव गम्यताम्।

आर्यकः— यथाह भवान्।

चारुदत्तः—क्षेमेण व्रज बान्धवान्

आर्यकः— ननु मया लब्धो भवान् बान्धवः

चारुदत्तः—स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता

आर्यकः— स्वात्मापि विस्मर्यते?।

चारुदत्तः—त्वां रक्षन्तु पथि प्रयान्तममराः

आर्यकः— संरक्षितोऽहं त्वया

चारुदत्तः—स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि

आर्यकः— ननु हे तत्रापि हेतुर्भवान्।।७।।

(आर्यक प्रसन्नता का अभिनय करता है)

अर्थः—

चारुदत्त— वर्धमानक! पैर से बड़ी निकाल दो।

चेट— जैसी आर्य की आज्ञा। (बेड़ी खोलकर) आर्य! बेड़ियों को निकाल दिया।

आर्यक— प्रेममय दूसरी अधिक मजबूत बेड़ियाँ पहना दी गयी हैं।

विदूषक— बेड़ियों को धारण करो। यह भी छूट गया। अब हम लोग जेल चलेंगे।

चारुदत्त— धिक्, चुप रहो।

आर्यक— मित्र चारुदत्त! मैं भी प्रेम के कारण इस गाड़ी पर चढ़ गया था। तो मुझे क्षमा कर देना चाहिये।

चारुदत्त— आपके द्वारा गाड़ी को स्वयं ग्रहण करने के स्नेह से अलंकृत हो गया हूँ।

आर्यक– आपसे आज्ञा लेकर जाना चाहता हूँ।

चारुदत्त– जाइए।

आर्यक– अच्छा तो, उतरता हूँ।

चारुदत्त– मित्र! उतरना नहीं चाहिए क्योंकि तुरंत बेड़ी कटने से (शरीर के सुन्न हो जाने के कारण) आप शीघ्र न चल सकेंगे। सिपाहियों के आने–जाने वाले इस स्थान में गाड़ी विश्वास पैदा करेगी। इसलिये गाड़ी से ही जाइये।

आर्यक– जैसी आपकी आज्ञा।

अन्वयः– क्षेमेण, बान्धवान्, व्रज। ननु, मया, भवान्, बान्धवः, लब्धः। भवता, कथान्तरेषु, स्मर्तव्यः, अस्मि। स्वात्मा, अपि, विस्मर्यते?। पथि, प्रयान्तम्, त्वाम्, अमराः, रक्षन्तु, अहम्, त्वया, संरक्षितः। स्वैः, भाग्यैः, परिरक्षितः, असि। ननु, हे, तत्र, अपि, भवान्, हेतुः।।७।।

शब्दार्थः– क्षेमेण = कुशलता के साथ, बान्धवान् = सम्बन्धियों के पास, व्रज = जाओ। ननु = निश्चय ही, मया = मेरे द्वारा, भवान् = आप, बान्धवः = सम्बन्धी, लब्धः = पा लिये गये हैं। भवता = आपके द्वारा, कथान्तरेषु = प्रसंगवश चलनेवाली बातचीत में, स्मर्तव्यः = याद किये जाने के योग्य, अस्मि = हूँ। स्वात्मा = अपनी आत्मा, अपि = भी, विस्मर्यते? = क्या भुलाया जाता है?। पथि = रास्ते में, प्रयान्तम् = जाते हुए, त्वाम् = तुमको, अमराः = देवता लोग, रक्षन्तु = बचावें। अहम् = मैं (आर्यक), त्वया = तुम्हारे द्वारा, संरक्षितः = बचाया गया हूँ। स्वैः = अपने, भाग्यैः = भाग्यों के द्वारा; परिरक्षितः = बचाये गये, असि = हो। ननु = निश्चय ही, हे = हे श्रद्धेय महानुभाव! तत्र = उसमें, अपि = भी, भवान् = आप, हेतुः = कारण है।।

अर्थः–

चारुदत्त– कुशलता के साथ अपने सम्बन्धियों के पास जाओ।

आर्यक– निश्चय ही मैंने आपको ही सम्बन्धी पा लिया है।

चारुदत्त– (कभी–कभी) बातचीत में मेरी याद कर लेना।

आर्यक– क्या अपना आत्मा भी भुलाया जाता है?

चारुदत्त– रास्ते में जाते हुए तुम्हारी रक्षा देवता करें।

आर्यक– मैं तुम्हारे द्वार बचाया गया अर्थात् रक्षित हुआ।

चारुदत्त– अपने भाग्यों के द्वारा बचाये गये हो।

आर्यक– मित्र! निश्चय ही इसमें भी आप कारण हैं।।७।।

टीका– क्षेमेण = कुशलेन, बान्धवान् = स्वजनानान्; व्रज = गच्छ। ननु = भोः, मया = आर्यकेणेत्यर्थः; भवान् = त्वम्; बान्धवः = स्वजनः; लब्धः = प्राप्तः। भवता = त्वया आर्यकेण इत्यर्थः; कथान्तरेषु = सामयिकवार्तासु, स्मर्तव्यः = स्मरणीयः; अस्मि। स्वात्मापि = स्वकीयः आत्मा अपि, विस्मर्यते = विस्मरणीयः भवति किम्?। पथि = मार्गे, प्रयान्तम् = गच्छन्तम्; त्वाम् = आर्यकम् इत्यर्थः; अमराः = देवाः; रक्षन्तु = रक्षां कुर्वन्तु। अहं = आर्यकः इत्यर्थः; त्वया = चारुदत्तेन; संरक्षितः = परित्रातः। स्वैः = स्वकीयैः; भाग्यैः = भागधेयैः एव; परिरक्षितः = संरक्षितः; असि। ननु = निश्चयेन; हे इति सम्बोधने; तत्रापि = भाग्यविहिते रक्षणे अपि; भवान् = त्वमेव; हेतुः = कारणम्।।७।।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।७।।

चारुदत्त– **यदुद्यते पालके महती रक्षा न वर्तते, तच्छीघ्रमपक्रामतु भवान्।**

आर्यकः– **एवम्, पुनर्दर्शनाय। (इति निष्क्रान्तः)**

चारुदत्त—

कृत्वैवं मनुजपतेर्महद्व्यलीकं
स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन्।
मैत्रेय! क्षिप निगडं पुराणकूपे
पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या।।८।।

अर्थः—

चारुदत्त— क्योंकि पालक के उद्यत रहने पर आपकी भली–भाँति रक्षा नहीं हो सकती, इसलिये आप जल्द ही यहाँ से भाग जाये।

आर्यक— अच्छा, फिर दर्शन के लिये (आशा करता हुआ जाता हूँ)।

(ऐसा कहकर निकल जाता है)

अन्वयः— एवं, मनुजपतेः, महत्, व्यलीकम्, कृत्वा, अस्मिन्, (उद्याने), क्षणम्, अपि, स्थातुम्, न, प्रशस्तम्, हि, मैत्रेय! निगडम्, पुराणकूपे, क्षिप, हि, क्षितिपतयः, चारदृष्ट्या, पश्येयुः।।८।।

शब्दार्थः— एवं = इस प्रकार से, मनुजपतेः = राजा के, महत् = बहुत बड़े, व्यलीकम् = अपराध को, कृत्वा = करके, अस्मिन् = इस, (उद्याने = बगीचे में), क्षणम् = एक क्षण, अपि = भी, स्थातुम् = रुकना, न = नहीं, प्रशस्तम् = उचित, ठीक नहीं। मैत्रेय! = हे मैत्रेय! निगडम् = बेड़ी को, पुराणकूपे = पुराने कुँए में, क्षिप = फेंक दो। हि = क्योंकि, क्षितिपतयः = राजालोग, चारदृष्ट्या = दूत रूपी आँखों से, पश्येयुः = देखेंगे।

अर्थः—

चारुदत्त— इस प्रकार राजा का बहुत बड़ा अपराध करके इस बगीचे में क्षण भर भी रुकना उचित नहीं है। मैत्रेय! बेड़ी को पुराने कुएँ में फेंक दो, क्योंकि राजा लोग दूत रूपी आँखों से देखते हैं।।८।।

टीका— एवम् = इत्थम्, मनुजपतेः = राज्ञः, महत् = विशालम्, व्यलीकम् = अप्रियम्, कृत्वा = विधाय, अस्मिन् = एतस्मिन्, उद्याने इति शेषः, क्षणमपि = किञ्चित्कालमपीत्यर्थः, स्थातुम् = वर्तितुम्, न प्रशस्तम् = न समीचीनम्, हीति पादपूरणे, अतः हे मैत्रेय! निगडम् = श्रृंखलम्, पुराणकूपे = प्राचीने उदपाने। एतादृशे प्राचीने कूपे यत्र जनाः जलं पातुं न गच्छन्ति तत्र क्षिप = पातय, हि = यतः, क्षितेः = पृथिव्याः पतयः = पालकाः, राजानः इत्यर्थः, चाराः = गूढपुरुषाः, एव दृष्टिः = नेत्रम्, दर्शनसाधानमित्यर्थः, तया, पश्येयुः = अवलोकयेयुः।।८।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास नामक अलंकार एवं प्रहर्षिणी छन्द है।।८।।

(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) सखे मैत्रेय! वसन्तसेनादर्शनोत्सुकोऽयं जनः। पश्य—

अपश्यतोऽद्य तां कान्तां वामं स्फुरति लोचनम्।
अकारणपरित्रस्तं हृदयं व्यथते मम।।९।।

अर्थः— (बायी आँख के फड़कने को सूचित करके) मित्र मैत्रेय! यह जन (अर्थात् मैं) वसन्तसेना के न दिखलाई पड़ने से अथवा वसन्तसेना को देखने के लिए उतावला हो रहा है। देखो—

अन्वयः— अद्य, ताम्, कान्ताम्, अपश्यतः, मम, वामम्, लोचनम्, स्फुरति, अकारणपरित्रस्तम्, मम, हृदयम्, व्यथते।।९।।

शब्दार्थः— अद्य = आज, ताम् = उस, कान्ताम् = प्रियतमा को, अपश्यतः = न देखने वाले, मम = मेरी, वामम् = बायीं, लोचनम् = आँख, स्फुरति = फड़क रही है, अकारणपरित्रस्तम् = बिना कारण के ही घबराया हुआ, मम = मेरा, हृदयम् = हृदय, व्यथते = पीड़ित हो रहा है।।

अर्थः— आज उस प्रियतमा को न देखने वाले मेरी बायी आँख फड़क रही है। बिना कारण के ही घबराया हुआ मेरा हृदय पीड़ित हो रहा है।९।।

टीका— अद्य = अस्मिन् दिने, ताम् = प्राणोपमामित्यर्थः, कान्ताम् = प्रियाम्; अपश्यतः = अनवलोकयतः, मम = चारुदत्तस्य इत्यर्थः, वामम् = दक्षिणेतरम् लोचनम् = नेत्रम्, स्फुरति = स्पन्दने। अकारणम् = कारणं विनैव परित्रस्तम् = भयविह्वलम्, मम हृदयम् = मनः इत्यर्थः, व्यथते = पीडितं भवति।।६।।

इस श्लोक में विभावना अलंकार है। लक्षण— विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिः।।६।।

तदेहि, गच्छावः। (परिक्रम्य) कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्? (विचार्य) प्रविशत्वयमनेन पथा। वयमप्यनेनैव पथा गच्छामः।

अर्थः— तो आओ, चलें। (घूमकर) क्या सामने से ही बौद्ध–भिक्षु का अमंगलकारी दर्शन हुआ? (विचार कर) यह इस रास्ते से जाए। हम लोग भी इस दूसरे रास्ते से ही चलेंगे।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(इसके बाद सब निकल जाते हैं)

।।इत्यार्यकापहरणं नाम सप्तमोऽकः।।

।।आर्यक–अपहरण नामक सातवाँ अंक समाप्त।।

अष्टमोंऽकः

(ततः प्रविशत्यार्द्रचीवरहस्तो भिक्षुः)

भिक्षुः— अज्जा! कलेध धम्मशंचअं,—

शंजम्मध णिअपोटं णिच्चं जग्गेध झाणपडहेण।
विशमा इंदिअचोला हलंति चिलशंचिदं धम्मं।।१।।

(अज्जाः! कुरुत धर्मचयम्,—

संयच्छत निजोदरं नित्यं जाग्रत ध्यानपटहेन।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसंचितं धर्मम्।।

अर्थः— (तब गीला कपड़ा हाथ में लिये हुए भिक्षु प्रवेश करता है)

अन्वयः— निजोदरम्, संयच्छत, ध्यानपटहेन, नित्यम्, जाग्रत, विषयाः, इन्द्रियचौराः, चिरसञ्चितम्, धर्मम्, हरन्ति।।१।।

शब्दार्थः— निजोदरम् = अपने पेट को, संयच्छत = संकुचित करो; ध्यानपटहेन = ध्यान रूपी नगाड़े से, नित्यम् = हमेशा, जाग्रत = जागते रहो, विषमाः = बलशाली अथवा भयंकर, इन्द्रियचौराः = इन्द्रियरूपी चोर, चिरसञ्चितम् = बहुत दिनों से इकट्ठा किये गये, धर्मम् = धर्म को, हरन्ति = छीन लेते हैं।।

अर्थः— भिक्षु (बौद्ध संन्यासी) — अरे अज्ञानी जनों! धर्म का सञ्चय करो—

अपने पेट को संकुचित करो अर्थात् कम खाओ। ध्यान रूपी नगाड़े से हमेशा जागते रहो, क्योंकि इन्द्रियरूपी बलशाली चोर बहुत दिनों से सञ्चित किये गये धर्म छीन लेते हैं।।१।।

टीका— निजोदरम्–निजम् = स्वकीयम् उदरम् = जठरम; संयच्छत = संकुचितं कुरुत; मिताहाराः भवत इत्यर्थः। ध्यानम् = स्वेष्टचिन्तनम् एव पटहः = ढक्का तेन; नित्यम् = सर्वदा; जाग्रत = जागरणं कुरुत; नित्यं इष्टदेवस्य ध्यानं कुरुत इति भावः। विषमाः = भयंकराः बलशालिनः इत्यर्थः; इन्द्रियाः = विषयग्रहणसाधनानि चक्षुरादीनि एव चौराः = तस्कराः; चिरेण = बहुकालेन सञ्चितम् = एकत्रीकृतम्; धर्मम् = संकृतम्; हरन्ति = मुष्णन्ति।।१।।

यहाँ रूपक अलंकार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–आर्या।।१।।

अवि अ, अणिच्चदाए पेक्खिअ णवलं दाव धम्माणं शलणम्हि।

पंचज्जण जेण मालिदा इत्थिअ सेंालिअ गाम लक्खिदे।
अबले क चंडाल मालिदे अवसं वि शे णल शग्ग गाहदि।।२।।

अपि च, अनित्यतया प्रेक्ष्य केवलं तावद्धर्माणां शरणमस्मि।

पञ्चजना येन मारिता स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः।
अबलः क्व चण्डालो मारितोऽवश्यमपि स नरः स्वर्गं गाहते।।

और भी–

अर्थः– अनित्यता के भाव से देखकर अर्थात् संसार को क्षण–भंगुर समझकर मैं अब केवल धर्म की ही शरण में आ गया हूँ।

अन्वयः– येन, पञ्चजनाः, मारिताः; स्त्रियम्, मारयित्वा, ग्रामः, रक्षितः; अबलः, चाण्डालः, च, मारितः; सः, नरः, अवश्यम्, स्वर्गम् गाहते।।२।।

शब्दार्थः– येन = जिसके द्वारा, पञ्चजनाः = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मारिताः = मार डाले गये। स्त्रियम् = स्त्री (अविद्या) को, मारयित्वा = मारकर, ग्रामः = गाँव (शरीर), रक्षितः = बचाया गया। अबलः = निर्बल, चाण्डालः = चण्डाल (घमण्ड), च = भी, मारितः = मारा गया; सः = वह, नरः = मनुष्य, अवश्यम् = अवश्य ही; स्वर्गम् = स्वर्ग को, गाहते = अवगाहित करता है।।

अर्थः– जिसने पाँच जनों (इन्द्रियों) को मार दिया अर्थात् भलीभाँति वश में कर लिया, अविद्या रूपी स्त्री को मार कर शरीर रूपी गाँव की रक्षा कर ली तथा घमण्ड रूप निर्बल चाण्डाल का वध कर डाला वह मनुष्य अवश्य ही स्वर्ग में विहार करता है।।२।।

टीका– येन = प्रबुद्धेन जनेनेत्यर्थः; पञ्चजनाः = पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि इत्यर्थः; मारिताः = विनाशिताः; स्त्रियम् = अविद्यामित्यर्थः, मारयित्वा = नाशयित्वा; ग्रामः = आत्मनः निवासभूतं शरीरमिति भावः; रक्षितः = परित्रातः; अबलः = निर्बलः; चाण्डालः = अहंकारः इत्यर्थः; च; मारितः = गतप्राणः कृतः; सः नरः = सः जनः; अवश्यम् = निश्चितम्; स्वर्गम् = सुरलोकम्; गाहते = गच्छति; स्वर्गे विचरतीति।।२।।

इस श्लोक में वैतालीय छन्द है। लक्षण– 'षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः। न समोऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः।।२।।

शिल मुंडिदे तुंड मुंडिदे चित्त ण मुंडिद कीश मुंडिदे।
जाह उण अ चित्त मुंडिदे शाहु शुट्ठ शिल ताह मुंडिदे।।३।।

शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किमर्थं मुण्डितम्?।
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम्।।

अन्वयः– शिरः, मुण्डितम्, तुण्डम्, मुण्डितम् (किन्तु, यदि) चित्तम्, न, मुण्डितम्, (तदा) किमर्थम्, मुण्डितम्? पुनः, यस्य, च, चित्तम्, साधु, मुण्डितम्, तस्य, शिरः, सुष्ठु, मुण्डितम्।।३।।

शब्दार्थः– शिरः = शिर, मुण्डितम् = मुँडा हुआ है, तुण्डम् = मुँह, मुण्डितम् = मुँड़ा हुआ है किन्तु, यदि = , चित्तम् = चित्त, न = नहीं, मुण्डितम् = मुँडा हुआ है तदा = तब, किमर्थम् = किस लिये, मुण्डितम्? = मुँडा हुआ है? पुनः = और, यस्य = जिसका, चित्तम् = चित्त, साधु = अच्छे प्रकार से, मुण्डितम् = मुँड़ा हुआ है साफ है, तस्य = उसका, शिरः = शिर, सुष्ठु = भली–भाँति, मुण्डितम् = मुँड़ा हुआ है।।

अर्थः– शिर मुँड़ाया, मुँह मुँड़ा लिया, किन्तु यदि चित्त नहीं मुँड़ाया तब किसलिए मुँड़ाया? और फिर जिसका चित्त अच्छे प्रकार से मुँड़ा हुआ अर्थात् साफ है उसका शिर भली भाँति मुँड़ गया है अर्थात् चित्त के पवित्र रहने पर बालों का मुँड़ाना भी सार्थक है। यदि चित्त साफ नहीं है तो बालों का मुँड़ाना व्यर्थ ही है।।३।।

टीका— शिरः = मस्तकम्; मुण्डितम् = केशरहितं कृतम्, तुण्डम् = मुखम्, मुण्डितम् = श्मश्रुहीन कृतम्; किन्तु यदि, चित्तम् = चेतः, अन्तःकरणमित्यर्थः; न मुण्डितम् = मलिनान् भावान् अपसार्य न विमलीकृतम्, तदा किमर्थम् = कस्मै प्रयोजनाय, मुण्डितम्? = केशादीनां अपसारणं कृतम्?। पुनः = किन्तु, यस्य = जनस्य, च, चित्तम् = अन्तःकरणम्, साधु = सम्यक्, मुण्डितम् = विमलीकृतम्, तस्य = जनस्य एव, शिरः = मस्तकादिकञ्चेत्यर्थः, सुष्ठु = सम्यक्, मुण्डितम्।।३।।

इस श्लोक में वैतालीय छन्द है।

गिहिदकशाओदए एशे चीवले, जाव इदं लट्टिअशालकाहकेलके उज्जाणे
पविशिअ पोक्खलिणीए पक्खालिअ लहुं लहुं अवक्कमिश्शं (गृहीतकषायोदकमे-
तच्चीवरम्, यावदेतद्राष्ट्रियश्यालकस्योद्याने प्रविश्य पुष्करिण्यां प्रक्षाल्य लघु लघ्वपक्रमिष्यामि।)

(परिक्रम्य, तथा करोति)

(नेपथ्ये)

शकारः— च्यिश्ट ले दुष्टशमणका! च्यिष्ट। (तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक! तिष्ठ।)

भिक्षुः— (दृष्ट्वा, सभयम्) ही अविद, माणहे एशे शे लाअशालशंठाणे आअदे। एक्केण भिक्खुणा अवलाहे किदे, अण्णं पि जहिं जहिं भिक्खुं पेक्खदि, तहिं तहिं गोणं व्व णाशं विंधिअ ओवाहेदि; ता कहिं अशलणे शलणं गमिश्शं?। अथवा भट्टालके ज्जेव बुद्धे मे शलणे। (आश्चर्यम्, एष स राजश्यालसंस्थानक आगतः, एकेन भिक्षुणापराधे कृतेऽन्यमपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासां विद्ध्वापवाहयति; तत्कुत्राशरणः शरणं गमिष्यामि?। अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम्।)

(प्रविश्य, सखड्गेन विटेन सह)

शकारः— च्यिश्ट ले दुश्टशमणका! च्यिश्ट; आवाणअमज्झपविश्टश्श, विअ लत्तमूलअश्श शीदं दे मोडइश्शं। (इति ताडयति) (तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक! तिष्ठ, आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि।)

विटः— काणेलीमातः! न युक्तं निर्वेदधृतकषायं भिक्षुं ताडयितुम्। तत्किमनेन?। इदं तावत्सुखोपगम्यमुद्यानं पश्यतु भवान।

अशरणशरणप्रमोदभूतैर्वनतरुभिः क्रियमाणचारुकर्म।
हृदयमिव दुरात्मनामगुप्तं नवमिव राज्यमनिर्जितोपभोग्यम्।।४।।

अर्थः— यह कपड़ा गेरुआ रंग घोले गये पानी को सोख चुका है। तो इसको राजा के साले के बगीचे में घुसकर पोखरी में धोकर जल्दी जल्दी भाग जाऊँगा। (घूमकर वैसा ही करता है)।

(पर्दे के पीछे)

शकार— रुको रे दुष्ट श्रमणक! रुको।

भिक्षु— (देखकर डर के साथ) आश्चर्य! दुष्टता के लिये प्रसिद्ध यह राजा का साला संस्थानक आ गया। एक भिक्षु के द्वारा अपराध करने पर जहाँ–जहाँ दूसरे भी भिक्षु को देखता है वहाँ–वहाँ बैल के समान उसकी नाक को छेदकर बाहर भगा देता है। तो असहाय मैं किसकी शरण में जाऊँ? अथवा स्वामी बुद्ध ही मेरे रक्षक हैं।

(तलवार लिये हुए विट के साथ प्रवेश करके)

शकार— ठहर, रे दुष्टश्रमण! ठहर। मदिरा पीने वालों के समाज के बीच आई हुई लाल मूली के समान तेरे शिर को तोड़ता हूँ। (ऐसा कह कर मारता है)।

विट— पुंश्चली के बच्चे! वैराग्य के कारण गेरुआ कपड़ा पहननेवाले भिक्षुक को मारना ठीक नहीं है। तो इससे झगड़ने से क्या लाभ? आप जरा आनन्दपूर्वक सेवन करने के लायक इस बगीचे को देखें।

अन्वयः— अशरणशरणप्रमोदभूतैः, वनतरुभिः, क्रियमाणचारुकर्म; दुरात्मनाम्, हृदयम्, इव, अगुप्तम्; नवम, राज्यम्, इव, अनिर्जितापभोग्यम्, (उद्यानम्, भवान्, पश्यत्)।।४।।

शब्दार्थः— अशरणशरणप्रमोदभूतैः = बिना घरवालों के लिये आश्रय तथा आनन्द स्वरूप, वनतरुभिः = वन-वृक्षों [illegible] क्रियमाणचारुकर्म = जिसमें सुन्दर काम किया जा रहा है। दुरात्मनाम् = दुष्टों के, हृदयम् = हृदय, इव [illegible] अगुप्तम् = असंयत। नवम् = नये, राज्यमिव = राज्य की भाँति, अनिर्जितोपभोग्यम् = भली-भाँति वश में न किये गये और सबके उपभोग के योग्य, (उद्यानम् = बगीचे को, भवान् = आप, पश्यतु = देखें)।।

अर्थः— बिना घरवाले लोगों के लिये आश्रय तथा आनन्द स्वरूप वन-वृक्षों के द्वारा जिसमें सुन्दर काम किया जा रहा है अर्थात् आश्रय, छाया एवं फल-फूल दिया जा रहा है। जो दुष्ट मनुष्यों के हृदय के समान अनियन्त्रित हैं, और नये राज्य की तरह भलीभाँति वश में नहीं किया गया और सबके उपभोग के योग्य है।।४।।

टीका— अशरणानाम् = गृहरहितानाम्, शरणानि = आश्रयाः प्रमोदभूताः = आनन्दस्वरूपाः, अशरणाश्च ते प्रमादभूताश्च [illegible] = उपवनस्य तरुभिः = वृक्षैः; क्रियमाणम् = आरब्धम्, चारु = मनोहरम्, कर्म = कार्यम्, दुरात्मनाम् = दुष्टानाम् हृदयमिव = चित्तमिव; अगुप्तम् = अनियन्त्रितम्। नवम् = नूतनम्; राज्यमिव = साम्राज्यमिव; अनिर्जितम् = विजयिना सम्यक् [illegible] आपत्तीकृतं च तद् उपभोग्यं च = स्वेच्छया सम्भोगार्हं चेत्यर्थः।।४।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है।।४।।

भिक्षुः— शाअदं; पशीददु उवासके। (स्वागतम्; प्रसीदतूपासकः।)

शकारः— भावे! पेक्ख पेक्ख, आक्कोशदि मं। (भाव! पश्य पश्य, आक्रोशति माम्।)

विटः— किं ब्रवीति?।

शकारः— उवाशके त्ति मं भणादि, किं हग्गे णाविदे?। (उपासक इति मां भणति, किमहं नापितः?।)

विटः— बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तौति।

शकारः— थुणु शमणका! थुणु। (स्तुनु श्रमणक! स्तुनु।)

भिक्षुः— तुमं धण्णे, तुमं पुण्णे। (त्वं धन्यः, त्वं पुण्यः।)

शकारः— भावे! धण्णे पुण्णे त्ति मं भणादि। किं हग्गे शलावके कोश्टके कोंभकाले वा?। (भाव! धन्यः पुण्यः इति मां भणति किमहं शलावकः (चार्वाकः) कोष्ठकं कुम्भकारो वा?।)

विट— काणेलीमातः! ननु 'धन्यस्त्वम्' 'पुण्यस्त्वम्' इति भवन्तं स्तौति।

शकारः— भावे! वा कीश एशे इध आगदे?। (भाव! तत्किमर्थमेष इहागतः?)

भिक्षुः— इदं चीवलं पक्खालिदुं। (इदं चीवरं प्रक्षालयितुम्।)

शकारः— अले दुश्टशमणका! एशे मम बहिणीवदिणा शव्वुज्जाणाणं पबले पुप्फुकलंडुज्जाणे दिण्णे, जहिं दाव शुणहका शिआला पाणिअं पिअंति। हग्गे वि पबलपुलिशे मणुश्शके ण ण्हाआमि; तहिं तुमं पुक्खलिणीए पुलाणकुलुत्थजूशशक्कण्णा उश्शगंधिआइं चीवलाइं पक्खालेशि?। ता तुमं एक्कपहालिअं कलेमि। (अरे दुष्टश्रमणक! एतेनमम भगिनीपतिना सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डोद्यानं दत्तम्, यत्र तावच्छुनकाः श्रृगालाः पानीयं पिबन्ति। अहमपि प्रवरपुरुषो मनुष्यको न स्नामि; तत्र त्वं पुष्करिण्यां पुराणकुलित्थयूषसवर्णा- न्युग्रगन्धीनि चीवराणि प्रक्षालयसि?। तत्त्वामेकप्रहारिकां करोमि।)

विटः— काणेलीमातः! तथा तर्कयामि यथानेनाचिरप्रव्रजितेन भवितव्यम्।

शकारः— कधं भावे जाणादि?। (कथं भावो जानाति?।)

विटः— किमत्र ज्ञेयम्?। पश्य

अद्याप्यस्य तथैव केशविरहाद्गौरी ललाटच्छविः
कालस्याल्पतया च चीवरकृतः स्कन्धे न जातः किणः।
नाभ्यस्ता च कषायवस्त्ररचना दूरं निगूढान्तरं
वस्त्रान्तं च पटोच्छ्रयात्प्रशिथिलं स्कन्धे न संतिष्ठते।।५।।

अर्थः–

भिक्षु– स्वागत है। उपासक प्रसन्न होवें।

शकार– भाव! देखिए, देखिए। मुझे कोस रहा है अर्थात् गाली दे रहा है।

विट– क्या कह रहा है?

शकार– मुझे उपासक कह रहा है। क्या मैं नाई हूँ?

विट– 'बुद्ध का उपासक' ऐसा कहकर आपकी प्रशंसा कर रहा है।

शकार– प्रशंसा करो श्रमणक। प्रशंसा करो।

भिक्षु– तुम प्रशंसनीय हो। तुम पवित्र हो।

शकार– भाव! मुझको 'धन्य पुण्य' ऐसा कह रहा है। क्या मैं चार्वाक, भण्डार का घर अथवा कुम्हार हूँ?

विट– छिनार के लड़के! 'आप धन्य हैं। आप पवित्र हैं' ऐसा कह कर आपकी प्रशंसा ही कर रहा है।

शकार– श्रीमान् जी! तब यह क्यों इस बगीचे में आया?

भिक्षु– इस कपड़े को धोने के लिये।

शकार– अरे दुष्ट श्रमण! मेरे बहनोई ने सभी बागों में बढ़िया यह 'पुष्पकरण्ड' नाम का बाग मुझे दिया है, जहाँ कुत्ते और सियार पानी पीते हैं। अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य मैं भी जिसमें नहीं नहाता हूँ। तू उस पोखरी में पुरानी कुल्थी के माँड़ जैसे रंग वाले तेज बदबू से युक्त कपड़ों को धोता है?तो तुझे एक घूँसे मारता हूँ।

विट– छिनार के बेटे! मैं ऐसा अनुमान करता हूँ कि यह अभी हाल ही में संन्यासी हुआ है।

शकार– कैसे आप जानते हैं?

अन्वयः– अद्य, अपि, केशविरहात्, अस्य, ललाटच्छविः, तथैव, गौरी; कालस्य, अल्पतया, स्कन्धे, चीवरकृतः, किणः, च, न, जातः, कषायवस्त्ररचना, च, न, अभ्यस्ता, दूरम्, निगूढान्तरम्, पटोच्छ्रयात्, प्रशिथिलम्, वस्त्रान्तम्, च, स्कन्धे, न, संतिष्ठते।।५।।

शब्दार्थः– अद्य = आज, अपि = भी, केशविरहात् = शिर के बालों के न होने से (मुँड़वा देने से, अस्य = इसके, ललाटच्छविः = मस्तक की कान्ति, तथैव = वैसी ही, गोरी = गौरी (है)। कालस्य = समय के, अल्पतया = कम होने के कारण अर्थात् थोड़े ही समय से संन्यास लेने के कारण, स्कन्धे = कन्धे पर, चीवरकृतः = संन्यासी के कपड़ों के द्वारा किया गया, किणः = घट्ठा, च = भी, न = नहीं, जातः = पड़ा है। कषायवस्त्ररचना = गेरुआ वस्त्र पहनना, च = भी, न = नहीं, अभ्यस्ता = सीखा गया है। दूरम् = बहुत अधिक, निगूढ़ान्तरम् = शरीर के बिचले हिस्से को ढकने वाला, पटोच्छ्रयात् = कपड़े की लम्बाई के कारण, प्रशिथिलम् = ढीला–ढाला वस्त्रान्तम् = कपड़े का छोर, च = भी, स्कन्धे = कन्धे पर, न = नहीं, सन्तिष्ठते = ठहर रहा है।।

अर्थः–

विट– इसमें जानना क्या है? देखो–

आज भी, शिर के बालों के मुँड़वा देने से इसके मस्तक की कान्ति वैसे ही अर्थात् मुँड़ाने के समय के समान ही गोरी है। थोड़ा ही समय बीतने से कन्धे पर कपड़े (की गठरी लटकाने) का चिह्न भी नहीं पड़ा है। इसने गेरुआ वस्त्र पहनना भी नहीं सीखा है। शरीर के मध्य भाग को बहुत अधिक ढकने वाला, कपड़े की लम्बाई के कारण ढीला–ढाला, कपड़े का छोर कन्धे पर नहीं ठहर रहा है।।५।।

टीका– अद्य = अधुना, अपि, केशानाम् = कचानाम्, विरहात् = अभावात्, अचिरकेशमुण्डनात् इत्यर्थः, अस्य = भिक्षोः, ललाटस्य = मस्तकस्य छविः = कान्तिः, तथैव = तादृशी एव, यथा मुण्डनकाले आसीत्तथैवेत्यर्थः, गौरी = गौरवर्णा। कालस्य = संन्यासग्रहणसमयस्य अल्पतया = स्वल्पतया, स्कन्धे = अंशप्रदेशे, चीवरैः = वस्त्रैः कृतः = विहितः, किणः = शुष्कव्रणम्,

च = अपि, न जातः = न उत्पन्नः। कषायवस्त्रस्य = गैरिकवस्त्र रचना = धारणम्, रञ्जनकार्यम्, न अभ्यस्ता = न शीलिता। दूरम् = अत्यधिकम्, निगूढम् = आच्छादितम् अन्तरम् = शरीरस्य मध्यभागः येन तत्, पटस्य = वस्त्रस्य उच्छ्रयात् = दैर्ध्यात्, अतः प्रशिथिलम् = अतिशिथिलम्, वस्त्रान्तम् = वस्त्रस्य प्रान्तभागः, चापि, स्कन्धे = अंशदेशे न सन्तिष्ठते = पूर्णतया न स्थिरं भवतीति।।५।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।५।।

भिक्षुः— **उवाशके! एव्वं। अचिलपव्वजिदे हग्गे (उपासक? एवम्! अचिरप्रव्रजितोऽहम्।)**

शकारः— **ता कीशं तुमं जातमेत्तक ज्जेव ण पव्वजिदे?। (तत्किमर्थं त्वं जातमात्र एव न प्रव्रजितः?।) (इति ताडयति)**

भिक्षुः— **णमो बुद्धश्श। (नमो बुद्धाय।)**

विटः— **किमनेन ताडितेन तपस्विना? मुच्यताम्; गच्छतु।**

शकारः— **अले! च्यिश्ट दाव जाव शंपधालेमि। (अरे! तिष्ठ तावत्, यावत्संप्रधारयामि।)**

विटः— **केन सार्धम्?।**

शकारः— **अत्तणो हडक्केण। (आत्मनो हृदयेन।)**

विटः— **हन्त, न गतः।**

शकारः— **पुत्रका हडक्का! भश्टके पुत्तके! एशे शमणके अवि णाम किं गच्छदु, किं च्यिश्टदु। (स्वगतम्) णावि गच्छदु, णावि च्यिश्टदु? (प्रकाशम्) भा शंपधालिदं मए हडक्केण शह। एशे मह हडक्के भणादि। (पुत्रक हृदय! भट्टारक पुत्रक! एष श्रमणकोऽपि नाम किं गच्छतु, किं तिष्ठतु?। नापि गच्छतु, नापि तिष्ठतु। भाव! संप्रधारितं मया हृदयेन सह। एतन्मम हृदयं भणति।)**

विटः— **किं ब्रवीति?।**

शकारः— **मावि गच्छदु, मावि च्यिश्टदु। मावि ऊशशदु, मावि णीशशदु; इध ज्जेव झत्ति पडिअ मलेदु। (मापि गच्छतु, मापि तिष्ठतु; माप्युच्छ्वसितु, मापि निःश्वसितु। इहैव झटिति पतित्वा म्रियताम्।)**

भिक्षुः— **णमो बुद्धश्श; शलणागदम्हि। (नमो बुद्धाय; शरणागतोऽस्मि!)**

विटः— **गच्छतु।**

शकारः— **णं शमएण। (ननु समयेन।)**

विटः— **कीदृशः समयः?।**

शकारः— **तधा कद्दमं फेलदु, जधा पाणिअं पंकाइलं ण होदि। अधवा पाणिअं पुंजीकदुअ कद्दमे फेलदु। (तथा कर्दमं प्रक्षिपतु, यथा पानीयं पंकाविलं न भवति।) अथवा पानीयं पुंजीकृत्य कर्दमे क्षिपतु।**

विटः— **अहो मूर्खता,—**

विपर्यस्तमनश्चेष्टैः शिलाशकलवर्ष्मभिः।
मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुंधरा।।६।।

अर्थः—

भिक्षु— उपासक! ऐसा ही है। मैं अभी हाल में ही संन्यासी हुआ हूँ।

शकार— तो तुम जन्म लेते ही क्यों नहीं संन्यासी हो गये। (ऐसा कह कर मारता है)

भिक्षु— बुद्ध को नमस्कार है।

विट— इस बेचारे को मारने से क्या लाभ? छोड़ दो; जाय।

शकार— अरे! ठहर जरा, जब तक विचार करता हूँ।

विट— किसके साथ?

शकार— अपने हृदय के साथ।

विट— हाय! गया नहीं।

शकार— बेटे हृदय! राजा हृदय! क्या यह बौद्ध संन्यासी चला जाय अथवा ठहरे? (अपने आप) न तो जाय और न तो ठहरे ही। (प्रकट रूप में) श्रीमान् जी! मैंने हृदय के साथ सलाह कर लिया। यह मेरा हृदय कहता है।

विट— क्या कहता है?

शकार— न तो जाय। न ठहरे। न साँस ले। न साँस छोड़े। यहीं पर झट से गिर कर मर जाय।

भिक्षु— बुद्ध को नमस्कार है। शरण में आया हूँ।

विट— जाय।

शकार— एक शर्त पर।

विट— कैसी शर्त?

शकार— यह इस तरह कीचड़ फेंके जिससे कि पानी गदला न हो। अथवा पानी को इकट्ठा करके कीचड़ में फेंक दे।

अन्वयः— विपर्यस्तमनश्चेष्टैः, शिलाशकलवर्ष्मभिः, मांसवृक्षैः, मूर्खैः, इयम्, वसुन्धरा, भाराक्रान्ता, (वर्तते)।।६।।

शब्दार्थः— विपर्यस्तमनश्चेष्टैः = विपरीत मन और काम वाले, शिलाशकलवर्ष्मभिः = पत्थर की पटिया के टुकड़े के समान शरीर वाले, मांसवृक्षैः = मांस के पेड़ों (के समान), मूर्खैः = मूर्खों के द्वारा, इयम् = यह, वसुन्धरा = पृथ्वी, भाराक्रान्ता = बोझिल, (वर्तते = है)।।

अर्थः—

विट— ताज्जुब की मूर्खता है—

विपरीत मन और काम वाले, पत्थर की शिला के टुकड़े के समान शरीर वाले, मांस के पेड़ों जैसे मूर्खों के द्वारा यह पृथिवी बोझिल हो रही है।।६।।

टीका— विपर्यस्ते = विपरीते, व्यवहारविरुद्धे इत्यर्थः, मनश्चेष्टे = चेतश्चेतोव्यापारौ येषां तादृशैः; लोकविरुद्धस्य कार्यस्य चिन्तने सम्पादने च संलग्नैः इति भावः; शिलायाः = प्रस्तरखण्डस्य शकलानि = खण्डानि इव वर्ष्माणि = शरीराणि येषां तैः; मांसस्य = पिशितस्य वृक्षाः = पादपाः तैः, मांसमयैः पादपैः विचारशून्यैः इति भावः; मूर्खैः = अज्ञैः; इयम् = आधारभूता, वसुन्धरा = पृथ्वी, भाराक्रान्ता = अतिभारवती वर्तते इति।।६।।

इस श्लोक में उपमा एवं रूपक अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।।६।।

(भिक्षुर्नाट्येनाक्रोशति)

शकारः— किं भणादि?। (किं भणति?।)

विटः— स्तौति भवन्तम्।

शकारः— थुणु थुणु, पुणो वि थुणु। (स्तुनु स्तुनु, पुनरपि स्तुनु।)

(तथा कृत्वा निक्रान्तो भिक्षुः)

विटः— काणेलीमातः! पश्योद्यानस्य शोभाम्

अमी हि वृक्षाः फलपुष्पशोभिताः
कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः।
नृपाज्ञया रक्षिजनेन पालिता
नराः सदारा इव यान्ति निर्वृतिम्।।७।।

(बौद्ध संन्यासी अभिनय के द्वारा कोसता है)

अर्थः—

शकार— क्या कहता है?

विट— आपकी प्रशंसा कर रहा है।

शकार— प्रशंसा करो, और फिर भी प्रशंसा करो।

(वैसा करके भिक्षु निकल जाता है)

अन्वयः— फलपुष्पशोभिताः, कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः, अमी, वृक्षाः, नृपाज्ञया, रक्षिजनेन, पालिताः, सदाराः, नराः, इव, निर्वृतिम्, यान्ति।।७।।

शब्दार्थः— फलपुष्पशोभिताः = फलों एवं फूलों से सुशोभित, कठोरनिष्पन्दलतोपवेष्टिताः = मोटी पकी एवं निश्चल लताओं के द्वारा लपेटे गये, अमी = ये, वृक्षाः = वृक्ष, नृपाज्ञया = राजा की आज्ञा से, रक्षिजनेन = सिपाहियों के द्वारा, पालिता = रखवाली किये गये, सदाराः = सपत्नीक, नराः इव = पुरुषों के समान, निर्वृतिम् = सुख को, यान्ति = जा रहे हैं, प्राप्त कर रहे हैं।।

अर्थः—

विट— छिनार के पुत्र! बगीचे की शोभा देखो—

फलों एवं फूलों से सुशोभित, मोटी, पकी तथा निश्चल लताओं के द्वारा भली—भाँति आलिंगित ये वृक्ष, राजा की आज्ञा से सिपाहियों के द्वारा रखवाली किये गये सपत्नीक पुरुषों के समान, सुख को प्राप्त कर रहे हैं।।७।।

टीका— पुष्पाणि = कुसुमानि च, फलानि = प्रसवाश्च तैः शोभिताः = सुन्दराः; कठोराभिः = स्थूलाभिः प्राचीनाभिश्च निष्पन्नाभिः = निश्चलाभिः लताभिः = व्ततितिभिः उपवेष्टिताः = आलिंगिताः; अमी = एते; वृक्षाः = पादपाः; नृपस्य = राज्ञः आज्ञया = आदेशेनः रक्षिजनेन = रक्षकलोकेन, पालिताः = रक्षिताः; दाराभिः = स्त्रीभिः सहिताः = युक्ताः सदाराः = सपत्नीकाः नराः = मनुष्याः इवः, निर्वृतिम् = सुखम्; यान्ति = प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः।।७।।

इस श्लोक में उपमा एवं समासोक्ति अलंकार तथा वंशस्थ छन्द है।।७।।

शकारः— शुष्टु भावे भणादि

बहुकुशुमविचित्तिदा अ भूमी
कुशुमभलेण विणामिदा अ लुक्खा
दुमशिहललदाअलंबमाणा
पणशफला विअ बाणला ललंति।।८।।

सुष्टु भावो भणति

बहुकुसुमविचित्रता च भूमिः कुसुमभरेण विनामिताश्च वृक्षाः।
द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः पनसफलानीव वानरा ललन्ति।।

अन्वयः— भूमिः, च, बहुकुसुमविचित्रता, (अस्ति), वृक्षाः, च, कुसुमभरेण, विनामिताः, (सन्ति), द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः वानराः पनसफलानि, इव, ललन्ति।।८।।

शब्दार्थः— भूमिः = पृथिवी, बहुकुसुमविचित्रता = अनेक फूलों से रंग–विरंगी, (अस्ति = है)। वृक्षाः = वृक्ष, च = भी, कुसुमभरेण = फूलों के बोझ से, विनामिताः = झुकाये गये, (सन्ति = है)। द्रुमशिखरलतावलम्बमानाः = पेड़ों के ऊपर की टहनियों में लटके हुए, वानराः = वानर, पनसफलानि = कटहल के फल, इव = जैसे, ललन्ति = सुशोभित हो रहे हैं।।

अर्थः—

शकार— आप ठीक कह रहे हैं।

पृथिवी अनेक रंग के फूलों से रंग–बिरंगी है। वृक्ष फूलों के बोझ से झुकाये गये हैं। पेड़ों के ऊपर की टहनियों में लटके हुए वानर कटहल के फल के समान सुशोभित हो रहे हैं।।८।।

टीका— भूमिः = पृथिवी; बहुभिः = अनेकैः, नानाविधैः इत्यर्थः, कुसुमैः = प्रसूनैः विचित्रता = विविधवर्णरञ्जिता, अस्तीति शेषः; वृक्षाः = पादपाः; च = अपि; कुसुमानाम् = पुष्पाणाम्; भरेण विनामिताः = नम्रीकृताः, सन्तीतिशेषः। द्रुमाणाम् = पादपानाम्, शिखरलतासु = अग्रभागशाखासु अवलम्बमानाः = अधो लम्बमानाः, वानराः = कपयः; पनसस्य = कण्टकिफलस्य फलानि = प्रसवाः इव; ललन्ति = शोभन्ते, अत्रेति शेषः।।८।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है।।८।।

विटः— **काणेलीमातः! इदं शिलातलमध्यास्यताम्।**

शकारः— **एशे म्हि आशिदे। (इति विटेन सहोपविशति) भावे! अज्ज वि तं वशंतशेणिअं शुमलामि। दुज्जणवअणं विअ हडक्कादो ण ओशलदि। (एषोऽस्म्यासितः। भाव! अद्यापि तां वसन्तसेनां स्मरामि। दुर्जनवचनमिव हृदयान्नापसरति।)**

विटः— **(स्वगतम्) तथा निरस्तोऽपि स्मरति ताम्। अथवा**

स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदनः।
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति।।९।।

अर्थः—

विट— पुंश्चली के पुत्र! इस शिलातल पर बैठिए।

शकार— यह बैठ गया। श्रीमान् जी! आज भी उस वसन्तसेना को याद करता हूँ। कठोर वचन के समान वह मेरे हृदय से नहीं निकल रही है।

विट— (अपने आप) उस प्रकार तिरस्कृत होने पर भी उसकी याद करता है। अथवा—

अन्वयः— स्त्रीभिः, विमानितानाम्, कापुरुषाणाम्, मदनः, विवर्धते, तु, सत्पुरुषस्य, सः, एव, मृदुः, भवति, वा, न, एव, भवति।।९।।

शब्दार्थः— स्त्रीभिः = स्त्रियों के द्वारा, विमानितानाम् = तिरस्कृत, कापुरुषाणाम् = नीच पुरुषों का, मदनः = काम, विवर्धते = अधिक बढ़ जाता है। तु = किन्तु, सत्पुरुषस्य = सज्जनपुरुषों का, सः = वह, एव = ही, मृदुः = कम, भवति = हो जाता है, वा = अथवा, न = नहीं, एव = ही, भवति = होता है।।

अर्थः— स्त्रियों द्वारा तिरस्कृत नीच पुरुषों की कामवासना अधिक बढ़ जाती है। किन्तु सज्जन पुरुषों की कामवासना कम हो जाती है अथवा होती ही नहीं।।९।।

टीका— स्त्रीभिः = वांछिताभिः नारीभिः, विमानितानाम् = तिरस्कृतानाम्, निष्फलीकृत– कामयाञ्चानामित्यर्थः, मदनः = कामः, विवर्धते = वृद्धिं गच्छति। तु = किन्तु, सतः = सज्जनस्य पुरुषस्य = जनस्य, कुलीनस्येति यावत्, सः = मदनः एव मृदुः = क्षीणः, भवति = जायते, वा = अथवा, नैव भवति = नैव उत्पद्यते।।९।।

यहाँ पर अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–आर्या।

शकारः— भावे! का वि बेला थावलकचेडश्शभणिदश्श 'पवहणं गेण्हिअ लहुं लहुं आअच्छे' त्ति। अज्ज वि ण आअच्छदि त्ति। चिलम्हि बुभुक्खिदे। मज्झण्हे ण शक्कीअदि पादेहिं गंतुं। ता पेक्ख पेक्ख

णहमज्झगदे शूले दुप्पेक्खे कुविदवाणलशलिच्छे।
भूमी दढशंतत्ता हदपुत्तशदेव गंधाली।।१०।।

(भाव! कापि वेला स्थावरकथेटस्य अणिलस्य 'प्रवहणं गृहीत्वा लघु लघ्वागच्छ' इति। अद्यापि नागच्छतीति। अहं बुभुक्षितः। मध्यान्हने न शक्यते अदाम्या गन्तुम्। तत्पश्य पश्य

नभोमध्यगतः सूर्यो दुःप्रेक्ष्यः कुपितवानरसदृशः।
भूर्निर्दृढसतप्ता हतपुत्रशतेव गान्धारी।।)

अर्थः—

शकार— श्रीमान् जी! स्थावरक नौकर से यह कहे हुए कितनी देर हो गयी कि 'गाड़ी लेकर बहुत जल्द आओ'। अभी न [illegible] आ रहा है। बहुत देर से भूखा हूँ। दोपहर में पैदल नहीं चला जा सकता। तो देखिये, देखिये—

अन्वयः— नभोमध्यगतः, सूर्यः, कुपितवानरसदृशः, दुःप्रेक्ष्यः, (अस्ति), हतपुत्रशता, गान्धारी, इव, भूमिः, दृढसन्तप्ता, (जाता)।।१०।।

शब्दार्थः— नभोमध्यगतः = आकाश के बीचो–बीच स्थित, सूर्यः = सूर्य, कुपितवानरसदृशः = क्रुद्ध हुए वानर के समान, दुःप्रेक्ष्य = मुश्किल से देखे जाने के योग्य, (अस्ति = है)। हतपुत्रशता = मारे गये थे सौ पुत्र जिसके ऐसी, गान्धारी = गान्धारी के समान, भूमिः = पृथिवी, दृढ़सन्तप्ता = बहुत अधिक सन्तप्त (पृथिवी के पक्ष में–तपी हुई, गान्धारी के पक्ष में–दुःखी) (अस्ति = हो गयी है)।।

अर्थः— आकाश के बीचोबीच स्थित सूर्य, क्रुद्ध हुए वानर के (मुँह के) समान, मुश्किल से देखा जा सकता है। मारे गये सौ पुत्र जिसके ऐसी गान्धारी के समान यह पृथिवी बहुत अधिक सन्तप्त (पृथिवी के पक्ष में–तपी हुई, गान्धारी के पक्ष में–दुःखी) है।।१०।।

टीका— नभसः = आकाशस्य मध्ये = मध्यभागे गतः = स्थितः, सूर्यः = प्रभाकरः, कुपितवानरेण = क्रुद्धकपिना सदृशः = समानः दुःप्रेक्ष्यः = दुःखेन द्रष्टुं शक्यः, अस्तीति शेषः। हतम् = विनाशितम्, पुत्राणाम् = सुतानाम्, शतम् = शतसंख्याकं मूहु यस्याः तादृशी, गान्धारी = दुर्योधन जननी इव, भमिः = पृथिवी, दृढ़म् = अत्यर्थं यथा स्यात्तथा सन्तप्ता = उष्ण पक्ष सन्तापयुक्ता जातेति।।१०।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं आर्या छन्द है।।१०।।

विटः— **एवमेतत्**

छायासुं प्रतिमुक्तशष्पकवलं निद्रायते गोकुलं
तृष्णार्तैश्च निपीयते वनमृगैरुष्णं पयः सारसम्।
संतापादतिशंक्तिैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते
तप्तां भूमिमपास्य च प्रवहणं मन्ये क्वचित्संस्थितम्।।११।।

अन्वयः— प्रतिमुक्तशष्पकवलम्, गोकुलम्, छायासु, निद्रायते, तृष्णार्तैः, वनमृगैः, च, उष्णम, सारसम्, पयः, निपीयते, [illegible] अतिशंकितैः, नरैः, नगरीमार्गः, न, सेव्यते, (अतः, अहं) मन्ये, (यत्), तप्ताम्, भूमिम् अपास्य, प्रवहणम्, क्वचित्, संस्थितम् (अस्ति)।।११।।

शब्दार्थः— प्रतिमुक्तशष्पकवलम् = छोड़ दिया है घासों का चरना जिसने ऐसा, गोकुलम् = गायों का झुण्ड, छायासु = छाया में, निद्रायते = नींद ले रहा है, तृष्णार्तैः = प्यास से व्याकुल, वनमृगैः = जंगली जानवरों के द्वारा, च = और, उष्णम् = गर्म, सारसम् = सरोवरों का, पयः = जल, पीयते = पीया जा रहा है; सन्तापात् = गर्मी से, अतिशंकितैः = अत्यन्त डरे हुए, नरैः = मनुष्यों के द्वारा, नगरीमार्गः = नगरी की सड़क, न = नहीं, सेव्यते = इस्तेमाल की जा रही है, नहीं चली जा रही है; (अतः = इसलिये, अहम् = मैं) मन्ये = समझता हूँ (यत् = कि), तप्ताम् = तपी हुई, भूमिम् = भूमि को अपास्य = छोड़कर प्रवहणम् = गाड़ी, क्वचित् = कहीं, संस्थितम् = ठहरा (अस्ति = है)।।

अर्थः—

विट— हाँ ऐसी ही बात है—

गायों का झुण्ड कोमल घासों का चरना छोड़कर छाया में नींद ले रहा है। प्यास से व्याकुल जंगली जानवर सरोवरों का गर्म जल पी रहे हैं। गर्मी से अत्यन्त डरे हुए मनुष्य नगरी की सड़क से नहीं चल रहे हैं। अतः मैं समझता हूँ कि तपी हुई भूमि को छोड़कर वह गाड़ी कहीं (छाया में) ठहर गयी है।।१२।।

टीका— प्रतिमुक्ताः = परित्यक्ताः शष्पाणाम् = बालतृणानाम्, कवलाः = ग्रासाः येन तत्, गवां कुलम् = समूहः, छायासु = अनातपेषु, निद्रायते = स्वपिति। तृष्णार्तैः = पिपासापीडितैः, वनमृगैः = अरण्यपशुभिश्च, उष्णम् = घर्मेण तप्तं, सरसः = सरोवरस्य इदं सारसम् =सरोवरसम्बन्धि, पयः = जलम्, निपीयते = नितरां पीयते। सन्तापात् = आतपात्, अतिशंकितैः = अतिभीतैः, नरैः = जनैः, नगर्याः = उज्जयिनीनगर्य्याः मार्गः = पन्थाः, न सेव्यते = न गम्यते। अतः अहं मन्ये = स्वीकरोमि, यत् तप्ताम् = उष्णाम्, भूमिम् = पृथिवीम्, अपास्य = परित्यज्य, प्रवहणम् = शकटम्, क्वचित् = कुत्रचित्, संस्थितम् = निवृत्तगतिव्यापारम्, अस्तीति।।११।।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।११।।

शकारः— भावे!

शिलषि मम णिलीणे भाव शुज्जशश पादे
शउणिखगविहंगा लुक्खशाहाशु लीणा।
णलपुलिशमणुश्शा उण्हदीहं शशंता
घलशलणणिशण्णा आदवं णिव्वहंते।।१२।।

(भाव!)

शिरसि मम निलीनो भाव! सूर्यस्य पादः
शकुनिखगविहंगा वृक्षशाखासु लीनाः।
नरपुरुषमनुष्या उष्णदीर्घं श्वसन्तो
गृहशरणनिषण्णा आतपं निर्वहन्ति।।१२।।

अन्वयः— हे भाव! सूर्यस्य, पादः, मम, शिरसि, निलीनः (अस्ति); शकुनिखगविहंगाः, वृक्षशाखासु, लीनाः, (सन्ति), नरपुरुषमनुष्याः, उष्णदीर्घम्, श्वसन्तः, गृहशरणनिषण्णाः, आतपम्, निर्वहन्ति।।१२।।

शब्दार्थः— हे भाव! = हे श्रीमान् जी, सूर्यस्त = सूर्य की, पादः = किरण, मम = मेरे, शिरसि = शिर पर, निलीनः = पड़ी, (अस्ति = है)। शकुनिखगविहंगाः = पक्षी (खग, विहंग) वृक्षशाखासु = वृक्ष की डालों में, लीनाः = छिपे हुए, (सन्ति = है)। नरपुरुषमनष्याः = मनुष्य (नर, पुरुष), उष्णदीर्घम् = गरम तथा लम्बी (जैसे हो तैसे), श्वसन्तः = साँस लेते हुए, गृहशरणनिषण्णाः = घर (शरण) में बैठे हुए, आतपम् = गर्मी को, निर्वहन्ति = बिता रहे हैं।।

अर्थः—

शकार— श्रीमान् जी।

सूर्य की किरण मेरे शिर पर पड़ रही हैं। पक्षी वृक्ष की डालों में छिप गये हैं। मनुष्य गर्म तथा लम्बी साँसें लेते हुए घर में बैठे हुए गर्मी को बिता रहे हैं।।१२।।

टीका— हे भाव! = हे विद्वन्! सूर्यस्य = भानोः; पादः = किरणः; मम = शकारस्य; शिरसि = मस्तके; निलीनः = नितरां पतितः; अस्तीति शेषः। शकुनिखग–विहंगाः = पक्षिणः; वृक्षस्य = पादपस्य शाखासु = लतासु, लीनाः = निशब्दं स्थिताः इत्यर्थः, सन्तीतिशेषः। नरपुरुषमनुष्याः = पुरुषाः, उष्णम् = सन्तप्तम् च तत् दीर्घम् = विस्तृतं; यथा तथा; श्वसन्तः = श्वासक्रियां

कुर्वन्तः; गृहशरणेषु = भवनेषु निषण्णाः = स्थिताः; आतपम् = धर्मकालमित्यर्थः निर्वहन्ति = यापयन्ति।।१२।

श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–मालिनी।।१२।।

भावे! अज्ज वि शे चेडे णाअच्छदि। अत्तणो विणोदणणिदित्तं किं पि गाइश्शं (गति गायति) भावे! भावे! शुदं तुए जं मए गाइदं?। (भाव! अद्यापि स चेटो नागच्छति। आत्मनो विनोदननिमित्तं किमपि गास्यामि। भाव भाव! श्रुतं त्वया यन्मया गीतम्?।)

विटः– **किमुच्यते। गन्धर्वो भवान्।**

शकारः– **कधं गंधव्वे ण भविश्शं?।**

हिंगुज्जले जीलकभद्दमुश्ते वचाह गंठी शगुडा अ शुंठी।
एशे मए शेविद गंधजुत्ती कधं ण हग्गे मधुलश्शले त्ति।। १३।।

कथं गन्धर्वो न भविष्यामि?

हिंगूज्वला जीरकभद्रमुस्ता वचाया ग्रन्थिः सगुडा च शुण्ठी।
एषा मया सेविता गन्धयुक्तिः कथं नाहं मधुरस्वर इति।।

अर्थः– श्रीमान् जी! अब भी वह चेट नहीं आ रहा है। अपने को बहलाने के लिये कुछ गाऊँगा। (ऐसा कह कर गाता है)। श्रीमान् जी! तुमने सुना जो मैंने गाया?।

विट– क्या कहना! आप गन्धर्व हैं।

शकार- मैं गन्धर्व क्यों न होऊँ?

अन्वयः– हिंगूज्ज्वला, जीरकभद्रमुस्ता, वचायाः ग्रन्थिः, सगुडा, शुण्ठो, च; एषा, गन्धयुक्तिः, मया, सेविता, (तर्हि), अहम् कथम्, मधुरस्वरः, न, (भवेयम्) इति।।१३।।

शब्दार्थः– हिंगूज्ज्वला = हींग के कारण सफेद, जीरकभद्रमुस्ता = जीरा सहित नागरमोथी, वचायाः = वच की, ग्रन्थिः = गाँठ, सगुडा = गुड़ से मिलायी हुई, शुण्ठी = सोंठ–एषा = यह गन्धयुक्तिः = सुगन्धित मिलावट, मया = मेरे द्वारा, सेविता = सेवन की गयी है, (तर्हि = तो) अहम् = मै, कथम् = कैसे, मधुरस्वरः = मीठास्वर वाला, न = नहीं, (भवेयम् = होऊँ)। इति = यह पादपूर्ति के लिये हैं।।

अर्थः–

शकार– हींग मिलाने के कारण सफेद जीरा सहित नागर मोथा, वच की गाँठ और गुड़ मिलायी हुई सोंठ–इस सुगन्धित योग का मैंने (प्रतिदिन स्वर सुधारने के लिये) सेवन किया है, तो मैं मीठा स्वर वाला क्यों न होऊँ?।।१३।।

टीका– हिंगुभिः = वाल्हीकैः उज्ज्वला = शुभ्रा वासिता वा, जीरकसहिता जीरणसहिता भद्रमुस्ता = 'नागर मोथा' इति प्रसिद्धः द्रव्यविशेषः, वचायाः = उग्रगन्धायाः, ग्रन्थिः = काण्डः, सगुडा = गुडमिश्रिता, शुण्ठी = लोके सोंठ इति ख्यातः शुष्कार्द्रक च; एषा = पूर्वकथिता इत्यर्थः, गन्धयुक्तिः = गन्धयोगः, मया = शकारेण, सेविता = भुक्ता, तर्हि अहम् सुस्वरार्जनकृतयत्नः शकारः इत्यर्थः, कथम् = कस्मात् काणात्, मधुरस्वरः मधुरः = श्रवणसुभगः स्वरः = कण्ठध्वनिः यस्य तादृशः, न भवेयमिति, अपि तु भवेयमिति?।।१३।।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है।।१३।।

भावे! पुणो वि दाव गाइश्शं। (तथा करोति) भावे भावे! शुदं तुए जं मए गाइदं

भाव! पुनरपि तावद्गास्यामि। भाव भाव! श्रुतं त्वया यन्मया गीतम्?।)

विटः– **किमुच्यते गन्धर्वो भवान्।**

शकारः– **कधं गधव्वे ण भवामि?।**

हिंगुज्जले दिण्णमलीचचुण्णे वग्घालिदे तेल्लघिएण मिश्शे।
भुत्ते मए पालहुदीअमंशे कधं ण हग्गे मधुलश्शलेत्ति।।१४।।

(कथं गन्धर्वो न भवामि?)

हिंगूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम्।
भुक्तं मया पारभृतीयमांसं कथं नाहं मधुरस्वर इति।।

अर्थः— श्रीमान् जी! तो मैं फिर भी गाऊँगा। (गाकर) श्रीमान् जी! श्रीमान जी! आपने सुना, जो मैंने गाया?।

विट— क्या कहना! आप गन्धर्व हैं।

अन्वयः— हिंगूज्ज्वलम्, दत्तमरीचचूर्णम्, तैलघृतेन, मिश्रम्, व्याघारितम्, पारभृतीयमांसम्, मया, भुक्तम्, अहम्, कथम्, न, मधुरस्वरः, (भवेयम्), इति।।१४।।

शब्दार्थः— हिंगूज्ज्वलम् = हींग से वासित, दत्तमरीचचूर्णम् = मिर्च के चूर्ण से मिला हुआ, तैलघृतेन = तेल एवं घी से, मिश्रम् = मिला हुआ, (एवं) व्याघारितम् = बघारा हुआ, पारभृतीयमांसम् = कोयल का मांस, मया = मेरे द्वारा, भुक्तम् = खाया गया है, अहम् = मैं, कथम् = कैसे, न = नहीं, मधुरस्वरः = मीठा स्वरवाला, (भवेयम् = होऊँ), इति = यह पादपूर्ति के लिये है।।

अर्थः—

शकार— क्यों न गन्धर्व होऊँ?

मैंने हींग से वासित, काली मिर्च के चूर्ण से मिला हुआ तथा तेल एवं घी से मिला और बघारा हुआ कोयल का मांस खाया है; तो मैं मीठा स्वर वाला क्यों न होऊँ।।१४।।

टीका— हिंगुभिः = वाल्हीकैः उज्ज्वलम् = शुभ्रम्, हिंगुवासितमित्यर्थः; दत्तम् = मिश्रितं मरिचानाम् = कोलकानाम्, चूर्णम् = चूर्णीकृतं रजः यस्मिन् तत्; तैलसहितेन घृतेन तैलघृतेन अथवा तैलञ्च घृतञ्च तयोः समाहारः तेन तैलघृतेन मिश्रम् = संयुक्तम्; विशेषेण आधारितं व्याघारितम् = घृतपक्वमित्यर्थः; परभृतः एव पारभृतः = कोकिलः तस्य इदं पारभृतीयम् = कोकिलसम्बन्धि मांसम् = आमिषम्, मया = शकारेण; भुक्तम् = खादितम्; अहम् = शकारः; कथम् = कस्मात्; न मधुरः = श्रवणप्रियः स्वरः = कण्ठध्वनिः यस्य सः; भवेयमिति।।१४।।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है।

भावे! अज्ज वि चेडे णाअच्छदि! भाव! अद्यापि चेटी नागच्छति।)

विटः— स्वस्थो भवतु भवान्, संप्रत्येवागमिष्यति।

(ततः प्रविशति प्रवहणाधिरूढा वसन्तसेना चेटश्च)

चेटः— भीदे खु हग्गे, मज्झण्हिके शुज्जे। मा दाणिं कुविदे लाअशालशंठाणे हुविश्शदि। ता तुलिदं वहामि। जाध गोणा! जाध। (भीतः खल्वहम्, माध्याह्निकः सूर्यः। नेदानीं कुपितः राजश्यालसंस्थानको भविष्यति। तत्त्वरितं वहामि। यातं गावौ! यातम्।)

वसन्तसेना— हद्धी हद्धी, ण हु वड्ढमाणअस्स अअं सरसंजोओ। किं णेदं?। किं णु खु अज्जचारुदत्तेण वाहणपडिस्सम परिहरंतेण अण्णे मणुस्सो अण्णं पवहणं पेसिदं भविस्सादे?। फुरदि दाहिणं लोअणं, वेवदि मे हिअअं, सुण्णाओ दिसाओ, सव्वं ज्जेव विसंठुलं पेक्खामि। (हा धिक् हा धिक्, न खलु वर्धमानकस्यायं स्वरसंयोगः। किं न्विदम्? किं नु खल्वार्यचारुदत्तेन वाहनपरिश्रमं परिहरतान्यो मनुष्योऽन्यत्प्रवहणं प्रेषितं भविष्यति?। स्फुरित दक्षिणं लोचनम्, वेपते मे हृदयम्, शून्या दिशः, सर्वमेव विसंष्ठुलं पश्यामि।)

शकारः— (नेमिघोषमाकर्ण्य) भावे भावे! आगदे पवहणे। (भाव भाव! आगतं प्रवहणम्।)

विटः— कथम् जानासि?।

शकारः— किं ण पेक्खदि भावे? बुड्ढशूअले विअ घुलघुलाअमाणे लक्खीअदि। (किं न पश्यति भावः? वृद्धशूकर इव घुरघुरायमाणं लक्ष्यते।)

विटः— (दृष्ट्वा) साधु लक्षितम् अयमागतः।

शकारः— पुत्तका थावलका चेडा! आगदे शि? (पुत्रक स्थावरक चेट! आगतोऽसि।)

चेटः— अध इं। (अथ किम्।)

शकारः— पवहणे वि आगदे?। (प्रवहणमप्यागतम्?)

चेटः— अध इं। (अथ किम्।)

शकारः— गोणा वि आगदे?। (गावावप्यागतौ?।)

चेटः— अध इं। (अथ किम्।)

शकारः— तुमं पि आगदे?। (त्वमप्यागतः?।)

चेटः— (सहासम्) भट्टके! अहं पि आगदे। (भट्टारक! अहमप्यागतः।)

शकारः— ता पवेशेहि पवहणं। (तत्प्रवेशय प्रवहणम्।)

चेटः— कदलेण मग्गेण?। (कतरेण मार्गेण?।)

शकारः— एदेण ज्जेव पगालखंडेण। (एतेनैव प्रकारखण्डेन।)

चेटः— भट्टके! गोणा मर्लेति। पवहणे वि भज्जेदि। हग्गे वि चेडे मलामि। (भट्टारक! वृषभौ म्रियेते। प्रवहणमपि भज्यते अहमपि चेटो म्रिये।)

शकारः— अले! लाअशालके हग्गे; गोणा मले, अवले कीणिश्शं; पवहणे भग्गेऽ अवलं घडाइश्शं; तुमं मले, अण्णे पवहणवाहओ हुविश्शदि। (अरे! राजश्यालकोऽहम्; वृषभौ मृतौ, अपरौ क्रेष्यामि। प्रवहणम् भग्नम्, अपरं कारयिष्यामि। त्वं मृतः अन्यः प्रवहणवाहको भविष्यति।)

चेटः— शव्वं उववण्णं हुविश्शदि, हग्गे अत्तणकेलके ण हुविश्शं। (सर्वमुपपन्नं भविष्यति, अहमात्मीयो न भविष्यामि।)

शकारः— अले! शव्वं पि णश्शदु; पगालखंडेण पवेशेहि पवहणं। (अरे! सर्वमपि नश्यतु; प्राकारखण्डेन प्रवेशय प्रवहणम्।)

चेटः— विभज्ज ले पवहण! शर्म शामिणा विभज्ज। अण्णे पवहणे भोदु। भट्टके गदुअ णिवेदेमि। (प्रविश्य) कथं ण भग्गे? भट्टके एशे उवत्थिदे पवहणे। (विभज्ज रे प्रवहण! समं स्वामिना विभज्ज। अन्यत्प्रवहणं भवतु। भट्टारकं गत्वा निवेदयामि। कथं न भग्नम्?। भट्टारक! एतदुपस्थितं प्रवहणम्।)

शकारः— ण छिण्णा गोणा?। ण मला लज्ज?। तुमं पि ण मले?। (न छिन्नौ वृषभौ?। न मृता रज्जवः? त्वमपि न मृतः?।)

चेटः— अघ इं। (अथ किम्।)

शकारः— भावे! आअच्छ; पवहणं पेक्खामो। भावे! तुमं पि मे गुलु पलमगुलु। पेक्खीअशि शादलके अब्भंतलकेत्ति पुलक्कलण्णीएत्ति तुमं दाव पवहणं अग्गदो अहिलुह। (भाव! आगच्छ; प्रवहणं पश्यावः। भाव! त्वमपि मम गुरुः परमगुरुः। प्रेक्ष्यसे सादरकोऽभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति त्वं तावत्प्रवहणमग्रतोऽधिरोह।)

विटः— एवं भवतु। (इत्यारोहति)

शकारः— अधवा च्यिश्ट तुमं। तुह् बप्पकेलके पवहणे, जेण तुमं अग्गदो अहिलुहशि। हग्गे पवहणशामी; अग्गदो पवहणं अहिलुहामि। (अथवा तिष्ठ त्वम्। तव पितृसंबन्धि प्रवहणम्, येन त्वमग्रतोऽधिरोहसि। अहं प्रवहणस्वामी; अग्रतः प्रवहणमधिरोहामि।)

विटः— भवानेवं ब्रवीति।

शकारः— जइ वि हग्गे एव्वं भणामि, तधा वि तुह एशे आदले 'अहिलुह भश्टके' त्ति भणिदुं। (यद्यप्यहमेवं भणामि, तथापि तवैष आचारः 'अधिरोह भट्टारक! इति भणितुम्।)

विटः— आरोहतु भवान।

शकारः— एशे शंपदं अहिलुहामि। पुत्तका थावलका चेडा! पलिवत्तावेहि पवहणं। (एष सांप्रतमधिरोहामि। पुत्रक स्थावरक चेट! परिवर्तय प्रवहणम्।)

चेटः— (परावर्त्य) अहिलुहदु भट्टालके। (अधिरोहतु भट्टारकः।)

शकारः— (अधिरुह्यावलोक्य च शंकां नाटयित्वा, त्वरितमवतीर्य, विटं कण्ठेऽवलम्ब्य) भावे भावे! मलेशि मलेशि। पवहणाधिलूढा लक्खशी चोले वा पडिवशदि। ता जइ लक्खशी, तदो उभे वि मूशे। अध चोले, तदो उभे वि खज्जे। (भाव भाव! मृतोऽसि मृतोऽसि। प्रवहणाधिरूढा राक्षसी चौरो वा प्रतिवसति। तद्यदि राक्षसी, तदोभावपि मुषितौ। अथ चौरः तदोभावपि खादितौ।)

विटः— न भेतव्यम्; कुतोऽत्र वृषभयाने राक्षस्याः संचारः?। मा नाम ते मध्याह्नार्कतापच्छिन्नदृष्टेः स्थावरकस्य सकञ्चुकां छायां दृष्ट्वा भ्रान्तिरुत्पन्ना?।

शकारः— पुत्तका थावलका चेडा! जीवेशि?। (पुत्रक स्थावरक चेट! जीवसि?।)

चेटः— अध इं। (अथ किम्।)

शकारः— भावे! पवहणाहिं इत्थिआ पडिवशदि; ता अवलोएहि। (भाव! प्रवहणान्तः स्त्री प्रतिवसति; तदवलोकय।)

विटः— कथं स्त्री?।

अवनतशिरसः प्रयाम शीघ्रं पथि वृषभा इव वर्षताडिताक्षाः।
मम हि सदसि गौरवप्रियस्य कुलजनदर्शनकातरं हि चक्षुः।।१५।।

अर्थः— श्रीमान् जी! अब भी चेट नहीं आ रहा है।

विट— आप घबड़ायें नहीं, अभी आ जायेगा।

(तब गाड़ी पर बैठी हुई वसन्तसेना तथा चेट प्रवेश करते हैं।)

चेट— मुझे बड़ा डर लग रहा है! सूर्य मध्याह्न में आ गया अर्थात् दिन के बारह बज गये। राजा के साले संस्थानक कहीं क्रुद्ध न हों? इसलिये जल्दी जल्दी गाड़ी हाँकता हूँ। बढ़े चलो बैलों, बढ़े चलो।

वसन्तसेना— हा! खेद है! खेद है! निश्चय ही वर्धमानक की यह आवाज नहीं है। यह क्या है? क्या गाड़ी के श्रम को बचाते हुए आर्य चारुदत्त ने दूसरा गाड़ीवान् तथा दूसरी गाड़ी भेज दी है? दाहिनी आँख फड़क रही है। मेरा कलेजा काँप रहा है। दिशाएँ सूनी (लग रही) है। सब कुछ विपरीत दिखलाई पड़ रहा है।

शकार— (गाड़ी की घड़घड़ाहट सुनकर) भाव! भाव! गाड़ी आ गयी।

विट— कैसे जानते हो?

शकार— क्या आप नहीं देख रहे हैं? बूढ़े सूअर की भाँति घुर–घुर करती (गाड़ी) मालूम पड़ रही है।

विट— (देखकर) ठीक जाना! यह आ गया।

शकार— बेटा स्थावरक चेट! आ गये?

चेट— और क्या?

शकार— गाड़ी भी आ गयी?

चेट— और क्या?

शकार– बैल भी आ गये?

चेट– और क्या?

शकार– तुम भी आ गये?

चेट– (हँसी के साथ) मालिक! मैं भी आ गया हूँ।

शकार– तो गाड़ी को अन्दर ले आओ।

चेट– किस रास्ते से?

शकार– इस चहारदिवारी के टूटे हिस्से से।

चेट– मालिक! दोनों बैल मर जायेंगे। गाड़ी भी टूट जायगी। मैं सेवक भी मर जाऊँगा।

शकार– अरे! मैं राजा का साला हूँ। बैल मर जायें तो दूसरा खरीद लूँगा। गाड़ी टूट जायेगी तो दूसरा बनवा लूँगा। तुम मर जाओगे तो दूसरा गाड़ीवान् हो जायेगा।

चेट– सब कुछ ठीक हो जायेगा। बस मैं न रहूँगा।

शकार– अरे! सब कुछ नष्ट हो जाय। उसी टूटी दीवार से ही गाड़ी भीतर लाओ।

चेट– टूट जा री गाड़ी! मालिक के साथ टूट जा। दूसरी गाड़ी हो जाये। मालिक के समीप जाकर अभी निवेदन करता हूँ। (घुस कर के) क्या नहीं टूटी? मालिक! यह गाड़ी हाजिर है।

शकार– बैल नहीं टूटे! रस्सियाँ नहीं मरीं! और तुम भी नहीं मरे?

चेट– जी हाँ।

शकार– भाव! आओ, गाड़ी देखें। भाव! तुम भी मेरे गुरु हो परमगुरु हो। सम्मान की निगाह से देखे जाते हो और मेरे हृदय को जानने वाले हो। इसलिये तुम्हीं आगे चलने के योग्य हो। अतः तुम ही आगे गाड़ी पर सवार होओ।

विट– ऐसा ही हो (ऐसा कह कर चढ़ता है)।

शकार– अथवा रुको तुम। तुम्हारे पिता की गाड़ी है, जो पहले चढ़ रहे हो? मैं गाड़ी का मालिक हूँ; अतः आगे गाड़ी पर चढ़ूँगा।

चेट– आपने ही ऐसा कहा था।

शकार– यद्यपि मैंने ऐसा कहा था तो तुम्हारा भी तो कर्त्तव्य था कि मुझसे कहते–"मालिक आप ही पहले चढ़ें।

विट– आप चढ़िये।

शकार– अच्छा, यह मैं अब चढ़ता हूँ। बेटा स्थावरक चेट! गाड़ी घुमाओ।

चेट– (घुमाकर) स्वामी चढ़िए।

शकार– (चढ़कर और देखकर, शंकाका अभिनय करके, जल्दी से उतरकर विट के गले में लिपटकर) भाव! भाव!! मर गये मर गये। गाड़ी पर राक्षसी चढ़ी है, अथवा चोर निवास करता है। तब यदि राक्षसी है तो हम दोनों लुट गये। यदि चोर है तो दोनों ही खाये गये।

विट– डरना नहीं चाहिए। इस बैलगाड़ी में राक्षसी कहाँ से आ सकती है? कहीं मध्यान्हकालीन सूर्य की गरमी से चकाचौंध आँखवाले तुम्हें, स्थावरक चेट की कुर्तावाली परछाई देखकर भ्रम तो नहीं पैदा हो गया है?

शकार– बेटा स्थावरक नौकर! जिन्दा हो?

चेट– जी हाँ।

शकार– भाव! गाड़ी के भीतर स्त्री बैठी है। देखो तो।

अन्वयः– (तदा), पथि, वर्षताडिताक्षाः, वृषभाः, इव, अवनतशिरसः, (वयम्), शीघ्रम्, प्रयाम; हि, सदसि, गौरवप्रियस्य, मम, चक्षुः, कुलजनदर्शनकात्तरम्, हि।।१५।।

शब्दार्थः— (तदा = तब तो), पथि = रास्ते में, वर्षताडिताक्षाः = वर्षा से ताडित आँखों वाले, वृषभाः = बैलों (के), इव = समान, अवनतशिरसः = शिर नीचा किये हुए, (वयम् = हम लोग), शीघ्रम् = जल्द, प्रयाम = भाग चलें। हि = क्योंकि; सदसि = समाज में, गौरवप्रियस्य = बड़ाई चाहने वाले, मम = मेरी, चक्षुः = आँख, कुलजनदर्शनकातरम् = कुलीन स्त्रियों को देखने में डरपोक (है)।।

अर्थः—

विट— क्या स्त्री?

(तब तो) रास्ते में वर्षा (की धारा) से ताड़ित आँखों वाले बैलों के समान सिर नीचा किये हुए हम जल्द ही भाग चलें। क्योंकि समाज में बड़ाई चाहने वाले मेरी आँख कुलीन स्त्रियों को देखने में डरपोक है अर्थात् समर्थ नहीं है।।१५।।

टीका— तदा = यदि प्रवहणे स्त्री तिष्ठति तदा, पथि = मार्गे; वर्षेण = वृष्टिजलेन ताडितानि = आहतानि अक्षीणि = नेत्राणि = नेत्राणि येषां तथोक्ताः; वृषभाः = वृषाः, इव; अवनतानि = नम्रीकृतानि, शीघ्रम् = झटिति; प्रयाम = अपगच्छाम्। हि = यतः; सदसि = सभायां समाजे वा; गौरवम् = प्रतिष्ठा प्रियम् = इष्टं यस्य तस्य; मम = विटस्य; चक्षुः = नेत्रम्; कुलजनस्य = कुलीनस्य स्त्रीजनस्य दर्शने = अवलोकने कातरम् = भीरु विमुखं वा।।१५।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है।।१५।।

वसन्तसेना— (सविस्मयमात्मगतम्) कधं मम णअणाणं आआसअरो ज्जेव्व राअसालओ?। ता संसइदम्हि मंदभाआ। एसो दाणिं मम मंदभाइणीए ऊसरक्खेत्त-पडिदो विअ बीअमुट्टी णिप्फलो इव आगमणो संवुतो। ता किं एत्थ करइस्सं?। (कथं मम नयनयोरायासकर एव राजश्यालः?। तत्संशयितास्मि मन्दभाग्या। एतदिदानीं मम मन्दभागिन्या ऊषरक्षेत्रपतित इव बीजमुष्टिर्निष्फलमिहागमनं संवृत्तम्। तत्किमत्र करिष्यामि?।)

शकारः— कादले खु एशे वुड्ढचेडे पवहणं णावलोएदि। भावे! आलेएहि पवहणं। (कातरः खल्वेष वृद्धचेटः प्रवहणं नावलोकयति। भाव! आलोकय प्रवहणम्।)

विटः— को दोषः?। भवत्वेवं तावत्।

शकारः— कधं शिआला उड्डेंति, वाअशा वच्चेंति? ता जाव भावे अक्खीहिं भक्खीअदि, दंतेहिं पेक्खीअदि, ताव हग्गे पलाइश्शं। (कथं श्रृगाला उड्डीयन्ते, वायसा व्रजन्ति?। तद्यावद्भावोऽक्षिभ्यां भक्ष्यते, दन्तैः प्रेक्ष्यते, तावदहं पलायिष्ये।)

विटः— (वसन्तसेनां दृष्ट्वा; सविषदमात्मागतम्) कथमये, मृगी व्याघ्रमनुसरति?। भोः! कष्टम्;

शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पुलिनान्तरशायिनम्।
हंसी हंसं परित्यज्य वायसं समुपस्थिता।।१६।।

अर्थः— वसन्तसेना— (आश्चर्य से, अपने आप) क्या मेरी आँखों में खटकनेवाला राजा का साला ही है? तो अभागिन मैं (अपने प्राणों के बारे में) सन्देह में पड़ गयी हूँ। इस समय मुझ मन्दभागिनी का यहाँ आना, ऊषर खेत में पड़ी हुई बीज की मुट्ठी के समान, व्यर्थ हो गया। तो यहाँ क्या करूँ?।

शकार— यह बूढ़ा चेट डरपोक होने से गाड़ी को नहीं देख रहा है। भाव! तुम गाड़ी को देखो।

विट— क्या बुरा है? अच्छा ऐसा ही हो।

शकार— क्या सियार उड़ रहे हैं? कौए भाग रहे हैं? तो जब तक भाव (विट) (राक्षसी के द्वारा) आँखों से खाया जाता है तथा दाँतों से देखा जाता है तब तक मैं भाग जा रहा हूँ।

अन्वयः— हंसी, शरच्चन्द्रप्रतीकाशम्, पुलिनान्तरशायिनम्, हंसम्, परित्यज्य, वायसम्, समुपस्थिता।।१६।।

शब्दार्थः— हंसी = हंस की स्त्री, शरच्चन्द्रप्रतीकाशम् = शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान, पुलिनान्तरशायिनम् = नदी के किनारे वाली भूमि में सोये हुए, हंसम् = हंस को, परित्यज्य = छोड़ कर, वायसम् = कौवे के पास, समुपस्थिता = आ गयी।।

अर्थः—

विट— (वसन्तसेना को देखकर, दुःखपूर्वक अपने आप) अरे! कैसे हरिणी बाघ का पीछा कर रही है? अर्थात् वसन्तसेना दुष्ट शकार के पास कैसे आ रही है? अरे! खेद है—

हंसी, शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान स्वच्छ नदी के दूसरे तट पर सोये हुए अथवा नदी के किनारेवाली भूमि में सोये हुए हंस को छोड़कर कौवे के पास आ गयी अर्थात् हंस के समान चारुदत्त को छोड़कर यह वसन्तसेना कौवे के तुल्य इस शकार के पास आ गई।।१६।।

टीका— हंसी = मराली, शरदः = शरत्कालस्य चन्द्रः = चन्द्रमा तेन प्रतीकाशम् = तुल्यम्, पुलिनस्य = जलादधिनिर्गतस्य अन्तरे = मध्ये शेते यः तम्, अथवा अन्यत्पुलिनं पुलिनान्तरं तस्मिन् शायिनम्, नद्याः अपरतटे शयानमित्यर्थः, हंसम् = मरालम्; परित्यज्य = त्यक्त्वा; वायसम् = काकम्; समुपस्थिता = आगता।।१६।।

यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द कानाम है—पथ्यावक्त्र।

(जनान्तिकम्) वसन्तसेने! न युक्तमिदम्, नापि सदृशमिदम्;

पूर्वं मानादवज्ञाय द्रव्यार्थे जननीवशात्।

वसन्तसेना— ण। (न।) (इति शिरश्चालयति।)

विटः— अशौण्डीर्यस्वभावेन वेशभावेन मन्यते।।१७।।

अन्वयः— पूर्वम्, मानात्, अवज्ञाय, (सम्प्रति), जननीवशात्, द्रव्यार्थे, (आगता, असि; अथवा) अशौण्डीर्यस्वभावेन, वेशभावेन (आगता असि, इति) मन्यते।।१७।।

शब्दार्थः— पूर्वम् = पहले, (जब कि दस हजार सोने की मोहरों के साथ गाड़ी आयी थी), मानात् = घमण्ड के कारण, अवज्ञाय = दुत्कार कर, (सम्प्रति = अब), जननीवशात् = माता के कारण द्रव्यार्थे = धन के लिए, (आगता = आयी हुई, असि हो, अथवा = या) अशौण्डीर्यस्वभावेन = स्वाभिमान से रहित स्वभाववाले, वेशभावेन = वेश्यापन के कारण (आगता = आयी हुई, असि = हो, इति = ऐसा) मन्यते = माना जा रहा है।।

अर्थः— (पास में) वसन्तसेने! यह उचित नहीं, यह योग्य भी नहीं।

पहले घमण्ड के कारण दुत्कार कर माता के भेजने से घन के लिए—(आई हो)

वसन्तसेना—नहीं। (ऐसा कह कर शिर हिलाती है।)

विट— (तब) स्वाभिमान से रहित स्वभाववाले वेश्यापन के कारण (आई हो) यह समझा जाय।।१७।।

टीका— पूर्वम् = पुरा; यदा दशसहस्रसुवर्णमुद्राणामलंकाराः प्रवहणञ्च शकारेण प्रेषितं तदा इत्यर्थः; शकारमिति शेषः अवज्ञा = तिरस्कृत्य; सम्प्रति जननीवशात् = मातुः आज्ञावशात्; द्रव्यार्थे = प्रचुरधनलाभार्थम्; आगता असि। विटस्य इति कथनानन्तरं यदा वसन्तसेना अस्वीकृतिसूचकं 'न' शब्दमुच्चार्य शिरश्चालयति तदा पुनः विटेन कथ्यते—अथवा अशौण्डीर्यम् = अनौदार्यम् अथवा गर्वराहित्यं स्वभावः = प्रकृतिः यस्य तादृशेन; वेशभावेन = वेश्यात्वेन; हेतुना; आगता असीति, मन्यते = स्वीक्रियते, अस्माभिः इति शेषः।।१७।।

इस श्लोक में पथ्याक्त्र छन्द है।।१७।।

ननूक्तमेव मया भवतीं प्रति-'सममुपचर भद्रे! सुप्रियं चाप्रियं च।'

वसन्तसेना— पवहणविपज्जासेण आगदा। सरणागदम्हि। (प्रवहणविपर्यासेनागता। शरणागतास्मि।)

विटः— न भेतव्यं न भेतव्यम् भवतु; एनं वंचयामि। (शकारमुपगम्य।) काणेलीमातः! सत्यं राक्षस्येवात्र प्रतिवसति।

शकारः— भावे भावे! जइ लक्खशी पडिवशदि, ता कीश ण तुमं मूशेदि? अध चोले, ता किं तुमं ण भक्खिदे?। (भाव भाव! यदि राक्षसी प्रतिवसति; तत्कथं न त्वां मुष्णाति?। अथ चौरः, तदा किं त्वं न भक्षितः?।)

विटः— किमनेन निरूपितेन?। यदि पुनरुद्यानपरम्परया पद्भ्यामेव नगरीमुज्जयिनीं प्रविशावः, तदा को दोषः स्यात्?।

शकारः— एवं किदे किं भोदि?। (एवं कृते किं भवति?।)

विटः— एवं कृते व्यायामः सेवितो धुर्याणां च परिश्रमः परिहृतो भवति।

शकारः— एवं भोदु। थावलआ चेडा! णेह पवहणं। अधवा च्यिश्ट। च्यिश्ट; देवदाणं बम्हणाणं च अग्गदो चलणेण गच्छामि। णहि णहि, पवहाणं अहिलुहिअ गच्छामि, जेण दूलदो मं पेक्खिअ भणिश्शंति-'एशे शे लश्टिअशाले भश्टालके गच्छदि'। (एवं भवतु। स्थावरक चेट! नय प्रवहणम्। अथवा तिष्ठ तिष्ठ; देवतानां ब्राह्मणानां चाग्रतश्चरणेन गच्छामि। नहि नहि, प्रवहणमधिरुह्य गच्छामि, येन दूरतो मां प्रेक्ष्य भणिष्यन्ति-'एष स राष्ट्रियश्यालो भट्टारको गच्छति'।)

विटः— (स्वगतम्) दुष्करं विषमौषधीकर्तुम्। भवतु। एवं तावत्। (प्रकाशम्) काणेलीमातः! एषा वसन्तसेना भवन्तमभिसारयितुमागता।

वसन्तसेना—संतं पावं संतं पावं। (शान्तं पापम्, शान्तं पापम्।)

शकारः— (सहर्षम्) भावे भावे, मं पबलपुलिशं मणुश्शं वाशुदेवकं। (भाव भाव! मां प्रवरपुरुषं मनुष्यं वासुदेवकम्।)

विटः— अथ किम्।

शकारः— तेण हि अपुव्वा शिली शमाशदिदा। तश्शिं काले मए लोशाविदा, शंपदं पादेशुं पडिअ पशादेमि। (तेन ह्यपूर्वा श्रीः समासादिता। तस्मिन्काले मया रोषिता, सांप्रतं पादयोः पतित्वा प्रसादयामि।)

विटः— साध्वभिहितम्।

शकारः— एशे पादेशुं पडेमि। (इति वसन्तसेनामुपसृत्य) अत्तिके, अम्बिके? शुणु मम विण्णत्तिं।

एशे पडामि चलणेशु विशालणेत्ते!
हश्तंजलिं दशणहे तव शुद्धदंति!।
जं तं मए अवकिदं मदणातुलेण
तं खम्मिदाशि वलगुत्ति! तव म्हि दाशे।।१८।।

(एष पादयोः पतामि। मातः, अम्बिके! श्रृणु मम विज्ञप्तिम्।
एष पतामि चरणयोर्विशालनेत्रे! हस्ताञ्जलिं दशनखे तव शुद्धदन्ति!।
यत्तव मयापकृतं मदनातुरेण तत्क्षामितासि वरगात्रि! तवास्मि दासः।)

अर्थः— किन्तु मैंने तो पहले ही आपसे कह दिया था—'भद्रे! प्रिय और अप्रिय सबके साथ एक जैसा बर्ताव करो।'

वसन्तसेना— गाड़ी के बदल जाने से आ गयी। शरणागत हूँ।

विट— डरो मत, डरो मत। अच्छा, इस शकार को बहकाता हूँ। (शकार के पास जाकर) पुंश्चली के पुत्र! सचमुच राक्षसी ही इस गाड़ी में रहती है।

शकार— भाव! भाव! यदि राक्षसी है तो क्यों नहीं तुमको लूट लिया और यदि चोर है तो तुम्हें क्यों नहीं खा लिया!

विट— इस विचार से क्या लाभ! यदि बागों ही बागों से होकर पैदल ही उज्जयिनी नगरी में प्रवेश करें तो क्या दोष है!

शकार— ऐसा करने से क्या होगा!

विट— ऐसा करने से व्यायाम हो जायेगा और बैलों का परिश्रम भी बच जायेगा।

शकार— ऐसा ही हो। स्थावरक चेट! गाड़ी लाओ। अथवा रुको, रुको। देवताओं और ब्राह्मणों के सामने पैदल ही चलता हूँ। नहीं, नहीं, गाड़ी पर चढ़कर चलता हूँ जिससे लोग मुझे दूर से ही देखकर कहेंगे कि 'यह वह हमारा स्वामी राजा का साला जा रहा है।'

विट— (अपने आप) विष को दवा बनाना कठिन है। अच्छा। तो इस प्रकार। (प्रकट रूप में) पुंश्चली के पुत्र! यह वसन्तसेना आप से अभिसार करने आयी है अर्थात् आपके साथ रमण करने के लिये छिप कर आयी है।

वसन्तसेना— पाप शान्त हो, पाप शान्त हो।

शकार— (प्रसन्नता के साथ) भाव, भाव! मुझ श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य वासुदेव से?

विट— और क्या?

शकार— तब तो अपूर्व लक्ष्मी हाथ लग गयी। उस समय मैंने उन्हें नाराज कर दिया था, अब पैरों पर गिर कर मनाऊँगा।

विट— ठीक कहा।

अन्वयः— हे विशालनेत्रे! एषः, (अहम्), चरणयोः, पतामि; हे शुद्धदन्ति! तव, (चरणयोः), दशनखे, हस्ताञ्जलिम्, (करोमि), हे वरगात्रि! मदनातुरेण, मया, यत्, तव, अपकृतम्, तत्, क्षामिता, असि; (अहम्), तव, दासः, अस्मि।।१८।।

शब्दार्थः— हे विशालनेत्रे! = हे बड़ी बड़ी आँखों वाली! एषः = यह (अहम् = मैं शकार), चरणयोः = पैरों पर, पतामि = गिरता हूँ। हे शुद्धदन्ति! = हे सुन्दर दाँतों वाली! तव = तुम्हारे (चरणयोः = पैरों के) दशनखे = दश नखों में, हस्ताञ्जलिम् = हाथों की अंजलि को, (करोमि = करता हूँ, रखता हूँ)। हे वरगात्रि! = हे सलोने शरीर वाली!, मदनातुरेण = कामदेव से पीड़ित, मया = मेरे द्वारा, यत् = जो, तव = तुम्हारा, अपकृतम् = बुरा किया गया है, अपकार किया गया, तत् = उसको, क्षामिता = क्षमा करायी गयी, असि = हो। (अहम् = मैं), तव = तुम्हारा, दासः = दास, अस्मि = हूँ।

अर्थः—

शकारः— यह मैं तुम्हारे पैरों पर गिरता हूँ। (ऐसा कह कर, वसन्तसेना के पास जाकर) माता भवानी! मेरी प्रार्थना सुनो।

हे बड़ी बड़ी आँखोंवाली! यह मैं पैरों पर गिरता हूँ। हे सुन्दर दाँतों वाली! तुम्हारे पैरों के दश नखों में हाथों की अंजलि रखता हूँ। हे सलोने शरीर वाली! कामदेव से पीडित मैने तुम्हारा जो बुरा किया है, उसको तुमसे क्षमा करवाता हूँ अर्थात् माफ करने के लिये विनती करता हूँ। मैं तुम्हारा दास हूँ।।१८।।

टीका— विशाले = दीर्घे नेत्रे = नयने = यस्याः सा विशालनेत्रा तत्सम्बुद्धौ; एषः = अयम्; (अहम् = शकारः), चरणयोः = पादयोः तवेति शेषः; पतामि = पतितः भवामि;। हे शुद्धदन्ति! शुद्धाः = विमलाः दन्ताः = रदाः यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ हे शुद्धदन्ति! = हे शुभ्रदशने! तव = भवत्याः; चरणयोः, दशनखे = दशानां नखानां समाहारः दशनखं तस्मिन् दशनखे = दशनखरे हस्तयोः = करयोः अञ्जलिम् = सम्पुटम्; करोमीति। वरम् = सुकोमलम् गात्रम् = शरीरम् यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे वरगात्रि = हे सुकोमलांगि! मदनेन = कामेन आतुरः = पीडितःतेन, कामपीडितेन; मया = शकारेण इत्यर्थः, यत् तव = भवत्या अपकृतम् = अप्रियं कृतम्; तत् = अप्रियकर्तव्यम्; क्षामिता = मर्षिता; असि। अहं तव = वसन्तसेनायाः, दासः = चेटकः अस्मि = भवामि।।१८।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है—वसन्ततिलका।।१८।।

वसन्तसेना— (सक्रोधम्) अवेहि, अणज्जं मंतेसि। (अपेहि, अनार्यं मन्त्रयसि।) (इति पादेन ताडयति)

शकारः— **(सक्रोधम्)**

जे चुंबिदे अंबिकमादुकेहिं गदे ण देवाण वि जे पणामं
शे पाडिदे पादलेण मुंडे वणे शिआलेण जधा मुदंगे।।१९।।

यच्चुम्बितमम्बिकामातृकाभिर्गतं न देवानामपि यत्प्रणामम्।
तत्पातितं पादतलेन मुण्डं वने शृगालेन यथा मृतांगम्।।

अर्थः—

वसन्तसेना—(क्रोध के साथ) दूर हटो, अनुचित बात बोल रहे हो। (ऐसा कह कर पैर से मारती है)।।

अन्वयः— यत्, अम्बिकामातृकाभिः, चुम्बितम्, यत्, देवानाम्, अपि, प्रणामम्, न, गतम्, तत्, मुण्डम्, (त्वया), पादतलेन, (तथैव), पातितम्, यथा, वने, श्रृगालेन, मृतांगम्।।१६।।

शब्दार्थः— यत् = जो, अम्बिकामातृकाभिः = माताओं के द्वारा, चुम्बितम् = चूमा गया, यत् = जो, देवानाम् = देवताओं के, अपि = भी, प्रणामम् = प्रणाम को, न = नहीं, गतम् = गया, प्राप्त हुआ, तत् = वह, मुण्डम् = मस्तक, (त्वया = तुम्हारे द्वारा), पादतलेन = पैर के तलवे से, (तथैव = उसी प्रकार,) पातितम् = गिरा दिया गया, ठुकरा दिया गया, यथा = जैसे, वने = वन में, श्रृगालेन = सियार के द्वारा, मृतांगम् = मरा शरीर।।

अर्थः—

शकार— (क्रोध के साथ)

जिसे मेरी माता (अम्बिका) ने चूमा है, जो देवों के सामने प्रणाम करने के लिये भी नहीं झुका, उसी मेरे मस्तक को तूने पैर के तलवे से उसी प्रकार गिरा दिया जैसे वन में सियार के द्वारा मरा शरीर (कुचला जाता है)।।१६।।

टीका— यत् = मम मुण्डमित्यर्थः, अम्बिकामातृकाभिः = जननीभिः, चुम्बितम् = चुम्बनं कृतम्, वात्सल्येनेति शेषः। यत् = मुण्डम्, देवानाम् = सुराणाम्, अपि, प्रणामम् = प्रणतिम्, न गतम् = न प्राप्तम्, तत् मुण्डम् = शिरः, ममेति शेषः, त्वया पादतलेन = चरणतलेन; तथैव पार्तितम् = प्रक्षिप्तम्, यथा = येन प्रकारेण; वने = अरण्ये, श्रृगालेन = जम्बुकेन, मृतस्य = गतप्राणस्य अंगम् = शरीरम्।।१६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा उपजाति छन्द है।

अले थावलआ चेडा! कहिं तुए एशा शमाशादिदा?
अरे स्थावरक चेट! कुत्र त्वयैषा समासादिता?।

चेटः— **भश्टके! गामशअलेहिं लुद्धे लाअमग्गे। तदो चालुदत्तश्श लुक्खवाडिआए पवहणं थाविअ तहिं ओदलिअ जाव चक्कपलिवट्टिअं कलेमि, ताव एशा पवहणविपज्जाशेण इह आलूढे त्ति तक्केमि।** (भट्टक! ग्रामशकटैः रुद्धो राजमार्गः। तदा चारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायां प्रवहणं स्थापयित्वा तत्रावतीयं यावच्चक्रपरिवृर्त्ति करोमि, तावदेषा प्रवहणविपर्यासेनेहारूढेति तर्कयामि।)

शकारः— **कधं पवहणविपज्जाशेण आगदा, ण मं अहिशालिदुं?। ता ओदल ओदल मम केलकादो पवहणादो। तुमं तं दलिद्दशत्थवाहपुत्तकं अहिशालेशि। मम केलकाइं गोणाइं वाहेशि। ता ओदल ओदल गब्भदाशि! ओदल ओदल।** (कथं प्रवहणविपर्यासेनागता, न मामभिसारयितुम्? तदवतरावतर मदीयात्प्रवहणात्। त्वं तं दरिद्रसाथवाहपुत्रकमभिसरसि; मदीयौ गावौ वाहयसि। तदवतरावतर गर्भदासि! अवतरावतर।)

वसन्तसेना— **तं अज्जचारुदत्तं अहिसारेसि त्ति जं सच्चं, अलंकिदम्हि इमिणा वअणेण। संपदं जं भोदु तं भोदु।** (तमार्यचारुदत्तमभिसरसीति यत्सत्यम्, अलंकृताऽस्म्यमुना वचनेन। सांप्रतं यद्भवतु तद्भवतु।)

शकारः—

एदेहि दे दशणहुप्पलमंडलेहिं
हत्थेहि चाडुशदताडणलंपडेहिं।
कट्टामि दे वलतणुं णिअजाणकादो
केशेशु बालिदइअं वि जहा जडाऊ।।२०।।

(एताभ्यां ते दशनखोत्पलमण्डलाभ्यां
हस्ताभ्यां चाटुशततताडनलम्पटाभ्याम्।
कर्षामि ते वरतनुं निजयानका-
त्केशेषु बालिदयितामिव यथा जटायुः।।)

अर्थः— अरे! स्थावरक चेट! तुझे यह कहाँ मिल गयी?

चेट— स्वामी! देहाती गाड़ियों से सड़क भर गयी थी। तब चारुदत्त की वृक्ष वाटिका के सामने गाड़ी खड़ी करके वहाँ उतर कर जैसे ही पहिये में सहारा लगाया वैसी ही यह गाड़ी के बदलने से इस में चढ़ गयी—ऐसा मेरा अनुमान है।

शकार— क्या गाड़ी की अदला—बदली के कारण आ गयी है, मुझसे अभिसार करने के लिये नहीं? तो उतर मेरा गाड़ी से। तू सार्थवाह के पुत्र उस दरिद्र चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती हो और मेरे बैलों को गाडी मे जोतती हो। ता उतर, उतर गर्भदासि! उतर, उतर।

वसन्तसेना—'उस आर्य चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती हो' यह जो कहा वह सच है। इस वचन से मैं अलंकृत हो गयी हूँ। अब जो हो, सो हो।

अन्वयः— दशखनोत्पलमण्डलाभ्याम्, चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम्, एताभ्याम्, हस्ताभ्याम्, केशेषु, (गृहीत्वा), ते, वरतनुम्, निजयानकात्, (तथैव), कर्षामि, यथा, जटायुः, बालिदयिताम्, (अकर्षत्)।।२०।।

शब्दार्थः— दशनखोत्पलमण्डलाभ्याम् = दश नख रूपी कमल—समूह से युक्त, चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम् = मीठे वचनों के समान पीटने के लालची, एताभ्याम् = इन दोनों, हस्ताभ्याम् = हाथों से, केशेषु = बालों में, (गृहीत्वा = पकड़कर), ते = तुम्हारे, वरतनुम् = सुन्दर शरीर को, निजयानकात् = अपनी गाड़ी से, (तथैव = उसी प्रकार), कर्षामि = खींचता हूँ, यथा = जैसे, जटायुः = जटायु ने, बालिदयिताम् = बालि की स्त्री को, (अकर्षत् = खींचा था)।।

अर्थः—

शकारः— दश नख रूपी कमल समूह से युक्त एवं मीठे वचनों के समान पीटने के लालची इन (अपने) हाथों से केश पकड़ कर तुम्हारे सुन्दर शरीर को अपनी गाड़ी से उसी प्रकार खींचता हूँ, जिस प्रकार जटायु ने बालि की स्त्री तारा को खींचा था)।।२०।।

टीका— दश = दशसंख्याकाः नखाः = नखराः एव उत्पलानाम् = कमलानां मण्डलम् = समूहः ययोः ताभ्याम्; चाटुशतानि = प्रियवचनशतानि इव ताडनानि = प्रहाराः तेषु लम्पटाभ्याम् = लोलुपाभ्याम्, तत्पराभ्यामित्यर्थः; एताभ्याम् = तव पुर वर्तमानाभ्याम्; हस्ताभ्याम् = कराभ्याम्; केशेषु = शिरोरुहेषु गृहीत्वा इति शेषः; ते = तव; वरतनुम् = श्रेष्ठशरीरम्, सुकोमलं शरीरमित्यर्थः; निजात् = स्वकीयात् यानकात् = प्रवहणात्; तथैव; कर्षामि = आकृष्य पातयामि; यथा = येन प्रकारेण; जटायुः = गृद्धराजः, अनेन नाम्ना प्रसिद्धः पक्षिविशेषः; बालिदयिताम् = बालिप्रियां ताराम्, अकर्षत् इति।।२०।।

इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका।।२०।।

विटः—

अग्राह्या मूर्धजेष्वेताः स्त्रियो गुणसमन्विताः।
न लताः पल्लवच्छेदमहन्त्युपवनोद्भवाः।।२१।।

अन्वयः— गुणसमन्विताः, एताः, स्त्रियः, मूर्धजेषु, अग्राह्याः; उपवनोद्भवाः, लताः, पल्लवच्छेदम्, न अर्हन्ति।।२१।।

शब्दार्थः— गुणसमन्विताः = गुणों से युक्त, एताः = ये, स्त्रियः = स्त्रियाँ, मूर्धजेषु = केशों में, अग्राह्याः = पकड़ने के योग्य नहीं हैं। उपवनोद्भवाः = फुलवाड़ी में पैदा होने वाली, लताः = लताएँ, पल्लवच्छेदम् = पत्ता तोड़ने के, न = नहीं, अर्हन्ति = योग्य होतीं।।

अर्थः—

विट— गुणों से युक्त इन स्त्रियों के केश नहीं पकड़ने चाहिए। वृक्षवाटिका में पैदा होने वाली लताएँ पत्ता ताड़ने के योग्य नहीं होतीं अर्थात् उनका पत्ता तोड़ना ठीक नहीं होता।।२१।।

टीका— गुणैः = सौन्दर्यादिभिः कलादिभिश्च समन्विताः = युक्ताः; एताः = वसन्तसेनातुल्याः; स्त्रियः = कामिन्यः, मूर्धजेषु = केशेषु, केशावच्छेदेनेत्यर्थः; अग्राह्याः = ग्रहीतुमयोग्याः। एताः सम्मानयोग्याः भवन्ति, न तु ताडनार्हाः इति भावः। तथा हि—उपवनम्

= उद्यानम् उद्भवः = उत्पत्तिस्थलं यासां ताः उपवनोद्भवाः = उद्याने उत्पन्नाः सयत्नं लालिताश्चेत्यभिप्रायः; लताः = वल्लयः, पल्लवानाम् = किसलयानाम् छेदम् = भंगम्, छेदनम्; न अर्हन्ति = किसलयच्छेदयोग्याः न भवन्ति।।२१।।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।२१।।

तदुत्तिष्ठ त्वं। अहमेनामवतारयामि। वसन्तसेने! अवतीर्य्यताम्।

(वसन्तसेनाऽवतीर्य्य एकान्ते स्थिता।)

शकारः— (स्वगतम्।) जे शे मम वअणावमाणेण तदा लोशग्गी शंघुक्खिदे, अज्ज एदाए पादप्पहालेण अणेण पज्जलिदे, तं शम्पदं मालेमि णं। भोदु एब्बं दाव। (प्रकाशम्।) भावे भावे।

जदिच्छशे लम्बदशा-विशालं
पावालअं शुत्तशदेहिं जुत्तम्।
मंशं च खादुं, तह तुट्टि कादुं
चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहूत्ति।।२२।।

यः स मम वचनावमानेन तदा रोषाग्निः सन्धुक्षितः, अद्य एतस्याः पादप्रहारेणानेन प्रज्वलितः, तत् साम्प्रतं मारयाम्येनाम्। भवतु एवं तावत्।

यदीच्छसि लम्बदशाविशालं
प्रावारकं सूत्रशतैर्हि युक्तम्।
मांसं च खादितुं तथा तुष्टिं
कर्तुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू इति।।

अर्थः— इसलिये तुम उठो। मैं इसको उतारता हूँ। वसन्तसेने! उतर जाइये।

(वसन्तसेना उतर कर एक किनारे खड़ी हो जाती है)

शकारः— (अपने आप) जो क्रोध रूपी आग पहले इसके वचन के तिरस्कार से लगी थी, वह आज इस के पैर के इस प्रहार से भभक करके जल उठी है। तो अब इसे मारूँगा। अच्छा, इस तरह! भाव! भाव!!

अन्वयः— यदि, सूत्रशतैः, युक्तम्, लम्बदशाविशालम्; प्रावारकम्, तथा, चुहू, चुहू चुक्कु चुहू चुहू' इति, (ध्वनिम्, कुर्वन), मांसम्, खादितुम्, तुष्टिम्, च, कर्तुम् इच्छसि।।२२।।

शब्दार्थः— यदि = यदि, सूत्रशतैः = सैकड़ों सूतों से, युक्तम् = युक्त (अर्थात् बने हुये), लम्बदशाविशालम् = लम्बी किनारी से विशाल, प्रावारकम् = दुपट्टा को, तथा = और, 'चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू' इति = ऐसी (ध्वनिम् = आवाज को, कुर्वन् = करते हुये), मांसम् = मांस को, खादितुम् = खाने के लिये, तुष्टिम् = तृप्ति को, च = भी, कर्तुम् = करने के लिये, इच्छसि = चाहते हो।।

अर्थः— यदि तुम सैकड़ों सूतों से बने हुए, लम्बी किनारी वाले, विशाल दुपट्टे को मुझसे (लेना) चाहते हो और चुहू–चुहू, चुक्कु, चुहू–चुहू–इस प्रकार (की आवाज के साथ चूसते हुए) मांस खाना और तृप्ति चाहते हो।।२२।।

टीका— यदि = चेत्, सूत्राणाम् = तन्तूनाम् शतैः = समूहैः इत्यर्थः, वा सूत्राणाम् = विविधरंगरञ्जितानां सूत्राणाम्, शतैः = समूहैः, युक्तम् = समन्वितम्, लम्बाभिः = दीर्घाभिः दशाभिः = वस्त्रान्तैः विशालम् = विस्तृतम्, प्रावारकम् = उत्तरीयम्। तथा 'चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहू' इति = इत्थम्, ध्वनिं कुर्वन् मांसम् = पिशितम्, खादितुम्–भोक्तुम्, तुष्टिम् = तृप्तिम्, च = अपि, कर्तुम् = विधातुम्, इच्छसि = वाञ्छसि।।२२।।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है।

विटः— ततः किम्?।

शकारः— मम पिअं कलेहि। (मम प्रियं कुरु।)

विटः— बाढं करोमि, वर्जयित्वा त्वकार्यम्।

शकारः— भावे! अकज्जाह गन्धे वि णत्थि। लक्खशी कावि णत्थि। (भावे! अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति। राक्षसी कापि नास्ति।)

विटः— उच्यतां तर्हि।

शकारः— मालेहि वशंतशेणिअं। (मारय वसन्तसेनां।)

विटः— (कर्णौ पिधाय)—

बालां स्त्रियं च नगरस्य विभूषणं च
वेश्यामवेशसदृशप्रणयोपचाराम्।
एनामनागसमहं यदि घातयामि
केनोडुपेन परलोकनदीं तरिष्ये?।।२३।।

अर्थः—

विट— तो क्या?

शकार— मेरा प्रिय करो।

विट— हाँ, करूँगा, किन्तु अनुचित काम को छोड़कर।

शकार— भाव! अनुचित काम की गन्ध भी नहीं है। कोई राक्षसी नहीं है।

विट— तो कहिए।

शकार— मारो वसन्तसेना को।

अन्वयः— यदि, अहम्, नगरस्य, विभूषणम्, अवेशसदृशप्रणयोपचाराम्, वेश्याम्, बालाम्, अनागसम्, एनाम्, स्त्रियम्, घातयामि (तर्हि), केन, उडुपेन, परलोकनदीम्, तरिष्ये?।।२३।।

शब्दार्थः— यदि = यदि, अहम् = मैं, नगरस्य = नगर की, विभूषणम् = ललामभूत; अवेशसदृशप्रणयोपचाराम् = वेश्याओं के अयोग्य (अर्थात् सच्चा) प्रेम–व्यवहार करने वाली, वेश्याम् = वेश्या, बालाम् = तरुणी, अनागसम् = निरपराध, एनाम् = इस स्त्रियम् = अबला को, घातयामि = मारता हूँ, (तर्हि = तो), केन = किस, उडुपेन = नौका से, परलोकनदीम् = परलोक की नदी (वैतरणी) को, तरिष्ये = पार करूँगा?।।

अर्थः—

विट— (कानों को ढँककर)

यदि मैं उज्जैन नगर की ललाम भूत, वेश्याओं के अयोग्य सच्चा प्रेम व्यवहार करने वाली अर्थात् कुलीन स्त्रियों की भाँति प्रेम व्यवहार करने वाली वेश्या, तरुणी, निरपराध, इस अबला को मारता हूँ तो परलोक की नदी (वैतरणी) को किस नौका से पार करूँगा?।।२३।।

टीका— यदि = चेत्; अहम् = विटः इत्यर्थः; नगरस्य = पुरः, उज्जयिन्याः इत्यर्थः; विभूषणम् = अलंकरणम्, अवेशसदृश = वेश्याजनविपरीतः, कुलनारीजनोचितः इत्यर्थः, प्रणयस्य = प्रीतेः उपचारः = व्यवहारः यस्याः ताम्, वेश्याम् = गणिकाम् बालाम् = तरुणीम्; नास्ति = न विद्यते आगः = अपराधः यस्याः तादृशीम्, निरपराधामित्यर्थः; एनाम् = पुरः वर्तमानाम् स्त्रियम् = अबलाम्; घातयामि = हन्मि; तर्हि केन उडुपेन = प्लवेन, परलोकनदीम् = वैतरणीम् तरिष्ये = अतिक्रमिष्यामि?।।२३।।

इस श्लोक में परिकर अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।२३।।

शकारः— अहं ते भेडकं दइश्शं। अण्णं च, विवित्ते उज्जाणे इध मालंतं को तुमं पेक्खिश्शदि?। (अहं त उडुपं दास्यामि। अन्यच्च विविक्ते उद्यान इह मारयन्तं कस्त्वां प्रेक्षिष्यते?।)

विटः—

पश्यन्ति मां दश दिशो वनदेवताश्च
चन्द्रश्च दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम्।
धर्मानिलौ च गगनं च तथान्तरात्मा
भूमिस्तथा सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूताः।।२४।।

अर्थः—

शकार— मैं तुम्हें नौका दूंगा। और दूसरी बात यह है कि इस एकान्त बगीचे में इसे मारते हुए तुम्हें कौन देखेगा?

अन्वयः— सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूताः, दश, दिशः, वनदेवताः, च, चन्द्रः, च, दीप्तकिरणः, अयम्, दिवाकरः, च धर्मानिलौ, च, गगनम्, च, तथा, अन्तरात्मा, तथा, भूमिः, माम्, पश्यन्ति।।२४।।

शब्दार्थः— सुकृतदुष्कृतसाक्षिभूताः = पाप--पुण्य की साक्षी, दश = दश, दिशः = दिशाएँ, वनदेवताः = वन की देवताएँ, चन्द्रः = चन्द्रमा, दीप्तकिरणः = चमकती हुई किरणों वाला, अयम् = यह, दिवाकरः = सूर्य, धर्मानिलौ = धर्म और हवा, गगनम् = आकाश, तथा = और, अन्तरात्मा = सब के भीतर वर्तमान ईश्वर, तथा = एवं, भूमिः = पृथिवी, माम् = मुझको, पश्यन्ति = देख रहे हैं। श्लोक में बहुत से आये हुए 'च' संयोजन के लिये प्रयुक्त किये गये हैं।

अर्थः—

विट— पाप–पुण्य की साक्षी दशों दिशाएँ, वन की देवताएँ, चन्द्रमा और चमकती हुई किरणों वाला यह सूर्य, धर्म और हवा, आकाश और अन्तरात्मा तथा पृथिवी–(ये सब) मुझे देख रहे हैं।।२४।।

टीका— विविक्ते मारयन्तं कस्त्वां प्रेक्षिष्यते'? इति शकारकथनस्योत्तरं दातुं यथाशास्त्रं वदति विटः—सुकृतदुष्कृतयोः = पुण्यपापयोः साक्षिभूताः = साक्षाद्द्रष्टारः, लिंगविभक्तिविपरिणामेन विशेषणमेतत् सर्वैरेव कर्तृपदैः अन्वेति, दश = दशसंख्याकाः, दिशः = काष्ठाः वनदेवताः = अरण्याधिष्ठातृदेव्यश्च, चन्द्रः = चन्द्रमा; च, अयं सूर्याभावे रात्रौ आकाशस्थः सन् सर्वकर्मसाक्षी भवति, दीप्ताः = पूर्णतया प्रकाशिताः किरणाः = अंशवः यस्य तादृशः, अयम् = मस्तकस्थितः इत्यर्थः, दिवाकरः = चण्डांशुश्च, धर्मश्च = सुकृतश्च अनिलश्च = वायुश्चेति धर्मानिलौः सुकृतवायू च, गगनम् = आकाशञ्च, तथा = अन्तरात्मा = हृदि स्थितः ईश्वरः, तथा भूमिः = पृथिवी च, माम् = विटम्, पश्यन्ति = अवलोकयन्ति।।२४।।

इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका।।२४।।

शकारः— तेण हि पडंतोवालिदं कदुअ मालेहि। (तेन हि पटान्तापवारितां कृत्वा मारय।)

विटः— मूर्ख! अपध्वस्तोऽसि।

शकारः— अघम्मभीलू एशे वुड्ढकोले। भोदु, थावलअं चेडं अणुणेमि। पुत्तका थावलका चेडा! शोवण्णखंडुआइं दइश्शं। (अधर्मभीरुरेष वृद्धकोलः। भवतु, स्थावरकं चेटमनुनयामि। पुत्रक स्थावरक चेट! सुवर्णकटकानि दास्यामि।)

चेटः— जहं पि पहिलिश्शं। (अहमपि परिधास्यामि।)

शकारः— शोवण्णं दे पीढके कालइश्शं। (सौवर्णं ते पीठकं कारयिष्यामि।)

चेटः— अहं पि उवशिश्शं। (अहमप्युपवेक्ष्यामि।)

शकारः— शव्वं दे उच्छिश्टअं दइश्शं। (सर्वं त उच्छिष्टं दास्यामि।)

चेटः— अहं पि खाइश्शं। (अहमपि खादिष्यामि।)

शकारः— शव्वचेडाणं महत्तलकं कलइश्शं। (सर्वचेटानां महत्तरकं कारयिष्यामि।)

चेटः— भट्टके! हुविश्शं। (भट्टक! भविष्यामि।)

शकारः— ता मण्णेहि मम वअणं। (तन्मन्यस्व मम वचनम्।)

चेटः— भट्टके! शव्वं कलेमि वज्जिअ अकज्जं। (भट्टक! सर्वं करोमि वर्जयित्वाऽकार्यम्।)

शकारः— अकज्जाह गन्धे वि णत्थि। (अकार्यस्य गन्धोऽपि नास्ति।)

चेटः— भणादु भट्टके। (भणतु भट्टकः।)

शकारः— एणं वशंतशेणिअं मालेहि। (एनां वसन्तसेनां मारय।)

चेटः— पशीददु भट्टके। इअं मए अणज्जेण अज्जा पवहणपलिवत्तणेण आणीदा। (प्रसीदतु भट्टकः। इयं मयानार्येणार्या प्रवहणपरिवर्तनेनानीता।)

शकारः— अले चेडा! तवावि ण पहवामि। (अरे चेट! तवापि न प्रभवामि?)

चेटः— पहवदि भट्टके शलीलाह, ण चालित्ताह। ता पशीददु पशीददु भट्टके। भाआमि खु अहं। (प्रभवति भट्टकः शरीरस्य, न चारित्र्यस्य। तत्प्रसीदतु प्रसीदतु भट्टकः। बिभेमि खल्वहम्।)

शकारः— तुमं मम चेडे भविअ कश्श भाआशि?। (त्वं मम चेटो भूत्वा कस्माद्बिभेषि?।)

चेटः— भट्टके! पललोअश्श। (भट्टक! परलोकात्।)

शकारः— के शे पललोए?। (कः स परलोकः?।)

चेटः— भट्टके! शुकिददुक्किदश्श पलिणामे। (भट्टक! सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः)

शकारः— केलिशे शुकिदश्श पलिणामे?। (कीदृशः सुकृतस्य परिणामः?।)

चेटः— जादिशे भट्टके बहुशुवण्णमंडिदे। (यादृशो भट्टको बहुसुवर्णमण्डितः।)

शकारः— दुक्किदश्श केलिशे?। (दुष्कृतस्य कीदृशः?।)

चेटः— जादिशे हग्गे पलपिंडभक्खके भूदे, ता अकज्जं ण कलइश्शं। (यादृशोऽहं परपिण्डभक्षको भूतः, तदकार्यं न करिष्यामि।)

शकारः— अले! ण मालिश्शशि?। (अरे! न मारयिष्यसि?)

(इति बहुविधं ताडयति)

चेटः— पिट्ठयदु भट्टके, मालेदु भट्टके, अकज्जं ण कलइश्शं।

जेण म्हि गब्भदाशे विणिम्मिदे भाअघेअदोशेहिं।
अहिअं च ण कीणिश्शं तेण अकज्जं पलिहलामि।।२५।।

(ताडयतु भट्ट कः, मारयतु भट्टकः, अकार्यं न करिष्यामि।)

येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः।
अधिकं च न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि।।)

अर्थः—

शकारः— तो कपड़े के आँचल से ढक कर मार दो।

विट— मूर्ख! पतित हो।

शकार— यह बूढ़ा सुअर अधर्म से डरता है। अच्छा, स्थावरक चेट को मनाता हूँ। बेटा स्थावरक चेट! सोने के कड़े दूँगा

चेट– मैं भी पहन लूँगा।

शकार– तेरे लिये सोने की चौकी बनवा दूँगा।

चेट– मैं भी बैठूँगा।

शकार– तुझे सारी जूठन दूँगा।

चेट– मैं भी खा लूँगा।

शकार– सभी नौकरों का प्रधान बनवा दूँगा।

चेट– मालिक! बन जाऊँगा।

शकार– मालिक! अनुचित काम को छोड़ कर सब कुछ करूँगा।

शकार-- अनुचित काम की गन्ध भी नहीं है।

चेट– तो बतलाइए, स्वामी।

शकार– इस वसन्तसेना को मारो।

चेट– स्वामी कृपा करें। गाड़ी के बदल जाने से यह आर्या वसन्तसेना मुझ विधर्मी के द्वारा यहाँ लायी गयीं।

शकार– अरे चेट! क्या तुझ पर भी मेरा अधिकार नहीं है?

चेट– स्वामी शरीर के मालिक हैं, चरित्र के नहीं। तो स्वामी प्रसन्न हों प्रसन्न हों। अवश्य ही मैं डरता हूँ।

शकार– तुम मेरे सेवक होकर किससे डरते हो?

चेट– स्वामी! परलोक से।

शकार– कौन है वह परलोक?

चेट– स्वामी पुण्य–पाप का फल।

शकार– पुण्य का फल कैसा होता है?

चेट– जैसे बहुत से सोने से आप सुशोभित हैं।

शकार– पाप का फल कैसा होता है?

चेट– जैसा मैं दूसरे का अन्न खाने वाला हूँ। इसलिये कुकर्म नहीं करूँगा।

शकार– अरे! नहीं मारेगा?

(ऐसा कह कर बहुत प्रकार से मारता है)

अन्वयः– येन, भागधेयदोषैः, गर्भदासः, विनिर्मितः, अस्मि; तेन, अधिकम्, न, क्रीणिष्यामि, अकार्यम्, च, परिहरामि।।२५।।

शब्दार्थः– येन = जिस कारण से (क्योंकि), भागधेयदोषैः = भाग्य के दोष के कारण, गर्भदासः = जन्म से ही दास, विनिर्मितः = बनाया गया, अस्मि = हूँ। तेन = इसलिए, अधिकम् = और अधिक को, न = नहीं, क्रीणिष्यामि = खरीदूँगा। अकार्यम् = अनुचित कार्य को, च = भी, परिहरामि = बचाऊँगा, न करूँगा।।

अर्थः–

चेट– मालिक! पीटें चाहे मारें, किन्तु अनुचित काम नहीं करूँगा।

क्योंकि पूर्व जन्म के भाग्य के दोष के कारण मैं जन्म से ही दास बनाया गया हूँ। इसलिये (अनुचित काम करके पाप) अधिक नहीं मोल लूँगा। मैं अनुचित काम न करूँगा।।२५।।

टीका– येन = येन कारणेन, यतः इत्यर्थः; भागधेयानाम् = भाग्यानाम् दोषैः = त्रुटिभिः; पापपरिणामैः इति यावत्; गर्भदासः =

आ जन्मनः सेवकः; विनिर्मितः = विहितः; विधिना इति शेषः, अस्मि = भवामि। तेन = तस्मात् हतो, अधिकम् = एतस्मादतिरिक्तम्; न क्रीणिष्यामि = न अर्जयिष्यामि, अतः अधिकं पाप न करिष्यामि इति भावः। अकार्यम् = अनुचितं कर्म, चापि, परिहरामि = त्यजामि, न करिष्यामीति।।२५।।

इस श्लोक के छन्द का नाम है–आर्या।।२५।।

वसन्तसेना– भाव! शरणागद ह्मि। (भाव! शरणागतास्मि।)

विटः– काणेलीमातः! मर्षय मर्षय। साधु स्थावरक! साधु।

चेटः– अप्येष नाम परिभूतदशो दरिद्रः

प्रेष्यः परत्र फलमिच्छति नास्य भर्त्ता।
तस्मादमी कथमिवाद्य न यान्ति नाशं
ये वर्धयन्त्यसदृशं सदृशं त्यजन्ति।।२६।।

अर्थः–

वसन्तसेना– भाव! मैं शरण में आयी हूँ।

विट– पुंश्चली के पुत्र। क्षमा करो, क्षमा करो। धन्य स्थावरक! धन्य!

अन्वयः– परिभूतदशः, दरिद्रः, प्रेष्यः, अपि, एषः, परत्र, फलम्, नाम, इच्छति, (किन्तु), अस्य, भर्त्ता, न, (इच्छति), तस्मात् ये, असदृशम्, वर्धयन्ति, सदृशम्, त्यजन्ति, अमी, अद्य, कथमिव, नाशम्, न, यान्ति।।२६।।

शब्दार्थः– परिभूतदशः = दयनीय हालतवाला, दरिद्रः = निर्धन, प्रेष्यः = दास, अपि = भी, एषः = यह, परत्र = परलोक में, फलम् = फलको, नाम = कदाचित्; इच्छति = चाहता है। (किन्तु = परन्तु), अस्य = इसका (इस चेट का), भर्त्ता = स्वामी, न = नहीं, (इच्छति = चाहता है)। तस्मात् = तब, ये = जो लोग, असदृशम् = अनुचित को, वर्धयन्ति = बढ़ाते हैं, सदृशम् = उचित को, त्यजन्ति = छोड़ देते हैं; अमी = ये, अद्य = आज ही, कथमिव = किसलिये, नाशम् = नाश को, न यान्ति = नहीं जाते, नहीं प्राप्त होते।।

अर्थः– दयनीय हालत वाला यह दरिद्र दास स्थावरक परलोक के फल की इच्छा करता है, किन्तु इसका स्वामी (शकार) नहीं। तब जो (शकार जैसे) लोग अनुचित कामों की ढेर लगाते हैं और उचित काम को छोड़ देते हैं, वे आज ही विनाश को क्यों नहीं प्राप्त हो जाते?।।२६।।

टीका– परिभूता = तिरकृता दशा = अवस्था यस्य सः, विपन्नावस्थः इत्यर्थः; दरिद्रः = निर्धनः; प्रेष्यः = परिचारकः एषः = पुरो वर्तमानः चेटः; परत्र = परलोके; फलम् = सत्परिणतिम्; नामेति सम्भावनायाम्; इच्छति = वाञ्छति। किन्तु अस्य = चेटस्येत्यर्थः; भर्त्ता = प्रभुः; शकारः; न = परलोके फलं नेच्छति इत्यर्थः; तस्मात् = तस्मात् कारणात्; ये = शकारसदृशा जनाः; असदृशम् = अकार्यम्; अयोग्यं जनमिति वा; वर्धयन्ति = सञ्चितं कुर्वन्ति; उत्साहितं कुर्वन्ति वा सदृशम् = समीचीनं कर्म, योग्यं जनं वा; त्यजन्ति = परिहरन्ति; अमी = एते, असदृशवर्धकाः सदृशत्यागिनः शकारादयः इत्यर्थः अद्य = सम्प्रत्येव; कथमिव = किमर्थमित्यर्थः; नाशम् = मृत्युम्; न यान्ति = न गच्छन्ति?।

इस श्लोक में परिसंख्या एवं अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार और वसन्ततिलका छन्द है।।२६।।

अपि च,–

रन्ध्रानुसारी विषमः कृतान्तो
यदस्य दास्यं तव चेश्वरत्वम्।
श्रियं त्वदीयां यदयं न
भुङ्क्ते यदेतदाज्ञां न भवान्करोति।।२७।।

अन्वयः— कृतान्तः, रन्ध्रानुसारी, विषमः, (अस्ति), यत्, (तेन), अस्य, दास्यम्, तव, च, ईश्वरत्म्। (कृतम्)। यत्, अयम्, त्वदीयाम्, श्रियम्, न, भुङ्क्ते, यत्, भवान्, एतदाज्ञाम्, न, करोति।।२७।।

शब्दार्थः— कृतान्तः = दैव, रन्ध्रानुसारी = दोष देखने वाला, विपरीत (उलटा कार्य करने वाला), (अस्ति = है); यत् = क्योंकि, (तेन = उसके द्वारा), अस्य = इस चेट को, दास्यम् = दासपन, तव = तुम्हें, ईश्वरत्वम् = मालिकपन, (कृतम् = किया गया है), यत् = जो, अयम् = यह चेट, त्वदीयाम् = तुम्हारी, श्रियम् = धन–सम्पत्ति को, न = नहीं, भुङ्क्ते = खा रहा है, भोग रहा है, यत् = जो भगवान् = आप, एतदाज्ञाम् = इसकी आज्ञा को, न = नहीं, करोति = करते हैं।

अर्थः— और भी–

दैव दोष देखनेवाला एवं उलटा कार्य करने वाला है, क्योंकि उसने इस धार्मिक चेट को दासता तथा तुम अधर्मी शकार को प्रभुता दी है, एवं जो यह चेट तुम्हारी धन–सम्पत्ति का उपभोग नहीं करता है। और आप इसके आज्ञाकारी नौकर नहीं हैं अर्थात् तुम्हारी जगह चेट की और चेट की जगह तुमको न देकर विधाता ने उलटा काम किया है।।२७।।

टीका— कृतान्तः = दैवम्, रन्ध्रम् = छिद्रम्, दोषमित्यर्थः विपत्तिं वा, अनुसरति = अनुगच्छति इति रन्ध्रानुसारी = छिद्रान्वेषी, विषमः = विपरीतः, पक्षपातीत्यर्थः, कृतान्तस्य विषमत्वे कारणमाह–यत् = यतः तेन कृतान्तेनेति शेषः, अस्य = धर्मशीलस्य चेटस्य, दास्यम् = दासता, तव = पापिनः शकारस्य च, ईश्वरत्वम् = प्रभुत्वम्, कृतमिति शेषः, यत् = यस्मात्, अयम् = चेटः, त्वदीयाम् = शकारसम्बधिनीम्, श्रियम् = सम्पत्तिम्, सौख्यमिति भावः, न भुङ्क्ते = न सेवते, नानुभवतीत्यर्थः, यत् = यस्मात्, भवान् एतस्य = चेटस्य इत्यर्थः, आज्ञाम् = आदेशम्; न करोति = न विदधाति।।२७।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं उपजाति छन्द है।।२७।।

शकारः— (स्वगतम्) अघम्मभिलुए वुड्ढखोडे। पललोअभिलू एशे गब्भदाशे। हग्गेलट्टिअशाले कश्श भाआमि वलपुलिशमणुश्शे?। (प्रकाशम्) अले गब्भदाशे चेडे! गच्छ तुमं। ओवलके पविशिअ वीशंते एअंते च्यिश्ट। (अधर्मभीरुको वृद्धश्रृगालः। परलोकभीरुरेष गर्भदासः। अहं राष्ट्रियश्यालः कस्माद्विभेमि वरपुरुषमनुष्यः?। अरे गर्भदास चेट! गच्छ त्वम्। अपवारके प्रविश्य विश्रान्त एकान्ते तिष्ठ।)

चेटः— जं भट्टके आणवेदि। (वसन्तसेनामुपसृत्य) अज्जए! एत्तिके मे विहवे। (यद्भट्टक आज्ञापयति। आर्ये! एतावन्मे विभवः।) (इति निष्क्रान्तः)

शकारः— (परिकरं बध्नन्) च्यिष्ट वशंतशेणिए! च्यिश्ट, मालइश्शं। (तिष्ठ वसन्तसेने! तिष्ठ, मारयिष्यामि।)

चेटः— आः, ममाग्रतो व्यापादयिष्यसि? (इति गले गृह्णाति)

शकारः— (भूमौ पतति) भावे! भश्टकं मालेदि। (इति मोहं नाटयति, चेतनां लब्ध्वा)

शव्वकालं मए पुश्टे मंशेण अ घिएण अ।
अज्ज कज्जे शमुप्पण्णे जादे मे वेलिए कधं।।२८।।

(भावो भट्टकं मारयति।)

सर्वकालं मया पुष्टो मांसेन च घृतेन च।
अद्य कार्ये समुत्पन्ने जातो मे वैरी कथम्?।।

अर्थः—

शकार— (अपने आप) यह बूढा सियार (विट) अधर्म से डरने वाला है। यह जन्म से ही दास (चेट) परलोक से डरता है। किन्तु राजा का साला, श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य मैं किससे डरता हूँ? (प्रकट रूप में) अरे! जन्म का दास चेट! तू जा। घर में घुस कर विश्राम करते हुए एकान्त में ठहर।

चेट— जैसी स्वामी की आज्ञा। (वसन्त सेना के पास जाकर) श्रीमती जी! मेरा इतना ही वश था। (ऐसा कहकर निकल जाता है)।

शकार– (कमर बाँधते हुए) ठहर, वसन्तसेना! ठहर, मारूँगा।

विट– अरे! मेरे सामने मारोगे? (ऐसा कह कर गला पकड़ लेता है)।

शकार– (जमीन पर गिरता है) भाव! (अपने) मालिक को मारता है। (ऐसा कह कर मूर्च्छा का अभिनय करता है फिर होश में आकर)।

अन्वयः– सर्वकालम्, मया, मांसेन, च, घृतेन, च, पुष्टः, (त्वम्), अद्य, कार्ये, समुत्पन्ने, मे, वैरी, कथम्, जातः?।।२८।

शब्दार्थः– सर्वकालम् = सदा, मया = मेरे द्वारा, मांसेन = मांस से, च = और घृतेन = घी से, च = भी, पुष्टः = मजबूत किये गये, (त्वम् = तुम), अद्य = आज कार्ये = कार्य, समुत्पन्ने = आ पड़ने पर, मे = मेरा, वैरी = शत्रु, कथम् = कैसे, जातः = हो गया।।

अर्थः– सदा मैंने तुझे मांस और घी से पुष्ट किया है। आज काम आ पड़ने पर तू मेरा शत्रु कैसे हो गया है? ।।२८।

टीका– सर्वकालम् = सर्वदा; सति कार्ये, असति कार्ये चेत्यर्थः; मया = प्रभुणा शकारेण; मांसेन = पिशितेन च, घृतेन = सर्पिषा च, पुष्टः = शक्तिसम्पन्नः कृतः, त्वमितिशेषः, अद्य = सम्प्रति, कार्ये = प्रयोजने, समुत्पन्ने = सम्प्राप्ते, मे = मम स्वपोषकस्य इत्यर्थः, वैरी = विरोधी, कथम् = कस्मात्, जातः? = भूतः?।।२८।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।२८।।

(विचिन्त्य) भोदु, लद्धे मए उवाए। दिण्णा बुड्ढखोडेण शिलश्चालणशण्णा। ता एदं पेशिअ वशंतशेणिअं मालइस्सं। एव्वं दाव। (प्रकाशम्) भावे! जं तुमं मए भणिदे, तं कधं हग्गे एव्वं वड्ढकेहिं मल्लकप्पमाणेहिं कुलेहिं जादे अकज्जं कलेमि? एव्वं एदं अंगीकलावेदुं मए भणिदं।

भवतु, लब्धो मयोपायः। दत्ता वृद्धश्रृगालेन शिरश्चालनसंज्ञा। तदेतं प्रेष्य वसन्तसेनां मारयिष्यामि। एवं तावत्। भाव! यत्त्वं मया भणितः, तत्कथमहमेवं बृहत्तरैः मल्लकप्रमाणैः कुलैर्जातोऽकार्यं करोमि?। एवमेतदंगीकारयितुं मया भणितम्।)

विटः– किं कुलेनोपदिष्टेन, शीलमेवात्र कारणम्।

भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः।।२९।।

अर्थः– (सोचकर) अच्छा, मुझे तरीका सूझ गया। बूढ़े सियार (विट) ने शिर हिलाकर वसन्तसेना को इशारा किया है। इसे यहाँ से भेजकर वसन्तसेना को मारूँगा। तो ऐसा हो। (प्रकट रूप में) भाव! जो मैंने तुमसे कहा है, तो भला मैं इस बड़े कुल में पैदा हो कर मैं अनुचित काम कैसे करूँगा? यह सब कुछ तो मैंने इससे (वसन्तसेना से) अपना कहा स्वीकार कराने के लिए कहा था (ताकि डर कर वसन्तसेना मुझे स्वीकार कर ले)।

अन्वयः– कुलेन, उपदिष्टेन, किम्? (यतः), अत्र, शीलम्, एव, कारणम्, सुक्षेत्रे, कण्टकिद्रुमाः, सुतराम्, स्फीताः, भवन्ति।।२९।

शब्दार्थः– कुलेन = वंश, उपदिष्टेन = कहने से, वर्णन करने से, किम् = क्या? (यतः = क्योंकि), अत्र = इसमें (अनुचित काम करने में), शीलम् = स्वभाव, एव = ही, करणम् = कारण (है)। सुक्षेत्रे = अच्छे खेत में, कण्टकिद्रुमाः = कटीले पौधे, सुतराम् = बहुत अधिक, स्फीताः = समृद्ध, बढ़नेवाले; भवन्ति = होते हैं।

अर्थः–

विट– कुल का वर्णन से क्या लाभ? क्योंकि इसमें (अनुचित काम करने में) तो स्वभाव ही कारण है। अच्छे खेत में भी काँटेदार पौधे बहुत अधिक समृद्ध हो जाते हैं (इसी तरह अच्छे कुल में भी बुरे आचरण वाले व्यक्ति पैदा हो जाते हैं)।।२९।

टीका– कुलेन = वंशेन; उपदिष्टेन = वर्णितेन, कथितेनेत्यर्थः; किम्? = किं फलम्? न किमपि इत्यर्थः। यत अत्र = अनौचित्यकरणे, शीलम् = स्वभावः एव; कारणम् = हेतुः। तथाहि–सुक्षेत्रे = उर्वरायां भूमौ; कण्टकिनः = कण्टकयुक्ताः द्रुमाः = वृक्षाः सुतराम् = अत्यन्तम्; स्फीताः = वृद्धिंगताः; भवन्ति = जायन्ते।।२९।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।२९।।

शकारः— भावे! एशा तव अग्गदो लज्जाअदि, ण मं अंगीकलेदि, ता गच्छ। थावलअचेटे मए पिट्टिदे गदे वि। एशे पलाइअ गच्छदि। ता तं गेण्हिअ आअच्छदु भावे। (भाव! एषा तवाग्रतो लज्जते न मामंगीकरोति। तद्गच्छ स्थावरकचेटो मया ताडितो गतोऽपि। एष प्रपलाय्य गच्छति। तस्मात्तं गृहीत्वागच्छतु भावः।)

विटः— (स्वगतम्)

अस्मत्समक्षं हि वसन्तसेना
शौण्डीर्यभावान्न भजेत् मूर्खम्।
तस्मात्करोभ्येष विविक्तमस्य
विविक्तविश्रम्भरसो हि कामः।।३०।।

अर्थः—

शकार— भाव! यह तुम्हारे सामने ले जाती है, इसलिए मुझे स्वीकार नहीं कर रही है। अतः तुम जाओ। मेरे द्वारा पीटा गया स्थावरक चेट भी गया। यह भाग कर जा रहा है। इसलिए उसे पकड़ कर ले आइए।

अन्वयः— वसन्तसेना, शौण्डीर्यभावात्, अस्मत्समक्षम्, मूर्खम्, न, भजेत; तस्मात्, एषः, (अहम्), अस्याः, विविक्तम्, करोमि; हि, कामः, विविक्तविश्रम्भरसः, (भवति)।।३०।।

शब्दार्थः— वसन्तसेना = वसन्तसेना, शौण्डीर्यभावात् = गर्वीलेपन की आदत के कारण, अस्मत्समक्षम् = हमारे सामने, मूर्खम् = मूर्खको, न भजेत = न अंगीकार करे। तस्मात् = तो, एषः = यह, (अहम् = मैं), अस्याः = इस वसन्तसेना के लिये, विविक्तम् = एकान्त को, करोमि = कर देता हूँ। हि = क्योंकि, कामः = काम, विविक्तविश्रम्भरसः = निर्जन एवं विश्वस्त स्थान में आनन्ददायक, (भवति = होता है)।

अर्थः—

विट— (अपने आप) वसन्तसेना गर्वीलेपन की आदत के कारण हमारे सामने इस मूर्ख को शायद अंगीकार न करे। अतः मैं वसन्तसेना के लिए एकान्त कर देता हूँ, क्योंकि काम निर्जन एवं विश्वस्त स्थान में आनन्ददायक होता है।।३०।।

टीका— वसन्तसेना = पुरः स्थिता एषा चारुदत्तानुरागिणी वेश्या; शौण्डीर्यावात् = अभिमानस्वभावयुक्तत्वादित्यर्थः; अस्मत्समक्षम् = ममाग्रे; मूर्खम् = विवेकहीनम्; शकारमिति शेषः; न भजेत् = नांगीकुर्यात्। तस्मात् = तस्मात् कारणात्, ममाग्रे अंगीकारास्वीकारात् इत्यर्थः, एषः = अत्र वर्तमानः अहमिति शेषः; अस्याः = वसन्तसेनायाः; विविक्तम् = विजनम्; करोमि = सम्पादयामि। हि = यतः; कामः = मदनः; सम्भोगः इत्यर्थः; विविक्ते = निर्जने विश्रम्भे = जनसञ्चाराभावात् उत्पन्ने विश्वासे च रसः = आस्वादः, आनन्दः इति यावत्।।३०।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार एवं उपजाति छन्द है।।३०।।

(प्रकाशम्) एवं भवतु, गच्छामि।

वसन्तसेना— **(पटान्ते गृहीत्वा) णं भणामि शरणागदम्हि। (ननु भणामि शरणागतास्मि।)**

विट— **वसन्तसेने! न भेतव्यं न भेतव्यं; काणेलीमातः! वसन्तसेना तव हस्ते न्यासः।**

शकारः— **एव्वं; मम हश्ते एशा णाशेण च्यिश्टदु। (एवम्; मम हस्ते एषा न्यासेन तिष्ठतु।)**

विटः— **सत्यम्?**

शकारः— **शच्चं। (सत्यम्।)**

विटः— **(किंचिद्गत्वा) अथवा मयि गते नृशंसो हन्यादेनाम्। तदपवारितशरीरः पश्यामि तावदस्य चिकीर्षितम् (इत्येकान्ते स्थितः)**

शकारः— **भोदु, मालइश्शं। अधवा कवडकावडिके एशे बम्हणे वुड्ढखोडे कदावि ओवालिदशलीले गडिअ शिआले भविअ हुलुहुलिं कलेदि। ता एदश्श वंचणाणिमित्तं एव्वं दाव कलइश्शं। (कुसुमावचयं कुर्वन्नात्मानं मण्डयति) वाशू वाशू,**

वशंतशेणिए! एहि। (भवतु मारयिष्यामि। अथवा कपटकापटिक एष ब्राह्मणो वृद्धश्रृगालः कदाचिदपवारितशरीरो गत्वा श्रृगालो भूत्वा कपटं करोति। तदेतस्य वञ्चनानिमित्तमेवं तावत्करिष्यामि। बाले बाले वसन्तसेने! एहि।

विटः— **अये, कामी, संवृत्तः। हन्त, निर्वृतोऽस्मि, गच्छामि। (इति निष्क्रान्तः)**

शकारः—

शुवण्णअं देमि पिअं वदेमि पडेमि शिशेण शवेश्टणेण।
तधा वि मं णेच्छशि शुद्धदंति! किं शेवअं कश्टमआ मणुश्शा।।३१।।

(सुवर्णकं ददामि प्रियं वदामि पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन।
तथापि मां नेच्छसि शुद्धदन्ति! किं सेवकं कष्टमया मनुष्याः।।)

अर्थः— (प्रकट रूप में) ऐसा ही हो, जाता हूँ।

वसन्तसेना— (कपड़े का छोर पकड़ कर) मैं कहती हूँ न, कि मैं शरणागत हूँ।

विट— वसन्तसेना! डरो मत, डरो मत। पुंश्चलीपुत्र! वसन्तसेना तुम्हारे हाथ में धरोहर है।

शकार— ऐसा ही सही। मेरे हाथ में यह धरोहर रूप से रहे।

विट— सचमुच?

शकार— सचमुच।

विट— (कुछ दूर जाकर) अथवा मेरे चले जाने पर यह क्रूर इसको मार न डाले। अतः छिपकर इसके इरादे को देखता हूँ। (ऐसा कह कर एकान्त में खड़ा हो जाता है।

शकार— अच्छा, अब मारूँगा। अथवा धूर्तों में अगुआ यह ब्राह्मण बूढ़ा सियार कहीं अपने आप को छिपा कर (यहाँ से, जा कर सियार सा बन कर कपट करता हो?। तो इस (विट) को ठगने के लिए ऐसा करता हूँ। (फूल तोडता हुआ अपने आपको सजाता है) बालें! बाले! वसन्तसेने! आओ।

विट— अरे, यह तो कामी बन गया। अहा! निश्चिन्त हो गया। जाता हूँ। (ऐसा कह कर निकल जाता है)

अन्वयः— (अहम्, तुभ्यम्), सुवर्णकम्, ददामि; प्रियम्, वदामि, सवेष्टनेन, शीर्षेण, पतामि; तथापि, हे शुद्धदन्ति! माम्, सेवकम्, किम् न, इच्छसि? (सत्यम्) मुनष्याः, कष्टमयाः, (भवन्ति)।।३१।।

शब्दार्थः— (अहम् = मैं, तुभ्यम् = तुमको), सुवर्णकम् = सोना, ददामि = देता हूँ, प्रियम् = मीठी बात, वदामि = कहता हूँ, सवेष्टनेन = पगड़ी सहित, शीर्षेण = शिर से, पतामि = गिरता हूँ, तथापि = तो भी, हे शुद्धदन्ति = हे चमकीले दाँतों वाली! माम् = मुझ, सेवकम् = सेवक को, किम् = क्यों, न = नहीं, इच्छसि = चाहती हो? (सत्यम् = सच है), मनुष्य = मनुष्य, कष्टमयाः = निर्दय, (भवन्ति = होते हैं)।।

अर्थः—

शकार— मैं तुम्हें सोना देता हूँ। मीठी बात कहता हूँ। पगड़ी बधे हुए शिर से (तुम्हारे पैरों पर) गिरता हूँ; तो भी हे चमकीले दाँतों वाली! मुझ सेवक को क्यों नहीं चाहती हो? (सच है) मनुष्य बड़े निर्दय होते हैं।।३१

टीका— अहम्, तुभ्यम्, सुवर्णम् एव सुवर्णकम् = सुवर्णदशसाहस्रिकम्, अलंकारम्, इत्यर्थः; चतुर्थे अंके अस्य वर्णनमायाति ददामि = समर्पयामि। प्रियम् = चाटुकारि वचनम्; प्रथमांकेऽस्य निर्देशः; वदामि कथयामि। वेष्टनेन = उष्णीषेण सहित। सवेष्टनम = सोष्णीषं तेन, शीर्षेण = शिरसा; पतामि = प्रणमामि, तव चरणयोरिति शेषः। तथापि एतेषां कार्याणां सम्पादनेऽपि हे शुद्धदन्ति = हे शुभ्रदशने! माम् = तवानुनयपरमित्यर्थः; सेवकम् = परिजनम्; किम् = कथम्; नेच्छसि = न वाञ्छसि? अहं सर्वदा तवानुनये कृतयत्नः एवास्मि। परञ्च न ज्ञायते कस्मात्त्वं मां न कामयसे? सत्यम्, मनुष्याः = मानवाः, कष्टमयाः = क्लेशमयाः, निर्दयाः।।३१।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार एवं उपजाति छन्द है।।३१।।

वसन्तसेना— को एत्थ संदेहो?। (अवनतमुखी 'खलचरित' इत्यादिश्लोकद्वयं पठति)।

खलचरित निकृष्ट! जातदोषः
कथमिह मां परिलोभयसे धनेन?।
सुचरितचरितं विशुद्धदेहं
न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति।।३२।।

अन्वयः— हे खलचरित! निकृष्ट! (त्वम्), जातदोषः, (सन्), इह, माम्, धनेन, कथम्, परिलोभयसे? मधुपाः, सुचरितचरितम्, विशुद्धदेहम्, कमलम्, हि, न, परित्यजन्ति।।३२।।

शब्दार्थः— हे खलचरित! = हे दुष्टचरित वाले! निकृष्ट! = अधम! (त्वम् = तुम), जातदोषः = दोषों की खान, (सन् = होकर), इह = यहाँ, माम् = मुझको, धनेन = धन से, कथम् = क्यों, परिलोभयसे? = लुभा रहे हो? मधुपाः = भौंरे, सुचरितचरितम् = सुन्दर स्वभाव वाले, विशुद्धदेहम् = निर्मल आकार वाले, कमलम् = कमल को, हि = अवश्य ही, न = नहीं, परित्यजन्ति = छोड़ते हैं।।३२।।

अर्थः—

वसन्तसेना— इसमें क्या सन्देह है? (नीचे की ओर मुँह किये हुए 'खलचरित' आदि दो श्लोक पढ़ती है)

हे दुष्ट चरितवाले अधम्! तुम अनेकों दोषों की खान होकर यहाँ मुझे धन से क्या लुभा रहे हो? भौंरे सुन्दर स्वभाव एवं निर्मल आकार वाले कमल को नहीं छोड़ते हैं। अर्थात् मैं तुम्हारे धन के लालच से कमल की तरह पवित्र एवं गुणी चारुदत्त को नहीं छोड़ सकती।।३२।।

टीका— खलस्य = दुष्टस्य चरितम् = आचरणम् इव चरितं यस्य असौ खलचरितः तत्सम्बुद्धो हे खलचरित! = हे दुष्टाचरण! निकृष्ट! = हे अधम! त्वं जातः = उत्पन्नः दोषः = पापम् यस्य तादृशः; अथवा जाते = जनने दोषः = कलंकः यस्य तादृशः, वर्णः संकरः इत्यर्थः; तथाभूतः सन्नपि; इह = अत्र; प्रणयविषये वा; माम् = विपुलवैभवसम्पन्नां वसन्तसेनामित्यर्थः; धनेन = तुच्छेन अर्थेन; कथम् = किमर्थम्, परिलोभयसे? = प्रलोभयसे? मधुपाः = भ्रमराः, अर्थतः भ्रमर्यश्चापि गृह्यन्ते; सुचरितम् = सुन्दरम्, जनमनोहारकमित्यर्थः, चरितम् = स्वभावः, आह्लादकत्वादि यस्य तथोक्तम्; विशुद्धः = निर्मलः देहः = आकृतिः यस्य तादृशम् (पुरुषपक्षे तु भव्याकृतिम्), हि = निश्चितम्; न = नहि; परित्यजन्ति त्यक्त्वा अन्यत्र गच्छन्ति।।३२।।

इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है।।३२।।

यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान् दरिद्रोऽपि।
शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनसमाश्रयः कामः।।३३।।

अन्वयः— कुलशीलवान्, पुरुषः, दरिद्रः, अपि, यत्नेन, सेवितव्यः; हि, सदृशजनसमाश्रयः, कामः, पणस्त्रीणाम्, शोभा (अस्ति)।।३३।।

शब्दार्थः— कुलशीलवान् = सुन्दर कुल एवं स्वभाववाला, पुरुषः = पुरुष, दरिद्रः = निर्धन, अपि = भी, सेवितव्यः = सेवा किये जाने के योग्य, सेवनीय, होता है, हि = क्योंकि, सदृशजनसमाश्रयः = अपने योग्य आदमी के साथ किया गया, कामः = प्रेम–व्यवहार, पणस्त्रीणाम् = वेश्याओं की, शोभा = शोभा, प्रशंसनीय बात, (अस्ति = है)।

अर्थः— यदि सुन्दर कुल एवं स्वभाववाला पुरुष निर्धन हो तो भी यत्नपूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिये अर्थात् उसके साथ विहार करना चाहिये। क्योंकि अपने योग्य आदमी के साथ किया गया प्रेम व्यवहार वेश्याओं की शोभा है।।३३।।

टीका— कुलशीलवान् = संद्वशप्रशस्तस्वभावयुक्तः, वन्दनीयकुलवान् प्रशंसनीय स्वभावश्चेत्यर्थः; पुरुषः = नरः; दरिद्रः = अतिनिर्धनः अपि; यत्नेन = प्रयत्नेन, न तु हठात् झटिति वेति भावः; सेवितव्यः = सेवनार्हः; अस्ति। हि = यतः; सदृशजनः = अनुरूपजनः समाश्रयः = अवलम्बनम्, विषय इति यावत् तादृशः; कामः = मदनः; कामक्रीडेति भावार्थः; पणस्त्रीणाम्–पणेन

= मूल्येन लभ्याः स्त्रियः = रमण्यः पणस्त्रियः तासाम्; शोभा = आभूषणम्; प्रशंसनीयं वस्तु इत्यर्थ ।।३३।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार एवं आर्या छन्द है।।३३।।

अवि अ; सहआरपादवं सेविअ ण पलासपादवं अंगीकरिस्सं। (कोऽत्र संदेहः? अपि च, सहकारपादपं सेवित्वा न पलाशपादपमंगीकरिष्यामि।)

शकारः— दाशीए धीए! दलिद्दचालुदत्तके शहआलपादवे कडे, हग्गे उण पलाशे भणिदे, किंशुके वि ण कडे। एव्वं तुमं मे गालिं देंती अज्ज वि तं ज्जेव चालुदत्तकं शुभ लेशि? (दास्याः पुत्रि! दरिद्रचारुदत्तकः सहकारपादपः कृतः, अहं पुनः पलाशो भणितः, किंशुकोऽपि न कृतः। एतं त्वं मह्यं गालीं ददत्यद्यापि तमेव चारुदत्तकं स्मरसि?।)

वसन्तसेना— हिअअगदो ज्जेव्व किंत्ति न सुमरीअदि?। (हृदयगत एव किमिति न स्मर्यते?।)

शकारः— अज्ज वि दे हिअअगदं तुमं च शमं ज्जेव मोडेमि। ता दलिद्दशत्थवाहअमणुश्शकामुकिणि! च्यिश्ट च्यिश्ट। (अद्यापि ते हृदयगतं त्वां च सममेव मोटयामि। तद्दरिद्रसार्थवाहक- मनुष्यकामुकिनि! तिष्ठ तिष्ठ।)

वसन्तसेना—भण भण, पुणो वि भण सलाहणिआइं एदाइं अक्खराइं। (भण भण, पुनरपि भण श्लाघनीयान्येतान्यक्षराणि।)

शकारः— पलित्ताअदु दाशीए पुत्ते दलिद्दचालुदत्तके तुमं। (परित्रायतां दास्याः पुत्रो दरिद्रचारुदत्तकस्त्वाम्।)

वसन्तसेना—परित्ताअदि जदि मं पेक्खदि। (परित्रायते यदि मां प्रेक्षते।)

शकारः—

किं शे शक्के वालिपुत्ते महिंदे लंभापुत्ते कालणेमी शुबंधू।
लुद्दे लाआ दोणपुत्ते जडाऊ चाणक्के वा धुंधुमाले तिशंकू।।३४।।

(किं स शक्रो बालिपुत्रो महेन्द्रो रम्भापुत्रः कालनेमिः सुबन्धुः।
रुद्रो राजा द्रोणपुत्रो जटायुश्चाणक्यो वा धुन्धुमारस्त्रिशंकुः।।)

अर्थः— और भी—

आम के पेड़ का सेवन करके पलाश के वृक्ष को स्वीकार नहीं करूँगी अर्थात् आम के पेड़ के समान सुन्दर चारुदत्त को छोड़ कर पलाश के समान फिजूल तुम्हारे साथ प्रेम व्यवहार न करूँगी?

शकार— दासी की लड़की! दरिद्र चारुदत्त को आम का पेड़ बना दिया और मुझे पलाश कहा? पलाश का फूल भी नहीं बनाया। इस तरह मझे गाली देती हुई आज भी उसी चारुदत्त की याद कर रही हो?।

वसन्तसेना— वह हमारे हृदय में मौजूद ही हैं, फिर उनकी याद क्यों न की जाती?

शकार— आज ही तुझे और तेरे हृदय में स्थित उस चारुदत्त को एक साथ ही मरोड़ डालता हूँ। तो दरिद्र मनुष्य सार्थवाह की चाहने वाली! ठहर, ठहर।

वसन्तसेना— कहो, कहो, फिर भी कहो, ये अक्षर प्रशंसा करने लायक हैं।

शकार— (लो अब) दासी का बच्चा दरिद्र चारुदत्त तुम्हारी रक्षा कर ले।

वसन्तसेना— यदि मुझे देखते (तो अवश्य) बचाते।

अन्वयः— सः, किम्, शक्रः; बालिपुत्रः, महेन्द्रः? रम्भापुत्रः, कालनेमिः, सुबन्धुः? राजा, रुद्रः? द्रोणपुत्रः, जटायुः? चाणक्यः? धुन्धुमार वा, त्रिशंकुः, (अस्ति)?।।३४।।

शब्दार्थः— सः = वह, किम् = क्या, शक्रः = इन्द्र है? बालि का पुत्र महेन्द्र है? रम्भा का पुत्र कालनेमि, सुबन्धु = सुबन्धु है? राजा = राजा, रुद्रः = रुद्र है? द्रोणपुत्रः = द्रोण का पुत्र, जटायुः = जटायु है? चाणक्यः = चाणक्य, धुन्धुमारः = धुन्धुमार, वा = अथवा, त्रिशंकुः = त्रिशंकु है?

अर्थः—

शकार— वह (चारुदत्त) क्या इन्द्र है? बलि का पुत्र महेन्द्र है? या रम्भा का पुत्र कालनेमि अथवा सुबन्धु है? वह राजा रुद्र है अथवा द्रोण का पुत्र जटायु है? अथवा चाणक्य है, धुन्धुमार अथवा त्रिशंकु है?।।३४।।

टीका— सः = चारुदत्तः इत्यर्थः; किं शक्रः = किम् इन्द्रः? बालिपुत्रः = बालिसुतः; महेन्द्रः = इन्द्रः? रम्भायाः = प्रसिद्धायाः वर्गस्याप्सरसः इत्यर्थः, पुत्रः = सुतः; कालनेमिः = रावणस्य मातुलः राक्षसविशेषः, सुबन्धुः = राजविशेषः, राक्षसविशेषः वा? राजा = शासकः; रुद्रः = शिवः? द्रोणस्य = द्रोणाचार्यस्य पुत्रः = तनयः; जटायुः = गृध्रराजः? चाणक्यः = कौटिल्यः; धुन्धुमारः = असुरविशेषः; वा = अथवा; त्रिशंकुः = इक्ष्वाकुवंश्यः एकः राजा; अस्तीतिशेषः।।३४।।

इस श्लोक में शालिनी छन्द है। शालिनी छन्द का लक्षण— मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः।।३४।।

अधवा, एदे वि दे ण लक्खंति।

चाणक्केण जधा शीदा मानिदा भालदे जुए।
एव्वं दे मोडइश्यामि जडाऊ विअ दोव्वदिं।।३५।।

अथवा, एतेऽपि त्वां न रक्षन्ति।

चाणक्येन यथा सीता मारिता भारते युगे।
एतं त्वां मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रोपदीम्।।३५।।

(इति ताडयितुमुद्यतः)

अन्वयः— यथा, भारते, युगे, चाणक्येन, सीता, मारिता; जटायुः, द्रौपदीम् इव, एवम्, त्वाम्, मोटयिष्यामि।।३४।।

शब्दार्थः— यथाः = जैसे, भारते = महाभारत, युगे = युग में, चाणक्येन = चाणक्य के द्वारा, सीता = जानकी, मारिता = मारी गयी थी। जटायुः = जटायु ने, द्रोपदीम् = द्रौपदी को, इव = जैसे, एवम् = उसी प्रकार, त्वाम्ः तुमको, मोटयिष्यामि = मारूँगा।।

अर्थः— अथवा ये भी तुम्हारी रक्षा नहीं करते।

जैसे भारत के युग में चाणक्य ने सीता को मारा था तथा जटायु ने द्रोपदी को (समाप्त कर दिया था) उसी प्रकार मैं तुझे मारूँगा।।३५।।

इस श्लोक में हतोपमा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।३५।।

वसन्तसेना— हा अत्ते! कहिं सि?। हा अज्जचारुदत्त! एसो जणो असंपुण्णमणोरधो ज्जेव विवज्जदि, ता उद्धं अक्कंदइस्सं। अधवा वसंतसेणा उद्धं अक्कंददि त्ति लज्जणीअं खु एदं। णमो अज्जचारुदत्तस्स। (हा मातः! कुत्रासि?। हा आर्यचारुदत्त! एष जनोऽसंपूर्णमनोरथ एव विपद्यते, तदूर्ध्वमाक्रन्दयिष्यामि। अथवा वसन्तसेनोर्ध्वमाक्रन्दतीति लज्जनीयं खल्वेतत्। नम आर्यचारुदत्ताय।)

शकारः— अज्ज वि गब्भदाशी तश्श ज्जेव पावश्श णामं गेण्हदि?। (इति कण्ठे पीडयन्) शुमल गब्भदाशि! शुमल। (अद्यापि गर्भदासी तस्यैव पापस्य नाम गृह्णाति? स्मर गर्भदासि! स्मर।)

वसन्तसेना—णमो अज्जचारुदत्तस्स। (नम आर्यचारुत्ताय।)

शकारः— मल गब्भदाशि! मल। (म्रियतां गर्भदासि! म्रियताम्।) (नाट्येन कण्ठे निपीडयन्मारयति)

(वसन्तसेना मूर्च्छिता निश्चेष्टा पतति)

शकारः— (सहर्षम्)

एदं दोशकलंडिअं अविणअश्शावासभूदं खलं
लत्तं तश्श किलागदश्श लमणे कालागदं आअदं।
किं एशे शमुदाहलामि णिअअं बाहूण शूलत्तणं
णीशाशे वि मलेइ अंब शुमला शीदा जधा भालदे।।३६।।

(एतां दोषकरण्डिकामविनयस्यावासभूतां खलां
रक्तां तस्य किलागतस्य रमणे कालागतामागताम्।
किमेष समुदाहरामि निजकं बाह्वोः शूरत्वं
निःश्वासापि म्रियतेऽम्बा सुमृता सीता यथा भारते।।

अर्थः—

वसन्तसेना—हाय माँ कहाँ हो? हाय आर्य चारुदत्त! यह जन वसन्तसेना बिना इच्छा पूरी हुए ही मर रहा है। तो जोर-जोर से रोते हुए चिल्लाऊँगी। अथवा वसन्तसेना जोर–जोर से रोती हुई चिल्ला रही है–यह लज्जा की बात है। आर्य चारुदत्त को नमस्कार है।

शकार— अभी अब भी यह गर्भदासी उसी पापी का नाम ले रही है? (ऐसा कह कर, गला दबाता हुआ) याद करो गर्भदासी याद करो।

वसन्तसेना— आर्य चारुदत्त को नमस्कार है।

शकार— मरो गर्भदासी! मरो। (अभिनय के साथ गले में दबाता हुआ मारता है)।

अन्वयः— दोषकरण्डिकाम्, अविनयस्य, आवासभूताम्, खलाम्, रक्ताम्, आगतस्य, तस्य, रमणे, आगताम्, किल, कालागताम्, एताम् (हत्वा), एषः, (अहम्); निजकम्, बाह्वोः, शूरत्वम्, किम्, उदाहरामि? निःश्वासा, अपि, अम्बा, (तथैव), म्रियते, यथा भारते सीता, सुमृता।।३६।।

शब्दार्थः— दोषकरण्डिकाम् = दोषों की पिटारी, अविनयस्य = उद्दण्डता का, आवासभूताम् = निवासरूप, घर, खलाम् = दुष्ट रक्ताम् = (चारुदत्त से) प्रेम करने वाली, आगतस्य = आये हुए, तस्य = उस (चारुदत्त) के, रमणे = रमण में, आगताम् = आयी हुई, किल = निश्चय ही, कालागताम् = मृत्यु के द्वारा प्राप्त हुई, एताम् = इस (वसन्तसेना) को, (हत्वा = मार कर), एषः = यह, (अहम् = मैं); निजकम् = अपने, भुजयोः = भुजाओं के, शूरत्वम् = पराक्रम को, किम् = क्या उदाहरामि = वर्णन करूँ? निःश्वासा = साँस रहित, अपि = भी, अम्बा = माता (वसन्तसेना), (तथैव = उसी प्रकार) म्रियते = मर रही है, यथा = जैसे, भारते = भारत युग में सीता = जानकी, सुमृता = भली–भाँति मर गयी थी।

(वसन्तसेना मूर्छित एवं निश्चेष्ट होकर गिर पड़ती है)

अर्थः—

शकार— (प्रसन्नता के साथ)

दोषों को पिटारी, उद्दण्डता का घर, दुष्ट, (चारुदत्त) से प्रेम करने वाली, यहाँ आये हुए उस (चारुदत्त) से रमण के लिए निश्चय ही मृत्यु के द्वारा लायी गयी इस वसन्तसेना को (मार कर) यह मैं भुजाओं के अपने पराक्रम का क्या वर्णन करूँ? श्वास के न रहने पर भी यह माता वसन्तसेना उसी प्रकार मर रही है जिस प्रकार महाभारत के युग में सीता भली–भाँति मर गयी थी।।३६।।

टीका— दोषाणाम् = पापानां दुष्टव्यवहाराणां वा करण्डिकाम् = पेटिकाम्; दोषपूर्णामित्यर्थः; अविनयस्य = औद्धत्यस्य, मादृशमान्यजनास्वीकाररूपस्य इत्यर्थः; आवासभूताम् = निवासस्थानरूपाम्; खलाम् = दुष्टाम्; रक्ताम् = अनुरागपूर्णाम्, चारुदत्ते इति शेषः; आगतस्य = पूर्वसंकेतेन उपस्थितस्य; जीर्णोद्याने इति शेषः; तस्य = चारुदत्तस्य इत्यर्थः; रमणे = सम्भोगे, रमणार्थमिति यावत्; आगताम् = प्राप्ताम्; किल = निश्चितम्; कालेन = मृत्युना; आगताम् = सञ्चाल्य

आनीतामित्यर्थः; एताम् = वसन्तसेनाम्; हत्वा इति शेषः; एषः = वीरकर्मणि संलग्नः; अहम्; निजकम् = स्वकीयम्; बाह्वोः = भुजयोः; शूरत्वम् = वीरत्वम्; किमुदाहरामि = किं वर्णयामि? मम भुजयोः शूरत्वं वर्णनातीतमित्यर्थः। निःश्वासा = प्राणवायुरहिता; अपि; अम्बा = माता, वसन्तसेना इत्यर्थः; तथैव म्रियते = गतप्राणा भवति; यथा = येन प्रकारेण; भारते = भारते युगे; सीता = जानकी; सुमृता = सुष्ठु मृता।।३६।।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द और उपमा अलंकार है।।३६।।

इच्छंतं मम णेच्छति त्ति गणिआ लोशेण मे मालिदा
शुण्णे पुप्फकलंडके त्ति शहशा पाशेण उत्ताशिदा।
शेवावंचिदभादुके मम पिदा मादेव शा दोप्पदी
जे शे पेक्खदि णेदिशं ववशिदं पुत्ताह शूलत्तणं।।३७।।

इच्छन्तं मां नेच्छतीति गणिका रोषेण मया मारिता
शून्ये पुष्पकरण्डक इति सहसा पाशेनोत्त्रासिता।
स वा वञ्चितो भ्राता मम पिता मातेव सा द्रौपदी
योऽसौ पश्यति नेदृशं व्यवसितं पुत्रस्य शूरत्वम्।।

अन्वयः— इच्छन्तम्, माम्, गणिका, न, इच्छति, इति, रोषेण, मया, शून्ये, पुष्पकरण्डके, सहसा, पाशेन, उत्त्रासिता, मारिता, च, सः, मम, भ्राता, वा, पिता, वञ्चितः, द्रौपदी, इव, सा, माता, च, (वञ्चिता), यः, असौ, पुत्रस्य, ईदृशम्, शूरत्वम्, व्यवसितम्, च, न, पश्यति।।३७।।

शब्दार्थः— इच्छन्तम् = चाहनेवाले, माम् = मुझको, गणिका = वेश्या (वसन्तसेना), न = नहीं, इच्छति = चाहती है; इति = इसी, रोषेण = क्रोध से, मया = मेरे द्वारा, शून्ये = निर्जन, पुष्पकरण्डके = पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में, सहसा = एकाएक अथवा जबर्दस्ती, पाशेन = (बाहु) पाश से, उत्त्रासिता = भयभीत की गयी, और मारिता = मारी गयी। सः = वह, मम = मेरा, भ्राता = भाई, वा = और, पिता = पिता, वञ्चितः = वञ्चित (रह गया), द्रौपदीव = द्रौपदी के समान, सा = वह, माता = माता, जननी, च = भी, (वञ्चिता = वञ्चित रह गयी); यः = जो, असौ = यह, पुत्रस्य = लड़के की, ईदृशम् = ऐसी, शूरत्वम् = शूरता को, व्यवसितञ्च = कार्य को भी, न = नहीं, पश्यति = देख रही है।।

अर्थः— 'चाहनेवाले मुझको यह वेश्या नहीं चाहती है।' इसी क्रोध से मैंने इस निर्जन पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में बाहुरूपी पाश से गला घोंटकर उसको मार डाला। वह मेरा भाई, मेरा पिता एवं द्रौपदी के समान मेरी माता वञ्चित रह गयी, जिसने अपने पुत्र के इस प्रकार वीरतापूर्ण कार्य को नहीं देखा।।३७।।

टीका— इच्छन्तम् = अभिलषन्तम्, सम्भोगार्थमिति भावः; माम् = शकारम्, प्रभुतासम्पन्नं राजश्यालकम्; गणः = समूहः अस्ति अस्याः गणिका, गणयतीति वा गणिका = वारस्त्री, नेच्छति = न स्वीकरोति इत्यर्थः; इति रोषेण = कोपेन; हेतुना; मया = शकारेण; शून्ये = निर्जने; पुष्पकरण्डके = पुष्पकरण्डनामके उद्याने; सहसा = झटिति, बलेन वा; पाशेन = रज्जुरूपेण बाहुना इत्यर्थः; उत्त्रासिता = त्रासं प्रापिता, भृशं पीडिता वा; प्रथममिति शेषः; ततः मारिता = नाशिता च। सः मम = मे; भ्राता = सहोदरः, वा = तथा; पिता = जनकः; वञ्चितः = प्रतारितः; द्रौपदीव = द्रुपदपुत्रीव; सा = असतीत्वकर्मणा विख्याता; माता = जननी च; वञ्चितेति? यः असौ = यः असौ भ्राता, पिता च; तथा या असौ = जननी च; पुत्रस्य = मम शकारस्येत्यर्थः; ईदृशम् = अश्रुतपूर्वम्; शूरत्वम् = वीरत्वम्; व्यवसितम् = उद्योगञ्च; न पश्यति = नावलोकयति।।३७।।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द और उपमा अलंकार है।।३७।।

भोदु, शंपदं वुड्ढखोडे आगमिश्शदि त्ति। ता ओशलिअ च्यिश्टामि।

(भवतु, सांप्रतं वृद्धश्रृगाल आगमिष्यतीति। ततोऽपसृत्य तिष्ठामि।)

(तथा करोति)

(प्रविश्य, चेटेन सह)

विटः— अनुनीतो मया स्थावरकश्चेटः। तद्यावत्काणेलीमातरं पश्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अय, मार्ग एव पादयो निपतितः। अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता। भोः पाप! किमिदमकार्यमनुष्ठितं त्वया?। तवापि पापिनः पतनात्स्त्रीवधदर्शनेनातीव पातिता वयम्। अनिमित्तमेतत्, यत्सत्यं वसन्तसेनां प्रति शंकितं मे मनः। सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति। (शकारमुपसृत्य) काणेलीमातः! एवं मयानुनीतः स्थावरकश्चेटः।

शकारः— भावे! शाअदं दे। पुश्तका थावलका चेडा! तवावि शाअदं। (भाव! स्वागतं ते। पुत्रक स्वावरक चेट! तवापि स्वागतम्।)

चेटः— अध इं। (अथ किम्।)

विटः— मदीयं न्यासमुपनय।

शकारः— कीदिशे णाशे? (कीदृशो न्यासः?।)

विटः— वसन्तसेना।

शकारः— गडा। (गता।)

विटः— क्व?।

शकारः— भावश्श ज्जेव पिश्टदो। (भावस्यैव पृष्ठतः।)

विटः— (सवितर्कम्) न गता खलु सा तया दिशा।

शकारः— तुमं कदमाए दिशाए गडे?। (त्वं कतमया दिशा गतः?।)

विटः— पूर्वया दिशा।

शकारः— शा वि दक्खिणाए गडा। (सापि दक्षिणया गता।)

विटः— अहं दक्षिणया।

शकारः— शा वि उत्तलाए। (साप्युत्तरया।)

विटः— अत्याकुलं कथयसि, न शुद्ध्यति मेऽन्तरात्मा; तत्कथय सत्यम्।

शकारः— शवामि भावश्श शीशं अत्तणकेलकेहिं पादेहिं। ता शंठावेहि हिअअं। एशा मए मालिदा। (शपे भावस्य शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम्, ततः संस्थापय हृदयम्। एषा मया मारिता।)

विटः— (सविषादम्) सत्यं त्वया व्यापादिता?।

शकारः— जइ मम वअणे न पत्तिआअशि, ता पेक्ख पढमं लश्टिअशालशंठाणाह शूलत्तणं। (यदि मम वचने न प्रत्ययसि तत्पश्य प्रथमं राष्ट्रियश्यालसंस्थानस्य शूरत्वम्।) (इति दर्शयति)

विटः— हा, हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। (इति मूर्च्छितः पतति)

शकारः— ही ही, उवलदे भावे। (ही ही, उपरतो भावः।)

चेटः— शमश्शशदु शमश्शशदु भावे। अविचालिअं पवहणं आणंतेण ज्जेव मए मढमं मालिदा। (समाश्वसितु समाश्वसितु भावः। अविचारितं प्रवहणमानयतैव मया प्रथमं मारिता।)

विटः— (समाश्वस्य, सकरुणम्) हा वसनतसेने!

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति-
र्हा हालंकृतभूषणे सुवदने क्रीडारसोद्भासिनि!।
हा सौजन्यनदि प्रहासपुलिने हा मादृशामाश्रये!
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणिः सौभाग्यपण्याकरः।।३८।।

अर्थः— अच्छा, अब वह बूढ़ा सियार (विट) आ जायेगा, इसलिए इससे हट कर खड़ा होता हूँ।

(वैसा ही करता है)

(चेट के साथ प्रवेश करके)

विट— मैंने स्थावरक चेट को मना लिया है। तो अब पुंश्चली के बच्चे (शकार) को देखता हूँ। (घूमकर और देखकर) अरे! रास्ते में ही पेड़ गिरा हुआ है। और गिरते हुए इसने स्त्री मार डाली। अरे पाप! तूने यह कैसा कुकर्म कर डाला! तुझ पापी के गिरने के कारण होने वाले स्त्री–वध के देखने से हम लोग भी अत्यन्त पतित हो गये। यह अपशकुन है। अतः सचमुच ही वसन्तसेना के लिए मेरा मन शंकित हो गया है। देवता सब प्रकार से कल्याण करेंगे। (शकार के पास जाकर) पुंश्चली के पुत्र! अच्छा मैंने स्थावरक चेट को मना लिया है।

शकार— श्रीमान् जी! आपका स्वागत है। बेटा स्थावरक चेट! तुम्हारा भी स्वागत है।

चेट— बहुत अच्छा।

विट— मेरी धरोहर लौटाओ।

शकार— कैसी धरोहर?

विट— वसन्तसेना।

शकार— गयी।

विट— कहाँ?

शकार— आप के ही पीछे।

विट— (सोच–विचार के साथ) वह उस दिशा से तो गयी नहीं।

शकार— तुम किस दिशा से गये थे?

विट— पूर्व दिशा से।

शकार— वह भी दक्षिण दिशा से गयी।

विट— मैं दक्षिण दिशा से गया था।

शकार— वह भी उत्तर दिशा से गयी।

विट— बड़ी घबड़ाहट के साथ कह रहे हो। मेरी आत्मा विश्वास नहीं कर रही है। तो सच–सच कहो।

शकार— मैं अपने पैरों से आपके शिर की शपथ खाता हूँ। तो हृदय को स्थिर करो। उसे मैंने मार दिया।

विट— (खेद के साथ) सचमुच तुमने मार दिया?

शकार— यदि मेरी बात में विश्वास नहीं करते हो तो सबसे पहले राजा के साले संस्थानक की वीरता देखो। (दिखलाता है)

विट— हाय! मन्दभाग्यवाला मैं मारा गया। (ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर गिरता है)

शकार— अहो! भाव मर गया।

आप धीरज रखिये, धीरज रखिये। बिना बिचारे गाड़ी को लाते हुए मैंने ही उसे पहले मार दिया था।

अन्वयः— दाक्षिण्योदकवाहिनी, विगलिता; रतिः, स्वदेशम्, याता; हा! हा! अलंकृतभूषणे! सुवदने! क्रीडारसोद्भासिनि! हा प्रहासपुलिने! सौजन्यनदि! हा! मादृशाम्, आश्रये! हा! हा! मन्मथस्य, विपणिः, सौभाग्यपण्याकरः, नश्यति।।३८।।

शब्दार्थः— दाक्षिण्योदकवाहिनी = उदारता रूपी जल की नदी, विगलिता = नष्ट हो गयी। रतिः = कामदेव की स्त्री रति, स्वदेशम् = अपने देश (स्वर्ग) को, याता = चली गयी। हा! हा! अलंकृतभूषणे! = हा! आभूषणों को सुशोभित करने वाली! सुवदने = सुन्दर मुँहवाली! क्रीडारसोद्भासिनि! = (काम—) क्रीडा को सुशोभित करने वाली! हा प्रहासपुलिने! = हा!

हासपरिहास रूपी बालुकामय किनारों वाली! सौजन्यनदि = सुजनता की नदी! हा! = हा, मादृशाम् = हम जैसे लोगों की, आश्रये! = आश्रय, सहारा! हा! हा! मन्मथस्य = कामदेव की, विपणिः = बाजार, सौभाग्यपण्याकर = सुन्दरता रूपी बेची जाने वाली चीजों की खान; नश्यति = नष्ट हो गयी।।

अर्थः—

विट— (धीरज धारण करके करुणा पूर्वक) हाय वसन्तसेना!

उदारता रूपी जल की नदी नष्ट हो गयी, कामदेव की स्त्री रति अपने देश (स्वर्ग) को चली गयी। हा! आभूषणों को सुशोभित करने वाली! सुन्दर मुँहवाली! काम क्रीडा के आनन्द को प्रकाशित करने वाली! हा! हास—परिहास रूपी बालुकामय किनारों वाली! सुजनता की नदी! हा! हम जैसे लोगों को आश्रय देने वाली! हाय! कामदेव की बाजार सुन्दरता रूपी बेची जाने वाली चीजों की निधि नष्ट हो गयी।।३८।।

टीका— हा हेति खेदसूचकमव्ययं सर्वत्र योजनीयम्। दाक्षिण्यम् = औदार्यम् एव उदकम् = जलम् तस्य वाहिनी = नदी विगतिः = विनष्टा शुष्केतियावत्। रतिः = कामस्य स्त्री; स्वदेशम् = स्वनिवासस्थानम्; स्वर्गमिति यावत, यातः = गता वसन्तसेना मनुष्यस्त्रीदेहधारिणी साक्षात् रतिः आसीत्। अस्माकमधन्यतया सा सम्प्रति भूलोकात् स्वलोक स्वर्गं प्रयातीति भावः। हा! हा! अलंकृतानि = सुशोभितानि भूषणानि = अलंकरणानि यया तत्सम्बुद्धौ; हे स्वप्राकृतशान्दर्याति येन अलंकारविभूषणे! इत्यर्थः। सुवदने! = सुमुखि! क्रीडायाम् = काम—क्रीडायाम्, सुरते इत्यर्थः; रसस्य = आनन्दस्य उद्भासिनि = प्रकाशिके! सम्भोगे विविधकामव्यापारैः निरतिशयानन्ददायिनि! इत्यर्थः। हा! प्रकृष्टः = आह्लादकर स्मितम् एव पुलिनम् = वालुकामयतटम् यस्याः तथाभूते! सौजन्यस्य = सुजनतायाः नदि! = तरंगिणि! हा! मादृशाम् = अस्मत्सदृशविटानाम्; आश्रये! = शरणदे! हा! हा! मन्मथस्य = कामस्य, विपणिः = पण्यवीथिका, क्रयविक्रयस्थलमित्यर्थः सौभाग्यपण्याकरः—सौभाग्यम् = सौन्दर्यम्, विलासादीनामद्भुतत्वमिति वा, तदेव पण्यम् = विक्रय्यवस्तुजातम् स्य आकरः = खनिः, उत्पत्तिभूमिरिति भावः।। करुणोऽत्ररसः।।३८।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।३८।।

(साश्रम्) कष्ट। भोः! कष्टम्

किं नु नाम भवेत्कार्यमिदं येन त्वया कृतम्।
अपापा पापकल्पेन नगरश्रीर्निपातिता।।३९।।

अन्वयः— किम्, नु, नाम, कार्यम्, भवेत्; येन, त्वया, इदम्, कृतम्; पापकल्पेन, (त्वया), अपापा, नगरश्रीः, निपातिता।।३९।।

शब्दार्थः— किम् = कौन, नु = यह प्रश्नवाचकता का द्योतक अव्यय है, नाम = यह सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है, कार्यम् = काम, भवेत् = होगा? येन = जिसके कारण, त्वया = तुम्हारे द्वारा, इदम् = यह, कृतम् = किया गया है। पापकल्पेन = पाप के समान, (त्वया = तुम्हारे द्वारा), अपापा = पापरहित, नगरश्रीः = नगरकी लक्ष्मी अथवा शोभा, निपातिता = मार दी गयी।।

अर्थः— (आँखों में आँसू भर कर) अरे! कष्ट है कष्ट। कौन सा काम पूरा होगा? जिसके कारण तूने यह स्त्रीवध किया है। पाप के समान तूने पापरहित, नगर की लक्ष्मी को मार दिया है।।३९।।

टीका— किम् = कीदृशमित्यर्थः; नु = प्रश्ने अव्ययपदम्; नाम = सम्भावनायाम् अव्ययपदम्; कार्यम् = कृत्यम, भवेत् = पूर्णं स्यात्? येन = कारणेन, यत्कार्यार्थमित्यर्थः; त्वया = शकारेण; इदम् = वसन्तसेनामारणरूपं कार्यम्; कृतम = सम्पादितम्, पापकल्पेन = विग्रहधारिणा द्वितीयेन पापेनेत्यर्थः; अपापा = निष्पापा; दोषरहितेति भावः; नगरश्रीः = नगरलक्ष्मी नगरशोभा वा; निपातिता = विनाशिता।।३९।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।३९।।

(स्वगतम्) अये! कदाचिदयं पाप इदमकार्यं मयि संक्रामयेत्। भवतु, इतो गच्छामि।

(इति परिक्रामति)

(शकार उपगम्य धारयति)

विटः— **पाप! मा मा स्प्राक्षीः। अलं त्वया, गच्छाम्यहम्।**

शकारः— **अले! वशंतशेणिअं शअं ज्जेव मालिअ मं दूशिअ कहिं पलाअशि? शंपदं ईदिशे हग्गे अणाधे पाविदे। (अरे! वसन्तसेनां स्वयमेव मारयित्वा मां दूषयित्वा कुत्र पलायसे?। सांप्रतमीदृशोऽहमनाथः प्रांप्तः।)**

विटः— **अपध्वतोऽसि।**

शकारः—

अत्थं शदं देमि शुवण्णअं दे कहावणं देमि शवोडिअं दे
एशे दुशद्दाण फलक्कमे मे शामाण्णए भोदु मणुश्शआणं।।४०।।

(अर्थं शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सवोडिकं ते।
एष दोषस्थानं पराक्रमो मे सामान्यको भवतु मनुष्यकाणाम्।।)

अर्थः— (अपने आप) अरे। शायद यह पापी इस दुष्कर्म को मेरे ही ऊपर थोप दे। अच्छा, यहाँ से जाता हूँ।

(ऐसा कह कर घूमता है)

(शकार पास में जाकर पकड़ता है)

विट— पापी! मत छुओ। रहने दो। मैं जाता हूँ।

शकार— अरे! वसन्तसेना को स्वयं ही मार कर, मुझे दोषी ठहरा कर कहाँ भाग रहे हो? अब मैं ऐसा अनाथ हो गया हूँ।

विट— तुम पतित हो।

अन्वयः— (अहम्) ते, शतम्, सुवर्णकम्, अर्थम्, ददामि; ते, सवोडिकम्, कार्षाणपम्, ददामि; दोषस्थानम्, मे, एषः, पराक्रमः, मनुष्याणाम्, सामान्यकः, भवतु।।४०।।

शब्दार्थः— (अहम् = मैं), ते = तुम्हें, शतम् = सौ, सुवर्णकम् = सोना भर, अर्थम् = धन को, ददामि = दूँगा। ते = तुम्हें, सवोडिकम् = कौड़ियों के साथ, कार्षापणम् = एक कार्षापण (तत्कालीन सोने का सिक्का), ददामि = दूँगा। दोषस्थानम् = अपराध का कारण, मे = मेरा, एषः = यह, पराक्रमः = पराक्रम, मनुष्याणाम् = मनुष्यों का, सामान्यकः = साधारण (कार्य), भवतु = हो जाये।

अर्थः—

शकार— मैं तुम्हें सौ सोने की मोहरों की धनराशि दूँगा। मैं तुम्हें बीस कौड़िओं के साथ एक कार्षापण दूँगा। अपराध का कारण मेरा यह पराक्रम (वसन्तसेना का वध) मनुष्यों का साधारण कार्य हो जाये (अर्थात् यह दोष किसी और साधारण मनुष्य पर लगा दो)।।४०।।

टीका— अहम्, ते = तुभ्यम्; शतम् = शतसंख्याकम्, अधिकमिति यावत्; सुवर्णकम् = सुवर्णमुद्राराशिमित्यर्थः; शतसुवर्णमुद्रापरिमितमिति यावत्; अर्थम् = धनम्; ददामि = दास्यामित्यर्थः। ते = तुभ्यम्, विटाय, सवोडिकम्—वोडिकाभिः = कपर्दिकाभिः सहितं सवोडिकम् = बहुकपर्दिसमन्वितम्; वेष्टिकम् = उष्णीषं कटीबन्धनमित्याहुः। कार्षापणम् = कार्षिकम्। ददामि = दास्यामि; दोषस्य = अपराधस्य, पापस्य वसन्तसेनामारणरूपत्येत्यर्थः, स्थानम् = कारणमित्यर्थः; मे = मम; एषः = सम्प्रत्येव अनुष्ठितः; पराक्रमः = वसन्तसेनावधरूपं शौर्यम्; मनुष्याणाम् = जनानाम्; सामान्यकः = साधारणः; भवतु = अस्तु।।४०।।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है।।४०।।

विटः— **धिक्, तवैवास्तु।**

चेटः— **शंतं पावं। (शान्तं पापम्।)**

(शकारो हसति)

विटः—

अप्रीतिर्भवतु विमुच्यतां हि हासो
धिक्प्रीतिं परिभवकारिकामनार्याम्।
मा भूच्च त्वयि मम संगतं कदाचि-
दाच्छिन्नं धनुरिव निर्गुणं त्यजामि।।४१।।

अर्थः—

विट— (तुम्हें) धिक्कार है। (यह धन) तेरे ही पास रहे।

चेट— पाप शान्त हो।

(शकार हँसता है)

अन्वयः— हासः, विमुच्यताम्; अप्रीतिः, भवतु, हि; परिभवकारिकाम्, अनार्याम्, प्रीतिम्, धिक्; त्वयि, मम, संगतम्, कदाचित्, मा भूत्, च; आच्छिन्नम्, निर्गुणम्, धनुः, इव, (त्वाम्) त्यजामि।।४१।।

शब्दार्थः— हासः = हँसी, विमुच्यताम् = छोड़ो। अप्रीतिः = मित्रता का न होना, भवतु = हो, हि = अवश्य ही। परिभवकारिकाम् = अनादर कराने वाली, अनार्याम् = निन्दनीय, प्रीतिम् = मित्रता को, धिक् = धिक्कार (है)। त्वयि = तुममें (तुम से) मम = मेरा, संगतम् = साथ, कदाचित् = कभी भी, मा भूत् = न हो। आच्छिन्नम् = टूटे हुए, निर्गुणम् = डोरी से रहित, धनुः इव = धनुष की भाँति, (त्वाम् = तुमको), त्यजामि = छोड़ रहा हूँ।

अर्थः—

विट— हँसी छोड़ो। मेरा और तुम्हारा प्रेम न हो। अनादर कराने वाली निन्दनीय इस मित्रता को धिक्कार है। मेरा एवं तुम्हारा साथ फिर कभी भी न हो। टूटे हुए तथा प्रत्यञ्चा रहित धनुष की भाँति अच्छे गुणों से हीन तुम्हें छोड़ रहा हूँ।।४१।।

टीका— हासः = हास्यम्; विमुच्यताम् = त्यज्यताम्। अप्रीतिः = अमैत्री; भवतु = अस्तु; त्वया सह ममेति शेषः; हि = निश्चये। परिभवस्य = अनादरस्य, निन्दायाः इति यावत्; कारिकाम् = कारिणीम्; प्रीतिम् = प्रणयम्; त्वया सहेति शेष, धिक् = धिगस्त्विति भावः। त्वयि = दुर्जने शकारे; मम = विटस्य, संगतम् = मेलनम्; कदाचित् = कस्मिन्नपि काले, मा भूत् = न भवतु च। आच्छिन्नम् = भग्नम्; निर्गुणम् = मौर्वीरहितम्; धनुः = चापः, इव = यथा; गुणहीनं त्वाम् = शकारम्, त्यजामि = जहामि।।४१।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं प्रहर्षिणी छन्द है।।४१।।

शकारः— भावे! पशीद पशीद। एहि। णलिणीए पविशिअ कीलेम्ह। (भाव! प्रसीद प्रसीद। एहि। नलिन्यां प्रविश्य क्रीडाव।

विटः—

अपिततमपि तावत्सेवमानं भवन्तं
पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम्।
कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं
पुनरपि नगरस्त्रीशंकिताद्धीक्षिदृष्टम्।।४२।।

अर्थः—

शकार— भाव! खुश हो जाओ, खुश हो जाओ। आओ, इस कमलवाले तालाब में उतर कर विहार करें।

अन्वयः— भवन्तम्, सेवमानम्, अपतितम्, अपि, माम्, अयम्, जनः, पतितम्, इव, मन्यते; (किन्तु, सम्प्रति) हतस्त्रीकम्, (अतः), नगरस्त्रीशंकिताद्धीक्षिदृष्टम्, एनम्, त्वाम्, पुनरपि, कथम्, अनुयायाम्।।४२।।

शब्दार्थः— भवन्तम् = आप को, सेवमानम् = सेवित करते हुए, अपतितम् = पापरहित, अपि = भी, माम् = मुझको, अयम् = यह, जनः = जन समूह, पतितम् = पतित, इव = जैसा, मन्यते = समझता है। (किन्तु = परन्तु, सम्प्रति = अब), हतस्त्रीकम् = स्त्री को मारने वाले, (अतः = इसलिए), नगरस्त्रीशंकितार्द्धाक्षिदृष्टम् = नगर की स्त्रियों के द्वारा शंकापूर्वक अधखुली आँखों से देखे गये, एवम् = इस, त्वाम् = तुमको, पुनरपि = फिर भी, कथम् = कैसे, अनुयायाम् = अनुसृत कर सकता हूँ।।

अर्थः—

विट— (वसन्तसेना को मारने के पहले भी) आपकी सेवा करते हुए पाप–रहित भी मुझको लोग दुर्जन एवं पापी जैसा समझते हैं। (परन्तु अब) स्त्री को मारने वाले अतः नगर की स्त्रियों के द्वारा शंकापूर्वक अधखुली आँखों से देखे गये तुम्हारा साथ फिर भी मैं कैसे दे सकता हूँ।।४२।।

टीका— भवन्तम् = त्वां शकारम्; अत्र त्वामिति वक्तव्ये भवन्तमिति प्रयोगः व्यंग्यार्थपरः; सेवमानम् = भजमानम्; अपतितम् = पापरहितम्; अपि माम् = त्वत्सहवासिनं विटम्; अयम् = एषः; जनः = साधारणः लोकः; पतितमिव = पापिनमिव; मन्यते = स्वीकरोति। किन्तु सम्प्रति = सम्पादिते त्वया स्त्रीवधे इत्यर्थः; हता = मारिता स्त्री = अबला येन तम्; अतः नगरस्य = उज्जयिनीनगर्याः स्त्रीभिः = अबलाभिः शंकितम् = संदिग्धम्, अर्द्धाक्षिभिः = अर्द्धसंकुचितलोचनैः दृष्टः = अवलोकितः तम्; वा नगरस्त्रीभिः शंकितैः = शंकापूर्णैः अर्द्धाक्षिभिः = अर्द्धोन्मीलितलोचनैः दृष्टम्; एनम् = पुरो वर्तमानम्; त्वाम् = स्त्रीघातकं शकरम्; पुनरपि = मुहुरपि; कथम् = केन प्रकारेण; अनुयायाम् = अनुसरेयम्?।।४२।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं मालिनी छन्द है।।४२।।

(सकरुणम्) वसन्तसेने!

अन्यस्यामपि जातौ मा वेश्या भूस्त्वं हि सुन्दरि!।
चारित्र्यगुणसंपन्ने जायेथा विमले कुले।।४३।।

अन्वयः— हे सुन्दरि! त्वम्, अन्यस्याम्, जातौ, अपि, वेश्या, मा भूः। हे चारित्र्यगुणसम्पन्ने! (त्वम्) विमले, कुले, जायेथाः।।४३।।

शब्दार्थः— हे सुन्दरि! = हे सुन्दर शरीरवाली! त्वम् = तुम, अन्यस्याम् = दूसरे, जातौ = जन्म में, अपि = भी, वेश्या = वेश्या, भा भूः = न हो ओ। हे चारित्र्यगुणसंपन्ने = हे चरित्र गुण से युक्त (वसन्तसेना)! (त्वम् = तुम), विमले = पवित्र, कुले = कुले में, जायेथाः = जन्म लो।।

(करुणापूर्वक) हे वसन्तसेना!

अर्थः— हे सुन्दरी! तुम दूसरे जन्म में भी वेश्या न होओ। चरित्रगुण से युक्त वसन्तसेना! तुम किसी पवित्र खान–दान में पैदा होओ अथवा तुम किसी चरित्रगुण से सम्पन्न पवित्र कुल में जन्म लो।।४३

टीका— हे सुन्दरि = हे सुगात्रे! त्वम् = स्पृहणीय गुणसम्पन्ना वसन्तसेना; अन्यस्याम् = अपरस्याम्; जातौ = जन्मनि; अपि; वेश्या = गणिका; मा भूः = न भव। चारित्र्यमेव = चरितत्वमेव गुणः = प्रशंसनीयम् आचरणं तेन सम्पन्ना = पूर्णा तत्सम्बुद्धौ हे चारित्र्यगुणसम्पन्ने! वसन्तसेने! अथवा चारित्र्यम् = सौशील्यम्, गुणाः = परोपकारादिगुणाः, तैः सम्पन्ना = समृद्धा तत्सम्बुद्धौ! त्वम्, विमले = सदाचारादिसम्पन्ने सुनिर्मले; कुले = वंशे; जायेथाः = उत्पद्येथाः।।४३।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।४३।।

शकारः— मम केलके पुप्फकलंकजिण्णुज्जाणे वशंतशेणिअं मालिअ कहिं पलाअशि? एहि, मम आवुत्तश्श अग्गदो ववहालं देहि। (मदीये पुष्पकरण्डकजीर्णोद्याने वसन्तसेनां मारयित्वा कुत्र पलायसे? एहि, मम आवुत्तस्याग्रतो व्यवहारं देहि।) (इति धारयति)

विटः— आः, तिष्ठ जाल्म!। (इति खड्गमाकर्षति)

शकारः— (सभयमपसृत्य) किं ले, भीदेशि, ता गच्छ। (कि रे, भीतोऽसि? तद्गच्छ।)

विटः— (स्वगतम्) न युक्तमवस्थातुम्। भवतु, यत्रार्यशर्विलकचन्दनकप्रभृतयः सन्ति, तत्र गच्छामि।

(इति निष्क्रान्तः)

शकारः— णिधणं गच्छ। अले थावलका पुश्तका! कीलिशे मए कडे?। (निधनं गच्छ। अरे स्थावरक पुत्रक! कीदृश मया कृतम्?।)

चेटः— भट्ठके! महंते अकज्जे कडे। (भट्ठक! महदकार्यं कृतम्।)

शकारः— अले चेडे! किं भणाशि अकज्जे कडेत्ति?। भोदु, एव्वं दाव। (नानाभरणान्यवतार्य) गेण्ह एदं अलंकारअं मए ताव दिण्णे। जेत्तिके वेले अलंकलेमि तेत्तिकं वेलं मम। अण्णं तव। (अरे चेट! किं भणस्यकार्यं कृतमिति?। भवतु, एवं तावत्। गृहाणेममलंकारम्। मया तावद्दत्तम्। यावत्यां वेलायामलंकरोमि तावतीं वेलां मम। अन्यदा तव।)

चेटः— भट्ठके ज्जेव एदे शोहंति, किं मम एदेहिं?। (भट्टक एवैते शोभन्ते, किं ममैतैः?।)

शकारः— ता गच्छ एदाइं गोणाइं गेण्हिअ मम केलकाए पाशादवालग्गपदोलिकाए च्यिश्ट। जाव हग्गे आअच्छामि। (तद्गच्छ, एतौ वृषभौ गृहीत्वा मदीयायां प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां तिष्ठ। यावदहमागच्छामि।)

चेटः— जं भट्टके आणवेदि। (यद्भट्टक आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः)

शकारः— अत्तपलित्ताणे भावे गदे अदंशणं। चेडं वि पाशादबालग्गपदोलिकाए णिगलपूलिदं कदुअ थावइश्शं। एव्वं मंते लक्खिदे भोदि, ता गच्छामि। अधवा पेक्खामि दाव एदं। किं एशा मला आदु पुणो घि मालइश्शं। (अवलोक्य) कधं शुमला। भोदु, एदिणा पावालएण पच्छादेमि णं। अधवा णामं किदे एशे। ता के वि अज्जपुलिशे पच्चहिजाणेदि। भोदु, एदिणा वादालीपुंजिदेण शुक्खपण्णपुडेण पच्छादेमि। (तथा कृत्वा, विचिन्त्य) भोदु, एव्वं दाव। शंपदं अधिअलणं गच्छिअ ववहालं लिहावेमि, जहा अत्थश्श कालणादो शत्थवाहचालुदत्ताकेण ममकेलकं पुप्फकलंडकं जिण्णुज्जाणं पवेशिअ वशंतशेणिआ वावादिदे त्ति।

चालुदत्तविणाशाय कलेमि कवडं णवं।
णअलीए विशुद्धाए पशुघादं व्व दालुणं।।४४।।

(आत्मपरित्राणे भावो गतोऽदर्शनम्। चेटमपि प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां निगडपूरितं कृत्वा स्थापयिष्यामि। एवं मन्त्रो रक्षितो भवति, तद्गच्छामि। अथवा पश्यामि तावदेनाम्-किमेषा मृता? अथवा पुनरपि मारयिष्यामि। कथं सुमृता! भवतु, एतेन प्रावारकेण प्रच्छादयाम्येनाम्। अथवा नामांकित एषः, तत्कोऽप्यार्यपुरुषः प्रत्यभिज्ञास्यति। भवतु, एतेन वातालीपुञ्जितेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि। भवतु, एवं तावत्। सांप्रतमधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि, यथा-अर्थस्य कारणात्सार्थवाहकचारुदत्तकेन मदीयं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं प्रवेश्य वसन्तसेना व्यापादितेति।

चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम्।
नगर्यां विशुद्धायां पशुघातमिव दारुणम्।।

अर्थः—

शकार— मेरे पुष्पकरण्डक नामक प्राचीन बगीचे में वसन्तसेना को मार कर कहाँ भाग रहे हो? चलो मेरे जीजा (राजा) के सामने सफाई दो। (ऐसा कहकर पकड़ता है)

विट— आह! नीच! ठहर। (ऐसा कहकर तलवार खींचता है)

शकार— (भयपूर्वक हटकर) क्यों रे, डर गया? अच्छा जा।

विट— (अपने आप) (यहाँ) रुकना ठीक नहीं। अच्छा, जहाँ आर्य शर्विलक तथा चन्दनक आदि हैं वहीं जाता हूँ। (ऐसा कहकर निकल जाता है)

शकार— मर जा! अरे बेटा स्थावरक! मैंने कैसा काम किया?

चेट— मालिक! बड़ा बुरा काम किया।

शकार– अरे चेट! क्या कह रहा है 'बुरा काम किया' अच्छा, ऐसा हो। (बहुत से आभूषणों को अपने शरीर से निकाल कर) ले इस आभूषण को। मैंने तुझे दे दिया। जब तक मैं पहनूँगा तब तक यह मेरा रहेंगा और बाकी समय में तेरा।

चेट– आपके शरीर पर ही ये अच्छे लगते हैं। मेरा इनसे क्या मतलब?

शकार– तो जा। इन बैलों को लेकर मेरे महल की नयी अटारी वाली गली में ठहर। जब तक मैं आता हूँ।

चेट– जैसी मालिक की आज्ञा? (ऐसा कहकर निकल जाता है)

अर्थः–

शकार– अपने बचाव के लिये विट चला गया। चेट को भी बेड़ी में बाँधकर महल की नयी अटारी वाली गली में रक्खूँगा। इस प्रकार भेद छिपा रह जायेगा। तो; जाता हूँ। अथवा पहले इस (वसन्तसेना) को देखता हूँ। क्या यह मर गयी? अथवा और मारूँ? (देख कर) क्या बिलकुल मर गयी? अच्छा, इस दुपट्टे से इसको ढक देता हूँ। अथवा इस वस्त्र पर तो नाम लिखा है, तो कोई भला आदमी पहचान लेगा। अच्छा हवा के झोकों से इकट्ठा किये गये सूखे पत्तों की इस ढेरी से ढक देता हूँ। (वैसा करके सोचकर) अच्छा तो ऐसा करूँ। अब कचहरी में जाकर रिपोर्ट (अभियोग) लिखाता हूँ कि धन के लिये सार्थवाह चारुदत्त ने पुष्पकरण्डक नामक मेरे पुराने बगीचे में ले जाकर वसन्तसेना को मार दिया।

अन्वयः– (अस्याम्, विशुद्धायाम्, नगर्याम्, दारुणम्, पशुघातम्, इव, चारुदत्तविनाशाय, नवम्, कपटम्, करोमि।।४४।।

शब्दार्थः– (अस्याम् = इस), विशुद्धायाम् = पवित्र, नगर्याम् = नगरी में, दारुणम् = भयंकर, पशुघातम् = पशु के वध, इव = जैसा, चारुदत्तविनाशाय = चारुदत्त के विनाश के लिये, नवम् = नये, कपटम् = कपट को, छलको, करोमि = करता हूँ।।

अर्थः– इस पवित्र नगरी में भयंकर पशुवध के समान चारुदत्त के विनाश के लिये मैं एक नया कपट करता हूँ।।४४।।

टीका– अस्याम्, विशुद्धायाम् = पवित्रायाम्; नगर्याम् = उज्जयिन्यामित्यर्थः; दारुणम् = भयंकरम्; पशुघातम् = पशुमारणमिव; चारुदत्तस्य विनाशाय = नाशाय, बधायेत्यर्थः; नवम् = नूतनम्; कपटम् = छलम्; करोमि = विदधामि।।४४।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।४४।

भोदु, गच्छामि। (इति निष्क्रम्य, दृष्ट्वा सभयम्) अविद मादिके। जेण जेण गच्छामि मग्गेण तेण ज्जेव एशे दुश्टशमणके गहिदकशाओदकं चीवलं गेण्हिअ आअच्छदि। एशे मए णशिं च्छिदिअ वाहिदे किदवेले कदावि मं पेक्खिअ एदेण मालिदे त्ति पआशइश्शदि। ता कधं गच्छामि। (अवलोक्य) भोदु, एदं अद्धपडिदं पाआलखंडं उल्लंघिअ गच्छामि।

एशे म्हि तुलिदतुलिदे लंकाणअलीए गअणे गच्छंते।
भूमिए पाआले हणूमशिहले विअ महेंदे।।४५।।

भवतु, गच्छामि। अविदमादिके! येन येन गच्छामि मार्गेण, तेनैवैष दुष्टश्रमणको गृहीतकषायोदकं चीवरं गृहीत्वागच्छति। एष मया नासां छित्त्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्यैतेन मारितेति प्रकाशयिष्यति। तत्कथं गच्छामि?। भवतु एतमर्धपतितं प्राकारखण्डमुल्लंघ्य गच्छामि।

एषोऽस्मि त्वरितत्वरितो लंकानगर्यां गगने गच्छन्।

भूम्यां पाताले हनूमच्छिखर इव महेन्द्रः।

(इति निष्क्रान्तः)

अर्थः– अच्छा, जाता हूँ। (निकलकर देखकर भयपूर्वक) ओह! जिस जिस रास्ते से जाता हूँ, उसी से यह दुष्ट बौद्ध संन्यासी गेरुये रंग में रंगे हुए वस्त्र को लेकर आता है। नाक छेद कर इसको मैंने (बगीचे से) भगा दिया था, तो शायद उसी बैर के कारण मुझको देखकर–'इसने ही वसन्तसेना को मारा है' ऐसा कह न दे। तो कैसे जाऊँ? (देखकर) अच्छा, आधी गिरी हुई इस चहार दिवारी को लाँघ कर जाता हूँ।

अन्वयः— एषः, (अहम्), आकाशे, भूम्याम्, पाताले, हनुमच्छिखरे, लंकानगर्याम्, गच्छन्, महेन्द्रः, इव, त्वरितत्वरितः, (गच्छामि)।।४५।।

शब्दार्थः— एषः = यह, (अहम् = मैं), आकाशे = आकाश में, भूम्याम् = भूमि में, पाताले = पाताल में, हनुमच्छिखरे = हनुमान् की चोटी पर, लंकानगर्याम् = लंका में (को), गच्छन् = चलता हुआ, महेन्द्रः इव = महेन्द्र पर्वत की भाँति, त्वरितत्वरितः = बड़ी शीघ्रता से, (गच्छामि = जा रहा हूँ)।

अर्थः— यह मैं (शकार) आकाश भूमि, पाताल, एवं हनुमान की चोटी (वस्तुतः महेन्द्र पर्वत की चोटी) एव लका मे (को) जाते हुए महेन्द्र (वस्तुतः हनुमान्) की भाँति बड़ी शीघ्रता से जा रहा हूँ।।४५।।

(ऐसा कह कर निकल जाता है)

टीका— एषः = गमने त्वरान्वितः अहं शकारः; आकाशे = गगने; भूम्याम् = पृथिव्याम्; पाताले = पृथिव्याः अधस्तले लोके; हनुमच्छिखरे = हनुमच्छृंगे; महेद्रशिखरे इति वक्तव्ये मौख्र्याधिक्यात् हनुमच्छिखरे इति वदति; लंकापुर्याम् = लंकानगर्याम्, गच्छन् = व्रजन्; महेन्द्रः = महेन्द्रपर्वतः इव; हनुमानिवेति वक्तव्ये महेन्द्रः इवेति वदति; त्वरितत्वरितः = अतित्वरायुक्तः सन्; गच्छामि इति।।४५।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।।४५।।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

संवाहको भिक्षुः— पक्खालिदे एशे मए चीवलखंडे। किं णु हु शाहाए शुक्खावइश्शं। इध वाणला विलुप्पंति। किं णु हु भूमीए धूलीदोशे होदि, ता कहिं पशालिअ शुक्खावइश्शं। (दृष्ट्वा) भोदु, इध वादालीपुंजिदे शुक्खवत्तसंचए पशालइश्शं। (तथा कृत्वा) णमो बुद्धश्य। (इत्युपविशति) भोदु, धमक्खलाइं उदाहलामि। ('पचज्जण जेण मालिदा' (८/२) इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) अधवा अलं मम एदेण श गेण। जाव ताए वशंतशेणिआए बुद्धोवाशिआए पच्चुवआलं ण कलेमि, जाए दशाणं शुवण्णकाणं किदे जूदिअलेहिं णिक्कीदे, तदो पहुदि ताए कीदं विअ अत्ताणअं अवगच्छामि। (दृष्ट्वा) किं णु खु पण्णोदले शमुश्शशदि?। अधवा

वादादवेण तत्ता चीवलतोएण तिम्भिदा पत्ता।
एदे विथिण्णपत्ता मण्णे पत्ता विअ फुलंति।।४६।।

(प्रक्षालितमेतन्मया चीवरखण्डम्। किं नु खलु शाखायां शुष्कं करिष्यामि? इह वानरा विलुम्पन्ति। किं नु खलु भूम्याम्?। धूलीदोषो भवति। तत्कुत्र प्रसार्य शुष्कं करिष्यामि?। भवतु, इह वातालीपुञ्जिते शुष्कपत्रसंचये प्रसारयिष्यामि। नमो बुद्धाय। भवतु, धर्माक्षराण्युदाहरामि। अथवालं ममैतेन स्वर्गेण। यावत्तस्या वसन्तसेनाया बुद्धोपासिकायाः प्रत्युपकारं न करोमि, यया दशानां सुवर्णकानां कृतेन द्यूतकाराभ्यां निष्क्रीतः, ततः प्रभृति तया क्रीतमिवात्मानमवगच्छामि। किं नु खलु पर्णोदरे समुच्छ्वसिति? अथवा

वातातपेन तप्तानि चीवरतोयेन स्तिमितानि पत्राणि।

एतानि विस्तीर्णपत्राणि मन्ये पत्राणीव स्फुरन्ति।।

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वा, हस्तं दर्शयति)

(विना पर्दा उठाए ही प्रवेश करके)

अर्थः—

संवाहक भिक्षु— कपड़े के इस टुकड़े को मैंने धो लिया। क्या इसे पेड़ की डाली पर सुखा लूँ? यहाँ वानर फाड़ देंगे। तो क्या जमीन पर (सुखा लूँ)? धूलि से गंदा हो जायगा। तब कहाँ फैला कर सुखाऊँ? अच्छा, हवा के झोंको के द्वारा इकट्ठा किये गये सूखे पत्तों की इस ढेर पर फैलाऊँगा। (फैला कर) बुद्ध को नमस्कार है। (बैठ जाता है) अच्छा धार्मिक अक्षरों का पाठ करता हूँ (पञ्चजनाः येन मारिताः, ८'२ इत्यादि पहले का श्लोक पढ़ता है) अथवा इस स्वर्ग से मेरा क्या (मतलब)? जब तक बुद्ध की सेविका उस वसन्तसेना का प्रत्युपकार नहीं करता हूँ, जिसने सोने की दश मोहरें देकर

जुआरियों से मुझे छुड़ाया था, तब तक मैं अपने को उस (वसन्तसेना) के द्वारा खरीदा गया समझता हूँ। (देखकर) पत्तों के भीतर क्यों साँस सी ले रहा है? अथवा--

अन्वयः-- वातातपेन, तप्तानि, एतानि, पत्राणि, चीवरतोयेन, स्तिमितानि, (सन्ति), विस्तीर्णपत्राणि, पक्षिण (पत्राणि) इव, स्फुरन्ति, (इति, अहम्), मन्ये।।

शब्दार्थः-- वातातपेन = हवा सहित घाम से, तप्तानि = तपे हुये, एतानि ये, पत्राणि = पत्ते, चीवरतोयेन = कपड़े के जल से, स्तिमितानि = कुछ गीला, (सन्ति = होते हुए), विस्तीर्णपत्राणि = फेले हुए पंखे वाले, पक्षिणः = पक्षियों (के), इव = समान, स्फुरन्ति = हिल रहे हैं, (इति = ऐसा, अहम् = मैं), मन्ये = सोचता हूँ, मानता हूँ।।

अर्थः-- हवा सहित घाम से तपे हुये ये पत्ते कपड़े के जल से कुछ गीला (आर्द्र) होकर मानों फैले हुए पंखवाले पक्षियों के समान हिल रहे हैं।।४६।।

(वसन्तसेना चेतना पाकर हाथ दिखाती है)

टीका-- वातेन = पवनेन सहितः आतपः = धर्मः तेन; तप्तानि = शुष्कतां गतानि; एतानि = वस्त्रावारभूतानि, पत्राणि = पर्णानि; चीवरस्य = वस्त्रखण्डस्य तोयेन = जलेन; स्तिमितानि = किञ्चिदार्द्रत्वं प्राप्तानि; सन्ति; विस्तीर्णानि = प्रसृतानि पर्णानि = पत्राणि येषां तानि; पक्षिणः = खगाः, इव स्फुरन्ति = स्पन्दन्ते, इति अहं मन्ये = स्वीकरोमि।।४६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं आर्या छन्द है।।४६।।

भिक्षुः-- हा हा, शुद्धालंकालभूशिदे इत्थिआहत्थे णिक्कमदि। कधं दुदिए वि हत्थे?। (बहुविधं निर्वर्ण्य) पच्चभिआणामि विअ एदं हत्थं। अधवा, किं विचालेण?। शच्चं शे ज्जेव हत्थे जेण मे अभअं दिण्णं। भोदु, पेक्खिश्शं। (नाट्येनोद्घाट्य दृष्ट्वा, प्रत्यभिज्ञाय च) शा ज्जेव बुद्धोवाशिआ। (हा हा, शुद्धालंकारभूषितः स्त्रीहस्तो निष्क्रामति। कथं द्वितीयोऽपि हस्तः?। प्रत्यभिजानामीवैतं हस्तम्। अथवा, किं विचारेण। सत्यं स एव हस्तो येन मेऽभयं दत्तम्। भवतु, पश्यामि। सैव बुद्धोपासिका।)

(वसन्तसेना पानीयमाकाङ्क्षति)

भिक्षुः-- कधं उदअं मग्गेदि?। दूले च दिग्घिआ। किं दाणिं एत्थ कलइश्शं?। भोदु, एदं चीवलं शे उवलि गालइश्शं। (कथं उदकं याचते?। दूरे च दीर्घिका। किमिदानीमत्र करिष्यामि?। भवतु, एतच्चीवरमस्या उपरि गालयिष्यामि।) (तथा करोति)

(वसन्तसेना संज्ञां लब्ध्वोत्तिष्ठति, भिक्षुः पटान्तेन वीजयति)

वसन्तसेना-- अज्ज! को तुमं?। (आर्य! कस्त्वम्?।)

भिक्षुः-- किं मं ण शुमलेदि बुद्धोवाशिआ दशशुवण्णणिक्कीदं?। (किं मां न स्मरति बुद्धोपासिका दशसुवर्णनिष्क्रीतम्?।)

वसन्तसेना--सुमरामि, ण उण जधा अज्जो भणादि। वरं अहं उवरदा ज्जेव। (स्मरामि, न पुनर्यथाऽऽर्यो भणति। वरमहमुपरतैव।)

भिक्षुः-- बुद्धोवाशिए! किं ण्णेदं?। (बुद्धोपासिके! किं न्विदम्।)

वसन्तसेना--(सनिर्वेदम्।) जं सरिसं वेसभावस्स। (यत्सदृशं वेशभावस्य।)

भिक्षुः-- उट्ठेदु उट्ठेदु बुद्धोवाशिआ एदं पादवसमीवजादं लदं ओलंबिअ। (उत्तिष्ठतूत्तिष्ठतु बुद्धोपासिकैतां पादपसमीपजातां लतामवलम्ब्य।) (इति लतां नामयति)

(वसन्तसेना गृहीत्वोत्तिष्ठति)

भिक्षुः-- एदश्शि विहाले मम धम्मबहिणिआ चिट्ठदि। तहिं शमश्शशिदमआ भविअ उवाशिआ गेहं गमिश्शदि। ता शेणं शेणं गच्छदु बुद्धोवाशिआ। (इति परिक्रामति, दृष्ट्वा) ओशलध अज्जा! ओशलध। एशा तलुणी इत्थिआ, एशो भिक्खु त्ति शुद्धे मम एशे धम्मे।

हत्थशंजदो मुहशंजदो इंडियशंजदो शे खु माणुशे।
किं कलेदि लाअउले तश्श पललोओ हत्थे णिच्चले।।४७।।

(एतस्मिन्विहारे मम धर्मभगिनी तिष्ठति। तत्र समाश्वस्तमना भूत्वोपासिका गेहं गमिष्यति। तच्छनैः शनैर्गच्छतु बुद्धोपासिका। अपसरत आर्याः! अपसरत। एषा तरुणी स्त्री, एष भिक्षुरिति शुद्धो ममैष धर्मः।

हस्तसंयतो मुखसंयत इन्द्रियसंयतः स खलु मनुष्यः।
किं करोति राजकुलं तस्य परलोको हस्ते निश्चलः।।)

अर्थः—

भिक्षु— हा! हा! (यह तो) सुन्दर आभूषणों से सजा हुआ स्त्री का हाथ निकल रहा है। क्या दूसरा भी हाथ निकल रहा है? (बहुत प्रकार से देख कर) इस हाथ को पहचान सा रहा हूँ। अथवा विचार से क्या, लाभ? सचमुच यह तो वही हाथ है जिसने मुझे अभय दिया था। अच्छा, तो देखता हूँ। (अभिनय पूर्वक उघाड़ कर, देख कर तथा पहचान कर) यहीं बुद्ध की उपासिका वसन्तसेना है।

(वसन्तसेना पानी चाहती है)

भिक्षु— क्या जल माँग रही हैं। बावड़ी दूर है। अब यहाँ क्या करूँ? अच्छा, इस कपड़े को इसके ऊपर निचोड़ूँगा। (वैसा करता है)

(वसन्तसेना चेतना पाकर उठती है, भिक्षु कपड़े के आँचल से उसको हवा करता है)

वसन्तसेना— आर्य! आप कौन हैं?

भिक्षु— क्या, बुद्ध की उपासिका सोने की दश मोहरों के द्वारा खरीदे गये मुझको याद नहीं कर रही है।

वसन्तसेना— याद कर रही हूँ। किन्तु उस तरह नहीं जैसा आप कह रहे हैं। इससे तो मैं मरी ही अच्छी।

भिक्षु— बुद्ध की उपासिका! यह क्या हुआ?

वसन्तसेना— (दुःख के साथ) जो वेश्यापन के अनुकूल है।

भिक्षु— बुद्ध की उपासिका वृक्ष के समीप उगी हुई इस लता का सहारा लेकर उठ जायें, उठ जाय। (ऐसा कह कर लता को झुकाता है)

(वसन्तसेना लता को पकड़ कर उठती है)

भिक्षु— इस बौद्ध–मठ में मेरी धर्म–बहन रहती है। वहाँ स्वस्थचित्त होकर आप घर जायेंगी। तो धीरे–धीरे चलें बुद्धोपासिका (आप)। (ऐसा कह कर घूमता है, देखकर) भले आदमियों! हटो, हटो। यह युवती स्त्री है और यह मैं भिक्षु हूँ। इसलिये यह मेरा पवित्र धर्म है।

अन्वयः— स, खलु, मनुष्यः, (यः), हस्तसंयतः, मुखसंयतः, इन्द्रियसंयतः, (अस्ति); राजकुलम्, तस्य किम्, करोति, परलोकः, (तस्य) हस्ते, निश्चलः।।४७।।

शब्दार्थः— सः = वह, खलु = वस्तुतः, मनुष्यः = मनुष्य है; (यः = जो), हस्तसंयतः = हाथ से संयत, मुखसंयतः = मुँह से संयत, इन्द्रियसंयतः = इन्द्रियों से संयत, (अस्ति = है)। राजकुलम् = राजकुल, तस्य = उसका, किम् = क्या, करोति = करता है। परलोकः = परलोक, (तस्य = उसके), हस्ते = हाथ में, निश्चलः = ध्रुव है।।

अर्थः— वही वस्तुतः मनुष्य है जिसका हाथ मुँह तथा इन्द्रियाँ भली–भाँति वश में रहती हैं। राज कुल उसका क्या कर सकता है? परलोक (स्वर्ग आदि) उसके हाथ में निश्चित है अर्थात् मरने पर वह अवश्य ही अच्छे लोकों को जाता है।।४७।।

टीका— सः खलु = निश्चितम्; मनुष्यः = मनुष्यत्वेन मान्यः; यः हस्तेन = करेण संयतः = नियमितः; हस्तेन यः किमप्यकार्यं न करोति इति भावः। मुखेन = जिह्वया इत्यर्थः संयतः = संयमयुक्तः; जिह्वया यः कदापि अप्रियमसत्यञ्च न वदतीति भावः।

इन्द्रियैः = करणैः संयतः = संयमितः; । राजकुलम् = शासकसमूहः विचारालयः, तस्य = एतादृशस्य संयतस्य, जनस्य किं करोति = किं विदधाति; न किमपीत्यर्थः । परलोकः = स्वर्गादिः; तस्य हस्ते = करे; निश्चलः = ध्रुवः । सः अवश्यमेव स्वर्गादिकं पुण्यं लोकं गच्छतीति भावः ।।४७।।

इस श्लोक में परिसंख्या अलंकार एवं गीति तथा उपगीति से मिश्रित छन्द है ।।४७।।

(इति निष्क्रान्ताः)

(सब निकल जाते हैं)

इति वसन्तसेनामोटनों नामाष्टमोऽंकः ।

'वसन्तसेना का गला घोंटना– नामक आठवाँ अंक

नवमोऽंकः

(ततः प्रविशति शोधनकः)

शोधनकः– आणत्तम्हि अधिअरणभोइएहिं-'अरे सोहणआ! ववहारमंडवं गदुअ आसणाइं सज्जीकरेहि' त्ति। ता जाव अधिअरणमंडवं सज्जिदुं गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एदं अधिअरणमंडवं। एस पविसामि। (प्रविश्य; संमार्ज्यासनमाघाय) विवित्तं कारिदं मए अधिअरणमंडवं। विरइदा मए आसणा। ता जाव अधिअरणिआणं उण णिवेदेमि। (परिक्रम्यावलोक्य च) कध एसो रट्टिअस्सालो दुट्टदुज्जणमणुस्सो इदो एव्व आअच्छदि?। ता दिट्टिपधं परिहरिअ गमिस्सं। (आज्ञप्तोऽस्म्यधिकरणभोजकैः-'अरे शोधनक! व्यवहारमण्डपं गत्वासनानि सज्जीकुरु' इति। तद्यावदधिकरणमण्डपं सज्जितुं गच्छामि। एषोऽधिकरणमण्डपः। एष प्रविशामि। विवक्तिः कारितो मयाधिकरणमण्डपः। विरचितानि मयासनानि। तद्यावदधिकरणिकानां पुनर्निवेदयामि। कथमेष राष्ट्रियश्यालो दुष्टदुर्जनमनुष्य इत एवागच्छति?। तद्दृष्टिपथं परिहृत्य गमिष्यामि।)

(इत्येकान्ते स्थितः)

(ततः प्रविशत्युज्ज्वलवेषधारी शकारः)

शकारः–

ण्हादेहं शलिलजलेहिं पाणिएहिं
उज्जाणे उववणकाणणे णिशण्णे।
णालीहिं शह जुवदीहिं इश्तिआहिं
गंधव्वेहिं शुविहिदएहिं अंगकेहिं।।१।।

स्नातोऽहं सलिलजलैः पानीयैरुद्यान उपवनकानने निषण्णः।
नारीभिः सह युवतीभिः स्त्रीभिर्गन्धर्व इव सुहितैरंगकैः।।

(इसके बाद शोधनक प्रवेश करता है)

अर्थः–

शोधनक– न्यायालय के अधिकारियों ने मुझे आज्ञा दी है–'अरे शोधनक! न्यायालय में जाकर आसनों को ठीक से लगा दो।' इसलिए जब तक न्यायालय को व्यवस्थित करने के लिए जाता हूँ। (घूमकर और देख कर) यह न्यायालय है। यह मैं इसमें प्रवेश करता हूँ। (घुसकर, सफाई करके तथा आसन रख कर) मैंने न्यायालय को स्वच्छ करा दिया है। आसनों को मैंने ठीक से लगा दिया है। तो मैं फिर न्यायाधीशों से निवेदन करता हूँ। (घूम कर और देख कर) क्या यह राजा का साला दुष्ट दुर्जन आदमी इधर ही आ रहा है? तो इसकी आँखों से बच कर जाऊँगा।

(ऐसा कह कर एकान्त में खड़ा हो जाता है)

(उसके बाद उज्ज्वल वेश धारण किये हुए शकार प्रवेश करता है)

अन्वयः— अहम्, सलिलजलैः, पानीयैः, स्नातः; नारीभिः, युवतीभिः, सह, उद्याने, उपवनकानने, निषण्णः; सुहितैः, अंगकै गन्धर्व इव (प्रतीतः, भवामि)।।१।।

शब्दार्थः— अहम् = मैंने, सलिलजलैः = जल (सलिल) से, पानीयैः = पानी से, स्नातः = नहाया है। नारीभिः = स्त्रियों के, युवतीभि = युवती (जवान), स्त्रिभिः = स्त्रीयों के, सहं = साथ, उद्याने = बगीचे, उपवनकानने = वाटिका (बगीचे) मे, निषण्ण = बैठा हुआ, सुहितैः = सजे हुए, अंगकैः = अंगों से, गन्धर्वः = गन्धर्व, इव = जैसा (प्रतीतः = मालूम (ज्ञात), भवामि = होता हूँ)।।१।।

अर्थः—

शकार— मैं पानी से नहाया हूँ। युवती स्त्रियों के साथ फूल के उपवन में बैठा हुआ सज हुए अंगों से मैं गन्धर्व जैसा लगता हूँ।।१।।

टीका— अहम् = विशिष्टाधिकारसम्पन्नः शकारः इत्यर्थः; सलिलैः जलैः पानीयैः = जलैः; स्नातः = कृतस्नानः; नारीभिः युवतीभि स्त्रीभिः = वनिताभिः; सह = साकम्; उद्याने उपवनकानने = गृहवाटिकायामित्यर्थः, निषण्णः = उपविष्टः सुहित = सुविहितैः, सुभूषितैः इत्यर्थः; अंगकैः = अवयवैः; उपलक्षितः अहमिति शेषः; गन्धर्वः = गानविद्या–परायणः देवयोनिविशेषः इव; प्रतीतः भवामीति।।१।।

इस श्लोक में प्रहर्षिणी छन्द है।।१।।

खणेण गंठी खणजूलके मे खणेण बाला खणकुंतले वा।
खणेण मुक्के खण उद्धचूडे चित्ते विचित्ते हगे लाअशाले।।२।।

क्षणेन ग्रन्थिः क्षणजूलिका मे क्षणेन बालाः क्षणकुन्तला वा
क्षणेन मुक्ताः क्षणमूर्ध्वचूडाश्चित्रो विचित्रोऽहं राजश्यालः।

अन्वयः— मे (केशेषु), क्षणेन, ग्रन्थिः, क्षणजूलिका, (भवति); क्षणेन, (ते) बालाः, वा, क्षणकुन्तलाः, क्षणेन, मुक्ताः, क्षणम् ऊर्ध्वचूडा (भवन्ति); (सत्यम्) अहम्, चित्रः, विचित्रः, राजश्यालः, (अस्मि)।।२।।

शब्दार्थः— मे = मेरे, (केशेषु = शिर के बालों में), क्षणेन = एक क्षण में, ग्रन्थिः = गाँठ (लगती है), क्षणजूलिका = एक क्षण में जूड़ा, (भवति = होती है, बँधती है)। क्षणेन = एक क्षण में; (ते = के केश) बालाः = मामूली बाल, वा = और, क्षणकुन्तलाः = क्षणभर में घुँघराले बाल, क्षणेन = क्षणभर में, मुक्ताः = बिखेरे गये, क्षणम् = क्षणभर में ऊर्ध्वचूडाः = ऊपर की ओर जूड़ा, (भवन्ति = बन जाते हैं)। (सत्यम् = सचमुच), अहम् = मैं, चित्रः = विलक्षण, विचित्रः = अद्भुत, राजश्यालः = राजा का साला, (अस्मि = हूँ)।।

अर्थः— मेरे शिर के बालों में एक क्षण में गाँठ लगती है तो दूसरे क्षण में जूड़ा बँधती है। क्षण भर में वे मामूली बाल बन जाते हैं तो दूसरे क्षण में घुँघराले बाल हो जाते हैं। पुनः क्षणभर में ही वे बिखेर दिये जाते हैं तो क्षणभर में ही ऊपर की ओर जूड़ा बन जाते हैं। (सचमुच) मैं बड़ा ही चित्र–विचित्र राजा का साला हूँ।।२।।

टीका— मे = मम; केशेष्विति शेषः; क्षणेन = क्षणकालम्; कस्मिंश्चित् समये इत्यर्थः; ग्रन्थिः = ग्रन्थिबन्धनम्, बालानामत्र संयमनमित्यर्थः; क्षणेन जूलिका = जूटिका ('जूडा' इति प्रसिद्धः); भवतीति शेषः। क्षणेन (ते = केशाः) बालाः = साधारणकेशाः; वा = अथवा; क्षणेन कुन्तलाः = कुटिलबालाः; क्षणेन मुक्ताः = बन्धनहीनाः, इतस्ततः प्रक्षिप्ताः इत्यर्थः क्षणम् ऊर्ध्वचूडा–ऊर्ध्वम् = उपरिभागे चूडा = शिखा येषां तथाभूताः; भवन्ति। सत्यम्, अहम् = शकारः; चित्र विचित्रः = विलक्षणः; राज्ञः = शासकस्य, पालकस्येत्यर्थः; श्यालः = स्त्रीभ्राता; अस्मीति शेषः।।२।।

अवि, अ विशगंठिगब्भपविश्टेण विअ कीडएण अंतलं मग्गमाणेण पाविदं मए महदंतलं ता कश्श एदं किविणचेश्टिअं पाडइश्शं?। (स्मृत्वा) आं, शुमलिदं मए। दलिद्दचालुदत्तश्श एदं किविणचेश्टिअं पाडइश्शं। अण्णं च, दलिद्दे

खु शे। तश्श शव्वं शंभावीअदि। भोदु, अधिअलणमंडवं गदुअ अग्गदो ववहालं लिहावइश्शं, जधा-चालुदत्तकेण वशंतशेणिआ मोडिअ मालिदा। ता जाव अधिअलणमंडवं ज्जेव्व गच्छामि (परिक्रम्यावलोक्य च) एशं तं अधिअलणमंडवं। एत्थ पविशामि। (प्रविश्यावलोक्य च) कधं आशणाइं दिण्णइं च्चिश्टंति?। जाव आअश्शंति अधि ाअलणभोइआ, दाव एदश्शि दुव्वचत्तले मुहुत्तअं उवविशिअ पडिवालइश्शं।

अपि च, विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कोटकेनान्तरं मार्गमाणेन प्राप्तं मया महदन्तरम्। तत्कस्येदं कृपचेष्टितं पातयिष्यामि?। आं, स्मृतं मया। दरिद्रचारुदत्तस्येदं कृपणचेष्टितं पातयिष्यामि। अन्यच्च, दरिद्रः खलु सः। तस्य सर्वं संभाव्यते। भवतु, अधिकरणमण्डपं गत्वाऽग्रतो व्यवहारं लेखयिष्यामि, यथा-चारुदत्तेन वसन्तसेना मोटयित्वा मारिता। तद्यावदधि ाकरणमण्डपमेव गच्छामि। एष सोऽधिकरणमण्डपः। अत्र प्रविशामि। कथमासनानि दत्तानि तिष्ठन्ति?। यावदागच्छन्त्यधि ाकरणभोजकाः, तावदेतस्मिन्दूर्वाचत्वरे मुहूर्तमुपविश्य प्रतिपालयिष्यामि।)

(तथा स्थितः)

शोधनकः— (अन्यतः परिक्रम्य, पुरो दृष्ट्वा) पेदे अधिअरणिआ आअच्छन्ति; ता जाव उवसप्पामि। (एतेऽधिकरणिका आगच्छन्ति; तद्यावदुपसर्पामि।) (इत्युपसर्पति)

(ततः प्रविशति श्रेठिकायस्थादिपरिवृत्तोऽधिकरणिकः)

अधिकरणिकः— भो भोः श्रेष्ठिकायस्थौ!

श्रेष्ठिकायस्थौ— आणवेदु अजो। (आज्ञापयत्यार्यः।)

अधिकरणिकः— अहो! व्यवहारपराधीनतया दुष्करं खलु परिचित्तग्रहणमधिकरणिकैः।

छन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं
स्वान्दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे रागाभिभूताः स्वयम्।
तैः पक्षापरपक्षवर्धितबलैर्दोषैर्नृपः स्पृश्यते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः।।३।।

अर्थः— और भी—

विष की गाँठ के भीतर घुसे हुए कीड़े के समान मार्ग ढूँढते हुए मैंने महान उपाय पा लिया है। तो इस कुकृत्य को किसके ऊपर थोप दूँगा। (याद करके) हाँ, याद आ गयी। इस कुकृत्य को चारूदत के ऊपर थोप दूँगा। और वह दरिद्र भी है। अतः उसके लिए सब कुछ सम्भव माना जा सकता है। तो, न्यायालय में जाकर सबसे पहले ही विवाद को लिखवाऊँगा कि—'चारुदत्त ने वसन्तसेना का गला घोंट कर मार डाला।' तो जब तक न्यायालय में ही चलता हूँ। (घूम कर और देखकर) वह यह न्यायालय है। इसमें घुसता हूँ। (घुस कर और देखकर) क्या आसन लगा दिये गये हैं? जब तक न्यायालय के अधिकारी आते हैं तब तक इस दूब वाले चबूतरे पर थोड़ी देर बैठ कर प्रतीक्षा करता हूँ।

(उसी प्रकार बैठता है)

शोधनक—(दूसरी ओर घूमकर एवं सामने देखकर) ये न्यायालय के अधिकारी आ रहे हैं। तो उनके पास चलता हूँ। (ऐसा कह कर पास में जाता है)

(उसके बाद श्रेष्ठी तथा कायस्य आदि से घिरा हुआ न्यायाधीश प्रवेश करता है)

अधिकरणिक(न्यायाधीश)— सेठ जी और कायस्थ जी!

श्रेष्ठिकायस्थ— आर्य! आज्ञा दीजिये।

अधिकरणिक— अहो! विवाद (व्यवहार) के पराधीन होने के कारण न्यायाधीशों के द्वारा दूसरों (वादी—प्रतिवादी) के चित्त को जानना कठिन है। (अर्थात् अपराधी लोग सच्ची बात को छिपा देते हैं। अतः सच्चाई का पता लगाना बड़ा मुश्किल है)।

अन्वयः— पुरुषाः, न्यायेन, दूरीकृतम्, कार्यम्, छन्नम्, (कृत्वा), उपक्षिपन्ति; रागाभिभूताः, (ते), अधिकरणे स्वयम्, स्वान् दोषान् न कथयन्ति; (अतः), पक्षापरपक्षवर्धितबलैः, तैः, दोषैः, नृपः, स्पृश्यते; संक्षेपात्, द्रष्टुः, अपवादः, एव सुलभः गुणः तु दूरतः (एव)।।३।।

शब्दार्थः— पुरुषाः = मनुष्य, न्यायेन = न्याय से, दूरीकृतम् = रहित, कार्यम् = कार्य को, छन्नम् = छिपा हुआ, (कृत्वा = करके), उपक्षिपन्ति = उपस्थित करते हैं। रागाभिभूताः = आसक्ति अथवा क्रोध के वशीभूत, (ते = वे लोग), अधिकरणे = न्यायालय में, स्वयम् = अपने आप, स्वान् = अपने, दोषान् = दोषों को, न = नहीं, कथयन्ति = बतलाते हैं, (अतः = इसलिये), पक्षापरपक्षवर्धितबलैः = वादी और प्रतिवादी से बढ़ाये गये बल वाले, तैः = उन, दोषैः = दोषों से, नृपः = राजा, स्पृश्यते = छुआ जाता है (अर्थात् दूषित होता है), संक्षेपात् = संक्षेप से, द्रष्टुः = न्यायाधीश को, अपवादः = अपयश, एव = ही, सुलभः = आसान है; गुणः = यश, (तु = तो), दूरतः = दूर, (एव = ही; है)।।

अर्थः— मनुष्य (वादी तथा प्रतिवादी) न्यास से रहित अर्थात् अनुचित काम को छिपा करके (फैसला के लिये) उपस्थापन करते हैं। (अपने प्रयोजन को सिद्ध करने को) आसक्ति अथवा क्रोध के वशीभूत वे लोग न्यायालय में स्वयं अपने दोषों को नहीं बतलाते हैं। इसलिए वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों से बढ़ाये गये बलवाले उन दोषों से राजा दूषित होता है (अर्थात् दोनों पक्ष जब बात को छिपा कर पेश करते हैं तब राजा भी ठीक–ठीक निर्णय नहीं कर पाता अतः वह भी दोषी ठहरता है)। संक्षेप में न्यायाधीश को अपयश मिलना ही आसान है, यश का मिलना तो दूर रहा।।३।।

टीका— पुरुषाः = स्वपक्षोपस्थापनपराः वादिप्रतिवादिजनाः; न्यायेन = नीत्या सत्येन वा; दूरीकृतम् = वर्जितम्; कार्यम् = अभियोगादिकम्; छन्नम् = असत्यं सत्येनावृतं सत्यमसत्येनाच्छादितम्; कृत्वा = विधाय; उपक्षिपन्ति = उपस्थापयन्ति। रागेण = आसक्त्या क्रोधेन वा अभिभूताः = आक्रान्ताः; रागोपहितचित्ताः इत्यर्थः; ते = वादिप्रतिवादिप्रभृतयः; अधिकरणे = न्यायालये; स्वयम्; स्वान् = आत्मीयान्; दोषान् = अपराधान्; न कथयन्ति = न वदन्ति, न स्वीकुर्वन्ति इत्यर्थः। अतः पक्षापरपक्ष वर्धितबलौ—पक्षः = वादी वादिसम्बद्धजनश्च, अपरपक्षः = प्रतिवादी प्रतिवादिसम्बन्धिजनश्च ताभ्यां पक्षापरपक्षाभ्याम् = दोषसंस्थापननिराकरणपराभ्यां पक्षविपक्षाभ्याम्, वर्धितम् = अधर्माचरणेन वृद्धिंगतम् बलम् = पातनशक्तिः येषां तादृशैः; तैः = व्यवहारविवेचने उपस्थापितैः, दोषैः = पापैः; नृपः = राजा, राज्ञः प्रतिनिधिभूतः न्यायाधीशः इत्यर्थः; स्पृश्यते = सम्बध्यते। निर्णीतस्य सत्यस्य यथार्थस्य च न्यायायस्य अभावे न्यायाधीशः दोषभाग्भवति। संक्षेपात् = सारतः; किं बहुना कथनेनेति भावः; द्रष्टुः = निर्णेतुः, व्यवहारदर्शिनः न्यायाधीशस्य; अपवादः = अयशः एव, सुलभः = सुखलभ्यः, अनायासप्राप्तः इत्यर्थः; गुणः = प्रशंसा कीर्तिर्वा तु दुरतः एव = दुर्लभः एव।।३।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—शार्दूलविक्रीडित।।३।।

अपि च,—

छन्नं दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृताः स्वान्दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे
सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम्।
ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः पापानि संकुर्वते
संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुगुणो दूरतः।।४।।

अन्वयः— कुपिताः, (अतः), न्यायेन, दूरीकृताः, (ये, पुरुषाः), अधिकरणे, छन्नम्, दोषम्, उदाहरन्ति; (तथा), स्वान्, दोषान्, न, कथयन्ति, (एभिः, सह, ते), सन्तः, अपि, ध्रुवम्, नष्टाः, (भवन्ति); ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः, पापानि, संकुर्वते; संक्षपात् द्रष्टुः, अपवादः एव, सुलभः; गुणः, (तु), दूरतः, एव।।४।।

शब्दार्थः— कुपिता = क्रुद्ध, (अतः = अतएव) न्यायेन = न्याय से, सत्य से, दूरीकृताः = हीन, (ये पुरुष = जो पुरुष), अधिकरणे = न्यायालय में, छन्नम् = छिपे हुए, दोषम् = (दूसरों के) दोष को, उदारहन्ति = उपस्थित करते हैं, (तथा = तो वे लोग) स्वान् = अपनी दोषान् = गलतियों को, न कथयन्ति = नहीं कहते हैं; (एभिः सह = इन लोगो के साथ, ते = वे), सन्तः = सज्जन व्यक्ति अपि = भी ध्रुवम् = निश्चय ही, नष्टाः = नष्ट, (भवन्ति = होते हैं); ये जो पक्षापरपक्षदोषसहिताः = वादी एवं प्रतिवादी के दोषों में भागीदार होकर, पापानि = पाप, संकुर्वते = करते है। संक्षेपात् = संक्षेप (में) द्रष्टु

= न्यायाधीशको, अपवादः = अपयश, एव = ही, सुलभः = आसान है अर्थात् आसानी से मिलता है, गुणः = यश, (तु = तो), दुरतः एव = दूर रहा।।

अर्थः— और भी—

कुपित अतएव न्याय से हीन (जो पुरुष) न्यायालय में छिपा करके (दूसरों के) दोष उपस्थित करते हैं, तथा न्यायालय में अपनी गलतियों को नहीं कहते हैं; (ऐसे लोगों के साथ) वे सज्जन व्यक्ति भी निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं, जो वादी एवं प्रतिवादी के दोष में भागीदार होकर पाप करते हैं। संक्षेप में न्यायाधीश को अपयश मिलना ही आसान है, यश तो दूर रहा।।४।।

टीका— कुपिताः = क्रुद्धाः (अतः = अस्मात् कारणात्), न्यायेन = नीत्या, सत्ये नेत्यर्थः; दूरीकृताः = विरहिताः; ये = ये पुरुषाः इति शेषः, अधिकरणे = न्यायभवने; छन्नम् = असत्यं सत्येन गुप्तं सत्यमसत्येनावृतम्, गुप्तमित्यर्थः; दोषम् = पापम् अपराधं वा, अन्योन्यस्येति शेषः; उदाहरन्ति = वाचनिकैः पत्रलेख्यादिभिर्वा प्रमाणैः उपस्थापयन्ति; तथा स्वान् = निजान्; दोषान् = अपराधन्; न कथयन्ति = न प्रकाशयन्ति। एभिः छलप्रपञ्चनिबद्धहृदयैः जनैः सह; ते सन्तः = साधवः, वस्तुतः अपराधरहिताः न्यायाधीशादयः अपि; ध्रुवम् = अवश्यम्; नष्टाः = पतिताः; भवन्तीति शेषः; ये = साधवः; पक्षाणाम् = वादिपक्षाणाम् अपरपक्षाणाम् = प्रतिवादिपक्षाणाम् दोषेण = पापेन सहिताः = युक्ताः; रागलोभादिना अज्ञानेन वा पक्षापरपक्षाणां दोषैः सहिताः इत्यर्थः; पापानि = अनुचितकार्याणि; संकुर्वते = कुर्वन्ति। संक्षेपात् = सारतः; द्रष्टुः = न्यायादर्शिनः; अपवादः = अपकीर्तिरेव; दोषः इत्यर्थः; सुलभः = अनायासलभ्यः, गुण = यशस्तु; दूरतः एव = दुष्प्रापः एव भवतीति।।४।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।४।।

यतोऽधिकरणिकः खलु

शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशली वक्ता न च क्रोधन-
रस्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वै दत्तोत्तरः।
क्लीबान्पालयिता शठान्व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः।।५।।

अन्वयः— (अधिकरणिकः), शास्त्रज्ञः, कपटानुसारकुशली, वक्ता, न च क्रोधनः, मित्रपरस्वकेषु, तुल्यः, चरितम्, दृष्ट्वा, एव, दत्तोत्तरः, क्लीबान्, पालयिता, शठान, व्यथयिता, धर्म्यः, न, लोभान्वितः, द्वार्भावे, परतत्त्वबद्धहृदयः, च, राज्ञः, कोपापहः, (भवेत्)।।५।।

शब्दार्थः— (अधिकरणिकः = न्यायाधीशः), शास्त्रज्ञः, = शास्त्रों को जानने वाला, कपटानुसारकुशलीः = कपट को पकड़ने में चतुर, वक्ता = बोलने में चतुर, न च क्रोधनः = क्रोध न करने वाला, मित्रपरस्वकेषु = मित्र, शत्रु एवं अपने लोगों में, तुल्यः = समान रखने वाला, चरितम् = व्यवहार को, दृष्ट्वा = देखकर, एव = ही, दत्तोत्तरः = उत्तर देने वाला, क्लीबान् = दुर्बलों को, पालयिता = पालने वाला, बचाने वाला, शठान् = धूर्तों को, व्यथयिता = दण्ड देने वाला, धर्म्यः = धार्मिक, न लोभान्वितः = निर्लोभी, द्वार्भावे = उपाय रहने पर, परतत्त्वबद्धहृदयः = पूरी सही बात को (खोज निकालने में) दत्तचित्त, च = और, राज्ञः = राजा के, कोपापहः = कोप को नष्ट करने वाला, (भवेत् = होना चाहिये)।।

अर्थः— क्योंकि न्यायाधीश तो

शास्त्रों को जानने वाला; (मनुष्यों को) कपट को पकड़ने में चतुर; वक्ता; क्रोध न करने वाला; मित्र, शत्रु एवं अपने लोगों में समान भाव रखने वाला; (वादी प्रतिवादी के) व्यवहार को देख कर ही उत्तर देने वाला; दुर्बलों का रक्षक; धूर्तों को दण्ड देने वाला; धार्मिक; निर्लोभी; उपाय रहते पूरी सही बात को खोज निकालने में दत्तचित्त एवं राजा के कोप को नष्ट करने वाला होना चाहिए।।

टीका— अधिकरणिकः कीदृशः भवितव्यः इति जिज्ञासायां कथयति—अधिकरणिकः; शास्त्राणि = धर्मशास्त्राणि नीतिशास्त्राणि च जानातीति शास्त्रज्ञः = मनुस्मृत्यादिशास्त्रमर्मज्ञः; कपटस्य = कैतवस्य, वादिप्रतिवादिविहितस्येति शेषः, अनुसारे =

अनुसरणे, ग्रहणे इति यावात्, कुशलः = प्रवीणः, वक्ता = वाग्मी, न च क्रोधनः = क्रोधी मित्रेषु सुहृत्सु परेषु = स्वसम्बन्धरहितेषु शत्रुषु वा, स्वकेषु = स्वसम्बन्धिषु च; शत्रौ मित्रेषु = सुहृत्सु, परेषु = स्वसम्बन्धरहितेषु शत्रुषु वा, स्वकेषु = स्वसम्बन्धिषु च; शत्रौ मित्रे चेत्यर्थः; तुल्यः = समन्याय न्यास्य सम्बन्धासम्बन्धविषयेष्वसमीक्ष्यकारी इत्यर्थः; चरितम् = व्यवहारम्; दृष्ट्वा = अवलोक्यैव; दत्तम् = श्रावितम्, उत्तरम् = निर्णयः येन तथाभूतः; क्लीबान् = दुर्बलान्, वित्तरहितानित्यर्थः, पालयिता = रक्षकः, शठान् = दुष्टान्; यथार्हतो = दण्डयिता; धर्माद् अनपेतः धर्म्यः = धर्मानुसारी; धार्मिकः इति यावत्; न लोभेन = तृष्णया अन्वित = युक्तः लोभविरहितः इति यावत्; द्वाभावे—द्वाः = द्वारम्, उपायः इत्यर्थः, तस्य भावे = उपस्थिता, उपाये सतीत्यर्थः परतत्त्वबद्धहृदयः—परम् = उत्कृष्टम् यत् तत्त्वम् = याथार्थ्यं तस्मिन् बद्धः, = संलग्नम्, हृदयम् = चेतः यस्य तादृशः पुर्ण सत्यम् अन्वेष्टुं दत्तमतिः इति भावः, अथवा परेषाम् = अन्येषाम्, वादिप्रतिवादिनामित्यर्थः, तत्त्वे = यथार्थताज्ञाने बद्धहृदय = दत्तचित्तः; च = तथा; राज्ञः = शासकस्य; कोपम् = क्रोधम् अपहन्ति = दूरीकरोतीति कोपापहः = क्रोधापसारक भवेदिति शेषः।।५।।

इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।।५।।

श्रेष्ठिकायस्थौ— अज्जस्स वि णाम गुणे दोसो त्ति वुच्चदि। जइ एव्वं, ता चंदालोए वि अंधआरो त्ति वुच्चदि। (आर्यस्यापि नाम गुणे दोष इत्युच्यते। यद्येवम्; तदा चन्द्रालोकेऽप्यन्धकार इत्युच्यते।)

अधिकरणिकः— भद्र शोधनक! अधिकरणमण्डपस्य मार्गमादेशय।

शोधनकः— एदु एदु अधिअरणभोइओ! एदु। (एत्वेत्वधिकरणभोजक! एतु।)

(इति परिक्रामन्ति)

शोधनकः— एदं अधिअरणमंडवं। ता पविसंतु अधिअरणभोइआ। (अयमधिकरणमण्डपः, तत्प्रविशन्त्वधिकरणभोजकाः।)

(सर्वे च प्रविशन्ति)

अधिकरणिकः— भद्र शोधनक! बहिर्निष्क्रम्य ज्ञायताम्-'कः कः कार्यार्थी, इति।

शोधनकः— जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य) अज्जा! अधिअरणिआ भणंति-'को को इध कज्जत्थी' त्ति। (यदार्य आज्ञापयति। आर्याः! अधिकरणिका भणन्ति-'कः क इह कार्यार्थी' इति।)

शकारः— (सहर्षम्) उवत्थिए अधिअलणिए? (साटोपं परिक्रम्य) हग्गे वलपुलिशे मणुश्शे वाशुदेवे लश्टिअशाले लअशाले कज्जत्थी। (उपस्थिता अधिकरणिकाः? अहं वरपुरुषो मनुष्यो वासुदेवो राष्ट्रियश्यालो राजश्यालः कार्यार्थी।)

शोधनकः—(ससंभ्रमम्) हीमादिके, पढमं ज्जेव रट्टिअसालो कज्जत्थी। भोदु, अज्ज! मुहुत्तं चिट्ठ। दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि। (उपगम्य) अज्जा! एसो खु रट्टिअसालो कज्जत्थी ववहारं उवत्थिदो। (हन्त, प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी। भवतु, आर्य! मुहुर्तं तिष्ठ। तावदधिकरणिकानां निवेदयामि। आर्याः एष खलु राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी व्यवहारमुपस्थितः।)

अधिकरणिकः— कथं प्रथममेव राष्ट्रियश्यालः कार्यार्थी?। यथा सूर्योदये उपरागो महापुरुषा नपातमेव कथयति। शोधनक! व्याकुलेनाद्य व्यवहारेण भवितव्यम्। भद्र! निष्क्रम्योच्यताम्-'गच्छाद्य, न दृश्यते तव व्यवहारः' इति।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति। (निष्क्रम्य; शकारमुपगम्य) अज्ज! अधिअरणिआ भणंति- 'अज्ज! गच्छ। ण दीसदि तव ववहारो त्ति'। (यदार्य आज्ञापयतीति। आर्य! अधिकरणिका भणन्ति-'अद्य गच्छ। न दृश्यते तव व्यवहारः।)

शकारः— (सक्रोधम्) आः, किं ण दीशदि मम ववहाले?। जइ ज दीशदि, तदो आवुत्तं लाआणं पालअं बहिणीवदिं विण्णविअ बहिर्णि अत्तिकं च विण्णविअ एदं अधिअलणिअं दूले फेलिअ एत्थ अण्णं अधिअलणिअं ठावइश्शं। (आः, किं न दृश्यते मम व्यवहारः!। यदि न दृश्यते, तदावुत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्यैतमधिकरणिकं दूरीकृत्यात्रान्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि।)

(इति गन्तुमिच्छति)

शोधनकः— अज्ज रट्टिअशालअ! मुहुत्तअं चिट्ठ। दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि। (अधिकरणिकमुपगम्य) एसो रट्टिअशालो कुविदो भणादि। (आर्य राष्ट्रियश्याल! मुहूर्तं तिष्ठ। तावदधिकरणिकानां निवेदयामि। एष राष्ट्रियश्यालः कुपितो भणति।)

(इति तदुक्तं भणति)

अधिकरणिकः— सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते। भद्र! उच्यताम्-'आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः'।

शोधनकः—(शकारमुपगम्य) अज्ज! अधिअरणिआ भणंति-'आअच्छ, दीसदि तव ववहारो'; ता पविसदु अज्जो। (आर्य! अधिकरणिका भणन्ति-'आगच्छ; दृश्यते तव व्यवहारः'; तत्प्रविशत्वार्यः।)

शकारः— हो, पढमं भणंति - 'ण दीशदि, शंपदं दीशदि' त्ति। ता णाम भीदभीदा अधिअलणभोइआ! जेत्तिअं हग्गे भणिश्शं तेत्तिअं पत्तिआवइश्शं। भोदु, पविशामि (प्रविश्योपसृत्य) शुशुहं अम्हाणं, तुम्हाणं पि शुहं देमि णदेमि अ। (ही, प्रथमं भणन्ति न दृश्यते, सांप्रतं दृश्यत इति। तन्नाम भीतभीता अधिकरणभोजकाः; यद्यदहं भणिष्यामि तत्तत्प्रत्याययिष्यामि। भवतु, प्रविशामि। सुसुखमस्माकम्, युष्माकमपि सुखं ददामि न ददामि च।)

अधिकरणिकः— (स्वगतम्) अहो, स्थिरसंस्कारता व्यवहारार्थिनः। (प्रकाशम्) उपविश्यताम्।

शकारः— आं, अत्तण केलकाशे भूमी। ता जहिं मे लोअदि तहिं उवविशामि। (श्रेष्ठिनं प्रति) एश उवविशामि। (शोधनकं प्रति) णं एत्थ उवविशामि। (इत्यधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा) एश उवविशामि। (आं, आत्मीयैषा भूमिः। तद्यत्र मह्यं रोचते तत्रोपविशामि। एष उपविशामि। नन्वत्रोपविशामि। एष उपविशामि) (इति भूमावुपविशति)

अधिकरणिकः— भवान्कार्यार्थी?

शकारः— अध इं? (अथ किम?)

अधिकरणिकः— तत्कार्यं कथय।

शकारः— कण्णे कज्जं कधइश्शं। एव्वं वडुके मल्लक्कपमाणाह कुडे हग्गे जादे।

लाअशशुले मम पिदा लाआ। तांदश्श होइ जामादा।
लाअशि आले हग्गे ममावि बहिणीवदी लाआ।।६।।

(कर्णे कार्यं कथयिष्यामि। एवं बृहति मल्लकप्रमाणस्य कुलेऽहं जातः।
राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता।
राजश्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा।।)

अर्थः—

श्रेष्ठि-कायस्थ— क्या आप के गुणों में भी दोष है, ऐसा कहा जा सकता है अर्थात् क्या आप में भी दोष निकाला जा सकता है? यदि ऐसी बात है तो चाँदनी में भी अँधेरा कहा जा सकता है।

अधिकरणिक— भले मनुष्य शोधनक! न्यायालय का रास्ता बतलाओ।

शोधनक—आइये, आइये, न्यायाधीश महोदय जी! आइये।

(इस प्रकार सभी घूमते हैं)

शोधनक—यह न्यायालय का भवन है, तो माननीय न्यायाधीश प्रवेश करें।

(सभी प्रवेश करते हैं)

अधिकरणिक— भले मनुष्य शोधनक! बाहर जाकर मालूम करो कि—'कौन—कौन से लोग मुकदमा पेश करना चाहते हैं'।

शोधनक—जैसी आप की आज्ञा। (ऐसा कह कर और निकल कर) सज्जनों न्यायाधीश कहते हैं कि—'यहाँ कौन—कौन से लोग मुकदमा पेश करना चाहते हैं?

शकार— (प्रसन्नता के साथ) न्यायाधीश लोग आ गये? (घमण्ड के साथ चलकर) मैं बड़ा आदमी, मनुष्य, वासुदेव, राजा का साला राजश्याल मुकदमा पेश करना चाहता हूँ (कार्यार्थी हूँ)।

शोधनक—(घबराहट के साथ) दुःख है, पहले ही पहल राजा का साला (कार्यार्थी) मुकदमा पेश करने वाला है। अच्छा श्रीमान् जी! क्षण भर ठहरिये। तो न्यायाधीश महोदय से कह दूँ। (न्यायाधीश के पास में जाकर) आर्य! यह राजा का साला कार्यार्थी होकर निर्णय के लिए आया है।

अधिकरणिक— क्यों पहले ही राजा का साला कार्यार्थी है? जैसे सूर्योदय के समय का ग्रहण किसी महान् आदमी की मृत्यु को सूचित करता है। वैसे ही इसका सबसे पहले यहाँ आना अशुभ—सूचक है। शोधनक! आज का न्याय—विचार घबराहट से परिपूर्ण होगा। भले मनुष्य! निकल कर कहो—'जाओ' आज तुम्हारा मुकदमा नहीं विचारा जायगा।

शोधनक—जैसी आप की आज्ञा। (निकल कर शकार के पास जाकर) श्रीमान्, जी! न्यायाधीश लोग कहते हैं—'आज जाओ। तुम्हारा मुकदमा नहीं विचारा जायगा।''

शकार— (क्रोध के साथ) आह, मेरा मुकदमा नहीं विचारा जायगा? यदि नहीं विचारा जायगा तो, मैं अपने जीजा, बहन के पति, राजा पालक से कह कर, बहन तथा माता से कह कर इस न्यायाधीश को हटा कर दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करा दूँगा।

(ऐसा कह कर जाना चाहता है)

शोधनक— माननीय राजा के साले जी! क्षण भर रुकिये। जरा न्यायाधीश महोदय से निवेदन करता हूँ। (न्यायाधीश के पास जाकर) यह राजा का साला नाराज होकर कहता है। (ऐसा कह कर जो कुछ उसने कहा था उसे कहता है।)

अधिकरणिक— इस मूर्ख से सब कुछ सम्भावना की जा सकती है। भले आदमी। जाकर उससे कहो—'आओ तुम्हारा मुकदमा विचारा जायगा।

शोधनक—(शकार के पास जाकर) श्रीमान् जी! न्यायाधीश महोदय कहते हैं कि—'आओ' तुम्हारा मुकदमा देखा (विचारा) जायगा।' तो आप प्रवेश करें।

शकार— पहले कहते थे कि 'नहीं देखा जायगा और अब कहते हैं कि देखा जायगा'—तो निश्चय ही न्यायाधीश महोदय डर गये हैं। (इसलिए) जो जो मैं कहूँगा वह वह सब मान्य करा लूँगा। तो, प्रवेश करता हूँ (प्रवेश करके और न्यायाधीश के पास जाकर) हमारा भली—भाँति सुख है। आप लोगों को भी सुख देता हूं अथवा नहीं देता हूँ (जैसी मेरी इच्छा)।

अधिकरणिक— (अपने आप) (न्यायालय से निर्णय चाहने वाले) इस कार्यार्थी की निर्भीकता आश्चर्य पैदा करने वाली है (प्रकट रूप में) बैठिए।

शकार— हाँ यह जमीन अपनी है। तो जहाँ मुझे अच्छा लगेगा वहाँ बैठूँगा। (श्रेष्ठी से) यहाँ मैं बैठूँगा। (शोधनक से) अच्छा यहाँ बैठता हूँ। न्यायाधीश के सिर पर हाथ रखकर यह बैठता हूँ। (ऐसा कह कर जमीन पर बैठता है)

अधिकरणिक— आप निर्णय चाहते हैं?

शकार— और क्या?

अधिकरणिक— तो कार्य बतलाइए।

शकार— कान मे कहूँगा। (क्योकि) महान कुल में उत्पन्न हुआ हूँ।

अन्वयः— मम, पिता, राजश्वसुरः; राजा, तातस्य, जमाता, भवतिः, अहम्, राजश्यालः, राजा, अपि, मम, भगिनीपतिः, (अस्ति)।।६ ।

शब्दार्थः— मम = मेरे, पिता = पिताजी, राजश्वसुरः = राजा के श्वसुर हैं, राजा = राज्य करने वाला व्यक्ति, तातस्य = पिता के, जमाता = दामाद, भवति = होता है। अहम् = मैं, राजश्यालः = राजा का साला हूँ। राजा = राज्य करने वाला व्यक्ति (पालक), अपि = भी, मम = मेरे, भगिनीपतिः = जीजा हैं।।

अर्थः— मेरे पिता राजा के ससुर हैं। राजा हमारे पिता जी के दामाद होते हैं। मैं राजा का साला हूँ। राजा भी मेरी बहन का पति है।।६।।

टीका— मम = व्यवहारार्थिनः शकारस्य इत्यर्थः; पिता = जनकः; राजश्वसुरः—राज्ञः = शासकस्य पालकस्येत्यर्थः श्वसुरः = स्त्रीपिताः अस्ति। राजा = पालकः इत्यर्थ; तात्स्य = पितुः, जामाता = दुहितुः पतिः, भवति = अस्ति। अहम् = अभियोगं गृहीत्वा स्वयमुपस्थितः; राज्ञः श्यालः = जायाभ्राता; अस्मीतिशेषः; राजापि मम = शकारस्य; भगिन्याः—स्वसुः पतिः = भर्ता; अस्तीति शेषः।।६।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।।६।।

अधिकरणिकः— सर्वं ज्ञायते,

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः।।७।।

तदुच्यतां कार्यम्।

अन्वयः— कुलेन, उपदिष्टेन, किम्? शीलम्, एव, अत्र, कारणम्; सुक्षेत्रे, कण्टकिद्रुमाः, नितराम्, स्फीताः, भवन्ति।।७।।

शब्दार्थः— कुलेन = कुलके, उपदिष्टेन = कहने से, किम् = क्या? शीलम् = चरित्र, एव = ही, अत्र = यहाँ, न्यायालय में, कारणम् = (निर्णय का) कारण (होता है)। सुक्षेत्रे = सुन्दर खेत में, कण्टकिद्रुमाः = काँटेदार वृक्ष, नितराम् = बहुत अधिक, स्फीताः = विशाल, भवन्ति = होते हैं।।

अर्थः—

अधिकरणिक— सब कुछ मालूम है,

खान–दान के कहने से क्या (फायदा)? (क्योंकि मनुष्य का) चरित्र ही यहाँ न्यायालय में (निर्णय का) कारण होता है। सुन्दर उपजाऊ खेत में काँटेदार वृक्ष बहुत अधिक बढ़ते हैं।।७।।

तो कार्य बतलाइये।

टीका— कुलेन = वंशेन; उपदिष्टेन = वर्णितेन; किम् = किं प्रयोजनम्? शीलम् = चरित्रम्; एव; अत्र न्यायालये; कारणम् = हेतुः, निर्णयकारणमित्यर्थः। सुक्षेत्रे = उर्वरायां भूमौ; कण्टकिद्रुमाः = कण्टकयुक्ताः वृक्षाः, नितराम् = अत्यधिकम्; स्फीताः = विशालाः, बुद्धियुक्ताः इत्यर्थः; भवन्ति = जायन्ते।।७।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।७।।

शकारः— एव्वं भणामि, अवलद्धाह वि ण अ मे किं पि कलइश्शदि, तदो तेण बहिणीवदिणा परितुश्टेण मे कीलिदुं लक्खिदुं शव्वुज्जाणाणं पवले पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणे दिण्णे। तहिं च पेक्खिदुं अणुदिअहं शोशावेदुं शोधावेदुं पोत्थावेदुं लुणावेदुं गच्छामि। देव्वजोएण पेक्खामि, ण पेक्खामि वा, इत्थिआशलीलं णिवडिदं। (एवं भणामि, अपराद्धस्यापि न च मे किमपि करिष्यति, ततस्तेन भगिनीपतिना परितुष्टेन मे क्रीडितुं रक्षितुं सर्वोद्यानानां प्रवरं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं दत्तम्। तत्र च प्रेक्षितुमनुदिवसं शुष्कं कारयितुं पुष्टं कारयितुं लून कारयितुं गच्छामि। दैवयोगेन पश्यामि, न पश्यामि वा, स्त्रीशरीरं निपतितम्।)

अधिकरणिकः— अथ ज्ञायते का स्त्री विपन्नेति?।

शकारः— हंहो अधिअलणभोइआ! किंत्ति ण जाणामि?। तं तादिर्शि णअलमंडणं कंचणशदभूशणिअं केण वि कुपुत्तेण अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशबलक्कालेण वशंतशेणिआ मालिदा, ण मए। (अहो अधिकरणभोजकाः! किमिति न जानामि तां तादृशीं नगरमण्डनं काञ्चनशतभूषणाम्? केनापि कुपुत्रेणार्थकल्यवर्तस्य कारणाच्छून्यं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण वसन्तसेना मारिता, न मया।) (इत्यर्धोक्ते मुखमावृणोति)

अधिकरणिकः— अहो नगररक्षिणां प्रमादः। भोः श्रेष्ठिकायस्थौ! न मयेति व्यवहारपदं प्रथममभिलिख्यताम्।

कायस्थः — जं अज्जो आणवेदि। (तथा कृत्वा) अज्ज! लिहिदं। (यदार्य आज्ञापयति। आर्य! लिखितम्।)

शकारः— (स्वगतम्) हीमादिके, उत्तलाअंतेण विअ पाअशपिंडालकेण अज्ज मए अत्ता एव्व णिण्णाशिदो। भोदु, एव्व दाव। (प्रकाशम्) अहो अधिअलणभोइआ! णं भणामि, मए ज्जेव दिश्टा। किं कोलाहलं कलेध?। (आश्चर्यम्, त्वरां कुर्वाणेनेव पायसपिण्डारकेणाद्य मयात्मैव निर्नाशितः। भवतु। एवं तावत्, अहो अधिकरणभोजकाः! भणामि, मयैव दृष्टा। किं कोलाहलं कुरुत?।) (इति पादेन लिखितं प्रोञ्छति)

अधिकरणिकः— कयं त्वया ज्ञातं यथा खल्वर्थनिमित्तं बाहुपाशेन व्यापादिता?।

शकारः— हंहो, णूणं पडिशूणाए मोघट्ठाणाए गीवालिआए णिशुवण्णकेहिं आहलणट्ठाणेहिं तक्केमि। (हंहो, नूनं परिशून्यया मेघस्थानया ग्रीवालिकया निःसुवर्णकैराभरण- स्थानैस्तर्कयामि।)

श्रेष्ठिकायस्थौः— जुज्जदि विअ। (युज्यत इव।)

शकारः— (स्वगतम्) दिश्टिआ पच्चुज्जीविद म्हि। अविद मादिके। (दिष्ट्या प्रत्युज्जीवितोऽस्मि। अविद मातिके।)

श्रेष्ठिकायस्थौ— भो! कं एसो ववहारो अवलंबदि?। (भोः, कमेष व्यवहारोऽवलम्बते?।)

अधिकरणिकः— इह हि द्विविधो व्यवहारः।

श्रेष्ठिकायस्थौ— केरिसो?। (कीदृशः?।)

अधिकरणिकः— वाक्यानुसारेण अर्थानुसारेण च। यस्तावद्वाक्यानुसारेण, स खल्वर्थिप्रत्यर्थिभ्यः। यश्चार्थानुसारेण स चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः।

श्रेष्ठिकायस्थौ— ता वसंतसेणामादरं अवलंबदि ववहारो। (तद्वसन्तसेनामातरमवलम्बते व्यवहारः।)

अधिकरणिकः— एवमिदम्। भद्र शोधनक! वसन्तसेनामातरमनुद्वेजन्नाह्वय।

शोधनकः— तधा। (इति निष्क्रम्य, गणिकामात्रा सह प्रविश्य) एदु एदु अज्जा। (तथा, एत्वेत्वार्या।)

वृद्धा— गदा मे दारिआ मित्तघरअं अत्तणो जोव्वणं अनुभविदुं। एसो उण दीहाऊ भणादि-'आअच्छ, अधिअरणिओ सद्दावेदु; ता मोहपरवसं विअ अत्ताणअं अवगच्छामि। हिअअं मे थरथरेदि। अज्ज! आदेसेहि मे अधिअरणमंडवस्स मग्गं। (गता मे दारिका मित्रगृहमात्मनो यौवनमनुभवितुम्। एष पुनर्दीर्घायुर्भणति-'आगच्छ, अधिकरणिक आह्वयति, तन्मोहपरवशमिवात्मानमवगच्छामि। हृदयं मे प्रकम्पते। आर्य! आदिश मह्यमधिकरण- मण्डपस्य मार्गम्।)

शोधनकः—एदु एदु अज्जा। (एत्वेत्वार्या।)

(उभौ परिक्रामतः)

शोधनकः—एदं अधिअरणमंडवं। एत्थ पविसदु अज्जा (एषोऽधिकरणमण्डपः। अत्र प्रविशत्वार्या।)

(इत्युभौ प्रविशतः)

वृद्धा— (उपसृत्य) सुहं तुम्हाणं भोदु भावमिस्साणं। (सुखं युष्माकं भवतु भावमिश्राणाम्।)

अधिकरणिकः— भद्रे! स्वागतम्; आस्यताम्।

वृद्धा— तधा। (तथा।) (इत्युपविष्टा)

शकारः— (साक्षेपम्) आगदाशि वुड्ढकुट्टणि! आगदाशि। (आगतासि वृद्धकुट्टनि! आगतासि।)

अधिकरणिकः— अये, त्वं किल वसन्तसेनाया माता।

वृद्धा— अध इं। (अथ किम्)

अधिकरणिकः— अथेदानीं वसन्तसेना क्व गता?।

वृद्धा— मित्तघरअं। (मित्रगृहम्।)

अधिकरणिकः— किंनामधेयं तस्या मित्रम्?।

वृद्धा— (स्वगतम्) हद्धी हद्धी; अदिलज्जणीअं खु एदं। (प्रकाशम्) जणस्स पुच्छणीओ अअं अत्थो, ण उण अधिअरणिअस्स। (हा धिक् हा धिक्, अतिलज्जनीयं खल्विदम्। जनस्य पृच्छनीयोऽयमर्थः, न पुनरधिकरणिकस्य।)

अधिकरणिकः— अलं लज्जया; व्यवहारस्त्वां पृच्छति।

श्रेष्ठिकायस्थौ— ववहारो पुच्छदि। णत्थि दोसो, कधेहि। (व्यवहारः पृच्छति। नास्ति दोषः, कथय।)

वृद्धा— कधं ववहारो?। जइ एव्वं, ता सुणंतु अज्जमिस्सा। सो खु सत्थवाहविणअदत्तस्स णत्तिओ, साअरदत्तस्स तणओ, सुगहीदणामहेओ अज्जचारुदत्तो णाम, सेट्ठिचत्तरे पडिवसदि। तहिं मे दारिआ जोव्वणसुहं अणुभवति। (कथं व्यवहारः?। यद्येवं, तदा श्रृण्वन्त्वार्यमिश्राः। स खलु सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता, सागरदत्तस्य तनयः, सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तो नाम, श्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति। तत्र मे दारिका यौवनसुखमनुभवति।)

शकारः— शुदं अज्जेहिं?। लिहीअंदु? एदे अक्खला। चालुदत्तेण शह मम विवादे (श्रुतमार्यैः? लिख्यन्तामेतान्यक्षराणि। चारुदत्तेन सह मम विवादः।)

श्रेष्ठिकायस्थौ— चारुदत्तो मित्तो त्ति णत्थि दोसो। (चारुदत्तो मित्रमिति नास्ति दोषः।)

अधिकरणिकः— व्यवहारोऽयं चारुदत्तमवलम्बते।

श्रेष्ठिकायस्थौ— एव्वं विअ। (अवमिव।)

अधिकरणिकः— धनदत्त! वसन्तसेनार्यचारुदत्तस्य गृहं गतेति लिख्यतां व्यवहारस्य प्रथमः पादः। कथमार्यचारुदत्तोऽप्यस्माभिराह्वाययितव्यः?। अथवा व्यवहारस्तमाह्वयति। भद्र शोधनक! गच्छ। आर्यचारुदत्तं स्वैरमसंभ्रान्तमनुद्विग्नं सादरमाह्वय प्रस्तावेन—'अधिकरणिकस्त्वां द्रष्टुमिच्छति' इति।।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः, चारुदत्तेन सह प्रविश्य च)

एदु एदु अज्जो। (यदार्य आज्ञापयति। एत्वेत्वार्यः।)

चारुदत्तः—(विचिन्त्य)

परिज्ञातस्य मे राज्ञा शीलेन च कुलेन च।
यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिशंकते।।८।।

अर्थः—

शकार— अच्छा कहता हूँ। अपराध कर देने पर भी मेरा कोई कुछ नहीं कर सकेगा, तो खुश हुए उन जीजा जी ने मुझे, विहार एवं रक्षा के लिए सभी बगीचों में श्रेष्ठ पुष्प–करण्डक नामक जीर्णोद्यान दिया है। और वहाँ मैं प्रतिदिन देखभाल करने के लिये, सफाई करने के लिए, खाद आदि डालने के लिए तथा कटवाने छँटवाने के लिए जाता हूँ। संयोगवश मैंने वहाँ स्त्री का एक शरीर पड़ा देखा अथवा नहीं देखा।

अधिकरणिक— अच्छा, यह कुछ मालूम पड़ता है कि कौन स्त्री मरी है?

शकार— अहो! न्यायाधीश महोदय! प्रसिद्ध सुन्दरी, नगर की शोभा, सोने के आभूषणों से सुसज्जित उसको क्यों नहीं जानता हूँ? कलेवे जैसे तुच्छ धन के लिए किसी दुर्जन आदमी ने सूने पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में घुस कर बाहु–पाश से बलपूर्वक (दबाकर) वसन्तसेना को मार दिया। मैंने नहीं। (ऐसा आधा करने पर ही मुँह ढक लेता है)।

अधिकरणिक— नगर की रखवाली करने वाले सिपाहियों को असावधानी आश्चर्यजनक है। हे श्रेष्ठि कायस्थ! 'मैंने नहीं' (न मया)' यह अभियोग–शब्द पहले लिख लीजिए।

कायस्थ— जैसी आप की आज्ञा। (लिख कर) श्रीमान् जी! लिख लिया।

शकार– (अपने आप) आश्चर्य है! जल्दी करते हुए मैंने (गरम–गरम) खीर पीने वाले व्यक्ति की भाँति अपना ही नाश कर लिया। अच्छा। तो ऐसा (कहूँ) माननीय न्यायाधीश महोदय! मैं तो यह कहता हूँ कि 'मैंने ही देखा।' क्या हल्ला मचा रहे हो? (ऐसा कह कर लिखे हुए को पैर से पोंछ देता है)।

अधिकरणिक– यह तुमने कैसे जाना कि–'धन के लिए बाहु पाश से मारी गयी?

शकार– श्रीमान् जी! उसकी सूनी एवं खाली गर्दन तथा आभूषण पहनने के स्थानों को सोने की आभूषणा से खाली होने से ऐसा अनुमान करता हूँ।

श्रेष्ठी-कायस्थ– सही सा लगता है (अर्थात् हो सकता है)।

शकार– (अपने आप) सौभाग्य से मैं फिर जीवित सा हो गया हूँ। सन्तोष है।

श्रेष्ठ-कायस्थ– अच्छा यह मुकदमा (व्यवहार) किसी पर आश्रित है अर्थात् इसमें कौन अपराधी है?

अर्थः–

अधिकरणिक– यहाँ दो तरह का व्यवहार है?

श्रेष्ठि-कायस्थ– कैसा?

अधिकरणिक– वादी–प्रतिवादी के बयान के अनुसार होने वाला एवं सही तथ्य के अनुसार होने वाला। जो बयान के अनुसार होता है वह तो वादी–प्रतिवादी (की युक्तियों) से तथा जो सही तथ्य के अनुसार होता है वह न्यायाधीश की अपनी बुद्धि से निर्णय करने के लायक होता है।

श्रेष्ठि-कायस्थ– तब तो यह मुकदमा (व्यवहार) वसन्तसेना की माता पर आश्रित होता है।

अधिकरणिक– ऐसा ही है। भले आदमी शोधनक! वसन्तसेना की माता को बुला लाओ। और उनसे कह देना कि घबड़ाने की जरूरत नहीं है।

शोधनक–बहुत अच्छा (ऐसा कह कर, निकल कर फिर वेश्या वसन्तसेना की माता के साथ प्रवेश करके) आइये, आइये, श्रीमती जी।

वृद्धा– मेरी बेटी वसन्तसेना मित्र चारुदत्त के घर अपनी युवावस्था का आनन्द लेने के लिए गयी है। और यह दीर्घायु कहता है–'आओ न्यायाधीश बुला रहे हैं।' इस लिए मैं अपने को मूर्छित सी महसूस कर रही हूँ। मेरा कलेजा काँप रहा है। आर्य! मुझे न्यायालय का रास्ता बतलाइए।

शोधनक– आइये, इधर से आइये श्रीमती जी।

(दोनों घूमते हैं)

शोधनक– यह न्यायालय है। आप इसमें प्रवेश करें।

(इसके बाद दोनों प्रवेश करते हैं)

वृद्धा– (पास जाकर) विद्वानों में श्रेष्ठ आप लोगों का कल्याण हो।

अधिकरणिक– भली महिला (आप का) स्वागत है। बैठिये।

वृद्धा– अच्छा। (बैठ जाती है)

शकार– (आक्षेप पूर्वक) आ गयी बूढ़ी कुट्टनी आ गयी?

अधिकरणिक– अजी, तुम वसन्तसेना की माता हो?

वृद्धा– जी हाँ।

अधिकरणिक– अच्छा, इस समय वसन्तसेना कहाँ गयी है?

वृद्धा— मित्र के घर।

अधिकरणिक— उसके मित्र का क्या नाम है?

वृद्धा— (अपने आप) हाय, हाय! यह (बात) अत्यन्त लज्जाजनक है। (प्रकट रूप में) यह बात साधारण व्यक्ति के पूछने लायक है, न्यायाधीश के नहीं।

अधिकरणिक— लजाने की बात नहीं। मुकदमा (व्यवहार) तुम से पूछ रहा है (न कि मैं)।

श्रेष्ठि-कायस्थ— मुकदमा (व्यवहार) पूछता है। कोई दोष नहीं है। कहो।

वृद्धा— क्या मुकदमा (व्यवहार)? यदि ऐसी बात है तो आदरणीय आप लोग सुनें। वह सार्थवाह विनयदत्त के नाती, सागरदत्त के पुत्र, प्रातःस्मरणीय आर्य चारुदत्त हैं, जो सेठों के चौक में रहते हैं। वहाँ मेरी बेटी जवानी का आनन्द ले रही है।

शकार— सुना श्रीमानों ने? लिखिये इन अक्षरों को। चारुदत्त के साथ मेरा विवाद है।

श्रेष्ठी-कायस्थ— चारुदत्त (वसन्तसेना) का मित्र है, यह कोई दोष नहीं है।

अधिकरणिक— यह मुकदमा (व्यवहार) चारुदत्त पर आश्रित होता है।

श्रेष्ठी-कायस्थ— हाँ, ऐसा ही है।

अधिकरणिक— धनदत्त! (यह कायस्थ का नाम है), 'वसन्तसेना आर्य चारुदत्त के घर गयी है' व्यवहार के इस पहले चरण को लिखिये। क्या हमें आर्य चारुदत्त को भी बुलाना पड़ेगा? अथवा मुकदमा (व्यवहार) उनको बुला रहा है। भले आदमी शोधनक! जाओ! 'प्रसंगवश न्यायाधीश आपको देखना चाहते हैं' ऐसा कहकर आर्य चारुदत्त को बुला लाओ। उनसे यह भी कहना कि वे धीरे-धीरे, बिना घबड़ाये एवं बिना चिन्ता किये आवें।

शोधनक— जैसी आर्य आज्ञा देते हैं (ऐसा कहकर निकलकर और चारुदत्त के साथ प्रवेश करके) आइए, आर्य, आइए

अन्वयः— राज्ञा, शीलेन, च, कुलेन, च, परिज्ञातस्य, मे, यत्, इदम्, आह्वानम्, (अस्ति, तत्) सत्यम्, अवस्थाम्, अभिशंकते।।८।।

शब्दार्थः— राज्ञा = राजा के द्वारा, शीलेन = स्वभाव से, च = और, कुलेन = कुल से, च = भी, परिज्ञातस्य = भली-भाँति जाने गये, मे = मेरा, यत् = जो, इदम् = यह, आह्वानम् = बुलावा (अस्ति = है, तत् = वह), सत्यम् = सचमुच, अवस्थाम् = अवस्था को, अभिशंकते = सन्देह करता है।

अर्थः—

चारुदत्त— (सोचकर) राजा के द्वारा स्वभाव एवं कुल से भली-भाँति जाने गये मेरा जो यह बुलावा है वह सचमुच दरिद्रता के कारण शंका पैदा कर रहा है। (क्योंकि दोष गरीबों पर ही मढ़े जाते हैं।)।।८।।

टीका— राज्ञा = नृपेण, राजप्रतिनिधिभूतेन, न्यायाधीशेनेति यावत्; शीलेन = स्वभावेन; च = तथा; कुलेन = सद्वंशेनेत्यर्थः चापि, परिज्ञातस्य = परिचितस्य; मे = मम, चारुदत्तस्येति यावत्; यदिदम् = सम्प्रत्येव प्राप्तम्; आह्वानम् = आकारणम्; अस्ति, तत् = आह्वानमित्यर्थः; सत्यम् = निश्चितम्; अवस्थाम् = दशाम्, 'दरिद्रावस्थामित्यर्थः; अभिशंकते = आशंकते।।८।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।८।।

(सवितर्कं, स्वगतम्)

ज्ञातो नु किं स खलु बन्धनविप्रयुक्तो
मार्गागतः प्रवहणेन मयापनीतः।
चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा
येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि।।९।।

अन्वयः— बन्धनविप्रयुक्ताः, मार्गागतः, सः, मया, प्रवहणेन, अपनीतः, (अयम्, विषयः), किम्, नु, खलु, चारेक्षणस्य, नृपतेः, ज्ञातः, वा, श्रुतिम्, आगतः; येन, अहम्, अभियुक्तः, इव, एवम्, प्रयामि।।९।।

शब्दार्थः— बन्धनविप्रयुक्तः = कारागार से छूटा हुआ, मार्गागतः = मार्ग के क्रम से आया हुआ, सः = वह (आर्यक) मया = मेरे द्वारा, प्रवहणेन = गाड़ी से, अपनीतः = दूसरी जगह पहुँचा दिया गया, (अयम् = यह, विषयः = विषय), किम् = क्या, नु = यह सोचने विचारने की अवस्था को सूचित करने के लिए आया है, खलु = यह वाक्य को सुन्दर बनाने के लिए आया है; चारेक्षणस्य = दूत रूपी आँखों वाले, नृपतेः = राजा को, ज्ञातः = मालूम हो गया? वा = अथवा श्रुतिम् = (उनके) कान को, आगतः = पहुँच गया? येन = जिससे, अहम् = मैं, अभियुक्तः = अपराधी, इव = जैसा, एवम् = इस प्रकार, प्रयामि = जा रहा हूँ।।

(तर्क–वितर्क के साथ अपने आप)

अर्थः— कारागार से छूटा हुआ आर्यक रास्ते में मेरे पास आया और मैंने अपनी गाड़ी से उसे दूसरी जगह पहुँचा दिया– क्या यह बात दूत रूपी आँखों वाले राजा को मालूम हो गयी अथवा उन्होंने सुन लिया। जिससे कि मैं अपराधी के समान इस प्रकार (न्यायालय में) जा रहा हूँ।।६।।

टीका— बन्धनात् = कारागृहात् विप्रयुक्तः = मुक्तः, निःसृत्य पलायितः इत्यर्थः; मार्गेण = पथा; मार्गक्रमेण, आगतः = आयातः, मम समीपे प्राप्तः; सः = आर्यकः; मया = चारुदत्तेन; प्रवहणेन = शकटेन; अपनीतः = स्थानान्तरं प्रापितः, अयं विषयः, किम्; नु = वितर्के, खल्विति वाक्यालंकारे; चाराः = दूताः एव ईक्षणम् = नयनम् यस्य तस्य; नृपतेः = राज्ञः, ज्ञातः = विदितः; वा = अथवा; श्रुतिम् = श्रवणम्, आगतः = प्रातः कर्णपरम्परया श्रुतः वेत्यर्थः; येन = येन हेतुना, अहम् = चारुदत्तः, अभियुक्तः = अपराधस्य सम्पादनेन अभियोगदूषितः जनः इव, एवम् = इत्थम्, अधिकरणिकेन आकृतः सन्; प्रयामि = अधिकरणमण्डपं गच्छामि।।६।।

इस श्लोक में रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है–वसन्ततिलका।।६।।

अथवा किं विचारितेन?। अधिकरणमण्डपमेव गच्छामि। भद्र शोधनक! अधिकरणस्य मार्गमादेशय।

शोधनकः— एदु एदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः।)

(इति परिक्रामतः)

चारुदत्तः— (सशंकम्) तत्किमपरम्?

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽय-
ममात्यभृत्या मुहुराह्वयन्ति।
सव्यं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य
ममानिमित्तानि हि खेदयन्ति।।१०।।

अर्थः— अथवा विचार करने से क्या लाभ? न्यायालय में ही चलता हूँ। भले आदमी शोधनक! न्यायालय के मार्ग को बतलाओ।

शोधनक— आइये, आइये, आर्य।

(ऐसा कह कर घूमते हैं)

अन्वयः— अयम्, वायसः, रूक्षस्वरम्, वाशति; अमात्यभृत्याः, मुहुः, आह्वयन्ति; च, सव्यम्, नेत्रम्, च, स्फुरति; अनिमित्तानि, हि प्रसह्य, मम, खेदयन्ति।।१०।।

शब्दार्थः— अयम् = यह, वायसः = कौवा, रूक्षस्वरम् = रूखी बोली में, वाशति = चिल्ला रहा है। अमात्यभृत्याः = मन्त्रियों के सेवक (अर्दली), मुहुः = बार–बार, आह्वयन्ति = बुला रहे हैं। सव्यम् = बायीं, नेत्रम् = आँख, च = भी, स्फुरति = फड़क रही है। अनिमित्तानि = अपशकुन, हि = निश्चित ही, प्रसह्य = जबर्दस्ती, मम = मुझे, खेदयन्ति = उदास बना रहे हैं।

अर्थः—

चारुदत्त— (शंका के साथ) तब यह और क्या?

यह कौआ रूखी बोली में चिल्ला रहा है, मन्त्रियों के सेवक बार–बार बुला रहे हैं तथा मेरी बायीं आँख फड़क रही है और ये अपशकुन जबर्दस्ती मुझे उदास बना रहे हैं।।१०।।

टीका— अयम् = पुरो वर्तमानः इत्यर्थ; वायसः = काकः, रूक्षस्वरम् = नीरसशब्दम्, कर्कशं तथा तथेति यावत्; वाशति = शब्दायते! अमात्यानाम् = राजनियुक्तानाम् अधिकरणभोजकानाम् भृत्याः = सेवकाः, सम्प्रतिव्यवहारे 'अर्दली' तिख्याताः न्यायालयभृत्याः; मुहुः = बारम्बारम्; आह्वयन्ति = आकारयन्ति। सव्यम् = वामम्, नेत्रम् = लोचनञ्च; स्फुरति = स्पन्दते; पुरुषाणां वामनयनस्य स्फुरणमशुभसूचकं शास्त्रे वर्णितमस्ति। किमधिकम्? अनिमित्तानि = अपशकुनानि, दुर्लक्षणानि; हि = निश्चितम्; प्रसह्य = बलात्; मम = मां चारुदत्तमित्यर्थः; खेदयन्ति = क्लेशयन्ति।।१०।।

इस श्लोक में समुच्चयालंकार एवं उपजाति छन्द है।।१०।।

शोधनकः—एदु एदु अज्जो सैरं असंभंतं। (एत्वेत्वार्यः स्वैरमसंभ्रान्तम्।)

चारुदत्तः— (परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य च)

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्याभिमुखस्तथा।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम्।।११।।

अर्थः—

शोधनक—आप बिना घबराहट के एवं स्वतन्त्रता के साथ आइये।

अन्वयः— शुष्कवृक्षस्थितः, तथा, आदित्याभिमुखः ध्वाङ्क्षः, मयि, वामम्, चक्षुः, चोदयते; असंशयम्, घोरम्, (वर्तते)।।११।।

शब्दार्थः— शुष्कवृक्षस्थितः = सूखे वृक्ष पर बैठा हुआ, तथा = और, आदित्याभिमुखः = सूर्य की ओर मुँह किये हुए, ध्वाङ्क्षः = कौवा, मयि = मेरे ऊपर, वामम् = बायीं, चक्षुः = आँख, को चोदयते = डाल रहा है। असंशयम् = निश्चय ही, घोरम् = भयंकर, विपत्ति (वर्तते = है)।

अर्थः—

चारुदत्त— (घूम कर तथा आगे देख कर)

सूखे वृक्ष पर सूर्य की ओर मुँह करके बैठा हुआ यह कौवा मेरे ऊपर अपनी बायीं आँख डाल रहा है। निश्चय ही कोई भयंकर विपत्ति है।।११।।

टीका— शुष्कवृक्षे = नीरसपादपे स्थितः = वर्तमानः; तथा = एवम्; अभि = अभिगतम्, सम्मुखे वर्तमानमित्यर्थः; मुखम् = आननं यस्य सः अभिमुखः, आदित्यस्य सूर्यस्य अभिमुखः सन्; ध्वाङ्क्षः = काकः; मयि = चारुदत्ते; वामम् = सव्यम्; चक्षुः = नेत्रम्; चोदयते = प्रेरयति; असंशयम् = अवश्यमेव; घोरम् = भयंरम्, दारुणं भयमित्यर्थः;।।११।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।११।।

(पुनरन्यतोऽवलोक्य) अये! कथमयं सर्पः?।

मयि विनिहितदृष्टिर्भिन्ननीलाञ्जनाभः
स्फुरितविततजिह्वः शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः।
अभिपतति, सरोषो जिह्मिताध्मातकुक्षि-
र्भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः।।१२।।

अन्वयः— भिन्ननीलाञ्जनाभः, स्फुरितविततजिह्वः, शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः, मे, मार्गम्, आक्रम्य, सुप्तः, अयम्, भुजगपतिः, सरोषः, जिह्मिताध्मातकुक्षिः, (तथा), मयि, विनिहितदृष्टिः, (सन्), अभिपतति।।१२।।

शब्दार्थः— भिन्ननीलाञ्जनाभः = खूब फैंटे गये काले आँजन के समान रंगवाला, स्फुरितविततजिह्वः = निकली हुई जीभ को लपलपाता हुआ, शुक्लदंष्ट्राचतुष्कः = सफेद–सफेद चार दाँतों वाला, मे = मेरे; मार्गम् = रास्ते को, आक्रम्य = घेर कर, सप्तः = पड़ा हुआ, अयम् = यह, भुजगपतिः = बहुत बड़ा साँप, सरोषः = क्रुद्ध, जिह्मिताध्मातकुक्षिः = टेढ़ा और फूला पेट वाला, (तथा = और) मयि = मुझपर, विनिहितदृष्टिः = आँख लगाने वाला, (सन् = होता हुआ), अभिपतति = इ[redacted] रहा है।।

अर्थः— (फिर दूसरी ओर देख कर) अरे! क्या यह साँप?

खूब फेंटे गये काले आँजन के समान रंग वाला, निकली हुई जीभ को लपलपाता हुआ, सफेद-सफेद चार दात वाल मेरे रास्ते में फैल कर पड़ा हुआ यह बहुत बड़ा साँप क्रोधपूर्वक हवा से फूले हुए पेट को टेढ़ा करता हुआ मुझ पर आँख लगाये मेरी ओर झपट रहा है।।१२।।

टीका— भिन्ननीलाञ्जनाभः–भिन्नम् = मृदितम् नीलम् = नीलवर्णम् यत् अञ्जनम् = कज्जलम् तस्य आभा इव आभा = कान्तिः यस्य तादृशः; स्फुरितविततजिह्वः–स्फुरिता = चञ्चला विततां = विस्तृता, मुखाद्वहिर्निःसारितेत्यर्थः; जिह्वा = रसना यस्य तादृशः; शुक्लम् = शुभ्रम् दंष्ट्राणाम् = दशनानाम्, विषयुक्तानामिति यावत्; चतुष्कम् = चतुष्टयम् यस्य सः मम मार्गम् = पन्थानम्; आक्रम्य = अभिव्याप्येत्यर्थः; सुप्तः = पतितः इत्यर्थः; सुप्तः इत्यस्य निद्राणः इत्यर्थे अभियुक्तानां पाठे अयम् = पुरो वर्तमानः; भुजगानाम् = सर्पाणाम् पतिः = स्वामी; विशालकायः सर्पः इति यावत्; सरोषः–रोषण क्रोधेन सहितः = युक्तः सरोषः = क्रुद्धः; अतः; जिह्मितः = वक्रीकृतः आध्यामातः = वायुना पूरितः कुक्षिः = उदरम् यस्य तादृशः; तथा मयि = चारुदत्ते; विनिहता = समर्पिता दृष्टिः = लोचनं येन तथा भूतः सन् अभिपतति = अभिमुखमागच्छति आक्रमणं करोतीत्यर्थः।।१२।।

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार एवं मालिनी छन्द है।।१२।।

अपि च, इदम्

स्खलति चरणं भूमौ न्यस्तं न चार्द्रतमा मही
स्फुरति नयनं वामो बाहुर्मुहुश्च विकम्पते।
शकुनिरपरश्चायं तावद्विरौति हि नैकशः
कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा।।१३।।

अन्वयः— भूमौ, न्यस्तम्, चरणम्; स्खलति; मही, च, आर्द्रतमा, न, (वर्तते), नयनन्, स्फुरति; वामः, बाहुः, च, मुहुः, विकम्पते; अयम् अपरः, शकुनिः, च, तावत्, नैकशः विरौति; (एतत्, सर्वम्), महाघोरम्, मृत्युम्, कथयति; अत्र, च, विचारणा, न (अस्ति)।।१३।।

शब्दार्थः— भूमौ = जमीन पर, न्यस्तम् = रखा हुआ, चरणम् = पैर, स्खलित = फिसल रहा है। मही = भूमि, च = भी, आर्द्रतमा = अधिक गीली, न = नहीं, (वर्तते = हैं)। नयनम् = (बायीं) आँख, स्फुरति = फड़क रही है। वाम = बाँया बाहु = बाहु। च = भी, मुहुः = बार–बार, विकम्पते = काँप रहा है। अयम् = यह, अपरः = दूसरा, शकुनि = पक्षी, च = भी, तावत् = वस्तुतः, नैकशः = बारम्बार, विरौति = चिल्ला रहा है। (एतत् = यह, सर्वम् = सब), महाघोरम् = भयंकर, मृत्युम् = मृत्यु को, कथयति = कह रहा है, सूचना दे रहा। अत्र = इसमें, विचारणा = विचार सन्देह, न = नहीं, (अस्ति = है)।।१३।।

अर्थः— और भी, यह –

जमीन पर रखा हुआ पैर फिसल रहा है–किन्तु भूमि भी गीली नहीं है। (बायीं) आँख फड़क रही है तथा बाँया बाहु बार–बार काँप रहा है। और यह दूसरा पक्षी भी बारम्बार चिल्ला रहा है। ये सब भयंकर मृत्यु की सूचना दे रहे हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।।१३।।

टीका— भूमौ = पृथिव्याम्; न्यस्तम् = स्थापितम्; दत्तमिति यावत्; चरणम् = पादः, स्खलति = भ्रश्यति। मही = पृथिवी च = अपि; आर्द्रतमा = अत्यधिकम् जलक्लिन्ना अत्यार्द्रा इत्यर्थः; न वर्तते = नास्ति। नयनम् = नेत्रम्; स्फुरति = स्पन्दते पुरुषाणां वामनेत्रस्फुरणं न शुभावहमित्युक्तं पुरा। वामः = दक्षिणेतरः; विकम्पते = स्फुरति। पराजयसूचकमेतत्। अयम् = पुरो वर्तमानः; अपरः = काकातिरिक्तः कश्चिदन्यः; शकुनिः = पक्षिश्चः तावत् नैकशः = मुहुः, विरौति = विकट शब्दायते; रुदतीत्यर्थः। एतत्सर्वं महाघोरम् = अतिभयंकरम्; मृत्युम् = मरणम्; कथयति = निर्दिशति। अत्र = अस्मिन् विषये; विचारणा = तर्कः; सन्देहः इति भावः; न = नास्ति।।१३।।

इस श्लोक में विभावना एवं काव्यलिंग अलंकार तथा हरिणी छन्द है। छन्द का लक्षण– नसमरैसला गः षड्वेदै र्हयैर्हरिणी मता।।१३।।

सर्वथा देवताः स्वस्ति करिष्यन्ति।

शोधनकः– एदु एदु अज्जो। इमं अधिअरणमंडवं पविसदु अज्जो। (एत्वेत्वार्यः। इममधिकरणमण्डपं प्रविशत्वार्यः।)

चारुदत्तः–(प्रविश्य, समन्तादवलोक्य) अहो, अधिकरणमण्डपस्य परा श्रीः। इह हि

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशंखाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककंकपक्षिरचितं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते।।१४।।

अर्थः– सब प्रकार से देवता कल्याण करेंगे।

शोधनक– आर्य! आइये, आइये। यह न्यायालय है। आप इसमें प्रवेश करें।

चारुदत्त– (घुसकर और चारों ओर देखकर) अहा! न्यायालय की अत्यन्त अच्छी शोभा है। क्योंकि यहाँ–

अन्वयः– चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसंलिलम्, दूतोर्मिशंखाकुलम्; पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरम्, नागाश्वहिंस्राश्रयम्, नानावाशककंकपक्षिरचितम्, कायस्थसर्पास्पदम्, नीतिक्षुण्णतटम् च, राजकरणम्, हिंस्रैः, समुद्रायते।।१४।।

शब्दार्थः– चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलम् = सोच–विचार में लगे एवं डूबे हुए मन्त्री ही जिनमें जल है; दूर्तोर्मिशंखाकुलम् = जो लहर तथा शंख जैसे दूतों से भरा है, पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरम् = जहाँ चारों ओर (न्यायालय के किनारों पर) रहने वाले गुप्तचर ही नक्र और मगर हैं, नागाश्वहिंस्राश्रयम् = जहाँ हाथी घोड़े रूपी भयंकर जन्तु मौजूद हैं, नानावाशकक–कंपक्षिरचितम् = जो बहुत तरह से बोलने वाले (वादी–प्रतिवादी रूपी) ककंपक्षियों से भरा हुआ है, कायस्थसर्पास्पदम् = कायस्थरूपी साँपों का घर, नीतिक्षुण्णतटम् = राजनीति से टूटा हुआ है किनारा जिसका ऐसा, राजकरणम् = कचहरी, हिंस्रैः = घातक लोगों के कारण, समुद्रायते = समुद्र के समान लग रहा है।।

अर्थः– सोच–विचार में लगे एवं डूबे हुए मन्त्री ही जिमसें जल हैं, जो लहर तथा शंख जैसे दूतों से भरा है, जहाँ चारों ओर रहने वाले गुप्तचर ही नक्र और मगर हैं, जहाँ हाथी–घोड़े रूपी भयंकर जन्तु मौजूद हैं, जो बहुत तरह से बोलने वाले (वादी–प्रतिवादी रूपी) कंक पक्षियों से भरा हुआ है, कायस्थ रूपी साँपों का घर, राजनीति से टूटा हुआ है किनारा (मर्यादा) जिसका ऐसा यह राजकरण (कचहरी) घातक लोगों के कारण समुद्र के समान लग रहा है।।१४।।

टीका– चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलम्–चिन्तायाम् = तत्त्वार्थविनिर्णयविचारणे, आसक्ताः = संलग्नाः, अत एव निमग्नाः = तल्लीनाः, मन्त्रिणः = परामर्शदातारः, दूताः = संदेशहराः, एव ऊर्मयः = वीचयः, शंखाः = कम्बवश्च, अथवा ऊर्म्यूढाः शंखाः, तैः आकुलम् = परिव्याप्तम्; पर्यन्तेषु = प्रान्तभागेषु, स्थिताः = वर्तमानाः, चाराः = गूढपुरुषाः, गुप्तचराः इत्यर्थः, ते एव नक्राः = कुम्भीराः, मकराः = स्वनाम–प्रसिद्धाः जलजन्तुविशेषाश्च यत्र तत्; नागाः = हस्तिनः अश्वाः = वाजिनश्च ते एव हिंस्राः = हिंस्रजन्तवः तेषाम् आश्रयः = स्थितिः, नाना = बहुविधाः, वाश्यन्ते इति वाशकाः = शब्दं कुर्वन्तः वादिप्रतिवादिजनाः एव कंकपक्षिणः = मांसप्रियाः पक्षिविशेषाः तैः रचितम् = व्याप्तम्। कायस्थाः = लेखनोपजीविनः इत्यभिप्रायः, ते एव सर्पाः = भुजगाः, तेषाम् आस्पदम् = स्थानम् उभयत्र कौटिल्येन साम्यमवगन्तव्यम्। नीतिः = नयः, सामादिरूपः इत्यर्थः, तया क्षुण्णम् = भग्नम्, तटम् = मर्यादा यस्य तत्; चेतिपादपूरकम्; राजकरणम् = न्यायाधिकरणम्, हिंस्रैः = हिंसाशीलैः प्राणिभिः; समुद्रायते = समुद्रः इव आचरति।।१४।।

इस श्लोक में उपमा एवं रूपक अलंकार का संकर है तथा प्रयुक्त छन्द का नाम है–शार्दूलविक्रीडित।।१४।।

भवतु। (प्रविशञ्छिरोभिघातमभिनीय, सवितर्कम्) अहह, इदमपरम्

सव्यं मे स्पन्दते चक्षुर्विरौति वायसस्तथा।
पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं, स्वस्ति चास्मासु दैवतः।।१५।।

अन्वयः— मे, सव्यम्, चक्षुः, स्पन्दते; तथा, वायसः, विरौति; अयम्, पन्थाः, सर्पेण, रुद्धः, अस्मासु, दैवतः, स्वस्ति, (भविष्यति) १५।

शब्दार्थः— मे = मेरी, सव्यम् = बाँयी, चक्षुः = आँख, स्पन्दते = फड़क रही है। तथा = और, वायसः = कौवा, विरौति = चिल्ला रहा है। पन्थाः = रास्ता, सर्पेण = साँप से, रुद्धः = रुका हुआ है, अस्मासु = मेरे ऊपर अर्थात् मेरा, दैवत = भाग्य से, स्वस्ति = कल्याण, (भविष्यति = होगा)।।

अर्थः— अच्छा। (प्रवेश करते हुए शिर टकराने का अभिनय करके सोच–विचार के साथ) ओह, यह दूसरा (अपशकुन) - मेरी बायीं आँख फड़क रही है तथा कौवा चिल्ला रहा है एवं रास्ता साँप से रुका हुआ है। मेरा भाग्य से ही कल्याण होगा।।१५।।

टीका— मे = मम, चारुदत्तस्येत्यर्थः, सव्यम् = वामम्; चक्षुः = नेत्रम्; स्पन्दते = स्फुरति। तथा वायसः = काकः; विरौति = रूक्ष शब्दं करोतीत्यर्थः। अयम् = एषः, पुरोवर्तमानः; पन्थाः = मार्गः; सर्पेण = अहिना, रुद्धः आक्रान्तः; अस्तीतिशेषः। अस्मासु = अस्माकमित्यर्थः; दैवतः = भाग्यादेव; स्वस्ति = कल्याणं भविष्यतीति।।१५।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।१५।।

तावत्प्रविशामि। (इति प्रविशति)

अधिकरणिकः— अयमसौ चारुदत्तः। य एषः

घोणोन्नतं मुखमपांगविशालनेत्रं
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम्।
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्।।१६।।

अन्वयः— घोणोन्नतम्, अपांगविशालनेत्रम्, एतत्, मुखम्, हि, अकारणदूषणानाम्, भाजनम्, न, (भवितुम्, शक्नोति); (यतः) नागेषु, गोषु, तुरगेषु, तथा नरेषु, आकृतिः, सुसदृशम्, वृत्तम्, नहि, विजहाति।।१।६।

शब्दार्थः— घोणोन्नतम् = ऊँची नाक से युक्त, अपांगविशालनेत्रम् = विशाल कोनों वाली आँखों से युक्त, एतत् = यह, मुखम् = मुँह, हि = निश्चय ही, अकारण–दूषणानाम् = विना कारण के ही, अपराधों का, भाजनम् = पात्र (अर्थात् कर्ता), न = नहीं, (भवितुं शक्नोति = हो सकता है)। (यतः = क्यों कि), नागेषु = हाथियों में, गोषु = गायों या बैलों में, तुरगेषु = घोड़ों में, तथा = और, नरेषु = मनुष्यों में, आकृतिः = चेहरा (आकार), सुसदृशम् = अपने योग्य, वृत्तम् = आचरण को, नहि = नहीं, विजहाति = त्यागता है।।

अर्थः— तो प्रवेश करता हूँ (ऐसा कह कर प्रवेश करता है)

अधिकरणिक— यह है वह चारुदत्त। जो यह–

ऊँची नाक से युक्त तथा विशाल कानों वाली आँखों से युक्त यह मुँह (अर्थात् चारुदत्त) निश्चय ही बिना कारण के अपराधों को कर्ता नहीं हो सकता। क्योंकि हाथी, गाय, घोड़ा तथा मनुष्य का चेहरा (आकार) अपने योग्य आचरण का त्याग नहीं करता (अर्थात् सुन्दर चेहरा अनुचित काम नहीं कर सकता)।।१६।।

टीका— घोणा = नासिका, उन्नता = उद्गता यस्मिन् तत्, घोणया नासिका उन्नतम् = ऊर्ध्वगतम् वा; शुकचञ्चुवत्प्रशस्तनासिकमित्यर्थः; अपांगयोः = नेत्रान्तयोः विशाले = दीर्घे नेत्रे = नयने यत्र तादृशम्; एतेन नेत्रयोः दीर्घत्वमुक्तम्; एतत् = चारुदत्त–सम्बन्धि।; मुखम् = आननम्; हि = निश्चितम्; अकारणेन = हठेन, अरोपितानाम् = दोषाणाम्, अपराधानामित्यर्थः भाजनम् =

पात्रम्, कर्त्ता इति यावत्; नहि भवितुं शक्नोतीति शेषः। यतः नागेषु = गजेषु; गोषु = वृषभेषु धेनुषु च; तुरगेषु = अश्वेषु, तथा = अपि च; नरेषु = मनुष्येषु; आकृतिः = आकारः; शरीरनिर्माणमित्यर्थः; सुसदृशम् = योग्यम्; आकृत्यनुसारमित्यर्थः; वृत्तम् = अचारणम्; नहि विजहाति = नहि त्यजति।।

इस श्लोक में दीपक तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।१६।।

चारुदत्तः—भोः! अधिकृतेभ्यः स्वस्ति। एंहो नियुक्ताः! अपि कुशलं भवताम्?।

अधिकरणिकः— (ससंभ्रमम्) स्वागतमार्यस्य। भद्र शोधनक! आर्यस्यासनमुपनय।

शोधनकः—(आसनमुपनीय) इदं आसणं। एत्थ उवविसदु अज्जी। (इदमासनम्। अत्रोपविशत्वार्यः।)

(चारुदत्त उपविशति)

शकारः— (सक्रोधम्) आगदेशि ले इश्तिआघादआ! आगदेशि?। अहो णाए ववहालेः धम्मे ववहाले जं एदाह इश्थिआघादकाह आशणे दीअदि। (सगर्वम्) भोदु णं दीअदु। (आगतोऽसि रे स्त्रीघातक! आगतोऽसि?। अहो न्याय्यो व्यवहारः, अहो धर्म्यो व्यवहारः; यदेतस्मै स्त्रीघातकायासनं दीयते। भवतु, ननु दीयताम्।)

अधिकरणिकः— आर्य चारुदत्त! अस्ति भवतोऽस्या आर्याया दुहित्रा सह प्रसक्तिः प्रणयः प्रीतिर्वा?।

चारुदत्तः— कस्याः?।

अधिकरणिकः— अस्या। (इति वसन्तसेनामातरं दर्शयति)

चारुदत्तः— (उत्थाय) आर्ये! अभिवादये।

वृद्धा— जाद! चिरं मे जीव। (स्वगतम्) अअं सो चारुदत्तो। सुणिक्खित्तं खु दारिआए जोव्वणं। (जात! चिरं मे जीव। अयं स चारुदत्तः। सुनिक्षिप्तं खलु दारिकया यौवनम्।)

अधिकरणिकः— आर्य! गणिका तव मित्रम्?।

(चारुदत्तो लज्जां नाटयति)

शकारः—

लज्जाए भीलुदाए वा चालित्तं अलिए णिगूहिदुं।
शअं मालिअ अत्थकालणाए दाणिं गूहदि ण तं हि भश्टके।।१७।।

(लज्जया भीरुतया वा चारित्रमलीकं निगूहितुम्।
स्वयं मारयित्वार्थकारणादिदानीं गूहति न तद्धि भट्टकः।।)

अर्थः—

चारुदत्त— अधिकारियों का कल्याण हो। कर्मचारियों! आप लोग कुशल से तो हैं?

अधिकरणिक— (जल्दी के साथ) आर्य का स्वागत है। भले आदमी शोधनक! आर्य (चारुदत्त) को आसन लाकर दो।

शोधनक— (आसन पास लाकर) यह आसन है। आप इस पर बैठें। (चारुदत्त बैठता है)

शकार— (क्रोध के साथ) आ गया रे स्त्री मारने वाला! आ गया? अहो! कैसा न्यायपूर्ण व्यवहार है, कैसा धर्मपूर्ण व्यवहार (मुकदमे का विचार) है, जो कि इस स्त्री मारने वाले को आसन दिया जा रहा है। अच्छा, तो दीजिये।

अधिकरणिक— आर्य चारुदत्त! क्या आपका इन श्रीमती की लड़की (वसन्तसेना) के साथ घनिष्ठ प्रेम, प्रेम अथवा साधारण मित्रता है?

चारुदत्त— किसकी?

अधिकरणिक— इनकी (ऐसा कह कर वसन्तसेना की माता को दिखलाता है)।

चारुदत्त— (उठकर) आर्ये! प्रणाम करता हूँ।

वृद्धा— मेरे बेटे! बहुत दिन तक जियो। (अपने आप) यही वह चारुदत्त है। (तब तो बेटी ने अपना यौवन भली प्रकार से (अर्थात् योग्य हाथों में) सौंपा है।

अर्थः–

अधिकरणिक– आर्य! वेश्या (वसन्तसेना) तुम्हारी मित्र है?

(चारुदत्त लजाने का अभिनय करता है)

अन्वयः– अर्थकारणात्, स्वयम्, मारयित्वा, इदानीम्, (त्वम्), लज्जया, वा, भीरुतया, अलीकम्, चारित्रम्, निगूहितुम् (यतसे), (किन्तु) भट्टकः, हि, तत्, न, गूहति।।१७।।

शब्दार्थः– अर्थकारणात् = धन के लिये, स्वयम् = अपने आप, मारयित्वा = मारकर, इदानीम् = इस समय, (त्वम् = तुम) लज्जया = लज्जा के कारण, वा = अथवा, भीरुतया = डर के कारण, अलीकम् = अप्रिय, चरित्रम् = चरित को, निगूहितुम् = छिपाने के लिये, (यतसे = कोशिश कर रहे हो। किन्तु = परन्तु) भट्टकः = स्वामी (राजा अथवा न्यायाधीश, हि = निश्चित ही, तत् = उसको, न = नहीं, गूहति = छिपायेगा।।

अर्थः–

शकार– धन के लिये वसन्तसेना को स्वयं मार कर इस समय तू लज्जा अथवा डर के कारण अपने बुरे चरित को छिपाने की कोशिश कर रहा है। किन्तु राजा अथवा न्यायाधीश उसको नहीं छिपायेगा अर्थात् सारी बातें वह अवश्य प्रकट कर देगा।।१७।।

टीका– अर्थकारणादिति–अर्थस्य = धनस्य कारणात् = हेतोः; धनार्थमिति यावत्; स्वयम् = आत्मना मारयित्वा = हत्वा; वसन्तसेनामिति शेषः; इदानीम् = सम्प्रति; त्वम्, लज्जया = व्रीडया; वा = अथवा; भीरुतया = दण्डस्य भयेन; अलीकम् = अप्रियम्, कुत्सितमिति यावत्; चारित्रम् = चरितम्, कार्यमित्यर्थः; आत्मनः इति शेषः; निगूहितुम् = गोपायितुम्, यतसे इति शेषः; किन्तु; भट्टकः = स्वामी; राजा पालकः न्यायाधीशः वा; हि = निश्चितम्; तत् = अलीकम्; न = नहि, गूहति = अपह्नूते।।१७।।

इस श्लोक में वैतालीय छन्द है।।१७।।

श्रेष्ठिकायस्थौ– अज्जचारुदत्त! भणाहि। अलं लज्जाए; ववहारो खु एसो। (आर्य चारुदत्त! भण। अलं लज्जया। व्यवहारः खल्वेषः।)

चारुदत्तः– (सलज्जम्) भो अधिकृताः! मया कथमीदृशं वक्तव्यम्-यथा गणिका मम मित्रमिति?। अथवा यौवनमत्रापराध्यति, न चारित्र्यम्।

अधिकरणिकः–

व्यवहारः सविघ्नोऽयं त्यज लज्जां हृदि स्थिताम्।
ब्रूहि सत्यमलं धैर्यं छलमत्र न गृह्यते।।१८।।

अन्वयः– श्रेष्ठी-कायस्थ– आर्य चारुदत्त! बोलिये। लज्जा नहीं करनी चाहिये। यह मुकदमा (व्यवहार) है।

अर्थः–

चारुदत्त– (लज्जा के साथ) हे अधिकारियों! मेरे द्वारा यह कैसे कहा जा सकता है कि वेश्या मेरी मित्र है? अथवा इस विषय में यौवन ही दोषी है, न कि चरित्र।

अन्वयः– अयम्, व्यवहार, सविघ्नः, (अतः) हृदि, स्थिताम्, लज्जाम्, त्यज; सत्यम्, ब्रूहि; धैर्यम्, अलम्; अत्र, छलम्, न, गृह्यते।।१८।

शब्दार्थः– अयम् = यह, व्यवहार मुकदमा, सविघ्नः = संकटों से भरपूर (है), (अतः = इसलिए); हृदि = हृदय में, स्थिताम् वर्तमान, लज्जाम् = लज्जा को, त्यज = छोड़ो। सत्यम् = सच–सच, ब्रूहि = बोलो। धैर्यम् = धीरज, अलम् = व्यर्थ है। अत्र = यहाँ, छलम् = छल–कपट, न = नहीं, गृह्यते = ग्रहण किया जाता, माना जाता।

अर्थः–

अधिकरणिक– यह मुकदमा (व्यवहार) संकटों से भरपूर है (अतः) हृदय में वर्तमान लज्जा छोड़ो। सच–सच बोलो। धैर्य धारण कर चुप रहना ठीक नहीं। यहाँ छल–कपट को नहीं माना जाता है।।१८।।

टीका— अयम् = एषः, प्रचलितः इत्यर्थः; व्यवहारः = अभियोगविचारः; सविघ्नः = विघ्नैः पूर्णः; वर्तते। अतः हृदि = हृदये; स्थिताम् = वर्तमानाम्; लज्जाम् = व्रीडाम्, त्यज = मुञ्च। सत्यम् = यथार्थम्; ब्रूहि = वद। धैर्यम् = गाम्भीर्यम्; अलम् = व्यर्थम्। अत्र = अस्मिन् न्यायालये; छलम् = छद्म न गृह्यते = न स्वीक्रियते।।१८।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।

अलं लज्जया, व्यवहारस्त्वां पृच्छति।

चारुदत्तः—अधिकृत! केन सह मम व्यवहारः?।

शकारः— (साटोपम्) अले! मए शह ववहाले। (अरे! मया सह व्यवहारः।)

चारुदत्तः—त्वया सह मम व्यवहारः सुदुःसहः।

शकारः— अले इश्तिआघादआ! तं तादिर्शि लअणशदभूशणिअं वशंतशेणिअं मालिअ शंपदं कवडकावडिके भविअ णिगूहेशि?। (अरे स्त्रीघातक! तां तादृशीं रत्नशतभूषणां वसन्तसेनां मारयित्वा, सांप्रतं कपटकापटिको भूत्वा, निगूहसि?।)

चारुदत्तः—असंबद्धः खल्वसि।

अधिकरणिकः— आर्यचारुदत्त! अलमनेन; ब्रूहि सत्यम्। अपि गणिका तव मित्रम्?।

चारुदत्तः—एवमेव।

अधिकरणिकः— आर्य! वसन्तसेना क्व?।

चारुदत्तः—गृहं गता।

श्रेष्ठिकायस्थौ— कधं गदा, कदा गदा, गच्छंती वा केण अणुगदा?। (कथं गता, कदा गता, गच्छन्ती वा केनानुगता?।)

चारुदत्तः—(स्वगतम्) किं प्रच्छन्नं गतेति ब्रवीमि?।

श्रेष्ठिकायस्थौ— अज्ज! कधेहि। (आर्य! कथय।)

चारुदत्तः—गृहं गता। किमन्यद्ब्रवीमि?।

शकारः— मम केलकं पुप्फकलंडकजिण्णुज्जाणं पवेशिअ अत्थणिमित्तं बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा। अए! शंपदं वदशि घलं गदेत्ति?। (मदीयं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्यार्थनिमित्तं बाहुपाशबलात्कारेण मारिता। अये! सांप्रतं वदसि गृहं गतेति?।)

चारुदत्तः— आः, असंबद्धप्रलापिन्?

अभ्युक्षितोऽसि सलिलैर्न बलाहकानां
चाषाग्रपक्षसदृशं भृशमन्तराले।
मिथ्यैतदाननमिदं भवतस्तथाहि
हेमन्तपद्ममिव निष्प्रभतामुपैति।।१६।।

अर्थः— लज्जा मत करो। मुकदमा (व्यवहार) तुमसे पूछता है।

चारुदत्त— अधिकारी! किसके साथ मेरा मुकदमा (व्यवहार) है?

शकार— (घमण्ड के साथ) अरे! मेरे साथ व्यवहार है।

चारुदत्त— तुम्हारे साथ मेरा मुकदमा (व्यवहार) होना दुःसह्य है।

शकार— और स्त्री का बध करने वाले! अत्यन्त सुन्दरी रत्न जटित सैकड़ों आभूषण पहनी हुई उस वसन्तसेना को मार कर इस समय कपट पूर्वक धूर्त बनकर छिपा रहे हो?

चारुदत्त— तू असंगत बात कहने वाला है।

अधिकरणिक– आर्य चारुदत्त! इसे रहने दो। सच बतलाओ। क्या वेश्या वसन्तसेना तुम्हारी मित्र है?

चारुदत्त– हाँ, ऐसा ही है।

अधिकरणिक– आर्य! वसन्तसेना कहाँ है?

चारुदत्त– घर गयी।

श्रेष्ठी-कायस्थ– कैसे गयी, कब गयी और जाती हुई उसके साथ कौन गया?

चारुदत्त– (अपने आप) क्या कह दूँ कि 'छिप कर गयी'?

श्रेष्ठी-कायस्थ– आर्य! बतलाइये।

चारुदत्त– घर गयी। और क्या कहूँ?

शकार– मेरे पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में ले जाकर धन के लिये बलात् बाहुपाश में जकड़कर मार डाला है अरे! अब कहता है कि 'घर गयी'।

अन्वयः– एतत्, मिथ्या, (अस्ति); तथा हि, बलाहकानाम्; सलिलैः, अभ्युक्षितः, न, असि; तथापि, अन्तराले, चाषाग्रपक्षसदृशम्, भवतः, इदम्, आननम्, हेमन्तपद्मम्, इव, निष्प्रभताम्, उपैति।।१६।।

शब्दार्थः– एतत् = यह, मिथ्या = झूठा, (अस्ति = है); तथाहि = उदाहरणार्थ, बलाहकानाम् = बादलों के सलिलैः = जल से, अभ्युक्षितः = भीगे, न = नहीं, असि = हो; (किन्तु = परन्तु), अन्तराले = (कहने के) बीच में, चाषाग्रपक्षसदृशम् = नीलकण्ठ पक्षी की पाँख के छोर के समान, भवतः = आपका, इदम् = यह, आननम् = मुँह, हेमन्तपद्मम् = हेमन्त ऋतु में कमल, इव = जैसा, भृशम् = एकदम, निष्प्रभताम् = मलिनता को, उपैति = प्राप्त हो रहा है।।

अर्थः–

चारुदत्त– अरे! अनर्गल बकने वाले!

यह एकदम झूठा है; उदाहरणार्थ,–तुम बादलों के जल से भीगे नहीं हो, (किन्तु फिर भी इस बात को) कहने में नीलकण्ठ पक्षी की पाँख के छोर के समान आप का यह मुँह हेमन्त ऋतु में कमल की तरह एकदम मलिन हो रहा है।।१६।।

टीका– एतत् = इदम्, भवतः वचनम्; मिथ्या = असत्यम्; अस्तीति शेषः। तथाहि = एतस्माद्धेतोः, उदाहरणाय वा; बलाहकानाम् = मेघानाम्; सलिलैः = जलैः; अभ्युक्षितः = सिक्तः; न असि = न वर्तसे; तथापि त्वम्; अन्तराले = कथनमध्ये, पक्षे अन्तरिक्षे च; चाषः = किकीदिविः, पक्षिविशेषः, 'नीलकण्ठ' इति ख्यातः; तस्य अग्रपक्षः = पक्षाग्रम्, तस्य सदृशम् = तुल्यम्, भवतः = श्रीमतः; दुष्टस्य अनुपकारिणः शकारस्य कृते आदरार्थाभिधायकः भवच्छशब्दप्रयोगः उपहासाभिव्यञ्जकः इदम् = एतत्, प्रवदनपरमित्यर्थः; आननम् = मुखम्; हेमन्तस्य = हेमन्तर्तोः पद्मम् = कमलमिव, हेमन्ते कमलानि तुषारपातेन निष्प्रभतां प्राप्नुवन्ति; निष्प्रभताम् = कान्तिशून्यताम्; उपैति = प्राप्नोति।।१६।।

इस श्लोक में उपमा एवं विभावना अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।।१६।।

अधिकरणिकः– **(जनान्तिकम्)**

तुलनं चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम्।
ग्रहणं चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम्।।२०।।

(प्रकाशम्) आर्यचारुदत्तः खल्वसौ कथमिदमकार्यं करिष्यति?। ('घोणा-' (६/१६) इत्यादि पठति)

अन्वयः– चारुदत्तस्य, दूषणम्, अद्रिराजस्य, तुलनम्, समुद्रस्य, तारणम्, अनिलस्य, ग्रहणम्, इव, (वर्तते)।।२०।।

शब्दार्थः– चारुदत्तस्य = चारुदत्त का, दूषणम् = दोष अर्थात् दोष निकालना, अद्रिराजस्य = हिमालय के, तुलनम् = तौलना, समुद्रस्य = समुद्र के, तारणम = तैर कर पार कराने, अनिलस्य = हवा को, ग्रहणम् = पकड़ने, इव = जैसा, (वर्तते = है)।

अर्थः—

अधिकरणिक— (अलग से)

चारुदत्त का दोष निकालना पर्वतराज हिमालय के तौलने के समान, समुद्र को तैर कर पार करने के समान एवं हवा को पकड़ने के समान है (अर्थात् चारुदत्त को दोषी ठहराना आसान बात नहीं है)।।२०।।

(प्रकट रूप में) यह आर्य चारुदत्त हैं, भला ये इस कुकृत्य को कैसे करेंगे? ('घोणा' ६/१६ इत्यादि श्लोक पढ़ता है)।

टीका— चारुदत्तस्य = कुलेन आचरणेन चातिनिर्मलस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः; दूषणम् = दोषनिःसारणम्; चारुदत्ते दोषारोपणमिति यावत्; अद्रिराजस्य = नगाधिराजस्य हिमालयस्य; तुलनम् = तुलया गुरुत्वमापनमिव; समुद्रस्य = सागरस्य; तारणम् = सन्तरणेन अपरपारे प्रापणमिव; अनिलस्य = वायोः; ग्रहणम् = करे धारणमिव; वर्तते इति।।२०।।

इस श्लोक में मालोपमा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।२०।।

शकारः— किं पक्खवादेण? ववहाले दीशदि। (किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते।)

अधिकरणिकः— अपेहि, मूर्ख!

वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं वदसि, न च ते जिह्वा निपतिता,
मध्याह्ने वीक्षसेऽर्कं, न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता।
दीप्ताग्नेः पाणिमन्तः क्षिपसि, स च ते दग्धो भवति नो
चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि, न ते देहं हरति भूः।।२१।।

अर्थः—

शकार— क्या पक्षपात के साथ मुकदमा (व्यवहार) देखा जाता है?

अन्वयः— त्वम्, प्राकृतः, (सन्), वेदार्थान्, वदसि, (किन्तु), ते, जिह्वा, न, च, निपतिता; मध्यान्हने, अर्कम्, वीक्षसे, (किन्तु), सहसा, तव, दृष्टिः, न, विचलिता; दीप्ताग्नेः, अन्तः, पाणिम्, क्षिपसि, (किन्तु), ते, सः, दग्धः, नो, भवति; चारुदत्तम्, चारित्र्यात्, चलयसि, (किन्तु, भूः, ते देहम्, न हरति।।२१।।

शब्दार्थः— त्वम् = तू, प्राकृतः = नीच, (सन् = होता हुआ), वेदार्थान् = वेदों के अर्थों को, वदसि = कह रहा है, (किन्तु = फिर भी), ते = तेरी, जिह्वा = जीभ, न च = नहीं, निपतिता = गिरी। मध्यान्हने = दोपहर के समय में, अर्कम् = सूर्य को, वीक्षसे = देख रहा है, किन्तु, सहसा = एकाएक, तव = तुम्हारी, दृष्टिः = आँख, न विचलिता = चौंधिया नहीं गयी। दीप्ताग्नेः = धधकती आग के, अन्तः = बीच में, पाणिम् = हाथ को, क्षिपसि = डाल रहा है, (किन्तु, ते = तेरा, सः = वह (हाथ), दग्धः = जला हुआ, नो = नहीं, भवति = हो रहा है। चारुदत्तम् = चारुदत्त को, चारित्र्यात् = चरित्र से, चलयसि = भ्रष्टा कर रहा है, किन्तु, भूः = पृथिवी, ते = तुम्हारी, देहम् = देह को, न हरति = छिपा नहीं लेती।।

अर्थः—

अधिकरणिक— हट, मूर्ख!

तू नीच होकर भी वेदों का अर्थ कह रहा है, परन्तु तेरी जीभ नहीं गिरी। तू दोपहर के समय सूर्य को देख रहा है; किन्तु एकाएक तुम्हारी आँख चौंधिया नहीं गयी। तू धधकती आग के बीच में अपना हाथ डाल रहा है, किन्तु तेरा हाथ जल नहीं जा रहा है। तू चारुदत्त को चरित्र से भ्रष्ट कर रहा है अर्थात् बतला रहा है, परन्तु पृथिवी तुम्हारी देह को अपने भीतर छिपा नहीं लेती।।२१।।

टीका— त्वम् = पुरो वर्तमानः शकारः; प्राकृतः = नीचः, सन्; वेदार्थान् = श्रुत्यर्थान्, वदसि = कथयसि; किन्तु ते = तव; जिह्वा = रसना; न च निपतिता = न च भ्रष्टा। नीचस्य हि वेदार्थकथने जिह्वापातः वेदार्थसदृशस्य चारुदत्तनाम्नः उच्चारणे तव नीचस्य जिह्वापातः भाव्यः, मध्यान्हे = मध्यदिने; अर्कम् = सूर्यम्; वीक्षसे = पश्यसि; तथापि सहसा = झटिति; तव = ते; दृष्टिः = नेत्रम; न विचलिता = न विनष्टा। दीप्ताग्नेः = प्रज्वलिताग्नेः; अन्तः = मध्ये; पाणिम् = हस्तम्, क्षिपसि

= प्रवेशयसि; किन्तु ते = तव नीचस्य; सः = पाणिश्च; दग्धः = भस्मीभूतः; नो = नहि; भवति = जायते। चारुदत्तम = कीर्तिधवलं चारुदत्तमित्यर्थः; चारित्र्यात् = लोकाभिनन्दितात् चरितात्; चालयसि = च्यावयसि; किन्तु भू = पृथ्वी, ते = पापिनः शकारस्य; देहम् = शरीरम्; न हरति = स्वान्ते न गृह्णाति।।२१।।

इस श्लोक में निदर्शना तथा विशेषोक्ति अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है—सुमधुरा। लक्षण— भौ स्ना म ना गुरुश्चेद्वसुशररसैरुक्ता ससुमधुरा।।२१।।

आर्यचारुदत्तः कथमकार्यं करिष्यति?।

कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमात्रशेषं
दत्तानि येन हि धनान्यनपेक्षितानि।
स श्रेयसां कथमिवैकनिधिर्महात्मा
पापं करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम्।।२२।।

अन्वयः— हि, येन, समुद्रम्, उदकोच्छ्रयमात्रशेषम्, कृत्वा, अनपेक्षितानि, धनानि, दत्तानि; श्रेयसाम्, एकनिधिः, सः, महात्मा, धनार्थम्, अवैरिजुष्टम्, पापम्, कथमिव, करिष्यति?।।२२।।

शब्दार्थः— हि = क्योंकि, येन = जिसके द्वारा, समुद्रम = समुद्र को, उदकोच्छ्रय–मात्रशेषम् = जल को ढेरमात्र शेष, कृत्वा = बनाकर, अनपेक्षितानि = बिना माँगे गये, धनानि = धन, दत्तानि = दे दिये गये। श्रेयसाम् = कल्याणों का, एकनिधिः = सबसे महान् आश्रय, सः = वह, महात्मा = सज्जन (चारुदत्त), धनार्थम् = धन के लिये, अवैरिजुष्टम् = शत्रुओं के द्वारा भी अकरणीय, पापम् = पाप को, कथमिव = कैसे, करिष्यति = करेगा।।

अर्थः— आर्य चारुदत्त कैसे पाप काम करेंगे?।

क्योंकि, जिसने रत्न दानकर करके समुद्र को केवल जल का ढेर मात्र बनाकर बिना माँगे ही बहुत धन दे डाला, कल्याणों का सबसे महान् आशय वही महात्मा चारुदत्त धन के लिये कैसे इस पाप को करेगा? जिस को कि शत्रु भी नहीं कर सकते।।२२।।

टीका— हि = यतः; येन = चारुदत्तेन; समुद्रम् = सागरम्; उदकेन = जलेन उदकस्य = जलस्य वा उच्छ्रय = उच्चता, औन्नत्यमित्यर्थः, तन्मात्रम् = तदेव शेषः = अवशिष्टम् यस्य तम्; कृत्वा = विधाय; अनपेक्षितानि = अनभिलषितानि, अयाचितानीति यावत्; धनानि = अर्थाः; बहुवचनमत्र वैविध्यसूचनार्थम्; दत्तानि = समर्पितानि, वितीर्णानीत्यर्थः श्रेयसाम् = कल्याणानाम् पुण्यानाम् वा एकः = अद्वितीयः निधिः = आकर, अद्वितीयाश्रयः इत्यर्थः; सः = जगति प्रसिद्धः, महात्मा = महाशयः, चारुदत्तः इत्यर्थः; धनार्थम् = वित्ताय; वित्तय; अवैरिजुष्टम्–वैरिणा = शत्रुणा न जुष्टम् = न सेवितम् न कृतमित्यर्थः; पापम् = नीचं कर्म; कथमिव = केन प्रकारेण; करिष्यति = विधास्यति।।२२।।

इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।।२२।।

वृद्धा— **हदास! जो तदाणिं णासीकिदं सुवण्णभंडअं रतिं चोरेहिं अवहिदं त्ति तस्स कारणादो चदुस्समुद्दस रभूदं रअणावलिं देसि, सा दाणिं अत्थकल्लवत्तस्स कालणादो इमं अकज्जं करेदि?। हा जादे! एहिं मे पुत्ति!। (हताशा! यस्तस्यानीं न्यासीकृतं सुवर्णभाण्डं रात्रौ चौरैरपहृतमिति तस्य कारणाच्चतुःसमुद्रसारभूतां रत्नावलीं ददाति, स इदानीमर्थकल्यवर्तस्य कारणादिदमकार्यं करोति?। हा जाते! एहि मे पुत्रि!।) (इति रोदिति)**

अधिकरणिकः— आर्य चारुदत्त! किमसौ पद्भ्यां गता, उत प्रवहणेनेति?।

चारुदत्तः—ननु प्रत्यक्षं न गता। तन्न जाने किं पद्भ्यां गता, उत प्रवहणेनेति।

(प्रविश्य, सामर्षः)

वीरकः—

पादप्पहारपरिभवविमाणणाबद्धगरुअवेरस्स।
अणुसोअंतस्स इअं कधं पि रत्ती पभादा मे।।२३।।

पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य।
अनुशोचत इयं कथमपि रात्रिः प्रभाता मे।।

अर्थः—

वृद्धा— अभागा! जिसने उस समय धरोहर के रूप में रखे हुए सोने के जेवरों के डिब्बे को चोरों के चुरा लेने पर उसके बदले में चारों समुद्रों की सार रूप रत्नावली दे दी थी, वही इस समय कलेवा के समान तुच्छ धन के लिए इस कुकृत्य को करेगा? हाय बेटी! आओ मेरी पुत्री! (ऐसा कह कर रोती है)।

अधिकरणिक— आर्य चारुदत्त! क्या वह पैदल गयी अथवा गाड़ी से?

चारुदत्त— मेरे सामने नहीं गयी। तो मैं नहीं जानता कि पैदल गयी अथवा गाड़ी से।

अन्वयः— पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य, अनुशोचतः, मे, इयम्, रात्रिः, कथमपि, प्रभाता।।२३।।

शब्दार्थः— पादप्रहारपरिभवविमाननाबद्धगुरुकवैरस्य = पैर से मारने के अनादर से होने वाले अपमान के द्वारा बहुत बड़ा वैर बांधने वाले, (अतः), अनुशोचतः = सोच करने वाले, मे = मेरी, इयम् = यह, रात्रिः = रात, कथमपि = किसी तरह से, प्रभाता = प्रभातवाली हो गयी अर्थात् बीत गयी।।

(प्रवेश करके, क्रोधपूर्वक)

अर्थः—

वीरक— (चन्दनक के द्वारा) पैर से मारने के अनादर से होने वाले अपमान के द्वारा बहुत बड़ा वैर बाँधने वाले मुझ वीरक की सोचते हुए ही यह रात किसी तरह से बीती है।।२३।।

टीका— पादेति—पादेन = चरणेन प्रहारः = ताडनम्, तेन, चन्दनकस्येति शेषः, यः परिभवः = तिरस्कारः तेन या विमानना = अवमानना, क्षोभ, इति यावत्, तया बद्धम् = स्वीकृतम् गुरुकम् = महत् वैरम् = शत्रुत्वम् येन तस्य; अतः अनुशोचतः = चिन्तां कुर्वतः, मे = मम, वीरकस्य इत्यर्थः; इयम् = अद्यैव व्यतीता; रात्रिः = निशा; कथमपि = येन केनापि रूपेण, असुखेनेति यावत्; प्रभाता = प्रभातरूपेण परिणता, व्यतीतेति यावत्।।२३।।

इस श्लोक में गाथा छन्द है।।२३।।

ता जाव अधिअरणमंडवं उपसप्पामि। (प्रवेष्टकेन) सुहं अज्जमिस्साणं।

तद्यावदधिकरणमण्डपमुपसर्पामि। सुखमार्यमिश्राणाम्।)

अधिकरणिकः— अये! नगररक्षाधिकृतो वीरकः। वीरक! किमागमनप्रयोजनम्?।

वीरकः— ही, बंधणभेअणसंभमे अज्जकं अण्णेसंतो, ओवाडिदं पवहणं वच्चदि त्ति विआरं करंतो अण्णेसंतो, 'अरे! तुए वि आलोइदे, मए वि आलोइदव्वो' त्ति भणंतो ज्जेव चंदणमहत्तरएण पादेण ताडिदोम्हि। एदं सुणिअ अज्जमिस्सा पमाणं। (ही, बन्धनभेदनसंभ्रमे आर्यकमन्वेषयन्, अपवारितं प्रवहणं व्रजतीति विचारं कुर्वन्नन्वेषयन्, 'अरे! त्वयाप्यालोकितम्, मयाप्यालोकितव्यम्' इति भणन्नेव चन्दनमहत्तरकेण, पादेन ताडितोऽस्मि। एतच्छ्रुत्वार्यमिश्राः प्रमाणम्।

अधिकरणिकः— भद्र! जानीषे कस्य तत्प्रवहणमिति?।

वीरकः— इमस्स अज्जचारुदत्तस्स। वसंतसेणा आरूढा पुप्फकरंडकजिण्णुज्जाणं कीलिदुं णीअदि त्ति पवहणवाहएण कहिदं। (अस्यार्यचारुदत्तस्य। वसन्तसेनारूढा पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं क्रीडितुं नीयत इति प्रवहणवाहकेन कथितम्।)

शकारः— पुणो वि शुदं अज्जेहिं?। (पुनरपि श्रुतमार्यैः?।)

अधिकरणिकः—

एष भो! निर्मलज्योत्स्नो राहुणा ग्रस्यते शशी।
जलं कूलावपातेन प्रसन्नं कलुषायते।।२४।।

अर्थः— इसलिए न्यायालय में चलता हूँ। (हाथ उठाकर) विद्वान् पुरुषों! आपका कल्याण हो।

अधिकरणिक— अरे! नगर की रखवाली के लिए नियुक्त वीरक है। वीरक! तुम्हारे आने का क्या कारण है?

वीरक— अहो! कारागार तोड़कर जल्दी में भागने वाले आर्यक को ढूँढते हुए 'ढकी हुई गाड़ी जा रही है' यह विचार करते हुए तथा तलाशी लेते हुए (निरीक्षण करते हुए) महान् चन्दनक ने उस समय मुझे लात से मारा जब कि मैं उससे कह रहा था कि—'अरे तूने चन्दनक ने भी गाड़ी देख ली मुझे भी देख लेनी चाहिए'।

अधिकरणिक— भले आदमी! जानते हो वह किसकी गाड़ी थी?

वीरक— इन आर्य चारुदत्त की। गाड़ीवान् ने कहा कि—'इस पर बैठी हुई वसन्तसेना पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में क्रीडा करने के लिये ले जायी जा रही हैं।

शकार— महानुभावों! आपने फिर भी सुन लिया?

अन्वयः— भो! निर्मलज्योत्स्नः, एषः, शशी, राहुणा, ग्रस्यते; कूलावपातेन, प्रसन्नम्, जलम्, कलुषायते।।२४।।

शब्दार्थः— भो! = दुःख है! निर्मलज्योत्स्नः = निर्मल चाँदनी वाला, एषः = यह, शशी = चन्द्रमा, राहुणा = राहु के द्वारा, ग्रस्यते = ग्रसा जा रहा है। कूलावपातेन = तट के गिरने से, प्रसन्नम् = निर्मल, जलम् = जल, कलुषायते = गन्दा हो रहा है।

अर्थः—

अधिकरणिक— दुःख है! निर्मल चाँदनी वाला यह चन्द्रमा राहु के द्वारा ग्रसा जा रहा है। तट के गिरने से निर्मल जल गन्दा हो रहा है। अर्थात् दुर्भाग्य के कारण निर्मल चरित्र वाला चारुदत्त कलंकित हो रहा है।।२४।।

टीका— भो! इति खेदाभिव्यञ्जकमव्ययपदम्। निर्मला = विमला, शुभ्रेति भावः, ज्योत्स्ना = चन्द्रिका यस्य तादृशः एष = अयम्, पुरो वर्तमानः; शशी = चन्द्रः; राहुणा = सैंहिकेयेन, दुष्टग्रह—रूपेण शकारेण इत्यर्थः; ग्रस्यते = ग्रासविषयीक्रियते। कूलावपातेन—कूलस्य = तटस्य अवपातेन = पतनेन; प्रसन्नम् = सुनिर्मलम्; जलम् = सलिलम्; कलुषायते = मलिनायते।।२४।।

इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।२४।।

वीरक! पश्चादिह भवतो न्यायं द्रक्ष्यामः। य एषोऽधिकरणद्वार्यश्वस्तिष्ठति, तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरण्डकोद्यानं दृश्यतामस्ति तत्र काचिद्विपन्ना स्त्री न वेति।

वीरकः— जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः, प्रविश्य च) गदोम्हि तहिं। दिट्ठं च मए एत्थिआकलेवरं सावएहिं विलुप्पंतं। (यदार्य आज्ञापयति। गतोऽस्मि तत्र। दृष्टं च मया स्त्रीकलेवरं श्वापदैर्विलुप्यमानम्।)

श्रेष्ठिकायस्थौ— कध तुए जाणिदं इत्थिआकलेवरं त्ति?। (कथं त्वया ज्ञातं स्त्रीकलेवरमिति?।)

वीरकः— सावसेसेहिं केसहत्थपाणिपादेहिं उवलक्खिदं मए। (सावशेषैः केशहस्तपाणिपादैरुपलक्षितं मया।)

अधिकरणिकः— अहो! धिक् वैषम्यं लोकव्यवहारस्य

यथा यथेदं निपुणं विचार्यते तथा तथा संकटमेव दृश्यते।
अहो सुसन्नव्यवहारनीतयो, मतिस्तु गौः पंकगतेव सीदति।।२५।।

अर्थः— वीरक! हम लोग बाद में तुम्हारे मुकदमे (अभियोग) पर विचार करेंगे। न्यायालय के दरवाजे पर जो यह घोड़ा बँधा है, उस पर चढ़ कर पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में जाकर देखो कि वहाँ कोई मरी हुई स्त्री है अथवा नहीं।

वीरक— जैसी श्रीमान् की आज्ञा। (ऐसा कह कर निकल जाता है और पुनः प्रवेश करके) गया था वहाँ। वहाँ पर मैंने हिंसक जन्तुओं के द्वारा खाये जाते हुए स्त्री के शरीर को देखा है।

श्रेष्ठी-कायस्थ— तुमने कैसे जाना कि (वह) स्त्री का शरीर था?

वीरक— (खाने से) बाकी बचे हुए शिर के बालों, हाथों और पैरों से मैंने समझ लिया।

अन्वयः— इदम्, यथा, मथा, निपुणम्, विचार्यते; तथा, तथा, संकटम्, एव, दृश्यते; अहो! व्यवहारनीतयः, सुसन्नः, (भवन्ति); तु, मतिः, पंकगता, गौः, इव, सीदति।।२५।।

शब्दार्थः— इदम् = यह (मुकदमा), यथा = जैसे, यथा = जैसे, निपुणम् = सावधानी से, विचार्यते = विचारा जाता है; तथा = वैसे, तथा = वैसे, संकटम् = संकटपूर्ण उलझा हुआ, एव = ही, दृश्यते = दिखलायी देता है। अहो! = ओह! व्यवहारनीतयः = मुकदमा (व्यवहार) के प्रमाण, सुसन्नाः = भली–भाँति पुष्ट, (भवन्ति = हो रहे हैं), तु = परन्तु मतिः = बुद्धि, पंकगता = कीचड़ में फँसी हुई, गौ = गाय (की), इव = तरह, सीदति = खिन्न हो रही है।।

अर्थः—

अधिकरणिक— अहो! संसार के व्यवहार की विलक्षणता का को धिक्कार है, यह (मुकदमा) जैसे जैसे सावधानी से विचारा जाता है वैसे–वैसे ही उलझा हुआ ही दिखलायी देता है। ओह! मुकदमा (व्यवहार) के प्रमाण भली–भाँति पुष्ट हो रहे हैं। परन्तु मेरी बुद्धि कीचड़ में फँसी हुई गाय के समान खिन्न हो रही है।।२५।।

टीका— इदम् = एतदभियोगप्रकरणम्; यथा यथा = येन येन प्रकारेण; निपुणम् = सम्यक्, अवधानतया वा; विचार्यते = निर्णीयते; तथा तथा = तेन तेन प्रकारेण; संकटम् = विपत्तिबहुलमेव; दृश्यते = अवलोक्यते, प्रतीयते इत्यर्थः; अस्माभिः इति शेषः। अहो! इति खेदे; व्यवहारस्य = अभियोगविचारस्य नीतयः = पद्धतयः; सुसन्नाः = सम्यक् पुष्टाः; भवन्तीति शेषः। तु = किन्तु; मतिः = बुद्धिः, ममेतिशेषः; पंके = कर्दमे, गता = पतिता; पंकनिमग्ना इत्यर्थः; गौरिव = सौरभेयीव; सीदति = निमज्जति, अवसादं गच्छतीत्यर्थः।।२५।।

यहाँ उपमा अलंकार है। इस श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है–वंशस्थ।।२५।।

चारुदत्तः—(**स्वगतम्**)

यथैव पुष्पं प्रथमे विकाशे समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति।
एवं मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति।।२६।।

अन्वयः— यथैव, प्रथमे, विकाशे, पुष्पम्, पातुम्, भ्रमराः, समेत्य, पतन्ति; एवम्, मनुष्यस्य, विपत्तिकाले, छिद्रेषु, अनर्थाः, बहुलीभवन्ति।।२६।।

शब्दार्थः— यथैव = जैसे, प्रथमे = पहले, विकाशे = खिलने के समय, पुष्पम् = फूल को, पातुम् = पीने के लिये, भ्रमराः = भौंरे, समेत्य = इकट्ठा, होकर, पतन्ति = गिरते हैं। एवम् = इसी तरह, मनुष्यस्य = मनुष्य की, विपत्तिकाले = आपत्ति के समय, छिद्रेषु = जरा से दोषों में अनर्थाः = अनिष्ट, बहुलीभवन्ति = बहुत से हो जाते हैं।।

अर्थः—

चारुदत्त— (अपने आप)

जैसे पहले पहल खिलने के समय फूल का रस पीने के लिये भौंरे इकट्ठा होकर उस पर गिरते हैं, इसी तरह मनुष्य की आपत्ति के समय जरा सा दोष पाकर अनेक अनिष्ट आ घेरते हैं।।२६।।

टीका— यथैव = येन प्रकारेणैव; प्रथमे = प्रारम्भिके, विकाशे = उन्मेषे; विकाशस्य आरम्भकाले इत्यर्थः; तदा सौरभाधिक्यात्; पुष्पम् = प्रसूनम्; मकरन्दमित्यर्थः; पातुम् = आस्वादितुम्; भ्रमराः = द्विरेफाः समेत्य = एकत्रीभूय; पतन्ति = वेगेन आगच्छन्ति। एवम् = इत्थम्; मनुष्यस्य = जनस्य; विपत्तिकाले = आपत्तिसमये; छिद्रेषु = रन्ध्रेषु, दोषेष्वित्यर्थः; व्यसनेषु इति यावत्; अनर्थाः = विपत्तयः; बहुलीभवन्ति = स्फारीभवन्ति।।२६।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा तथा उपमा अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है–उपजाति।।२६ ।

अधिकरणिकः– आर्यचारुदत्त! सत्यमभिधीयताम्।

चारुदत्तः–

दुष्टात्मा परगुणमत्सरी मनुष्यो
रागान्धः परमिह हन्तुकामबुद्धिः।
किं यो यद्वदति मृषैव जातिदोषा-
त्तद्ग्राह्यं भवति, न तद्विचारणीयम्।।२७।।

अर्थः–

अधिकरणिक– आर्य चारुदत्त! सच–सच कहिये।

अन्वयः– इह, दुष्टात्मा, परगुणमत्सरी, रागान्धः, परम्, हन्तुकामबुद्धिः, यः, मनुष्यः, जातिदोषात्, मृषा, एव, यत्, वदति किम्, तत्, ग्राह्यम्, भवति,? तत्, विचारणीयम्, न?।।२७।।

शब्दार्थः– इह = यहाँ, दुष्टात्मा = नीचस्वभाववाला, परगुणमत्सरी = दूसरे के गुणों के प्रति ईर्ष्या करने वाला, रागान्ध = क्रोध से अन्धा, परम् = दूसरे को, हन्तु–कामबुद्धिः = मारने की इच्छा वाला, यः = जो, मनुष्यः = मनुष्य, जातिदोषात् = स्वाभाविक दुष्टता के कारण, मृषा = झूठा, एव = ही, यत् = जो, वदति = कहता है, किम् = क्या, तत् = वह, ग्राह्यम् = मानने लायक, भवति = होता है! तत् = वह, विचारणीयम् = विचार करने के योग्य, न = नहीं (होता) ।।

अर्थः–

चारुदत्त– यहाँ, दुरात्मा, दूसरे के गुणों के प्रति ईर्ष्या करने वाला, क्रोध से अन्धा, दूसरे को मारने की इच्छा वाला मनुष्य अपनी स्वाभाविक दुष्टता के कारण झूठा ही जो कुछ कहता है वह मानने के लायक होता है? क्या वह विचार करने के योग्य नहीं होता?।।२७।।

टीका– इह = न्यायालये, अधिकरणे, संसारे वा; दुष्टात्मा–दुष्टः = कलुषितः आत्मा = अन्तःकरणम् यस्य असौ, दुराशय इत्यर्थः; परेषाम् = अन्येषाम् गुणेषु = शुभप्रकृतिषु उत्कर्षेषु वा, मत्सरः = द्वेषः सोऽस्यास्तीति मत्सरी = ईर्ष्यालुः; रागेण = क्रोधेन अन्धः = विवेकविहीनः; अतः परम् = अन्यं जनम्; हन्तुम् = विनाशयितुम्, कामः = इच्छा प्रयोजनम् वा यस्याः सा हन्तुकामा, हन्तुकामा बुद्धिः = मतिः यस्य तादृशः। यः = यः कश्चित्; मनुष्यः = जनः, जातिदोषात् = नीचकुलोत्पन्नत्वात्, अथवा जातौ = जनने दोषात् = निन्द्यभावात्, वर्णसंकरत्वादित्यर्थः; मृषा = मिथ्या, एव; यत् वदति = कथयति; किम् तत् = तस्य असत्यकथनम्; ग्राह्यम् = मान्यम्; भवति = अस्ति? तत् = तस्य मिथ्याभाषणम्, विचारणीयम् = विवेचनीयम्, सत्यमसत्यं वेतिरूपेण विवेचनीयमित्यर्थः; न = न भवति?।।२७।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवं परिकर अलंकार तथा प्रहर्षिणी छन्द है।।२७।।

अपि च,–

योऽहं लतां कुसुमितामपि पुष्पहेतो-
राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि।
सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घे
केशे प्रगृह्य रुदतीं प्रमदां निहन्मि?।।२८।।

अन्वयः– यः, अहम्, कुसुमिताम्, लताम्, अपि, पुष्पहेतोः, आकृष्य, पुष्पावचयम्, न, करोमि; सः, अहम्, भ्रमरपक्षरुचौ, सुदीर्घे, केशे, प्रगृह्य, रुदतीम् प्रमदाम्, कथम्, निहन्मि?।।२८।।

शब्दार्थः– यः = जो, अहम् = मैं, कुसुमिताम् = फूली हुई, लताम् = लता को, अपि = भी, पुष्पहेतोः = फूल के लिये, आकृष्य = खींचकर, पुष्पावचयम् = फूलों का चयन करना, न = नहीं, करोमि = करता हूँ; सः = वह, अहम = मैं, भ्रमरपक्षरुचौ = भौंरों की पाँखों के समान रंग वाले, सुदीर्घे = लम्बे–लम्बे, केशे = बालों को प्रगृह्य = पकडकर, रुदतीम् = रोती

हुई, प्रमदाम् = स्त्री को, कथम् = कैसे, निहन्मि = मारता हूँ? अर्थात् कैसे मार सकता हूँ?।।

अर्थः— और भी—

जो मैं फूली हुई लता को भी फूल लेने के लिये खींचकर फूल नहीं तोड़ता हूँ; वही मैं भौरों की पाँखों के समान काले रंग वाले लम्बे लम्बे बालों को पकड़ कर रोती हुई स्त्री को कैसे मार सकता हूँ!।।२८।।

टीका— यः = परमकारुणिकः इति भावः, अहम् = चारुदत्तः; कुसुमिताम्—कुसुमानि = पुष्पाणि सञ्जातानि अस्यां तादृशीम्, प्रफुल्लितामित्यर्थः; लताम् = वल्लीम्, अपि; पुष्पाणाम् = कुसुमानाम् हेतोः = कारणात्; पुष्पाणि ग्रहीतुमित्यर्थ; आकृष्य = आकर्षणं कृत्वाः; पुष्पाणाम् = प्रसूनानाम् अवचयम् = चयनम्, त्रोटनमित्यर्थः; न करोमि = न सम्पादयामि। सः = एतादृशः दयालुः इति भावः; अहम् = अभियुक्तत्वेन उपस्थितः चारुदत्त इत्यर्थः; भ्रमरपक्षरुचौ—भ्रमरस्य = द्विरेफस्य पक्षयोरिव = छदयोरिव रुचिः = आभा यस्य तादृशे; भ्रमरपक्षवत्कृष्णे इत्यर्थः; सुदीर्घे = सुविशाले, प्रशस्ते इत्यर्थः; केशे = कुन्तले, प्रगृह्य = बलात् गृहीत्वा; रुदतीम् = क्रन्दन्तीम्; प्रमदाम् = ललनाम्, कथम् = केन प्रकारेण; निहन्मि = मारयामि?।।२८।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।२८।।

शकारः— हंहो अधिअलणभोइआ! किं तुम्हें पक्खवादेण ववहालं पेक्खध? ज्जेण अज्ज वि एशे हदाशचालुदत्ते आशणे घालीअदि। (हंहो अधिकरणभोजकाः! किं यूयं पक्षपातेन व्यवहारं पश्यत? येनाद्याप्येष हताशचारुदत्त आसने धार्यते।)

अधिकरणिकः— भद्र शोधनक! एवं क्रियताम्।

(शोधनकस्तथा करोति)

चारुदत्तः— विचार्यताम्। भो अधिकृताः! विचार्यताम्। (इत्यासनादवतीर्य भूमावुपविशति)

शकारः— (स्वगतम्, सहर्ष नर्तित्वा) ही, अणेण मए कडे पावे अण्णश्श मश्तके निवडिदे। ता जहिं चालुदत्ताके उवविशदि तहिं हग्गे उवविशामि। (तथा कृत्वा) चालुदत्ता! पेक्ख पेक्ख मं। ता भण भण मए मालिदे त्ति। (ही, अनेन मया कृतं पापमन्यस्य मस्तके निपातितम्। तद्यत्र चारुदत्त उपविशति तत्राहमुपविशामि। चारुदत्त! पश्य पश्य मां;। तद्भण भण मया मारितेति।)

चारुदत्तः— भो अधिकृताः ('दुष्टात्मा-'(६/२७) इत्यादि पूर्वोक्तं पठति, सनिः-श्वासं, स्वगतम्)

मैत्रेय भोः! किमिदमद्य ममोपघातो
हा ब्राह्मणि! द्विजकुले विमले प्रसूता।
हा रोहसेन! हि न पश्यसि मे विपत्तिं,
मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम्।।२९।।

अर्थः—

शकार— हे माननीय न्यायाधीश महोदयों! क्या आप लोग पक्षपात के साथ मुकदमा (व्यवहार) देखते हैं! जो अब भी इस नीच चारुदत्त को आसन पर बैठा रक्खा है।

अधिकरणिक— भले शोधनक! ऐसा ही (जैसा शकार कहता है) कीजिये (शोधनक वैसी ही करता है)

चारुदत्त— विचार कीजिये। हे अधिकारियों! विचार कीजिये। (ऐसा कह कर आसन से उतर कर जमीन पर बैठ जाता है)

शकार— (अपने आप, प्रसन्नता पूर्वक नाच कर) अहा! मेरे द्वारा किया गया पाप दूसरे के मस्तक पर मढ़ गया। तो जहाँ चारुदत्त बैठा था वहाँ मैं बैठूंगा। (वैसा करके) चारुदत्त! देखो, देखो मुझे। तो कहो, कहो कि मैंने (वसन्तसेना को) मारा है।

चारुदत्त— हे अधिकारियों! ('दुष्टात्मा' ६/२७) इत्यादि पहले कहा गया श्लोक पढ़ता है, लम्बी साँस लेकर, अपने आप)

अन्वयः— भो मैत्रेय! इदम्, किम्?, अद्य, मम, उपघातः, (आगतः)? विमले, द्विजकुले, प्रसूता, हा ब्राह्मणि! हा रोहसेन! मे, विपत्तिम् न हि, पश्यसि; मिथ्या, एव, परव्यसनेन, नित्यम्, नन्दसि।।२६।।

शब्दार्थः— भोः = हे; मैत्रेय! = सखे विदूषक! इदम् = यह, किम् = क्या? अद्य = आज, मम = मेरा, उपघातः = विनाश, आगतः = आ गया है)? विमले = निर्मल, द्विजकुले = ब्राह्मण कुल में, प्रसूता = पैदा हुई, हा = हाय, ब्राह्मणी = स्त्री हा रोहसेन! = हाय बेटा रोहसेन! मे = मेरी, विपत्तिम् = विपत्ति को, न हि = नहीं, पश्यसि = देख रहे हो, मिथ्या = झूठ--मूठ, एव = ही, परव्यसनेन = केवल बच्चों के खिलवाड़ से, नित्यम् = हमेशा, नन्दसि = प्रसन्न हो रहे हो।

अर्थः— हे मैत्रेय! यह क्या! आज मेरा विनाश आ गया है। निर्मल ब्राह्मण कुल में पैदा हुई हा ब्राह्मणी अर्थात मेरी स्त्री हा बेटा रोहसेन! तुम मेरे विपत्ति नहीं देख रहे हो, व्यर्थ में ही केवल बालकों के लायक खिलवाड़ से हमेशा प्रसन्न हो रहे हो।।२६।।

टीका— भो मैत्रेय! = हे सखे विदूषक! इदम् = एतत्; किम् = किमुपस्थितमित्यर्थः; सामान्येन उक्त्वा पुनः विवृणोति अद्य = अस्मिन् दिने; मम = चारुदत्तस्य, दोषशून्यस्येति यावत्; उपघातः = विनाशः; आगतः?। विमले = विशुद्ध द्विजकुले = ब्राह्मणस्य कुले = वंशे; प्रसूता = जाता; हा! इति खेदेऽव्ययम्; ब्राह्मणि! जाये। स्वपत्न्याः इदं सबोधनम्, हा रोहसेन! = हा पुत्र रोहसेन! मे = मम, स्वपितुः इत्यर्थः; विपत्तिम् = आपत्तिम्; न हि पश्यसि = न हि अवलोकयसे, मिथ्या एव = वृथैव; परव्यसनेन—परेण = केवलेन व्यसनेन = बालसुलभक्रीडनेन; नित्यम् = सर्वदा; नन्दसि = आनन्दमनुभवसि।

इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।।२६।।

प्रेषितश्च मया तद्वार्तान्वेषणाय वसन्तसेनासकाशं शकटिकानिमित्तं च तस्य प्रदत्तान्यलंकरणानि प्रत्यर्पयितुम्; तत्कथं चिरयते?।

(ततः प्रविशति गृहीताभरणो विदूषकः)

विदूषकः— **पेसिदो म्हि अज्जचारुदत्तेण वसंतसेणासआसं, तहिं अलंकरणाइं गेण्हिअ, जधा-'अज्जमित्तेअ! वसंतसेणाए दव्वो रोहसेणो अत्तणो अलंकारेण अलंकरिअ जणणीसआसं पेसिदो। इमस्स आहरणं दादव्वं, ण उण गेण्हिदव्वं। ता समप्पेहि' त्ति। ता जाव वसंतसेणासआसं ज्जेव्व गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) कधं भावरेभिलो?। भो भावरेभिल! किंणिमित्तं तुमं उव्विग्गो उव्विग्गो विअ लक्खीअसि?। (आकर्ण्य) किं भणासि-'पिअवअस्सो चारुदत्तो अधिअरणमंडवे सद्दाइदो' त्ति?। ता ण हु अप्पेण कज्जेण होदव्वं। (विचिन्त्य) ता पच्छा वसंतसेणासआसं गमिस्सं। अधिअरणमंडवं दाव गमिस्सं। (परिक्रम्यावलोक्य च) इदं अधिअरणमंडवं। ता जाव पविसामि। (प्रविश्य) एह अधिअरणभोइआणं। कहिं मम पिअवअस्सो?। (प्रेषितोऽस्म्यार्यचारुदत्तेन वसन्तसेनासकाशम्, तत्रालंकरणानि गृहीत्वा, यथा-'आर्यमैत्रेय! वसन्तसेनया वत्सो रोहसेन आत्मनोऽलंकारेणालंकृत्य जननीसकाशं प्रेषितः। अस्या आभरण दातव्यम्, न पुनर्ग्रहीतव्यम्; तत्समर्पय' इति। तद्यावद्वसन्तसेनासकाशमेव गच्छामि। कथं भावरेभिलः?। भो भावरेभिल! किंनिमित्तं त्वमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे?। किं भणसि-'प्रियवयस्यश्चारुदत्तोऽधिकरणमण्डपं आहूतः' इति?। तन्न खल्वल्पेन कार्येण भवितव्यम्। तत्पश्चाद्वसन्तसेनासकाशं गमिष्यामि। अधिकरणमण्डपं तावद्गमिष्यामि। अयमधिकरणमण्डपः। तद्यावत्प्रविशामि। सुखमधिकरणभोजकानाम्। कुत्र मम प्रियवयस्यः?।)**

अधिकरणिकः— नन्वेष तिष्ठति।

विदूषकः— वअस्स! सोत्थि द। (वयस्य! स्वस्ति ते।)

चारुदत्तः— भविष्यति।

विदूषकः— अवि क्खेमं ते?। (अपि क्षेमं ते?।)

चारुदत्तः— एतदपि भविष्यति।

विदूषकः— **भो वअस्त! किंणिमित्तं उव्विग्गो उविग्गो विअ लक्खीअसि? कुदो वा सद्दाइदो?। (भो वयस्य! किंनिमित्तमुद्विग्न उद्विग्न इव लक्ष्यसे? कुतो वाहूतः?।)**

चारुदत्तः—वयस्य!

मया खलु नृशंसेन परलोकमजानता।
स्त्री रतिर्वाविशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति।।३०।।

अर्थः— मैंने उसका समाचार जानने के लिए तथा खिलौने की गाड़ी बनाने के लिए रोहसेन को वसन्तसेना के द्वारा दिये गये आभूषणों को लौटाने के लिए मैत्रेय को वसन्तसेना के पास भेजा था तो वह क्यों देर कर रहा है?

(उसके बाद जेवरों को लिए हुए विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक— आर्य चारुदत्त ने आभूषणों के साथ मुझे वसन्तसेना के पास भेजा है और कहा है कि— "आर्य मैत्रेय! वसन्तसेना ने अपनी जेवरों से बेटा रोहसेन को अलंकृत करके उसकी माता के पास भेजा है। इसको वसन्तसेना को जेवर देना चाहिये, न कि उससे लेना चाहिये। तो उन जेवरों को उसे लौटा दो।' तो जब तक मैं वसन्तसेना के पास ही जाता हूँ। (घूमकर और देखकर आकाश की ओर...) क्या विद्वान् रेभिल हैं? रेभिल किसलिए तुम चिन्तित से दिखायी पड़ रहे हो? (सुनकर) क्या कह रहे हो—'प्रिय मित्र चारुदत्त न्यायालय में बुलाये गये हैं।' तो अवश्य ही कोई बड़ा कारण होगा। (सोचकर) तो बाद में वसन्तसेना के पास जाऊँगा। पहले न्यायालय में ही जाऊँगा। (घूमकर और देखकर) यह न्यायालय है। तो जब तक प्रवेश करता हूँ। (घुसकर) माननीय अधिकारियों का कल्याण हो। कहाँ है मेरा प्रियमित्र?

अधिकरणिक— यह बैठा है।

विदूषक— मित्र! तुम्हारा कल्याण हो।

चारुदत्त— होगा।

विदूषक— मित्र! तुम कुशल से तो हो?

चारुदत्त— यह भी होगा।

विदूषक— हे मित्र! किस कारण से बहुत अधिक उद्विग्न-सा दीख रहे हो? यहाँ किसलिए बुलाए गये हो?

अन्वयः— परलोकम्, अजानता, नृशंसेन, मयाः, खलु, स्त्री, वा, अविशेषेण, रतिः, शेषम्; एषः, अभिधा यति।।३०।।

शब्दार्थः— परलोकम् = परलोक को, अजानता = न जानने वाले, नृशंसेन = क्रूर, मया = मेरे द्वारा, खलु = निश्चय ही, स्त्री = एक साधारण स्त्री, वा = अथवा; अविशेषेण = साक्षात्, रतिः = कामदेव की स्त्री रति....., शेषम् = शेष बात को, एषः = यह (शकार), अभिधास्यति = बतलायेगा।।

अर्थः—

चारुदत्त— मित्र!

परलोक को न जानने वाले एवं क्रूर मैंने एक स्त्री अथवा (यह कहना चाहिए कि) साक्षात् कामदेव की स्त्री रति को. ...;शेष बात (अर्थात् मार दी) यह (शकार) बतलायेगा।।३०।।

टीका— परलोकम् = उत्तमं स्वर्गादिलोकम्; अजानता = अब्द्ध्यमानेन; न, शंसति = हिनस्तीति नृशंसस्तेन नृशंसेन = घातकेन; मया = चारुदत्तेन; खलु = निश्चितम्। स्त्री = सामान्या योषितः; वा = अथवा; अविशेषेण = अभेदेन, साक्षादित्यर्थः; रतिः = कामप्रिया, शेषम् = वक्तव्यावशिष्टम्; एषः = पुरोवर्तमानः शकारः; अभिधास्यति = कथयिष्यति।।३०।।

इस श्लोक में आक्षेप एवं अतिशयोक्ति अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—पथ्यावक्त्र।।३०।।

विदूषकः—किं किम्?। (किं किम्?।)

चारुदत्तः—(कर्णे) एवमेवम्।

विदूषकः—को एव्वं भणादि?। (क एवं भणति?।)

चारुदत्तः—(संज्ञया शकारं दर्शयति)नन्वेष तपस्वी हेतुभूतः कृतान्तो मां व्याहरति।

विदूषकः—(जनान्तिकम्) एव्वं कीस ण भणीअदि-गेहं गदे त्ति?। (एवं किमर्थं न भण्यते-गृहं गतेति?।)

चारुदत्तः—उच्यमानमप्यवस्थादोषान्न गृह्यते।

विदूषकः—भो भो अज्जा! जेण दाव पुरट्ठावणविहारारामदेउलतडागकूवजूवेहिं अलंकिदा णअरी उज्जइणी, सो अप्पासो अत्थकल्लवत्तकारणादो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदि त्ति?। (सक्रोधम्) अरे रे काणेलीसुदा राअश्शालसंठाणआ उस्सुंखलआ किदजणदोसभंडआ बहुसुवण्णमंडिदमक्कडआ! भण भण मम अग्गदो, जो दाणिं मम पिअवअस्सो कुसुमिदं माधवीलदं पि आअट्टिअ कुसुमावचअं ण करेदि कदा वि आअट्ठिदाए पल्लवच्छेदो भोदि त्ति, सो कधं एरिसं अकज्जं उहअलोअविरुद्धं करेदि?। चिट्ठ रे कुट्टणिपुत्ता! चिट्ठ। जाव एदिणा तव हिअअकुडिलेण दंडअट्ठेण मत्थअं दे सदखंडं करेमि। (भो भो आर्याः! येन तावत्पुरस्थापनविहारारामदेवालयतडागकूपयूपैरलंकृता नगर्युज्जयिनी, सोऽनीशोऽर्थ- कल्यवर्तकारणादीदृशमकार्यमनुतिष्ठतीति?। अरे रे कुलटापुत्र राजश्यालसंस्थानक उच्छृंखलक कृतकजनदोषभाण्ड बहुसुवर्णमण्डितमर्कटक! भण भण ममाग्रतः, य इदानीं मम प्रियवयस्यः कुसुमितां माधवीलतामप्याकृष्य कुसुमावचयं न करोति कदाप्याकृष्टतया पल्लवच्छेदो भवतीति, स कथमीदृशमकार्यमुभयलोकविरुद्धं करोति?। तिष्ठ रे कुट्टिनीपुत्र! तिष्ठ। यावदेतेन तव हृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन मस्तकं ते शतखण्डं करोमि।)

शकारः—(सक्रोधम्) शुणंतु शुणंतु अज्जमिश्शा! चालुदत्तकेण शह मम विवादे ववहाले वा; ता कीश एशे काकपदशीशमश्शका मए शिले शदखंडे कलेदि?। मा दाव; ले दाशीए पुत्ता, दुट्ठबडुका!। (श्रृण्वन्तु श्रृण्वन्त्वार्यमिश्राः! चारुदत्तेन सह मम विवादो व्यवहारो वा; एत्किमर्थमेष काकपदशीर्षमस्तको मम शिरः शतखण्डं करोति?। मा तावत; रे दास्याः पुत्र दुष्टबटुक!।)

(विदूषको दण्डकाष्ठमुद्यम्य पूर्वोक्तं पठति; शकारः सक्रोधमुत्थाय ताडयति; विदूषकः प्रतीपं ताडयति; अन्योऽन्यं ताडयतः; विदूषकस्य रक्षदेशादाभरणानि पतन्ति)

शकारः—(तानि गृहीत्वा, दृष्ट्वा ससाध्वसम्) पेक्खंतु पेक्खंतु अज्जा! एदे खु ताए तवश्शिणीए केलका अलंकारा। (चारुदत्तमुद्दिश्य) इमश्श अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो एशा मालिदा वावादिदा अ। (पश्यन्तु पश्यन्त्वार्याः! एते खलु तस्यास्तपस्विन्या अलंकाराः। अस्यार्थकल्यवर्तस्य कारणादेषा मारिता व्यापादिता च।)

(अधिकृताः सर्वेऽधोमुखा स्थिताः)

चारुदत्तः—(जनान्तिकम्)

अयमेवंविधे काले दृष्टो भूषणविस्तरः।
अस्माकं भाग्यवैषम्यात्पतितः पातयिष्यति।।३१।।

अर्थः—

विदूषक— क्या, क्या?

चारुदत्त— (कान में) इस इस प्रकार।

विदूषक— कौन ऐसा कहता है?

चारुदत्त— (इशारा करके शकार को दिखलाता है) यह बेचारा बहाना बना हुआ है; (किन्तु वस्तुतः) यमराज ही मुझे (इस प्रकार) कह रहा है।

विदूषक— (अलग से) ऐसा क्यों नहीं कह देते कि—घर चली गयी?

चारुदत्त— कहा गया भी (मेरी) दरिद्रता के कारण नहीं माना गया।

विदूषक— हे मान्यजनों! जिसने उपनगर—निर्माण, बौद्ध विहार, बगीचा मन्दिर, तालाब, कुँआ तथा यज्ञस्तम्भों से उज्जयिनी नगरी को अलंकृत किया है, वही इस समय निर्धन होकर कलेवा के समान तुच्छ धन के लिए ऐसे कुकृत्य को करेगा? (क्रोध के साथ) अरे छिनार के बच्चे, राजा के साले संस्थानक, उद्दण्ड, लोगों पर दोष मढ़ने वाले, बहुत से सोना

लदे हुए बन्दर! कहो, कहो मेरे सामने। 'शायद खींचने से पत्ते टूट जायँ' ऐसा सोच कर इस समय जो मेरा प्रिय मित्र फली हुई माधवी लता को भी झुका कर फूल नहीं तोड़ता है, वही दोनों लोकों के विरुद्ध इस प्रकार के कुकर्म को करेगा? ठहर रे कुटनी के बच्चे ठहर! जब तक तेरे हृदय के समान टेड़े लकड़ी के इस डण्डे से तेरे मस्तक के सौ टुकड़े करता हूँ।

शकार— (क्रोध के साथ) महानुभावों! सुनिये, सुनिये। चारुदत्त के साथ मेरा झगड़ा अथवा मुकदमा है; तब क्यों कौवा के पैर के समान सिर–माथे वाला यह मेरे सिर को सौ टुकड़े करता है? नहीं तो, अरे दासी के बच्चे शरारती ब्राह्मण!

(विदूषक काठ के दण्डे को उठा कर पहले कही हुई बात को ही फिर कहता है; शकार क्रोधपूर्वक उठकर पीटता है, विदूषक बदले में मारता है, वे आपस में एक दूसरे को मारते हैं, विदूषक की काँख से अलंकार गिरते हैं।)

शकार— (उन अलंकारों को उठा कर, देख कर भय के साथ) महानुभावों! देखिये, देखिये; उस बेचारी (वसन्तसेना) के ये आभूषण हैं। कलेवा के समान इसी तुच्छ धन के लिए यह (वसन्तसेना) मारी गयी और नष्ट की गयी है।

(सभी अधिकारी नीचा मुँह करके बैठ जाते हैं)

अन्वयः— एवंविधे, काले, अस्माकम्, भाग्य–वैषम्यात्, पतितः, (तथा, अधिकारिभिः), दृष्टः, अयम्, भूषणविस्तरः, पातयिष्यति।।३१।।

शब्दार्थः— एवंविधे = ऐसे, काले = समय में, अस्माकम् = हमारे, भाग्यवैषम्यात् = भाग्य के दोष से, पतितः = गिरा हुआ, (तथा = और, अधिकारिभिः = अधिकारियों के द्वारा) दृष्टः = देखा गया, अयम् = यह, भूषण–विस्तरः = आभूषणों का समूह, पातयिष्यति = गिरा देगा।।

अर्थः—

चारुदत्त— (अलग से)

ऐसे समय में हमारे भाग्य के दोष से गिरा हुआ तथा अधिकारियों द्वारा देखा गया आभूषणों का यह समूह मुझे विपत्ति में गिरा देगा।।३१।।

टीका— एवंविधे = एतादृशे, संकटपूर्णे दोषारोपपूर्णे; काले = समये; अस्माकम् = चारुदत्तादीनाम्, आदिशब्देन बान्धवादयः गृह्यन्ते; भाग्यस्य = अदृष्टस्य वैषम्यात् = दोषात्; दौर्भाग्यादिति यावत्; पतितः = कक्षदेशात् स्खलितः भ्रष्टः वा; तथा अधिकारिभिरिति शेषः, दृष्टः = अवलोकितः; अयम् = एषः, भूमौ पातितः; भूषणानाम् = आभूषणानाम् विस्तरः = समूहः; पातयिष्यति = विपत्तौ भ्रंशयिष्यति; मामिति शेषः। अपराधरहितस्याऽपि मे सापराधत्वमनेन सिध्यतीति भावः।।३१।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।३१।।

विदूषकः—भो! कीस भूदत्थं ण णिवेदीअदि?। (भोः! किमर्थं भूतार्थो न निवेद्यते?)

चारुदत्तः—वयस्य!

दुर्बलं नृपतेश्चक्षुर्नैतत्तत्त्वं निरीक्षते।
केवलं वदतो दैन्यमश्लाघ्यं मरणं भवेत्।।३२।।

अर्थः—

विदूषक— अजी! क्यों नहीं सही–सही बात बतला दी जाती।

अन्वयः— नृपतेः, चक्षुः, दुर्बलम्, एतत्, तत्त्वम्, न, निरीक्षते, (अतः), केवलम्, दैन्यम्, वदतः, (मम): अश्लाघ्यम्, मरणम्, भवेत्।।३२।।

शब्दार्थः— नृपतेः = राजा (राजा के अधिकारियों) की, चक्षुः = आँख, दुर्बलम् = कमजोर (होती है)। एतत् यह, तत्त्वम् = सही बात को, न = नहीं, निरीक्षते = देखती है। (अतः = इसलिये), केवलम् = केवल, दैन्यम् = दीनतापूर्वक, वदतः = वचन कहने वाले, (मम = मेरा), अश्लाघ्यम् = निन्दनीय; मरणम् = मरण, भवेत् = होगा।।

अर्थः—

चारुदत्त— मित्र!

राजा (राजा के अधिकारियों) की आँख कमजोर होती है। यह इस सही बात को नहीं देखती। केवल हीनतापूर्वक वचन कहना तो मेरा निन्दनीय मरण ही होगा अर्थात् दीनतापूर्ण बात कहना निन्दनीय मृत्यु के समान है।।३२।।

टीका– नृपतेः = राज्ञः, राजप्रतिनिधिभूतस्य न्यायाधीशस्येत्यर्थः; चक्षुः = नेत्रम्, दुर्बलम् = बलहीनम्, सत्यं द्रष्टुमसमर्थमित्यर्थः, भवति। चारचक्षुषः साक्ष्यावलम्बनाः राजानः यथार्थं साक्षात्कर्तुमसमर्थाः भवन्तीतिभावः। एतत् = राज्ञः चक्षुः, तत्त्वम् = सत्यमर्थम्; न निरीक्षते = नावलोकयति। अतः केवलम् = एकमात्रम्; दैन्यम् = दीनताप्रदर्शनपूर्वकं यथा तथा, दैन्यम् = कातरभावं वा; वसन्तसेना मया न मारितेतिरूपमिति यावत्; वदतः = कथ्यतः; ममेति शेषः; अश्लाघ्यम् = अयशस्करम्, मरणम् = मृत्युः; भवेत् = सम्पद्येत।।३२।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।३२।।

अधिकरणिकः– कष्टं भो! कष्टम्;

अंगारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः।।३३।।

अन्वयः– अंगारकविरुद्धस्य, प्रक्षीणस्य, बृहस्पतेः, पार्श्वे, धूमकेतुः, इव, अयम्, अपरः, ग्रहः, उत्थितः।।३३।।

शब्दार्थः– अंगारकविरुद्धस्य = मंगल ग्रह जिसका विरोधी है ऐसे, प्रक्षीणस्य = दुर्बल, बृहस्पतेः = बृहस्पति ग्रह के, पार्श्वे = समीप में, धूमकेतुः = पुच्छलतारा, इव = जैसा, अयम् = यह, अपरः = दूसरा, ग्रहः = ग्रह, उत्थितः = प्रकट हुआ है।।

अर्थः–

अधिकरणिक– दुःख है, अरे दुःख है–

मंगल ग्रह जिसका विरोधी है ऐसे, दुर्बल बृहस्पति ग्रह के समीप पुच्छलतारा के समान यह (जेवरों का गिरना) दूसरा ग्रह प्रकट हुआ है।।३३।।

टीका– अंगारकः = मंगलग्रहः विरुद्धः विपरीतः यस्य तादृशस्य; प्रक्षीणस्य = नीचस्थानस्थित्या स्वशक्तिहीनस्य बृहस्पतेः = जीवस्य, पार्श्वे = समीपे; धूमकेतः = उत्पातग्रहः। इव = यथा; अयम् = विदूषककक्षप्रदेशादलंकारभ्रंशः; अपरः = अन्यः सामान्यविशिष्टः; ग्रहः = विरुद्धग्रहः इत्यर्थः; उत्थितः = उद्गतः।।३३।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा तथा उपमा अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है–पथ्यावक्त्र।।३३।।

श्रेष्ठिकायस्थौ– (विलोक्य, वसन्तसेनामातरमुद्दिश्य) अवहिदा दाव अज्जा एदं सुवण्णभंडअं अवलोएदु, सो ज्जेव्व एसो ण वेत्ति (अवहित तावदार्येदं सुवर्णभाण्डमवलोकयतु तदेवेदं न वेति।)

वृद्धा– (अवलोक्य) सरिसो एसो, ण उण सो। (सदृशमेतद्, न पुनस्तत्।)

शकारः– आं, वुड्ढकुट्टणि! अक्खीहिं मंतिदं वाआए मूकिदं। (आं, वृद्धकुट्टनि? अक्षिभ्यां मन्त्रितं वाचा मूकितम्।)

वृद्धा– हदास! अवेहि। (हताश! अपेहि।)

श्रेष्ठिकायस्थौ– अप्पमत्तं कधेहि, सो ज्जेव एसो ण वेत्ति। (अप्रमत्तं कथय, तदेवैतन्न वेति।)

वृद्धा– अज्ज! सिप्पिकुसलदाए ओबंधेदि दिट्टिं। ण उण सो। (आर्य! शिल्पिकुशलतयावबध्नाति दृष्टिम्। न पुनस्तत्।)

अधिकरणिकः– भद्रे, अपि जानास्येतान्याभरणानि? वृद्धा - णं भणामि, ण हु ण हु अणभिजाणिदो। अह वा कदा वि सिप्पणा घडिदो भवे। (ननु भणामि, न खलु न खल्वनभिज्ञातः। अथवा कदापि शिल्पिना घटितो भवेत्।)

अधिकरणिकः– पश्य श्रेष्ठिन्।

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नूनं
रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य।
दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवर्गः
सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम्।।३४।।

अर्थः–

श्रेष्ठी-कायस्थ– (देखकर तथा वसन्तसेना की माता को उद्देश्य करके) अच्छा, आप सावधान होकर सोने की जेवरों के इस डिब्बे को देखिये, वही यह है अथवा नहीं।

वृद्धा– (देखकर) उसी के समान है, किन्तु वही नहीं है।

शकार– अच्छा, बूढ़ी कुट्टनी! (तुम्हारी) आँखों ने कह दिया (भले ही तुम्हारी) वाणी चुप रही।

वृद्धा– अभागे! हटो।

श्रेष्ठी-कायस्थ– सावधानी के साथ बतलाओ। यह वही है अथवा नहीं।

वृद्धा– आर्य! कारीगरी की बारीकी के कारण यह आँख को आकृष्ट कर रहा है। किन्तु वह (जिसे वसन्तसेना ने पहना था) नहीं है।

अधिकरणिक– भली महिला! क्या आप इन आभूषणों को जानती हैं?

वृद्धा– कहती तो हूँ कि नहीं, यह अनजान नहीं हैं। अथवा शायद कारीगर ने (वैसा ही) बना दिया हो।

अन्वयः– नूनम्, कृत्रिमस्य, रूपस्य, भूषणगुणस्य, च, सदृशानि, वस्त्वन्तराणि, भवन्ति; हि, शिल्पिवर्गः, दृष्ट्वा, क्रियाम्, अनुकरोति; कृतहस्ततया, एव, च, सादृश्यम्, दृष्टम्।।३४।।

शब्दार्थः– नूनम् = निश्चय ही, कृत्रिमस्य, = बनावटी, रूपस्य = आकार के, च = भी, सदृशानि = तुल्य, वस्त्वन्तराणि = दूसरी वस्तुयें, भवन्ति = होती हैं। हि = क्योंकि, शिल्पिवर्गः = कारीगर वर्ग, दृष्ट्वा = देखकर, क्रियाम् = बनावट की, अनुकरोति = नकल करता है। कृतहस्ततया = हाथ की सफाई के कारण, एव = ही, सादृश्यम् = समानता, दृष्टम् = देखी जाती है।।

अर्थः–

अधिकरणिक– सेठ जी देखो–

निश्चय ही बनावटी आकार एवं जेवरों के सुन्दरता आदि गुणों में दूसरी वस्तुयें भी एक जैसी होती हैं। क्योंकि कारीगर (किसी चीज को) देख कर (उसकी) बनावट की नकल करता है। (कारीगर) हाथ की सफाई के कारण ही (दो वस्तुओं में) समानता देखी जाती है।।३४।।

टीका– नूनम् = निश्चितम्; कृत्रिमस्य = क्रियायासञ्जातस्य, मानवनिर्मितस्येत्यर्थः; रूपस्य = आकृतेः; भूषणानाम् = अलंकाराणाम् गुणस्य = सौन्दर्यादिगुणस्य; च = अपि; सदृशानि = अनुरूपाणि; वस्त्वन्तराणि = अन्यानि वस्तूनि; भवन्ति = जायन्ते, हि = यतः; शिल्पिवर्गः = आभूषणनिर्मातृणां समूहः; दृष्ट्वा = विलोक्य इत्यर्थः; क्रियाम् = कलाम्; अनुकरोति = अनुसन्दधाति। इत्थमनुकरणस्य भावे सति–कृतहस्ततया–कृतः = अभ्यस्तः हस्तः = वस्तुनिर्माणे हस्तपाटवम् यैः तादृशाः तेषां भावः तया कृतहस्ततया = हस्तनैपुण्येन; एव, च; सादृश्यम् = साम्यम्; दृष्टम् = अवलोकितम्; अस्माभिरिति शेषः।।३४।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।३४।।

श्रेष्ठिकायस्थौ– अज्जचारुदत्तस्स केरकाइं एदाइं। (आर्यचारुदत्तीयान्येतानि।)

चारुदत्तः– न खलु न खलु।

श्रेष्ठिकायस्थौ– ता कस्स?। (तदा कस्य?।)

चारुदत्तः– इहात्रभवत्या दुहितुः।

श्रेष्ठिकायस्थौ– कधं एदाइं ताए विओअं गदाइं?। (कथमेतानि तस्या वियोगं गतानि?।)

चारुदत्तः– एवं गतानि। आं, इदम्।

श्रेष्ठिकायस्थौ– अज्जचारुदत्त! एत्थं सच्चं वत्तव्वं; पेक्ख पेक्ख।

सच्चेण सुहं खु लब्भइ सच्चालावेण होइ पावं।
सच्चं त्ति दुवेवि अक्खरा मा सच्चं अलिएण गूहेहि।।३५।।

(आर्यचारुदत्त! अत्र सत्यं वक्तव्यम्; पश्य पश्य
सत्येन सुखं खलु लभ्यते सत्यालापे न भवति पातकम्।
सत्यमिति द्वे अप्यक्षरे मा सत्यमलीकेन गूहय।।)

अर्थः–

श्रेष्ठी-कायस्थ– ये आर्य चारुदत्त के हैं।

चारुदत्त– नहीं, नहीं अर्थात् मेरे नहीं हैं।

श्रेष्ठी-कायस्थ– तब किसके हैं?

चारुदत्त– इन श्रीमती की लड़की के अर्थात् वसन्तसेना के।

श्रेष्ठी-कायस्थ– ये उससे अलग कैसे हो गये?

चारुदत्त– इस प्रकार हो गये। हाँ, यह–

अन्वयः– सत्येन, खलु, सुखम्, लभ्यते; सत्यालापे, पातकम्, न, भवति; सत्यम्, इति, द्वे, अपि, अक्षरे; सत्यम्, अलीकेन, मा, गूहय।।३५।।

शब्दार्थः– सत्येन = सत्य से, खलु = निश्चय ही, सुखम् = सुख, लभ्यते = मिलता है। सत्यालापे = सत्य बोलने पर पातकम् = पाप, न = नहीं, भवति = होता। सत्यम् = सत्य, इति = यह, द्वे = दो, अपि = भी, अक्षरे = अक्षर हैं। सत्यम् = सत्य को, अलीकेन = असत्य से, मा = मत गूहय = छिपाओ।।

अर्थः–

श्रेष्ठी-कायस्थ– आर्य चारुदत्त! यहाँ सच बोलना चाहिये। देखो, देखो, सत्य से निश्चय ही सुख मिलता है। सत्य बोलने पर पाप नहीं लगता। सत्य' केवल दो अक्षर है। सत्य को असत्य से मत छिपाओ।।३५।।

टीका– सत्येन = सत्यभाषणेनेत्यर्थः; खलु = निश्चितम्; सुखम् = आनन्दः; लभ्यते = प्राप्यते। सत्यस्य = यथार्थस्य अलाप भाषणे; पातकम् = पापम्; न भवति = न जायते। 'सत्यम्' इति द्वे अक्षरे = वर्णे स्तः; अलीकेन = असत्येन; मा गूहय = न संवृणु।।३५।।

इस श्लोक में वैतालीय छन्द है।।३५।।

चारुदत्तः–**आभरणान्याभरणानीति न जाने, किंत्वस्मद्गृहादानीतानीति जाने।**

शकारः– **उज्जाणं पवेशिअ पढमं मालेशि। कवडकावडिआए शंपदं णिगूहेशि?। (उद्यानं प्रवेश्य प्रथमं मारयसि। कपटकापटिकतया सांप्रतं निगृहसि?।)**

अधिकरणिकः– **आर्यचारुदत्त! सत्यमभिधीयताम्**–

इदानीं सुकुमारेऽस्मिन्निःशकं कर्कशाः कशाः।
तव गात्रे पतिष्यन्ति सहास्माकं मनोरथैः।।३६।।

अर्थः–

चारुदत्त– आभूषण (वे ही) आभूषण हैं इस बात को नहीं जानता। किन्तु ये हमारे ही घर से लाये गये हैं यह जानता हूं।

शकार– पहले तो बगीचे में ले जाकर उसे मार दिया और अब कपटपूर्वक धूर्तता से छिपा रहे हो?

अन्वयः— इदानीम्, सुकुमारे, अस्मिन्, तव, गात्रे, कर्कशाः, कशाः, अस्माकम्, मनोरथै, सह, निःशंकम्, पतिष्यन्ति,।।३६।।

शब्दार्थः— इदानीम् = अब; सुकुमारे = सुकुमार, अस्मिन् = इस, तव = तुम्हारे, गात्रे = शरीर पर, कर्कशा = कठोर, कशाः = कोड़े, अस्माकम् = हम लोगों के, मनोरथैः = मनोरथों के, सह = साथ, निःशंकम् = निर्भयता पूर्वक, पतिष्यन्ति = पड़ेंगे।।

अर्थः—

अधिकरणिक— *आर्य चारुदत्त! सच बोलिये—*

अब सुकुमार तुम्हारे इस शरीर पर कठोर कोड़े, हम लोगों के मनोरथ के साथ ही निर्भयतापूर्वक पड़ेंगे (अर्थात् तुम्हें बचाने की हम लोगों की इच्छा गिर गयी है। अब तुम्हें कोड़े लगेंगे)।।३६।।

टीका— इदानीम् = सम्प्रति, अपराधे सिद्धे सतीत्यर्थः; सुकुमारे = सुकोमले; अस्मिन् = अत्र वर्तमाने, तव = भवतः; गात्रे = शरीरे; कर्कशाः = अतिकठोराः; कशाः = अश्वादेस्ताडन्यः; अस्माकम् = अधिकरणिकादीनाम्; मनोरथैः = तव रक्षणेन सहितैः अभिलाषैः; सह = साकम्; निःशंकम् = निर्भयं यथा स्यात्तथा; पतिष्यन्ति = निक्षिप्ताः भविष्यन्ति।।३६।।

इस श्लोक में सहोक्तिअलंकार तथा पथ्यवक्त्र छन्द है।।३६।।

चारुदत्तः—

अपापानां कुले जाते मयि पापं न विद्यते।
यदि संभाव्यते पापमपापेन च किं मया?।।३७।।

अन्वयः— अपापानाम, कुले, जाते, मयि, पापम् , विद्यते; यदि; (मयि), पापम्, संभाव्ये, (तर्हि), अपापेन, च, मया, किम्?।।३७।।

शब्दार्थः— अपापानाम् = पाप रहित व्यक्तियों के, कुले = कुल में, जाते = पैदा हुए, मयि = मुझ में, पापम् = पाप, न = नहीं, विद्यते = है। यदि = यदि, (मयि = मुझ में), पापम् = पाप, संभाव्यते = सोचा जाता है, (तर्हि = तो), अपापेन = पापरहित, च = भी, मया = मुझसे, किम् = क्या (लाभ)?।।

अर्थः—

चारुदत्त— पापरहित व्यक्तियों के कुल में पैदा हुए मुझमें पाप नहीं है। यदि (मुझमें) पाप की शंका होती है तो पापरहित होने से भी मुझसे क्या (लाभ)?।।३७।।

टीका— न विद्यते पापं येषु ते अपापाः = पापरहिताः, पुण्यशालिनः इत्यर्थः, तेषाम्; कुले = सद्वंशे, जाते = उत्पन्ने; मयि = चारुदत्ते; पापम = पातकम्; न विद्यते = न वर्तते। यदि = चेत्; पापम् = अधम्, सम्भाव्यते = मन्यते; युष्माभिः मयीति शेषः; तर्हि अपापेन = पाप–शून्येन; च = अपि; मया = चारुदत्तेन; किम् = किं फलम्?।।३७।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।।३७।।

(स्वगतम्) न च मे वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन कृत्यम्। (प्रकाशम्) भोः! किं बहुना।

मया किल नृशंसेन लोकद्वयमजानता।
स्त्रीरत्नं च विशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति।।३८।।

अन्वयः— परलोकम्, अजानता, नृशंसेन, मया, खलु, स्त्री, वा, अविशेषेण, रतिः, शेषम्, एषः, अभिधास्यति।।३८।।

शब्दार्थः— परलोकम् = परलोक को, अजानता = न जानने वाले, नृशंसेन = क्रूर, मया = मेरे द्वारा, खलु = निश्चय ही, स्त्री = एक साधारण स्त्री, वा = अथवा, अविशेषेण = साक्षात्, रतिः = कामदेव की स्त्री रति...शेषम् = शेष बात को, एषः = यह (शकार), अभिधास्यति = बतलाएगा।।

अर्थः— (अपने आप) और वसन्तसेना से रहित मेरे जीने से क्या मतलब? (प्रकट रूप में) अजी! अधिक क्या—

दोनों लोकों (इस लोक और स्वर्ग लोक) को न जानने वाले तथा क्रूर मैंने विशेष रूप से रत्नस्वरूप एक स्त्री को.. ..शेष (अर्थात् मार दी) यह (शकार) कहेगा।।३८।।

टीका– परलोकम् = स्वर्गादिकमित्यर्थः; अजानता = अबुद्ध्यमानेन; = क्रूरेण; मया = चारुदत्तेन; खलु = निश्चितम्; स्त्री = योषित्; वा = अथवा; अविशेषेण = साक्षादित्यर्थः; रतिः = कामपत्नी....; शेषम् = अवशिष्टम्; एषः शकारः; अभिधास्यते = कथयिष्यति।।३८।।

इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।३८।।

शकारः– वावादिता। अले! तुमं पि भण, मए वावादिदेत्ति। (व्यापादिता। अरे! त्वमपि भण, मया व्यापादितेति।)

चारुदत्तः–त्वयैवोक्तम्।

शकारः– शुणेध शृणेध भट्टालका! एदेण मालिदा। एदेण ज्जेव शंशए छिण्णे। एदश्श दलिद्दचालुदत्तश्श शालीले दण्डे घालीअदु। (श्रृणुत श्रृणुत भट्टारकाः! एतेन मारिता। एतेनैव संशयच्छिन्नः। एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य शरीरो दण्डो धार्यताम्।)

अधिकरणिकः– शोधनक! यथाह राष्ट्रियः। भो राजपुरुषाः! गृह्यतामर्यं चारुदत्तः।

(राजपुरुषा गृह्णन्ति)

वृद्धा– पसीदंतु पसीदंतु अज्जमिस्सा!। ('जो दाव चोरेहिं अवहिस्स'-इत्यादि पूर्वोक्तं पठति) ता जदि वावादिदा मम दारिआ वावादिदा। जीवदु मे दीहाऊ। अण्णं च, अत्थिपच्चत्थिण्णं व्यवहारो। अहं अत्थिणी। ता मुचध एदं। (प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वार्यमिश्राः! तद्यदि व्यापादिता मम दारिका, व्यापादिता। जीवतु मे दीर्घायुः। अन्यच्च अर्थिप्रत्यर्थिनोर्व्यवहारः। अहमर्थिनी। तन्मुञ्चतैनम्)

शकारः– अवेहि गब्भदाशि! गच्च, किं तव एदिणा?। (अपेहि गर्भदासि! गच्छ, किं तवैतेन?।)

अधिकरणिकः– आर्ये! गम्यताम्। हे राजपुरुषाः! निष्क्रामयतैनाम्।

वृद्धा– हा जाद! हा पुत्तअ!। (हा जात! हा पुत्रक!।) (इति रुदती निष्क्रान्ता)

शकारः– (स्वगतम्) कडं मए एदश्श अत्तणो शलिशं। शंपदं गच्छामि। (कृतं मयैतस्यात्मनः सदृशम्, सांप्रतं गच्छामि।)

(इति निष्क्रान्तः)

अधिकरणिकः– आर्यचारुदत्त! निर्णये वयं प्रमाणम्; शेषे तु राजा। तथापि शोधनक!

विज्ञाप्यतां राजा पालकः–

'अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।।३६।।

अर्थः–

शकार– मार दी। अरे! तुम भी कहो कि मैंने मार दी है।

चारुदत्त– तूने ही कह दिया।

शकार– सुनिये, अधिकारीगण! सुनिये। इसने मारी है। इसने ही सन्देह खतम कर दिया। इस दरिद्र चारुदत्त के लिये शरीर के दण्ड निश्चित किया जाय।

अधिकरणिक– शोधनक! जैसा राजा के साले (शकार) ने कहा (वैसा करो)। हे सिपाहियों (राजपुरुषों) इस चारुदत्त को पकड़ लिया जाय।

(सिपाही पकड़ते हैं)

वृद्धा– विद्वान् आर्यजनों! कृपा कीजिए, कृपा कीजिए। ('यः तावत् चौरैः अपहृतस्य' इत्यादि पहले कहा गया वाक्य कहती है) तो यदि मेरी बेटी मारी गयी तो मारी गयी। मेरा चिरञ्जीवी (चारुदत्त) जिन्दा रहे। और दूसरी बात यह है कि मुकदमा वादी और प्रतिवादी का है। मैं वादी हूँ। तो इसको छोड़ दें।

शकार– दूर हट गर्भदासी! जा तेरा इससे क्या मतलब?

अधिकरणिक– श्रीमती जी! जाइये! हे सिपाहियों! इसे (वसन्तसेना की माता को) निकालो।

वृद्धा– हाय बेटे! हाय पुत्र! (इस प्रकार रोती हुई निकल जाती है)।

शकार– (अपने आप) मैंने इस चारुदत्त के लिये अपने अनुसार काम कर दिया। अब जा रहा हूँ। (ऐसा कहकर निकल जाता है)

अधिकरणिक– आर्य चारुदत्त! फैसला (निर्णय) करने के हम लोग अधिकारी हैं और बाकी बातों के राजा। तो भी शोधनक! राजा पालक को यह सूचित किया जाय कि–

अन्वयः– अयम्, विप्रः, पातकी, (अस्ति, तथाऽपि), न हि, वध्यः (इति), मनुः, अब्रवीत्; तु, अक्षतैः, विभवैः, सह, अस्मात्, राष्ट्रात्, निर्वास्यः।।३६।।

शब्दार्थः– अयम् = यह, विप्रः = ब्राह्मण, पातकी = पापी, (अस्ति = है, तथापि = तो भी), न हि = नहीं, वध्यः = वध करने के योग्य, (अस्ति = है, इति = ऐसा); मनुः = मनु ने, अब्रवीत् = कहा है; तु = किन्तु, अक्षतैः = समूची, विभवैः = सम्पत्ति के, सह = साथ, अस्मात् = इस, राष्ट्रात् = राष्ट्र से, निर्वास्यः = निकाल देने का पात्र है।

अर्थः– यह ब्राह्मण पापी होने पर भी वध करने के योग्य नहीं है, ऐसा मनु ने कहा है, किन्तु समूची सम्पत्ति के साथ इसे इस राष्ट्र से बाहर निकाल देना चाहिये।।३६।।

टीका– अयम् = वसन्तसेनायाः वधे अभियुक्तः; विप्रः = ब्राह्मणः; पात की = अबलावधपापकर्मा; अस्ति; तथापि न हि वध्यः = प्राणदण्डयोग्यः; इति–मनुः = धर्मशास्त्र–प्रणेता एकः ऋषिः; अब्रवीत् = अकथयत्। तु = किन्तु; अक्षतैः = असमग्रैः; विभवैः = सम्पत्तिभिः; सह = साकम्; अस्मात् = भवच्छासितात्; राष्ट्रात् = राज्यात्; निर्वास्यः = बहिष्करणीयः।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।३६।।

शोधनकः–**जं अज्जो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य, पुत्रः प्रविश्य, साश्रम्) अज्जा! गदम्हि तहिं। राआ पालओ भणादि-'जेण अत्थकल्लवत्तस्स कालणादो वसंसेणा वावादिदा, तं ताइं ज्जेव आहरणाइं गले वंधिअ डिंडिमं ताडिअ दक्खिणमसाणं णइअ सूले भज्जेध' त्ति। जो को वि अवरो एरिसं अकज्जं अणुचिट्ठदि सो एदिणा सणिआरदंडेण सासीअदि। (यदार्य आज्ञापयति, आर्याः! गतोऽस्मि तत्र। राजा पालको भणति'येनार्थकल्यवर्तस्य कारणाद्वसन्तसेना व्यापादिता, तं तान्येवाभरणानि गले बद्ध्वा डिण्डिमं ताडयित्वा दक्षिणश्मशानं नीत्वा शूले भङ्क्त' इति। यः कोऽप्यपर ईदृशमकार्यमनुतिष्ठति स एतेन सनिकारदण्डेन शास्यते।**

चारुदत्तः–**अहो, अविमृश्यकारी राजा पालकः। अथवा**

ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः।
स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणां दशाम्।।४०।।

अर्थः–

शोधनक– जैसी श्रीमान् की आज्ञा। (ऐसा कह कर और फिर प्रवेश करके, आँखों में आँसू भर कर) महानुभावों मैं वहाँ गया था। राजा पालक कहते हैं कि–जिसने कलेवा जैसे तुच्छ धन के लिए वसन्तसेना का वध किया उसको वे ही जेवर गले में बाँध कर, ढिढोरा पीट कर, दक्षिण दिशा के श्मशान में लेजा कर शूली पर चढ़ा दो।' और जो कोई दूसरा ऐसा बुरा काम करेगा वह इस अपमान सहित दण्ड से शाषित किया जायगा।।

अन्वयः– मन्त्रिभिः, ईदृशे, व्यवहाराग्नौ परिपातिताः, महीपालाः, कृपणाम्, दशाम्, गच्छन्ति, (इति), स्थाने, खलु।।४०।।

शब्दार्थः– मन्त्रिभिः = मन्त्रियों के द्वारा, ईदृशे = इस तरह की, व्यवहाराग्नौ = मुकदमा–विचार रूपी आग में, परिपातिताः = झोके गये, महीपालाः = राजा लोग, कृपणाम् = शोचनीय, दशाम् = दशा को, गच्छन्ति = प्राप्त होते हैं। (इति = इह), स्थाने = ठीक, उपयुक्त स्थान पर, खलु = ही, (है)।।

अर्थः–

चारुदत्त– अहह! राजा पालक बिना बिचारे काम करने वाला है। अथवा मन्त्रियों के द्वारा इस तरह की मुकदमा विचार रूपी आग में झोंके (डाले) गये राजा लोग शोचनीय दशा को प्राप्त होते हैं, यह ठीक ही है।।४०।।

टीका– मन्त्रिभिः = सचिवैः, तत्तदधिकारिभिरित्यर्थः; ईदृशे = एतादृशे, वस्तुतः झटिति निर्णेतुमशक्ये इत्यर्थः, व्यवहार अभियोगविचारः एव अग्निः = बह्निः तस्मिन्, विवादनिर्णयरूपाग्नौ इति यावत्; परिपातिताः = मन्त्रदानेन निक्षिप्ताः, महीपालाः = यान्ति, प्राप्नुवन्ति; इति यत् तत् स्थाने खलु = युक्तमेव।।४०।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवं रूपक अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।

अपि च,–

ईदृशैः श्वेतकाकीयै राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च।।४१।।

अन्वयः– श्वेतकाकीयैः, राज्ञः, शासनदूषकैः, ईदृशैः, (अधिकरणिकैः), अपापानाम्, सहस्राणि, हतानि, च, हन्यन्ते, च,।।४१।।

शब्दार्थः– श्वेतकाकीयैः = 'कौवा सफेद है' इस प्रकार का भी विश्वास कर लेने वाले, राज्ञः = राजा के, शासनदूषकैः = शासन को दूषित करने वाले, ईदृशैः = ऐसे, (अधिकरणिकैः = न्यायाधीशों के द्वारा), अपापानाम् = निरपराध व्यक्तियों के, सहस्राणि = हजार, हतानि = मारे गये हैं, च = और, हन्यन्ते = मारे जाते हैं।।

अर्थः– और भी–

'कौवा सफेद है' इस प्रकार का भी विश्वास कर लेने वाले, राजा के शासन को दूषित करने वाले ऐसे (न्यायाधीशों) के द्वारा हजारों निरपराध आदमी मारे गये हैं और अब भी मारे जाते हैं।।४१।।

टीका– श्वेतकाकीयैः = 'श्वेतः काकः, इत्येवं विपरीतार्थं स्वीकुर्वद्भिः, शब्दप्रमाणप्रधानैः विवेकशून्यैः इत्यर्थः, अथवा श्वेतकाकीयैः = श्वेतकाकतुल्यैः (बकसदृशैः), बहिः शुभ्रै अन्तः कृष्णैश्चेति भावः; अतः राज्ञः = शासकस्य; शासनम् = दण्डपद्धतिं दूषयन्ति ये तैः तथोक्तैः, अनुचितमार्गप्रदर्शिभिः; ईदृशैः = एतादृशैः विवेकभ्रष्टैः; अधिकरणिकैः इति शेषः, अपापानाम् = पापरहितानाम् विगतमलानामिति यावत्; सहस्राणि = बहूनि; हतानि = मारितानि; च = तथा; सम्प्रत्यपि हन्यन्ते = मार्यन्ते चापि। एभिः विवेकशून्यैः अधिकारिभिः महान् निरपराधः लोकसमुदायः हन्यते इति भावः।।४१।।

यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।४१।।

सखे मैत्रेय! गच्छ, मद्वचनादम्बामपश्चिममभिवादयस्व। पुत्रं च मे रोहसेनं परिपालयस्व।

विदूषकः– मूले छिण्णे कुदो पादवस्स पालणं?। (मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम्?।)

चारुदत्तः– मा मैवम्;

नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुतः।
मयि यो वै तव स्नेहो रोहसेने स युज्यताम्।।४२।।

अर्थः– मित्र मैत्रेय! जाओ मेरी ओर (मेरे वचन से) माता जी को आखिरी प्रणाम कहना। और मेरे पुत्र रोहसेन की देख भाल करना।

विदूषक– जड़ के ही कट जाने पर डालियों की देख भाल कैसे की जा सकती है? (अर्थात् तुम्हार बिना रोहसेन का जीना कठिन है।

अन्वयः– सुतः, लोकान्तरस्थानाम्, नृणाम्, देहप्रतिकृतः, (भवति); (अतः), मयि, तव, यः, स्नेहः, रोहसेने, वै, युज्यताम्।।४२।।

शब्दार्थः– सुतः = पुत्र, लोकान्तरस्थानाम् = परलोक में गये हुए, नृणाम् = लोगों का, देहप्रतिकृतिः = अपना प्रतिनिधि अर्थात् दूसरी देह, (भवति = होता है)। (अतः) मयि = मेरे ऊपर, तव = तुम्हारा, यः = जो, स्नेहः = प्रेम है, सः = वह रोहसेने = रोहसेन में (अर्थात् मेरे पुत्र में), वै = अवश्य ही, युज्यताम् = लगा दिया जाय।।

अर्थः—

चारुदत्त— पुत्र परलोक में गये हुये लोगों का अपना प्रतिनिधि होता है। इसलिये मेरे ऊपर तुम्हारा जो प्रेम है उसे रोहसेन में लगा दिया जाय।।४२।।

टीका— सुतः = पुत्रः; अन्यः लोकः लोकान्तरं तस्मिन् लोकान्तरे = स्वर्गादौ तिष्ठन्तीति; नृणाम् = मानवानाम्; देहप्रतिकृतिः—देहस्य = शरीरस्य प्रतिकृतिः = प्रतिमा, अपरः देहः इत्यर्थः; अतः मयि = चारुदत्ते; तव = भवतः, मैत्रेयस्येत्यर्थः; यः = अपूर्वः; स्नेहः = प्रेम; अस्ति सः = स्नेहः; रोहसेने अर्प्यताम्।।४२।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।४२।।

विदूषकः—भमो वअस्स! अहं ते पिअवअस्सो भविअ तुए विरहिदाइं पाणाइं धारेमि?। (भो वयस्य! अहं ते प्रियवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितान्प्राणान्धारयामि?।)

चारुदत्तः—रोहसेनमपि तावदर्शय।

विदूषकः—एव्वं, जुज्जदि। (एवम्, युज्यते।)

अधिकरणिकः— भद्र शोधनक! अपसार्यतामयं बटुः।

(शोधनकस्तथा करोति)

अधिकरणिकः— कः कोऽत्र भोः?। चाण्डालानां दीयतामादेशः।

(इति चारुदत्तं विसृज्य, निष्क्रान्ताः सर्वे राजपुरुषाः)

शोधनकः— इदो आअच्छदु अज्जो। (इत आगच्छत्वार्यः।)

चारुदत्तः— (सकरुणम्, 'मैत्रेय भोः! किमिदमद्य' (६/२६) इत्यादि पठति; आकाशे)

विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते मे विचारे
क्रकचमिह शरीरे वीक्ष्य दातव्यमद्य।
अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मणं मां निहंसि
पतसि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः।।४३।।

अर्थः—

विदूषक— हे मित्र! मैं तुम्हारा प्रिय मित्र होकर तुम्हारे बिना जी सकूँगा?

चारुदत्त— तनिक, रोहसेन को भी (मुझे) दिखला दो।

विदूषक— अच्छा, ठीक है।

अधिकरणिक— भले आदमी शोधनक! इस ब्राह्मण को हटा दो।

(शोधनक वैसा ही करता है)

अधिकरणिक— कौन! अरे यहाँ कौन है? चाण्डालों (जल्लादों) को आज्ञा दी जाय (चारुदत्त को फाँसी पर लेजाकर लटकाने के लिये)।

(इस प्रकार चारुदत्त को छोड़कर सभी राजकीय कर्मचारी निकल जाते हैं)

शोधनक— आर्य इधर आइये।

अन्वयः— विषसलिलतुलाग्निप्रार्थिते, मे, विचारे (सति), वीक्ष्य, अद्य, इह, शरीरे, क्रकचम्, दातव्यम्; अथ, रिपुवचनात्, वा, माम् ब्राह्मणम्, निहंसि, (चेत्), पुत्रपौत्रैः, समेतः, नरकमध्ये, पतसि।।४३।।

शब्दार्थः— विषसलिल—तुलाऽग्नि—प्रार्थिते = विष, जल, तराजु (तुला), तथा आग के द्वारा परीक्षणीय मे = मेरे, विचारे = मुकदमा के निर्णय होने पर, वीक्ष्य = देखकर, अद्य = आज, इह = इस, शरीरे = शरीर पर, क्रकचम् = आरा, दातव्यम् =

देना चाहिये, चलाना चाहिये। अथ = यदि, रिपुवचनात् = शत्रु के कहने से, वा = ही, माम् = मुझ, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण को, निहंसि = मारते हो, (चेत् = तो), पुत्रपौत्रैः = पुत्र तथा पौत्रों के, समेतः = साथ, नरकमध्ये = नरक में, पतसि = गिरोगे।।

अर्थः—

चारुदत्त— (करुणा के साथ, मैत्रेय भोः 'किमिदमद्य' ६/२६ इत्यादि पढ़ता है; आकाश में) मेरे मुकदमा के निर्णय में विष, जल, तराजू (तुला) तथा आग के द्वारा (दिव्य) परीक्षा की प्रार्थना मेरे द्वारा करने पर, उसे भली–भाँति देखकर ही आज मेरे इन शरीर पर आरा चलाना चाहिये किन्तु यदि शत्रु (शकार) के कहने से ही (हे राजन्) मुझ ब्राह्मण को मारते हो तो (इन) पुत्र तथा पौत्रों के साथ (अर्थात् अपने समूचे खान–दान के साथ) नरक में गिरोगे।।

टीका— विषम् = गरलम्, विषपानमित्यर्थः, सलिलम् = जलम्, जले मज्जनमित्यर्थः, तुला = तुलारोहणमित्यर्थः; अग्निः = वह्निः, वह्निप्रवेशन–मित्यर्थः, तैः विषसलिलतुलाग्निभिः, दिव्यसाधनैः इत्यर्थः, प्रार्थिते = परीक्षितुम् अभीष्टे; मे = मम, चारुदत्तस्येत्यर्थः; विचारे = व्यवहारनिर्णये, अभियोगविचारे सति; वीक्ष्य = दृष्ट्वा, दीव्यपरीक्षां दृष्ट्वा इत्यर्थः, अद्य = अधुना; इह = अस्मिन्, मामकीने; शरीरे = देहे; क्रकचम् = करपत्त्रम्। दातव्यम् = दातुमुचितम्; नृपस्येति शेषः, अथ = सम्यक् परीक्षां न विधायेत्यर्थः; रिपोः = शत्रोः, शकारस्येत्यर्थः, वचनात् = कथनात्; वा = एव; माम् = निरपराधम्, ब्राह्मणम् = द्विजम्; सर्वथा हन्तुमयोग्यमित्यर्थः; निहंसि = मारयसि, चेत् = तदा; पुत्रपौत्रैः = सुततत्सुतादिभिः निरवशेष परिवारैः इत्यर्थः; समेतः = संयुक्तः; नरकमध्ये = निरयान्तरे; पतसि = गमिष्यसीति।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं मालिनी छन्द है।।४३।।

अयमागतोऽस्मि।

यह मैं आ ही गया हूँ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इस प्रकार सभी निकल जाते हैं

इति व्यवहारो नाम नवमोऽंकः।

व्यवहार नाम नवाँ अंक समाप्त।।

दशमोऽंकः

(ततः प्रविशति चाण्डालद्वयेनानुगम्यमानश्चारुदत्तः)

उभौ—

तक्किं ण कलअ कालण णववहबंधणअणे णिउणा।
अचिलेण शीशलेअणशूलालोवेशु कुशलम्ह।।१।।

(तत्किं न कलय कारणं नववधबन्धनयने निपुणौ।
आचरेण शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु कुशलौ स्वः।।

अन्वयः— तत्, किम्, कारणम्, न, कलय; (आवाम्), नववधबन्धनयने, निपुणौ, अचिरेण, शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु, कुशलौ, स्वः।।

शब्दार्थः— तत् = तो, किम् = क्या, कारणम् = मतलब को, न = नहीं, कलय = जानते हो? (आवाम् = हम दोनों) नववधबन्धनयने = नये वध और बन्धन के लिये ले जाने में, निपुणौ = परम चतुर, अचिरेण = बहुत जल्द, शीर्षच्छेदनशूलारोपेषु = शिर काटने और शूली (फाँसी) पर चढ़ाने में, कुशलौ = निपुण, स्वः = हैं।।

(इसके बाद दो चाण्डालों से पीछा किया जाता हुआ (अनुगत) चारुदत्त प्रवेश करता है)

अर्थः—

दोनों— **(चाण्डाल)—**

तो क्या (इस रास्ते से हमारे जाने का) मतलब तुम नहीं जानते हो? हम दोनों (प्रति दिन के) नये वध और बन्धन के लिये (किसी अपराधी को) ले जाने में परम चतुर हैं, बहुत जल्द शिर काटने और शूली (फाँसी) पर चढ़ाने में निपुण हैं।।१।।

टीका— तत् = तु; किमिति प्रश्ने; कारणम् = हेतुम्; अनेन मार्गेण आवयोः गमते इति भावः; न कलय = न विचारय? न जानासि? इति भावः। आवाम् नवौ = नवीनौ यौ वधबन्धौ = नाशबन्धनौ तयोः नयने = प्रापणे; अथवा नवः = नवीनः यः वधः = मारणम् तस्मै बन्धः = बन्धनम् तस्य नयने = प्रापणे, वधाय दाने इत्यर्थः; अथवा नववधाय बन्धः = बन्धनस्थानमित्यर्थः, तत्र नयने = अपराधिनं गृहीत्वा गमने; निपुणौ = परमप्रवीणौ; तथा अचिरेण = अविलम्बेन; शीर्ष्णः = शिरसः छेदनेषु = कर्तनेषु तथा शूले = प्राणापहारके लौहफलके आरोपेषु = आरोपणेषु; वध्यस्येति शेषः; कुशलौ = परमचतुरौ; स्वः = वर्तावहे।।१।।

इस श्लोक में गाथा छन्द है।।१।।

ओशलध अज्जा! ओशलध। एशे अज्जचारुदत्ते

दिण्णकलवीलदामे गहिदे अम्हेहिं वज्झपुलिसेहिं।
दीवे व्व मंदणेहे थोअं थोअं खअं जादि।।२।।

अपसरतार्याः अपसरत। एष आर्यचारुदत्तः

दत्तकरवीरदामा गृहीत आवाभ्यां वध्यपुरुषाभ्याम्।

दीप इव मन्दस्नेहः स्तोकं स्तोकं क्षयं याति।।

अन्वयः— दत्तकरवीरदामा, आवाभ्याम्, वध्यपुरुषाभ्याम्, गृहीतः, (एषः, आर्य—चारुदत्तः), मन्दस्नेहः, दीपः, इव, स्तोकम्, स्तोकम्, क्षयम्, याति।।२।।

शब्दार्थः— दत्तकरवीरदामा = पहनायी गयी कनेर की मालावाला, आवाभ्याम् = हम दोनों, वध्यपुरुषाभ्याम् = बध करने के लिये रखे गये (नियुक्त) जनों के द्वारा, गृहीतः = पकड़ा गया, (एषः = यह, आर्यचारुदत्तः = चारुदत्त), मन्दस्नेहः = कमतल वाले, दीपः = दीपक, इव = जैसा, स्तोकम् = थोड़ा, स्तोकम् = थोड़ा, क्षयम् = नाश को, याति = प्राप्त हो रहा है।।

अर्थः— हटो माननीय जनों, हटो। यह आर्य चारुदत्त—

पहनायी गयी कनेर की माला वाला, वध करने के लिये रखे गये (नियुक्त) हम दोनों जनों के द्वारा पकड़ा गया (यह चारुदत्त) कम तेल वाले दीपक की भाँति धीरे धीरे नाश को प्राप्त हो रहा है।।२।।

टीका— दत्तम् = अर्पितम्, कण्ठे क्षिप्तमित्यर्थः, करवीरस्य = शतप्रासापरपर्यायस्य रक्तपुष्पविशेषस्य, लोके 'कनेर' इति ख्यातस्य दाम = माला यस्मै सः, प्राप्तप्राणदण्डः रक्तकरवीरमालया रक्तचन्दनेन च अलङ्क्रियते जनः; आवाभ्याम् = चारुदत्तं वध्यभूमौ नयनतत्पराभ्याम्; वधे = हननकार्ये साधू इति वध्यौ = वधप्रवीणौ इत्यर्थः, तौ च तौ पुरुषौ चेति ताभ्याम्; वधकार्ये नियुक्ताभ्यामावाभ्यामित्यर्थः; गृहीतः = धृतः; मन्दः = क्षीणः स्नेहः = तैलम्, पक्षे—जीवनानुरागः यस्य तादृशः; दीपः = दीपकः; इव = यथा; स्तोकं स्तोकम् = मन्दं मन्दम्, शनैः शनैः इति यावत्; क्षयम् = नाशम्; याति = गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः।।२।।

इस श्लोक में श्लेष से अनुप्राणित उपमा अलंकार है। प्रयुक्त छन्द का नाम है—आर्या।

चारुदत्तः— **(सविषादम्)**

नयनसलिलसिक्तं पांशुरुक्षीकृतांग
पितृवनसुमनोभिर्वेष्टितं मे शरीरम्।
विरसमिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्तं
बलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति।।३।।

अन्वयः— इह, विरसम्, रटन्तः, वायसाः; नयनसलिलसिक्तम्, पाशुरुक्षीकृतांगम्, पितृवनसुमनोभिः, वेष्टितम्, रक्तगन्धानुलिप्तम्, मे शरीरम्, बलिम्, इव, परिभोक्तुम्, तर्कयन्ति।।३।।

शब्दार्थः— इह = यहाँ, विरसम् = कर्कशतापूर्वक, रटन्तः = शब्द करते हुए, वायसाः = कौवे; नयनसलिलसिक्तम् = आसुओं से भीगे हुए, पांशुरुक्षीकृतांगम् = धूलि–धूसरित अंगवाले, पितृवनसुमनोभिः = श्मशान के फूलों से, वेष्टितम् = ढके हुए रक्तगन्धानुलिप्तम् = लालचन्दन से पुते हुए, मे = मेरे, शरीरम् = शरीर को; बलिम् = बलि के (पूजा में चढाए गये पदार्थों के) इव = समान, परिभोक्तुम् = खाने के लिये, तर्कयन्ति = विचार कर रहे हैं।।

अर्थः—

चारुदत्त— (दुःख के साथ)—

यहाँ कर्कश शब्द करते हुये कौवे आँसुओं से भीगे हुये, धूलि–धूसरित अंगवाले, श्मशान के फूलों से ढके हुए लालचन्दन से पुते हुए मेरे इस शरीर को बलि के समान खाने का विचार कर रहे हैं।।३।।

टीका— इह = दक्षिणश्मशानमार्गे; विरसम् = कर्कशम्, यथा स्यात्तथा; रटन्तः = शब्दं कुर्वन्तः; वायसाः = काकाः; नयनसलिलेत्यादि–नयनयोः = वेत्रयोः सलिलैः = जलैः, अश्रुभिः इत्यर्थः, सिक्तम् = आर्द्रम्; तथा पांशुभिः = धूलिभिः, रुक्षीकृतानि = धूसरीकृतानि अंगानि = अवयवाः यस्य तत्; पितृवनस्य = श्मशानस्य, सुमनोभिः = पुष्पैः वेष्टितम् = आच्छादितम्; रक्तगन्धेन = रक्तचन्दनेन अनुलिप्तम् = व्याप्तम्; मे = मम चारुदत्तस्य; शरीरम् = देहम् बलिमिव = पूजाद्रव्यमिव; परिभोक्तुम् = भक्षणं कर्तुम्; तर्कयन्ति = उत्प्रेक्षन्ते; विचारयन्ति।।३।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं मालिनी छन्द है।।३।।

चाण्डालौ— **ओशलध अज्जा! ओशलध।**

किं पेक्खध छिज्जंतं शप्पुलिशं कालपलशुधालाहिं?।
शुअणशउणाधिवाशं शज्जणपुलिशद्दुमं एदं।।४।।

(अपसरतार्यौ! अपसरत।

किं पश्यत छिद्यमानं सत्पुरुषाः कालपरशुधाराभिः।
सुजनशकुनाधिवासं सज्जनपुरुषद्रुममेतम्।।

अन्वयः— हे सत्पुरुषाः! सुजनशकुनाधिवासम्, एतम्, सज्जनपुरुषद्रुमम्, कालपरशुधाराभिः, छिद्यमानम्, किम्, पश्यत।।४।।

शब्दार्थः— हे सत्पुरुषाः! = हे सत्पुरुषो सुजनशकुनाधिवासम् = सज्जनरूपी पक्षियों के आश्रयस्थान, एतम् = इस, सज्जनपुरुषद्रुमम् = साधु पुरुषरूपी वृक्ष को, कालपरशुधाराभिः = कालरूपी कुल्हाड़ी की धाराओं से, अथवा काल की कुल्हाड़ी की धाराओं से, छिद्यमानम् = काटे जाते हुए किम् = क्यों, पश्यत = देख रहे हो?।।

अर्थः—

दोनों चाण्डाल— हटो महानुभावो, हटो—

हे सत्य पुरुषो! सज्जन रूपी पक्षियों के आश्रय–स्थान, साधु पुरुष रूपी इस वृक्ष को कालरूपी कुल्हाड़ी की धारा से काटे जाते हुए क्यों देखते हो? अर्थात् सत्पुरुष का बध देखना उचित नहीं है, अतः हट जाओ।।४।।

टीका— हे सत्पुरुषारु! हे सज्जनाः! अन्तिमे क्षणे चारुदत्तं द्रष्टुमुपस्थिताः इति भावः; सुजनाः = साधव एव शकुनाः = पक्षिणः तेषाम् अधिवासः = निवासस्थानम् तम्; सज्जनाश्रयप्रदमित्यर्थः; एतम् = आवाभ्यां वधाय नीयमानम्; सज्जनपुरुषः = साधुपुरुषः एव द्रुमः वृक्षः तम्। कालस्य = मृत्योः समयस्य वा परशोः = कुठारस्य धाराभिः = तीक्ष्णाग्रैः; अथवा कालः एव परशुः तस्य धाराभिः; अथवा काल इव परशुः तस्य धाराभिः; छिद्यमानम् = भिद्यमानम्; किं पश्यत किमवलोकयत्?।।४।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार एवं आर्या छन्द है।।४।।

आअच्छ ले चालुदत्ता! आअच्छ।

आगच्छ रे चारुदत्त! आगच्छ।)

चारुदत्तः—पुरुषभाग्यानामचिन्त्याः खलु व्यापाराः, यदहमीदृशीं दशामनुप्राप्तः।

सर्वगात्रेषु विन्यस्तै रक्तचन्दनहस्तकैः।
पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोहं पशूकृतः।।५।।

अन्वयः— सर्वगात्रेषु, विन्यस्तैः, रक्तचन्दनहस्तकैः, पिष्टचूर्णावकीर्णः, च, अहम्, पुरुषः, पशूकृतः।।५।।

शब्दार्थः— सर्वगात्रेषु = सभी अंगों पर, विन्यस्तैः = लगाये गये, रक्तचन्दनहस्तकैः = लाल चन्दन के हाथ—छापे के द्वारा, पिष्टचूर्णावकीर्णः = (चावल के) आटे और (तिलों के) चूरे से व्याप्त, अहम् = मैं, पुरुषः = पुरुष, पशूकृतः = पशु कर दिया गया हूँ।।

अर्थः— आओ रे चारुदत्त आओ।

चारुदत्त— पुरुषों के भाग्यों के काम अचिन्तनीय हुआ करते हैं, जो कि मैं ऐसी दशा को प्राप्त हो गया हूँ।

सभी अंगों पर लगाये गये लाल चन्दन के हाथ—छापे (हाथ के चिन्ह) के द्वारा एवं (चावल के) आटे और (तिल के) चूरे से व्याप्त करके मुझ पुरुष को ही (बलि का) पशु बना दिया गया है।।

टीका— सर्वगात्रेषु = सर्वांगेषु; विन्यस्तैः = प्रदत्तैः; रक्तचन्दनस्य = लोहित—चन्दनस्य, हस्तकैः = हस्ताः एव हस्तकाः, हस्ताः इव हस्तकाः वा, स्वार्थे इवार्थे वा कन्, तैः हस्तकैः = हस्तचिह्नैः; कारणभूतैः; पिष्टैः = तण्डुलादीनां विकारैः चूर्णैः = तिलचूर्णैश्च अवकीर्णः = परिव्याप्तश्च; अहम् = अधुना वध्यभूतः; पुरुषः = मानवः; अपशुः पशुः सम्पद्यमानः कृतः इति पशूकृतः = बलिपशुतुल्यः कृतः।।५।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।।५।।

(अग्रतो निरूप्य) अहो, तारतम्यं नराणाम्। (सकरुणम्)

अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मर्त्यं धिगस्त्वित्युपजातबाष्पाः।
अशक्नुवन्तः परिरक्षितुं मां स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौराः।।६।।

अन्वयः— अमी; हि; पौराः, मदुपेतम्, एतत्, दृष्ट्वा, मर्त्यम्, धिक्, अस्तु, इति; (उक्त्वा), उपजातबाष्पाः, माम्, परिरक्षितुम्, अशक्नुवन्तः; स्वर्गम्, लभस्व, इति, वदन्ति।।६।।

शब्दार्थः— अमी = ये; पौराः = नगर के निवासी, मदुपेतम् = मेरे द्वारा पाये गये, एतत् = इस (दुःख) को, दृष्ट्वा = देखकर, मनुष्य को, धिक् = धिक्कार, अस्तु = हो; इति = ऐसा, (उक्त्वा = कह कर), उपजातबाष्पाः = आँखों में आँसू भरे हुए, माम् = मुख को, परिरक्षितुम् = बचाने के लिये, अशक्नुवन्तः = असमर्थ होते हुए, स्वर्गम् = स्वर्ग को, लभस्व = पाओ, इति = वदन्ति = कह रहे हैं।।

अर्थः— (सामने देखकर) लोगों का समूह आश्चर्यजनक है। (करुणा के साथ)—

ये नगर के निवासी मेरे द्वारा पाई गयी इस हालत को देखकर (अर्थात् मुझे इस हालत में देखकर), यह कह कर

कि–क्षणभंगुर मनुष्य को धिक्कार है; आँखों में आँसू भरे हुए, मुझ को बचाने मे असमर्थ होते हुए तुम स्वर्ग पाओ, यह कह रहे हैं।।६।।

टीका– अमी = मां द्रष्टुमितस्ततः स्थिताः; हीति पादपुर्तौ; पौराः = पुरवासिन; जनाः; मया = चारुदत्तेन उपेतम् = प्राप्तम् अथवा मयि = चारुदत्ते उपेतम् = आगतम्; एतत् = मदीयं दुःखम्, बध्यचिन्हं वा; दृष्ट्वा = अवलोक्य, मर्त्यम् = मनुष्यम् मरणधर्माणमित्यर्थः, धिक् = धिक्कारम्; निन्दा इत्यर्थः; अस्तु = वर्तताम्; इति = इत्थम्; उक्त्वेति शेष उपजाति छन्दः बाष्प = अश्रुपूर्णनयनाः; माम् = वधाय नीयमानं मां चारुदत्तमित्यर्थः; परिरक्षितुम् = प्राणदण्डात् परित्रातुम्, अशं नुवन्त अपारयन्तः, असमर्थाः भवन्तः इत्यर्थः; स्वर्गम् = सल्लोकम्; लभस्व = प्राप्नुहि; इति = इत्थम्; वदन्ति = कथयन्ति ।६।

इस श्लोक में उपजाति छन्द है।।६।।

चाण्डालौ–ओशलध अज्जा! ओशलध। किं पेक्खध?।

इंदे प्पवाहिअंते गोप्पशवे शंकमं च तालाणं।
शुपुलिशपाणविपत्ती चत्तालि इमे ण दट्टव्वा।।७।।

(अपसरतार्याः अपसरत। किं पश्यत?।

इन्द्रः प्रवाह्यमाणो गोप्रसवः संक्रमश्च ताराणाम्।
सुपुरुषप्राणविपत्तिश्चत्वार्येतानि न द्रष्टव्यानि।।)

अन्वयः– प्रवाह्यमाणः, इन्द्रः, गोप्रसवः, ताराणाम्, संक्रमः, च, सुपुरुषप्राणविपत्तिः, च, एतानि, चत्वारि, न, द्रष्टव्यानि।।७।।

शब्दार्थः– प्रवाह्यमाणः = बहाया जाता हुआ। इन्द्रः = इन्द्रध्वज, गोप्रसवः = गाय का बियाना, ताराणाम् = ताराओं का, संक्रम = टूट कर गिरना, सुपुरुषप्राणविपत्तिः = श्रेष्ठ पुरुष का वध, एतानि = ये, चत्वारि = चार, न = नहीं द्रष्टव्यानि = देखने योग्य हैं।।

अर्थः–

दोनों चाण्डाल– हटो, महानुभावो! हटो। क्या देख रहे हो?–

जल में बहाने के लिये ले जाता हुआ इन्द्र–ध्वज, गाय का प्रसव, ताराओं का टूटकर गिरना तथा श्रेष्ठ पुरुष का वध–इन चारों को नहीं देखना चाहिये।।७।।

टीका– प्रवाह्यमाणः = विसर्जनाय नीयमानः, प्रवाह्यमानो वा; इन्द्रः = इन्द्रध्वजः; गवाम् = धेनूनाम् प्रसवः = प्रसूतेः ताराणाम् = नक्षत्राणाम्; संक्रमः = स्थानच्युतिः पतनमित्यर्थः; सुपुरुषस्य = सज्जनस्य श्रेष्ठपुरुषस्य वा प्राणविपत्तिः = प्राणनाशः एतानि = इमानि; चत्वारि = चतुःसंख्याकानि वस्तूनि; न द्रष्टव्यानि = नावलोकनीयानि।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।।७।।

एकः– हंडे आहीँता! पेक्ख पेक्ख

णअलीपधाणंभूदे वज्झीअंते कदंतअण्णाए।
किं लुअदि अंतलिक्खे आदु अणब्भे पडदि वज्जे।।८।।

अरे आहीन्त! पश्य पश्य

नगरीप्रधानभूते वध्यमाने कृतान्ताज्ञया।
किं रोदित्यन्तरिक्षमथवाऽनभ्रे पतति वज्रम्।।)

अन्वयः– कृतान्ताज्ञया, नगरीप्रधानभूते, वध्यमाने, किम्, अन्तरिक्षम्, रोदिति, अथवा, अनभ्रम्, वज्रम्, पतति?।।८।।

शब्दार्थः– कृतान्ताज्ञया = यमराज की आज्ञा से, नगरीप्रधानभूते = नगरी के प्रधान (पुरुष चारुदत्त के), वध्यमाने = मार जाने पर (वध की तैयारी होने पर), किम् = क्या, अन्तरिक्षम् = आकाश, रोदिति = रो रहा है, अथवा = या अनभ्रम् = बिना बादलों का, वज्रम् = वज्र, पतति = गिर रहा है।।

अर्थः—

एक चाण्डाल— अरे, आहीन्त! देख, देख—

यमराज (के सामान राजा पालक) की आज्ञा से इस नगरी के प्रधान पुरुष (चारुदत्त) के वध की तैयारी होने पर, क्या आकाश रो रहा है? अथवा बिना बादलों के ही वज्र गिर रहा है?।।८।।

टीका— कृतान्ताज्ञया—कृतान्तस्य = यमराजस्य यमतुल्यस्य राज्ञः पालकस्येत्यर्थः अज्ञया = आदेशेन; अथवा कृतान्तस्य = भाग्यस्य, आज्ञया = विधानेन; अथवा कृतान्तस्य = अधिकरणिकनिर्णीतस्य सिद्धान्तस्य आज्ञया = आदेशेन; नगरीप्रधानभूते—नगर्याः = उज्जयिन्याः प्रधानभूते = सर्वश्रेष्ठपुरुषे, चारुदत्ते इत्यर्थः; वध्यमाने = हन्यमाने, वधार्थं नीयमाने सतीत्यर्थः; किम् अन्तरिक्षम् = गगनम्। रोदिति = विलपति? अथवा अनभ्रम्—नास्ति अभ्रम् = मेघः यस्मिन् तदनभ्रम् = मेघशून्यम्; वज्रम् = अशनिः, पतति = आकाशादागच्छति?।।८।।

इस श्लोक में सन्देह नामक अलंकार तथा आर्या छन्द है।।८।।

द्वितीयः— अले गोहा!

ण अ लुअदि अंतलिक्खे णेय अणब्भे पडदि वज्जे।
महिलाशमूहमेहे निवडदि णअणंबु धाराहिं।।६।।

(अरे गोह!

न च रोदित्यन्तरिक्षं नैवानभ्रं पतति वज्रम्।
महिलासमूहमेघान्निपतति नयनाम्बु धाराभिः।।

अन्वयः— न, च, अन्तरिक्षम्, रोदिति; नैव, अनभ्रम्, वज्रम्, पतति; (किन्तु) महिलासमूहमेघात्, नयनाम्बु, धाराभि, निपतति।।६।।

शब्दार्थः— न च = न तो, अन्तरिक्षम् = आकाश, रोदिति = रो रहा है; नैव = नहीं, अनभ्रम् = बिना बदलों के, वज्रम्, वज्र, पतति = गिर रहा है। (किन्तु), महिलासमूहमेघात् = स्त्रियों के समूह रूपी मेघ से, नयनाम्बु = आँखों का पानी (आँसू) धाराभिः = धाराओं से (अर्थात् धाराओं के रूप में), निपतति = गिर रहा है।।

अर्थः—

दूसरा चाण्डाल— अरे गोह!

न तो आकाश रो रहा है, और न बिना बादलों के वज्र ही गिर रहा है। (किन्तु) स्त्रियों के समूहरूपी मेघ से आँखों का पानी (आँसू) धाराओं के रूप में गिर रहा है।।६।।

टीका— न च = नैव; अन्तरिक्षम् = गगनम्; रोदिति = विलपति; नैव = न च; अनभ्रम् = मेघसम्बन्धविरहितम्; वज्रम् = अशनिः; पतति = आकाशादागच्छति। किं तर्हात्याशंकायामुच्यते = किन्तु; महिलासमूहः = स्त्रीसमुदायः एव मेघः = जलदः तस्मात्; नयनानाम् = नेत्राणाम् अम्बुः = जलम; अश्रु इत्यर्थः; धाराभिः = प्रवाहैः; निपतति = वर्षति।।६।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा उपगीति छन्द है। आर्यापरार्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम्।।६।।

अवि अ,—

वज्झम्मि णीअमाणे जणश्श शव्वश्श लोदमाणश्श।
णअणशलिलेहिं शित्ते लच्छादो ण उण्णमइ लेणू।।१०।।

अन्वयः— वध्ये, नीयमाने, रुदतः, सर्वस्य, जनस्य, नयनसलिलैः, सिक्तः; रेणुः, रथ्यातः, न, उन्नमति।।१०।।

शब्दार्थः— वध्ये = जिसे प्राणदण्ड की आज्ञा मिल चुकी है ऐसे (चारुदत्त के), नीयमाने = ले जाये जाने पर, रुदतः = रोते हुए, सर्वस्य = सभी, जनस्य = लोगों की, नयनसलिलैः = आँखों के जल से, सिक्तः = भीगी हुई, रेणुः = धूलि, रथ्यातः = गली से, न = नहीं, उन्नमति = उड़ रही है।।

अर्थः– और भी–

वध्य (चारुदत्त) को वध–स्थान पर ले जाये जाने के समय चारुदत्त को देख कर रोते हुए सभी लोगों की आँसुओं से भीगी हुई धूलि गली से नहीं उड़ रही है।।१०।।

टीका– वध्ये–वधम् अर्हतीति वध्यः तस्मिन् वध्ये = प्राणदण्डार्हे; चारुदत्ते इत्यर्थः; नीयमाने = प्राप्यमाणे सति; वधभूमिमिति शेषः, तं विलोक्य रुदतः = विलपतः; सर्वस्य = निखिलस्य; जनस्य = लोकस्य; नयनानाम् नेत्राणाम्, सलिलैः = जलैः, अश्रुभिः इत्यर्थः; सिक्तः = आर्द्रः, रेणुः = धूलिः; रथ्यातः = प्रतोल्याः; न उन्नमति = न उत्तिष्ठति।।१०।।

इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार तथा आर्या छन्द है।।१०।।

अपि च,–

वध्ये नीयमाने जनस्य सर्वस्य रुदतः।

नयनसलिलैः सिक्तो रथ्यातो नोन्नमति रेणुः।।)

चारुदत्तः– **(निरूप्य, सकरुणम्)**

एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मां वातायनार्धेन विनिःसृतास्याः।
हा चारुदत्तेत्यभिभाषमाणां बाष्पं प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति।।११।।

अन्वयः– हर्म्यगताः, एताः, स्त्रियः, पुनः वातायनार्धेन, विनिःसृतास्याः, माम् (अभिलक्ष्य) हा चारुदत्त! इति, अभिभाषमाणाः प्रणालीभिः, इव, बाष्पम्, उत्सृजन्ति।।११।।

शब्दार्थः– हर्म्यगताः = महलों में रहने वाली, एताः = ये, स्त्रियः स्त्रियाँ, पुनः = फिर, वातायनार्धेन = खिड़कियों के एक हिस्से से, विनिःसृतास्याः = मुह निकाले हुए, माम् = मुझको, (उद्दिश्य = लक्ष्य करके), हा चारुदत्त!' = हाय चारुदत्त! इति = ऐसा; अभिभाषमाणाः = कहती हुई, प्रणालीभिः = परनालों से, इव = मानो, बाष्पम् = आँसू, उत्सृजन्ति = बहा रही हैं।

अर्थः–

चारुदत्त– (देख कर करुणापूर्वक)– महलों में रहने वाली ये स्त्रियाँ फिर खिड़कियों के एक हिस्से से मुँह निकाले हुए मुझको लक्ष्य करके 'हाय चारुदत्त' ऐसा कहती हुई मानों परनालों से ही आँसू बहा रही हैं।।११।।

टीका– हर्म्यगताः = प्रासादस्थिताः; वस्तुतः धनिनां वासः 'हर्म्यम्' कथ्यते, देवभूभुजां प्रासादः उच्यते। एताः = परिदृश्यमानाः स्त्रियः = वनिताः; पुनः = मुहुः; वातायनार्धेन–वातस्य = वायो अयनम् = गमनम् येन तत् वातायनम् = गवाक्षः तस्य अर्द्धेन = एकांशेन; गवाक्षस्य एकभागेन इत्यर्थः; विनिःसृतानि = विनिर्गतानि आस्यानि = आननानि यासां ताः, तथाभूताः सत्यः माम् = वधाय नीयमानं चारुदत्तमित्यर्थः; अभिलक्ष्येति शेषः; 'हा' = खेदेऽव्ययपदम्; चारुदत्त! इति = सार्थम्, अभिभाषमाणाः = कथयन्त्यः; प्रणालीभिः = जलनिःसरणमार्गैः, इव; वाष्पम् = अश्रु; उत्सृजन्ति = प्रवाहयन्ति।।११।।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार एवं इन्द्रवज्रा छन्द है।।११।।

चाण्डालौ– आअच्छ ले चालदत्ता! आअच्छ। इमं घोषणट्ठाणं। आहणेध डिंडिमं, घोशेध घोशणं। (आगच्छ रे चारुदत्त! आगच्छ। इदं घोषणस्थानम्। आहत डिण्डिमम्, घोषयत घोषणाम्।

उभौः– शुणाघ अज्जा! शुणाघ। एशे शत्थवाहविणअदत्तश्श णत्थिके शाअलदत्तश्श पुत्तके अज्जचालुदत्ते णाम। एदिणा किल अकज्जकालिणा गणिआ वशंतशेणा अत्थकल्लवत्तश्श कालणादो शुण्णं पुप्फकलंडअजिण्णुज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशबलक्कालेण मालिदे त्ति, एशे शलोत्ते गहिदे, शअं अ पडिवण्णे। तदो लण्णा पालएण अम्हे आण्णत्ता एदं मालेदुं। जदि अवले ईदिशं उभअलोअविलुद्धं अकज्जं कलेदि तं पि लाआ पालए एव्वं ज्जेव शाशदि। (श्रृणुतार्याः श्रृणुत। एष सार्थवाहविनयदत्तस्य नप्ता सागरदत्तस्य पुत्रक आर्यचारुदत्तो नाम। एतेन किलाकार्यकारिणा गणिका वसन्तसेनार्थकल्यवर्तस्य कारणाच्छून्यं पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं प्रवेश्य बाहुपाशबलात्कारेण मारितेति एष सलोप्त्रो गृहीतः; स्वयं च प्रतिपन्नः ततो राज्ञा पालकेन वयमाज्ञप्तौ एक्तं मारयितुम् यद्यपर ईदृशमुभयलोकविरुद्ध सकार्यं करोति तमपि राजा पालक एवमेव शास्ति)।

चारुदत्त :- (सनिर्वेदं स्वगतम्)

मखशतपरिपूतं गोत्रमुदभासितं मे
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्।।१२।।

अर्थः–

दोनों चाण्डाल– आओ रे चारुदत्त! आओ। यह घोषणा करने की जगह है। ढोल पीटो। घोषणा करो।

दोनों चाण्डाल– सुनिये महानुभावो! सुनिये, यह व्यापारी विनयदत्त का नाती (पौत्र), सागरदत्त का बेटा आर्य चारुदत्त है। कुकृत्य करने वाले इसी (आदमी) ने, कलेवा जैसे तुच्छ धन के लिये, वेश्या वसन्तसेना को पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में ले जाकर अपने हाथ के फन्दे से जबरदस्ती (गला दबाकर) मार डाला। यह चोरी के धन सहित पकड़ा गया और स्वयं भी स्वीकार कर लिया। उसके बाद राजा पालक ने इसे मारने के लिये हम लोगों का आज्ञा दी है। यदि कोई दूसरा भी दोनों लोकों (इस लोक और स्वर्ग लोक) के विरुद्ध इस प्रकार के कार्य को करेगा, तो उसे भी राजा पालक इसी प्रकार दण्ड देंगे।

अन्वयः– पुरस्तात्, मखशतपरिपूतम्, (यत्), मे, गोत्रम्, सदसि, निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः, उद्भासितम्, (आसीत्), मरणदशायाम्, वर्तमानस्य, मम, तत्, पापैः, असदृशमनुष्यैः, घोषणायाम्, घुष्यते,।।१२।।

शब्दार्थः– पुरस्तात् = पहले, मखशतपरिपूतम् = सैकड़ों यज्ञों से पवित्र, (यत् = जो), मे = मेरा, गोत्रम् = कुल, सदसि = सभा में (अर्थात् यज्ञ–सभा में) निबिडचैन्यब्रह्मघोषैः = भरे हुए पूजा आदि के स्थानों में वेद–पाठों से, उद्भासितम् = उज्ज्वल, (आसीत् = था); मरणदशायाम् = मरने की हालत में, वर्तमानस्य = विद्यमान्, मम = मेरा, तत् = वही कुल, पापैः = पापी, असदृशमनुष्यैः = अयोग्य जनों के द्वारा, घोषणायाम् = घोषणा में अथवा घोषणा के स्थान में, घुष्यते = घोषित किया जा रहा है।।

अर्थः–

चारुदत्त– दुःख के साथ, अपने आप–

पहले, सैकड़ों यज्ञों से पवित्र जो मेरा कुल यज्ञ–सभा में तथा (निमन्त्रित व्यक्तियों से) भरे हुए पूजा आदि के स्थानों में वेद–पाठों से उज्ज्वल (प्रकाशित) रहा करता था। (वही मेरा कुल) मरने की हालत में मेरे विद्यमान होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनों (चाण्डालों) के द्वारा घोषणा के स्थान पर (बुरे काम के साथ) घोषित किया जा रहा है।।१२।।

टीका– पुरस्तात् = पूर्वम्; मम समृद्धिदशायामित्यर्थः; मखानाम् = यज्ञानाम्, शतैः = समूहैः इत्यर्थः। परिपूतम् = परमपवित्रम्; यत् मे = मम चारुदत्तस्य; गोत्रम् = कुलम्, सदसि = समितौ, यज्ञमण्डपे इत्यर्थः; निबिडचैत्यब्रह्मघोषैरिति–निबिडानि = जनसंकुलानि यानि चैत्यानि = यज्ञस्थानानि तेषु ब्रह्मणाम् = वेदानाम् घोषैः = उच्चारणैः पाठे इति यावत्; उद्भासितम् = प्रकाशितम्; आसीदिति शेषः मरणस्य = मृत्योः दशायाम् = अवस्थायाम् मरणकाले इत्यर्थः; वर्तमानस्य = स्थितस्य; मम = पवित्राम्वयस्य चारुदत्तस्य; तत् = तदेवातिपवित्रं कुलम्; पापैः = पापशीलैः; असदृशैः = अयोग्यैः, नीचैः इति यावत् मनुष्यैः जनैश्चाण्डालादिभिः; घोषणायाम् = घोषणास्थले; घुष्यते = उच्चैः कीर्त्यते।।१२।।

इस श्लोक में विषमालंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है–मालिनी।।१२।।

(उद्वीक्ष्य, कर्णौ पिधाय) हा प्रिये वसन्तसेने!

शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति! सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरोष्ठि!।
तव वदनभवामृतं निपीय कथमवशो ह्ययशोविषं पिबामि?।।१३।।

अन्वयः– हे शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति! हे सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरोष्ठि! तव, वदनभवामृतम्, निपीय, (अधुना), अवशः, (अहम्), अयशोविषम्, कथम् पिबामि?।।१३।।

शब्दार्थः— हे शशिविमलमयूखशुभ्रदन्ति! = हे चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान सफेद दाँतों वाली! हे सुरुचिरविद्रुमसन्निभाधरोष्ठि हे अत्यन्त सुन्दर मूँगे के समान अधरोष्ठ वाली!, तव = तुम्हारे, वदनभवामृतम् = मुख से उत्पन्न अमृत को निपीय = पीकर, (अधुना = अब), अवशः = परवश हुआ, (अहम् = मैं) अयशोविषम् = अपकीर्तिरूपी विष को, कथम् = कैसे पिबामि = पी रहा हूँ।।

अर्थः— (ऊपर की ओर देख कर तथा कानों को ढँक कर) हाय प्रिये, वसन्तसेने!

हे चन्द्रमा की निर्मल किरणों के समान सफेद दाँतों वाली तथा अत्यन्त सुन्दर मूँगे के समान अधरोष्ठ वाली वसन्तसेने! तुम्हारे मुख से उत्पन्न अमृत को पीकर अर्थात् अमृत तुल्य हमारी वाणी सुनकर अब परवश हुआ मैं अपकीर्ति रूपी विष कैसे पी रहा हूँ? अर्थात् यह सुनकर मुझे मर जाना चाहिए था)।।१३।।

टीका— शशिविमलेति—शशिनः = चन्द्रमसः विमलाः = निर्मलाः, उज्ज्वलाः इत्यर्थ, ये मयूखाः = किरणाः, ते इव शुभ्राः = श्वेताः दन्ताः = दशनाः यस्याः तत्सम्बुद्धौ; अतिनिर्मलदशने! इत्यर्थः; सुरुचिरेति। सुरुचिरः = अतिमनोहरः विद्रुम = प्रवालः तत्सन्निभः = तत्सदृशः अधरोष्ठः—अधरेण सहितः ओष्ठः = उत्तरोष्ठः इति अधरोष्ट अथवा अधरश्च = निम्नोष्ठश्च ओष्ठश्च = उत्तरोष्ठश्चेति अधरोष्ठम्, अथवा अधरश्चासौ ओष्ठश्च अधरोष्ठः यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, तव = मम वसन्तसेनायाः; वदनभवामृतम् = मुखोत्पन्नामृतम्, वचनमित्यर्थः; निपीय = नितरां पीत्वा, श्रत्वा इत्यर्थः, अधुना = अवशः = परवशः अहमिति शेषः; अयशः = अपकीर्तिः एव विषम् = गरलम्; कथम् = केन प्रकारेण; पिबामि = पान करोमि श्रृणोमीत्यर्थः।।१३।।

इस श्लोक में उपमा, रूपक एवं विषम अलंकार तथा पुष्पिताग्रा छन्द है।।१३।।

उभौः— **ओशलध अज्जा! ओशलध।**

एशे गुणलअ॰णिही शज्जणदुक्खाण उत्तलणशेदू।
अशुवण्णं मंडणअं अवणीअदि अज्ज णअलीदो।।१४।।

अपसरतार्याः! अपसरत।

एष गुणरत्ननिधिः सज्जनदुः खानामुत्तरणसेतुः।
असुवर्णं मण्डनकमपनीयतेऽद्य नगरीतः।।

अन्वयः— गुणरत्ननिधिः, सज्जनदुःखानाम्, उत्तरणसेतुः, असुवर्णम्, मण्डनकम्, एषः, (चारुदत्तः), अद्य, नगरीतः, अपनीयते।।१४।।

अर्थः—

दोनों चाण्डाल— हटो, आर्यजनों! हटो—

(दया, क्षमा आदि) गुण रूपी रत्नों का खजाना, सज्जनों के (समुद्र रूप) दुःख में पार करने के लिये पुल के समान (अर्थात् दुःख में सज्जनों का सहायक), बिना सोने का आभूषण यह चारुदत्त आज (इस) नगरी से दूर किया जा रहा है।।१४।।

शब्दार्थः— सज्जनदुःखानाम् सज्जनों के दुःखों का, उत्तरणसेतुः = पार करने के लिये पुल; असुवर्णम् = बिना सोने का, मण्डनकम् = आभूषण, एषः = यह, (चारुदत्त), अद्य = आज, नगरीतः = नगरी से, अपनीयते = दूर किया जा रहा है।।

टीका— गुणाः = दयादाक्षिण्यादयः गुणाः एव रत्नानि = मणयः तेषां निधिः = निधिः = आकरः सागर इत्यर्थः, सज्जनानाम् = साधूनाम्। दुःखानि = कष्टानि तेषाम्; उत्तरणे = पारं गमने, अतिक्रमणे इति यावत्; सेतुः = आलिः असुवर्णम् = न विद्यते सुवर्ण यस्मिन् तत् असुवर्णम् = असुवर्णनिर्मितम्; मण्डनकम्; = आभूषणम्; अस्याः नगर्याः मण्डनभूत इत्यर्थः एषः = अस्माभिर्नीयमानः; चारुदत्तः, अद्य = अस्मिन् दिने, सम्प्रति; नगरीतः = उज्जयिनीनगर्य्याः; अपनीयते = अपसार्यते।।१४।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार एवं आर्य्या छन्द है।।१४।।

अण्णं च,—

शव्वे खु होइ लोए लोए शुहशंठिदाण तत्तिल्लः।
विणिवडिदाणं णलाणं पिअकाली दुल्लहो होदि।।१५।।

अन्यच्च—

सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः।
विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति।।)

अन्वयः— लोके, सर्वः, लोक, खलु, सुखसंस्थितानाम्, चिन्तायुक्तः, भवति; (किन्तु), विनिपतितानाम्, नराणाम्, प्रियकारी, दुर्लभः, भवति।।१५।।

शब्दार्थः— लोके = संसार में, सर्वः = सब, लोकः = व्यक्ति, खलु = निश्चय ही, सुखसंस्थितानाम् = सुखी व्यक्तियों का, चिन्तायुक्तः = शुभ–चिन्तक, भवति = होता है। (किन्तु = परन्तु), विनिपतितानाम् = आपत्ति में पड़े हुए, नराणाम् = मनुष्यों का, प्रियकारी हित करने वाला, दुर्लभः = दुर्लभ, भवति = होता है।।

अर्थः— और भी—

इस संसार में सभी आदमी सुखी व्यक्तियों के ही शुभ–चिन्तक होते हैं। किन्तु आपत्ति में पड़े हुए मनुष्यों का हित करने वाला दुर्लभ होता है।।१५।।

टीका— लोके = संसारे; सर्वः = निखिलः; लोकः = जनः; खलु = अवश्यमेव; सुखे = आनन्दे संस्थितानाम् = वर्तमानानाम्; सुखिनां जनानामित्यर्थः; चिन्तायुक्तः = शुभचिन्तकः, प्रियकर्ता इति यावत्; भवति = अस्ति; किन्तु विनिपतितानाम् = पिपत्तौ वर्तमानानाम्; नराणाम् = जनानाम्; प्रियकारी = हितसाधक; दुर्लभः = दुःखेन लब्धुं योग्यः; भवति = जायते, वर्तते।।१५।।

इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार तथा आर्या छन्द है।।१५।।

चारुदत्तः— (सर्वतोऽवलोक्य)

अमी हिवस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः
प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्याः।
परोऽपि बन्धुः सुखसंस्थितस्य
मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य।।१६।।

अन्वयः— अमी, मे, वयस्याः, वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः, हि, दूरतरम्, प्रयान्ति; (सत्यम्) सुखसंस्थितस्य, परः, अपि, बन्धुः, (भवति, किन्तु), विषमस्थितस्य, कश्चित्, मित्रम्, न, (भवति)।।१६।।

शब्दार्थः— अमी = ये, मे = मेरे, वयस्याः = मित्र, वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः = कपड़े के आँचल से मुँह को ढके हुए, हि = निश्चित ही, दूरतरम् = दूर–दूर, प्रयान्ति = जा रहे हैं। (सत्यम् = सच है), सुखसंस्थितस्य = सुख की हालत में वर्तमान व्यक्ति का, परः = पराया, अपि = भी, बन्धुः = अपना, भाई, (भवति = होता है, किन्तु = परन्तु), विषमस्थितस्य = विपत्ति में पड़े हुए का, कश्चित् = कोई, मित्रम् = मित्र, न = नहीं, भवति = होता है।।

चारुदत्त— (सभी ओर देखकर)—

ये मेरे मित्र कपड़े के आँचल से अपने मुँह को ढँके हुए दूर दूर जा रहे हैं। (सच है कि) सुख की हालत में वर्तमान व्यक्ति का पराया (अपरिचित) भी अपना बन जाता है; किन्तु विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति का कोई मित्र नहीं होता।।१६।।

टीका— अमी = किञ्चिद्दूरे परिदृश्यमानाः; मे = मम, चारुदत्तस्य; वयस्याः = मित्राणि; वस्त्रान्तेति–वस्त्रान्तेन = पटाञ्चलेन निरुद्धानि = आच्छादितानि, परिचयाभावायेति शेषः, वक्त्राणि = आननानि यैः ते, तादृशाः सन्तः; हि = निश्चितम्; दूरतरम्

= अतिदूरम्; प्रयान्ति = गच्छन्ति। सत्यम्; सुखे = आनन्दे, सम्पत्तावित्यर्थः, स्थितस्य = वर्तमानस्य, जनस्येति शेषः। परः = अन्य, अपरिचितः; अपि; बन्धुः = स्वजनः, उपकर्तेति भावः; भवति; किन्तु विषये = विपत्तौ, स्थितस्य = गतस्य कथितः = स्वजनः अपीत्यर्थः; मित्रम् = सुहृत; न = नहि; भवति = सम्पद्यते।।१६।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार तथा उपजाति छन्द है।

चाण्डालौ— ओशालणं किदं। विवित्तं लाअमग्गं। ता आणेध एदं दिण्णवज्झचिण्हं। (अपसारणं कृतम्, विविक्तो राजमार्गः, तदानयतैनं दत्तवध्यचिह्नम्।)

(चारुदत्तो निःश्वस्य, 'मैत्रेय! भोः किमिदमद्य' (६/२६) इत्यादि पठति।)

अर्थः—

दोनों चाण्डाल— (लोगों को) हटा दिया गया। सड़क खाली है। इसलिए शूली पर चढ़ाये जाने वाले के चिन्ह को धारण करने वाले इस (चारुदत्त) को ले आओ।

(चारुदत्त लम्बी साँस लेकर, 'मैत्रेय! भोः किमिदम्' (६/२६) इत्यादि पढ़ता है)

(नेपथ्ये)

हा ताद! हा पिअवअस्स! (हा तात! हा प्रियवयस्य!)

चारुदत्तः—(आकर्ण्य, सकरुणम्) भोः स्वजातिमहत्तर! इच्छाम्यहं भवतः सकाशात्प्रतिग्रहं कर्तुम्।

चाण्डालौ—किं अम्हाणं हत्थादो पडिग्गहं कलेशि?। (किमस्माकं हस्तात्प्रतिग्रहं करोषि?।)

चारुदत्तः—शान्तं पापम्; नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डालः। तत्परलोकार्थं पुत्रमुखं द्रष्टुमभ्यर्थये।

चाण्डालौ—एव्वं कलीअदु। (एवं क्रियताम्।)

(नेपथ्ये)

हा ताद! हा आवुक (हा तात! हा पितः!)

(चारुदत्तः श्रुत्वा, सकरुणम्, 'भोः! स्वजातिमहत्तर' पृष्ठे) इत्यादि पठति)

चाण्डालौ— अले पउला! खणं अंतलं देघ। एशे अज्जचालुदत्ते पुत्तमुहं पेक्खदु। (नेपथ्याभिमुखम्) अज्ज! इदो इदो। आअच्छ ले दालआ! आअच्छ। (हे पौराः! क्षणमन्तरं दत्त। एष आर्यचारुदत्तः पुत्रमुखं पश्यतु। आर्य! इत इतः। आगच्छ रे दारक! आगच्छ।)

(ततः प्रविशति दारकमादाय विदूषकः)

विदूषकः—तुवरदु तुवरदु भद्दमुहो। पिदा दे मारिदुं णोअदि। (त्वरतां त्वरतां भद्रमुखः। पिता ते मारयितुं नीयते।)

दारकः— हा ताद! हा आवुक!। (हा तात! हा पितः!।)

विदूषकः—हा पिअवअस्स! कहिं मए तुमं पेक्खिदव्वो?। (हा प्रियवयस्य! कुत्र मया त्वं द्रष्टव्यः?।)

चारुदत्तः—(पुत्रं मित्रं च वीक्ष्य) हा पुत्र! हा मैत्रेय!। (सकरुणम्) भोः, कष्टम्।

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः।
अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम्।।१७।।

(पर्दे में)

अर्थः— हाय पिता जी! हाय प्रिय मित्र!

चारुदत्त— (सुनकर, करुणा पूर्वक) हे अपनी जाति के महतो (मुखिया)! मैं आपसे (कुछ) अनुग्रह (दान) लेना चाहता हूँ।

दोनों चाण्डाल— क्या हमारे हाथ से दान लोगे?

चारुदत्त– पाप शान्त हो। (राजा) पालक के समान चाण्डाल (भी) बिना बिचारे काम करने वाला तथा दुराचारी नहीं हैं। तो मैं परलोक (में शान्ति) के लिए पुत्र के मुँह को देखने की प्रार्थना कर रहा हूँ।

दोनों चाण्डाल– ऐसा कर लीजिये।

(पर्दे में)

हाय तात! हाय पिता!

(चारुदत्त सुन कर, करुणा के साथ, 'भोः! स्वजातिमहत्तर' इत्यादि पढ़ता है)

दोनों चाण्डाल– हे नगर के निवासियों! एक क्षण के लिए थोड़ा मार्ग (अवकाश) दे दो। यह आर्य चारुदत्त पुत्र का मुँह देख ले। (पर्दे की ओर देखकर) आर्य! इधर, उधर। आओ रे बालक आओ।

(इसके बाद बच्चे को लेकर विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक– भले मुँह वाले (बच्चे)! जल्दी करो, जल्दी करो। तुम्हारे पिताजी मारने के लिए ले जाये जा रहे हैं।

दारक (बच्चा)– हाय तात! हाय पिता जी!

विदूषक– हाय प्रिय मित्र! अब कहाँ तुम मेरे द्वारा देखे जाओगे?

चारुदत्त– (पुत्र और मित्र को देखकर) हाय पुत्र! हाय मैत्रेय! (करुणा के साथ) अरे कष्ट है।

अन्वयः– (अहम्), परलोके, खलु, चिरम्, पिपासितः, भविष्यामि; (यतः), अस्माकम्, निवापोदकभोजनम्, इदम् अत्यल्पम्, (अस्ति)।।१७।।

शब्दार्थः– (अहम् = मैं), परलोके = परलोक में, खलु = अवश्य ही, चिरम् = बहुत दिनों तक, पिपासितः = प्यासा, भविष्यामि = होऊँगा, रहूँगा। यतः = क्योंकि, अस्माकम् = हम लोगों के, निवापोदकभोजनम् = पितृतर्पण के जल रूपी भोजन का दाता, इदम् = यह बालक (अपत्य), अत्यल्पम् = बहुत छोटा, (अस्ति = है)।।

अर्थः– मैं परलोक में बहुत दिनों तक प्यासा ही रहूँगा (क्योंकि) हम लोगों के पितृतर्पण के जल रूपी भोजन का दाता यह बालक (अपत्य) बहुत छोटा है।।१७।।

टीका– अहम्; परलोके = अन्यस्मिन् स्वर्गादौ लोके; खलु = निश्चितम्; चिरम् = बहुकालपर्यन्तम्; पिपासितः = पिपासाकुलः; भविष्यामि। तर्पणाभावात् चिरमहं परलोके पिपासया पीडितः भविष्यामीत्यर्थः। ननु पुत्रहीनः पिपासितः भवति परलोके, तव तु पुत्रः अस्त्येवेत्याशंकायामाह–यतः अस्माकम् = मम मम वंशीयानाम् च; निवापस्य = पितृतर्पणस्य उदकम् = सलिलम् तस्य भोजनम् = पान यस्मात् तत्; मम पितृणाञ्च जलदातृ इतयर्थः; इदम् = एतदपत्यम्; अत्यल्पम्; = स्वल्पम्, निवापाञ्जलिदातुमयोग्यम्; अस्ति।।७।।

इस श्लोक में पहले के आधे वाक्य के प्रति बाद का आधा वाक्य कारण के रूप में कहा गया है। अतः इसमें काव्यलिंग अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है–पथ्यावक्त्र।

छन्द का लक्षण- युजोश्चतुर्थतो जेन, पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्।।१७।।

किं पुत्राय प्रयच्छामि?। (आत्मानमवलोक्य यज्ञोपवीतं दृष्ट्वा) आं, इदं तावदस्ति मम च।

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम्।
देवतानां पितृणां च भागो येन प्रदीयते।।१८।।

(इति यज्ञोपवीतं ददाति)

अन्वयः– (इदम्, यज्ञोपवीतम्), ब्राह्मणानाम्, अमौक्तिकम्, असौवर्णम् विभूषणम्, (अस्ति; येन, देवतानाम्, पितृणाम्, च, भागः, प्रदीयते।।१८।।

शब्दार्थः– (इदम् = यह, यज्ञोपवीतम् = जनेऊ), ब्राह्मणानाम् = ब्राह्मणों का, अमौक्तिकम् = मोती का न बना हुआ, असौवर्णम्

= सोने का न बना हुआ, विभूषणम् = आभूषण, (अस्ति = है)। येन = जिससे (जिस जनेऊ से), देवतानाम् = देवताओं का, पितृणाम् = पितरों का, भागः = भाग, प्रदीयते = दिया जाता है।।

अर्थः— पुत्र को क्या दूँ? (अपने आप को देखकर। जनेऊ देखकर) अच्छा, यह तो मेरे पास है ही।

(यह जनेऊ) ब्राह्मणों का आभूषण है, जिससे देवताओं तथा पितरों का भाग दिया जाता है।।१८।।

(ऐसा कह कर जनेऊ देता है)

टीका— इदं यज्ञोपवीतम्; गद्यवाक्यादध्याहार्यमेतत् पद्द्वयम्' ब्राह्मणानाम् = द्विजोत्तमानाम्; अमौक्तिकम् = मुक्ताभि: न निर्मितम्, असौवर्णम् = न सुवर्णघटितम्; विभूषणम् = आभूषणम्; अस्ति; येन = यज्ञोपवीतेनेत्यर्थ; देवतानाम् = देवानाम्, पितृणाम् = अग्निष्वात्तादीनाञ्च; भागः = अंश, देवबलिः पितृपिण्डादिकञ्च; प्रदीयते = समर्प्यते। उपनयनानन्तरमेव द्विजाना मेव पैत्र्ये च कार्ये अधिकार विहितः नान्यथेति। अतः विप्रस्य कृते अतोऽधिकं न प्रियतरं किमपि बहुमूल्यं विभूषणमिति भावः।।१८।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।

चाण्डालः— आअच्छ ले चालुदत्ता! आअच्छ। (आगच्छ रे चारुदत्त! आगच्छ।)

द्वितीयः— अले! अज्जचालुदत्तं णिलुववदेण णामेण आलवेशि। अले! पेक्ख

अब्भुदए अवशाणे तहे अ लत्तिंदिवं अहदमग्गा।
उद्दामे व्व किशोली णिअदी खु पडिच्छिदुं जादि।।१६।।

अरे, आर्यचारुदत्ततं निरुपपदेन नाम्नालपसि?। अरे, पश्य

अभ्युदयेऽवसाने तथैव रात्रिंदिवमहतमार्गा।
उद्दामेव किशोरी नियतिः खलु प्रत्येषितुं याति।।

अन्वयः— अभ्युदये, अवसाने, तथैव रात्रिन्दिवम्, अहतमार्गा, नियतिः, उद्दामा, किशोरी, इव, खलु, प्रत्येषितुम्, याति।।१६।।

शब्दार्थः— अभ्युदये = उन्नति की अवस्था में, अवसाने = गिरी हालत में, तथैव = उसी तरह, रात्रिन्दिवम् = रात-दिन, अहतमार्गा = बेरोक-टोक चलने वाली, नियतिः = नियति (भाग्य), उद्दामा = स्वच्छन्द, किशोरी = चढ़ती हुई जवानी वाली (स्त्री), इव = समान, खलु = निश्चय ही, प्रत्येषितुम् = पुरुष को स्वीकार करने के लिये, याति = जाति है।।

अर्थः—

चाण्डाल- आओ रे चारुदत्त, आओ दूसरा **चाण्डाल**— अरे आर्य चारुदत्त को ('आर्य' आदि) उपाधि से रहित नाम से पुकारते हो। अरे, देखो—

उन्नति की अवस्था में तथा गिरी हालत में एवं रात में और दिन में बेरोकटोक चलने वाली (अप्रतिहत गति वाली) नियति (भाग्य) स्वच्छन्द, चढ़ती हुई जवानी काली स्त्री के समान पुरुष को स्वीकार करने के लिये जाती है। (अर्थात् नियति कब किसके ऊपर कैसी हालत ला देगी, नहीं कहा जा सकता)।।१६।।

टीका— अभ्युदये = उन्नतौ, सम्पन्नावस्थायामित्यर्थः; अवसाने = अभ्युदयावसाने इत्यर्थः; तथैव = तेनैव प्रकारेण, रात्रिन्दिवम् = अहोरात्रम; सर्वदा इत्यर्थः; अहतः = अप्रतिहतः, न केनापि रुद्धः, मार्गः = पन्थाः यस्याः सा, अप्रतिहतगतिरित्यर्थः नियतिः = विधिः उद्दामा—उद्गतम् = बहिर्भूतम् दाम = बन्धनम्, मर्यादेत्यर्थः, यस्याः सा, स्वच्छन्दगमनेति भावः, किशोरी = सद्यः प्राप्तयौवना स्त्री; इव = यथा; खलु = निश्चितम्; प्रत्येषितुम् = प्रत्येकं पुरुषं स्वीकर्तुं, पक्षे आलिंगितुम याति = व्रजति।।१६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा आर्या छन्द है।।१६।।

अण्णं च,–

शुक्खा वि वदेशा शे किं विणमिअमत्थएण काअव्वं।
लाहुगहिदे वि चंदे ण वंदणीए जणपदश्श।।२०।।

अन्यच्च,–

शुष्का अपि प्रदेशा अस्य किं विनमितमस्तकेन कर्तव्यम्।
राहुगृहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य।।)

अन्वयः– अस्य, प्रदेशाः, अपि, शुष्काः, (अतः), विनमितमस्तकेन, किम्, कर्तव्यम्?, (इति, न विचारणीयम्), राहुगृहीतः, अपि, चन्द्रः, जनपदस्य, न वन्दनीयः?।।२०।।

शब्दार्थः– अस्य = इसके (चारुदत्त के) प्रदेशाः = (धनः यश आदि) अंग, अपि = भी, शुष्काः = सूख गये हैं। (अतः = इसलिये), विनमितमस्तकेन = झुके हुए मस्तक के द्वारा (प्रणाम करने से), किम् = क्या, कर्तव्यम् = करना है? (इति = ऐसा, न = नहीं, विचारणीयम् = सोचना चाहिये); राहुगृहीतः = राहु के द्वारा ग्रसा गया, अपि भी, चन्द्रः = चन्द्रमा, जनपदस्य = जनपद के लिये (अर्थात् जनपद के निवासिों के लिये) न वन्दनीयः = वन्दनीय नहीं होता?।।

अर्थः– और भी–

इस चारुदत्त के (धन–यश आदि) अंग भी सूख गये हैं। (इसलिए इसे) प्रणाम करने से क्या प्रयोजन है? (ऐसा नहीं सोचना चाहिये) क्या राहु के द्वारा ग्रसा गया चन्द्रमा जनपद के निवासियों (अर्थात् मनुष्यों) के लिए वन्दनीय नहीं होता? (पाठान्तर में पहली लाइन का अर्थ यह है–इस चारुदत्त के कुल–नाम आदि क्या सूख गये? क्या इनके प्रति शिर नहीं झुकाना चाहिये?)।।२०।।

टीका– अस्य = आर्यचारुदत्तस्य; प्रदेशाः = अंगानि, यशोनामादयः; अपि; शुष्काः = शुष्कतां प्राप्ताः; अतः विनिमितमस्तकेन–विनमितम् = अवनतम् मस्तकम् = शिरः तेन; किम् = किं फलम्? सम्प्रति यशोनामादिविरहितस्य चारुदत्तस्य समक्षं प्रणामेन न किमपि फलमिति भावः। इति न विचारणीयम्। कुत इत्याह राहुणा = सैहिकेयेन गृहीतः = ग्रस्तः; अपि; चन्द्रः = विधुः; जनपदस्य = जनपदनिवासिनः लोकस्य इत्यर्थः; जनानां पदम् = स्थानं जनपदं तस्य। अथवा जनाः पद्यन्ते = गच्छन्ति अत्र इति जनपदः = देशः तस्य, अथवा जनपदस्य = लोकस्य, जनतायाः इत्यर्थः। न वन्दनीयः = नाभिनन्दनीयः।।२०।।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार एवं आर्या छन्द है।।२०।।

दारकः– अरे रे चांडाला! कहिं मे आवुकं णेध?। (अरे रे चाण्डाला! रे कुत्र मम पितरं नयत?।)

चारुदत्तः– वत्स!।

अंसेन बिभ्रत्करवीरमालां स्कन्धेन शूलं हृदयेन शोकम्।
आघातमद्याहमनुप्रयामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽजः।।२१।।

अन्वयः– अंसेन, करवीरमालाम्, स्कन्धेन, शूलम्, हृदयेन, शोकम्, बिभ्रत्, अहम्; अध्वरे, आलब्धुम्, शामित्रम्, अजः, इव; अद्य, आघातम्, अनुप्रयामि।।२१।।

शब्दार्थः– अंसेन = गले से (में), करवीरमालाम् = कनेर की माला को, स्कन्धेन = कन्धे से (पर), शूलम् = शूली को, हृदयेन = हृदय से (मे), शोकम् = शोक को, बिभ्रत् = धारण किये हुए, अहम् = मैं, अध्वरे = यज्ञ में, आलब्धुम् = मारने के लिये, शामित्रम् = बाँधने वाले खम्भे के पास, (ले जाये जाते हुए) अजः = बकरा (को), इव = भाँति, अद्य = आज, आघातम् = फाँसी के स्थान को, अनुप्रयामि = (चाण्डालों के) पीछे–पीछे जा रहा हूँ।

अर्थः–

दारक– अरे रे चाण्डालों! मेरे पिता को कहाँ ले जा रहे हो?

चारुदत्त– बेटा?

गले में कनेर की माला, कन्धे पर शूली तथा हृदय में शोक धारण किये हुए मैं, यज्ञ में मारने के लिए बाँधने वाले खम्भ के पास (ले जाये जाते हुए) बकरे की भाँति, आज फाँसी के स्थान पर जा रहा हूँ।।२१।।

टीका– अंसेन = स्कन्धेन, कण्ठेनेति भावः; करवीरस्य = तदाख्यरक्तवर्णपुष्पविशेषस्य मालाम् = स्रजम्, वध्यमालामित्यर्थः; [illegible] = बाहुमूलेन; शूलम् = प्राणदण्डसाधनं लौहफलकम्; प्राणदण्डार्थं नीयमानः जनः स्वस्कन्धे प्राणापहारकं शूलमपि वहति स्म; हृदयेन = अन्तःकरणेन, शोकम् = वसन्तसेनासम्बन्धिनीं कीर्तिनाशजनितां वा चिन्ताम्; बिभ्रत् = धारयन् अहम् = चारुदत्तः; अध्वरे = यज्ञे। आलब्धुम् = व्यापादयितुम्; शामित्रम् शमितरि = यज्ञे भवं शामित्रम् = यज्ञीयपशुबन्धनाय निखातं लघुस्तम्भं पशुघातस्थानं वा; अजः इव = छागः इव; अद्य = सम्प्रति; आघातम् = वधस्थानम्; अनुप्रयामि = अनुव्रजामि; चाण्डालयोः अनुगमनं करोमीत्यर्थः।।२१।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है।

चाण्डालः–दालआ!

ण हु अम्हे चांडाला चांडालकुलम्मि जादपुव्वा वि।
जे अहिभवंति शाहुं ते पावा ते अ चांडाला।।२२।।

दारक!

न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि।
येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः।।

अन्वयः– चाण्डालकुले, जातपूर्वाः, अपि, वयम्, खलु, चाण्डालाः, न; ये, साधुम्, अभिभवन्ति, ते, पापाः, ते, चाण्डालाः [illegible]

शब्दार्थः– चाण्डालकुले = चाण्डाल कुल में, जातपूर्वाः = पहले पैदा हुए, अपि = भी, वयम् = हम लोग, खलु = वस्तुतः, चाण्डालाः = चाण्डाल, न = नहीं हैं। ये = जो लोग, साधुम् = सज्जन को, अभिभवन्ति = अपमानित, तिरस्कृत करते हैं, ते = वे, पापाः = पापी, ते = वे, चाण्डालाः = चाण्डाल (हैं)।

अर्थः– **चाण्डाल**– बालक!

चाण्डाल कुल में पैदा होकर भी हम लोग (वस्तुतः) चाण्डाल नहीं है। जो लोग सज्जन व्यक्ति का अपमान करते हैं ये ही पापी और चाण्डाल हैं।।२२।।

टीका– चाण्डालकुले–चाण्डालानाम् = ब्राह्मण्यां वृषलेन जनितानाम् कुले = वंशे; पूर्व जाताः इति जातपूर्वाः = प्राप्तजन्मानः अपि वयम = तव पितरं चारुदत्तं नीयमानाः; प्रशंसायां बहुवचनम्; खलु निश्चितम्; चाण्डालाः = वर्णाधमाः, न = न स्मः। जात्या चाण्डालाः भूत्वा अपि हृदये। वस्तुतः आचरणेन वा वयं चाण्डालाः न; यतः–ये = ये जनाः, पालकशकारादयश्चेति ध्वनितम्; साधुम् = सज्जनम्; अभिभवन्ति = तिरस्कुर्वन्ति; वस्तुतः ते = तादृशाः जनाः एवेत्यर्थः; पापाः = पापिनः, ते चाण्डालाः = हृदयेन कर्मणा चापि ते एव वस्तुतः चाण्डालपदवाच्याश्चेति। वस्तुतः साधुजनावमाननमेव चाण्डालपदवाच्यत्वे कारणम्, न च कुलं न च साधारणं कर्मेति भावः।।२२।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।।२२।।

दारकः– ता कीस मारेध आवुकं?। (तत्किमर्थं मारयत पितरम्?।)

चाण्डालः–दीहाओ, अत्त लाअणिओओ खु अवलज्झदि, ण हुअम्हे। (दीर्घायुः! अत्र राजनियोगः खल्वपराध्यति, न खलु वयम्।)

दारकः– वावादेध मं, मुंचध आवुकं। (व्यापादयत माम्, मुञ्चत पितरम्।

चाण्डालः– दीहाओ! एवं भणंते चिलं मे जीव। (दीर्घायुः! एवं भणंश्चिरं मे जीव।)

चारुदत्तः– (साश्रं पुत्रं कण्ठे गृहीत्वा)

इदं तत्स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम्।।२३।।

अर्थः—

चाण्डाल— मेरे चिरञ्जीवी! ऐसे कहते हुए बहुत दिन तक जिओ।

चारुदत्त— (आँखों में आँसू भरे हुए बालक को गले लगा कर) यह (पुत्र) धनी और निर्धन दोनों के लिए एक समान स्नेह का जगत्प्रसिद्ध सर्वस्व है (अर्थात् प्राण है) यह विना चन्दन और खस के भी हृदय का (शान्तिकारक) लेप है (अर्थात् पुत्र को देखकर पिता का कलेजा ठण्डा हो जाता है)।।२३।।

अन्वयः— इदम्, आढ्यदरिद्रयोः, समम्, तत्, स्नेहसर्वस्वम्, (तथा), अचन्दनम्, अनौशीरम्, हृदयस्य, अनुलेपनम्, (अस्ति)।।२३।।

शब्दार्थः— इदम् = यह पुत्र (अपत्य), आढ्यदरिद्रयोः = धनी और निर्धन दोनों के लिये, समम् = एक समान, तत् = जगत्प्रसिद्धं, स्नेहसर्वस्वम् = स्नेह का सर्वस्व (प्राण), (तथा = और) अचन्दनम् = विना चन्दन का, अनौशीरम् = विना खस का, हृदयस्य = हृदय का, अनुलेपनम् = लेप, (अस्ति = है)।।

टीका— इदम् = पुरो वर्तमानम् अपत्यम्, पुत्ररूपं वस्तु वा; आढ्यः = धनी दरिद्रः = निर्धनश्च तयोः; समम् = तुल्यम्; न तु विषमम्, यतः पुत्रस्नेहसाम्राज्ये न वर्तते कश्चिदधनः सधनो वेति भाव; तत् = जगद्विदितम् अनुपमं वा; स्नेहस्य = प्रेम्णः सर्वस्वम् = निखिलं तत्त्वम्; प्राणभूतमित्यर्थः; तथा अचन्दनम्—न विद्यते चन्दनं यस्मिन् तदचन्दनम् = मलयजसम्पर्कशून्यम्; अनौशीरम्—उशीरस्य = वीरणमूलस्य इदम् = औशीरं न औशीरम् अनौशीरम् = उशीरसंयोगरहितम्। हृदयस्य = वक्षसः; अनुलेपनम् = सुखकरं विलेपनमस्तीति शेषः। अपत्यं सर्वेषां प्राणिनां समयेव हृदयशीतलकारि अस्तीति भावः।।२३।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।।२३।।

(अंसेन बिभ्रत्-') (१०/२१) इत्यादि पुन पठति, अवलोक्य स्वगतम्, 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः' (१०/१६) इत्यादि पुनः पठति)

विदूषकः— भो भद्दमुहा मुंचध पिअवअस्सं चालुदत्तं; मं वावादेध। (भो भद्रमखाः! मुञ्चत प्रियवयस्यं चारुदत्तम्; मां व्यापादयत।)

चारुदत्तः— शान्तं पापम् (दृष्ट्वा स्वगतम्) अद्यावगच्छामि। ('समसंस्थित-' (१०/१६) **इत्यादि पठति, प्रकाशम् 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम्' (१०/११) इत्यादि पुनः पठति)**

चाण्डालः— ओशलध अज्जा! ओशलधं।

किं पेक्खध शप्पुलिशं अजशवशेण प्पणट्टजीवाशं।
कूवे खंडिदपाशं कंचणकलशं व्व डुब्बंतं।।२४।।

(अपसरतार्याः! अपसरत।

किं पश्यत सत्पुरुषमयशोवशेन प्रनष्टजीवाशम्?।

कूपे खण्डितपाशं काञ्चनकलशमिव मज्जन्तम्।।)

(चारुदत्तः सकरुणम्, 'शशिविमलमयूख-' (१०/१३) इत्यादि पठति)

अपरः— अले, पुणो वि घोशेहि। (अरे, पुनरपि घोषय।)

(चाण्डालस्तथा करोति)

अन्वयः— खण्डितपाशम्, कूपे, मज्जन्तम्, काञ्चनकलशम्, इव, अयशोवशेन, प्रनष्टजीवाशम्, सत्पुरुषम्, किम् पश्यत?।।२४।।

शब्दार्थः— खण्डितपाशम् = टूटी हुई रस्सी वाले, कूपे = कुएँ में, मज्जन्तम् = डूबते हुए, काञ्चनकलशम् = सोने के घड़े (के), इव = समान, अयशोवशेन = (झठे) कलंक के कारण, प्रनष्टजीवाशम् = जीने की आशा से रहित, सत्पुरुषम् = सज्जन पुरुष को, किम् = क्यों, पश्यत = देख रहे हो?।।

अर्थः— (अंसेन बिभ्रत्'– (१०/२१) इत्यादि फिर पढ़ता है, देखकर अपने आप, 'अमी हि वस्त्रान्तनिरुद्धवक्त्राः (१०/१६ इत्यादि पुनः पढ़ता है।)

विदूषक— हे भले मुँहवाले! प्रिय मित्र चारुदत्त को छोड़ दो। मुझे मारो।

चारुदत्त— पाप शान्त हो! (देख कर अपने आप) आज समझ रहा हूँ। ('समसंस्थित'—(१०/१६) इत्यादि पढ़ता है। फिर [illegible] 'एताः पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो माम् (१०/१०) इत्यादि फिर पढ़ता है)

चाण्डाल— हटो आर्यो! हटो।

रस्सी टूट जाने पर कुएँ में डूबते हुए सोने के घड़ा के समान, झूठे कलंक के कारण जीने की आशा से रहित इस जन पुरुष (चारुदत्त) को क्यों देख रहे हो?।।२४।।

(चारुदत्त करुणा के साथ,–'शशिविमलयूख'– (१०/१३) इत्यादि पढ़ता है)

दूसरा चाण्डाल— अरे, फिर घोषणा करो।

(चाण्डाल वैसा ही करता है)

टीका— खण्डितपाशम्–खण्डितः = त्रुटितः पाशः = रज्जुः यस्य तथाभूतम्, अतः कूपे = उदपाने मज्जन्तम् = ब्रुडन्तम् काञ्चनस्य = सुवर्णस्य कलशमिव = घटमिव; चारुदत्तमहत्त्वद्योतनार्थमेव सुवर्णपदव्यवहारः; अयशोवशेन = अनेन यमन्तरेण अथकल्यवर्तस्य कारणात् मारितेति लाञ्छनेन; प्रनष्टजीवाशम्–प्रनष्टा = दूरीभूता जीवस्य = जीवनस्य आशा = सम्भावने–त्यर्थः यस्य, तादृशम्; सत्पुरुषम् = सज्जनं पुरुषम्' कि पश्यत् = किम् अवलोकयति यूयमेति शेषः।।२४।।

चारुदत्तः—

प्राप्तोऽहं व्यसनकृशां दशामनार्यां
यत्रेदं फलमपि जीवितावसानम्।
एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे
श्रोतव्यं यदिदमसौ मया हतेति।।२५।।

अन्वयः— अहम् व्यसनकृशाम्, अनार्याम्, दशाम्, प्राप्तः, यत्र, इदम्, जीवितावसानम्, (एव), फलम् अपि, (अस्ति), एषा, च, घोषणा मे, मनः, व्यथयति, यत्, इदम्, श्रोतव्यम्, 'असौ, मया, हता, इति'।।२५।।

शब्दार्थः— अहम् = मैं, व्यसनकृशाम् = विपत्ति के कारण कमजोर, अनार्याम् = निन्दनीय, दशाम् = अवस्था को, प्राप्तः = पहुँच गया (हूँ), यत्र = जहाँ पर, इदम् = यह, जीवितावसानम् = मृत्यु, (एव = ही), फलम् = फल, परिणाम अपि = भी, (अस्ति = है)। एषा = यह, घोषणा = जनता में एलान, मे = मेरे, मनः = मन को, व्यथयति = पीडा देता है, यत् = जो, इदम् = यह, श्रोतव्यम् = सुनना पड़ता है,–'असौ = यह (वसन्तसेना), मया = मेरे द्वारा, हता = मारी गयी, इति = ऐसा।।

अर्थः—

चारुदत्त— मैं विपत्ति के कारण कमजोर एवं निन्दनीय उस दशा में पहुँच गया हूँ, जहाँ पर कि यह मृत्यु ही फल [illegible] यह जनता में एलान मेरे मन को पीड़ा देता है; जो मुझे यह सुनना पड़ता है कि–'मैंने इसे (वसन्तसेना को) मार [illegible]

टीका— अहम् = चारुदत्तः; व्यसनेन = विपत्या, कृशाम् = दुर्बलाम्; प्रतिकारासमर्थामित्यर्थः; अनार्याम् = साधुजनविगर्हिताम्, निन्दनीयाम्; दशाम् = अवस्थाम्; प्राप्तः = गतः, अस्मीति शेषः; यत्र = यस्यां दशायाम्; इदम् = शीघ्रमेव अनुभूयमानम्, जीवितस्य = जीवनस्य अवसानम् = समाप्तिरेव, प्राणहानिरेव; फलम् = परिणामः; अपि अस्तीति शेषः। यदि मरणमेव सुनिश्चितं तर्हि किं शोकेनत्याह–एषा च = इयं श्रूयमाणा च; घोषणा = उद्घोषः; मे = मम; मनः = चेतः, व्यथयति = भृशं पीडयति; यत्; इदम् = एतत्; श्रोतव्यम् = आकर्णनीयम्; मयेति शेषः; 'असौ = एषा, मम हृदयस्था वसन्तसेना

इत्यर्थः। मया = चारुदत्तेन; हता = मारिता; इति = एवं रूपा।।२५।।

इस श्लोक में प्रहर्षिणी छन्द है।

(ततः प्रविशति प्रासादस्थो बद्धः स्थावरकः)

(इसके बाद महल पर बैठा, बँधा हुआ स्थावरक प्रवेश करता है)

स्थावरकः—(घोषणामाकर्ण्य, सवैक्लब्यम्) कधं अपावे चालुदत्ते वावादीअदि?। हग्गे णिअलेण शामिणा बंधिदे। भोदु आक्कंदामि। शुणाध अज्जा! शुणाध। अत्थि दाणिं मए पावेण पवहणपडिवत्तेण पुप्फकलंडअजिण्णुज्जाणं वशंतशेणा णीदा। तदो मम शामिणा मं ण कामेशित्ति कदुअ बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा, ण उण एदिणा अज्जेण। कधं विदूलदाए ण को वि शुणादि?। ता किं कलेमि?। अत्ताणअं पाडेमि?। (विचिन्त्य) जइ एव्वं कलेमि, तदा अज्जचालुदत्ते ण वावादीअदि। भोदु, इमादो पाशादबालग्गपदोलिकादो एदिणा जिण्णगवक्खेण अत्ताणअं णिक्खिवामि। वलं हग्गे उवलदे, ण उण एशे कुलपुत्त-विहगाणं वाशपादवे अज्जचालुदत्ते। एव्वं जइ विवज्जामि लद्धे मए पललोए। (इत्यात्मानं पातयित्वा) ही ही, ण उबलदम्हि। भग्गे मे दंडणिअले। ता चांडालघोशं शमण्णेशामि। (दृष्ट्वोपसृत्य) हंहो चांडाला! अंतलं अंतलं। (कथमपापश्चारुदत्तो व्यापाद्यते?। अहं निगडेन स्वामिना बद्धः। भवतु, आक्रन्दामि। श्रृणुतार्याः! श्रृणुत। अस्तीदानीं मया पापेन प्रवहणपरिवर्तेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता। ततो मम स्वामिना मां न कामयस इति कृत्वा बाहुपाशबलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेनार्येण। कथं विदूरतया न कोऽपि श्रृणोति? तत्किं करोमि?। अत्मानं पातयामि?। यद्येवं करोमि, तदार्यचारुदत्तो न व्यापाद्यते। भवतु, अस्याः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकात एतेन जीर्णगवाक्षेणात्मानं निक्षिपामि। वरमहमुपरतः, न पुनरेष कुलपुत्रविहगानां वासपादप आर्यचारुदत्तः। एवं यदि विपद्ये लब्धो मया परलोकः। आश्चर्यम्, नोपरतोऽस्मि। भग्नो मे दण्डनिगडः। तच्चाण्डालघोषं समन्विष्यामि। हंहो चाण्डालाः! अन्तरमन्तरम्।)

चाण्डालौ— अले! के अंतलं मग्गेदि?। (अरे! कोऽन्तरं याचते।)

(चेटः 'शुणाध' इति पूर्वोक्तं पठति)

चारुदत्तः— अये!

कोऽयमेवंविधे काले कालपाशस्थिते मयि।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणमेघ इवोदितः?।।२६।।

अर्थः—

स्थावरक— (घोषणा सुनकर, विकलता के साथ) क्या पापरहित चारुदत्त मारा जा रहा है? मैं मालिक (शकार) के द्वारा बेड़ी से बाँध दिया गया हूँ। अच्छा चिल्लाता हूँ। सुनिए आर्यजन! सुनिए। ऐसा है कि मुझ पापी के द्वारा गाड़ी बदल जाने के कारण वसन्तसेना पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में ले जाई गयी। उसके बाद मेरे स्वामी (शकार) ने 'तुम मुझको नहीं चाहती हो' ऐसा कह कर बहुपाश से बलपूर्वक (वसन्तसेना को) मार डाला, न कि इन आर्य चारुदत्त ने (मारा है)। क्या काफी दूर होने के कारण कोई नहीं सुन रहा है? तो क्या करूँ। अपने आप को (यहाँ से) गिराता हूँ। (सोचकर) यदि ऐसा करता हूँ, तो आर्य चारुदत्त मारे नही जायेंगे। अच्छा, महल की नयी बनी हुई ऊँची इस अटारी की गली से इस टूटी खिड़की द्वारा अपने आप को गिराता हूँ। मेरा मरना अच्छा है, किन्तु कुल—पुत्र रूपी पक्षियों के निवास वृक्ष आर्य चारुदत्त का नहीं (मरना ठीक है)। इस प्रकार यदि मैं मर भी जाता हूँ तो मुझे परलोक मिलेगा। (अपने आप को गिरा कर)। आश्चर्य! मैं मरा नहीं। मेरा बेड़ी—डण्डा टूट गया। अब चाण्डालों की घोषणा (के स्थान) को खोजता हूँ। (देखकर और पास में जाकर) हे, हे चाण्डालों! हटो हटो (अवकाश दो अवकाश)।

दोनों चाण्डाल— अरे कौन हटाता है (अर्थात् अवकाश मांगता है)?।

(चेट 'श्रृणुतार्याः' यह पहले कहा हुआ वाक्य पढ़ता है

अन्वयः— अये! (गद्येन अन्वयः), अनावृष्टिहते, सस्ये, द्रोणमेघः, इव, एवंविधे, काले, मयि, कालापाशस्थिते, अयम्, कः, उदितः?।।२६।।

शब्दार्थः— अये = अहो! अनावृष्टिहते = वर्षा के न होने से सूखते हुये, सस्ये = धान पर (कृषि पर) द्रोणमघ = द्रोण नामक मेघ (के), इव = समान, एवंविधे = इस प्रकार के, काले = समय में, मयि = मेरे, कालपाशस्थिते = मृत्यु के फन्दे में फँसने पर, अयम् = यह, कः = कौन, उदितः = आ गया, उदित हो गया।।

अर्थः—

चारुदत्त— अहो! वर्षा के न होने से सूखते हुए धान पर द्रोण नामक मेघ (धान बढ़ाने वाले बादल) के समान इस प्रकार की विपत्ति के समय में मेरे मृत्यु के फन्दा में फँसने पर यह कौन (मेरी मदद के लिये) आ गया है?।।२६।।

टीका— अये! = विस्मयद्योतकम् अव्ययपदम्; न आवृष्टिः अनावृष्टिः तया अनावृष्ट्या = अवर्षणेन हते = शुष्कप्राये सस्ये = धान्यादौ; द्रोणमेघः = शस्यप्रपूरकः मेघविशेषः; इव; एवंविधे = एवम्प्रकारे, विपत्तिबहुले उपस्थितप्राणनाशे वेत्यर्थः; काले = समये; मयि = चारुदत्ते; कालस्य = मृत्योः पाशः = बन्धनम् तस्मिन् स्थिते = गते, वर्तमाने सति अयम् = एषः, पुरो दृश्यमानः; कः उदितः = कः आगतः?। यथा शुष्कप्राये सस्ये सस्यवर्द्धकस्य द्रोणमेघस्य आकस्मिकी जलवृष्टिः जीवनदायिनी वृद्धिकरी च भवति तथैव मम मरणसन्निकृष्टे काले अकस्मादुपस्थितः कोऽपि जनः त्वरया मामानन्दयतीति निर्गलितार्थः। अनेन चारुदत्तस्य जीवनरक्षा वृद्धिश्चापि सूचिता।।२६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।।२६।।

भोः! श्रुतं भवद्भिः,-

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत्।।२७।।

अन्वयः— (अहम्), मरणात्, भीतः, न, अस्मि; केवलम्, यशः, दूषितम्; विशुद्धस्य, मे, मृत्युः, हि, पुत्रजन्मसमः, भवेत्।।२७।।

शब्दार्थः— (अहम् = मैं), मरणात् = मरने से, भीतः = भयभीत, न = नहीं, अस्मि = हूँ। केवलम् = केवल, यशः = यश, दूषितम् = दूषित हुआ है, (अतः भयभीत हूँ)। विशुद्धस्य = निर्दोष, मे = मेरी, मृत्युः, हि = निश्चय ही, पुत्रजन्मसमः = पुत्र के जन्म के समान, भवेत् = होती।।

अर्थः— अरे आप लोगों ने सुना?—

मैं करने से भयभीत नहीं हूँ। (किन्तु इसलिये भयभीत हूँ कि) मेरे यश में धब्बा लग गया है। (यदि) निर्दोष होकर मेरी मृत्यु होती तो वह पुत्र के जन्म के समान (सुखदायक) होती।।२७।।

टीका— अहम्; मरणात् = मृत्योः; भीतः = भयाक्रान्तः; न अस्मि = न भवामि। मम मृत्युः भविष्यति, अतः भीत नास्मीत्यथ तर्हि कस्मान्मलिनः असीत्याशंकयाह—केवलं मम यशः = कीर्तिः; दूषितम् = मलिनं जात चिरसञ्चित यशः दूषितमतः मम मालिन्यकारणम्, न तु मृत्युः इति भावः। विशुद्धस्य = कलंकनिर्मुक्तस्य; वसन्तसेनाऽनेन मारितेति कलंकात् निर्गतस्य यथा मे = मम; मृत्युः = मरणम्; हि = निश्चितम्; पुत्रस्य = सुतस्य जन्मना = उत्पत्या समः = तुल्यः, असमप्रीतिजनन इति भावः; भवेत् = स्यात्। यदि कलंकरहितस्य मे मृत्युः स्यातर्हि न मम मनसि स्वल्पमपि दुःखं भवेदिति भावः।।२७।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।२७।।

अन्यच्च—

तेनारभ्यकृतवैरेण क्षुद्रेणात्यल्पबुद्धिना।
शरेणेव विषाक्तेन दूषितेनापि दूषितः।।२८।।

अन्वयः— अकृतवैरेण, क्षुद्रेण, अल्पबुद्धिना, दूषितेन, अपि, तेन; विषाक्तेन, शरेण, इव; दूषितः, अस्मि।।२८।।

शब्दार्थः— अकृतवैरेण = जिस के साथ कभी वैर नहीं किया था, ऐसे, क्षुद्रेण = नीच, अल्पबुद्धिना = अल्पबुद्धिवाले, दूषितेन = स्वयं दोषी, अपि = भी, तेन = उसके द्वारा, विषाक्तेन = विषबुझाए, शरेण = तीर (की), इव = भांति, दूषितः = कलंकित किया गया, अस्मि = हूँ।।

अर्थः— और भी—

जिसके साथ कभी वैर नहीं किया था ऐसे नीच मन्दबुद्धि वाले, स्वयं (वसन्तसेना के मारने के) दोषी उस (शकार) ने, विषबुझाए तीर की भाँति, मुझे कलिंकित कर दिया है।।२८।।

टीका— अकृतवैरेण—न कृतम् = नानुष्टितम्, न प्रदर्शितमिति यावत्, वैरम् = शत्रुता यस्य तेन; येन सह कदापि मया वैरभावः न मनसि चिन्तितः तादृशेनेत्यर्थः; क्षुद्रेण = नीचेन; अल्पबुद्धिना—अल्पा = क्षीणा बुद्धिः = विवेकशक्तिः यस्य तादृशेन; दूषितेन = दोषयुक्तेन, स्वयं वसन्तसेनाहत्यापराधिनेत्यर्थः, कुलदूषितेन वा; अपि; तेन = शकारेण; तस्य नामग्रहणेऽपि पापसम्भावना, अतः तत्पदेन निर्दिशति; विषेण = गरलेन; अक्त = लिप्तः तेन। विषाक्तेन = विषदग्धेन; शरेण = बाणेन; इव = यथा; दूषितः = कलंकितः अस्मि = भवामि।।२८।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।२८।।

चाण्डालौ—थावलअ! अवि शच्चं भणाशि?। (स्थावरक! अपि सत्यं भणसि?।)

चेटः— शच्चं; हग्गे वि मा कश्श वि कधइश्शशि त्ति पाशादबालग्गपदोलिकाए दंडणिअलेण बंधिअ णिक्खित्ते। (सत्यम्; अहमपि मा कस्यापि कथयिष्यसीति प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां दण्डनिगडेन बद्ध्वा निक्षिप्तः।)

(प्रविश्य)

शकारः— (सहर्षम्)

मंशेण तिक्खामिलकेण भत्ते शाकेन शूपेण शमच्छकेण।
भुत्तं मए अत्तणअश्श गेहे शालिश्श कूलेण गुलोदणेण।।२६।।

मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन।
भुक्तं मयात्मनो गेहे शालीयकूरेण गुडौदनेन।।

अर्थः—

दोनों चाण्डाल— स्थावरक! क्या सच कह रहे हो?

चेट— हाँ, सच। (मालिक शकार ने) 'तुम किसी से कहोगे नहीं' ऐसा कह कर महल के नये बनाये गये ऊपरी हिस्से में डण्डा—बेड़ी से बाँध कर मुझे भी डाल दिया था।

(प्रवेश करके)

अन्वयः— मया, आत्मनः, गेहे, तिक्ताम्लेन, मांसेन, शाकेन, समत्स्यकेन, सूपेन, शालीयकूरेण, गुडौदनेन, भक्तम्, भुक्तम्।।२६।।

शब्दार्थः— मया = मेरे द्वारा, आत्मनः = अपने, गेहे = घर में, तिक्ताम्लेन = तीते—खेट्टे, मांसेन = मांस से; शाकेन = शाक से, समत्स्यकेन = मछली के सहित, सूपेन = दाल (या रसा) से, शालीयकूरेण = अगहनी धान (शालीय) के चावल के भात से, गुडौदनेन = खीर से, भक्तम् = (साधारण चावल का) भात, भुक्तम् = खाया है।।

अर्थः—

शकार— (खुशी के साथ) मैंने अपने घर तीखे—खट्टे मांस, शाक, मछली के सहित दाल ग्या रसा), अगहनी चावल के भात तथा गुड़ मिले हुए भात (खीर) के साथ (साधारण चावल का) भात खाया है।।२६।।

टीका— मया = शकारेण; आत्मनः = स्वस्य; गेहे = गृहे; तिक्ताम्लेन—तिक्तं च तद् अम्लञ्चेति तिक्ताम्लं तेन तिक्ताम्लेत = तिक्तरसान्वितेन अम्लरसान्वितेन च; मांसेन = पिशितेन, शाकेन शक्यते भोक्तुम्, श्यतीति वा शाकम् तेन शाकेन = संस्कृतपत्रपुष्पादिना; शाकं दशविधं स्मृतम्, यथा—मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढकम्। त्वक्पुष्पं कवकं चैव शाकं दशविधं स्मृतम्। समत्स्यकेन = मीनसहितेन; सूपेन = द्विदलेन सिद्धमीनरसेन वा; शालीयकूरेण = शालेर्भक्तेन; शालितण्डुलप्रभवेण अन्नविशेषेणेति केचन; गुडौदनेन = गुडमिश्रितेन ओदनेन, पायसेनेत्यर्थः; सह; भक्तम् = पक्वं साधारणं तण्डुलम्; अथवा शकारोक्त्या द्विरुक्तिः; भुक्तम् = भक्षितम्। मया सुभोजनं भक्षितमित्यर्थः।।२६।।

(कर्णं दत्त्वा) भिण्णकंशखंखणाए चांडालवाआए शलशंजोए जधा अ एशे उक्खालिदे वज्झडिंडिमशद्दे पडहाणं अ शुणीअदि, तधा तक्केमि, दलिद्दचालुदत्ताके वज्झट्ठाणं णीआदि त्ति। ता पेक्खिश्शं। शत्तुविणाशे णाम मम महंते हलक्कश्श पलिदोशे होदि। शुदं अ मए, जे विं किल शत्तुं वावादअंतं पेक्खदि, तश्श अण्णश्शिं जम्मंतले अक्खिलोके ण होदि। मए खु विशगंठिगब्भपविट्ठेण विअ कीडएण किं पि अंतलं मग्गमाणेण उप्पाडिदे ताह दलिद्दचारुदत्ताह विणाशे। शंपदं अत्तण केलिकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए अहिलुहिअ अत्तणो पलक्कमं पेक्खामि। (तथा कृत्वा, दृष्ट्वा च) ही, ही, एदाह दलिद्दचालुदत्ताह वज्झं णीअमाणाह एवड्ढे जणशंमद्दे, जं वेलं अम्हालिशे पबले वलमणुश्शे वज्झा णीअदि तं वेलं केदिशं भवे। (निरीक्ष्य) कधं? एशे शे णवबलद्दके विअ मंडिदे दक्खिणं दिशं णीअदि?। अध किंणिमित्तं मम केलिकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए शमीवे घोशणा णिवडिदा, णिवालिदा अ?। (विलोक्य) कधं थावलके चेडे वि णत्थि इध?। मा णाम तेण इदो गदुअ मंतभेदे कडे भविश्शदि। ता जाव णं अण्णेशामि।

भिन्नकांस्यवत्खंखणायाश्चाण्डालवाचायाः स्वरसंयोगः; यथा चैष उद्गीतो वध्यडिण्डिमशब्दः पटहानां च श्रूयते, तथा तर्कयामि, दरिद्रचारुदत्तको वध्यस्थानं नीयत इति। तत्प्रेक्षिष्ये। शत्रुविनाशो नाम मम महान्हृदयस्य परितोषो भवति। श्रुतं च मया, योऽपि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं पश्यति, तस्यान्यस्मिञ्जन्मान्तरेऽक्षिरोगो न भवति। मया खलु विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कीटकेन किमप्यन्तरं मृगय -माणेनोत्पादितस्तस्य दरिद्र चारुदत्तस्य विनाशः। सांप्रतमात्मीयायां प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायामधिरुह्यात्मनः पराक्रमं पश्यामि। ही ही, एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य वध्यं नीयमानस्यैतावाञ्जनसंमर्दः, यस्यां वेलायामस्मादृशः प्रवरो, वरमानुषो वध्यं नीयते तस्यां वेलायां कीदृशो भवेत्। कथं एष स नवबलीवर्द इव मण्डितो दक्षिणां दिशं नीयते?। अथं किंनिमित्तं मदीयायाः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायाः समीपे घोषणा निपतिता, निवारिता च?। कथं स्थावरकश्चेटोऽपि नास्तीह?। मा नाम तेनेतो गत्वा मन्त्रभेदः कृतो भविष्यति। तद्यावदेनमन्विष्यामि।)

(इत्यवतीर्योपसर्पति)

चेटः— (दृष्ट्वा) भश्टालका! एशे शे आगदे। (भट्टारकाः! एष स आगतः।)

चाण्डालौ-

ओशलध देध मग्गं दालं ढक्केघ होध तुण्हीआ।
अविणअतिक्खविशाणे दुट्ठबइल्ले इदो एदि।।३०।।

अपसरत दत्त मार्गं द्वारं पिधत्त भवत तूष्णीकाः।
अविनयतीक्ष्णविषाणो दुष्टवलीवर्द इत एति।।)

अर्थः— (कान देकर) फूटे हुए कांसे (के बर्तन) के समान खन–खनाने वाली चाण्डाल की आवाज सुनाई पड रही है। जिससे यह वध्य के ढोल का शब्द तथा नगाड़ों का शब्द सुनाई दे रहा है; इससे मैं अन्दाज करता हूँ कि दरिद्र चारुदत्त फांसी के स्थान पर ले जाया जा रहा है। तो देखूँगा। वैरी के मरने से मेरे मन में बड़ा सन्तोष होता है। और मैंने सुना भी है कि–'जो आदमी मारे जाते हुए शत्रु को देखता है, उसको दूसरे जन्म में आँख का रोग नहीं होता।' विष की गांठ के अन्दर घुसे हुए कीड़े के समान कोई छेद खोजते हुए मैंने उस दरिद्र चारुदत्त का विनाश उपस्थित कर दिया है। अब इस समय अपने महल के नवनिर्मित अग्रभाग पर चढ़ कर अपने पराक्रम को देखूँगा। (वैसा करके और देख कर) अहो! इस दरिद्र चारुदत्त को फाँसी (वध) के स्थान पर ले जाते समय आदमियों को इतनी बड़ी भीड़! जिस समय हमारे जैसा प्रधान श्रेष्ठ मनुष्य वध–स्थान को ले जाया जायगा, उस समय कैसी भीड़ होगी। (देखकर) क्या यह वह (चारुदत्त) नये सांड की तरह आभूषित करके दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जा रहा है? किन्तु किस लिये मेरे महल के नवीन अग्र भाग के समीप घोषणा हुई और फिर रोक भी दी गयी?। (देखकर) क्या यहाँ स्थावरक चेट भी नहीं है? ऐसा न हो कि यहाँ से जाकर उसने (सारा) भेद खोल दिया हो। तो जब तक इसको खोजता हूँ।।

(ऐसा कह कर, उतर कर पास जाता है)

चेट– (देखकर) मालिक जनों! यह वह आ रहा है।

अन्वयः– अपसरत, मार्गम्, दत्त, द्वारम्, पिधत्त, तूष्णीकाः, भवत, अविनयतीक्ष्णविषाणः, दुष्टबलीवर्दः, इतः, एति।।३०।।

शब्दार्थः– अपसरत = हट जाओ, मार्गम् = रास्ता को, दत्त = दो, छोड़ो, द्वारम् = दरवाजा को, पिधत्त = बद कर लो, तूष्णीकाः = मौन, चुप, भवतः = हो जाओ, अविनयतीक्ष्ण विषाणः = उद्दण्डतारूपी तेज सींगों वाला, दुष्टबलीवर्दः = दुष्ट सांड, इतः = इधर, एति = आ रहा है।

अर्थः–

दोनों चाण्डाल– हट जाओ, रास्ता छोड़ दो, दरवाजा बन्द कर लो, चुप हो जाओ। उद्दण्डतारूपी तेज सींगों वाला दुष्ट साँड़ (शकार) इधर आ रहा है।।३०।।

टीका– अपसरत = दूरं गच्छत्, मार्गम = पन्थानम, दत्त = अर्पयत, द्वारम् = गृहप्रवेशमार्गम्, पिधत्त = आवृणुत, तूष्णीका = मौनावलम्बिनः, भवत, अविनयः = उद्दण्डता एव तीक्ष्णः = निशितः विषाणः = श्रृंगम्, यस्य तादृशः, दुष्टवलीवर्दः = दुष्टः वृषभः, शकारः इत्यर्थः इतः = एतस्यां दिशि, एति = आगच्छति। यथा मदान्धः अज्ञः बलीवर्दः न किञ्चित् विचारयति करोति च यथेच्छं तथैवायं शकारः अपि अधिकारमदान्धः भूत्वा तदेव करोति यदस्मै रोचते। अतः सावधानाः भवतेति भावः।।३०।।

इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा, रूपक एवं काव्यलिंग अलंकार है। इसमें प्रयुक्त छन्द का नाम है–आर्या।।३०।

शकारः– **अले अले! अंतलं अंतलं देध। (उपसृत्य) पुश्तका थावलका चेडा!**

एहि गच्छम्ह। (अरे अरे, अन्तरमन्तरं दत्त। पुत्रक स्थावरक चेटक! एहि गच्छावः।)

चेटः– **ही ही, अणज्ज! वशंतशेणिअं मालिअ ण पलितुश्टेशि?। शंपदं पणइजणकल्पपाइवं अज्जचालुदत्तं मालइदुं ववशिदेशि?। (ही ही, अनार्य! वसनतसेनां मारयित्वा न परितुष्टोऽसि? सांप्रतं प्रणयिजनकल्पपादपमार्यचारुदत्तं मारयितुं व्यवसितोऽसि?।**

शकारः *ण हि लअणकुंभशलिशे हग्गे इश्थिअं वावादेमि। (न हि रत्नकुम्भसदृशोऽहं स्त्रियं व्यापादयामि।)*

सर्वे – **अहो, तुए मारिदा। ण अज्जचारुदत्तेण। (अहो, त्वया मारिता, न आर्यचारुदत्तेन।)**

शकारः– **के एव्वं भणादि?। (क एवं भणति?।)**

सर्वे – **(चेटमुद्दिश्य) णं एसो साहू। (नन्वेष साधुः।)**

शकारः– **(अपवार्य, सभयम्) अविद मादिके, अविद मादिके, कधं थावलके चेडे शुश्टु ण मए शंजदे?। एशे खु मम अकज्जशश शक्खी। (विचिन्त्य) एव्वं दाव कलइश्शं। (प्रकाशम्) अलीअं भश्टालका! हंहो, एशे चेडे शुवण्णचोलिआए मए गहिदे पिश्टिदे मालिदे बद्धे अ। ता किदवेले एशे जं भणादि किं शच्चं?। (अपवारितकेन चेटस्य कटकं प्रयच्छति, स्वैरकम्) पुश्तका थावलका चेडा! एदं गेण्हिअ अण्णधा भणाहि। (हन्त, कथं स्थावरकश्चेटः सुष्ठु न मया संयतः?। एष खलु ममाकार्यस्य साक्षी। एवं तावत्करिष्यामि। अलीकं भट्टारकाः! अहो, एष चेटः सुवर्णचोरिकया मया गृहीतस्ताडितो मारितो बद्धश्च। तत्कृतवैर एव यद्भणति किं सत्यम्?। पुत्रक स्थावरक चेट! एतद्गृहीत्वाऽन्यथा भण।)**

चेटः– **(गृहीत्वा) पेक्खध पेक्खध भट्टालका! हंहो, शुवण्णेण मं पलोभेदि। (पश्यत पश्यत भट्टारकाः! अहो, सुवर्णेन मां प्रलोभयति।)**

शकारः– **(कटकमाच्छिद्य) एशे शे शुवण्णके, जश्श कालणादो मए बद्धे। (सक्रोधम्) हंहो चांडाला! मए खु एशे शुवण्णभंडाले णिउत्ते शुवण्णं चोलअंते मालिदे पिश्टिदे; ता जदि ण पत्तिआअध ता पिश्टिं दाव पेक्खध। (एतत्तत्सुवर्णकम्, यस्य कारणान्मया बद्धः। हंहो चाण्डलाः! मया खल्वेष सुवर्णभाण्डारे नियुक्तः सुवर्ण चोरयन्मारितस्ताडितः; तद्यदि न प्रत्ययध्वं तदा पृष्ठं तावत्पश्यत।)**

चाण्डालौ– **(दृष्ट्वा) शोहणं भणादि। वित्तो चेडे किं प प्पडवदि?। (शोभनं भणति। विपत्तश्चेटः किं न प्रलपति?।)**

चेटः– **हीमादिके, ईदिशे दाशभावे, जं शच्चं कंपि ण पत्तिआअदि। (सकरुणम्) अज्जचालुदत्त! एत्तिके मे विहवे। (हन्त,**

ईदृशो दासभावः, यत्सत्यं कमपि न प्रत्यापयति। आर्य चारुदत्त! एतावान्मे विभवः।) (इति पादयोः पतति)

चारुदत्तः— सकरुणम्।

उत्तिष्ठ भोः! पतितसाधुजनानुकम्पि-
न्निष्कारणोपगतबान्धव धर्मशील!
यत्नः कृतोऽपि सुमहान्मम मोक्षणाय
दैवं न संवदति, किं न कृतं त्वयाद्य।।३१।।

अर्थः—

शकार— अरे, अरे, जगह दो, जगह (अवकाश) दो। (पास जाकर) बेटा स्थावरक चेट आओ चलें।

चेट— अहो! असभ्य! वसन्तसेना को मार कर सन्तुष्ट नहीं हुए हो? अब प्रेमी (याचक) जनों के कल्पवृक्ष आर्य चारुदत्त को मरवाने के लिए उद्यत हो?

शकार— रत्नों के घड़े के समान (पवित्र) मैं स्त्री को नहीं मारता हूँ।

सब— अहो, तुमने इसे मारा है। आर्य चारुदत्त ने नहीं।

शकार— कौन ऐसा कहता है?

सब— (चेट को इशारा करके) यही बेचारा।

शकार— (अलग से, भयपूर्वक) दुःख है; स्थावरक चेट को मैंने भली–भाँति क्यों नहीं बाँधा? यही मेरे कुकृत्य (वसन्तसेना का मारने) का साक्षी है। तो, ऐसा करता हूँ। (प्रकट रूप में) महानुभावो! यह झूठ है। सोने की चोरी के कारण यह चेट मेरे द्वारा पकड़ा गया, पीटा गया, मारा गया और बाँध लिया गया। तो, वैर करने वाला यह जो कहता है क्या वह सत्य है? (अलग से चेट को कड़ा देता हुआ धीमी आवाज में) बेटा स्थावरक चेट इस (कड़ा) को लेकर अन्य प्रकार से (अर्थात् वसन्तसेना को शकार ने नहीं चारुदत्त ने मारा है) कह दे।

चेट— (लेकर देखिये, देखिये, मालिक! अहो! मुझे सोने से लुभा रहा है।

शकार— (कड़ा छीन कर) यह वह सोना है, जिसके कारण मेरे द्वारा (यह) बाँधा गया था। (क्रोध के साथ) अरे चाण्डालो! मैंने इसे सुवर्णागार में नियुक्त किया था। सोने की चोरी करता हुआ यह (मेरे द्वारा) मारा गया, पीटा गया। तो यदि (तुम दोनों को) विश्वास न हो तो (इसकी) पीठ देख लो।

अर्थः—

दोनों चाण्डाल— (देखकर) ठीक कह रहा है। क्रुद्ध चेट क्या नहीं कहेगा? (अर्थात् सब कुछ कहेगा)।

चेट— दुख है, दासता ऐसी (बुरी) है कि सत्य का भी किसी को विश्वास नहीं करा पाती। (करुणा के साथ) आर्य चारुदत्त! इतना ही मेरा वश था। (ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है।)

अन्वयः— भोः पतितसाधुजनानुकम्पिन्! निष्कारणोपगतबान्धव! धर्मशील! उत्तिष्ठ, मम, मोक्षणाय, (त्वया), सुमहान्, यत्नः, अपि, कृतः (किन्तु) दैवम्, न, संवदति, अद्य, त्वया, किम्, न, कृतम्?।।३१।।

शब्दार्थः— भोः पतितसाधुजनानुकम्पिन्! = हे आपत्ति में गिरे हुए सज्जनों पर कृपा करने वाले! निष्कारणोपगतबान्धव! = अकारण आये हुए बन्धु! धर्मशील = धार्मिक जन! उत्तिष्ठ = उठो, मम = मुझे, मोक्षणाय = छुड़ाने के लिये, (त्वया = तुम्हारे द्वारा), सुमहान् = बहुत बड़ा, यत्नः = प्रयत्न, अपि = भी, कृतः = किया गया, (किन्तु), दैवम् = भाग्य = नहीं, संवदति = साथ दे रहा है; अद्य = आज, त्वया = तुम्हारे द्वारा, किम् = क्या, न = नहीं, कृतम् = किया गया।।

अर्थः—

चारुदत्त— (करुणा के साथ) हे आपत्ति में गिरे हुए सज्जनों पर कृपा करने वाले, अकारण आये हुए बन्धु धार्मिक जन! उठो। मुझे छुड़ाने के लिए (तुमने) बहुत बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु भाग्य साथ नहीं दे रहा है। आज तुमने क्या नहीं किया? (अर्थात् सब कुछ किया)।।३१।।

टीका— भोः पतितः = आपद्गतः यः साधुजनः = सज्जनः तम् अनुकम्पते = दयते इति पतितसाधुजनानुकम्पी तत्सम्बुद्धौ' निष्कारणम् = हेतुरहितम् यथा तथा उपगतः = प्राप्तः यः बान्धवः = सखा, हितकर्ता इत्यर्थः, तत्सम्बोधने; धर्मे = धर्मायुक्ते कार्ये शीलम् = स्वभावः यस्य तत्सम्बुद्धौ; परमधार्मिक इत्यर्थः; उत्तिष्ठ = उत्थितो भव; मम = विपद्गतस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः; मोक्षणाय = उद्धाराय; सुमहान् = बलवत्तम्'; प्रासादाग्रभागात्पतनरूपः विशिष्टितमः इत्यर्थः; यत्नः = उपायः; अपीति यत्नस्य दुष्करत्वद्योतनार्थम्; कृतः = सम्पादितः; त्वयेति शेषः; किन्तु दैवम् = मम भाग्यम्; न संवदति = अनुकूलतां न दर्शयति; अन्यथा अद्य = अस्मिन्नेव सन्निकृष्टे विगते क्षणे; त्वया = भवता; किं न कृतम् = किं न विहितम्?, अपि तु सर्वं विहितमित्यर्थः। भाग्यस्य वैपरीत्येन मम मोक्षणाय त्वया कृतः अप्रतिमः प्रयत्नः अपि निष्फलत्वं गच्छति। तथापि त्वं सर्वथा साधुवादार्हः इति भावः।।३१।।

टिप्पणी— इस श्लोक में पूर्वार्द्ध में विशेषणों द्वारा खास अभिप्राय के साथ कथन किया गया है। अतः परिकर अलंकार है—'विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः। श्लोक में प्रयुक्त छन्द का नाम है—वसन्ततिलका।।३१।।

चाण्डालौ—भट्टके! पिट्ठिअ एदं चेड णिक्खालेहि। (भट्टक! ताडयित्वैनं चेटं निष्कासय।)

शकारः— णिक्कम ले। (इति निष्क्रामयति) अले चांडाला! किं विलंबेध? मालेध एदं। (निष्क्राम रे। अरे अरे चाण्डालाः! किं विलम्बध्वम्? मारयतैनम्।)

चाण्डालौ—जदि तुवलशि ता शअं ज्जेव मालेहि। (यदि त्वरयसे तदा स्वयमेव मारय।)

रोहसेनः— अरे चांडाला! मं मारेध; मुंचध आवुकं। (अरे चाण्डालाः! मां मारयत; मुञ्चत पितरम्।)

शकारः— शपुत्तं ज्जेव एदं मालेध। (सपुत्रमेवैतं मारयत।)

चारुदत्तः—सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते। तद्गच्छ पुत्र! मातुः समीपम्।

रोहसेन— किं मए गदेण कादव्वं?। (किं मया गतेन कर्तव्यम्?।)

चारुदत्तः—

आश्रमं वत्स! गन्तव्यं गृहीत्वाद्यैव मातरम्।
मा पुत्र! पितृदोषेण त्वमप्येवं गमिष्यसि।।३२।।

अर्थः—

दोनों चाण्डाल— मालिक! पीट कर इस चेट को निकाल दो।

शकार— निकल रे। (ऐसा कह कर निकालता है) अरे, अरे, चाण्डालो! क्यों देर कर रहे हो? इसको मार दो।

दोनों चाण्डाल— यदि जल्दबाजी करते हो तो तुम खुद ही मार डालो।

रोहसेन— अरे, चाण्डालों! मुझे मार डालो। पिता जी को छोड़ दो।

शकार— बच्चे के सहित इस (चारुदत्त) को मार दो।

चारुदत्त— इस मूर्ख के लिये सब कुछ सम्भव है। तो जाओ बेटा! माता के पास।

रोहसेन— जाकर मैं क्या करूँगा?

अन्वयः— वत्स! मातरम्, गृहीत्वा, अद्य, एव, आश्रमम्, गन्तव्यम्; पुत्र! मा, पितृदोषेण, त्वम्, अपि एवम्, गमिष्यसि।।३२।।

शब्दार्थः— वत्स! = हे बेटा! मातरम् = माता को, गृहीत्वा = लेकर, अद्य = आज, एव = ही, आश्रमम् = आश्रम को, गन्तव्यम् = चले जाना चाहिये। पुत्र! = हे पुत्र! मा = ऐसा न हो कि, पितृदोषेण = पिता के दोष के कारण, त्वम् = तुम, अपि = भी, एवम् = इसी प्रकार, गमिष्यसि = जाओगे (अर्थात् मारे जाओ)।।

अर्थः—

चारुदत्त— हे बेटा! माता को लेकर आज ही आश्रम (मुनिजनों की तपस्या के स्थान में चले जाना। हे पुत्र! ऐसा न हो कि पिता

के दोष (वसन्तसेना के वध रूप दोष) के कारण तुम भी इसी प्रकार (निरपराध) चले जाओ (अर्थात् मार जाओ) ।३२।

टीका– वत्स! = हे पुत्र! मातरम् = स्वजननीम्; गृहीत्वा = सार्धं नीत्वा; अद्यैव = अस्मिन्नेव दिने; आश्रमम् = मुनिजनवसतिम्, अरण्ये यत्र निर्मलचेतसः करुणार्द्रचित्ताः मुनिजनाः निवसन्ति तत्रेत्यर्थः; गन्तव्यम् = गन्तुं योग्यम्; 'आश्रमो वत्स! गन्तव्य' इति पाठान्तरम्। पुत्र! = हे सुत। मा = एतादृशं न स्यात् यत्; पितुः = जनकस्य, मम चारुदत्तस्येत्यर्थः, दोषेण - अपराधेन; दृश्यते हि लोके पितुः वैरं पुत्रेण निःसार्यते; त्वमपि = निरपराधः बालकः अपि; एवम् = ईदृशम्, निष्कारणं प्राणदण्डमित्यर्थः; गमिष्यसि = यास्यसि। अत्र निवसता त्वया सह 'मम वैरिणः चारुदत्तस्याऽयं पुत्र' इति विचिन्त्य कदाचित् शकारः त्वामपि घातयेत्। अतः मात्रा सह अद्यैव वनं गच्छेति शुभमतिः।।३२।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।३२।।

तद्वयस्य! गृहीत्वैनं व्रज।

विदूषकः—भो वअस्स! एव्वं तुए जाणिदं, तुए विणा अहं पाणाइं धारेमि त्ति?। (भो वयस्य! एवं त्वया ज्ञातम्, त्वया विनाहं प्राणान्धारयामीति?।)

चारुदत्तः—वयस्य! स्वाधीनजीवितस्य न युज्यते तव प्राणपरित्यागः।

विदूषकः—(स्वगतम्) जत्तुं ण्णेदं, तधा वि ण सक्कुणोमि विअवअस्सविरहिदो पाणाइं धारेदुं त्ति। ता बम्हणीए दारअं समप्पिअ पाणपरिच्चाएण अत्तणो पिअबअस्सं अणुगमिस्सं। प्रकाशम्) भो वअस्स! पराणेमि एदं लहुं। (युक्तं चैतदम्। तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितः प्राणान्धर्तुमिति। तद्ब्राह्मण्यै दारकं समर्प्य प्राणपरित्यागेनात्मनः प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि। भो वयस्य! परानयाम्येतं लघु।) (इति सकण्ठग्रहं पादयोः पतति)

(दारकोऽपि रुदन्पतति)

शकारः— अले! णं भणामि सपुत्ताकं चालुवत्ताकं वावादेध त्ति। (अरे! ननु भणामि सपुत्रकं चारुदत्तं व्यापादयतेति।)

(चारुदत्तो भयं नाटयति)

चाण्डालौ—णहि अम्हाणं ईदिशी लाआण्णत्तो, जधा शपुत्तं चालुदत्तं वावादेध त्ति। ता णिक्कम ले दालआ! णिक्कम। (इति निष्क्रामयतः) इमं तइवं वोशणठ्ठाणं। ताडेघ डिंडिमं। (न ह्यस्माकमीदृशी राजाज्ञप्तिः, यथा सपुत्रं चारुदत्तं व्यापादयतेति। तन्निष्क्राम रे दारक! निष्क्राम। इदं तृतीयं घोषणास्थानम्। ताडयत डिण्डिमम्।) (पुनर्घोषयतः)

शकारः— (स्वगतम्) कधं एशे ण पत्तिआअंति पौला?। (प्रकाशम्) हंहो चालुदत्ता बडुका! ण पत्तिआअदि एशे पौलजणे। ता अत्तणकेलिकाए जीहाए भणाहि मए वशंतशेणा मालिदेत्ति। कथमेते न प्रत्ययन्ते पौराः?। अरे चारुदत्त बटुक! न प्रत्ययत एष पौरजनः। तदात्मीयया जिह्वया भण-'मया वसन्तसेना मारिता' इति।)

(चारुदत्तस्तूष्णीमास्ते)

शकारः— अले चंडालगोहे! ण भणादि चालुदत्तबडुके। ता भणावेध इमिणा जज्जलवंशखंडेण शंखलेण तालिअ तालिअ। (अरे चाण्डालगोह! न भणति चारुदत्तबटुकः। तद्भणयतानेन जर्जरवंशखण्डेन शंखलेन ताडयित्वा ताडयित्वा।)

चाण्डालः—(प्रहारमुद्यम्य) भो चालुदत्त! भणाहि। (भोश्चारुदत्त! भण।)

चारुदत्तः—(सकरुणम्)

प्राप्यैतद्व्यसनमहार्णवप्रपातं
न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विषादः।
एको मां दहति जनापवादवह्नि-
र्वक्तव्यं यदिह मया हता प्रियेति।।३३।।

अर्थः— तो मित्र! इसको लेकर जाओ।

विदूषक— हे मित्र! क्या तुमने यह समझ लिया है कि मैं तुम्हारे बिना प्राण धारण करूँगा?

विदूषक— (अपने आप) निश्चय ही यह ठीक है तो भी प्रिय–मित्र के बिना प्राण को धारण नहीं कर सकता। तो ब्रह्माजी (चारुदत्त की स्त्री) को बालक सौंप कर प्राण त्याग कर अपने प्रिय मित्र (चारुदत्त) का अनुसरण करूँगा। (प्रकट रूप में) हे मित्र! मैं इसे जल्द ही लौटा ले जाता हूँ।

(ऐसा कह कर, गले मिल कर पैरों पर गिरता है)

(रोता हुआ बालक भी (पैरों पर) गिरता है)

शकार— अरे! कहता तो हूँ कि पुत्र सहित चारुदत्त को मार डालो।

(चारुदत्त भय का अभिनय करता है)

दोनों चाण्डाल— हम लोगों को ऐसी राजा की आज्ञा नहीं है कि–'बेटे सहित चारुदत्त को मारो।' तो निकल रे बच्चे! निकल। (ऐसा कह कर निकालते हैं) यह घोषणा का तीसरा स्थान है। ढोल पीटो। (फिर घोषणा करते हैं)।

शकार— (अपने आप) क्या ये नगर–निवासी (चारुदत्त के अपराध पर) विश्वास नहीं करते हैं? (प्रकट रूप में) अरे चारुदत्त ब्राह्मण! ये पुरवासी लोग नहीं विश्वास कर रहे हैं। तो (तुम) अपनी जबान से कहो–'मैंने वसन्तसेना को मारा है।'

(चारुदत्त मौन रहता है)

शकार— अरे गोह नामक चाण्डाल! चारुदत्त ब्राह्मण नहीं कह रहा है। अतः जीर्ण बाँस के टुकड़े इस नगाड़ा के डण्डे से मार–मार कर इससे कहलवाओ।

चाण्डाल— (बाँस का डण्डा तान कर) हे चारुदत्त! कहो।

अन्वयः— एतद्व्यसनमहार्णवप्रपातम्, प्राप्य, अपि, मे, मनसः, न, त्रासः, न, च, विषादः, अस्ति; एकः, जनापवादवह्निः, माम्, दहति, यत्, इह, इति, वक्तव्यम्, 'मया, प्रिया, हता'।।३३।।

शब्दार्थः— एतद्व्यसनमहार्णवप्रपातम् = इस विपत्ति के सागर में गिरने को (पतन को), प्राप्य = पाकर, अपि = भी, मे = मेरे, मनसः = मन को, न = नहीं, त्रासः = भय, न च = न तो, विषादः = खेद, अस्ति = है। एकः = केवल, जनापवादवह्निः = लोक–निन्दा की आग (लोक–निन्दा रूप आग), माम् = मुझ को, दहति = जला रही है, यत् = जो, इह = यहाँ, इति = ऐसा, वक्तव्यम् = कहना है, 'मया = मेरे द्वारा प्रिया = प्रेमिका (वसन्तसेना), हता = मारी गयी।

अर्थः—

चारुदत्त— (करुणापूर्वक) विपत्ति के इस सागर में गिर कर (भी) मेरे मन को न तो भय है और न विषाद ही। एकमात्र लोक–निन्दा की आग ही मुझे जला रही है, जो मुझे यहाँ कहना है कि– 'मैंने प्रिया (वसन्तसेना) को मारा है'।।३३।।

(शकार फिर वैसा ही करता है)

टीका— एतत् = अनुभूयमानम् तर्तुमशक्यम् वा व्यसनम् = विपत्ति। एव महार्णवः = महासागरः तस्मिन् प्रपातम् = प्रपतनम्; प्राप्य = लब्ध्वा; मे = मम; मनसः = चेतसः, न त्रासः = भीतिः, न च विषादः = मानसिकं दुःखम्; अस्ति = वर्तते। तर्हि किन्निमित्तं दुर्मनाः इव लक्ष्यसे? इत्याशंकायामाह–एकः = केवलः; जनापवादः = लोकापवादः, नूनमनेनैव वसन्तसेना हता यतोऽसौ वधकाले स्वयमेव स्वीकरोत्येवंरूपः लोकापवादः, स एव वह्निः = अग्निः; चेतोदाहकत्वाल्लोकापवादे वह्नित्वारोपः; माम् = निरपराधिनं चारुदत्तम्; दहति = दग्धं करोति; यत् इह = अत्र, एकत्रिते महति जनसमवाये इत्यर्थः; इति = इत्थम्, वक्तव्यम् = उच्चारितव्यम्; 'मया = चारुदत्तेन, प्रिया = प्रेमिका, वसन्तसेना इत्यर्थः; हता = मारिता। उपस्थितेऽपि प्राणदण्डे वस्तुतः अस्मान्नाऽहं बिभेमि। किन्तु स्वमुखेन स्त्रीहत्यास्वीकारे भाव्यः जनापवादः मम चेतसि सन्तापं जनयतीति भावः।।३३।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार एवं प्रहर्षिणी छन्द है। छन्द का लक्षण– त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।।३३।।

(शकारः पुनस्तथैव)

चारुदत्तः—भो भोः पौराः। ('मया खलु नृशंसेन-' (६/३०, ३८) इत्यादि पुनः पठति)

शकारः— वावादिदा। (व्यापादिता।)

चारुदत्तः—एवमस्तु।

प्रथमचाण्डालः— अले, तव अत्त वज्झपालिआ। (अरे, तवात्र वध्यपालिका।)

द्वितीयचाण्डालः— अले, तव। (अरे, तव।)

प्रथमः— अले, वज्झपालिआए लेक्खअं कलेम्ह। (इति बहुविधं लेखकं कृत्वा) अले, जदि मम केलिका वज्झपालिआ, ता चिट्ठदु दाव मुहुत्तअं। (अरे, वध्यपालिकाया लेखं कुर्मः। अरे, यदि मदीया वध्यपालिका, तदा तिष्ठतु तावन्मुहूर्तकम्।)

द्वितीयः— किंणिमित्तं?। (किंनिमित्तम्?।)

प्रथमः— अले, भणिदो म्हि पिदुणा शग्गं गच्छंतेण, जधा-पुत्त वीरअ! जइ तुह वज्झपालिआ होदि, मा शहशा वावादअसि वज्झं। (अरे, भणितोऽस्मि पित्रा स्वर्गं गच्छता, यथा-पुत्र वीरक! यदि तव वध्यपालिका भवति, मा सहसा व्यापादयसि वध्यम्।

द्वितीयः— अले, किंणिमित्तं?। (अरे, किंनिमित्तम्?।)

प्रथमः— कदा वि कोवि शाहू अत्थं दइअ वज्झं मोआवेदि। कदावि लण्णो पुत्ते भोदि, तेण वद्धावेण शव्वज्झाणं मोक्खो होदि। कदावि हत्थी बधं खंडेदि, तेण शंभमेण वज्झो मुक्के होदि। कदावि लाअपलिवत्ते होदि, तेण शव्वज्झाणं मोक्खो होदि। (कदापि कोऽपि साधुरर्थं दत्वा वध्यं मोचयति। कदापि राज्ञः पुत्रो भवति, तेन वृद्धिमहोत्सवेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति, कदापि हस्ती बन्धं खण्डयति, तेन संभ्रमेण वध्यो मुक्तो भवति। कदापि राजपरिवर्तो भवति, तेन सर्ववध्यानां मोक्षो भवति।)

शकारः— किं किं लाअपलिवत्ते होदि?। (किं किं राजपरिवर्तो भवति?।)

चाण्डालः— अले, वज्झपालिआए लेक्खअं कलेम्ह। (अरे, वध्यपालिकाया लेखं कुर्मः।)

शकारः— अले, शिग्घं मलेध चालुदत्ताकं। (अरे, शीघ्रं मारयत चारुदत्तम्।) (इत्युक्त्वा चेटं गृहीत्वैकान्ते स्थितः)

चाण्डालः— अज्जचालुदत्त! लाअणिओओ खु अवलज्झदि, ण खु अम्हे चाण्डाला; ता शुमलेहि जं शुमलिब्बं। (आर्यचारुदत्त! राजनियोगः खल्वपराध्यति, न खलु वयं चाण्डालाः; तत्स्मर्तव्यम्।)

चारुदत्तः—

प्रभवति यदि धर्मो दूषितस्यापि मेऽद्य
प्रबलपुरुषवाक्यैर्भाग्यदोषात्कथंचित्।
सुरपतिभवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा
व्यपनयतु कलंक स्वस्वभावेन सैव।।३४।।

अर्थः—

चारुदत्त— हे, हे नगरनिवासियो! ('मया खलु नृशंसेन–' (६/३०, ३८) इत्यादि फिर पढ़ता है)

शकार— मार दी।

चारुदत्त— ऐसा ही सही।

पहला चाण्डाल— अरे, आज तेरी वध करने की पारी है।

दूसरा चाण्डाल– अरे, तुम्हारी (है)।

पहला– अरे, वध की पारी की गणना करते हैं। (ऐसा कह कर बहुत तरह से गणना करके) अरे, यदि मेरा वध करने की पारी है तो एक क्षण तक ठहरो।

दूसरा– किसलिये?

पहला– अरे, स्वर्ग जाते हुए मेरे पिता ने मुझसे कहा था कि–'वीर पुत्र! यदि तेरी वध करने की पारी हो तो मारे जाने वाले व्यक्ति (वध्य) को एकाएक मत मारना।'

दूसरा– अरे, किसलिये?

पहला– शायद कोई सज्जन धन देकर मारे जाने वाले आदमी को छुड़ा ले। शायद राजा को पुत्र पैदा हो जाय, तो उस (कुल) बढ़ने के उत्सव के कारण सब वध्य जनों को छोड़ दिया जाय। कदाचित् हाथी बन्धन को तोड़ दे, तो उस घबड़ाहट से मारा जाने वाला छूट जाय। शायद राजा ही बदल जाय। अर्थात् राज्य का उलट–फेर हो जाय और उसके कारण सभी मारे जाने वाले छूट जायँ।

शकार– क्या, क्या राज्य बदल जाय?

चाण्डाल– अरे, वध की पारी का हिसाब कर रहे हैं।

शकार– अरे! चारुदत्त को जल्द मारो।

(ऐसा कह कर चेट को पकड़ कर एक ओर खड़ा हो जाता है)

चाण्डाल– आर्य चारुदत्त। (तुम्हारे वध के लिये) राजा की आज्ञा ही दोषी है, न कि हम चाण्डाल। तो याद कर लो (जिसे याद करना हो)।

अन्वयः– भाग्यदोषात्, अद्य, ,प्रबलपुरुषवाक्यैः, दूषितस्य, अपि, मे, धर्मः, यदि, कथञ्चित्, प्रभवति, (तदा), सुरपतिभवनस्था, वा, यत्र तत्र, स्थिता, सा, एव, स्वस्वभावेन, (मे), कलंकम्, व्यपनयतु।।३४।।

शब्दार्थः– भाग्यदोषात् = भाग्य के दोष से, अद्य = आज, प्रबलपुरुषवाक्यैः = शक्तिशाली पुरुष के वचनों के कारण, दूषितस्य = कलंकित, अपि = भी, मे = मेरा, धर्मः = धर्म, यदि = यदि, कथञ्चित् = किसी तरह भी (कुछ भी), प्रभवति = प्रभाव रखता है, (तदा = तो), सुरपतिभवनस्थाः = इन्द्र के भवन में स्थित, वा = अथवा, यत्र–तत्र = जहाँ कहीं, स्थिता = वर्तमान, सा = वह (वसन्तसेना), एव = ही, स्वस्वभावेन = अपने स्वभाव से, (मे = मेरे), कलंकम् = कलंक को, व्यपनयतु = दूर करे।।

अर्थः–

चारुदत्त– भाग्य के दोष से आज शक्तिशाली पुरुष (शकार) के (झूठा) कहने के कारण कलंकित हुए भी मेरा धर्म यदि कुछ भी प्रभाव रखता है तो इन्द्र के भवन (स्वर्ग) में अथवा जहाँ कहीं वर्तमान वह (वसन्तसेना) ही अपने स्वभाव से मेरे कलंक को दूर करे।।३४।।

टीका– भाग्यस्य = दैवस्य, दोषात् = विकारात् प्रतिकूलत्वादित्यर्थः, अद्य = सम्प्रति; प्रबलस्य = राज्ञः पालकस्य कृपया बलवतः शकारस्येत्यर्थः, अधिकरणिकस्य वा, यः पुरुषः = जनः तस्य वाक्यैः = वचनैः, कथनैः दूषितस्यापि = कलंकितस्यापि, न तु वस्तुतः दूषितस्येति ध्वनिः; मे = मम, चारुदत्तस्येत्यर्थः, धर्मः = सुकृतम्, यदि = चेत्; कथञ्चित् = किञ्चिन्मात्रमपीत्यर्थः, प्रभवति = प्रभावशाली, समर्थः इत्यर्थः, अस्ति = वर्तते; नूनं मे धर्मः क्षीणः कथमन्यथा एषः व्यसनमहार्णवप्रपातः स्यात्, तथापि तस्मिन् धर्मराशौ अदि लेशोऽप्यवशिष्टस्तदा–सुराणाम् = देवानाम् पतिः = प्रभुः, इन्द्रः इत्यर्थः, तस्य भवनम् = गृहम्, स्वर्गः इति यावत्, तत्र तिष्ठतीति स्थाः = स्थिता; वा = अथवा; यत्र तत्र = यस्मिन् कस्मिन् स्थाने लोके वा; स्थिता = वर्तमाना; सैव = सा वसन्तसेना एव; स्वस्वभावेन = स्वचारुप्रकृत्या, मे कलंकम् = दोषम्; व्यपनयतु = दूरीकरोतु। यदि मम धर्मस्य लेशोऽप्यवशिष्टः तदा आविर्भूय वसन्तसेना दोषापनयनं करोत्विति भावः। अनेन वसन्तसेनायाः शीघ्रमेव प्रकाशः निर्दिष्टः।।३४।।

इस श्लोक में मालिनी छन्द है। लक्षण–ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।।३४।।

भोः! क्व तावन्मया गन्तव्यम्?।

चाण्डालः— (अग्रतो दर्शयित्वा) अले, एद दीशदि दक्खिणमशाणं, जं पेक्खिअ वज्झा झत्ति पाणाइं मुंचंति। पेक्ख पेक्ख

अद्धं कलेवलं पडिवुत्तं कट्टंति दीहगोमाआ।
अद्धं पि शूललग्गं वेशं विअ अट्टहाशश्श।।३५।।

(अरे एतद्दृश्यते दक्षिणश्मशानम्, यत्प्रेक्ष्य वध्या झटिति प्राणान्मुञ्चन्ति। पश्य पश्य

अर्धं कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीर्घगोमायवः।
अर्धमपि शूललग्नं वेश इवाट्टहासस्य।।)

अन्वयः— दीर्घगोमायवः, प्रतिवृत्तम्, अर्धम्, कलेवरम्, कर्षन्ति; शूललग्नम्, अर्धम्, अपि, अट्टहासस्य, वेशः, इव, (प्रतिभाति)।।३५।।

शब्दार्थः— दीर्घगोमायवः = ऊपर शरीर उठाये हुए सियार, प्रतिवृत्तम् = (शूल से) लटके हुए, अर्धम् = आधे, कलेवरम् = शरीर को, कर्षन्ति = नोंच रहे हैं, खींच रहे हैं; शूललग्नम् = शूली में लगा हुआ, अर्धम् = आधा, अपि = भी, अट्टहासस्य = विकट हास का, वेशः = रूप, इव = सा, (प्रतिभाति = प्रतीत हो रहा है)।।

अर्थः— अरे! अब मुझे कहाँ जाना है?

चाण्डाल— (सामने दिखला कर) अरे! दक्षिण दिशा में यह श्मशान दिखलाई दे रहा है; जिसे देख कर मारे जाने वाले व्यक्ति शीघ्र ही अपने प्राणों को छोड़ देते हैं। देखा, देखो— ऊपर शरीर उठाये हुए सियार शूली से लटके हुए आधे शरीर को नोच रहे हैं। शूली में लगा हुआ (ऊपर का) आधा भाग भी विट हास का रूप—सा प्रतीत हो रहा है।।३५।।

टीका— दीर्घाः = उन्नताः, शूलस्थस्य मृतदेहस्य भक्षणार्थं प्रसारितशरीराः इत्यर्थः, गोमायवः = शृगालाः, प्रतिवृत्तम् = शूलादवलम्बितम्; अर्धं कलेवरम् = शरीरम्; कर्षन्ति = आकर्षन्ति। शूलेप्राणदण्डसाधनभूते लौहफलके लग्नम् = सक्तम्, अर्धमपि = शेषांशमपि, अट्टहासस्य = विकटस्य हास्य; वेश इव = रूपमिव; प्रतिभातीति शेषः।।३५।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा आर्या छन्द है।।३५।।

चारुदत्तः हा, हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। (इति सावेगमुपविशति)

शकारः— ण दाव गमिश्शं। चालुदत्ताकं वावादअंतं दाव पेक्खामि। (परिक्रम्यऽदृष्ट्वा) कधं उवविश्टे?। (न तावद्गमिष्यामि। चारुदत्तकं व्यापाद्यमानं तावत्पश्यामि। कथमुपविष्टः?।)

चाण्डालः—चारुदत्ता! किं भीदेशि?। (चारुदत्त! किं भीतोऽसि?।)

चारुदत्तः— (सहसोत्थाय) 'मूर्ख! ('न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः' (१०/२७) इत्यादि पुनः पठति)

चाण्डालः— अज्जचालुदत्त! गअणदले पडिवशंता चंदशुज्जा वि विपत्तिं लहंति, किं उण जणा मलणभीलुआ माणवा वा?। लोए कोवि उट्ठिदो पडदि, कोवि पडिदोवि उष्ट्ठेदि।

उट्ठंतपडंताह वशणपाडिआ शवश्श उण अत्थि।
एदाइं हिअए कदुअ संधालेहि अत्ताणअं।।३६।।

(आर्यचारुदत्त! गगनतले प्रतिवसन्तौ चन्द्रसूर्यावपि पिवत्तिं लभेते, किं पुनर्जना मरणभीरुका मानवा वा?। लोके कोऽप्युत्थितः पतति, कोऽपि पतितोऽप्युत्तिष्ठते।

उत्तिष्ठत्पततो वसनपातिका शवस्य पुनरस्ति।
एतानि हृदये कृत्वा संधारयात्मानम्।।

अर्थः—

चारुदत्त— हाय! मन्द भाग्य वाला मैं मर गया। (ऐसा कह कर आवेग के साथ बैठ जाता है।)

शकार– अभी नहीं जाऊँगा। तो, मारे जाते हुए चारुदत्त को देखूँगा। (घूम कर और देख कर) क्या वह बैठ गया?

चाण्डाल– चारुदत्त! क्या डर गये हो?

चारुदत्त– (झट से उठकर) मूर्ख! ('न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः' (१०/२७) इत्यादि फिर पढ़ता है)

चाण्डाल– आर्य चारुदत्त! आकाश में रहने वाले चन्द्रमा और सूर्य भी विपत्ति को पाते हैं; फिर तो मनुष्य अथवा (कहना चाहिये कि) मृत्यु से डरने वाले मानव का क्या कहना? संसार में कोई (ऊपर) उठ कर गिरता है और कोई गिर कर भी उठता है।

उत्तिष्ठत्पतत इति–

अन्वयः– उत्तिष्ठत्पततः, शवस्य, पुनः, वसनपातिका, अस्ति; एतानि, हृदये, कृत्वा, आत्मानम्, संधारय।।३६।।

शब्दार्थः– उत्तिष्ठत्पततः = उठ कर गिरते हुए, शवस्य = मृत शरीर की, पुनः = फिर, वसनपातिका वस्त्र के समान पतनक्रिया, अस्ति = है। एतानि = इनको हृदये = हृदय में, कृत्वा = करके, आत्मानम् = अपने आप को, संधारय = ढाँढस दो।

अर्थः– उठकर गिरते हुए मृत शरीर की फिर वस्त्र के समान ही पतन–क्रिया (जीना–मरना) होती है। इन बातों को हृदय में सोच कर अपने आप को ढाँढ़स दो।।३६।।

टीका– उत्तिष्ठत्पततः–उत्तिष्ठंश्चासौ पतंश्चेति उत्तिष्ठत्पतत् तस्य उत्तिष्ठत्पततः = कदाचित् उत्थानं लभतः, कदाचित् पतनं गच्छतः, अथवा पूर्वमुत्तिष्ठतः उद्गच्छतः पश्चात् पततः = नीचैः व्रजतः; शवस्य = मृतशरीरस्यः, नीचकुलोत्पन्नत्वादशिक्षितसमाजे प्रचलितसंस्कारवशाच्च आत्मनः इति वक्तव्ये शवस्येति वदति; पुनः = मुहुः; वसनपातिका–पातः एव पातिका, वसनस्य = वस्त्रस्य इव पातिका = पतनक्रिया; अस्ति = भवति; यथा जीर्णं वस्त्रं त्यज्यते तथैवेदं शरीरमपीत्यर्थः; अथवा वसनञ्च पातिका चेति वसनपातिका जीवनं पतनञ्च; अस्ति = जायते, एतानि = अमूनि वचनानि; हृदये = चेतिसि; कृत्वा = आधाय; आत्मानम् स्वम्; संधारय = संस्थापय, स्थिरं कुर्वित्यर्थः। शरीरस्य (आत्मनः) जीवनं (शरीरधरणम्) मरणञ्च (शरीरत्यागश्च) स्वाभाविकः धर्मः। अतः त्वं नानुशोचितुमहसीति भावः।।३६।।

इस श्लोक में आर्या छन्द है।।३६।।

(द्वितीयचाण्डालं प्रति) एदं चउट्ठं घोशणट्ठाणं; तो उग्घोशम्ह।

एतच्चतुर्थं घोषणास्थानम्, तदुद्घोषयावः।)

(पुनस्तथैवोद्घोषयतः)

चारुदत्तः–**हा प्रिये वसन्तसेने! ('शशिविमलमयूख-' १०/१३) इत्यादि पुनः पठति)**

(ततः प्रविशति ससंभ्रमा वसन्तसेना भिक्षुश्च)

भिक्षुः– **हीमाणहे, अट्ठाणपलिश्शंतं शमश्शाशिअ वशंतशेणिअं णअंते अणुग्गहिदम्हि पव्वज्जाए। उवाशिके! कहिं तुमं णइश्शं?। (आश्चर्यम्, अस्थानपरिश्रान्तां समाश्वास्य वसन्तसेनिकां नयन्ननुगृहीतोऽस्मि प्रव्रज्यया। उपासिके! कुत्र त्वां नेष्यामि?।)**

वसन्तसेना–**अज्जचारुदत्तस्य ज्जेव गेहं। तस्स दंसणेण मिअलांछणस्स विअ कुमुदिणिं आणंदेहि मं। (आर्यचारुदत्तस्यैव गेहम्। तस्य दर्शनेन मृगलाञ्छनस्येव कुमुदिनीमानन्दय माम्)**

भिक्षुः (स्वगतम्) कदलेण मग्गेण पविशामि?। (विचिन्त्य) लाअमग्गेण ज्जेव पविशामि। उवाशिके! एहि, इमं लाअमग्गं; (आकर्ण्य) किं णु हु एशे लाअमग्गे महंते कलअले शुणीअदि?। (कतरेण मार्गेण प्रविशामि?। राजमार्गेणैव प्रविशामि। उपासिके! एहि, अयं राजमार्गः; किं नु खल्वेष राजमार्गे महान्कलकलः श्रूयते?।)

वसन्तसेना– **(अग्रतो निरूप्य) कधं पुरदो महाजणसमूहो?! अज्ज! जाणाहि दाव किं णेदं त्ति। विसमभरक्कंता विअ वसुंधरा एअवासोण्णदा उज्जइणी वट्टदि। (कथं पुरतो महाञ्जनसमूहः?। आर्य! जानीहि तावत्किंन्विदमिति। विषमभरक्रान्तेव वसुंधरा एकवासोन्नतोज्जयिनी वर्तते।)**

चाण्डालः–**इमं अ पच्छिमं घोशणट्ठाणं, ता तालेघ डिंडिमं। उग्घोशेध घोशणं। (तथा कृत्वा) भो चालुदत्त! पडिवालेहि। मा**

भाआहि, लहुं ज्जेव मालीअशि! (इदं च पश्चिमं घोषणास्थानम्, तत्ताडयत डिण्डिमम्। उद्घोषयत घोषणाम्। भोश्चारुदत्त! प्रतिपालय। मा भैषीः, शीघ्रमेव मार्यसे।)

चारुदत्तः—भगवत्यो देवताः!।

भिक्षुः— (श्रुत्वा, ससंभ्रमम्) उवाशिके! तुमं किल चारुदत्तेण मालिदाशि त्ति चालुदत्तो मालिदुं णीअदि। (उपासिके! त्वं किल चारुदत्तेन मारितासीति चारुदत्तो मारयितुं नीयते।)

वसन्तसेना— (ससंभ्रमम्) हद्धी हद्धी, कधं मम मंदभाइणीए किदे अज्जचालुदत्तो वावादीअदि?। भो! तुरिदं तुरिदं आदेशहि मग्गं। (हा धिक् हा धिक्, कथं मम मन्दभागिन्याः कृत आर्यचारुदत्तो व्यापाद्यते?। भोः! त्वरितं त्वरितमादिश मार्गम्।

भिक्षुः— तुवलदु तुवलदु बुद्धोवाशिआ अज्जचालुदत्तं जीअंतं शमश्शाशिदुं। अज्जा! अंतलं अंतलं देध। (त्वरतां त्वरतां बुद्धोपासिकार्यचारुदत्तं जीवन्तं समाश्वासयितुम्। आर्याः! अन्तरमन्तरं दत्त।)

वसन्तसेना— अंतरं अंतरं। (अन्तरमन्तरम्।)

चाण्डालः— अज्जचालुदत्त! शमिणिओओ अवलज्झदि। ता शुमलेहि जं शुमलिदव्वं। (आर्यचारुदत्त! स्वामिनियोगोऽपराध्यते। तत्स्मर यत्स्मर्तव्यम्।)

चारुदत्तः— किं बहुना। ('प्रभवति-' (१०/३४) इत्यादि श्लोकं पठति)

चाण्डालः— (खड्गमाकृष्य) अज्जचालुदत्त! उत्ताणे भविअ समं चिट्ट। एक्कप्पहालेण मालिअ तुमं शग्गं णेम्ह। (आर्यचारुदत्त! उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ। एक-प्रहारेण मारयित्वा त्वां स्वर्गं नयामः।)

(चारुदत्तस्तथा तिष्ठति)

चाण्डालः— (प्रहर्तुमीहते, खड्गाकर्षणं हस्तादभिनयन्) ही, कधं

आअट्ठिदे शलोशं मुट्ठीए भुट्ठिणा गहीदे वि।
धलणीए कीश पडिदे दालुणके अशणिशण्णिहे खग्गे।।३७।।

(ही, कथम्

आकृष्टः सरोषं मुष्टौ मुष्टिना गृहीतोऽपि।
धरण्यां किमर्थं पतितो दारुणकोऽशनिसन्निभः खड्गः।।

(दूसरे चाण्डाल के प्रति) यह चौथा घोषणा–स्थान है। तो हम दोनों घोषित करें।

(फिर वे दोनों उसी प्रकार घोषणा करते हैं)

अर्थः—

चारुदत्त— हाय प्रिये वसन्तसेने! ('शशिविमल मयूख–' (१०/१३) इत्यादि फिर पढ़ता है)।

(इसके बाद घबड़ाहट के साथ वसन्तसेना और भिक्षु प्रवेश करते हैं)।

भिक्षु— आश्चर्य है! अनुचित स्थान में परिश्रान्त (मूर्छित) हुई वसन्तसेना को आश्वस्त करके ले जाता हुआ मैं सन्यास के भार से कृतकृत्य हुआ हूँ। उपासिके! तुम्हें कहाँ ले चलूँ?

वसन्तसेना— आर्य चारुदत्त के ही घर। उनके दर्शन से मुझे उसी प्रकार आनन्दित करो जैसे चन्द्रमा के दर्शन से कोइनी आनन्दित होती है।

भिक्षु— (अपने आप) किस रास्ते से प्रवेश करूँ? (विचार कर) सड़क से ही प्रवेश करता हूँ। उपासिके! आइय, यह सड़क है (सुनकर) क्या! सड़क पर यह बड़ा कोलाहल सुनाई पड़ रहा है?

वसन्तसेना— (सामने देखकर) क्यों! सामने आदमियों की बहुत बड़ी भीड़ है? आर्य! मालूम तो करो कि यह क्या है एकत्रित का बोझ से दबी हुई पृथिवी को भाँति उज्जयिनी नगरी एक स्थान पर उमड़ी जा रही है।

चाण्डाल– यह आखिरी घोषणा का स्थान है। तो ढोल पीटो। घोषणा घोषित करो। (वैसा करके) हे चारुदत्त! प्रतीक्षा करो (अर्थात् तैयार हो जाओ)। डरो मत शीघ्र ही मारे जाओगे।

चारुदत्त– भगवती देवताओं!

भिक्षु– (सुनकर, घबड़ाहट के साथ) उपासिके! तुम चारुदत्त के द्वारा मारी गयी हो (ऐसा समझकर) चारुदत्त को मारने के लिये ले जाया जा रहा है।

वसन्तसेना–(घबराहट के साथ) हाय धिक्कार है; क्या मुझ अभागिन के लिये आर्य चारुदत्त मारे जा रहे हैं? अरे! जल्दी–जल्दी रास्ता बतलाओ।

भिक्षु– जिन्दा रहते आर्य चारुदत्त को ढाँढस देने के लिये बुद्ध की उपासिका जल्दी करें, जल्दी करें। आर्यो! बगल होओ रास्ता (अवकाश) दो।

वसन्तसेना–जगह (दो) जगह (दो)।

चाण्डाल– आर्य चारुदत्त! स्वामी (राजा) की आज्ञा अपराध कर रही है। तो याद कर लो, जो याद करना हो।

चारुदत्त– अधिक क्या। (प्रभवति–' (१०/३४) इत्यादि श्लोक पढ़ता है।

चाण्डाल– (तलवार खींचकर) आर्य चारुदत्त! ऊपर को होकर सीधे खड़े होओ। एक वार से मार कर तुमको स्वर्ग पहुँचाते हैं।

(चारुदत्त वैसे ही खड़ा होता है)

अन्वयः– मुष्टौ, मुष्टिना, गृहीतः। अपि, सरोषम्, आकृष्टः, अशनिसन्निभः, दारुणः, खंगः, धरण्याम्, किमर्थम्, पतितः।।३७।।

शब्दार्थः– मुष्टौः = मूठ पर, मुष्टिना = मुट्ठी से, गृहीतः = पकड़ी गयी, अपि = भी, सरोषम् = रोषपूर्वक, आकृष्टः = खींची गयी, अशनिसन्निभः = वज्र के समान, दारुणः = भयंकर, खंड्गः = तलवार, धरण्याम् = पृथिवी पर, किमर्थम् = क्यों, पतितः = गिरी?।।

अर्थः–

चाण्डाल– (वार करना चाहता है। हाथ से तलवार गिरने का अभिनय करते हुए) ओह! यह कैसे?

मूठ पर (कस कर) मुट्ठी से पकड़ी गयी भी तथा रोषपूर्वक (स्थान से) खींची गई, वज्र के समान भयंकर यह तलवार जमीन पर क्यों गिरी?।।३७।।

टीका– मुष्टौः = त्सरौ, मुष्टिना = बद्धहस्तेन दृढहस्तेनेत्यर्थः; गृहीतः = आदत्तः; अपि; सरोषम् = सक्रोधम् आकृष्टः = कोशात् निःसारितः; हन्तुं झटिति उत्तोलितः वा; अशनिसन्निभः = वज्रसदृशः; कठोरप्रहारः इत्यर्थः; दारुणः = कर्मणा आकृत्या च भयंकरः; खंगः = कृपाणः धरण्याम् = पृथिव्याम्; किमर्थम् = केन हेतुना, पतितः = भ्रष्टः; भवतीति शेषः।।३७।।

इस श्लोक में गीति छन्द है।

छन्द का लक्षण–

आर्याप्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः।
दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजंगेशः।।३७।।

जधा एदं शवुत्तं, तधा तक्केमि ण विवज्जदि अज्जचालुदत्ते त्ति। भअवदि शज्झवाणि! पशीद पशीद। अवि णाम चालुदत्तश्श मोक्खे भवे, तदो अणुगहीदं तुए चांडालउलं भवे।

यथैतत्संवृत्तम्, तथा तर्कयामि न विपद्यत आर्यचारुदत्त इति। भगवति सह्यवासिनि। प्रसीद प्रसीद अपि नाम चारुदत्तस्य मोक्षो भवेत्, तदानुगृहीतं त्वया चाण्डालकुलं भवेत्।)

अपरः– **जधाण्णत्तं अणुचिटठम्ह। (यथाज्ञप्तमनुतिष्ठावः।)**

प्रथमः— **भोदु, एव्वं कलेम्ह। (भवतु, एवं कुर्वः।)**

(इत्युभौ चारुदत्तं शूले समारोपयितुमिच्छतः)

चारुदत्तः—('प्रभवति-' (१०/३४) इत्यादि पुनः पठति)

भिक्षुर्वसन्तसेना च — (दृष्ट्वा) अज्जा! मा दाव मा दाव। अज्जा। एसा अहं मंदभाइणी, जाए कारणादो एसो वावादीअदे। (आर्याः! मा तावन्मा तावत्। आर्याः! एषाहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते।)

चाण्डालः—(दृष्ट्वा)

का उण तुलिदं एशा अंशपडंतेण चिउलभालेण।
मा मेत्ति वाहलंती उट्ठिदहत्था इदो एदि।।३८।।

(का पुनस्त्वरितमेषांसपतता चिकुरभारेण।
मा मेति व्याहरन्त्युत्थितहस्तेत एति।।)

अर्थः— जिस प्रकार यह हुआ है, उससे मैं अनुमान करता हूँ कि आर्य चारुदत्त मरेगा नहीं। हे सह्य (नामक पर्वत) पर वास करने वाली देवी दुर्गा! प्रसन्न हो जाओ। यदि आर्य चारुदत्त की मुक्ति हो जाये तो तुम्हारे द्वारा यह चाण्डाल कुल अनुगृहीत हो जाये।

दूसरा— हम दोनों (राजा की) आज्ञा के अनुसार कार्य करें।

पहला— अच्छा, ऐसा ही करें।

(ऐसा कह कर दोनों चारुदत्त को शूली पर चढ़ाना चाहते हैं।)

अर्थः—

चारुदत्त— ('प्रभवति—' (१०/३४) इत्यादि फिर पढ़ता है)

भिक्षु और वसन्तसेना— (देख कर) आर्यों! ऐसा मत कीजिये, ऐसा मत कीजिये। आर्यजनों! यह मैं अभागिनी हूँ, जिसके कारण यह (चारुदत्त) मारे जा रहे हैं।

अन्वयः— अंसपतता, चिकुरभारेण, (उपलक्षिता), उत्थितहस्ता, मा, मा' इति, व्याहरन्ती, एषा, का पुनः, त्वरितम्, इतः एति।।३८।।

शब्दार्थः— अंसपतता = कन्धे पर बिखरे हुए, चिकुरभारेण = केश—कलाप से, (उपलक्षिता = युक्त), उत्थितहस्ता = हाथ उठाये हुई, 'मा = मत, मा = मत, इति = ऐसा, व्याहरन्ती = कहती हुई, एषा = यह, का पुनः = कौन सी स्त्री, त्वरिम् = जल्दी से, इतः = इधर, एति = आ रही है।।

अर्थः—

चाण्डाल— (देखकर)—

कन्धों पर बिखरे हुये केश—कलाप से युक्त, हाथ उठाये हुई, 'नहीं, नहीं' कहती हुई यह कौन सी स्त्री जल्दी से इधर आ रही है।।३८।।

टीका— अंसपतता—अंसयोः = स्कन्धयोः पतता = लुठता, स्रस्तेन; चिकुराणाम् = केशानाम्, भारेण = समूहेन, उपलक्षिता, उत्थितहस्ता—उत्थितः = चारुदत्तवधस्य निषेधाय उद्गतः हस्तः = करः यस्याः सा, ' 'मा = नहि, नहि, संभ्रमात् द्विरुक्तिः इति = इत्थम्; व्याहरन्ती = कथयन्ती; एषा = इयं पुरो दृश्यमाना; का पुनः किन्नामधेया स्त्री; त्वरितम् = वेगेन इतः = अस्यां दिशि; एति = आगच्छति।।३८।।

इस श्लोक में आर्यावृत्त है। ।।३८।।

वसन्तसेना— अज्जचारुदत्त! किं णेदं?। (आर्यचारुदत्त! किं न्विदम्?।) (इत्युरसि पतति)

भिक्षुः— अज्जचालुदत्त! किं णेदं?। (आर्यचारुदत्त! किं न्विदम्?। (इति पादयोः पतति)

चाण्डालः— (सभयमुपसृत्य) कधं वशंतशेणा? णं खु अम्हेहिं शाहु ण वावादिदे। (कथं वसन्तसेना? ननु खल्वस्माभिः साधुर्न व्यापादितः।)

भिक्षुः— (उत्थाय) अले, जीवदि चालुदत्ते। (अरे, जीवति चारुदत्तः?।)

चाण्डालः—जीवदि वश्शशदं। (जीवति वर्षशतम्।)

वसन्तसेना— (सहर्षम्) पच्चुज्जीविदम्हि। (प्रत्युज्जीवितास्मि।)

चाण्डालः— ता जाव एदं वुत्तं लाइणो जण्णवाडगदश्श णिवेदेम्ह। (तद्यावदेतद्वृत्तं राज्ञो यज्ञवाटगतस्य निवेदयावः।)

(इति निष्क्रामतः)

शकारः— (वसन्तसेनां दृष्ट्वा, सत्रासम्) हीमादिके, केण गब्भदाशी जीवाविदा?। उक्कंताइ में पाणाइं। भोदु, पलाइश्शं। (आश्चर्यम्, केन गर्भदासी जीवनं प्रापिता?। उत्क्रान्ता में प्राणाः। भवतु, पलायिष्ये।) (इति पलायते)

चाण्डालः— (उपसृत्य) अले, णं अम्हाणं ईदिशी लाआणत्ती-जेण शा वावादिदा, तं मालेघ त्ति। ता लट्टिअशालअं ज्जेव अण्णेशम्ह। (अरे, नन्वस्माकमीदृशी राजाज्ञप्तिः-येन सा व्यापादिता, तं मारयतेति। तद्राष्ट्रियश्यालमेवान्विष्यावः।

(इति निष्क्रान्तौ)

चारुदत्तः— (सविस्मयम्)

केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि।
अनावृष्टिहते सस्ये द्रोणवृष्टिरिवागता।।३६।।

अर्थः—

वसन्तसेना— आर्य चारुदत्त! यह क्या? (ऐसा कह कर) (चारुदत्त) की छाती पर गिरती है)

भिक्षु— आर्य चारुदत्त! यह क्या? (ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है)

चाण्डाल— (भयपूर्वक पास आकर) यह वसन्तसेना (है)? ठीक ही है, हम लोगों ने सज्जन (चारुदत्त) को नहीं मारा।

भिक्षु— (उठकर) अरे! चारुदत्त जीवित है?

चाण्डाल— सौ वर्ष तक जीवित रहे।

वसन्तसेना— (प्रसन्नता के साथ) मैं फिर जी गयी हूँ।

चाण्डाल— तो जब तक इस समाचार को यज्ञशाला में गये हुये राजा से कहते हैं।

(ऐसा कह कर निकलते हैं)

अर्थः—

शकार— (वसन्तसेना को देखकर भयपूर्वक) आश्चर्य है! किसने (इस) गर्भदासी को जिला दिया? मेरे प्राण निकल रहे हैं। अच्छा, (अब यहाँ से) भागूँगा। (ऐसा कह कर भागता है)।

चाण्डाल— (समीप जाकर) अरे, हमको राजा की ऐसी आज्ञा है कि— 'जिसने उसको मारा है, उसको मारो'। तो राजा के साले (शकार को ही खोजूँगा।)

(इस प्रकार दोनों निकल जाते हैं)

अन्वयः— शस्त्रे, अभ्युद्यते, मयि, मृत्युवक्त्रगते; अनावृष्टिहते, सस्ये, द्रोणवृष्टिः, इव; इयम्, का, आगता।।३६।।

शब्दार्थः— शस्त्रे = शस्त्र, अभ्युद्यते = उठ जाने पर, मयि = मेरे, मृत्युवक्त्रगते = मृत्यु के मुँह में चले जाने पर; अनावृष्टिहते = विना वर्षा के सूखी, सस्ये = खेती पर, द्रोणवृष्टिः = द्रोण (नामक बादल) की वर्षा (के), इव = समान, इयम् = यह का = कौन (स्त्री), आगता = आ गयी है?।।

अर्थः--

चारुदत्त— आश्चर्य से।

(मुझे मारने के लिये) शस्त्र उठ जाने पर तथा मेरे मृत्यु के मुँह में चले जाने पर विना वर्षा के सूखी फसल के [illegible] (नामक बादल) की वर्षा के समान (यह कौन स्त्री) आ गयी है?।।३६।।

टीका— शस्त्रे = खड्गरूपे आयुधे अभ्युद्यते = मम वधार्थमुद्गते सति; तथा मयि = चारुदत्ते; मृत्योः = कालस्य मुखं = मुखं गते = वर्तमाने; अनावृष्ट्या = अवर्षणेन हते = नष्टप्राये; सस्ये = धान्यादौ; द्रोणस्य = अतिवृष्टिकरस्य मघोनः = इन्द्रस्य वृष्टिः = वर्षणम्; इव; धारासारप्रबला वृष्टिरिवेत्यर्थः; इयम् = पुरो वर्तमाना अपरिचितेव प्रतीयमाना विलुलितवेशतयाऽपरिचितत्वं बोध्यम्; का = का स्त्री; आगता = उपस्थिता?।।३६।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।।३६।।

(अवलोक्य च)

वसन्तसेना किमियं द्वितीया
समागता सैव दिवः किमित्थम्।
भ्रान्तं मनः पश्यति वा ममैनां
वसन्तसेना न मृताऽथ सैव।।४०।।

अन्वयः— किम्, इयम्, द्वितीया, वसन्तसेना? किम्, सा, एव, दिवः, इत्थम्, समागता? वा, मम, भ्रान्तम्, मनः, एनाम्, पश्यति? अथवा वसन्तसेना, न, मृता; (इयम्), सा, एव।।४०।।

शब्दार्थः— किम् = क्या, इयम् = यह, द्वितीया = दूसरी, वसन्तसेना? = वसन्तसेना है? अथवा, किम् = क्या, [illegible] एव = ही, दिवः = स्वर्ग से, इत्थम् = इस तरह, समागता = आ गयी है? वा = अथवा, मम = मेरा, भ्रान्तम् = घबराया हुआ भ्रम में पड़ा हुआ), मनः = मन, एनाम् = इस (स्त्री) को, पश्यति = देख रहा है? (समझ रहा है?), अथवा वसन्तसेना = वसन्तसेना वेश्या, न मृता = मरी नहीं है; (इयम् = यह), सा = वह, एव = ही (है)?।।

(फिर देख कर)

अर्थः— क्या यह दूसरी वसन्तसेना है? अथवा क्या वह ही स्वर्ग से इस तरह (शरीर धारण कर) आ गयी है? अथवा मेरा चकराया हुआ (भ्रान्त) मन ही इस (स्त्री) को (वसन्तसेना) समझ रहा है? अथवा वसन्तसेना मरी नहीं है; यह वही है?।।४०।।

टीका— किमिति सन्देहे; इयम् = पुरो दृश्यमाना रमणी; द्वितीया = अन्या, वसन्तसेना—भिन्ना, वसन्तसेना मे[illegible]स्तुत वसन्तसेनाभिन्नाऽपि सर्वांशेषु साम्यधारिणी अतः वसन्तसेनेत्यभिधातुं योग्या किमियं तस्याः प्रतिकृतिरस्तीति सन्देह किम सा = ज्ञातास्वादा मम प्रेयसी, इव; दिवः = स्वर्गात्; इत्थम् = अनेन प्रकारेण, मम जीवातुकाम्यया, एव [illegible] यथ समागता = प्राप्ता? वा = अथवा; मम = वधस्थले स्थितस्य चारुदत्तस्य; भ्रान्तम् = भ्रान्तिमम, अतस्मिन् तद्बुद्धि भ्रान्तिरिति; मनः = चेतः; एनाम् = पुरोवर्तिनीम् नारीम्; पश्यति = वसन्तसेनाबुद्ध्या अवलोकयति? अथवा [illegible]न्तसेना मय प्रेयसी प्रसिद्धा वेश्या; न मृता = मृत्युं न गता; इयम् सा = वस्तुतः वसन्तसेनैवास्ते इति भावः।।४०।।

इस श्लोक में सन्देह अलंकार तथा उपजाति छन्द है।।४०।।

अथवा,—

किं नु स्वर्गात्पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया।
तस्या रूपानुरूपेण किमुतान्येयमागता।।४१।।

अन्वयः— मम, जीवातुकाम्यया, स्वर्गात्, पुनः, प्राप्ता, किं नु? उत, तस्याः, रूपानुरूपेण, इयम्, अन्या, आगता, किम्।।४१

शब्दार्थः— मम = मुझे, जीवातुकाम्यया = जिलाने की इच्छा से, स्वर्गात् = स्वर्ग से, पुनः = फिर, प्राप्ता = उतर आई [illegible] किं

नु = क्या? उत = अथवा, तस्याः = उस (वसन्तसेना) के, रूपानुरूपेण = रूप से सादृश्य से (अर्थात् रूप के समान रूपवाली) इयम् = यह, अन्या = दूसरी स्त्री, आगता = आ गयी है, किम् = क्या?।।

अथवा–

अर्थः– मुझे जिलाने की इच्छा से (ही) यह स्वर्ग से फिर उतर आयी है क्या? अथवा उस (वसन्तसेना) के रूप के समान रूपवाली यह दूसरी (ही स्त्री) आ गयी है क्या?।।४१।।

टीका– मम = स्वप्रियस्य चारुदत्तस्येत्यर्थः; जीवातोः = जीवितस्य, काम्या = इच्छा तया, मम जीवनेच्छयेत्यर्थः;; स्वर्गात् = दिवः; पुनः = मुहुः, मृत्योरनन्तरं, तत्र गत्वाऽपीत्यर्थः; प्राप्ता = आगता; किं नु = इति वितर्के; उत = अथवा; तस्याः = वसन्तसेनायाः; रूपानुरूपेण–रूपस्य = आकृतेः अनुरूपेण = सादृश्येन; वसन्तसेनायाः आकृतेः सदृशेन आकारेण उपलक्षिता सतीत्यर्थः; इयम् = सम्मुखस्या; अन्या = अपरा स्त्री; आगता = प्राप्ता; किमिति प्रश्ने। मया विना मम कारणेन वा चारुदत्तः मृतः हतः वा भविष्यतीति विचार्य स्नेहपरवशा पुनः सैव स्वर्गादागता किम्? अथवा तत्तुल्यरूपा इयमन्यैवागता किमिति सन्देहः।।४१।।

इस श्लोक में सन्देह अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।।४१।।

वसन्तसेना– (साश्रमुत्थाय, पादयोर्निपत्य) अज्जचालुदत्त! सा ज्जेव अहं पावा, जाए कारणादो इअं तुए असरिसी अवत्था पाविदा। (आर्यचारुदत्त! सैवाहं पापा, यस्याः कारणादियं त्वयासदृश्यवस्था प्राप्ता।)

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं अच्चरिअं, जीवदि वसंतसेना। (आश्चर्यमाश्चर्यम्, जीवति वसन्तसेना।)

(इति सर्वे पठन्ति)

चारुदत्तः– *(आकर्ण्य सहसोत्थाय स्पर्शसुखमभिनीय निमीलिताक्ष एव हर्ष गद्गदाक्षरम्)* **प्रिये! वसन्तसेना त्वम्?।**

वसन्तसेना– सा ज्जेवाहं मंदभाआ। (सैवाहं मन्दभाग्या।)

चारुदत्तः– **(निरूप्य, सहर्षम्) कथं वसन्तसेनैव?। (सानन्दम्)**

कुतो बाष्पाम्बुधाराभिः स्नपयन्ती पयोधरौ।
मयि मृत्युवशं प्राप्ते विद्येव समुपागता।।४२।।

अर्थः–

वसन्तसेना– (आँखों में आँसू भरे हुई उठकर और पैरों पर पड़कर) आर्य चारुदत्त! वही मैं पापिनी हूँ, जिसके कारण तुमने इस अनुचित हालत को प्राप्त किया है।

(पर्दे में)

आश्चर्य है! आश्चर्य है! वसन्तसेना जीवित है। (इस प्रकार सभी पढ़ते हैं)

अर्थः–

चारुदत्त– (सुन कर, झट से उठ कर, स्पर्श–सुख का अभिनय करके आँख मूँदे हुए ही प्रसन्नता के कारण गद्गद अक्षरों में) प्रिये! तुम वसन्तसेना हो?

वसन्तसेना– वही मैं अभागिन हूँ।

अन्वयः– मयि, मृत्युवशम्, प्राप्ते, बाष्पाम्बुधाराभिः, पयोधरौ, स्नपयन्ती, (त्वम्) विद्या, इव, कुतः, समागता।।४१।।

शब्दार्थः– मयि = मेरे, मृत्युवशम् = मृत्यु के वश को, प्राप्ते–प्राप्त होने पर, बाष्पाम्बुधाराभिः = आँसुओं की धाराओं से पयोधरौ = दोनों स्तनों को, स्नपयन्ती = सींचती हुई, स्नान कराती हुई, (त्वम् = तुम), विद्या = (सञ्जीवनी) विद्या (के), इव = समान, कुतः = कहाँ से, समागता = आ गयी हो?

अर्थः—

चारुदत्त— (देखकर, प्रसन्नता के साथ) क्या वसन्तसेना ही हो?

(आनन्द पूर्वक)—

मेरे मृत्यु के वश में प्राप्त होने पर आँसुओं की धाराओं से (अपने) दोनों स्तनों को सींचती हुई तुम (सञ्जीवनी) वेद्या की भाँति कहाँ से आ गयी हो?।।४२।।

टीका— मयि = चारुदत्ते; मृत्युवशम्—मृत्योः = कालस्य वशम् = अधिकारम्' प्राप्ते—गते सति; बाष्पाम्बुधाराभिः = नेत्रजलप्रवाहैः, पयोधरौ = स्तनौ; स्नपयन्ती = सिञ्चन्ती; एतेन स्तनयोः उन्नतत्वं सूचितम्; विद्या = सञ्जीवनी विद्या, इव, कुतः = कस्मात् स्थानात्; समागता = सम्प्राप्ता। यथा मृतसञ्जीवनी विद्या मृते जीवनसञ्चारिणी भवति तथैव त्वदागमनं मह्यं जीवनदायि अस्तीति भावः।।४२।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा पथ्यावक्त्र छन्द है।।४२।।

प्रिये वसन्तसेने!

त्वदर्थमेतद्विनिपात्यमानं देहं त्वयैव प्रतिमोचितं मे।
अहो प्रभावः प्रियसंगमस्य मृतोऽपि को नाम पुनर्धियेत?।।४३।।

अन्वयः— त्वदर्थम्, विनिपात्यमानम्, मे, एतत्, देहम्, त्वया, एव, प्रतिमोचितम्, प्रियसंगमस्य, अहो! प्रभावः, (अन्यथा), मृतः अपि कः नाम, पुनः, ध्रियेत?।।४३।।

शब्दार्थः— त्वदर्थम् = तुम्हारे लिये (तुम्हारे कारण, विनिपात्यमानम् = नष्ट किया जाता हुआ, मे = मेरा, एतत् = यह, देहम् = शरीर, त्वया = तुम्हारे द्वारा, एव = ही, प्रतिमोचितम् = छुड़ाया गया। प्रियसंगमस्य = प्रेमी के मिलन का, अहो = आश्चर्यजनक, प्रभावः = प्रभाव (है)। (अन्यथा = नहीं तो), मृतः = मरा, अपि = भी, कः नाम = कौन सा, पुनः = फिर, ध्रियेत = जिन्दा होता है?।।

अर्थः— प्रिये वसन्तसेने!

तुम्हारे कारण नष्ट किया जाता हुआ मेरा यह शरीर तुम्हारे ही द्वारा छुड़ाया गया। प्रेमी के मिलन का आश्चर्यजनक प्रभाव है। नहीं तो, भला, मर कर भी कोई जिन्दा होता है?।।४३।।

टीका— त्वदर्थम्—त्वमेव अर्थः यस्मिन् तत् त्वदर्थम् = त्वन्निमित्तं यथा; विनिपात्यमानम् = वध्यमानम्; मे = मम, एतत् = तव पुरोवर्ति; देहम् = देहः, त्वयैव = वधे कारणभूतया भवत्यैव; प्रतिमोचितम्; = शूलादवतार्य रक्षितम्, प्रियसंगमस्य = प्रेमास्पदजनानां संगतेः; अहो! = आश्चर्यजनकः इत्यर्थः; प्रभावः प्रतापः; अन्यथा मृतः = प्राणवियुक्तः, मृतकल्पः इत्यर्थः, अपि, कः = कः पुरुषः नाम = संभावनायाम्; पुनः = मुहुः; ध्रियेत; = जीवेत् प्राणैरिति शेषः। मृतप्रायोऽहं यस्या तव दर्शनेनैव मुक्तः। अतः वक्तुं शक्यते यत्प्रियसंगमस्य महत्वमाश्चर्यकरमिति भावः।।४३।।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार तथा उपजाति छन्द है।।४३।।

अपि च प्रिये! पश्य,—

रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः।।४४।।

अन्वयः— कान्तागमेन, तदेव, रक्तम्, वरवस्त्रम्, इयम् माला, च, वरस्य, यथा, हि, विभाति; च, तथैव, एते, वध्यपटहध्वनयः, विवाहपटहध्वनिभिः, समानाः जाताः।।४४।।

शब्दार्थः— कान्तागमेन = प्रिया के आ जाने से, तदेव = वही, रक्तम् = लाल, वरवस्त्रम् = श्रेष्ठ वस्त्र, इयम् = यह, माला =

फूलों की माला, च = भी, वरस्य = दुलहे की, यथा = जैसी, हि = निश्चित ही, विभाति = शोभित हो रही है। च = और, तथैव = उसी प्रकार से, एते = ये, वध्यपटहध्वनयः = बध के लिये बजाये जाते हुए बाजों की आवाजें, विवाहपटहध्वनिभिः = विवाह के बाजों की ध्वनियों के, समानाः = समान, जाताः = हो गयी हैं।।

और भी प्रिये! देखो–

अर्थः– प्रिया के (अर्थात् तुम्हारे) आ जाने से, वही लाल वस्त्र वर के वस्त्र (के समान) और यह माला वर को पहनायी गयी माला के समान शोभित हो रही है। और उसी प्रकार वध के लिये बजाये जाते हुए बाजों की ये आवाजें विवाह के बाजों की ध्वनियों के समान हो गयी हैं।।४४।।

टीका– कान्तागमेन–कान्तायाः = प्रियायाः आगमेन = आपतनेन, प्राप्त्या इत्यर्थः; तदेव = पूर्व वध्यचिह्नभूतमेव; रक्तम् = रक्तवर्णम्, वरवस्त्रम् = श्रेष्ठं वध्यवसनम्; वस्त्रस्य श्रेष्ठत्वमत्र रक्तत्वेन निर्दिश्य अथवा वध्यचिन्हभूतस्य वरस्येव प्रतीयमानत्वमेव तस्य श्रेष्ठत्वम्; इयम् = मम कण्ठे अर्पिता, माला = स्रक्; च = अपि; वरस्य = जामातुः, विवाहोद्युक्तस्य जनस्येत्यर्थः, यथा = इव; हि = निश्चितम्; विभाति = शोभते। च = तथा; तथैव = तेनैव प्रकारेण, यथा वस्त्रं माला च वरस्येव विभाति तथैवेत्यर्थः; एते = श्रूयमाणाः; वध्यपटहस्य = प्राणदण्डितस्य जनस्य वधकाले वाद्यमानस्य आनकस्य, ध्वनयः = शब्दाः; विवाहस्य = उद्वाहस्य, उद्वाहे वाद्यमानस्येत्यर्थः, पटहस्य ध्वनिभिः = शब्दैः; समानाः = तुल्याः; जाताः = सम्पन्नाः। सर्वाणि वध्यचिह्नानि प्रियायाः वसन्तसेनायाः आगमनेन वरचिह्नानीव प्रतीयन्ते इति निर्गलितार्थः।।४४।।

इस श्लोक में अनुकूल तथा उपमा अलंकार एवं वसन्ततिलका छन्द है।।४४।।

वसन्तसेना– अदिदक्खिणदाए किं ण्णेदं ववसिदं अज्जेण?। (अतिदक्षिणतया किं न्विदं व्यवसितमार्येण?।)

चारुदत्तः– प्रिये! त्वं किल मया हतेति–

पूर्वानुबद्धवैरेण शत्रुणा प्रभविष्णुना।
नरके पतता तेन मनागस्मि निपातितः।।४५।।

अर्थः–

वसन्तसेना–अति उदारता के कारण आपने यह क्या कर डाला?

अन्वयः– पूर्वानुबद्धवैरेण, प्रभविष्णुना, नरके, पतता, तेन, शत्रुणा, मनाक्, निपातितः, अस्मि।।४५।।

शब्दार्थः– पूर्वानुबद्धवैरेण = पहले से ही वैर बाँधने वाले, प्रभविष्णुना = शक्तिशाली, नरके = नरक में, पतता = गिरते हुए, तेन = उस, शत्रुणा = शत्रु के द्वारा, मनाक् = थोड़ा सा, निपातितः = गिराया गया, कलंकित किया गया, अस्मि = हूँ।।

अर्थः–

चारुदत्त– प्रिये! 'मैनें तुम्हें मार डाला' ऐसा कहकर–

पहले से ही वैर बाँधने वाले, शक्तिशाली, नरक में गिरने वाले उस शत्रु (शकार) के द्वारा थोड़ा सा कलंकित कर दिया गया हूँ।।३५।।

टीका– पूर्वानुबद्धवैरेण–पूर्वम् = पूर्वकालादेवेत्यर्थः, यतः प्रभृति त्वया तिरस्कृतः ततः आरभ्येति भावः, अनुबद्धम् = स्वहृदये संरोपितम् स्थापितम् वा वैरम् = शत्रुत्वम् येन तादृशेन, प्रभविष्णुना = सर्वं कर्तुं समर्थेन, शक्तिशालिनेति यावत्; राजश्यालत्वेन तस्य प्रभविष्णुत्वमत्र निर्दिष्टम्; नरके = निरये; पतता = गच्छता, आत्मानं निक्षिपतेति भावः, तेन = आवयोर्मध्ये बहुशः शत्रुरूपेण चर्चितेन शकारेण; तच्छब्देन निदेशस्तु हार्दिकीं घृणां सूचयति; शत्रुणा = वैरिणा; मनाक् = किञ्चित्; निपातितः = भ्रष्टः कृतः, कलंकितः इति यावत्; अस्मि = वर्ते। त्वं मया मारितेति उक्त्वा शत्रुणा शकारेण किञ्चित् कलंकितः कृतः अस्मीति भावः।।४५।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।४५।।

वसन्तसेना– (कर्णौ पिधाय) संतं पावं; तेण म्हि राआसालेण वावादिदा। (शान्तं पापम्; तेनास्मि राजश्यालेन व्यापादिता।)

चारुदत्तः–(भिक्षुं दृष्ट्वा) अयमपि कः?।

वसन्तसेना– तेण अणज्जेण वावादिदा; एदिणा अज्जेण जीवाविदम्हि। (तेनानार्येण व्यापादिता, एतेनार्येण जीवं प्रापितास्मि।)

चारुदत्तः–कस्त्वमकारणबन्धुः?।

भिक्षुः– ण पच्चभिजाणादि मं अज्जो?। अहं शे अज्जशश चलणशंवाहचिंतए शंवाहके णाम। जूदिअलेहिं गहिदे एदाए उवाशिकाए अज्जशश केलके त्ति अलंकालपणणिक्कीदे म्हि। तेण अ जूदणिव्वेदेण शक्कशमणके शंवुत्ते म्हि। एशा वि अज्जा पवहणविपज्जाशेण पुष्पकलंडकजिण्णुज्जाणं गदा। तेण अ अणज्जेण ण मं बहु मण्णेशि त्ति बाहुपाशबलक्कालेण मालिदा मए दिट्टा। (न प्रत्यभिजानाति मामार्यः?। अहं स आर्यस्य चरणसंवाहचिन्तया संवाहको नाम द्यूतकैर्गृहीत एतयोपासिकयार्यस्यात्मीय इत्यलंकारपणनिष्क्रीतोऽस्मि। तेन च द्यूतनिर्वेदेन शाक्यश्रमणकः संवृत्तोऽस्मि। एषाप्यार्या प्रवहणविपर्यासेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं गता। तेन चानार्येण न मां बहु मन्यस इति बाहुपाशबलात्कारेण मारिता मया दृष्टा।)

(नेपथ्ये कलकलः)

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता
तदनु जयति भेत्ता षण्मुखः क्रौञ्चशत्रुः।
तदनु जयति कृत्स्नां शुभ्रकैलासकेतुं
विनिहतवरवैरी चार्यको गां विशालाम्।।४६।।

अर्थः–

वसन्तसेना– (कानों को ढक कर) पाप शान्त हो। (मैं तो) उस राजश्यालक (शकार) के द्वारा मारी गयी थी।

चारुदत्त– (भिक्षु को देखकर) और यह कौन है?

वसन्तसेना–उस असभ्य (शकार) के द्वारा मारी गयी थी और इन आर्य के द्वारा जिलायी गयी हूँ।

चारुदत्त– निःस्वार्थ सहायता करने वाले (अकारण–बन्धु) तुम कौन हो?

भिक्षु– आप मुझे नहीं पहचान रहे हैं? मैं आपके पैर दबाने की चिन्ता करने वाला वही संवाहक हूँ। जुआरियों के द्वारा पकड़ गया मैं इस बुद्धोपासिका के द्वारा 'आपका अपना आदमी हूँ' यह जानकर आभूषणरूपी मूल्य से खरीदा गया हूँ और उसी जुआ के दुःख के कारण बौद्ध–संन्यासी हो गया हूँ। यह आर्या (वसन्तसेना) भी गाड़ी के बदल जाने से पुष्पकरण्डक नामक पुराने बगीचे में चली गयी थीं। वहाँ 'मुझे नहीं चाहती हो' ऐसा कहकर उस नीच (शकार) ने भुज–पाश से बलपूर्वक (दबाकर) इनको मार डाला। (इसके बाद) मेरे द्वारा यह देखी गयी।

अन्वयः– दक्षयज्ञस्य, हन्ता, वृषभकेतुः, जयति; तदनु, भेत्ता, क्रौञ्चशत्रुः, षण्मुखः, जयति; तदनु, विनिहतवरवैरी, आर्यकः च, शुभ्रकैलासकेतुम्, कृत्स्नाम्, विशालाम्, गाम्, जयति।।४६।।

शब्दार्थः– दक्षयज्ञस्य = दक्ष के यज्ञ को, हन्ता = विनष्ट करने वाले, वृषभकेतुः = शिव, जयति = विजयी हो रहे हैं (अर्थात् शिव की जय हो)। तदनु = उसके बाद, भेत्ता = (शत्रुओं के दल का) भेदन करने वाले, क्रौञ्चशत्रुः = क्रौञ्च (नामक दैत्य) के शत्रु, षण्मुखः = कार्तिकेय, जयति = विजयी हो रहे हैं (अर्थात् कार्तिकेय की जय हो)। तदनु = तदनन्तर, विनिहतवरवैरी = प्रधान शत्रु (पालक) का वध करने वाला, आर्यकः = आर्यक, च = भी, शुभ्रकैलासकेतुम् = सफेद कैलास पर्वत ही है पताका जिसकी ऐसी, कृत्स्नाम् = समूची, विशालाम् = विस्तृत, गाम् = पृथ्वी को, जयति = जीत रहा है (अर्थात् जीते)।।

(पर्दे में कोलाहल)

अर्थः— दक्ष के यज्ञ को विनष्ट करने वाले शिव की जय हो। उसके पश्चात् (शत्रुओं के दल का) भेदन करने वाले, क्रौञ्च (नामक दैत्य अथवा पर्वत) के शत्रु कार्तिकेय की जय हो। और तदनन्तर प्रधान शत्रु (पालक) का वध करने वाला आर्यक सफेद कैलास पर्वत ही है पताका जिसकी ऐसी समूची विस्तृत पृथिवी को जीते।।४६।।

टीका— दक्षयज्ञस्य—दक्षस्य = एतन्नामप्रसिद्धस्य प्रजापतेः यज्ञस्य = यागस्य, हन्ता = विध्वसंकः; वृषभकेतुः—वृषभः वाहनभूतः वृषः केतौ = ध्वजे, चिह्नत्वेनेति शेषः, अस्येति वृषभकेतुः = शिव, जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते। एतेन अग्रिमे एकपञ्चाशत्तमे श्लोके कथितः यज्ञवाटस्थस्य पालकस्य वधः समर्थितः सूचितश्च। तदनु = तदनन्तम्, भेत्ता = शत्रुपक्षविदारकः, क्रौञ्चस्य = तदाख्यस्य पर्वतस्य दैत्यस्य वा; शत्रुः = शातयिता; अथवा क्रौञ्चशत्रुः = तदाख्यपर्वतस्य शातयिता अतः भेत्ता = तस्य विदारकः; षण्मुखः परशुरामस्पर्धया शरसन्धानाभ्यासे क्रौञ्चपर्वतं बहुशः बिभेदेति प्रसिद्धिः; षण्मुखः = कार्तिकेयः जयति = विजयते। तदनु = ततः; विनिहतः = सम्यगुन्मूलितः, ध्वस्तः इति यावत्; वरः = प्रधानः श्रेष्ठो वा वैरी = शत्रुः, पालकः राजा, येन तथाभूतः; आर्यकः = आर्यकनामा गोपालसुतः; च = अपि; शुभ्रः = धवलः, हिमैः इति शेषः, कैलास = शिवस्य निवासभूतः कैलासपर्वतः; एव केतुः = पताका यस्याः तादृशीम्; अत्युन्नतत्वेन कैलासे पताकात्वारोपः; कृत्स्नाम् = सम्पूर्णाम्; विशालाम् = विस्तृताम्; गाम् = पृथिवीम्; जयति = आयतीकरोतु इत्यर्थः।।४६।।

इस श्लोक में रूपक अलंकार तथा मालिनी छन्द है।।४६।।

(प्रविश्य, सहसा)

शर्विलकः—

हत्वा तं कुनृपमहं हि पालकं भो-
स्तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यकं तम्।
तस्याज्ञां शिरसि निधाय शेषभूतां
मोक्ष्येऽहं व्यसनगतं च चारुदत्तम्।।४७।।

अन्वयः— भोः! अहम्, हि, तम्, कुनृपम्, हत्वा, तद्राज्ये, द्रुतम्, तम्, आर्यकम्, अभिषिच्य, च, तस्य, शेषभूताम्, आज्ञाम्, शिरसि, निधाय, अहम्, व्यसनगतम्, चारुदत्तम्, मोक्ष्ये।।४७।।

शब्दार्थः— भोः = हे (मनुष्यों)! अहम् = मैं, हि = अवश्य ही, तम् = उस, कुनृपम् = दुष्ट राजा को, हत्वा = मार कर, तद्राज्ये = उसके राज्य पर, द्रुतम् = शीघ्र ही, तम् = उस, आर्यकम् = आर्यक को, अभिषिच्य = अभिषिक्त करके, तस्य = उसकी, शेषभूताम् = आखिरी, आज्ञाम् = आज्ञा को, शिरसि = शिर पर, निधाय = रख कर, अहम् = मैं, व्यसनगतम् = विपत्ति में पड़े हुए, चारुदत्तम् = चारुदत्त को, मोक्ष्ये = मुक्त करूँगा अर्थात् मुक्त करता हूँ।

(एकाएक प्रवेश करके)

अर्थः—

शर्विलक— रे मनुष्यों! मैं उस दुष्ट राजा पालक को मारकर, उसके राज्य पर शीघ्र ही उस आर्यक का अभिषेक कर उसकी (आर्यक की) आखिरी आज्ञा को शिरोधार्य करके विपत्ति में पड़े हुए चारुदत्त को मुक्त करता हूँ।।४७।।

टीका— भोः!—इति जनानुद्दिश्य सम्बोधनम्; अहम् = शर्विलकः इत्यर्थः; गर्वोक्तिरियम्; हि = निश्चितम्; तम् = गर्हितकर्मभिः प्रजासु प्रसिद्धम्; कुनृपम् = कुत्सितं राजानम्, पालकमित्यर्थः; हत्वा = विनाश्य; तस्य = पालकस्य राज्ये = सिंहासने राज्याधिकारे वा; द्रुतम् = झटिति; अतिशीघ्रतायामन्योपद्रवाशंकाकारणमासीदिति; तम् = सिद्धादिष्टराज्यलाभवार्तया प्रसिद्धम्; आर्यकम् = आर्यकनामानं गोपालसुतम्; अभिषिच्य = यथाविधि अभिषिक्तं कृत्वा; तस्य = राज्ञः आर्यकस्य; शेषभूताम् = अन्तिमाम्; एतेन बहूनां कार्याणां सिद्धिः सूच्यते; "शेषभूताम् = पुष्पदामायमानाम्", इति व्याख्या क्लिष्टत्वादुपेक्षणीयेति; आज्ञाम् = आदेशम्' शिरसि = मस्तके; निधाय = कृत्वा; अहम् = शर्विलकः; व्यसनगतम्—व्यसने = विपत्तौ गतम् = पतितम्; चारुदत्तम् = अनेन नाम्ना प्रसिद्धं ब्राह्मणम्; मोक्षे = मोचयिष्यामि।।४७।।

इस श्लोक में प्रहर्षिणी छन्द है।।४७

हत्वा रिपुं तं बलमन्त्रिहीनं
पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात्।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं
बलारेरिव शत्रुराज्यम्।।४८।।

अन्वयः— बलमन्त्रिहीनम्, तम्, रिपुम्, हत्वा, पुनः, प्रकर्षात्, पौरान्, समाश्वास्य बलारेः, राज्यम्, इव, समग्रम्, वसुधाधिराज्यम् शत्रुराज्यम्, प्राप्तम्।।४८।।

शब्दार्थः— बलमन्त्रिहीनम् = सेना तथा मन्त्रियों से रहित, तम् = उस, रिपुम् = शत्रु को, हत्वा = मारकर, पुनः = फिर, प्रकर्षात् = अधिक प्रभाव से, पौरान् = पुरवासियों को, समाश्वास्य = ढाँढस बँधा कर, बलारेः = इन्द्र के, राज्यमिव = राज्य के समान, समग्रम् = सम्पूर्ण, वसुधाधिराज्यम् = पृथिवी के शासन से युक्त, शत्रुराज्यम् = शत्रु का राज्य, प्राप्तम् = पा लिया गया (अधिकार में कर लिया गया)।।

अर्थः— सेना तथा मन्त्रियों से रहित उस शत्रु (पालक) को मारकर और फिर (अपने) अधिक प्रभाव से पुरवासियों का ढाँढस बँधाकर, बल नामक दैत्य के शत्रु इन्द्र के राज्य के समान, समूची पृथ्वी के शासन से युक्त, शत्रु के समूचे राज्य को अधिकार में कर लिया।।४८।।

टीका— बलमन्त्रिहीनम्—बलानि च = सैन्यानि च, मन्त्रिणश्च = अमात्याश्च तैः हीनम् = रहितम्; मन्त्रिणः सैन्यानि वायें व्यजु पालकमित्यनेन सूच्यते; बलमन्त्रहीनमिति पाठान्तरम्; तथात्वे बलैः मन्त्रैश्च = समीचीनाभिः मन्त्रणाभिश्च हीनम्, तम् = सिद्धादेशानतरं जनसमवाये विदितम्; रिपुम् = शत्रुम; पालकमित्यर्थ; हत्वा = विनाश्य, पुनः = मुहुः, प्रकर्षात् = प्रभावबलात्; पौरान् = पुरवासिनः, उज्जयिनीनिवासिनः इत्यर्थः, समाश्वास्य = आश्वस्तान् कृत्वा, राज्यविप्लवकृत पद्रव प्रति भीतान् जनान् सान्त्वयित्वेत्यर्थः; बलारेः = इन्द्रस्य, राज्यमिव = साम्राज्यमिव; इन्द्रस्य राज्यमिव महत् सुखकरं न्येति भावः; समग्रम् = सम्पूर्णम्; वसुधाधिराज्यम्—वसुधायाः = निखिलायाः पृथिव्याः आधिराज्यम् = स्वाभ्यम् वा अधिराज्यम् = साम्राज्यम्, यस्मिन् तत् तथाभूतम्; शत्रुराज्यम्—शत्रोः = रिपोः राज्यम् = 'अखण्डाज्ञाविषयो हि राज्यम् इति लक्षणलक्षितं राज्यम्; प्राप्तम् = अधिगतम्; मया शर्विलकेन अथवा आर्यकेण इति शेषः। पूर्वापन्यस्त श्लोक दृष्टवा शर्विलकेनेति पदमध्याहार्यमिति निश्चीयते।।४८।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है।।४८।।

(अग्रतो निरूप्य) भवतु; अत्र तेन भवितव्यम्, यत्रायं जनपदसमवायः। अपि नामायमारम्भः क्षितिपतेरार्यकस्यार्य चारुदत्तस्य जीवितेन सफलः स्यात्?। (त्वरिततरमुपसृत्य) अपयात जाल्माः!। (दृष्ट्वा सहर्षम्) अपि ध्रियते चारुदत्त सह वसन्तसेनया? संपूर्णाः खल्वस्मत्स्वामिनो मनोरथाः।

दिष्ट्या भो व्यसनमहार्णवादपारा-
दुत्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या।
नावेव प्रियतमया चिरान्निरीक्ष्ये
ज्योत्स्नाढ्यं शशिनमिवोपरागमुक्तम्।।४९।।

अर्थः— (सामने देखकर) अच्छ, यहाँ उस चारुदत्त को होना चाहिये, जहाँ पर कि लोगों की यह भीड है। क्या पृथिवी पति आर्यक का यह कार्य (अर्थात् पहले–पहल राज्य पर बैठना) आर्य चारुदत्त के जीवन (को रक्षा) से सफल हो गया। (बहुत वेग से समीप जाकर) दूर हटो मूर्खो! (देखकर, प्रसन्नता के साथ) क्या चारुदत्त वसन्तसेना के साथ जीवित है? (तब तो) हमारे स्वामी (आर्यक) के मनोरथ पूरे हो गये।

अन्वयः— भोः! दिष्ट्या, गुणधृतया, सुशीलवत्या, नावा, इव, प्रियतमया, अपारात्, व्यसनमहार्णवात्, उत्तीर्णम्, (चारुदत्तम्); उपरागमुक्तम्, ज्योत्स्नाढ्यम्, शशिनम्, इव, चिरात्, निरीक्ष्ये।।४९।।

शब्दार्थः— भोः! = हे (मनुष्यों)! दिष्ट्या = सौभाग्यवश, गुणधृतया = गुणों (दया, उपकार आदि तथा नौका के पक्ष में—रस्सियों) से आकृष्ट (खींची गयी), सुशीलवत्या = सुन्दर स्वभाववाली (नैया के पक्ष में सुघटित), नावा = नैया के, इव = समान, प्रियतमया = प्रियतमा के द्वारा, अपारात् = अपार, व्यसनमहार्णवात् = विपत्ति सागर से, उत्तीर्णम् = पार हुए, (चारुदत्तम् = चारुदत्त को), उपरागमुक्तम् = ग्रहण से छूटे हुए, ज्योत्स्नाढ्यम् = चाँदनी से सम्पन्न, शशिनमिव = चन्द्रमा के समान, चिरात् = बहुत दिनों के बाद, निरीक्ष्ये = देख रहा हूँ।

अर्थः— हे मनुष्यों! सौभाग्यवश गुणों (दया, उपकार आदि तथा नौका के पक्ष में—रस्सियों) से आकृष्ट सुन्दर स्वभाव वाली (पक्ष में सुघटित) नौका के समान प्रियतमा वसन्तसेना के द्वारा अपार विपत्तिसागर से पार हुए चारुदत्त को, ग्रहण से छूटे हुए तथा चाँदनी से युक्त चन्द्रमा के समान, बहुत दिनों के बाद मैं देख रहा हूँ।।४६।।

टीका— भोः! = हे, जनाः इति शेषः; दिष्ट्या = सौभाग्येन आनन्देन वा, गुणधृतया—गुणैः = दयादाक्षिण्यादिभिः नौकापक्षे—गुणैः = रज्जुभिः, धृतया = आकृष्टया, वसन्तसेनापक्षे वशीभूतया इत्यर्थः; सुशीलवत्या = सुन्दरस्वभावसम्पन्नया, नौकापक्षे—सुघटितया; नावेव = नौकयेव; प्रियतमया = प्रेयस्या वसन्तसेनया इत्यर्थः; अपारात् = एकत्र दुर्निवारात्, अन्यत्र पारं गन्तुमशक्यादित्यर्थः; व्यसनमहार्णवात्—व्यसनम् = विपत्तिः एव महार्णवः = अपारः सागरः तस्मात्; उत्तीर्णम् = पारंगतम्, उद्धृतमित्यर्थः; चारुदत्तमिति शेषः; उपरागमुक्तम्—उपरागात् = ग्रहात्, मुक्तम् = त्यक्तम्; निवृत्तग्रहमित्यर्थः; अतः ज्योत्स्नाभिः = चन्द्रिकाभिः आढ्यम् = सम्पन्नम्; शशिनमिव = चन्द्रमसमिव; चिरात् = बहोः कालादनन्तरम्, निरीक्ष्ये = पश्यामि।।४६।।

इस श्लोक में रूपक, श्लेष एवं उपमा अलंकार तथा प्रहर्षिणी छन्द है।।४६।।

तत्कृतमहापातकः कथमिवैनमुपसर्पामि?। अथवा सर्वत्रार्जवं शोभते। (प्रकाशमुपसृत्य बद्धाञ्जलिः) आर्य चारुदत्त?।

चारुदत्तः— ननु को भवान्?।

शर्विलकः—

येन ते भवनं भित्त्वा न्यासापहरणं कृतम्।
सोऽहं कृतमहापापस्त्वामेव शरणं गतः।।५०।।

अर्थः— तो (इनके घर चोरी के) महान् पाप का कर्ता मैं इनके पास कैसे जाऊ! अथवा सरलता सब जगह अच्छी होती है। (प्रकट रूप में, समीप जाकर, हाथ जोड़े हुए) आर्य चारुदत्त!

अन्वयः— येन, ते, भवनम्, भित्त्वा, न्यासापहरणम्, कृतम्, सः; कृतमहापापः, अहम्, त्वाम्, एव, शरणम्, गतः।।५०।।

शब्दार्थः— येन = जिसके द्वारा, ते = तुम्हारे, भवनम् = घर को, भित्त्वा = फोड़कर, न्यासापहरणम् = धरोहर की चोरी, कृतम् = की गयी, सः = वह, कृतमहापापः = महान् पाप करने वाला, अहम् = मैं, त्वामेव = तुम्हारी ही, शरणम् = शरण को, गतः = प्राप्त हुआ हूँ।

अर्थः—

चारुदत्त— अरे! आप कौन हैं?

शर्विलक— जिसने तुम्हारे घर की दीवार में सेंध लगाकर धरोहर की चोरी की थी; वही महान् पाप करने वाला मैं तुम्हारी ही शरण में आया हूँ।।५०।।

टीका— येन = महापापिना; ते = तव; भवनम् = गृहम्, कुड्यमित्यर्थः; भित्त्वा = छित्त्वा; न्यासस्य = निक्षेपस्य, उपनिधेः इत्यर्थः, अपहरणम् = चौर्यम् कृतम् = सम्पादितम्; सः कृतम् = विहितम् महापापम् = महत्पातकम् येन सः; सुवर्णचौर्यं महापातकमिति स्मृतिवचनात् कृतमहापापः' इत्युक्तम्; अहम् = तव समक्षं स्थितः शर्विलकः; त्वामेव = भवन्तमेव; शरणम् = रक्षकम्, गतः = प्राप्तः; अस्मीति शेषः।।५०।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।५०।।

चारुदत्तः— सखे! मैवम्; त्वयासौ प्रणयः कृतः। (इति कण्ठे गृह्णाति)।

शर्विलकः— अन्यच्च,—

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः।।५१।।

अर्थः—

चारुदत्त— मित्र! ऐसा मत कहो। तुमने तो यह कृपा ही की थी। (ऐसा कह कर गले लगाता है।

अन्वयः— आर्यवृत्तेन, कुलम्, मानम्, च, रक्षता, आर्यकेण, यज्ञवाटस्थः, दुरात्मा, पालकः, पशुवत्, हतः।।५१।।

शब्दार्थः— आर्यवृत्तेन = सज्जनों के योग्य व्यवहार करने वाले, कुलम् = (अपने) कुल को, मानम् = मान को, रक्षता = बचाते हुए, आर्यकेण = आर्यक के द्वारा, यज्ञवाटस्थः = यज्ञशाला में स्थित, दुरात्मा = दुष्ट, पालकः = राजा पालक, पशुवत् = पशु के समान, हतः = मार डाला गया।

अर्थः—

शर्विलक— और भी—

सज्जनों के योग्य व्यवहार करने वाले, अपने कुल तथा मान को बचाते हुए, आर्यक ने यज्ञशाला मे स्थित दुष्ट पालक को पशु के समान मार दिया।।५१।।

टीका— आर्यवृत्तेन—आर्यम् = साधुजनाभिनन्दितम् वृत्तम् = चरितम् यस्य तेन; कुलम् = वंशम्; मानञ्च = गौरवञ्च, रक्षता = पालयता; क्रुद्धपालकात्कुलं मानञ्च रक्षतेति बोध्यम्; आर्यकेण = तदाख्येन गोपालदारकेण; यज्ञवाटस्थः = यज्ञशालागत; दुरात्मा = दुष्टप्रकृतिः; पालकः = तदाख्यः भूतपूर्वः राजा; पशुवत् = छागादिवत्; यज्ञे यथा पशुः हन्यते तथेवेत्यर्थः, एतेन यज्ञकार्यव्यापृतस्यापि तस्य हननं शुभावहमित्यपि सूचितम्; हतः = मारितः।।५१।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।५१।।

चारुदत्तः— किम्?

शर्विलकः—

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्त्वां शरणं पुरा।
पशुवद्वितते यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः।।५२।।

अन्वयः— यः, पुरा, त्वद्यानम्, समारुह्य, त्वाम्, शरणम्, गतः; तेन, अद्य, विततें, यज्ञे, पालकः, पशुवत्, हतः।।५२।।

शब्दार्थः— यः = जो (आर्यक), पुरा = पहले, त्वद्यानम् = तुम्हारी गाड़ी पर, समारुह्य = चढ़कर, त्वाम् = तुम, शरणम् = रक्षक के पास (अर्थात् तुम्हारी शरण में), गतः = गया था; तेन = उसी के द्वारा, अद्य = आज, विततें = विस्तृत, यज्ञे = यज्ञ में, पालकः = पालक, पशुवत् = पशु के समान, हतः = मारा गया।।

अर्थः— चारुदत्त— क्या?

शर्विलक— जो आर्यक पहले तुम्हारी गाड़ी पर चढ़कर तुम्हारी शरण में गया था, उसने ही आज, विस्तृत यज्ञ में पालक को पशु के समान मार दिया।।५२।।

टीका— यः = आर्यकः, पुरा = पूर्वम्, त्वद्यानम्—तव = भवतः यानम् = शकटम्; समारुह्य = स्थित्वा; त्वाम् = भवन्तम् शरणम् = रक्षितारम्; गतः = सम्प्राप्तः; तेन = त्वत्कृपारक्षितेन; अद्य = अस्मिन् दिने; विततें = विस्तृते; यज्ञे = मखे; पालकः पशुवत् = यज्ञा यज्ञे पशुः हन्यते तथैव; हतः = विनाशितः।।५२।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।५२।।

चारुदत्तः—शर्विलक! योऽसौ पालकेन घोषादानीय निष्कारणं कूटागारे बद्ध आर्यकनामा त्वया मोचितः?।

शर्विलकः—यथाह तत्रभवान्।

चारुदत्तः—प्रियं नः प्रियम्।

शर्विलकः—प्रतिष्ठितमात्रेण तव सुहृदार्यकेणोज्जयिन्यां वेणातटे कुशावत्यां राज्यमतिसृष्टम्। तत्प्रतिमान्यतां प्रथमः सुहृत्प्रणयः। (परिवृत्य) अरे रे, आनीयतामयं पापो राष्ट्रियशठ।

(नेपथ्ये)

यथाज्ञापयति शर्विलकः।

शर्विलकः— आर्य नन्वयमार्यको राजा विज्ञापयति-'इदं मया युष्मद्गुणोपार्जितं राज्यम्; तदुपयुज्यताम्'।

चारुदत्तः— अस्मद्गुणोपार्जितं राज्यम्?।

(नेपथ्ये)

अरे रे राष्ट्रियश्यालक! एह्येहि। स्वस्याविनयस्य फलमनुभव।

(ततः प्रविशति पुरुषैरधिष्ठितः पश्चाद्बाहुबद्धः शकारः)

शकारः— हीमादिके,

एव्वं दूलमदिक्कंते उद्दामे विअ गद्दहे।
आणीदे खु हगे बद्धे हुडे अण्णे व्व दुक्कले।।५३।।

आश्चर्यम्,

एवं दूरमतिक्रान्त उद्दाम इव गर्दभः।
आनीतः खल्वहं बद्धः कुक्कुरोऽन्य इव दुष्करः।।

अर्थः—

चारुदत्त— शर्विलक! जो यह (राजा) पालक के द्वारा अहीरों की बस्ती से लाकर विना कारण के ही कारागार में बाँध दिया गया था और बाद में तुम्हारे द्वारा छुड़ाया गया; वही आर्यक नामक आदमी?।

शब्दार्थः—

शर्विलक— जैसा आदरणीय आप कहते हैं (वही बात है)।

चारुदत्त— अच्छा, हमारे लिये बहुत अच्छा।

शर्विलक— उज्जयिनी में (सिंहासन पर) बैठते ही तुम्हारे प्रिय मित्र आर्यक ने वेणा नदी के तट पर कुशावती का राज्य (आपको) दान दे दिया है। तो मित्र की पहली प्रेमभरी प्रार्थना को स्वीकार करें। (घूमकर) अरे! इस पापी धूर्त राजा के साले (शकार) को लाओ।

(पर्दे में)

शर्विलक की जैसी आज्ञा।

शर्विलक— आर्य! निश्चय ही राजा आर्यक सूचित करते हैं कि—'मैंने इस राज्य को तुम्हारे गुणों के बल से प्राप्त किया है, तो (आप ही) इसका उपयोग कीजिये (अर्थात् आप ही इस राज्य को भोगिये)।'

चारुदत्त— हमारे गुणों के बल से प्राप्त राज्य?

(पर्दे में)

अरे रे राजा के साले! आओ, आओ। अपनी उद्दण्डता के फल को भोगो।

(इसके बाद पुरुषों के द्वारा शासित पीछे की ओर हाथ बँधा हुआ शकार प्रविष्ट होता है।)

अन्वयः— उद्दामः, गर्दभः, इव, एवम्, दूरम्, अतिक्रान्तः, अहम्, खलु, आनीतः, (तथा), दुष्करः, अन्यः, कुक्कुरः, इव, बद्धः ।५३।

शब्दार्थः— उद्दामः = बन्धन से छूटे हुए, गर्दभः = गधे (की), इव = भाँति, एवम् = इस प्रकार, दूरम् = दूर तक, अतिक्रान्तः = भागा हुआ, अहम् = मैं, खलु = निश्चित ही, आनीतः = पकड़ लाया गया, (तथा = और), दुष्करः = दुष्ट, अन्यः = दूसरे अर्थात् दूसरे के, कुक्कुरः = कुत्ते (के), इव = समान, बद्धः = बाँध दिया गया हूँ।।

अर्थः—

शकार— आश्चर्य है;

बन्धन से छूटे हुए गधे की भाँति इस प्रकार दूर तक भागा हुआ मैं पकड़ लाया गया और दुष्ट कुत्ते के समान बाँध दिया गया हूँ।।५३।।

टीका— उद्दामः–उत् = उद्गतम् दाम = बन्धनम् यस्य तादृशः, बन्धनविनिर्मुक्तः इत्यर्थः; गर्दभः = राक्षभ, इव; एवम् = इत्थम् दूरम् = विप्रकृष्टम्; अतिक्रान्तः = पलायितः; अहम् = शकारः; खलु = निश्चितम्; आनीतः = उपस्थापित तथा दुष्करः = अतिप्रचण्डः दुष्टः वा; अन्यः = स्वातिरिक्तः; कुक्कुरः = श्वा; इव = यथा; बद्धः = संयमितः, अस्मि ।।५३।।

इस श्लोक में उपमा अलंकार एवं पथ्यावक्त्र छन्द है।।५३।।

(दिशोऽवलोक्य) शमंतदो, उवट्ठिदे एशे लश्टिअबंधे। ता कं दाणिं अशलणे शलणं वजामि?। (विचिन्त्य) भादु, तं ज्जेव अब्भुववण्णशलणवच्छलं गच्छामि। (इत्युपसृत्य) अज्जचालुदत्त! पलित्ताआहि पलित्ताआहि।

समन्तत उपस्थित एष राष्ट्रियबन्धः। तत्कमिदानीमशरणः शरणं व्रजामि? भवतु, तमेवाभ्युपपन्नशरणवत्सलं गच्छामि। आर्यचारुदत्त! परित्रायस्व परित्रायस्व।

(इति पादयोः पतति)

(नेपथ्ये)

अज्जचालुदत्त! मुंच मुंच, वावादेम्ह एदं। (आर्यचारुदत्त! मुञ्च मुञ्च, व्यापादयामैतम्)

शकारः— (चारुदत्तं प्रति) भो अशलणशलणे! पलित्ताआहि। (भो अशरणशरण! परित्रायस्व।)

चारुदत्तः—(सानुकम्पम्) अहह, अभयमभयं शरणागतस्य।

शर्विलकः—(सावेगम्) आः, अपनीयतामयं चारुदत्तपार्श्वात्। (चारुदत्तं प्रति) ननूच्यतां किमस्य पापस्यानुष्ठीयतामिति।

आकर्षन्तु सुबद्ध्वैनं श्वभिः संखाद्यतामथ।
शूले वा तिष्ठतामेष पाट्यतां क्रकचेन वा।।५४।।

अर्थः— (चारों ओर देखकर), चारों ओर से राजश्यालक का (अर्थात् मेरा) शत्रुवर्ग उपस्थित है। तो आश्रयहीन मैं अब किसकी शरण में जाऊँ? (सोच कर) अच्छा, समीप में आये हुए लोगों पर स्नेह करने वाले उसी (चारुदत्त) के समीप जाता हूँ। (इस प्रकार पास में जाकर) आर्य चारुदत्त! बचाओ, बचाओ।

(ऐसा कह कर पैरों पर गिरता है)

(पर्दे में)

आर्य चारुदत्त! छोड़ो, छोड़ो। हम (दोनों) इसे मार डालें।

शकार— हे आश्रयहीनों के आश्रयदाता! रक्षा करो।

चारुदत्त— (कृपा के साथ) अहह! शरण में आये हुए के लिए अभय है, अभय है।

शर्विलक— (घबड़ाहट के साथ) इसे आर्य चारुदत्त के पास से दूर हटा लीजिये। (चारुदत्त के प्रति) बतलाइये इस पापी का क्या किया जाय?

अन्वयः— एनम्, सुबद्ध्वा, (जनाः), आकर्षन्तु, अथ, एषः, श्वभिः, संखाद्यताम्, वा, शूले, तिष्ठताम्, वा, क्रकचेन, पाट्यताम्।।५४।।

शब्दार्थः— एनम् = इसको, सुबद्ध्वा = भली प्रकार बाँधकर, (जनाः = मनुष्य) आकर्षन्तु = खींचे? अथ = अथवा, एषः = यह, श्वभिः = कुत्तों के द्वारा, संखाद्यताम् = खाया जाय? वा = अथवा, शूले = शूली पर, तिष्ठताम् = बैठे? वा = या, क्रकचेन = आरा से, पाट्यताम् = चीरा जाय?।।५४।।

अर्थः— क्या इस (शकार को भली प्रकार बाँध कर (मनुष्य) खींचे अथवा इसे कुत्ते खाएँ। क्या इसे शूली पर चढ़ाया जाय अथवा आरा से चीरा जाय।।५४।।

टीका— एनम् = तव सम्मुखे उपस्थापितं शकारमित्यर्थः; सुबद्ध्वा = सम्यक् संयम्य, आकर्षन्तु = पृथिव्यामितस्ततः कर्षन्तु? जनाः इति शेषः। अथ = अथवा; एषः = अपराधी शकारः; श्वभिः = कुक्कुरैः; संखाद्यताम् = आच्छिद्य आच्छिद्य भोज्यताम्? वा = अथवा; शूले = प्राणापहारके लौहफलके; तिष्ठताम् = वर्तताम्? वा = अथवा; क्रकचेन = करपत्त्रेण, पाट्यताम् = विदार्यताम्। अतिभयंकरेषु एतेषु दण्डेषु पापी शकारः कस्य भाजनं भूयादिति प्रश्नस्याशयः।।५४।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।५४।।

चारुदत्तः—किमहं यद्ब्रवीमि तत्क्रियते?।

शर्विलकः—कोऽत्र संदेहः?।

शकारः— भश्टालआ चालुदत्त! शलणागदे म्हि। ता पलित्ताआहि पलित्ताआहि। जं तुए शलिशं तं कलेहि; पुणोण ईदिशं कलिश्शं। (भट्टारक चारुदत्त! शरणागतोऽस्मि। तत्परित्रायस्व परित्रायस्व। यत्तव सदृशं तत्कुरु; पुनर्नेदृशं करिष्यामि।)

(नेपथ्ये)

पौराः! वावादेध, किंणिमित्तं पादकी जीवावीअदि?। (पौराः! व्यापादयत, किंनिमित्तं पातकी जीव्यते?।)

(वसन्तसेना बध्यमालां चारुदत्तस्य कण्ठादपनीय शकारस्योपरि क्षिपति)

शकारः— गब्भदाशीधीए! पशीद पशीद। ण उण मालइश्शं। ता पलित्ताआहि। (गर्भदासीपुत्रि! प्रसीद प्रसीद। न पुनर्मारयिष्यामि। तत्परित्रायस्व।)

शर्विलकः—अरे, रे, अपनयत। आर्यचारुदत्त! आज्ञाप्यताम्-किमस्य पापस्यानुष्ठीयताम्?।

चारुदत्तः—किमहं यद्ब्रवीमि तत्क्रियते?।

शर्विलकः—कोऽत्र संदेहः।

चारुदत्तः—सत्यम्?।

शर्विलकः—सत्यम्।

चारुदत्तः— यद्येवं शीघ्रमयम्-

शर्विलकः— किं हन्यताम्?।

चारुदत्तः— नहि नहि, मुच्यताम्।

शर्विलकः— किमर्थम्?।

चारुदत्तः—

शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः।

शस्त्रेण न हन्तव्यः,

शर्विलकः— एवम्, तर्हि श्वभिः खाद्यताम्।

चारुदत्तः— नहि,

उपकारहतस्तु कर्तव्यः।।५५।।

चारुदत्त— क्या मैं जो कहूँगा, वह किया जायगा?

शर्विलक— इसमें क्या सन्देह?

शकार— मालिक चारुदत्त! शरण में आया हूँ। तो रक्षा करो, रक्षा करो। जो तुम्हारे योग्य हो वह करो। फिर ऐसा न करूँगा।

(पर्दे में)

हे पुरवासियों! मार डालो। यह पातकी किसलिये जी रहा है?

(वसन्तसेना वध्य की माला को चारुदत्त के गले से निकाल कर शकार के ऊपर फेंकती है)

शकार— गर्भदासी की पुत्री! प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ। फिर न मारूँगा। तो बचालो।

शर्विलक—अरे रे! हटाओ। आर्य चारुदत्त! आज्ञा दीजिये—इस पापी का क्या किया जाय?

चारुदत्त— क्या मैं जो कह रहा हूँ वह किया जायगा?

शर्विलक— इसमें क्याा सन्देह?।

चारुदत्त— सच?

शर्विलक— सच।

चारुदत्त— यदि ऐसी बात है तो शीघ्र ही इसे—

शर्विलक— क्या मार दिया जाय?

चारुदत्त— नहीं, नहीं, छोड़ दिया जाय।

शर्विलक— किसलिये?

अन्वयः— कृतापराधः, शत्रुः, (यदि) शरणम्, उपेत्य, पादयोः, पतितः, (तर्हि, सः) शस्त्रेण, न, हन्तव्यः, तु, उपकारहतः कर्तव्यः।।५५।।

शब्दार्थः— कृतापराधः = अपराध को करने वाला, शत्रुः = शत्रु, (यदि), शरणम् = शरण को, उपेत्य = प्राप्त करके अर्थात् शरण में आकर), पादयोः = पैरों पर पतितः = पड़ा है, (तर्हि = तो, सः = वह), शस्त्रेण = शस्त्र से, न = नहीं हन्तव्यः = मारने के योग्य है, तु = किन्तु, उपकारहतः = उपकार से मरा हुआ, कर्तव्यः = करने के योग्य है।

अर्थः—

चारुदत्त— अपराध को करने वाला शत्रु यदि शरण में आकर पैरों पर पड़ा है तो उसे शस्त्र से नहीं मारना चाहिये

शर्विलक—अच्छा, तो कुत्तों द्वारा खाया जाये।

चारुदत्त— नहीं।

किन्तु उसे उपकार से मरा हुआ कर देना चाहिये।।५५।।

टीका— कृतापराधः—कृतः = सम्पादितः अपराधः = आगः। येन तादृशः; शत्रुः = अरिः, अहितकर्ता इत्यर्थः, यदि, शरणम् = आश्रयम्; उपेत्य = प्राप्य; पादयोः = चरणयोः; पतितः = लुठितः; अस्ति तर्हि सः, शस्त्रेण = आयुधेन न हन्तव्यः = न मारणीयः; तु = किन्तु; उपकारहतः—उपकारेण = तस्य हितसम्पादनेन, हत = विनष्टः, अतिलज्जितः इति भावः। अतिलज्जावस्था मरणतुल्यैवावबुद्ध्यतेति अर्थः। कर्तव्यः = विधेयः। अपकर्ता शत्रुर्यदि शरणं भवेत्प्राप्तस्तर्हि तस्य तथा उपकारः विधेयः यथातिलज्जया सः मुखमपि सम्मुखे कर्तुं न शक्नुयात्। इयं हि अवस्था तस्य मरणादपि गरीयसीति भावः।।५५।।

शर्विलकः—अहो, आश्चर्य्यम्, किं करोमि?। वदत्वार्यः।

चारुदत्तः— तन्मुच्यताम्।

शर्विलकः— मुक्तो भवतु।

शकारः— हीमादिके, पच्चुज्जीविदे म्हि। (आश्चर्यम्, प्रत्युज्जीवितोऽस्मि।) (इति पुरुषैः सह निष्क्रान्तः)

(नेपथ्ये कलकलः)

(पुनर्नेपथ्ये)

एसा अज्जचालुदत्तस्स वहुआ अज्जा धूदा पदे वसणंचले विलग्गतंतं दारअं आक्खिवंती बाष्पभरिदणअणेहिं जणेहिं णिवारिज्जमाणा पज्जलिदे पावए पविसदि। (एषार्यचारुदत्तस्य वधूरार्या धूता पदे वसनाञ्चले विलगन्तं दारकमाक्षिपन्ती बाष्पभरितनयनैर्जनैर्निवार्यमाणा प्रज्वलिते पावके प्रविशति।)

शर्विलकः— (आकर्ण्य, नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कथं चन्दनकः?। चन्दनक! किमेतत्?।

चन्दनकः— (प्रविश्य) किं ण पेक्खदि अज्जो?। महाराअप्पासादं दक्खिणेण महंतो जणसंमद्दो वट्टदि। ('एसा' (पृष्ठे) इत्यादि पुनः पठति) कधिदं अ मए तीए, जधा-'अज्जे! मा साहसं करेहि। जीवदि अज्जचारुदत्तो' त्ति। परंतु दुक्खवावुडदाए को सुणेदि, को पत्तिआएदि?। (किं न पश्यत्यार्यः?। महाराजप्रासादं दक्षिणेन महाञ्जनसंमर्दो वर्तते। कथितं च मया तस्यै, यथा-आर्ये! मा साहसं कुरुष्व। जीवत्यार्यचारुदत्तः' इति। परंतु दुःखव्यापृततया कः श्रृणोति, कः प्रत्ययते?।)

चारुदत्तः— (सोद्वेगम्) हा प्रिये! जीवत्यपि मयि किमेतद्व्यवसितम्?। (ऊर्ध्वमवलोक्य दीर्घं निःश्वस्य च)

न महीतलस्थितिसहानि भवच्च-
रितानि चारुचरिते यदपि।
उचितं तथापि परलोकसुखं न
पतिव्रते! तव विहाय पतिम्।।५६।।

अर्थः—

शर्विलक—अहो! आश्चर्य है। क्या करूँ? आप बतलावें।

चारुदत्त— तो छोड़ दिया जाय।

शर्विलक—मुक्त हो जाये।

शकार— आश्चर्य है। फिर से जीवित हो गया हूँ।

(ऐसा कह कर पुरुषों के साथ निकल जाता है)

(पर्दे में कोलाहल)

(फिर पर्दे में)

यह आर्य चारुदत्त की स्त्री आर्या 'धूता' पैर और वस्त्र के आँचल में लिपटने वाले बालक को दूर हटाती हुई आँखों में आँसू भरे हुए लोगों के द्वारा मना की जाती हुई भी जलती हुई आग में प्रवेश कर रही है।

शर्विलक—(सुनकर, पर्दे की ओर देखकर) क्या चन्दनक? चन्दनक! यह क्या है?

चन्दनक—(प्रवेश करके) क्या आप नहीं देख रहे हैं? महाराज के महल के दक्षिण ओर लोगों की बहुत बड़ी भीड़ है। ('एषा' इत्यादि फिर पढ़ता है) और मैंने उससे (धूता से) कहा कि—'आर्ये! साहस मत करो। आर्य चारुदत्त जीवित है।' किन्तु दुःख में डूबने के कारण कौन सुनता है? और कौन विश्वास करता है?

अन्वयः— हे चारुचरिते! यदपि, भवच्चरितानि, महीतलस्थितिसहानि, न, (सन्ति); तथापि, हे पतिव्रते! पतिम्, विहाय, तव परलोकसुखम् न उचितम्।।५६।।

शब्दार्थः— हे चारुचरिते! = हे सुन्दरचरितवाली! यदपि = यद्यपि, भवच्चरितानि = आप के चरित, महीतलस्थितिसहानि = भूतल पर रहने के योग्य, न = नहीं, (सन्ति = है)। तथापि = तो भी, हे पतिव्रते! = हे पतिव्रता स्त्री! पतिम् = पति को (अर्थात् मुझको), विहाय = छोड़ कर, तव = तुम्हारा, परलोकसुखम् = परलोक में सुख भोगना, न = नहीं, उचितम् = उचित है।।

अर्थः—

चारुदत्त— (घबड़ाहट के साथ) हाय प्रिये! मेरे जिन्दा रहने पर ही (तुमने) यह क्या निश्चित कर लिया? (ऊपर देख कर और लम्बी साँस लेकर)

हे सुन्दर चरितवाली! यद्यपि आपके सच्चरित्र इस भूतल पर रहने के योग्य नहीं हैं तथापि हे पतिव्रता स्त्री! पति (मुझ) को छोड़ कर तुम्हारा परलोक में (अकेले) सुख भोगना उचित नहीं है।।५६।।

टीका— हे चारुचरिते—चारु = शोभनम् चरितम् = आचरणम् यस्याः तत्सम्बोधने; यदपि = यद्यपि; भवत्याः = श्रीमत्याः तव चरितानि = आचरणानि; महीतले = भूतले स्थितिः = अवस्थानम् तां सहन्ते इति महीतलस्थितिसहानि = भूतल पर रहने योग्यानि; न सन्ति; तथापि; हे पतिव्रते! पतिम् = भर्तारम्, मामित्यर्थः; विहाय = त्यक्त्वा; तव = भवत्याः परलोके = स्वर्गे यत् सुखम् = आनन्दः तद्भोक्तुमिति शेषः; न उचितम् = न योग्यम्। सर्वथा स्वर्गे एव स्थातुं योग्यायाः तव मां विहाय तत्र गमनं नोचितं यतः त्वं पतिव्रताऽसीति भावः।।५६।।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार तथा प्रमिताक्षरा छन्द है। छन्द का लक्षण— प्रामताक्षरा सजसरसैः कथिता।।५६।।

(इति मोहमुपगतः)

शर्विलकः— अहो प्रमादः

त्वरया सर्पणं तत्र मोहमार्योऽत्र चागतः।
हा धिक्प्रयत्नवैफल्यं दृश्यते सर्वतोमुखम्।।५७।।

अन्वयः— तत्र, त्वरया, सर्पणम्, (उचितम्, किन्तु), अत्र, आर्यः, मोहम्, उपगतः। हा धिक्! सर्वतोमुखम्, प्रयत्नवैफल्यम्, दृश्यते।।५७।।

शब्दार्थः— तत्र = वहाँ, त्वरया = जल्दी से, सर्पणम् = जाना, (उचितम् = उचित है, किन्तु = परन्तु); अत्र = यहाँ, आर्यः = आदरणीय (चारुदत्त), मोहम् = मूर्च्छा को, उपगतः = प्राप्त हो गये हैं। हा धिक् = हाय धिक्कार है! सर्वतोमुखम् = चारों ओर से, प्रयत्नवैफल्यम् = प्रयत्न की विफलता, दृश्यते = दिखलायी देती है।।

(ऐसा कह कर मूर्च्छा को प्राप्त होता है)

अर्थः—

शर्विलक— अहो! असावधानी!

वहाँ (धूता के पास) जल्दी से जाना उचित है, परन्तु यहाँ आर्य (चारुदत्त) मूर्च्छित हो गये हैं। हाय! धिक्कार है! चारों ओर से प्रयत्न (चारुदत्त को बचाने के प्रयत्न) की विफलता दिखलाई देती है।।५७।।

टीका— तत्र = यत्र धूता अग्नौ प्रविशति तत्रेत्यर्थः; त्वरया = झटिति; सर्पणम् = गमनम्; उचितमिति शेषः; किन्तु अत्र = अस्मिन् स्थाने; आर्यः = आदरणीयः, चारुदत्तः इत्यर्थः, मोहम् = मूर्च्छाम्; उपगतः = प्राप्तः। हा धिक्! सर्वतोमुखम् = सर्वप्रकारेण इत्यर्थ; प्रयत्नानाम् = उद्योगानाम् वैफल्यम् = विफलता; दृश्यते = अवलोक्यते। चारुदत्तविमोक्षणायैव झटिति अस्माभि पालकहननादिकृत्यानि सयत्नं कृतानि। परञ्च कृतेऽपि सर्वविधयत्ने प्रतीयते चारुदत्तस्य प्राणाना रक्षा न भविष्यतीति, अस्य जीवनरक्षा धूतां विना न सम्भविष्यतीति भावः।।५७।।

इस श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है।।५७।।

वसन्तसेना– समस्ससिदु अज्जो। तत्त गदुअ जीवावेदु अज्जा; अण्णधा अधीरत्तणेण अणत्थो संभावीअदि। (समाश्वसित्वार्यः। तत्र गत्वा जीवयत्वार्याम्; अन्यथाधीरत्वेनानर्थः संभाव्यते।)

चारुदत्तः–(समाश्वस्य, सहसोत्थाय च) हा प्रिये! क्वासि?। देहि मे प्रतिवचनम्।

चन्दनकः–इदो इदो अज्जो। (इत इत आर्यः।)

(इति सर्वे परिक्रामन्ति)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा धूता चेलाञ्चलमाकर्षन्विदूषकेणानुगम्यमानो रोहसेनो रदनिका च)

धूता– (साम्रम्) जाद! मुंचेहि मं। माविग्धं करेहि। भीआमि अज्जउत्तस्स अमंगलाकण्णणदो। (जात! मुञ्च माम्। मा विघ्नं कुरुष्व। विभेम्यार्यपुत्रस्यामंगलाकर्णनात्।)

(इत्युत्थायाञ्चलमाकृष्य, पावकाभिमुखं परिक्रामति)

रोहसेनः– माद अज्जए! पडिवालेहि मं। तुए विणा ण सक्कुणोमि जीविदं धारेदुं। (मातरार्ये! प्रतिपालय माम्। त्वया विना न शक्नोमि जीवितं धर्तुम्।)

(इति त्वरितमुपसृत्य, पुनरञ्चलं गृह्णति।)

विदूषकः–भोदीए दाव बह्मणीए भिण्णत्तणेण चिदाधिरोहणं पावं उदाहरंति रिसिओ। (भवत्यास्तावद्ब्राह्मण्या भिन्नत्वेन चिताधिरोहणं पापमुदाहरन्ति ऋषयः।)

धूता– वरं पावाचरणे। ण उण अज्जउत्तस्स अमंगलाकण्णणं। (वरं पापाचरणम्। न पुनरार्यपुत्रस्यामंगलाकर्णनम्।)

शर्विलकः– (पुरोऽवलोक्य) आसन्नहुतवहार्या। तत्त्वर्यतां त्वर्यताम्।

(चारुदत्तस्त्वरितं परिक्रामति)

धूता– रअणिए! अवलंब दारअं, जाव अहं समीहिदं करेमि। (रदनिके! अवलम्बस्व दारकम्। यावदहं समीहितं करोमि।)

चेटी– (सकरुणम्) अहं पि पधोवदेसिणि म्हि भट्टिणीए। (अहमपि पथोपदेशिन्यस्मि भट्टिन्याः।)

धूता– (विदूषकमवलोक्य) अज्जो दाव अवलंबेदु। (आर्यस्तावदवलम्बताम्।)

विदूषकः–(सावेगम्) समीहिदसिद्धिए पउत्तेण बम्हणो अग्गदो कादव्वो। अदो भोदीए अहं अग्गणी होमि। (समीहितसिद्धयै प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्यः। अतो भवत्या अहमग्रणी-र्भवामि।)

धूता– कधं पच्चादिट्ठम्हि दुवेहिं?। (बालकमालिंग्य) जाद! तुमं ज्जेव पज्जवट्ठावेहि अत्ताणं अम्हाणं तिलोदअदाणाअ। अदिक्कंते किं मणोरहेहिं?। (सनिःश्वासम्) ण खु अज्जउत्तो तुमं पज्जवट्ठाविस्सदि। (कथं प्रत्यादिष्टास्मि द्वाभ्याम्? जात! त्वमेव पर्यवस्थापयात्मानमस्माकं तिलोदकदानाय। अतिक्रान्ते किं मनोरथैः?। न खल्वार्यपुत्रस्त्वां पर्यवस्थापयिष्यति।)

चारुदत्तः–(आकर्ण्य, सहसोपसृत्य) अहमेव पर्यवस्थापयामि बालिशम्।

(इति बालकं बाहुभ्यामुत्थाप्य, वक्षसालिंगति)

धूता– (विलोक्य) अम्महे, अज्जउत्तस्स ज्जेव्व सरसंजोओ। (पुनर्निपुणं निरूप्य, सहर्षम्) दिट्ठिआ अज्जउत्तो ज्जेव एसो। पिअं मे पिअं। (आश्चर्यम्, आर्यपुत्रस्येव स्वरसंयोगः। दिष्ट्यार्यपुत्र एवैषः। प्रियं मे प्रियम्।)

बालकः– (विलोक्य सहर्षम्) अम्मो आवुको मं परिस्सजदि। (धूतां प्रति) अज्जए! वड्ढवीअसि। आवुको ज्जेव मं पज्जवट्ठावेदि। (आश्चर्यम्, पिता मां परिष्वजति आर्ये! वर्धसे। तात एव मां पर्यवस्थापयति।) (इति प्रत्यालिंगति)

चारुदत्तः–(धूतां प्रति)

हा प्रेयसि! प्रेयसि विद्यमाने
कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत्।
अम्भोजिनीलोचनमुद्रणं किं
भानावनस्तंगमिते करोति?।।५८।।

अर्थः—

वसन्तसेना—आर्य ढाँढस बाँधे। वहाँ चल कर आर्या (धूता) को जीवित करें। नहीं तो अधीरता से अनर्थ की सम्भावना है

चारुदत्त— (धीरज धर कर और जल्दी से उठकर) हाय प्रिये! कहाँ हो? मुझे उत्तर दो।

चन्दनक— आर्य! इधर से, इधर से (आइये)।

(इस प्रकार सभी घूमते हैं)

(इसके बाद पहले बतलायी गयी अवस्था वाली धूता, वस्त्र के आँचल को खींचता हुआ एवं विदूषक से अनुसरण किया गया रोहसेन और रदनिका प्रवेश करते हैं)

धूता— (आँखों में आँसू भर कर) बेटे! छोड़ो मुझे। विघ्न मत करो। आर्यपुत्र (चारुदत्त) के अमंगल (अर्थात् मृत्यु) के सुनने से डर रही हूँ। (ऐसा कह कर उठकर, आँचल खींच कर, आग की ओर घूमती है)

रोहसेन— आर्ये माता! मेरी प्रतीक्षा करो। तुम्हारे बिना मैं प्राण को नहीं धारण कर सकता। (ऐसा कहकर, जल्दी से पास में जा कर, फिर आँचल पकड़ता है।)

विदूषक— आप जैसी ब्राह्मणी के लिए अपने पति से अलग होकर चिता पर जाने को ऋषि लोग पाप बतलाते हैं।

धूता— (यह) पाप करना अच्छा है। किन्तु आर्यपुत्र के मृत्य का समाचार सुनना अच्छा नहीं।

शर्विलक— (सामने देखकर) आर्या (धूता) आग के पास पहुँच चुकी हैं। तो जल्दी कीजिये, जल्दी कीजिये।

(चारुदत्त जल्दी से घूमता है)

धूता— रदनिका! बच्चे को पकड़ लो। जब तक मैं अपना अभीष्ट (आग में प्रवेश) करती हूँ।

चेटी— (करुणा के साथ) मैं भी (आगे–आगे चलकर) आपको रास्ता बतलाने वाली हूँ। (अतः आज भी आपसे पहले चिता पर चढ़कर आपको स्वर्ग का रास्ता बतलाऊँगी। मुझे लौटाइये मत।

धूता— (विदूषक को देखकर) तब आप ही पकड़ लें (बच्चे को)।

विदूषक— (आवेग पूर्वक) अभीष्ट–सिद्धि के लिये प्रवृत्त हुए (व्यक्ति) को ब्राह्मण आगे करना चाहिये। इसलिये मैं आपका अगुआ (अग्रणी) होता हूँ।

धूता— क्या दोनों (चेटी और विदूषक) के द्वारा इन्कार कर दी गयी हूँ? (बालक का आलिंगन करके) बेटे! हम लोगों को तेल से मिली हुई जल की अँजुली देने के लिए तुम्हीं अपने आपको बचा लो। समय बीत जाने पर चाहे गये कार्य के करने से क्या लाभ? (लम्बी साँस लेकर) निश्चय ही आर्यपुत्र (चारुदत्त) भी तुम्हारी देख–भाल नहीं करेंगे।

चारुदत्त— (सुनकर, एकाएक पास में जाकर) मैं ही बालक की देख–भाल करूँगा।

(ऐसा कह कर, बालक को हाथों से उठाकर, छाती से लगाता है)

धूता— (देखकर) आश्चर्य है! आर्यपुत्र (चारुदत्त) की सी आवाज है। (फिर सावधानी से देखकर, प्रसन्नता पूर्वक) सौभाग्य से यह आर्यपुत्र ही हैं। आनन्ददायक है, मेरे लिए आनन्ददायक है।

बालक— (देखकर प्रसन्नतापूर्वक) आश्चर्य है। पिताजी मेरा आलिंगन कर रहे हैं। (धूता से) आर्ये! बढ़ रही हो। पिताजी ही मेरी देखभाल कर रहे हैं। (ऐसा कह कर बदले में आलिंगन करता है)

अन्वयः— हा प्रेयसि! प्रेयसि, विद्यमाने, (अपि), कः, अयम्, कठोरः, व्यवसायः, आसीत्। किम्, भानौ, अनस्तंगमिते; (अपि), अम्भोजिनी, लोचनमुद्रणम्, करोति?।।५८।।

शब्दार्थः— हा प्रेयसि! = हाय प्रियतमे! प्रेयसि = प्रियतम, विद्यमाने = जीवित रहने पर, (अपि = भी), कः = कैसा, अयम्, यह, कठोरः = कठोर, व्यवसायः = निश्चय, आसीत् = था? किम् = क्या, भानौ = सूर्य, अनस्तंगमिते = न डूबने पर, (अपि = भी), अम्भोजिनी = कमल–लता, लोचनमुद्रणम् = नेत्र (रूप फूल) का संकोच, करोति = करती है?।।

अर्थः—

चारुदत्त— **(धूता के प्रति)**

हाय, प्रियतमे! प्रियतम के (अर्थात् मेरे) जीवित रहने पर भी तुमने यह क्या कठोर (आग में प्रवेश का) निश्चय कर लिया था? क्या कभी कमल–लता सूर्य के बिना अस्त हुए भी (कमलरूप) अपनी आँखें मूँद लेती है?।।५८।।

टीका— हा प्रेयसि = हा प्रियतमे! प्रेयसि = प्रियतमे, मयीत्यर्थः; विद्यमाने = वर्तमाने; अपि; = कः = कीदृशः; अयम् = एषः, चिताग्निप्रवेशरूपः; कठोरः = कठिनः, दुःसाध्यः इत्यर्थः; व्यवसायः = निश्चयः; आसीत् = अभूत्? किम्; भानौ = सूर्ये; अनस्तंगमिते = उदिते सतीत्यर्थः; अपि; अम्भोजिनी = कमलिनी, लोचनमुद्रणम् = निमीलनम्; करोति = विदधाति। यथा सति सूर्ये कमलिनी पुष्पमुद्रणं न करोति तथैव सति मयि तवापि प्राणत्यागप्रयत्नः न कर्तव्यः आसीदिति भावः।।५८।।

इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार तथा इन्द्रवज्रा छन्द है।

धूता— **अज्जउत्त! अदो ज्जेव सा अचेतणेत्ति चुंबीअदि। आर्यपुत्र! अत एव साऽचेतनेति चुम्ब्यते।**

विदूषकः—**(दृष्ट्वा, सहर्षम्) ही ही भो, एदेहिं ज्जेव अच्छीहिं पिअवअस्सो पेक्खीअदि। अहो सदीए पहावो, जदो जलणप्पवेशव्ववसाएण ज्जेव पिअसमागमं पाविदा (चारुदत्तं प्रति) जेदु जेदु पिअवअस्सो। (आश्चर्यं, भोः! एताभ्यामेवाक्षिभ्यां प्रियवयस्यः प्रेक्ष्यते। अहो सत्याः प्रभावः, यतो ज्वलनप्रवेशव्यवसायेनैव प्रियसमागमं प्रापिता। जयतु जयतु प्रियवयस्यः।)**

चारुदत्तः—**एहि मैत्रेय!।** (इत्यालिंगति)

चेटी— **अहो संविधाणअं। अज्ज! वंदामि। (अहो संविधानकम्। आर्य! वन्दे।)**

(इति चारुदत्तस्य पादयोः पतति)

चारुदत्तः—(पृष्टे कर दत्त्वा) **रदनिके! उत्तिष्ठ।** (इत्युत्थापयति)

धूता— (वसन्तसेनां दृष्ट्वा) **दिट्ठिआ कुसलिणी बहिणिआ। (दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी)**

वसन्तसेना— **अहुणा कुसलिणी संवुत्तम्हि। (अधुना कुशलिनी संवृत्तास्मि।)**

(इत्यन्योन्यमालिंगतः)

शर्विलकः— **दिष्ट्या जीवितसुहृद्वर्ग आर्यः।**

चारुदत्तः— **युष्मत्प्रसादेन।**

शर्विलकः— **आर्ये वसन्तसेने! परितुष्टो राजा भवर्ती वधूशब्देनानुगृह्णाति।**

वसन्तसेना—**अज्ज! कदत्थम्हि। (आर्य! कृतार्थास्मि।)**

शर्विलकः—(वसन्तसेनामवगुण्ठ्य चारुदत्तं प्रति) **आर्य! किमस्य भिक्षोः क्रियताम्?**

चारुदत्तः—**भिक्षो! किं तव बहुमतम्?**

भिक्षुः— **इमं ईदिशं अणिच्चत्तणं पेक्खिअ दिउणतले मे पव्वज्जाए बहुमाणे संवुत्ते। (इदमीदृशमनित्यत्वं प्रेक्ष्य द्विगुणतरो मम प्रव्रज्यायां बहुमानः संवृत्तः।)**

चारुदत्तः—**सखे! दृढोऽस्य निश्चयः। तत्पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम्।**

शर्विलकः— यथाहार्यः।

भिक्षुः— पिअं णो पिअं। (प्रियं नः प्रियम्।)

वसन्तसेना— संपदं जीवाविदम्हि। (सांप्रतं जीवापितास्मि।)

शर्विलकः— स्थावरकस्य किं क्रियताम्?।

चारुदत्तः— सुवृत्त अदासो भवतु। ते चाण्डालाः सर्वचाण्डालानामधिपतयो भवन्तु। चन्दनकः पृथिवीदण्डपालको भवतु। तस्य राष्ट्रियश्यालस्य यथैव क्रिया पूर्वमासीत्, वर्तमाने तथैवास्यास्तु।

शर्विलकः— एवं, यथाहार्य; परमेनं मुञ्च मुञ्च; व्यापादयामि।

चारुदत्तः— अभय शरणागतस्य। 'शत्रुः कृतापराधः' (१०/५४) इत्यादि पठति)

शर्विलकः— तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियं करोमि?।

चारुदत्तः— अतः परमपि प्रियमस्ति?

लब्धा चारित्र्यशुद्धिश्चरणनिपतितः शत्रुरप्येष मुक्तः,
प्रोत्खातारातिमूलः प्रियसुहृदचलामार्यकः शास्ति राजा।
प्राप्ता भूयः प्रियेयं प्रियसुहृदि भवान्संगतो मे वयस्यो,
लभ्यं किं चातिरिक्तं यदपरमधुना प्रार्थयेऽहं भवन्तम्?।।५६।।

अर्थः—

धूता— आर्यपुत्र! इसीलिए वह (कमल–लता) अचेतन कही जाती है।

विदूषक— (देखकर, प्रसन्नता के साथ) अरे आश्चर्य है! (मैं) इन्हीं आँखों से प्रिय मित्र को देख रहा हूँ। सती (धूता) का प्रभाव आश्चर्यजनक है, जिससे कि आग में प्रवेश करने के निश्चय मात्र से ही प्रिय–मिलन को प्राप्त हो गई। (चारुदत्त से) प्रिय मित्र की जय हो, जय हो।

चारुदत्त— आओ मैत्रेय! (ऐसा कहकर आलिंगन करता है)।

चेटी— अहो! दैव का विधान। आर्य प्रणाम करती हूँ। (ऐसा कहकर चारुदत्त के पैरों पर पड़ती है)

चारुदत्त— (पीठ पर हाथ फेरकर) रदनिके! उठो। (ऐसा कहकर उठाता है)।

धूता— (वसन्तसेना को देखकर) सौभाग्य से बहन कुशलपूर्वक है।

वसन्तसेना— अब सकुशल हुई हूँ।

(ऐसा कहकर वे दोनों एक दूसरे का आलिंगन करती हैं)

शर्विलक— भाग्य से आर्य (चारुदत्त) का सुहृद्वर्ग जीवित है।

चारुदत्त— आप लोगों की कृपा से।

शर्विलक— आर्ये वसन्तसेने! प्रसन्न हुए राजा (आर्यक) आपको 'वधू' इस शब्द से अनुगृहीत करते हैं (अर्थात् चारुदत्त की वधू बना कर अनुगृहीत करना चाहते हैं)।

वसन्तसेना— आर्य! कृतार्थ हो गयी।

शर्विलक— (वसन्तसेना को दुपट्टे से ढंककर चारुदत्त से) आर्य! इस भिक्षु का क्या किया जाय?

चारुदत्त— भिक्षुक! तुम्हें क्या अधिक प्रिय है?

भिक्षु— इस प्रकार की (जगत् की) इस अनित्यता को देखकर पहले से ही वर्तमान संन्यास में मेरी श्रद्धा दूनी हो गयी है।

चारुदत्त– मित्र! इसका निश्चय दृढ़ है। तो पृथिवी पर जितने सब बौद्ध–विहार हैं उनका इसे कुलपति बना दिया जाय।

शर्विलक– आर्य की जैसी आज्ञा।

भिक्षु– प्रिय, मेरा बहुत बड़ा प्रिय।

वसन्तसेना–इस समय मैं जिला दी गयी हूँ।

शर्विलक– स्थावरक का क्या किया जाय?

चारुदत्त– सुन्दर आचरणवाला (स्थावरक) दासपन से मुक्त कर दिया जाय। वे चाण्डाल सभी चाण्डालों के स्वामी बना दिये जायँ। चन्दनक समूची पृथिवी की पुलिस का अध्यक्ष बना दिया जाय। उस राजा के साले (शकार) का जैसा काम पहले था वैसा ही इस समय भी रहे।

शर्विलक– जैसा आपने कहा वैसा ही होगा। परन्तु इस (शकार) को छोड़ो, छोड़ो। इसे मारता हूँ।

चारुदत्त– शरण में आये हुए को अभय है। ('शत्रुः कृतापराधः' (१०/५४) इत्यादि पढ़ता है।)

अन्वयः– चारित्र्यशुद्धिः, लब्धा; चरणनिपतितः, एषः, शत्रुः, अपि, मुक्तः; प्रोत्खातारातिमूलः, प्रियसुहृद्, आर्यकः, राजा, (भूत्वा), अचलाम् शास्ति; इयम्, प्रिया, भूयः, प्राप्ता; प्रियसुहृदि, संगतः, भवान्, मे, प्रियवयस्यः, (जातः); अतिरिक्तम्, किम्, लभ्यम्? यत्, अपरम्, अहम्, अधुना, भवन्तम्, प्रार्थये।।५६।।

शब्दार्थः– चारित्र्यशुद्धिः = चरित्र की निर्दोषता, लब्धा = प्राप्त कर ली गयी। चरणनिपतितः = पैरों पर पड़ा हुआ, एषः = यह, शत्रुः = शत्रु, अपि = भी, मुक्तः = छोड़ दिया गया। प्रोत्खातारातिमूल = शत्रु की जड़ को उखाड़ फेंकने वाला, प्रियसुहृद् = प्रिय मित्र, आर्यकः = आर्यक, राजा = राजा, (भूत्वा = होकर), अचलाम् = पृथ्वी को, शास्ति = शासित कर रहा है। इयम् = यह, प्रिया = प्रेयसी, भूयः = फिर, प्राप्ता = मिल गयी। प्रियसुहृदि = प्रियमित्र में, संगतः = मिले हुए (अर्थात् प्रिय मित्र से मिले हुए) भवान् = आप, मे = मेरे, प्रियवयस्यः = प्रियमित्र, (जातः = हो गये)। अतिरिक्तम् = इसके अलावा, किम् = कौन सी वस्तु, लभ्यम् = पाने के योग्य है? यत् = जिस, अपरम् = दूसरी वस्तु को, अहम् = मैं, अधुना = इस समय, भवन्तम् = आप से, प्रार्थये = माँगू।।

अर्थः–

शर्विलक– तो बतलाइये कि आपका और कौन सा प्रिय कार्य करूँ?

चारुदत्त– इससे भी अधिक क्या (कोई) प्रिय है?

(अपने चरित्र की निर्दोषता प्राप्त कर ली गयी। पैरों पर पड़ा हुआ यह शत्रु भी (बिना दण्ड दिये) छोड़ दिया गया। शत्रु (पालक) की जड़ को उखाड़ फेंकने वाला प्रिय मित्र आर्यक राजा होकर पृथिवी का शासन कर रहा है। यह प्रिया (वसन्तसेना) फिर मिल गयी। प्रिय मित्र (आर्यक) से मिले हुए आप मेरे मित्र हो गये– अथवा मेरे मित्र आप प्रियमित्र (आर्यक अथवा मुझ) से मिल गये। इसके अतिरिक्त और कौन सी वस्तु पाने योग्य है, जिसको मैं इस समय आप से माँगू?।।५६।।

टीका– चरित्र्यशुद्धिः–चारित्र्यस्य = आचरस्य शुद्धिः = निर्मलता; लब्धा = पुनः प्राप्ता। अन्यथा वसन्तसेना चारुदत्तेन हतेति प्रवादेन मदीयं निर्मलं चरितमपि दूषितमासीदिति भावः। चरणयोः = पादयोः निपतितः = लुठितः, शरणागतः इति भावः; एषः = सम्प्रत्येव अस्मात् स्थानात् गतः, शत्रुः = रिपुः, शकारः इत्यर्थः; अपि; मुक्तः = अभयं प्रापितः। प्रोत्खातम् = उत्पाटितम् अरातेः = शत्रो मूलम् = आदि येन तादृशः; विनिहतशत्रुः इत्यर्थः; प्रियसुहृत् = प्रियसखा; आर्यकः = तदाख्यः गोपालपुत्रः; राजा = भूपतिः; भूत्वेति शेषः; अचलाम् = पृथिवीम्; शास्ति = नियमयति। इयम् = पुरो वधूभावेन स्थिता एषा; प्रिया = प्रेयसी; वसन्तसेना इत्यर्थः; भूयः = मुहुः; प्राप्ता = लब्धा। प्रियसुहृदि = प्रियमित्रे; संगतः = वयस्यभावेनामिलितः; भवान् = त्वम्; मे = मम; प्रियवयस्यः = प्रियसुहृद्; जातः इति शेषः। अतिरिक्तम् = अतोऽधिकम्; किम् = किं वस्तु; लभ्यम् = प्राप्तव्यम्? यदपरम् = यदन्यं वस्तुः अहम् = चारुदत्तः; अधुना = सम्प्रति; भवन्तम् = त्वाम्; प्रार्थये = याचे?। सर्वं ममाभीप्सितं सम्पन्नं न किमप्यवशिष्टमिति भावः।।५६।।

इस श्लोक में समुच्चय एवं काव्यलिंग अलंकार तथा स्रग्धरा छन्द है।।५६।।

कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान्।
अयोन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय-
न्नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः।।६०।।

अन्वयः— कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तः एषः, विधिः अन्योन्यम्, प्रतिपक्षसंहतिम्, इमाम् लोकस्थितिम्, बोधयन्, क्रीडति; (अयम्), कांश्चित्, तुच्छयति; वा, कांश्चित्, प्रपूरयति; कांश्चित्, उन्नतिम्, नयति; कांश्चित्, पातविधौ, करोति; पुनः, कांश्चित्, च, आकुलान्, नयति।।६०।।

शब्दार्थः— कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तः = रहट की छोटी–छोटी बाल्टियों के ढंग की नकल करने में लगा हुआ, एषः = यह विधिः = दैव, अन्योन्यम् = आपस में, प्रतिपक्षसंहतिम् = विरोधियों (धनी–निर्धन आदि) की पाँत से युक्त, इमाम् = इस लोकस्थितिम् = संसार की आस्था को, बोधयन् = बतलाता हुआ क्रीडति = खिलवाड़ करता है (अयम् = यह), कांश्चित् = किन्हीं को, तुच्छयति = खाली (तुच्छ) करता है; वा = और, कांश्चित् = किन्हीं को, उन्नतिम् = उन्नति को, नयति = प्राप्त कराता है, कांश्चित् = किन्हीं को, पातविधौ = नीचे, पतन के मार्ग में, करोति = करता है; पुनः = और, कांश्चित् = किन्हीं को, च = तो, आकुलान् = व्याकुल, नयति = बना देता है।।

अर्थः— रहट की छोटी–छोटी बाल्टियों के ढंग एक का खाली होना दूसरे का भरना) की नकल करने में लगा हुआ यह दैव आपस में विरोधियों (धनी–निर्धन आदि) की पाँत (समूह) से युक्त संसार की इस (सामने वर्तमान) अवस्था को बोध कराता हुआ खिलवाड़ करता है। यह दैव किन्हीं को खाली (तुच्छ) करता है और किन्हीं को भरा–पूरा करता है, किन्हीं को उन्नति की ओर ले जाता है तो किन्हीं को नीचे गिरा देता और किन्हीं को तो व्याकुल ही बना देता है।।

टीका— कूपयन्त्रस्य = कूपात् जलोद्धारणयन्त्रस्य 'लोके रहट' इति ख्यातस्य यन्त्रस्य' घटिकाः = स्वल्पघटाः तासां न्यायः = इतः प्रसक्तः संलग्नः; एषः = सर्वत्र नियमनकर्ता; विधिः = दैवम्; अन्योन्यम् = परस्परम्; प्रतिपक्षाणाम् = विरुद्धानाम् धनित्व–निर्धनत्वादीनामित्यर्थः, संहतिम् = समूह यत्र तादृशीम्; इमाम् = अस्माभिः अनुभयमानाम् लोकस्य = अस्य जगतः स्थितिम् = अवस्थाम्; बोधयन् = ज्ञापयन्' क्रीडति = क्रीडा करोति। यथा घटीयन्त्रे प्रचलति सति घटिकाः भ्रमणक्रमशः उच्चनीचभावप्राप्तौ जलेन पूर्णानि रिक्तानि च भवन्ति तथैव दैवमपि 'कस्यात्यन्तं सुखमुपनत दुःखमेकान्ततो वा नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।।' इति कालिदासोक्तिं चरितार्थां कुर्वत् जनान् धनिनः निर्धनान् च करोतीति भावः। एतदेव विवृण्वन् निर्दिशति–अयं विधिः, कांश्चित् = कियतः, जनानिति शेषः; तुच्छयति = लघूकरोति धनरहितान् करोतीति यावत्; महाकविना कालिदासेन मेघे कथितमस्ति–"रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय" इति। कांश्चित् = कियतः जनान्; प्रपूरयति = धनादिदानेन पूर्णान् करोति। कांश्चित् जनान्; उन्नतिम् = समृद्धिम् अभ्युदयम् वा; नयति = प्रापयति; कांश्चित् पातविधौ = पतनप्रकारे, पतनमार्गे इत्यर्थः; करोति = विदधाति, पुनः कांश्चित् = कतिपयान् जनान्; आकुलान् = व्याकुलान्; नयति = करोति इत्यर्थः। दैववशात् सर्वेषां जनानां नात्र समानस्थितिः भवतीति भावः।।६०।।

इस श्लोक में निदर्शना अलंकार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

तथापीदमस्तु भरतवाक्यम्—

क्षीरिण्यः सन्तु गावो, भवतु वसुमती सर्वसंपन्नसस्या,
पर्जन्यः कालवर्षी, सकलजनमनोनन्दिनो वान्तु वाताः।
मोदन्तां जन्मभाजः, सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु सन्तः
श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्मनिष्ठाश्च भूपाः।।६१।।

अन्वयः— गावः, क्षीरिण्यः, सन्तु। वसुमती, सर्वसम्पन्नसस्या, भवतु। पर्जन्यः कालवर्षी (भवतु)। सकलजनमनोनन्दिनः, वाताः, वान्तु। जन्मभाजः, मोदन्ताम्। ब्राह्मणाः, सततम्, अभिमताः, (तथा), सन्तः, सन्तु। श्रीमन्तः, प्रशमितरिपवः च, धर्मनिष्ठाः, भूपाः, पृथिवीम्, पान्तु।।६१।।

शब्दार्थः— गावः = गाएँ, क्षीरिण्यः = दूधवाली, सन्तु = हों, वसुमती = पृथिवी, सर्वसम्पन्नसस्या = सब प्रकार के धान्य से भरी–पूरी; भवतु = हो। पर्जन्यः = बादल, कालवर्षो = समय पर वर्षा करने वाला, (भवतु = हो)। सकलजनमनोनन्दिनः = सभी लोगों के मन को प्रसन्न करने वाली, वाताः = हवाएँ, वान्तु = बहें। जन्मभाजः = पैदा होने वाले सभी प्राणी, मोदन्ताम्, = सुखी रहें। ब्राह्मणाः = ब्राह्मण लोग, सततम् = सर्वदा, अभिमताः = (सबके) प्रिय, (तथा = और) सन्तः = सदाचारी, सन्तु = हों। श्रीमन्तेः = सम्पत्तिशाली, प्रशमितरिपवः = शत्रुओं का दमन करने वाले, च = तथा, धर्मनिष्ठाः = धर्म में श्रद्धा रखने वाले, भूपाः = राजा, पृथिवीम् = पृथिवी को, पान्तु = पालें।

अर्थः— फिर भी यह होवे– भरत–वाक्य

गाएँ (काफी) दूधवाली हों। पृथिवी सब प्रकार के धान्य से भरी–पूरी हो। बादल समय–समय पर वर्षा करने वाला हो। सभी लोगों के मन को प्रसन्न करने वाली हवाएँ बहें। (संसार में) पैदा होने वाले सभी प्राणी सुखी रहें। ब्राह्मण लोग सर्वदा सब के प्रिय एवं सदाचारी हों। सम्पत्तिशाली, शत्रुओं का दमन करने वाले तथा धर्म में श्रद्धा रखनेवाले राजा पृथिवी का पालन करें।।६१।।

टीका— गावः = धेनवः; क्षीरिण्यः = प्रशस्तक्षीरयुक्ताः; सन्तु = भवन्तु। वसुमती = वसुन्धरा, पृथिवीत्यर्थः; सर्वसम्पन्नसस्या = सर्वाणि = सर्वविधानि सम्पन्नानि = समृद्धानि, सस्यानि धान्यादीनि यस्यां तादृशी; भवतु = अस्तु। पर्जन्यः = मेघः; काले–समये वर्षति = जलं ददाति इति कालवर्षी = यथासमयं जलदाता; भवतु। सकलानाम् = सम्पूर्णानाम् जनानाम् = लोकानाम् मनांसि = चेतांसि नन्दयन्ति = हर्षनिर्भराणि कुर्वन्ति इति तथोक्ताः; शैत्यमान्द्यगन्धयुक्ताः इत्यर्थः; वाता–वायवः; वान्तु = प्रवहन्तु। जन्मभाजः = देहधारिणः, सर्वे प्राणिनः इत्यर्थ; मोदन्ताम् हर्ष प्राप्नुवन्तु। ब्राह्मणाः = विप्राः, सततम् = निरन्तरम्; अभिमताः = सर्वजनैः अभिनन्दिताः; तथा सन्तः = सज्जनाः, स्वकर्मणि रताः इति भावः; सन्तु = भवन्तु। श्रीमन्तः = लक्ष्मीसम्पन्नाः; प्रशमिताः = विनाशिताः नियमिताः वा, रिपवः = शत्रवः यैः तादृशाः च = तथा; धर्मनिष्ठाः = धर्मशीलाः, धार्मिकाः इति यावत्; भूपाः = राजानः; पृथिवीम् = वसुधाम्; पान्तु = रक्षतु।।६१।।

इस श्लोक में परिसंख्या अलंकार तथा स्रग्धरा छन्द है।।६१।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(इसके बाद सब निकल जाते हैं)

संहारो नाम दशमोऽंकः।

"संहार नामक दशवाँ अंक समाप्त"

कविवराज विश्वनाथ रचित 'साहित्यदर्पणः'

भूमिका

१. विश्वनाथ कविवराज : एक परिचय

साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ कविराज का समय १३वीं-१४वीं शताब्दी माना जाता है। साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में अस्फुटगुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण में निम्न पद्य दिया गया है-

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रह प्राणेनिग्रहः
अल्लावदीननश्पतौ न सन्धिनं च विग्रहः॥ साहि. ४.२४

अर्थात् अलाउद्दीन नामक यवनराज के साथ सन्धि करने पर संपूर्ण धन का हरण होता है, युद्ध ठीक है करने पर प्राणों का नाश होता है, अतः उसके साथ न तो सन्धि हो और न ही युद्ध ठीक है। इस पंद्य के उद्धरण से यहतो निश्चित प्रमाणित होता हैकि विश्वनाथ कविराज का समय अलाउद्दीन खिलजी से पूर्व का नहीं हो सकता। अलाउद्दीन खिलजी का समय १२९६-१३२६ई.माना जाता है। विश्वनाथ जी स्वयं सान्धिविग्रहिक और महापात्र थे, इसकी प्रतीति साहित्दर्पण के प्रथम परिच्छेद की समाप्ति पर विद्यमान परिचयात्मक विरुद्ध से मिलती है। यद्यथा-

''इति श्रीमन्नारायणचरणविन्दमधुव्रतसाहित्यार्णवकर्णधारध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्यकविसूक्तिरत्नाकराष्टादयाभाषावारविलासिनीभुजङ्गसान्धि विग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजवरुतौ साहित्यदर्पणे काव्यसस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः''।

इससे केवल यही नहीं पता लगता है किविश्वनाथ सान्धिविग्रहिक और महापात्र थे अपितु अन्य बातों का ज्ञान भी होता है। तद्यथा'(१) ''श्रीमन्नारायणचरणाविन्दमधुव्रत''- विशेषण स इनके प्रपितामह अथवा पितामह पण्डित प्रवर श्रीमन्नारायण के विषय में भी पता लगता है। इनके प्रपितामह श्रीमन्नारायण साहित्य-शास्त्र के उद्भट विद्वान तथा साहित्यशास्त्र के प्रणेता थे। संभवतः विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रपितामह का स्मरण निम्न शब्दों में किया है-

''चमत्काररश्चित्तविस्तारूपो विस्मयापरर्यायः। तत्प्राणत्वं चास्मद्वश्द्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे-

''रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भतो रसः॥
तस्माददद्भुतमेवाह वरुती नारायणो रसम्॥ इति. साहि. ३.३.

अर्थात् श्रीमन्नारायण, जो विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह हैं, रसों में चमत्कार को ही सार मानते हं। उन्होंने केवल अद्भुत रस को ही सर्वत्र माना है। वे सहृदयगोष्ठीगरिष्ठ और कविपण्डितों में मुख्य हैं।

(२) श्री कविराज विश्वनाथ साहित्य रूपी सागर के कर्णधार हैं, धवनि-प्रस्थापनपरमाचार्य हैं, इनकी उपाधि कविसूक्तिरत्नाकर और अष्टादशभाषा वारविलासनीभुजङ्गहैं अर्थात् इन्होंने १८ भाषाओं पर आधिपत्य किया हुआ है, अर्थात् इनको १८ भाषाओं का पूर्ण ज्ञढान है। सोहल भाषाओं में इन्होंने ''प्रशस्तिरत्नावली'' नामक करम्भक काव्य की रचना की थी। इसमें कलिङ्ग नरेश प्रथम और द्वितीय की प्रशस्ति वर्णित है।

कुछ विद्वान् निम्न दो पद्यों के आधार पर विश्वनाथ कविराज को वैष्णव मानते हैं। तद्यथा-यथा मम राघवविलासे-

विपिन क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयोर्घटना विधेः सफुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम्॥ सा. द.३.६

यावतत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलंकरोति।
तावत्मनः सम्मदयन्कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके॥ सा. द. १०.१०६

साहित्यदर्पण की समाप्ति पर उट्टङ्कित निम्न पंक्ति विश्वनाथ कविराज को आलंकारिक बताती है। तद्यथा

''इत्यालांकारिचक्रवर्तिसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीश्वनाथकविराजवश्रत साहित्दर्पणे दशमः परिच्छेदः।''

इस प्रकार विश्वनाथ कविराज कवि और आलांकारिक दोनों है। सम्भवतः वि पहले हैं और आलांकारिक बाद में।

विश्वनाथ कविराज उत्कल निवासी और ब्राह्मण थे। संभवतः इनके पिता और पितामह कलिङ्ग देश के उच्चाधिकारी रहे हों। विश्वनाथ कविराजप्रणीत ''काव्यप्रकाशदर्पण'' में आता है कि-

''यदाहु श्री कलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थागयन्तःख्रख्र अस्मप्तिामहश्रीनारायणपादाः।''

इससे इनके पूर्वजो का कलिङ्ग देश के अधिपति श्री नरसिंहदेव के राज्य में प्रतिष्ठित पदाधिकारी के रूप में रहना प्रतीत होता है। श्री विश्वनाथ कविराज के पिता का नाम चन्द्रशेखर था। इन्होंने अपने पिता के नाम का उल्लेख बड९ आदर के साथ अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण की समाप्ति पर किया है-

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसुतुश्रीविश्वनाथकविराजवश्रतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्वमखिलं सुखमेव वित्त॥ सा. द. १०.१०

यही नहीं इन्होंने साहित्यदर्पण में अनेकों स्थल पर अपने पिता द्वारा रचित पद्यों को भ्श्री उद्धश्त किया है। तद्यथा-

(१) यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वरश्रीचन्द्रशेखर सान्धिविग्रहिकाणाम्-

दुर्गालंघितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो ग्रहीतगरिमा विष्वग्वश्तो भोगिभिः
नक्षत्रेशवश्रतेक्षणे गिरिगुरौ गाढां रूचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः सा. द. २.१४.

यहां पर विश्वनाथ जी ने अपने पिता को महापात्र, चतुदर्शभाषाविलांसिनीभुजङ्ग, महाकश्वीश्वर और सान्धिविग्रहिक-इन विशेषणों से विभूषित किया है। इनमें से महापात्र और सान्धिकविग्रहिक पिता-पुत्र (श्रीचन्द्रशेखर और विश्वनाथ कविराज) दोनों है। ''सान्धि विग्रहिक'' उन मंत्री को कहते हैं, जो अन्य राजाओं के साथ व्यवहार्य नीति का निर्णय करे और उनके सन्धि या विग्रह कराये। आजकलन इनको थ्वतमपहद डपदपेजमत वत क्ममिदवम डपदपेजमत कहते हैं। श्री विश्वनाथ के पिता चतुदर्शभाषाविलासिनीभुजंग हैं तो स्वयं विश्वनाथ अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंग है। इनके पिता महाकवीश्वर हैं तो ये स्वयं विसूक्तिरत्नाकार हैं।

(२) तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम्-

मधयस्य प्रतिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धाावित।
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दंगानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभुवः॥ सा. द. ३.४५

(३) यथा मम तातपादानाम्-

नो चाटुश्रवणं वश्रतं न च दश्शा हारोऽन्तिके वीक्षितः
कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीवश्रताः।
पादान्ते विनिपत्यतत्क्षणमसौ गच्छन म.....
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त सहसा कण्ठे..... सा. द.

(४) एकदेशतो यथा मम तातपादानाम्-

चिन्ताभिः सितमितं मनः करतले लीला कपोलस्थली
प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डुवदनं श्वासैकखिन्नोऽधरः।
अम्भः शीकरपद्मिकिसलयैर्नापैति तापः शमं
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदश्शीम्॥ सा. द. ३.२०७.

(५) प्रवासानन्तरं संभोगो यथा मम तातपादानाम्-

क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि-किसअं खेमं महंगं दिढं
एतादश्क्वरुशता कुतः- तुह पुणो पुट्ठं सरीरं जदो।
केनाह पश्थुलः प्रिये-पणादणीदेहस्स संमीलणात्
त्वत्तः सुम्रु न कापि मे-जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि।। सा. द. ६.२५

(६) द्वादशपदा (नान्दी) यथा मम तातपादानां पुष्पालायाम्-

शिरसि धश्तसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री।
अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः।। सा. द. ६.२५

इस उपर्युक्त उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि विश्वनाथ कविराज क पिता श्री चन्द्रशेखर ने पुष्पमाला नामक नाटक की रचना की थी, जिसमें ये यह पद्य उद्घश्त किया है। इस प्रकार श्री चन्द्रशेखर कवि ही नहीं, नाटककार भी थे।

(७) भाषालक्षणनि मम तातपादानां भाषार्णवे-साहित्यदर्पण ६.१६९

इससे यह पता चलता है कि विश्वनाथ कविराज के पिता ने "भाषार्णव" नाम की कोई रचना भी की थी, जिसमं भाषाओं के विषय में वर्णन रहा होगा। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि श्री चन्द्रशेखर को अनेक प्रावश्त भाषाओं का ज्ञान था और वे उनके प्रकाण्ड पण्डित थे।

इस प्रकार साहित्यदर्पण के अन्तः साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि विश्वनाथ कविराज स्वयं, इनके पिता श्री चन्द्रशेखर और पितामह श्रीमन्नारायण-सारा ही परिवार, परिवार ही नहीं वंश विद्या एवं ऐश्वर्य सेसंपन्न था। कुछ विद्वान् विश्वनाथ कविराज और विश्वनाथ पन्चानन को एक ही मानते हैं। वस्तुतः साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज न्यायमुक्तावली के कर्ता विश्वराथ पन्चानन से भिन्न हैं।(इनके पिता का नाम श्री चन्द्रशेखर है और इनके पिता का नाम विद्यानाथ है। यह कविराज हैं और वे पन्चानन संभवतः यह विद्यानाथ वही हैं जिनके मत का खण्डन अप्पयदीक्षित ने अपनी चित्रमीमांसा में किया है।

२. आचार्य विश्वनाथ कविराज की वश्रुतियां

विश्वनाथ कविराज की वर्तमान में उपलब्ध होने वाली वश्रुति "साहित्यदर्पण" है। यह "अलङ्कारशास्त्र" का ग्रन्थ है। अपनगुण के कारण इसने पर्याप्त प्रतिष्ठा, प्रचार तथा प्रसिद्धि पाई है। संस्वश्त-साहित्य में अलङ्कारशास्त्र की अपनी एक विशिष्ट परंपरा रही है और उस अलंकारशास्त्र की परंपरा में "साहित्दर्पण" का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अलंकारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र के सभी विषयों का विशद एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस अकेले ही ग्रन्थ में मिल जाता है, जिससे साहित्यशास्त्र का अधययन करने वाले विद्वान् के लिए इसका महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है। इसकी भाषा सरल, मनोहर एवं प्रान्जल है। विषय प्रतिपादन की शैली अनूठी है। साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ कविराज के सुपुत्र श्री अनन्तदास जी की साहित्यदर्पण के विषय में कही गई निम्न उक्ति सर्वथा सत्य प्रतीत होती है। वह कहते हैं-

स्वल्पाक्षरः सुबोधार्थः प्रध्वस्ताशेषदूषणः।
साहित्यदर्पणो नाम ग्रन्थ.....।।

अर्थात् यह साहित्यदर्पण अलंकारशास्त्र के विशाल वाङ्मय को थोड़े से स्पष्ट कर देते वाला है। इसके अंदर प्रतिपादित तथ्य आसानी से हृदयङ्गम हो जाने वाला है और संपूर्ण दोषों से रहित है। इसमें कोई संदेह नहीं हैं कि इस साहित्यदर्पण के अधययन से काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विशद ज्ञान अल्प परिश्रम से ही हो जाता है। यह हो सकता है कि किसी को इसमें प्रौढ़ता के दर्शन न हों, पर इसकी लोकप्रियता असन्दिग्ध है। साहित्यदर्पण की अपनी एक प्रमुखतम विशेषता है, इसमें काव्य संबंधी सभी विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इस साहित्यदर्पण में दस परिच्छेद हैं, जिसमे नाट्यशास्त्र सहित सभी काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ के अंदर अपनी अन्य वश्रुतियों से भी उद्धरण दिए हैं, जिससे उनकी अन्य रचनाओं का विवेचन हुआ है। विश्वनाथ ने अपने इस ग्रन्थ के अंदर अपनी अन्य वश्रुतियों से भी उद्धरण दिए हैं, जिससे उनकी अन्य रचनाओं का ज्ञान होता है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ काव्य की परिभाषा "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" से होता है। इन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। इस दशष्टि से काव्यशास्त्र के प्रमुख पांच संप्रदायों में से ये रस संप्रदाय के अंदर आते हैं। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ के अंदर निम्न विषयों पर विवेचन किया है-

(१) काव्य क्या है? काव्य का स्वरूप क्या है? और काव्य की आत्मा क्या है?

(२) अभिधा, लक्षणा और व्यन्जना-इन तीनों शब्दशक्तियों का विशद विवेचन किया है। व्यन्जना वृत्ति का विस्तृत विवेचन पंन्चम परिच्छेद में हुआ है।

(३) रस, ध्वनि, काव्यदोष, काव्यगुण तथा रीति का भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में आवश्यक ऊहापोह के साथ व्याख्यान किया है।

(४) दशम परिच्छेद में केवलमात्र अलङ्कारों का वर्णन है।

(५) नाट्यशास्त्र के नाट्य संबंधी विषयों का और नायक-नायिका भेद का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। इस प्रकार श्रव्यकाव्य और दश्श्यकाव्यों के स्भी अङ्गउपाङ्गों का वर्णन इसमें एकत्र किया हुआ उपलब्ध होता है।

इस साहित्यदर्पण के अतिरिक्त विश्वनाथ कविराज की जिन अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है, उनके उद्धरण साहित्यदर्पण में उपलब्ध होते हैं। इन संकेतों से भिन्न उनकी रचनाओं का ज्ञान किसी अन्य-प्रमाण से नहीं होता है। साहित्यदर्पण के आधाार पर जिन वश्रुतियों को विश्वनाथ कविराज द्वारा रचित कहा जा सकता है, वे इस प्रकार है-

(१) साहित्यदर्पण के तश्तीय परिच्छेद में मुग्धा नायिका के प्रसङ्ग में उदाहरण देते हुए कहा गया है कि **प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये-**

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्
नौद्दाम् हसति क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।
किन्चिद्भावभीरवक्रिमलवस्पष्टं मानाग्भाषते
सभ्रू भङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम्॥ साहित्यदर्पण ३.४५

इसे यह मालूम पड़ता है कि विश्वनाथ कविराज की एक रचना "प्रभावतीपरिणय" है। संभवत: यह एक नाटिका है। नाटिका होने से ही यह ज्ञात होता है कि यह श्रङ्गारप्रधान रचना है।

इसी "**तश्तीय परिच्छेद**" में मध्य नायिका के भेद प्ररूढयौवना के उदाहरण में कहा गया है कि प्ररूढयौवना यथा मम-

नेत्रे खन्जनमन्जने सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयम्
वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः।
कान्तिः कान्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटाः॥ स. द. ३.५६

इस उपर्युक्त उद्धरण से केवलमात्र इतना ही ज्ञात होता है कि यह पद्य विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्मित है, इससे अधिक कुछ नहीं। संभवत: यह इनकी कोई मुक्तक रचना है।

इसी प्रकार प्रगल्भा धीराधीरा नायिका के प्रसङ्ग में उद्धश्त निम्न पद्य-यथा मम-

अनलंवश्रुतोऽपि सुन्दर हरसि मनो मे यतः प्रसभम्।
किं पुनरलंवश्रुतस्वं संप्रति नखरक्षतैस्तस्याः॥ स. द ३.६

से भी केी वी यही प्रतीत होता है कि विश्वनाथ कविराज की वश्रुति है।

(२) साहित्यदर्पण के तश्तीय परिच्छेद में नायिकाओं के २८ अलङ्कारों का उल्लेख किया गया है। इन २८ अलङ्कारों में से सात अयत्नज अलङ्कार भी कहे गए हैं। इन सात अयतनज अलंकारों में से एक अलंकार दीप्ति है। इस दीप्ति अलङ्कार का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि -

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्-

तारुण्यस्य विलासः सधिकलावण्यसम्पदो हासः।
धरणितस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्॥ स. द. ६.१६

इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि विश्वनाथ कविराज ने "**चन्द्रकला**" नाम की एक नाटिका का प्रणयन किया था। नाटिका के श्रश्ङ्गाररस प्रधाान समझनी चाहिए। इससे विश्वनाथ के नायिकाओं के अलङ्कारों के सूक्ष्म ज्ञान का भी पता लगता है।

इसी प्रकार "तपन अलङ्कार" के उदाहरण में कहा गया है कि-यथा मम-

श्वासान्मुन्चति भूतले विलुछति त्वन्मार्गमालोकते,

दीर्घं रोदिति विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम्।
किन्च प्राणसमानकाङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते संगमं,
निद्रां वाञ्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि।। सा. द. ३.१०

नायिकाओं की अनुराग चेष्टाओं के उदाहरण के प्रसंग में -दिङ्मात्रं यथा मम-

अन्तिकगतमपि मामियमनलोकयतीव हन्त दह्यट्वाऽपि।
सरसनखक्षतलक्षितमाविष्कुरुतेभुजामूलम्।। सा. द. ३.१२६

नायिकाओं की दूतियों के प्रसङ्ग में स्वयंदूती का उदाहरण देते हुए - **स्वयंदूती यथा मम-**

पन्थि पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किगण्णत्तो।
ण मणपि वारओ इध अत्थि घरे घणरसं पिअन्ताणम्।। सा. द. ३.१२८

इस उद्धरण से मालूम पड़ता है कि विश्वनाथ कविराज ने प्रावरुतभाषा में भी स्वतंत्र पद्य रचना की है।

उद्दीपनविभाव के प्रसंग में निम्न उदाहरण दिया गया है:-

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम-

करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमः पटलांशुके निवेश्य।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः।। सा. द. ३.१३१

इसी प्रकार सात्विभावो के प्रसंग में, यथा मम-

तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त नयने
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम्।
कपोलौ घर्मार्द्रौ धु वमुपरताशेषविषयं
कपोलो घर्मार्द्रौ धु वमुपरताशेषविषयं
मनः सान्द्रानन्दं स्पश्शति झटिति ब्रह्मपरमम्।। सा. द. ३.१६९

(३) साहित्यदर्पण के तश्तीय परिच्छेद में ३३ व्यभिचारीभावों के प्रसंग में जड़ता का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि **यथा मम कुवलयाश्चरिते प्रावरुतकाव्ये-**

णअरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठम्।
आलेक्खओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ सट्ठि मुअसण्णम्।। सा. द. ३.१४८

इस उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि विश्वनाथ कविराज ने प्रावरुतभाषा में भी किसी काव्य की सरष्टि की थी जिसका नाम "कुवलयाश्वचरित" है। संभवत: यह श्रश्ङ्काररस प्रधान काव्य हो।

इसी प्रकार व्यभिचारोभाव के भेद उन्माद का उदाहरण देते हुए-यथा मम-

भ्रातर्द्विरेफ, भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा प्रियतमा मम वीक्षिता किम्।
(ठंकारमनुभूय सानन्दम्)
ब्रूषे किमोमिति सखे, कथयाशु तन्मे
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदश्शीयम्।। सा. द. ३.१६०

शंका व्यभिचारीभाव के उदाहरण में-**यथा मम-**

प्राणेशेन प्रहितनखरेष्वङ्कुकेषु क्षपान्ते
जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि।
धत्ते लाक्षामसवरुदधरे दत्तदन्तावघाते
क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चतुर्षी विक्षिपन्ती।। सा. द. ३.१६१

इसी प्रकार स्मश्ति व्यभिचारीभाव का उदाहरण-यथा मम-

मयि सकपटं किञ्चित्क्वापि प्रणीतविलोचने
किमपि नयनं प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भिततारकम्।
स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्चितं
कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम्॥ सा. द. ३.१६२

विषाद व्यभिचारीभाव का उदाहरण-यथा-मम-

एषा कुटिलघण्णेण चिउरकडप्पेण तुह णिबद्ध वेणी ।
मम सहि दारइ डंसइ आअसजट्टिव्व कालउरइव्व हिअअम्॥ सा. द. ३.१६७

धृति व्यभिचारीभाव का उदाहरण-यथा मम-

वञ्चित्वा दीननिपीडनां निजजने बुद्धवा वचोविग्रहं
नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः।
द्रव्यौधाः परिसञ्चिताः खलु मया यस्याः वञ्चते साम्प्रतं
नीवाराञ्जलिनापि केवलमहो सेयं वञ्चितार्था तनुः॥ सा. द. ३.१६५

चिन्ता व्यभिचारीभाव के उदाहरण में-यथा मम-

कमलेण विअसिएण संजोएन्ती विरोहिण ससिबिम्बम्।
करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्नाहिअहिअआ॥ सा. द. ३.१७०

इस उद्धरण से भी विश्वनाथ कविराज का किसी प्रावरुत रचना की ओर संकेत मिलता है।

साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में दस काम दशाओं का वर्णन करते हुये जडता के उदाहरण में निम्न पद्य उद्धृत किया गया है-

भिसिणीअलसणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अङ्गम्।
दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइन्ति परम्॥ सा. द. ३.१९२

अत्र जडता। इदं म।

अत्राद्यं यथा-

शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी
प्राणन्कथंचिदपि धारयितुं प्रभूता।
आकर्ण्य सम्प्रति रुतं चरणायुधानां
किं वा भविष्यति न वेदिम तपस्विनी सा॥ सा. द. ३.१९४

द्वितीयं यथा-

रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो झंकारकोलाहलै
र्मन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चम।
प्राणः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तुगच्छन्त्वमी॥ सा. द. ३.१९५ ममेतौ।

भविष्यकाल में होने वाले कार्यजप्रवास का उदाहरण-तत्र भावी यथा मम-

यामःसुन्दरि, याहि पान्थ, दयिते शोकं वृथा मा कृथाः
शोकस्ते गमने कुतो मम ततो बाष्पं कथं मुञ्चसि।
शीघ्रं न व्रजसीति मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा
भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य में सम्भ्रमः॥ सा. द. ३.२०८

(४) साहित्यदर्पण के ही तृतीय परिच्छेद में करुणरस के उदाहरण के रूप में निम्न पद्य दिया गया है। यथा मम राघवविलासे-

विपिन क्व जटानिबन्धंन तव चेदं क्व मनोहर वपुः।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं मनु खड्गेन शिरीषकर्तनम्॥ सा. द. ३.१२५

इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि कि विश्वनाथ कविराज ने राघवविलास नामक किसी काव्य की रचना की थी। कुछ विद्वान् इस पद्य रचना के आधार पर विश्वनाथ कविराज को वैष्णव स्वीकार करते हैं।

(५) आष्ठ परिच्छेद के अंदर विविध भाषाओं में निर्मित करम्भक का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि "यथा मम आङ्गभाषायां प्रशस्तिरत्नावती"। इससे ज्ञात होता है कि विश्वनाथ कविराज ने "प्रशस्तिरत्नावली" नाम की रचना की थी जो साहल भाषाओं में उपनिबद्ध थी। संभवत: इसमें कलिङ्ग नरेश नरसिंह प्रथम और द्वितीय की प्रशस्ति वर्णित है।

(६) विश्वनाथ कविराज के पुत्र अनन्तदास ने साहित्यदर्पण की "लोचन" नामक अपनी व्याख्या में लिखा है कि "यथा मम तातपादानां विजयनसिंह"। इसे यह अनुमित होता है कि संभवत: विश्वनाथ कविराज ने "विजयनरसिंह" नामक काव्य की रचना की थी।

इस प्रकार साहित्यदर्पण में उद्धत उद्धरणों कि नाम्ना उल्लेख हुआ है, प्रतीत होता है कि विश्वनाथ कविराज न (१) प्रभावतीपरिणय (२) चन्द्रकला, (३) कुवलयाश्वचरित, (४) राघवविलास और (५) प्रशस्तिरत्नावली-

इन पांचों की रचना की थी। इसमें से प्रथम दोश्शङ्कार प्रधान नाटिकायें हैं। कुवलयाश्चरित प्रावरुतभाषा में निबद्ध काव्य है। राघविलास महाकाव्य हैं और प्रशस्तिरत्नावली साहल भाषाओं में उपनिबद्ध करम्भक है। इन पांच रचनाओं के अतिरिक्त अनन्तदास द्वारा संकेतित "विजयनरसिंह" नामक काव्य को ऐतिहासिक काव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

इन वरुतियों से भिन्न विश्वनाथ कविराज ने काव्यप्रकाश पर टीका भी लिखी है, जिसका नाम "काव्यप्रकाशदर्पण" है। साहित्यदर्पण को मिलाकर इस प्रकार विश्वनाथ कविराज की आठ वरुतियों का पता मिलता है। इनमें से साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाशदर्पण उपल्ब्ध हैं और शेष अप्राप्य।

वरुतियों पर विवेचन करते हुये हमने यह देखा है कि अनेक उद्धरण यथा मम करके दिये हुए हैं। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवत: विश्वनाथ कविराज ने कुछ पद्यों की रचना मुक्तक के रूप में की हो, जिनसे ये उद्धरण दिये गये हों। इस प्रकार साहित्यदर्पण का रचयिता कवि और आलङ्कारिक दोनों है। इनमें से कवि और आलंङ्कारिक बाद में।

३. पारिभाषिक शब्द विवेचन-

"साहित्य क्या है"? और "काव्यलक्षण" पर विवेचन करने के उपरान्त साहित्यशास्त्र के अंदर प्रयुक्त होने वाल यौक्तिकृत् पारिभाषिक शब्दों पर विवेचन किया जा रहा है-

(१) साहित्य-"साहित्योर्भाव साहित्यम्"-अर्थात् सहित (शब्द और अर्थ) का भाव साहित्य कहलाता है। आचार्य कुन्तक का अनुसार साहित्य का अर्थ है-

"काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ का यह संबंध शाश्वत है, "सिद्धे शब्दार्थसम्बधे" इति।

शब्दकल्पद्रुमें श्लोकमयग्रन्थ को साहित्य कहा गया है। तद्यथा-

"मनुष्यवरुतष्लोकमयग्रन्थविशेष: साहित्यम्" इति।

(२) काव्य-"तस्य (कवे:) कर्मस्मश्तं काव्यम्" (राजशेखर) अर्थात् काव्य कवि की वरुति या कर्म है। परिणामत: "क्वचिद्दो शब्दार्थौ काव्यम्" अर्थात् विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने "काव्य" की परिभाषा इस प्रकार की है-

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।
एकार्थप्रवणै: पद्यै: सन्धिसाभ्रयवर्जितम्॥ आष्ठपरिच्छेद, ३२८।

अर्थात् संस्वरुत, प्रावरुतादि भाषा और बाह्लीकादि विभाषा (विरुद्ध) के नियम से (अर्थात् संस्वरुतभाषा से काव्य का निर्माण करने पर विभाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये और विभाषा निर्मित काव्य के अन्दर संस्वरुत भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए) सर्ग से रहित, एक अर्थ के प्रतिपादक पद्यों से बना हुआ, सन्धियों के समुदाय से रहित सरस वाक्य समूह काव्य होता है।

(३) साहित्य और काव्य में अन्तर-

साहित्य-एक सुन्दर ाब्द और अर्थ का संबंध है और शब्द और अर्थ की सुन्दर अभिव्यक्ति काव्य है।

(४) महाकाव्य- 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' (साहित्यदर्पण, आष्ठपरिच्छेद ३२५)

अर्थात् जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य होता है। ऋषिप्रणीत महाकाव्य में सर्ग का नाम आख्यान होता है। प्रावरुत भाषाओं में निर्मित महाकाव्य में सर्ग का नाम ''आश्वास'' होता है और अपभ्रंश भाषा में निर्मित महाकाव्य में सर्ग का नाम ''कुडवक'' होता है।

(५) महाकाव्य और काव्य में अंतर-महाकाव्य सर्गों में उपनिबद्ध होता है, जब कि काव्य सर्गों से रहित होता है। यह महाकाव्य की प्रणाली पर लिखा जाता है, पर इसमें महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण घटित नहीं होते हैं।

(६) खण्डकाव्य-आचार्य विश्वनाथ ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है-

''खण्डकाव्य भवेत्काव्यैकदेशानुसारि च'' (आष्ठ परिच्छेद, ३२१)

अर्थात् महाकाव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला अर्थात् यत्किञ्चिल्लक्षणों से हीन, संस्वरुत पद्यों से निर्मित ''खण्डकाव्य'' होता है। इसके अंदर भाषा का नियम नहीं होता है। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इस खण्डकाव्य में जीवन के किसी एक अङ्ग का ही वर्णन किया जाता है और महाकाव्य की किसी घटना को लेकर ही काव्यय का विषय बनाया जा सकता है। परन्तु यह घटना स्वत: अपने आप में पूर्ण होती है।

(७) मुक्तककाव्य-''छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्'' (सा. द.,आष्ठपरिच्छेद, ३१४)

अर्थात् छन्दोबद्ध पद वाले काव्य को ''पद्य'' कहते है। इस पद्य से मुक्त अर्थात् दूसरे पद्य से निरपेक्ष ''मुक्तक'' काव्य कहलाता है। अभिनवगुप्ताचार्य न कहा है कि-

''पूर्वापरनिरपेक्षया येन रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तम्''।

अर्थात् पूर्वापर प्रसङ्ग से निरपेक्ष होने से जिसे रस की चर्वणा की जाती है, उसे ''मुक्तक'' काव्य कहते हैं। अग्निपुराण में कहा है - ''मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्काराक्षम: सताम्''- अर्थात् मुक्तक रचना उस श्लोक को (पद्य को) कहते हैं जो सहृदयों को अपना अर्थव्यक्त करने में समर्थ हो। कहने का आशय यह है कि इस मुक्तक काव्य में प्रत्येक छन्दोबद्ध पद्य आपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र रूप से रस का उद्रेक करने में समर्थ होता है।

(८) महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तककाव्य में अन्तर-महाकाव्य के अंदर जहां संपूर्ण जीवन की अनेकरूपता अभिव्यक्त होती है, खण्डकाव्य में जीवन के विविधरूपों में से किसी एक रूप की अभिव्यक्ति होती है, वहां मुक्तककाव्य में हृदय की कोई एक अनुभूति, कोई एक भाव अथवा कोई एक कल्पना अभ्भिव्यक्त होती है।

(९) गीतिकाव्य- संगीतात्मक गेय मुक्तक गीतिकाव्य कहलाता है। इसमें रागात्मिका अनुभूति और आत्मीयता प्रधान होती है। अथवा भावावेश के साथ-साथ सङ्गीत तथा स्वर का सामञ्जस्य जिस काव्य में होता है, वह गीतिकाव्य कहलाता है।

(१०) काव्य और सूक्ति में भेद-काव्य में हृदय की कोमल वशत्तियों को रसाप्लावित करने की योग्यता होती है, जबकि सूक्ति में केवल चमत्कारपूर्ण कौतुक वशत्ति को तश्प्त करने की सामर्थ्य होती है। भावाभिनिवेश काव्य है और उक्ति वैचित्र्य सूक्ति है। संस्वरुत साहित्य की सूक्तियां अर्थान्तरन्यास अलङ्कार सूक्ति ही है। सूक्तियों में शाश्वत् सत्य एवं तथ्यों का निर्देश रहता है।

(११) काव्य और नाट्य-भरतवश्रुत नाट्य समानार्थक हैं-काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव''ख्रख्र कावयं च नाटय्मेव च''। आगे लकर काव्य के श्रव्य और दश्श्य दो भेद हो जाने पर नाट्य की परिभाषा ''अवस्थानुवश्रुतिर्नाट्यम्'' हो गई अर्थात् काव्य में वर्णित धीरोदात्तादि अवस्थाओं का आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक इन चार प्रकार के अभिनय से तादात्म्य की अनुभूति नाट्य कहलाता है। यह रसाश्रय होता है।

(१२) नाट्य, नश्त्य और नश्त्त में भेद-नाट्य रसाश्रित होता है, नश्त्य भावाश्रय होता और नश्त्त ताल और लय से आश्रित होता है।

(१३) रस ''आस्वाद्यत्दाद्रस:'' ''रस्यत इति रस:''-अर्थात्आस्वादजन्य आनन्द रस होता है। भरतमुनि के अनुसार ''न रसाद् ऋते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते''। ''रसो वै स:''-वह परमेश्वर रसमय है।

(१४) सहृदय-अभिनवगुप्त के अनुसार-

''येषां काव्यानुशीलानाम्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे।
वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदया:।।

अर्थात् काव्य के अनुशीलन तथा अभ्यास से अर्थात् निरन्तर काव्य के अध्ययन और चिन्तन से जिनका अन्त:करण नितान्त विशद हो

जाता है और जिनकी वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता होती है, वे सहृदय कहलाते हैं। इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-''कवि के हृदय के साथ सम्वाद अर्थात् साम्य, एकरूपता धारण करने वाला व्यक्ति'' (हृदयसंवादभाज:।

अन्यत्र कहा गया है-

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं सफुरन्तमाद्रेषु परेषु केवलम्।
वदध्दिरङ्गै: सफुटरोमविक्रैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽमञ्जलि:॥

अर्थात् कवि के व्यञ्जना घोषित गूढ़ अभिप्राय को समझकर जो शब्दों के द्वारा अपने हृदय के उल्लास की सूचना नहीं देता अपितु रोमाञ्चित अङ्गों से ही जिसके हृदय की आनन्दानुभूति का ज्ञान होता है, वही सच्चा रसिक है, वही सहृदय है।

(१५) वार्ता-''नामान्योन्यकथनम्'' अथवा ''वार्ता नाम कुशलप्रश्नपूर्विका संकथा।''

४. विश्वनाथका काव्यलक्षण विवेचन-

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में ''काव्य स्वरूप'' पर विवेचन करते हुये काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के लक्षण के काव्य लक्षण ''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणादनलंकृती पुन: क्वापि'', वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक के ''वक्रोक्ति: काव्यजीवितम्'', भोजराज के अदोष गुणवत्काव्यमलंकारैरलकृतम्। रसान्वितं कवि: कुर्वन् प्रीति च विन्दति'' का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है।

इसी प्रकार काव्य की आत्मा ध्वनि मानने वाले ध्वनिकार के ''काव्यरस्यात्मा ध्वनि:'' का तथा काव्य की आत्मा रीति को मानने वाले आचार्य वामन के ''रीतिरात्म काव्यस्य'' काव्य का खण्डन किया है।

उपर्युक्त मतों की विस्तशत समीक्षा करते हुए उनका निराकरण करने के उपरान्त अपने सिद्धान्तरूप से स्वीवरुत काव्य के स्वरूप ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' की स्थापना की है। सम्प्रति इस विवेच्य प्रकरण का यहां संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है

(१) काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन

आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण ''तददोषौ समुणावनलंवस्रती पुन: क्वापि'' अर्थातश दोष रहित, गुणसहित और कहीं-कहीं अलङ्कार शून्य अथवा अस्फुटालंकार वाले शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं, किया है। इस काव्य लक्षण पर विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि (१) ''अदोषौ'' यदि दोष से रहित काव्य को ही काव्य माना जायेगा तो-

न्यक्कारो ह्ययमेव में यदरयस्तत्राप्यसौ तापस:
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावण:।
धिग्धिक्कछक्रजितं प्रबोधितबता किं कुम्भकर्णेनवा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवश्थोक्छूनै: किमेभिर्भुजै:॥

इस श्लोक के अंदर दो स्थानों पर ''न्यक्कारो ह्ययमेव'' में तथा स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनै:' में ''विधेयाविमर्श'' दोष परिणामत: यह श्लोक काव्य की कोटि में नहीं आ सकता, जबकि इसको सभी आचार्यों ने ध्वनित्वेन उत्तम काव्य माना है। विधेयाविमर्श दोष उसे कहते हैं, जहां विधेय का अप्राधानरूयप से कथन होता है। ''न्यक्कारो ह्ययमेव'' में ''न्यक्कार'' विधेय है और ''अयम्'' उद्देश्य है। नियमानुसार उद्देश्य ''अयम्'' को पहले आना चाहिए और ''न्यक्कार'' को विधेय होने के कारण बाद में आना चाहिये। परन्तु यहां पर रचना वैपरीत्य के कारण अप्रधान्य का पहले निर्देश कर दिया गया है। इसी प्रकार ''स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनै:''-में ''वृथा'' पद विधेय है, जो समाज में आकर गौण हो गया है। अत: यहां पर भी ''विधेयविमर्श'' दोष है। सम्प्रति यदि उक्त काव्य के लक्षण ''अदोषौ'' के अनुसार दोषसाहित्य को ही काव्य मानेंग तो यह उक्त पद्य काव्य नहीं होगा, परन्तु इसकी क्योंकि ध्वनित्वेन उत्तकाव्यता आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ग्रन्थ ''ध्वन्यालोक'' में स्वीकार की है, अत उक्त काव्य परिभाषा ''अव्याप्ति'' दोष्ज से ग्रस्त होने के कारण मननीय नहीं है।

यदि यह कहा जाये कि उक्त पद्य में जितने अंश में विधेयाविमर्श दोष है वहां तो उसे अकाव्य मान लिया जाये और जितने अंश में ध्वनि है, वहां उसे काव्य मान लिया जाये तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार दो विरुद्ध अंशों से दोनो तरफ खींचा जाता हुआ काव्य और अकाव्य कुछ भी रहेगा। और फिर श्रुतिदुष्टत्वादि काव्य के दोष काव्य के किसी एक अंश को दोष से दूषित नहीं करते हैं, अपितु संपूर्ण काव्य को ही दूषि करते हैं। इस प्रकार यदि दोष रहित ही काव्य को काव्य माना जायेगा, तब तो या तो दोषरहित काव्य का उदाहरण मिलेगा ही नहीं या फिर भी बहुत कम मिलेगा क्योंकि सर्वथा निर्दोष काव्य का मिलना संभव ही नहीं असंभव है।

यदि सर्वत्र काव्य में दोष संभव है तो ''तददोषौ शब्दार्थौ'' के अंदर ''अदोषौ'' पद में ''नञ्'' समाज का प्रयोग, ''ईषदर्थ'' में मान लेंगे अर्थात् ''ईषद्दोषौशब्दार्थौ'' ऐसी 'अदोषौ' की व्याख्या कर लेंगे, परिणामतः काव्य लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं होगा। ठीक है, यदि ''अदोषौ'' की ईषद्दोषो'' व्याख्या कर लेंगे तो तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य में थोड़ा न थोड़ा दोष अवश्य होना चाहिए और इस प्रकार फिर सर्वथा निर्दुष्ट काव्य, काव्य नहीं कहलायेगा। यदि काव्य का लक्षण ''सति सम्भवे इषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्'' अर्थात् दोषों की सम्भावना होने पर थोड़े दोष वाले शब्द और अर्थ काव्य होते हैं, बहूत दोष वाले नहीं, मान ले तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि काव्य में वर्तमान श्रुतिदुष्टत्वादि दोष काव्य के काव्यत्व को नष्ट नहीं करते अपितु उसके उत्कर्ष में कुछ न्यूनता ला देते हैं, जिस प्रकार कि रत्न के अन्दर कोई कीड़ा लग जाये तो उससे उस रत्न की रत्नता नष्ट नहीं होती अपितु उस रत्न की उपादेयता में कमी आ जाती है। इस प्रकार यदि शब्दार्थ के अन्दर कोई दोष विद्यमान है, किन्तु उसमें रसानुभूति में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती है तो वहां पर काव्यत्व को स्वीकार करने में कोई क्षति नहीं है। परिणामतः ''तददोषौ शब्दार्थौ'' परिभाषा के अनुसार काव्य को अदोषौ होना चाहिये; परन्तु क्योंकि निर्दुष्ट काव्य का मिलना संभव नहीं है, अतः यदि रस की अनुभूति में बाधा नहीं पड़ती तो दोष दुष्ट होने पर भी काव्य के अन्दर काव्यत्व माना जायेगा। इस प्रकार उक्त लक्षण में ''अदोषौ'' पद के अन्दर ''अव्याप्तिदोष'' है।

(२) सगुणौ-काव्य की परिभाषा में ''शब्दार्थौ'' का विशेषण ''सगुणौ'' भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि गुणों की स्थिति शब्द ओर अर्थ में न होकर रस में होती है, ऐसा स्वयं आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास के गुण प्रकरा में-

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ ८.६६.

कहकर प्रतिपादन किया है अर्थात् गुण के तीन लक्षण हैं-(१) गुण रस के धर्म हैं, (२) उनकी नित्य स्थिति है औरे (३)(वे रस के उपकारक होते हैं। और फिर यहकहो कि रसाभिव्यन्जक होने के कारण गौणरूप से ''सगुणौ'' शब्दार्थौ का विशेषण हो जायेगा तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि शब्द और अर्थ मेंरस है या नहीं? यदि नहीं तो गुणवत्ता भी नहीं है। और यदि रस है तो फिर ''सगुणौ'' के स्थान पर ''रसवन्तौ'' ही कहना चाहिये, सगुणौ नहीं। और यदि यह कहो कि ''सगुणौ शब्दार्थौ'' कहने से यह अभिप्राय है कि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के अन्दर केवल उत्कर्ष के आधायक होते हैं, स्वरूप के नहीं। अतः काव्य की परिभाषा में ''सगुणौ'' विशेषण भी अनुपपन्न है।

(३) अनलंवरुती पुनः क्वापि-काव्य का पुरुष के रूप में वर्णन करते हुये कहा गया है कि - ''काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्'' इति। अर्थात् काव्य के शब्द और अर्थ शरीर हैं, रस, रसाभाव, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता आत्मा है, माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण शौर्यादि की तरह हैं, श्रुतिदुष्टत्वादि दोष काणत्वादि की तरह हैं, वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी-ये चार रीतियां अवयव रचना की तरह हैं और अनुप्रासोपमादि अलङ्कारयुक्त होने चाये परन्तु यदि कहीं अस्फुट अलङ्कारकटककुण्डलादि की तरह हैं। इस काव्यपुरुष के रूपक द्वारा काव्य के लक्षण में जो यह ''अनलंवरुती पुनःक्वापि'' कहा गया है, उसका भी निराकरण समझना चाहिये। अर्थात् कहने का आशय यह है कि सर्वत्र शब्द और अर्थ अलङ्कारयुक्त होने चाहिये परन्तु यदि कहीं अस्फुट अलङ्कार वाले भी शब्द और अर्थ हैं तो वे भी काव्य कहलाते हैं। इस पूर्वोक्त काव्यपुरुष के रूपक में अलङ्कार कटककुण्डल के समान कहे गये हैं, अतः अलङ्कारयुक्त शब्द और अर्थ भी काव्य में उत्कर्षमात्र का आधाान करने वाले होते हैं, स्वरूप का आधान करने वाले नहीं है। अतः काव्य के लक्षण में ''अनलंवरुती पुनः क्वापि'' का अलंकारों के स्वरूपधायक न होने के कारण ग्रहण नहीं करना चाहिये।

(२) आचार्य कुन्तक के काव्यलक्षण ''वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'' का खण्डन-आचार्य कुन्तक ने काव्य का लक्षण ''व्रकोक्तिः काव्यजीवितम्'' अर्थात् वक्रोक्ति काव्य का जीवन है, किया है। आचार्य विश्वनाथ कविराज कहते हैं कि उपर्युक्तकाव्य पुरुष के वर्णन के द्वारा कुन्तक का यह लक्षण भी निरास्त हुआ समझना चाहिये क्योंकि वक्रोक्ति केवल मात्र एक अलङ्कार मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। और अलङ्कार स्वरूप के आधायक न होकर उत्कर्ष का आधान करने वाले होते हैं। इसका आशयक यह हुआ कि आचार्य कुन्तक जहां वक्रोक्ति को काव्य का जीवनसर्वस्व और प्राणभूत मानते हैं, वहां आचार्य विश्वनाथ वक्राक्ति को एक अलङ्कार के अधिक और कुछ नहीं मानते हैं।

(३) भोजराज के काव्यलक्षण का खण्डन-भोजराज ने अपने ग्रन्थ ''सरस्वतीकण्ठाभरण'' में काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है-

''अदोषं गुणत्काव्यंलंकारैरंलंवरुतम्।
रसान्वितं कविःकुर्वन्कीति प्रीति च विन्दति॥'' इति॥

अर्थात् दोष शून्य, सगुण, अलङ्कारों से अलंकृत और रसयुक्त काव्य को करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति का प्राप्त करता है भोजराज के लिए किये हुये उक्त काव्य लक्षण का भी खण्डन आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण के खण्डन के समान समझना चाहिये। क्योंकि दोष, गुण आदि कों का काव्य के स्वरूप में निवेश नहीं हो सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीन काव्य लक्षणों का खण्डन करने के उपरान्त आचार्य विश्वनाथ ध्वनि और रीति को काव्य की आत्मा मानने वालों के मत का खण्डन करते हैं।

(१) ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने ''काव्यस्यात्मा ध्वनि:'' कहकर काव्य की आत्मा ध्वनिको माना है। आचार्य विश्वनाथ का कहना है कि क्या वस्तु, अलंकार और रस इन तीनों प्रकार की ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हो? अथवा केवल रसादि ध्वनि को ? इनमें से आचार्य विश्वनाथ रसादि ध्वनि को तो स्वीकार करते हैं, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को नहीं। अत: यदि ध्वनिकार रसादि ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते है तब तो आचार्य विश्वनाथ को कोई आपत्ति नहीं है। और यदि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को भी काव्य की आत्मा मानते हैं तो विश्वनाथ का कहना है कि इस अवस्था में यहां अतिव्याप्ति नामक दोष हो जायेगा क्योंकि फिर यह लक्षण प्रहेलिकादि में भी चला जायेगा, जहां कि वस्तु ध्वनित होती है। इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथउ

श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं दिवस एव प्रविलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध, शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि।

इत्यादि स्थलों में रसाभास के कारण काव्य मानते हैं। वे इसमें ''अपनी शय्या पर प्रवेशरूप वस्तु को व्यंग्य'' नही मानते हैं जैसा कि दूसरों ने माना है। विश्वनाथ का कहना है कि उक्त पद्य के अन्दर आगन्तुक पथिक के प्रति दूती नायिका का अनुराग प्रतीत होता है शृङ्गारसाभास है, वस्तु व्यंग्यता नहीं। यदि वस्तु ध्वनि को काव्य जानने लग जायेंगे तब तो ''देवदत्तो ग्रामं याति'' में भी ''देवदत्त के भृत्य का उसके पीछे जाना'' व्यंग्य होने पर काव्यत्व का प्रसंग हो जो ठीक नहीं हैं क्योंकि सरस वाक्य को ही काव्य माना गया है नीरस वाक्य को नहीं। तद्यथा'-

''वाग्वैदग्धप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'' इति॥ अग्निपुराण

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ रसादिध्वनि को तो काव्य की आत्मा मानते हैं, वस्तूध्वनि और अलंकार ध्वनि को नहीं। इसलिये यहां पर रसादिध्वनि से भिन्न का खण्डन समझना चाहिये।

(२) आचार्य वामन के ''रीतिरात्मा काव्यस्य'' का खण्डन-अलंकारसूत्र के प्रणेता आचार्य वामन ने ''रीतिरात्मा काव्यस्य'' अर्थात् ''काव्य की आत्मा रीति'' को माना है। आचार्य विश्वनाथ जी का कहना है कि वामन का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''रीति:संघ्ज्ञटनाविशेषत्वपात्'' अर्थात् रीति संघटना विशेष है अर्थात् विशिष्ट प्रकार की रचना रीति कहलाती है। और संघटना रीति के अंग विन्यास के तुल्य होती है वह आत्मा नहीं हो सकती। आत्मा शरीर से भिन्न होती है। अत: रीति काव्य की आत्मा नहीं है

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त पांच मतों का निराकरण करके अपने सिद्धांत पक्ष की स्थापना की है। आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि उपर्युक्त पांच काव्य लक्षणों के सदोष होने के कारण काव्य का स्वरूप अथसवा लक्षण ''वाक्यं रसात्मक काव्यं'' अर्थात्रसात्मक वाक्य ही काव्य है। कहने का आशय यह है कि जहां प्रधानता रस का सद्भाव होगा, वहां काव्य कहलायेगा अन्यत्र नहीं। ''रस्यत इति रस:'' इस व्युत्पत्ति के योग से रस, रसाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता इन सभी का ग्रहण समझना चाहिये। अर्थात् जहां इनमें से किसी को भी सद्भाव होगा, वहीं काव्यत्व होगा।

(८) तिस्र: शब्दस्य शक्तय:

साहित्यदर्पण आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छे में अन्य आचार्यों के समान तीन शब्द शक्ति या अर्थात् अभिधा, लक्षणा और वयञ्जना का विवचेन किया है। तदनन्तर पञ्चम परिच्छेद में ''अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम'' इस प्रकार की शंका उठाकर व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना की है। सम्प्रति इन अभिधा, लक्षण और व्यञ्जना की क्रमश: व्याख्या की जा रही है-

काव्य में शब्द तीन प्रकार का होता है- वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्द के वाचक और लाक्षणिक शब्द उपजीव्य होते हैं। इन तीन प्रकार के शब्दों से प्रतिपाद्य तीन प्रकार के ही अर्थ होते हैं-' तद्यथा वाचक शब्द का अर्थ वाच्य लाक्षणिक शब्द का अर्थ लक्ष्य और व्यञ्जक शब्द का अर्थ व्यंग्य होता है। इस प्रकार क्रमश: वाच्य, लक्ष्य ओर व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। वाचक शब्द का वाच्य अर्थ जिस शक्ति से प्रतीत होता है, वह अभिधाशक्ति कहलाती है, लाक्षणिक शब्द का लक्ष्यार्थ जिस शक्ति क प्रतीत होता

वह लक्षणा शक्ति कहलाती है और व्यंजक शब्द का व्यंग्यार्थ जिस शक्ति से प्रतीत होता है, वह व्यञ्जना शक्ति कहलाती है। कहा भी है-

वाच्योऽर्थोभिधया बोध्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यञ्जनया ताः स्युतिस्र ाब्दस्य शक्तयः। सा. द. २.३.

(१) अभिधा शक्ति-

यत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।। स. द. २.४.

अर्थात् संकेतिति (मुख्य) अर्थ का (कोश, व्याकरणदि से नियन्त्रित अर्थ का) ज्ञान कराने से सबसे पहले शक्ति का नाम अभिधा शक्ति है। यह अभिधा नामक शक्ति ''इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए'' इस प्रकार की ईश्वरेच्छारूपशक्ति से भिन्न है क्योंकि यदि अर्थ बोध ईश्वरेच्छारूप मानेंगेतोजो ईश्वर को नहीं मानते हैं उनको अर्थ का ज्ञान किस प्रकार होगा। और ईश्वर बिना स्वीकार किये भी इनको शब्द के अर्थ का ज्ञान होता ही है, अत: अभिधा नामक शक्ति ईश्वरेच्छारूप शक्ति से भिन्न है।

ऊपर वर्णित संकेतिक अर्थ चार प्रकार का होता है: तद्यथा-

''संकेतो गश्ह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च''। साहित्यदर्पण २.४. अर्थात् संकेत का ग्रहण जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में होता है (१) **''पदार्थस्य प्राणप्रद:''** जाति कहलाती है अर्थात् पद के उद्देश्य गौ आदि की (पदार्थस्य) व्यवहार की योग्यता का निर्वाह करने वाली (प्राणप्रद) जाति होती है अर्थात् जो सभी गौ व्यक्तियों में रहने वाली है, यह '' जाति'' होती है। इसी को रसगंगाधर में इस प्रकार कहा गया है- ''अयं च जातिप: शब्दार्थ: प्राणप्रद इत्युच्यते। प्राणं व्यवहारयोग्यतां प्रददतिसम्पाद यतीति व्युत्पत्ते:''। तथा भर्तृहरिवश्रुत वाक्यपदीय में इस प्रकार गया है:-

''न हि गौ: स्वरूपेण गौर्नाप्यगौ: गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ:'' इति। अर्थात् ''गौ'' इस पद के द्वारा सास्नादिमान् धर्मी गौर का स्वरूप से रहित केवल व्यक्तिमात्र से ''गौ'' का बोध नहीं होता, नहीं ''अगौ''-गौ नहींहै, ऐसा भी बोध नहीं होता है क्योंकि वह सर्वथा गौ से भिन्न भी नहीं है, अपितु ''गौ-त्व'' इस जाति संबंध से ही ''गौ'' इस पद से गौ का बोध होता है। इस प्रकार वस्तु का प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तु धर्म 'जाति' कहलाता है (२) ''गुणो विशेषाधानहेतु: सिद्धो वस्तुधर्म:'' अर्थात् पदार्थ में वशिषता का आधान करने का कारणभूत वस्तुधर्म जो पहले से सिद्ध (नित्य) है, ''गुण'' कहलाता है क्योंकि ''शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते'' अर्थात् शुक्ल आदि गुणों के कारण से ही सत्ताप्राप्त वस्तु (जाति से व्यवहार की योग्यता को प्राप्त वस्तु) अपने साजातीय अन्य पदार्थों से भिन्नता को प्राप्त होती है। महाभाष्य में (''वोचो गुणवनात्'') ४।१।४४ सूत्र पर) गुण का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

सत्वे निविशतेऽपैति पश्थग्जातिषु दश्श्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्वप्रवश्रुतिर्गुण:।।

अर्थात् जो पदार्थ में रहता है, पदार्थ से भिन्न किया जा सकता है और जो भिन्न जातीय द्रव्यों में भी निवास करता है, आधेय जो उत्पन्न किया जा सके, आकाश में महत्त्व के समान स्वयं सिद्ध हो और जो द्रव्य से भिन्न हो, उसे गुण कहते हैं।

(३) ''द्रव्यशब्दा: एकव्यक्तिवाचिनी हरिहरडित्यवित्थादय:'' अर्थात् एकव्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ, डवित्थ आदि द्रव्य शब्द अथवा यदृच्छा शब्द कहलाते हैं। द्रव्य को ही संज्ञा कहते हैं और संज्ञा दो प्रकार की होती है-(१) चिरन्तनी और (२) आधुनिकीर। चिरन्तनी के उदाहरण हैं-हरि, हर आदि और आधुनिकी के उदाहरण हैं-डित्थ, डवित्थ आदि। (४) ''क्रिया साध्यारूपा वस्तुधर्मा: पाकादाय:'' अर्थात् वस्तु साध्यरूप धर्म पाकादि क्रिया कहाते हैं(इस प्रकार क्रिया जहां साध्य होती है, वहां गुण सिग होते हैं, अर्थात् गुण वस्तु में पहले से विद्यमान रहते हैं। इसीलिए गुण ''सिद्ध वस्तु धर्म'' कहलाते हैं और क्रिया ''साध्य धर्म'' कहलाती है। काव्य-प्रकाशकार ने क्रिया को ''साध्य धर्म'' कहलाती है। काव्य-प्रकाशकार ने क्रिया को ''साध्य: पूर्वापरीभूतावयव: क्रियारूप:'' कहा है, अर्थात् साध्यरूप वस्तुधर्मों में अधिश्रयण से लेकर अर्थात् किसी पात्र के चूल्हे पर चढ़ाने से अवश्रयण तक अर्थात् पक जाने के बाद नीचे उतारेन तक पहले और बाद के कार्य-व्यवहारों का समुदाय है वह सब पाकादि शब्द से व्यवहत होता है अर्थात् उन सब क्रिया-कलापो का नाम ''पाक'' है। इस प्रकार इन्हीं चारों के मध्य जो व्यक्ति के उपाधि धर्म जाति, गुण और क्रियारूप हैं, उन्हीं में संकेत का ग्रण होता है, व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते है। इसीलिये महाभाष्यकार ने कहा है कि -''गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति:'' इति। इस प्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार संकेतग्रह जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा-द्रव्य-संज्ञा-इन चार में निवास करता है।

उपर्युक्त मत के विपरीत मीमांसक केवल जाति में ही संकेतग्रह स्वीकार करते हैं। मीमांसकों का सिद्धान्त यह है कि केवल जाति

को ही शब्द का प्रवृत्ति निमित्त मानना उचित है। जाति शब्दों के समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों मे भी जाति में संकेतग्रह मानना चाहिये। तद्यथा-शङ्ख, दूध, बर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में शुक्ल:, शुक्ल: यह अनुगत प्रतीती अथवा एकाकार प्रतीति होती है इस कारण ''शुक्लवसामान्य'' है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित्र यदृच्छा शब्द और प्रतिक्षण परिणाम के कारण विद्यमान अनेक अर्थों में भी सामान्य का अनुसन्धान किया जा सकता है। अत: जाति शब्दों के समान गुण-क्रिया और यदृच्छा शब्दों का जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिये।

नैय्यायिका जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं। बौद्ध दार्शनिकों के मत में शब्द का अर्थ ''अपोह'' होता है और 'अपोह' का अर्थ ''अतद्व्यावृत्ति'' या तद्भिन्नभिन्नत्व'' है। बौद्ध जाति का काम ''अपोह'' से निकलते हैं। इसलिए ये 'अपोह' में ही शक्ति मानते हैं।

शक्तिग्रह के अन्य कारण भी होते हैं। यद्यथा-

शक्तिसंग्रह व्याकरणोपमानकोष्ठाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत: सिद्धपरस्य वृद्धा।।

क्रमश: उदाहरण देते हैं -

(१) व्याकरण से नियन्त्रित-''दाक्षि'' पद का अर्थ ''दक्षपुत्र'' है, यह बात व्याकरण (दक्षस्यापत्यं दाक्षि: ''अत इञ्'' सूत्र) से ज्ञात होती है।

(२) उपमान से नियन्त्रित-''गोसदश्शो गावय:'' गाय के सदश्श पिण्ड (व्यक्ति) को देखकर ''गाय के समान गवय होता है'' इस पूर्व वाक्य के स्मरण द्वारा ''यह गवय है'' इस प्रकार का ज्ञान उपमान के द्वारा होता है।

(३) कोष से-''विनायके विघ्नराजौ द्वैमातुरगल्भधिषा:'' इत्यादिक ज्ञान कोष्ठ के द्वारा होता है।

(४) आप्त वाक्य से-''अयमश्वशब्दवाच्य:'' इत्यादि।

(५) व्यवहार से- जिस समय कोई वश्द्ध व्यक्ति अपने से आयु में कम किसी युवक को लक्ष्य करके कहता है कि ''गामानय'' इति। उस समय बैठा हुआ बालक (जिसको संकेत का ज्ञान नहीं है) उस युवक को गाय को लाने में प्रवश्त्त देखकर सर्वप्रथम उस वाक्य का शक्ति ग्रहण से पूर्व ''सास्नादिमान् पिण्ड को लाने रूप'' अर्थ का मन ही मन निर्धारण कर लेता है। तदनन्तर ''गां बधान अश्वमानय'' ऐसा कहने पर अन्वय-वरूतिरेक के द्वारा अर्थात् ''गाय बांध दो'' यहां पर गो पद का सास्नादिमान् पदार्थ कोबोध हुआ तथा ''बधान'' इसके द्वारा पहले कहे गये'' आनय'' इस पद से भिन्न लाये जाने वाले पदार्थ बोध का अभाव हुआ अर्थात् पहले तो ''गामानय'' ऐसा कहने पर बालक ने देखा था कि वश्द्ध व्यक्ति के कहने के साथ ही एक उठकर चल दिया था और सास्नादिमान् पदार्थ को लाया था परन्तु ''बधान'' कहने पर वह इस 'आनयन' क्रिया का ज्ञान होता है(इसी प्रकार ''अश्वमानय'' यहां पर उस बालक ने देखा कि इस बार ''गामानय'' की तरह सास्नादिमान् पदार्थ का अभाव हुआ और ''आनय'' इस पद से आहरण की क्रिया पूर्ववत् हुई (ऐसा ज्ञान उस बाल को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा होता है)। 'गो' शब्द का ''सास्नादिमान्'' अर्थ और ''आनय पद का लाना'' अर्थ रूप पश्थक् से निर्धारित करता है।

(६) वाक्य के शेष होने से- ''यदमयश्चरुर्भवति''। यहां पर प्रश्न पैदा होता है कि यहां पर विद्यमान ''यव'' शब्द समस्त गौ-शस्यविशेष का बोधक है अथवा यवनों में प्रसिद्धकङ्कुमना शस्यविशेष का बोध है। इस अवस्था में

वसन्ते सर्वशस्यातां जायते पत्रशातनम्।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवा: कणिशशलिन:।।

इस वाक्यशेष से वसन्तऋतु में उत्पन्न होनेव ाले यव का ही ग्रण होता है।

(७) विवश्त्ति७विवरण से-रामो दाशरथि:''इत्यादि। यहां पर ''राम:'' का अर्थ परशुराम न लिया जाकर दारथ के पुत्र राम का ग्रण होता है।

(८) सिद्ध पद के सान्निध्य से-''प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकर: पिबति'' इत्यादि।'' विकसित कमल के मध्यभाग में मधुकर मधु का पान कर रहा है।'' यहां पर ''कमलदरे मधूनि पिबति'' इत्यादि।'' विकसित कमल के मध्यभाग में मधुकर मधु का पान कर रहा है।'' यहां पर ''कमलोदरे मधूनि पिबति'' इस प्रकार के पदों की अन्वय योग्यता को बताने वाले ज्ञान के अनन्तर मधुकर:'' इस पद का ''भ्रमर'' में ही शक्तिग्रह है, मधुमक्खी के अन्दर नहीं। यद्यपि ''मधुकर:'' इस पद के अन्दर

''मधुमक्खी'' यह दूसरा अर्थ बताने की योग्यता है, परन्तु वक्ता के तात्पर्य विशेष के कारण इसका शक्ति ग्रहण नहीं होगा। कमल के अन्दर भ्रमर ही रसपान करता है, ऐसा जानने वाला मनुष्य कमल पद के साहचर्य से - ''मधुकरः'' पद का अर्थ ''भ्रमर'' ग्रहण कर लेता है।

इस उपर्युक्त उपायों से ज्ञात हुये संकेतित अर्थ का ज्ञान कराने वाली, दूसरी शक्ति से अव्यवहित शब्द की अभिधा नामक शक्ति होती है। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार लक्षणादि शक्तियों से पूर्व अभिधा शक्ति का होना आवश्यक है उस प्रकार अभिधा से पूर्व कोई अन्य शक्ति अपेक्षित नहीं है।

कुछ आचार्य इस अभिधा वशत्ति को शब्द की स्वाभाविक शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वे इसके स्थान पर रूढसम्मति-लोकप्रसिद्धि को शब्दों के अर्थ का ज्ञान कराने में कारण मानते हैं। किन्तु कुछ आचार्यों का कहना है कि अभिधा का ही दूसरा नाम 'रूढसम्मति' है।

२. लक्षणा-शक्ति

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता।। सा. द. २.५

अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर (अर्थात् अभिधा के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का काव्य में अभिमत तात्पर्य अर्थ का ज्ञान कराने में अनुपपन्न होने पर) मुख्यार्थ से संबंन्धित (किन्तु) मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ रूढि होने के कारण अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा होता है। वह अर्पिता-आरोपित अर्थात् अस्वाभाविक अर्थत् काल्पनिक शक्ति लक्षणा कहलाती है।।

इस प्रकार लक्षणा की उत्पत्ति के लिये चार कारण बताये गये हैं। तद्यथा-

१.मुख्यार्थ का बाध, २.तद्योग-मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध, ३.रूढि या४. प्रयोजन। इसमे से लक्ष्यार्थ ज्ञान के लिये प्रथम दो का होना तो परम् आवश्यक हैं परन्तु अन्तिम दो मे से (रूढि अथवा प्रयोजन) किसी एक का ही होना आवश्यक है। इस प्रकार लक्षणा की प्रवृत्ति मे तीन ही कारण हुये-१.मुख्यार्थबाध, २.तद्योग-मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध और ३.रूढि और प्रयोजन में से कोई एक।

उक्त कारिका के अन्दर ''मुख्यार्थबाधे तद्युक्तेः'' ऐसा कहकर हेतुपूर्वक विशेष अर्थ को प्रतिपादित करने वाली लक्षणा के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के स्वरूप का निरूपण किया गया है। ''ययाऽन्यार्न्थः प्रतीयते' इससे लक्षणा के लक्षण को स्पष्ट किया है। ''रूढेः प्रयोजनाद्वा'' इस प्रकार से लक्षणा के दो भेद किये गये-१.रूढिमूला लक्षणा और २.प्रयोजनमूला लक्षणा। ''अर्पिता'' कहकर अभिधा शक्ति से लक्षणा की भिन्नता प्रदर्शित की है। 'राजत्युमावल्लभः' इत्यादि शाब्दीव्यञ्जना के अन्दर भी लक्षणा की प्रसक्ति के अति प्रसङ्ग के निवारण के लिए ''मुख्यार्थबाधे'' कहा है क्योंकि यदि मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की उपस्थिति भी लक्षणा से मान ली जाये तब तो ''गङ्गायां घोष'' इत्यादि वाक्य में गंगादि पद से यमुनातट आदि भी उपस्थित होने लगेंगे। इसीलिए कहा है कि 'तद्युक्त' मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का ज्ञान भी लक्षणा का कारण माना गया है। मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ का ज्ञान इस लक्षणा के द्वारा होता है, ऐसा स्पष्ट करने के लिये ''अन्योऽर्थः'' कहा गया है। ''रूढे प्रयोजनाद्वा'' के आधार पर लक्षणा दो प्रकार की होती है-१. रूढि लक्षणा और २. प्रयोजनवती लक्षणा। क्रमशः उदाहरण-

१. रूढि लक्षणा का उदाहरण-''कलिङ्ग साहसिकः'' कलिङ्ग देश साहसी है-

इस उदाहरण में ''कलिङ्ग'' शब्द अपने ''देशविशेष''वाच्य अर्थ में (साहसी अर्थ में) घटित न होता हुआ (क्योंकि कलिङ्ग देश जड़ है और साहसी होना चेतन का धर्म है, अतः कलिङ्ग शब्द अपने वाच्यार्थ में घटित नहीं होता है) कलिङ्ग देश में रहने वाले पुरुषों को लक्षणावृत्ति से लक्षित करता है। कहने का आश्य यह है कि उपर्युक्त उदाहरण में ''कलिङ्ग'' शब्द का अपना अर्थ है ''देशविशेष'' और ''साहसिकः'' का अर्थ है ''साहसी''। परन्तु यह साहस, जो चेतन का धर्म है, जड़ पदार्थ (कलिङ्ग देश) में नहीं रह सकता, अतः देश के वाचक कलिङ्ग शब्द का साहसी के साथ अन्वय घटित नहीं हो सकता। इस प्रकार कलिङ्ग शब्द अपने मुख्यार्थ ''देश'' अर्थ में बाधित होने के कारण संयोग सम्बन्ध से उस देश मे रहने वाले पुरुषों का लक्षणा से ज्ञान कराता है। अतः इस उदाहरण में 'रूढि लक्षणा' है।

२. प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण- ''गङ्गायां घोषः''-गंगा में ग्राम है। इस उदाहरण में गंगा शब्द प्रवाह विशेष रूप अपने वाच्यार्थ (''गङ्गा'' शब्द का अपना मुख्यार्थ है ''प्रवाह'') का ज्ञान कराने मे असमर्थ होता हुआ सामीप्य सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी ''तट''

अर्थ का ज्ञान कराता है। इस तट अर्थ का ज्ञान कराने में शीतलता और पवित्रता का अतिशय ज्ञान कराना रूप प्रयोजन है। कहने का आशय यह है कि ''गङ्गायां घोष'' इस वाक्य में गंगा शब्द का मुख्य अर्थ है ''प्रवाह''। इसके ऊपर ''घोष: ग्राम'' का स्थित होना असम्भव है। अत: यह हुआ मुख्यार्थबाध। इस प्रकार गंगा शब्द के अपने मुख्य अर्थ ''प्रवाह'' मे अनुपपन्न होने के कारण मुख्य सम्बन्ध से (अर्थात् तद्योग अर्थात् गंगा से सम्बन्धित) अपने सम्बन्धी तट का लक्षणावृत्ति से ज्ञान कराता है। अत: इस उदाहरण में ''प्रयोजनवती लक्षणा'' है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में हम जिस शक्ति के द्वारा 'कलिङ्ग' का अर्थ ''कलिङ्ग देशवासी मनुष्य'' और ''गङ्गायां'' का 'गंगा के तट पर'' समझते हैं, वह शक्ति लक्षणा कही गई है और इसे ''अर्पिता, स्वाभाविकेतरा अथवा ईश्वरानुद्भाविता'' कहा गया है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने रूढिलक्षणा का उदाहरण ''कर्मिण कुशल:'' दिया है, जिसको आचार्य विश्वनाथ न नहीं मानते हैं।

लक्षणा के भेद

१. उपादानलक्षणा का लक्षण-

''मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मनोऽप्युमादानादेषापादानालक्षणा''-साहित्यदर्पण२.६ अर्थात्

वाक्यार्थ में वाक्य के अन्दर विद्यमान अन्वय की सिद्धि के लिए जिस वृत्ति द्वारा अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है तथा मुख्यार्थ का भी ग्रहण होने के कारण ''उपादान लक्षणा'' कहलाती है। उपादान लक्षणा की निरुक्ति दो प्रकार से की जा सकती है

(क) मुख्यार्थविषयिणी प्रतीतिरुपादानाम् तद्धेतुर्लक्षणा उपादानलक्षणा।

(ख) उपादीयते स्वार्थो गृह्यतेऽनेनेत्युपरादानम् तन्नाम्नी लक्षणा उपादानलक्षणा।

ऊपर लक्षणा के रूढ़ि और प्रयोजन ये दो कारण माने गये हैं। इन्हीं को आधार मानकर उपादान लक्षणा भी दो प्रकार की होती है। तद्यथा-१. रूढ़ि में उपादान लक्षणा और २. प्रयोजन में उपादान लक्षणा। क्रमश: उदाहरण-

१.रूढ़ि मे उपादान लक्षणा का उदाहरण-''श्वेतो धावति''-श्वेत दौड़ रहा है। किसी व्यक्ति ने किसी अवसर पर किसी अन्य व्यक्ति से पूछा है कि ''कौन सा घोड़ा दौड़ रहा है'', जिसके उत्तर में उसने कहा कि ''श्वेतो धावति''। इस उदाहरण में श्वेतवर्ण अचेतन होने के कारण दौड़ने की क्रिया में कर्तृत्वेन अन्वित न होते हुये (अर्थात् ''धावति'' क्रिया का कर्ता ''श्वेत:'' नहीं हो सकता क्योंकि वह अचेतन है। किसी भी क्रिया का कर्ता किसी चेतन को ही चाहिये जो कि क्रिया कर सके) दौड़ने की क्रिया के कर्तृत्व का ज्ञान कराने के लिए अपने संजोगी ''अश्व'' का आक्षेप कर लेता है (अर्थात् ''श्वेत'' समवाय सम्बन्ध से श्वेत गुण वाले अश्व का आक्षेप कर लेता है) यहां किसी भी प्रयोजन का अभाव होने के कारण रूढ़िमूला लक्षणा है।

२.प्रयोजन मे उपादान लक्षणा का उदाहरण-'कुन्ता: प्रविशन्ति' इस क्रिया का कर्ता ''कुन्त'' नहीं हो सकता क्योंकि वह अचेतन है किसी भी क्रिया का कर्ता चेतन होना चाहिये जो कि क्रिया कर सके)प्रवेश करने की क्रिया के कर्तृत्व का ज्ञान कराने के लिए अपने संयोगी पुरुष का आक्षेप कर लेता है। अर्थात् ''कुन्ता:'' शब्द संयोग सम्बन्ध से भाले धारण करने वाले पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं। इस उदाहरण में कुन्तों की अतिगहनता को सूचित करना प्रयोजन है, अत: प्रयोजनमूला लक्षणा है।

इस उपादान लक्षणा को ही ''अजहत्स्वार्था लक्षणा'' (अजहवत्यजन् स्वार्थो मुख्यार्थो यामिति अजहत्स्वार्थी'' अर्थात् जिसमें स्वार्थ (मुख्यार्थ) का परित्याग नहीं होता है) भी कहते हैं।

२. लक्षणलक्षणा का लक्षण-

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणालक्षणा।।सा. दं. २.७.

अर्थात् वाक्यार्थ से भिन्न अर्थ की अन्वय सिद्धि के लिये अपने अर्थ का परित्याग जिसर वृत्ति के द्वारा होता है अर्थात् जो शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण जिस वृत्ति के द्वारा हो जाता है वह उपलक्षण का हेतु होने के कारण ''लक्षणलक्षणा'' कहलाती है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है-''लक्ष्यते उपलक्ष्यतेऽऽनेनेत्युपलक्षणम् तन्नाम्नी लक्षणा लक्षणलक्षणा'' इति।

उपादान लक्षणा के समान यह लक्षणलक्षणा भी रूढ़ि और प्रयोजन के भेद से दो प्रकार की होती है। तद्यथा-१. रूढ़ि में लक्षणलक्षणा और २. प्रयोजन में लक्षणलक्षणा क्रमशः उदाहरण-

१.रूढ़ि में लक्षणलक्षणा-''कलिङ्गः साहसिकः''-कलिङ्ग साहसी है। यहां पर पुरुष के अन्वय को वाक्यार्थ मे अन्वय की सिद्धि के लिये ''कलिङ्ग'' शब्द अपने आप को समर्पित कर देता है, अर्थात् पुरुष का बोध कराने के लिये अपने आपको उपयोगी बनाता है। अथवा ''आत्मनाम्'' मुख्यार्थम्''अर्पयति''-परित्यजति। यह पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है। प्रयोजन का अभाव होने के कारण रूढ़ि है। अतः ''रूढ़िमूला लक्षणलक्षणा'' है।

२.....घोषः''-गङ्ग में घोष है। इस उदाहरण में.....की सिद्धि के लिये ''गङ्गा'' शब्द अपने आपको.....ज्ञान कराने के लिये अपने आपको उपयोगी बनाता है।.....स्वार्थम्-मुख्यार्थम्'' अर्पयति-परित्यजतिं। इस प्रकार यह पद अपने मुख्यार्थ प्रवाह का परित्याग कर देता है। शैत्य और पवानत्व प्रयोजन है। अतः प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा है।

यही लक्षणलक्षणा ''जहत्स्वार्था लक्षणा'' (जहत्-त्यजन् स्वार्थो यया सा जहत्स्वार्था) कहलाती है।

उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा में भेद-उपादानलक्षण के अन्दर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ में ग्रहण कर लेता है परन्तु लक्षणलक्षणा के अन्दर लक्ष्यार्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ अपने अर्थ का परित्याग कर देता है।

उपर्युक्त चार प्रकार की लक्षणायें अर्थात्१.रूढि उपादानलक्षणा २. प्रयोजनवती उपादानलक्षणा ३.रूढि लक्षणलक्षणा और ४. प्रयोजनवती लक्षणालक्षणा, सारोपा और साध्यवसाना भेद से दो-दो प्रकार की होती है। इस प्रकार लक्षण के आठ भेद हो जाते है।

सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाओं के लक्षण-

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्।
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका॥ सा. द. २.७-९

अर्थात् अनिगीर्ण(अनाच्छादित) स्वरूप विषय (उपमेय) का अन्य (उपमान) के साथ अभेद की प्रतिपत्ति कराने वाली लक्षणा सारोपा (आरोपेण सह वर्तते इति सारोपा) होती है। कहने का आशय यह है कि ''अनिगीर्णस्वरूपस्य पदार्थस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिरारोपः'' अर्थात् वाक्य में जिस पदार्थ का स्पष्टयता निर्देश किया गया है। जिसका स्वरूप अप्रकृत उपभानकृत चन्द्र आदि (विषय) से निगीर्ण-छिपा हुआ नहीं है, उसी प्रकृत उपमेय मुखादि (विषय) की अन्य अर्थात् अप्रकृत चन्द्रादि विषयी के साथ तादात्म्य प्रतीति को 'आरोप' कहते हैं। अथवा विषयविषयिणोर्भेदेनोपन्यासोऽत्रारोपार्थं'' और जो आरोप के साथ होती है, वह ''सारोपलक्षणा'' कहलाती है। यह सारोपा लक्षणा रूपकालंकार का बीज है और निगीर्ण (आच्छादित) स्वरूप विषय(उपमान) का विषयी के साथ अभेद ज्ञान कराने वाली ''साध्यवसाना लक्षणा'' कहलाती है। कहने का आशय यह है कि ''विषयानेगरणेन विषयिणोऽभेदप्रतीतिरध्यवसानम् तेन सह वर्तते इति साध्यवसाना'' अर्थात् विषय का निगरण करके विषयी के साथ अभेद का प्रतिपादन करना ''अध्यवसाय'' कहलाता है, उस अध्यवसाय के साथ जो है, वह ''साध्यवसाना लक्षणा'' कहलाता है। क्रमशः उदाहरण-

१.रूढ़ि सारोपा उपादानलक्षणा का उदाहरण-''अश्वः श्वेतो धावति''-श्वेत घोड़ा दौड़ रहा है। यहां पर श्वेत शब्द की श्वेतगुण विशिष्ट में प्रसिद्धि होने के कारण रूढ़ि है। श्वेत गुण अपने स्वरूप को भी लाक्ष्यार्थ के साथ बोधित करता है, अतः उपादान लक्षणा है और निगीर्णस्वरूप अश्व के साथ श्वेत का तादात्म्य प्रतीत होता है, अतः आरोप है। इस प्रकार पर ''रूढ़ि सारोपा उपादानलक्षणा'' हुई।

२. प्रयोजनवती सारोपा उपादानलक्षणा का उदाहरण-''एते कुन्ताः प्रविशन्ति''(दुर्गे इति शेषः)। यहां पर सर्वनाम ''एते'' से कुन्तधारी पुरुषों का निर्देश करने के कारण ''आरोप'' है। लक्ष्यार्थ के साथ कुन्ती की भी प्रतीति होती है, अतः उपादान है। कुन्तों का अतिगहनत्व सूचित करना प्रयोजन है। इस प्रकार यहां पर ''प्रयोजनवती सारोपा उपादानलक्षणा'' है। यहां धार्य-धारक सम्बन्ध है। कुन्त धार्य हैं और पुरुष धारक है।

३.रूढ़ि सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण-''कलिङ्ग पुरुषो युध्यते''। यहां पर ''कलिङ्ग'' शब्द कलिङ्ग देशवासी का उपलक्षण होने से लक्षणलक्षणा है। पृथक् निर्दिष्ट पुरुष के साथ अभेद प्रतीति से सारोपा है और प्रसिद्धि के कारण रूढ़ि है। अतः ''रूढ़ि सारोपा लक्षणलक्षणा'' है। यहां पर पुरुष और कलिङ्ग देश में आधार-आधेयभाव सम्बन्ध है। कलिङ्ग देश आधार है और पुरुष आधेय है।

४. प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण-''आयुर्घृतम्''-यहां पर यद्यपि आयु का कारण है तथापि कार्यकारणभाव सम्बन्ध आयु का सम्बन्धी घृत यहां आयु के साथ तादात्म्य से प्रतीत होता है, अत: सारोपा है। आयु शब्द आयु के कारण का उपलक्षणम करता है, अत: लक्षणलक्षणा है तथा अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विलक्षणता से आयु को उत्पन्न करना प्रयोजन हैं। अत: ''प्रयोजनव सारोपा लक्षणलक्षणा'' है।

''निगीर्णस्य मता साध्यवनिका'' के अनुसार सम्प्रति साध्यवसाना लक्षणा के क्रमश: उदाहरण देते हैं-

(५)रूढ़ि साध्यवसाना उपादानलक्षणा का उदाहरण-''श्वेतो धावति''।

(६)प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादानलक्षणा का उदाहरण-''कुन्ता: प्रविशन्ति''।

(७)रूढ़ि साध्यवसाना लक्षणलक्षणा का उदाहरण-कलिङ्ग: साहसिक:।

(८)प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणलक्षणा का उदाहरण-''गङ्गायां घोष''।

इनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

उपर्युक्त आठ प्रकार की लक्षणायें (चार सारोपा और चार साध्यवसाना) शुद्ध और गौणी के भेद से पुन: दो प्रकार की हो

शुद्धा और गौणी लक्षणाओं में से जो लक्षणा 'सादृश के सम्बन्ध का कारण नहीं होती हैं वे ''शुद्धा'' कहलाती है। और जिनका कार सादृश्य से सम्बन्ध रखता है,''गौणी'' (गुणेभ्य: आगता गौण्य: इति) कहलाती है।'' इस प्रकार लक्षणा के १६ भद होते हैं। इसा इस प्रकार कहा गया है-

सादृश्येतसम्बन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि।
सादृश्यात्तु मता गौणस्तेन षोडशभेदिताः॥ सा. द. २,२-१०

इनमे से ''शुद्धा लक्षणा'' के पूर्वोक्त ''अश्व श्वेतो धावति'' इत्यादि उदाहरण हैं। ''गौणी लक्षणा'' के क्रमश: उदाहरण

१.रूढ़ि उपादान सारोपा गौणी का उदाहरण- ''एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि''। यहां तैल शब्द का शब्दिक अर्थ है ''तिलो का तत्व तेल''। परन्तु सादृश्य के कारण सरसो आदि के स्नेह को भी तैल ही कह देते हैं, यद्यपि उनके अन्दर तिलभवत्व का सवथा अभा है। इस उदाहरण मे तिलभव स्नेह का परित्याग नहीं हुआ, अत: यह गौणी उपादानलक्षणा है। तैल शब्द की प्रसिद्धि ही इस प्रयोग के कारण है, अत: रूढ़िमूला लक्षणा है। ''एतत्'' शब्द से विषय का पृथक् निर्देश है, अत: सारोपा है। इस प्रकार यह ''रूढ़ि उपादानलक्षणा सारोपा गौणी'' है।

२.प्रयोजनवती उपादानलक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण-''ऐते राजकुमारा: गच्छन्ति''। यहां पर ''एतत्'' शब्द का पृथक् प्रयोग होने के कारण आरोप है। राजकुमार के उपादान के साथ-साथ अन्य कुमारों का राजकुमार के साथ आदरणीय होना इस लक्षणा का प्रयोजन है सादृश्य सम्बन्ध इसका प्रयोजन है, अत: ''गौणी'' है। इस प्रकार यह ''प्रयोजनवती उपादानलक्षणा सारोपा गौणी'' लक्षणा है।

३.रूढ़ि उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण-तैलानि हेमेन्ते सुखानि'' इति।

४. प्रोजनवती उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण-''राजकुमारा: गच्छन्ति'' इति (साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण के लि ''एतत्'' पद, जो विषय वाचक पृथकता की सूचना देता है, निकाल देना चाहिये)।

५.रूढ़ि लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण -''राजा गौडेन्द्र: कण्टकं शोधयति''-गौड देश का राजा क्षुद्र शत्रु का (कण्टकम् निर्वैर करता है। यहां पर ''कण्टक'' शब्द का अर्थ है कांटा। इसका गौडेन्द्र शब्द के अर्थ (राजा विशेष) के साथ सामानाधिकरण्य से सम्बन्ध अनुपपन्न है, अत: गौणी कण्टक शब्द सादश्य सम्बन्ध से कांटे की तरह दु:ख देने वाले क्षुद्र शत्रु का उपलक्षण है अत गौणी है। यहां मुख्य अर्थ का उपादान नहीं है, अत: लक्षणलक्षणा है। ''गौडेन्द्र'' शब्द से विषय का पृथक् निर्देश होने मे आरोप है कण्टक शब्द की क्षुद्र शत्रु मे प्रसिद्धि होने के कारण ''रूढ़ि'' है। परिणामत: ''रूढ़ि लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी'' लक्षणा है।

६.प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा सारोपा का उदाहरण-''गौर्वाहीक:'' वाहीक गौ है। यहां पर ''गौ'' शब्द सादृश्य सम्बन्ध से वाहीक को लक्षित करता है, अत: गौणी है। अपने मुख्य अर्थ का उपादान न करने से ''लक्षणलक्षणा'' है। वाहीक की अत्यन्त मूर्खता का ज्ञा कराना प्रयोजन है। अनिगीर्ण स्वरूप वाहीक के साथ गौर का तादात्म्य प्रतीत होता है, अत: आरोप है। इस प्रकार यहां ''प्रयोजनवत लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी लक्षणा है।

७. रूढ़ि लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण-''राजा कण्टकं शोधपति''। इस उदाहरण में विषयवाचक पद ''गोडेन्द्र'' के निकाल देने से ''साध्यवसाना'' का उदाहरण हो जाता है।

१.प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण-

''गौर्जल्पति''। यहां गौ शब्द मुख्य अभिधा शक्ति के द्वारा वाहीक शब्द के साथ अन्वय को न प्राप्त करता हुआ अज्ञत्वादि सादृश्य सम्बन्ध से वाहक के अर्थ को लक्षणा के द्वारा लक्षित करता है। वाहीक की अज्ञत्वादि का अतिशय द्योतन करना प्रयोजन है। अत: यहां ''प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा साध्वसाना गौणी'' है।

शुद्ध और गौणी लक्षणा में भेद-गौणी लक्षणा गुणों (साधारण धर्म) के योग से ''वाच्यलच्ययो: सादृश्यात्मक: सम्बन्ध: गौण:'')

''गौणी'' (गुणेभ्य आगता गौणी) कहलाती है। कहा भी है कि -''लक्ष्यमाणगुर्णैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता'' अर्थात् लक्ष्यमाण (जाड्यमान्द्य आदि) गुणों के(वाहीक मे रहने के रूप) योग से इस लक्षणा वृत्ति की गौणता हो जाती है अर्थात् ''गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी'' लक्षणा कहलाती है। कहने का आशय यह है कि जिन लक्षणाओं मे साधारण धर्मो के सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, वे ''गौणी'' कहलाती है और जिनमे उपचार (सादृश्य) का मिश्रण नहीं होता, वे 'शुद्धा' कहलाती है। उपचार का लक्षण इस प्रकार है-

''उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयो: शब्दयो सादृश्यातिशयमहिम्ना भेद प्रतीतिस्थगनमात्रम्'' अर्थात् अत्यन्त निराकांक्ष शब्दों के सादृश्यातिशय के कारण भेद ज्ञान का तिरोधान हो जाना ''उपचार'' कहलाता है। अर्थात् विभिन्न शब्दों के अन्दर सादृश्य की अतिशयता के भेद की प्रतीति का न होना ''उपचार'' है। और इस उपचार (भेद प्रतीति स्थगन) से जो लक्षणा होती है, वह ''शुद्धा लक्षणा'' कहलाती है। उपचार का मिश्रण और उपचार का अमिश्रण यही इन दोनों लक्षणाओं का भेदक धर्म है अर्थात् उपचार से मिश्रित को ''गौणी'' और उपचार से अमिश्रित को ''शुद्धा'' लक्षणा कहते है।

इस प्रकार यहां तक २६ प्रकार की लक्षणाओं का विवेचन किया गया है। इन सोलह प्रकार की लक्षणाओं मे से आठ रूढ़ि मूलक हैं और आठ प्रयोजन मूलक। इनमे से आठ प्रयोजन मूलक लक्षणाओ के पुन: प्रयोजन रूप व्यंग्य के गूढ और अगूढ दो प्रकार के होने के कारण प्रत्येक के दो भेद होकर सोलह भेद हो जाते हैं। कहा भी है-

व्यंग्यस्य गूढागुढत्वाद विधा स्यु: फलक्षणा:।। सा. द. २.१०

१. गूढव्यंग्य का उदाहरण

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता भवता प्रथिता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितास्व तत: शरदां शतम्।।

यहां पर वक्ता के तात्पर्यरूप लक्षणा का ज्ञान सूक्ष्म बुद्धि से ही किया जा सकता है, अत: गूढ है।

२. अगूढव्यंग्य का उदाहरण-

''उपदिशति हि कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि''-अर्थात् कामिनियों को यौवद का मद ही ललित अर्थात् हाव, भाव आदि का उपदेश कर देता है। यहां पर उपदेश देने का चेतन का काम है और वह एक मद, जो कि जड़ है उससे सम्पन्न नहीं हो सकता, अत: मुख्यार्थ का बाध हुआ, अत: ''उपदिशित'' से ''आविष्करोति'' यह अर्थ लक्षणा के द्वारा लक्षित होता है। और आविष्कार काअतिशय, जो यहां व्यंग्य प्रयोजन है वह, अभिधेयार्थ की तरह स्फुट प्रकाशित होता है। इस प्रकार अगूढ व्यंग्य अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण सभी के लिये संवेद्य होता है।

उपर्युक्त वर्णित प्रयोजनमूलक १६ भेद वाली लक्षणायें व्यञ्जनागम्य प्रयोजन (फल) के धर्मिगत और धर्मगत होने से प्रत्येक के पुन: दो भेद होकर बत्तीस प्रकार की हो जाती है।

तद्यथा-''धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा''। सा.द. २.११

१. धर्मी का उदाहरण-

''स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका घना
वाता: शीकरिण: पयोदसुहृदामानन्दकेका: कला:।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति, हहा हा देवि धीरा भव।।

इस उदाहरण मे राम के वक्ता होने के कारण ''सहे'' इस क्रिया पद के सन्निधान में ''राम:'' यह पद ''कटारहृदय'' [illegible] से विशिष्ट होकर अत्यन्त दु:ख सहिष्णु रूप धर्मी राम मे लक्षणों के द्वारा उन्हीं राम मे ही ''अत्यन्त दु:ख सहिष्णुरूप राम'' [illegible] लक्ष्यार्थ को लक्षित करता है।

(१) धर्म का उदाहरण-

''गङ्गायां घोष:'' यहां तट पर शीतत्व और पावनत्वरूप धर्म की अतिशयता का बोध कराना ही फल है।

इस प्रकार उपर्युक्त लक्षणायें चालीस (रूढि में आठ प्रकार की और प्रयोजन मे बत्तीस [illegible] की) प्रकार की हुई

ये चालीस प्रकार की लक्षणायें पुन: पदगत और वाक्यगत होकर अस्सी प्रकार की हो जाती हैं। इनमें से पदगत का उदाहरण ''गङ्गा में घोष:' और वाक्यगत का उदाहरण ''उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते'' है।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ कविराज ने लक्षणा के अस्सी भेद किये हैं।

गौणी सारोपा लक्षणा सादृश्य हेतुक होती है। इनके अन्दर उपमान और उपमेय के स्पष्ट होने के कारण यह लक्षणा ''रूपकालंकार'' का बीज है। यथा-''इन्दुर्मुखम'' । गौणी लक्षणा और रूपकालंकार में यह भेद है कि आरोप्यमाण का पहले निर्देश किया जाय तो ''गौणी लक्षणा'' होती है और यदि बाद में निर्देश किया जाये तो 'रूपकालंकार' होता है। (इसके विपरीत साध्यवसाना उपमानतिरोहितोपनमेया'' होती है, अत: ''अतिशयोक्ति अलंकार'' का बीज होती है। यथा-

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातमरम्परा केयम्॥

अभिधा और लक्षणा में भेद:-

शब्द की मुख्य शक्ति अभिधा है क्योंकि यह अभिधा केवल संकेतित अर्थ का ही ज्ञान कराती है और यह संकेत ईश्वर के द्वारा नियत किया गयाहै। कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि अभिधा मे संकेत द्वारा नियत नहीं है। अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है। इसके विपरीति लक्षणाशक्ति इस प्रकार की नहीं है । इसका तो शब्द का आरोप किया जाता है, जबकि अभिधा स्वयं में विद्यमान रहती है। आचार्य विश्वनाथ ने इसके तीन विशेषण दिये हैं अर्थात् यह लक्षण अर्पिता (अमुख्य) है, स्वाभाविकंतना (अस्वाभाविक) है और ईश्वरानुद्भाविता (ईश्वर द्वारा रचित न होकर मनुष्यों के द्वारा कल्पित) है। इसलिये यह शब्द की मुख्य शक्ति न होकर अमुख्य (गौण) शक्ति है।

लक्षणा शब्द की ''लक्षणलक्षणा'' इस भाव व्युत्पत्ति के द्वारा,''लक्ष्यते अनया इति'' इस करण प्रधान व्युत्पत्ति के द्वारा, दो प्रकार से व्याख्या करते हैं। भाव व्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ ज्ञान के उत्पादक व्यापार की प्रतीति होती है। मीमांसकादिकों ने और मम्मटभट्ट ने भी इस व्युत्पत्ति को ही स्वीकार किया है। शब्दार्थ बोध का ज्ञान कराने वाले तीन शास्त्र हैं- १.व्याकरण, २.न्याय और ३.पूर्वमीमांसा। इनमें से १. व्याकरण महाभाष्य के अन्दर ''पुंयोगाख्यायाम्'' ४/१/४१ सूत्र के भाष्य पर मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है कि वाक्यार्थ का ज्ञान चार प्रकार से हो सकता है- १.तात्स्थ्यात् २.ताद्धर्म्यात ३.तत्सामीप्यात् और ४.तत्साहचर्यात्।'' मञ्चा तिष्ठन्ति'' यहां तात्स्थ्य, ''सिंहों माणवक:'' यहां ताद्धर्म्य, ''गंगायां घोष'' यहां समीप्य और ''यष्टी: प्रवेश्य'' यहां साहचर्य सम्बन्ध से इन सभी लक्ष्यार्थ ज्ञान की प्रतीति होती है।

२.महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन के अन्दर लक्षणा का निर्देश इस प्रकार है-

'सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधनाधिपत्येभ्यो-ब्राह्मण-मञ्च-कटराज-सक्तु-चंदन-गंगा-शकटान्न-पुरुषज्ञातद्भाव: तदुपचार:' (१अध्याय, २ आह्निक, ६४ सूत्र)।

काव्यप्रकाशकार ने भी शब्दव्यापार पर विचार करते हुये''काव्यप्रकाश'' मे विस्तार से लक्षणा और उसके भेदोपभेद पर विवचन किया है। काव्यप्रकाशकार ने लक्षणों के छ: भेद किये हैं-''लक्षणा तेन षड्विधा'' इति।

भक्ति, उपचार व अमुख्यावृत्ति आदि शब्द लक्षणा के ही नामान्तर है।

३. व्यञ्जना-

शब्द तीन प्रकार के कहे गये हैं-वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक। इनमें से व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराने वाला शब्द व्यञ्जक होता है और इसी व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा बोध्य अर्थ व्यंग्य कहलाता है। इस व्यञ्जनावृत्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थी बोध्यते पर।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

अर्थात् अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीन वृत्तियों के(अभिद्यासु) अपने-अपने अर्थ का ज्ञान कराकर विरत हो जाने पर (विरतासु) जिस वृत्ति के द्वारा अन्य (वाक्ष्य, लक्ष्य और तात्पर्य से भिन्न) अर्थ (व्यंग्य) का ज्ञान कराया जाता है, वह शब्द में और अर्थदिक न रहने वाली शक्ति व्यञ्जना कहलाती है। आचार्य विश्वनाथ आदि कुछ आचार्य तात्पर्य नामक वृत्ति को भी स्वीकार करते हैं, अत: आचार्य विश्वनाथ ने व्यञ्जना के उक्त लक्षण में ''अभिधाद्यासु'' में बहुवचन का प्रयोग किया है। ''अर्थादिकस्य'' मे ''आदि'' पद से प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्गादि का ग्रहण होता है, अर्थात् शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ और उपसर्गादिनिष्ठ शक्ति व्यञ्जना कहलाती है। इसी व्यञ्जनावृत्ति को व्यञ्जन,ध्वनन, गमन और प्रत्यानन आदि नामों से भी कहा गया है। ''**मञ्जूषाकार**'' ने व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार किया है-

''मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयकोवक्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बबद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जनेति''॥

इस व्यंजना वृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को व्यंग्य कहते हैं यह व्यंग्यार्थ होता है। तथाहि-''गतोऽस्तमर्क:'' का सीधा या वाच्यार्थ है ''सूर्य छिप गया'' परन्तु प्रकरणादि के अनुसार वक्ता और श्रोता के अभिप्राय से विभिन्न अर्थ हो जाते है। जिस प्रकार इस वाक्य के अन्दर राजा की सेनापति के प्रति ''गतोऽस्तमर्क:'' का अर्थ होगा कि ''शत्रुओं पर आक्रमण का अवसर है'', दूती का अभिसारिका के प्रति कहे गये इसी वाक्य का अर्थ होगा कि अभिसरण की तैयारी करो'', सखी का वासकसज्ज के प्रति कहने पर ''तुम्हारा प्रिय आने वाला है'' ऐसा अर्थ होगा, काम करने वाले का अपने साथियों के प्रति कहे गये इसी वाक्य का अर्थ होगा कि ''कार्य करना बन्द कर दो'', एक भृत्य का किसी धार्मिक के प्रति रहने पर सायं विधि की तेयारी कीजिये''-ऐसा भाव होगा। इस प्रकार एक ही वक्ता के विभिन्न व्यक्तियों के प्रति कहे गये एक ही वाक्य की प्रकरणानुसार अनेक अर्थों की प्रतीति व्यञ्जना के बल से हो जाया करती है।

व्यञ्जना के भेद

व्यञ्जना के लक्षण मे आये हुए ''शब्दस्यार्थादिकस्य च'' से यह प्रतीत होता है कि व्यञ्जना शब्दमूला अर्थात् शाब्दी और अर्थमूला अर्थात् आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है। शाब्दी व्यञ्जना पुन: दो प्रकार की होती है-''अभिधामूला और लक्षणामूला''। जैसा कि आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पण २.१३) ने कहा है-''अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा'', इनमें से जो शब्द की अभिधा शक्ति पर आश्रित होती है, वह अभिधामूला व्यञ्जना और जो शब्द की लक्षणा शक्ति पर आश्रित होती है, वह लक्षणामूला व्यञ्जना होती है।

१. अभिधामूला व्यञ्जना का लक्षण-

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया॥ सा. द. २.१४

अर्थात् संयोगदि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ मे नियन्त्रित हो जाने पर अन्य अर्थ की प्रतीति की कारण जो व्यञ्जना होती है वह अभिधा शक्ति के आश्रित समझनी चाहिये अर्थात् अभिधामूलार व्यञ्जना कहलाती है। और इसके विपरीत जहां पर संयोगादि नहीं होते हैं वहां जितने अर्थो के विषय मे वक्ता का तात्पर्य होता है, उतने ही अर्थ समझने चाहिये।

उक्त लक्षण मे ''संयोगाद्य:'' में विद्यमान ''आद्य'' पद से विप्रयोग आदि का ग्रहण होता है, जो इस प्रकार है-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थ: प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि:॥
सामर्थ्यमौचिती देश: कालो व्यक्ति: स्वरादय:।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव:॥ वाक्यपदीप २.३१७-३१८

१. संयोग से नियन्त्रित अर्थ का उदाहरण- ''संशखचक्रो हरि:'' यहां पर ''हरि'' शब्द के अनेक अर्थ है, परन्तु शंख का सम्बन्ध केवल विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अत: शंख और चक्र के योग से हरि शब्द विष्णु का ही अभिधा से बोधन कराता है।

२. विप्रयोग का उदाहरण-''अशंखचक्रो हरि:''-यहां शंख और चक्र के राहित्य के हरि शब्द विष्णु को ही कहता है इन्द्रादि को नहीं।

३. साहचर्य का उदाहरण- 'भीमार्जुनौ इति''-यहां ''भीम'' शब्द के साहचर्य से अर्जुन शब्द पार्थ (पृथापुत्र धनञ्जय) का बोध कराता है। ककुभादि का नही।

४.विरोध का उदाहरण-''कर्णार्जुनौ'' इति-यहां पर कर्ण शब्द का अर्थ सूतपुत्र महावीर कर्ण है क्योंकि अर्जुन का उसके साथ सतत वैर था, कर्णेन्द्रिय को बताने वाला नहीं।

५.अर्थ का उदाहरण-''स्थाणुं वन्दे''इति। यहां ''स्थाणु'' शब्द शिव का बोधक है क्योंकि शिवजी कीस्तुति ही संसार के भावागमन को नष्ट करती है, शाखा-पल्लवादि से रहित शुष्क तरुकाण्ड नहीं, अन्यथा भवच्छेरूप प्रयोजन के न होने पर उसकी नियामकता नहीं होगी।

६.प्रकरण का उदाहरण-''सर्व जानाति देव'' इति। यहां पर ''देव:'' शब्द का ''आप'' पुरोवर्ती राजा का ही बोध होता है क्योंकि प्रकरण राजा ही प्रकृत है। किसी देवता विशेष का वाचक ''देव'' शब्द नहीं है।

७.लिङ्ग का उदाहरण-''कुपितो मकरध्वज:'' इति। यहां ''मकरध्वज'' पद कामदेव का ही ज्ञान कराता है, समुद्र का नहीं क्योंकि कोपरूप लिङ्ग किसी चेतन का धर्म हो सकता है, अचेतन का नहीं।

८. अन्य शब्दसन्निधि का उदाहरण-'देव पुरारि:''इति यहां ''देव'' शब्द के सान्निध्य से पुरारि शब्द शिव का ही अभिधान करता है किसी अन्य का नहीं।

९. सामर्थ्य का उदाहरण-''मधुना मत्त: पिक:'' इति। यहां पर ''मधु'' शब्द दैत्य, वसन्त मद्य आदि अनेक अर्थों का वाचक होने पर भी केवल वसन्त के अन्दर ही कोयल को मस्त करने की सामर्थ्य के कारण मधु शब्द वसन्त का ही अभिधान करता है मद्य विशेष का नहीं।

१०. औचिती का उदाहरण-''पातु वो दयितामुखम्'' इति। यहां पर 'मुख' शब्द औचित्य के कारण अनुकूलता (सामुख्य) का बोधक है, बदल आदि का नहीं, क्योंकि अनुकूलता ही प्रकृतोपयोगी है।

११.देश का उदाहरण- ''विभाति गगने चन्द्र'' इति। यहां पर ''चन्द्र'' शब्द का अर्थ चन्द्रमा है, कर्पूर आदि नहीं क्योंकि आकाश देश में चन्द्रमा ही रहता है, कर्पूरादि नहीं।

१२. काल का उदाहरण-''निशि चित्रभानु'' इति। ''चित्रभानु'' पद के बहि सूर्य आदि अनेक अर्थ होने पर भी प्रकृत मे चित्रभानु अग्नि का वाचक है, सूर्य का नहीं क्योंकि रात्रि में उसका दिखाई देना असम्भव है।

१३. व्यक्ति का उदाहरण --भाति रथाङ्गम्'' इति। यहां पर रथाङ्ग शब्द नपुंसकलिङ्ग होने के कारण चक्र का बोध कराता है चक्रवाक का नहीं। चक्रवाक के अर्थ में ''रथाङ्ग'' शब्द पुंल्लिङ्ग होता है।

१४. स्वर का उदाहरण- उदात्त, अनुदात्त, स्वरितरूप 'स्वर' वेद मे ही विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाले होते है, काव्य मे नहीं, अत: यहां स्वर का उदाहरण नहीं दिया है।

इस प्रकार अभिधा के द्वारा एक ही अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी शब्द के अन्य अर्थ के ज्ञान का कारण जो शक्ति है उसे ''अभिधामूला व्यञ्जना'' कहते हैं।

संयोग और सहचार्य में भेद-संयोग और साहचर्य के पारस्परिक भेद को पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर (द्वितीय आनन) में इस प्रकार स्पष्ट किया है-

''संयोगशब्दस्य सम्बन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्तप्रसिद्धं सम्बन्धसामान्यं शक्तिनियामकं तदाद्यस्य, यत्र तु द्वन्द्वादिगत: सम्बन्ध एव केवलस्तदा तत्साहचर्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयत् इत्थं च सगाण्डीवोऽर्जुन: इति संयोगस्य, गाण्डीवार्जुनाविति साहचर्यस्योदाहरणम्

यद्यपि संयोग और साहचर्य इन दोनों का ही अर्थ सम्बन्ध सामान्य है, तथापि इन दोनों मे अन्तर है। तद्यथा- जहां कोई भी सम्बन्ध शब्द द्वारा प्रतिपादित होकर शक्ति का नियामक होगा वहां संयोग ओर जहां द्वन्द्व आदि समास के द्वारा केवल सम्बन्धी कहा जाता है वहां साहचर्य समझना चाहिये। यही इन दोनों मे अन्तर है। इस प्रकार ''गाण्डीव सहित अर्जुन'' ऐसा कहने पर ''संयोग'' का तथा ''गाण्डीव और अर्जुन'' ऐसा कहने पर साहचर्य होगा।

२. लक्षणामूला व्यञ्जना का लक्षण-

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्यायते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया॥ सा.द. २.१५

जिस प्रयोजन के ज्ञान के लिये प्रयोजनवती लक्षणा को शब्दशक्तित्वेन स्वीकार किया जाता है, वह प्रयोजन जिस वृत्ति से बोधित किया जाता है, वह लक्षणामूलक व्यञ्जना होती है। तद्यथा- ''गङ्गयां घोष'' इत्यादिक स्थलों मे ''गङ्गयाम्'' का प्रवाह विशेषरूप मुख्य अर्थ का ज्ञान कराके अभिधा शक्ति के विरत हो जाने पर और तटादिरूप लक्ष्य अर्थ का ज्ञान कराके लक्षणा शक्ति के विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा घोष के अन्दर विद्यमान, शीतलता और पावनता के आधिक्यरूप प्रयोजन का ज्ञान होता है, वह लक्षणामूला व्यञ्जना होती है।

लक्षणामूलक व्यञ्जना के अन्दर उस प्रयोजन का प्रत्यायन कराया जाता है, जिसके कारण लाक्षणिक पद का प्रयोग किया जाता है।

वस्तुत: स्थिति यह है कि यदि वक्ता का ''गङ्गया घोष:'' कहने का इतना मात्र प्रयोजन है कि वह यह बताना चाहता है कि मेरा ग्राम गङ्गा के किनारे पर है, तब तो वह सीधा ''गङ्गतटे घोष:'' यह कह सकता था,''गङ्गयां घोष:'' कहने की क्या आवश्यकता थी? परन्तु वह चाहता यह है कि सुनने वाला यह भी अनुभ्व कर ले कि मेरा ग्राम केवल गंगा के किनारे ही नहीं है अपितु गंगा जल के अन्दर जो शीतलता और पावनता है वह मेरे घर मे भी है। बस, इसी शीतत्व और पावनत्वादि के आधिक्य की प्रतीति के लिये ही (यस्य कृते लक्षणा उपास्यते तत्तु प्रयोजनम्) उसने ''गङ्गतटै'' इस वाचक शब्द का प्रयोग न करके ''गङ्गायाम्'' इस लाक्षणिक पद का प्रयोग किया है। इस प्रकार लाक्षणिक पदों के प्रयोग में ''लक्षणामूला व्यञ्जना'' हुआ करती है। इस शैत्यपावनत्वादि के आधिक्यं की प्रतीति अभिधा होती भी हो सकती है। क्योंकि ''गङ्गायां घोष:'' के अन्दर ''गङ्गायाम्'' पद का मुख्य अर्थ ''गङ्गाप्रवाह में'' हैं लक्षणा के द्वारा भी इस शैत्यपावनात्वादि के आधिक्य की प्रतीति नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर लक्षणा का लक्षण नहीं घटित हो सकता है। लक्षणा के लिये मुख्यार्थबाध तद्योग और रूढिप्रोजनान्यतरत्व होना चाहिये। लक्षणा के द्वारा शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति के लिये ''गाङ्गायाम्'' का मुख्यार्थ ''गङ्गतटे'' होना चाहिये, जो कि सम्भव नहीं है। और येन केन प्रकरेण ''गङ्गायाम्'' का मुख्यार्थ ''गङ्गातटे-- मान भी लें तो फिर मुख्यार्थ का बोध नहीं होता है, जो लक्षणा का अनिवार्य अङ्ग है क्योंकि ''गंगा के किनारे'' पर तो ग्राम रह ही सकता है। तीर का शैत्यपावनत्वादि के साथ कोई प्रयोजन भी नहीं है। अत: शैत्यवावनत्वादि की प्रतीति के लिये व्यञ्जना होनी ही चाहिये और यह व्यञ्जना ''लक्षणामूला'' होती है।

३. आर्थी व्यञ्जना का लक्षणा-

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययो:।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च॥
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं च या बोधयेत्सार्थसम्भवा॥ सा. द. २.१६-१७

अर्थात् वक्ता, बोद्धव्य (जिससे बात कही जाये) वाक्य, अन्यर का सन्निधान, वाच्यार्थ, प्रस्ताव (प्रकरण) देश काल काकु तथा चेष्टा आदि की विशेषता के कारण जो शब्दशक्ति अन्य का बोधन करती हैं, वह आर्थी (अर्थमूलक) व्यञ्जना कहलाती है।

१. इनमें से वक्ता, वाक्य, प्रकरण और देश कांल आदि की विशेषता के कारण उत्पन्न व्यञ्जना का उदाहरण-

कालो मधु: कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहरा: समीरा:।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु-
दुरे पति: कथय किं करणीयमद्य॥

इस पद्य मे ''हे सखि, तू शीर्घ यहां प्रच्छन्न कामुक को भेज' यह बात व्यञ्जना के द्वारा सूचित होती है।

२. बोद्धव्य की विशेषता का उदाहरण-

नि:शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मुष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनु:।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

गद्य में ''न पुस्तस्याधमस्यान्तिम्'' इस अंश से विपरीत लक्षणा के द्वारा ''तदन्ति गतासि'' इस प्रकार का अर्थ लक्षित होता है और उसके पास 'रन्तुम्' यह प्रतिपाद्य व्यंग्य दूती के वैशिष्ट्य से ज्ञात होता है।

३. अन्य सन्निधि की विशेषता मे उदाहरण-

पश्य निश्चलनिष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बालाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिताशुङ्खशक्तिरिव।। इति संस्कृतम्।

इस उदाहरण मे बलाका के नि:स्पन्द एवं नि:शङ्क होकर बैठने के कारण विश्वस्तता एवं स्थान की विजनता सूचित होती है। अतः यह सकेंत स्थान है इस बात की व्यञ्जना की जा रही है। यहां स्थान के निर्जनत्व रूप व्यंग्यार्थ की विशेषता प्रयोजन है। अर्थात् यह स्थान सर्वथा विश्वनीय है, मनुष्यों के आवागमन से शून्य है, निर्जन है-यह व्यंग्यार्थ प्रयोजन है।

(४) काकु की विशेषता की उदाहरण-

गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यते गन्तुम।
अलिकुलकोकिललालिते नेष्यति सखि, सुरभीसमयेऽसौ।।

इस उदाहरण में नैष्यति-नहीं आयेगा क्या? अपितु ''एष्यत्येव'' -आयेगा ही, यह अर्थ काकु के द्वारा व्यक्त होता है। काकु का लक्षण है-

''भिन्नकण्ठध्वनिरै: काकुरित्यभिधीयते'' इति।

(५) चेष्टा वैशिष्ट्य का उदाहरण-

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्।।

यहां किसी कामिनी ने कोमल बन्द करने की चेष्टा से सायंकाल का समय संकेत का समय है, इस बात की सूचना दी है।

यह आर्थी व्यञ्जना वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-इन अर्थों के तीन प्रकार के होने से प्रत्येक तीन प्रकार की अर्थात् वाच्यव्यञ्जना लक्ष्यव्यञ्जना और व्यञ्जनव्यञ्जना होती है। इनमें से वाच्यार्थ व्यञ्जना का उदाहरण-"कालौ मधु" इत्यादि, लक्ष्यार्थ व्यञ्जना का उदाहरण-"नि:शेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि और व्यञ्जनव्यञ्जना का उदाहरण-"उणिच्चल" इत्यादि।

व्यञ्जना-स्थापना-

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद के अन्दर "तिस्त्र: शब्दस्य शक्तय:' कहकर शब्द की अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना-इन तीन शक्तियों का विस्तृत विवेचन किया है। पुन- पञ्चम परिच्छेद में "अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम वृत्ति:" इस शंका उठाकर व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना की है। इस व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता को बताने के लिये कहा है कि-

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्। सा० द० ५.१

अर्थात् अभिधा, तात्पर्य और लक्षण नामक तीन वृत्तियों के अपने-अपने अर्थ का बोध करके विरत हो जाने पर रस, रसाभास, भाव भावाभास, भावसन्धि, भावशलबता, वस्तु और अलंकारादिको की प्रतीति में चौथी व्यञ्जना नामक वृत्ति अवश्य स्वीकार करना चाहिये। इस व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना के प्रसङ्ग में आचार्य विश्वनाथ ने निम्न विचारधाराओं का खण्डन किया है।

(१) अभिधावृत्ति के द्वारा रसादि की प्रतीति नहीं हा सकती।

(२) अभिहितान्वयवादी मीमांसको द्वारा स्वीतकृत "तात्पर्य नामक वृत्ति" क्योंकि अपने अन्वय ज्ञान में क्षीण हो जाता है, अत: व्यंग्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती है।

(३) भट्टमतानुयायी भट्टलोल्लटादि "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापार:" के आधार पर अभिधावृत्ति से व्यंग्यार्थ का ज्ञान स्वीकार करते हैं, इसका खण्डन किया है।

(४) आचार्य धनिक तात्पर्य नामक वृत्ति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति स्वीतकार करते है। उनका कहना हैं कि-

"तात्पर्यव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनि:।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्य न तुलाधृतम्।।

आचार्य विश्वनाथ ने इस मत को भी स्वीकार नहीं किया है। इस यावत्कार्यप्रसारी तात्पर्यशक्ति'' का ''शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव:'' से खण्डन किया है।

(५) अभिधा और लक्षणा भी रस का बोध नहीं करा सकती हैं। क्योंकि

प्रागत्वाद्रवादेनों बोधिके लक्षणाभिधे।
किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा।। सा. द. ५.३

अर्थात् शब्द व्यापार से पहले रसादिकों की सत्ता नहीं होती है, अत: लक्षणा और अभिधा रस का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं। अभिधा और लक्षणा से उस वस्तु का ज्ञान होता है जो प्रतयक्षादि प्रमाणों से पहले से विद्यमान हो। गङ्गा और उसका तट पहले से ही विद्यमान है; ''गङ्गायां घोष:'' में गङ्गा पद अभिधा से प्रवाह को और लक्षण से तट को बोधित करता है। अविद्यमान वस्तु मे लक्षणा और अभिधा की गति नहीं होती। इसके अतिरिक्त रस के प्रतीति स्थल में मुख्यार्थ बाध भी नहीं होता है, अत: लक्षणा भी रसादि का ज्ञान नहीं करा सकती है। अत: अभिधा और लक्षणा से रसादि का बोध नहीं हो सकता है।

(६) श्री शङ्कुक के मत के अनुयायी व्यक्तिविवेककार श्री महिमभट्ट अनुमान (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान) से व्यञ्जना से प्रतिपाद्य व्यंग्य अर्थ की प्रतीती को अनुमान के अंतर्गत माना है और व्यञ्जना शक्ति का खण्डन किया है। आचार्य विश्वनाथ ने इस मत का भी खण्डन किया है। आचार्य विश्वनाथ कहते हैं -

नानुममानं रसादीनां व्यंग्याना बोधनक्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मशतिर्न च रसादिधी:।। सा. द. ५.४.

अर्थात् अनुमान (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान अथवा अनुमिति) से रसादि रूप व्यंग्यार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि अनुमान में सत् हेतु चाहिये और व्यंग्यार्थ को अनुमेय सिद्ध करने में जो हेतु दिये जाते हैं वे हेत्वाभास होते हैं। तथा रसादिकों का ज्ञान संस्कारजन्य ज्ञानविशेष स्मशति भी नहीं है क्योंकि स्मशति आस्वादस्वरूप नहीं है और आस्वाद से रहित है।

(७) भट्टीमांसक ''अर्थपत्ति'' नामक पांचवां प्रमाण स्वीकार करते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इस मत का भी कहकर खण्डन किया है कि ''एतेनार्थपत्ति वेद्यत्वमपि व्यंग्यानामपास्तम्'' अर्थात् हेत्वाभास अनुमान से व्यंग्यार्थ रसादिकों का अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवशत्ति होती है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ अर्थापत्ति गम्य नहीं है क्योंकि वहां व्याभिचार और सन्देह आदि दोषों के कारण व्याप्ति ग्रह नहीं हो सकता।

(८) रस का ज्ञान सूचन बुद्धि से भी नहीं हो सकता है क्योंकि सूचन बुद्धि भी लौकिक संकेत अपेक्षा करती है।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त मतों का खण्डन करके व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना की है।

(४) तात्पर्यवृत्ति-

आचार्य विश्वनाथ ने यद्यपि ''तिस्र: शब्दस्य शक्तय:'' कहकर अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना-इन तीन शक्तियों की मान्यता की ओर संकेत किया है, पुनरपि वे तात्पर्य नामक वृत्ति को भी स्वीकार करते हैं। इसकी ओर उनका सर्वप्रथम संकेत व्यञ्जना के लक्ष्ज्ञण में मिलता है। व्यञ्जना का लक्षण करते हुये वे कहते हैं कि -

''विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते पर:''।

यहां ''अभिधाद्यासु'' में बहुवचन का प्रयोग तात्पर्यवृत्ति को ध्यान में रखते हुये ही किया गया है। इसी प्रकार व्यञ्जना की स्थापना के प्रसंग में पञ्चम परिच्छेद के प्रारम्भ में ''अङ्गीफार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्'' से व्यञ्जना वृत्ति को अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्ति से भिन्न चौथी वृत्ति स्वीकारी किया है। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मटभट्ट ने ''तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'' २.६. कहकर तात्पर्य नामक वृत्ति से प्रतिपाद्य को स्वीकार करने में अपनी सममति प्रकट की है। आचार्य धनिक ने -

''तात्पर्यव्यतिरीकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनि:।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्य न तुलाधष्टतम्।।

कहकर तात्पर्यवृत्ति को माना है। इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने तात्पर्य नामक वृत्ति को स्वीकार करके ही उसके विषय में इस प्रकार कहा है-

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे॥ सा. द. २.२०.

अर्थात् श्री कुमारिलभट्ट प्रभृति मीमांसचाय पदों से पृथक्-पृथक् उपस्थित पदार्थों के कर्तृत्व, कर्मत्व, कर्मत्व आदि रूप परस्पर अन्वय केबोधन के लिए वाक्य में तात्पर्य नाम की शक्ति मानते हैं और तात्पर्यार्थ को उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ मानते हैं तथा वाक्य को तात्पर्य बोधक मानते हैं। कहने का आशय यह है कि अभिधा शक्ति के एक-एक पदार्थ को अलग- अलग बोधन करके विरत हो जाने पर उन बिखरे हुये पदार्थों को परस्पर सम्बद्ध करके वाक्यार्थ का स्वरूप देने वाली तात्पर्य नामक वृत्ति है। इस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ ही तात्पर्यार्थ कहलाता है और उसका बोधक वाक्य होता है। यह अभिहितान्वयवादियों का मत है।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद-

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

बौद्धस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥ सा. द. ५.२.

अर्थात् बोद्ध (ज्ञाता), स्वरूप (विधिरूप और निषेधरूप), संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल (पौर्वापर्य समय), आश्रय और विषय (प्रतिपाद्य अर्थ) आदि के भेद से व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) से भिन्न होता है। क्रमश: व्याख्या करते हैं-

(१) बोद्ध भेद के कारण वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद-वैय्याकरण केवल वाच्यार्थ को ही समझ सकते हैं, व्यंग्यार्थ को नहीं काव्यतत्व को सूक्ष्मरूप से जानने में समर्थ सहृदय वाच्य और व्यंग्य-दोनों ही अर्थों को समझ सकते हैं। अत: वाच्यार्थ को जानने वाले वैय्याकरण होते हैं और व्यंग्यार्थ को जानने वाले सहृदय ही होते हैं। अत: बोद्ध भेद स्पष्ट है।

(२) स्वरूप भेद के कारण वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद-यदि कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है तो कहीं व्यंग्यार्थ निषेधरूप होता और यदि वाच्यार्थ कहीं निषेधरूप होता है, तो वहीं पर व्यंग्यार्थ विधिरूप हो जाया करता है।

(३) संख्या भेदसे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद-''गतोऽस्तमर्क' इत्यादि में वाच्यार्थ एक ही प्रतीत होता है परन्तु व्यंग्यार्थ बाह्यादि के भेद से कहीं ''नायक के समीप करो'', कहीं ''गोओं का इकट्ठा करो, और कहीं ''यह नामक के आने का समय है'' और कहीं 'अब सन्ताप नहीं है'' इत्यादि रूप से अनेक प्रकार का होता है।

(४) निमित्त भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद-वाच्यार्थ शब्दों के उच्चारण मात्र से प्रतीत हो जाता है क्योंकि वाच्यार्थ ज्ञान में शब्द ही निमित्त होता है।

(५) कार्य भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद-वाच्यार्थ केवल ज्ञानमात्र को उत्पन्न करता है और व्यंग्यार्थ चमत्कार को उत्पन्न करता है।

(६) प्रतीति भेद से वाक्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद-वाक्यार्थ की प्रतीति सुख-चमत्कार से रहित होने से केवल शब्द-बोध को उत्पन्न करती है और व्यंग्यार्थ की प्रतीती सुख-चमत्कार और शब्द-बोध को उत्पन्न करती है।

(७) काल भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद-वाच्यार्थ की पहले प्रतीति होती है और बाद में पर्यालोचना से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

(८) आश्रय भेद के वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद-वाच्यार्थ केवल शब्द का आश्रय लेता है और व्यंग्यार्थ शब्द, शब्द के एक देश, प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्गादि, शब्द के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्यार्थ, वर्ण और वर्ण-रचना का आश्रय लेता है।

(९) विषय भेद से और व्यंग्यार्थ में भेद-वाच्यार्थ का विषय कोई और हुआ करता है, जबकि व्यंग्यार्थ का विषय कोई और होता है।

इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में महान् भेद है।

५. रस का सामान्य विवेचन-

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में काव्य की परिभाषा ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' की है। इस परिभाषा के अनुसार ''वाक्यम्'' का विशद निरूपण साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद में किया गया है। तृष्टतीय परिच्छेद का प्रारंभ रस के विवेचन के साथ हुआ है।

अथ कोऽयं रसः

यह रस क्या है? इसका उत्तर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने इस प्रकार दिया है:-

विभानेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥ सा. द. ३.१.

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभावों के द्वारा अभिव्यक्त हुये रति आदि स्थायी-भाव सहृदय सामाजिकों के हृदय सामाजिकों के हृदय में रसता को प्राप्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि अनुकार्य नायकादिकों के हृदय में रत्यादि स्थायीभाव विद्यमान रहते हैं, अतः रसानुभूति भी उन्हीं को होनी चाहिये थी परन्तु पुनरपि काव्यार्थ की भावना से रस की प्रतीति सहृदय सामाजिकों के हृदय में ही होती है, अनुकार्य नायकादिकों के हृदयों में नहीं। इन उपर्युक्त विभाव अनुभाव और सञ्चारीभावों में से विभाव की व्याख्या इस प्रकार की गई है- "विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः इति विभावाः" - अर्थत् इनको विभाव इसलिये कहा जाता है क्योकि इनसे सामाजिकों के हृदय में विद्यमान रति आदि भाव रसास्वाद की अभिव्यक्ति के योग्य बनाये जाते हैं। इस विभाव के दो भेद होते हैं-(१) आलम्बनविभाग और (२) उद्दीपनविभाव। इन दोनां विभावों में से आलम्बनविभाव श्री रामचन्द्र आदि नायक होते हैं क्योंकि उन्हीं का आश्रय लेकर रस की अभिव्यक्ति होती है। कहने का आशय यह है कि रामचन्द्र जी के लिए सीता जी आलम्बनविभाव हैं क्योंकि सीता का आश्रय लेकर राम के हृदय में रस का आविर्भाव होता हैं इसी प्रकार सीता जी के लिये रामचन्द्र जी आलम्बनविभाव है क्योंकि सीता जी के हृदय में राम को आश्रय मानकर ही रस का उद्रेक ही रहा है। अतः राम और सीता दोनों एक-दूसरे के लिए रस अभिव्यक्ति में आलम्बनविभाव हैं, अर्थात् राम के लिए सीता और सीता के लिये राम आलम्बनविभाव है। इस प्रकार आलम्बनविभाव का लक्षण हुआ-"रसप्रवष्ठतिभूतरत्याद्याश्रयत्वमालम्बनविभावत्वम्" इति।। उद्दीपनविभाव का लक्षण इस प्रकार किया है:-

उद्दीपनविभाते सरमुद्दीपयन्ति ये॥ सा. द. ३.१३१.

अर्थात् जो रस को उद्दीपित अर्थात् अतिशय पुष्टि को ले जाते हैं।, वे "उद्दीपनविभाव" कहलाते हैं और ये उद्दीपनविभाव आलम्बन नायक, नायिका और प्रतिनायक प्रभति की चेष्टायें तथ देश-काल आदि होते हैं।

अनुभाव का लक्षण-

उद्बुद्धं करणैः स्वैःस्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके य कर्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥ सा. द. ३.१३२.

अर्थात् अपने-अपने करणों से उद्बुद्ध स्थयीभाव को बाहर प्रकाशित करने वाला लोक में जो कार्य कहा जाता है वह काव्य और नाट्य के अन्दर पुनः, "अनुभाव" नाम से कहा जाता है। इन अनुभाव की शब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार है:-"रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति अनुभवविषयीकुर्वन्तीति अनुभावाः"। इस प्रकार स्त्रियों के अङ्गज तथा स्वभावज अलङ्कार एवं सात्विकभाव और रत्यादि से उत्पन्न अन्य चेष्टायें अनुभाव कहलाती है।

सञ्चारीभाव का लक्षण-

सञ्चारीभाव ही व्यभिचारीभाव के नाम से कहे जाते हैं। इस व्यभिचारीभाव का लक्षण इस प्रकार किया गया है-

विशेषादाभिख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥ सा. द. ३.२४०

अर्थात् विभाव और अनुभाव की अपेक्षा की अपेक्षा विशेषरूप से आस्वाद की अभिव्यक्ति में अनुकूल होने के कारण रत आदि में रसरूप से उत्पन्न होते हुये इत्यादि स्थायीभाव में आविर्भूत और तिरोभूत होने वाले धर्म व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं। ये व्यभिचारी भाव संख्या में कम से कम तैंतीस माने गये हैं।

स्थायीभाव का लक्षण-

अविरुद्धा विरुद्धा वायं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥ सा. द. ३.१७४

अर्थात् अविरुद्ध अथवा भाव जिस भाव को छिपाने से असमर्थ होते हैं तथा जो आस्वादरूप रस के अङ्कुर का मूलभूत है, वपह भाव "स्थायीभाव" कहलाता है। इन स्थायीभावों के विषय में नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि -

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावनां भावः स्थायी महानिह॥

कहने का सार यह है कि जिस प्रकार समान लक्षण वाले और समान अंग -प्रत्यङ्ग वाले होते हुये भी कुछ पुरुष कुल, शील कि कर्म और शिल्प में विलक्षणता से युक्त हुये राजत्व को प्राप्त करते हैं और कुछ उन्हीं में से मन्दबुद्धि वाले होते हुये अनुचर स्थान को उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव का आश्रय लेते हैं। इनमें से गूढाश्रय वाले मुख्यरूपेण स्थायीरूप से स्थायीरूप से स्थामीभाव होते हैं और अन्य भाव गौण होते हैं तथा व्यभिचारीभाव परिजनरूप से होते हैं। ये स्थायीभाव संख्या में साहित्यदर्पणकार की सम्मति में दस हैं। तद्यथा-

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयंतथा।
जतुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च॥ सा. द. ३.१७५

अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय-ये और शम भी स्थायीभाव होता है। इस प्रकार यहां पर स्थायीभावों का परिगणन किया गया है। वस्तुतः साहित्यदर्पण आठ ही स्थायीभावोंको मानते हैं और इसी को ध्वनित करने के लिये उन्होंने "आष्टो प्रोक्ताः" ऐसा कारिका में कहा भी है और बाद में "शमोऽपिच" कहकर शम को भी स्थायीभाव के रूप में स्वीकार कर लिया है। यहां 'अपि च' से वत्सलता का भी ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि आगे चलकर कहा गया है कि -

अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः-

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥ सा. द. ३.२५१

इस प्रकार भरतमुनि सम्मत शम और वत्सलता को स्थायीभावेन साहित्यदर्पणकार ने स्वीकार किया है। परिणामतः यहां साहित्यदर्पण में दस स्थायीभाव माने गये हैं।

इस प्रकार काव्यादि के सुनने अथवा नाटकादि के देखने से आलम्बन-उद्दीपन विभावों, भ्रू विक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों और निर्वेद ग्लानि आदि ३३ सञ्चारीभावों के द्वारा अभिव्यक्ति होकर सहृदय सामाजिकों के हृदय में स्थित वासनास्वरूप रति, हास, शोकादि क्रमशः शृङ्गार, हास्य और करुण आदि रसो के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

यद्यपि "**विभावा अनुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिणः**" इत्यादि प्राचीन कारिकाओं के अन्दर सात्विकभावों का भी रसाभिव्यक्ति में कारण माना गया है, तथापि, साहित्यदर्पणकार ने "सात्विकाश्चानुभावरूपत्वान्न पृष्ठथगुक्ताः" अर्थात् सात्विकभावों का अन्तर्भाव अनुभावों के अन्दर हो जाता है, अतः उनका यहां पर पृष्ठथक् निर्देश नहीं किया गया है, ऐसा कहकर सात्विकभावों का रसाभिव्यक्ति में अलग से कारण नहीं माना है।

परिणामवादियों के मतानुसार जिस प्रकार दूध, अम्ल आदि खट्टे पदार्थों के योग से दूसरे रूप में परिणत हुआ "दही" कहलाता है अथवा जिस प्रकार आमिक्षा, कर्पूर और मरिचआदि के संयोग से दूसरे रूप में परिणत होकर "प्रपाणक" कहलाता है, इसी प्रकार रति आदि स्थायीभाव काव्य में वर्णित विभावादिकों के योग से दूसरे रूप में परिणत हुये चिदानन्दस्वरूप रस को प्राप्त होते हैं। ये रति आदि स्थायीभाव को सामाजिकों के हृदय में वासनारूप में विद्यमान मानते हैं, उनके मतानुसार रस अभिव्यक्ति न होकर ज्ञान का विषय हुआ करता है।

जिस प्रकार दीपक हपले विद्यमान घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है, उस प्रकार विभादि रस को अभिव्यक्त नहीं करते हैं। परिणामतः घटादि पदार्थों के समान रस की विभावादिकों से पूर्व सत्ता नहीं है। यही बात ध्वन्यालोक के टीकाकार श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने भी कही है -

"रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद्व्यवहारः"" इति॥

अर्थात् "**रसाः प्रतीयन्ते**" रस प्रतीति होते हैं यह व्यवहार तो "ओदनं पचति७भात पकाते हैं-के समान किया जाता है। कहने का आशय यह है कि व्यवहार में भात को तो पकाते नहीं है, पकाते तो चावलों को हैं, पक जाने के बाद ही उन चावलों को भात संज्ञा होती है, परन्तु पुनरपि "भात पकाते है" ऐसा व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार "रसाः प्रतीयन्ते" रस प्रतीत होते हैं, यह व्यवहार किया जाता है। इसलिये जिस प्रकार पाक के संबंध से चावल भातत्वेन व्यवहार किये जाते हैं उसी प्रकार प्रतीति के संबंध से ही

रसरूप को प्राप्त समाजिकों की वासना 'रसत्वेन' व्यवहृत होती है। जिस प्रकार पकने से पूर्व चावलों की भात संज्ञा नहीं होती है, उसी प्रकार रति आदि की प्रतीति से पूर्व रस संज्ञा नहीं होती है।

इस रस में घटादि की अपेक्षा इतनी और विशेषता है कि यह रस प्रतीति काल में ही रहता है, न प्रतीति से पूर्व और न प्रतीति के पश्चात्, जबकि इसके विपरीत घट प्रतीति से पूर्व भी रहता है और प्रतीति के पश्चात् भी रहता है।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों से अभिव्यक्त सहृदय सामाजिकों के हृदय में अवस्थित रति स्थाीभाव ही रस कहलाता है। परिणामत: स्थायीभाव और रस में तात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं समझना चाहिये क्योंकि एक विशिष्ट प्रक्रिया के माध्यम से वही स्थायीभाव रस नाम से कह दिया जाता है। जिस प्रकार तात्विक दृष्टि से यद्यपि गन्ना और चीनी में कोई भेद नहीं है परन्तु पुनरपि एक विशिष्ट प्रक्रिया के पश्चात् ही गन्ना चीनी नाम से कहा जाता है उससे पूर्व नहीं। जो भेद गन्ना और चीनी में है, वही भेद स्थायीभाव और रस में समझना चाहिये।

(१०) नाट्यशास्त्र प्रणेता भरतमुनिके रससूत्र की व्याख्या-

आचार्य भरत मुनि का, जो रस सिद्धान्त के मूलप्रवर्तक हैं, रसमुत्र इस प्रकार है- ''विभावानुभावव्यविभचारिसंयोगाद्रनिष्पत्ति:'' अर्थात् विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन), अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस रससूत्र में ''संयोग'' और 'निष्पत्ति' से भरतमुनि का क्या तात्पर्य है, यह ठीक-ठीक निश्चितरूपेण ज्ञात नहीं होता। अत: इस मूल सूत्र की अपनी-अपनी प्रतिभा के उन्मेष से व्याख्या करने वाले विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। उनमें से प्रमुख चार आचार्यों-भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कक, भट्टनारायण और अभिनवगुप्त-ने क्रमश: मीमांसा, न्याय, सांख्य और अलंकारशास्त्र को आधार मानकर व्यख्या की है। इसमें से मीमांसक भट्टलोल्लट के मत से भरतमुनि के रक्त सूत्र की निम्न व्याख्या है-

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद-

''स्थायिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद् व्यभिचारिणा पोष्यपोषकभावारूपात् संभन्धात् रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरभिव्यक्ति: पुरष्टिश्चेत्यर्थ:। तथाहि-ललनादिभिरालम्बनविभावै: स्थायी रत्यादिको जनति:, उद्यानादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीपित:, कटाक्षभुजक्षेपादिभिरनुभावे: प्रतीतियोग्य: वष्ठत:, व्यभिचारिभिरुत्कण्ठादिभि: परिपोषितो मुख्यया वष्टत्या रामादावनुकार्ये तदूपतानुसंधानान्तर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस:'' इति भट्टलोल्लटप्रभष्ठतय:।

इस के अनुसार ''संयोगात्'' का अर्थ **''सम्बन्धात्''** और ''निष्पत्ति'' का अर्थ ''उत्पत्ति:, अभिव्यक्ति और पुष्टि:'' है। इस मत के अनुसार 'रस' न तो नट में रहता है और न सहृदय सामाजिकों के अन्दर रहता है अपितु अनुकार्य नायक रामादि के अन्दर रहता है। नट की अभिनेय कुशलता के कारण तथा रूप की समानता के कारण उसमें भ्झी रस की प्रतीती का आरोप कर लिया जाता है और इस आरोप से ही सामाजिक चमत्वष्ठत होकर आनन्दित होकर होता है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है, अत: रस और विभाव में उत्पाद्य और उत्पादकभाव संबंध होता है। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीति गम्य होता है, अत: रस और अनुभाव का गम्यगमकभाव संबंध होता है। भट्टलोल्लट का यह मत मीमांसाशास्त्र के अनुसार है क्योंकि वे स्वयं ही मीमांसक है।

(२) श्री शङ्कुक का अनुमितिवाद-

नैय्यायिक श्री शङ्कुक भरतसुत्र की अन्यथाप्रकारेण व्याख्या करते हैं। तद्यया-**''स्थायिनो विभावादिभिरनुमाप्यानुमापकभवरूपसम्बधाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्यर्थ:''।**

श्री शङ्कुक नैय्यायिक हैं, अत: उन्होंने भरतसूत्र के ''संयोगात्'' शब्द का अर्थ ''अनुमानात्'' एवं ''निष्पत्ति'' का अर्थ ''अनुमिति:'' किया है। इस मत के अनुसार अनुकरण के बल पर चित्रतुरगन्याय से नट में रस का अनुमान कर लिया जाता है तथा अनुमानकर्ता दर्शक को भी उससे आनन्द मिलता है। इस अनुमान का नाम ही रस है। इस मत में विभाव अनुमापक और रस अनुमाप्य हैं। ये ही क्रमश: गम्य और गमक हैं। रामादि के विभावादिकों का नट अपनी शिक्षा और कार्यपटुता से इस प्रकार अभिनय करता है कि वे विभावादि नट के ही मालूम पड़ते हैं। इस प्रकार अनुकर्ता नट में रस होता है। सामाजिक केवल उस रस का अनुमान कर लेते हैं।

(३) भट्टनायक का भूक्तिवाद-

सांख्यमतालम्बी भट्टनायक के भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। उनका कहना है कि-**''विभावादिभि:संयोगात् भोग्यभोजाावसम्बधात् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिरिति सूत्रार्थ:''।**

इस मत के अन्दर शब्द के अभिधा व्यापार की तरह काव्य और नाट्य के अन्दर अभिधा से विलक्षण भावकत्व और भोजकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि रूप सीतादि और रामादि संबन्धिनी रति में से सीता और राम से संबंधित अंश को छोड़कर सामान्य रूप से कामिनीत्वेन और रतित्वेन उपस्थापित किये जाते हैं। अंतिम भोजकत्व व्यापार के द्वारा उक्त रीति से सारधारणीकृत विभावादि के साथ उस रति का सहृदय सामाजिकों के द्वारा आस्वादन किया जाता है। इस प्रकार रति का आस्वाद ही रसनिष्पत्ति है

भट्टनायक ने ''संयोगात्'' का अर्थ ''भोज्यभोजकभावसम्बन्धात्'' और ''निष्पत्ति:'' का अर्थ ''भुक्ति:'' किया है इन्होंने रस निष्पत्ति के लिए काव्य की तीन क्रियाओं को स्वीकार किया है-अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। ये रस को न तो भट्टलोल्लट के समान उत्पन्न मानते हैं, न शङ्कुक के समान उसकी अनुमिती स्वीकार करते हैं और उन उसकी अभिनवगुप्त के समान अभिव्यक्त मानते हैं, अपितु इन तीनों से विलक्षण रस की भुक्ति को स्वीकार करते हैं। इस मत में अभिधा के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति, भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण और भोजकत्व के द्वारा भोग को माना गया है। इन्होंने प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है।

(४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद-

आलंकारिक अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या इस प्रकार से की है:-**''स्थायिनां विभावादिभि: समं व्यंग्यव्यञ्जकभावरूपात् सम्बन्धात् विभावादीनां वा परस्परं संयोगान्मिलनाद्रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्ति:''।**

इस मत के अनुसार ''संयोगात्'' का अर्थ **''व्यंग्यव्यञ्जकभावरूपात् संबधात्''** तथा **''निष्पत्ति''** का अर्थ ''अभिव्यक्ति:'' है। इसमें रसाभिव्यक्ति का क्रम इस प्रकार समझना चाहिये। सर्वप्रथम काव्य के पदों में उन-उन अर्थों की प्रतीति होती है, उसके पश्चात् उपस्थित विभावादि के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है, उसके बाद गुण, अलंकार और अभिनयादि के द्वारा रत्यादि वासना से युक्त सहृदय सामाजिक का उन-उन विभादियों के साथ साधारणीकरण हो जाता है और उस साधरणीकरण के द्वारा विभादि से युक्त रत्यादि से अवच्छिन्न अज्ञानावरण के हट जाने के कारण अखण्ड, चिदानन्दस्वयप रस की प्रतीति सहृदय सामाजिक को होती है।

इस मत में विभावादि रस के व्यञ्जक हैं और रस व्यंग्य है। अत: विभाव आदि के द्वारा स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है। रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के अन्त:करण में वासना या संस्कार रूप से अव्यक्त दशा में वर्तमान रहते हैं। अभिनवगुप्त ने रस की अवस्थिति सामाजिकों में मानी है।

(५) दशरूपककार धनञ्जय ने रसनिष्पत्ति इस प्रकार मानी है :-

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि:।
आनीयमान: स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रस: स्मृत:।। दशरूपक ४।१

इनके मत के अनुसार रस सामाजिकों को ही प्राप्त होता है क्योंकि वह वर्तमान है। वह रस अनुकार्यों (नायकादि) में नहीं रहता है क्योंकि वे वर्तमान नहीं रहते हैं और न वह वक्तृति में रहता है क्योंकि उसका वह उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य तो विभावादिकों को सामने लाना है, जिनके द्वारा स्थायीभाव प्रकाश में आता है। न रस द्रष्टा द्वारा अनुकर्ताओं के अनुभव की प्रतीति है। वस्तुत: दर्शक की अवस्था उस बालक के समान होती है जो मिट्टी के हाथी से खेलता हुआ अपने ही उत्साह का आनन्द लेता है। इसी बालक के समान अर्जुन का वर्णन पढ़कर अथवा अभिनय देखकर पाठक या दर्शक अपने ही हृदयस्थ भावों का आनन्दास्वादन करते हैं। यथा -

क्रीडता मृष्ण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभि:।
स्वोत्साह स्वदते तद्वत् श्रोतृणामर्जुनादिभि:।। दशरूपक ४/४४.

धनञ्जय ने नट तथा प्रेक्षक दोनों में ही रस की अवस्थिति मानी है।

संक्षेप में, स्थायीभाव जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावो के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रसरूप से उसका आस्वादन हेता है। स्थायीभाव के अनुभव और उसके रसास्वादन में भेद है। अनुभव में भाव की सुख दु:ख पूर्ण प्रवृत्ति के अनुसार अनुभवकर्त्ता को भी सुख-दु:ख होता है परन्तु उसका आस्वादन इदनसे रहित होता है। रस की अवस्थिति न नायक में मानी जा सकती है और न अ में क्योंकि रस तो वर्तमान वस्तु है और नायक भूतकाल में था, वर्तमान में नहीं है। नट का कार्य नायक आदि के कार्यों का अभिनय के द्वारा अनुकरणमात्र करना है। वह तो केवल विभाव आदि को प्रेक्षक के समक्ष प्रदर्शित भर कर देता है। रस की अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक में होती है और प्रेक्षक में भी केवल स्थायीमात्र आदि के ज्ञान मात्र से रस की उत्पत्ति नहीं होती है।

(११) रसस्वरूप और उसका आस्वादनप्रकारः-

सत्वोद्रेकाखण्डवप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ सा० द० ३-२

उपर्युक्त कारिकाओं के अन्दर विद्यमान अखण्ब्स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः, वेद्यान्तरपर्शशून्यः, ब्रह्मावादसहोदरः तथा लोकोत्तचरमत्कारणप्राणः"-इन पदों से रस का स्वरूप बताया गया है। "स्वाकारवदभिन्नत्वेन" इस पद से रस के आस्वादनका प्रकार बताया गया है और "कैश्चित्प्रमातृभिः"-पद से रसास्वाद के अधिकारियों का निर्देश किया गया है। सम्प्रति इनका क्रमशः वर्णन किया जा रहा है-

(क) रस का स्वरूप-

"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते"-इस प्राचीन आचार्यों की उक्ति के अनुसार रजोगण और तमोगण इन दोनों के सम्पर्क से असंस्पृष्ट अन्तःकरण स रस निरूपण के प्रसङ्ग में सत्व कहलाता है। इस प्रकार रजोगुण और तमोगुण के बीजभजत मानवधर्मों को तिरस्कृत करके सत्त्वगुण वे अद्रेक से अखण्ड अर्थात् पूर्ण अर्थात् विभाव आदि तथा रति आदि का प्रकाश एवं सुख और चमत्कार-इन सबसे अभिन्न एतदात्मस्वरूप, स्वयं प्रकाशस्वरूप अर्थात् इसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं है, अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान के अनन्तर अपना ज्ञान घटादि को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार रस स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित करता है, आनन्दमय और चिन्मय अर्थात् चमत्कारमय, रसास्वाद के समय अन्य श्रेय विषय के सम्पर्क से शून्य अर्थात् जिस समय रसानुभूति हो रही होती है उस समय किसी अन्य ज्ञेय विषय का ज्ञान नहीं होता है, अत एव ब्रह्मास्वादसहोदर अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार के समान (परमात्मका के ज्ञान के समय केवल ब्रह्मसूत्र की अनुभूति होती है किन्तुरस की अनुभूति के समय में विभावादिकों की भी अनुभूति होती है। इसलिये इस रस को बह्मानन्दसहोदर कहा है, बह्मानन्द नहीं), अलौकिक चमत्कार है प्राण जिसका ऐसा रस कहलाता है।

(ख) रसास्वादअ प्रकार-

यह रस "स्वाकारवदभिन्नत्वेन"-अपने शरीर की तरह तादात्म्यरूप से आस्वादन किया जाता है। जिस प्रकार आत्मा से भिन्न भी शरीर के विषय में **"मैं स्थूल हंग, मैं कृश हूं"**-इस प्रकार के उल्लेख से अभेद की प्रतीति होती है उसी प्रकार रस भी नायकादिनिष्ठ होने के कारण "मैं सीताविषयक रति वाला हूं" इस प्रकार आत्मनिष्ठ होने के कारण ज्ञाता और ज्ञान के अभेदरूप में आस्वाद किया जाता है। घटादि का ज्ञान होने पर **"मैं घड़े को जानता हूं"** इस प्रकार जैसा ज्ञाता और ज्ञान का भेद प्रतीत होता है, वैसा भेद रसानुभूति के अन्दर नहीं होता है।

यद्यपि **"स्वादः कायार्थसंभेदादात्मान दसमुद्भवः"**-अर्थात् काव्यार्थ के परिशीलन के अथवा काव्य के विभावादिकों के मेल से उत्पन्न होने वाले आनन्द होने वाले आनन्द का अनुभव ही आस्वाद कहलाता है-इस कथन के अनुसार रस और आस्वाद में कोई भिन्नता नहीं है, रस आस्वादरूप है तथापि "रसः स्वाद्यते"=रस आस्वादित होता है, इत्यादिक प्रयोग कल्पित भेद मानकर किये हुये समझने चाहिये। जिस प्रकार 'राहोः शिर' इसके अन्दर अभेद होने पर भी औपचारिकरूप से भेद को स्वीकार करके ही वैसा प्रया किया जाता है। उसकी प्रकार रस और आस्वाद के अन्दर कर्म और क्रिया के यप में उल्लेख करना बिना भेद के सम्भव नहीं है अतः अभेद होने पर भी काल्पतिा भेद को स्वीकार करके ही इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है। परिणमतः रस आस्वादरूप ही हैं उससे भिन्न नहीं, ऐसा समझना चाहिए। अथवा इन्हें कर्मकर्ता का प्रयोग समझना चाहिये अर्थात् "रसः स्वयमेव आस्वाद्यते"="स्वाभिन्नास्वादविषयः इति भावः"। जिस प्रकार "भिद्यते काष्ठः स्वयमेव"-यहां परर एक ही काष्ठ के अन्दर कर्मत्व और कर्तृतव दोनों कहने की इच्छा से अभेद के आरोप की तरह "रस स्वाद्यते" यहां पर भी आस्वाद्य और आस्वादन के अन्दर अभेद होने पर भी भेद की विवक्षा के कारण कर्मकर्ता का प्रयोग समझना चाहिये। कहा भी है कि-

"रस्यमानतामात्रसारत्वाप्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः" इति।

अर्थात् रस में रस्यमानता ही साररूप होती है, अतः रस प्रकाशशरीर (ज्ञानरूप) से भिन्न नहीं है। अर्थात् ज्ञानरूप को प्राप्त रत्यादि ही सहृदय सामाजिकों के आनन्दरूप चमत्कार को उत्पन्न करने के कारण "रस" कहाता है।

यहां पर आशंका उत्पन्न होती है कि-**"स्वाद काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः" इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वम्** तथा

"प्रकाशशरीरादनन्य एव रसः"-इन सब कारणें से रस अज्ञेय अर्थात् ज्ञेय का-ज्ञान का अविषय सिद्ध होता है, क्योंकि ज्ञान का विषयभूत घटादिकों से सदा भिन्न होता है, अतः आस्वादरूप अथवा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप रसभी आस्वाद और प्रकाश का विषय नहीं हो सकता? इसी प्रकार यह रस व्यञ्जनाजन्य व्यंग्य भी नहीं हो सकता है क्योंकि व्यञ्जना शक्ति से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी ज्ञान विशेष होती है और रस भी ज्ञान विशेष होता है। इस प्रकार व्यञ्जना और रस दोनों के ज्ञानविशेष होने के कारण यह कैसे एक ही सिद्ध हो जाते हैं? पुनः रस की व्यंग्यता कैसे सिद्ध होगी? इस शंका का समाधान करते हैं कि-बात यह है कि हेतु दो प्रकार के होते हैं-(१) कारक हेतु और (२ ज्ञापक अर्थात् व्यञ्जक हेतु। इसमें से कारक हेतु वह कहलाता है जो पहले से अविद्यमान वस्तु को प्रकाशित करता है; यथा-चक्र, चीवर, दण्ड, कुलाल और कपालादि। ये सब मिलने से अविद्यमान न घट को उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत ज्ञापक हेतु वह कहलाता है जो सिद्ध अर्थ के होने पर अपने ज्ञान के द्वारा पीले से विद्यमान हों तो दीपक अपने ज्ञान के द्वारा उनका प्रकाश देता है। यदि यह ज्ञापक हेतु असिद्ध अर्थ को प्रकाशित करने लगेगा तब तो उस ज्ञापक हेतु में और कारक हेतु में कोई भेद ही नहीं होगम। इस प्रकार घट और दीपक की तरह व्यंग्य और व्यंञ्जक भिन्न ही सिद्ध होते है, अभिन नहीं। अतः रस व्यञ्जना शक्ति से व्यंग्य हो सकता है। और फिर यह स्वादनाख्य व्यापार कारक और ज्ञापक हेतुओं से विलक्षण अनिर्वचनीय ही होता है। यही कहा है-

"विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद् व्यापारः" इति।

अत एव इस विषय में रसन, आस्वादन और चमत्करण आदि शब्दों का व्यवहार भी विलक्षण होता है। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार संयुक्तसमवाय से सुखादि का साक्षात्कार होता है उसी प्रकार "आस्वादनाख्य" व्यापार से सामाजिकों के हृदय में विद्यमान वासना का साक्षात्कार होत है। जिस प्रकार "भूतलं रजतवत्" एतद्विषयक ज्ञान शुक्ति के सम्बन्ध में लौकिक है और रजत के अंश में अलौकिक है, उसी प्रकार रस का साक्षात्कार भी वासना के अंश में लौकिक है और रत्यादि के अंश में अलौकिक है इस प्रकार रस या आस्वाद को व्यञ्जना का स्वरूपविशेष अथवा उदससे विलक्षण मानने में कोई क्षति नहीं है।

इस प्रकार रसास्वाद के अलौकिक अथवा विलक्षण होने के कारण ही, करुणादि रस दुःखमय न होकर सुखमय हो जाते हैं और यही कारण है कि करुणरस प्रधान काव्यों को सुनने तथा नाटकादिकों को देखने में सभी सामाजिकों की अधिक और अधिक प्रवृत्ति होती है।

इस रसास्वाद का वर्णन आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अभिनवगुप्त के मत के वर्णन के क्रम में इस प्रकार किया है-

"पुर इव परिस्फुरन हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचत्मकारी शृङ्गारादिको रसः।"

(ग) रसास्वा के अधिकारीः-

उपर्युक्त कारिका में "कैश्चित्प्रमातृभिः" कहकर रस के अस्वाद के अधिकारियों का निर्देश किया गया है। "कैश्चित्" पद का प्रयोग स्वयं साहित्यदर्पणकार ने की है। वे लिखते हैं कि "कैश्चिदिति प्राक्तपुण्यशालिभिः"। कहने का आशय यह है कि कुछ पूर्वजन्म के पुण्यशाली मनुष्यों के द्वारा इस अलौकिक काव्य रस का आस्वादन किया जाता है। "पूर्वजन्म के पुण्यशाली" इसलिये कहा गया है कि क्योंकि इस वर्तमान जीवन के पुण्य का इस शरीर के द्वारा अनुभव करना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि कारण के अभाव के कारण कार्य का अभाव होता है-इस नियम के अनुसार जब पूर्वजन्म के पुण्यों का अभाव है तो इस वर्तमान जीवन के अन्दर रस के कार्यभूत सुखस्वरूप रस के आस्वाद की अनुभूति कैसे हो सकती है? इसीलिये कहा है:-

"पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगविद्रससन्ततिम्" इति।

अर्थात् पूर्वजन्म के पुण्यों के कारण पुण्यशाली मनुष्य योगियों के समान शृङ्गारादि रस की अविच्छिन्न धारा का (योगियों के लक्ष्य ब्रह्मज्ञानरूप अमृतधारा को (क्योंकि श्रुति में परमेश्वर को "रसो वै सः" कहा गया है) अनुभव करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार योगी पुरुष शुद्ध, स्वयं प्रकाशस्वरूप, आनन्दमय एवं चिन्मय ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं उसी प्रकार कोई-कोई प्राक्तन पुण्य के कारण वासनाख्य संस्कार से युक्त सहृदय रस का आस्वाद लेते हैंझ इसलिये कहा भी है-

"विभावादसंभिन्नाङ्गरत्याद्यंशकर्बुरितः स्वप्रकाशानन्दचमत्काररूपो रसः' इति।

इस अनिर्वचनीय विलक्षण रस का आस्वाद रत्यादि के साथ तादात्मय से प्रतीत होने वाली वासना के बिना नहीं होता, अर्थात् रत्यादि की वासना वाले ही रस का आस्वाद लेते हैं, दूसरे नहीं। और यह वासना, जिससे अनुप्राणित सहृदय सामाजिक रसास्वाद का प्रमाण

करते हैं, दो प्रकार की होती है-(१) **आधुनिकी** अर्थात् इस जन्म के अन्दर निर्मित और, (२) प्राक्तनी=प्राचीन अर्थात् पूर्वजन्म में प्राप्त की हुई। दोनों वासनायें मिलकर ही रसास्वाद के प्रति कारण होती हैं। इस विषय में धर्मदत्त ने कहा भी है:-

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।

निर्वासनास्तु रङ्गान्त:काष्ठकुड्याश्मसंनिभा:।। सा० द० तृतीय परिच्छेद

६. साधरणीकरण

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में रस के प्रकरण में "साधारणीकरण" को स्वीकार किया है और उसकी व्याख्या इस प्रकार की है:-

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृति:।। सा० द० ३.६
तत्प्रभावेण यस्यासन्याथोधिप्लवनादय:।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।। सा० द० ३.१०

अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभव और सञ्चारीभावों का व्यापार है, जो नाम से साधरणीकरण कहलाता है। कहने का आशय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के विशिष्ट व्यापार का नाम साधरणीकरण है। वस्तुत: इस साधारणीकरण की प्रक्रिया में होता यह है कि विभावादिकों के विभावन अनुभावन और व्यभिचारण व्यापार नारयक और सामाजिकों को अपना साधारण आश्रय बना लेता है। यह साधरणीकरण व्यापार सामाजिक के हृदय के अन्दर रामादि को रति को अपनी पति के रूप में उपस्थित कर देता है और नायक (रामादि(और नायिका (सीतादि) को व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से पृथक् करके सामान्य नायक-नायिका के रूप में उपस्थित करता है और सहृदय सामाजिक अपने आपको रामादि समझने लगता है। इस साधारणीकरण के प्रभाव से राम का समुद्र को पार करना अथवा हनुमान का समुद्र को लांघना आदि को सहृदय सामाजिक राम अथवा हनुमान के साथ तादात्म्यभाव से अपने द्वारा ही किये हुये समझने लगता है। जिस प्रकार स्फटिक के पत्थर के ऊपर रखे हुये जपाकुसुम की रागिमा के प्रतिबिम्ब से स्फटिक शिला भी रागयुक्त प्रतीत होती है, उसकी प्रकार साधरणीकरण व्यापार से सामाजिक के हृदय में सततादिकृद रामादि की रत्यादि का ही प्रतिफलन होता है। इस प्रकार नायकादिकों के साथ साधरणीकरण हो जाने के उपरान्त ही सहृदय सामाजिकों को रसास्वाद होता है। इस साधरणीकरण को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है-

मान लीजिये कि आपके सामने एक हृष्ट-पुष्ट एक निरही बालक को बड़ी निर्दयता से पीट रहा है। आप उस बालक को पीटे जाने से बचाना चाहते हैं, परन्तु आपको यह भय है यदि आप उस बालक को बचाने के लिये बीच में आयेंगे तो कहीं यह भय है कि यदि उस बालक को बचाने के लिये बीच में आयेंगे तो कही वह व्यक्ति आपको भी न मारने लग जाये। इस स्थिति में न तो आपका तादात्म्य (साधारणीकरण) उस बालक के साथ ही हो पाता है क्योंकि आप पिटना नहीं चाहते और न ही आपका तादात्म्य (साध रणीकरण) उस पीटने वाले व्यक्ति के साथ हो पाता है क्योंकि आप उस बालक को पीटना नहीं चाहते। आपकी यह स्थिति तटस्थ द्रष्टा के समान है। इसी समय वहां पुलिस का सिपाही आ जाता है और वह उस पीटने वाले व्यक्ति को दो चार डण्डे जमा देते हैं और आप एकदम कह उठते हैं कि हाँ, आपने ठीक किया। यह बिना किसी अपराध के इस बालक को पीट रहा था बस, यह जो आपका पुलिस के सिपाही के साथ तादात्म्य है, ही साधारणीकरण है।

इसी प्रकार हॉकी के मैदान में बाहर दर्शक के रूप में खड़े हुये जब आपका हाथ अनायास ही गोल की डी में आई हुई गेंद को हिट मारने के लिये उठ जाता है अथवा फुटबाल के मैंच में गोल करने के अवसर पर जब आपका पैर उस फुटबाल में किक बारने के लिये अनायास उठ जाता है, बस यही सारधारणीकरण की स्थिति है और साधारणीकरण है। इस साधारणीकरण के अवसर पर-

परस्य न परस्येति ममेति च।। सा० द० ३.१२।।
तदास्वादे विभावादे: परिच्छेदो न विद्यते।

ये आलम्बन और उद्दीपनादि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव दूसरे अर्थात् नायक के ही थे, या फिर ये दिखाई देने वाले व्यापार दूसरे के (नायकादि के) नहीं थे, ये अवलोकनादि व्यापार मेरे ही हैं, मेरे नहीं है, इस प्रकार सम्बन्ध विशेष को स्वीकार करने अथवा स्वीकार न करने रूप ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार इस साधरणीकरण की स्थिति में सम्बन्ध विशेष का सर्वथा अभाव हो जाता हे। इसी को अभिनवगुप्ताचार्य ने इस प्रकार वर्णित किया है-

"ममैवेते शत्रोरेवैते न ममैवते न शत्रोरवैते न तटस्थस्यैवेते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्वसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त: सामाजिकानां वासनात्मतया स्थित: स्थायी रत्यादिको नियमप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणीषायबलात्, ... पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण..... शृङ्गार दिको रस:" इति।

अर्थात् ये मेरे हैं, शत्रु हैं, ये तटस्थ के हैं-इस प्रकार सम्बन्ध विशेष को स्वीकार करने के नियम का और ये मेरे नहीं है, ये शत्रु के नहीं है, ये तटस्थ के नहीं हैं-इस प्रकार सम्बन्धविशेष को परिहार करने के नियम के अनध्यवसाय से सीतात्वादि विशेष अंश को छोड़कर कामिनीत्वरूपेण के बल से ..... पानकरसन्याय से आस्वाद्यमान ..... शृङ्गारादिक रस कहा जाता है।

संक्षेप में, यद्यपि राम, सीता तथा चन्द्रोदयादि आलम्बनोद्दीपविभाव और कटाक्ष, भ्रू विक्षेपादि अनुभाव एवं व्रीडादि सञ्चारीभाव लोकसिद्ध हो होते हैं, तथापि काव्यादि में उपनिबद्ध होने से उनमें "विभावन, अनुभावन और सञ्चारण" अलौकिक व्यापार भासित होता है। इसी का नाम "साधारणीकरण" है। इसकी लौकिक व्यापार से मुक्त होने के कारण विभावादि अलौकिक कहलाते हैं और सहृदय सामाजिक अपने ही हृदय में वासनारूप से अवस्थित का रसास्वाद करता है।

७. रस किसमे रहता है?

साहित्यदर्पणाकार आचार्य विश्वनाथ कविराज की सम्मति में (१) रस अनुकार्य रामादि नायक में नही रहता है। क्योंकि

पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा।
अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्॥ सा० द० ३.१८

अर्थात् **परिमित होने के कारण** अर्थात् सीतादि विषयक रति केवल रामादिनिष्ठ होने के कारण परिमित है परन्तु रस नाना सामाजिकों के हृदय में अभिव्यक्ता होने के कारण व्यापाक है, लौकिक हाने के कारण अर्थात् सीतादिनिष्ठरत्यादि लौकिक हैं जबकि काव्य एवं नाट्य के अन्दर वर्णित रत्यादि आलौकिक कहे जाते हैं, प्रतिकूल होने के कारण अर्थात् रामादिगत रत्यादि काव्य और नाट्य के सुनने और देखने में प्रतिकूल होती है। अर्थात् दूसरों के रहस्य का दर्शन सभ्यों के हृदय में विरसता को उत्पन्न करने वाला होता है, जबकि काव्य और नाट्य का उनके अनुकूल होता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीन कारणों में रस अनुकार्य में नहीं है।

(२) रस अनुकर्तनिष्ठ अर्थात् नटगत भी नहीं होता है अर्थात् रस नट आदि में नहीं रहता है क्योंकि नट अभिनय की शिक्षा एवं अभ्यास आदि मात्र से रामादि की समानता को अभिनय से प्रकट करता है, अत: वह रस का आस्वादयिता नहीं हो सकता। किन्तु हाँ यदि वह नट काव्यार्थ की भावना के द्वारा अपने में रामादि की समानता को अनुभव करता है, तो वह सहृदय सामाजिक की कोटि में आता है और उस अवस्था में रस की उसमें अवस्थिति होती है।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने सहृदय सामाजिक के अन्दर रस की अवस्थिति स्वीकार की है।

८. रस की अलौकिकता-

विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के संयोग से रसकी अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति होने वाला रस (१) ज्ञाप्य नहीं है क्योंकि जो वस्तु ज्ञाप्य अर्थात् ज्ञान का विषय होती है, वह कभी-कभी प्रतीति का विषय नहीं भी हुआ करती है। यथा छिपा हुआ घट। परन्तु रस के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् रस हो और उसकी प्रतीति न हो, ऐसा कभी हो नहीं सकता। परन्तु इसके विपरीत जब रस की सत्ता होती है उसका अनुभव सहृदय सामाजिकों के हृदयों में अवश्य होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि रस तो हो, परन्तु उसका अनुभव नही हो। अत: यह रस अपनी सत्ता में कभी व्याभिचरित नहीं होता है, इसलिये ज्ञाप्य नहीं है।

(२) रस कार्य नहीं है क्योंकि यह विभावादि समूहालम्बनात्मक है। कहने का आशय यह है कि यह रस अविभाव, अनुभाव एवं सञ्चारीभाव के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला नहीं है। यदि रस कार्य होता है तो उसका कारण विभावादि ज्ञान हो होता किन्तु रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति ही नहीं होती है। नियम यह है कि कारण का ज्ञान और कारण के कार्य (रस) का ज्ञान एक समय में कभी नहीं होता। चन्दन के स्पर्श का ज्ञान और चन्दन स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान एक साथ एक समय में नहीं होता। विभावादि समूहालम्बनात्मक ज्ञान रूप से ही रस की प्रतीति होती है। अत: विभावादि ज्ञान रस का कारण नहीं है। परिणामत: रस कार्य भी नहीं है।

(३) रस नित्य नहीं है क्योंकि यह विभावादि के ज्ञान से पूर्व होने वाले संवेदन से रहित है। यदि रस नित्य होता तो विभावादिका ज्ञान के पूर्व भी रहता, परन्तु ऐसा नहीं है, अत: नित्य नहीं है। इसरस का ज्ञान तो सहृदय सामाजिक को अभिनय के देखने के समय

ही होात है। नित्य वस्तु सार्वकालिक हुआ करती है। अत: आत्मा और आकाश के समान यह रस नित्य नहीं है। ऐसा नहीं होता है कि नित्य वस्तु अपने ज्ञान के समय में ही रहती हो और अन्य समय में न रहती हो, परन्तु रस ऐसा नहीं है। वह तो केवल ज्ञान काल में ही रहता है, अन्य काल में नहीं। परिणामत: रस नित्य नहीं है।

(४) रस भविष्यकाल में होने वाला भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह साक्षात् आनन्दघन और प्रकाणस्वरूप है। यदि रस भविव्यत्काल में होता तो वर्तमान में अनुभव में कैसे आता। कल होने वाली वस्तु आज नहीं दिखा करती। अत: रस भविष्यत् नहीं है।

(५) रस वर्तमानकालिक भी नहीं है क्योंकि यह न तो कार्य है और न ही ज्ञाप्य है। अपितु इसके विपरीत यह रस कार्य और ज्ञाप्य दोनों से विलक्षण है। आशय यह है कि वर्तमानाकालिक होने के लिये या ता घट की तरह कार्य होना चाहिये और फिर आकाश की तरह ज्ञाप्य होना चाहिये। इस रस में ये दोनों ही नहीं है। नियम यह होता है कि जो कार्य होता है वह ज्ञाप्य भी होता है वर्तमानकालिक भी होगा। रस क्योंकि कार्य और ज्ञाप्य नहीं है, अत: वर्तमानकालिक भी नहीं है।

(६) रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है, इसके अन्दर दो कारण है-(१) विभावादिपरामर्शविषयत्वात्-अर्थात् निर्विकल्पक ("निर्गतो विकल्प:-विभिन्नकल्प: विशिष्टिप्रकार इत्यर्थ:.यस्मिन् तादृशं निरवच्छिमित्यर्थ: सम्बन्धान वगाहीति यावत्") ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय=इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होात है जबकि रस के अन्दर विभावादिकों का परामर्श अर्थात् विशिष्ट-वैशिष्ट्य सम्बन्ध होता है। (२) परमाननदमयत्वेन स्फुटं संवेद्यत्वात्- निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है। उसमें किसी धर्म का प्रकारता रूप से भान नहीं होता परन्तु रस में सहृदय सामाजिकों को रस के परमानन्द होने के कारण स्फुट प्रतीति होती हे। अत: रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है।

(७) **रस सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं हैं** क्योंकि वह वचन प्रयोग की योग्यता से रहित है। अर्थात् रस को शब्द से नहीं कह सकते, वह अनिर्वचनीय है, जबकि सविकल्पक ज्ञान के विषयीभूत सभी घट-तट आदि शब्द के द्वारा प्रकाशित किये जा सकते हैं। रस क्योंकि व्यंग्य है अत: वाचक और लक्षक शब्दों के द्वारा प्रयोग के योग्य नहीं है। इसके विपरीत जो वाचक और लक्षक शब्दों से प्रयोगार्ह होगा वह सविकल्पक ज्ञान का विषय होगा। रस ऐसा नहीं है, अत: वह सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है।

(८) **रस परोक्ष-अतीन्द्रिय नहीं है** क्योंकि उसका साक्षात् अनुभव होता है, साक्षात्कार होता है।

(९) **रस प्रत्यक्ष भी नहीं है** क्योंकि वह काव्यार्थ के सूचक शब्दों से उत्पन्न होता है अर्थात् रस काव्य से उत्पन्न विभावादि ज्ञान से उत्पन्न होता है। यहां रस की प्रत्याक्षानुभेव से विलक्षणता सिद्ध की गई है, प्रत्यक्ष से भिन्नता नहीं, क्योंकि यदि प्रत्यक्ष से भिन्नता सिद्ध करते तो वह वदतोव्याघात दोष होता। इस प्रकार रस प्रत्यक्ष नहीं है।

इस प्रकार के विषय में उपर्युक्त नौ सामान्य धर्मों का निराकरण करने के उपरान्त उसके वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं-

"तस्मादलौकिक: सत्ये वेद्य: सहृदयैरयम्"

इस प्रकार सहृदय सामाजिकों के द्वारा संवेद्य यह रस अलौकिक ही (सत्यम्) है।

श्रीमद्विश्वनाथ कविराजप्रणीतः

साहित्यदर्पणः

प्रथमः परिच्छेद

ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवतायाः सांमुख्यमाधत्ते-

अवतरणिकाः- श्री विश्वनाथ कविराज सरस्वती की आराधना के द्वारा अपने ग्रन्थ की सफल समाप्ति के अभिप्राय से ग्रन्थारम्भ की सार्थकता को प्रकट करने के लिये स्वयं वितरणिका देते हैं।

अर्थ-ग्रन्थारम्भे इति-ग्रन्थ के आरम्भ में निर्विघ्न अभीष्ट काव्य की समाप्ति की इच्छा से ग्रन्थकार सम्पूर्ण वाङ्मय की (अर्थात् १८ विद्याओं, काव्यालाओं तथा कामशास्त्रादि) अधिष्ठात्री होने के कारण सरस्वती को (अपनी) आराधना के द्वारा अपने अनुकूल बनाते है।

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु॥१॥

अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह-

अन्वयः-शरदिन्दुसुन्दररुचिः सा गिरां देवी मे चेतसि तमः अपहृत्य अखिलान् अर्थात् सन्ततं प्रकाशयतु।

अर्थ- शरद्कालीन चन्द्रमा के समान सुन्दर कान्तिवाली श्रुतिशास्त्र आगमपदि प्रसिद्ध वह भगवती सरस्वती मेरे हृदय में विद्यमान अज्ञानान्धकार को नष्ट करके सम्पूर्ण अर्थों को अर्थात् वाच्यए लक्ष्य, तात्पर्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थों को सर्वथा प्रकाशित करे।

अवतरणिकाः-किसी कार्य के अन्दर प्रवृत्ति के लिये कोई न कोई प्रयोजन अवश्य अपेक्षित होता है क्योंकि **"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्देपि प्रवर्त्तते"** इस न्याय के द्वारा बिना प्रयोजन के कोई मूर्ख भी किसी कार्य के अन्दर प्रवृत्त नहीं होता है, अतः ग्रन्थ के कारणभूत प्रयोजन की अवतारणा करते है:-

(काव्यफलनिरूपणम)

अर्थ- इस प्रक्रम्यमाण ग्रन्थ की काव्य के फल को सिद्ध करने में अप्रधान कारण होने के कारण काव्य के फलों में ही (अर्थात् अन्य काव्यों के अध्ययन से जो फल होते हैं, इके भी वे ही प्रधान फल हैं) इसकी भी फलवत्ता है अतः काव्यफलों का वर्णन किया जाता है।

चतुवर्गप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूपयते॥२॥

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्ये न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव।

उक्तं च (भामहेन)-

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥'' इति।

अवतरणिकाः- काव्य फल प्रदर्शन के साथ ही काव्य के स्वरूप का निरूपण किया जाता है-चतुर्वर्गेति।

प्रथम **अर्थ**-(१) सुकुमार मति वालों को और परिणत बुद्धिवालों का अनायास ही चतुवर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) इन चार फलों की प्राप्ति क्योंकि काव्य से ही-वेदादिशास्त्रों से नहीं हो सकती है, अतः उस काव्य के स्वरूप का निरूपण किया जाता है

द्वितीय **अर्थ**-(२) इस अर्थ के अन्दर "यतः" "काव्यात्" का विशेषण होगा और अर्थ इस प्रकार से होगा

जिस काव्य से सुकुमार मति वालों को अनायास ही चर्तुवर्ग फल की प्राप्ति होती है उस काव्य के स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

अवतरणिका:-काव्य से चर्तुवर्ग प्राप्ति का उपपादन करते हैं-

अर्थ-काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्तिए रामादि की तरह (माता-पिता की आज्ञादि के परिपालन में) प्रवृत्त होना चाहिये, रावणदि की तरह (परदाराओं के हरण में) प्रवृत्त नहीं होना चाहिये इत्यादि रीति से निहित और अविहित कर्मों में प्रवृत्ति और निवृत्ति उपदेश के द्वारा सुप्रसिद्ध ही है।।

अवतणिका:-इसी का समर्थन करते हैं :-उक्तञ्चेति-

और (भामह ने) कहा भी है-

अर्थ-सुन्दर काव्यों के करने और उनके ज्ञान से धर्मार्थ से काम मोक्ष के विषय में (लक्षण के द्वारा धर्मार्थकाम मोक्ष के उपायों में विशिष्ट ज्ञान) और नृत्यगीतादि चौसठ कलाओं में निपुणता प्राप्त होती है। एवं संसार में कीर्ति और प्रीति होती है।

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणविन्दस्तवादिना, 'एक शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञानः स्वर्गे लोके कामधुग्भवि' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव। अथौप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वासरैव। मोक्षाप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्तयाधायकत्वाच्च।

चतुर्वर्गप्राप्तिहि वेदशास्त्रेभ्यों नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामापि पुनः काव्यादेव।

अवतरणिका:-इस प्रकार काव्य के करने से और उसके अध्ययन से दो बातुं का ज्ञान होता है। एक तो किन कर्मो को करना चाहिये और किन कर्मो को नहीं करना चाहिए। कौन सा कार्य वेदादि शास्त्र सम्मत है और कौन सा कर्म वेद विरुद्ध हैं। अतः काव्य कर्मो की प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रति साक्षात् कारण है परन्तु धर्मादिकों के प्रति उसकी कारणता नहीं है क्योंकि कारण का कारण नहीं माना जाता। यथा-घट के प्रति कुम्हार का पिता कारण नहीं है, वह अन्यथासिद्ध है। अतः कहते हैं-किं च-

अर्थ-काव्यं से धर्म की प्राप्ति भगवान् नारायण के चरणाविन्द की स्तुति के द्वारा, (सुप्रसिद्ध ही है, अर्थात् जिस प्रकार भगवान् नारायण की प्राप्ति उनके चरण कमलों की स्तुति के द्वारा सुलभ है और उसी प्रकार काव्य से धर्म की प्राप्ति भी सुप्रसिद्ध है। इस प्रकार धर्म प्राप्ति के अन्दर काव्य साक्षात् कारण है। तथा), "एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सभ्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति" अर्थात एक भी शब्द यदि सुप्रयुक्त हो अर्थात् रस का व्यञ्जक बनाकर अच्छी प्रकार सेरचित हो, अथवा सम्यक् रीति से ज्ञात हो तो परलोक में और इस लोक में सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है।" इत्यादि वेदवाक्यों से भी सुप्रसिद्ध ही है (अर्थात् काव्य से धर्म की प्राप्ति सुलभ है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत ही है (अर्थात् काव्य से धर्म की प्राप्ति सुलभ है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्यों की रचना और उनका अनुशीलन दोनों से ही धर्म की प्राप्ति होती है। दोनों ही कामधुक् हैं और वेदशास्त्र सम्मत हैं)। और (हम देखते ही हैं कि काव्यकारों को धन मिलता है), और अर्थ के द्वाराकाम की प्राप्ति होती है। [क्योंकि-"धर्मादर्थस्ततः कामः कामात् सुखसमुन्नतिः" इति।] एवं काव्य से उत्पन्न धर्मफल का त्याग कर देने से तथा मोक्ष के उपयोगी वाक्य में (उपनिषदादि) दृढतर ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण भी काव्य से मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। अर्थात् काव्य के अध्ययन से मोक्ष के हेतु जो उपनिषद् आदि हैं उनमें प्रगति हो जाती है, उनको हृदयंगम करने में सहायता मिलती है अतः इस प्रकार परम्परा से काव्य मोक्ष का कारण हुआ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्ति साधीयसी न स्यात्?

किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम-

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्य तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।।' इति।

अर्थ-नीरस होने के कारण वेदों (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व) और शास्त्रों से (मीमांसादि शास्त्र) चतुर्वर्ग की प्राप्ति (धर्मार्थ काम, मोक्ष) बड़े दुःख से ही परिपक्त बुद्धिवालो की ही होती है-सुकुमारमति वालों को तो दुःख से भी नहीं होती है। अतः परमानन्द की परम्परा को उत्पन्न करने वालों को भी-परिपक्त बुद्धिवालों को तो कहना ही क्या-सुखपूर्वक ही चतुर्वर्ग की प्राप्ति काव्य से ही होती है।

अवतरणिका-चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिये रत्न करने वाले वेदशास्त्रों का अनादर करके अनापत वाक्य वाले काव्य क अन्दर किसी प्रवृत्त होंगे-ऐसी आशङ्का उठती है।

अर्थ-अच्छा तो फिर परिपक्त बुद्धिवाले वेदशास्त्रों के विद्यमान रहने पर काव्यों के विषय में क्यों प्रयत्न करें? ऐसी शङ्का को न चाहिये। (क्योंकि) कड़वी औषधि से शान्त होने वाले रोग के मीठी शर्करा से शान्त होने पर किसी रोगी की मीठी शर्करा के विषय में प्रवृत्ति नहीं होगी अर्थात् सभी की होगी।

तथा च काव्य की उपदेयता तो अग्निपुराण में भी (३३६ वें अध्याय में) कही गई है-

इस संसार में सर्वप्रथम तो मानव जन्म दुर्लभ है (क्योंकि ८० लाख योनियों में भ्रमण होने पर भी कवित्व=काव्य की रचना करना दुर्लभ है, (यदि कोई विद्वान एक या दो श्लोक बना भी ले तो) उसमें (भी) काव्य निर्माण की शक्ति तो अत्यन्त ही दुष्प्राय है।

"त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्" इति च। विष्णुपुराणेऽति-

'काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥'इति।

तेन हेतुना तस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते।

एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम्।

तात्किं स्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायं कञ्चिदाह-'ततदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इति।

एतच्चिन्त्यम्।

तथाहि-यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा-

'न्क्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्कछक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥ इति।

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्। प्रत्युत ध्वनि (स) त्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः।

अर्थ-नाट्य अर्थात् दृश्य काव्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का साधन है- यह भी अग्निपुराण में कहा है। विष्णुपुराण में कहा गया है कि-

जो कोई भी काव्य साहित्य और जो भी समस्त गीतिकायें हैं। ये सब शब्द रूप मूर्ति को धारण करने वाले महात्मा विष्णु भगवान के अंश है।

अर्थ:-इस कारण से (चतुर्वर्ग का साधन होने से) उस काव्य का स्वरूप कहा जाता है।

इससे तो अर्थात् "चतुर्वर्गफलप्राप्तिः" इस श्लोक से इस ग्रन्थ की अभिधेयता और प्रयोजन प्रदर्शित कर दिये है।

काव्यलक्षणदूषणम्:-

अर्थ:- अच्छा तो काव्य का स्वरूप (लक्षण) क्या है? ऐसी आशंका करने पर कोई (काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्टभट्ट) कहते हैं कि-"तददोषो इति-दोष रहित, गुण सहित और कही-कहीं अलङ्कार शून्य अथवा अस्फुटालङ्कार वाले शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं।

यह लक्षण चिन्तनीय है (दूषणीय है)।

तथाहि, यदि दोष से रहित का ही काव्यत्व स्वीकार करोगे तब तो ("न्यक्कार यह पद्य काव्य कोटि में नहीं आएगा " यः इति"।

अवतरणिका:-"हनुमन्नाटक" " के अन्दर जिस समय रामचन्द्र जी राक्षस कुल का विनाश कर रहे हैं उस समय रावण अपनी भ निंदा

करता हुआ कह रहा है कि:-

अर्थ-मेरे शत्रु है, यह (शत्रु सद्भाव) मेरे (सबसे अधिक) तिरस्कार है, (त्रिलोकपधिपति, सम्पूर्ण शत्रुओं के विजेता का शत्रु हो, इसी अतिशय अनादर को प्रदर्शित करने के लिये तिरस्कार का आरोप किया है), उन शत्रुओं में भी वह तपस्वी अर्थात् राम (अर्थात् में सपस्वियों का विनाश करने वाला हूं और वह तपस्वी राम तेरा शत्रु है और मेरा दूसरा तिरस्कार है। यहां अतिशय द्वेष को बताने के लिये "अदस्" शब्द से राम का निर्देश किया है, "राम" इस नाम से नहीं) और वह भी (तपस्वी होता हुआ भी) यहीं (लंका में ही, कहीं दूर नहीं) राक्षसकुल का संहार कर रहा है (कहीं छिपा नहीं बैठा है, और एक दो नहीं, राक्षस कुल का नाश कर रहा है, यह मेरे लिये तीसरा तिरस्कार है) और (इससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात यह है कि) रावण अभी भी जी रहा है (इस प्रकार के परिभव होने पर भी रावण का जीना, इससे बढ़कर और क्या असम्भव होगा), इन्द्र को जीतने वाले को (मेघनाद को) धिक्कार है (इन्द्रजेता भी मनुष्य और वानरों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सका) अथवा जगाये हुये कुम्भकरणां से ही क्या लाभ? (उसने भी कोई नहीं सम्पादित किया) स्वर्ग रूप क्षुद्रग्रामको लूटने से व्यर्थ ही गवीलीं इन (बीस) भूजाओं से (दो नही) क्या लाभ? (मेरी ये भुजायें निष्पयोजन हैं)।

इस श्लोक के विधेयाविमर्श दोष से दूषित होने के कारण काव्यत्व नहीं होगा। (कहने का आशय यह है कि इस श्लोक के अन्दर दो स्थानों पर विधेयाविमर्श दोष है। इसकी को "अविमृष्टधियांगश" दोष भी कहते हैं। एक तो "न्यक्कारो ह्ययमेव" में और दूसरा "स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छू नै:" इसके अन्दर। क्योंकि "जहाँ विधेय का अप्राधान्य रूप में कथन होता है वहां विधेयाविमर्श दोष होता है। "नयक्कारो ह्ययमेव" में "नयक्कार:" विधेय है और "अयम्" उद्देश्य है, नियमानुसार उद्देश्य "असौ" को पहले आना चाहिये और "न्यक्कार:" को विधेय होने के कारण बाद में। परन्तु यहां पर रचना वैपरीत्य होने के कारण अप्राधान्य का प्रथम निर्देश कर दिया गया है क्योंकि:-

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्वास्पादं किंचित कुत्रचित् प्रतितिष्ठति।।

तथा "स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छनै:" यह पर "वृथा" पद विधेय है और वह समाजमे आकर गौण हो गया है। अत: यहां पर भी "विधेयाविमर्श दोष" है। इस प्रकारइस पद्य के अन्दर विधेयाविमर्श दोष हाने के कारण काव्यत्व नहीं है।) इसके विपरीत "ध्वनित्वेन" इस पद्य की उत्तम काव्यता (ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य ने) स्वीकार की है। इस कारण (उक्त दोष के होने पर भी) काव्यत्व स्वीकरणा से ("तददोषौ" इस काव्य की परिभाषा में) "अव्याप्ति दोष" है।

ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुन: सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्रांशे दोष: सोऽकाव्यत्वप्रयोजक:, यत्र ध्वनि स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्। न च कंचिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्त: श्रुतिदुष्टादयो दोषा:, किं तर्हि सर्वमेय काव्यम्। तथाहि-काव्यात्मभजतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यदोषा नित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात्। यदुक्तं ध्वनिकृत-

'श्रुतिदृष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिता:।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृता:।।' इति

किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्।

अर्थ-(प्रश्न) ननु-इस पद्य में कुछ थोड़ा सा अंश दोष से दूषित है, सम्पूर्ण नहीं, अत: जिस अंश में "विधेयाविमर्श" दोष है वह तो अकाव्यत्व का प्रयोजक है और जहा ध्वनि है वह उत्तम काव्यत्व का प्रयोजक है, (उत्तर) इस प्रकार दो विरुद्ध अंशों से दोनों तरफ खींचा जाता हुआ यह काव्य या अकाव्य कुछ भी नहीं होगा। और फिर श्रुतिदुष्टत्वादि दोष काव्य के एक अंश को ही दोष से दूषित नहीं करते, तो फिर क्या करते हैं? सम्पूर्ण काव्य को नहीं दूषित करते हैं। तथाहि-(श्रुतिदुष्टत्वादि दोष) काव्य की आत्माभूत रस के अपकर्षक न होने पर तो उन दोषों को दोषता भी स्वीकार नहीं की जाती है (अर्थात् "रसापकर्षका: दोषा:-दोष वे कहलाते हैं जो रस का अपकर्ष करने वाले हैं अत: जो रस का अपकर्ष नहीं करते वे दोष भी नहीं है)। अन्यथा नित्यदोषों (च्युतसंस्कारादि नित्य दोष) और अनित्य दोषों (श्रुतिदुष्टत्वादि अनित्यदोष) की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। (आशय यह है कि रसों के अपकर्षक होने के कारण ही श्रुतिदुष्टत्वादि दोषों की दोषता है आरे जब वे रस का अपकर्ष नहीं करते हैं तो वे दोष भी नहीं कहलाते। इसीलिये वे अनित्यदोष कहलाते हैं। च्युतसंस्कार आदि सर्वदेव रस का अपकर्ष करते हैं, अत: वे नित्यदोष है। यहां पर ता विधेयाविमर्श दोष रस का अपकर्षक हाने के कारण सम्पूर्ण ही पद्य को दूषित करता है।) ध्वनिकार ने कहा भी है कि-

जो श्रुतिदुष्टत्वादि दोष है और जिनको अनित्य बतया गया है। वे ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में ही हेय हैं, ऐसा कहा गया है

अवतरणिका - यदि कोई कहे कि सदोष वाक्यों को उत्तम ध्वनि रहने पर भी काव्य स्वीकार नहीं करेगें, फिर अव्याप्ति का तो कोई अवार नहीं होगा। अत: उसके प्रति पक्षान्तर उठाते हैं-किञ्चेति।

अर्थ-(सदोष को काव्य न मानने से) इस प्रकार (निर्दोष को ही काव्य मानने से) काव्य का लक्षण स्वल्पक्ष्य वाला अथवा लक्ष्य से रहित हो जायेगा (अर्थात् यो तो दोष रहित काव्य का उदाहरण बहुत कम मिलेगा या फिर मिलेगा ही नहीं क्योंकि सर्वथा निर्दोष काव्य का मिलना अत्यन्त असम्भव हे।

ननवीषदर्थे नञ: प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौं काव्यम्' इत्युक्तं निर्दोषयो: काव्यत्वं न स्यात्। सति संभवे -ईषद्दोषौ इति चेत्, । एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहावत्। नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्यं व्याहन्तमीशा किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्। तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तं च-

'कीटानुबिद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगम: स्फुट:।।इति।

(प्रश्न) नन्विति-(और यदि सभी जगह दोष सम्भव है तो) "तदोषौ शब्दार्थौं" के अन्दर "अदोषौ" पद में "नञ्" समास का प्रयोग ईषदर्थ में मानेंगे। (उत्तर) (यदि ऐसा मानंगपे) तो "ईषद् दोषो शब्दार्थौं काव्य्यम्" यह काव्य का लक्षण करने पर इसका अर्थ यह है कि थोड़े दोष से युक्त शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। इसके अनुसार काव्य में थोड़ा सा दोष रहना ही चाहिये। सर्वथा निर्दोष शब्दार्थ की काव्यता नहीं होगी। (यदि काव्य का लक्षण) "सति सम्भवे ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्" यह कर दें तो, (अर्थात् दोषों की सम्भावना होने पर थोड़े दोष वाले शब्द और अर्थ काव्य होते हैं-बहुत दोष वाले नहीं) ऐसा ही काव्य के लक्षण में नहीं कहना चाहिये, रत्नादि के लक्षण में कीटानुबेध आदि के परिहार की तरह। कीटानुबेधादि रत्न की रत्नता को नष्ट करने में समर्थ नहीं है (अर्थात् यदि रत्न के अन्दर कोई कीड़ा लग जावे तो उस रत्न की रत्नता नष्ट नहीं होती, वहां रत्न की संज्ञा तो रहेगी) अपितु रत्न की अपादेयता में तारसम्य करने में ही समर्थ हैं। उसी प्रकार काव्य में वर्तमान भी श्रुतिदुष्टादि दोष काव्य का (काव्यत्व नष्ट न कर सकते अपितु काव्य के उत्कर्षे में कुछ न्यूनता ही कर सकतै है।) कहा भी है कि-

कीट से क्षत रत्नादि के समान दोष रहने पर भी यदि काव्य में रसादि का अनुभूति सुव्यक्त है तो काव्यत्व माना जाता है।

किञ्च। शब्दार्थयो: गुणत्वविशेषणमनुपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन: इत्यादिना तेनेव शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमणि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्? तर्हि सरसवित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो देशा इति केनाऽप्युच्यते। ननु 'शब्दार्थौं सगुणौ' इत्यनने गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौं काव्ये प्रयोज्याविर्त्याभप्राय इति चेत्। न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवंत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्।

अवतरणिका-इस प्रकार "शब्दार्थौं" के विशेषण "अदोषौ" को 'अव्याप्ति' नामक दोष से दूषित करके "सगुणौं" इ विशेषण के अन्दर दोष दिखाते हैं।

अर्थ-और, शब्द और अर्थ का सगुणत्व विशेषण भी ठीक नहीं है (अर्थात् "शब्दार्थौं" का विशेषण "सगुणौ" उपयुक्त नहीं है क्योंकि गुणों की अवस्थिति शब्द और अर्थ में नही होती अपितु) गुणों की रसैकधर्मता का-

"ये रसस्याङ्गितो धर्मा: इवात्मान:।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा:।।

इत्यादि के द्वारा काव्यप्रकाशकार द्वारा ही प्रतिपादित होने के कारण। (इससे स्पष्ट है कि गुण रसों में निवास करते हैं, शब्द और अर्थ में नहीं) (और यदि यह को कि शब्द और अर्थ) रस के अभिव्यंजक होने के कारण उपचारत: (गौण रूप) से शब्द और अर्थ रस है या नहीं? यदि रस नहीं, तो गुणवत्ता भी नहीं है, (क्योंकि) गुणों का रसों के प्रति अन्वय और व्यतिरेकी भाव होता है अर्थात् यदि रस है तो गुण भी होते हैं और धदि रस न हों तो गुण भी नहीं रहते हैं (तत्सत्वे तत्सत्वं अन्वय:, तदसत्वे तदसत्तं व्यतिरेक:) एक के होने के पर दूसरे का होना अन्वय, एक न होन पर दूसरे का न होना व्यतिरेक कहाता है, सत्र तत्र गुणोऽस्ति यत्र रसोऽस्तीति अन्वय:। यत्र तत्र रसो नास्ति तत्र तत्र गुणो नास्ति इति व्यतिरेक:)। यदि कहो कि है? तो फिर "शब्दार्थौं" का विशेषण "रसवन्तौ" क्यों नहीं कहा? यदि कहो कि गुणों को बिना रस की स्थिति ही नहीं है (अत: रसवन्तौ यह विशेषण) 'सगुणौ' कहने से ही हो

हो जायेगा? इस दशा में भी "सरसौ" यह विशेषण कहना ठीक है "सगुणौ" नहीं। क्योंकि "प्राणिमान् देश" है ऐसा कहने के स्थान पर "शौर्यवान् देश" है ऐसा कोई भी नहीं कहता है। (यद्यपि बिना प्राणी के शौर्य नहीं रहता है)। "ननु इति"-यदि ऐसा कहो कि "शब्दार्थौ सगुणौ" इससे गुणाभिव्यंजक शब्दों और अर्थों का काव्य में प्रयोग करना चाहिये ऐसा अभिप्राया है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के अन्दर केवल उत्कर्ष आधान करते है, स्वरूप के आधायक नहीं होते।

उक्तं हि-'काव्यस्य शब्दार्थौशरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादित, रीतयोऽवयवसेस्थानविशेषवत् अलङ्कारा कटककुण्डलादिवत्' इति।

एतेन 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि, इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्वस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालङ्कार शब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षौधायकत्वात्।

एतेन वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलङ्कारूपवात्।

यच्च कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥इति॥

अर्थः-(इसलिये) कहा भी है-(यहां पर काव्यपुरुष का वर्ण करते हैं) "काव्य के शब्द और अर्थ शरी हैं, रसादि आत्मा है (आदि पद से रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भादोदस, भावसन्धि, भावशवल आदि का भी ग्रहण होता है), (माधुर्य, ओज़ और प्रसाद-से तीन गुण) शैर्यादि की तरह हैं, दोष (श्रुतिदुष्टत्वादि दोष) कारणत्वादि की तरह हैं, रीतियां (वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी-ये चार रीतियां) अवयव रचना की तरह, (और) अलंकार (अनुप्रासोपमादि) कटककुण्डलादि की तरह है" है। (कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार पुरुषों में शरीर, आत्मा, गुण, दोष, अवयव और अलंकारादि होते हैं उसी प्रकार काव्य के अन्दर भी होते हैं)।

एतेनेति-इससे काव्यपुरुष के रूपक-द्वारा "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" यह जो काव्य लक्षण में कहा है उसका भी निराकरण हो गया। अस्य हि अर्थः इति-इस (उक्त अंश) का यह अर्थ है कि-सर्वत्र शब्द और अर्थ अलंकार युक्त होने चाहिये (परन्तु) कहीं-कहीं तो अस्फुट अलंकार वाले शब्द और अर्थ भी काव्य होते हैं। पूर्वाक्त रूपक में (क्योंकि अलंकार कटककुण्डल की तरह बताये हैं अतः (अलंकार युक्त शब्दार्थ भी काव्य में उत्कर्ष का आधान करने वाले होते हैं (स्वरूप का आधान करने वाले नहीं)।

एतेनेति-इसी से (उक्त हेतु से ही) "वक्रोतिः काव्यजीवितम्" (वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है-यह काव्य लक्षण भी) इस प्रकार वक्रोक्तिजीवितकार (आचार्य कुन्तक) का कथन भ्झी निरस्त हो गया, क्योंकि वक्रोक्ति के एक अलंकारमात्र हाने से। (और अलंकार स्वरूप के आधायक न होकर केवल अत्कर्ष को पैदा करने वाले होते हैं)।

और जो कहीं पर अस्फुटालंकार के विषय में (निम्न) उदाहरण दिया है-"(यः कौमारहरः" यह भ विचारणी है)। यः कौमारहर को हरण करने वाला है (विवाह द्वारा दूर करता है) वहीं तो (अभिमत) वर है, वे ही (जिन रात्रियों में पहले रतिक्रीड़ा की थी) चैत्र मास की रात्रियों हैं (वासन्ती निशायें हैं), विकसित मालती पुष्प से सुरक्षित वहीं प्रौढ़ (प्रशस्त गति वाली) कदम्ब वन की वायुयें हैं (चैत्र मास में उन्हीं के हाने से), मैं भी वहीं हूं (तात्पर्य यह है कि सब वस्तुयें पही की ही तरह हैं, कोई चीज नवी नहीं है, उसकी प्रकार की सामग्री विद्यमान है) तथापि वहीं रेवा नहीं के किनारे वेतस के कुञ्ज में रति क्रीड़ा सम्पादन के लिये चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।)।

एतच्चित्यम्। अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम्।

एतेन-

'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥'

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम्।

(अस्फुटालंकार के विष्य में दिया गया) यह उदाहरणप विचारणी है। अत्रेति-

इस उदाहरण में विभावना-विशेषोक्तिमूलकसंदेसंकरालंकार स्फुट है। (अतः अस्फुटालंकार बताना ठीक नहीं)।

अर्थ-एसेनेति-इसी से-

"अदोषमिति"-दोष शून्य, सगुण, अलंकारों से अलंकृत रसयुक्त काव्य को करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को प्राप्त करता है।

इत्यादि वचनों का भी "काव्य-लक्षण" खण्डित हो गया। (क्योंकि दोषगुणादिकों का स्वरूप में निवेश नहीं हो सकता)।

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्- 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः-' इति तत्किं वस्त्वलङ्काररसालिक्षणास्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा? नाद्यः-प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः। द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः।

नुन यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काप्यस्यात्मा, तदा-

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्? न,-अत्रापि रसाभावत्तवयैवेति ब्रूमः, अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत्? न, रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात्।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदातद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारामतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात्। तथा चाग्नेय पूराणेऽप्युक्तम्- "वाग्देवताध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति।

अर्थ-यत्तु-और जो ध्वनिकार ने कहा है कि "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"-

काव्य की आत्मा ध्वनि है; (वहां यह प्रश्न पैदा होता है कि) क्या वस्तु, अलंकार और रसादिक लक्षण रूप तीन प्रकार की ध्वनि काव्यकी आत्मा है? अथवा केवल रसादि रूप ध्वनि को ही काव्य मानते हो? (इनमे) पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि प्रहेलिका आदि में, (जहां वस्तु ध्वनित होती है) यह काव्य का लक्षण अतिव्याप्त हो जावेगा। (अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अति-व्याप्ति नामक दोष होता है) और यदि दूसरा (रसादिरूप ध्वनि को काव्य मानो तो) हम भी स्वीकार करते हैं।

प्रश्न-नन्विति-यदि केवल रसादिरूप ध्वनि ही काव्य की आत्मा है, तो

"अत्ता एत्थ"-

"श्वश्रू रत्र निमज्जति अत्राहं दिवसे एव प्रलोकय।

मा पथिक! रात्र्यन्धक! शय्यायां मम निमङ्क्ष्यति॥ इति संस्कृतम्-

अवतरणिकाः-किसी पथिक के प्रति किसी नायिका की अक्ति है। मेरा शय्या पर प्रविष्ट तुझको यदि सास किसी प्रकार जान जाय तो "मैं रात्र्यन्ध हूं अतः अपनी शय्या को नहीं देख पाया" इस गोपन के उपाय को बतलाने के लिये "रात्र्यन्धक" इस पद को प्रयुक्त किया है, ऐसा कुछ कहते है।

अर्थः- हे रात्र्यन्धा पथिक! इस स्थथन पर मेरी प्रगाढ़ निद्रा में सोती है, यहां मैं (सोती हूं), दि मं ही खूब अच्छी तरह देख ला, (कहीं रात में) मेरी शय्या पर मत आ पड़ना। (यह स्वये दूती की उक्ति है)।

इत्यादिक स्थलों में वस्तुमात्र के व्यंग्य होने पर (अपनी शय्या पर प्रवेशरूप वस्तु व्यंग्य है) किस प्रकार का व्यवहार होगा? (इस कि वस्तु ध्वनि को काव्य की आत्मा ही स्वीकार नहीं किया गया है) उत्तर-ऐसी बात नहीं, यहां पर भी रसाभास के कारण ही हम काव्यत्व मानते हैं। (उक्त पद्य में आगन्तुक पथिक के प्रति दूती नायिका का अनुराग प्रतीत होता है, अतः शृङ्गारभास है)। अन्यथा (यदि वस्तुध्वनि को ही काव्य मानने लगे तो) "देवदत्त गांव को जाता है" इस वाक्य में भी देवदत्त के भृत्य का उसके पीछे पीछे जाना व्यंग्य होने पर, काव्यत्व हो जायेगा। अस्त्विति चेत्-यदि कहो कि इसको भी काव्य मान लो तो नहीं यह ठीक नहीं क्योंकि सरस वाक्य को ही काव्य स्वीकार किया गया है।

(नीरस काव्य का स्वीकार ने करने का कारण कहते हैं कि) काव्य का प्रयोजन प्राचीन आचार्यों ने रसास्वादरूप समु का सुखपरम्परा के दान द्वारा वेद-शास्त्रों से विमुख (कठिनता के कारण उनके अर्थ को न समझ सकने के कारण) सुकुमार बुद्धि वाले शिक्षणीय राजपुत्रादिकों को रामादि की तरह व्यवहार करना चाहिये रावणदि की तरह नहीं, इत्यादिक कृत्य कर्मों की ओर प्रवृत्ति और अकृत्य कर्मों की ओर से निवृत्ति का उपदेश, बतलाया है। (अतः सरस वाक्य ही काव्य होते हैं नीरस नहीं)। ऐसा ही अग्निपुराण

में भी कहा है- ''वाणी की विदग्धता प्रधान होने पर भी रस ही काव्य में जीवन है''।

व्यक्तिविवेकोरेणाऽप्युक्तम्-'काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि, रसादिरूपे न कस्ययिद्विमतिः' इति। ध्वनिकारेणाऽप्युक्तम्- 'न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि।

व्यक्तिविवेकार (व्यक्तेः-व्यञ्जनावृत्तेः विवेको-विवेचनमनुमानेन गतार्थतां प्रतिपाद्य निर्णयन, तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो व्यक्तिविवेकः, तं करोतीति तेन तथा- भूतेन) महिमभट्ट ने भी कहा है- (इससे प्रतिवादी की मान्यता को सूचित किया है) ''काव्य की नियतोपस्थितिक आत्मा रसादिक के विष्ठय में किसी भी व्यक्ति की विमति नहीं है'। ध्वनिकार ने भी (ध्वन्यालोककर्त्ता आनन्ववध नाचार्य) कहा है- ''केवल इति वृत्तमात्र की रचना करने से कवि को आत्मपद की सिद्धि (कविपद की सार्थकता) नहीं हो सकती, इतिहासादि के (भारतादि) लिखने से ही आत्मपद की सिद्धि हो सकती है इत्यादि (केवल इतिवृत्तमात्र लिख देना कवि का प्रयोजन नहीं है)।

ननु तर्हि प्रलन्धार्न्वतिनां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत्? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानमिव पद्यरसेन, प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोज़ाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्ध साम्याद्गौण एव।

यत्तु वामनेननोक्तम्- 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न; रीतेः संघटनाविशेषत्वात्। संघज़्नायाष्ठचावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनष्ठच तद्भिन्नवात्।

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्-

'अर्थः सहृदयष्ठलाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।' इति।

अत्र वाच्यात्मत्वं ''काव्यस्यात्मा ध्वनिः-' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम्।

(प्रश्न)-तो क्या प्रबन्धकाव्यों के अन्तर्गत नीरस पद्यों की काव्यता नहीं रहेगी? (उत्तर)-ऐसा नहीं है, जिस प्रकार सरस पद्यों के अन्दर विद्यमान नीरस पद्य से रस से रसवान् समझे जाते हैं, उसी प्रकार प्रबन्ध रस के अन्दर वर्तमान नीरस पद्यों में भी रसवत्ता स्तीकार की जाती है। (यहां पद्य शब्द गद्य का भी द्योतक है)। यत्तु-और जो नीरस (पद्यों में) भी गुणों की अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के होने के कारण दोष के अभाव के कारण और अलंकारों के विद्यमानता के कारण काव्य का व्यवहार (देखा जाता है), वह सरस काव्य की रचना के साम्य के कारण गौण (प्रयोग) ही है।

और जो वामन (अलंकारसूत्रकार आचार्य वामन) ने कहा है- ''रीतिरात्मा काव्यस्य''-''काव्य की आत्मा रीति है' (वैदर्भी आदि रीति), वह ठीक नहीं है क्योंकि रीति के संघटन (रचना) विशेष होने के कारण। और रचना विशेष के (काव्य शरीर के) अवयवों (शब्द और अर्थों) की समुचित स्थानों में स्थिति होने के कारण वह रचना विशेष (आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि) काव्यात्मा से भिन्न होती है।

और जो ध्वनिकार ने कहा है (यहां पर ध्वनिकार का उल्लेख करके उसके मत का खण्डन करते हैं) कि-सहृदय सामाजिकों के द्वारा प्रशंसनीय जो अर्थ काव्य की आत्मा व्यवस्थित की गयी है उस (अर्थ) के वाच्य और प्रतीयमान (अभिधेय और व्यंग्य नामक) दो भेद कहे गये हैं (अर्थात् उसके दो भेद होते हैं- (१) वाच्य और (२) प्रतीयमान।

इस कारिका में वाच्यार्थ को काव्य की आत्मा बताया गया है (अतः उनका कथन) ''काव्यस्यात्मा ध्वनिः-यह स्ववचन विरोध के कारण ही निरस्त हो गया।

तत्कि पुनः काव्यमित्युच्यते-

वाक्यं रसात्मक काव्यम्-

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतय जीवनाधायको यस्य। तेन बिना काव्यत्वानङ्गीकारात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्ति योगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।

तत्र रसो यथा-

(काव्यस्वरूप-निरूपणम्)

अर्थ-अतः (उक्त मतों के सदोष्ठा होने के कारण-उक्त चार मतों का खण्डन किया है-

(१) ''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'' -आचार्य मम्टभट्ट।

(२) ''वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्'' -आचार्य कुन्तक।

(३) ''काव्ययात्मा ध्वनिः'' ध्वनिकार (आनन्ववर्धनाचार्य)

(४) ''रीतिरात्मा काव्यस्य'' -आचार्य वामन)

काव्य का पुनः क्या स्वरूप है अर्थात् काव्य का लक्षण क्या है? (काव्य के लक्षण का) निरूपण करते हैं- ''वाक्यं रसात्मकं

काव्यम्'' -रसात्मक वाक्य काव्य कहलाता है।

शून्य वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता

अत्र हि संभोग शृङ्गाराख्यो रसः।

भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्-

अर्थ- रस के स्वरूप का वर्णन (तीसरे परिच्छेद में) करेंगे (''रसात्मकम्'' पद का अर्थ करते है) रस ही है आत्मा- सारभूत तत्व कारण जीवनाधाया जिसका, (ऐसा वाक्य ''रसात्मक'' कहलाता है)। (क्योंकि) उसके (रस के) बिना उस वाक्य की काव्यता स्वीकार नहीं की जायेगी।'' रस्यते इति रसः'' जिसका आस्वदन किया जाता है वही रस है, इस व्युत्पत्ति के योग से रस, रसाभास भाव और भावभावादि का भी ग्रहण किया जाता है।

उनमें से रस का उदाहरण देसे हैं- शून्यमिति-

अवतरणिका-यह पद्य संभोग ऋङ्गार का उदाहरण है और नवोढा दम्पति का वर्णन है:-

अर्थ- (नवविवाहिता नायिका ने) वास गृह को शून्य (सखी आदियों से रहित) देखकर शय्या से थोड़ा शनैः शनैः (निःशब्द उठकर कपट निद्रा में सोये हुये (अपने) पति के मुख को खूब देर तक देखकर, (तदनन्तर) निःशङ्क होकर (अपने पति का) चुम्बन किया, (पुनः पति की) रोमाञ्चित गण्डस्थली को देखकर, लज्जा से अवनतमुखी (उस नवोढा) का हंसते हुये (उसके प्रिय पति ने बहुत देर तक चुम्बन किया।

अर्थ- अत्रेति-यहां ''सम्भोगशृङ्गकार'' नामक रस है।

महापात्र राघवानन्द, जो सन्धि विग्रहिक है, उनके द्वारा बनाया हुआ भाव का उदाहरण देते हैं। यस्यालीयतेति-

अवतरणिका:-इसमें विष्णु के दस अवतारों का वर्णन है। वे इस प्रकार हैं:-

''मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च रामश्च बौद्धः कर्की च ते देष्ठा॥
यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः पृज्ञे जगन्मण्डलं,
दंष्ट्रायां धरणी, नखे दिसिसुताधीष्ठाः, पदे रोदसी।
क्रोधे क्षत्रगणः, ष्ठारे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्यासने विश्ठवमसावधार्मिककुलं, कस्मैचिदस्मै नमः॥

अत्र भगवद्विज्ञया रतिर्भावः।

अर्थ-जिसके (विष्णु के) मत्स्यत्वक् के एक भाम में समुद्र समा गया (इससे मीनावतार का वर्णन किया है; मत्स्य का विशाल शरीर समुद्र में नहीं समा सका अपितु वह समुद्र ही मत्स्य के एक भाग में विलीन हो गया), जिसकी पीठ पर समस्त भूमण्डल आ गया (इससे कूर्मावतार का वर्णन किया है, यद्यपि कूर्मावतार मन्दराचल को धारण करने में ही प्रसिद्ध है, तथापि जिसने पृष्ठ पर संसार का धारण किया है, वह कूर्म इससे भिनन नहीं है), जिसकी दाढ़ में पृथ्वी इससे वराहावतार), नख में दैत्यों का समूह हिरण्यकश्यपु (इससे नृसिंहावतार का वर्णन किया है, नृसिंहावतार में नखें द्वारा हिरण्यकश्यपु को विदीर्ण किया था, एसा प्रसिद्ध है) क्रोध में क्षत्रियों का समुदाय (इसमें भार्गवावतार का वर्णन किया है; पिता की हत्या हैहयवंशीय क्षत्रियों ने की थी अतः क्रोधित परशुराम ने उनका समूल वंश नाश कर दिया, ऐसा प्रसिद्ध है), बाण में दस मुख वाला रावण (इससे रामावतार को सूचित किया है राम ने अपने बाणों से रावण को नष्ट कर दिया, ऐसा प्रसिद्ध है), ध्यान में सारा संसार (इससे बौद्धवतारको कहा है, हिंसा न हो अतः व्यापार शून्य होकर भगवान बुद्ध ध्यानस्थ हो गये, ऐसा प्रसिद्ध है) और खड्ग में अधर्मी कुल का विलय हो गया (इससे कल्कि अवतार को कहा है; कलिकाल में म्लेच्छों का खड्ग से मारता हुआ घूमेगा, ऐसा प्रसिद्ध है), (ऐसे) अनिर्वचनीय स्वरूप वाले उस (देव के लिये) के लिये नमस्कार हो।

रसाभावो यथा-

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीकण्डूयत कृष्णसारः॥

अत्र सम्भोग शृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः। एवमन्यत्।

दोषाः पुन काव्ये किंस्वरूपा? इत्युच्यन्ते-

दोषास्तस्यापकर्षकाः।

श्रुतिदुष्टापुञ्ज्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वज़ब्दवाच्यत्वायो मृकत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्ज़यन्तः काव्यस्यापकर्ज़का इत्युच्यन्ते। एज़ां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः।

अर्थ-रसाभास का उदाहरण देते हैं-मधु इति-

अवसरणिका:- जिस समय कामदेव वसन्त को साथ लेकर कैलाश पर भगवान् शंकर को अपने प्रभाव से कामयुक्त करने पहुंचा था, उस समय उसके प्रभाव से पशु-पक्षी भी कितने काम मोहि हो गये थे, उसी का वर्णन ''कुमारसम्भव' के इस पद्य में कविकुलगुरु कालिदास ने किया है।

अर्थ-(कामातुर) भ्रमर अपनी प्रियतमा (भ्रमरी का) अनुसरण करता हुआ कुसुमरूप अद्वितीय पात्र में मधु (पुष्प रस) का पान करने लगा, और मृग (कृष्णसार मृग विष्ठोज़) (प्रिय के) स्पर्श्ा सुख से निमीलितनयना हरिणी को (अपनी प्रिया को) सींग से (धीरे-धीरे) खुजाने लगा।

अत्रेति- इस पद्य में संयोग श्रृङ्गार के पशु-पक्षी विषयक होने के कारण रसाभास है। इसी प्रकार अन्य (भावभासादिको के) अदाहरण समझने चाहिये।

अवतरणिका:-काव्य के लक्षण में दोषों का स्थान न होने के पर भी क्योंकि उनका परिहार करना काव्य के अन्दर आवश्यक है अत: उन दोषों के स्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक है, इसलिये आकाङ्क्षा का उत्पन्न करते हैं।

(दोषस्वरूपलक्षणम्)

अर्थ- पुन: काव्य में दोषों का क्या स्वरूप है। (अर्थात् दोषों का लक्षण क्या है)? इसके विषय में कहते हैं- ''दोषास्तस्यापकर्ज़का:'' काव्य के (उपचार प्रयोग से काव्य की आत्मा रस के) अपकर्षक दोष कहलाते हैं। श्रुतिदुष्टेति- जिस प्रकार काणत्व और खञ्जत्व आदि दोष शरीर के द्वारा आत्मा का अपकर्ज़ सूचित करते हैं; उसी प्रकार श्रुतिदुष्टत्वादि दोष शब्द के द्वारा, (क्योंकि ये दोष शब्दों में निवास अर्थ में है) काव्य की आत्मा रस का अपकर्ज़ करते हैं तथा जिस प्रकार मूर्खत्वादिक दोष साक्षात्-किसी के द्वारा नहीं-आत्मा का अपकर्ष करते हैं उसी प्रकार निर्वेदादि व्यभिचारी भावों का (यहां आदि पद से श्रृङ्गारादि रसों का भी ग्रहण हो जायेगा) स्वशब्दवाच्यत्व प्रभृति (स्वयं का प्रतिपादन करने वाले निर्वेदादि शब्दों का कथन से) अनेक दोष काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष करते हुये काव्य के अपकर्षक कहलाते हैं। एषामिति-इनके विशेष उदाहरण (सप्तम परिच्छेद में) कहेंगे।

गुणादय: किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते-

उत्कर्षहेतव: प्रोक्ता गुणालङ्काररेतय॥३॥

गुणा: शौर्यादिवत्, अलङ्कारा: कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थान विशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्त: काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। इह यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वं तथापि गुणशब्दोऽत्र गुणाभिव्यञ्ज गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थयोरुपर्यते। अतश्च 'गुणाभिव्यञ्जका: शब्दा रसस्योत्कर्षका:' इत्युक्तं भवतीति प्रोगेवोक्तम्। एषामपि विशेषोदाहरणनि वक्ष्याम:।

इति साहित्यदर्पणो काव्यस्वरूपनिरूपणोनाम प्रथम: परिच्छेद:।
अत्र मूलकारिका:=३। उदाहरणश्लोका:=६।

(गुणस्वरूपनिरूपणम्)

अर्थ- गुणों का क्या स्वरूप है (अर्थात् गुणों का क्या लक्षण है)? इसके विषय में कहते हैं। ''उत्कर्षहेतव: प्रोक्ता गुणालंकाररीतय:'' -गुण, अलंकार और रीतियां (काव्य की) उत्कृष्टता के कारण कहे गये हैं।

जिस प्रकार शौर्य आदि गुण, कटक कुण्डलादि अलंकार और अङ्गरचनादि मनुष्य के शरीर के द्वारा उसकी आत्मा की उत्कृष्टता को करने वाले होते है; उसी प्रकार माधुर्यदि गुण, उपमादि अलंकार और वैदर्भी आदि रीति काव्य के शरीर, शब्द और अर्थ के द्वारा काव्य के आत्मभूत रस का उत्कर्ष करते हुये काव्य के अत्कर्षक कहाते हैं।

प्रश्न- जिस प्रकार यह कहा जाता है कि अलंकार शून्य काव्य की अपेक्षा अलंकार सहित काव्य उत्कृष्ट होता है उस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि निर्गुण काव्य की अपेक्षा सगुण काव्य उत्कृष्ट होता है क्योंकि गुणों की स्थिति रसों के साथ होती रहती है, जहां गुण होंगे वहां रस भी होगा- जहां गुण नहीं होंगे वहां रस भी नहीं होंगे अत: जो काव्य निगुर्ण है वह सरस नहीं नं सकता और जो सरस नहीं होगा वहां काव्यत्व कोटि में भी नहीं आ सकता। क्योंकि काव्य का लक्षण तो ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' ऊपर कर आये हैं। अत: जो काव्य काही नहीं उसकी तुलना सरस काव्य से नहीं की जा सकती। जब गुणों का रस के साथ अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध है फिर गुणों के लक्षण का यह कहना कि वे काव्य के उत्कर्ष करने वाले हैं- यह ठीक नहीं है- इसका उत्तर देते हैं। इहेति-यद्यपि गुण रस के धर्म हैं अर्थात् रस के बिना गुणों की स्थिति नहीं है तथापि यहां पर गुण शब्द उपचार से गुण और अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ का द्योतन करता है। ''अत: गुण के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ रस के उत्कर्षक है'' ऐसा अर्थ होता है। (अत: यह अभिप्राय जानना कि गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थों से रहित काव्य की अपेक्षा तत्सहित काव्य उत्कृष्ट होता है) ऐसा पहले भी ''सगुणौ'' की आलोचना से कह दिया है। इसके (गुणों के) विशेष उदाहरण (अष्टम परिच्छेद में) कहेंगे।

॥इति प्रथम: परिच्छेद:॥

द्वितीय परिच्छेद

वाक्यरूपमाह

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः। पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात्। आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः। निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषोहस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात्। आसत्तिर्बुद्ध्याविच्छेदः। बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात्। अत्राकङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधार्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात्।

अर्थ- (उपोद्घात की संगति के कारण) वाक्य के स्वरूप का (निरूपण) करते हैं।

वाक्य का लक्षण:-

अर्थ- वाक्यमिति-योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त परमसमुदाय को वाक्य कहते हैं। (अर्थात् किसी पूर्ण वाक्य के लिए न चीजों का होना आवश्यक है- (१) योग्यता, (२) आकांक्षा और, (३) आसत्ति। इन तीनों में से एक भी वस्तु से हीन वाक्य नहीं कहलाएगा। अतः क्रमशः इन तीनों का लक्षण करते हैं।)

योग्यता का लक्षण-योग्यतेति-पदार्थों के अर्थात् सुबन्त का तिङन्त पदों का प्रतिपाद्य अर्थों के परस्पर अन्वय के बाध में कारणीभूत बाधा का अभाव योग्यता कहलाता है। [और इस प्रकार तात्पर्य के विषयीभूत, सम्बन्ध के कारण उससे सम्बन्धित पदार्थों में से किसी एक का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वित होना योग्यता: है। "तात्पर्य के विषयीभूत, इस सम्बन्धा विशेषण की यह उपयोगिता है कि से **"वह्निना सिञ्चति"** यह वाक्य न हो जावे, क्योंकि पाकादि में ही वह्नि की कारणता है, सेकादि में नही। इसीलिये हैं तात्पर्य के विषयीभूत पदार्थों में से किसी एक का अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध होना चाहिये, जिस किसी पदार्थ के साथ नहीं।] योग्यता ही व्यावृत्ति दिखाते हैं: पदोच्चयस्येति- (यदि) योग्यता के अभाव में भी पद समुदाय को वाक्य मानेंगे तो "वह्निना सिञ्चति" इत्यादि भी वाक्य ही जाएगा। [जब कि वह्नि के अन्दर सेचन क्रिया की योग्यता नहीं है, वह्नि की योग्यता पाचन क्रिया के साथ है: अर्थात् जलाने का साधान है, सींचने का नहीं] आकांक्षा का लक्षण-आकांक्षेति-पदों के अर्थ की उपस्थिति के अन्वय का ज्ञान कराने के विरह का विरह (अभाव) आकांक्षा कहलाता है। (अर्थात् वाक्यार्थ की पूर्ति के लिये किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बने रहना आकांक्षा कहलाता है। शंका-इस प्रकार आकांक्षा पद यदि अभाव का बोध न करायेगा तो लक्षण के विषय में आपत्ति पैदा हो सकती है, अतः कहा है कि-स चेति और वह (प्रतीति पर्यवसान विरह) सुनने वाले की **ज्ञानेच्छारूप** है (क्योंकि अभाव का प्रतियोगी स्वरूप होता है अर्थात् यह आकांक्षा भाव रूप है, अभावरूप नहीं। **"पयसा सिञ्चति"** इस वाक्य के अन्दर **"पयसा"** इस शब्द का **"सिञ्चति"** इस पद के साथ अन्वय ज्ञान की उत्पत्ति में सुनने वाले की इच्छा है और प्रतीति का (जिज्ञासा का) पर्यवसान (अभाव) (१) कहीं तो स्वाभाविक होता है और (२) कहीं अन्वय के बोध से होता है। पहले का उदाहरण देते निराकांक्षस्येति- (यदि) आकांक्षा शून्य पद समुदाय को वाक्य मानेंगे तो "गौरश्वः पुरूषों हस्ती" इत्यादि की भी वाक्यता होगी क्योंकि ये निराकांक्ष है; क्योंकि इन पद समुदाय के उच्चारण से किसी ज्ञान की समाप्ति नहीं होती अपितु आकांक्षा विद्यमान रहता है। निराकांक्ष होने के कारण यह वाक्य नहीं हो सकता।) (दूसरे का उदाहरण देते हैं- "विमलं जलं नद्याः कच्छे महिषचरति' यहां यद्यपि **"नद्याः"** इस पद का "जल" इस पद के साथ अन्वय बोध सिद्ध होने पर भी **"इच्छा के विरह"** का अभाव नहीं होता है तो **'कच्छे'** इस पद के साथ ही अन्वय होने पर सुनने वाले की इच्छा "काकाक्षिगोलक" न्याय से अर्थात् जिस प्रकार कौआ की एक ही पुतली से नेत्र के दोनों गोलकों से का ले लेता है। उसी प्रकार "नद्या" भी "जलं" और "कच्छे" इन दोनों के साथ अन्वय का काम दे जावेगा इस प्रकार बोलने वाले के तात्पर्य को सुनने वाला समझ लेगा। यहां प्रतीति का पर्यवसान तात्पर्य को सुनने वाला समझ लेगा। यहां प्रतीति का पर्यवसान तात्पर्य के द्वारा अन्वय बोधा से होता है।) आसत्ति का लक्षण- बुद्धि के अर्थात् पदार्थों की उपस्थिति के अविच्छेद (अव्यवधान) को आसत्ति कहते हैं। (अर्थात् बिना किसी व्यवधान के पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति कहते हैं। और व्यवधान दो प्रकार से हो सकता है। (१) या तो दो पदार्थों के बीच का काल का व्यवधान आ जावे। (२) या प्रकृत पदार्थों के मध्य में अनुपयोगी पदार्थों की उपस्थिति हो जावे। इनमें से (१) पहले का (काल व्यवधान) उदाहरण देते हैं- "बुद्धीति"-(यदि) बुद्धि का विच्छेद होने पर भी वाक्य स्वीकार करने पर इस समय उच्चारण किए गए "देवदत्त" इस शब्द का

दूसरे दिन बोले जाने वाले (दिनान्तर का प्रयोग अत्यन्त व्यवधान दिखाने के लिए हैं वैसे थोड़े काल व्यवधान से भी काम चल जावेगा) "गच्छति" इस पद के साथ संगति हो जावेगी। (और इसको वाक्य स्वीकार करना पड़ेगा परन्तु ऐसा होता नहीं है, थोड़े सा भी काल व्यवधान वाक्यार्थ ज्ञान कराने में असम्भव है, ज्ञान हो ही नहीं सकता)। (२) दूसरे का (अनुपयोगी पदार्थों का व्यवधान) उदाहरण देते हैं:-'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन" - यहां पर **"गिरिरग्निमान", "भुक्तं देवदत्तेन न"** ये दो वाक्यार्थ स्वाभाविक है। इनमें से **"गिरि"** का सम्बन्ध **"अग्निमान्"** के साथ है पर बीच में प्रकृत का अनुपयोगी **'भुक्तम'** पद आ गया है। एवं दूसरे में **"भुक्तम"** और **"देवदत्तेन"** के बीच में प्रकृत का अनुपयोगी "अग्निमान्" पड़ा हुआ है। अत: इन दोनों उदाहरणों के अन्दर आसत्ति का अभाव है। अत एव ये दोनों ही वाक्य नहीं है।)]

(शंका-वाक्य का लक्षण करते हुए कहा है कि **"योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पद समुदाय को वाक्य कहते हैं"**, परन्तु आकांक्षा सुनने वाले की इच्छा रूप है जो आत्मा के अन्दर निवास करती है अर्थात् आकांक्षा आत्मा का धर्म और योग्यता पदों के अर्थों में निवास करती है अर्थात् योग्यता पदार्थ का धर्म है, पुन: ये दोनों विभिन्न धर्मावलम्बी होने कारण पद समुदाय में किस प्रकार निवास करेंगे? उत्तर-इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं-) अत्रेति-यहां पर आकांक्षा और योग्यता क्रमश: आत्मा और पदार्थ के धर्म होने पर भी पदसमुदाय के अन्दर की धर्मता उपचार प्रयोग से ही समझनी चाहिये। (क्योंकि आकांक्षा के अन्दर वह परम्परा सम्बन्ध "स्वजन्यजनकत्व' सम्बन्ध से पदों में निवास करती है अर्थात् "स्व" शब्द से आकांक्षा गृहीत होती है- उससे जन्य वाक्यार्थ होता है और उसका जनक पदसमूह होता है। और योग्यता के अन्दर यह परम्परा सम्बन्ध "स्वाश्रयोपस्थापकत्व" सम्बन्ध से पदों में रहता है अर्थात् "स्व" शब्द से योग्यता, उसका आश्रय पदार्थ, उसका उपस्थापक पदसमूह होता है। इसी प्रकार से "आसत्ति" जो कि आत्मा का धर्म हे, उसका भी समाधान कर लेना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि आकांक्षा और आसत्ति के आत्मा का धर्म हो ने के कारण और यौग्यता का पदार्थ का धर्म होने के कारण जो पदसमुदाय का धर्म कहा है उसे उपचार प्रयोग से ही समझना चाहिए)।

वाक्योच्चयो महावाक्यम-

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव।
इत्थं वाक्यं द्विधा मतम्॥1॥

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च।

उक्तं न तन्त्रवार्तिके-

'स्वाथबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
वावयानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते॥' इति।

तत्र वाक्यं यथा-'शून्यं वासगृहम्'-इत्यादि। महाकाव्यं यथा-रामायण-महाभारत-रघुवशादि।

अर्थ:- (महावाक्य का लक्षण) वाक्योच्च इति-वाक्यों का (दो वाक्यों का बहुत से वाक्यों का) समुदाय महावाक्य कहलाता है। (योग्यताकांक्षसत्ति इन तीन के अभाव में यदि महावाक्यत्व स्वीकार किया जायेगा तो "चक्षुषा गृह्यतां, गगनं वर्तते" इनका, **"भिक्षुरूपविशति, गृही भुङ्क्ते"** इनका तथा भिन्न दिवस में उच्चरित "चक्षुषा गृह्यताम्, घटो वर्तते" इन सभी का महावाक्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा, अत: कहा है कि) योग्येतेति-योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से ययुक्त ही (वाक्यों के समूह को महावाक्य कहते हैं)।

इत्थमिति-इस प्रकार वाक्य दो प्रकार के माने गये हैं। (एक वाक्य और दूसरा महावाक्य)। "इत्थम्"- का अर्थ है वाक्य रूप से और महावाक्य रूप से।

और तन्त्रवार्तिक में कहा भी है-"स्वार्थेति"-अपने अपने अर्थ का बोध कराके समाप्त हुये (निराकांक्ष) वाक्यों के अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्धा से (आकांक्षा के कारण गुण-प्रधान भाव से) पुन: मिलकर (एक अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण मिलकर स्थिति) एक वाक्य (महावाक्य) होता है। (इसी प्रकार पदसमुदाय के विषय में भी समझना चाहिये क्योंकि-

स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
पदानामेकपदता पुनः संहत्य जायते॥ इति) ।

तत्रेति-उनमें वाक्य का उदाहरण-"शून्यं वासगृहम्'-इत्यादि। (१८ पृष्ठ) है और महावाक्य का उदाहरण-"रामायण-महाभारत-रघुवंशादि" हैं।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम।

तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह-

वर्णाः पदं प्रयोगार्हाननन्वितैकार्थबोधकाः।

यथा-घटाः। प्रयोगार्हेति प्रातिपादिकस्य व्यवच्छेदः। अननन्वितेति वाक्यमहावाक्ययोः। एकेति साकाक्षानेकपदवाक्यानाम्। अर्थबोधका इति कचटतपेत्यादीनाम्। वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम्।

अवतरणिका:- पद का लक्षण करने के लिए प्रसङ्ग संगति दिखलाते हैं।

अर्थ:- पदोच्चय इति- पदसमुदाय वाक्य होता है, यह कहा जा चुका है, अत: पद का लक्षण क्या है? इसलिये (पद का लक्षण) कहते हैं- वर्णा इति-

प्रयोग के योग्य, अनन्वित एक अर्थ का बोधा कराने वाले वर्ण (स्वर और व्यंजन) पद कहाते हैं। जैसे- घट। (यह वर्ण-समुदाय प्रयोग के योग्य है-व्याकरणादि से शुद्ध होने के कारण वाक्य में इसका प्रयोग हो सकता है और इस पदार्थों से असम्बन्ध (अनन्वित) एक अर्थ (घड़े) का बोधक है। अत: यह पद है।)

(उक्त लक्षण के पदकृत्य दिखाते हैं)-प्रयोगार्हेति-("नापदं शास्त्रे प्रयुञ्जीत"-शास्त्र के अन्दर अपद का प्रयोग नहीं करना चाहिये और विभिक्ति रहित पद प्रयोग के योग्य नहीं होता है, अत: इस लक्षण में) "प्रयोगार्हं" ऐसा कह कर "प्रतिपदिक" की व्यावृत्ति कर दी। (अर्थात् केवल प्रातिपदिक-जिससे विभिक्ति नहीं आई है-प्रयोग के योग्य नहीं होता। महाभाष्यकार ने कहा है कि "नापि केवला प्रकृति: प्रयोक्तव्या नापि केवल: प्रत्यय:"। इसी "प्रातिपदिक" उपलक्षण से "धातु" का भी निषेध हो गया क्योंकि केवल उसका भी प्रयोग नहीं हो सकता।) अनन्वितेति-"अनन्वित" ऐसा कहने से वाक्य और महावाक्य की निवृत्ति हो गई क्योंकि उनसे अन्वित बोध होता है, अनन्वित का नहीं। एकेति-"एक" ऐसा कहने से साकांक्ष, अनेक पद और अनेक वाक्यों का व्यवच्छेद होता है। "अर्थबोधका इति"-"अर्थ का बोध कराने वाले" ऐसा कहकर क-च-ट-त-प इत्यादि का जो अर्थ का बोधा नहीं कराते हैं उनकी व्यवृत्ति हो जाती है। वर्णा इति-"**वर्णाः**" इस पद में बहुवचन अविवक्षित है। यह आवश्यक नहीं कि बहुत वर्णों के होने पर ही पद हो, एक या दो वर्णों के भी पद होते हैं।

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः॥2॥

ऐषां स्वरूपमाह-

(अर्थ-निरूपणम्)

अवतरणिका:- योग्यता को बताने वाले पद के अर्थों का विवेचन करते हैं।

अर्थ:-अर्थ इति-अर्थ, वाक्य, लक्ष्य और व्यंग्य (भेद से) तीन प्रकार का माना गया है। (अर्थात् अर्थ तीन प्रकार का माना गया है-(१)वाच्य, (२) लक्ष्य और (३)व्यंग्य)।

ऐषामिति-इनका (वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य का क्रमश:) असाधारण लक्षण बताते हैं।

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोधयो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ता स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः॥3॥

ता अभिधाद्याः।

तत्र संकेतितार्थस्य बोधानादिग्रिमाभिधा।

उत्तमवृद्धेन मधयमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते, अनन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभयां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणामर्थः' इति संकेतमवधारयति।

अर्थ- वाच्य इति- अभिधा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ वाच्य, लक्षणा के द्वारा बोधत होने वाला अर्थ लक्ष्य, (और) व्यञ्जना से बोधित होने वाला अर्थ व्यंग्य कहाता है। (इस प्रकार) ये तीन (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) शब्द की शक्तियां होती हैं। (कारिका में प्रयुक्त) "ता:" का अर्थ "अभिवाद्या:" अर्थात् अभिधा आदि (अर्थात् लक्षणा और व्यञ्जना) है।

(१) अभिधा का लक्षण:-

तत्रेति-उनमें (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना-इन शब्दशक्तियों में संकेतित (मुख्य) अर्थ का (कोश, व्याकरणादि से नियन्त्रित अर्थ का) ज्ञान कराने से सबसे पहली (शक्ति का नाम) अभिधा शक्ति है।

अवतरणिका:-संकेतग्रह के उपाय बताते हैं।

उत्तवृद्धेनेति-उत्तम वृद्ध के द्वसास मध्यमवृद्ध को लक्ष्य करके (प्रयोजक-प्रयोज्य भाव को स्पष्ट करने के लिए उत्तम और मधयम वृद्ध की कल्पना की गई है) "गाय लाओ" ऐसा कहने पर उसको (मध्यम वृद्ध को, गाय को लाने में प्रवृत्त समझ कर बालक (जिसको संकेत का ज्ञान नहीं है) इस वाक्य का (गामानय:=गाय लाओ) शक्ति ग्रहण से पूर्व "सास्नादिमान् शरीर (जीव) को ले आना यह अर्थ है' ऐसा समझता है, (यहां पर सास्ना का अर्थ गलकम्बल है और आदि पद से लाङ्गूल, ककुद् और खुरादि का ग्रहण होता है) और इसके बाद "गाय को बांध दो" "घोड़ को लाओ" इत्यादि वाक्य में आवापोद्वाप (अन्वय,-व्यतिरेक) के द्वारा (अर्थात् "गाय बांध दो" यहां पर "गौ" इस पद से सास्नादिमान् पदार्थ का बोध हुआ तथा "बधान" इसके द्वारा पहले कहे हुये "अनाय" इस पद से भिन्न लाये जाने वाले पदार्थ बोध का अभाव हुआ अर्थात् पहले तो "गामानय" ऐसा कहने पर बालक ने देखा था कि उत्तम वृद्ध के कहने के साथ ही मध्यम वृद्ध उठकर चल दिया था और सास्नादिमान् पदार्थ को लाया था परन्तु "बधान" कहने पर वह इस "आनयन" क्रिया का अभाव देखता है। इसी प्रकार "घोड़ा लाओ" यहां पर बालक ने देखा कि इस बार "गामानय" की तरह सास्नादिमान पदार्थ का अभाव हुआ और "आनय" इस पद से आहरण की क्रिया पूर्ववत् हुई ऐसा ज्ञान उस बालक को **अन्वय:**- व्यतिरेक द्वारा होता है।) गो शब्द का "सास्नादिमान् अर्थ" और "आनयन" पद का "लाना अर्थ" इस प्रकार संकेत (अभिधा नामक शक्ति) को निश्चित करता है। (इस प्रकार व्यवहार से शक्ति ग्रहण होता है।)।

क्वचिच्च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात् यथा- 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यत्र। क्वचिदाप्तोपदेशात्, यथा-'अयमश्वशब्दवाच्यः' इत्यत्र। तं च सङ्केतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शवत्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम।

अर्थ:- और कहीं प्रसिद्ध अर्थ पाने वाले पद के साहचर्य से (शक्तिग्रह होता है), (अर्थात् देखने वाले प्राय: योग्य पदार्थ के उपस्थापक पद का पास में ही प्रयोग करते हैं। अत: प्रसिद्ध पदार्थ के अन्वय की योग्यता वाले अर्थ का ग्रहण हो जाता है।) जैसे' इह प्रभिन्नेति-"यहां विकसित कमल के मध्य भाग में मधुकर मधु का पान कर रहा है" यहां पर। ("कमले मधु पिबति" इस प्रकार के पदों की अन्वय योग्यता को बताने वाले ज्ञान द्वारा "मधुकर:" इस पद का "भ्रमर" में ही शक्तिग्रह है। "मधुकर" का अर्थ "शहद बनाने वाली मक्खी" अन्दर शक्तिग्रह नहीं है यद्यपि "मधुकर" इस पद के अन्दर यह दूसरा अर्थ बताने की योग्यता है परन्तु वक्ता के तात्पर्य विशेष के इसका शक्तिग्रहण नहीं होगा। कमल के अन्दर भ्रमर ही रसपान करता है, ऐसा जानने वाला मनुष्य कमल पद के साहचर्य से "मधुकर" पद का अर्थ "भ्रमर" ग्रहण कर लेता है।)

कहीं आप्त (विश्वस्त, प्रामाणिक) पुरूष के कथन से (शक्तिग्रह होता है)।

यथेति- (जैस-किसी बालक से उसके पिता ने घोड़े का लक्ष्य करके कहा कि) "यह घोड़ा है"-यहां पर (उसे घोड़ा पद की शक्ति उस जीव में गृहीत हुई) **तं चेति**- और उस संकेतित अर्थ का ज्ञान कराने वाली दूसरी शक्ति से अव्यवहित शब्द की अभिध ा नामक शक्ति है।

सङ्कतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च।।4।।

अवतरणिका-संकेतग्रह के विषय में दो विचारधारायें हैं- (१) एक के मत में तो संकेत-ग्रह व्यक्ति के अन्दर होता है और (२) दूसरे के मत में संकेतग्रह पदार्थों की उपाधियों में होता है। अत: यहां पर "व्यक्ति के अन्दर संकेतग्रह" का निराकरण करके व्यक्ति की "उपाधि के अन्दर संकेतग्रह" का प्रतिपादन करते है।

अर्थ- संकेत इति-जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में संकेत का ग्रहण होता है।

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका। गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः। शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति। द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थडवित्थदयः। क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्मा पाकादयः। एषु हि अधि श्रयणावश्रयणान्तादिपूर्व परीभूतो व्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः। एष्वेव हि व्यक्तेरूपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ; आनन्त्यव्य भिचारदोषापातात्।

अर्थ- जाति का लक्षण-जातिरिति-गौ व्यक्ति आदि में गोत्वादि जाति होती है। (गुण का लक्षण) गुण इति-(पदार्थ में) विशेषत का

आधान करने का कारणभूत वस्तुधर्म, जो पहले से सिद्ध (नित्यण) है (इस मत में गुण भी नित्य है) (साध्य नहीं) [illegible] हैं। (विशेषाधान के कारण को स्पष्ट करते हैं) शुक्लादयो हीति-शुक्ल आदि (गुण ही) गौ आदि को सजातीय कृष्ण [illegible] पृथक् करते हैं। (द्रव्य का लक्षण) द्रव्येति-एक व्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ, डवित्थ आदि द्रव्य शब्द या यदृच्छा [illegible] (द्रव्य को ही संज्ञा कहते हैं और संज्ञा दो प्रकार की होती है (१)चिरन्तनी और (२)आधुनिकी। (१ चिरन्तनी को [illegible] हरि, हर आदि और (२) आधुनिकी के उदाहरण हैं- डित्थ, डवित्थ आदि।) (क्रिया का लक्षण) क्रिया [illegible] वस्तु [illegible] रूप धर्म पाकादिक क्रिया कहाते हैं (गुण और क्रिया में अन्तर-क्रिया साध्य होती है जब कि गुण वस्तु में पहले से [illegible] हैं। इसीलिये गुण "सिद्धवस्तु धर्म" कहाते हैं और क्रिया "साध्यधर्म" कहाती है।) एषु हीति-इन साध्यरूप वस्तुधर्म में [illegible] लेकर अर्थात् किसी पात्र को चूल्हे पर चढ़ाने से लेकर अवश्रयण तक अर्थात् पक जाने के बाद नीचे उतारने तक [illegible] के जितने भी कार्य व्यवहारों का समुदाय है वह सब पाकादि शब्द से व्यवहृत होता है। अर्थात् इन सब [illegible] "पाक" है। एष्वेव-इन्हीं जात्यादि चारों के मध्य जो व्यक्ति के उपाधिधर्म जाति, गुण, क्रियारूप हैं उन्हीं में [illegible] व्यक्ति में नहीं; (क्योंकि यदि व्यक्ति के अन्दर संकेतग्रह मानेंगे तो) "आनन्त्य" और "व्यभिचार" दोष आने के कारण

अथ लक्षणा-

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थ प्रतीयते।
रूढ़े प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥5॥

अर्थ- "अभिधा" के निरूपण के अनन्तर "लक्षणा" का निरूपण करते हैं।

अवतरणिका- शब्द की, अर्थ का ज्ञान करने में तीन शक्तियां होती हैं- अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इनमें से अभिधा [illegible] निरूपण किया जा चुका है। अब लक्षणा का निरूपण किया जा रहा है। शब्द की मुख्यशक्ति अभिधा है। क्योंकि वह [illegible] संकेतित अर्थ का ही ज्ञान कराती है और यह संकेत ईश्वर के द्वारा नियत किया गया है। किन्तु लक्षणा शक्ति इस प्रकार [illegible] इसका तो शब्द में आरोप किया जाता है जब कि अभिधा स्वयं शब्द की विद्यमान रहती है। इसीलिये यह शब्द का मुख्य [illegible] होकर अमुख्य (गौण) शक्ति है। "अभिधावृत्तिमातृका" नामक अपने ग्रंथ में मुकुलभट्ट ने लिखा है-

"शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणात्वमुच्यते॥

सार यह है कि पद और पद के अर्थ के सम्बन्धा को अभिधा शक्ति कहते हैं और वाच्यार्थ के सम्बन्धा का लक्षणा कहते [illegible] शब्द का "लक्षणं लक्षणा" इस भाव प्रधान व्युत्पत्ति द्वारा, "लक्ष्यते अनया इति" इस कारण प्रधान व्युत्पत्ति के द्वारा, [illegible] विग्रह करते हैं। भावव्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ ज्ञान की और करण व्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ ज्ञान के उत्पादक व्यापार की प्रतीति होती है। मीमांसकादिकों ने और मम्टभट्ट ने भवव्युत्पत्ति को ही स्वीकार किया है। शब्दार्थ बोधा का ज्ञान कराने वाले तीन शास्त्र (१)व्याकरण, (२)न्याय और (३) पूर्वमीमांसा। (१)इनमें से व्याकरण महाभाष्य के अन्दर "पयोगादाख्यायाम्" [illegible] सूत्र के भाष्य पर मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्धा में इस प्रकार वर्णन है कि वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ ज्ञान चार प्रकार से हो सकता (१)तात्स्थात्, (२) ताद्धर्म्यात्, (३)तत्सामीप्यात्, (४) तत्साहचर्यात्। **"मञ्चाः हसन्ति"** यहां तात्स्थ्य, **"सिंहो माणवकः"** [illegible] ताद्धर्म्य, **"गंगायां घोषः"** यहां समीप्य, **"यष्टीः प्रवेशय"** यहां साहचर्य सम्बन्ध है। इनसे लक्ष्यार्थ ज्ञान की प्रतीति होती है। महर्षि गौतम प्रणीत न्याय दर्शन के अन्दर लक्षणा का निर्देश इस प्रकार है- "सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान धारण सामीप्य [illegible] नाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गंगा शकटात्र पुरूषेष्वतद्भवेऽपि तदुपचारः" (२ अध्याय २ आह्निक [illegible] (३) इसी प्रकार "वाक्यपदीय" के द्वितीय काण्ड में इस प्रकार लक्षणा की चर्चा है-

"यथा सास्नादिमान् पिण्डो गौशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गौशब्दो वाहीकेऽपि व्यस्थितः॥254॥
सर्वशक्तेस्तु तस्येव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद्गौणत्वं मुख्यत्वं चोपयंते॥255॥
गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात्कैशिचदिष्यते।
अर्थमात्रं विपर्यन्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः॥257॥
जातेर्वा लक्षणा यस्मात् सर्वथा सप्तपर्णवत्॥311॥

काकेभ्यां रक्ष्यतां सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः।
उपधातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति॥" 314॥

इसके अन्नतन्र कुमारिलभट्ट के तन्त्रवार्तिक नामक ग्रन्थ में लक्षणा तथा गौणवृत्तिका लक्षण मिलता है।

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते॥
लक्ष्यमाणगुणौर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।" (तन्त्रवार्तिके १ अ० ४ पाद २२ सूत्रम्)

इसी ग्रन्थ में आगे चलकर निरूढालक्षणा के भेद बतलाये हैं।

"निरूढालक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तिः॥" (तन्त्रवार्तिके १ अ०९ १ पा० ८ सूत्रम्)

काव्यप्रकाशकार ने भी शब्दव्यापार पर विचार करते हुये "काव्यप्रकाश" में विस्तार से लक्षणा और उसके भेदोपभेद पर विवेचर किया है। इस प्रकार गंगेशोपाध्याय की "तत्त्वचिन्तमणि" में, जगदीश तर्कालंकारकी "शब्दशक्तिप्रकाशिका" में, "न्यायसिद्धान्तमुक्तावली" में, "चंद्रलोक" में, धार्मराजाध्वरीन्द्र की "वेदान्त परिभाषा" में और आशाधर की "त्रिवेणिका" आदि ग्रन्थों में लक्षणा का विचार विस्तार से मिलता है। भक्ति, उपचार व अमुख्यावृत्ति आदि शब्द लक्षणा के ही नामान्तर हैं। अब लक्षणा शक्ति का निरूपण करते हैं-मुख्यार्थेति

अर्थ- मुख्यार्थ का बोध होने पर (अर्थात् अभिधा के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का वाक्य में अभिमत तात्पर्य अर्थ का ज्ञान कराने में अनुपपन्न होने पर) मुख्यार्थ से सम्बन्धित (किन्तु) मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ (अर्थात गौण) रूढ़ि के कारण अथवा प्रयोजन के कारण, जिस शक्ति के द्वारा होता है वह शक्ति "अर्पित" (अर्थात् कल्पित या अमुख्य) लक्षणा कहलाती है।

'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपे स्वार्थेऽसंभवन् यया शब्दशक्त्या स्वंयुक्तान् पुरूषादीन् प्रत्याययति, यथा च 'गङ्गयां' घोषाः' इत्यादौ गङ्गादिशब्दौ जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात्प्रकृतेऽसंभवन् स्वस्य सामीप्यादिसंबन्ध ाबन्धिनं तटादि बोधयति, सा शब्दस्यार्पिता स्वभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम।

अवतरणिका-रूढ़िमूलक और प्रयोजनमूलक लक्षणाओं के लक्षण को उदाहरणों द्वारा समन्वय करते हुए कारिका की व्याख्या करते हैं। "कलिङ्ग" इति-

अर्थ- "कलिङ्ग साहसी है" इत्यादि वाक्य में कलिङ्गादि शब्द देशविशेष के रूप में अपने अर्थ में अनुपपन्न होते हुये जिस शब्द की शक्ति के द्वारा अपने अर्थ से संयुक्त पुरूषादिकों का प्रत्यय कराते हैं, तथा जिससे (शब्द की शक्ति के द्वारा) "गंगा में घोष है" इत्यादि वाक्य में गंगादि शब्द जलमयादिरूप अर्थ के वाचक होने कारण (अपने) प्रकृत अर्थ में अनुपपन्न होकर अपने (अर्थ) के सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बन्धित तटादि का बोधा कराते हैं वह शब्द की अर्पित (अमुख्य) अस्वाभाविक अथ्वा ईश्वर से अनुद्भावित शक्ति लक्षणा नाम वाली है।

पूर्वत्र हेतु रूढ़िः प्रसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गङ्गातटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम्। हेतु विनाषि यस्य कस्यचित्संबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इत्युक्तम्-'रूढ़ेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' इति।

अर्थ- ("कलिङ्गः साहसिकः", "गंगाया घोषः" इन उदाहरणों में से) पहले उदाहरण में (कलिङ्ग साहसिकः) लक्षणा का कारण रूढि (प्रसिद्धि) है (क्योंकि देश वाचक शब्दों से देशस्थित पुरूषों की प्रतीति संसार में होती है अतः, कलिङ्गादि शब्द तत्तद्देशवासियों में प्रसिद्धि है)। उत्तरत्रेति-दूसरे उदाहरण में गंगायां घोषः) लक्षणा का हेतु "प्रयोजन" है। "गंगा के किनारे घोष है" (इस वाक्य से) जो शीतता और पावनता के अतिशय का बोध नहीं होता (क्योंकि किनारा बहुत दूर तक माना जाता है) वह बात "गंगा पर घोष" इस वाक्य में लक्षणा के अन्तर व्यञ्जना से प्रतीति होती है। यही "अतिशीतेऽतिपावने च तीरे घोषः" लक्षणा का प्रयोजन है। हेतु विनेति-हेतु के विना, जिस किसी सम्बन्धी का लक्षणा शक्ति से बोधन करने लगे तो अनेक स्थलों में अतिव्याप्ति का प्रसंङ्ग होगा; इसलिये तो कहा है कि "रूढ़ेः प्रयोजनाद्वापि" अर्थात् लक्षणा के लिये रूढ़ि या प्रयोजन इनमें से किसी एक हेतु का होना आवश्यक है।

केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढाबुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः- कुशांल्लातीति व्युत्पत्त्पिलभ्यः कुशग्रहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन् विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यते। कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि

दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्वच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमेर्डोः' (उणादि-२/६७) इति गम्धातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात्।

तद्ददाह-

अवतरणिका-काव्यप्रकाशकर ने "कर्मणि कुशलः" इस उदाहरण के अन्दर रूढ़ि लक्षणा मानी जाती है। अतः इस मत का निराकरण कहते हैं।

अर्थ- (पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हैं) कुछ (व्यक्ति) "कर्मणि कुशलः" इस (वाक्य) को रूढ़ि (लक्षणा) का उदाहरण मानते हैं उनका यह अभिप्राय है कि "कुशान् लाति=गृह्णाति इति कुशलः" इस व्युत्पत्ति से "कुशलः" का अर्थ हुआ "कुशों का ग्रहण करने वाला" अर्थात् "कुशल" इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कुश ग्राहक रूप है। (परन्तु यह अर्थ प्रसंग प्राप्त "कर्मणि" इस विषय में प्रवृत्ति अर्थ में अनुपपन्न होने के कारण विवेचकत्वादि साधर्म्य सम्बन्धा से (अपने) सम्बन्धी चतुररूप अर्थ का (लक्षणा की द्वारा) बोध कराता है। (अतः इस उदाहरण के अन्दर मुख्यार्थ (कुशग्राहक रूप अर्थ) का बोध हुआ है, और इसका मूलकारण रूढ़ि है अतः अन्यार्थ (चतुररूप अर्थ) का बोध कराने के कारण रूढ़ि लक्षणा माननी चाहिये) (उत्तरपक्ष) तदन्ये इति-इसका (अर्थात् "कर्मणि कुशलः" में रूढ़ि लक्षणा है) दूसरे व्यक्ति नहीं मानते हैं (क्योंकि) यद्यपि "कुशान् लातीति कुशलः" इस व्युत्पत्ति के द्वारा कुशग्रहाकरूप अर्थ के प्राप्त होने पर भी इसका मुख्यार्थ चतुररूप ही है। क्योंकि शब्दों की व्युत्पत्तिका निमित्त अन्य होता है और प्रवृत्ति का निमित्त अन्य। (और शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त ही प्रवृत्ति हो, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि यदि "याचक" का व्युत्पत्ति निमित्त और प्रवृत्ति निमित्त एक न होने से व्यभिचार आता है। इसलिये व्युत्पत्ति निमित्त ही प्रवृत्ति निमित्त हो यह नियम नहीं है) (व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ की मुख्यता स्वीकार करने पर दोष आता है) (व्युत्पत्तिलभ्यस्येति-व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की मुख्यार्थता स्वीकार करने पर "गौः शेते" -"गाय सोती है" यहां पर भी लक्षणा हो जायेगी। (क्योंकि) गमनार्थक गम् धातु से "गमेर्डोः" इस आणादिक सूत्र से "डो" "गच्छतीति गौः" अर्थात् जो चलती है वह गाय है) इस प्रकार गो शब्द का शयन के समय प्रयोग अनुपपन्न होगा। क्योंकि नहीं होगा। अतः व्युत्पत्ति निमित्त को ही प्रवृत्ति निमित्त मानना ठीक नहीं। इसी प्रकार "कर्मणि कुशलः" में व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कुशग्राहकरूप अर्थ मुख्य नहीं है। अतः वह रूढ़िलक्षणा का भी उदाहरण नहीं हो सकता है।)।

अर्थ- लक्षणा के भेद बताते हैं- (लक्षणा का सामान्य लक्षणपा देकर विशिष्ट लक्षण करते हैं)।

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा॥6॥

रूढावुपादानलक्षणा यथा- 'श्वेतो धावति'। प्रयोजने यथा- 'कुन्ताः प्रविशन्ति'। अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनानां केवलैर्धावप्रवेशानक्रिययो कर्तुतयान्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसम्बन्धिनोऽश्वादयः पुरूषाद यश्चाक्षिप्यन्ते। पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद्रूढिः, उत्तरत्र तु कुन्तादीनादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनम्। अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानाम्। लक्षणलक्षणायास्तु परस्यैवोपलक्षण-मित्यनयोर्भेदः। इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते।

अर्थ- वाक्यार्थ के द्वारा वाक्यार्थ में (तात्पर्य के विषयीभूत वाक्यार्थ में) वाक्य के अन्दर विद्यमान अन्वय की सिद्धि के लिये (इस वृत्ति के द्वारा) अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है (वहां) मुख्यार्थ का भी (आत्मनोऽपि) ग्रहण होने के कारण यह "उपादान लक्षणा" कहलाती है।

(१) "उपादान लक्षणा'- इसका नाम सार्थकता के लिये दो प्रकार से निरुक्ति की जा सकती है-

(क) "मुख्यार्थ विषयिणी, प्रतीतिरुपादानम् तद्धेतुर्लक्षणा उपादानलक्षणा।"

(ख) उपादीयते स्वार्थो गृह्यतेऽनेनेत्युपादानम्, तन्नाम्नी लक्षणा उपादानलक्षणा।"

अवतरणिका- लक्षणा के दो कारण होते हैं (१) रूढ़ि और (२) प्रयोजन। ऐसा पूर्व कहा जा चुका है। अब क्रमशः उदाहरण देते

अर्थ- रूढ़ि में उपादानलक्षणा (का उदाहरण) यथा,-"श्वेतो धावति", "श्वेत दौड़ रहा है"। (किसी व्यक्ति ने किसी पर कर अन्य व्यक्ति से पूछा है कि कौन सा घोड़ा दौड़ रहा है, उसने उत्तर दिया कि "श्वेत दौड़ रहा है" इति) प्रयोजन में (उपादानलक्षणा का उदाहरण) यथा,-"कुन्ताः प्रविशान्ति", "भाले प्रवेश कर रहे हैं"। (भाले लेकर किसी स्थान पर सैनिकों के प्रवेश करने पर किसी ने दूसरे से पूछा कि "कौन जा रहे हैं" तब दूसरे ने उत्तर दिया कि "भाले प्रवेश कर रहे हैं"। इति) (ऊपर के दिये हुये "श्वेतो धावति", "कुन्ता प्रविशन्ति" इन दोनों उदाहरणों के अन्दर लक्षणा को घटाते हैं) अनयोरिति-इन दोनों उदाहरणों में ("श्वेतो धावति", "कुन्ताः प्रविशन्त" यहां पर यह दोनों उदाहरण तो उपलक्षणप मात्र हैं, अन्य स्थानों पर भी ऐसी ही समझना। इसीलि

"श्वेतादिभिः" और "कुन्तादिभिः" कहा है।) श्वेत (वर्ण) और कुन्त (भाले) अचेतन होने के कारण दूसरों से अनन्वित (केवलैः) दौड़ने और प्रवेश की क्रिया में कर्तृत्वेन अन्वित न होते हुये (अर्थात् "धावति" और "प्रविशन्ति" इन क्रियाओं के कर्ता "श्वेत" और "कुन्ताः" नहीं हो सकते क्योंकि ये दोनों ही अचेतन हैं। किसी भी क्रिया का कर्ता चेतन होना चाहिये जो क्रिया कर सके) इन क्रियाओं (दौड़ना और प्रवेश करना) के कर्तृत्त्व के बोधन के लिये (क्रमशः समवायीभाव से विद्यमान) अपने संयोगी अश्वादि का और पुरुषादिकों का आक्षेप कराते हैं। (अर्थात् "श्वेतः" शब्द समवाय सम्बन्ध से श्वेत रंगवाले अश्व का और कुन्ताः शब्दा समवाय सम्बन्ध से भाले धारण करने वाले पुरुषों का आक्षेप करते हैं)। पूर्वत्रेति-पहले उदाहरण में (श्वेतो धावति) (किसी भी) प्रयोजन का अभाव होने के कारण रूढ़िमूला लक्षणा है। दूसरे उदाहरण ("कुन्ताः प्रविशन्ति") में कुन्तादिकों की अतिगहनता को सूचित करना प्रयोजन है- (अतः प्रयोजनमूला अक्षणा है)। अत्रेति-उपापदानलक्ष्पाणा और लक्षणालक्षण के अन्दर भेद दिखाते हैं) यहां पर (उपादानलक्षणा में दोनों प्रकार की रूढिमूला और प्रयोजनमूला) मुख्यार्थ में अपना भी (लक्ष्यार्थ में) ग्रहण होता है; (परन्तु) "लक्षणलक्षणा" में तो (मुख्यार्थ) दूसरे का ही (लक्ष्यार्थ का ही) उपलक्षणा होता है; यही इन दोनों में भेद है। अर्थात् "उपादान-लक्षणा" के अन्दर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ में ग्रहण होता है और "लक्षणलक्षणा" के अन्दर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ में ग्रहण होता है और "लक्षणलक्षणा" के अन्दर मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ का उपलक्षण होता है यही भेद हैं। इयमेव- इसी (उपादानलक्षणा) को "अजहस्स्ववार्था" भी कहते हैं। (क्योंकि "अजहदत्यजन् स्वार्थों यामिति अजहत्स्वार्था" अर्थात् इसमें स्वार्थ (मुख्यार्थ) का परित्याग नहीं होता।)

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा॥7॥

रूढिप्रयोनयोर्लक्षणलक्षणा यथा-'कलिङ्गः साहसिकः', 'गङ्गायां घोषः' इति च। अनयोर्हि पुरुषतटयोववियार्थेऽन्वसिद्धये कलिङ्गगङ्गशब्दावात्मानर्मयतः।

अवतरणिका- "लक्षणालक्षणा" का लक्षण करते हैं-

अर्थ- वाक्यार्थ में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की (परस्य) अन्वय सिद्धि के लिये अपने अर्थ का परित्याग (जिस वृत्ति के द्वारा) होता है अर्थात् जो शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण जिस वृत्ति द्वारा हो जाता है (वह) उपलक्षण का हेतु होने के कारण "लक्षणलक्षणा' कहलाती है।

अवतरणिकाः- "लक्षणलक्षणा" का क्रमशः रूढ़ि और प्रयोजन में उदाहरण देते हैं-

अर्थ- रूढ़ि और प्रयोजन में क्रमशः लक्षलक्षणा का (उदाहरण देते हैं) यथा, "कलिङ्ग साहस है;" इति, "गंगायां घोषः", "गंगा में घोष है", इति। इन दोनों उदाहरणों में (क्रमशः) पुरुष और तट के (अन्वय को) वाक्यार्थ में अन्वय सिद्धि के लिये 'कलिङ्ग' और 'गंगा' शब्द अपने आपको योगी बनाते हैं। अर्थात् पुरुष और तट का बोध कराने के लिए अपने आपको उपयोगी बनाते हैं। अथवा "आत्मातम्" मुख्यार्थम् "आर्पयतः" परित्यजतः। ये दोनों पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग करते हैं।

यथा वा-

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्येते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशीमेव सदा सखे! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥'

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानर्मयन्ति। अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रदिपादनान्मुख्यार्थबाधो वैपरीत्यलक्षणः सम्बन्धः, फलमपकारातिशयः। इयमेव जहत्स्वाथत्युच्यते।

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ताः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः

अर्थ- अथवा जैसे- (अत्यन्त उपकार करने वाले के प्रति यह उक्ति है) हे सखे! (आपने) जितना सम्भव हो सका, उतना) उपकार किया है, (मेरे आनष्ट जात की निवृत्ति के लिये और इष्ट सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया है), उसे (उपकार के) विषय में क्या कहा जाय? (उस विषय में कुछ भी कहना शेष नहीं रहता है), आपने अत्यन्त सौजन्य प्रकट किया है (उपकार न करने वाले मेरे प्रति जो अपने बहुत से उपकार किए हैं वह आपकी सज्जनता ही है), (अतः) हे सखे! इसी प्रकार ही (सौजन्य को) करते हुए तदनन्तर (ततः) सौ वर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक जीते रहिये।

यहां अपकारादिकों को वाक्यार्थ में (वक्ता के तात्पर्य के विषय में) अन्वय सिद्ध करने के लिये "उपकृतं", "सुजनता" आदि शब्द अपने अर्थ को छोड़कर विपरीत अर्थ अपकारादि को लक्षित करते हैं। यहां पर अपकारों के प्रति उपकारादि के प्रतिपादन से मुख्यार्थ

का बोध है, (और मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का)। वैपरीत्यरूप लक्षण सम्बन्धा है; अपकार की बहुतलता (का बोध करना) फल है। यही (लक्षण लक्षणा), "जहत्स्वार्थी" कहलाती है (जहत् त्यजन् स्वार्थो यां सा जहत्स्वार्थो इति)।।

अवतरणिका:- इस प्रकार लक्षणा के चार भेद (१) रूढ़ि उपादानलक्षणा, (२) रूढ़ि लक्षणलक्षणा, (३) प्रयोजन उपादान लक्षणा (४) प्रयोजन लक्षणलक्षणा कहे जा चुके हैं। पुन: उन दोनों के भी दो-दो भेद बताते हैं।

अर्थ- पूर्वोक्त चारों प्रकार को [(१)रूढ़ि उपादानलक्षणा, (२) रूढ़ि लक्षणलक्षणा, (३) प्रयोजन-उपादान लक्षणा, (४) प्रयोजन लक्षणलक्षणा] लक्षणायें आरोप (अहार्य्याभेद प्रतीति) और अधयवसान (सिद्धाभेद प्रतीति:) भेद से पुन: प्रत्येक दो-दो प्रकार की होती है। अर्थात्-

(१) सरापा रूढ़ि हेतुका उपादानलक्षणा

(२) सारोपो रूढ़ि हेतुका लक्षणलक्षणा

(३) सारोपा प्रयोजनहेतुका उपादानलक्षणा

(४) सारोपा प्रयोजनहेतुका लक्षणलक्षणा

(५) साध्यवसान रूढ़िहेतुका उपादानलक्षणा

(६) साध्यवसाना रूढ़िहेतुका लक्षणलक्षणा

(७) साध्यवसाना प्रयोजनहेतुका उपादानलक्षणा

(८) साध्यवसानान प्रयोजनहेतुका लक्षणलक्षणा।

इस प्रकार "लक्षणा" के आठ भेद हुये।

विषस्यानिगोर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्।।8।।

विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनेव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा। इयमेव रूपकालङ्करस्य बीजम्।

रूढावुपादानलक्षणा सारोपा यथा-'अश्व: श्वेतो धावति'। अत्र हि श्वेतागुणानश्वोऽनिगीर्णस्वरूप: स्वसभवेतगुणतादात्म्यन प्रतीयते।

अवतरणिका:- सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाओं का निरूपण करते हैं:-

अर्थ- अनिगीर्ण (अनाच्छादित स्वरूप) स्वरूप विषय का (उपमेय का) अन्य (उपमान) के साथ अभेद प्रतिपत्ति कराने वाली (लक्षणा) "सारोपा" होती है और निगीर्णा (आच्छादित) स्वरूप विषय का (उपमेय का) विषयी के साथ अभेद ज्ञान कराने वाली लक्षणा "साध्यवसाना" कही गयी है।

अर्थ- विषयी के साथ अनिगीर्णा (अनाच्छादित) विषय का उसी के साथ (विषयी के साथ) तादात्म्य (अभेद) की प्रतीति कराने वाली "सारोपा" है। इयमेवेति-यही (सारोपा लक्षणा) रूपकालंकार का बीज है।

रूढ़ि में सारोपा उपादानलक्षणा (का उदाहरणदेते हैं)-यथा-"अश्व: श्वेत: धावति"-"श्वेत घोड़ा दौड़ रहा है" यहां पर श्वेत गुण विशिष्ट अश्व अनिगीर्णा स्वरूप है (क्योंकि जिस प्रकार "श्वेत: धावति" इसके अन्दर "अश्व:" पद "श्वेत" इस पद से नगीर्ण है-आच्छादित है उस प्रकार "अश्व: श्वेत: धावति" यहां पर "अश्व:" पद निगीर्णा नहीं है क्योंकि स्ववाचक शब्द (अश्व) से ही उपलब्धा हो रहा है) तथा अपने में (अश्व में) समवाय सम्बन्ध से विद्यमान श्वेत गुण के तादात्म्य से प्रतीत हो रहा है।

[(१) यहां श्वेत शब्द की श्वेत गुण विशिष्ट में प्रसिद्धि होने के कारण रूढ़ि है।

(२) श्वेत गुण अपने स्वरूप को भी लक्ष्यार्थ के साथ बोधित करता है, अत: यह उपादान लक्षणा है।

(३) अनिगीर्ण स्वरूप अश्व के साथ श्वेत का तादात्म्य प्रतीत होता है, अत: आरोप है। इस प्रकार "अश्व: श्वेत: धावति" में "सारोपा उपादानलक्षणा" हुई"।]

प्रयोजने यथा-'एते कुन्ता: प्रविशन्ति'। अत्र सर्वनाम्ना कुन्धारिपुरुषनिर्देशात् सारोपत्वम्।

रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा- 'कलिङ्ग: पुरुषो युध्यते'। अत्र कलिङ्गपुरुषयोराधाराधेयभाव: सम्बन्ध।

प्रयोजने यथा- 'आयुर्घृतम्'। अत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभाव सम्बन्धासम्बन्धयायुस्तादात्म्येन प्रतीयते। अन्यवैलक्षण्येना-व्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम्।

यथा वा-राजकीये पुरुषे गच्छति 'राजासौ गच्छति' इति। अत्र स्वस्वामिभावलक्षणः सम्बन्धाः। यथा वा-अग्रमात्रेऽवयवभागे 'हस्तोऽयम्'। अत्रावयवावयविभावलक्षणसम्बन्धा। 'ऽब्राह्मणेपि तक्षाऽसौ'। अत्र तात्कर्म्यलक्षणः। इन्द्रर्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः'। अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः। एवमन्यत्रपि। निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्साध्यवसाना। अस्याश्चतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव। तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा।

अर्थ- प्रयोजने यथा इति-प्रयोजन में सारोपा उपादानलक्षणा (का उदहारण देते हैं(यथा- "ऐसे कुन्ताः प्रविशन्ति" (दुर्गे इति शेषः) यहां पर सर्वनाम-"ऐते"-इससे कुन्तधारी पुरुषों का निर्देश करने के कारण (तथा कुन्तों के साथ उनकी अभेद प्रतीति होती है) आरोप है। [(यहां पर धार्य और धारक का सम्बन्ध है)। (१) लक्ष्यार्थ के साथ कुन्तों की भी प्रतीति होती है, अतः उपादान है; (२) कुन्तों का अतिगहनत्व सूचित करना प्रयोजन है, अतः उपादान है; (२) कुन्तों का अतिगहनत्व सूचित करना प्रयोजन है, अतः यहां पर ("ऐते कुन्ता प्रविशन्ति") प्रयोजनवती सारोपा उपादानलक्षणा है)], रूढौ लक्षणलक्षणा इति-रूढ़ि का सारोपा लक्षणलक्षणा (का उदाहरण देते हैं) यथा-कलिंङ्गः पुरुषो युध्यते" [(१) यहां पर "कलिंङ्गः" शब्द कलिंङ्ग देशवासी का उपलक्षण होने के कारण लक्षणलक्षणा है; (२) पृथक् निर्दिष्ट पुरुष के साथ अभेद प्रतीति होने से सारोपा है, (३) प्रसिद्धि के कारण रूढ़ि है, अतः यहां पर "रूढ़ि सारोपा लक्षणलक्षणा" है।] अत्रेति-यहां पर पुरुष और कलिंङ्ग देश के आधार और आधेय भाव सम्बन्धा है। (कलिंङ्ग देश आधार है और पुरुष आधेय है)।

प्रयोजने यथा इति-प्रयोजन में सारोपा लक्षणलक्षणा (का उदाहरण देते हैं) यथा-"आयुर्घृतम्" यहां पर (यद्यपि) आयु का कारण भी घृत कार्यकारण भाव सम्बन्ध से (आयु का) सम्बन्धी (घृत) आयु तादात्म्य (अभेद) से प्रतीति होती है, (अतः यह सारोपा है)। ("आयु" शब्द आयु के कारण को उपलक्षित मात्र करता है, अतः लक्षणलक्षणा है) (तथा) अन्य (वस्तुओं की अपेक्षा) विलक्षणता से भी (आयु को पैदा करता है) तथा अन्य (वस्तुओं की अपेक्षा) विलक्षणता से भी (आयु को पैदा करता है) तथा अव्यभिचारभाव से आयुष्य को करना (इस लक्षणा का) प्रयोजन है। (अतः यहां पर "प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा" है)।

अवतरिणकाः- लक्षणा के कारण अनेक के शक्यार्थ सम्बन्ध हुआ करते हैं; उनको दिखलोन के लिये पुनः अनेक उदहारण देते हैं:-

अर्थ- अथवा जैसे-राजकीय पुरुष के (सरकारी कर्मचारी के) जाने पर "राजसौ गच्छति" का प्रयोग होता है। (यह "सारोपा प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा"। "असौ" पद से विषय का पृथक् निर्देश करके राजा के साथ अभेद की प्रतीति का ज्ञान होता है, अतः सारोपा है। राजशब्द रासजसम्बन्धी का उपलक्षण होने के कारण लक्षणलक्षणा है। राजा की तरह उस पुरुष की सम्पत्ति आदि की अधिकता को सूचित करना प्रयोजन है) यहां स्वस्वमीभाव को बताने वाला सम्बन्ध है। अथवा अग्रेति-(हाथ के) अवयवभूत अग्रभाग को (बताने के लिये) "हस्तोऽयम्" ऐसी प्रयोग होता है। [यह रूढ़ि सारोपा लक्षणलक्षणा" है]।

यहां पर अवयवावविभाव सम्बन्ध है। (यहां पर "अयम्" पद से निर्दिष्ट अग्रभाग का हाथ के साथ अभेद होने के कारण सारोपा है। "हस्त" शब्द "अग्रभाग" का उपलक्षण होने से "लक्षणलक्षणा" है। लक्षणा का कारण प्रसिद्ध होने से रूढ़ि है।) (अन्य सम्बन्ध का उदाहरण)- "ब्राह्मणेऽपि" कहा जाता है। (यह प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा" का उदाहरण है। बढ़ई के सब कार्यों में प्रवीणता सूचित करना प्रयोजन है।) यहां "तात्कर्म्य" सम्बन्ध है। (क्योंकि ब्राह्मण बढ़ई का कार्य करता है)। (अन्य उदाहरण)-"इन्द्रेति"-(यज्ञ में) इन्द्र की आराधना के लिये निर्मित स्तम्भे के विषय में "अमी इन्द्राः" ऐसा कहा जाता है। (यह "प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा" का उदाहरण है। यहां इन्द्र की तरह पूजाभाव को द्योतित करना प्रयोजन है।) यहां "तादर्थ्य" को बताने वाले सम्बन्ध है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी (उदाहरण जानना)।

अवतरणिका- पूर्वोक्त चारों उदाहरण अर्थात् (१) अश्वः श्वेतः धावति, (२) ऐते कुन्ताः प्रविशन्ति, (३) कलिङ्गः पुरुषो युध्यते और (४) आयुर्घृतम्-"सारोपा लक्षणा" के हैं। अतः अब "निगीर्णस्य मता साध्यसानिका"-इस कारिका के अंश द्वारा, 'साध्यवसाना' की व्याख्या की जाती है।

अर्थ- निगीर्णास्येति-निगीर्णा विषय का अन्य (विषयी) के साथ तादात्म्य की (अभेद की) प्रतीति करानेवाली "साध्यवसाना" लक्षणा कहाती है। इसके चारों भेदों में (१) "साध्यवसाना" रूढ़ि उपादान लक्षणा, (२) साध्यवसाना प्रयोजनवती उपादानलक्षणा, (३) साध्यवसाना रूढ़ि लक्षणलक्षणा, (४) साध्यवसाना प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा) पूर्वोक्त उदाहरण की हैं। (अर्थात् (१) रूढ़ि में साध्यवसाना लक्षणलक्षणा-"कलिङ्गः साहसिकः" (४) प्रयोजन में साध्यवसाना लक्षणलक्षणा-"गंगाया घोषः" है।)। तो इस प्रकार आठ प्रकार की लक्षणा होती है।

सादृश्येतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि।
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः॥9॥

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः सादृश्येतरसम्बन्धाः कार्यकारणभावादयः। अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव। रूढावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा-'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'। अत्र तैलशब्दस्तिभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपादायैव सार्षपादिषु स्नेहेषु वर्तते। प्रयोजने यथा-राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा 'तैलानि हेमन्ते सुखानि'। प्रयोजने यथा-'राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा-'राजा गौडेन्द्रः कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा-'गौर्वाहीकः। रूढौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा-'राजा हकण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा-'गौर्जल्पति'।

अवतरिणका:-इस प्रकार लक्षणा के आठ प्रकार भेदों का कथन करके पुन: उसके दो भेदों का वर्णन करते हैं।

अर्थ- पूर्वोक्त सम्पूर्ण (अर्थात् आठ प्रकार की-चार सारोपा और चार साध्यवसाना) आठ प्रकार की लक्षणाये सादृश्य से इतर [illegible] न सम्बन्धवाली "शुद्धा" कहलाती है (तथा) सादृश्य से सम्बन्ध रखने वाली लक्षण को (सम्बन्धवात् इति शेष:। "गौणी" मुख्यार्थ आगता गौण्य: इति) लक्षणा कहते हैं (अर्थात् जो लक्षणा "सादृश्य के सम्बन्ध का कारण नहीं होती है वे "शुद्धा" लक्षणा होती है और जिनका कारण सादृश्य से सम्बन्ध रखता है उनकी "गौणी" लक्षणा कहते हैं) इस प्रकार (लक्षणा के) सोलह [illegible] य (कारिका में आये हुए "ता:" पद की व्याख्या करते है) "ता:" अर्थात् पूर्वोक्त आठ प्रकार की लक्षणायें। सादृश्य से भिन्न [illegible] य भावादि-सम्बन्ध भी लक्षणा के प्रयोजक होते हैं। इनमें से "शुद्धा लक्षणा" के पूर्वोक्त ("अश्व श्वेतो धावति" इत्यादि [illegible] दाहरण ही हैं। (१) रूढ़ि में उपादान लक्षणा गौणी का (उदाहरण देते हैं) यथा-"एतानि तैलानि हेमेन्ते सुखानि' (हेमन्त में तैलादि के [illegible] व के कारण अत्यन्त दु:ख होता है, उस दु:ख के निराकरण के कारण तैलादिकों का महान् उपकमार है, इसी की मुख्यता के [illegible] य "हेमन्ते" ऐसा कहा है)-अत्रेति-यहां तैल शब्द तिलों से उत्पन्न स्नेहरूप (तिल का तेल) मुख्य अर्थ का उपादान (ग्रहण) करके ही सार्षप (सरसों) आदि के स्नेह (तेल) का बोध कराता है (अत: यह उपादानलक्षणा है)। (तात्पर्य यह है कि "तैल" शब्द का [illegible] श्चाब्दिक अर्थ है "तिलों से उत्पन्न तेल"। अत: तिल तैल ही इस शब्द का मुख्य अर्थ है, परन्तु सादृश्य के कारण सरसों आदि के स्नेह को भी तैल ही कह देते हैं। (यद्यपि उनके अन्दर तिल भवत्व का अभाव है)। (इस उदाहरण में तिलभव स्नेह का परित्याग नहीं हुआ है, अत: यह गौणी उपादान लक्षणा है) तैल शब्द की प्रसिद्धि ही इस प्रयोग का कारण है, अत: यह रूढ़िमूला लक्षणा है। "एतत्" शब्द से विषय का पृथक् निर्देश है, अत: यह सारोपा है।)।

(२) प्रयोजन में (उपादानलक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण देते हैं) यथा-राजकुमार और उनके सदृश (अन्य राजकुमारों के साथ-साथ) जाने पर "एते राजकुमारा: गच्छन्ति"-ऐसा प्रयोग होता है। (यहां पर "एतत् शब्द का पृथक् प्रयोग होने के कारण भेद रूप है; राजकुमारों के उपादान (ग्रहण) के साथ-साथ अन्य कुमारों का राजकुमारों के सवाथ आदरणीय होना इस लक्षणा का प्रयोजन है; सादृश्य सम्बन्ध इसका प्रयोजक है। इस प्रकार यह "प्रयोजनवती-सारोपा गौणी उपादानलक्षणा है)।

(३)रूढ़ि में उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी (का उदाहरण देते है) यथा-"तैलानिक हेमन्ते सुखानि" इति-तल हेमन्त ऋतु में आनन्द दिया करते हैं।

(४) प्रयोजन में उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी)का उदाहरण देते है) यथा-"राजकुमारा: गच्छन्ति" इति। (साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण के लिये "एतत्" पद जो विषय वाचक पृथक्ता की सूचना देता है- निकाल देना चाहिए)।

(५) रूढ़ि में लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी का राजा)उदाहरण देते हैं) यथा-"राजा गौडेन्द्र: कण्टकं शोधयति"-गौड देश का राजा इन्द्र शत्रु को (कण्टकम्) निर्वैर करता है। (यहां पर कण्टक शब्द का अर्थ है कांटा-इसका गौडेन्द्र शब्द के अर्थ राजविशेष के साथ समानाधिकरण्य से सम्बन्ध अनुपपन्न है, अत: कण्टक शबद सादृश्य सम्बन्ध से कांटे की तरह दु:ख देने वाले क्षुद्र शत्रु का उपलक्षण है-यहां मुख्य अर्थ का उपादान नहीं है, अत: लक्षण-लक्षणा है। गौडेन्द्र शब्द का विषय का पृथक् निर्देश होने से आरोप का कण्टक शब्द की क्षुद्र शत्रु में प्रसिद्धि होने से रूढ़ि है।)

(६) प्रयोजन में (लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण देते हैं(यथा-"गौर्वाहिक:"। (पञ्जाब का नाम "वाहीक" है क्योंकि-'पञ्जानां सिन्धुषष्ठानापमन्तरालेषु ये स्थिता (वाही का नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत्" "वाहीक गौ है" (केचित्तु वाहिष्वं : वाहीकइति व्युत्पत्या सदाचारबर्हिभूत इत्यर्थ:) यहां पर गौ शब्द "सादृश्य सम्बन्धा" से वाहीक को लक्षित करता है, अत यह गौण लक्षणलक्षणा है। वाहीक की अत्यन्त मूर्खता का द्योतन करना प्रयोजन है। शेष वर्णन पूर्ववत् है।)।

(७) रूढ़ि में लक्षणा साध्यवसाना गौणी (का उदाहरण देते हैं) यथा- "राजा कण्टकं" शोधयति।"-(इसमें विषय वाचक पद "गौडेन्द्र" के निकाल देने से "साध्यवसाना" का उदाहरण हो जाता है)।

(८) प्रयोजन में (लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण देते हैं) यथा-"गौर्जल्पति"("जल्प" धातु का अर्थ है व्यक्तवाणी बोलना-गौ का व्यक्त वाणी को बोलने से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, अत: लक्षणा के द्वारा "वाहीक" की प्रतीति होती है।

अत्र केचिदाहु:-गोसहचारिणां गुणा जाड्मान्द्यादयो लक्ष्यन्ते। ते च गोशब्दस्य वाहीकार्थाभिधाने निमित्तिभवन्ति। तदयुक्तम्-गौशब्दस्यागृहीत सङ्कतं वाहीकार्थमभिधातुमशक्यंत्वाद् गोशब्दार्थमात्रबोधानाच्च। अभिधाया विरतत्वाद्, विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात्।

अवतरणिका-"गौर्जल्पति" इत्यादि वाक्यों के अन्दर शब्द बोध के प्रकार को दिखाते हुये दूसरे के मत का निराकरण करते हैं।

अर्थ- (गौर्जल्पति) यहां (उस उदाहरण में) कुछ का मत है कि गो (शब्द) अपने सहचारी जड़त्व और मन्दत्वादि गुणों (धर्मों) का लक्षणा के द्वारा प्रतिपादन करता है। और वे गुण (जड़त्व और मन्दत्वादि) गो पर का "वाहीक" रूप अर्थ का अभिधा के द्वारा प्रतिपादन करने में निमित्त होते हैं अर्थात् इस मत के अनुसार "गौ:" यह पद एक बार तो प्रतिपादन करने में निमित्त होते हैं अर्थात् इस मत के अनुसार "गौ" यह पद एक बार तो लक्षणा के द्वारा जड़त्व और मन्दत्वादि गुणों की प्रतीति करा देता है और वे गुण पुन: अभिधा के द्वारा "वाहीक" इस अर्थ की प्रतीति कराते हैं (इसका खण्डन करते हैं)-तदयुक्तमिति-यह ठीक नहीं, (युक्ति से असङ्गत है); (क्योंकि) "गौ" शब्द अगृहीत संकेत वाले "वाहीक" अर्थ को अभिधा के द्वारा ज्ञान कराने में असमर्थ है (क्योंकि) 'गौ' शब्द केवल पशुरूप गो शब्दार्थमात्र का (अभिधा के द्वारा) ज्ञान करता है- (अभिधा केवल अपने संकेतित अर्थ का ज्ञान कराती है)। अभिधा के विरत होने के कारण, (क्योंकि "सकृदुच्चरित: शब्द सकृतदेवार्थ गमयति" इति न्यायात्-अर्थात् एक बार उच्चरित शब्द केवल एक बार "पशुरूप" का ज्ञान कराता है। यह नियम है। यहां पर "गौ" इस पद ने एक बार "पशुरूप" का ज्ञान करा दिया पुन:अभिधा के ही द्वारा "वाहीक" का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है) और अपने व्यापार को करके निवृत्त अभिधा का पुन: उत्थान नहीं हो सकता। (क्योंकि "शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव:" इति न्यायात्)।

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थ सहचारिगुणसाजात्येन बाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते। तदप्यन्ये न मन्यन्ते, तथाहि-अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्थ: प्रतीयते, न वा? आद्ये गोशब्दादेव वा? लक्षिताद्वा गुणादविनाभावद्वारा? तत्र, न प्रथम:, बाहीकार्थेऽस्यासंकेतित्वान्। न द्वितीय:,-अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शब्दाक्षेऽन्वये प्रवेशासंभवात। शाब्दी ह्याकाक्षा शब्देनैव पूर्यते। न द्वितीय:,-यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते, तदाऽस्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसमञ्जसं स्यात्।

अवतरणिका:- इसी विषय में अन्य मत का विवेचन करते हैं।

अर्थ- और फिर दूसरे व्यक्तियों का (यह मत है) कि-"गौ" शब्द से "वाहीक" रूप अर्थ अभिधा के द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु (गो शब्द) अपने **अर्थ-** पशु विशेष के सहचारी गुणों के (जड़त्व और मन्दत्वादि) समानजातीय होने के कारण "वाहीक" गत (जाड्यादि) गुणों का ही लक्षणा के द्वारा बोधन करता है। (इसका भी खण्डन करते हैं)-तदपीति-यह (मत) भी दूसरे नहीं मानते है; तथाहि- (इस मत का विकल्पों द्वारा खण्डन करते हैं)। तथाहि-अत्रेति-(अच्छा, तुम्हारे मत में) यहां "गौ" शब्द से "वाहीक" रूप अर्थ की प्रतीति होती है या नहीं? यदि होती है तो "गौ" शब्द से ही (होती है) या गो शब्द से लक्षित गुणों से अविनाभाव (आक्षेप) के द्वारा? तत्रेति-इनमें से प्रथम मत (गो शब्द से वाहीक अर्थ की प्रतीति होती है, यह) ठीक नहीं; (क्योंकि) इसकी (गो शब्द की) वाहीक अर्थ के अन्दर संकेतग्रह ही नहीं है। (और) न दूसरा मत (गो शब्द से लक्षित गुणों से अविनाभाव द्वारा होती है) ठीक है (क्योंकि) के द्वारा (आक्षेप के द्वारा) लभ्य अर्थ का शब्द बोध के अन्वय में प्रवेश ही सम्भव नहीं है। (क्योंकि) "शब्द सम्बन्धिनी आकांक्षा शब्द से ही (आक्षेप से नहीं) पूर्ण हो जाता है।" (यह नियम है-यह बात शब्दाध्याहारवादियों के (भट्टमीमांसकों के) मत का आश्रय लेकर कहीं गई है। अर्थाध्याहारवादी मीमांसकों के (प्राभाकरों के) मत में तो अविनाभाव के द्वारा लक्ष्य अर्थ का भी सम्बन्ध शब्द बोध में होता है अत: उनके पक्ष में यह दोष नहीं है) न द्वितीय इति-द्वितीय मत भी (गो शब्द से वाहीक अर्थ की प्रतीति नहीं होती) ठीक नहीं; (क्योंकि) यदि गो शब्द से 'वाहीक' अर्थ का प्रतीति नहीं होती है, तो (गो पदार्थ के साथ) इस वाहीक शब्द का समानाधिकरण्य (अभेदान्वय) ही असंगत हो जाये।

तस्मातत्र गोशब्दे मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसंबन्धाद्वाहीकार्थं लक्षयति। वाहीकस्याज्ञत्वाद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम्।

इयं च गुणयोगाद् गौणीत्युच्यते। पूर्वात् पचारामिश्रणाच्छुद्धा। उपचारो ही नामात्यन्तं विशकलितयो: शब्दयो: सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। यथा-'अग्निमाणवकयो:'। शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तं भेदप्रतीति:, तस्मादेवामादिषु शुद्धैव लक्षणा।

अवतरणिका:- इस प्रकार अन्य मतों का खण्डन करके स्वमत का स्थापन करते हैं:-

अर्थ-इसीलिये [(उक्त दोनों मतों में दोष होने के कारण) (१) न तो गो शब्द से पहले जाड्यादिगुणों का लक्षणा के द्वारा बोध करके पुन: उन्हें प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर अभिधा द्वारा वाहीक का उपस्थापन ठीक है, (२) और न वाही के गुणों का लक्षणा के द्वारा बोधान करना ही युक्ति युक्त है)।] यहां "गौर्जल्पति" में गो शब्द मुख्यवृत्ति (अभिधा शक्ति) के द्वारा वाहीक शब्द के साथ सम्बन्ध न प्राप्त करता हुआ अज्ञत्वादि साधर्म्य सम्बन्ध से वाहीक के अर्थ को लक्षणा के द्वारा लक्षित करता है। वाहीक की अज्ञत्वादि का अतिशय द्योतित करना (इस लक्षणा का) प्रयोजन है।

इयञ्येति-और यह (गौणी लक्षणा) गुण-साधारण धर्म-के योग से ("वाच्यलक्ष्यया: सादृश्यात्म [illegible] ध : गुण:") "गौणी" (गुणेभ्य: आगतेति गौणी) कहाती है। (कहा भी है कि-लक्ष्यमाणगुणौर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता" अर्थात् इन लक्षणाओं में साधारण धर्मों के सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है वे "गौणी" कहाती हैं।) और पहला ना (सादृश्यमू क लक्षणा यथा-गंगायां घोष:) उपचार का मिश्रण न होने से "शुद्धा" है। (उपचार ही गौणी लक्षणा का मूल है) (उपचार का लक्ष ण उपचारों हीति अत्यन्त तनराकांक्ष शब्दों के अत्यन्त समानता के कारण भेद ज्ञान का छिप जाना ही उपचार कहाता है। यथा-"अग्निमाणवकयो:" (माणवक: नवोपनीत: ब्रह्म चारीत्यर्थ:)। (यहां पर अग्नि और माणवक इन दोनों पदों से भिन्न भिन्न र्थ प्रतीत होते हैं। इनका आपस में समानधिकरण्य नहीं हो सकता। दोनों पद एक दूसरे के प्रति निराकांक्ष है परन्तु अतिशय भिन्न ज्ञान में भी तेजस्विता आदि समान गुणों के द्वारा अतिशय सादृश्य होने के कारण इन दोनों की भिन्नता की प्रतीति दब गई है यही "भेदप्रतीतिस्थगन" को उपचार कहते हैं। और इससे जो लक्षणा होती है उस गौणी लक्षणा कहते हैं।) शुक्लपटयोरिति शुक्ल गुण पट के अन्दर ["शुक्ल: पट:" यहां पर यद्यपि शुक्ल गुण और पटरूप द्रव्य भिन्न-भिन्न है तथापि 'अग्निर्माणवक:" की तरह अत्यन्त भिन्न नहीं है।] अत्यन्त भेद की प्रतीति नहीं है। (क्योंकि "शुक्ल पट:" के अन्दर भिन्न पदता होते हुये भी समवाय सम्बन्ध की प्रतीति होती है जब कि "अग्निर्माणवक:" के अन्दर लक्षणा से पूर्व ही सादृश्य सम्बन्ध की प्रतीति होती है।) तस्मादिति इसलिये इस प्रकार के प्रयोगों आदियों में शुद्धा लक्षणा ही है।

व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद् द्विधा स्यु: फलक्षणा:॥10॥

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ता: प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य गूढागूढतया प्रत्येक द्विधा भूत्वा षोडश भेदा:। तत्र गूढ: वाक्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिविभवमात्रवेद्य:। यथा-'उपकृतं बहु तत्र- ' इति। अगूढ़, अतिस्फुटतया सवर्जजनसंवेद्य:। यथा

उपदिशति कामिनीनां योवनमद एव ललितानि॥'

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लक्ष्यते। आविष्काराति शयश्याभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते।

"धर्मिधर्मगतत्वेन फलायैता अपि द्विधा।

एता अनन्तरोक्ता: षोडशभेदा लक्षणा: फलस्य धर्मिगत्वेन धर्मगतत्वेनच्च प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदा:।

दिङ्मात्रं यथा-

अवतरणिका:- इस प्रकार अभी तक सोलह लक्षणाओं का वर्णन किया जा चुका है। इनमें आठ रूढ़िमूलक हैं और आठ प्रयोजनमूलक। उनमें से प्रयोजनमूलक लक्षणाओं के पुन: दो भेद दिखाते हैं:-

अर्थ- व्यंग्यस्येति-व्यंग्य के गूढ़ और अगूढ़ होने के कारण व्यञ्जनागम्य लक्षणायें दो प्रकार की होती हैं-

प्रयोजन इति-प्रयोजन में (फल में) आठ प्रकार की लक्षणायें दिखाई हैं, वे प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य के गूढ़ और अगूढ़ होने के कारण दो प्रकार की होकर सोलह भेद वाली है। तत्रेति-उनमें से "गूढ़" (व्यंग्य) काव्यार्थ के परिशीलन से परिपक्व बुद्धि के विभव अर्थात् सूक्ष्मार्थदर्शनसामर्थ्य से ही जाना जा सकता है; यथा- 'उपकृतं बहु तत्र" इति। (इस पद्य में वक्ता के तात्पर्यरूप लक्षणा का परिज्ञान सूक्ष्म बुद्धि से ही किया जा सकता है अतएव यह गूढ़ है)। "अगूढ़" (व्यंग्य) अत्यन्त सुस्पष्ट होने के कारण सभी व्यक्तियों के लिये संवेद्य है। यथा- "उपदिशतीति" -कामिनियों को यौवन का मद ही ललित अर्थात, हाव, भाव आदि का उपदेश कर देता

यहां पर (उपदेश देना चेतन का काम है और वह मद जो कि जड़ है उससे सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार मुख्य अर्थ का बाध हुआ अत:) "उपदिशाति" इससवे "आविष्करोति"=प्रकट करता है यह, अर्थ लक्षणा के द्वारा लक्षित होता है। और आविष्कार का अतिशय, जो यहां व्यङ्ग्य प्रयोजन है वह, अभिधेयार्थ की तरह स्फुट प्रकाशित होता है।

अवतरणिका:- पुन: प्रयोजनमूलक १६ लक्षणाओं के और दो भेद दिखाते हैं:-

अर्थ- धर्मिधर्मत्यादि-एता-इति-ये अभी कहीं हुई सोलह भेद वाली लक्षणायें फल (व्यंजनागम्य प्रयोजन) के धर्मिगत और धर्मगत होने के कारण प्रत्येक के पुन: भेद होकर बत्तीस भेद वाली (होती) हैं। थोड़ा (दिङ्मात्रम्) (उदाहरण दिखाते हैं) जैसे-

'स्निग्धश्यामकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाता: शीकरिण: पयोदसुहृदामानन्दकेका: कला:।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥'

अत्रात्यन्तदु: खसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशय: फलम्। 'गङ्गायां घोष:' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशय: फलम्।

अवतरणिका:- वर्षाकाल में वर्षाकालीन दृश्य को देखते हुये सीता के विरह में राम की उक्ति है:-

अर्थ- स्निग्ध और श्यामल कान्ति से व्याप्त है आकाश जिनसे ऐसे, इधर-उधर विहार कर रही है बकपंक्ति में जिनमें ऐसे मेघ (भले ही घुमड़ें) (इससे आकाश की दुष्प्रेक्ष्ता, और दिशाओं की भी दुर्दर्शनता और दु:सहत्त्व सूचित होता है); तथा छोटे-छोटे जलकणों से युक्त वायुयें (स्वतन्त्रता पूर्वक चलें) [यहां बहुवचन का प्रयोग करके वायुओं की अनिश्चित दिशाओं की ओर गति को अभिव्यक्त किया है] (ऐसा होनें पर किसी गिरिकन्दरा में छिपकर बैठ रहो-इसलिये कहते हैं कि) जलधरों के मित्रों की (मयूरों की) अव्यक्त एवं मधुर आनन्दमयी मयूरवणियें भी यथेष्ट सुनाई दें (ये मयूर की वाणियां दु:सह जलदव्यापार का स्मरण कराती हैं तथा अपने आप में तो दु:श्रवण हैं ही) (इस प्रकार विभावों का साधारणत: वर्णन करके राम अपने विषय में कहते हैं) (मैं) अत्यन्त कठोर हृदय वाला (निरन्तर अनर्थ परम्पराओं को सहन करने के कारनण अभेद्य हृदय वाला) राम हूं (यहां राम शब्द की विशेष धवनि को बताने के लिये "कठोरहृदय:" इस विशेष्य का अभिधान किया है, नहीं तो राम पद रघुवंश में उत्पन्न होना, कौशल्या के स्नेह का आधार, बाललीलाओं को करने वाले, मैथिली के साथ परिणय इत्यादि अर्थ की धवनि का अभिधान करता, अत: मैं ही सम्पूर्ण अनर्थ परम्पराओं का पात्र होने के कारण प्रसिद्ध राम हूं-ऐसा भाव है) सब कुछ (सम्पूर्ण कष्ट परंपरा को) सहूंगा, परन्तु सीता की क्या दशा होगी? हा देषि! सीते! धैर्यशालिनी हो। (अर्थात् मेरे बिना इस समय उत्कण्ठिता न हो)।

इसमें (उदाहृत पद्य में) अत्यन्त दु:खसहिष्णुरूप धर्मी राम में, लक्षणा के द्वारा बोध (उन्हीं में) उसका ही (अत्यन्त दु:खसाहिणुत्व का ही) अतिशय (उत्कर्ष का ज्ञान कराना) (व्यंजना के द्वारा) फल है। (इसका भाव यह है कि इस पद्य के अन्दर राम के वक्ता होने के कारण "सहे" इस क्रिया पद के सन्निधाान में "राम:" यह पद "कठोरहृदय:" इस विशेषण से विशिष्ट होकर "अत्यन्त दु:खसहिष्णुरूप राम" इस लक्ष्यार्थ को लक्षित करता है।] "गंगायामिति-गंगायां घोष:"-यहां तट पर शीतत्व और पावनत्वादिरूप धार्म की अतिशयता (का बोध कराना ही) फल है।

तदेवं लक्षणाभेदाश्चत्वारिशन्मता बुधै:॥11॥

रूढावष्टौ फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिशल्लक्षणाभेदा:।

किञ्च-

पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ता अनन्तरोक्ताश्चत्वारिशद्भेदा:। तत्र पदगतत्वे यथा-'गङ्गायां घोष:'।

वाक्यगतत्वे यथा-'उपकृतं बहु तत्र' इति। इमवशीतिप्रकारा लक्षणा:।

अवतरणिका-लक्षणा प्रकरण का उपसंहार करते हैं-

अर्थ- इस प्रकार लक्षण के विद्वानों ने चालीस भेद कहे हैं (कारिका को स्पष्ट करते हैं।)

रूढाविति-रूढि में आठ भेद और प्रयोजन में बत्तीस भेद-इस प्रकार लक्षणा के चालीस भेद होते हैं। किञ्चेति-यथा-

वे अभी कही हुई चालीस प्रकार की लक्षणायें भी पदगत और वाक्यगत होने के कारण दो प्रकार की होती है। (कारिका में प्रयुक्त "ती:" की व्याख्या करते हैं।) "ता:"=ऊपर कहे हुए चालीस भेद।

तत्रेति-उमें से पदगत (का उदाहरण) यथा-"गंगायां घोष:" इति। वाक्यगत (का उदाहरण) यथा-"उपकृतं बहु तत्र" इति। इस प्रकार (सभी मिलकर) अस्सी प्रकार की लक्षणा होती है।

अथ व्यञ्जना-

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः॥12॥
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृत्यर्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्वनन प्रत्यायनादि व्यवदेशविषया व्यञ्जना नाम। तत्र-

अर्थ- इसके बाद (लक्षण के निरूपण के अनन्तर) व्यंजना (का निरूपण करते हैं)-

अर्थ- अभिधादिकों के (अभिधा, लक्षण और तात्पर्यनामक इन तीना वृत्तियों के) के विरत हो जाने पर (अपने अपन व्यापार म विरत हो जाने पर) जिस वृत्ति के द्वारा दूसरा (वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्यार्थों से भिन्न) अर्थ का बोधन होताहै वह वक्ता के न्य विशेषरूप वाली अर्थात् "यह पद या वाक्य इस अर्थ का ज्ञान करावे"-शब्द में यथा अर्थादिक में (रहने वाली) वृत्त अ ग विशेष) "व्यञ्जना" (कहाती) कहाती है।

अर्थ- शब्द, बुद्धि और कर्म का एक बार रुककर (पुनः) व्यापार का अभाव होता है (अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म जब कि ग अपना कार्य कर चुकते हैं तो दुबारा पुनः उनके अन्दर किसी व्यापार के करने की शक्ति नहीं होती) इस नियम के द्वा अ आ लक्षणा और तात्पर्य नाम वाली तीन वृत्तियों के अपने-अपने अर्थ का बोधान करके उपक्षीण हो जाने पर जिस वृत्ति के द्वारा ग भिन्न अर्थ का बोध होता है वह शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ, (आदिपदादुपसर्गादि ग्रहणम् उपसर्गादिनिष्ठ भि (व्यापार विशेष) व्यञ्जना नाम वाली कहाती है। (और यही व्यञ्जना, ध्वनन, गमन, प्रत्यायन आदि नामों से भी व्यहृत होता है

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा॥13॥

अभिधामूलामाह-

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया॥14॥

आदिशब्दाद्विप्रयोगादयः।

शाब्दीव्यञ्जना-

अवतरणिका-व्यञ्जना अनेक प्रकार की होती है। उनमें से शाब्दी-व्यञ्जना के भेद दिखाते हैं

अर्थ- तत्रेति-उनमें से-

शब्द की अभिधा और लक्षणा है मूल में जिसके ऐसी व्यञ्जना दो प्रकार की होती है (अर्थात् अभिधामूला और लक्षणामूला

अभिधामूला शाब्दी-व्यञ्जना का (लक्षण) कहते हैं:-

संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर (जिसके द्वारा) अन्य अर्थ का ज्ञान होता है और भी अ आश्रया (अभिधाशक्ति के आश्रित) व्यञ्जना होती है। (जहां पर संयोगादिक नहीं होते हैं वहां जितने अर्थों के विषय में वक्ता का तात्पर्य है, उतने ही अर्थ समझने चाहिए)।

अर्थ- (इस कारिका में) आदि शब्द से विप्रयोग आदि (का ग्रहण होता है)।

उक्तं हि-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौमिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥'इति।

**'संशङ्खचक्रो हरिः' इति शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते। 'अशङ्खचक्रो हरिः' इति ताद्वियोगेन तमेव। 'भामार्जुनः' इति अर्जुनः पार्थः। 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः। 'स्थाणु वन्दे' इति स्थाणुः शिवः। 'सर्व जानाति देवः'। इति देवो भवान्

'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वज कामः। 'देवः पुरारिः' शिवः। 'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः। 'पातु वो दयितामुखम' इति मुखं सांमुख्यम्। 'विभाति गगने चन्द्रः' इति चन्द्र शशी। 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः। 'भाति रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्ग चक्रम्। स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृन्न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः।

अवतरणिका:- संयोगादि का निरूपण करते है:-

अर्थ- उक्त हीति-कहा भी है-संयोग (अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध को संयोग कहते हैं), विप्रयोग (वियोग), साहचर्य (अभिन्नता के प्रतिपादन के लिये एक दूसरे की अपेक्षा), विरोधिता (वैर), अर्थ (प्रयोजन) प्रकरण, लिङ्ग (चिह्न) अन्य शब्द की सन्निध, सामर्थ्य (नियत शक्ति), औचिती (औचित्य, जिसके उपस्थित होने पर श्रोता की जिज्ञासा निवृत्ताकांक्ष हो जाती है), देश (नियमित स्थान), काल (निर्दिष्ट समय), व्यक्ति (शब्द के पुस्त्वादि लिङ्ग), स्वर (उदात्तानुदात्त स्वरित) आदि (ये सब) शब्द के अर्थ का अनवच्छेद (अनिर्धारण) होने पर विषय ज्ञान के कारण होते हैं।

अवतरणिका: क्रम से संयोगादिकों के नियन्त्रित अर्थों के उदाहरण देते हैं:-

अर्थ- (१) (संयोग का उदाहरण देते है) "सशंखचक्रो हरिः" यहां पर (हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं-यथा-"यमाऽनिलेचन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु" इत्यमरः, परन्त शंख, चक्र का सम्बन्ध केवल विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अतः) शंख, चक्र के योग से हरि शब्द विष्णु का ही अभिधा करता है। (२) (विप्रयोग का उदाहरण) "अशङ्खचक्र हरिः" इति, शंख, चक्र के राहित्य से (हरि शब्द) उसको ही (विष्णु को ही, इन्द्रादिक को नहीं) कहता है। (३) (साहचर्य का उदाहरण) "भीमार्जुनौ" इति, यहां "भीम" शब्द के साहचर्य से अर्जुन शब्द पार्थ का-पृथा का पुत्र धनञ्जय का (बोध कराता है ककुभादि का नही)। (४) (विरोधा का उदाहरण- "कर्णार्जुनौ" इति, यहां पर कर्ण शब्द (का अर्थ) सूत-पुत्र है और (महावीर कर्ण) का बोध कराता है क्योंकि अर्जुन का उसके साथ सतत वैर था-कर्णोन्द्रिय को बताने वाला नही है। (५) (अर्थ का उदाहरण)-"स्थाणु" वन्दे" इति, यहां पर ("भवच्छिदे" यह चरमांश है) स्थाणु शब्द का अर्थ शिव है। (क्योंकि शिवजी की स्तुति ही संसार के आवागमन को नष्ट कर सकती है, शाखा पल्लवादि से रहित शुष्क तरुकाण्ड नहीं, अन्यथा भवच्छेदरूप प्रयोजन के न होने पर उसकी नियामकता नहीं होगी)। (६) (प्रकरण का उदाहरण) "सर्व जानाति देवः", इति, यहां पर "देव" शब्द का अर्थ "आप" (परोवर्ती राजा का ही बोध होता है, क्योंकि प्रकरणगत राजा ही प्रकृत है। किसी देवताविशेष का वाचक "देव" शब्द नहीं है)। (७) (लिङ्ग का उदाहरण) "कुपितो मकरध्वजः" इति, यहां पर "मकरध्वजः" पद कामदेव (का ही ज्ञान कराता है, समुद्र का नहीं क्योंकि कोपरूप लिङ्ग किसी चेतन का ही धर्म हो सकता है, अचेतन का नहीं (८) अन्यशब्दसन्निधि का उदाहरण) "देवः पुरारिः" इति, यहां (देव शब्द के सान्निध्य से) पुरारि शब्द शिव का (ही अभिधान करता है, किसी अन्य का नहीं)। (९) (सामर्थ्य का उदाहरण)-"मधुना मत्तः पिकः" इति, यहां पर (मधु शब्द दैत्य, वसन्त, मद्य, आदि अनेक अर्थों का बोधक होने पर भी केवल वसन्त के अन्दर ही कोयल को मस्त करने की सामर्थ्य के कारण) मधु शब्द वसन्त का ही (अभिधान करता है-मद्य विशेष का नहीं)। (१०) औचिती का उदाहरण)-"पातु वो दयिता मुखम्" इति।

अवतरणिका:- प्रियतमा के कुपित हो जाने के कारण नायक के प्रति सखा की उक्ति है:-

प्रिया की साम्मुख्यता (अनुकूलता)-सूरत के अनुकूल होना तुम्हारी प्रतिकूलता से उत्पन्न खिन्नता से रक्षा करे। यहां पर मुख शब्द (औचित्य के कारण) साम्मुख्य (अनुकूलता का बोधक है) (वदनादिक का नहीं क्योंकि अनुकूलता ही प्रकृतोपयोगी है। मुख यदि कुपित होगा तब तो वह भी और भयावह हो जायेगा)। (११) (देश का उदाहरण)-"विभाति गगने चन्द्रः" इति, यहां पर "चन्द्र" शब्द का अर्थ चन्द्रमा है, कर्पुरादि नहीं। (क्योंकि आकाश में (देश में) चन्द्रमा ही रहता है, कर्पूरादि नहीं।। (१२) काल का उदाहरण-"निशि चित्रभानुः" इति, (चित्रभानु पद के वह्नि, सूर्यादि अनेक अर्थ होने पर भी प्रकृत में) चित्रभानु अग्नि का ही (वाचक है, सूर्य का नहीं क्योंकि रात्रि में उसका दिखाई देना असम्भव है)। (१३) (व्यक्ति का उदाहरण) "भाति रथाङ्गम्" इति, यहां पर रथाङ्ग शब्द नपुसंकलिङ्ग में होने के कारण चक्र का (अर्थबोध कराता है, चक्रवाद आदि का नहीं)। (चक्रवाक के अर्थ में "रथाङ्ग" शब्द पुल्लिंङ्ग होता है)। (१४) (स्वर का उदाहरण)-स्वर तो (उदात्तानुदात्त-स्वरित) वेद में ही विशेष (अर्थ) की प्रतीति कराने वाले होते हैं; काव्य में नहीं, अतः उसका (स्वर का) उदाहरण नहीं दिया।

इदं च केऽप्यसहमाना आहु-"स्वरोऽपि काक्वादिरूपः काव्ये विशेषप्रतीतिकृदेव। उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा श्रृङ्गारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव इति एतद्विषये उदाहरणमुचितमेव इति, तन्न। तथाहि-स्वराः काक्वादयः उदात्तादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव" विशेषं प्रत्याययन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थ शब्दस्येकार्थनियन्त्रणरूपं विशपेषम्। किञ्च यदि यत्र क्वाचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थ योरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाचयं, तदा तथाविधास्थले

श्लोषानङ्गकारप्रसङ्ग। न च तथा। अत एवाहु: श्लेषनिरूपणप्रस्तावे- 'काव्यमार्ग स्वरो न गण्यते' इति च नय:", इत्यलमुपजीव्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण। आदिशब्दात् 'एतावन्मात्रस्तनी-'हत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभि: स्तनादिनां कमलकोरकाद्याकारत्वम्।

अर्थ- कुछ इसको (स्वर वेद में ही विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाले होते हैं, काव्य में नहीं) सहन न करते हुये कहते हैं कि-स्वरोऽपीति-काकुआदि रूप स्वर भी काव्य में विशेष (अर्थ) की प्रतीति कराने वाले होते हैं। उदात्तादिरूप स्वर भी (उच्चैरुदात्त; नीचैरनुदात्त:, मध्यम: स्वरित:) भरतमुनि की पाठोक्त रीति के अनुसार (भरतमुनि ने श्रृङ्गार आदि में स्वर विशेष का उल्लेख किया है, यथा-"हास्य और श्रृङ्गार में स्वरितोदात्त, वीर, रौद्र और अद्भुत में उदात्तस्वरित, करुण, वीभत्स और भयानक में अनुदात्त, स्वरित करना चाहिये) श्रृङ्गारादि रस विशेष की प्रत्यायक होती है अत: इस विषयक (स्वर) उदाहरण (देना) उचित ही है" इति। तन्नेति-यह ठीक नहीं (इसका खण्डन करते हैं), काकु आदि स्वर अथवा उदात्तादि (स्वर) केवल व्यंग्य को ही विशेष रूप से बोधा कराते हैं, प्रकरण में कहे हुये अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ में नियन्त्रितरूप विशेष अर्थ का (बोध) नहीं कराते अर्थात् काकु आदि स्वर और उदात्तादि स्वर प्रकरणगत अनेकार्थक शब्दों को किसी एक विशेष अर्थ के अन्दर नियन्त्रि नहीं करते। किन्तु इससे अतिरिक्त यदि कहीं अनेकार्थक शब्दों का प्रकरणादि के नियम के न होने के कारण अनियन्त्रित अर्थों का भी अनुरूप स्वर के कारण एक अर्थ में नियमन हो जायेगा, तो उस प्रकार के स्थलों में श्लेष के अंगीकार न करने का प्रसङ्ग होगा: [अर्थात् प्रकरण के अन्दर अनेकार्थक शब्दों को भी यदि अनुरूप स्वर के कारण एक अर्थ में नियन्त्रित कर दिया जावेगा तो फिर वहां श्लेष मानने का प्रसंङ्ग ही नहीं होगा।] न च तथेति-(परन्तु) ऐसा नहीं है। (स्वरभेद होने पर भी महाकवियों ने तथाविध स्थलों पर श्लेष को स्वीकार किया गया है, अत: श्लेष का अनङ्गकार नहीं करना चाहिये)। अतएव श्लेषालंकार के निरूपण के अवसर पर कहा है कि-"काव्यप्रद्धति में स्वर की गणना नहीं की जाती "ऐसा नियम है। (अर्थात स्वरभेद होने पर भी श्लिष्ट अर्थ की प्रतीति होती जाती है)। इसलिये उपजीव्य (आश्रयभूत) और मान्य व्यक्तियों की, की हुई व्याख्या पर कुटिल दृष्टिपात नहीं करना चाहिये "आदि व्यक्ति: स्वरादय:"-(यहां पर) आदि (शब्द) से "एतावन्मात्रस्तनी" इत्यादि में हाथ आदि की चेष्टाओं से स्तनादिक के कमलकोरक के आकार का होना (गृहीत होता) है।

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थ स्यान्यार्थबुद्धिहेतु: शक्ति: साऽभिधामूला व्यञ्जना।

यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वर श्रीचन्द्रशेखरसांधिविग्रहिकाणाम्-

'दुर्गालङ्घिततिवग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा
प्रेद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभि:।
नक्षत्रेककृतेक्षणो गिरीगुरौ गाढां रुचिं धारयन्।
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभ:॥'

अर्थ- इस प्रकार एक अर्थ में अभिधा के द्वारा नियन्त्रित करने पर शब्द की दूसरे अर्थ के ज्ञान का कारण जो शक्ति है उसे अभिधा मूलकव्यञ्जना (कहते हैं)।

अर्थ- जिस प्रकार मेरे पूज्य पिता महापात्र चतुर्दश भाषाविलासिनीभुजङ्ग महाकवीश्वर श्री चन्द्रशेखर, जो सान्धिविग्रहिक हैं। सन्धि विग्रहिक उस मन्त्री को कहते हैं जो अन्य राजाओं के साथ व्यवहार्य नीति का निर्णय करे और उनके साथ सन्धि या विग्रह के य का (बनाया हुआ उदाहरण है)-(अभिधा मूला लक्षणा का उदाहरण देते हैं) दुर्गेत्यादि-(राजा के पक्ष में) दुर्ग से नहीं किला से विग्रह (संग्राम) जिसका ऐसा, (जो शत्रुओं के किलों का भेदन करके भी युद्ध करता है) अथवा दुर्ग से (पारिखादिकों से अलंकृत है शरीर (विग्रह) जिसका ऐसा, (अर्थात् मैदान में आकर युद्ध करने वाला); कान्ति में (सौन्दर्य से) कामदेव को तिरस्कृत करता हुआ; प्रकट अभ्युदय से युक्त राजसमूह को (राजकम) वश में करने वाला (लाति); गौरव युक्त, सुखोपभाग करने वाले पुरुषों से चारों ओर से घिरा हुआ, क्षत्रियश्रेष्ठों पर भी जिसने दृष्टि नहीं डाली है ऐसा, (उनके विषय में तुच्छ बुद्धि वाला); शिवजी के चरण में महती भक्ति को धारण करने वाला (शिवोपासक); तथा पृथ्वी को जीतकर ऐश्वर्य से अलंकृत है शरीर जिसका ऐसा पार्वती रानी का प्रियतम (उमावल्लभ:) (राजा भानुदेव) शोभित होता है।

अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभशब्दस्योमनानाम्नीमहादेवीवल्लभभान् देवनृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते। एवमन्यत् लक्षणामूलामाह-

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजमन।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया॥15॥

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थ बोधानादभिधायां तटाद्यर्थ बोधनाच्च लक्षणायां विरतायां यथा शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिर्बोध्यते सा लक्षणामूल व्यञ्जना।

एवं शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वार्थमाह-

वक्तृबोद्धव्यवाक्यनामन्यसंनिधिवच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च॥16॥

वैशिष्टयादन्यमर्थ या बोधयेत्साऽर्थसम्भव।

अर्थ- अत्रेति-यहां प्रकरण के द्वारा "उमावल्लभः" शब्द का "उमा नामक महादेवी के वल्लभ भानुदेव नृपति" रूप (अभिधेय) अर्थ के नियन्त्रित होने पर (भी) व्यञ्जना के द्वारा ही गौरीवल्लभ (शिव जी) रूप अर्थ बोधित होता है। इसी प्रकार अन्य (उदाहरण समझने चाहिये)।।

लक्षण-मूलाव्यञ्जना

लक्षणामूलक (व्यञ्जना का निरूपण) करते हैं-

जिस (प्रयोजन के ज्ञान के लिये लक्षणा को (प्रयोजनवती लक्षणा) शब्द-शक्तित्वेन स्वीकार किया जाता है वह प्रयोजन जिससे (जिस शक्ति के द्वारा) प्रतीत होता है वह लक्षणामूलक व्यञ्जना होती है। (इसी का विस्तार करते हैं)

"गंगायां घोषः" इत्यादिक (स्थलों में) जलमय (प्रवाह) आदि (मुख्य) अर्थ का बोधान करके अभिधा के विरत हो जाने पर और तटादि रूप (लक्ष्य) अर्थ का बोधन करके लक्षणा के विरत हो जाने पर जिस (शक्ति के द्वारा) शीतलता और पवित्रता आदि का आधिक्य प्रतीत होता है, वह लक्षणामूलक व्यञ्जना (कहाती)है।

आर्थीव्यञ्जना

इस प्रकार शाब्दी व्यजञ्जना का वर्णन करके आर्थी व्यञ्जना कहते हैं:-

वक्ता, बोद्धव्य वाक्य, अन्य का सन्निधान (वक्ता और बोद्धव्य से भिन्न), वाच्य, प्रस्ताव (प्रकरणप), देश काल (वसन्तादि), काकु (स्वर विशेष) तथा चेषटा आदि की विशेषता के कारण जो (शक्ति) भिन्न अर्थ को प्रतीति कराती है वह अर्थ से उत्पन्न होने वाली (आर्थी) व्यञ्जना (कहाती) है।

व्यञ्जनेति सम्बध्यते।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकावैशिष्टये यथा मम-

'कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः।
केलावनीयमपि वञ्जुलकञ्जमञ्जु
दुरे पतिः कथय किं करणीयमद्य॥'

अत्रैत देशं प्रति शीघ्रं प्रच्छान्नकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् व्यज्यते।

बोद्धव्यवैशिष्टटये यथा-

'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि! दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥'

अर्थ- उनमें से वक्ता, वाक्य, प्रस्ताव, देश (और) काल की विशेषता के कारण (उत्पन्न आर्थो व्यञ्जना के उदाहरण में) अपनाप (बनाया हुआ पद्य लिखते) हैं-"काल इत्यादि-(नायिका अपनी सखी से कहती है)-वसन्तकालीन समय है और कामदेव कुपित है, मन्द-मन्द रति (क्रीड़ा से उत्पन्न) श्रम को हरण करने वाली वायु (बह रही है), अशोक वृक्ष के कुञ्जों से मनोह यह क्रीड़ा वन भी है, (किन्तु) पति दूर है (अतः) आज क्या करना चाहिये। (जो कुछ करना है वह मुझे) बताओ।

इस पद्य में "इस स्थान पर तुम किसी प्रच्छन्नकामुक को शीघ्र भेजो। यह बात (व्यञ्जना के द्वारा) किसी के द्वारा व्यक्त हो है

अर्थ- बोद्धव्य की विशेषता में (उदाहरण देते हैं) यथा-

अवतरणिका:- नायक को बुलाने के लिये भेजी हुई, किन्तु नायक के साथ उपभोग करने के कारण चन्दनादि के छूट जाने का ना- के व्याज से छिपाती हुई दूती के प्रति किसी विदग्ध नायिका की कुपित उक्ति है:-

रे मिथ्यावादिनी! ("मैंने नायक के पास जाकर जड़े प्रयत्नपूर्वक उसको तुम्हारे पास चलने के लिये मनाया परन्तु वह नहीं आया इस- प्रकार असत्य बोलने वाली) बान्धव जनकी (मेरी) नहीं समझी है (स्वार्थ साधन में तत्पर होने के कारण, विगत लज्जा वाली है जिसने ऐसी हे दूति! (प्रिय सखी नही) (यहां दूती कहने से इसकी प्रतारणा और मिथ्याकथन दोनों ही व्यञ्जित होते हैं) तुम यह से (मेरे पास से) स्नान करने के लिये वापी में गई थी उस (अनेक बार अपराध करने वाले; अतएव अधम या निर्दय के मन:क्लेश को न समझने वाले, दूसरे को दु:ख देने वाले, कार्य करने में तत्पर रहने वाले के) पास नहीं हो (पुन: गई थी)। इस के कारण बताती है) (क्योंकि) तुम्हारे स्तर तट (उर:स्थल नहीं) सम्पूर्ण रूप से छट गया है चन्दन जिससे ऐसे हैं (स्नान के अन्दर ना सारे शरीर का ही चन्दन छटना चाहिये या केवल स्तन तट का नहीं) (व्यंग्य पक्ष में) (रति क्रीड़ा के अन्दर नायक के वक्षस्थल पर के मर्दन से चन्दन स्तनों से छूट गया है) (इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी व्यंग्यार्थ को समझना चाहिये) अधरोष्ठ (स्नान के में सम्पूर्ण रूप से साफ हो गया है ताम्बूल जन्यलालिमा जिनसे ऐसे हैं (क्योंकि स्नान के अन्दर अधरोशठ को ही ज्यादा धोया गया है (व्यंग्यपक्ष में)-कामशास्त्र के अनुसार अधरोशठ का ही चुम्बन किया जाता है, उत्तरोष्ठ का नहीं, दोनों नेत्र प्रान्तभाग में ही कज्जल से रहित हैं, (स्नान काल में नेत्रें के बन्द हो जाने के कारणप आंखों के मध्यभाग में जल का स्पर्श नहीं होता, (व्यंग्यपक्ष में नेत्र के प्रान्तभाग में ही चुम्बन का विधान है, मध्य में नहीं, अत: प्रान्त भाग में ही कज्जल छट गया है, मध्य भाग में नहीं) यह तुम्हारा (वर्तमानकालीन) शरीर कृश है (स्नानजन्यशीत के कारण) अतएव पुलकित है (व्यंग्यपक्ष में)-रति क्रीड़ा के कारण शरीर क्षीण है और रति क्रीड़ा के समय अनुभव किये हुए सुख की स्मृति के कारण उस समय वह पुलकित हो रहता है। (स्नान काल के कारण उत्पन्न पुलक तो पथ में आने के श्रम से ही नष्ट हो जाता)।

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं विपरीतिलक्षणया लक्ष्यम्। तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्य दूतीवैशिष्ट्याद् बोध्यते।

अर्थ- अत्रेति-इस पद्य में ("न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्" इस अंश से) विरीत लक्षणा के द्वारा ("तदन्तिकमेव गताऽसि" तुम उसके पास गई थी-इस प्रकार का (अर्थ) लक्षित होता है। और उसके पास) "रन्तुम" (रमण करने के लिये) यह प्रतिपाद्य व्यंग्य दूती के वैशिष्ट्य से ज्ञात होता है।

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य यथा-

'उअ णिच्चल णिप्फन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभागणपरिट्ठआ सङ्खसुत्ति ध्व॥'
[पश्य निश्चल निष्पन्दा बिसिनीपत्रे रजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिवा॥]

अत्र बलाकाया निष्पन्नदत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य विजनत्वम्' अत: संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं प्रच्छन्नकामुकं प्रत्युच्यते। अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यर्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम्।

'भिन्नकण्ठध्वनिधीरै: काकुरित्यभिधीयते' इत्युक्तप्रकारायाः काकोर्भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्या:। एतद्वैशिष्ट्ये यथा-

'गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देश मुद्यतो गन्तम।
अलिकुलकोकितललिते नैष्यति सखि! सुरभिसमयेऽसौ॥'

अत्र नैष्यति अपि तर्हि एष्यत्येवेति काक्वा व्यज्यते।

अर्थ- अन्य सन्निधि की विशेषता में (व्यंग्यार्थ व्यञ्जना का उदाहरण) देते हैं- यथा-

अवतरणिका:- निर्जन वनकुञ्ज में सरोवर के किनारे अपने पास में स्थित, निश्चेष्टा प्रियतम से नायिका की उक्ति है-

अर्थ- हे निश्चल! (चलने में असमर्थ, संकेत स्थल की ओर जाने में निरुत्साही), स्वच्छ मरकत निस्पन्द मणि के पात्र में स्थ शङ्खशक्ति की तरह कमलिनी के पत्ते पर (बैठी हुई) बगुली निस्पन्द शोभित हो रही है (इसको) देख।

इस (उदाहरण) में वलाका के नि:स्पन्द होने के कारण विश्वस्तता (सूचित होती है), (वलाका के निशङ्क होकर बैठने के कारण

इस स्थान की विजनता (सूचित होती है) अत: (विजनता के कारण) यह संकेत स्थान है, यह (बात) किसी के द्वारा पास में बैठे हुये प्रच्छन्न कामुक से (व्यञ्जना के द्वारा) कही जा रही है। अत्रेति-इसी उदाहरण में ही स्थान के निर्जनत्वरूप व्यंग्यार्थ की विशेषता प्रयोजन है। अर्थात यह स्थान सर्वथा विश्वसनीय है, मनुष्यों के आवागमन से शून्य है-निर्जन है, यह व्यंग्य अर्थ प्रयोजन है।

(काकु का लक्षण) "विद्वानों से भिन्न (शोक-हर्षादि से विकृतीकृत) कण्ठध्वनिको "काकु" कहते हैं इस प्रकार उक्तप्रकार वाली "काकु" के भेद आकर से (भरतादि के ग्रन्थों से) जानने चाहिये।

इसकी (काकु की) विशेषता का (उदाहरण देते हैं) यथा-

अर्थ- हे सखि! यह (मेरा पति) पिता (आदि) के अधीन होने के कारण अत्यन्त दूर देश में जाने के लिये उद्यत (है) (अत: अवश्य जावेगा ही) (किन्तु) भ्रमर समुदाय और कोकिलों से सुन्दर वसन्त समय में नहीं आयेगा?

अत्रेति-इस (उदाहरण में) "नैष्यति"="नहीं आयेगा क्या? अपितु "एष्यत्येव"=आयोगा ही, यह अर्थ काकु के द्वारा व्यक्त होता है।

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा-

'संकेतमालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्म निमीलितम्॥'

अत्र संध्या संकेतकालइति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद्द्योत्यते।

एवं ववत्रादीना व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम्।

त्रैविध्यादियमर्थानाम प्रत्येकं त्रिविधा मता॥17।

अर्थानाम वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनास्त्रिविधा:। तत्र वाच्यार्थव्यञ्जना यथा-'कालो मधु:-' इत्यादि। लक्ष्यार्थस्य यथा-'नि:शेषच्युतचन्दनम्'-इत्यादि। व्यङ्ग्यर्थस्य यथा-'उग्र णिच्चल-इत्यादि। प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते।

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थ: शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रय:।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥18॥

अर्थ- चेष्टावैशिष्ट में (उदाहरण देते हैं) यथा-

संकेतकाल को जानने में है मन जिसका ऐसे विट को (उपपति को) जानकर चतुरा (नायिका) ने विकसित नेत्रों के द्वारा अवगत कर दिया है अभिप्राय जिसमें ऐसे क्रीड़ाकमल को बन्द कर दिया।

अत्रेति-इस (उदाहत पद्य) में किसी (कामिनी) के द्वारा कमल बन्द करने की चेष्टा से सायंकाल (जब कमल बन्द होते हैं) संकेत का (प्रिय के साथ मिलने यौग्य गुप्त स्थान का) समय है, यह (बात) सूचित होती है। एवमिति-इसी प्रकार वक्ता आदियों के (वक्ता, बोद्धव्य और वाक्यवादियों के) पृथक्-पृथक् और सम्मिलित वैशिष्ट्य में (उदाहरण) जानने चाहिये।

यह (आर्थी व्यञ्जना) अर्थों के (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) तीन प्रकार के होने के कारण प्रत्येक तीन प्रकार की (वाच्य व्यञ्जना, लक्ष्य व्यञ्जना और व्यंग्य व्यञ्जना) कही गई है। अर्थानामिति- अर्थों के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य रूप से तीन प्रकार के होने के कारण सभी बाद में कही हुई (आर्थी) व्यञ्जनायें तीन प्रकार की होती है। उनमें से वाच्यार्थ की व्यञ्जना (का उदाहरण) है, यथा-"कालो मधु:" इत्यादि। लक्ष्यार्थ का (उदाहरण) है, यथा-"नि:शेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि। व्यंग्यार्थ का (उदाहरण) है यथा-"उग्र णिच्चल" (पश्य निश्चल) इत्यादि। प्रकृति, प्रत्यय आदि की व्यंजकता का (आगे चलकर) विस्तार किया जावेगा, (चतुर्थ परिच्छेद में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के उदाहरण में प्रदर्शित करेंगे)।

अवतरणिका-शाब्दी व्यञ्जना के अन्दर अर्थ की और आर्थी व्यञ्जना के अन्दर शब्द की उपयोगिता विद्यमान ही है, अत: पुन: इन दोनों के अन्दर (शाब्दी और आर्थी के अन्दर) भेद का क्या कारण है? ऐसा आशंका उठाता है कि-शब्देति-

अर्थ- अर्थ शब्द से प्रतिपाद्य होकर ही (दूसरे अर्थ को व्यञ्जना के द्वारा) बोधित करता है (और) शब्द भी अन्य अर्थ का आश्रय लेकर ही (अर्थात् अन्यार्थ का उपस्थापक होकर) (व्यञ्जक होता है), (इस प्रकार अनुपपत्ति दिखाने के बाद उपपत्ति दिखाते हैं)। एकस्येति-अत: एक के (शब्द और अर्थ में से किसी एक के) व्यञ्जक होने पर दूसरे की सहकारिता (होती(है अर्थात् अप्रधान कारण होता है। (अप्रधानत्वं च व्यवहितोपकारित्वेन-और अप्रधानता उसे कहते हैं जहां उपकारिता व्यवहित होती है)।

शंका-नाटकादि के अन्दर वेश्या के अभिनयादि के अन्दर भी व्यञ्जकता सम्भव होती है-अत: (शब्द और अर्थ सम्बन्धी ... के प्रकार की व्यञ्जकता कही है वह कैसे यहां पर घटित हो सकेगी? (समाधान) नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि वेश्या के अभिनय के अन्दर भी शब्दोपस्थिति के कारण ही अर्थ की व्यञ्जकता होती है। और वेश्या के अभिनय के अन्दर तो चेष्टादि की ... सहकारिता की उपलब्धि होने के कारण। वहां शब्द के होने पर भी वेश्या के अभिनय के देखने की प्रधानता के कारण ... व्यवहार होता है। इसलिये कहा है-

श्रवणै:पेयमनेकैदृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभि:।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्य सीता स्वयंवरणम्।।इति।।

यत: शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या।

अर्थ- क्योंकि शब्द व्यञ्जक होने पर अर्थान्तर की अपेक्षा (व्यञ्जन में) करता है (और) अर्थ भी (व्यञ्जक होने पर शब्द की (अपेक्षा करता है)। अत: एक के व्यञ्जक होने पर दूसरे की सहकारिता (अप्रधान कारणता) अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यान्नित्रविधो मत:।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा।।19।।

अभिधोपाधिको वाचक:। लक्षणोपाधिको लक्षक:। व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जक:-

किञ्च-

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहु: पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बधकं परे।।20।।

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्य नाम वृत्ति:। तदर्थश्च तात्पर्यार्थ: तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहि तान्वयवादिनां मंतम्।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीय: परिच्छेद:।

अत्र मूलकारिका:=२११ पूर्वाभि: सह २३।
उदाहरणश्लोका:=९। पूर्व: सह १८।

अवतरणिका-अभिधा, या लक्षणा और व्यञ्जना इन तीन व्यापारों का निरूपण करके उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द की भी विशेषता का वर्णन करते हैं-

अर्थ- शब्द भी अभिधा आदि तीन (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) उपाधि की (व्यापार विशेष की) विशिष्टता के कारण वाचक, लक्षक और व्यञ्जक (तीन भेदों में विभक्त) होता है। अभिधा शक्ति जिसका व्यापार है वह वाचक, लक्षणोपाधिक लक्षक और व्यञ्जनोपाधक व्यञ्जक (कहलाता) है।

अवतरणिका-अभिधा या लक्षणा के द्वारा शब्दों से उपस्थित किये जाने वाले प्रत्येक पद के अर्थों का सम्बन्ध वाक्य में प्रतीत होता हुआ **"तात्पर्य नामक वृत्ति"** की अपेक्षा करता है-अर्थात् अभिधा या लक्षणा द्वारा जिन शब्दों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह वाक्य के द्वारा होती है और इस वाक्य के द्वारा अर्थ की प्रतीति कराने के लिये **"तात्पर्य नामक वृत्ति"** आवश्यक है। ऐसा प्राभाकर नैयायिकों का मत है। अत: इनसे सम्मत **"तात्पर्य नामक वृत्ति"** का वर्णन करते हैं-तात्पर्याख्यामिति-

अर्थ- कुछ लोग (कुमारभट्ट प्रभृति मीमांसाचार्य और प्राचीन नैयायिक) पदों के अर्थों के अन्वय का ज्ञान कराने में (अर्थात् पद के अर्थ का ज्ञान कराने में) तात्पर्य नामक वृत्ति को (व्यापार को) स्वीकार करते हैं। (तथा) उस तात्पर्यवृत्ति के प्रतिपाद्य अर्थ को तात्पर्यार्थ, तथा वाक्य को ही उस तात्पर्यार्थ का बोधक (उपस्थापक) कहते हैं।

अर्थ- अभिधा शक्ति के (लक्षणा शक्ति का भी उपलक्षण है) एक एक पद के अर्थ का बोधन करने के उपरान्त विरत हो जाने पर वाक्यार्थ रूप पद के अर्थ के अन्वय का बोध कराने वालजी तात्पर्य नाम वाली वृत्ति है। इस (वृत्ति) का प्रतिपाद्य अर्थ "तात्पर्यार्थ" है, (और) उसका (तात्पर्यार्थ का) ज्ञान करानेवाला "वाक्य" है; इस प्रकार 'अभिहितान्वयवादियों का' मत है। [(अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का मत है कि "क्रिया और कारक का पहले से ही अन्वय बोध होता है, उसके बाद शक्ति होता है, और पद विशेष के समुच्चय से पुन: विशेष स्मृति होती है, अत: तात्पर्य नामक दूसरी वृत्ति का स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।)]

तृतीयः परिच्छेदः

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते-

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥1॥

विभावदयो वक्ष्यन्ते। सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वान पृथगुक्ताः। व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तिकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।

तदुक्तं लोचनकारैः-'रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदन पचतीतिविद् व्यवहारः' इति। अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव प्राप्ते स्थायित्वे पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपि रसान्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततश्च हासक्रोधादयः श्रृङ्गारवीरदौ व्यभिचारिणएव। तदुक्तम्।-

'रसावस्थाः परम्भावः स्थायितां प्रतिपद्यते' इति।

अवतरणिका-प्रथम परिच्छेद के अन्दर काव्य का लक्षण "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" किया है। इस लक्षण के क्रम में से "वाक्यम्" का निरूपण "द्वितीय परिच्छेद" में किया जा चुका है। सम्प्रति प्रसंगानुकूल प्राप्त "रसं" का निरूपण करते हैं-

अर्थ- इसके बाद (वाक्य के निरूपण के अनन्तर) यह (काव्य लक्षण में निविष्ट) रस क्या वस्तु है? इसका निरूपण करते हैं- विभाव (आलम्बन-स्थायीभाव को जागृत करने के मुख्य कारण, श्रृङ्गार में चांदनी, गीतवाद्य और आलम्बन की चेष्टायें), अनुभाव (भावों के बाह्यव्यञ्जक, जैसे क्रोध में मुख का लाल हो जाना, ये कार्यरूप होते हैं), तथा सञ्चारी (स्थायीभावों को पुष्ट करने वाले, जैसे करूणा में दैन्य) (भावों) के द्वारा अभिव्यक्त होकर इत्यादि (रति, हास आदि) स्थायीभाव सामाजिक के (हृदय में) रसता को (रसत्वरूप को) प्राप्त होते हैं अर्थात् रस रूपसे परिणति को प्राप्त होते हैं।

अर्थ- विभावेति-विभावादि (विभाव, अनुभाव और संचारी) का (आगे चलकर) वर्णन करेंगे। सात्विकेति-(यद्यपि "विभावा अनुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिणः" इत्यादि प्राचीन कारिकाओं के अन्दर सात्त्विकों की भी रस घटकता निरूपित की है तथापि) सात्विकों के (स्तम्भ, स्वेदादि सात्विकों के) अनुभावरूप होने के कारण (अर्थात् सात्विकों की गणना अनुभावों के अन्तर्गत है) (अतः) (उनका) पृथक् निर्देश नही किया है। व्यक्ति इति-(उक्त कारिका में आये हुये "व्यक्तः" पद का अर्थ है) दध्यादिन्याय से (यहां "आदि" पद से प्रापाणकादि रसों का भी ग्रहण होता है दूसरे रूप में परिणत (होकर) व्यक्त होने वाला ही रस है (जिस प्रकार दुग्ध अम्ल) (खट्टे पदार्थ के) आदि के योग से दूसरे रूप में परिणत हुआ है "दही" कहलाता है, ये जिस प्रकार आमिक्षा, कर्पूर और मरिच आदि के संयोग से दूसरे रूप में परिणत होकर "प्रपाणक" कहलाता है, उसी प्रकार रति आदि स्थायीभाव काव्य में उपस्थित विभा वादिकों के योग से दूसरे रूप में परिणत हुये चिदानन्छ स्वरूप रस को प्राप्त होते हैं, ऐसा परिणामवादियों का मत है। क्योंकि "सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितो रत्यादिर्भावः" इति। जो रति आदि स्थायीभाव को सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से विद्यमान नहीं मानते हैं उनके मत में "व्यक्तिकृत एव रसः"-'का अर्थ होगा'ज्ञान की विषयता को प्राप्त हुआ ही रत्यादिभाव रस कहलाता है, अन्य अवस्था में नहीं। अर्थात् इनके मतानुसार रस अभिव्यक्त न होकर ज्ञान का विषय हुआ करता है। "एव" इस पद से वस्तुसत्वव्यवच्छेदः=रस की अवस्थिति का निषेध किया गया है क्योंकि चिरकाल से विनष्ट हुर्य पदार्थ की भी ज्ञान विषयता सम्भव हो सकती है अर्थात् विनष्ट हुई वस्तु की ज्ञान प्रतीति सम्भव है। (रस की पूर्वसिद्धता भी नहीं है क्योंकि) नत्विति-जिस प्रकार दीपक पहले विद्यमान घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है, उस प्रकार से विभावादि रस को अभिव्यक्त नहीं करते हैं। तदुक्तमिति-यही बात लोचनकार (ध्वन्यालोक के टीकाकार श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य) ने भी कही कि-"रसाः प्रतीयन्ते इति,-रस प्रतीत होते हैं यह (व्यवहार तो ("ओदनं पचति"=भात पकाते हैं-के समान व्यवहार किया जाता है। (यहां पर भात को पकाते नहीं है, पकाते तो चावलों को ही हैं क्योंकि पक जाने के बाद ही चावलों की भात संज्ञा होती है परन्तु पुनरपि "ओदनं पचति"=भात पकाते हैं-यह जिस प्रकार व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार "रसाः प्रतीयन्ते"-रस प्रतीत होते हैं यह भी व्यवहार किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पाक के सम्बन्ध से चावल भातत्वेन व्यवहार किये जाते हैं उसी प्रकार प्रतीति के सम्बन्ध

से ही रस रूप को प्राप्त सामाजिकों की वासना "रसत्वेन" व्यवहृत होती है। यद्यपि रति आदियों की नायक आदियों में सब के रति होने के कारण पूर्व विद्यमानता है ही तथापि सामाजिकों के हृदयों में उनकी अवस्थिति होने क कारण प्रतीति स पूर्व यह उन की अविद्यमानता ही कही गई है। जिस प्रकार पकने से पूर्व चावलों की "भात" संज्ञा नहीं होती है, उसी प्रकार रति आदि को प्रतीति से पूर्व रस संज्ञा नहीं होती है। तथा रस अवस्थिति सामाजिकों के अन्दर है और वह (रस) काव्यार्थ की भावना स उत्पन्न होकर उस क्षण सहृदयों को अनुभव होता है, अत: रस को पूर्व विद्यमानता को स्वीकार नहीं करना चाहिये। रस में घटादि की अपेक्षा इतनी सी विशेषता है कि वह प्रतीति काल में ही रहता है। घटादि की भाँति प्रतीति के अनन्तर अवस्थित नहीं रहता)। अत्र चेति इसमें (इस लक्षण में) रति आदि पद के उपादान से ही (केवल नाममात्र कथन से) स्थायित्व प्राप्त होने पर (क्योंकि रति आदिक स्थायी भाव ही है; कुछ और नही है, अत: केवल नाम कथन से ही स्थायिता की प्रतिती हो सकती थी) पुन: स्थायी पद का उपादान क ना (यह सूचित करता है कि) रति आदिओं का दूसरें रसों में अस्थायित्व (सञ्चारी भाव) के प्रतिपादन के लियेहै। अर्थात् रति भी एक रस है) श्रृङ्गार और वीरादि रसों में व्यभिचारीभाव ही हैं। तदुक्तम्-यही कहा भी है-

रसावस्थ इति-(यहां "परम्" अव्यय "एव" में आया है) रस है अवस्था (स्वरूप) जिसकी अर्थात् रस की पदवी को प्राप्त हुआ (रत्यादि) भाव ही स्थायीभाव को) व्यभिचारी नही) प्राप्त होता है, इति।

अस्य स्वरूपकथमर्थ आस्वादनप्रकार: कथ्यते-

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय:।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर:॥२॥

अवतरणिका-रत्यादि स्थायीभाव जिस स्वरूप को पाकर रस हो जाते है; इस विषय में क्योंकि आस्वाद ही प्रमाण है अत: (रसास्वाद) का निरूपरण करते हैं-

अर्थ- इसके (रस के) स्वरूप (लक्षण) वर्णन है मध्य में जिसके ऐसा (अर्थात् रस लक्षण के साथ) रसास्वाद की प्रणाली का वर्णन किया जाता है-

अवतरणिका-**"अखण्डस्वप्रकाशनन्दचिन्मय: वेद्यान्तरस्पर्शशून्य:, ब्रह्मास्वादहोदर:, लोकोत्तरचमत्कारप्राण:"** इन पदों से रस के स्वरूप बताया गया है। "स्वाकारवदभिन्नत्वेन" इस पद के आस्वाद का प्रकार और "कैश्चित् प्रमातृभि:" कहकर रसास्वाद के अधिकारियों का निर्देश किया गया है।

अर्थ- सत्वगुण के उद्रेक होने के कारण कुछ विद्वानों के द्वारा अखंड (पूर्ण), स्वयं प्रकाशस्वरूप, (इसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं है) (जिस प्रकार आप के अनन्तर अपना ज्ञान घटादि को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार रसव ही अपने आपको प्रकाशित करता है), आनन्दमय और चिन्मय (चमत्कारमय) (रसस्वाद के समय) अन्य ज्ञेय विषय के सम्पर्क से शून्य (रहित) (अर्थात् रसास्वाद के समय ग्रन्थ ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है) अतएव ब्रह्मास्वाद सहोदर है अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार के समान है (परमात्मा के ज्ञान के समय में केवल ब्रह्ममात्र की अनुभुति होती है, किन्तु रस की अनुभूति के समय में विभावादिकों को भी अनुभूति होती है, इसलिये सहोदरत्व कहा है। लोचनकार ने कहा भी है-"परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं वास्तु अस्य रसास्वादस्य")। अलौकिक चमत्कार है प्राण (सार) जिसका ऐसा, (नायिकादिओं का नायकादि रत्यादिकों में लौकिक चमत्कार ही सम्भव है, परन्तु इसका सम्बन्ध सामाजिक निष्ठ होने के कारण अलौकिकता है)। यह रस अपने शरीर की तह तादात्म्यरूप से अनुभव किया जाता है [विषय पड़ा आत्मा से भिन्न शरीर के विषय में "मैं स्थूल हूं" "मैं कृश हूं" इस प्रकार के उल्लेख से अभेद की प्रतीति होती है, मैं राम सीताविषयक रति वाला हूं" इस प्रकार आत्मनिष्ठ होने के कारण ज्ञाता और ज्ञान के अभेदरूप में आस्वाद किया जाता है। घड़ादि के ज्ञान होने पर "मैं घड़े को जानता हूं" इस प्रकार का जैसा ज्ञाता और ज्ञान का भेद प्रतीतत होता है, उस प्रकार का भेद रसानुभूति के अन्दर नहीं होता है।] ("सत्व" का निरूपण करते हैं) रज इति-रज (अनुत्कृष्ट मनोधर्मविशेष: रज:) और तम (निष्कृष्टमनोधर्मविशेष: तम:) इन दोनों के सम्पर्क से रहित मन (मानसी धर्मविशेष:) इस रस निरूपण के प्रसंङ्ग में "सत्व" कहलाता है

लोकोत्तरचमत्कारणप्राण: कैश्चित् प्रमातृभि:।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस:॥३॥

'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मन: सत्त्वमिहोच्यते' इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादक: कश्चनान्तरो धर्म: सत्त्वम्। तस्योद्रे को रजस्तमसी अभिभूय आविर्भाव:। अत्र च हेतुस्तयाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम्।

अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः। अत्र हेतु वल्यामः। स्वप्रकाशत्वाद्यिपि वक्ष्यमाणरीत्या। चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट्।

अवतरणिका-इन कारिकाओं की व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं करते हैं-

अर्थ- "रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्ये" इस (प्राचीन उक्ति) के अनुसार बाह्य लौकिक विषयों से (मेय) विमुखता को (ज्ञान के अनुकूल व्यापार का अभाव) करने वाला कोई (अनिर्दिष्टस्वरूप) आन्तरिक धर्म (गुणविशेष) सत्व कहलाता है, (उसका) (उक्त स्वरूप सतोगुण का) उद्रेक-रजोगुण और तमोगुण (नामक काम और लोभ के बीचभूत मानसधर्मों) को तिरस्कृत करके (अपने कार्य में अक्ष्म करके' अर्थात् सर्वथा हटाकर) आविभाव होना (अपने कार्य में सक्षम होकर स्थिर रहना) "उद्रेक" पद का अर्थ है। और यहां पर अर्थात सत्व के उद्रेक में उस प्रकार के (सत्व के उद्रेक में उत्पन्न करने वाला जो) अलौकिक काव्यार्थ (लोकोत्तर विभानुभावादि) का परिशीलन (भावना) इस सत्वोद्रेक का कारण होता है। (अखण्ड पद की व्याख्या करते हैं) अखण्ड इति- "अखण्ड" पद का यह अभिप्राय है कि विभाव आदि तथा रति आदि का प्रकाश, एवं सुख और चमत्कार इन सबसे अभिन्न एतदात्मा रस एक ही है। **प्रश्न- जब विभाव, अनुभाव आदि अनेक पदार्थ रस के अन्तर्गत हैं तो यहज "रस" एक अथवा अखण्ड कैसे हो सकता है?** उत्तर-(इसका समाधान करते हैं) अत्रेति-इस विषय में (रस की अखण्डता के विषय में) कारण आगे कहेंगे (समूहालम्बन ज्ञान तादात्म्य ही हेतु है) (यद्यपि विभावादिकों में प्रत्येक की खण्डरूपता ही है, तथापि प्रपाणक रस की तरह समूह की आलम्बन विधि के अनुसार विभावादिकों के अभेद से उस प्रकार की रस की अनुभूति होती है, इसलिये रस की अखण्डता होती है)। स्वप्रकाशत्व आदिक भी वक्ष्यमाण रीति से जानना। "चिन्मयः" इस शब्द में स्वरूप अर्थ में मयट् प्रत्यय हुआ है।

चमत्कारश्चित्तविस्तारूपौ व्स्मयापरपर्य्यायः। तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायण-पादैरूक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे-

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्'॥ इति।

कैश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः।

यदुक्तम्-

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्र ससन्ततिम्'। इति।

यद्यपि 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वम्, तथापि 'रसः स्वाद्यते' इति काल्पनिकं भेदमुररी कृत्य कर्मकर्त्तरि वा प्रयोगः। तदुक्तम्-'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः' इति। एवमन्यत्रप्येवंविध स्थलेषूपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः।

चमत्कार चित्त का विस्तारूप विस्मय का अभिन्न (अपरपर्यायः) अथवा वाचकान्तर है। और उसकी (रस की चमत्कार की) सारता हमारे वृद्ध प्रपितामाह सहृदयगोष्ठी गरिष्ठ कवि पण्डितों में मुख्य श्रीमन्नारायणपाद ने भी कही हैं। यही बात धर्मदत्त ने अपने ग्रन्थ में कही है-इसे इति-सभी रसों में चमत्कार ही (चित्त विस्तार ही) साररूप से (प्राण) अनुभव होता है। इस कारण से चमत्कार के साररूप (स्थायी) होने के कारण सब जगह ही अदभुत रस ही प्रतीत होता है। अतः पण्डित नारायण केवल एक अदभुत रस ही मानते हैं। (यहां पर अदभुत शब्द रस विशेष का वाचक नहीं हैं।) (इस कारिका के अन्दर "कैश्चित् प्रभातृभिः" आया है, उसकते "कैश्चित्" पद की व्याख्या करते हैं) कैश्चिदिति-कुछ विद्वानों के द्वारा अर्थात् "प्राक्तपुण्यशालिभिः"-पूर्व जनम के पुण्य कर्मों से पुण्यशाली कुछ विद्वानों के द्वारा। (इस वर्तमान जीवन के पुण्य का इस शरीर के द्वारा अनुीाव करना असम्भव होने के कारण क्योंकि कारण के अभाव के कारण कार्य का अभाव होता है-इस नियम के द्वारा पूर्व जन्म के पुण्यों का अभाव होने के कारण इस वर्तमान जीवन के अन्दर कार्य भूत सुखस्वरूप रस के आस्वाद की अनुभूति न भी नहीं हो सकती है।) (सहृदय पुरुष रस का आस्वाद लेते है) यदुक्तम्-कहा भी है कि-पुण्यवन्त इति-पुण्यशाली मनुष्य (पूर्व जन्म के पुण्यों के कारण पुष्यशाली) योगियों की तरह रस की अविच्छिन्न धारा को-श्रृङ्गारादि रसधारा को, (योगियों के पक्ष में) ब्रह्मज्ञानरूप अमृतधारा को (क्योंकि श्रुति में परमात्मा को "रसो वै सः" ऐसा कहा है) अनुभव करते हैं।

अर्थः-शंका-यद्यपि "काव्यार्थ के परिशीलन से अथवा काव्य के अर्थ विभावादिकों के मेल से आत्मानन्द की उत्पत्ति होती है अर्थात् काव्यार्थ की भावना से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव ही आस्वाद कहलाता है अथवा आत्मबुद्धि, आनन्द सुख-इन दोनों का"

उद्भव होता है।" (विषयान्तर के तिरोधान हो जाने से इन दोनों का अविर्भाव होता है)। इस कथन के अनुसार रस को भाव्या स अपृथक्ता ही कही है अर्थात् रस आस्वादरूप ही हैं, आस्वाद से अतिरिक्त कोई अन्य आस्वाद्य वस्तु रस नहीं है (समाधान न) पि "रस: स्वाद्यते:-रस आस्वादित होता है, इत्यादिक प्रयोग कल्पित भेद मानकर (किये हुए समझने चाहिये) (जिस प्रकार " रा: शिर:"-"राहु का शिर" इसके अन्दर अभेद होने पर भी औपचारिकरूपेण भेद को स्वीकार करके ही वैसा प्रयाग किया जाता है मी प्रकार रस और आस्वाद के अन्दर कर्म और क्रिया के रूप में उल्लेख करना बिना भेद के सम्भव नहीं है। अत: अभेद हान प भी काल्पनिक भेद को स्वीकार करके ही इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है) (काल्पनिक भेद क्योंकि मिथ्या हुआ करता है त, दूसरा समाधान उपस्थित करते हैं) अथवा कर्मकर्ता में प्रयोग (समझना चाहिये)। [जिस प्रकार "निद्यते काष्ठ: स्वयमव" यह पर एक ही काष्ठ के अन्दर कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों कहने की इच्छज्ञ से अभेद होने पर भी भेद की विवक्षा के कारण कर्मकर्त का प्रयोग समझना चाहिये]। तदुक्तम्-कहा भी है-(रस के आवस्वादरूप होने में प्राचीन सम्मति को दिखाते हैं। रस में व्यभिचा हीं साररूप होती है, अत: रस प्रकाशारीर (ज्ञानरूप) से अन्य नहीं है। अर्थात् ज्ञानरूप कर्ता प्राप्त रत्यादि ही सहृदय सामाजिक क आन्दरूप चमत्कार को उत्पन्न करने के कारण "रस" कहाता है। एवमिति-इसी प्रकार दूसरे इस प्रकार के स्थलों पर क्रिया अ (काल्पनिक भेद मानकर अथवा कर्मकर्ता के अन्दर प्रयोग को स्वीकार करके) गौण प्रयोग समझना चाहिये

नन्वेतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवति। व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद् द्वयोरैक्यमापतितम्। ततश्च-

'स्वज्ञानेनान्यधीहेतु: सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मत:।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्ये कारकात्।।'

अवतरणिका-प्रश्न-(रस के विषय में दूसरी आपत्ति उठाते हैं) ननु विभावादिमेलकात् जायमानानन्दसंवलितमिलितविभावादिसं इत्युक्तं भवति-अर्थात् विभावादि के मेलक से (मिलाने वाले कर्तृत्वभाव से) उत्पन्न आनन्द से युक्त, (तथा) मिला आ विभावादिरूप ज्ञान "रस" कहाता है। और विभावादिकों का मेलक (मिलानेवाला) विशिष्टि विभावादि की विशेषता को अव हन कराने वाला और एक ज्ञानविषयिता वाला होता है, ऐसा अवश्य कहना चाहिये क्योंकि किसी और प्रकार से उसका (मेलक का निरूपण सम्भव नहीं है, और विभावादिकों का उस प्रकार का ज्ञान प्रत्येक ज्ञान के साथ ही होता है, इस प्रकार उस प्रकार के ज्ञान के अनन्तर रसास्वाद किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है क्योंकि (विभावादिकों के मेलक और मिले हुये विभवादिकों का ज्ञानरू प रस होता है) रस के रसास्वाद का ऊपर कहे हुये से भिन्न कोई उपाय ही नहीं है-ऐसी आशंका करके प्रश्न उठाते हैं

अर्थ-प्रश्न-नन्विति-"एतावता" (यद्यपि स्वाद: "काव्यार्थसंभेदादात्मानन्द समुद्भव:" इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वमुक्तम् यहां तक) इस कथन के अनुसार अर्थात् काव्यार्थ के परिशीलन से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव ही आस्वाद कहलाता है त रस आस्वाद से भिन्न नहीं है (तथा) "प्रकाशशरीरादन्य एव रस:"-रस प्रकाशशरीर से (ज्ञानरूप से) भिन्न नहीं है (अत:) इन पक्ष कारणों से रस अज्ञेय हुआ अर्थात् श्रेय का ज्ञान-का विषय नहीं रहा। क्योंकि ज्ञान अपने विषयभूत घटादिकों से सदा भिन्न हाता है अत: आस्वादरूप अथवा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप अपने आपको प्रकाशित नही कर सकती-यही रस की अज्ञेयता है। (अन्तर न कि व्यञ्जना के द्वारा ही रसास्वाद उत्पन्न हो जावे-इसलिये कहा है कि) व्यञ्जना याश्चेति-और व्यञ्जना की एकता स्थापन हो जा (कहने का तात्पर्य यह है कि यदि रस भी ज्ञान विशेष रूप है, और व्यञ्जना भी ज्ञान विशेष रूप है तो इन दानों क अन्दर ज्ञा त्व (ज्ञान विशेष होने के कारण) स्थापित हो जाती है फिर इन दोनों के अन्दर (रस और व्यञ्जना के अन्दर) साध्य और साधकत्व भाव किस प्रकार से सम्भव हो सकता है। रस व्यञ्जना से उत्पन्न ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है) ततश्च दोनों की व्यंग्य और व्यञ्जक) एकता स्थापित हो जाने से (कथ रसस्य व्यङ्ग्यता-रस की व्यंग्यता किस प्रकार हो सकती है) (जिस प्रकार दीपक घ टादि का व्यञ्जक है उस प्रकार व्यञ्जना व्यंग्य रस की व्यञ्जक नहीं है) क्योंकि:-(पृथक्ता के अन्दर ही व्यंग्य व्यञ्जक भाव हो सकता है; अभिन्नता में नहीं, इसी को पुष्ट करने के लिये कारिका लिखते हैं) स्वज्ञानेनेति-

हेतु दो प्रकार के होते हैं (१) कारक और, (२) ज्ञापक अथवा व्यञ्जक। कारक हेतु की व्युत्पत्ति-"तत्र करोति क्रियां सिद्धतेति व्युत्पत्त्या पूर्वमसिद्धं वस्तु य: खलु सम्पादयति स कारकोऽर्थादुत्पादक:"-जो पहिले से असिद्ध वस्तु को प्रकाशित करत हैं व कारक अर्थात् उत्पादक हेतु कहलाते हैं-यथा-चक्र, चीवर, दण्ड, कुलाल, कपाल इत्यादि। ये सब पहले से अविद्यमान घट को उत्पन्न करत हैं।) ज्ञापक हेतु का लक्षण करते है:-स्वज्ञानेनेति-सिद्ध अर्थ (वस्तु के होने पर जो ज्ञान के द्वारा अन्य सिद्ध वस्तु के ज्ञान का कारण होता है व्यञ्जक (ज्ञापक) हेतु कहलाता है, यथा-दीपक (यदि घटादि वस्तु पहले से विद्यमान हों तो दीपक अपने ज्ञान के द्वारा उनका प्रकाश करता है। कुलाल की तरह अविद्यमान वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता अत: यह ज्ञापक हेतु है) अन्यथाभावे असिद्ध अर्थ का ज्ञापक होने पर इस इस व्यञ्जक (ज्ञापक) हेतु की कारक हेतु से क्या विशेषता है? अर्थात् कोई भी विशेषता नहीं है (क्योंकि कारक हेतु कार्य को उत्पन्न करके प्रकाशित करता है) [कहने का तात्पर्य यह है कि कारक हेतु असिद्ध वस्तु का उत्पादन करता है और ज्ञापक हेतु सिद्ध वस्तु का ही ज्ञापन कराता है-यही इन दोनों में भेद है]

इत्युक्तदिशा घटप्रदीपवद्व्यङ्ग्य व्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेति चेत्, सत्मुक्तम्। अत एवाहु-"विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभयः स्वादनाख्यः कश्चिद्व्यापारः" इति। अत एव हि रसनास्वादनचमत्कारणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशाः इति अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्समाभी रसादीां व्यङ्ग्यतवमुक्तं भवतीति।

इत्युक्तदिशेति-इस कथन के अनुसार घट और दीपक की तरह (जिस प्रकार घट को दीपक व्यक्त करता है, उसी प्रकार व्यञ्जक व्यंग्य को व्यक्त करता है) व्यंग्य और व्यञ्जक की भिन्नता ही सिद्ध होती है, अभिन्नता (एकरूपता) नहीं। (परंतु पूर्वकथानुसार यदि रस को व्यञ्जना स्वरूप मानोगे तो) रस किस प्रकार व्यंग्य कहलायेगा? (क्योंकि व्यञ्जना व्यंञ्जक का व्यापार है और व्यंग्य उस व्यापार का विषय होता है-व्यापार स्वरूप नहीं हो सकता)। (शंका का समाधान करते हैं) सत्यमिति-बात तो ठीक है। ("सत्यम्" यह अव्यय अर्धस्वीकारोक्ति में आता है)।

अतएवेति-इसलिये (पूर्वपक्ष क कथन के बाद ही अथवा ज्ञानरूप ही रस है इसलिये) (अभिनवगुप्तचार्य के मत का अनुसरण करने वाले नैय्याकि) कहते हैं-[भट्टलोल्लट आदि तो रस को व्यंग्य ही मानते हैं। तथाहि-"रामदि के अन्दर व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत होने वाला रत्यादि के ज्ञान से सामाजिकों के अन्दरा वासनारूप से विद्यमान रस व्यक्त होात है, और "रामः सीताविषयकरतिवान्"-राम सीता विषयक रति वाला है-इत्याकारिका ज्ञान होता है। जिस प्रकार स्वर्ग प्राप्ति के लिये किया हुआ यज्ञ यद्यपि विनष्ट हो चुका होता है पुनरपि अपने ज्ञान की अनुभूतिमात्र से ही सामजिकों के अन्दर रति की अनुभूति कराता है। लाघव की दृष्टि से इसी सिद्धान्त के साथ "अभिधादिविलक्षणम् इत्यादि" कहकर अपने मत का भी प्रकाशन कर दिया है] विलक्षण इति-यह "स्वादनाख्य" नामक व्यापार (शक्ति विशेष) (कारक और ज्ञापक हेतुओं व्यापाररूप) कृति (कृतिः करणम्) और ज्ञाप्ति(ज्ञानानुबूलव्यापारः) के भेदों से विलक्षण (विभिन्न) अनिर्वचनीय (सहृदय सामाजिकों के द्वारा अनुभव सिद्ध) ही है; (जिससे रस का अस्वादन किया जाता है), श्रतएव (विलक्षण व्यापार को स्वीकार करने से) इस विष्क्षय में रसन, आस्वादन, चमत्करण आदिक शब्दों का व्यवहार भी विलक्षण (कृति और ज्ञाप्ति शब्दों से भिन्न) होता है। (अर्थात, जि४स प्रकार संयुक्त समवाय से सुखादि का साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार "आस्वादनाख्य" व्यापार से सामाजिकों के हृदयों में विद्यमान वासना का साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार "भूतलं रंजतवत्" एतद्विषयक ज्ञान शुक्ति के सम्बन्ध में लौकिक है और रजत के अंश में अलौकिक है, उसी प्रकार रस का साक्षात्कार भी वासना के अंश में अलौकिक है(("अन्य स्थलों पर रसादिकों का अव्यंग्य कहा है-क्या यह ठीक नहीं?" -इस आक्षेप का समाधान करते हैं) अभिधादीति-अभिधा आदि से (अभिधा, लक्षण और तात्पर्य वृत्तियों से-वस्तुतः नैय्यायक अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त किसी अन्य शब्दशक्ति को स्वीकार नहीं करते) विलक्षण जो व्यापार (व्यञ्जना) है उसकी स्थापना में सत्यन हम (नवीन आलंकारिक) रसादिकों को (आदि पद से रसाभासादिकों का भी ग्रहण होता है) व्यंग्य कहते हैं।

ननु तर्हि करूणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं न स्यादित्युच्यते-

करुणादावपिरसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।4।।

आदिशब्दाद् बीभत्सभयानकादयः।

तथाऽप्यसहृदयानां मुखमुद्रणाय पक्षान्तरमुच्यते-

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।

अवतरणिकाः-रस के स्वीकृत लक्षण के अन्दर अव्याप्ति की आशंका उठाते हैं:-

अर्थः- प्रश्न-नन्विति-(यदि रस को आनन्द चिन्मय स्वीकार किया जावेगा) तो करुण आदि रसों के दुःखमय होने कारण (स्थायीभाव शोक आदि के दुःखजनक होने के कारण तथा अश्रुपातादि के दर्शन से इनकी दुःखमयता का निश्चय होता है) रस नहीं कहलायेगें। इसके विषय में कहते हैं-

करुणेति-(करुणादि रसों में भी सुखमयता ही है-अतः सहृदयों के अनुभव को प्रमाण मानकर निराकमरण करते हैं)करुण आदि रसों में भी (शोक, भय आदि स्थायीभाव होने के कारण) जो अत्यन्त आनन्द होता है उसमें (उस आनन्दनुभाव के विषय में) सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। (क्योंकि सहृदयों को सुख का अनुभव होता है अतः करुणादि रस दुःखमय न होकर सुखमय ही हैं-अतः अव्याप्ति नाम का दोष नहीं है) आदिशब्दादिति-(कारिका के अन्दर विद्यमान) आदि शब्द से बीभत्स और भयानक आदि (रसों का ग्रहण होता है) तथापि जो सहृदय नहीं है उनका मुख बन्द करने के लिये दूसरा पक्ष उठाते हैं-

किञ्चेति-तथा यदि उनमें (करुण, बीभत्स, भयानक आदि रसों में) दुःख (होता) हो (शोकादि कार्य हों) (तब) कोई भी (व्यक्ति) करुणादि रसों के प्रतिपादक काव्यादि के सुनने में प्रवृत्त न हो। (अपितु करुणादि रसों के सुखमय होने के कारण ही सभी

को उन काव्यों को श्रवण करने में प्रवृत्ति होती है) (स्यात कुतूहल के निमित्त दु:खशील करुणादि रसों के काव्य को सुनने में प्रवृत्ति हो, अत: कहते हैं)

नहि कश्चत् सचेता आत्मनो दु:ख्याय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापिसाभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव।

अनुपपत्त्यन्तरमाह-

तथा रामायणादीनां भवितां दु:खहेतुता॥5॥

करुणरसस्य दु:खहेत्वे करुणरसप्रधानरामायणदिप्रबन्धानामपि दु:खहेतुताप्रसङ्ग स्यात्।

ननु कथ दु:खकारणेभ्य: सुखोत्पत्तिरित्याह-

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिका:॥6॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्य: काव्यसंश्रयात्।
सुखं सञ्जायते तेभ्य: सर्वेभ्योऽपीति का क्षति:॥7॥

नहीति-क्योंकि कोई भी सहृदय सामाजिक अपने दु:ख के लिये प्रवृत्त नहीं होता है। और करुणादि (रसों के काव्यों में स (सामाजिकों) की प्रवृत्ति आग्रहपूर्वक होती है, अत: (वे रस भी) सुखमय ही है।

अर्थ- अनुपपत्यत्तरमाह-दूसरी युक्ति देते हैं-

तथेति-यथा-(करुणादि रसों के दु:खमय स्वीकार करने पर करूण रस प्रधान) रामायण आदि (आदि पद से करुणविप्रलम्भ प्रधा उत्तररामचरित का भी ग्रहण हो जायेगा) (काव्यों) भी दु:ख के हेतु मानने पड़ेगें। (कारिका की स्वयं व्याख्या करते हैं करुणेति-करुण रस की दु:खहेतुता स्वीकार करने पर करुण रस प्रधान रापमायणदि प्रबन्धकाव्यों के अन्दर भी दु:ख को कारण का प्रसंग होगा अर्थात् इन काव्यों के अन्दर भी दुख के ही हेतु स्वीकार करने पड़ेगें। (और दु:ख के हेतु स्वीकार करने पर सभा के अन्दर किसी की भी इनके प्रति सुनने और पढ़ने की प्रवृत्ति नहीं होगी-और प्रवृत्ति न होने से इन काव्यों के विलीन होने के प्रसङ्ग आता है।.अतएव ये दु:खमय न होकर सुखमय ही है।)।

अवतरणिका:-"कारणगुणा: कार्यगुणानारभन्ते" इस न्याय से करुणादि रसों में स्थायी भाव शोकादि के दु:खजनक होने का कार उनसे सुख की उत्पत्ति किस प्रकार होगी-ऐसी शंका उठाते हैं:-

अर्थ:-प्रश्न-नन्विति:-दु:ख के कारणों से (रामादि विभावों से) सुख की उत्पत्ति कैसे होगी? इसका उत्तर देते हैं:

लोक के (चराचर वस्तुजात) संश्रय (संसर्ग अथवा स्वभाव) से शोक, हर्ष आदि की कारणता को प्राप्त हुये (वनवासादि प स संस में लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न हुआ करें (जिस प्रकार राम के वनवास में राम का दु:ख लौकिक था) परन्तु काव्य के सम्बन्ध से अलौकिक विभावन को (विलक्षण कारणता को) प्राप्त हुये उन सभी से (लौकिक शोक, हर्ष के निमित्त वनवासादिकों स सुख (ही) उत्पन्न होता है, इस प्रकार की कल्पना में क्या हानि है? अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है।

ये खलु रामवनवासादियो लोके 'दु:खकारणनि' इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्त्य कारणशब्दवाच्यतां विहाय अलौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते। तेभ्यश्च सुरते दन्तधातादिभ्य इव सुखमेव जायते। अतश्च 'लौकिकशोकर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते' इति लोक एव प्रतिनियम:। काव्ये: पुन: 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्य सुखमेव जायते इति नियमान्न कश्चिद्दोष:।

कथ तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्यामश्रुपातादयो जायन्त इत्युच्यते-

अश्रु पातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मता:-

अर्थ:-(अपने आशय को स्पष्ट करते हैं) जो रामचन्द्र जी के वनवासादि (आदि पद से राज्याभिषेक का भी ग्रहण हो जाता है) लोक में "दु:ख के कारण है" (कवि के द्वारा) उपनिबद्ध किये हुये अलौकिक (विलक्षण) विभावन (रत्यादि का आस्वादन का योग्यता तक लाना) व्यापार के द्वारा कारण शब्द की वाच्यता को छोड़कर अलौकिक (विलक्षण) विभाव शब्द की वाच्यता का प्राप्त कर लेते हैं। (इसलिये कारण शब्द को छोड़कर विभावादि शबद का सामाजिक प्रयोग करते हैं) और उनसे (अलौकिक विभावादिकों स रति क्रीड़ा में जिस प्रकार दन्तच्छदादि सेसुख की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सुख ही उत्पन्न होता है। इसलिये "लौकिक शोक हर्ष

आदि कारणों से लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं" ऐसा लोक में ही नियम है। काव्य के अन्दर तो सभी विभावादिकों से सुख की उत्पत्ति होती है" इस नियम को मानने में कोई दोष नहीं हैं।

(दूसरी शंका उठाते हैं) कथमिति-(यदि करुणप रस के अभिव्यञ्जक विभाव आदिकों से सु की ही उत्पत्ति होती है, अर्थात् करुणादि रसों की सुखमयता स्वीकार कर लेते हैं) तो हरिश्चन्द्र आदि के (करुण रसमय) चरित को काव्य और नाटक में भी देखने और सुनने से अश्रुपात दीर्घानि:श्वास आदि (आदि पद से दीर्घनि:श्वास का ग्रहण होता है) कैसे होते हैं। क्योंकि केवल दु:ख से ही अश्रुपातादिकों की सम्भावना होती है)। इत्युच्यते-इसका उत्तर देते हैं।

चित्त के द्रुत हो जाने के कारण (चित्तस्य सदयत्वमेव द्रुतत्वम्) (अर्थात् सुख होने पर भी चित्त के द्रवित हो जाने के कारण अश्रु पात होता है) सुख की उत्पत्ति की तरह (तद्वत) (सामाजिकों के) अश्रुपातादिक होते हैं।

तर्हि कथं काव्यत: सर्वेषामीदृशी रसाभिव्यक्तिनं जायत इत्यत आह-

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनम्॥8॥

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतु:। तत्र यद्याद्या नस्यात्तदा श्रोत्रियजनन्मीमांसकादीनामपि स स्यात्। यदि द्वितीय न स्यात्तदा यद्गागिणामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्।

अर्थ-(यदि सम्पूर्ण काव्य ही आह्लाद का कारण है) तो काव्य से सभी की (सर्वसाधारणों की भी) इस प्रकार की (आह्लाद हेतु भूत) रसाभिव्यक्ति क्यों नहीं होती है? इत्यत आह-इसका उत्तर देते हैं-

रस का आस्वाद रत्यादि की वासना के बिना (रत्यादि के साथ तादात्म्य से प्रतीति होने वाली वासना के बिना) नहीं होता है। (अर्थात् रत्यादि की वासनाले ही रस का आस्वाद ले पाते हैं, दूसरे नहीं। वासना पद यहां पर संस्कार विशेष का बोधन करता है)।

अर्थ-और (जिस वासना से अनुप्रमाणित सहृदय सामाजिक रसास्वाद को ग्रहण करते हैं)। वह वासना (दो प्रकार की होती है) (आध ुनिकी (अर्थात् इस जन्म के अन्दर निर्मित्त) और प्राचीन (पूर्व जन्म में प्राप्त की हुई) ये (ये दोनों) (मिलकर ही) रसास्वाद के प्रति कारण होती है। [अर्थात, वासना दो प्रकार की होती है। (१) आधुनिकी और (२) प्राचीन। इसमें से काव्य और नाटक के सुनने और देखने के समय में रहने वाली "आधुनिकी वासना" होती है और पूर्वकालवर्तिनी "प्राचीन वासना" होती है)] (ये दोनों वासनायें मिलकर ही रसास्वाद के प्रति कारण हुआ करती है, इसको स्पष्ट करती हैं) तत्रेति-उनमें से (अर्थात् उन दो वासनाओं के मध्य में से) यदि पहली (आधुनिकी-इस जन्म की वासना) न हो अर्थात् रसास्वाद के अन्दर हेतुत्वेन स्वीकार न की जाये, तो वैदिक (श्रोत्रिय) और वृद्ध मीमांसकों को भी वह रसास्वाद होना चाहिये। (श्रोत्रिय का लक्षण-"एकां शाखां सकल्पां वा षड्त्रिरङ्गरधीत्य वा। षट्कर्मनिरतो विप्र: श्रोत्रियो नाम धर्मवित्।") (किन्तु वैदिक और वृद्धमीमांसकों को रसाभिव्यक्ति होती नहीं है, अपितु इसके विपरीत रत्यादि के सम्बन्ध से सहकृत काव्य के अर्थ ज्ञान की इच्छा का अभाव होने के कारण उनके अन्दर काव्य के प्रति घृणा का संचार देखा जाता है। प्रश्न:-अच्छा, इनके अन्दर इदानीन्तनी वासना तो है नहीं, परन्तु प्राक्तना (पूर्वजन्म की) वासना भी नहीं है इसका क्या प्रमाण है। उत्तर-प्राचीन वासना के अभाव में कोई अन्य प्रमाण उनकी सिद्धि के विषय में उपलब्ध न होने के कारण यह सिद्ध होता है क उनके हृदयों में प्राचीन वासना नहीं है।] और यदि दूसरी (प्राक्तनी वासना -पूर्व जन्म की वासना) वासना न हो तो कुछ अनुरागी व्यक्तियों के अन्दर भी रसाभियुक्ति नहीं होती है, वह नहीं होनी चाहिये, अर्थात् रसभिव्यक्ति होनी चाहिये। क्योंकि उनके अन्दर आधुनिकी वासना विद्यमान है। [वस्तुत: उनके अन्दर प्राचीन वासना का अभाव होने के कारण और आधुनिकी वासना की विद्यमानता के कारण भी रसाभिव्यक्ति नहीं होती है, ऐसा नहीं होना चाहिये। [इसी कथ्न को प्रमाण से पुष्ट करते हैं]।

उक्तञ्च धर्म्मदत्तेन-

'सवासनानां सभयानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गनत: काष्ठकुड्याश्मसन्निभा:'।इति॥

ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणै: सीतादिभि: सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्येत-

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृति:।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादय:॥9॥
प्रमातातदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

अर्थ- उक्तेञ्चेति-धर्मदत्त ने कहा भी है कि-सवासनानामिति वासना से युक्त हृदयों को ही (आधुनिकी और प्राचीन इन दोनों वासनाओं से युक्त सहृदयों को ही) रस का आस्वादन होता है (किन्तु) (इन दोनों प्रकार की) वासना से रहित सभ्य (सामाजिक)

रङ्गभूमि के अन्दर (नाट्यशाला के अन्दर विद्यमान काष्ठ? भित्ति तथा पत्थरादिकों को जिस प्रकार रस का आस्वाद नहीं होता है उसी प्रकार वासना से रहित नाटक के दर्शक सामाजिकों को रसास्वाद नहीं होता है। वे सर्वथा रसाभिव्यक्ति शून्य होते हैं।

प्रश्न-नन्विति-रामादि की रति के उद्बोधक कारण (काव्य और नाटक के अन्दर देखे और सुने गये) सीतादिकों से सामाजिकों को रति का उद्बोध कैसे होता है? इसका उत्तर देते हैं-

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का (आदि पद से अनुभाव और संचारी भावों का भी ग्रहण होता है) व्यापार (सामर्थ्य विशेष) है (जो) नाम से साधारणीकृति (साधारणीकरण) कहलाता है। उस साधारणीकरण के प्रभाव से जिसके (राम के या हनुमान के) समुद्र को पार करना आदि अथवा समुद्र को लांघना आदि) (आदि पद से रावण को मारना आदि का भी ग्रहण होता है) थे विद्वान् सामाजिक राम के साथ अथवा हनुमान के साथ अभेद होने के कारण (तादात्म्य भाव से) अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्घनादावुत्साहोऽथ इत्युच्यते-

उत्साहादिसमुद्रेधः साधारण्याभिमानतः॥10॥
नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति।

रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रीयन्त इत्याह-

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते॥11॥

रत्यादयोरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभयानां व्रीडातङ्कादिर्भवेत्। परगतत्वेन त्वरस्यतापातः।

अवतरणिका-नायक और सामजिक के अन्दर अभेद का प्रतिपादन करके वासना और उत्साहित के अभेद का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ- नन्विति-(अल्पशक्ति) मनुष्यमात्र की समुद्र-लंघनादि में (दुष्कर कार्य में) ("आदि" पद से रावण के हनन का ग्रहण होता है) कैसे उत्साह होता है? इसका उत्तर देते हैं-

(विभावादि के साधारणीकरण व्यापार के कारण) सामान्य मनुष्यों का भी हनुमान प्रभृति के साथ उस समय भेद ज्ञान को निवृत्तिपूर्वक साधारणयाभिमानसे (साधारणीकरण नामक व्यापार से अपना रामादिकों से अभेदज्ञान हो जाने के कारण) समुद्रादि के लंघनादि में उत्साहादिकों का सम्यक् उदय हो जाना दूषित नहीं है।

अवतरणिका-सामाजिकों के हृदयों में विद्यमान उत्साहिद स्थायीभावों के विषय में ही विभावादि का साधारणीकरण व्यापार उपलब्ध होता है फिर अन्य सभी स्थायीभावों के विभावादि का साधारणीकरण होता है, इसको स्पष्ट करते हैं-

अर्थ- (श्रृङ्गारादि रसों के स्थायीभाव) रति आदिक भी ("आदि" पद से रति से भिन्न सभी स्थायीभावों का ग्रहण होता है) (सामजिकों के द्वारा) प्रतीत होते हैं, इसका प्रतिपादन करते हैं-

रति आदि भी (सीता विषयक रामादि का अनुराग आदि भी। "आदि" पद से उत्साहादि का भी ग्रहण होता है) समुद्रलघनादि में उत्साहादि की तरह (तद्वत्) साधारणीकरण व्यापार के द्वारा (रामादि के साथ अपने अभेद ज्ञान के द्वारा) (सामाजिकों को) प्रतीत होते हैं।

(हेतु देते हैं) रति आदि की भी (रस का तो कहना ही क्या) आत्मगतत्वेन प्रतीत होने पर सहृदयों को लज्जा और भय हो (आत्मगतत्वेन रति की प्रतीति होने पर पिता आदि तथा गुरुजनों के सान्निध्य से लज्जा की प्रतीति होगी। रत्यादि-यहां पर "आदि" पद से हासादिकों का ग्रहण होता है) और नायक आदि अन्यपुरुषगत रति आदि की प्रतीति होने पर रसास्वाद का उच्छेद हो जाये। (अतः नायकादिकों के साथ साधारणीकरण हो जाने के उपरान्त ही मनुष्यों को रसस्वाद होता है)।

विभावादयोऽपि प्रथमः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह-

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥12॥

ननु तथापि कथमेवमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते-

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम्।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम्॥13॥

अवतरणिका:-विभावादि के विषय में साधारणीकरण की प्रतीति के प्रतिबन्धक के अभाव को दिखाते हैं।

अर्थ:-विभावादि भी ("आदि" पद से अनुभाव और व्याभिचारीभाव का ग्रहण होता है) रस से पूर्व साधारणीकरण के रूप में (सामाजिकों के द्वारा) प्रतीति होते हैं। इसलिये कहते हैं-परस्येति-उस रस के आस्वादन के समय आलम्बन और उद्दीपनादि विभावादिकों का (यह उच्यमान या अभिनीयमान, समुद्रलंघनादि व्यापार) नायक के ही थे, (या ये फिर दिखाई देने वाले व्यापार) दूसरे के (नायक रामादि के) नहीं थे; (यह अवलोकनादि व्यापार) मेरे ही है (ये लंघनादि व्यापार) मेरे नहीं हैं, इस प्रकार का ज्ञान (सम्बन्ध विशेष का स्वीकार अथवा परिहार) (सभ्य का) नहीं होता है।

अवतरणिका:-रस की अलौकिकता "लोकोत्तरचमत्मारप्राण:" इन शब्दों में वर्णित की है, और आगे चलकर "तस्मादलौकिक:" ऐसा कहकर, प्रतिपादन करेंगे परन्तु लौकिक विभावादिकों से अलौकिकरस की उत्पत्ति कैसे होती है, इस आशय का समाधान करने वे लिये और उनकी अलौकिकता का प्रतिपादन करने के लिये शंका उठाते हैं-

अर्थ- शंका-नन्विति-तो भी (साधारणीकरण नामक व्यापार के स्वीकार कर लेने पर भी) (लोकसिद्ध) इन विभावादिकों की अलौकिकता कैसे होती है? यह कहते हैं:-

अलौकिक (लोक विलक्षण) विभावनादि व्यापार को प्राप्त होने वाले इनकी (इन विभावादिकों की, काव्य के अन्दर उपनिबद्ध सीतादिकों की) अलौकिकता-लोकोत्तर चमत्कारशालिता भूषण ही है, (सहृदयों का आस्वाद के योग्य होने के कारण) दूषण नहीं (दूसरे के साथ अनुराग उत्पन्न होने के कारण दूषण नहीं हैं)।

आदिशब्दानुभावसञ्चारणे। तत्र विभावनं रत्यादोर्विशेषणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम्। अनुभाववनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूप तया भावनम्। सञ्चारणं तथा भूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम्।

विभावादीनां यथासङ्ख्यं कारणकार्य्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामपि रसोद्बोधे कारणत्वमित्युच्यते-

अर्थ- (इस कारिका में) "आदि" शब्द से अनुभावन और सञ्चारण ग्रहण होता है। (इन तीनों का विभावन, अनुभावन और सञ्चारण का लक्षण करते हैं। "विभावन" आदि पद की व्युत्पत्ति से ही "विभावन" आदि का स्वरूप प्राप्त होता है।) इनमें से (विभावन पद का लक्षण करते हैं) रतयादि स्थायीभाव को विशेषरूप से अङ्कुर की तरह सूक्ष्यमरूप से आस्वादोत्पत्ति के योग्य बनाना "विभावन" कहलाता है। (अनुभावन पद का लक्षण करते हैं) विभावन द्वारा आस्वादोत्पत्ति के योग्य हुये रत्यादि स्थायीभाव को (रत्यादि पद से देवादि विषयक रति का भी ग्रहण हो जाता है) उसी समय ही रस रूप में परिणत कर देने वाले व्यापार का नाम "अनुभावन" है। (सञ्चारण पद का लक्षण करते हैं) रसादि रूप से उत्पन्न रत्यादि को सम्यक्रूपेण आस्वादयोग्य कर देने का नाम "सञ्चारण" है। (सञ्चारीभाव के द्वारा परिपुष्ट रत्यादि का ही आस्वादन होता है)।

अर्थ:-विभावादिओं के ("आदि" पद से अनुभव और सञ्चारीभाव का ग्रहण होता है) क्रमश: (रामादि की रत्यादि का सीतादि का विभाव कारण है। सीता की रत्यादि का रामदिगत स्तम्भ और स्वेद आदि अनुभाव कार्य हैं। और सीतादिगत चञ्चलंता, आनन्दादि सञ्चारीभाव रामादिगत रति के सहकारी होती है? (कारण और कार्य के सहकारी होने के कारण तीनों की (विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव) रसोत्पत्ति में कैसे कारणता होती है? (अर्थात् रत्यादि के रसरूप में परिणत होने के अन्दर कार्यभूत अनुभाव की कारणता नहीं हो सकती क्योंकि अनुभाव कार्य होते हैं अपितु विभाव और सञ्चारीभाव ही कारण हैं-यह पूर्वपक्ष का आशय है) इत्युच्यते-इसका समाधान करते हैं:-

कारण-कार्य-सञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः॥14॥

ननु तर्हि कथं रसास्वादं तेषामेकः प्रतिभास इत्युच्यते।

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः संवलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्॥15॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्।

अर्थ:-लोक-व्यवहार की दृष्टि से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कारण, कार्य और सञ्चारीभाव होने पर भी वे (विभादिक) रसोद्बोध में कारण ही (कारण, कार्य और सञ्चारी रूप नही) (अलंकारिकों के द्वारा) स्वीकार किये गये हैं।

अवतरणिका:-पहले कारण होता है बाद में कार्य होना है तो फिर रसास्वाद के समय विभावदिकों की युगपद् स्थिति कैसे सम्भव है इसलिये कहते हैं:-

अर्थ:-नन्विति-अच्छा तो फिर रसास्वाद में उन सबका (कारणीभूत विभावादिकों का) अभिन्न रूप से स्फुरण (प्रतिभास एक रस रूप में परिणाम) कैसे होता है? क्योंकि भिन्न-भिन्न कारणों से तो भिन्न-भिन्न कार्य ही होने चाहिये) इत्युच्यते-इसका समाधान करते हैं-

विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव रसोत्पत्ति से पूर्व होती हुये (अपने आप में) प्रत्येक विभावादि रसास्वाद का कारण कहलाते हैं बाद में (रसोत्पत्ति के समय) सम्मिलित सब विभावादि (विभाव, अनुभव और व्यभिचारी भाव से युक्त रत्यादि) प्रपाणक रस की तरह चर्व्यमाण (आस्वाद्यमान) सहृदयों के हृदय में रस रूप से परिगत हो जाते हैं।

यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे सञ्जायते विभावादिसम्मेलनादिहापि तथेत्यर्थः।

ननुयदि विभावानुभाव्यभिचारिभिलितैरेव रसस्त् कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि स स्यादित्युच्यते-

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्॥16॥
झटित्यन्यसमाक्षेपे. तदा दोषो न विद्यते।

अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणादिवशात्। यथा-

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहु नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनभुरः पार्श्वे प्रमुष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावुदग्राङ्गुली
छन्दो नर्त्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टं तथास्या वपुः॥'

जिस प्रकार खण्ड (खांड) मरिच, आमिक्षा और कर्पूर-इन चार के मेल से ("आदि" पद से आमिक्षा और कर्पूर का ग्रहण होता है) निर्मित प्रपाणक रस में अपूर्व (माधुर्यादि रस में विलक्षण)-अनिवर्चनीय आस्वाद (रस) पैदा होता है, उसी प्रकार विभावादिकों के संयोग से उत्पन्न श्रृङ्गारादि रस में भी विलक्षण रसास्वाद पैदा होता है। (जो विभावादिकों के पृथक पृथक् आस्वाद से विलक्षण आस्वाद होता है)।

अर्थ- यदि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सम्मिलन से ही रसोत्पत्ति होती है, तो उनमें एक के अथवा दो के न होने पर रसोत्पत्ति कैसे हो सकती है? (अर्थात् जिस प्रकार तुरी, वेभादिकों के मुख्य कारण के सहकारी कारणों के मध्य में से किसी एक कारण के न होने पर भी तट रूप कार्य की निष्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के मध्य में से भी किसी एक के न होने पर निष्पत्ति नहीं होनी चाहिए-यह पूर्वपक्षी का आशय है) इच्युच्यते-इसका समाधान करते हैं

यदि विभावादिकों के बीच में से दो या एक की विद्यमानता हो, तो (उस समय) शीघ्र ही दूसरे के अध्याहार हो जाने से (व्यञ्जना के द्वारा बोध होने पर) दोष नहीं आता है। (अर्थात् जहां पर विभाव है, अनुभाव, सञ्चारी और रत्यादि नहीं है, वहां उनका अध्याहार हो जाता है, जहां विभाव और अनुभाव तो है, सञ्चारी और रत्यादि नहीं है, वहां भी उनका अध्याहार हो जाता है और जहां अनुभाव और सञ्चारी होते हैं, वहां फिर अध्याहर पहले की तरह हो जाया करती है।)।

और दूसरे का अध्याहार प्रकरणदि के अनुसार हो जाया करता है। यथा-

अवतरणिका-कालिदास द्वारा रचित "मालविकाग्निमित्रम्" नामक नाटक में रंगमञ्च पर गणदास के द्वारा लाई गई मालविका का नृत्य के आरम्भ होने के साथ अग्निमित्र द्वारा किया हुआ रूप वर्णन है-

अर्थ- (इस मालविका का) मुख दीर्घनेत्रों वाला है (अर्थात् बड़े-बड़े नेत्र हैं) तथा शरदकालीन चन्द्रमा की तरह कान्ति वाला है; दोनों भुजायें कन्धों से कुछ झुकी हुई हैं; वक्षःस्थल घने (आपस में सटे हुये) (एवं) वृद्धि को प्राप्त स्तन वाला होने के कारण संक्षिप्त है, दोनों पार्श्व चिकने तथा एक सेहें, कटिप्रवेश मुटठीभर की है (नितान्त कृश है), जघनस्थलं विशाल नितम्ब वाला है (और) दोनों चरण उन्नत अग्र अंगुलियों वाले हैं। (इसको) नृत्य कराने वाले (नृत्याचार्य गणदास का) के मन का जैसा अभिप्राय है (छन्द), वैसा (ही) इसका शरीर बनाया गया है। (मानो ब्रह्माजी ने नृत्याचार्य की इच्छा के अनुसार ही उसके शरीर की रचना की है)।

अत्र मालविकामभिलषऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि सञ्चारिणामौत्युक्यादीनामनुभावनाञ्च नयनविस्फारदीनामौचित्यादेवाक्षेपः। एवमन्याक्षेपेऽप्यूह्यम्।

'अनुकार्य्यगतो रस' इति वदतः प्रयाह-

पारिमित्याल्लौकिकत्वासान्तरायतया तया॥17॥
अनुकार्य्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्।

इस पद्य में (अभिनय के वर्णन में) (यद्यपि) मालविका पर अनुरुक्त (राजा) अग्निमित्र कामालविका के रूप का केवल आलम्बन विभाव से वर्णन होने पर भी और सुक्यादि सञ्चारी भावों का तथा नयन विस्फार आदि अनुभावों का औचित्य से ही आक्षेप हो जाता है। एवामिति-इसी प्रकार अन्य (विभाव) के आक्षेप में भी समरूना चाहिये। (अर्थात जिस प्रकार यहां पर सञ्चारी और अनुभाव का अध्याहार कर लिया गया है उसी प्रकार विभाव के विषय में समझ लेना चाहिये)।

अवतरणिका-जो यह मानते हैं कि रस अनुकार्य नायकदिनिष्ठ है, उसका परिहार करते हैं।

अर्थ- रस अनुकार्य (नायकादि) गत है, अर्थात् रस रामादि नायक के अन्दर रहता है (सामाजिकों के अन्दर नही) यह मानने वालों का प्रतिवाद करते हैं-

परिमित होने के कारण (सीतादि विषय रति केवल रामादिनिष्ठ होने के कारण परिमित है। किन्तु रस तो नाना सामाजिकों के हृदयों में विद्यमान होने के कारण व्यापक हैं। अतः परिमिति होने के कारण ऐसा होना असम्भव है), लौकिक होने के कारण (सीतादिनिष्ठ रत्यादि होने के लौकिक है, किन्तु काव्य और नाटक के अन्दर सीतानिष्ठ रत्यादि के अभेद होने के कारण सामाजिकों में आरोप होने के कारण उनकी रति अलौकिक होती है। प्रतिकूल होने के कारण (रामादिगत रत्यादि का नाट्य और काव्य के देखने और सुनने में प्रतिकूल होने के कारण) अनुकार्य-निष्ठ (नायकादिनिष्ठ) रत्यादि का उद्बोध (सीतादि विषयक प्रीति इत्यादि का आविर्भाव) रस नहीं हो सकता। (अपितु उसके अभेद से आरोप विषयक सामाजिकों की रत्यादि ही विभावादिनिष्ठ स्वादनाख्य व्यापार से उत्पन्न आस्वाद का विषय होकर रस रूप से अनुभव होती है)।

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थं भावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत् तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते।

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः।

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति, न ह्ययं तथा; प्रतीतिमन्तरेणाभावात्।

अर्थः- यदि काव्यार्थ की भावना के द्वारा (केवल शिक्षाभ्यास से नही) नट भी अपने में रामादि की सरूपता दिखलाये तो यहय भी सहृदयों के मध्य में गिना जा सकता है।

अवतरणिका:-रस की स्वप्रकाशिता पहले सिद्ध की जा चुकी है, उसी का दृढ़ करने के लिये अन्य ज्ञेय धर्मों का खंण्डन करते हैं।

अर्थः- यह रस ज्ञाप्य नहीं (अर्थात् जन्य ज्ञान का विषय नहीं है) (क्योंकि) अपनी सत्ता में (कमी) प्रतीति से व्यभिचरित नहीं होता। (क्योंकि जब रस की सत्ता होती है तब सहृदयो के अन्तःकरणों में उसकी सदैव ही प्रतीति होती है, उसका कभी भी व्याघात नहीं होता। ऐसा नहीं होता कि रस तो हो परन्तु सहृदयों को उसकी अनुभूति न हो) (यहां पर साध्य-साधन के पक्षमात्र वृत्रि होने के कारण अन्वय दृष्टान्त नहीं हो सकता, अतः अन्वय व्याप्ति भी नहीं बन सकती। व्यतिरेक होने के कारण व्यतिरेक दृष्टान्त देते हैं)

अर्थः-योहिति-जो जो (यो हि-इसके अन्दर वीप्सा है) घटादि (लौकिक पदार्थ जात) ज्ञाप्य है, वह वह (ज्ञाप्यपदार्थ) (यहां पर भी वीप्सा है) (ज्ञाप्य पदार्थ, विद्यमान होता हुआ भी कभी (ज्ञान सामग्री के न होने के कारण) प्रतीत नहीं होता; (तथा च-यो यो ज्ञाप्यः, सः प्रतीतिं बिना कदाचिदतिष्ठते, यथा घटादिः) अर्थात् जो-जो ज्ञाप्य है, वह कभी-कभी प्रतीति के बिना भी रहता है-अर्थात् उसका ज्ञान नहीं होता है, यथा (छिपा हुआ) घटादि।] यह रस वैसा नहीं है [अर्थात् कभी विद्यमान होता हुआ अज्ञात नहीं होता है अर्थात् रस हो और उसका ज्ञान न हो ऐसा नहीं हो सकता)] प्रतीति के बिना उसका अभाव होने के कारण। अर्थात् यदि रस की प्रतीति नहीं होगी तो उसकी सत्ता भी नहीं होगी।

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्याद्युद्बोधो हि परिमितो लौकिको नाट्यकाव्यदर्शनादिः सान्तराश्च, तस्मात् कथं रसरूपतामियात्।

(क) रसस्यैतद्धर्म्मत्रितयविलक्षणधर्म्मकत्वात्।

अनुकर्त्तुगत्वञ्चास्य निरस्यति-

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम्॥18॥
दर्शयन्नर्त्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्।

किञ्च-

काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्॥19॥

अर्थः- सीता आदि के दर्शन आदि से उत्पन्न रामादि की रति आदि का उद्बोध परिमित होता है (अर्थात् केवल रामादि में ही होता है और रस अनेक द्रष्टा, श्रोताओं में एक ही समय समानरूप से विद्यमान होने के कारण अपरिमित होता है।) (रामादिगत रति) लौकिक होती है (और रस वक्ष्यमाण रीति के अनुसार अलौकिक होता है) (एवं उक्त रति) नाट्य तथा काव्य के दर्शन और श्रवणादि में प्रतिकूल होती है ("आदि" पद से श्रवण का ग्रहण होता है) (क्योंकि दूसरों का रहस्य दर्शन सभ्यों को असमता उत्पन्न करता है और रस उनके अनुकूल होता है) इस कारण से (इन तीनों धर्मों से रहित रामादिनिष्ठ रति) किस प्रकार (विलक्षण रस के रूप में परिणत हो सकती है। क्योंकि रस इन तीनों धर्मों से (परिमित, लौकिक और सान्तराय धर्मों से) विलक्षण धर्म वाला होता है। (अर्थात् अपरिमित, अलौकिक तथा प्रतिकूलता से रहित होता है)।

अवतरणिका:- यदि अनुकार्यनिष्ठ (रामादि नायकनिष्ठ) रस को स्वीकार नहीं करते हो, तो अनुकर्तृनिष्ठ (नटनिष्ठ) ही रस को स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसी आशंका करके "यह रस हअनुकर्तृनिष्ठ (नटगत) है" इसका निराकरणकरत हैं:

अर्थः- इसका (इस रस का) अनुकर्तृगतत्व (नटनिष्ठ) का निराकरण करते हैं अर्थात् रस नटादि में नहीं रहता है। शिक्षाभ्यासादि नट (अभिनय की) शिक्षा (गुरूसकाशादुपदेशग्रहणं शिक्षा) (और) अभ्यासादि के कारण (शिक्षितार्थस्य मुहुरनुष्ठानेन संस्कारातिशयो भ्यासः ("आदि" पद से कौशल का ग्रहण होता है, मात्र पद से काव्यार्थभावना का व्यच्छेद होता है) रामादि की समानता को अभिनय प्रकट करता हुआ रस का आस्वादयता नहीं हो सकता। (क्योंकि नट दृश्य के अभिनय में ही अपने ध्यान कतो एकाग्र किये रहत है।

अवतरणिका:- यह वह नट सहृदय हो, तो क्या उसको रसास्वाद न होगा? ऐसी आशंका करके कहता है कि-

अर्थः-काव्यार्थ की भावना के द्वारा (परिशीलन के द्वारा अथवा अभिनय किये जाते हुये काव्य के अर्थ को ज्ञानपूर्वक अभिनय दिखाते हुये) यह (नट) भी सहृदयों की प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। (इसील प्रकार श्रव्य काव्य के अन्दर भी काव्यार्थ की भावना से उसका पाठ करने वाला रस का आस्वादियता हो जाता है।)

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः॥20॥

तस्मान्न कार्यः-

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्। ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्, कारणज्ञानकार्य्याज्ञानयोर्च्युगपददर्शनात्। नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जपन्यसुखज्ञानञ्चैकदा सम्भवति। रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणत्वमित्यभिप्रायः।

-नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः।

अर्थः-क्योंकि यह (रस) विभावादि समूहालम्बनात्म है (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावात्मक समुदाय ही है आलम्बन जिसका ऐसी आत्मा वाला है) (अतः) (रस) कार्य नहीं है अर्थात् विभावादि के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला नहीं है

अर्थ- यदि रस कार्य होता तो इसका कारण विभावादि ज्ञान ही होता, (क्योंकि विभावादि ज्ञान के अनन्तर ही रसनिष्पत्ति होती है) और रस की प्रतीति के समय विभावादिक प्रतीत नहीं होते, (कारण और कार्य का ज्ञान कभी युगपत् नहीं होता (क्योंकि) कारण का ज्ञान के एक समय में कहीं नहीं देखा जाता। चन्दन के स्पर्श का ज्ञान और चन्दन स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान एक साथ नहीं होता है। विभावादि समूहालम्बनात्मक ज्ञान रूप से ही रस की प्रतीति होने के कारण विभावादि ज्ञान (रस का) कारण नहीं है यह अभिप्राय है।

अवतरणिका-यदि रस कार्य नहीं है तो आत्मा और आकाश की तरह उसकी नित्यता ही स्वीकार कर लेनी चाहिय। इसका उत्तर देते हैं-

अर्थ- (रस) नित्य रस (भी) नहीं है (क्योंकि) विभावादि के ज्ञान से पूर्व (होने वाले) संवेदन (ज्ञान से) रहित है। अतः नित्य नहीं है। यदि यह रस का नित्य होता तो विभावादिकों के ज्ञान से पूर्व स्थितिकाल का ज्ञान जिस प्रकार कहीं ज्ञान के समय में होता

है तथा उससे पूर्व स्थितिकाल में भी उनका ज्ञान होता है इसलिये आत्मा और आकाशादि नित्य हैं। परन्तु रस का ज्ञान तो सभा में जाने के समय सहृदयों को नहीं होता है अपितु अभिनय के देखने के समय ही होता है-इसलिये रस नित्य नहीं हैं)] (इस प्रकार रस की अनित्यता के विषय में प्रधान तर्क यह है कि यदि रस नित्य होता तो विभावादि के ज्ञान से पूर्व भी अनुभव होता।] प्रश्न-यदि कहो कि विभावादि का ज्ञान ही रस का ग्राहक है अत: उसके पूर्व स्थित होने पर भी रस प्रतीत नहीं होता। यह भी ठीक नही क्योंकि (उत्तर) असंवेदनकालेहीति-असंवेदन के समय (विभावादि के ज्ञान के अभाव के समय) इस (रस) की सत्ता भी नहीं होता है। (और नित्य वस्तु सार्वकालिक होती है; अत: इस रस की प्रतीति मात्र शरीर होने के कारण असंवेदन के समय इसका होना सुतरां असंभव है, अत: यह रस नित्य नहीं है।

असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते (क)॥21॥

न खलु नित्यस्य वस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसम्भवः।

नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयस्वप्रकाशरूपत्वात्।
कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्त्तमानोऽपि॥22॥

अवतरणिका-"पूर्वसंवेदनोज्झित:" और "असंदेवनकालेहि" इन हेतुओं को आधार मानकर रस नित्य नहीं है इसका प्रतिपादन करते है-

अर्थ- असंवेदन के समय में (अप्रतीतावस्था में) नित्य वस्तु का अभाव (असम्भव) नहीं होता है अर्थात् नित्य वस्तु विद्यमान रहती है। [घटादि के ज्ञान के समय आकाश की अप्रतीति होने पर भी उसके विद्यमान होने के कारण आकाश नित्य है, किन्तु प्रतीतिमात्र स्वरूप वाले रस की प्रतीति के अभाव में अविद्यमान होने के कारण रस की अनित्यता है। अत: अप्रतीति के समय में अविद्यमान होने के कारण रस नित्य नहीं है।]

अवतरणिका-रस भविष्यत काल में रहता है इसका निराकरण करते हैं-

अर्थ-(रस) भविष्यत् (अर्थात् भविष्य काल में होने वाला) भी नहीं कहा जा सकता (क्योंकि) वह आनन्दघन और प्रकाशस्वरूप साक्षात्कार ह(अनुभव) का विषय होता है।

अवतरणिका-रस वर्तमानकालिक भी नहीं है क्योंकि-

अर्थ-(संसार की प्रत्येक वस्तु या तो कार्य है या ज्ञाप्य हतै, परन्तु उक्त रीति के अनुसार (और) ज्ञाप्य विलक्षणता के कारण (अर्थात् रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य है) (यह रस) वर्तमानकालिक भी नहीं है।

विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम्।
परानन्दमयत्वे संवेद्यत्वादपि स्फुटम॥23॥
न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते।

अवतरणिका-रस "निर्विकल्पक ज्ञान स्वरूप" भी नहीं है इसका प्रतिपादन करते हैं-

अर्थ- (निर्विकल्पक ज्ञान के अन्दर प्रकारता वैशिष्ट्य का भान नहीं होता है। इसका लक्षण "कारिकावली" में इस प्रकार है-"प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धान वगाहि तत्" अर्थात् नाम, रूप, जात्यादि के वैशिष्ट्य से शून्य ज्ञान "निर्विकल्पक ज्ञान" कहाता है। और इससे विपरीत ज्ञान "सविकल्पक ज्ञान" कहाता है। अत: जिस प्रकार घट के अन्दर घटत्व "घटत्व" इस ज्ञान की प्रतीति "निर्विकल्पक ज्ञान" है, उसी प्रकार काव्य और नाटक के देखने और सुनने के समय युगपद् रस का "रसत्व" रूप में ज्ञान निर्विकल्पक है। इस प्रकार रस "ज्ञेय" सिद्ध हो जायेगा यह पूर्वपक्ष वालों का आशय है।] उत्तर-निर्विकल्पकज्ञान (निर्गतो विकल्प:-विभिन्न कल्प: विशिष्ट प्रकार इत्यर्थ: यस्मिन् तादृशं निरवच्छिन्नमित्यर्थ: सम्बन्धानवगाहीत यावत्) उसका (उस रस का) ग्राहक (विषमता निरूपक) नहीं है अर्थात् रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है। (इसके अन्दर दो कारण है।) (१) विभावादिपरामर्शविषयत्वात्-(निर्विकल्पक ज्ञान में सम्बन्ध का मान नहीं होता और) (रस के अन्दर) विभावादिकों का परामर्श (अर्थात् विशिष्ट-वैशिष्ट् सम्बन्ध) का विषय होने के कारण (निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं) अर्थात् ये प्रतिभासित होते हैं। (और) परमानन्दमयत्वेन स्फुटं संवेद्यत्वात् (निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है। उसमें किसी धर्म का प्रकारतारूप से भान नहीं होता) (परन्तु) सहृदय सामाजिकों को परमानन्दमय होने के कारण स्फुट संवेद्य होने के कारण (भी) रस (निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं हैं।]

तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहात्र च॥24॥

सविकल्पसंवेद्य:-

सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोगयता, न तु रसस्य तथा।

-साक्षात्कारतया न च।

परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्ष: शब्दसंभवात्॥25॥

अवतरणिका:-रस "सविकल्प ज्ञानस्वरूप" भी नहीं है-इसका प्रतिपादन करते हैं:-

अर्थ- (यद्यपि यहां पर रस की सविकल्पक ज्ञान से अनुभवगम्यता उसी युक्ति की परम्परा से सिद्ध हो जाती है जिसके आधार पर निर्विकल्पक ज्ञान का विषय रस नहीं है। परन्तु पुनरपि सविकल्पक ज्ञान से भी संवेद्य नहीं है-इसको दिखाते हैं) तथापि तथा भी सविकल्पक ज्ञान से संवेद्य भी नहीं है (क्योंकि) रस में "अभिलाप" संसर्ग (वचन प्रयोग) की योग्यता का अभाव है अर्थात् रस का शब्द से नहीं कर सकते। वह अनिवर्चनीय है, जबकि सविकल्पक ज्ञान के विषयीभूत सभी घटपटादि शब्द प्रकाशित किया जा सकते हैं।

अर्थ- सविकल्पक ज्ञान से संवेद्य (घटपटादिकों) के अन्दर वचन के प्रयोग की योग्यता होती है। अर्थात "अयं घट:" इस प्रकार का वचन प्रयोग हो सकता है परन्तु रस के अन्दर उस प्रकार की (वचन प्रयोग योग्यता) नहीं है (क्योंकि परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नहीं होता है) (परोक्ष न होने के कारण यदि कहो कि वह रस प्रत्यक्ष है तो) वह (रस का प्रकाश) (काव्यार्थ के सूचक शब्द से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष (अपरोक्ष)भी नहीं है।

तत्कथय कीदृगस्य तत्त्वमश्रु तादृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्येत्याह-

तस्मादलौकिक: सत्यं वेद्य: सहृदयैरयम्।

तत्किं पुन: प्रमाणं सद्भाव इत्याह-

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषा। मतम्॥26॥

चर्वणा आस्वादनम्। तच्च 'स्वाद: काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भव:' इत्युक्तप्रकारम्।

ननु यदि रसो न कार्यस्तत्कर्थं महर्षिणा 'विभावानुभावव्यभिचारसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' इति लक्षणे कृतमित्युच्यते-

अवतरणिका:-इस प्रकार रस में-"न वह ज्ञाप्य है, न वह कार्य है, वह नित्य भी नहीं है, भविष्यत् भी नहीं है, वर्तमान भी नहीं है, निर्विकल्पज्ञानस्वरूप भी नहीं है, सविकल्पज्ञानस्वरूप भी नहीं है, परोक्ष और प्रत्यक्ष भी नहीं है"-इन सब सामान्य धर्मों का एक निराकरण कर दिया तो आश्चर्य से युक्त कोईरस के वास्तविक स्वरूप को जानने की अभिलाषा वाला जिज्ञासा करता है

तत्कथ्येत-अच्छा, तो (फिर तुम्हीं) बतालाओं कि इस प्रकार जिसका निरूपण प्रत्यक्ष अश्रुत और अदृष्ट है उस रस का वास्तविक स्वरूप क्या है? इत्याह-इसका उत्तर देता है-

इसलिये (लौकिक ज्ञान के आनन्द से विक्षलक्षण होने के कारण और ज्ञाप्यत्वादि लौकिक धर्मों के निराकरणकरने के कारण यह रस सहृदय सामाजिकों से (वैय्याकरण, मीमांसदिकों से नहीं) संवेद्य अलौकिक ही है। (यहां पर "सत्यम्" "एवं" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है)।

(यदि इस प्रकार रस अलौकिक है और उसका ज्ञान भी सबको नहीं होता है तो पुन: उस रस की सत्ता में क्या प्रमाण है इत्याह-इसका समाधान करते हैं-"स्व" अर्थात् चर्वणा से अभिन्न (चर्वणस्वरूप) इस रस के विषय में विद्वानों का चर्वणा (आस्वादन) ही प्रमाण है।

अवतरणिका:-चर्वणा का लक्षण करते हैं।

अर्थ:-चर्वणा (का अर्थ) आस्वादानुभव है, और वह आस्वादन "काव्यार्थ सभेदादात्मानन्दरामुद्भव:" एतत्प्रकारक स्वरूप वाला

अवतरणिका:-यद्यपि इस स्थान पर उठाई जाने वाली विप्रतिपत्त "तस्मान्न कार्य:" यह जिस स्थान पर कहा है इसके बाद कहा जाने चाहिये थी तथापि इस शंका औचित्य था। परन्तु सिद्धान्त का चर्वणा के ग्रहण से साध्य होने के कारण चर्वणा के बाद कहा जाना ही उचित है।

अर्थ-शंका-नन्विति-यदि रस कार्य नहीं हैं तो महर्षि (भरतमुनि) किस प्रकार "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:" अर्थात् विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है-यह लक्षण किया है (क्योंकि उत्पत्ति तो कार्य की होती है

है। इस प्रकार महर्षि भरतमुनि के कथनानुसार "रस कार्य नहीं है" इस कथन का विरोधा होता है) इत्युच्यते-इसका उत्तर देते हैं-

निष्पत्त्या यर्वणास्यास्य निष्पत्तिरुपपारतः।

यद्यपि रसाभिन्नतया चवर्णस्यापि न कार्यत्वं तथापि तस्य कदाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते।

अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जनरूपेण॥27॥

तस्य रसस्य। आदिशब्ददलक्ष्यत्वादि।

ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसास्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाऽखण्डत्वमित्याह-

चर्वणा नामक व्यापार की उत्पत्ति होने के कारण इसकी (रस की) गौण प्रयोग से (रस और रसस्वाद में अभेद होने से आस्वादन का रस के अन्दर गौण प्रयोग कर देते हैं, अतः रस के विषय में "निष्पत्ति" शब्द गौण है) निष्पत्ति होती है [वस्तुतः रस की उत्पत्ति नहीं होती, अतः रस कार्य नहीं है।]।

(वस्तुतः) यद्यपि रस से अभिन्न होने के कारण चर्वणा भी कार्य नहीं है तथापि उसके (चर्वणा) के कभी-कभी होने के कारण (वह सर्वथा नहीं रहती-कभी होती है और कभी उसका तिरोभाव हो जाता है) उपचार प्रयोग से "कार्य" होने के कारण (चर्वणा के विषय में) "कार्यत्व" का गौण प्रयोग होता है। मुख्य कार्यत्व चर्वणा के अन्दर भी नहीं रहता है)।

अवतरणिकाः-शंका-"तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च"-इसके द्वारा रस की "अवाच्यता" का प्रतिपादन किया था, किन्तु काव्य से रस की वाच्यता सम्भव है। अतः पहले कथन की हुई रस की अवाच्यता का समाधान किस प्रकार होगा??

अर्थः-रस का अवाच्यत्व (अभिधा आदि व्यापार से कथन न किया जाता सकना) व्यञ्जना के प्रकरण में (पञ्चम परिच्छेद में) कहेंगे। (कारिकास्थ) "तस्य" का अर्थ "उसका"। आदिशब्दात्-"आदि" शब्द से अलक्ष्यत्व का ग्रहण है। (वस्तुतः रस न तो अभिध ा शक्ति के द्वारा वाच्य होता है और न लक्षण से लक्षण होता है, वह तो केवल व्यञ्जना से व्यंग्य होता है)।

अवतरणिकाः- रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता का प्रतिपादन करते हैं:-

अर्थः-शंका-यदि (विभावादिकों के साथ) मिलकर रत्यादि स्थायीभाव रस होते हैं तो उसका (रस का) स्वप्रकाशत्व और अखण्डता कैसे (सिद्ध होगी)? [क्योंकि स्वप्रकाशता तो ज्ञान में ही रहती है, रत्यादिकों में वह असम्भव है। एवं रति आदि तथा अन्यों के सम्मिश्रित रहने से रस की अखण्डता भी स्पष्ट है] (यह परिणामवादियों का मत है) इत्याह-इसका उत्तर देते हैं।

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।

अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति॥28॥

यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्येत्, न च तथा, तादात्म्याङ्गीकारात्। यदुक्तम-'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासनापरिणितरूपे रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः' इति। 'सुखादितादात्म्ययाङ्गीका चास्माकीं सिद्धान्तशय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्रं प्रमोदनिद्रामुपेयाः' इति च। 'अभिन्नोऽपि स प्रमात्र वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोचरीकृतः' इति च। ज्ञानस्य स्वप्रकाशतर्त्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः। तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम्।

अवतरणिका-रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता, जिसका पहले प्रतिपादन किया जा चुका है। उसी का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ- क्योंकि रत्यादि के ज्ञान की अभिन्नता से ही रस की (उत्पत्ति) होती है (अर्थात् आनन्द से युक्त ज्ञान स्वरूप को प्राप्त हुई ही रत्यादि की रसता है।) इस कारण से इसकी (रस की) स्वप्रकाशता (और) अखण्डता (पूर्णता) सिद्ध होती है।

अर्थ- यदि रत्यादिक स्थायीभाव प्रकाशशरीर अर्थात् ज्ञान के स्वरूपसे अतिरिक्त (भिन्न) माने जायें तो इसकी (रस की) स्वप्रकाशता (उपलक्षण के द्वारा) और अखण्डता सिद्ध न हो सके (किन्तु) ऐसा है नहीं अर्थात् रत्यादिक प्रकाश शरीर से भिन्न नहीं है, (क्योंकि) (रस की सम्पादक रत्यादिकों का ज्ञान के साथ) तादात्म्य (अभेद) स्वीकार किया गया है। (उक्त अर्थ को प्रमाण के द्वारा पुष्ट करते हैं) युदक्तमिति-कहा भी है कि यद्यपीति-(यद्यपि सिद्धान्त पक्ष में) रस से अभिन्न होने के कारण चर्वणा भी (आस्वादन भी, रस का तो कहना ही क्या है) कार्यरूप नहीं है, तथापि कभी-कभी अनुभव होने के कारण (उसका) "कार्यत्व लक्षणा से स्वीकार करके चर्वणामात्र स्वरूप (अतएव) अनादि वासना के (सामाजिकों के हृदयों में जो प्राक्तनी वासना है उसके द्वारा) परिणामस्वरूप रत्यादिभाव उत्पत्ति होती है" इस प्रकार कार्य का व्यवहार कर लिया जाता है और चर्वणा अर्थात् आस्वाद से रत्यादि की अभिन्नता सिद्ध है) (निष्कर्ष-इस प्रकार रत्यादिभाव चर्वणा से अभिन्न और चर्वणा रस से अभिन्न सिद्ध हुई।) प्रश्न-यदि

परिणावादियों के मत में रत्यादि का ज्ञान से तादात्म्य और स्वप्रकाशता हो जाये तो "स्वप्रकाशानन्दचिन्मय:" इसमें रस का आनन्दमयत्व "चमत्कार प्राण:" इससे चमत्कारमयता जो कही है, वह असंगत है क्योंकि विजातियों के मत में चिदानन्द और चमत्कार दोनों की एकरूपता असम्भव है। उत्तर-सुखादिति सुख आदि की-("आदि" पद से चमत्कार का ग्रहण होता है। आनन्द और एक रसरूप का तादात्म्य (अभेद) स्वीकार कर लेने पर हमारी (आलङ्कारिक सम्प्रदाय सम्बन्धी) सिद्धान्त रूप शय्या का आश्रय लेकर। "रस सुखमयश्चिन्मयश्चत्कारमय:" तस्माद् लौकिक: सत्यं वेद्य: सहृदयैरयम्" अर्थात रस सुखमय है, चिन्मय है और चमत्कारमय" अत: यह रस सहृदय सामाजिकों के द्वारा संवेद्य अलौकिक ही है। इस सिद्धान्त को मानकर) देवताओं के हजार वर्ष पर्यन्त अर्थात चिरकाल तक सुखपूर्वक निद्रा को प्राप्त करो (सोइये) [अर्थात् आलंकारिकों के सिद्धान्त पक्ष को स्वीकार कर लेने पर कोई भी वादी जीतने में समर्थ नहीं हो सकता है-इस प्रकार अपने पक्ष का पोषण है। [(कहने का तात्पर्य यह है कि आलंकारिकों के सिद्धान्तानुसार रस अलौकिक है, अत: उसमें ज्ञानरूपता, आनन्मयता और चमत्काप्राणता आदि सब धर्मों का समावेश हो सकता है। इस मत में हजारों वर्षों तक कोई दोष नहीं दे सकता, अत: निश्चित रहिये) (रस की स्वप्रकाशता का उपसंहार करते हैं) अभिन्नोऽपीति-(रस अपने स्वरूप से) अभिन्न होता हुआ भी (अर्थात् ज्ञान से अभिन्न रूप से (तादात्म्य) प्रतीत होता है। अर्थात "चिदानन्दमयोऽयं पुरुष:" इतिवदुपचार:। इसके द्वारा "सभ्या एवात्र प्रमाणम्" यह प्रदर्शित हो गया।] प्रश्न नव्य नैय्यायिक ज्ञान का स्वयंप्रकाश नहीं मानते। वे अनुव्यसाय से ज्ञान का ज्ञान मानते हैं। उनके ऊपर आक्षेप करते हैं) ज्ञानस्येति-ज्ञान का स्वप्रकाश का स्वीकार न करने वालों के ऊपर तो (मत में तो) (नव्य नैय्यायिकों के ऊपर) वेदान्तियों को ही दोष उपन्यस्त करना चाहिये। [अर्थात् यदि ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय से मानेंगेतो अनुव्यवसाय के ज्ञान के लिये एक और तीसरा ज्ञान मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनुव्यवसाय मानने में अनवस्था दोष आता है)। इसलिये सभी ज्ञानों की स्वत: प्रमाणता स्वीकार करके हमने भी (आलंकारिकों मय: आत्मा स्वप्रकाश: है] तादात्म्यादेवेति-(ज्ञान के साथ) तादात्म्य होने के कारण ही इसकी (रस की) अखण्डता है।

रत्यादयो हि प्रतिमेकैकश: प्रतीयमाना: सर्वेऽप्येकीभूता: स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते।

तदुक्तम्-

'विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिण:।
प्रतीयमाना: प्रथम खण्डशो यान्त्यखण्डताम्।।' इति।

'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रतिद्धब्रह्मतत्त्वद्वेदितव्य:' इति च।

अवतरणिका:-शंका-रत्यादि और विभावादिकों का अनेक प्रकार से विषयभेद होने के कारण एकरूपता कैसे उत्पन्न हो सकती है? इस विषय में कहते हैं:-

अर्थ:-रत्यादि ("आदि" पद से विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव का ग्रहण होता है) पहले (नाट्य दर्शन के प्रारम्भ में अर्थात रसावस्था से पूर्व) पृथक्रूपेण (एक-एक करके) प्रतीत होते हुये (पश्चात्) सभी (विभावादि) एकाकार होकर (व्यञ्जना के द्वारा एक ज्ञान के विषय होकर) चिद्रूपता को प्राप्त होते हुये ही (पृथक् पृथक् नहीं होते हैं-यह बताने के लिये ही "एवं" शब्द का प्रयोग किया है) रसरूप में परिणत हो जाते हैं। (उक्त अर्थ को प्रमाण के द्वारा पुष्ट करते हैं) तदुक्तमिति-यही कहा भी है विभावा इति-विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भाव पहले (रसोत्पत्तिके पूर्व) खण्डश: (पृथक् पृथक्) प्रतीत होते हुये अखण्डता को (एकरूपता को, पूर्णता को) प्राप्त होते हैं। (इस कारिका के अन्दर, "सात्विक और अनुभाव" का गोवलीबर्द न्याय से पृथक-पृथक ग्रहण कर दिया है।)। (शंका-रस की और ज्ञान की तादात्म्यता स्वीकार कर लेने पर भी रस की अखण्डता सिद्ध नहीं होती है क्योंकि सुख और चमत्कार के अन्दर एकता सम्भव नहीं है? इसका समाधान करते हैं) यह रस वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्मतत्व की तरह अखण्ड ही का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार नाट्य दर्शन के आरम्भ में विभावादि के भेद से सखंड प्रतीति होने पर क्रमश: रस भी वस्तुत: व्यञ्जना के द्वारा एक ज्ञान की अनुभूति के समय में अखण्ड ही है क्योंकि चित्, आनन्द और चमत्कार तीनों की एक रसरूपता है। इतना कहने से वेद्यान्तरस्पर्शशून्यत्वं, ब्रह्मास्वादसहोदरत्वम्, अखण्डत्वम्, अलौकिकत्वम् यह सभी को प्रतिपादित कर दिया-ऐसा समझ लेना चाहिए।]

अथ के ते विभावनुभावव्यभिचारिण इत्यपेक्षायां विभावमा-

रत्याद्युब्दोधका लोके विभावा: काव्यनाट्ययो:।

ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाट्ये च निवेशिता: सन्त: 'विभाव्यन्ते आस्वादङ्करप्रादुर्भावयोग्या: क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभि:' इति विभावा उच्यन्ते। तदुक्तं भर्तृहरिणा-

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।

प्रत्यक्षानिव कंसादीन, साधनत्वेन मन्यते॥' इति

तद्भेदावाह-

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

विभावनिरूपणम्-

अर्थः- इसके बाद (सयुक्तिक "रस स्वरूप" का वर्णन करने के उपरान्त) वे कौन से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव है" ऐसा आकांक्षा करने पर "विभाव" का वर्णन करते हैं-

लोक में जो रत्यादिकों के (अनादिकालीन वासना से अन्तर्लीन रति, हास आदि स्थायीभावों के) उद्बोधक हैं (वे ही) काव्य और नाटकों के अन्दर "विभाव" का वर्णन करते हैं-

अर्थः- (उक्त कारिका को स्पष्ट करते हैं) क्योंकि लोक में जो रामादिनिष्ठ रति, हास आदिकों के (यहां पर "आदि" पद से सीतादिकों का ग्रहण होता है) (अर्थात् रामादिनिष्ठ के उद्बोधक सीतादि, और सीतानिष्ठ रत्यादि के उद्बोधक रामादि हैं) वे ही (रामादि ही काव्य और नाटक में निवेशित किये हुये "विशेषरूप से भावित किये जाते हैं अर्थात् रसास्वाद की अङ्कुर की तरह उत्पत्ति के योग्य किये जाते हैं, सामाजिकनिष्ठ रत्यादि के भाव इनसे" इस प्रकार (की व्युत्पत्ति से व्युत्पन्न) "विभाव" कहलाते हैं। (अर्थात् सीतादि के दर्शन या श्रवण से ही, सहृदयोंमें हृदय में वासनारूप में स्थित रत्यादि भाव रसरूप में परिणत होते हैं। यही "विभाव" शब्द का व्युत्पत्ति निर्मित अर्थ है।) तदुक्तमिति-इसी प्रकार का (आचार्य) भर्तृहरि ने कहा है-

शब्देनेति-शब्दों से अर्थात् काव्यान्तर्गत पदों से प्रकाशित किया है स्वरूप जिनका ऐसे (अतएव) बुद्धि की विषमता को प्राप्त हुये प्रसिद्ध कंसादिकों को (वीर रस के आलम्बन विभावरूप से वर्तमान) प्रत्यक्षत् (रसों के) सावन रूप से (वीर रस का निष्पादक होने के कारण (सहृदय) समझने लगते हैं।

तद् भेदावाह-विभाव के दो भेद बतलाते हैं-

उसके (विभाव के) आलम्बन और उद्दीपन नाम वाले दो भेद कहे गये हैं। अर्थात् विभाव के दो भेद होते हैं-(१) आलम्बन विभाव और, (२) उद्दीपन विभाव।

स्पष्टम्। तत्र-

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोदगमात्॥29॥

आदिशब्दान्नायिकाप्रतिनायिकादयः। अथ यस्य रसस्य यो विभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते।

तत्र नायकः-

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता॥30॥

दक्षः क्षिप्रकारी। शीलं सद्वृतम। एवमादिगुणसम्पन्नो नेता नायको भवति।

तद्भदानाह-

अर्थ-स्पष्टमिति-(कारिका की व्याख्या) स्पष्ट है। तत्रेति-उनमें से (अर्थात् आलम्बन और उद्दीपन विभावों में से आलम्बन विभाव का वर्णन करते हैं(-

अर्थ-आलम्बन नायकादि (होते हैं) (यहां पर "आदि" पद से नायिकादिकों का भी ग्रहण हो जाता है) (क्योंकि) उसका (नायकादिका) आश्रय लेकर रस का (शृगारादि का) उद्गम होता है।

अर्थ- (उक्त कारिका में) "आदि" पद से (श्रृंङ्गार रस में सीतादि) नायिकाओं और प्रतिनायिकाओं का ग्रहण होता है। यहां जिस रस का जो विभाव है वह उसी के (उसी रस के) स्वरूप वर्णन में कहा जायेगा-

अर्थ-तत्र नायकः उनमें से नायक (का लक्षण करते हैं)

त्यागी, (दानशील दाता) कृती (वीर, कृतकार्य अथवा विद्वान, पुण्यात्मा), कुलीन (सत्कुलोत्पन्न), लक्ष्मीवान् अथवा शोभासम्पन्न, रूप; यौवन और उत्साह से युक्त, दक्ष (क्षिप्रकारी) जिसमें प्रजायें अनुरक्त हैं (popular), तेजस्वी, चतुर और शीलवान् (इन गुणों से युक्त) नेता होता है।

(कारिका के अन्दर आये हुये "कृती" और "दक्षः" तुल्य हैं अतः पुनरुक्ति सम्भव है, ऐसा सोचकर व्याख्या करते हैं) दक्ष इति-दक्ष का अर्थ क्षिप्रकारी है। ("क्षिप्रं करोतीति क्षिप्रकारी-अर्थात् शीघ्र कार्य करने वाला, आलस्य शून्य)।"